प्रकाशक—
मन्त्री, जैन सस्कृति सशोधन मण्डल
बनारस—५

दो रुपया

मुद्रक—
रामकृष्ण दास
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस काशी ।

निवेदन

भारतीय इतिहास की सामाजिक और राजनैतिक सामग्री जो प्राचीन जैन ग्रन्थो में बिखरी पडी है उसका उपयोग करके डॉ० जगदीशचन्द्र जी ने प्राचीन भारत के विषय में अपनी पुस्तक अंग्रेजी में लिखी थी। उक्त पुस्तक के लेखन के समय भारत के प्राचीन नगरो के विषय में जो सामग्री उन्हें जैनागम और पालिपिटकों मे मिली उसी के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक उन्होंने लिखी है। पुस्तक का नाम यद्यपि 'भारत के प्राचीन जैन तीर्थ' दिया है तथापि यह पुस्तक केवल जैनो के लिए ही नहीं किन्तु भारतीय प्राचीन इतिहास और भूगोल के पडितो के लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी इसमें तनिक भी सदेह नही। क्योकि इसमें जैन तीर्थों के नाम से जिन नगरो का वर्णन किया है वह वस्तुत भारतवर्ष के प्राचीन नगरो का ही वर्णन है।

लेखक ने, जहाँ तक सभव हुआ है, उन प्राचीन नगरो का आज के नकशे में कहाँ किस रूप से स्थान है यह दिखाने का कठिन कार्य करके प्राचीन इतिहास की अनेक गुत्थियो को सुलझाने का सफल प्रयत्न किया है। इससे जैनो को ही नही किन्तु भारतीय इतिहास के पडितो को भी नई ज्ञानसामग्री मिलेगी। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

पुस्तक में भगवान् महावीर कालीन भारत का और भगवान् महावीर के विहार स्थानो का भी नकशा दिया गया है। उसका आधार उनकी उक्त अग्रेजी पुस्तक है। हमारी इच्छा रही कि पुस्तक में कुछ चित्र भी दिए जाते किन्तु मडल की आर्थिक मर्यादा को देख कर वैसा नही किया गया। डॉ० जगदीशचन्द्र ने प्रस्तुत पुस्तक मडल को प्रकाशनार्थ दी एतदर्थ में उनका आभार मानता हूँ।

ता० ८-२-५२
बनारस-५

निवेदक
दलसुख मालवणिया
मन्त्री,
जैन सस्कृति सशोधन मडल

विषयानुक्रम

मानचित्र

प्रास्ताविक

इतिहास से पता चलता है कि अन्य विज्ञानों की तरह भूगोल का विकास भी शनैः शनैः हुआ। ज्यों ज्यों भारत का अन्य देशों के साथ वनिज-व्यापार बढ़ा, और व्यापारी लोग वाणिज्य के लिये सुदूर देशों में गये, उन्हें दूसरे देशों के रीति-रिवाज, क़िस्से-कहानियाँ आदि के जानने का अवसर मिला, और स्वदेश लौट कर उन्होंने उस ज्ञान का प्रचार किया। वर्ष में आठ महीने जनपद-विहार के लिये पर्यटन करने वाले जैन, बौद्ध आदि श्रमणों तथा परिव्राजकों ने भी भारत के भौगोलिक ज्ञान को वृद्धिंगत किया। जैन आगम ग्रन्थों की टीका-टिप्पणियों तथा बौद्धों की अट्ठकथाओं में उत्तरापथ, दक्षिणापथ आदि के रीति-रिवाज, रहन-सहन, खेती-बारी आदि के सम्बन्ध में जो उल्लेख आते हैं उनसे उक्त कथन का समर्थन होता है।

खोज-बीन से पता लगता है कि जिस भूगोल को हम पौराणिक अथवा काल्पनिक समझते हैं वह सर्वथा काल्पनिक प्रतीत नहीं होता। उदाहरण के लिये, जैन भूगोल की नील पर्वत से निकल कर पूर्व समुद्र में गिरनेवाली सीता नदी की पहचान चीनी लोगों की सि-तो *(Si-to)* नदी से की जा सकती है, जो किसी समुद्र में न मिलकर काशगर की रेती में विलुप्त हो जाती है। इसी तरह बौद्ध ग्रन्थों से पता लगता है कि जम्बुद्वीप भारतवर्ष का और हिमवत हिमालय पर्वत का ही दूसरा नाम है। ज्ञाताधर्म कथा के उल्लेखों से मालूम होता है कि प्राचीन काल में हिन्द महासागर को लवणसमुद्र कहा जाता था। इसी प्रकार खोज करने से अन्य भौगोलिक स्थानों का पता लगाया जा सकता है।

बात यह हुई कि आजकल की तरह प्राचीन काल में यात्रा आदि के साधन सुलभ न होने के कारण भूगोल का व्यवस्थित अध्ययन नहीं हो सका। परिणाम यह हुआ कि जब दूरवर्ती अदृष्ट स्थानों का प्रश्न आया तो संख्यात, असंख्यात योजन आदि की कल्पना कर शास्त्रकारों ने कल्पना-समुद्र में खूब

ज्ञान लगाये जिससे ध्यान वश कर भूगोल भी धर्मशास्त्र का एक अङ्ग बन गया और वह केवल श्रद्धालु भक्तों के काम की चीज रह गई।

प्राचीन तीर्थों के विषय में चर्चा करते हुए दूसरी महत्त्वपूर्ण बात दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सम्बन्ध में है। आचारांग आदि जैन सूत्रों से स्पष्ट है कि महावीर के समय सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमण जैन संघ में रह सकते थे यद्यपि स्वयं महावीर ने जिनकल्प—अचेलत्व—को ही अंगीकार किया था। उत्तराध्ययन सूत्र के अन्तर्गत केशी-गौतम संवाद नामक अध्ययन में पार्श्वनाथ के शिष्य केशीकुमार के प्रश्न करने पर महावीर के *गणधर गौतम स्वामी* ने उत्तर दिया है कि "हे *महामुने* साध्य की सिद्धि में लिङ्ग—वेष—केवल बाह्य साधन है असली तो ज्ञान दर्शन और चारित्र है।

जान पड़ता है कि महावीर के बाद भी जैन श्रमणों में अचेल (दिगम्बर) रहने की प्रथा जारी रही। श्वेताम्बर ग्रन्थों से पता लगता है कि आचार्य स्थूलभद्र के शिष्य आचार्य महागिरि ने आर्य सुहस्ति को अपने गच्छ का भार भार कर जिनकल्प धारण किया। इसी प्रकार आर्यरक्षित ने जब अपने कुटुम्ब को दीक्षा देनी चाही तो उनके पिता ने दीक्षा ग्रहण करते हुए संकोच व्यक्त किया कि उन्हें अपनी पुत्री और पुत्र-वधुओं के समक्ष नग्न अवस्था में रहना पड़ेगा। तत्पश्चात् बृहत्कल्प भाष्य (ईसवी सन् की लगभग चौथी शताब्दि) से पता लगता है कि महाराष्ट्र में जैन श्रमणों के नग्न रहने की प्रथा थी और इन्हें लोग अपशकुन मानते थे।

भारतीय मूर्ति-कला के अध्ययन से पता लगता है कि सबसे पहले मौर्य शासन काल में मूर्तियाँ निर्माण की गई थीं। जैन और बौद्ध सूत्रों में अनेक यक्ष-मन्दिरों (यक्षायतन) के उल्लेख मिलते हैं जहाँ महावीर और बुद्ध अपने विहार काल में ठहरा करते थे। ये यक्ष ग्राम या नगर के रक्षक माने जाते थे। आस-पास के लोग इनकी पूजा उपासना करते थे। यक्षों में सबसे प्राचीन मूर्ति माणिभद्र (प्रथम शताब्दि ई० पू०) की उपलब्ध हुई है। यक्षों के पश्चात् बोधिसत्व बुद्ध और जिन की मूर्तियाँ निर्माण की जाने लगीं। राजा कनिष्क के समय की ये मूर्तियाँ मथुरा में उपलब्ध हुई हैं। बोधिसत्व की प्राचीनतम मान इसकी सन् ८० की मिली है। मथुरा के कङ्काली टीला में जो आयाग पट लगभग [illegible] वर्ष प्राचीन जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मिली हैं वे सम्भ[illegible] और श्वे[illegible] दोनों सम्प्रदायों द्वारा पूजी जाती

है। इससे स्पष्ट है कि ईसवी सन् के पूर्व दिगम्बर और श्वेताम्बर मूर्तियों में कोई अन्तर न था। वस्तुतः उस समय तीर्थंकरों या सिद्धों के चरणों की पूजा होती थी। सम्मेदशिखर, हस्तिनापुर आदि तीर्थ-क्षेत्रों पर आजकल भी चरण-पादुकायें ही बनी हुई हैं। वास्तव में प्राचीन काल में जो शिल्पकला द्वारा बुद्ध-जीवन के चित्र अङ्कित किये गये हैं, वे बोधिवृक्ष, छत्र, पादुका और धर्मचक्र आदि रूपों द्वारा ही व्यक्त किये गये हैं, मूर्ति द्वारा नहीं।

१७वीं सदी के श्वेताम्बर विद्वान् पण्डित धर्मसागर उपाध्याय ने अपनी **प्रवचनपरीक्षा** में लिखा है कि जब गिरनार और शत्रुंजय तीर्थों पर दिगम्बर और श्वेताम्बरों का विवाद हुआ और दोनों स्थानों पर श्वेताम्बरों का अधिकार हो गया तो आगे कोई झगड़ा न होने देने के लिए श्वेताम्बर सघ ने निश्चय किया कि अब से जो नई प्रतिमायें बनवाई जायँ, उनके पादमूल में वस्त्र का चिह्न बना दिया जाय। उस समय से दिगम्बरियों ने भी अपनी प्रतिमाओं को स्पष्ट नग्न बनाना शुरू कर दिया। इससे मालूम होता है कि उक्त विवाद के पहले दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों की प्रतिमाओं में कोई भेद नहीं था, दोनों एकत्र होकर पूजा-उपासना करते थे। इतना ही नहीं, उस समय एक ही मन्दिर में इन्द्रमाला की बोली बोली जाती थी, जिसे दोनों सम्प्रदाय के लोग पैसा देकर खरीदते थे।

तपागच्छ के श्वेताम्बर मुनि शीलविजय जी ने वि० स० १७३१-३२ में दक्षिण की यात्रा करते हुए अपनी तीर्थमाला में जैनबद्री, मूडबिद्री, कारकल आदि दिगम्बरीय तीर्थों का परिचय दिया है। इससे मालूम होता है कि उन्होंने इन तीर्थों की भक्तिभाव से वन्दना की थी। अकबर के समकालीन श्वेताम्बर विद्वान् हीरविजय सूरि ने भी मथुरा से लौटते हुए ग्वालियर की बावनगजी दिगम्बर मूर्ति के दर्शन किए थे। इससे मालूम होता है कि अभी थोड़े वर्ष पहले तक दिगम्बर और श्वेताम्बर एक दूसरे के मन्दिरों में आते-जाते थे, और वे साम्प्रदायिक व्यामोह से मुक्त थे।

अष्टापद (कैलास), चम्पा, पावा, सम्मेदशिखर, ऊर्जयन्त (गिरनार) और शत्रुंजय आदि तीर्थ सर्वमान्य तीर्थ समझे जाते हैं, और इन क्षेत्रों को दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समान रूप से पूजते आए हैं, इससे पता लगता है कि दोनों के तीर्थ-स्थान एक थे। लेकिन आगे चल कर दोनों सम्प्रदायों ने अपने अपने तीर्थों का निर्माण आरम्भ कर दिया, बहुत से नये तीर्थों की स्था-

पन्न हो गई और नौबत यहाँ तक पहुँची कि एक दूसरे के तीर्थों पर जबर्दस्ती अधिकार किया जाने लगा और लाखों रुपया पानी की तरह बहाकर लन्दन की प्रिवी कौंसिल से फैसला की आशा की जाने लगी।

दुर्भाग्य से जैनों के अनेक प्राचीन तीर्थ स्थानों का पता नहीं चलता। इसके सिवाय अष्टापद श्रावस्ति मिथिला पुरिमताल भद्रिलपुर कौशाम्बी अहिच्छत्रा पुरी तक्षशिला वीतिभयपट्टन द्वारिका आदि अनेक तीर्थ विच्छिन्न हो गये हैं और जैन यात्री प्रायः आजकल इन तीर्थों की यात्रा नहीं करते। इसी तरह गजपथा ऊन आदि तीर्थों का दिगम्बर भट्टारकों और धनिकों ने नवनिर्माण कर डाला है। इन सब बातों का गवेषणापूर्ण अध्ययन होना चाहिए, उसी समय जैन तीर्थों का ठीक-ठीक इतिहास लिखा जा सकता है।

यद्यपि जैन सूत्रों में पारस (ईरान) जोणग (यवन) चिलात (किरात) अलसंदा (एलेक्जेंड्रिया) आदि कतिपय अनार्य देशों का उल्लेख आता है लेकिन मालूम होता है कि आचार-विचार और भक्ष्याभक्ष्य के नियमों की कड़ाई के कारण बौद्ध श्रमणों की तरह जैन श्रमण भारत के बाहर धर्मप्रचार के लिए नहीं जा सके। निशीथचूर्णी में आचार्य कालक के पारस देश में जाने का उल्लेख अवश्य आता है लेकिन वे धर्म प्रचार के लिए न जाकर वहाँ उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल से बदला लेने के लिए गए थे।

२८, शिवाजी पार्क, बम्बई २८ जगदीशचन्द्र जैन

१

पार्श्वनाथ और उनके शिष्यों का विहार

पहले भगवान् महावीर को जैन धर्म का संस्थापक माना जाता था, लेकिन अब विद्वानों की खोज से यह प्रमाणित हो गया है कि महावीर के पूर्व भी जैन धर्म विद्यमान था।

यद्यपि बौद्ध त्रिपिटकों में भगवान् पार्श्वनाथ का उल्लेख नहीं आता लेकिन उनके चातुर्याम संवर का उल्लेख पाया जाता है। जैन शास्त्रों के अनुसार पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी* (बनारस) में हुआ था। उनकी माता का नाम वामा और पिता का नाम अश्वसेन था। पार्श्वनाथ ३० वर्ष तक गृहस्थ अवस्था में रहे, ७० वर्ष तक उन्होंने साधु जीवन व्यतीत किया, और १०० वर्ष की अवस्था में सम्मेदशिखर (पारसनाथ हिल, हजारीबाग) पर तप करने के पश्चात् निर्वाण पद पाया।

पार्श्वनाथ पुरुषश्रेष्ठ (पुरिसादानीय) कहे जाते थे। उनके आठ प्रधान शिष्य (गणधर) थे और उन्होंने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं के चतुर्विध संघ की स्थापना की थी। पार्श्वनाथ ने अपने साधु जीवन में साकेत, श्रावस्ति, कौशांबी, राजगृह, आमलकप्पा, कांपिल्यपुर, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर आदि स्थानों में विहार किया था।

पार्श्वनाथ के श्रमण पार्श्वापत्य (पासावच्चिज्ज) नाम से पुकारे जाते थे। आचारांग सूत्र में महावीर के माता-पिता को पार्श्वनाथ की परम्परा का

---

* इस पुस्तक में उल्लिखित तीर्थ स्थानों के विशेष विवरण और उनकी पहचान के हवालों के लिये देखिये लेखक की 'लाइफ इन ऐंशियेंट इन्डिया ऐज़ डिपिक्टेड इन द जैन कैनन्स' नामक पुस्तक का पाँचवाँ भाग।

अनुयायी कहा गया है। आवश्यकचूर्णि में पार्श्वनाथ के अनेक श्रमणों का उल्लेख मिलता है जो महावीर की साधु जीवन की चारिका के समय मौजूद थे। उदाहरण के लिये उत्पल श्रमण ने पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा में दीक्षा ली थी, लेकिन बाद में उन्होंने दीक्षा छोड़ दी और अस्थिग्राम में ज्योतिषी बनकर रहने लगे। सोमा और जयन्ती उत्पल की दो बहिनें थीं। इन्होंने भी पार्श्वनाथ की दीक्षा छोड़कर परिव्राजिकाओं की दीक्षा ले ली थी।

पार्श्वनाथ के दूसरे श्रमण स्थविर मुनिचन्द्र थे। ये बहुश्रुत स्थविर अपने शिष्य परिवार के साथ कुमाराय संनिवेश में किसी कुम्हार की शाला में रहते थे। एक बार मंखलिपुत्र गोशाल जब महावीर के साथ विहार कर रहे थे तो वे स्थविर मुनिचन्द्र के पास आये और उनको आरम्भ तथा परिग्रह सहित देखकर उनसे प्रश्न किया कि आप लोग सारंभ और सपरिग्रह होकर भी श्रमण निग्रंथ कैसे कहे जा सकते हैं? बात यहाँ तक बढ़ गई कि गोशाल ने उनके निवास-स्थान (प्रतिश्रय) को जला देने की धमकी दी। लेकिन महावीर ने गोशाल को समझाया कि ये लोग पार्श्वनाथ के अनुयायी स्थविर साधु हैं, अतएव उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इन स्थविरों के आचार-विचार के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये अन्त में जिनकल्प धारण करते थे तथा तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल नामक पाँच भावनाओं से संयुक्त होकर उपाश्रय में, उपाश्रय के बाहर, चौराहों पर, शून्यगृहों में और श्मशानों में रहकर तप करते थे।

भगवती सूत्र में वाणियगाम निवासी श्रमण गांगेय का उल्लेख आता है, जिन्होंने पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म त्याग कर महावीर के पाँच महाव्रत स्वीकार किये। उक्त सूत्र में तुंगिय नगरी को पार्श्वनाथ के स्थविरों का केन्द्र स्थान बताते हुए यहाँ ५०० स्थविरों के विहार करने का उल्लेख है। इन स्थविरों में कालियपुत्र, मेहिल, आनन्दरक्षित और कासव के नाम मुख्य हैं।

सूत्रकृतांग में पार्श्वनाथ के अनुयायी मेदार्य गोत्रीय उदक पेढालपुत्र का नाम आता है। महावीर के प्रधान शिष्य गौतम इन्द्रभूति के साथ इनका वाद हुआ और अन्त में इन्होंने महावीर के पास जाकर उनके पाँच महाव्रतों को स्वीकार किया। उत्तराध्ययन सूत्र में चतुर्दश पूर्वधारी कुमारश्रमण केशी का उल्लेख आता है। केशीकुमार श्रमण ५०० शिष्य-परिवार के साथ श्रावस्ति नगरी में विहार करते थे। यहाँ पर गौतम इन्द्रभूति के साथ इनका वार्तालाप

हुआ और इन्होंने पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म छोड़कर महावीर के पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर लिया। इस प्रसग पर गौतम इन्द्रभूति ने केशीकुमार को समझाया—"पार्श्व और महावीर दोनों महातपस्वियों का उद्देश्य एक है, और दोनों ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र से मोक्ष की सिद्धि मानते हैं। अन्तर इतना ही है कि पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह—इन चार व्रतों को माना है, जब कि महावीर इन व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत मिलाकर पाँच व्रत स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त, पार्श्वनाथ का धर्म सचेल (सवस्त्र-सन्तरुत्तर) है, और महावीर अचेल (नग्न) धर्म को मानते हैं, लेकिन हे महामुने, बाहरी वेष तो साधन मात्र है, वास्तव में चित्त की शुद्धि से मोक्ष की प्राप्ति होती है।"

पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा में स्त्रियाँ भी दीक्षित हो सकती थीं। ज्ञाता धर्म कथा और निरयावलि सूत्रों में ऐसी अनेक स्त्रियों के नामोल्लेख आते हैं। पार्श्वनाथ के भिक्षुणी संघ में पुष्पचूला नामक गणिनी मुख्य थी। उनकी एक शिष्या का नाम काली था। मथुरा के जैन शिलालेखों में भी आर्याओं का उल्लेख पाया जाता है।

पार्श्वनाथ और उनके शिष्यों ने बिहार और उत्तरप्रदेश के जिन स्थानों में विहार किया था, उन सब स्थानों की गणना भारत के प्राचीनतम जैन तीर्थों में की जानी चाहिए।

———

२

महावीर की विहार-चर्या

पार्श्वनाथ के लगभग अढ़ाई सौ वर्ष बाद विदेह की राजधानी वैशाली (बसाढ़ मुजफ्फरपुर) के उपनगर क्षत्रियकुण्डग्राम (कुण्डग्राम अथवा कुण्डपुर आधुनिक वसुकुण्ड) में महावीर का जन्म हुआ था। महावीर की माता का नाम त्रिशला और पिता का नाम सिद्धार्थ था। तीस वर्ष की अवस्था में महावीर ने दीक्षा ग्रहण की, बारह वर्ष तप किया और तीस वर्ष तक देश देशान्तर में विहार किया। तत्पश्चात् बहत्तर वर्ष की अवस्था में ई० पू० ५२८ के लगभग मज्झिमपावा (पावापुरी बिहार) में निर्वाण लाभ किया।

प्रथम वर्ष

महावीर वर्धमान ने मँगसिर वदी १० के दिन क्षत्रियकुण्डग्राम के बाहर ज्ञातृखण्ड नामक उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और एक मुहूर्त दिन अवशेष रहने पर कुम्मारगाम पहुँच कर वे ध्यान में अवस्थित हो गए। दूसरे दिन महावीर कोल्लाक सन्निवेश पहुँचे और वहाँ से मोराग सन्निवेश पहुँच कर दूइज्जंत नाम के तापस आश्रम में ठहरे। एक रात ठहर कर उन्होंने वहाँ से विहार किया और आठ महीने तक घूम-फिर कर वे फिर इसी स्थान में आए। यहाँ पन्द्रह दिन रह कर महावीर अस्थिगाम चले गए जहाँ शूलपाणि यक्ष ने उपसर्ग किया। यहाँ महावीर चार महीने रहे। यह उनका प्रथम चातुर्मास था।

दूसरा वर्ष

शरद ऋतु आने पर महावीर यहाँ से मोराग सन्निवेश गए। यहाँ से उन्होंने वाचाला की तरफ विहार किया। वाचाला दक्षिण और उत्तर भागों में विभक्त

थी। दोनो के बीच में सुवर्णकूला और रूप्यकूला नामक नदियाँ बहती थी। महावीर ने दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला की ओर प्रस्थान किया। उत्तर वाचाला जाते हुए बीच मे कनकखल नाम का आश्रम पडता था। यहाँ से महावीर सेयविया नगरी पहुँचे, जहाँ प्रदेशी राजा ने उनका आदर-सत्कार किया। तत्पश्चात् गगा नदी पार कर महावीर सुरभिपुर पहुँचे और वहाँ से थूणाक सनिवेश पहुँच कर ध्यान मे अवस्थित हो गए। यहाँ से महावीर राजगृह गए और उसके बाद नालन्दा के बाहर किसी जुलाहे की शाला में ध्यानावस्थित हो गए। सयोगवश मखलिपुत्र गोशाल भी उस समय यहाँ ठहरा हुआ था। महावीर के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वह उनका शिष्य बन गया। यहाँ से चल कर दोनो कोल्लाग सनिवेश पहुँचे। महावीर ने यहाँ दूसरा चातुर्मास बिताया।

तीसरा वर्ष

तत्पश्चात् महावीर और गोशाल सुवन्नखलय पहुँचे। वहाँ से ब्राह्मणग्राम गये। यहाँ नन्द और उपनन्द नामक दो भाई रहते थे, और दोनो के अलग अलग मोहल्ले थे। गुरु-शिष्य यहाँ से चलकर चपा पहुँचे। भगवान् ने यहाँ तीसरा चातुर्मास व्यतीत किया।

चौथा वर्ष

तत्पश्चात् दोनो कालाय सनिवेश जाकर एक शून्यगृह में ठहरे। वहाँ से पत्तकालय गये, और वहाँ से कुमाराय सनिवेश जाकर चपरमणिज्ज नामक उद्यान में ध्यानावस्थित हो गये। यहाँ पार्श्वापत्य स्थविर मुनिचन्द्र ठहरे हुए थे, जिनके विषय मे ऊपर कहा जा चुका है। यहाँ से चलकर दोनो चोराग सनिवेश पहुँचे, लेकिन यहाँ गुप्तचर समझकर दोनों पकड़ लिये गये। यहाँ से दोनो ने पृष्ठचपा के लिए प्रस्थान किया। महावीर ने यहाँ चौथा चौमासा बिताया।

पाँचवाँ वर्ष

पारणा के बाद महावीर और गोशाल यहाँ से कयगला के लिए रवाना हुए। वहाँ से श्रावस्ति पहुँचे, फिर हलेद्दुय गये। फिर दोनों नङ्गलाग्राम पहुँच

कर वासुदेव के मन्दिर में ध्यान में लीन हो गये। तत्पश्चात् दोनों श्रावस्ती ग्राम जाकर बलदेव मन्दिर में ठहरे। यहाँ से दोनों चोराग सनिवेश पहुँचे फिर कलंबुक संनिवेश आये। यहाँ दोनों छोड़ कर दिए गये। तत्पश्चात् गुरु-शिष्य लाढ़ देश की ओर चले। लाढ़ देश वज्रभूमि और सुम्भभूमि नामक दो भागों में विभक्त था। इस देश में गाँवों की संख्या बहुत कम थी और बहुत दूर चलने पर भी वसति (निवास स्थान) मिलना कठिन होता था। यहाँ के निवासी रूक्ष भोजन करने के कारण प्रकृति से क्रोधी होते थे। ये लोग साधुओं से द्वेष करते थे उन्हें कुत्तों से कटवाते थे और उन पर दण्ड आदि से प्रहार करते थे। ये लोग यतियों को ऊपर से उठाकर नीचे पटक देते तथा उनके गोदोहन उँकडू और वीर आदि आसनों से गिराकर उन्हें मारते थे। कपास आदि के अभाव में यहाँ के लोग तृण आदृत थे। लाढ़ देश में महावीर और गोशाल ने अनेक प्रकार के कष्ट सहनकर छह मास विहार किया। इस देश में बौद्ध साधु कुत्तों के उपद्रव से बचने के लिए अपनी देह के बराबर चार अंगुल मोटी लाठी लेकर चलते थे लेकिन महावीर ने यहाँ बिना किसी लाठी आदि के भ्रमण किया। तत्पश्चात् दोनों पुष्पकलश होते हुए भद्दिय नगरी लौट आये। महावीर ने यहाँ पाँचवाँ चातुर्मास बिताया।

छठा वर्ष

तत्पश्चात् दोनों कदलीग्राम जंबूसंड और तंबाय सनिवेश होते हुए कूपिय संनिवेश पहुँचे। यहाँ उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया गया। उसके बाद दोनों वैशाली आये। यहाँ आकर गोशाल ने महावीर से कहा कि जब मुझ पर कोई आपत्ति आती है तो आप मेरी सहायता नहीं करते। यह कह कर गोशाल महावीर का साथ छोड़कर चला गया। महावीर वैशाली से गामाय सनिवेश होते हुए शालिसीसय ग्राम पहुँचे। यहाँ उन्हें कटपूतना व्यंतरी ने अनेक कष्ट दिए। कुछ समय बाद गोशाल फिर महावीर के पास आ गया। दोनों भद्दिय पहुँचे। महावीर ने यहाँ छठा वर्षावास व्यतीत किया।

सातवाँ वर्ष

तत्पश्चात् गुरु-शिष्य ने मगध देश में विहार किया। यहाँ आलभिया नगरी में महावीर ने सातवाँ वर्षावास व्यतीत किया।

आठवाँ वर्ष

इसके बाद दोनो कुडाग सनिवेश जाकर वासुदेव के मन्दिर में ध्यान में अवस्थित हो गये। वहाँ से मद्दणा ग्राम पहुँचकर बलदेव के मन्दिर मे ठहरे। वहाँ से बहुसालग ग्राम पहुँचे यहाँ सालज्जा व्यन्तरी ने उपसर्ग किया। तत्पश्चात् दोनों ने लोहग्गल राजधानी की ओर प्रस्थान किया। यहाँ उन्हें राज-पुरुषों ने गुप्तचर समझकर पकड लिया। यहाँ से दोनो पुरिमताल पहुँचे और शकटमुख उद्यान में ध्यानावस्थित हो गये। यहाँ से दोनो ने उन्नाट की ओर प्रस्थान किया, और वहाँ से गोभूमि पहुँचे। तत्पश्चात् दोनों राजगृह आये। यहाँ महावीर ने आठवाँ चातुर्मास व्यतीत किया।

नौवाँ वर्ष

गोशाल को साथ लेकर महावीर ने फिर से लाढ देश की यात्रा की, और यहाँ वज्रभूमि और सुब्भभूमि में विचरण किया। अब की बार महावीर यहाँ छह महीने तक रहे और उन्होंने अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हुए यहीं चातुर्मास व्यतीत किया।

दसवाँ वर्ष

तत्पश्चात् महावीर और गोशाल सिद्धत्थपुर आये। यहाँ से दोनों जब कुम्मगाम जा रहे थे तो जगल मे एक तिल के पौधे को देखकर गोशाल ने प्रश्न किया कि वह पौधा नष्ट हो जायगा या नहीं? महावीर ने उत्तर दिया कि पौधा नष्ट हो जायगा, लेकिन उसका बीज फिर पौधे के रूप में परिणत होगा। कुम्मगाम में वैश्यायन नामक बाल तपस्वी को तप करते देखकर गोशाल ने पूछा—"तुम मुनि हो या जूओं की शय्या?"

इस पर वैश्यायन ने क्रुद्ध होकर गोशाल पर तेजोलेश्या छोड़ी। महावीर ने शीतलेश्या का प्रयोग कर गोशाल को बचाया। इसके बाद कुम्मगाम से सिद्धत्थपुर लौटते हुए महावीर के कथनानुसार जब गोशाल ने उगे हुए तिल के पौधे को देखा तो वह नियतिवादी हो गया और महावीर से अलग होकर श्रावस्ति में किसी कुम्हार की शाला में आकर महावीर द्वारा प्रतिपादित तेजोलेश्या की सिद्धि के लिये प्रयत्न करने लगा। महावीर ने वैशाली के लिये प्रस्थान किया और नाव से गण्डकी नदी पार कर वाणियगाम पहुँचे। वहाँ से श्रावस्ति पहुँच कर महावीर ने दसवाँ चौमासा व्यतीत किया।

कर वासुदेव के मन्दिर में ध्यान में लीन हो गये। तत्पश्चात् नंगला आवर्त ग्राम जाकर बलदेव मन्दिर में ठहरे। यहाँ से दोनों चोराग संनिवेश पहुँचे फिर कलंबुक संनिवेश आये। यहाँ दोनों कैद कर लिए गये। तत्पश्चात् गुरु-शिष्य लाढ़ देश की ओर चले। लाढ़ देश वज्रभूमि और सुम्हभूमि नामक दो भागों में विभक्त था। इस देश में गाँवों की संख्या बहुत कम थी और बहुत दूर चलने पर भी वसति (निवास स्थान) मिलना कठिन होता था। यहाँ के निवासी रूखा भोजन करने के कारण प्रकृति से क्रोधी होते थे। ये लोग भिक्षुओं से द्वेष करते थे उन्हें कुत्तों से कटवाते थे, और उन पर दण्ड आदि से प्रहार करते थे। ये लोग भिक्षुओं को ऊपर से उठाकर नीचे पटक देते तथा उनके गोदोहन उकडू और वीर आदि आसनों से गिराकर उन्हें मारते थे। कपास आदि के अभाव में यहाँ के लोग तृण ओढ़ते थे। लाढ़ देश में महावीर और गोशाल ने अनेक प्रकार के कष्ट सहनकर छह मास विहार किया। इस देश में बौद्ध साधु कुत्तों के उपद्रव से बचने के लिए अपनी देह के बराबर चार अंगुल मोटी लाठी लेकर चलते थे लेकिन महावीर ने यहाँ बिना किसी लाठी आदि के भ्रमण किया। तत्पश्चात् दोनों पूर्णकलश होते हुए भद्दिय नगरी लौट आये। महावीर ने यहाँ पाँचवाँ चातुर्मास बिताया।

छठा वर्ष

तत्पश्चात् दोनों कदलीग्राम जंबूसंड और तंबाय संनिवेश होते हुए कूपिय संनिवेश पहुँचे। यहाँ उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया गया। उसके बाद दोनों वैशाली आये। यहाँ आकर गोशाल ने महावीर से कहा कि जब मुझ पर कोई आपत्ति आती है तो आप मेरी सहायता नहीं करते। यह कह कर गोशाल महावीर का साथ छोड़कर चला गया। महावीर वैशाली से ग्रामाक संनिवेश होते हुए शालिशीर्ष ग्राम पहुँचे। यहाँ उन्हें कटपूतना व्यंतरी ने अनेक कष्ट दिए। कुछ समय बाद गोशाल फिर महावीर के पास आ गया। दोनों भद्दिय पहुँचे। महावीर ने यहाँ छठा वर्षावास व्यतीत किया।

सातवाँ वर्ष

तत्पश्चात् गुरु-शिष्य ने मगध देश में विहार किया। यहाँ आलभिया नगरी में महावीर ने सातवाँ वर्षावास व्यतीत किया।

इसके बाद महावीर ने ३० वर्ष तक देश-देशान्तर में विहार करते हुए अपने उपदेशामृत से जन-समुदाय का कल्याण करते हुए अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। अन्त में वे मज्झिमपावा पधारे और वहां चातुर्मास व्यतीत करने के लिये हस्तिपाल नामक गणराजा के पटवारी के दफ्तर (रज्जुगसभा) में ठहरे। एक एक करके वर्षाकाल के तीन महीने बीत गये। चौथा महीना लगभग आधा बीतने को आया। इस समय कार्तिकी अमावस्या के प्रातःकाल महावीर ने निर्वाण लाभ किया। महावीर के निर्वाण के समय काशी-कोशल के नौ मल्ल और नौ लिच्छवि नामक अठारह गणराजा मौजूद थे उन्होंने इस पुण्य अवसर पर सर्वत्र दीपक जलाकर महान् उत्सव मनाया।

महावीर वर्धमान ने बिहार, बंगाल और पूर्वीय उत्तरप्रदेश के जिन स्थानों को अपने विहार से पवित्र किया था, वे सब स्थान जैनों के पुनीत तीर्थ हैं। दुर्भाग्य से आज इन स्थानों में से बहुत कम स्थानों का ठीक ठीक पता लगता है, बहुत से तो पिछले अढ़ाई हजार वर्षों में नाम शेष रह गये हैं। यदि बिहार, बङ्गाल और उत्तरप्रदेश के उक्त प्रदेशों की पैदल यात्रा की जाय तो निस्सन्देह यात्रियों को अक्षय पुण्य का लाभ हो और इससे संभवतः बहुत से अज्ञात पवित्र स्थानों का पता चल जाय।

ग्यारहवाँ वर्ष

तत्पश्चात् महावीर ने सानुलट्ठियगाम की ओर प्रस्थान किया। वहाँ से वे दढभूमि गये और पेढाल उद्यान में पोलास नामक चैत्य में ठहरे। वहाँ बहुत से म्लेच्छ रहते थे उन्होंने महावीर को अनेक कष्ट दिये। इसके बाद वे वालुयागाम सुभोम सुच्छेत्ता और मलय होते हुए हत्थिसीस पहुँचे। इन स्थानों में महावीर ने अनेक उपसर्ग सहे। तत्पश्चात् महावीर ने तोसलि के लिये प्रस्थान किया। वहाँ से वे मोसलि गये फिर लौट कर तोसलि आये। वहाँ से सिद्धत्थपुर होते हुए वयग्गाम आये। महावीर ने इस प्रदेश में छह महीने विचरण किया। इन स्थानों में महावीर को घोर उपसर्ग सहन करने पड़े। इसके बाद महावीर आलभिया पहुँचे और फिर सेयविया होते हुए उन्होंने श्रावस्ति की ओर विहार किया। उस समय श्रावस्ति में स्कन्द (कार्त्तिकेय) की पूजा होती थी। वहाँ से महावीर कौशाम्बी वाराणसी राजगृह और मिथिला में विचरण करते हुए वैशाली पहुँचे और वहाँ उन्होंने ग्यारहवाँ चौमासा बिताया। (कुछ लोगों का कहना है कि यह चातुर्मास महावीर ने मिथिला में बिताया।)

बारहवाँ वर्ष

वहाँ से महावीर ने सुंसुमारपुर के लिए प्रयाण किया। फिर भोगपुर नन्दिगाम और मेंढियगाम होते हुए कौशाम्बी पधारे। यहाँ उन्हें भ्रमण करते करते चार मास बीत गये लेकिन आहार लाभ न हुआ। अन्त में चम्पा के राजा दधिवाहन की पुत्री चन्दनबाला ने उन्हें आहार देकर पुण्य लाभ किया। तत्पश्चात् महावीर सुमङ्गलगाम और पालय होते हुए चम्पा पधारे और वहाँ किसी ब्राह्मण की यज्ञशाला में ठहरे। महावीर ने यहाँ बारहवाँ वर्षावास बिताया।

तेरहवाँ वर्ष

तत्पश्चात् महावीर जंभियगाम पहुँचे। वहाँ से मेंढियगाम होते हुए मज्झिमपावा आये। यहाँ से लौट कर फिर जंभियगाम गये और वहाँ नगर के बाहर वियावत्त चैत्य में उज्जुवालिया नदी के उत्तरी किनारे श्यामाक गृहपति के खेत में शाल वृक्ष के नीचे वैशाख सुदी १० के दिन केवलज्ञान प्राप्त किया।

पानी से होते हैं, कहाँ कुँए के पानी से होते हैं, कहाँ नदी की बाढ से होते हैं और कहाँ नाव में रोपे जाते हैं। इसी प्रकार साधु को यह जानना आवश्यक है कि किस देश मे व्यापार-बनिज से आजीविका चलती है, कहाँ खेती से आजीविका होती है, तथा कहाँ के लोग मास-भक्षी होते हैं और कहाँ निरामिष-भोजी।

कहना न होगा कि जैन श्रमणो ने भयङ्कर कष्टो का सामना कर अपने सिद्धान्तो का प्रसार किया था। उस समय मार्ग मे भयानक जङ्गल पडते थे, जो हिंस्र जतुओ से परिपूर्ण थे। रास्ते मे बडे बडे पर्वत और नदी-नालो को लॉघ कर जाना पडता था। चोर-डाकुओ के उपद्रव और राज्योपद्रव भी कम नहीं थे। वसति (ठहरने की जगह) तथा दुर्भिक्ष-जन्य उपद्रवो की भी कमी नहीं थी। ऐसी दशा में देश-देशान्तर मे घूम-घूमकर अपने धर्म का प्रचार करना साधारण बात न थी।

लेकिन कुछ समय पश्चात् जैन श्रमणों को राजा सप्रति (२२०-२११ ई पू) का आश्रय मिला और जैन भिक्षु बिहार, बङ्गाल और उत्तरप्रदेश की सीमा का उल्लङ्घन कर दूर दूर तक विहार करने लगे। जैन सूत्रो के अनुसार राजा सम्प्रति नेत्रहीन कुणाल का पुत्र था, जो सम्राट् चन्द्रगुप्त (३२५-३०२ ई पू) का प्रपौत्र, बिन्दुसार का पौत्र तथा अशोक (२७४-२३७ ई० पू०) का पुत्र था। अवन्ति का राजा सम्प्रति आर्य सुहस्ति के उपदेश से जैन श्रमणो का उपासक और जैन धर्म का प्रभावक बना था। राजा सम्प्रति ने नगर के चारो दरवाजो पर दानशालाऍ खुलवाकर जैन श्रमणों को भोजन-वस्त्र देने की व्यवस्था की थी। उसने अपने आधीन आसपास के सामन्त राजाओ को निमन्त्रित कर उन्हें श्रमण सघ की भक्ति करने को कहा। सम्प्रति अपने कर्मचारियो के साथ रथयात्रा महोत्सव में सम्मिलित होता और रथ के सामने विविध पुष्प, फल, वस्त्र, कौडियॉ आदि चढाकर अपने को धन्य मानता था। राजा सम्प्रति ने अपने भटो को शिक्षा देकर साधुवेष मे सीमान्त देशो मे भेजा, जिससे जैन श्रमणो को निर्दोष भिक्षा का लाभ हो सके। इस प्रकार सम्प्रति ने आन्ध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र, कुडुक्क (कुर्ग) आदि देशो को जैन श्रमणा के सुखपूर्वक विहार करने योग्य बनाया।

इस समय से निम्नलिखित साढे पचीस देश आर्य देश माने जाने लगे, और इन देशो मे जैन श्रमणो का विहार होने लगा —

३

जैन श्रमण संघ और जैन धर्म का प्रसार

बृहत्कल्प सूत्र और निशीथ सूत्र जैसे प्राचीन जैन सूत्रों से पता लगता है कि भगवान् महावीर जब साकेत नगरी के सुभूमिभाग नामक उद्यान में विहार कर रहे थे तो उन्होंने निम्नलिखित सूत्र कहा था—

> "निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनी साकेत के पूर्व में अङ्ग-मगध तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक, पश्चिम में स्थूणा तक, तथा उत्तर में कुणाला (उत्तर कोसल) तक विहार कर सकते हैं। इतने ही क्षेत्र आर्य क्षेत्र हैं, बाकी नहीं, क्योंकि इन्हीं क्षेत्रों में निर्ग्रन्थ भिक्षु और भिक्षुणियों के ज्ञान-दर्शन और चारित्र अक्षुण्ण रह सकते हैं।"

इससे पता लगता है कि प्रारम्भ में जैन श्रमणों का विहार-क्षेत्र आधुनिक बिहार, पूर्वीय उत्तरप्रदेश तथा पश्चिमीय उत्तरप्रदेश के कुछ भाग तक सीमित था, इसके बाहर वे नहीं गये थे।

बृहत्कल्प भाष्य में जनपद-परीक्षा प्रकरण में बताया गया है कि जनपद विहार करने से साधुओं की दर्शन-विशुद्धि होती है, महान् आचार्य आदि की संगति से वे अपने आपको धर्म में स्थिर रख सकते हैं, तथा विद्या-मन्त्र आदि की प्राप्ति कर सकते हैं। वहाँ बताया गया है कि साधु को नाना देशों की भाषाओं में कुशल होना चाहिए जिससे वह देश-देश के लोगों को उनकी भाषा में उपदेश दे सके। इतना ही नहीं, साधु को इस बात की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए कि किस देश में किस प्रकार से धान्य की उत्पत्ति होती है—कहीं वर्षा से धान्य होते हैं, कहीं नदी के पानी से होते हैं, कहीं तालाब के

ईसवी सन् के पूर्व जैन श्रमणों की प्रवृत्तियों का केन्द्र काफी विस्तृत हो गया था —

गोदास गण की शाखाएँ —तामलित्तिया, कोडिवरिसिया, पुंडवद्धणिया, दासी खब्बडिया।

उत्तर बलिस्सह गण की शाखाएँ —कासवज्जिया, मोइत्तिया (सुत्तिवत्तिया), कोडंबाणी, चन्दनागरी।

उद्देह गण की शाखाएँ —उदबरिज्जिया, मासपुरिया, मइपत्तिया, पुण्ण-पत्तिया।

कुल'—नागभूय, सोमभूय, उल्लगच्छ, हत्थलिज्ज, नंदिज्ज, पारिहासय।

चारण गण की शाखाएँ —हारियमालागारी (हारियमालगढी) संका-सीआ, गवेधुया, वज्जनागरी।

कुलः—वच्छलिज्ज, पीइधम्मिअ, हालिज्ज, पूसमित्तिज्ज, मालिज्ज, अज्जवेडय, कण्हसह।

उडुवाडिय गण की शाखाएँ —चंपिज्जिया, भद्दिजिया, काकंदिया, मेह-लिज्जिया।

कुल —भद्दजसिय, भद्दगुत्तिय, जसभद्द।

वेसवडिय गण की शाखाएँ —सावत्थिया, रज्जपालिया, अंतरिज्जिया, खेम-लिज्जिया।

कुल —मेहिय, कामिड्ढिअ, इंदपुरग।

माणव गण की शाखाएँ —कासवज्जिया, गोयमज्जिया, वासिट्ठिया, सोरट्ठिया।

कुल —इसिगुत्ति, इसिदत्तिय, अभिजयन्त।

कोडिय गण की शाखाएँ —उच्चानागरी, विज्जाहरी, वइरी, मज्झिमिल्ला*।

कुल —बंभलिज्ज, वच्छलिज्ज, वाणिज्ज, पण्हवाहणय*।

इसके अतिरिक्त मज्झिमा, विज्जाहरी, उच्चानगरी, अज्जसेणिया, अज्जतावसी, अज्जकुबेरी, अज्जइसिपालिया, बंभदीविया, अज्जवइरी, अज्जनाइली, अज्ज-जयन्ती नामक शाखाओं का उल्लेख मिलता है। ध्यान रखने की बात है कि

* ध्यान रखने की बात है कि विक्रम संवत् १४०५ में प्रबन्धकोश के रच-यिता राजशेखर ने ग्रंथ की प्रशस्ति में अपने आपको कोटिक गण, प्रश्नवाहनक कुल, मध्यमा शाखा, हर्षपुरीय गच्छ और मलधारि सन्तान बताया है।

ईसवी सन् के पूर्व जैन श्रमणों की प्रवृत्तियों का केन्द्र काफी विस्तृत हो गया था —

गोदास गण की शाखाएँ —तामलित्तिया, कोडिवरिसिया, पुंडवद्धणिया, दासी खब्बडिया।

उत्तर बलिस्सह गण की शाखाएँ —कोसंबिया, सोइत्तिया (सुत्तिवत्तिया), कोडंबाणी, चन्दनागरी।

उद्देह गण की शाखाएँ —उदुंबरिज्जिया, मासपुरिया, मइपत्तिया, पुण्ण-पत्तिया।

कुल:—नागभूय, सोमभूय, उल्लगच्छ, हत्थलिज्ज, नंदिज्ज, पारिहासय।

चारण गण की शाखाएँ —हारियमालागारी (हारियमालगढी) संकासीआ, गवेधुया, वज्जनागरी।

कुल —वच्छलिज्ज, पीइधम्मिअ, हालिज्ज, पूसमित्तिज्ज, मालिज्ज, अज्जवेडय, कण्हसह।

उडुवाडिय गण की शाखाएँ —चंपिज्जिया, भद्दिज्जिया, काकंदिया, मेह-लिज्जिया।

कुल —भद्दजसिय, भद्दगुत्तिय, जसभद्द।

वेसवडिय गण की शाखाएँ —सावत्थिया, रज्जपालिया, अंतरिज्जिया, खेम-लिज्जिया।

कुल —गणिय, कामिड्ढिअ, इंदपुरग।

माणव गण की शाखाएँ —कासवज्जिया, गोयमज्जिया, वासिट्ठिया, सोरट्ठिया।

कुल —इसिगुत्ति, इसिदत्तिय, अभिजयन्त।

कोडिय गण की शाखाएँ —उच्चानागरी, विज्जाहरी, वइरी, मज्झिमिल्ला*।

कुल —बंभलिज्ज, वच्छलिज्ज, वाणिज्ज, पण्हवाहणय*।

इसके अतिरिक्त मज्झिमा, विज्जाहरी, उच्चानगरी, अज्जसेणिया, अज्जतावसी, अज्जकुवेरी, अज्जइसिपालिया, बंभदीविया, अज्जवइरी, अज्जनाइली, अज्ज-जयन्ती नामक शाखाओं का उल्लेख मिलता है। ध्यान रखने की बात है कि

---

* ध्यान रखने की बात है कि विक्रम संवत् १४०५ में प्रबन्धकोश के रच-यिता राजशेखर ने ग्रंथ की प्रशस्ति में अपने आपको कोटिक गण, प्रश्नवाहनक कुल, मध्यमा शाखा, हर्षपुरीय गच्छ और मलधारि सन्तान बताया है।

मथुरा के शिलालेखों में भी ये ही गच्छ शाखायें और कुल उत्कीर्ण हैं।

दुर्भाग्य से इनमें अधिकतर नामों का ठीक ठीक पता नहीं चलता किन्तु जिनका पता चलता है उससे स्पष्ट है कि जैन श्रमणों ने ईसवी सन् के पूर्व ताम्रलिप्ति कोटिवर्ष पाण्डुवर्धन कौशाम्बी शुक्तिमती उदुम्बर मासपुरी (?) चम्पा, काकन्दी मिथिला श्रावस्ति अन्तरञ्जिया काम्पिल्य उच्चानागरी, मध्यमिका और ब्रह्मद्वीप आदि स्थानों में विहार कर इन प्रदेशों को अपनी प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाया था। इन सब स्थानों को जैनधर्म के पुनीत तीर्थ मानना चाहिए।

गया है। वैभार का वर्णन करते हुए कहा है कि यह पहाड़ी बहुत चित्ताकर्षक थी, अनेक वृक्ष और लताओ से मंडित थी, नाना प्रकार के फल-फूल यहाँ खिलते थे, और नगरवासी यहाँ क्रीडा के लिए जाते थ। विपुलाचल से अनेक जैन मुनियो के मोक्ष-गमन का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थो से पता लगता है कि विपुलाचल सब पहाडियो में ऊँचा था, और यह प्राचीनवंश, वक्रक तथा सुपश्य नाम से प्रख्यात था।

वैभार पर्वत के नीचे तपोदा अथवा महातपोपतीरप्रभ नामक गरम पानी का बडा कुण्ड था। जैन सूत्रो मे इस कुण्ड की लम्बाई पॉच सौ धनुष बताई गई है। राजगिर में आजकल भी गरम पानी के स्रोत मौजूद हैं, जिन्हे तपोवन के नाम से पुकारा जाता है। सातवीं सदी के चीनी यात्री हुअन-सांग ने अपने विवरण में इनका उल्लेख किया है।

बुद्ध और महावीर ने राजगृह में अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। जैन ग्रन्थो के अनुसार यहॉ गुणसिल, मडिकुच्छ, मोग्गरपाणि आदि चैत्य—मन्दिर थे। महावीर प्राय गुणसिल चैत्य में ठहरा करते थे। वर्तमान गुणावा, जो नवादा स्टेशन से लगभग तीन मील दूर है, प्राचीन गुणशिल माना जाता है।

राजगृह व्यापार का बड़ा केन्द्र था। यहॉ दूर-दूर के व्यापारी माल खरीदने आते थे। यहॉ से तक्षशिला, प्रतिष्ठान, कपिलवस्तु, कुशीनारा आदि भारत के प्रसिद्ध नगरो को जाने के मार्ग बने हुए थे। बौद्ध सूत्रो में मगध में धान के सुन्दर खेतो का उल्लेख आता है।

बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् राजगृह की अवनति होती चली गई। जब चीनी यात्री हुअन-सांग यहॉ आया तो यह नगरी अपनी शोभा खो चुकी थी। चौदहवी सदी के विद्वान् जिनप्रभ सूरि के समय राजगृह मे ३६,००० घरों के होने का उल्लेख है, जिनमे आधे घर बौद्धो के थे।

वर्तमान राजगिर, जो बिहार शरीफ से दक्षिण की ओर १३-१४ मील के फासले पर है, प्राचीन राजगृह माना जाता है।

पाटलिपुत्र (पटना) मगध देश की दूसरी राजधानी थी। पाटलिपुत्र कुसुमपुर, पुष्पपुर और पुष्पभद्र के नाम से भी पुकारा जाता था।

कहते हैं कि राजा अजातशत्रु (कूणिक) के मर जाने पर राजकुमार उदायि (मृत्यु ४६७ ई० पू०) को चम्पा म रहना अच्छा न लगा। उसने अपने

मगध का दूसरा नाम कीकट था। ब्राह्मण ग्रन्थों में मगध को पापभूमि बताते हुए वहाँ गमन करना निषिद्ध माना गया है। इस पर १८वीं सदी के एक जैन यात्री ने व्यंग्यपूर्वक लिखा है—यह कितने आश्चर्य की बात है कि यदि काशी में एक कौआ भी मर जाय तो वह सीधे मोक्ष में पहुँच जाता है, लेकिन यदि कोई मनुष्य मगधभूमि में मरे तो वह गधे की योनि में पैदा होता है! जैन ग्रन्थों में मगधवासियों की बहुत प्रशंसा की है और कहा है कि यहाँ के लोग संकेत मात्र से बात को समझ जाते हैं।

शिशुनागवंशी सम्राट् बिंबिसार (श्रेणिक) मगध में राज्य करता था। कूणिक (अजातशत्रु, मृत्युकाल ५२५ ई० पू०) अभयकुमार और मेघकुमार आदि उसके अनेक पुत्र थे।

मगध की राजधानी राजगृह (राजगिर) थी। राजगृह की गणना भारत की दस राजधानियों में की गई है।० मगध देश का मुख्य नगर होने से राजगृह को मगधपुर भी कहा जाता था। जैन ग्रन्थों में इसे क्षितिप्रतिष्ठित, चणकपुर, ऋषभपुर और कुशाग्रपुर नाम से भी कहा गया है। कहा जाता है कि कुशाग्रपुर में प्रायः आग लग जाया करती थी, अतएव मगध के राजा बिम्बिसार ने उसके स्थान पर राजगृह नगर बसाया।

महाभारत के अनुसार राजगृह में राजा जरासंध राज्य करता था। यहाँ से महावीर के अनेक शिष्यों का मोक्ष-गमन बताया जाता है। राजगृह प्रभास गणधर और दशवैकालिक के कर्ता शय्यंभव का जन्मस्थान था। महावीर को केवलज्ञान होने के सोलह वर्ष पश्चात् यहाँ दूसरे निह्नव की स्थापना हुई थी।

पाँच पहाड़ियों से घिरे रहने के कारण राजगृह को गिरिव्रज भी कहा जाता था। इन पाँच पहाड़ियों के नाम हैं—विपुल, रत्न, उदय, स्वर्ण और वैभार। ये पहाड़ियाँ आजकल भी राजगृह में मौजूद हैं और जैनों द्वारा पवित्र मानी जाती हैं। इनमें वैभार और विपुल गिरि को जैन ग्रन्थों में विशेष महत्त्व बताया

० चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ति, साकेत, काम्पिल्य, कौशाम्बी, मिथिला, हस्तिनापुर, राजगृह—स्थानांग १०.७१७, निशीथ सूत्र ९.१९। तुलना करो—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ति, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी—दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्त।

गया है। वैभार का वर्णन करते हुए कहा है कि यह पहाड़ी बहुत चित्ताकर्षक थी, अनेक वृक्ष और लताओ से मडित थी, नाना प्रकार के फल-फूल यहाँ खिलते थे, और नगरवासी यहाँ क्रीडा के लिए जाते थ। विपुलाचल से अनेक जैन मुनियो के मोक्ष-गमन का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों से पता लगता है कि विपुलाचल सब पहाड़ियों मे ऊँचा था, और यह प्राचीनवश, वक्क तथा सुपश्य नाम से प्रख्यात था।

वैभार पर्वत के नीचे तपोदा अथवा महातपोपतीरप्रभ नामक गरम पानी का बड़ा कुण्ड था। जैन सूत्रो मे इस कुण्ड की लम्बाई पाँच सौ धनुष बताई गई है। राजगिर में आजकल भी गरम पानी के सोत मौजूद है, जिन्हे तपोवन के नाम से पुकारा जाता है। सातवीं सदी के चीनी यात्री हुअन-साग ने अपने विवरण में इनका उल्लेख किया है।

बुद्ध और महावीर ने राजगृह में अनेक चातुमास व्यतीत किये थे। जैन ग्रन्थो के अनुसार यहाँ गुणसिल, मड्डिकुच्छ, मोग्गरपाणि आदि चैत्य—मन्दिर थे। महावीर प्राय गुणसिल चैत्य में ठहरा करते थे। वर्तमान गुणावा, जो नवादा स्टेशन से लगभग तीन मील दूर है, प्राचीन गुणशिल माना जाता है।

राजगृह व्यापार का बड़ा केन्द्र था। यहाँ दूर-दूर के व्यापारी माल खरीदने आते थे। यहाँ से तक्षशिला, प्रतिष्ठान, कपिलवस्तु, कुशीनारा आदि भारत के प्रसिद्ध नगरो को जाने के मार्ग बने हुए थे। बौद्ध सूत्रो में मगध में धान के सुन्दर खेतों का उल्लेख आता है।

बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् राजगृह की अवनति होती चली गई। जब चीनी यात्री हुअन-सांग यहाँ आया तो यह नगरी अपनी शोभा खो चुकी थी। चौदहवीं सदी के विद्वान् जिनप्रभ सूरि के समय राजगृह मे ३६,००० घरों के होने का उल्लेख है, जिनमे आधे घर बौद्धो के थे।

वर्तमान राजगिर, जो बिहार शरीफ से दक्षिण की ओर १३-१४ मील के फासले पर है, प्राचीन राजगृह माना जाता है।

पाटलिपुत्र (पटना) मगध देश की दूसरी राजधानी थी। पाटलिपुत्र कुसुमपुर, पुष्पपुर और पुष्पभद्र के नाम से भी पुकारा जाता था।

कहते हैं कि राजा अजातशत्रु (कूणिक) के मर जाने पर राजकुमार उदायि (मृत्यु ४६७ ई० पू०) को चम्पा म रहना अच्छा न लगा। उसने अपने

मंत्रियों को किसी योग्य स्थान की तलाश करने भेजा और यहाँ एक सुन्दर पाटलि का वृक्ष देखकर पाटलिपुत्र नगर बसाया। बौद्धों के महावग्ग के अनुसार अजातशत्रु के मन्त्री सुनीथ और वस्सकार ने वैशालिनिवासी वज्जियों के आक्रमण से बचने के लिए इस नगर को बसाया था।

पाटलिपुत्र की गणना सिद्धक्षेत्रों में की गई है। पाटलिपुत्र जैन साधुओं का केन्द्र था। यहाँ जैन आगमों के उद्धार के लिए जैन श्रमणों का प्रथम सम्मेलन हुआ था जो पाटलिपुत्र-वाचना के नाम से प्रसिद्ध है। राजा उदायि ने यहाँ जैन मन्दिर बनवाया था। पाटलिपुत्र में शकटार मन्त्री के पुत्र मुनि स्थूलभद्र कोशा गणिका के घर रहे थे और उन्होंने धर्मोपदेश देकर उसे श्राविका बनाया था। इस नगर में भद्रबाहु आर्य महागिरि आर्य सुहस्ति वज्रस्वामी और उमास्वाति वाचक ने विहार किया था। यूनानी यात्री मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के सम्राट् अशोक के राजभवन का वर्णन किया है। फाहियान के समय ईसा की पाँचवीं शताब्दि तक यह भवन विद्यमान था।

पाटलिपुत्र गंगा के किनारे बसा था। यह नगर व्यापार का बड़ा केन्द्र था। पाटलिपुत्र और सुवर्णभूमि (बरमा) में व्यापार होता था। जब हुएन-सांग यहाँ आया तो यह नगर एक साधारण गाँव के रूप में विद्यमान था।

नालन्दा राजगृह के उत्तर पूर्व में अवस्थित था। बौद्ध सूत्रों में राजगृह और नालन्दा के बीच में एक योजन का अन्तर बताया गया है। बीच में अम्बलट्ठिका नामक वन पड़ता था। प्राचीन काल में नालन्दा बड़ा समृद्धिशाली नगर था जो अनेक भवन और बाग-बगीचों से मंडित था। भिक्षुओं को यहाँ यथेष्ट भिक्षा मिलती थी। बुद्ध महावीर और गोशाल ने नालन्दा में विहार किया था।

नालन्दा के उत्तर-पश्चिम में सेसदविया नाम की एक प्याऊ (उदकशाला) थी। इसके उत्तर-पश्चिम में हस्तियाम नाम का उपवन था। यहाँ महावीर के प्रधान गणधर गौतम ने सूत्रकृतांग नामक जैन सूत्र के अन्तर्गत नालन्दीय नामक अध्ययन की रचना की थी।

१२वीं सदी तक नालन्दा बौद्ध विद्या का महान् केन्द्र था। चीन जापान तिब्बत लंका आदि से विद्यार्थी यहाँ विद्याध्ययन के लिये आते थे। चीनी यात्री हुएन-सांग ने यहाँ रह कर विद्या पढ़ी थी। यहाँ पर यहाँ अनेक विहार थे। नालन्दा में अनेक चित्रकार और शिल्पी रहते थे। नेपाल और बरमा के

साथ इस नगर का घनिष्ठ सम्बन्ध था।

राजगिर से ७ मील दूरी पर अवस्थित बड़ागाँव को प्राचीन नालन्दा माना जाता है।

उद्दण्डपुर अथवा दण्डपुर का उल्लेख जैनसूत्रों में आता है। मखलिपुत्र गोशाल ने यहाँ विहार किया था। महाभारत में भी इस नगर का उल्लेख किया गया है। कहते हैं यहाँ बहुत से दण्डी साधु रहते थे, इसलिये इस स्थान का नाम दण्डपुर पड़ा। दण्डपुर की पहचान बिहार शरीफ से की जाती है।

तुङ्गिया नगरी में अनेक श्रमणोपासकों के रहने का उल्लेख आता है। कल्पसूत्र में तुङ्गिक नामक जैन श्रमणों के गण का उल्लेख मिलता है, इससे मालूम होता है कि यह नगर जैन श्रमणों का केन्द्र रहा होगा। १८वीं सदी के जैन यात्री बिहार शरीफ को प्राचीन तुङ्गिया मानते हैं। बिहार से ४ मील पर तुङ्गीगाम ही सम्भवत. प्राचीन तुङ्गिया हो सकता है।

पावा अथवा मध्यम पावा में महावीर ने निर्वाण लाभ किया था। जभियगाम से लौट कर उन्होंने यहाँ महासेन उद्यान में अन्तिम चौमासा व्यतीत किया। जम्भियगाम* और पावा के बीच बारह योजन का फासला था।

जिनप्रभ सूरि के कथनानुसार महावीर के निर्वाणपद पाने के पूर्व यह नगरी अपापा कही जाती थी, बाद में इसका नाम पापा हो गया।

दिवाली पर यहाँ बड़ा मेला लगता है, जिसमें जैन यात्री दूर-दूर से आते हैं। यहाँ जलमन्दिर में महावीर के गणधर गौतम और सुधर्मा की पादुकायें बनी हुई हैं।

बिहार से ७ मील के फासले पर पावापुरी को प्राचीन पावा माना जाता है।

गोब्बरगाम में महावीर ने विहार किया था। महावीर के तीन गणधर

---

* जभियगाम और ऋजुवालिका नदी के विषय में जानने के लिये देखिये मुनि न्यायविजय जी का 'जैन तीर्थो नो इतिहास', पृ ४६५-६

मन्त्रियों को किसी नम्य स्थान की तलाश करने भेजा और वहाँ एक सुन्दर पाटलि का वृक्ष देखकर पाटलिपुत्र नगर बसाया। बौद्धों के महावग्ग के अनुसार अजातशत्रु के मन्त्री सुनीध और वर्षकार ने वैशालिनिवासी वज्जियों के आक्रमण से बचने के लिए इस नगर को बसाया था।

पाटलिपुत्र की गणना सिद्धक्षेत्रों में की गई है। पाटलिपुत्र जैन साधुओं का केन्द्र था। यहाँ जैन आगमों के उद्धार के लिए जैन श्रमणों का प्रथम सम्मेलन हुआ था जो पाटलिपुत्र-वाचना के नाम से प्रसिद्ध है। राजा उदायि ने यहाँ जैन मन्दिर बनवाया था। पाटलिपुत्र में शकटार मन्त्री के पुत्र मुनि स्थूलभद्र कोशा गणिका के घर रहे थे और उन्होंने धर्मोपदेश देकर उसे श्राविका बनाया था। इस नगर में भद्रबाहु, आर्य महागिरि आर्य सुहस्ति, वज्रस्वामी और उमास्वाति वाचक ने विहार किया था। यूनानी यात्री मेगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र के सम्राट् अशोक के राजभवन का वर्णन किया है। फाहियान के समय ईसा की पाँचवीं शताब्दि तक यह भवन विद्यमान था।

पाटलिपुत्र गंगा के किनारे बसा था। यह नगर व्यापार का बड़ा केन्द्र था। पाटलिपुत्र और सुवर्णभूमि (बरमा) में व्यापार होता था। जब हुएन सांग यहाँ आया तो यह नगर एक साधारण गाँव के रूप में विद्यमान था।

नालन्दा राजगृह के उत्तर पूर्व में अवस्थित था। बौद्ध सूत्रों में राजगृह और नालन्दा के बीच में एक योजन का अन्तर बताया गया है। बीच में अम्बलट्ठिका नामक वन पड़ता था। प्राचीन काल में नालन्दा धन समृद्धिशाली नगर था जो अनेक भवन और बाग-बगीचों से मंडित था। भिक्षुओं को यहाँ यथेच्छ भिक्षा मिलती थी। बुद्ध महावीर और गोशाल ने नालन्दा में विहार किया था।

नालन्दा के उत्तर-पश्चिम में सेसदविया नाम की एक प्याऊ (उदकशाला) थी जिसके उत्तर-पश्चिम में हस्तिद्वीप नाम का उपवन था। यहाँ महावीर के प्रधान गणधर गोतम ने सूत्रकृतांग नामक जैन सूत्र के अन्तर्गत नालन्दीय नामक अध्ययन की रचना की थी।

१२वीं सदी तक नालन्दा बौद्ध विद्या का महान केन्द्र था। चीन, जापान तिब्बत लंका आदि से विद्यार्थी यहाँ विद्याध्ययन के लिये आते थे। चीनी यात्री हुएन-सांग ने यहीं रह कर शिक्षा पाई थी। बौद्धों के यहाँ अनेक विहार थे। नालन्दा में अनेक चित्रकार और शिल्पी रहते थे। नेपाल और बरमा के

इसके चारों ओर गहरी खाई थी। चक्र, गदा, मुसुण्ढी (एक प्रकार की गदा), शतघ्नी (तलवार अथवा भाले के समान चलाया जाने वाला यन्त्र), कपाट आदि के कारण दुष्प्रवेश थी। चारों ओर से यह परकोटे से घिरी थी। कपिशीर्षक (कगूरे), अटारी, गोपुर तथा तोरण आदि से शोभायमान थी। अनेक वणिक् तथा शिल्पी यहाँ माल बेचने आते थे। सुन्दर यहाँ की सड़कें थी, और हाथी, घोड़े, रथ, पैदल तथा पालकियों के गमनागमन से शोभित थी।"

चम्पा नगरी में पूर्णभद्र यक्ष का एक प्राचीन चैत्य था, जहाँ महावीर ठहरा करते थे। यह चैत्य ध्वजा, छत्र और घण्टियों से मण्डित था, वेदिका से शोभित था। भूमि यहाँ की गोबर से लिपी हुई थी, गोशीर्ष चन्दन के थापे लगे हुए थे, चन्दन-कलश रक्खे हुए थे, द्वार पर तोरण बँधी थी, सुगन्धित मालाएँ लटकी हुई थीं, रङ्ग-विरंगे सुगन्धित पुष्प बिखरे हुए थे, सर्वत्र धूप महक रही थी तथा नट, नर्तक, गायक, वादक आदि का यह निवास-स्थान था।

बौद्ध सूत्रों से पता लगता है कि चम्पा में गर्गरा नाम की एक पुष्करिणी थी। इसके किनारे सुन्दर चम्पक के वृक्ष लगे थे, जिन पर सुगंधित श्वेत रङ्ग के फूल खिलते थे।

कहते हैं कि राजा श्रेणिक के मरने पर राजा कूणिक को राजगृह में रहना अच्छा न लगा, अतएव उसने चम्पक के सुन्दर वृक्षों को देख कर चम्पा नगर बसाया। राजा कूणिक का अपनी रानियों समेत भगवान् महावीर के दर्शन के लिये जाने का विस्तृत वर्णन औपपातिक सूत्र में आता है।

चम्पा व्यापार का बड़ा केन्द्र था। यहाँ के व्यापारी माल बेचने के लिये मिथिला, अहिच्छत्रा, सुवर्णभूमि आदि दूर-दूर स्थानों को जाते थे। चम्पा और मिथिला में साठ योजन का अन्तर था।

भागलपुर के पास वर्तमान नाथनगर को प्राचीन चम्पा माना जाता है।

चम्पा का शाखानगर (सबर्ब) पृष्ठचम्पा था। यह चम्पा के पश्चिम में था। महावीर ने यहाँ चातुर्मास किया था।

जैन ग्रन्थों में मन्दिर या मन्दार को पवित्र तीर्थ माना गया है। इसकी गणना सिद्धक्षेत्रों में की जाती है। ब्राह्मण पुराणों में भी मन्दार का उल्लेख आता है।

इसकी पहचान भागलपुर से दक्षिण की ओर तीस मील की दूरी पर स्थित मन्दार-

की यह जन्मभूमि थी। यह स्थान राजगृह और चम्पा के बीच में था।

अंग एक प्राचीन जनपद था। वस्तुतः बुद्ध के समय अंग मगध के ही अन्तर्गत था। इसीलिए प्राचीन ग्रन्थों में अंग-मगध का एक साथ उल्लेख किया गया है। रामायण के अनुसार यहाँ शिवजी ने अंग (कामदेव) को भस्म किया था अतएव इस स्थान का नाम अंग पड़ा। जैन ग्रन्थों में अंग का उल्लेख सिंहल बर्बर, किरात यवनद्वीप आरवक रमक, अलसन्द और कच्छ के साथ किया गया है।

अंग देश मगध के पूर्व में था। इसकी पहचान भागलपुर जिले से की जाती है।

चम्पा अंग देश की राजधानी थी। जैन ग्रन्थों के अनुसार राजा दधिवाहन यहाँ राज्य करता था। चम्पा का उल्लेख महाभारत में आता है। इसका दूसरा नाम मालिनी था। जैन सूत्रों में चम्पा की गणना सम्मेदशिखर आदि पवित्र तीर्थों में की गई है।

महावीर बुद्ध तथा उनके शिष्यों ने चम्पा में अनेक बार विहार किया था और अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्रों का प्रतिपादन किया था। यहाँ रहकर शय्यंभव सूरि ने दशवैकालिक नामक जैन सूत्र की रचना की थी। चम्पा की गणना सिद्धक्षेत्रों में की गई है।

औपपातिक सूत्र में चम्पा का वर्णन करते हुए कहा है :—

> "चम्पा नगरी अतीव समृद्धिशाली थी प्रजा यहाँ की खुशहाल थी, सैकड़ों-हजारों हलों द्वारा यहाँ की जुताई होती थी, नगरी के आसपास अनेक गाँव थे। यह नगरी ईख, जौ चावल आदि धान्य तथा गाय भैंस भेड़ आदि धन से समृद्ध थी। यहाँ सुन्दर चैत्य तथा वेश्याओं के अनेक भवन थे। नट नर्तक बाजीगर पहलवान मुष्टियुद्ध करनेवाले कथावाचक रास-गायक बाँस की नोक पर खड़े होकर तमाशा दिखानेवाले चित्रपट दिखाकर भिक्षा माँगनेवाले तथा वीणा-वादक आदि लोग यहाँ रहते थे। यह नगरी बाग-बगीचे कुएँ तालाब बावड़ी आदि से मण्डित थी।

इसके चारों ओर गहरी खाई थी। चक्र, गदा, मुसुण्ढी (एक प्रकार की गदा), शतघ्नी (तलवार अथवा भाले के समान चलाया जाने वाला यन्त्र), कपाट आदि के कारण दुष्प्रवेश थी। चारों ओर से यह परकोटे से घिरी थी। कपिशीर्षक (कगूरे), अटारी, गोपुर तथा तोरण आदि से शोभायमान थी। अनेक वणिक् तथा शिल्पी यहाँ माल बेचने आते थे। सुन्दर यहाँ की सड़कें थीं, और हाथी, घोड़े, रथ, पैदल तथा पालकियों के गमनागमन से शोभित थीं।"

चम्पा नगरी में पूर्णभद्र यक्ष का एक प्राचीन चैत्य था, जहाँ महावीर ठहरा करते थे। यह चैत्य ध्वजा, छत्र और घण्टियों से मण्डित था, वेदिका से शोभित था। भूमि यहाँ की गोबर से लिपी हुई थी, गोशीर्ष चन्दन के थापे लगे हुए थे, चन्दन-कलश रक्खे हुए थे, द्वार पर तोरण बँधी थी, सुगन्धित मालाएँ लटकी हुई थीं, रङ्ग-बिरंगे सुगन्धित पुष्प बिखरे हुए थे, सर्वत्र धूप महक रही थी तथा नट, नर्तक, गायक, वादक आदि का यह निवास-स्थान था।

बौद्ध सूत्रों से पता लगता है कि चम्पा में गर्गरा नाम की एक पुष्करिणी थी। इसके किनारे सुन्दर चम्पक के वृक्ष लगे थे, जिन पर सुगधित श्वेत रङ्ग के फूल खिलते थे।

कहते हैं कि राजा श्रेणिक के मरने पर राजा कूणिक को राजगृह में रहना अच्छा न लगा, अतएव उसने चम्पक के सुन्दर वृक्षों को देख कर चम्पा नगर बसाया। राजा कूणिक का अपनी रानियों समेत भगवान् महावीर के दर्शन के लिये जाने का विस्तृत वर्णन औपपातिक सूत्र में आता है।

चम्पा व्यापार का बड़ा केन्द्र था। यहाँ के व्यापारी माल बेचने के लिये मिथिला, अहिच्छत्रा, सुवर्णभूमि आदि दूर-दूर स्थानों को जाते थे। चम्पा और मिथिला में साठ योजन का अन्तर था।

भागलपुर के पास वर्तमान नाथनगर को प्राचीन चम्पा माना जाता है।

चम्पा का शाखानगर (सबर्ब) पृष्ठचम्पा था। यह चम्पा के पश्चिम में था। महावीर ने यहाँ चातुर्मास किया था।

जैन ग्रन्थों में मन्दिर या मन्दार को पवित्र तीर्थ माना गया है। इसकी गणना सिद्धक्षेत्रों में की जाती है। ब्राह्मण पुराणों में भी मन्दार का उल्लेख आता है।

इसकी पहचान भागलपुर से दक्षिण की ओर तीस मील की दूरी परस्थ दार-

गिरि से की जाती है। पहाड़ी के ऊपर शीतल जल के कुण्ड हैं।

जैन सूत्रों के अनुसार काकन्दी में बहुत से श्रमणोपासक रहते थे। काकन्दिया जैन श्रमणों की शाखा थी। महावीर ने इस नगरी में विहार किया था।

मुंगेर जिले के काकन नामक स्थान को प्राचीन काकन्दी माना जाता है। कुछ लोग गोरखपुर जिले के अन्तर्गत खखुंदो ग्राम को काकन्दी मानते हैं।

भद्दिय में बुद्ध और महावीर ने विहार किया था। बौद्ध सूत्रों के अनुसार भद्दिय अंग देश में था। इसकी पहचान मुंगेर से की जाती है। मुंगेर का प्राचीन नाम मुग्गलगिरि था।

गया के दक्षिण में मलय नाम का जनपद था। यह वस्त्र के लिये प्रसिद्ध था।

भद्दिलपुर मलय की राजधानी थी। भद्दिलपुर की गणना अतिशय क्षेत्रों में की गई है।

भद्दिलपुर की पहचान हजारीबाग जिले के भदिया नामक गाँव से की जाती है। यह स्थान हटरगंज से ६ मील की दूरी पर कुलुहा पहाड़ी के पास है। यहाँ अनेक खण्डित जिन मूर्तियाँ मिली हैं। यह तीर्थ विच्छिन्न है। मालूम है कि जैन लोगों ने इसे तीर्थ मानना छोड़ दिया है।

हजारीबाग जिले का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान सम्मेदशिखर है। इसे समाधिगिरि समिदगिरि मल्लपर्वत अथवा शिखर भी कहा जाता है। सम्मेदशिखर की गणना शत्रुंजय गिरनार आबू और अष्टापद नामक तीर्थों के साथ की गई है। यहाँ से जैनों के २४ तीर्थंकरों में से २ तीर्थंकरों का निर्वाण हुआ माना जाता है।

सम्मेदशिखर की पहचान वर्तमान पारसनाथ हिल से की जाती है। यह पहाड़ी ईसरी स्टेशन से दो मील की दूरी पर है।

मलय देश के आगे पाम का प्रदेश भंगि जनपद कहलाता था। इस जनपद

में हजारीबाग और मानभूम ज़िले गर्भित होते हैं।

पावा भगि जनपद की राजधानी थी। मल्लों की पावा से यह भिन्न है।

कयगला का उल्लेख जैन और बौद्ध सूत्रों मे मिलता है। महावीर और बुद्ध ने यहाँ विहार किया था, बुद्ध यहाँ वेलुवन मे ठहरे थे। इस प्रदेश का पुराना नाम औदुम्बर था। उदबरिजिया नामक जैन श्रमणो की शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र में आता है।

कयगला की पहचान मथाले परगना के अतर्गत ककजोल स्थान से की जाती है।

मगध के उत्तर में **विदेह** जनपद था। ब्राह्मण ग्रन्थों में विदेह को राजा जनक की राजधानी बताया गया है। बौद्ध सूत्रों में जो वज्जियों के आठ कुल गिनाये हैं, उनमें वैशाली के लिच्छवि और मिथिला के विदेह मुख्य थे। कल्प-सूत्र में वज्जनागरी (वार्जनागरी=वृजिनगर की शाखा) नामक जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख आता है। महावीर की माता त्रिशला विदेह देश की होने से विदेहदत्ता कही जाती थी, और विदेहवासी चेलना का पुत्र कूणिक वज्जि विदेहपुत्र कहा जाता था।

विदेह व्यापार का बड़ा केन्द्र था। व्यापारी लोग श्रावस्ति आदि दूरवर्ती नगरों से यहाँ आते थे।

वर्तमान तिरहुत को प्राचीन विदेह माना जाता है।

मिथिला विदेह की राजधानी थी। रामायण में मिथिला को जनकपुरी कहा गया है। बुद्ध और महावीर ने यहाँ अनेक बार विहार किया था। मैथिलिया जैन श्रमणो की शाखा थी। आर्य महागिरि यहाँ आये थे। मिथिला अकपित गणधर की जन्मभूमि थी। चौथे निह्नव की यहाँ स्थापना हुई थी।

जिनप्रभ सूरि के समय मिथिला जगइ नाम से प्रसिद्ध थी। उस समय यहाँ अनेक कदलीवन, मीठे पानी की बावड़ियाँ, कुएँ, तालाब और नदियाँ मौजूद थीं। नगरी के चार दरवाज़ों पर चार बड़े बाज़ार थे। यहाँ के साधारण लोग भी विविध शास्त्रों के पडित होते थे, तथा यहाँ पातालर्लिंग आदि अनेक तीर्थ मौजूद थे।

किसी समय मिथिला प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा विद्या का केन्द्र था। ईसवी सन की ९वीं सदी में यहाँ प्रसिद्ध विद्वान् मंडन मिश्र निवास करते थे जिनकी पत्नी ने शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया था। यह नगरी प्रसिद्ध नैयायिक वाचस्पति मिश्र की जन्मभूमि थी तथा मैथिल कवि विद्यापति यहाँ के राजदरबार में रहते थे।

नेपाल की सीमा पर जनकपुर को प्राचीन मिथिला माना जाता है।

वैशाली विदेह की दूसरी महत्त्वपूर्ण राजधानी थी। वैशाली प्राचीन वज्जी गणतन्त्र की मुख्य नगरी थी। यहाँ के लोग लिच्छवि कहलाते थे। ये लोग आपस में इकट्ठे होकर प्रत्येक विषय की चर्चा करते और सब मिलकर राज्य का प्रबन्ध करते थे। इन लोगों की एकता की प्रशंसा बुद्ध भगवान् ने की थी। वैशाली की कन्याओं का विवाह वैशाली में ही होता था। वैशाली गण्डकी (गंडक) के किनारे बसी थी। बुद्ध और महावीर ने यहाँ अनेक बार विहार किया था। वैशाली महावीर का जन्म-स्थान था इसलिए वे वैशालीय कहे जाते थे। दीक्षा के पश्चात् उन्होंने यहाँ १२ चातुर्मास व्यतीत किये।

वैशाली मध्यदेश का सुन्दर नगर माना जाता था। बुद्ध के समय यह बहुत उन्नत दशा में था। यहाँ अनेक उद्यान आराम बावड़ी तालाब तथा पोखरियाँ थीं। अम्बपाली नाम की गणिका वैशाली की परम शोभा मानी जाती थी। बुद्ध ने यहाँ स्त्रियों को भिक्षुणी बनने का अधिकार दिया था।

जैन ग्रन्थों के अनुसार चेटक वैशाली का प्रभावशाली राजा था। उसकी बहन त्रिशला महावीर की माता थीं। चेटक काशी-कोशल के अठारह गण राजाओं का मुखिया था। राजा कूणिक और चेटक में घोर संग्राम हुआ, जिसमें चेटक पराजित हो गया और कूणिक ने वैशाली में गधों का हल चलाकर उसे नष्ट कर डाला।

हुएन-सांग के समय वैशाली उजाड़ हो चुकी थी।

मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ ग्राम को प्राचीन वैशाली माना जाता है।

वैशाली के पास कुण्डपुर नाम का नगर था। यहाँ महावीर का जन्म हुआ था। कुण्डपुर क्षत्रियकुण्डग्राम और ब्राह्मणकुण्डग्राम नामक दो भागों में बँटा था। पहले भाग में क्षत्रिय और दूसरे में ब्राह्मण रहते थे। कुण्डपुर

म ज्ञातृखण्ड नाम का सुन्दर उद्यान था, जहाँ महावीर ने दीक्षा ग्रहण की थी। इस उद्यान की गणना ऊर्जयन्त और सिद्धशिला नामक पवित्र क्षेत्रों के साथ की गई है।

आधुनिक वसुकुण्ड को कुण्डपुर माना जाता है।

वैशाली का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान वाणियगाम था। वैशाली और वाणियगाम के बीच गंडकी नदी बहती थी। यहाँ आनन्द आदि अनेक समृद्ध जैन श्रमणोपासक रहते थे।

आधुनिक बनिया को वाणियगाम माना जाता है।

वाणियगाम के उत्तर-पूर्व मे कोल्लाग था। यहाँ आनन्द श्रावक के सगे-सम्बन्धी रहते थे। दीक्षा के पश्चात् महावीर ने यहाँ प्रथम भिक्षा ग्रहण की थी।

बसाढ के उत्तर-पश्चिम में वर्तमान कोल्हुआ को कोल्लाग माना जाता है। नालन्दा के समीपवर्ती कोल्लाग से यह भिन्न है।

कोल्लाग के पास अट्ठियगाम नाम का गाँव था, इसे वर्धमान भी कहते थे। यहाँ वेगवती (गण्डकी) नाम की नदी बहती थी। शूलपाणि यक्ष का यहाँ बडा मन्दिर था। महावीर ने अट्ठियगाम मे प्रथम चातुर्मास व्यतीत किया था।

वैशाली के पास आमलकप्पा नाम का नगर था जहाँ पार्श्वनाथ और महावीर ने विहार किया था।

२ : नैपाल

नैपाल मे जैन और बौद्ध श्रमणों ने विहार किया था। आजकल भी यहाँ बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार, पाटलिपुत्र म दुर्भिक्ष पडने पर भद्रबाहू, स्थूलभद्र तथा अन्य अनेक जैन आचार्यों ने यहाँ विहार किया था।

यहाँ सम्राट् अशोक के निर्माण किये हुए प्राचीन स्तूप मिले है। नैपाल का राजा असुवर्मा लिच्छवि वंश का था।

नैपाल की पहचान आधुनिक नैपाल राज्य से की जाती है, यह जनकपुर स १२० मील की दूरी पर है।

३ : उड़ीसा

कलिंग देश का नाम अंग और बंग के साथ आता है। वर्तमान उड़ीसा को कलिंग माना जाता है। उड़ीसा का ओड्र या उत्कल नाम से भी कहा जाता था।

जातक ग्रन्थों में दन्तपुर, महाभारत में राजपुर, महावस्तु में सिंहपुर और जैन सूत्रों में कांचनपुर को कलिंग की राजधानी बताया है। सातवीं सदी में कलिंगनगर भुवनेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो आजतक इसी नाम से प्रख्यात है।

कांचनपुर में जैन श्रमणों ने विहार किया था। यह नगर व्यापार का केन्द्र था और यहाँ के व्यापारी लंका तक जाते थे।
आधुनिक भुवनेश्वर को प्राचीन कांचनपुर माना जाता है।

पुरी (जगन्नाथपुरी) उड़ीसा की दूसरी मुख्य नगरी थी। यह नगरी जैन और बौद्ध धर्म का केन्द्र थी। यहाँ जीवन्तस्वामी प्रतिमा थी और आचार्य वज्रस्वामी ने यहाँ विहार किया था। उस समय यहाँ बौद्ध राजा राज्य करता था। जैन और बौद्धों में वैमनस्य रहता था। जैनों की मान्यता के अनुसार पुरी पहले पार्श्वनाथ का तीर्थ था। आजकल वह तीर्थ विच्छिन्न है।

पुरी व्यापार का बड़ा केन्द्र था और यहाँ जलमार्ग से माल आता जाता था। आजकल यहाँ रथयात्रा का बड़ा उत्सव मनाया जाता है।

भुवनेश्वर स्टेशन से लगभग चार मील पर उदयगिरि और खण्डगिरि नाम की प्राचीन पहाड़ियाँ हैं, जिन्हें काट-काट कर सुन्दर गुफायें बनाई गई हैं। इनमें लगभग सौ जैन गुफायें हैं जो मूर्तिकला की दृष्टि से महत्त्व की हैं। ये गुफायें ईसवी सन् के ५ वर्ष पूर्व के पहले से लेकर ईसवी सन् ५ तक की बताई जाती हैं। प्रसिद्ध हस्तिगुम्फा यहीं पर है जिसमें सम्राट् खारवेल (ईसवी सन् के १६१ वर्ष पूर्व) का शिलालेख है। सम्राट् खारवेल जैनधर्म का अनुयायी था और उसने मगध से जिन-प्रतिमा लाकर यहाँ स्थापित की थी। उदयगिरि का प्राचीन नाम कुमारी पर्वत है। यहाँ सम्राट् खारवेल के

निर्माण किये हुए कई जिन मन्दिर हैं। उदयगिरि और खण्डगिरि अतिशय क्षेत्र माने जाते हैं।

तोसलि जैन श्रमणों का केन्द्र था। यहाँ का तोसलिक राजा जिन-प्रतिमा की देखरेख किया करता था। महावीर ने यहाँ विहार किया था, और यहाँ उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पडे थे। तोसलि के निवासी फल-फूल के बहुत शौकीन होते थे। यहाँ नदियों के पानी से खेती होती थी, कभी वर्षा अधिक होने से फसल नष्ट हो जाती थी। ऐसे सकट के समय जैन श्रमण ताड के फल खाकर निर्वाह करते थे। तोसलि में अनेक तालाब (तालोदक) थे। यहाँ की भैंसें बहुत मरखनी होती थीं, और वे अपने सींगो से मनुष्यों को मार डालती थीं। तोतलि आचार्य की मृत्यु भैंस के मारने से हुई थी।

तोतलि की पहचान कटक ज़िले के धौलि नामक गाँव से की जाती है।

शैलपुर तोसलि के अन्तर्गत था। यहाँ ऋषिपाल नामक व्यंतर का बनाया हुआ ऋषितडाग* नामक एक तालाब था। इस तालाब का उल्लेख हाथी-गुफा के शिलालेखों में मिलता है। यहाँ लोग आठ दिन तक उत्सव (सखडि) मनाते थे।

तोसलि के पास हत्थिसीस नाम का नगर था। व्यापार का यह बडा केन्द्र था। महावीर ने यहाँ विहार किया था।

४ : बंगाल

वग अथवा बगाल की गणना भारत के प्राचीन जनपदो में की गई है। अग और वग का उल्लेख महाभारत में आता है।

प्राचीन काल में वर्तमान बगाल भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता था। पूर्वीय बगाल को समतट, पश्चिमी को लाढ, उत्तरी को पुण्ड्र, तथा आसाम को कामरूप कहा जाता था। बगाल को गौड भी कहते थे। जब फाहियान

---

* कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्वर्गीय प्रो० डॉ० वेनीमाधव बडुआ ने इस स्थान का पता लगाया है।

और हुयन-त्साग यहाँ आये तो यहाँ बौद्ध धर्म फैला हुआ था। गौड़ देश में रेशम के कपड़े अच्छे बनते थे।

जैन सूत्रों के अनुसार बंग देश की राजधानी ताम्रलिप्ति थी। महाभारत में इस नगरी का उल्लेख आता है। जैन ग्रन्थों के अनुसार यहाँ विद्युच्चर मुनि ने मुक्ति पाई थी। ताम्रलिप्ति व्यापार का एक केन्द्र था और यहाँ जल-स्थल मार्ग से व्यापार होता था। यहाँ का कपड़ा बहुत अच्छा होता था। व्यापारी लोग यहाँ से जहाज में बैठकर लंका, जावा, चीन आदि देशों को जाते थे। हुयन-त्सांग के समय यहाँ अनेक बौद्ध मठ विद्यमान थे।

रूपनारायण नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित तामलुक को प्राचीन ताम्रलिप्ति माना जाता है।

जैन सूत्रों में लाढ अथवा राढ देश की गणना साढ़े पच्चीस आर्य देशों में की गई है। यह देश पहले अनार्य देशों में गिना जाता था लेकिन मालूम होता है महावीर के विहार के पश्चात् यह आर्य क्षेत्र माना जाने लगा। लाढ के विषय में पहले कहा जा चुका है। यहाँ महावीर ने अनेक कष्ट सहे थे। लाढ को सुम्ह भी कहा गया है। भगवती सूत्र में सुम्होत्तर (संभुत्तर—सुम्ह का उत्तरी भाग) की गणना प्राचीन १६ जनपदों में की गई है।

लाढ वज्जभूमि (वज्जियों की भूमि) और सुब्भभूमि (सुम्ह) नामक दो प्रदेशों में विभक्त था।

जैन सूत्रों के अनुसार कोटिवर्ष लाढ देश की राजधानी थी। कोटिवर्षिया नामक जैन श्रमणों की शाखा थी। कोटिवर्ष के राजा किरात का उल्लेख जैन सूत्रों में आता है। गुप्त कालीन शिलालेखों में इस नगर का उल्लेख मिलता है।

कोटिवर्ष की पहचान दीनाजपुर जिले के बानगढ़ नामक स्थान से की जाती है।

वज्जभूमि लाढ देश का एक भाग था। यहाँ अनेक स्नेच्छ बसते थे। वज्जभूमि की पहचान आधुनिक धालभूम से की जाती है।

भन्यकटक में जैनों के १३ वें तीर्थंकर का दीक्षा के बाद पहला पारणा हुआ था।

इसकी पहचान बालासर जिले के कोपारी नामक स्थान मे की जाती है।

पुरिमताल, लोहग्गला राजधानी, उन्नाट और गोभूमि का उल्लेख महावीर की विहार-चर्या में आ चुका है।

पुरिमताल की सीमा पर मालाटवी नामक चोरों का एक गाँव था।

पुरिमताल की पहचान मानभूम के पास पुरुलिया नामक स्थान से की जा सकती है। दूसरा पुरिमताल अयोध्या का शाखानगर था। कोई लोग प्रयाग को पुरिमताल कहते हैं।

लोहग्गला की पहचान छोटा नागपुर डिवीज़न के उत्तर-पश्चिम में लोहरडग्गा* नामक स्थान से की जा सकती है।

उन्नाट नगर का उल्लेख महाभारत मे मिलता है।

गोभूमि में अनेक गायें चरने के लिये आती थीं, इसलिये इस जगह का नाम गोभूमि रक्खा गया। इसकी पहचान आधुनिक गोमोह से की जा सकती है।

खब्बड अथवा दासी खब्बड नामक जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख जैन सूत्रों में मिलता है।

इसकी पहचान पश्चिमी बगाल में मिदनापुर जिले के पास खर्वट नामक स्थान से की जाती है।

वर्धमानपुर नगर में विजयवर्धमान नामक उद्यान-स्थित मणिभद्र यक्ष के मन्दिर में महावीर भगवान् ठहरे थे।

---

*लोहरडग्गा मुंडा भाषा का शब्द है। 'रोहोर' का अर्थ है 'सूखा' और 'द' का अर्थ है 'पानी'। इस स्थान पर पानी का एक झरना था जो बाद में सूख गया। इस कारण इस स्थान का नाम 'लोहरडग्गा' पड़ा। देखिए, एस० सी० रॉय, 'द मुण्डा ऐण्ड देअर कन्ट्री', पृष्ठ १२३

वर्धमानपुर की पहचान बर्दवान से की जा सकती है।

पुण्ड्रवर्धन उत्तरी बंगाल का हिस्सा था। पुण्ड्रवर्धनिया जैन श्रमणों की शाखा थी। यहाँ गायों को चराने के लिए पौंड्र दिये जाते थे; यहाँ की गायें मरखनी होती थीं। [illegible] पुण्ड्रवर्धन का प्रमुख नगर था। हुएन-सांग ने यहाँ दिगम्बर निर्ग्रन्थों के पाये जाने का उल्लेख किया है।

पुण्ड्रवर्धन की पहचान बोगरा जिले के महास्थान नामक प्रदेश से की जाती है। यह उत्तरापथ के पुण्ड्रवर्धन से भिन्न है।

मामलिज्जिया (या कामलीया) जैन श्रमणों की शाखा थी।

कामिल्ला की पहचान पूर्वीय बङ्गाल में चटगाँव जिले के कोमिल्ला नामक स्थान से की जा सकती है।

५ बरमा

सुवर्णभूमि (बरमा) में जैन श्रमणों ने विहार किया था। जैन ग्रन्थों से पता लगता है कि आचार्य कालक उज्जयिनी से सुवर्णभूमि आकर सागरश्रमण से मिले। इससे पता लगता है कि जैन श्रमणों का यहाँ प्रवेश हुआ था। सुवर्णभूमि व्यापार का बड़ा केन्द्र था।

५

उत्तरप्रदेश

प्राचीन भारत के मध्यदेश के बहुसंख्यक जनपद आधुनिक उत्तरप्रदेश में आते हैं, इससे मालूम होता है कि प्राचीन काल में यह प्रदेश बहुत समृद्ध और उन्नत दशा में था। कौरव-पाण्डवों का निवास-स्थान कुरु देश, राम-लक्ष्मण की जन्मभूमि अयोध्या, कृष्ण महाराज के क्रीड़ास्थल मथुरा और वृन्दावन, बुद्धदेव की निर्वाणभूमि कुसीनारा, गणराजाओं के देश काशी और कोशल, मल्लों की राजधानियाँ कुसीनारा और पावा, तथा वाराणसी, प्रयाग, हरिद्वार, मथुरा, कोशांबी और सारनाथ जैसे पवित्र स्थान इसी प्रान्त की शोभा बढ़ाते हैं।

१ : पूर्वीय उत्तर प्रदेश

काशी मध्यदेश का प्राचीन जनपद था। काशी के वस्त्र और चन्दन का उल्लेख बौद्ध जातकों में मिलता है। प्राचीन जैन सूत्रों में काशी और कोशल के अठारह गण राजाओं का जिक्र आता है। काशी को जीतने के लिए कोशल के राजा पसेनदि और मगध के राजा अजातशत्रु में युद्ध हुआ था, जिसमें अजातशत्रु की विजय हुई और काशी को मगध में मिला लिया गया। जैन मान्यता के अनुसार यहाँ के राजा शंख को महावीर ने दीक्षित किया था। काशी व्यापार का बड़ा केन्द्र था।

आजकल की बनारस कमिश्नरी को प्राचीन काशी माना जाता है।

वाराणसी (बनारस) काशी की राजधानी थी। वरणा और असि नामक दो नदियों के बीच होने के कारण इस नगर का नाम वाराणसी पड़ा।

वाराणसी गंगा के किनारे बसी थी। इस स्थान को बुद्ध और महावीर ने

अपने विहार से पवित्र किया था। बौद्ध सूत्रों में वाराणसी की गणना कपिल वस्तु, बुद्धगया और कुशीनारा के साथ की गई है। ब्राह्मण ग्रन्थों में पूर्व में वाराणसी, पश्चिम में प्रभास, उत्तर में केदार और दक्षिण में श्रीपर्वत को परम तीर्थ माना गया है। जैन ग्रन्थों के अनुसार यहाँ भद्दपुर में पार्श्वनाथ और भदैनी में सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ था।

जिनप्रभसूरि के कथनानुसार बनारस चार भागों में विभक्त था —देव वाराणसी, राजधानी वाराणसी, मदन वाराणसी और विजय वाराणसी। यहाँ दन्तखात नाम का प्रसिद्ध तालाब था, तथा मणिकर्णिका घाट यहाँ के पवित्र पाँच घाटों में गिना जाता था। मर्यगतीर (मृतगंगातीर) नाम का यहाँ दूसरा प्रसिद्ध तालाब (हृद) था, जिसमें गङ्गा का बहुत-सा पानी इकट्ठा हो जाता था।

हुएन-सांग के समय यहाँ अनेक बौद्ध विहार और हिन्दू मन्दिर मौजूद थे।

वाराणसी व्यापार और विद्या का केन्द्र था। यहाँ के विद्यार्थी तक्षशिला विद्याध्ययन के लिये जाते थे तथा यहाँ शास्त्रार्थ हुआ करते थे।

बनारस में आजकल भी अनेक मन्दिर, मूर्तियाँ और प्राचीन स्थान मौजूद हैं। आचार्य हेमचन्द्र के समय काशी वाराणसी का ही दूसरा नाम था।

ऋषिपत्तन बौद्धों का परम तीर्थ माना जाता है। यहाँ बुद्ध भगवान का प्रथम धर्मोपदेश हुआ था। यहाँ की खुदाई में प्राचीन काल के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। जैन ग्रन्थों में इसे सिंहपुर नाम से कहा गया है। यहाँ श्रेयांस नाथ नामक जैन तीर्थंकर का जन्म हुआ था।

सिंहपुर की पहचान वर्तमान सारनाथ (सारङ्गनाथ) से की जाती है। यह स्थान बनारस के उत्तर में छह मील की दूरी पर है। यहाँ एक श्वेताम्बर और बौद्ध मन्दिर है।

चन्द्रानन चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का जन्म-स्थान माना जाता है। १७-१८वीं सदी के जैन यात्रियों ने इसका नाम चन्द्रमाधव लिखा है। विविधतीर्थकल्प के अनुसार चन्द्रावती नगरी बनारस से अढ़ाई योजन की दूरी पर थी।

चन्द्रानन की पहचान आधुनिक चन्द्रपुरी से की जाती है। यह स्थान गङ्गा के किनारे है और बनारस से लगभग चौदह मील के फासले पर है।

आलभिया जैन श्रमणोपासकों का केन्द्र था। यहाँ महावीर और बुद्ध ने चातुर्मास व्यतीत किया था। गोशाल यहाँ पत्तकालय उद्यान में ठहरे थे। बौद्ध सूत्रों में इसे आलवी कहा गया है। यह स्थान श्रावस्ति और राजगृह के बीच बनारस से बारह योजन दूर था।

काशी से सटा हुआ **वत्स** जनपद था। बौद्ध सूत्रा में इसे वश कहा गया है। वत्साधिपति उदयन का उल्लेख ब्राह्मण, बौद्ध और जैन ग्रन्थो में मिलता है।

प्रयाग के इर्दगिर्द के प्रदेश को वत्स कहते हैं।

कौशाम्बी वत्स की राजधानी थी। कौशाम्बी का उल्लेख महाभारत और रामायण में आता है। कहते हैं कि हस्तिनापुर के गङ्गा मे नष्ट हो जाने पर राजा परीक्षित के उत्तराधिकारियो ने कौशांबी को अपनी राजधानी बनाया। बुद्ध और महावीर ने यहाँ विहार किया था। यहाँ कुक्कुटाराम, घोसिताराम, पावरिक, अम्बवन आदि उद्यानों का उल्लेख बौद्ध सूत्रों में आता है, जहाँ भगवान् बुद्ध ठहरा करते थे। कहा जाता है कि एक बार कौशांबी के बौद्ध भिक्षुओ में बहुत झगड़ा हो गया, बुद्ध ने कौशांबी पहुँच कर भिक्षुओं को बहुत समझाया, परन्तु कोई फल न हुआ।

कौशांबी जैनों का अतिशय क्षेत्र माना जाता है। यहाँ पद्मप्रभ तीर्थंकर का जन्म हुआ था। यहीं महावीर की प्रथम शिष्या चन्दनबाला और रानी मृगावती श्रमण धर्म में दीक्षित हुई थीं। कहते हैं कि उज्जैनी के राजा प्रद्योत ने रानी मृगावती को पाने के लिये कौशाम्बी के राजा शतानीक पर चढाई कर दी। शतानीक की अतिसार से मृत्यु हो गई। बाद में अपने पुत्र उदयन को राजगद्दी पर बैठा कर मृगावती ने महावीर से दीक्षा ले ली।

आर्य सुहस्ति और आर्य महागिरि कौशाम्बी आये थे। बौद्ध ग्रन्था से पता लगता है कि कौशाम्बी में बुद्ध भगवान् की रक्तचन्दन-निर्मित सुन्दर प्रतिमा थी, जिसे राजा उदयन ने अपने खास कारीगरो से बनवाया था। सम्राट् अशोक ने यहाँ बौद्ध स्तूप निर्माण कराया था।

इलाहाबाद से लगभग तीस मील की दूरी पर कोसम गाँव को प्राचीन

कोशाम्बी माना जाता है। यह तीर्थ विच्छिन्न है। यहाँ सूर्य की सभी मध्य सुन्दर मूर्ति है।

कौशाम्बी के पास प्रयाग था। महाभारत में इसका उल्लेख आता है। जैन ग्रन्थों में प्रयाग को तीर्थक्षेत्र माना गया है। यहाँ अर्णिकापुत्र को गङ्गा पार करते समय केवलज्ञान हुआ था। प्रयाग को त्रिविप्रयाग भी कहा गया है। पालि साहित्य में इसे पयागपतिट्ठान कहा है।

प्रयाग आजकल गङ्गा, जमुना और सरस्वती (गुप्त) के संगम पर अव स्थित है। यह ब्राह्मणों का परम धाम माना जाता है। अक्षयवट यहाँ का परम पवित्र स्थान है। प्रयाग में मुण्डन का बड़ा माहात्म्य है। बादशाह अकबर के समय से इसका नाम इलाहाबाद पड़ा।

सुप्रतिष्ठानपुर, प्रतिष्ठानपुर या पोतनपुर प्रयाग की राजधानी थी। यहाँ चन्द्रवंशी राजा राज्य करते थे। यह नगर गङ्गा के किनारे बसा था।

आजकल यह स्थान इलाहाबाद जिले में झूंसी के पास है। दक्षिण के प्रतिष्ठान से यह भिन्न है।

तुङ्गिय सन्निवेश कौशाम्बी के आसपास था। मेतार्य नामक महावीर के गणधर की यह जन्मभूमि थी।

प्राचीन काल में कोसल (अवध) एक सम्मुख जनपद था। जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने यहाँ जन्म लिया था, इसलिए वे कौशलिक कहे जाते थे। अचल गणधर का यह जन्मस्थान था और यहाँ जीवन्तस्वामी प्रतिमा विद्यमान थी। कोसल के राजा पसेनदि का उल्लेख बौद्ध सूत्रों में आता है।

साकेत (अयोध्या) दक्षिण कोशल की राजधानी थी। ब्राह्मण पुराणों में अयोध्या को मध्यदेश की राजधानी कहा है। यह नगर रामचन्द्र जी की जन्मभूमि थी। रामायण में अयोध्या का वर्णन करते हुए कहा है—"सरयू नदी के किनारे पर अवस्थित यह नगरी धन-धान्य से परिपूर्ण थी, सुन्दर यहाँ

मार्ग बने हुए थे, अनेक शिल्पी और देश-विदेश के व्यापारी यहाँ बसते थे। यहाँ के लोग समृद्धिशाली, धर्मात्मा, पराक्रमी और दीर्घायु थे, तथा अनेक उनके पुत्र-पौत्र थे।"

जैन परम्परा के अनुसार अयोध्या को आदि तीर्थ और आदि नगर माना गया है, और यहाँ के निवासियों को सभ्य और सुसंस्कृत बताया गया है।

बुद्ध और महावीर के समय अयोध्या को साकेत कहा जाता था। साकेत के सुभूमिभाग उद्यान में विहार करते हुए महावीर ने जैन श्रमणों के विहार की सीमा नियत की थी। यहीं उन्होंने कोटिवर्ष के राजा चिलात को दीक्षा दी थी। बुद्ध ने भी साकेत में विहार किया था।

इस नगरी को कोशला, विनीता, इक्ष्वाकुभूमि, रामपुरी, विशाखा आदि नामों से भी पुकारा गया है। आजकल अयोध्या में ब्राह्मणों के अनेक तीर्थ बने हुए हैं। जिनप्रभ सूरि ने अपने विविधतीर्थकल्प में घग्घर (घाघरा) और सरयू नदी के सङ्गम पर 'स्वर्गद्वार' होने का उल्लेख किया है।

रत्नपुरी धर्मनाथ तीर्थंकर की जन्मभूमि मानी जाती है। जिनप्रभ सूरि के समय यह तीर्थ रत्नवाह नाम से पुकारा जाता था। जैन यात्रियों ने इसका रोहनाई नाम से उल्लेख किया है।

आजकल यह स्थान फैजाबाद के पास सोहावल स्टेशन से एक मील उत्तर की ओर है।

श्रावस्ति (सहेट-महेट, जिला गोंडा) उत्तर कोशल या कुणाल जनपद की राजधानी थी। श्रावस्ति का दूसरा नाम कुणालनगरी था। श्रावस्ति और साकेत के बीच सात योजन (१ योजन=५ मील) का अन्तर था।

श्रावस्ति अचिरावती (राप्ती) नदी के किनारे थी। जैन सूत्रों में कहा गया है कि इस नदी में बहुत कम पानी रहता था, इसके बहुत से प्रदेश सूखे रहते थे, और जैन साधु इस नदी को पार कर भिक्षा के लिये जा सकते थे। बौद्ध सूत्रों से पता लगता है कि इस नदी के किनारे स्नान करने के अनेक स्थान बने हुए थे। नगर की वेश्यायें यहाँ वस्त्र उतार कर स्नान करती थीं। उनकी देखादेखी बौद्ध भिक्षुणियाँ भी स्नान करने लगीं, इस पर बुद्ध ने उन्हें नग्न स्नान करने से रोका। अचिरावती में बाढ़ आने से लोगों का बहुत नुक्र-

मान होता था। एक बार तो नगरी के सुप्रसिद्ध धनी अनाथपिंडक का सब माल-खजाना नदी में बह गया था। श्रावस्ति की बाढ़ का उल्लेख आवश्यक चूर्णि में भी मिलता है। जैन अनुश्रुति के अनुसार इस बाढ़ के ११ वर्ष बाद महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त किया।

श्रावस्ति का रामायण और महाभारत में उल्लेख आता है। बुद्ध और महावीर के समय यह नगरी बहुत उन्नत दशा में थी। इन महात्माओं ने यहाँ अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। अनाथपिंडक के निर्माण किये हुए जेतवन में बुद्ध ठहरा करते थे। सुत्त और विनयपिटक के अधिकांश भाग का उन्होंने यहीं प्रवचन किया था। श्रावस्ति बौद्धों का बड़ा केन्द्र था। यहाँ के अनाथपिंडक और मृगारमाता विशाखा बुद्ध के बड़े प्रशंसक और प्रतिपालक थे। आर मंखलि गोशाल ने यहाँ विहार किया था। गोशाल की उपासिका हालाहला कुम्हारी यहीं रहती थी। पार्श्वनाथ के अनुयायी केशीकुमार और महावीर के अनुयायी गौतम गणधर में यहाँ सैद्धान्तिक चर्चा हुई थी। महावीर को केवलज्ञान होने के १४ वर्ष पश्चात् यहाँ के कोष्ठक चैत्य में प्रथम निह्नव की स्थापना हुई।

जैन ग्रन्थों के अनुसार श्रावस्ति सम्भवनाथ की जन्मभूमि थी। आजकल यह तीर्थ विच्छिन्न है। बौद्ध सूत्रों के अनुसार श्रावस्ति के चार दरवाजे थे जो उत्तरद्वार, पूर्वद्वार, दक्षिणद्वार और केवट्टद्वार के नाम से पुकारे जाते थे। विविधतीर्थकल्प में श्रावस्ति में एक मन्दिर और रक्त अशोक वृक्ष के होने का उल्लेख है। श्रावस्ति महेठि नाम से भी कही जाती थी।

जिनप्रभ सूरि के अनुसार यहाँ समुद्रवंशीय राजा राज्य करते थे। ये बुद्ध के परम उपासक थे, और बुद्ध के सम्मान में वरघोड़ा निकालते थे। श्रावस्ति में अनेक प्रकार का कपड़ा पैदा होता था।

आजकल श्रावस्ति चारों ओर से जंगल से घिरी हुई है। यहाँ बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है जिसके दर्शन के लिये बौद्ध लोग बर्मा आदि सुदूर देशों से आते हैं। यह स्थान बलरामपुर से बारह कोस की दूरी पर है और एक मील तक फैला हुआ है।

श्रावस्ति से पूर्व की ओर कश्यप जनपद था जो उत्तर के कल्प से भिन्न है। जैन ग्रन्थों में कश्यप के आर्य भाग को आर्यक्षेत्र माना गया है इनमें क्या

चलता है कि इसके थोड़े से भाग में ही जैनधर्म का प्रसार हुआ था, सम्भवतः अवशिष्ट भाग में जङ्गली जातियाँ बसती हों।

केकय देश श्रावस्ति के उत्तर-पूर्व में नेपाल की तराई में अवस्थित था।

सेयविया (श्वेतिका) केकय की राजधानी थी। बौद्ध सूत्रों में इसका नाम सेतव्या बताया गया है, यह नगरी कोशल देश में थी। जैन परम्परा के अनुसार यहाँ महावीर के केवलज्ञान होने के २१४ वर्ष बाद तीसरे निह्नव की स्थापना हुई।

बुद्ध की जन्मभूमि होने के कारण कपिलवस्तु को बौद्ध ग्रन्थों में महानगर बताया गया है। शाक्यों की यह राजधानी थी। इसके पास रोहिणी नदी बहती थी, जो शाक्य और कोलिया के बीच की सीमा थी। चीनी यात्री फाहियान के समय यह नगर उजाड़ पड़ा था।

कपिलवस्तु की पहचान नैपाल की तराई में रुम्मिनदेई नामक स्थान से की जाती है। यह स्थान घने जङ्गलों से आच्छादित है।

कुसीनारा बुद्ध की परिनिर्वाण भूमि होने से पवित्र स्थान माना जाता है। यह नगरी मल्लों की राजधानी थी, इसका पुराना नाम कुसावती था। सम्राट् अशोक ने यहाँ अनेक स्तूप और विहार बनवाये थे। हुअन-सांग ने इस तीर्थ के दर्शन किये थे।

कुसीनारा की पहचान गोरखपुर ज़िले के कसया नामक ग्राम से की जाती है।

कुसीनारा के पास पावा नगरी थी। यह मल्लों की राजधानी थी। कुसीनारा और पावा के बीच ककुत्था नदी बहती थी।

पावा की पहचान गोरखपुर ज़िले के पडरौना नामक स्थान से की जाती है।

गोरखपुर जिले में दूसरा स्थान खुखुन्दो है। इसका प्राचीन नाम किष्किन्धापुर बताया जाता है। जैन यात्री यहाँ यात्रा करने आते हैं। यहाँ पार्श्वनाथ की मूर्ति को लोग नाथ कह कर उसकी पूजा करते हैं। यह स्थान गोरखपुर के पूर्व में लगभग २५ कोस पर है।

८. पश्चिमी उत्तरप्रदेश

प्राचीन काल में पांचाल (रुहेलखण्ड) एक समृद्धिशाली जनपद था। महाभारत में इसका अनेक जगह उल्लेख आता है। पांचाल में जन्म होने के कारण द्रौपदी पांचाली कही जाती थी।

बदायूँ, फर्रुखाबाद और उसके इर्द-गिर्द के प्रदेश को पांचाल माना जाता है।

भागीरथी नदी के कारण पांचाल देश दो भागों में विभक्त था, एक दक्षिण पांचाल दूसरा उत्तर पांचाल। महाभारत के अनुसार दक्षिण पांचाल की राजधानी काम्पिल्य और उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रा थी।

काम्पिल्यपुर अथवा कम्पिलानगर गंगा के तट पर बसा था। यहाँ बड़ी धूम धाम से द्रौपदी का स्वयंवर रचा गया था। जैनों के १३वें तीर्थंकर विमलनाथ की यह जन्मभूमि थी। यहाँ महावीर के श्रावक रहते थे और यहाँ इन्द्र महोत्सव मनाया जाता था।

काम्पिल्यपुर की पहचान फर्रुखाबाद जिले के कंपिल नामक स्थान से की जाती है। यहाँ बहुत-सी खंडित प्रतिमाएँ मिली हैं। यहाँ कई जैन मन्दिर हैं, और मूर्तियों पर लेख खुदे हैं।

दक्षिण पांचाल की दूसरी राजधानी माकंदी थी। यह नगरी व्यापार का केन्द्र था। हरिभद्र सूरि की समराइच्चकहा में इस नगरी का वर्णन आता है।

अहिच्छत्रा या अहिछत्र उत्तर पांचाल की राजधानी थी। जैन सूत्रों में इसे जांगल अथवा कुरु जांगल की राजधानी बताया गया है। यह नगरी शंखवती, प्रत्यग्रस्थ और शिवपुर नाम से भी पुकारी जाती थी। इसकी गणना अष्टापद, ऊर्जयन्त, गजाग्रपदगिरि, धर्मचक्र और रथावर्त नामक पवित्र तीर्थों के साथ की गई है।

जैन मान्यता के अनुसार यहाँ धरणेन्द्र ने अपने फण से पार्श्वनाथ की रक्षा की थी। लेकिन आजकल यह तीर्थ विच्छिन्न है। हुएन-सांग के समय यहाँ नगर के बाहर नागह्रद था, जहाँ बुद्ध भगवान् ने सात दिन तक नागराज को उपदेश दिया था। इस स्थान पर सम्राट अशोक ने स्तूप बनवाया था। जिनप्रभ सूरि के विविधतीर्थकल्प में कहा गया है कि यहाँ ईंटों का किला

और मीठे पानी के सात कुंड थे जिनमें स्नान करने से स्त्रियाँ पुत्रवती होती थीं। नगरी के बाहर और भीतर अनेक कुएँ, बावडी आदि बने थे जिनमें नहाने से कोढ आदि रोग शान्त हो जाते थे। यहाँ अनेक ओषधियाँ मिलती थीं, तथा बहुत से तीर्थस्थान थे।

अहिच्छत्रा की पहचान बरेली ज़िले में रामनगर नामक स्थान से की जाती है। यहाँ बहुत से पुराने सिक्के और मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, तथा प्राचीन खडहर पड़े हुए हैं।

दक्षिण पाचाल मे पूर्व की ओर कान्यकुब्ज नाम का समृद्ध नगर था। यह इन्द्रपुर, गाधिपुर, महोदय और कुशस्थल नामो से भी पुकारा जाता था।

कान्यकुब्ज सातवीं सदी से लेकर १०वीं सदी तक उत्तर भारत के साम्राज्य का केन्द्र और समूचे भारत का मुख्य नगर था। चीनी यात्री हुअन-साग के आगमन के समय यहाँ राजा हर्षवर्धन का राज्य था। उस समय यह नगर शूरसेन मे शामिल था।

कान्यकुब्ज की पहचान यमुना के पश्चिमी किनारे पर स्थित कन्नौज मे की जाती है।

जैन सूत्रो में अतरजिया नगरी का उल्लेख आता है। अतरजिया जैन श्रमणों की शाखा थी, इससे पता लगता है कि यह स्थान जैनो का केन्द्र था। रोहगुप्त आचार्य ने यहाँ छठे निह्नव की स्थापना की थी। आइने अकबरी मे इसे कन्नौज का परगना बताया गया है।

अतरजिया की पहचान एटा जिले के अतरंजिया नामक खेडे से की जाती है। यह स्थान काली नदी पर है।

सकिस्स अथवा सकिस बौद्धों का तीर्थ स्थान है। यहाँ अशोक ने स्तम्भ बनवाया था। फाहियान और हुअन-साग यहाँ आये थे। जैन कवि धनपाल की यह जन्मभूमि थी। यह स्थान आजकल इसी नाम से प्रसिद्ध है और काली नदी पर बसा है। यहाँ बहुत से सिक्के और ध्वसावशेष मिले हैं।

कुशार्त की गणना जैनो के साढे पचीस आर्य देशों मे की गई है। जैन

ग्रन्थों में कहा गया है कि राजा शौरि ने अपने लघु भ्राता सुवीर को मथुरा का राज्य सौंपकर कुशार्त देश में जाकर शौरिपुर नगर बसाया। पश्चिम के कुशार्त नगर से यह भिन्न है।

शौरिपुर या सूर्यपुर कुशार्त की राजधानी थी। जैन परम्परा के अनुसार यह नगर कृष्ण और उनके चचेरे भाई नेमिनाथ की जन्मभूमि थी।

शौरिपुर यमुना के किनारे बसा था। इसकी पहचान आगरा जिले के सूर्यपुर नामक स्थान से की जाती है। यह स्थान यमुना के दाहिने किनारे बटेश्वर के पास है। श्वेताम्बर आचार्य हीरविजय सूरि के आगमन के समय इस तीर्थ का जीर्णोद्धार किया गया था। बटेश्वर में बहुत-से शिव-मन्दिर बने हैं और यहाँ कार्तिक महीने में बड़ा मेला लगता है जिसमें बहुत से घोड़े ऊँट आदि बिकने आते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में शूरसेन का उल्लेख आता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार इसे राम के छोटे भाई शत्रुघ्न ने बसाया था। यहाँ की भाषा शौरसेनी कही जाती थी। मथुरा के आसपास का प्रदेश शूरसेन कहा जाता है।

शूरसेन की राजधानी मथुरा थी। उत्तरापथ का यह महत्त्वपूर्ण नगर था। महाभारत के अनुसार मथुरा यादवों की भूमि थी। कंसवध के पश्चात् जरासंध के भय से यादव लोग मथुरा छोड़कर पश्चिम की ओर चले गये और यहाँ उन्होंने द्वारका नगरी बसाई।

बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है कि मथुरा के अन्तर्गत ९६ गाँवों के रहने वाले लोग अपने घरों और चौराहों पर जिन भगवान् की प्रतिमा स्थापित करते थे। यहाँ एक सोने का स्तूप था जिस पर जैन और बौद्धों में झगड़ा हुआ था। कहते हैं कि अन्त में इस स्तूप पर जैनों का अधिकार हो गया। रविषेण के बृहत्कथाकोश तथा सोमदेव सूरि के यशस्तिलक चम्पू में इसे देव निर्मित स्तूप कहा गया है। राजमल्ल के जम्बूस्वामी चरित में मथुरा में ५ स्तूपों का उल्लेख है जिनका उद्धार अकबर बादशाह के समकालीन साहू टोडर द्वारा किया गया था। मथुरा का प्राचीन स्तूप आजकल कंकाली टीले के रूप में मौजूद है जिसकी खुदाई से पुरातत्त्व सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता लगा है।

मथुरा में अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का निर्वाण हुआ था, अतएव इसकी गणना सिद्धक्षेत्रो में की गई है। ईसवी सन् की चौथी शताब्दि मे जैन आगमो की संकलना के लिए यहाँ जैन श्रमणो का सम्मेलन हुआ था। आर्यमगु और आर्यरक्षित ने इस नगरी मे विहार किया था।

बौद्ध ग्रन्थों मे मथुरा में पाँच दोष बताये गये हैं —भूमि की विषमता, धूल का आधिक्य, कुत्तो का उपद्रव, यक्षो का उपद्रव और भिक्षा की दुर्लभता। कहते हैं कि एक बार बुद्ध भगवान् नगर में प्रवेश करना चाहते थे, परन्तु यक्षिणी के उपद्रव के कारण वापिस लौट गये। लेकिन मालूम होता है कि फाहियान और हुअन-सांग के समय मथुरा मे बौद्ध धर्म का जोर था, और उस समय यहाँ अनेक सघाराम और स्तूप बने हुए थे, तथा यहाँ का राजा और उसके मन्त्री बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।

प्राचीन काल से ही मथुरा अनेक साधु-सन्तो का केन्द्र रहा है, इसलिये इसे पाखण्डिगर्भ कहा गया है। मथुरा भडीर (वट वृक्ष) यक्ष की यात्रा के लिए प्रसिद्ध था। इस यात्रा में अनेक नर-नारी सम्मलित होते थे। विविध-तीर्थकल्प में मथुरा में १२ वनो का उल्लेख आता है।

मथुरा व्यापार का बडा केन्द्र था, यहाँ कपड़ा बहुत अच्छा बनता था। यहाँ के लोग खेती-बारी नहीं करते थे, उनकी आजीविका का मुख्य साधन व्यापार था। राजा कनिष्क के समय मथुरा से श्रावस्ति, बनारस आदि नगरो को मूर्तियाँ भेजी जाती थीं।

मथुरा आजकल वैष्णवों का परम धाम माना जाता है। यहीं पास मे वृन्दावन है। मथुरा के आसपास चौरासी कोस का घेरा व्रजमडल कहा जाता है।

मथुरा की पहचान मथुरा से दक्षिण-पश्चिम मे महोलि नामक ग्राम मे की जाती है। मथुरा मे चौरासी नामक स्थान पर दिगम्बर जैन मन्दिर बना हुआ है।

मथुरा से ऊपर की ओर **अच्छा** जनपद था। इसकी राजधानी का नाम वरणा था। वारण गण और उच्चानागरी शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र मे आता है, इससे मालूम होता है, यह प्रदेश जैन श्रमणों का केन्द्र था।

वरणा की पहचान बुलन्दशहर से की जाती है जो उच्चानगर का ही

थानेसर है। आजकल भी यह थानेसर नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ प्राचीन सिक्के उपलब्ध हुए हैं।

कुरु या कुरुजांगल का महाभारत में अनेक जगह उल्लेख आता है। यहाँ के लोग बहुत बुद्धिमान और स्वस्थ माने जाते थे। भगवान् बुद्ध का उपदेश सुनकर यहाँ बहुत-से लोग उनके अनुयायी बन गये।

कुरुक्षेत्र या थानेश्वर के इर्दगिर्द के प्रदेश को कुरुक्षेत्र माना जाता है।

जातक ग्रन्थों के अनुसार कुरुदेश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) थी और यह यमुना के किनारे बसी हुई थी। राजा युधिष्ठिर की यह मुख्य नगरी थी।

जैन सूत्रों के अनुसार कुरु की राजधानी हस्तिनापुर थी। हस्तिनापुर का दूसरा नाम नागपुर था। वसुदेवहिंडी में इसे ब्रह्मस्थल नाम से कहा गया है। यह स्थान जैन तीर्थंकर चक्रवर्ती तथा पाण्डवों की जन्मभूमि माना जाता है। इस नगर की गणना अतिशय क्षेत्रों में की गई है। हस्तिनापुर में महावीर द्वारा शिवराजा को दीक्षा दिये जाने का उल्लेख जैन सूत्रों में मिलता है।

आजकल यह नगर उजाड़ पड़ा है। जंगल में जैन नसियाँ बनी हुई हैं, जहाँ तीर्थंकरों की चरण-पादुकाएँ हैं। यह स्थान मेरठ जिले में मवाने के पास इसी नाम से प्रसिद्ध है। आजकल यहाँ खुदाई चल रही है। इसके आसपास जंगल है। सरकार इसे खेती करके ग्राम बसाने का उद्योग कर रही है।

६

पंजाब-सिन्ध-काठियावाड-गुजरात-राजपूताना-मालवा-बुन्देलखंड

१ · पंजाब-सिन्ध

मालूम होता है कि निर्दोष खान-पान की सुविधा न होने के कारण पंजाब और सिन्ध में जैनधर्म का इतना प्रचार नहीं हो सका जितना अन्य प्रदेशों में हुआ। सिन्धु देश के विषय में छेदसूत्रों में कहा है कि यदि दुष्काल, विरुद्ध राज्यातिक्रम या अन्य किसी अपरिहार्य आपत्ति के कारण वहाँ जाना पडे तो यथाशीघ्र वहाँ से लौट आना चाहिये। क्योंकि वहाँ भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं, लोग मांस और मद्य का सेवन करते हैं, तथा पाखण्डी साधु और साध्वी वहाँ निवास करते हैं।

प्राचीन जैन ग्रन्थों में **गंधार** का उल्लेख आता है। बौद्ध सूत्रों में गंधार को उत्तरापथ का प्रथम जनपद बताया गया है।

तक्षशिला और पुष्करावती गंधार देश की क्रम से पूर्वी और पश्चिमी राजधानियाँ थीं। जातक ग्रन्थों के अनुसार तक्षशिला समूचे भारत का विद्याकेन्द्र था, और यहाँ लाट, कुरु, मगध, शिवि आदि दूर-दूर देशों के विद्यार्थी पढने आते थे। प्रसिद्ध वैयाकरणी पाणिनी और प्रख्यात वैद्यराज जीवक ने यहाँ विद्याभ्यास किया था।

जैन ग्रन्थों में तक्षशिला को बहली देश की राजधानी बताया गया है। जैन परम्परा के अनुसार, ऋषभदेव ने अयोध्या का राज्य भरत को और बहली का राज्य बाहुबलि को सौंपकर दीक्षा ग्रहण की थी। बाद में चलकर भरत और बाहुबलि दोनों में युद्ध हुआ और बाहुबलि ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली।

तक्षशिला का दूसरा नाम धर्मचक्रभूमिका था। यह नगरी बहुत समृद्ध थी, तथा यहाँ राजा प्रद्योत अपने पुत्र कुणाल के साथ रहता था।

तक्षशिला की खुदाई में अनेक सिक्के, ताम्रपत्र तथा स्तूप और विहारों के ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं। तक्षशिला की पहचान पाकिस्तान में रावल पिंडी ज़िले के शाहजी की ढेरी नामक स्थान से की जाती है।

मध्यदेश के पश्चिम में थूणा (स्थाणुतीर्थ) जैन श्रमणों के विहार की सीमा थी। इस नगर का संबंध पाण्डवों के इतिहास से है। युवान-चांग के समय यहाँ अनेक बौद्ध स्तूप बने हुए थे।

स्थानेश्वर की पहचान सरस्वती और घग्घर के बीच कुरुक्षेत्र में की जाती है। मथुरा के पूर्व से यह भिन्न है।

रोहीतक का उल्लेख महाभारत और दिव्यावदान में आता है। प्राचीन समय में रोहीतक समृद्धिशाली नगर था।

इसकी पहचान आधुनिक रोहतक से की जाती है।

श्रमणदेव के अनुसार सौवीर (सिन्ध) सिन्धु नदी के पास होने के कारण सिन्धु सौवीर कहा जाता था, यद्यपि बौद्ध ग्रन्थों में सिन्धु और सौवीर को अलग अलग प्रदेश मानकर रोरुक को सौवीर की राजधानी बताया है। सिन्धु देश की नदियों में बाढ़ बहुत आती थी। दिगम्बर परम्परा के अनुसार रामिल्ल स्थूलभद्र और भद्राचार्य ने उज्जयिनी में दुष्काल पड़ने पर सिंधु देश में विहार किया था।

जैन ग्रन्थों में सिन्धु-सौवीर की राजधानी का नाम वीतिभय पट्टन बताया गया है। इस नगर का दूसरा नाम कुंभारप्रक्षेप था। कहते हैं कि एक बार महर्षि उदयन किसी कुम्हार के घर ठहरे हुए थे। वहाँ उनके भानजे ने उन्हें विष दे दिया। उससे उनकी मृत्यु हो गई। इस पर देवताओं ने कुम्हार के घर को छोड़कर नगर में सर्वत्र धूल की वर्षा की थी, अतएव इस नगर का नाम कुंभारप्रक्षेप पड़ा। महावीर द्वारा उदयन को दीक्षा दिए जाने का उल्लेख जैन ग्रन्थों में आता है। इस नगर में महावीर की चन्दन-निर्मित प्रतिमा थी,

जिसके दर्शन के लिये लोग दूर-दूर से आते थे। फाहियान के समय यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार था।

वीतिभयपट्टन सिणवल्लि के अन्तर्गत था। सिणवल्लि एक बडा विकट रेगिस्तान था, जहाँ क्षुधा-तृषा से पीडित यात्री लोगो को अक्सर प्राणो से हाथ धोना पडता था। सभवत पाकिस्तान मे मुजफ्फरगढ जिले के सनावन या सिनावन के आसपास का प्रदेश सिणवल्लि कहा जाता हो।

वीतिभय की पहचान पाकिस्तान में शाहपुर जिले के भेरा नामक स्थान से की जा सकती है। इसका पुराना नाम भद्रवती बताया जाता है। यहाँ विज्झि नामक गाँव के पास बहुत से खडहर पाये गये हैं, जिनसे पता लगता है कि प्राचीन काल में यह स्थान बहुत उन्नत दशा में था।

२ काठियावाड़

मालूम होता है कि गुजरात और काठियावाड मे शनैः-शनैः जैन धर्म का प्रसार हुआ। जैन ग्रन्थों में सौराष्ट्र (काठियावाड) का उल्लेख महाराष्ट्र, द्रविड, आन्ध्र और कुडुक्क (कुर्ग) देशो के साथ किया गया है, जहाँ परम धार्मिक सम्प्रति राजा ने अपने भटो को भेजकर जैन धर्म का प्रचार किया। आगे चलकर राजा कुमारपाल के समय गुजरात मे जैनधर्म काफी फूला फला।

सौराष्ट्र की गणना जैनों के साढे पचीस आर्य देशों में की गई है। जैन ग्रन्थों के अनुसार यहाँ कालकाचार्य ईरान के ९६ शाहो को लेकर आये थे। सौराष्ट्र व्यापार का बडा केन्द्र था।

द्वारवती सौराष्ट्र की मुख्य नगरी थी। इसका दूसरा नाम कुशस्थली था। द्वारका का वर्णन जैन सूत्रो में आता है। पहले कहा जा चुका है कि जरासध के भय से यादव लोग मथुरा छोडकर यहाँ आ बसे थे। जैन ग्रन्थो मे द्वारका को आनर्त, कुशार्त, सौराष्ट्र और शुष्कराष्ट्र की राजधानी कहा है। द्वीपायन ऋषि द्वारा द्वारका के विनाश होने का उल्लेख ब्राह्मण और जैन ग्रन्थो में मिलता है। यहाँ कादबरी नाम की एक गुफा थी। उत्तर की द्वारका से यह भिन्न है।

कुछ लोग जूनागढ को ही प्राचीन द्वारका मानते हैं। आजकल यह स्थान वैष्णवों का परम धाम माना जाता है।

द्वारका* के उत्तर-पूर्व में रैवतक पर्वत था। इसका दूसरा नाम ऊर्जयन्त था। यहाँ नन्दनवन नाम का वन था जिसमें सुरप्रिय यक्ष का सुन्दर मंदिर था। यह पर्वत अनेक पक्षी लताओं आदि से शोभित था। यहाँ पानी के झरने थे और लोग प्रतिवर्ष उत्सव (संखडि) मनाने के लिए एकत्रित होते थे।

रैवतक पर्वत पर भगवान् अरिष्टनेमि ने मुक्तिलाभ किया इसकी गणना सिद्धक्षेत्रों में की जाती है। यहाँ गुजरात के प्रसिद्ध जैन मन्त्री तेजपाल के बनवाए हुए अनेक मन्दिर हैं। राजीमती (राजुल) ने यहाँ तप किया था उसकी यहाँ गुफा बनी हुई है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार यहाँ चन्द्रगुफा में आचार्य धरसेन ने तप किया था और यहीं पर भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्यों को अवशिष्ट श्रुतज्ञान को लिपिबद्ध करने का आदेश किया गया था। वैभार पर्वत के समान रैवतक भी क्रीडा का स्थल था।

रैवतक के इर्द-गिर्द का प्रदेश गिरिनगर या गिरिनार के नाम से पुकारा जाता था। रैवतक की पहचान जूनागढ़ के पास गिरनार से की जाती है।

प्रभास क्षेत्र को महाभारत में सर्वप्रधान तीर्थों में गिना है। इसे चन्द्रप्रभास देवपाटन अथवा देवपट्टन भी कहते हैं। ब्राह्मणों का यह पवित्र धाम माना जाता है। चन्द्रग्रहण के समय यहाँ अनेक यात्री आते हैं। आवश्यक चूर्णि में प्रभास को जैन तीर्थ माना गया है।

प्रभास की पहचान आधुनिक सोमनाथ से की जाती है।

शत्रुंजय जैन तीर्थों में आदितीर्थ माना जाता है। इसका दूसरा नाम पुण्डरीक है। जैन मान्यता के अनुसार यहाँ पाँच पांडव तथा अन्य अनेक ऋषि-मुनियों ने मुक्तिलाभ किया। राजा कुमारपाल के राज्य में लाखों रुपये लगाकर यहाँ के मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया गया था। यहाँ पर छोटे-मोटे हजारों मन्दिर बने हुए हैं। इन मन्दिरों में कुछ ग्यारहवीं शताब्दि के हैं बाकी ईसवी सन् १५ के बाद के बने हुए हैं।

* पटना के दीवान बहादुर राधाकृष्ण जालान के संग्रह में एक जैन स्तूप सुरक्षित है जो संगमरमर का बना है और द्वारका से लाया गया है।

यह स्थान काठियावाड़ में पालीताना स्टेशन से [illegible]१ मील के फासले पर है। यहां जैन यात्रियों के ठहरने के लिए आलीशान धर्मशालाएँ बनी हुई हैं।

वलभी प्राचीन काल में सौराष्ट्र की राजधानी थी। ईसवी सन की छठी शताब्दि में यहां देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में जैन आगमों की सङ्कलना के लिये अन्तिम सम्मेलन हुआ था। देवर्धिगणि की यहां मूर्ति स्थापित है।

ह्युअन-सांग के समय यहां अनेक बौद्ध विहार मौजूद थे। नालन्दा के समान वलभी भी बौद्ध विद्या का केन्द्र था। यहां अनेक प्राचीन सिक्के और ताम्रपत्र उपलब्ध हुए हैं।

वलभी की पहचान भावनगर से उत्तर-पूर्व में १८ मील पर वला नामक स्थान से की जाती है।

हत्थकप्प नगर का उल्लेख जैन सूत्रों में आता है। पञ्च पाण्डवों का यहां आगमन हुआ था। पाण्डवचरित के अनुसार, यह नगर रैवतक पर्वत से बारह योजन की दूरी पर था। शिलालेखों में हस्तकवप्र का उल्लेख आता है।

इस नगर की पहचान भावनगर रियासत के हाथब नामक स्थान से की जाती है।

महुवा बन्दर भावनगर रियासत में है। इसका दूसरा नाम मधुमती था। पार्श्वनाथ का यह अतिशय क्षेत्र माना जाता है।

३ गुजरात

जैन और बौद्ध ग्रन्थों में **लाट** देश का उल्लेख आता है, यद्यपि इसकी गणना पृथक् रूप से आर्य देशों में नहीं की गई। वर्षाऋतु में यहाँ गिरियज्ञ नामक उत्सव, तथा श्रावण सुदी पूर्णिमा के दिन इन्द्र का उत्सव मनाया जाता था। इस देश में वर्षा से खेती होती थी, और यहाँ खारे पानी के कुँए थे।

भृगुकच्छ लाट की राजधानी थी। यह नगर भृगुपुर नाम से भी प्रसिद्ध था। बौद्ध जातकों में भृगुकच्छ का उल्लेख आता है। यहाँ कुरण्टमेष्ठ नामक व्यंतर देव की स्मृति में उत्सव मनाया जाता था। मूलदशाग नाम का यहाँ बड़ा तालाब था। आचार्य वज्रभूति ने भृगुकच्छ में विहार किया था। भृगुकच्छ और उज्जैनी के बीच पच्चीस योजन का अन्तर था।

भृगुकच्छ व्यापार का बड़ा केन्द्र था। यहाँ जल और स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दि में यहाँ काबुल से माल आता था।

भृगुकच्छ की पहचान आधुनिक भड़ौच से की जाती है। आजकल यह मुनिसुव्रतनाथ का तीर्थ माना जाता है। अश्वावबोध नामक तीर्थ यहाँ से लगभग चार कोस है।

आनन्दपुर का पुराना नाम आनर्तपुर है। इसे नगर भी कहा जाता था। राजा ध्रुवसेन द्वितीय की यह राजधानी थी। जैन परम्परा के अनुसार यहाँ सर्वप्रथम कल्पसूत्र की वाचना हुई थी। आनन्दपुर ब्राह्मणों का केन्द्र था। जैन श्रमण यहाँ से मथुरा के लिए विहार करते थे।

आनन्दपुर व्यापार का बड़ा केन्द्र था। यहाँ स्थल मार्ग से माल आता जाता था। यहाँ के निवासी सरस्वती नदी के किनारे उत्सव मनाते थे।

आनन्दपुर की पहचान उत्तर गुजरात के वडनगर स्थान से की जाती है।

मोढेरा का उल्लेख सूत्रकृतांग चूर्णि में आता है। यहाँ सिद्धसेन आचार्य ने विहार किया था। प्राचीन शिलालेखों में इस नगरी का नाम आता है। मोढ़ वणिकों की उत्पत्ति का यह स्थान है। हेमचन्द्राचार्य मोढ़ जाति में ही उत्पन्न हुए थे।

यह स्थान पाटन से लगभग १८ मील की दूरी पर है। यहाँ सूर्य का मन्दिर है।

तारंगागिरि से वरांग, सागरदत्त, वरदत्त आदि साढ़े तीन करोड़ मुनियों के मोक्ष जाने का उल्लेख जैन ग्रन्थों में आता है। यहाँ सिद्धशिला नाम की पहाड़ी है। पहाड़ के ऊपर आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से सम्राट् कुमारपाल

द्वारा प्रतिष्ठित विशाल मन्दिर है जिसके निर्माण में लाखों रुपये लगे थे। प्रभावकचरित में इस तीर्थ की उत्पत्ति दी हुई है।

म्हैसाणा से तारगा हिल को रेल जाती है। तारगा हिल स्टेशन से तीन-चार मील के फासले पर है।

पावागिरि सिद्धक्षेत्रों में गिना जाता है। यहाँ से रामचन्द्र जी के पुत्र लव और कुश आदि पाँच करोड मुनियों के मोक्ष जाने का उल्लेख मिलता है। यह तीर्थ शत्रुंजय की जोड का माना जाता है। पावकगढ का उल्लेख शिलालेखों में पाया जाता है। यह स्थान तोमरवंशी राजाओं के अधिकार में था।

यहाँ लाखों रुपये की लागत के दिगम्बर जैन मन्दिर बने हुए हैं। पहले यह तीर्थ श्वेताम्बरों का था। यहाँ सुप्रसिद्ध मन्त्री तेजपाल ने सर्वतोभद्र नाम का विशाल मन्दिर बनवाया था। माघ सुदी १३ से यहाँ तीन दिन तक मेला भरता है।

यह स्थान बड़ौदा से अट्ठाईस मील के फासले पर चाँपानेर के पास है।

स्तंभन तीर्थ की कथा सोमधर्मगणि की उपदेशसप्ततिका में आती है। चिन्तामणि पार्श्वनाथ का यहाँ प्रसिद्ध मन्दिर है। यहाँ अभयदेव सूरि ने विहार किया था।

स्तंभन तीर्थ की पहचान आधुनिक खंभात से की जाती है।

४ राजपूताना

राजपूताने को मरुभूमि कहा जाता था। यहाँ शनैः-शनैः जैन धर्म का प्रसार हुआ।

मत्स्य देश का उल्लेख महाभारत में आता है। इस देश की गणना जैनों के साढे पच्चीस आर्य देशों में की गई है।

मत्स्य देश की पहचान आधुनिक अलवर रियासत से की जाती है।

वैराट या विराटनगर मत्स्य की राजधानी थी। वनवास के समय यहाँ पाडवों ने गुप्त वास किया था। यहाँ अशोक के शिलालेख पाये गये हैं। चीनी

चीनी यात्री हुएन-सांग यहाँ आया था। बैराट में बौद्ध मठों के ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं।

यहाँ के लोग वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। आईने-अकबरी में बैराट का उल्लेख आता है। अकबर बादशाह ने इस नगर को फिर से बसाया था। यहाँ ताँबे की बहुत सी खान थीं।

बैराट की पहचान जयपुर रियासत के बैराट नामक स्थान से की जाती है।

राजपूताने का दूसरा प्राचीन स्थान पुष्कर था। आवश्यक चूर्णि में इसे तीर्थक्षेत्र बताया है। उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत के समय यह स्थान विद्यमान था।

यहाँ पुष्कर तालाब में स्नान करने के लिये आजकल भी अनेक यात्री आते हैं। यहाँ अनेक उत्तम घाट, धर्मशालाएँ और मन्दिर बने हुए हैं।

पुष्कर अजमेर से लगभग ६ मील की दूरी पर है।

भिल्लमाल या श्रीमाल में आचार्य वज्रस्वामी ने विहार किया था। यहाँ द्रम्म नाम का चाँदी का सिक्का चलता था। छठी शताब्दि से लेकर नौवीं शताब्दि तक यह स्थान श्रीमाल गुर्जरों की राजधानी थी। श्रीमाल उपमिति भवप्रपंचकथा के कर्ता सिद्धर्षि और माघ कवि की जन्मभूमि थी।

भिल्लमाल की पहचान जोधपुर रियासत में जसवन्तपुर के पास भिनमाल नामक स्थान से की जाती है।

अर्बुद जैनों का प्राचीन तीर्थ है। यहाँ ऋषभनाथ और नेमिनाथ के विश्वविख्यात मन्दिर हैं जिन्हें करोड़ों रुपए खर्च करके बनवाया गया था। इनमें से एक १०३१ ई. में विमलशाह का बनवाया हुआ है और दूसरा १२३२ ई. में तेजपाल का बनवाया हुआ है। दोनों ही शिखर तक संगमरमर के बने हैं। जिनप्रभसूरि के समय यहाँ श्रीमाता, अचलेश्वर, वशिष्ठाश्रम आदि अनेक लौकिक तीर्थ विद्यमान थे। बृहत्कल्पभाष्य में अर्बुद और प्रभास तीर्थों पर उत्सव (संखडि) मनाए जाने का उल्लेख आता है।

अर्बुद की पहचान सिरोही राज्य के अन्तर्गत आबू पहाड़ से की जाती है।

इसकी गणना शत्रुंजय, सम्मेदशिखर, गिरनार और चन्द्रगिरि नामक तीर्थों के साथ की गई है।

माध्यमिका (मज्झमिया) नाम की जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है। यहाँ प्राचीन शिलालेख, सिक्के एवं बौद्ध स्तूपों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं।

माध्यमिका की पहचान दक्षिण राजपूताने में चित्तौड के पास नगरी नामक स्थान से की जाती है।

उदयपुर में धुलेवाजी अथवा केसरियाजी जैन तीर्थ माना जाता है। यहाँ फाल्गुन बदी ८ को बड़ा मेला लगता है, और भगवान् पर मनो केसर चढाई जाती है। भील आदि जातियाँ भी इस तीर्थ को पूजती हैं।

बिजोलिया उदयपुर से लगभग ११२ मील है। इसका पुराना नाम विन्ध्यावलि था। यहाँ पार्श्वनाथ का मन्दिर है।

जोधपुर से मेड़ता रोड लाइन पर मेडता रोड जक्शन के पास फलोधी नाम का तीर्थ है। इस तीर्थ की कथा उपदेशसप्ततिका में आती है। यहाँ आचार्य देवसूरि का आगमन हुआ था। यहाँ पार्श्वनाथ की अढाई हाथ लबी मूर्ति है।

विक्रम की १३-१६ शताब्दि में राणकपुर एक उन्नत और महान् नगर था। यहाँ धनाशा और रतनाशा नाम के दो भाइयो ने लाखों रुपया खर्च करके मन्दिरों का निर्माण किया था। मेवाड के महाराणा कुम्भा राणा के समय विक्रम सवत् १४३४ मे इस तीर्थ के निर्माण का कार्य जारी था। आज कल यह तीर्थ मारवाड और मेवाड की सधि पर विद्यमान है।

५ मालवा

मालव की गणना प्राचीन जनपदो मे की गई है। यह देश जैन श्रमणो का केन्द्र था, और अवन्तिपति राजा सम्प्रति ने यहाँ जैन धर्म की प्रभावना

के लोग मद्यपान के शौकीन होते थे। उज्जयिनी व्यापार का बड़ा केन्द्र था।

उज्जयिनी में महाकाल नाम का प्राचीन मन्दिर था, जिसका उल्लेख कालिदास ने मेघदूत में किया है। यह मन्दिर आजकल महाकालेश्वर के नाम से प्रख्यात है।

दक्षिण अवन्ति की राजधानी माहिष्मती थी। किसी समय यह बहुत समृद्धावस्था में थी। बौद्ध ग्रन्थों में इसे महेश्वरपुर कहा गया है।

माहिष्मती की पहचान नर्मदा के दाहिने किनारे पर महिष्मति अथवा महेश नामक स्थान से की जाती है। यह स्थान इन्दौर से पैंतालीस मील की दूरी पर है।

दशार्ण का नाम जैन आर्य क्षेत्रों में आता है। दशार्ण का उल्लेख महाभारत और मेघदूत में भी मिलता है। यहाँ की तलवारें बहुत अच्छी होती थीं।

भिलसा के आसपास के प्रदेश को दशार्ण माना जाता है।

मृत्तिकावती दशार्ण की राजधानी थी। यह नगरी नर्मदा के किनारे थी। ब्राह्मणों की हरिवंश पुराण मे इसका उल्लेख मिलता है।

मेघदूत में विदिशा को दशार्ण की राजधानी कहा गया है। यहाँ महावीर की चन्दन-निर्मित मूर्ति थी। आचार्य महागिरि तथा सुहस्ति ने यहाँ विहार किया था। भरहुत के शिलालेखों में विदिशा का उल्लेख मिलता है। यहाँ बहुत से पुराने स्तूपों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। विदिशा वेत्रवती (वेतवा) के किनारे पर थी, और यहाँ के वस्त्र बहुत अच्छे होते थे।

विदिशा की पहचान आधुनिक भिलसा से की जाती है।

दशार्णपुर दशार्ण का दूसरा प्रसिद्ध नगर था। जैन अनुश्रुति के अनुसार इसका दूसरा नाम एडकाक्षपुर था। बौद्ध ग्रन्थो में इसे एरकच्छ नाम से कहा गया है। यह नगर वत्थगा (वेतवा) नदी के किनारे था, और व्यापार का बड़ा केन्द्र था।

दशार्णपुर की पहचान झाँसी जिले के एरछ नामक स्थान से की जा सकती है।

दशार्णपुर के उत्तर-पूर्व में दशार्णकूट नाम का पर्वत था। इसका दूसरा नाम गजाग्रपद अथवा इन्द्रपद भी था। पर्वत चारों तरफ गाँवों से घिरा था। जैन सूत्रों के अनुसार यहाँ महावीर ने राजा दशार्णभद्र को दीक्षा दी थी। आचार्य महागिरि ने यहाँ तपश्चर्या किया था। आवश्यक चूर्णि में दशार्णकूट का वर्णन आता है।

दशार्ण का दूसरा नगर दशपुर था। जैन श्रमणों ने इस नगर को अपने विहार से पवित्र किया था। आचार्य आर्यरक्षित की यह जन्मभूमि थी। दशपुर में जीवन्तस्वामी प्रतिमा होने का उल्लेख आता है। यहाँ सातवें निह्नव की स्थापना हुई थी।

दशपुर की पहचान आधुनिक मंदसौर से की जाती है।

विदिशा के पास कुंजरावर्त और रथावर्त नाम के पर्वत थे दोनों पास-पास थे। जैन परम्परा के अनुसार कुंजरावर्त पर्वत पर आर्य वज्रस्वामी ने निर्वाण पाया था। इस पर्वत का उल्लेख रामायण में आता है।

रथावर्त पर्वत पर आर्य वज्रस्वामी पाँच सौ श्रमणों के साथ आये थे। इस पर्वत का उल्लेख महाभारत में आता है।

बड़वानी दिगम्बरों का तीर्थ है। दिगम्बर परंपरा के अनुसार यहाँ से दक्षिण की ओर चूलगिरि शिखर से इन्द्रजीत कुंभकर्ण आदि मुनि मोक्ष पधारे। इसे बावनगजा भी कहते हैं।

यह स्थान मऊ स्टेशन से लगभग ६ मील की दूरी पर है।

मक्सी पार्श्वनाथ उज्जैन से बारह कोस है।

सिद्धवरकूट रेवा नदी के तट पर है। यहाँ से साढ़े तीन करोड़ मुनियों का मोक्ष जाना बताया जाता है। यहाँ हर वर्ष मेला भरता है।

यह स्थान बड़वाह (इन्दौर) से छह मील की दूरी पर है। यह स्थान काफी अर्वाचीन मालूम होता है।

इन्दौर के पास ऊन नामक स्थान को पावागिरि (द्वितीय) कहा जाता

है। कहते हैं यहाँ से सुवर्णभद्र आदि मुनि मोक्ष पधारे। यह तीर्थ भी अर्वाचीन मालूम होता है।

बुन्देलखण्ड

चेदि जनपद की गणना जैनों के आर्य क्षेत्रों में की गई है। प्राचीन काल में यहाँ राजा शिशुपाल राज्य करता था। चेदि बौद्ध श्रमणों का केन्द्र था।

बुन्देलखण्ड के उत्तरी भाग को प्राचीन चेदि माना जाता है।

शुक्तिमती चेदि देश की राजधानी थी। शुक्तिमती का उल्लेख महाभारत में मिलता है। सुत्तिवइया नामक जैन श्रमणों की शाखा थी।

बाँदा ज़िले के इर्दगिर्द के प्रदेश को शुक्तिमती माना जाता है।

आरम्भ में मध्यप्रदेश में जैनधर्म का प्रचार बहुत कम था, लेकिन मालूम होता है आगे चल कर यहाँ बहुत से जैन तीर्थों का निर्माण हो गया।

बुन्देलखण्ड के द्रोणगिरि, नैनागिरि और सोनागिरि को सिद्धक्षेत्र माना जाता है।

बुन्देलखण्ड की बिजावर रियासत के सेंदपा गाँव के समीप का पर्वत द्रोणगिरि माना जाता है। यहाँ से गुरुदत्त आदि मुनियों का मोक्षगमन बताया है। यहाँ चौबीस मन्दिर हैं, वार्षिक मेला भरता है।

नैनागिरि क्षेत्र को रेसिन्दीगिरि बतलाया जाता है। कहते हैं यहाँ से वरदत्त आदि मुनियों ने मोक्ष लाभ किया। यह स्थान सागर ज़िले की ईशान सीमा के पास पन्ना रियासत में है। यहाँ वार्षिक मेला लगता है।

सोनागिरि में दो-चार को छोड़ कर शेष मन्दिर सौ सवा-सौ वर्ष के भीतर के जान पड़ते हैं। यह स्थान ग्वालियर के पास दतिया से पाँच मील है।

कुंडलपुर, खजराहा, थोवनजी, पपौरा, देवगढ, चन्देरी, अहारजी आदि अतिशय क्षेत्र माने जाते हैं।

कुण्डलपुर दमोह से बीस मील ईशान कोण में है। मुख्य मन्दिर महावीर का है, और यहाँ महावीर जयन्ती का मेला भरता है।

किसी समय खजराहा बुन्देलखण्ड की राजधानी थी। शिलालेखों में इसका नाम खज्जूरवाहक आता है। हुएन-सांग ने इसका वर्णन किया है। यह नगर चन्देलवंश के राजाओं के समय चरमोन्नति पर था। यहाँ करोड़ रुपये की लागत के जैन मन्दिर बने हुए हैं जो ईसवी सन् ९५ से लेकर १०५ तक के हैं। खजराहा में अनेक खण्डित जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। यहाँ का मन्दिर-समूह इस काल की कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

देवगढ़ जाखलौन स्टेशन से लगभग आठ मील की दूरी पर है। यहाँ लाखों रुपये की लागत के जैन मन्दिर बने हुए हैं। यहाँ गुप्तकाल के लेख मौजूद हैं। यहाँ की शिल्पकला बहुत सुन्दर है। देवगढ़ को उत्तर भारत की जैनबद्री कहा जाता है।

चन्देरी ललितपुर से बीस मील दूर है। यहाँ अत्यन्त मनोज्ञ जैन मन्दिर बने हुए हैं।

थूवनजी चन्देरी से नौ मील के फासले पर है।

पपौराजी क्षेत्र टीकमगढ़ से तीन मील है।

अहारजी में सुन्दर जैन मूर्तियाँ हैं। यह स्थान टीकमगढ़ से पूर्व की ओर बारह मील है।

७

दक्षिण

बरार-हैदराबाद-महाराष्ट्र-कोंकण-आन्ध्र-द्रविड-कर्णाटक-कुर्ग आदि

मध्यदेश से जैसे-जैसे जैन श्रमणों ने दक्षिण की ओर विहार किया, दक्षिण में शनै-शनै जैनधर्म का प्रसार होता गया। जैनों के साढे पचीस आर्य क्षेत्रों मे दक्षिण के देशो के नाम नहीं, इससे मालूम होता है कि आरम्भ में दक्षिण मे जैनधर्म नहीं पहुँचा था। लेकिन धीरे-धीरे राजा सम्प्रति ने दक्षिणापथ को जीतकर उसके सामत राजाओं को अपने वश में किया, और आगे चलकर आन्ध्र, द्रविड, कुडुक्क (कुर्ग) आदि देशो में जैनधर्म फैलाया। परिणाम यह हुआ कि दक्षिण में जैन उपासकों की सख्या बढने लगी, और यहाँ जैन श्रमणों का सन्मान होने लगा। आगे चलकर तो दक्षिण में कुडुक्क आचार्य और गोल्ल आचार्य जैसे दिग्गज आचार्यों का तथा द्रविड सघ, पुन्नाट सघ आदि सघों का जन्म हुआ, एक से एक सुन्दर तीर्थों की स्थापना हुई, और दिगम्बर जैनो का यह केन्द्र बन गया।

१. बरार

विदर्भ का उल्लेख महाभारत में आता है। यहाँ राजा नल राज्य करता था।

यह देश आजकल दक्षिण कोशल, गाडवाना या बरार के नाम से पुकारा जाता है।

कुण्डिननगर विदर्भ का मुख्य नगर था। इसका उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् और महाभारत में आता है।

यह स्थान आजकल अमरावती के चांदूर तालुका में है। यहाँ जैन मन्दिर है।

अचलपुर (एलिचपुर) विदर्भ देश का दूसरा मुख्य नगर था। इसके पास कृष्णा (कन्हन) और बेन्ना (बेन) नदियाँ बहती थीं। इन नदियों के बीच ब्रह्मद्वीप नाम का द्वीप था। यहाँ बहुत से तपस्वी रहते थे। ब्रह्मदीपिका नाम की जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है इससे मालूम होता है कि यह स्थान जैनधर्म का केन्द्र रहा होगा। अचलपुर का उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में किया है।

मुक्तागिरि निर्वाणक्षेत्र माना जाता है। १८वीं सदी के यात्रियों ने इसे शत्रुंजय के तुल्य तीर्थ बताते हुए यहाँ चौबीस तीर्थंकरों के उत्तुंग प्रासादों का उल्लेख किया है।

यह स्थान एलिचपुर से बारह मील दूर है। यहाँ के अधिकांश मन्दिर १६वीं सदी के बने हुए हैं।

अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ की कथा उपदेशसप्ततिका में आती है। यहाँ श्रीपाल का कुष्ठ दूर हुआ था।

यह स्थान आकोला से लगभग उन्नीस कोस दूर शिरपुर ग्राम के पास है।

मातकुली अतिशय क्षेत्र माना जाता है। यह स्थान अमरावती से दस मील के फासले पर है। पार्श्वनाथ की यहाँ मूर्ति है।

२ : हैदराबाद

तगर आभीर देश की सुन्दर नगरी थी। आभीर देश जैन श्रमणों का केन्द्र था। यहाँ आर्य समित और वज्रस्वामी ने विहार किया था। तगर में राधाचार्य का आगमन हुआ था। करकण्डुचरिउ में इस नगर का इतिहास दिया हुआ है।

तगर की पहचान उसमानाबाद जिले के तेर नामक स्थान से की जाती है।

तगरा से आठ मील पर धाराशिव है। आराधना कथाकोष में तेर नगर और धाराशिव का वर्णन आता है। यहाँ बहुत सी गुफाएँ हैं, जिन्हे राजा करकण्डु ने बनवाया था।

आजकल इस स्थान को उसमानाबाद कहते हैं।

कुल्पाक की गणना प्राचीन तीर्थों में की जाती है। यह क्षेत्र आदिनाथ का प्राचीन तीर्थ माना जाता है। उपदेशसप्ततिका में कुल्पाक की कथा आती है। यहाँ आदिनाथ की प्रतिमा माणिक्यदेव के नाम से प्रख्यात है।

यह तीर्थ निज़ाम स्टेट में सिकन्दराबाद के पास है।

अजन्ता और एलोरा नाम की प्राचीन गुफाएँ भी इसी रियासत में हैं। अजंता की गुफाओं में बौद्ध जातकों के अनेक दृश्य अंकित हैं। ये गुफाएँ ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दि से लेकर ईसवी सन् की छठी शताब्दि तक की मानी जाती हैं। एलोरा का प्राचीन नाम इलापुर है। यहाँ एक समूची पहाड़ी काटकर मन्दिरों में परिवर्तित कर दी गई है, जिनमें चूने-मसाले व कील-काँटों का नाम नहीं। यह स्थान किसी ज़माने में मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजाओं की राजधानी था। यहाँ ब्राह्मण, बौद्ध और जैनों के मन्दिर बने हुए हैं, जिनका समय ८वीं शताब्दि है।

ऊखलद अतिशय क्षेत्र माना जाता है। यहाँ नेमिनाथ का मन्दिर है, प्रतिवर्ष माघ का मेला लगता है।

यह स्थान निज़ाम स्टेट रेलवे के मीरखेल स्टेशन से तीन-चार मील है।

आष्टे हैदराबाद रियासत में दुधनी स्टेशन के पास है। यहाँ जैन चैत्यालय बना हुआ है।

कुथलगिरि की गणना सिद्धक्षेत्रों में की जाती है। यहाँ से कुलभूषण और देशभूषण मुनियों का मोक्षगमन बताया जाता है।

यह स्थान बार्सी टाउन रेलवे स्टेशन से लगभग बीस मील है।

दहीगाँव महावीर का अतिशय क्षेत्र माना जाता है। यह स्थान शोला-

पुर जिले में दिकमाल स्टेशन से लगभग बाईस मील है।

लवनिधि कोल्हापुर रियासत में, कोल्हापुर शहर से लगभग तीस मील है।

श्रीक्षेत्रकुम्भोज कोल्हापुर रियासत में हातकलंगडा स्टेशन से लगभग चार मील है। गाँव में एक मन्दिर है।

३ महाराष्ट्र

महाराष्ट्र के अनेक रीति रिवाजों का उल्लेख जैन छेदसूत्रों की टीका-टिप्पणियों में मिलता है। राजा सम्प्रति ने इस देश में जैनधर्म का प्रचार किया था। लेकिन आगे चलकर मालूम होता है कि यह प्रदेश जैनधर्म का खासा केन्द्र बन गया था।

प्रतिष्ठान या पोतनपुर महाराष्ट्र की राजधानी थी। बौद्ध ग्रन्थों में पोतन या पोतलि को अश्मक देश की राजधानी कहा है।

प्रतिष्ठान महाराष्ट्र का भूषण माना जाता था। यह नगर विद्या का केन्द्र था। यहाँ श्रमण पूजा नाम का बड़ा भारी उत्सव मनाया जाता था। जैन ग्रन्थों से पता लगता है कि यहाँ पादलिप्त सूरि ने पइठान के राजा की शिरोवेदना दूर की थी। कालकाचार्य ने यहाँ विहार किया था। कहते हैं कि एक बार कालकाचार्य उज्जयिनी से यहाँ पधारे और सातवाहन (शालिवाहन) के आग्रह पर इन्द्र महोत्सव के कारण पर्यूषण पर्व की तिथि बदल कर पंचमी से चतुर्थी कर दी। जैन ग्रन्थों में प्रतिष्ठान को भद्रबाहु (द्वितीय) और वराहमिहिर का जन्म-स्थान माना गया है।

जिनप्रभ सूरि के समय यहाँ अट्ठाइस लौकिक तीर्थ थे। प्रतिष्ठान व्यापार का बड़ा केन्द्र था।

इसकी पहचान औरंगाबाद जिले के पैठन नामक स्थान से की जाती है।

४ कोंकण

कोंकण देश में जैन श्रमणों ने विहार किया था। यह देश परशुराम क्षेत्र के नाम से भी पुकारा जाता था। अत्यधिक वर्षा होने के कारण जैन

साधु यहाँ छतरी लगा सकते थे। यहाँ के लोग फल-फूल के बहुत शौकीन होते थे। यहाँ गिरियज्ञ नाम का उत्सव मनाया जाता था। कोंकण की अटवी का उल्लेख जैन ग्रन्थों में आता है। मच्छर यहाँ बहुत होते थे। यहाँ यूनान के व्यापारी व्यापार के लिए आते थे।

पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच के हिस्से को कोंकण कहा जाता है।

कोंकण की राजधानी शूर्पारक थी। इस नगर का उल्लेख महाभारत में मिलता है। पच पाण्डव प्रभास जाते हुए यहाँ ठहरे थे। आचार्य वज्रसेन, आर्य समुद्र और आर्य मगु ने यहाँ विहार किया था। यहाँ बहुत से व्यापारी रहते थे और भृगुकच्छ तथा सुवर्णभूमि तक व्यापार के लिए जाते थे।

शूर्पारक की पहचान बम्बई इलाके के ठाणा जिले में सोपारा स्थान से की जाती है। आजकल यहाँ बड़ी हाट लगती है।

नासिक्यपुर (नासिक) कोंकण का दूसरा प्रसिद्ध नगर था। यह स्थान गोदावरी के किनारे है और ब्राह्मणों का परम धाम माना जाता है।

यहीं पर दण्डकारण्य था, जहाँ रामचन्द्र जी आकर रहे थे। जैन ग्रन्थों में इसका दूसरा नाम कुभकारकृत बताया गया है। इस नगर के नाश होने की कथा रामायण, जातक तथा निशीथचूर्णि में आती है।

तुंगिय पर्वत पर राम बलभद्र के मोक्ष होने का उल्लेख प्राचीन जैन ग्रन्थों में आता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार यहाँ से राम, हनुमान, सुग्रीव आदि निन्यानवे कोटि मुनि मोक्ष पधारे।

यह क्षेत्र मनमाड स्टेशन से साठ मील दूर है। आजकल इसे माँगी-तुगी कहते हैं।

नासिक से पाँच-छह मील के फासले पर गजपथा नामक तीर्थ है। यहाँ से सात बलभद्र और यादव आदि मुनियों का मोक्ष होना बताया जाता है, लेकिन यह क्षेत्र काफी अर्वाचीन जान पड़ता है।

५. आन्ध्र

आन्ध्र देश में राजा सम्प्रति ने जैन धर्म का प्रचार किया था। बौद्ध

जातकों में आन्ध्र की राजधानी का नाम अन्धपुर बताया गया है। अन्धपुर नगर का उल्लेख जैन ग्रन्थों में आता है। यह नगर तेलवाह नदी पर था।

महाराष्ट्र के पूर्व-दक्षिण तेलुगु भाषा का समूचा क्षेत्र आन्ध्र या तेलंगण देश कहा जाता है।

बनवासी नगरी का उल्लेख ब्राह्मणों की हरिवंश पुराण में आता है। जैन ग्रन्थों के अनुसार यहाँ ससग और भसग नामक राजकुमारों ने अपनी बहन सुकुमालिया के साथ जैन दीक्षा ली थी।

छठी शताब्दि तक यह नगर कदंबों की राजधानी रही। आजकल यह स्थान उत्तर कनाड़ा में सिरसी ताल्लुका में वरदा नदी के बाँये किनारे इसी नाम से मौजूद है। यहाँ प्राचीन अभिलेख मिले हैं।

६ गोल्ल

गोल्ल देश के अनेक रीति-रिवाजों का उल्लेख जैन चूर्णि ग्रन्थों में मिलता है। जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त का मंत्री चाणक्य यहीं का रहने वाला था। गोल्लाचार्य का उल्लेख श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में आता है।

इस देश की पहचान गुन्टूर जिले की गढ़व नामक नदी पर गोलि स्थान से की जा सकती है। यहाँ बहुत से शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, इससे भी इस स्थान की प्राचीनता प्रकट होती है।

७ : द्रविड़

द्रविड़ (दमिल) तमिल का संस्कृत रूप है। द्रविड़ में पहले चोल देश और पाण्ड्य देश गर्भित थे। हुएन-साँग के समय द्रविड़ के उत्तर में कोंकण और धनकटक तथा दक्षिण में मालकूट था। जैन ग्रन्थों से पता लगता है कि प्रारंभ में यहाँ जैन साधुओं को वसति (उपाश्रय) आदि का कष्ट होता था।

काञ्चीपुर द्रविड़ की राजधानी थी। बृहत्कल्पभाष्य से पता लगता है कि यहाँ नेलक नाम का सिक्का चलता था। यहाँ के दो नेलक कुसुमपुर (पटना)

के एक नेलक के बराबर होते थे। हुअन-साँग के समय यह नगर बौद्धों का केन्द्र था। स्वामी समतभद्र की यह जन्मभूमि थी। आठवीं शताब्दि में जैनों का यहाँ बहुत प्रभाव था। काँचीपुर चोल की राजधानी रही।

काचीपुर की पहचान मद्रास सूबे के काँजीवर नामक स्थान से की जाती है।

८ : कर्णाटक

कर्णाटक का पुराना नाम कुन्तल है। महाराष्ट्र के दक्षिण में कनाड़ी भाषा का क्षेत्र कर्णाटक कहा जाता है। इसमें कुर्ग, मैसूर आदि प्रदेश सम्मिलित थे।

जैन ग्रन्थों में **कुडुक्क** देश का अनेक जगह उल्लेख आता है। राजा सम्प्रति के समय से इस देश में जैन धर्म का प्रचार हुआ। व्यवहारभाष्य में कुडुक आचार्य का उल्लेख आता है।

कुडुक की पहचान आधुनिक कुर्ग से की जा सकती है। इस प्रदेश को कोडगू भी कहते हैं।

कर्णाटक में श्रवणबेलगोल दिगम्बर जैनों का प्रसिद्ध तीर्थ है। इसे जैनबद्री, जैन काशी अथवा गोम्मट तीर्थ भी कहा जाता है। यहाँ बाहुबलि स्वामी की सत्तावन फीट ऊँची मनोज्ञ मूर्ति है, जो दस-बारह मील से दिखाई देने लगती है। जैन मान्यता के अनुसार भद्रबाहु स्वामी और उनके शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मुनि ने यहाँ आकर तप किया था। यहाँ लगभग पाँच सौ शिलालेख मौजूद हैं। विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि नामक यहाँ दो पर्वत हैं। इस तीर्थ की स्थापना राजमल्ल नरेश के राजमत्री सेनापति चामुण्डराय ने ईसवी सन् ९८३ के लगभग की थी।

मूडबिद्री होयसल काल में जैनियों का मुख्य केन्द्र था। यहाँ अनेक मदिर और सुन्दर स्थान हैं। यहाँ पर पुरुष-प्रमाण बहुमूल्य प्रतिमाएँ हैं, प्राचीन ग्रन्थों के यहाँ भडार हैं।

कारकल मूडबिद्री से दस मील है। यहाँ बाहुबलि की विशाल प्रतिमा और

सुन्दर मानस्तंभ है। इस मूर्ति को सन् १४३२ में कारकल नरेश वीर पांड्य ने निर्माण कराया था।

वेणूर जैनों का केन्द्र था। कभी यहाँ अजलिर वंश के जैन राजाओं का राज्य था। उनमें से वीर तिम्मराज ने सन् १६ ४ में बाहुबलि स्वामी की विशाल प्रतिमा बनवाई थी। यह स्थान मूडबिद्री से बारह मील और कारकल से चौबीस मील है।

मथुरा या दक्षिण मथुरा का उल्लेख प्राचीन जैन सूत्रों में आता है। इसे पांडु मथुरा भी कहते थे। कृष्ण के कहने से यहाँ पंच पांडव आकर रहे थे। यह स्थान व्यापार का बड़ा केन्द्र था। पुराने जमाने में यहाँ के पंडित प्रसिद्ध होते थे।

मथुरा की पहचान मद्रास सूबे के उत्तर में मदुरा नामक स्थान से की जाती है।

शब्दानुक्रमणिका

फ

ब

इनके विरोधियों की संख्या अपने समाज में बढ़ने लगी। तदनुसार कुछ लोगों की प्रार्थना पर नारनौल के शासक झाझर निवासी नवाबत अली खाँ ने इन्हें पकड़वा कर कारागार में डाल दिया। बंदी-जीवन में इन्हें बहुत कष्ट झेलने पड़े। अंत में जब झाझर की दुरवस्था के कारण वहाँ के सारे बंदी छोड़े जाने लगे तभी इन्हें उससे मुक्ति मिली। कारागार से निकलने पर संत जैतराम खेतरी प्रदेश के छुरिया नामक गाँव में जा बसे। वहाँ रह कर इन्होंने फिर से अपना कार्य आरंभ कर दिया। तब से अपने जीवन के अंतिम समय तक इनका कार्य क्षेत्र अधिकतर नारनौल जिले से लेकर गुड़गाँव जिले तक सीमित रहा। इनका देहांत उक्त छुरिया गाँव में ही सं० १९ ० में इनकी ८१ वर्ष की अवस्था में हुआ और वह स्थान इनके अनुयायियों द्वारा पवित्र माना जाता है। इनके पुत्र का नाम चन्द्र था और गंगाराम इनके प्रधान शिष्य थे जिनके शिष्य आगे चल कर संतराम हुए। संत जैतराम के शिष्यों में उनके भाई म नीरचंदास का नाम भी प्रसिद्ध है।

रचनाएँ तथा सिद्धांत

कहा जाता है कि अपने मत के संबंध में जैतराम ने तीन ग्रंथों की रचना की थी। किंतु इनमें से किसी का पता नहीं चलता। इनके भजन तथा उपदेश संबंधी पदों का देशी भाषा में होना बतलाया जाता है। कहा जाता है कि ये इनके अनुयायियों के यहाँ सुरक्षित हैं। उक्त रचनाओं को देखनेवालों तथा इस पंथ के अनुयायियों के साथ सत्संग करनेवालों का कहना है कि ये लोग 'राम' नामधारी परमात्मा को मानते हैं जो निराकार, अद्वितीय अतुलनीय शाश्वत तथा सर्वव्यापक है। वही एकमात्र सत्य है और उसी का पसारा संसार में सर्वत्र लक्षित होता है। उसके सिवाय किसी भी अन्य देवी वा देवता का अस्तित्व नहीं है।[1] ये हिंदू अथवा मुसलमान की धारणाओं का समान भाव से आदर करते हैं। हिंदुओं के 'रामायण' तथा महाभारत जैसे धर्म-ग्रंथों से नैतिक आचरण संबंधी उपदेशों को ग्रहण करते हैं। परन्तु ये उन्हें अंतिम प्रमाण की पुस्तकें नहीं मानते। अपने 'राम' की जगह ये 'हरि' आदि शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। इनके भजनों में इस प्रकार के नामों का प्रचुरता के साथ व्यवहार किया गया मिलता है। इस पंथ के अंतर्गत पुरुषों के ही समान स्त्रियों को भी एक ही प्रकार साधना का अधिकार है। वास्तव में इन दोनों के बीच में कोई

[1] डॉ० हापकिंस ने इनकी गणना विशुद्ध ईश्वरवादियों (Really pure deists) में की है। दे० The Religions of India F W Hopkins (London, 190°) p 514

(३) नागी-सम्प्रदाय

डेढराज : प्रारभिक जीवन

नागी-सम्प्रदाय के मूलप्रवर्त्तक सत डेढराज का जन्म नारनौल जिले के चारूस गाँव के अतर्गत स० १८२८ मे हुआ था। इनके पिता ब्राह्मण जाति के थे और उनका नाम पूरन था। परिवार के अधिक दरिद्र होने के कारण इन्हें केवल १३-१४ वर्ष की अवस्था मे ही घर छोड कर आगरे आ जाना पडा। यहाँ पर उस समय माधवराव सिंधिया का शासन था। उनके दीवान धर्मदास थे, जो आगरे मे रहते थे। धर्मदास के ही यहाँ डेढराज ने नौकरी कर ली। अनुमान किया जाता है कि यहाँ पर उन्हे अनेक हिन्दू तथा मुसलमान साधु-सतो से भेंट हुई। उन्ही के सत्सग द्वारा इनके हृदय मे आध्यात्मिक भाव जागृत होने लगे। नागी-सम्प्रदाय के सबध मे लिखनेवाले रोज़ साहब का कहना है, "धर्मदास की पत्नी नानकी के साथ ये देश-भ्रमण के लिए भी निकले थे। ये दोनो पहले पहल बगाल की ओर गये और उधर से लौटकर स० १८५० मे 'कनाड' के आसपास अपने मत का प्रचार करने लगे।" रोज़ साहब इन दोनो के बीच पति-पत्नी के सबध का भी अनुमान करते है। वे कहते है कि सम्प्रदाय का नाम उक्त स्त्री के नाम के आधार पर सर्वप्रथम 'नानकी-पथ' पडा था, जो आगे चल कर 'नागी-पथ' बन गया।[1] डेढराज के विवाह का किसी वैश्य-कुल की लडकी के साथ होना बतलाया जाता है।[2] अतएव, यदि उक्त धर्मदास दीवान जाति के वैश्य रहे हो, नानकी उनकी पुत्री का ही नाम रहा हो तथा दोनो का विवाह-सबध हो गया हो, तो यह असभव नही कहा जा सकता, न इस बात में सदेह करने की ही आवश्यकता है कि उक्त दोनो के सयुक्त यत्नो के फलस्वरूप इस पथ की स्थापना हुई थी।

प्रचार-कार्य तथा मृत्यु

पथ के प्रारभ का समय जो भी रहा हो, सत डेढ़राज ने उसका खुला प्रचार अपने जीवन-काल के तैंतीसवें वर्ष में आरभ किया। इस कार्य के लिए अपनी जन्म-भूमि के प्रदेश को ही अधिक उपयुक्त समझ कर ये उस ओर रहने भी लग गए। ये वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध बडे उग्र विचार प्रकट करते थे और अपना विवाह भी ब्राह्मणेतर जाति की कन्या के साथ कर लिया था। इसलिए

---

१ एच० ए० रोज : ए ग्लासरी ऑफ दि ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि पजाब ऐंड वेस्ट फ्रांटियर प्राविंस, भा० ३, पृ० १५६।

२ क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इडिया, पृ० १६२।

के समय तक इसकी प्रायः यही दशा रही। किंतु आधुनिक शिक्षा-संपन्न अनेक व्यक्तियों के इसके भीतर अधिकाधिक प्रवेश पाते रहने के कारण इसके मूल स्वरूप में क्रमशः परिवर्तन होने लगा। मतभेद की मात्रा में भी कुछ-न-कुछ वृद्धि होती गई और इसकी आगरा वाली दयालबाग शाखा ने व्यवसाय के क्षेत्र में भी पदार्पण कर दिया। पूर्व परंपरानुसार इसके सदस्य आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी 'कमाई' का अभ्यास करते हुए व्यक्तिगत रूप से ही अपनी जीविका में प्रवृत्त हुआ करते थे। किंतु आगे चल कर उक्त शाखा ने उनके लिए सामूहिक उद्योग-धंधे में भी सहयोग प्रदान करने का अवसर उपस्थित कर दिया और यह स्वयं भी एक व्यवसाय-केन्द्र के रूप में परिवर्तित हो गई। तब से इसके दोनों कार्य पूर्ण सहयोग के साथ उन्नति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। संभव है उसे आगे और भी अधिक सफलता मिले।

(१) लाला शिवदयाल सिंह 'स्वामीजी महाराज'

प्रारंभिक जीवन

राधास्वामी-सत्संग के मूल प्रवर्तक लाला शिवदयाल सिंह खत्री सेठ थे। वे आगरा मुहल्ला पन्नीगली में संवत् १८७५ की भादो बदी ८ को साढ़े बारह बजे रात के समय लाला दिलवाली सिंह के घर उत्पन्न हुए थे। इनके अनुयायी इन्हें 'परम पुरुष धनी कुल मालिक राधास्वामी दयाल' का स्वरूप अथवा अवतार मानते हैं। इनको 'स्वामीजी महाराज' के नाम से अभिहित करते हैं। उनमें यह भी प्रसिद्ध है कि इनके भविष्य में प्रकट होने की सूचना हाथरस वाले संत तुलसीसाहब ने इनकी माता को पहले से ही दे रखी थी। इनके पिता को उनके सत्संग का भी अवसर प्राप्त था। इनके पिता दिलवाली सिंह पहले नानक-पंथ के अनुयायी थे और अपने पिता की भाँति 'जपुजी' 'सोदर' 'सुखमनी' आदि का पाठ नियमपूर्वक किया करते थे। परन्तु संत तुलसी साहब के आगरे में बहुधा आते-जाते रहने के कारण उनकी धार्मिक प्रवृत्ति का झुकाव क्रमशः 'साहिब-पंथ' की ओर भी हो चला था। 'स्वामी महाराज' की माता बुआ तथा नानी तक उक्त साहिब जी के सत्संगों से प्रभावित होने लगी थीं। तदनुसार बालक शिवदयाल के आध्यात्मिक विकास के लिए उपर्युक्त वातावरण सर्वप्रथम संत-मत द्वारा अनुप्राणित होकर ही उपलब्ध हुआ और आगे उन्हें कहीं अन्यत्र भटकना न पड़ा।[1] इनकी शिक्षा का आरंभ नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा

---

१ कहते हैं कि इन्होंने तुलसी साहेब के प्रमुख शिष्य बाबा गिरधारी दास से मर्यादानुसार दीक्षा भी ले ली थी।

मौलिक अतर नही मानते। प्रार्थना के अवसरो पर सभी एक ही पक्ति मे एकत्र हुआ करते है, पद गा-गा कर झूमा करते है और कभी-कभी भावावेश में आकर नाचने भी लगते हैं।

प्रचार-केन्द्र

इनका प्रधान मठ गुडगांव जिले के भिवाना नामक स्थान में है। खेतर प्रात के चुस्नागांव में भी एक मदिर है, जहाँ सत डेढराज का पूजन 'नेहकलक' वा कल्कि अवतार के रूप में होता है। इस पथ के अनुयायियो की अधिक सख्या झाझर, गुडगांव तथा नारनौल मे पायी जाती है।

विशेषता

सत्य के प्रति विशेष आस्था और शुद्धाचरण इस पथ के अनुयायियो की विशेषताएँ हैं। इनका ध्यान सामाजिक सुधारो की ओर भी दीख पडता है। इस पथ का नाम 'नागी-सम्प्रदाय' पडने का मुख्य कारण कुछ लोग यही समझते हैं कि इसके अनुयायी स्त्रियो का पर्दा हटाने के बडे समर्थक है। सभी मनुष्य, चाहे स्त्री हो वा पुरुष एक ही ईश्वर के सतान हैं और आपस में भाई-बहन हैं। उनमें किसी प्रकार के वर्णगत वा जातिगत भेद की भी गुजाइश नही। मानव-समाज के अतर्गत सारी कुरीतियो का मूलोच्छेदन तथा उसके प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के लिए समान अवसर देना परम कर्त्तव्य है। इसी प्रकार ईश्वर की आराधना के सबध मे सबका समानाधिकार, मूर्ति-पूजन की व्यर्थता तथा ग्रथ-विशेष के प्रति आस्था न रखना इस सम्प्रदाय के अन्य नियम कहे जा सकते हैं। इसके अनुयायियो की कम सख्या तथा इसके ग्रथो के बहुत कम प्रचार के कारण इसके विषय मे अभी तक वैसी जानकारी नही है।

(४) राधास्वामी-सत्सग

सत्सग की विशेषता

राधास्वामी सत्सग वा सम्प्रदाय की अधिकाश बातें गुप्त रखी जाती हैं। उनसे सिवाय सत्सगियो के भरसक अन्य लोग परिचित नही हो पाते। तदनुसार इनकी गूढ आध्यात्मिक साधनाओ का पता सर्वसाधारण को नही लग पाता, न वे इनके मुख्य ग्रथो को ही देख वा अध्ययन कर पाते है। फिर भी इस सम्प्रदाय के प्रचार मे उक्त बातो के कारण कोई विशेष बाधा नही उपस्थित होती। बहुत-से लोग बहुधा इसके रहस्यमय सिद्धातो की जिज्ञासा से ही इस ओर आकृष्ट हो जाते हैं। अन्य लोग इनके सुदर सगठन तथा सत्कार्यों से प्रभावित होकर इसमें प्रवेश पाने के लिए उद्यत होते हैं। इस पथ का आरभ सर्वप्रथम एक शुद्ध धार्मिक सस्था के रूप में हुआ था। इसके प्रथम तीन प्रधान गुरुओ

आध्यात्मिक प्रवृत्ति

लाला शिवदयाल सिंह अपनी छह-सात वर्षों की अवस्था से ही आध्यात्मिक चिंतन तथा सत्संग में प्रवृत्त होने लगे थे। लगभग पन्द्रह वर्षों की अवस्था तक आप अपने मकान की किसी कोठरी में बैठ कर अपने अभ्यास का काम चलाते रहे। इस बीच में बहुधा दो-दो तीन-तीन दिनों तक बाहर नहीं निकलते थे। इन्हें इस काल में मलमूत्र-त्याग करने तक की आवश्यकता का कभी अनुभव नहीं होता रहा। पीछे इन्होंने सं १९१७ की बसंत पंचमी के दिन से कतिपय सत्संगियों की प्रार्थना के अनुसार प्रकट रूप से संत-मत के उपदेश देने आरंभ किये और तब से यह कार्य निरंतर साढ़े सत्रह वर्षों तक इनके मकान पर चलता रहा। इस बीच में लगभग ८ १ सहस्र हिन्दू, मुस्लिम जैन ईसाई, पुरुष तथा स्त्रियों ने इनके सिद्धांतों में विश्वास कर इनका अनुयायी बन जाना स्वीकार किया। इनमें से लगभग १ साधु होंगे शेष सभी गृहस्थ थे। इनकी आध्यात्मिक पहुँच की ख्याति क्रमशः दूर-दूर तक फैल चली और अनेक लोगों ने इनके स्थान से सैकड़ों मील की दूरी से आकर इनके सत्संग से लाभ उठाया। संत तुलसी साहब का उक्त समय तक देहांत हो चुका था। अतएव इनकी शरण में बहुत-से ऐसे भक्त भी लोग आ गए जो पहले उनके 'साहिब पंथ' से संबद्ध थे और जिन्हें संत-मत के गूढ़ विषयों की गुत्थियाँ समझने में इनके निकट अधिक सहायता मिल सकती थी। अपने मकान पर सत्संगियों तथा भक्तों की बहुत भीड़ देख कर एक बार इनके जी में आया कि आगरा नगर के कहीं बाहर क्यों न ठहरा जाय। तदनुसार सुखपाल पर चढ़ कर इन्होंने भिन्न-भिन्न स्थलों का निरीक्षण किया। अंत में नगर से लगभग तीन मील की दूरी पर एक स्थान पसंद किया गया जहाँ पर पीछे एक बाग भी लगाया गया।

अनुयायी

संत शिवदयाल सिंह वा 'स्वामीजी महाराज' के अनेक शिष्यों में से एक उनके सबसे छोटे भाई प्रतापसिंह सेठ भी थे जिन्हें वे बहुधा 'प्रतापा' कहा करते थे। ये आगे चल कर 'चाचाजी' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए और उन्होंने स्वामीजी महाराज का एक जीवन-चरित्र भी लिखा। ये १०-१२ वर्ष की अवस्था से बराबर इनकी सेवा-टहल में रहते आये थे और अपनी स्त्री तथा पुत्र को भी उन्होंने इसी कार्य में लगा दिया था। उन्हें स्वामीजी महाराज द्वारा दिये गए किसी ऐसे प्रवचन से सर्वप्रथम विरक्ति जगी थी जो इन्होंने प्रसिद्ध 'ग्रंथसाहब' के कुछ शब्दों की व्याख्या के रूप में दिया था। इन्हीं प्रतापसिंह से सूचना पाकर सर्वप्रथम राय सालिगराम बहादुर उर्फ 'हुजूर साहब' भी स्वामीजी महाराज के निकट जिज्ञासु बन कर आये थे। उनकी सेवा-टहल में वर्षों का समय लगाया था और इनसे सर्वप्रथम गुरु-

से हुआ था और इन्हें गुरुमुखी भी पढायी गई थी। परन्तु कुछ वडे होने पर इन्होंने फारसी में वहुत अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली और अरवी तथा सस्कृत के भी जानकार हो गए।

गार्हस्थ्य-जीवन

कहते है कि इनका विवाह फरीदावाद, जिला देहली मे लाला इज्जत राम के यहाँ हुआ था। इनकी पत्नी को इनके अनुयायी 'राधाजी' कहा करते हैं। ये वडे उदार हृदय की महिला थी और इनकी भी प्रवृत्ति आध्यात्मिक वातो की ओर वरावर रहा करती थी। इनसे स्वामीजी महाराज को कोई सतान नही हुई और ये अपने पति के साथ गृहस्थी का जीवन व्यतीत कर स० १९५१ की कार्त्तिक सुदी ४ को परलोक सिधार गईं। सत शिवदयाल सिंह के दो छोटे भाई भी थे जिनमें से एक का नाम ब्रिदावन दास था और सवसे छोटे प्रतापसिंह सेठ कहे जाते थे। आपके घर में पहले महाजनी की जीविका चलती थी, किंतु आगे चल कर कुछ दिनो तक इनके परिवार वालो ने नौकरी भी कर ली। इन्होने स्वय कुछ समय तक फारसी पढाने का काम किया और इनके भाई ब्रिदावन-दास वहुत दिनो तक डाक-विभाग में नौकरी करते रहे। प्रसिद्ध है कि अपने भाई की नौकरी लग जाने पर एक दिन इन्होने अपने सव से छोटे भाई प्रतापसिंह से कहा, "ऐ अजीज, चूंकि कादिर हकीकी ने अब रिज़क की सूरत दूसरी निकाल दी है, तो अव लेन-देन करना और सूद के रुपये से खर्च अमालदारी का चलाना नामुनासिव मालूम होता है। लिहाज़ा तुम सब कर्ज़दारो के कागज़ात, इस्टाम्प वग़ैरह को निकाल लो और उन सब लोगो को बुला कर यह वयान कर दो कि स्वामीजी महाराज ने फरमाया है कि अगर तुमको हमारा रुपया देना मजूर है और अपना ईमान सलामत रखना चाहते हो, तो हमारा रुपया एक हफ्ते के अर्से मे अदा कर दो, वर्ना तुम्हारे दस्तावेज़ सब चाक करके फेंक दिये जायेंगे।"[१] तदनुसार प्रतापसिंह ने सभी कर्ज़दारो को इस बात की सूचना दे दी और प्रतिदिन ऐसे चार-पाँच व्यक्तियो से वातचीत कर अपने परिवार के सपूर्ण लेन-देन का अत कर दिया। परिवार के भरण-पोषण का प्रवध तव से केवल ब्रिदावनदास के वेतन के आधार पर चलने लगा। सत शिवदयाल सिंह का देहात स० १९३५ की आषाढ कृष्ण प्रतिपदा शनिवार को लगभग पौने दो वजे अपराह्न काल में हुआ। इनकी समाधि स्वामीवाग के निकट वनायी गई।

१ लाला प्रतापसिंह सेठ : जीवन चरित्र हुज़ूर स्वामीजी महाराज, वे० प्रे०, प्रयाग १९०९ ई०, पृ० १७।

उनके निधन के दिन एक भंडारा मनाया जाता है। इस अवसर पर सत्संगी दूर दूर से अच्छी-से-अच्छी संख्या में आने के भरम करते हैं और सारा उत्सव बड़े समारोह के साथ सम्पन्न किया जाता है। स्वामीजी महाराज की मुख्य समाधि का निर्माण सं० १९६१ में आरंभ हुआ था और वह अभी तक बनती ही जा रही है। उसमें लाखों का व्यय हो जाना संभव है। समाधि शुद्ध संगमरमर तथा अन्य बहुमूल्य पत्थरों की सामग्री द्वारा बना कर पूर्ण की जायगी। अनुमान है कि उसका आकार प्रकार भी अद्वितीय होगा तथा उसमें प्रत्येक देश और जाति की वास्तु-कला की शैलियों के नमूने पाये जायँगे। स्वामीजी की पत्नी 'राधाजी' की समाधि भी आगरा नगर के बाहर बनी हुई है। वह स्थान भी सत्संगियों के लिए परम पवित्र समझा जाता है तथा उक्त अवसर पर एकत्र होनेवाले यात्री उसके भी दर्शन बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ किया करते हैं।

(२) राय सालिगराम साहब रायबहादुर हुजूर महाराज साहेब

प्रारंभिक जीवन

राय सालिगराम उर्फ 'हुजूर महाराज साहेब' का जन्म आगरा शहर के पीपलमंडी मुहल्ले में सं० १८८५ की फागुन सुदी ८ को शुक्रवार के दिन साढ़े चार बजे प्रातःकाल के समय एक प्रतिष्ठित माथुर कायस्थ-कुल में हुआ था। प्रसिद्ध है कि ये अपनी माता के गर्भ में १८ मास रह कर उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम रायबहादुर सिंह था जो वकालत करते थे तथा शिव-भक्त थे। इन्होंने अपनी बाल्यावस्था में फ़ारसी की शिक्षा पायी। ये अँगरेजी में उस समय के सीनियर कक्षा तक पढ़े जो कदाचित् आजकल की बी० ए० श्रेणी के बराबर समझी जाती थी। शिक्षा प्राप्त कर लेने के अनंतर अपनी १८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने १४ मार्च सन् १८४७ को डाक-विभाग में नौकरी आरंभ की और पोस्टमास्टर जनरल के दफ्तर में द्वितीय क्लर्क हो गए। तब से ये अपनी योग्यता के कारण बराबर उन्नति करते चले गए। अंत में सन् १८८१ में उक्त विभाग के पोस्टमास्टर जनरल के पद तक पहुँच गए। डाक-विभाग में इनके कार्य करते समय भिन्न-भिन्न प्रकार के नवीन प्रबंध होते गए और इनकी कार्य-पटुता के कारण इन्हें समय-समय पर पारितोषिक भी मिले। तदनुसार सन् १८७१ ई० में इन्हें अँगरेजी सरकार की ओर से 'रायबहादुर' की पदवी मिली और कई बार कुछ-न-कुछ द्रव्य भी मिलता गया। अपनी इस नौकरी के समय में ही इन्होंने ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन किया था और इस विद्या पर फ़ारसी भाषा में एक ग्रंथ की रचना भी की थी। ज्योतिषशास्त्र की मुख्य-मुख्य बातों पर इन्होंने इतना अच्छा अधिकार कर लिया था कि जो कोई इनसे इसे सीखने आता था उसे ये भलीभाँति समझा सकते थे।

मुख शिष्य के रूप मे उन्होने उनके उत्तराधिकारी का पद उपलब्ध किया था।[1]
वे वहुत दिनो तक डाक-विभाग की नौकरी मे रहे थे। अत मे 'डाइरेक्टर जनरल 'पोस्ट आफिस' भी हो गए थे, किंतु इन्होने अपना सर्वस्व उन्हे ही न्योछावर कर रखा था। उनके सिवाय इन्होने किसी अन्य को कभी कुछ नही समझा था। इस प्रकार स्वामीजी महाराज की शिष्याओ मे से एक वुक्की जी साहिवा थी जो अपनी वडी वहन शिव्वोजी साहिवा के साथ उनकी सेवा मे रहा करती थी। इन्हे उनके चरणो के अँगूठे तक से इतना प्रेम हो गया था कि जव कभी वे अभ्यास मे लीन रहते वा प्रवचन देने वैठने, उस समय ये उसे अपने मुंह मे डाल घटो चरणामृत पान करती रह जाती थी।

रचनाएँ

स्वामीजी महाराज ने 'सार-वचन' (नज़्म) तथा 'सार वचन' (नसर) नामक दो ग्रथो की रचना की। 'सार वचन' (नज़्म) एक ९५३ पृष्ठो का वृहद् ग्रथ है जिसमे स्वामीजी महाराज के बयालीस वचन सगृहीत है और प्रत्येक वचन मे भिन्न-भिन्न शव्द दिये गए हैं। पुस्तक के आरभ मे कुछ मगलाचरण तथा स्तुति-सवधी पद्य हैं और 'वचन पहला' के आदि मे एक छोटा-सा गद्यमय सदेश जिसमे है 'सुरत-शव्दयोग' को सर्वश्रेष्ठ ठहराया गया है। कहा गया है कि बिना उसे अपनाये मन की वास्तविक शुद्धि तथा निश्चलता सभव नही है। कुल ग्रथ मे 'शव्दो' की सख्या ४६४ है, किंतु इनमे से कई वहुत वडे-वडे हैं जिनकी पक्तियो की सख्या २०० से भी अधिक हो गई है। 'शव्दो' के विषय प्राय वे ही हैं जो अन्य सतो की रचनाओ मे पाये जाते हैं, किंतु उनके वर्णन की शैली और क्रम आदि कुछ भिन्न प्रकार के है। इनके छदो मे भी कही-कही नवीनता तथा विचित्रता मिलती है। स्वामीजी का दूसरा ग्रथ 'सार-वचन' (नसर) उक्त रचना से छोटा है। उसमे सारी बातें अधिकतर सुझाव वा उपदेश के रूप मे कही गई हैं। ये दोनो ग्रथ 'राधास्वामी-सत्सग' के मूल मत को समझने के लिए वहुत आवश्यक है और ये उसकी मुख्य तथा प्रामाणिक पुस्तक मानें जाते है। ये पुस्तकें सत्सग की वहुत-सी अन्य पुस्तको की भाँति 'राधास्वामी ट्रस्ट' की आज्ञा लेकर वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग मे छापी गई थी। इनके लिए सर्वाधिकार सुरक्षित था तथा इन्हें प्रकाशित रूप मे भी सर्वसाधारण के हाथ बेचने तथा वितरण करने का नियम नही था।

समाधि

स्वामीजी महाराज की समाधि 'स्वामी वाग' मे वर्तमान है, जहाँ प्रति वर्ष

---

१ लाला प्रतापसिंह सेठ जीवन-चरित्र हुजूर स्वामीजी महाराज, वे० प्रे० प्रयाग, १९०९ ई०, पृ० ३७-३८।

पालकी उठाते थे सवारी के साथ दौड़ा करते थे तथा पीकदान पेश किया करते थे।[1] इन्होंने अपने धन से भी उनकी ऐसी सेवा की कि जब कभी अपनी तनखाह मिली उसे 'स्वामीजी महाराज' के चरणों में ही अर्पित कर दिया। उसमें से कुछ रुपये आवश्यकतानुसार निकाल कर स्वामीजी महाराज इनके परिवार के लिए भेज देते थे और शेष रकम उनके यहाँ खर्च होती थी। इन्होंने उनके प्रति अपने को यहाँ तक समर्पित कर दिया था कि किसी कार्य को ये अपने मन तथा बुद्धि के विरुद्ध होने पर भी प्रसन्न होकर कर डालते थे। इस विषय की शिकायत कभी मन में नहीं लाया करते थे अपितु अधिक उत्साह के साथ उस ओर प्रवृत्त होते थे। कहा जाता है कि एक बार जब 'स्वामीजी महाराज' एकांत निवास करते थे तब इन्हें उनके बिना देखे कल नहीं पड़ी। ये उनकी बिना आज्ञा पड़ोस के मकान से होकर पहुँच गये जिस कारण उन्होंने इन्हें एक थप्पड़ मारी और कहा कि चले जाओ। इन्हें उनसे क्षमा-प्रार्थना करनी पड़ी और फिर इन्होंने ऐसा नहीं किया।[2]

एक घटना

'स्वामीजी महाराज' के लिए जल भर कर लाते समय इन्हें प्रति दिन दोपहर के समय नंगे पैर जाना पड़ता था। शहर के कुओं का पानी अधिकतर खारा होने पर इन्हें इसके लिए उसके बाहर कहीं दूर तक जाने का परिश्रम उठाना पड़ता था। इस पर भी यदि कोई कभी इनसे मार्ग में पानी पीने को माँग देता तो उसे ये प्रसन्नता पूर्वक दे देते थे। उसके पिला देने पर बचे हुए जल को उच्छिष्ट समझ कर फिर दुबारा जल लाने के लिए बीच मार्ग से ही लौट पड़ते थे। इस प्रकार इनका परिश्रम कभी-कभी दुगना तथा तिगुना तक हो जाता था। एक दिन ऐसा हुआ कि जब ये घड़ा को भर कर ला रहे थे कि वह बीच रास्ते में ही टूट गया और इन्हें दूसरे घड़े के लिए कुम्हार के यहाँ जाना पड़ा। उस समय इनके पास पैसे नहीं थे और कुम्हार के उधार न देने पर इन्हें अपनी ओढ़ी हुई चादर एक दिन के लिए गिरवी रख देनी पड़ी। दूसरे दिन फिर उसके यहाँ जाकर उसे इन्होंने घड़े का दाम दिया और अपनी चादर वापस ला सके। 'हुजूर महाराज साहब' 'स्वामीजी महाराज' का चरणा-मृत मुख अमृत (जूठन) तथा 'पीकदान का अमृत' भी नित्यशः ले लिया करते थे। स्वामीजी महाराज के जन्मना खत्री होने तथा हुजूर महाराज साहब के उनसे

1. राय अयुध्याप्रसाद : जीवनचरित्र हुजूर महाराज साहब के प्रे० प्रयाग (पृ० २१)।
2. वहीं, पृ० २४।

परिवार

राय सालिगराम के एक बडे भाई थे जिनका नाम राय नदकिशोर था। इनकी एक बहन भी थी जो इनसे छोटी थी। राय नदकिशोर ने भी सरकारी नौकरी मे अच्छी सफलता प्राप्त की थी। ये फैजाबाद मे एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर के पद तक पहुँच गए थे। इनके दो विवाह थे। पहला विवाह फर्रुखाबाद मे हुआ था जिससे एक पुत्री उत्पन्न हुई थी। किंतु माता तथा पुत्री दोनो का देहात हो गया। इनका दूसरा विवाह स० १९०९ मे आगरा शहर मे ही हुआ था, जिससे दो पुत्रियाँ तथा तीन पुत्र जन्मे थे। इन्ही तीनो पुत्रो मे से मझले राय अयोध्या प्रसाद उर्फ़ लालाजी थे जिन्होने 'हुजूर महाराज साहेब' का जीवनचरित्र लिखा है और शेष दो पुत्रो ने बहुत छोटी अवस्था मे ही शरीर त्याग दिया था।

गुरु-सेवा

स० १९१५ मे जिस समय 'हुजूर महाराज साहेब' हेड असिस्टेंट के पद पर थे और तत्कालीन पोस्टमास्टर जनरल की बुलाहट पर मेरठ गये हुए थे, इन्हे वहाँ पर कुछ काल तक ठहर जाना पडा। इसी अवसर पर इनकी भेंट लाला प्रताप सिंह सेठ उर्फ 'चाचाजी' से हो गई। 'चाचाजी' किसी दिन 'पज ग्रथी' का पाठ कर रहे थे जिसे श्रवण कर 'हुजूर साहेब' आकृष्ट हो गए और उनसे उसके गूढ सिद्धातो का अभिप्राय पूछ बैठे। 'चाचाजी' ने इस पर इनसे कह दिया कि इन बातो के रहस्य से मेरे बडे भाई लाला शिवदयाल सिंह पूर्णत परिचित हैं और उनसे आप भेंट कर सकते हैं। 'हुजूर साहेब' ने इस बात को मान लिया और भेंट के लिए समय निश्चित हो जाने पर उनसे इन्होने जाकर सत्सग किया। वहाँ पर 'स्वामीजी महाराज' के प्रभावशाली व्यक्तित्व की इन पर ऐसी धाक जम गई कि ये उन पर पूर्णत मुग्ध हो गए। उनके निकट प्रति सप्ताह, फिर सप्ताह मे दो-तीन बार तथा अत मे प्रतिदिन जाने लगे। फिर उनकी सेवा-टहल तक करने लगे। इनका सेवा-कार्य कुछ दिनो के अनतर यहाँ तक पहुँच गया कि ये तृतीय सिक्ख-गुरु अमरदास की भाँति अपने गुरु के आराम के लिए प्रत्येक छोटा-से छोटा काम भी करने लगे। इस प्रकार इन्होने अपने को उनके चरणो मे अर्पित कर दिया। ये उनके चरण दबाते थे, पखा करते थे, उनके लिए चक्की पीसते थे, हुक्का भरते थे, कुएँ से पानी लाते थे। उन्हे स्नान कराते थे, भोजन बनाते थे, मकान का झाड़ू-बुहारू तथा पुताई करते थे, मिट्टी खोदकर लाते थे, जगलो से दतुवन तोड लाते थे, पाखाना साफ करते थे, मोरी धोते थे, चौका-बर्तन करते थे, सामान खरीद लाते थे, उनकी

प्रकार कायस्थ होने के कारण इस बात की निंदा हुआ करती थी। किंतु हुजूर महाराज साहेब ने इस बात की कभी कोई परवाह नही की।[1] स० १९३३ मे इन्होंने 'स्वामीजी महाराज' की आज्ञा से अपनी व्यक्तिगत आय द्वारा एक जमीन खरीद कर उसमे बाग लगवा दिये और मकान भी बनवा कर उसे उनके चरणो मे भेंट कर दिया। वह स्थान तब से राधास्वामी बाग के नाम से प्रसिद्ध हो चला।

सत्संग की पद्धति

स्वामीजी महाराज का देहांत हो जाने पर लगभग तीन वर्षों तक 'हुजूर महाराज साहेब' ने पन्नी गली मे दैनिक तथा राधास्वामी बाग मे साप्ताहिक सत्संग चलाया। राधास्वामी बाग तथा राधाबाग के कुल व्यय का भार पूर्ववत् स्वयं वहन किया और पेंशन हो जाने पर भी उनमे कोई त्रुटि नही आने दी।[2] स० १९४४ मे अपनी नौकरी से पेंशन लेकर ये अपने घर पर ही सत्संग करने लगे और वही पर इनके निकट दूर-दूर तक के जिज्ञासु पहुँचने लगे। 'स्वामीजी महाराज' के समय उनकी आरती पहले पुराने ढंग से हुआ करती थी और खडे होकर दोनो हाथो मे थाली लेकर उसे घुमाया जाता था। परन्तु 'हुजूर महाराज साहेब' ने इस प्रणाली मे परिवर्तन कर दिया और जोत जगा कर केवल दो-चार बार ही थाली घुमाने और फिर बैठ कर अपने इष्ट के प्रति दृष्टि मात्र जमाये रखने का नवीन ढंग निकाला। इन्होंने अपने समय मे सत्संगियो को आरती का वास्तविक रहस्य समझा दिया और केवल दृष्टि जोड कर सम्मुख बैठने की ही पद्धति चला दी। ये पीछे स्वयं सत्संगियो के समूह पर अपनी दृष्टि डाल कर उनसे गूँगी आरती कराने लगे। ये सभी सत्संगियो पर प्रेम तथा आत्मीयता का भाव रखा करते थे, जिस कारण वे इनके प्रति अधिक-से-अधिक आकृष्ट हो जाते रहे। ये रात-दिन मिला कर केवल तीन घंटे तक आराम करते और बाहर से सत्संगियो की बडी भीड आ जाने पर इसमे भी कमी कर देते थे। चार बार के निश्चित सत्संगो के अतिरिक्त ये बहुधा किसी-न-किसी को व्यक्तिगत रूप मे भी समझाया करते, कोई विशेष उपदेश देते तथा पत्र-व्यवहारादि किया करते। पहले तो ये वहाँ सभी सत्संगियो का अपने व्यय से प्रबंध भी कर दिया करते थे, किंतु उनकी संख्या मे अधिक वृद्धि हो जाने पर उनके स्वागत वा सत्कार का सारा व्यय नजर तथा भेंट मे प्राप्त रुपयो के द्वारा चलने लगा। उसी के आधार पर उनके ठहरने के लिए कुछ मकान भी बनवा दिये गए।

---

१ राय अजुध्याप्रसाद, जीवनचरित्र हुजूर महाराज साहेब, बे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ३२-३३।
२. वही, पृ० ७५।

पालकी उठाने में सवारी के साथ दौड़ा करते थे तथा पीकदान पेश किया करते थे।[1] इन्होंने अपने मन से भी उनकी ऐसी सेवा की कि जब कभी अपनी तनख्वाह मिली उसे 'स्वामीजी महाराज' के चरणों में ही अर्पित कर दिया। उसमें से कुछ रुपये आवश्यकतानुसार निकाल कर स्वामीजी महाराज इनके परिवार के लिए भेज देते थे और शेष रकम उनके यहाँ खर्च होती थी। इन्होंने उनके प्रति अपने को यहाँ तक समर्पित कर दिया था कि किसी कार्य को ये अपने मन तथा बुद्धि के विरुद्ध होने पर भी प्रसन्न होकर कर डालते थे। इस विषय की शिकायत कभी मन में नहीं लाया करते थे अपितु अधिक उत्साह के साथ उस ओर प्रवृत्त होते थे। कहा जाता है कि एक बार जब 'स्वामीजी महाराज' एकांत निवास करते थे तब इन्हें उनके बिना देखे कल नहीं पड़ी। ये उनकी बिना आज्ञा पड़ोस के मकान से होकर पहुँच गये जिस कारण उन्होंने इन्हें एक खड़ाऊँ मारी और कहा कि चले जाओ। इन्हें उनसे क्षमा-प्रार्थना करनी पड़ी और फिर इन्होंने ऐसा नहीं किया।[2]

एक घटना

'स्वामीजी महाराज' के लिए जल भर कर लाते समय इन्हें प्रति दिन दोपहर के समय नंगे पैर जाना पड़ता था। शहर में कुआँ का पानी अधिकतर खारा होने पर इन्हें इसके लिए उसके बाहर बड़ी दूर तक जाने का परिश्रम उठाना पड़ता था। इस पर भी यदि कोई कभी इनसे मार्ग में पानी पीने को माँग देता तो उसे ये प्रसन्नता पूर्वक दे देते थे। उसके पिला देने पर बचे हुए जल को उच्छिष्ट समझ कर फिर दुबारा जल लाने के लिए बीच मार्ग से ही लौट पड़ते थे। इस प्रकार इनका परिश्रम कभी-कभी दुगना तथा तिगुना तक हो जाता था। एक दिन ऐसा हुआ कि जब ये घड़े को भर कर ला रहे थे कि वह बीच रास्ते में ही टूट गया और इन्हें दूसरे घड़े के लिए कुम्हार के यहाँ जाना पड़ा। उस समय इनके पास पैसे नहीं थे और कुम्हार के उधार न देने पर इन्हें अपनी ओढ़ी हुई चादर एक दिन के लिए गिरवीं रख देनी पड़ी। दूसरे दिन फिर उसके यहाँ जाकर उस इन्होंने घड़े का दाम दिया और अपनी चादर वापस ला सके। 'हुजूर महाराज साहब' 'स्वामीजी महाराज' का चरणामृत मल अमृत (मूत्र) तथा 'पीकदान का अमृत' भी नित्यप्रति में लिया करते थे। स्वामीजी महाराज के उपरान्त सभी [illegible] तथा हुजूर महाराज साहब के उन्हीं

---

१ राय अनुग्रहप्रसाद : जीवनचरित्र हुजूर महाराज साहब बे० प्रे० प्रयाग, पृ० २९ ।

२ वही, पृ० ९४ ।

प्रकार कायस्थ होने के कारण इस वात की निंदा हुआ करती थी। किंतु हुजूर महाराज साहेव ने इस वात की कभी कोई परवाह नही की।[1] स० १९३३ मे इन्होंने 'स्वामीजी महाराज' की आज्ञा से अपनी व्यक्तिगत आय द्वारा एक जमीन खरीद कर उसमे वाग लगवा दिये और मकान भी वनवा कर उसे उनके चरणो मे भेंट कर दिया। वह स्थान तव से राधास्वामी वाग के नाम से प्रसिद्ध हो चला।

सत्सग की पद्धति

स्वामीजी महाराज का देहात हो जाने पर लगभग तीन वर्षों तक 'हुजूर-महाराज साहेव' ने पन्नी गली मे दैनिक तथा राधास्वामी वाग मे साप्ताहिक सत्सग चलाया। राधास्वामी वाग तथा राधावाग के कुल व्यय का भार पूर्ववत् स्वय वहन किया और पेंशन हो जाने पर भी उनमे कोई त्रुटि नही आने दी।[2] स० १९४४ मे अपनी नौकरी से पेंशन लेकर ये अपन घर पर ही सत्सग करन लगे और वही पर इनके निकट दूर-दूर तक के जिज्ञासु पहुँचने लगे। 'स्वामीजी महाराज' के समय उनकी आरती पहले पुराने ढग से हुआ करती थी और खडे होकर दोनो हाथो मे थाली लेकर उसे घुमाया जाता था। परन्तु 'हुजूर महाराज साहेव' ने इस प्रणाली मे परिवर्तन कर दिया और जोत जगा कर केवल दो-चार वार ही थाली घुमाने और फिर बैठ कर अपने इष्ट के प्रति दृष्टि मात्र जमाये रखने का नवीन ढग निकाला। इन्होंने अपने समय मे सत्सगियो को आरती का वास्तविक रहस्य समझा दिया और केवल दृष्टि जोड कर सम्मुख बैठने की ही पद्धति चला दी। ये पीछे स्वय सत्सगियो के समह पर अपनी दृष्टि डाल कर उनसे गूँगी आरती करान लगे। ये सभी सत्सगियो पर प्रेम तथा आत्मीयता का भाव रखा करते थ, जिस कारण वे इनके प्रति अधिक-से-अधिक आकृष्ट हो जाते रहे। ये रात-दिन मिला कर केवल तीन घटे तक आराम करते और वाहर से सत्सगियो की वडी भीड आ जाने पर इसमे भी कमी कर देते थे। चार वार के निश्चित सत्सगो के अतिरिक्त ये वहुधा किसी-न-किसी को व्यक्तिगत रूप मे भी समझाया करते, कोई विशेष उपदेश देते तथा पत्र-व्यवहारादि किया करते। पहले तो ये वहाँ सभी सत्सगियो का अपने व्यय से प्रवध भी कर दिया करते थे, किंतु उनकी सख्या मे अधिक वृद्धि हो जाने पर उनके स्वागत वा सत्कार का सारा व्यय नजर तथा भेंट मे प्राप्त रुपयो के द्वारा चलने लगा। उसी के आधार पर उनके ठहरने के लिए कुछ मकान भी वनवा दिये गए।

---

१ राय अजुध्याप्रसाद, जीवनचरित्र हुजूर महाराज साहेव, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ३२-३३।

२. वही, पृ० ७५।

रचनाएँ

उक्त प्रकार अपना समय अधिक-से-अधिक देने पर भी ये कभी-कभी पुस्तक-रचना कर लेते थे। तदनुसार इन्होंने कई ग्रंथ लिख डाले। इनकी रचनाओं में गद्य-ग्रंथों की ही प्रधानता है। उनमें 'सार उपदेश' 'निज उपदेश' 'प्रेम उपदेश' 'गुरु उपदेश' 'प्रश्नोत्तर' 'युगलप्रकाश' तथा 'प्रेमपत्र' (६ भाग) मुख्य हैं। इनकी पद्य-रचना केवल 'प्रेमबानी' है जो चार भागों में प्रकाशित हुई है। इनकी 'प्रेमपत्रावली' रचना में से कुछ वचन अलग कर के भी मुद्रित किये गए हैं। उनके संग्रहों के नाम 'राधास्वामी-मत-संदेश' 'राधास्वामी-मत-उपदेश' तथा 'सहज-उपदेश' हैं। इसी प्रकार 'स्वामीजी महाराज' के 'सारवचन' (नज़्म) तथा 'हुजूर महाराज साहेब' की प्रेमबानियों में से भी कुछ चुन कर 'मेहबानी' (४ भाग) 'प्रेमप्रकाश' 'नाममाला' तथा 'विनती तथा प्रार्थना' नाम के संग्रह निकाले गए हैं, जिससे साधारण सत्संगियों को भी सुभीता रहा करती है। इसके सिवाय पिछले संतों-महात्माओं के भी कतिपय शब्दों को संगृहीत कर 'संत-संग्रह' नाम की एक रचना दो भागों में प्रकाशित की गई है। 'हुजूर महाराज साहेब' ने एक गद्य-ग्रंथ अँगरेजी भाषा में भी लिखा है जिसका नाम 'राधास्वामी-मत-प्रकाश' है। यह अँगरेजी भाषा के जानकारों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, जो राधास्वामी सत्संग की मुख्य-मुख्य बातों के स्पष्टीकरण में बहुत बड़ी सहायता पहुँचा सकता है।

व्यक्तित्व तथा अंत समय

'हुजूर महाराज साहेब' ने लगभग २ वर्षों तक सत्संग का कार्य सँभाला। इस काल में सत्संगियों की संख्या में भी बड़ी वृद्धि हो चली। इनके प्रेम-भाव तथा उदारहृदयता के कारण इनके व्यक्तित्व में एक अपूर्व आकर्षण आ गया था और लोग इनकी ओर स्वभावतः खिंच जाया करते थे। प्रसिद्ध है कि आगरा के बहुत लोगों ने इनके मकान की ओर से आना-जाना केवल इसलिए छोड़ रखा था कि कहीं उनके द्वारा प्रभावित न हो जायँ। अपने मकान पर ये कुछ दिनों तक एक रोगी की दशा में रहते रहे। अंत में सं० १९५५ सन् १८९८ ई० के ६ दिसंबर को सायंकाल ६ बजे कर ४५ मिनट पर इन्होंने अपने शरीर का त्याग किया। उस समय इनकी अवस्था लगभग ७ वर्ष की हो चुकी थी। जिस 'प्रेमविलास' नामक मकान में इनका शरीरांत हुआ उसी में इनकी समाधि भी बना दी गई और आगरे में इनके नाम पर 'हुजूरीबाग' नाम से एक बाग भी लगाया गया। हुजूर महाराज साहेब के समाधि-स्थान पर प्रति वर्ष २७वीं दिसंबर को एक मेला किया जाता है, जिसमें दूर-दूर के भी सत्संगी आकर सम्मिलित होते हैं।

(३) ब्रह्मशकर मिश्र महाराज साहेब आदि सत

ब्रह्मशकर मिश्र सक्षिप्त परिचय

सत ब्रह्मशकर मिश्र अथवा 'महाराज साहेब' का जन्म काशी के मुहल्ला पियरी-निवासी एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुल मे चैत्र वदी २ स० १९१७ सन् १८६१ ई० की २८वी मार्च को हुआ था। आपके पिता का नाम रामयश मिश्र था जो सस्कृत के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। ये अपने गुरु 'हुजूर महाराज साहेब' की ही भाँति सदा गृहस्थाश्रम मे रहते रहे। इन्होने कलकत्ता-विश्वविद्यालय से एम० ए० कक्षा की डिग्री प्राप्त की थी। इनके अन्य तीन भाई भी एम० ए० थे। ये कुछ दिनो तक बरेली कालेज मे प्रोफेसर रहे और कई वर्षो तक इलाहाबाद के एकाउटेंट जेनरल आफिस में नौकरी करते हुए भी अपनी आध्यात्मिक साधना तथा सत्सग मे निरत रहे थे। ये सर्वप्रथम स्वामीजी महाराज के ग्रथ 'सार वचन' (नसर) से बहुत प्रभावित हुए थे। इन्होने 'हुजूर महाराज साहेब' से स० १९३२ मे दीक्षा ग्रहण की और उनके चोला छोडने पर स० १९५५ से लेकर स० १९६४ तक उनके उत्तराधिकारी बन कर इलाहाबाद केन्द्र मे सत्सग कराते रहे। कुछ काल के लिए कराची तथा हैदराबाद (सिंध) मे रह कर अपने निधन-काल के प्रायः डेढ वर्ष पूर्व ये काशी मे चले आये थे। यही पर आश्विन शुक्ल ५ स० १९६४ को परम धाम सिधारे थे। आपका समाधि-मदिर काशी मे कबीरचौरा मुहल्ले मे वर्तमान है जो 'स्वामी बाग' के नाम से प्रसिद्ध। वहाँ प्रतिवर्ष आश्विन शुक्ल पचमी तथा नवमी को इनका भडारा हुआ करता है। इन्होने अँगरेजी भाषा मे 'डिस्कोर्सेज ऑन राधास्वामी फेथ' नामक एक पुस्तक की रचना आरभ की थी जो चार प्रकरणो तक आकर अधूरी रह गई। इसके अतर्गत सच्चे धर्म, आध्यात्मिक उन्नति, सृष्टि-विकास तथा कर्मवाद के विषय मे बडी गभीर और विस्तृत विवेचना की गई मिलती है। इसके अत मे परिशिष्ट के रूप मे राधास्वामी-सत्सग का सक्षिप्त परिचय तथा उसकी केन्द्रीय प्रबध-समिति के वैधानिक नियमो का सार भी दिया गया है। इसी प्रकार, सबसे अत मे इनकी कुछ हिंदी पद्य-रचना के भी उदाहरण प्रकाशित हैं, जो चौपाइयो, दोहो तथा सोरठो के रूप मे पाये जाते हैं।

बुआजी साहिबा तथा उनके शिष्य

'महाराज साहेब' का देहात हो जाने के अनतर उनकी बडी बहन श्रीमती माहेश्वरी देवी अथवा 'बुआजी साहिबा' उनकी गद्दी पर बैठी। परन्तु महाराज साहेब के अन्य दो शिष्यो अर्थात् मुशी कामताप्रसाद तथा ठाकुर अनुकूल चन्द्र चक्रवर्ती ने भी प्राय उसी समय अपनी अलग-अलग गद्दियाँ क्रमश आगरा तथा पबना (पूर्व

बंगाल) में स्थापित कर दी और प्रयाग की गद्दी से उनका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं रह गया। बुआजी साहिबा का पीहर तथा ससुराल दोनों काशी मे ही थी और आप सदा गृहस्थाश्रम म रहती रही। इन्हे हिंदी तथा संस्कृत की शिक्षा अधिकतर स्वाध्याय के आधार पर ही उपलब्ध हुई थी। अपनी योग्यता के कारण इन्होंने बड़-बड़े विद्वानों को भी अपना अनुयायी बना लिया था। आपकी आध्यात्मिक साधना भी बड़ी उच्च कोटि तक पहुँच चुकी थी। 'सुरत शब्दयोग' का अभ्यास ये बड़ी सफलता के साथ कराती थी। आप सं १९६४ में सद्गुरु के पद पर आसीन हुई। आपका देहात सं १९९९ की बैशाखी पूर्णिमा को रात के साढ़े बारह बजे लगभग ८९ वर्ष की अवस्था मे हुआ। उसी दिन इनका भडारा मनाया जाता है। इनके शरीर-त्याग करने पर इनकी प्रयाग की गद्दी पर माधवप्रसाद सिंह उर्फ 'बाबूजी साहब' बैठे। परन्तु इनके पुत्र योगेन्द्रशंकर तिवारी उर्फ 'भैयाजी साहब' ने अपनी एक गद्दी काशी म भी चलायी। इनका जन्म स १९१९ की कार्तिक कृष्ण २ शनिवार के दिन हुआ था। इनके पिता का नाम परमेश्वर दत्त तिवारी था। आपने किसी से भी दीक्षा ग्रहण नहीं की अपितु कुछ दिनो तक स्वयं साधना मे प्रवृत्त रह कर सं १८८५ की बसंत पंचमी से एक स्वतंत्र संत के रूप में अपने सत्संग का कार्य आरंभ कर दिया। आपने १२ ११ स्थानों पर रह कर अध्यापन-कार्य किया था किंतु धनोपार्जन की ओर कभी नहीं झुके। आपने दो पुस्तकें गद्य में तथा दो पद्य म लिखी है। इनमे मुख्य 'सारवेद' तथा 'शब्दवाणी' (२ भाग) है। इनकी गद्दी 'प्रेमाश्रम' नाम से प्रसिद्ध है।

मुंशी कामताप्रसाद तथा सर आनंदस्वरूप

'महाराज साहेब' के शिष्य मुंशी कामताप्रसाद गाजीपुर के निवासी थे। इन्हे ही बहुत लोग चतुर्थ संत-गुरु के रूप मे मानते है बुआजी साहिबा को नहीं मानते। मुंशी कामताप्रसाद 'सरकार साहिब' कहे जाते थे और उन्होंने अपना सत्संग चलाया था। ये सं १९६७ से संत सद्गुरु कहलाने लगे और सं १९७१ मे उनका देहात हो जाने पर उनके स्थान पर सर आनंद स्वरूप उर्फ 'साहेबजी' बैठे। इनका जन्म स १९३८ मे अंबाले के एक खत्री-परिवार मे हुआ था। आपकी प्रवृत्ति आध्यात्मिक बातो की ओर आपके बचपन से ही दीख पड़ने लगी थी। 'महाराज साहेब' के आगरा आने पर उनके दर्शन कर इन्होंने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली थी। ये पहले कुछ दिनो तक अबाले मे ही रहे और फिर आगरे मे इन्होंने कोई स्कूल खोलना चाहा। परन्तु आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ इनका ध्यान बराबर औद्योगिक उन्नति की ओर भी बना रहा। इसीलिए आगरे के निकटवर्ती 'दयालबाग' को जिसे इन्होंने स्वामीबाग के

ठीक सामने ही स्थापित किया था, उद्योग-धधे के एक प्रधान क्षेत्र का रूप दे डाला। उसके विविध कार्यों का एक सच्चे कर्मयोगी की भाँति आमरण निरीक्षण भी किया। 'दयालबाग' मे इस समय अनेक प्रकार के उद्योग-धधे नितात आधुनिक ढग से चलते है। उनके द्वारा देश की एक बहुत बडी कमी के पूरी होने की सभावना पायी जाती है। 'साहेबजी' का देहात स० १९९४ मे मद्रास मे रहते समय हुआ। उनके स्थान पर वर्तमान राय साहब गुरुचरनदास मेहता (जन्म-सवत् १९४२) रिटायर्ड सुपरिंटेंडेंट इजीनियर (पजाब), उर्फ 'मेहताजी' साहब बैठे। साहेबजी की रचनाओ की सख्या कम नही हैं और वे विभिन्न प्रकार की है। इनमे से एक मुख्य रचना 'स्वराज्य' नामक एक नाटक है जो रूपक (Allegory) के रूप मे लिखा गया है।

महर्षि शिवव्रत लाल

'हुजूर महाराज साहेब' के एक अन्य शिष्य महर्षि शिवव्रत लाल थे, जिन्होने उनका देहात हो जाने पर अपनी गद्दी स० १९७८ में गोपीगज में चलायी थी। ये एक बडे योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति थे और आध्यात्मिक विषयो की व्याख्या कर उन्हें सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने की सदा चेष्टा किया करते थे। ये बहुधा प्रवचन दिया करते थे और उससे भी अधिक भिन्न-भिन्न ग्रथो की रचना करते जाते थे, जिस कारण इनकी कृतियो की सख्या बहुत बडी हो गई। 'राधा-स्वामी-सत्सग' के कदाचित् किसी भी व्यक्ति ने आज तक इनके समान ग्रथ-निर्माण न किया होगा, न प्रचार में ही लगा होगा। इन्होने कबीर-पथ के सर्वमान्य ग्रथ 'बीजक' की टीका लिखी तथा भिन्न-भिन्न सतो की जीवनी के साथ-साथ उनकी अनेक रचनाओ को भी सगृहीत किया। इन्होने गूढ आध्यात्मिक विषयो के स्पष्टीकरण के लिए उपन्यास, उपाख्यान, काल्पनिक सवाद, निबध, चुटकुलो आदि की रचना भी की थी। अपने विचारो के प्रचार के लिए इन्होनें 'साधु', 'फकीर', 'सत', 'सतसमागम'-जैसे पत्रो तथा विार-मालाओ का प्रकाशन आरभ किया था। 'अवधूत गीता', 'श्रीमद्भागवद्गीता' आदि ग्रथो के आपने सत-मत के आधार पर अनुवाद भी किये थे। इनका देहात स० १९९६ में पूर्ण वृद्ध होने पर हुआ था। इसी प्रकार इनका जन्म-समय स० १९१६ बतलाया जाता है।

माधवप्रसाद सिह तथा बाबूजी साहब

बुआजी साहिबा के समय तक 'महाराज साहेब' की शाखा का केन्द्र प्रयाग ही समझा जाता था। माधवप्रसाद सिह उर्फ 'बाबूजी साहेब' ने भी इसी कारण अपना सत्सग पहले वही आरम्भ किया था। किन्तु स० १९९४ में ये भी

आगरे चले आए। 'बाबूजी साहब' का जन्म मिती जेठ सुदी १२ सं० १९१८ १९ जून सन् १८६१ को बुधवार के दिन हुआ था। ये 'स्वामीजी महाराज' की बड़ी बहन के पौत्र होते थे और इनका जन्मस्थान काशी था। ये 'महाराज साहब' से केवल तीन महीने छोटे थे क्वीस कालेज में उनके सहपाठी थे और उनके साथ ही प्रयाग में एकाउंटेंट जनरल के आफिस में नियुक्त भी हुए थे। आगरा आने पर इन्होंने इसे ही स्वामी केन्द्र बना लिया और 'स्वामीबाग' में स्वामी जी महाराज की समाधि के निकट सत्संग कराने लगे। कहते हैं कि इन्हें सर्वप्रथम स्वय स्वामीजी महाराज ने सं० १ १ में उपदेश दिया था। आगे चल कर इन्होंने अपने परम मित्र 'महाराज साहब' को ही अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया था। इनके अनुयायियों ने 'स्वामी बाग' वाले केन्द्र को ही सदा सर्वप्रधान केन्द्र माना और उसकी सारी सपत्ति का इन्हें ही अधिकारी समझा। अतएव उसके निकटस्थ 'दयालबाग' की शाखा वालों से इनकी प्रतिद्वन्द्विता बनी रही। दोनों शाखाओं का मतभेद यहाँ तक बढ़ गया कि दोनों के बीच मुकदमे बाजी तक हुई जिसका फैसला प्रिवी कौंसिल तक जाकर सन् १९३५ ई० में हुआ।[1] बाबूजी साहब ८८ वर्षों से अधिक समय तक जीवित रहे और 'सत्संग' की बहुत कुछ उन्नति कर स० २ ६ में परमधाम सिधारे। 'बाबूजी साहब' ने कोई पुस्तक नहीं लिखी किंतु उनके प्रवचनों के कुछ सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

विकेन्द्रीकरण रामबृन्दावन तथा जैमलसिंह

राधास्वामी सत्सग की प्रधान शाखाएँ अधिकतर केवल दो ही समझी जाती हैं जिनमें एक 'स्वामीबाग' तथा दूसरी 'दयालबाग' की है। परन्तु इन दोनों के अतिरिक्त आजकल कुछ अन्य भी ऐसे वर्ग वर्तमान हैं जिनका कुछ-न-कुछ संबंध 'सत्सग' से रहा है। ऐसे ही उप-सम्प्रदायों में सं गाजीपुर, गोपीगंज तथा काशी के सत्सगों की चर्चा पहले की जा चुकी है। मुख्य 'राधास्वामी सत्सग' आगरा से पृथक होने की प्रवृत्ति बहुत पहले से ही दीख पड़ने लगी थी। जहाँ तक पता है स्वामीजी महाराज' के समय से ही स्वय उनके भाई राय बृन्दावन ने एक 'बृन्दावनी-सम्प्रदाय' कायम कर लिया था। इसमें 'राधास्वामी' नाम के स्थान पर 'सतगुरराम' नाम स्वीकार किया गया था। राय बृन्दावन के अतिरिक्त एक दूसरे जिस व्यक्ति ने नवीन केन्द्र स्थापित किया वे बाबा जैमल सिंह थे जो

1 See 1935 A. W R & 677 (Patel Chhotabhai vs Jivanchandra Basak) P C.A No 70 of 1932 against Allahabad H.C. dec ion in appeal No 36 of 1929 out of a su t decreed dated 30-11 26 passed by the Sub-Judge Benares

स्वामीजी महाराज के ही शिष्य थे। वावा जैमलसिंह फौज के सिपाही रह चुके थे। एक वार अपनी पलटन के आगरा आने पर उन्हें स्वामीजी महाराज द्वारा 'ग्रथ साहिव' की व्याख्या सुनने का अवसर मिला था। इससे प्रभावित होकर उन्होने नौकरी मे पृथक् होकर साधु-भाव स्वीकार कर लिया था। वावा जैमल सिंह सिक्ख-धर्म में दीक्षित रह चुके थे। इस कारण उन्होने न तो 'सत्तनाम' की टेक छोडी, न 'ग्रथ साहव' से नाता ही तोडा। 'राधास्वामी' के स्थान पर "जोत निरजन ओंकार रार सोह सत्तनाम' का ही सुमिरन सदा करते रह गए"। उनकी मृत्यु स० १९६० में हुई जिसके अनतर उनकी मुख्य गद्दी 'डेरा व्यास' वाली से पृथक् होकर एक दूसरी तरनतारन मे वन गई। व्यासवाली गद्दी तव से सरदार सावन सिंह के अधिकार में आ गई और तरनतारन वाली गद्दी के गुरु सरदार वग्गा सिंह हो गए। सरदार वग्गा सिंह का देहात हो जाने पर वावा देवासिंह तरनतारन की गद्दी पर वैठे। परन्तु सवध प्राय पूर्ववत् ही चला आया।

वाबू शामलाल

'राधास्वामी' नाम को स्वीकार न करनेवाले सत्सगियो में एक नाम वावू शामलाल वी० ए० का भी लिया जाता है जो ग्वालियर के रिटायर्ड हेड मास्टर थे। उन्होने स० १९८७ के लगभग 'धारासिंह प्रताप' का नाम स्वीकार कर लिया था। ग्वालियर मे रह कर उन्होने भी अपनी एक शाखा चलाने की चेष्टा की थी, किंतु उनके उपदेशो का प्रचार वहुत अधिक न हो सका। आजकल उनके अनुयायियो के सवध में वहुत पता नही चलता।

वावा गरीवदास तथा अनुकूल वावू

ऐसे लोगो में जिन्होने 'राधास्वामी' नाम का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी मूल केन्द्र से पृथक् हो जाना उचित समझा था, वावा गरीवदास तथा अनुकूल चन्द्र चक्रवर्ती के नाम लिये जाते हैं। वावा गरीवदासजी सभवत आँख के अधे थे और देहली के सराय रुहेला में रहा करते थे। उनकी मृत्यु के अनतर वावा रामविहारी दास उनकी गद्दी पर वैठे, किंतु उनके विषय में अधिक पता नही चलता। अनुकूल वावू जिला पवना (वगाल) के निवासी थे और उनकी माता भी सत्सग द्वारा प्रभावित थी। परन्तु उनकी शाखा के सवध मे भी विशेष ज्ञात नही होता। उक्त दोनो शाखाओ की जानकारी रखनेवालो का केवल यही कहना है कि सत्सग के मुख्य ध्येय से वे अव अलग जाती हुई जान पडती हैं। वावा गरीवदास के अनुयायियो में अधिकतर झाड-फूंक की व्यवस्था चल निकली है और अनुकूल वावू के अनुयायी वैष्णवो की भाँति कीर्त्तन करते है। इन दोनो शाखाओ का प्रत्यक्ष सवध आगरे से कदाचित् नही है।
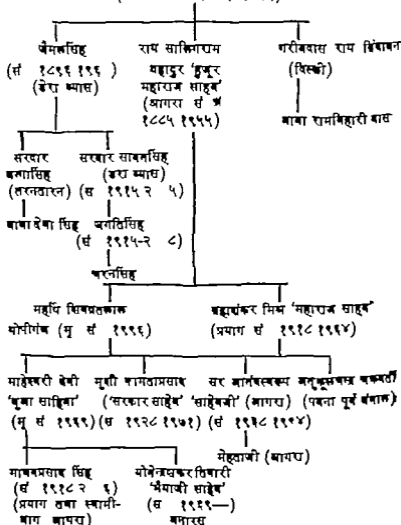
(४) सत्संग-वंशावली

(५) सत्संग का मूल-मत

मत का मूल रहस्य

'राधास्वामी' शब्द स्वयं परमात्मा अथवा सबसे उच्चतम पद परात्पर के

स्थूल भौतिक पदार्थों का अधिकार लेकर उक्त तरंग की एक लहर का रूप ग्रहण करता है और वही हिन्दुओं का 'ब्रह्म' है। मनुष्य इस प्रकार मूलतः उस परात्पर सागर के एक शुद्ध बिंदु का स्वरूप है जो भौतिक प्रपंचों के संसर्ग में आकर बंधन में पड़ गया है। इसका उद्धार तभी संभव है जब वह उपर्युक्त भेद की सारी बातों से अवगत होकर किसी संत सद्गुरु के उपदिष्ट मार्ग से यत्न करना आरंभ करे। वह अपने वास्तविक मूल की ओर तभी उन्मुख होकर उसके दर्शनों के लिए प्रवृत्त हो सकेगा और अंत में उसका उद्धार होगा।

साधना

इसके लिए हमें चाहिए कि संत सद्गुरु की बतलायी 'युक्ति' के सहारे सर्वप्रथम अपना संबंध उक्त धारा के साथ जोड़ने की चेष्टा करें। इस प्रकार 'सुरतशब्द योग' के अभ्यास द्वारा क्रमशः उस स्थिति तक पहुँच जायँ जिसके आलोक से ही हमें अपने अभीष्ट आनंद की उपलब्धि हो सकेगी। इसी कारण मूल 'शब्द' के प्रकट होकर चतुर्दिक विकीर्ण होनेवाली धारा में निहित उसके सूक्ष्म रूप को पहले श्रवण करना ही साधक का प्रधान ध्येय रहा करता है। उसे श्रवण करने का अभ्यासी होकर वह उस मूल शब्द के गुणों से क्रमशः परिचित होने लगता है और उसे एक अद्भुत शीतलता तथा निर्मलता का अनुभव होता है। अपने अभ्यास के दृढ़तर होते जाने पर कुछ काल के अनंतर उसकी चेतन ज्ञानेन्द्रियाँ आप-से आप जागृत हो उठती हैं और उसका हृदय मधुमय हो जाता है। सबसे पहले भिन्न-भिन्न भौतिक वस्तुओं वा सांसारिक प्रपंचों के साथ जुड़े हुए मन की वृत्तियों को हटा कर उन्हें किसी प्रतीक पर केन्द्रित करना पड़ता है। साधक अपनी आँखें बंद कर उनके मध्यबिंदु पर अपने विचारस्रोत को सम्मिलित करता है तथा 'राधा स्वामी' 'राधा सोआमी' का मंत्र उच्चारण करता हुआ अपने सद्गुरु के रूप वा दीपक की लौ की कल्पना कर वहाँ प्रतिष्ठित करता है। इसके उपरांत वह अपने दोनों हाथों को अपने ललाट पर रख कर उनकी कनिष्ठिकाओं को दोनों आँखों के बीच लगाता है और इसके दोनों अँगूठों द्वारा अपने दोनों कानों को बंद कर देता है। तदनुसार उसे क्रमशः घंटिका आदि की ध्वनि सुन पड़ने लगती है और अंत में उस 'अनाहत' शब्द का भी अनुभव हो जाता है जो अन्य का आश्रय है। यह 'संत-मत' इसी कारण तीन प्रकार के साधनों का प्रयोग करता है जिन्हें क्रमशः 'सुमिरन' 'ध्यान' तथा 'भजन' कहा जाता है। 'सुमिरन' द्वारा मौन जप की सहायता से चित्त की वृत्ति को भगवान के प्रति उन्मुख करता है। 'ध्यान' के अभ्यास द्वारा उसे उस केन्द्र पर स्थिर करता है तथा 'भजन' द्वारा उसे शब्द ब्रह्म में लीन कर देता है।

लिए प्रयुक्त होता है। उस 'शब्द' के लिए प्रयोग में आता है जो सृष्टि के आदि मे सारे विश्व का मूल स्रोत बना था। उस 'सतगुरु' वा 'परमगुरु' के लिए व्यवहृत होता है जो इस भूतल पर उक्त परमात्मा के पूर्ण प्रतीक है तथा उस मत का नाम भी समझा जाता है जिसके मूलप्रवर्त्तक स्वामीजी महाराज थे। इस मत का मूल रहस्य इसके सृष्टि-रचना-सबधी विचारो मे निहित है। इसमें पिंड तथा मानव-शरीर को ब्रह्माड का ठीक अनुकरण समझा जाता है। इसी कारण जितने खडो वा उप-खडो की कल्पना पिंड में की जाती है, वे सभी 'ब्रह्माड' में भी माने जाते है। तदनुसार पिंड के तीन भिन्न-भिन्न प्रदेश माने गए हैं और उन्हें नीचे से क्रमश पिंड देश, ब्रह्माड देश तथा दयाल देश कहा गया है। इनमें से प्रथम प्रदेश का अधिकाश भौतिक है और चेतन का अश इसमें गौण रूप में ही वर्तमान है। द्वितीय प्रदेश में चेतन की प्रधानता है और भौतिक अश वहाँ पर गौण हो जाता है। इसी प्रकार तृतीय प्रदेश शुद्ध चेतन का देश है, जहाँ पर भौतिक अश कुछ भी नही पाया जाता। इन तीन प्रदेशो में भी क्रमश पाँच, छह, तथा सात उप-खडो की कल्पना की गई है। उन सबके पृथक्-पृथक् नाम दिये गए हैं। इन उप-खडो में सबसे उच्चतम वा परात्पर जो पद है, वह वास्तव में अज्ञेय है। किंतु उसका ज्ञान राधास्वामीदयाल के उन प्रतीको की सहायता से उपलब्ध हो सकता है, जो समय-समय पर नर-रूप में आया करते हैं। वह सबके लिए अन्यथा सर्वथा गुप्त हैं और जितने भी मत तथा सम्प्रदाय आज तक चले हैं, उनमें से किसका भी अनुयायी वहाँ तक नही पहुँचा है।

'सोआमी' तथा 'राधा'

सारी विश्व-रचना का मूलस्रोत सोआमी वा परम पिता है जो सबका आदि कारण भी है। वहाँ से चेतन-धारा के रूप में प्रवाहित होनेवाली शक्ति को 'राधा' कहा जाता है जो सबकी परममाता-स्वरूप है। यह 'राधा' उस 'सोआमी' को उसी प्रकार व्यक्त करती है, जिस प्रकार सूर्य की किरणें अपने मूलस्रोत सूर्य का पता दिया करती हैं। इन दोनो शब्दो अर्थात् 'सोआमी' तथा 'राधा' को मिला कर ही 'राधास्वामी' होता है। इस राधास्वामी का स्वरूप उक्त तीनो प्रदेशो में भिन्न-भिन्न प्रकार का रहा करता है। सबसे उच्चतम प्रदेश वा दयाल-देश में उसका कोई पृथक् व्यक्तित्व नही रहता। क्योकि वह एक अपार सागर की भाँति पूर्णत व्यापक तथा गभीर बना रहता है। उसके नीचे वाले प्रदेश या ब्रह्माड देश में वह उक्त सागर की एक हिलोर वा तरग की भाँति व्यक्तित्व धारण कर के विद्यमान रहता है। वही वेदांतियो का 'ब्रह्म', बौद्धो का 'निर्वाण' अथवा सूफियो का 'लाहूत' है। सबसे नीचे वाले पिंड-प्रदेश में वह

मत के प्रधान अंग

राधास्वामी सत्संग या पंथ के मुख्य चार अंग हैं जिन्हें 'पूरागुरु' 'नाम' 'सत्संग' तथा 'अनुराग' कहते हैं। 'पूरागुरु' से अभिप्राय संत सतगुरु वा साधु सतगुरु से है। स्वामीबाग के अनुसार 'संत सतगुरु' तथा 'राधास्वामी' में वस्तुतः कोई अंतर नहीं है, वहाँ दयालबाग उन्हें केवल इनका प्रतिनिधि मात्र अथवा निजाधार स्वरूप स्वीकार करता जान पड़ता है। किंतु यदि वह न मिले तो जो कोई उसका सच्चा सेवक विरह तथा अनुराग के साथ अभ्यास में लगनेवाला मिल जाय उससे उपदेश ग्रहण कर लेना चाहिए। 'कुल मालिक' राधास्वामी दयाल का निश्चय चित्त में धारण कर अभ्यास शुरू कर देना चाहिए। चित्त में सदा संत सतगुरु के मिलन की अभिलाषा रखनी चाहिए। क्योंकि वे परम दयाल हैं और प्रेमी तथा अभिलाषी को अपनी दया से अवश्य दर्शन देते हैं। 'नाम' शब्द से भी अभिप्राय उस सच्चे नाम से है, जो ध्वन्यात्मक रूप में सभी घटों में व्याप्त हो रहा है और जिसकी धार वह मानी जाती है। उसी से तमाम बदन तथा अंग-अंग चेतन है। इसी धार के संग सुरत अर्थात् जीव उतर कर पिंड-देश में ठहरा है। अंत समय पर इसी धार के साथ खिंच जाता है अर्थात् देह की मृत्यु हो जाती है। वही शब्द-स्वरूप में सकल रचना का आदि है और असल में शब्द और उसकी धार अर्थात् आवाज में कोई भेद नहीं है। यही नाम 'धुनी' है अर्थात् इसी को 'निजनाम' कहते हैं और इसे नामी के भेद के साथ समझना चाहिए। किसी का कृत्रिम नाम से काम नहीं चल सकता। 'सत्संग' में मुख्य अभिप्राय संत सतगुरु का सत्संग उनकी सेवा तथा उनके वचनों को ध्यानयोगपूर्वक सुनना और उनका दर्शन करना है। किंतु यह भी बाह्य सत्संग है। अंतर का सत्संग सतगुरु के वचनों का अपने भीतर मनन करना तथा उनके उपदेशों के अनुसार सुरत लगा कर घट में होती हुई शब्द-ध्वनि को श्रवण करना और मन को जबान से सच्चे नाम का सुमिरन करते हुए उसी स्वरूप का ध्यान करना कहलाता है। बाह्य सत्संग की आवश्यकता तभी तक है जब तक चित्त में प्रेम तथा शरधा पूरे न हो। ज्ञान और प्रेम प्रकट न हो लें। किंतु अंतर का सत्संग सदा करना चाहिए क्योंकि असल घर और शरीर में है। 'अनुराग' का भी मुख्य अभिप्राय "सच्चा प्रेम है जिसमें मालिक के दर्शनों के लिए लालायित होना तथा साथ ही सांसारिक सुखों से बच रहना भी सम्मिलित है।"[1]

---

[1] सार वचन उपदेश पृ० ११-१५।

ये तीनो शब्द प्राय उन्ही तीन क्रियाओ की ओर सकेत करते हैं जिन्हे साधारण योग की परिभाषा में क्रमश धारणा, ध्यान तथा समाधि कहा करते है।

भक्ति की प्रधानता

फिर भी 'राधास्वामी सत्सग' की मुख्य साधना वास्तव में भक्ति-प्रधान ही है। उसे साधारण प्रकार से उपासना वा तरीकत भी कहा करते हैं। इस मत के अनुसार उपासना या तो शब्द-स्वरूप राधास्वामी की हो सकती है अथवा सत गुरु वा साधु गुरु की भी की जा सकती है। 'सत सतगुरु' उनको कहते हैं जो सत्तलोक मे पहुँचे चुके हैं और 'परमसत' उनको कहते है जो राधा-स्वामी के मुकाम पर पहुँचे हैं। 'साधु गुरु' उनको कहते है जो ब्रह्म और पारब्रह्म के मुकाम तक पहुँचे हैं। किंतु जो व्यक्ति वहाँ तक भी न पहुँच सका हो, उसे केवल 'साधु', वा 'सत्सगी' कहा जाता है। इनमें से 'सतगुरु', 'परमसत' तथा 'साधुगुरु' का वास्तविक स्वरूप शब्द-स्वरूप है। उनमें तथा 'सत्तपुरुष' वा 'पारब्रह्म' मे कोई मौलिक भेद नही समझा जाता। इस कारण ऐसे गुरुओ की उपासना तथा सेवा शब्द-स्वरूप सत्तपुरुष की ही उपासना है जिसका विधान भी इस मत में किया जाता है। 'हुजूर महाराज साहेब' ने अपने प्रवचनो द्वारा वैराग्य से कही अधिक अनुराग तथा भक्ति पर ही जोर दिया था। उन्होने कहा था कि व्यर्थ तथा अनुचित वासनाओ का सयमित करना ही सच्चा वैराग्य है जो भक्ति तथा प्रेम का अभ्यास करते-करते स्वय उत्पन्न हो जाता है। भक्ति का एक आवश्यक अग दीनता है। "दीनता प्रेम का पैराहन है" तथा जिस प्रकार "गर्मी में रोशनी है, वैसे ही भक्ति मे दीनता है। मगर जैसे बगैर रगडने के रोशनी प्रकट नही होती, वैसे ही बगैर दु ख व तकलीफ के दीनता नही आती और जैसे स्टीम के बगैर कल नही चलती है, इसी तरह प्रेम और दीनता के बिना अतर में चाल नही चलती।"[1] इसी प्रकार भक्ति के लिए शरणापन्न होने की भावना भी नितात आवश्यक है। इसके द्वारा ही 'जाती प्रीति' जागती है और तब असली उपासना शुरू होती है। ससारी मुहब्बत प्रेम नही, प्रत्युत केवल मोह मात्र है। वह मन मे ही सबद्ध है, किंतु परमार्थी मुहब्बत सुरत की हुआ करती है। वही प्रेम है जिसकी धार की सहायता से सुरत मालिक की ओर पूरे उमग तथा उल्लास के साथ अग्रसर हुआ करती है। अतएव इस मत-मत ने भक्ति के लिए दीनता, प्रपत्ति तथा प्रेम को एक समान आवश्यक बतलाया है और इन तीनो को अपनाने का नियम भी प्रचलित किया है।

---

१ वचन परमपुरुष पूरनधनी महाराजा साहेब, बे० प्रे०, प्रयाग भा० १, पृ० १३-१४।

था। उसका यह भी कहना है कि इनका संबंध वृदावन के उन गुरुओं से भी था जो श्रीकृष्ण के अनुयायी होते हैं। तदनुसार ये तथा इनकी पत्नी कभी-कभी कृष्ण तथा राधा के रूप धारण कर अपने अनुयायियों के सामने उपस्थित होते थे। इन्हीं रूपों में इनकी पूजा भी हुआ करती थी। द्वितीय गुरु अर्थात् राय सालिगराम बहादुर या 'हुजूर महाराज साहेब' भी कभी-कभी कृष्ण बना करते थे। इस प्रकार सत्संग द्वारा स्वीकृत गुरु भक्ति मुख्यत वृदावन के गुरुओं की देन है।[1] डॉ फर्कुहर का यह भी अनुमान है कि स्वामीजी महाराज के गुरु तुलसी साहब थे। किंतु उक्त बातों के प्रमाण में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा है। इस बात में संदेह नहीं कि हुजूर साहेब की तीव्र बुद्धि तथा उनके विषय-प्रतिपादन की अपूर्व शक्ति ने सत्संग की उन्नति करके उसे सुदृढ सुव्यवस्थित बनाया था। उन्होंने सत्संग द्वारा अनुमोदित मत को अधिक-से अधिक स्पष्ट किया और उसकी संस्था को सुचारु रूप से संगठित भी किया। किंतु उक्त सभी बातों में वे अपने गुरु द्वारा अनुप्राणित हो चुके थे और इनके प्राय सभी कार्य उनके पथ प्रदर्शन-संबंधी संकेतों के अनुसार ही संपन्न किये गए थे। हुजूर महाराज साहेब के अनंतर महाराज साहेब ने स १९५९ में राधास्वामी-सत्संग की केंद्रीय सभा के संगठन तथा संचालन के लिए एक विधान का निर्माण किया और अनेक नियम तथा उप-नियम बना कर उनके अनुसार प्रबंध चलाने की एक परंपरा निश्चित कर दी। सत्संग के नियमानुसार उसके अनुयायियों का निवृत्ति-मार्ग स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, किंतु इस विधान में उसके साधुओं के लिए भी कुछ विशेष व्यवस्था की गई है।[2]

नैतिक नियम

राधास्वामी सत्संग के नैतिक नियम केवल वे ही माने गए हैं जो जीव को भौतिक जीवन से मुक्त कर उसे आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रवृत्त करें। तन्नुसार मांस तथा मादक वस्तुओं का सेवन मद्यकीसे अभ्यासावस्था का कारण अधिक निद्रा तथा व्यर्थालाप में कालयापन-जैसे कर्म निषिद्ध हैं। राजनीतिक आंदोलनों तथा समाजों में सम्मिलित होना अथवा मेले-जैसे प्रदर्शनों को देखने जाना भी उसी प्रकार त्याज्य है। इसकी सदस्यता के लिए अपने पूर्व धर्म का त्याग आवश्यक नहीं न अपनी जीविका की ओर से ही किसी प्रकार उदासीन होना अनिवार्य है। सत्संग के सभी सिद्धांत शुद्ध वैज्ञानिक तथा

१ डॉ जे एन फर्कुहर : माडर्न रिलिजस मूवमेंट्स पृ १६६।
२ डिस्कोर्सेज पृ १२९।

'राधास्वामी' का सर्वप्रथम प्रयोग

प्रसिद्ध है कि सत शिवदयाल सिंह अर्थात् स्वामीजी महाराज ने रावास्वामी नाम पहले प्रकट नही किया था। वे केवल 'सत्तनाम' अनामी तक का भेद प्रकट करते थे और उसी का उपदेश दिया करते थे, जैसा कि पिछले अन्य संतो के समय से भी चला आता रहा। जब सतराय सालिगराम वहादुर अर्थात् 'हुजूर महाराज साहेव' ने अपने सुरत शब्द के अभ्यास में उसकी ध्वनि सर्वप्रथम सुनी तथा उसके दर्शनो का अनुभव किया, तव उन्होने उस नाम से 'स्वामीजी महाराज' को ही पुकारना आरभ कर दिया। उस समय के अनतर उस 'रावास्वामी' नाम वा 'रावास्वामी' धाम का अभ्यास तथा उपदेश चलने लगे। 'हुजूर महाराज 'साहेव' ने इसे कहा है।[१] इस वात को स्वामीजी महाराज ने भी स्वीकार किया है, जो उनके वचन १४ से इस प्रकार प्रकट होता है, "फिर लाला परताप सिंह की तरफ मुतवज्जह होकर फरमाया कि मेरा मत तो सत्तनाम और अनामी का था और राधास्वामी मत सालिगराम का चलाया हुआ है। इसको भी चलने देना और सतसग जारी रहे और सतसग आगे से वढ कर होगा।" इसके पहले वचन १३ मे कहा गया है, "फिर सुदर्शनसिंह ने पूछा कि जो कुछ पूछना होवे तो किससे पूछें" उस पर फरमाया कि "जिस किसी को पूछना होवे, वह सालिगराम से पूछै।"[२]

सत्सग का विकास

डॉ० जे० एन० फर्कुहर ने लिखा है कि सत शिवदयाल सिंह वा स्वामीजी महाराज का पूर्व-नाम तुलसीराम था। इन्होने वैष्णव-कुल में जन्म लिया

---

१ 'ढूढत ढढ़त बन बन डोली।
तब राधास्वामी की सुन पाई बोली ।।
प्रीतम प्यारे का दिया सदेसा।
शब्द पकड़ जाओ उस देशा ।।
कर सतसग खुलै हिये नैना।
प्रीतम प्यारे के सुने वही बैना ।।
जब पहिचान मेहर से पाई।
प्रीतम आप गुरु बन आई ।।'
—प्रेमबानी, भाग ३, शब्दसावन।

२ लाला प्रतापसिंह सेठ - जीवनचरित्र हुजूर स्वामीजी महाराज, पृ० ११३ पर उद्धृत।

याग के ब्याह से मिलता है"[1] जिससे भी उक्त संबंध की कोई पुष्टि होती नहीं जान पड़ती। परन्तु इनके गुरु जो भी रहे हों इनके उपलब्ध कथनों के आधार पर इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि इन्होंने उनके आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण की होगी। संत तुलसी साहब की रचना 'घट रामायण' को प्रकाशित कराते समय जो इन्होंने उसकी भूमिका लिखी है[2] उससे इस पर प्रकाश पड़ सकता है। इस बात का कुछ-न-कुछ समर्थन इनके द्वारा की गई उस 'टीका' से भी किया जा सकता है जो इन्होंने 'बालकांड का आदि और उत्तर का अंत' नाम से तुलसीदास की प्रसिद्ध रचना 'रामचरित मानस' के आधार पर लिख कर प्रकाशित की है। इनके 'सदुपदेशों का सारांश' बतलाते हुए परमहंस मेंहीँदास ने कहा है कि ये सभी संतों के प्रति श्रद्धा भाव रखते थे। उनके मत को 'संतमत' का नाम देते थे तथा 'सत्संग' शब्द से इनका अभिप्राय 'ईश्वर भक्ति का उपदेश' था। चाहे कोई किसी भी धर्म वा सम्प्रदाय का हो उसे बराबर 'ध्यानाभ्यास' में निरत रहना चाहिए। इनका 'दृष्टियोग' (दृष्टि साधन) तथा इनका 'शब्द योग' (शब्द साधन) कबीर साहब द्वारा अनुमोदित साधनाओं से भिन्न नहीं कहला सकते। जिस प्रकार संगीत-मंडली में बाजों को एक समान कस लेने पर उन सभी की ध्वनियों में एकता आ गई प्रतीत होती है और उन्हें पृथक्-पृथक् निरूपित करना कठिन है उसी प्रकार सभी शब्दों तथा ध्वनियों के मूल में हम सूक्ष्मतम 'सारशब्द' की कल्पना कर सकते हैं। वह सूक्ष्मतम नाद चिरकाल तक रहता है और उसमें आसक्त मनुष्य की मति भी उसी प्रकार स्थिरता प्राप्त कर ले सकती है।[3] तदनुसार बाबा देवी साहब ऐसी दशा प्राप्त करने के लिए उक्त 'शब्द योग' का उपदेश देते थे। इसके पूर्व उक्त 'दृष्टियोग' का अभ्यास कर लेने का आग्रह भी करते थे जिसके बिना इस प्रकार ध्यान करना अत्यन्त कठिन बन जा सकता है। बाबा साहब की एक अन्य विशेषता सभी के लिए जीवन में 'सदाचार' तथा 'स्वावलंबन' की आवश्यकता भी कही जा सकती है।

बाबा के प्रमुख शिष्य

बाबा देवी साहब के प्रमुख शिष्यों में बाबा भवन साहब धीरजलाल गुप्त (गुप्ती साहब) रामदास चौधुरी (ध्यानानंद) राजेन्द्रनाथ जी तथा मेंहीँदास

---

१ मेंहीँदास : भावार्थ सहित घट रामायण पूर्णिया १९३६ ई० पृ० २९।

२ दे० घट रामायण नवल किशोर प्रेस लखनऊ द्वारा सन् १८९६ में प्रकाशित।

३ श्री मेंहीँदास सत्संगामृत पूर्णिया १९५४ ई० पृ० २१४-४५।

अनुभवगम्य समझे जाते है। उन्हे स्वीकार करनेवाला मनुष्य किसी भी स्थिति मे रहता हुआ, अपने उद्धार के लिए यत्नशील हो सकता है। इन तथा कुछ अन्य इस प्रकार की बातो मे सत्सग थियोसाफिकल सोसाइटी के समान जान पडता है। अपनी कतिपय साधनाओ की दृष्टि मे भी ये दोनो प्राय एक ही प्रकार से कार्य करते हुए दिखलायी पडते हैं। इनके आध्यात्मिक वातावरणो में भी कदाचित् अधिक विभिन्नता नही है। सत्सग की सभाएँ अधिकतर शात तथा आडबरशून्य हुआ करती हैं। उनमें भजन, पाठ तथा प्रवचन के अतिरिक्त अन्य कोई कार्यक्रम नही रहता। इसके प्रत्येक अनुयायी के लिए सत सतगुरु अथवा उसके चित्रादि के समक्ष अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन मुख्य कर्त्तव्य माना जाता है। सत सतगुरु द्वारा स्पर्श की गई वा व्यवहार में लायी गई प्रत्येक वस्तु पवित्र तथा उपादेय है। उसे विना तर्क-वितर्क किये अपना लेना परम धर्म है।

प्रचार

'राधास्वामी-सत्सग' का न्यूनाधिक प्रचार भारत के प्राय प्रत्येक प्रात मे हो चुका है। उसके अनुयायियो की सख्या क्रमश बढती हुई ही दीख पडती है। इसकी रहस्यमयी अतरग कार्य-प्रणाली, इसकी प्राणायाम विहीन योग-साधना की बाह्य सरलता, इसका सादे तथा सद्‌भावपूर्ण व्यवहार की ओर अधिक झुकाव तथा आध्यात्मिक जीवन में भी समृद्धि-लाभ सबधी इसकी योजना इसके प्रति आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त साधन हैं।

५ सतमत-सत्सग

बाबा देवी साहब

सतमत-सत्सग को सर्वप्रथम प्रेरणा प्रदान करनेवाले बाबा देवी साहब समझे जाते है। इनका जन्म किसी समय स० १८९८ सन् १८४१ ई० मे हुआ था और जिनका देहात स० १९७६ सन् १९१९ ई० की १९ जनवरी को मुरादाबाद में हुआ। बाबा देवी साहब उसी नगर के 'अताई' मुहल्ले मे रहा करते थे और सत-मत के प्रचारार्थ प्राय बाहर भी जाते थे। इन्हें कही-कही सत तुलसी साहब का शिष्य समझ लिया गया जान पडता है[1] जो उनका देहात स० १८९९ वा १९०० तक में होना मानने पर सभव नही हो सकता। इसके लिए हमें वैसा कोई प्रमाण भी उपलब्ध नही है। इसके सिवाय इनके शिष्य परमहस मेंहीदास के अनुसार "बाबा देवी साहब तुलसी साहब से न तो भजनभेद लिये थे, न उनके 'शब्द योग' का ख्याल तुलसी साहब के इस

---

१ महर्षि मेंही अभिनदन ग्रथ, भागलपुर, १९६१ ई०, पृ० ३५८।

हो गया। इन्होंने बाबा साहब के आदेशानुसार अपनी साधना का अभ्यास बड़ी तत्परता के साथ किया जिसका परिणाम यह हुआ कि इनका चित्त स्थिर हो चला और इन्हें उनके 'संतमत' का भी पूरा बोध हो गया।

रचनाएँ

परमहंस मेंहीदास की प्रकाशित रचनाओं में (१) 'रामचरितमानस सार सटीक' (२) 'विनयपत्रिका सार सटीक' (३) भावार्थ सहित घटरामायण' (४) 'वेद दर्शन योग' (५) 'गीता योग प्रकाश' (६) सत्संगयोग' (७) 'संतमत सिद्धांत व गुरु कीर्त्तन (८) 'पदावली' तथा (९) 'वचनामृत' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रथम तीन के अंतर्गत इन्होंने क्रमशः तुलसीदास की रचना 'रामचरितमानस' तथा विनय पत्रिका' तथा संत तुलसी साहब की 'घटरामायण' के विशिष्ट स्थलों को चुन कर और उनकी विस्तृत व्याख्या करके उनके सार तत्त्व का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार इनमें से फिर अगली तीन रचनाओं में इन्होंने क्रमशः चारों वेद श्रीमद्भगवद्गीता तथा वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक धार्मिक ग्रंथों तक के प्रमुख अंशों को उद्धृत कर अथवा उन पर अपनी टीका लिख कर उनके द्वारा अपने मत का समर्थन किया है। शेष तीन में से प्रथम दो के अंतर्गत पद्यमयी रचनाएँ संगृहीत हैं और उनमें से पहली में कतिपय अन्य व्यक्तियों की भी बानियाँ आ गई हैं। किन्तु अंतिम पुस्तक में परमहंस मेंहीदास के केवल ऐसे २१ प्रवचन ही संगृहीत हैं जिन्हें इन्होंने भाषणों के रूप में दिया होगा। इनकी उपर्युक्त प्रथम तथा तृतीय रचनाओं को देख कर हमें स्वभावतः इनके गुरु बाबा देवी साहब द्वारा लिखी गई वो ऐसी ही पुस्तकों का स्मरण हो आता है। इनके निर्माण का भी उद्देश्य मूलतः वही रहा जो इनका है। इसी प्रकार इनके ग्रंथ 'सत्संगयोग' को पढ़ते समय भी हमें प्रधानतः उस रचना-शैली का ही एक सुव्यवस्थित उदाहरण मिलता है जैसे संत तुलसी साहब ने कहीं कहीं अपनी 'घट रामायण' के अंतर्गत अपनाया है। जहाँ तक प्राचीन ग्रंथों पर की गई टीकाओं अथवा उन पर लिखे गए विस्तृत भाष्यों का प्रश्न है, इनके उदाहरण हिंदी के संत-साहित्य में अन्यत्र कदाचित् विरले ही होंगे। इन्हें देख कर हमें इनकी समानता के लिए मराठी के संत ज्ञानेश्वर तथा एकनाथ की रचनाओं की ओर दृष्टि डालनी पड़ सकती है।

विचार-धारा

परमहंस मेंहीदास की रचनाओं का अध्ययन कर लेने पर पता चलता है कि इनकी विचार धारा अन्य संतों की ही जैसी है। ये परमतत्त्व आदि का वर्णन प्रायः उन्हीं शब्दों में करना चाहते हैं जिनके प्रयोग संत कबीर साहब के समय

(परमहस वा महर्षि) के नाम लिये जाते हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् बाबा नदन साहब समवत उनके पट्ट शिष्य तथा उत्तराधिकारी थे तथा इन्होने उनकी एक जीवनी भी लिखी है। इसी प्रकार द्वितीय अर्थात् धीरजलाल गुप्त के लिए कहा गया है कि ये रामदास चौधरी की भाँति ग्राम जोतम राम, (जिला पूर्णिया) के निवासी रहे है। इन दोनो मित्रो के द्वारा बाबा साहब के उपदेशो का प्रचार इस ओर विशेष रूप से हुआ। इन दोनो की ही प्रेरणा पाकर मेंहीदासजी भी 'सतमत' की ओर उन्मुख हुए तथा पीछे चौथे राजेन्द्रनाथ ने उनका पथ-प्रदर्शन किया। स्वामी मेंहीदास को इन अपने गुरु-भाइयो की ओर से सदा प्रोत्साहन और सहयोग मिलता आया जिसके फलस्वरूप ये अपनी विशिष्ट योग्यता के अनुसार कार्य करते हुए सर्वप्रसिद्ध हो गए।

परमहस मेंहीदास

परमहस स्वामी मेंहीदास का पूर्व-नाम 'रामानुग्रह लाल दास' था। इनके पिता बबुजन लाल दास जाति के कायस्थ थें। बबुजन लाल दास ग्राम सिकलीगढ घरहरा, जिला पूर्णिया के निवासी थे। जो बनैली राज्य के एक कर्मचारी भी रहे। रामानुग्रह लाल का जन्म इनके नानिहाल ग्राम 'खोखसी श्याम', जिला सहरसा मे फसली सन् १२९२ अर्थात् स० १९४२ सन् १८८५ ई० की वैशाख शुक्ल १४ को हुआ। जब ये केवल ४ वर्ष के ही रहे, इनकी माता का देहात हो गया। इन्हें पूर्णिया नगर के किसी स्कूल में एट्रेंस तक की शिक्षा मिली थी जिसका इन्होने सन् १९०४ ई० के परीक्षा-काल में त्याग कर दिया। इसके पहले से ही इनकी विशेष प्रवृत्ति 'रामचरितमानस'-जैसे धार्मिक ग्रथो की ओर हो चली थी। ये साधु-सतो के सपर्क में आना पसद करने लग गए थे तथा ये एक दरिया-पथी योगी रामानद से सन् १९०२ ई० में दीक्षा भी ले चुके थे। परन्तु केवल इतने से ही इनकी 'आध्यात्मिक' जिज्ञासा की तृप्ति नही हो पा रही थी जिस कारण ये किसी सद्गुरु की खोज में निकल पडे। तदनुसार ये विराटगढ (नेपाल राज्य), अयोध्या, घरकधा (दरिया-पथी प्रधान केन्द्र), दामाखेडा (छत्तीसगढी कबीर-पथ का प्रधान केन्द्र)-जैसे अनेक प्रसिद्ध स्थानो की यात्रा करते फिरे, किंतु इन्हें कही भी शाति नही मिल सकी। अत में, जब इन्हे बाबा देवीसाहब का पता चला तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग 'दृष्टियोग' की 'भजन-भेद-विधि' का परिचय इन्हें भागलपुर निवासी राजेन्द्र बाबू की सहायता से स० १९६६ सन् १९०९ ई० में मिल सका तो इनको कुछ सहारा हुआ। फिर उसी वर्ष राजेन्द्र बाबू ने इनसे बाबा देवीसाहब की भी भेंट करा दी। इनके यहाँ से इन्हें 'सुरत शब्द योग' की साधना का भी रहस्य सन् १९१२ ई० में प्राप्त

संत कबीर

से होते आए हैं। मुख्य अतर केवल इतना ही प्रतीत होता है कि पहले वाले सत लोग जहाँ अपनी निजी अनुभूति मात्र अथवा अपने पूर्ववर्त्ती सतो के कथनो की ओर कभी-कभी सकेत कर देते थे, वहाँ पर ये उपनिषद् आदि का भी हवाला दे दिया करते है। इस प्रकार ये सदा इस बात की भी चेष्टा करते रहते है कि अपने वक्तव्य को पूर्णत साधार तथा प्रामाणिक सिद्ध कर दें। इसके सिवाय ये अपने विचारो को भरसक अधिक-से-अधिक स्पष्ट कर देने का यत्न भी करते हैं। उदाहरण के लिए उस परमसत्ता का परिचय देते समय ये एक स्थल पर बतलाते हैं, "अपरा (जड) और परा (चेतन) दोनो प्रकृतियों के पार मे अगुण और सगुण पर अनादि अनत सरूपी, अपरपार शक्ति युक्त, देश कालातीत, शब्दातीत, नाम रूपातीत, अद्वितीय, मन, बुद्धि और इन्द्रियो के परे जिस परमसत्ता पर यह सारा प्रकृति-मण्डल एक महान् यत्र की नाई परिचालित होता रहता है जो न व्यक्ति है और न व्यक्त है। सत-मत मे उसे ही परम अध्यात्म पद वा परम अध्यात्म स्वरूपी परम प्रभु सर्वेश्वर (कुल्ल मालिक) मानते हैं।"[1] इन्होने इसी प्रकार उस अव्यक्त से व्यक्त हुए सर्वव्यापक 'आदि शब्द' के विषय मे भी कहा है, "इस शब्द के द्वारा परमप्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होता है, इसलिए इस शब्द को परमप्रभु का नाम, 'राम नाम' कहते है। यह सबमे सार रूप से है तथा यह अपरिवर्त्तनशील भी है। इसलिए इसको सार शब्द, सत्य शब्द और सत्य नाम हिंदी सत बानी मे कहा है और उपनिषदो मे ऋषियो ने इसी को ॐ कहा है। इसीलिए यह आदि शब्द ससार मे ॐ कह कर विख्यात है।"[2] जीवात्मा को इन्होने उस प्रभु परमेश्वर का 'अश' कहा है और बतलाया है कि यह उसी प्रकार उससे पृथक् जान पडता है जैसे घटाकाश वा महाकाश को 'नभ' से अलग समझ लिया जाता है।[3] दोनो के बीच तम, प्रकाश तथा शब्द के मानो तीन प्रकार के पट वा आवरण पडे हुए है जिन्हे 'दृष्टि' तथा 'धुनि' के योग की साधना द्वारा दूर कर देना चाहिए।"[4]

साधना

परमहस मेहीदास ने उस दृष्टि के भी चार भेद किये हैं और उन्हे 'जाग्रत',

---

१ सत्सग योग (चारो भाग), सन् १९४६ ई०, भा०४, पृ० ३।

२ वही, पृ० ६।

३ 'जीवात्म प्रभु का अश है, जब अश नभ को देखिये।
घट मठ प्रपचन जब मिटे नहीं अश कहना चाहिए—सतमत सिद्धात, पृ० २।

४ सतमत सिद्धांत, १९४९ ई०, पृ० ३।

क्रमशः 'मानस' तथा 'दिव्य' के अनुसार ३ नाम दिए हैं। इनका कहना है "दृष्टि के पहले तीनों भेदों के निरोध होने से मनोनिरोध होगा और दिव्य दृष्टि खुल जायगी। दिव्य दृष्टि में भी एक बिंदु पर रहने पर मन की स्थिति ऊर्ध्व गति होगी और मन सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाद को प्राप्त कर उसमें लय हो जायगा। जब मन लय होगा सुरत को मन का संग छूट जायगा। मन विलीन हो सारधारों में आकर्षित होती हुई निःशब्द में अर्थात् परम प्रभु सर्वेश्वर में पहुँच कर वह भी लीन हो जायगी। अंतर साधन की यहाँ पर इति हो गई। प्रभु मिल गया। काम समाप्त हुआ।"[1] इससे जान पड़ता है कि ये बाद में ही बहुत कुछ कह दिया करते हैं। इस प्रकार की साधना के प्रथम प्रयास का इन्होंने 'दृष्टियोग' का नाम दिया है। इन्होंने कहा है 'सर्वप्रथम गुरु का ध्यान करके तथा सकलेन्द्रिय का निरोध कर और 'बिंदु' का ध्यान रखते हुए अपने दोनों नेत्रों द्वारा सामने की 'बिंदु' (नासाग्र) पर दृष्टि केन्द्रित करो। सुषुम्ना में 'तिल तारा' के माध्यम से प्रकाश होता प्रतीत होगा और सुरत दशम द्वार को देखने लगेगी। प्रकाश में आश्चर्यजनक अनहद शब्द सुन पड़ेगा जिसमें तुम्हें लीन होने का प्रयास करना पड़ेगा। फिर तो 'सत्' की उपलब्धि हो जायगी।[2] इस 'दृष्टियोग' के अनंतर ही 'शब्दयोग' का भी क्रम आप-से-आप आ जा सकता है जिसे प्रायः 'सुरत शब्द योग' का भी नाम दिया जाता है। परमहंस जी ने ध्यानयोग की इन साधनाओं का वर्णन कई स्थलों पर बड़े स्पष्ट शब्दों में किया है। इन्होंने इन की सिद्धि को ही 'मोक्ष' का भी नाम दिया है। इन्होंने बतलाया है, "वास्तव में हृदय की अज्ञान-ग्रंथि के नाश हो जाने को ही 'मोक्ष' कहते हैं।"[3]

प्रचार-कार्य

बाबा देवी साहब द्वारा प्रचारित संत-मत को स्वीकार कर लेने पर परमहंस मेंहीदास ने अपने जीवन को तदनुसार ढाल दिया। उसके महत्त्व में पूर्ण विश्वास हो जाने के कारण इन्होंने उसका प्रचार-कार्य भी आरंभ कर दिया। ये जहाँ-कहीं भी जाते वहाँ के विशिष्ट व्यक्तियों के साथ विचार-विमर्श करते और प्रवचन दिया करते। तदनुसार इन्होंने कई बार अपना कार्यक्रम निश्चित किया तथा 'सत्संग' की नियमावली निर्धारित कर उसका संगठन करके अपने सहयोगियों के साथ उसके विशिष्ट अधिवेशन भी आरंभ कर दिये। इन्हें

---

१ सत्संग योग भा० ४ पृ० २९३।

२ संतमत सिद्धांत पृ० ३७-८।

३ सत्संग-योग भाग ३, पृ० ११९।

अपने कार्य मे इतना उत्साह था कि इन्होने अपने सद्गुरु का देहावसान हो जाने तथा योग्य गुरु-भाइयो के न रहने पर भी इसमे ढीलापन नही आने दिया। भ्रमण-कार्य के साथ-साथ आवश्यक साहित्य के निर्माण द्वारा भी उसे सदा आगे बढाने मे ही यत्नशील रहे। इन्होने इसके लिए प्राचीन ग्रथ जैसे वेद, उपनिषद्, गीता आदि से लेकर मध्यकालीन सतो की उपलब्ध बानियो का भी मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया। उनकी पारस्परिक तुलना द्वारा सामान्य सिद्धातो का निरूपण किया तथा उनमे निर्दिष्ट आध्यात्मिक साधनाओ मे एकरूपता का पता लगा कर उनके प्रतिपादन तथा स्पष्टीकरण का यत्न किया। ये बीच मे कभी-कभी आत्म-चितन करते थे, ध्यान-योग की साधना करते रहते थे और सर्वसाधारण को बराबर उस विशुद्ध चारित्र्य तथा स्वावलबी जीवन का उपदेश भी दिया करते थे जो इनके सद्गुरु के मत के प्रधान अग रह चुके थे। इन्होने जिन समकालीन महापुरुषो के साथ समय-समय पर विचार-विनिमय किया तथा जिनके सामने इन्होने अपने मत की विशेषताओ को लाकर उनका पूरी दृढता से समर्थन किया उनमे नाथ-पथी बाबा गभीरनाथ, राधास्वामी-सत्सग के साहेबजी, महर्षि शिवव्रत लाल वर्मन् तथा सत विनोबा-जैसे लोगो के नाम लिये जा सकते हैं।

प्रचार-क्षेत्र तथा विशेषता

'सतमत-सत्सग' का विशेष प्रचार विहार प्रात के पूर्णिया, भागलपुर तथा सहरसा-जैसे जिलो तथा उसके पश्चिमी अचल वाले क्षेत्र मे ही जान पडता है, किंतु इसका प्रभाव क्रमश अन्यत्र भी बढता जा रहा है। उत्तर प्रदेश का पश्चिमोत्तर भाग जहाँ देवी साहब का निवास-स्थान था तथा जहाँ से उनका इधर आना-जाना हुआ करता था इसके प्रसार-क्षेत्र का दूसरा छोर है। इन दोनो के मध्यवर्ती भू-भाग मे भी 'सत्सग' का सदेश स्वभावत सरलता पूर्वक पहुँचाया जा सकता है। इसे किसी सम्प्रदाय विशेष का रूप देने के प्रति कोई स्पष्ट आग्रह नही, क्योकि इसकी मूल प्रवृत्ति, विभिन्न प्रचलित सत-सम्प्रदायो की विचार-धारा मे समन्वय स्थापित कर उसे एक सुव्यवस्थित रूप देने की ही जान पडती है। इस बात की ओर सर्वप्रथम, सत तुलसी साहब ने ध्यान दिलाया था तथा उन्होने ऐसे धार्मिक वर्गो मे आ गई अनेक त्रुटियो को दूर करने का सुझाव भी उपस्थित किया था। परन्तु उनकी कथन-शैली मे बहुधा अप्रिय आलोचनाओ के भी आ जाते रहने के कारण, उसमे अच्छी सफलता नही मिल सकी। 'सतमत-सत्सग' की कार्य-पद्धति अधिकतर मडनात्मक तथा तर्क-प्रधान ही प्रतीत होती है। इस कारण यह बहुत कुछ कृतकार्य भी हो सकता है। इसकी अन्य विशेपताओ मे सर्वसाधारण का ध्यान 'सदाचार' तथा 'स्वावलबन' की ओर समुचित ढग से दिलाना है। इस बात के

स्वप्न' 'मानस तथा दिव्य' के अनुसार ४ नाम दिये हैं। इनका कहना है "दृष्टि के पहले तीना भेदा के निरोध ज्ञान से मनोनिरोध होगा और दिव्य दृष्टि खुल जायगी। दिव्य दृष्टि म भी एक बिंदु ना रहने पर मन को विशय उच्च गति होगी और मन सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाद को प्राप्त कर उसम रम हो जायगा। जब मन रम होगा सरल को मन का संग छूट जायगा। मन विहीन हो शब्दधारा से आकर्षित होती हुई निःशब्द में अर्थात् परम प्रभु सर्वेश्वर में पहुँच कर वह भी लीन हो जायगी। अंतर साधन की यहाँ पर इति हो गई। प्रभु मिल गया। काम समाप्त हुआ।"[1] इससे जान पड़ता है कि ये थोड़े म ही बहुत कुछ कह दिया करते हैं। इस प्रकार की साधना के प्रथम प्रमाण को इन्होंने 'दृष्टियोग' का नाम दिया है। इन्होंने कहा है 'सर्वप्रथम गुरु का ध्यान करके तथा श्रवणेन्द्रिय को निर्मल बना कर और 'बिंदु' का ध्यान रखते हुए अपने दोनों नेत्रों द्वारा सामने की 'बिंदु' (नासाग्र) पर दृष्टि केन्द्रित करो। सुषुम्ना म 'तिल तारा' के माध्यम से प्रकाश होता प्रतीत होगा और सुरत दशम द्वार को देखने लगेगी। प्रकाश में आश्चर्यजनक अनहद शब्द सुन पड़ेगा जिसमें तुम्हें लीन होने का प्रयास करना पड़ेगा। फिर तो 'सत्' की उपलब्धि हो जायगी।"[2] इस 'दृष्टियोग' के अनंतर ही 'शब्दयोग' का भी क्रम आप-से-आप आ जा सकता है जिसे प्राय 'सुरत शब्द योग' का भी नाम दिया जाता है। परमहंस जी ने ध्यानयोग की इन साधनाओं का वर्णन कई स्थलों पर बड़े स्पष्ट शब्दों म किया है। इन्होंने इस की सिद्धि का ही 'मोक्ष' का भी नाम दिया है। इन्होंने बतलाया है "वास्तव में हृदय की अज्ञान-ग्रंथि के नाश हो जाने को ही 'मोक्ष' कहते हैं।"[3]

प्रचार-कार्य

बाबा देवी साहब द्वारा प्रचारित संत-मत को स्वीकार कर लेने पर परमहंस मेंहीदास ने अपने जीवन को तदनुसार ढाल दिया। उसके महत्त्व में पूर्ण विश्वास हो जाने के कारण इन्होंने उसका प्रचार-कार्य भी आरंभ कर दिया। ये जहाँ-कहीं भी जाते वहाँ के विशिष्ट व्यक्तियों के साथ विचार-विमर्श करते और प्रवचन दिया करते। तदनुसार इन्होंने कई बार अपना कार्यक्रम निश्चित किया तथा 'सत्संग' की नियमावली निर्धारित कर उसका संकलन करके अपने सहयोगियों के साथ उसके विशिष्ट अधिवेशन भी आरंभ कर दिये। इन्हें

---

१ सत्संग योग भा ४ पृ २९१।
२ संतमत सिद्धांत पृ १७-८।
३ सत्संग-योग भाग ३ पृ १३९।

अपने कार्य मे इतना उत्साह था कि इन्होने अपने सद्‌गुरु का देहावसान हो जाने तथा योग्य गुरु-भाइयो के न रहने पर भी इसमे ढीलापन नही आने दिया। भ्रमण-कार्य के साथ-साथ आवश्यक साहित्य के निर्माण द्वारा भी उसे सदा आगे बढाने मे ही यत्नशील रहे। इन्होने इसके लिए प्राचीन ग्रथ जैसे वेद, उपनिषद्, गीता आदि से लेकर मध्यकालीन सतो की उपलब्ध बानियो का भी मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया। उनकी पारस्परिक तुलना द्वारा सामान्य सिद्धातो का निरूपण किया तथा उनमे निर्दिष्ट आध्यात्मिक साधनाओ मे एकरूपता का पता लगा कर उनके प्रतिपादन तथा स्पष्टीकरण का यत्न किया। ये बीच मे कभी-कभी आत्म-चितन करते थे, ध्यान-योग की साधना करते रहते थे और सर्वसाधारण को बराबर उस विशुद्ध चारित्र्य तथा स्वावलबी जीवन का उपदेश भी दिया करते थे जो इनके सद्‌गुरु के मत के प्रधान अग रह चुके थे। इन्होने जिन समकालीन महापुरुषो के साथ समय-समय पर विचार-विनिमय किया तथा जिनके सामने इन्होने अपने मत की विशेषताओ को लाकर उनका पूरी दृढता से समर्थन किया उनमे नाथ-पथी बाबा गभीरनाथ, राधास्वामी-सत्सग के साहेबजी, महर्षि शिवव्रत लाल वर्मन् तथा सत विनोबा-जैसे लोगो के नाम लिये जा सकते हैं।

प्रचार-क्षेत्र तथा विशेषता

'सतमत-सत्सग' का विशेष प्रचार बिहार प्रात के पूर्णिया, भागलपुर तथा सहरसा-जैसे जिलो तथा उसके पश्चिमी अचल वाले क्षेत्र मे ही जान पडता है, किंतु इसका प्रभाव क्रमश अन्यत्र भी बढता जा रहा है। उत्तर प्रदेश का पश्चिमोत्तर भाग जहाँ देवी साहब का निवास-स्थान था तथा जहाँ से उनका इधर आना-जाना हुआ करता था इसके प्रसार-क्षेत्र का दूसरा छोर है। इन दोनो के मध्यवर्त्ती भू-भाग मे भी 'सत्सग' का सदेश स्वभावत सरलता पूर्वक पहुँचाया जा सकता है। इसे किसी सम्प्रदाय विशेष का रूप देने के प्रति कोई स्पष्ट आग्रह नही, क्योकि इसकी मूल प्रवृत्ति, विभिन्न प्रचलित सत-सम्प्रदायो की विचार-धारा मे समन्वय स्थापित कर उसे एक सुव्यवस्थित रूप देने की ही जान पडती है। इस बात की ओर सर्वप्रथम, सत तुलसी साहब ने ध्यान दिलाया था तथा उन्होने ऐसे धार्मिक वर्गों मे आ गई अनेक त्रुटियो को दूर करने का सुझाव भी उपस्थित किया था। परन्तु उनकी कथन-शैली मे बहुधा अप्रिय आलोचनाओ के भी आ जाते रहने के कारण, उसमे अच्छी सफलता नही मिल सकी। 'सतमत-सत्सग' की कार्य-पद्धति अधिकतर मडनात्मक तथा तर्क-प्रधान ही प्रतीत होती है। इस कारण यह बहुत कुछ कृत-कार्य भी हो सकता है। इसकी अन्य विशेषताओ मे सर्वसाधारण का ध्यान 'सदाचार' तथा 'स्वावलबन' की ओर समुचित ढग से दिलाना है। इस बात के

लिए उन्हें तैयार भी करते रहना है कि वे अपने वास्तविक जीवनादर्श के पालन में कभी ढीलापन न आने दें। 'सत्संग' की अपनी साधना-संबंधी विशेषता 'दृष्टि योग' की उस प्रक्रिया में दीख पड़ती है जिसे ध्यान-योग का एक प्रारंभिक प्रयास कह सकते हैं। इसे 'सत्संग' ने संतों वाले 'सुरति शब्द योग' के लिए परमावश्यक माना है और इसकी ओर सभी ऐसे साधकों का ध्यान आकृष्ट किया है। वास्तव में इस मत के अनुसार बिना किसी प्रकार के ध्यान योग का अभ्यास किये हम कभी कोई वैसी सफलता प्राप्त ही नहीं कर सकते। इस वर्ग के अनुयायियों में प्रायः प्रत्येक बात को वैसी गोपनीयता दी जाती हुई भी हम नहीं पाते जिससे साम्प्रदायिक संकीर्णता को प्रश्रय मिले। 'संतमत-सत्संग' को हम वस्तुतः 'संत परंपरा' की एक नवीनतम कड़ी के रूप में देख सकते हैं तथा इसके भविष्य से कुछ आशा भी कर सकते हैं।

६. फुटकर संत

(१) स्वामी रामतीर्थ (सं० १९३० : सं० १९६३)

संक्षिप्त परिचय

स्वामी रामतीर्थ का जन्म पंजाब प्रांत के गुजरानवाला जिले के अंतर्गत मुरारी गाँव में हुआ था। ये सं० १९३० में उत्पन्न हुए थे और इनके पूर्वज 'गोसाईं' वंश के ब्राह्मण कहलाते थे जिनमें प्रसिद्ध तुलसीदास का नाम भी लिया जाता है। ये एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इन्हें पहले उर्दू तथा फारसी की शिक्षा दी गई थी किंतु आगे चल कर इन्होंने गणित के विषय में एम० ए० तक की डिग्री प्राप्त की। ये कुछ दिनों तक स्कूल तथा कालेज में अध्यापन का कार्य करते रहे। परन्तु कृष्ण भक्ति, गीतानुशीलन तथा वेदांत दर्शन की ओर इनका ध्यान क्रमशः अधिकाधिक आकृष्ट होता गया और इनके हृदय में एक अपूर्व भाव जागृत हो उठा। तदनुसार इन्होंने केवल अपनी २४ वर्ष की अवस्था में ही अपने पिता के पास एक पत्र लिख कर उन्हें सूचित कर दिया "आपका पुत्र अब राम के हाथ बिक गया, उसका शरीर अब अपना नहीं रह गया। आज दीपमाला को अपना शरीर हार दिया और महाराज को जीत लिया। महाराज ही हम गोसाइयों का धन है।" इसमें संदेह नहीं कि उक्त 'महाराज' शब्द से इनका अभिप्राय उस 'परब्रह्म' परमात्मा से ही था जो वेदांतानुसार परमतत्त्व का सूचक है। इस घटना के अनंतर युवक राम ने क्रमशः हरिद्वार, हृषीकेश, उत्तराखंडादि की यात्रा की और सं० १९५५ में किसी समय एकान्तवास के अवसरों पर इन्हें आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति भी हो गई। फिर तो इनके जीवन का ढंग ही पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया और ये आत्मा

नद की मस्ती मे सदा मग्न दीख पडने लगे। स० १९५७ मे इन्होंने अपना अध्यापन-कार्य छोड दिया और अगले वर्ष सन्यास ग्रहण कर देश-विदशो मे भ्रमण करने तथा अपने हृदय-स्थित भावो को व्यक्त करने के लिए निकल पडे। अमेरिका से वापस आने पर इनसे कुछ लोगो ने किसी अपनी सस्था के प्रवर्तित करने का अनुरोध किया। किंतु इन्होंने ऐसा करना स्वीकार नही किया, अपितु उत्तर मे कहा, "भारतवर्ष में जितनी सोसाइटियाँ है, वे सभी राम की है, राम उन सबमे काम करेगा। सभी भारतवासी मेरे अपने हैं।" फिर ये अपने देश मे ही कुछ दिनो तक भ्रमण करते रहे। अत मे कार्त्तिक कृष्ण १५ स० १९६३ के दिन टिहरी के निकट भृगु-गगा में स्नान करते समय इन्होंने जल-समाधि ले ली। इन्हे एक कन्या तथा दो पुत्र उत्पन्न हुए थे।

मत का सार

स्वामी रामतीर्थ की रचनाओ में इनके कुछ व्याख्यान, कुछ पत्र और कुछ कविताएँ उपलब्ध हैं जिनसे इनकी 'ब्राह्मी-स्थिति' की झलक मिल जाती है। ये आत्मानुभूति द्वारा प्रभावित अपने व्यापक दृष्टिकोण से सभी कुछ को आत्म-स्वरूप ही देखते थे। इन्होंने उसके रग में अपने जीवन की प्रत्येक चेष्टा को पूर्ण रूप से रँग डाला था। इनकी भावुकता इतनी तीव्र थी कि वह कभी-कभी भावावेश वा उन्माद की स्थिति तक पहुँच जाती थी। सर्वसाधारण इनकी बातें सुन कर दग रह जाते थे। किंतु इस बात के कारण इनके विचारो मे किसी प्रकार की विशृंखलता नही लक्षित होती थी, न ये अपने वास्तविक ध्येय आत्मानुभूति द्वारा विश्व-कल्याण से कभी विचलित ही होते थे। इन्होंने अपनी मानसिक स्थिति का परिचय किसी समय A state of Balanced Recklessness अर्थात् 'सतुलित प्रमाद की अवस्था' के सकेतो द्वारा दिया था। ये अपने उपदिष्ट मत को बहुधा 'नकद धर्म' की सज्ञा दिया करते थे। कहा करते थे, "यह वर्तमान जीवन से सबद्ध है। 'उधार धर्म' अधविश्वास पर निर्भर रहता है, किंतु 'नकद धर्म' अत करण के दृढ विश्वास का होता है। 'उधार धर्म' कहने के लिए 'नकद धर्म' करने के लिए है। धर्म के उस भाग पर जो नकद सभी धर्मों या सम्प्रदायो की एकवाक्यता है। इस पर कही दो मत नही।"[1] स्वामी रामतीर्थ ने इस 'नकद धर्म' की परिभाषा के भीतर सत्य बोलना, ज्ञान-सपादन करना और उसे आचरण में लाना, स्वार्थ से रहित होना,

---

१ स्वामी रामतीर्थ के लेख व उपदेश, जिल्द दूसरी, श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ, १९३९, पृ० २०९–२१।

संसार के लालच तथा धमकियों के बाबू में आकर वास्तविक निजरूप को न भूल जाना तथा स्थिर स्वभाव रहना आदि की चर्चा की है।

धर्म का स्वरूप

स्वामी रामतीर्थ ने एक बार धर्म के संबंध में किसी के प्रश्न करने पर उत्तर में लिखा था "धर्म अपना आप उद्देश्य है और वही सारी विद्याओं का भी लक्ष्य तथा अंतिम निष्कर्ष वा परिणाम है। इन्होंने उसे चित्त की उस 'बड़ी-चढ़ी अवस्था' का आधार बतलाया था जिसके द्वारा शांति सतोगुण उदारता प्रेम भक्ति तथा ज्ञान हमारे लिए स्वाभाविक वा निजी बन जायें। धर्म के द्वारा मनुष्य के जीवन में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ जाना चाहिए। ऐसी स्थिति का अनुभव होने लगना चाहिए जिसमें 'हमारी रहन-सहन (आचार व्यवहार) वाणी और विचार एक परिच्छिन्न शरीर और उसके दास की दृष्टि देहाध्यास) से न रहे वरन् सर्वव्यापी विश्वात्मा और जगत् प्राण की दशा हमारी दशा हो जाय। 'धर्म का प्राण हृदय का पिघलना या खुलना है खुदी (देहात्मभाव) के स्थान पर खुदाई (ब्रह्मभाव) का आ जाना है। यह एक भाव है और यह किसी प्रकार बदलने के योग्य नहीं। धर्म के शरीर वा बाह्यरूप कई हो सकते हैं और देश काल तथा अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं। सर्वसाधारण धर्म के इस बाह्यरूप को ही अपना कर सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक एवं परलोक-संबंधी विचार वा वादविवाद के फेर में पड़े रह जाते हैं। उनका हृदय उक्त प्रकार से पिघलने नहीं पाता जिस कारण उन्हें धर्म को बदलने तक की आवश्यकता पड़ जाती है।"[1] स्वामी रामतीर्थ ने इस प्रकार संतों के मुख्य अभिप्राय को ही अपने शब्दों द्वारा प्रकट किया था। इनके जीवन का प्रधान उद्देश्य भी संत-मत के ही अनुसार व्यवहार करना था। इन्होंने अपने अल्पकालीन सात्त्विक जीवन में ही एक अत्यंत उच्च कोटि का आदर्श सबके सामने रख छोड़ा।

(९) महात्मा गांधी (सं० १९२६ सं० २००४)

क. संत गांधी जीवन-वृत्त

संत-परंपरा के साथ महात्मा गांधी के किसी प्रत्यक्ष संबंध का पता नहीं चलता किंतु इसमें संदेह नहीं कि वे उन महान् व्यक्तियों में से ही एक थे। इनकी अखिलता विश्व-कल्याण की भावना मानव-समाज की एकता में पूर्ण

१ स्वामी रामतीर्थ के लेख व उपदेश जिल्द दूसरी, श्री रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग लखनऊ पृ० १९४-९५, १३-४।

विश्वास, विचार-स्वातत्र्य, स्वानुभूति के प्रति आस्था, वाह्य विडवनाओ से असतोप, सार्वभौम विचार, विश्व-प्रेम तथा सवसे वढ कर अपने शुद्धाचरण द्वारा सिद्ध किया, आदर्श तथा व्यवहार का सामजस्य सतो के ही अनुसार थे। ये अपने को सदा एक धार्मिक व्यक्ति ही मानते रहे और अपने धार्मिक दृष्टिकोण के ही अनुसार इन्होने मानव-जीवन के प्रत्येक अग पर विचार किया। इन्होने ठेठ सामाजिक प्रश्नो से लेकर आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओ तक को उसी धार्मिक भावना के साथ हल करने का यत्न किया। इन्होने घोर भौतिकवाद के युग में भी आध्यात्मिक धारणाओ का महत्त्व प्रतिष्ठित करना चाहा। अपने चरित्रबल तथा एकातनिष्ठा के सहारे सर्वसाधारण का ध्यान एक बार फिर उन बातो की ओर आकृष्ट कर दिया जो वर्तमान समय के लिए सदा निरर्थक समझी जाती रही। इन्होने सत की अनेक स्वीकृतियो को खुले हृदय से अपनाया। उनकी उपयोगिता का स्वय अनुभव कर उन्हे दूसरो के लिए भी आवश्यक ठहराया। मनुष्य की नैसर्गिक महानता का इन्होने उसे फिर एक बार स्मरण दिलाया। अपनी सुप्त शक्तियो को जागृत तथा विकसित करने के लिए उसे एक बार फिर सचेत किया। ससार के भीतर प्रतिदिन दीख पडनेवाले दुखो को दूर करने के लिए उसे कटिवद्ध होना भी सिखलाया। महात्मा गाँधी भी सतो की ही भाँति स्वर्ग तथा नरक का कही अन्यत्र होना नही मानते थे, न मोक्ष के लिए परिवार के त्याग को आवश्यक समझते थे। इन्होने विविध विपद्ग्रस्त भूतल को ही स्वर्ग वनाने का यत्न किया तथा व्यक्तिगत मोक्ष और विश्व-कल्याण मे सामजस्य प्रदर्शित किया।

प्रारभिक प्रवृत्तियाँ

मोहनदास कर्मचन्द गाँधी का जन्म आश्विन वदी १२ सवत् १९२६ २ अक्तूबर सन् १८६९ ई० को पोरवदर वा सुदामापुरी मे हुआ था। इनके पिता एक व्यवहारकुशल, किंतु निस्पृह तथा चरित्रवान् व्यक्ति थे और इनकी माता का भी स्वभाव धार्मिक था। वालक मोहनदास पर अपने माता-पिता के आचरणो का वहुत वडा प्रभाव पडा था। ये उनके प्रति श्रद्धा के भाव अपने वचपन से ही प्रदर्शित करने लगे थे। इन्होने अपनी 'आत्मकथा' मे लिखा है कि अपनी छोटी अवस्था में ही इन्हें 'श्रवण पितृभक्ति' नाम की एक पुस्तक पढने को मिल गई थी। इन्होने किसी तसवीर मे देखा था कि श्रवण अपने माता-पिता को कांवर मे वैठा कर तीर्थ-यात्रा के लिए ले जा रहे हैं, जिसका प्रभाव इनके कोमल हृदय पर पडे विना न रह सका। इसी प्रकार, एक

संसार के लालच तथा चमत्कियों के जादू में आकर वास्तविक स्वरूप को न भूल जाना तथा स्थिर स्वभाव रहना आदि की चर्चा की है।

धर्म का स्वरूप

स्वामी रामतीर्थ ने एक बार धर्म के संबंध में किसी के प्रश्न करने पर उत्तर में लिखा था "धर्म अपना आप उद्देश्य है और वही सारी विद्याओं का भी लक्ष्य तथा अंतिम निष्कर्ष वा परिणाम है। इन्होंने उसे चित्त की उस 'बढ़ी-चढ़ी अवस्था' का आधार बतलाया था जिसके द्वारा शांति सतोगुण उदारता प्रेम भक्ति तथा ज्ञान हमारे लिए स्वाभाविक वा निजी बन जायें। धर्म के द्वारा मनुष्य के जीवन में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ जाना चाहिए। ऐसी स्थिति का अनुभव होने लगना चाहिए जिसमें हमारी रहन-सहन (आचार व्यवहार) वाणी और विचार एक परिच्छिन्न शरीर और उसके साथ की दृष्टि देहाध्यास) से न रहे वरन् सर्वव्यापी विश्वात्मा और वस्तु प्राण की तथा हमारी बना हो जाय। 'धर्म का प्राण हृदय का पिघलना या घुलना है खुदी (देहात्मभाव) के स्थान पर खुदाई (ब्रह्मभाव) का आ जाना है। यह एक मात्र है और वह किसी प्रकार बदलने के योग्य नहीं। धर्म के शरीर वा बाह्यरूप कई हो सकते हैं और देश काल तथा अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं। सर्वसाधारण धर्म के इस बाह्यरूप को ही अपना कर सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक भ्रम परलोक-संबंधी विचार वा वादविवाद के फेर में पड़े रह जाते हैं। उनका हृदय उक्त प्रकार से पिघलने नहीं पाता जिस कारण उन्हें धर्म को समझने तक की आवश्यकता पड़ जाती है।"[1] स्वामी रामतीर्थ ने इस प्रकार संतों के मुख्य अभिप्राय को ही अपने शब्दों द्वारा प्रकट किया था। इनके जीवन का प्रधान उद्देश्य भी सत-मत के ही अनुसार व्यवहार करना था। इन्होंने अपने अल्पकालीन सात्त्विक जीवन में ही एक अत्यंत उच्च कोटि का आदर्श सबके सामने रख छोड़ा।

(२) महात्मा गांधी (सं १९२६ : सं २ ४)

क. संत गांधी जीवन-वृत्त

संत-परंपरा के साथ महात्मा गांधी के किसी प्रत्यक्ष संबंध का पता नहीं चलता किंतु इसमें संदेह नहीं कि वे उन महान् व्यक्तियों में से ही एक थे। इनकी आस्तिकता विश्व-कल्याण की भावना मानव-समाज की एकता में पूर्ण

---

१ स्वामी रामतीर्थ के लेख व उपदेश जिल्द दूसरी श्री रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग लखनऊ पृ १९४-९५, १ १-४।

प्रथम अध्याय

भूमिका

बार किसी नाटक-कम्पनी द्वारा प्रदर्शित 'हरिश्चन्द्र नाटक' के खेल ने भी इन्हें बहुत प्रभावित किया था और ये हरिश्चन्द्र का अनुकरण करना अपना कर्तव्य मानने लगे थे। स्कूल में पढ़ते समय इन्हें जितनी लज्जा का अनुभव अपने पाठ के याद न कर सकने में होता था उससे कहीं अधिक सदाचरण में चूकने से हुआ करता था। एक बार अपने पिट जाने के संबंध में लिखते हुए उन्होंने स्वयं कहा है "मुझे इस बात पर तो दुःख न हुआ कि पिटा किंतु इस बात का दुःख हुआ कि मैं दंड का पात्र समझा गया। मैं फूट-फूट कर रोया। यह घटना पहली या दूसरी कक्षा की है।"[1] इसी प्रकार अपने माता-पिता को धोखा न देने के शुभ विचार ने इनको अपने एक मित्र के कारण पड़ी हुई मांस-भक्षण की आदत को भी छुड़ा दिया था और ये अपने को अधिक बहकने से सँभाल सके थे।

विलायत के अनुभव

सं० १९४४ में मैट्रिक पास करने के अनंतर ये बैरिस्टरी पास करने के लिए विलायत भेजे गए। इनकी धर्मभीरु माता ने इनके चरित्र पर किसी-न-किसी प्रकार का धब्बा लग जाने की आशंका से इनसे घर छोड़ने के पहले ही तीन प्रतिज्ञाएँ करा ली थीं। इनमें से एक मांस-भक्षण न करने की, दूसरी मदिरा-सेवन से विरत रहने की और तीसरी पर-स्त्री प्रसंग न करने की थी। इन्होंने इन तीनों का पालन किया। जब कभी इनके सामने वहाँ इस प्रकार का कोई अवसर उपस्थित होता इन्हें अपनी माता के शब्द स्मरण हो आते और ये सँभल जाते। इस प्रकार के संयत जीवन ने इन्हें क्रमशः प्रलोभनों की ओर न बढ़ा कर इनकी मनोवृत्ति को सादे जीवन की ओर उन्मुख भी किया। वहाँ के विलासितापूर्ण समाज में रहते हुए भी इन्होंने अपने भोजन तथा रहन-सहन के विषय में मितव्ययिता स्वीकार की और ये नियम के साथ रहने लगे। उसी समय इन्हें अपने किन्हीं थियासोफिस्ट मित्रों की प्रेरणा से 'गीता' का अँगरेजी अनुवाद पढ़ने का अवसर मिला जिसका इन पर गहरा प्रभाव पड़ा। तब से ये अपने हिन्दू-धर्म के अन्य ग्रंथों को पढ़ने के लिए भी उत्सुक हुए और धार्मिक जीवन के वास्तविक रहस्य को समझने की ओर प्रवृत्त भी हुए। सं० १९४८ में इन्होंने बैरिस्टरी पास कर ली। उसी वर्ष वहाँ से भारत के लिए प्रस्थान भी कर दिया।

दक्षिण अफ्रीका के कार्य

भारत में आते ही उन्होंने राजकोट में वकालत आरंभ कर दी और फिर

---

1 संक्षिप्त आत्मकथा सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली १९३१ पृ० ९।

थोडे दिनो के लिए बवई में भी काम किया। परन्तु कुछ ही समय के अनतर इन्हें स० १९५० मे दक्षिण अफ्रीका के लिए चल देना पडा। वहाँ अपनी जीविका चलाने के साथ-माथ इन्हें लोक-सेवा का भी अवसर मिलने लगा। दक्षिण अफ्रीका मे रहते समय इनके जीवन मे इतना परिवर्तन हो गया कि अपनी जीविका अथवा घर-गृहस्थी के कार्य इनके लिए क्रमश गौण से जान पडने लगे। इनकी प्राय प्रत्येक दैनिक चेष्टा जन-सेवा के भावो द्वारा ही प्रेरित होने लगी। उस देश में भी सादे जीवन, स्वास्थ्य तथा भोजन-विज्ञान के प्रश्नो में इनकी रुचि बनी रही। इन विषयो के अध्ययन तथा तदनुकूल प्रयोगो के आधार पर इन्होने कुछ लेख भी लिखे। दक्षिण अफ्रीका में ये २० वर्षों से अधिक समय तक रहे और बीच-बीच मे कभी-कभी भारत भी आ जाते रहे। उस देश में रहते समय इन्हें अपने प्रवासी भारतीय भाइयो की विविध समस्याओ के सुलझाने में अनेक बार सक्रिय भाग लेना पडा जिससे इन्हें बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हुआ। फिर भी स० १९६१ की एक साधारण-सी घटना ने इनके जीवन में महत्त्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कर डाला। यह बात एक पुस्तक के पढ लेने मात्र से थी। मिस्टर पोलक नाम के इनके एक मित्र ने अँगरेज लेखक रस्किन की पुस्तक 'अनटु दिस लास्ट' इन्हें देखने को दी जिसे इन्होने आद्योपात पढ डाला। इनका कहना है, "जो चीज मेरे अतरतर में बसी हुई थी, उसका स्पष्ट प्रतिबिब मैंने रस्किन के इस ग्रथ में देखा। इस कारण उसने मुझ पर अपना साम्राज्य बना लिया तथा अपने विचारो के अनुसार मुझसे आचरण करवाया।"[1] इस पुस्तक का इन्होने 'सर्वोदय' नाम से गुजराती-अनुवाद भी कर डाला है।

कायापलट तथा सयत जीवन

उक्त पुस्तक का अध्ययन कर लेने के अनतर इनके विचार इतने स्पष्ट तथा परिष्कृत हो गए कि इन्होंने उनके अनुसार अपने जीवन को ही बदल डाला। उसी वर्ष इन्होने फिनिक्स मे एक आश्रम की स्थापना की जहाँ से इनका 'इडियन ओपीनियन' नामक पत्र भी प्रकाशित होने लगा। आश्रमवासियो को यथासभव सभी प्रकार के कार्य आवश्यकतानुसार करने पडते और स्वावलबन का अभ्यास डालना पडता। आश्रम की सफाई, उसमे काम आनेवाली उपयोगी वस्तुओ को भरसक स्वय तैयार करना, अनुशासन के प्रभाव मे रहना और सभी प्रकार से एक सादा तथा सात्विक जीवन व्यतीत करना वहाँ के प्रत्येक निवासी का परम कर्त्तव्य समझा जाना था जिसे वे सभी सहर्ष पालन करते थे। महात्मा गाँधी ने यही रह कर

---

१ सक्षिप्त आत्मकथा, सस्ता साहित्य मडल, दिल्ली, पृ० ८७।

थोडे दिनो के लिए बबई मे भी काम किया। परन्तु कुछ ही समय के अनतर इन्हें स० १९५० मे दक्षिण अफ्रीका के लिए चल देना पडा। वहाँ अपनी जीविका चलाने के साथ-साथ इन्हें लोक-सेवा का भी अवसर मिलने लगा। दक्षिण अफ्रीका मे रहते समय इनके जीवन मे इतना परिवर्तन हो गया कि अपनी जीविका अथवा घर-गृहस्थी के कार्य इनके लिए क्रमश गौण से जान पडने लगे। इनकी प्राय प्रत्येक दैनिक चेष्टा जन-सेवा के भावो द्वारा ही प्रेरित होने लगी। उस देश में भी सादे जीवन, स्वास्थ्य तथा भोजन-विज्ञान के प्रश्नो में इनकी रुचि बनी रही। इन विषयो के अध्ययन तथा तदनुकूल प्रयोगो के आधार पर इन्होने कुछ लेख भी लिखे। दक्षिण अफ्रीका में ये २० वर्षों से अधिक समय तक रहे और बीच-बीच मे कभी-कभी भारत भी आ जाते रहे। उस देश में रहते समय इन्हें अपने प्रवासी भारतीय भाइयो की विविध समस्याओ के सुलझाने में अनेक बार सक्रिय भाग लेना पडा जिससे इन्हें बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हुआ। फिर भी स० १९६१ की एक साधारण-सी घटना ने इनके जीवन में महत्त्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कर डाला। यह बात एक पुस्तक के पढ लेने मात्र से थी। मिस्टर पोलक नाम के इनके एक मित्र ने अँगरेज लेखक रस्किन की पुस्तक 'अनटु दिस लास्ट' इन्हें देखने को दी जिसे इन्होने आद्योपात पढ डाला। इनका कहना है, "जो चीज मेरे अतरतर में बसी हुई थी, उसका स्पष्ट प्रतिबिंब मैंने रस्किन के इस ग्रथ में देखा। इस कारण उसने मुझ पर अपना साम्राज्य बना लिया तथा अपने विचारो के अनुसार मुझसे आचरण करवाया।"[1] इस पुस्तक का इन्होने 'सर्वोदय' नाम से गुजराती-अनुवाद भी कर डाला है।

कायापलट तथा सयत जीवन

उक्त पुस्तक का अध्ययन कर लेने के अनतर इनके विचार इतने स्पष्ट तथा परिष्कृत हो गए कि इन्होने उनके अनुसार अपने जीवन को ही बदल डाला। उसी वर्ष इन्होने फिनिक्स मे एक आश्रम की स्थापना की जहाँ से इनका 'इडियन ओपीनियन' नामक पत्र भी प्रकाशित होने लगा। आश्रमवासियो को यथासभव सभी प्रकार के कार्य आवश्यकतानुसार करने पडते और स्वावलबन का अभ्यास डालना पडता। आश्रम की सफाई, उसमे काम आनेवाली उपयोगी वस्तुओ को भरसक स्वय तैयार करना, अनुशासन के प्रभाव मे रहना और सभी प्रकार से एक सादा तथा सात्त्विक जीवन व्यतीत करना वहाँ के प्रत्येक निवासी का परम कर्त्तव्य समझा जाता था जिसे वे सभी सहर्ष पालन करते थे। महात्मा गाँधी ने यहीं रह कर

---

१ सक्षिप्त आत्मकथा, सस्ता साहित्य मडल, दिल्ली, पृ० ८७।

कार होना रागद्वेषादि से रहित होना है। इस निर्विकार स्थिति तक पहुँचने के लिए प्रतिपक्ष प्रयत्न करने पर भी मैं उस तक नहीं पहुँच सका हूँ। ...लेकिन मैंने हिम्मत नहीं हारी है। सत्य के प्रयोग करते हुए मैंने सुख का अनुभव किया। आज भी उसका अनुभव कर रहा हूँ। लेकिन मैं जानता हूँ कि अभी मुझे मीहड़ रास्ता तय करना है। इसके लिए मुझे शून्यवत् बनना पड़ेगा। जब तक मनुष्य खुद होकर अपने आपको सबसे छोटा नहीं मानता है तब तक मुक्ति उससे दूर रहती है। अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है उसकी हद है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि इस तरह की नम्रता के बिना मुक्ति कभी नहीं मिल सकती।"[1] आत्म-शुद्धि तथा समाज-सेवा इन दोनों को एक साथ चलना चाहिए और हमारे भीतर ऐसी एक प्रकार की सात्त्विक प्रवृत्ति जागृत हो जानी चाहिए।

सत्य के प्रयोग

उक्त उद्धरण महात्मा गाँधी की उस संक्षिप्त आत्मकथा का अंतिम अंश है जो इनकी मृत्यु के कई वर्ष पहले लिखी गई थी। उसके बृहत् तथा मूल संस्करण का नाम इन्होंने 'मेरे सत्य के प्रयोग' दे रखा था। इसमें इन्होंने अपने जीवन द्वारा समाज की प्रयोगशाला में किये हुए सत्य के विविध प्रयोगों के विवरण दिये थे। इनका सारा जीवन एक सच्चे साधक का जीवन रहा जिसे आत्म-शुद्धि की सहायता से इन्होंने उक्त प्रयोगों के लिए सदा उपयोगी सिद्ध करना चाहा। ये प्रति पल उसके निर्माण में लगे रहते और अत्यंत सावधानी के साथ उसमें समय-समय पर आवश्यक सुधार भी करते जाते। मानव-जीवन के महत्त्व पर इन्होंने बड़ी गंभीरता के साथ विचार किया था। इसी कारण उसके सर्वांगपूर्ण अंग को भी सँभालने तथा सुव्यवस्थित करने में ये सदा दत्तचित्त रहा करते थे। इनकी सर्वांगीण साधना संत दादू-दयाल की पूर्णांग साधना से कहीं अधिक व्यापक जान पड़ती है। इनके आत्म-विकास का ध्येय भी गुरु नानकदेव के आदर्शों से कहीं अधिक स्पष्ट तथा व्यवहारगम्य लक्षित होता है। ये एक सच्चे कलाकार की भाँति जीवन को अधिक-से अधिक सुंदर स्वरूप देने के यत्न किया करते थे। इनके सत्य के प्रयोग इस कारण न केवल समाज के अंतर्गत किये गए, प्रत्युत इनके जीवन का निर्माण भी उन्हीं प्रयोगों का परिणाम रहा। जिस प्रकार पृथ्वी का यह अपनी धुरी पर अपने आप घूमता हुआ भी प्राकृतिक नियमों के अनुसार सूर्य के चतुर्दिक चक्कर काटता रहता है और इस प्रकार एक साथ दो-दो कार्य निरंतर करता चलता है उसी भाँति महात्मा

१ संक्षिप्त आत्मकथा सस्ता साहित्य-मंडल दिल्ली सन् १९३९, पृ० २४६-४८।

जिनमें इनके साथ अनेक नर-नारी सम्मिलित हुआ करते और प्रार्थना के अनंतर इनका प्रवचन भी सुना करते। ऐसे ही अवसर पर एक दिन इनके प्रार्थना-मंडप में आते समय एक नवयुवक ने उन पर गोली चला दी और उस दिन माघ वदी ५ सं० २००४ को दिल्ली में इनका देहांत हो गया।

ख महात्मा गांधी का मत

सत्य का अनुभव

महात्मा गांधी ७८ वर्षों से भी अधिक जीवित रहे। किंतु जब से इन्हें चेतना मिली ये निरंतर आत्म-विकास के कार्य में संलग्न रहे और अपने जीवन को अपने उच्चादर्शों के अनुसार ढालते हुए आत्मोन्नति के साथ-साथ विश्व-कल्याण की ओर भी अग्रसर होते गए। इनका कहना था "मैंने सत्य को जिस रूप में देखा है और जिस राह से देखा है, उसे उसी राह से बताने की हमेशा कोशिश की है। मैं सत्य को ही परमेश्वर मानता हूँ।" इस सत्य को पाने की इच्छा करनेवाला मनुष्य जीवन के एक भी क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि मेरी सत्य-पूजा मुझे राजनीतिक क्षेत्र में घसीट ले गई। जो यह कहते हैं कि राज-नीति से धर्म का कोई संबंध नहीं है, मैं निःसंकोच होकर कहता हूँ कि वे धर्म को नहीं जानते। मेरा विश्वास है कि यह बात कह कर मैं किसी विनय की सीमा का उल्लंघन नहीं कर रहा हूँ।

आत्म-शुद्धि

महात्मा गांधी का तत्त्वज्ञान आध्यात्मिक होने की अपेक्षा नैतिक अधिक है।[१] इनका कहना है, बिना आत्म-शुद्धि के प्राणिमात्र के साथ एकता का अनु-भव नहीं किया जा सकता और आत्म-शुद्धि के अभाव में अहिंसा धर्म का पालन करना भी हर तरह नामुमकिन है। चूंकि अशुद्धात्मा परमात्मा के दर्शन करने में असमर्थ रहता है, इसलिए जीवन-पथ के सारे क्षेत्र में शुद्धि की जरूरत रहती है। इस तरह की शुद्धि साध्य है, क्योंकि व्यक्ति और समष्टि के बीच इतना निकट संबंध है कि एक की शुद्धि अनेक की शुद्धि का कारण बन जाती है। व्यक्तिगत कोशिश करने की ताकत तो सत्यनारायण ने सब किसी को जन्म ही से दी है। लेकिन मैं तो पल-पल पर इस बात का अनुभव करता हूँ कि शुद्धि का यह मार्ग विकट है। शुद्धि होने का मतलब तो मन से, वचन से और काया से निर्वि-

---

१ "One thing is certain that since the day of Buddha no Indian with the possible exception of Kabir, has attached so much importance or grown so eloquent over pure morality as Gandhiji Prof Wadia (Indian Philosophical Congress)

ही आध्यात्मिक वा धार्मिक होगा उतना ही उसे व्यावहारिक भी होना चाहिए। वास्तव मे 'परलोक' जैसा कोई भी स्थान कहीं नहीं है। सारा विश्व एक तथा अखंड है। इसमें 'यहाँ' वा 'वहाँ' का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जैसा जीन्स ने बतलाया है और संपूर्ण विश्व जिसमे दूर-से-दूर तक के नक्षत्र तथा तारे शामिल हैं और जो बड़े-से-बड़े दूरवीक्षण-यंत्र से भी दीख नहीं पड़ता एक परमाणु के भीतर संकुचित है। इसलिए मैं ऐसा समझ लेना अनुचित मानता हूँ कि अहिंसा का उपयोग कंदरा के निवासियों तक ही सीमित रहना चाहिए अथवा परलोक मे इसके द्वारा एक बहुत अच्छा स्थान मिला करता है। कोई भी नैतिक गुण तब तक अपना कोई अर्थ नहीं रखता जब तक उसका उपयोग भी जीवन के प्रत्येक क्षण मे न किया जाता हो। स्वर्ग को भूतल पर उतारने का वास्तविक रहस्य यही हो सकता है।[1] इस विचार से सभी धर्म वा सम्प्रदाय एक ही उद्देश्य की सिद्धि अर्थात् हृदय-परिवर्तन का कायापलट के लिए निर्दिष्ट किये गए भिन्न-भिन्न मार्ग है। वास्तव मे धर्मों की संख्या उतनी ही बड़ी वा सकती है जितनी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की होगी। यदि कोई मनुष्य अपने धर्म के मूल तक पहुँच पाये तो उसे प्रतीत होगा कि वह सभी धर्मों की तह तक पहुँच गया। धर्म एक व्यक्तिगत बात है और हमलोग अपने आदर्शानुसार जीवन-यापन कर अन्य के साथ भी अपनी सर्वोत्तम वस्तु का आनंद उठा सकते हैं।

पूर्ण सत्य का स्वरूप

महात्मा गांधी ने अपने जीवन का उद्देश्य बतलाते हुए भी कहा है "मैं पूर्णता की उपलब्धि मे निरत एक साधारण साधक हूँ। मैं उसके मार्ग से भी परिचित हूँ किंतु केवल मार्ग का ज्ञान मात्र प्राप्त कर लेना ही अपने उद्देश्य तक पहुँच जाना भी नहीं कहा जा सकता।"[2] 'पूर्णता तो ज्यामिति की रेखा अथवा बिंदु की भाँति कोरे आदर्शों की बात है जिसके लिए हमें अपने जीवन के प्रत्येक पल मे यत्न करते रहना चाहिए। सत्य के पूर्ण स्वरूप का हम अनुभव नहीं कर सकते अपनी कल्पना द्वारा उसे दृष्टिगत मात्र कर सकते हैं। इसी कारण हमे हार मान कर केवल विश्वास पर निर्भर रहना पड़ता है। सत्य का एक निरपेक्ष रूप है जो देश-काल की सीमा से परे और अबाधित है। उस नित्य वस्तु को हम केवल 'अस्तित्व' की भी संज्ञा दे सकते हैं किंतु उसी का एक अन्य रूप सापेक्ष भी हो सकता है। उसे हम उस वस्तु की उपलब्धि के मार्ग मे अपनी पहुँच के अनुसार ग्रहण कर पाते हैं, जितना

---

१ हरिजन २१ ७ ४९ पृ २४८।
२ यंग इंडिया १ ४ २४।

गाँवी आत्म-शुद्धि की सावना के साथ-साथ समाज तथा विश्व के कल्याण की चेष्टा भी प्राय समानातर ढग से करते गए। इस प्रकार अपनी अनेक भावनाओ को ये कार्य-रूप मे परिणत कर सके।

मानव-जीवन की एकता

महात्मा गाँवी को मानव-जीवन की एकता वा अभिन्नता तथा दृढ विश्वास था। उनका कहना था, "मैं यह नही समझ पाता कि किस प्रकार किसी एक व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास सभव हो सकता है, जव कि उसके पडोसी दु खो से पीडित हो रहे हैं। मैं अद्वैत मे आस्थावान् हूँ। मुझे मनुष्य की एकता तथा उसी के अनुसार सारे प्राणियो की भी एकता मे विश्वास है। अतएव मेरी धारणा है कि यदि एक मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करता है, तो सारा विश्व उसके साथ लाभ उठाता है। यदि एक का पतन होता है, तो उसी प्रकार ससार भी गिर जाता है।"[1] इसके सिवाय "मनुष्य का अतिम उद्देश्य परमात्मा की उपलब्धि है, जिसकी ओर ध्यान रखते हुए उसे अपनी प्रत्येक चेष्टा को चाहे वह सामाजिक हो, राजनीतिक हो वा धार्मिक हो, उन्मुख करना कर्त्तव्य हो जाता है। सारी मानव-जाति की सेवा उसके लिए इस कारण आवश्यक हो जाती है कि परमात्मा को उसकी सृष्टि के अतर्गत ही पाना और उसके साथ एकता का अनुभव करना सभव है। जव मैं सपूर्ण का एक अग-मात्र हूँ, तव उससे अलग रह कर मेरा परमात्मा की खोज करना हो नही सकता। इसी कारण सबकी सेवा का महत्त्व है।"[2]

धर्म का रहस्य

इसी प्रकार ये धर्म के वास्तविक रहस्य को प्रकट करते हुए भी कहते हैं, "धर्म वही है, जिसके द्वारा मनुष्य के ठेठ स्वभाव मे परिवर्तन हो जाय, जो उसे सत्य के साथ सदा के लिए जोड दे और जो उसे बराबर शुद्ध तथा पवित्र करता रहे। यह मानव-स्वभाव का एक स्थायी अग है जो अपने को पूर्णत व्यक्त करने के लिए कुछ भी उठा नही रखता और जो आत्मा को परमात्मा के साथ मिल जाने और उसके साथ सच्चे सबध का अनुभव करने के लिए आतुर तथा बेचैन कर देता है।"[3] धर्म का सबध केवल आदर्शों से न होकर व्यावहारिक बातो के साथ ही अधिक रहा करता है। धर्म यदि व्यावहारिक बातो की परवा नही करता, न उनकी समस्याओ के सुलझाने मे सहायक होता है, तो वह धर्म नही है। कोई कार्य जितना

---

१ यग इडिया (४ १२ २४) पृ० ३९८।

२ हरिजन (२९ ८ ३५) पृ० २३६।

३ 'यग इडिया' (१२ ५ २०) पृ० १०७०।

कि हमारे लिए समव कहा जा सकता है। सत्य ही ईश्वर है जो न केवल हमारे अतस्थ है, किंतु हमारे परे भी है। जो न केवल सारे विश्व का जीवन है, प्रत्युत इसके वाहर भी रहनेवाला तथा इसका स्रष्टा, पालनकर्त्ता तथा न्यायकर्त्ता भी है। इसी कारण इन्होंने उसके व्यक्तित्व की कल्पना भी की है। उसे शक्ति, विचार तथा प्रेम से सपन्न भी समझा है। वह सर्वत्र व्यापक है और उसी के नियमानुसार वडे-से-वडे अथवा छोटे-से-छोटे भी कार्य हुआ करते है।

अत करण की प्रवृत्ति

ईश्वर को इन्होंने कभी-कभी अपने अत करण की 'आवाज' कह कर भी सूचित किया है। इस सबव मे एक स्थल पर इन्होंने लिखा है, "जव मैंने अछूतोद्धार के लिये २१ दिनो का अनशन किया था, उस समय की बात है। मैं सो रहा था। मुझे लगभग १२ वजे रात के समय किसी ने जगाया और किसी आवाज ने अचानक मेरे कानो मे कहा, 'तू अवश्य अनशन कर'। मैंने पूछा, 'कितने दिनो तक ?' उसने कहा '२१ दिनो तक।' मैंने फिर पूछा, 'कव से आरभ करूँ ?' उसने उत्तर दिया, 'कल से आरभ कर दो।"[1] मेरा मन इसके लिए तैयार नही था और इससे भागता भी था, किंतु यह घटना इतनी स्पष्ट थी, जितनी अन्य कोई भी हो सकती है।"[2] इसी प्रकार के एक और अनुभव का भी वहुत स्पष्ट वर्णन इन्होंने एक दूसरे स्थल पर किया है।[3] फिर भी महात्मा गाँवी की आस्तिकता साम्प्रदायिक नही, न उसमे किसी प्रकार की सकीर्णता ही पायी जाती है। इस विषय मे इनके विचार अत्यत उदार है। ईश्वर को ये सत्य-स्वरूप तो मानते ही हैं, उसे प्रेम, नियम, अत करण की प्रवृत्ति , नैतिक आधार, विशुद्ध तत्त्व आदि अन्य अनेक नामो से भी सूचित करते हैं। एक स्थल पर इन्होंने यहाँ तक कह डाला है, "ईश्वर अपने प्रति अधिक-से-अधिक सीमा तक की गई 'आस्था' के सिवाय और कुछ नही है।"[4] "हम किसी एक सिद्धात को मानते हैं, अपने जीवन का रग उस पर चढा देते हैं और कह देते हैं कि यही हमारा ईश्वर है। मैं तो इतना ही पर्याप्त समझता हूँ।"[5] महात्मा गाँधी के लिए इसी कारण मनुष्य तथा ईश्वर मे भी कोई मौलिक भिन्नता नही है।

---

१. हरिजन (१० १२ ३८) पृ० ३७३।
२ वही, (१४ ५ ३८) पृ० ११०।
३ वही, ६ ५ ३३।
४ यग इडिया (भाग २) पृ० ४२१।
५ हरिजन (३० ३ ३४) पृ० ५५।

समय शब्दोच्चारण से कही अधिक आवश्यकता हृदय की ही होती है। प्रार्थना उस अतरात्मा की स्पष्ट प्रत्युत्तर मे होनी चाहिए जो इसके लिए आर्त्त रहा करती है। एक भूखा मनुष्य जिस प्रकार सुभोजन पाकर उसका स्वाद आनदपूर्वक लेने लग जाता है, उसी प्रकार भूखी आत्मा भी हृदय से उत्पन्न प्रार्थना से तृप्त हुआ करती है।"[१] ऐसी दशा मे रामनाम के प्रत्येक बार का दुहराना एक नवीन अर्थ रखता है और हमे क्रमश ईश्वर के निकट ले जाने मे समर्थ होता है। "मैं तो एक ऐसे समय की प्रतीक्षा मे हूँ जब कि रामनाम का स्मरण भी हमारे लिए बाधक सिद्ध होगा। जब मैं इस बात का पूर्ण अनुभव कर लूंगा कि राम हमारी वाणी से परे है, तब मुझे रामनाम के दुहराने की आवश्यकता ही न रह जायगी।"[२] रामनाम के स्मरण को सार्थक करने के लिए जीवन मे वैसी सेवा का भी करना कर्त्तव्य है, जो वास्तव मे राम के उपयुक्त हो। "रामनाम का हृदय से स्मरण किया जाना तभी कहा जा सकता है, जब कि सत्य, भाव-शुद्धि तथा पवित्रा का अभ्यास भी भीतर और बाहर दोनो ओर से कर लिया गया हो।"[3]

प्राकृतिक चिकित्सा

महात्मा गांधी अनुसार सारे ईश्वरीय नियम पवित्र जीवन मे समाहित हैं। सबसे पहली बात अपनी त्रुटियो से परिचित हो जाना है जिसका तात्पर्य यह होता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना चिकित्सक स्वय बन जाना चाहिए और अपनी कमियो का पता लगा लेना चाहिए। प्राकृतिक चिकित्सा मे भी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि जीवन के प्रति बने हुए अपने वर्तमान दृष्टिकोण मे परिवर्तन तथा सुधार कर लिया जाय और अपने जीवन को स्वास्थ्य-सबधी नियमो के अनुसार ढाल दिया जाय। "प्राकृतिक चिकित्सा का वैद्य स्वास्थ्य के अध्ययन को अधिक महत्त्व देता है। उसका वास्तविक कार्य वही से आरभ होता है, जहाँ साधारण डाक्टर वा वैद्य का कार्य समाप्त होता है। रोगी के कष्ट को सर्वथा निर्मूल कर देना ही प्राकृतिक चिकित्सा का ध्येय है, जो दूसरे प्रकार से एक ऐसे जीवन का प्रारभ है जिसमे किसी रोग को कोई स्थान न हो। प्राकृतिक चिकित्सा, इस प्रकार जीवन-यापन का एक मार्ग-विशेष है, किसी उपचार की क्रिया नही है।"[४] महात्मा गांधी ने इसी कारण इस चिकित्सा-प्रणाली को दो भागो मे विभक्त किया है, जिसका पहला अश रोगो को दूर करने के लिए रामनाम के स्मरण को प्रधानता देता है। इसके दूसरे अश का सबध तात्त्विक तथा स्वास्थ्यप्रद जीवन द्वारा रोगो

---

१ यग इडिया (२३ १.३८)। २ वही, (१४ २ २४))।
३ हरिजन (२५ ५ ४६)। ४ वही, (७ ४ ४६)।

के दूर करने से है। 'प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति को स्वीकार करना प्रकृति ईश्वर की ओर अग्रसर होना है, जिससे उसके प्रति क्रमशः आत्म-समर्पण हुए हम अपने विचारों तथा चेष्टाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने योग्य जाते हैं।'[1]

पूर्णतः व्यापक कार्यक्रम

महात्मा गांधी के जीवन का कार्यक्रम अत्यंत व्यापक तथा विस्तृत था उसकी पूर्ति मे आमरण निरत रहे। उन्होंने व्यक्तिगत तथा धार्मिक प्रश्नो को करने के लिए ब्रह्मचर्य अहिंसा निर्भीकता साहस तथा संयत जीवन को अपन आस्तिकता प्रार्थना और रामनाम के प्रचार पर विशेष ध्यान दिया। समाज उन्नति के लिए अछूतोद्धार, जनसेवा परित्यक्त विश्वप्रेम पारिवारिक की नारी-अधिकार, अनुशासन-जैसी बातो के महत्त्व को स्पष्ट किया। आर्थिक सु के लिए खादी-प्रचार, गोपालन अपरिग्रह मितव्ययिता आदि के उपदेश वि *राजनीतिक संघर्ष मे प्रयोग करने के लिए असहयोग सत्याग्रह सविनय-अवज्ञा* साधनो की उपयोगिता सिद्ध कर दिखायी। वे स्वास्थ्य के लिए मुक्ताहार वि की आवश्यकता अनुभव करते थे। रोग-निवारण के लिए उपवास तथा प्राकृ चिकित्सा का आश्रय लेते थे। शिक्षा की उपयोगिता उसके स्वावलंबी तथा सच्चा बनाने मे ही माना करते थे। राष्ट्रभाषा की एकता में विश्वास रखते और उस प्रचार करते थे। भौतिकवाद तथा उसके दुष्परिणामों से बचने के लिए शुद्ध ग्रा जीवन और पंचायत के आधार पर निर्मित 'रामराज्य' के आदर्शों की कल्पना क थे। इनके 'सर्वोदय' का प्रधान उद्देश्य सत्य को यथासंभव आत्मसात् कर उसके साथ तद्रूपता का अनुभव कर व्यक्तिगत जीवन म कामी गई पूर्णता द्व सामाजिक जीवन के स्तर को भी उच्चातिउच्च करना और इस प्रकार उसे वि कल्याण के योग्य बना देना था। 'सर्वोदय' ही उनके अनुसार जीवन तथा सम के सामूहिक उदय और विकास का विधान है। इसे कार्यान्वित करना प्रत्येक मनु का लक्ष्य होना चाहिए। उसे व्यवहार म लाने की इन्होंने भरपूर चेष्टा की उसकी सिद्धि के लिए एक सच्चे कर्मयोगी की भांति यत्नशील रहते हुए ही इन्ह अपना शरीर छोड़ा।

७. उपसंहार

सिंहावलोकन

भारतीय साधना के इतिहास से पता चलता है कि प्राचीन वैदिक काल लेकर विक्रम की लगभग ८वीं-वीं शताब्दी तक भिन्न-भिन्न प्रकार की साध

---

[1] हरिजन २६.५.४६।

पद्धतियाँ प्रयोग मे आती रही थी। उनके कारण साधक-समुदाय के अतर्गत वहुधा भेद-भाव भी प्रकट होते आए थे। वैदिक काल मे प्रकृति की उपासना की गई, पितरो का पूजन हुआ, यज्ञो के विधान बनाये गए और कभी-कभी जादू-टोने तक से भी काम लिया गया। इन बातो मे पूरी आस्था न रखनेवालो ने फिर उसी समय के लगभग तपोविद्या, एकात-सेवन, चितन तथा श्रद्धामयी भक्ति को अपनाया और वहुत-से साधको ने केवल इन्ही की उपयोगिता मे पूर्ण विश्वास न रखते हुए शुद्ध आचरण को भी अधिक महत्त्व दिया। इस प्रकार साधना-पद्धतियो की इस अनावश्यक वृद्धि को श्रेयस्कर न समझनेवाले व्यक्ति इनके पारस्परिक समन्वय की ओर प्रवृत्त हुए। 'श्रीमद्भगवद्गीता' द्वारा श्रीकृष्ण ने अपने ढग से एक प्रकार की 'ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक भक्ति' का प्रतिपादन कर इस ओर पथ-प्रदर्शन का कार्य आरभ किया। परन्तु श्रीकृष्ण का उक्त सुझाव भी आगे चल कर विस्मृत-सा होने लगा और पशुवलि तथा शास्त्र-विधि के अत्यधिक अनुसरण की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न हुए बौद्ध तथा जैन धर्मों के कारण उपर्युक्त वातो के विवेचन की ओर एक वार ध्यान फिर से आकृष्ट हो गया। विक्रम की प्रथम आठ शताब्दियो तक इस प्रकार प्राचीन वैदिक धर्म तथा उक्त धर्मों की भावनाओ मे सघर्ष चलता रहा। दोनो दलो द्वारा अनेक प्रकार का आदान-प्रदान होते आने तथा कतिपय सुधारपरक आदोलनो के होते जाने पर भी सशय, मिथ्याचार, विडवना और पाखड का अस्तित्व नही मिट सका, प्रत्युत साधनाओ के क्षेत्र मे एक प्रकार की अराजकता-सी लक्षित होने लगी।

वही

ऐसे ही अवसर पर स्वामी शकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद तथा स्मार्त्त-धर्म का प्रचार आरभ किया। बौद्ध धर्मावलबी सहजयानी सिद्धो ने भी अपनी चित्त-शुद्धि तथा सहज-सिद्धि के कार्यक्रम को अधिक अग्रसर किया। स्वामी शकराचार्य की पद्धति मे प्राचीन धर्म-ग्रथो का आश्रय लेकर चलना तथा प्रत्येक वात को पूर्व-परिचित मर्यादाओ के ही भीतर लाकर स्वीकार करना आवश्यक माना गया था। किंतु सिद्धो की प्रणाली इससे नितात भिन्न तथा विरुद्ध थी और इनके विचारो के लिए पहले की भाँति कोई दार्शनिक पृष्ठभूमि भी आवश्यक न थी। फिर भी इनके ही प्रचारो द्वारा प्रभावित 'नाथयोगी-सम्प्रदाय' का आविर्भाव हुआ जिसने शाकराद्वैत के दार्शनिक सिद्धातो को भी अपना लिया। इसी प्रकार प्राचीन भक्ति-वाद का अनुसरण करनेवाले भक्तो ने भी उसी उद्देश्य से विविध वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायो का प्रचार किया। विक्रम की ८वी शताब्दी से लेकर उसकी १३वी तक का समय इस प्रकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो की समन्वयात्मक चेष्टाओ मे व्यतीत

के दूर करने से है। 'प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति को स्वीकार करना प्रकृ
ईश्वर की ओर अग्रसर होना है जिससे उसके प्रति क्रमशः आत्म-समर्पण
हुए हम अपने विचारों तथा चेष्टाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने मो
जाते हैं।'[1]

पूर्वोक्त व्यापक कार्यक्रम

महात्मा गांधी के जीवन का कार्यक्रम अत्यंत व्यापक तथा विस्तृत था
उसकी पूर्ति में आमरण निरत रहे। उन्होंने व्यक्तिगत तथा धार्मिक प्रश्नों
करने के लिए ब्रह्मचर्य अहिंसा निर्भीकता साहस तथा संयत जीवन को अप
आस्तिकता प्रार्थना और रामनाम के प्रचार पर विशेष ध्यान दिया। समा
उन्नति के लिए अछूतोद्धार, जनसेवा चरित्रबल विश्वप्रेम पारिवारिक प
नारी-अधिकार, अनुशासन-जैसी बातों के महत्त्व को स्पष्ट किया। आर्थिक
के लिए खादी-प्रचार, गोपालन अपरिग्रह मितव्ययिता आदि के उपदेश
राजनीतिक समर्थ मे प्रयोग करने के लिए असहयोग सत्याग्रह सविनय-अवज्ञ
साधना की उपयोगिता सिद्ध कर दिखायी। वे स्वास्थ्य के लिए युक्ताहार
की आवश्यकता अनुभव करते थे। रोग-निवारण के लिए उपवास तथा प्रा
चिकित्सा का आश्रय लेते थे। शिक्षा की उपयोगिता उसके स्वावलंबी तथा सफ
बनाने मे ही माना करते थे। राष्ट्रभाषा की एकता म विश्वास रखते और
प्रचार करते थे। भौतिकवाद तथा उसके दुष्परिणामो से बचने के लिए शुद्ध
जीवन और पंचायत के आधार पर निर्मित 'रामराज्य' के आदर्शों की कल्पना
थे। इनके 'सर्वोदय' का प्रधान उद्देश्य मनुष्य को यथासंभव आत्मसात् कर
उसके साथ तद्रूपता का अनुभव कर व्यक्तिगत जीवन मे लायी गई पूर्णता
सामाजिक जीवन के स्तर को भी उच्चातिउच्च करना और इस प्रकार उसे
कल्याण के योग्य बना देना था। 'सर्वोदय' ही उनके अनुसार जीवन तथा स
के सामूहिक उदय और विकास का विधान है। इसे कार्यान्वित करना प्रत्येक म
का लक्ष्य होना चाहिए। उस व्यवहार में लाने की इन्होंने भरपूर चेष्टा की
उसकी सिद्धि के लिए एक सच्चे कर्मयोगी की भाँति यत्नशील रहते हुए ही इ
अपना शरीर छोड़ा।

७. उपसंहार

सिंहावलोकन

भारतीय साधना के इतिहास म पता चलता है कि प्राचीन वैदिक का
लेकर विक्रम की लगभग ८वीं–९वीं शताब्दी तक भिन्न भिन्न प्रकार की सा

---

१ हरिजन २९.५.४६।

पद्धतियाँ प्रयोग मे आती रही थी। उनके कारण साधक-समुदाय के अतर्गत बहुधा भेद-भाव भी प्रकट होते आए थे। वैदिक काल मे प्रकृति की उपासना की गई, पितरो का पूजन हुआ, यज्ञो के विधान बनाये गए और कभी-कभी जादू-टोने तक मे भी काम लिया गया। इन बातो मे पूरी आस्था न रखनेवालो ने फिर उसी समय के लगभग तपोविद्या, एकात-सेवन, चितन तथा श्रद्धामयी भक्ति को अपनाया और बहुत-से साधको ने केवल इन्ही की उपयोगिता मे पूर्ण विश्वास न रखते हुए शुद्ध आचरण को भी अधिक महत्त्व दिया। इस प्रकार साधना-पद्धतियो की इस अनावश्यक वृद्धि को श्रेयस्कर न समझनेवाले व्यक्ति इनके पारस्परिक समन्वय की ओर प्रवृत्त हुए। 'श्रीमद्भगवद्गीता' द्वारा श्रीकृष्ण ने अपने ढग से एक प्रकार की 'ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक भक्ति' का प्रतिपादन कर इस ओर पथ-प्रदर्शन का कार्य आरभ किया। परन्तु श्रीकृष्ण का उक्त सुझाव भी आगे चल कर विस्मृत-सा होने लगा और पशुबलि तथा शास्त्र-विधि के अत्यधिक अनुसरण की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न हुए बौद्ध तथा जैन धर्मो के कारण उपर्युक्त बातो के विवेचन की ओर एक बार ध्यान फिर से आकृष्ट हो गया। विक्रम की प्रथम आठ शताब्दियो तक इस प्रकार प्राचीन वैदिक धर्म तथा उक्त धर्मो की भावनाओ मे सघर्ष चलता रहा। दोनो दलो द्वारा अनेक प्रकार का आदान-प्रदान होते आने तथा कतिपय सुधारपरक आदोलनो के होते जाने पर भी सशय, मिथ्याचार, विडबना और पाखड का अस्तित्व नही मिट सका, प्रत्युत साधनाओ के क्षेत्र मे एक प्रकार की अराजकता-सी लक्षित होने लगी।

वही

ऐसे ही अवसर पर स्वामी शकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद तथा स्मार्त्त-धर्म का प्रचार आरभ किया। बौद्ध धर्मावलबी सहजयानी सिद्धो ने भी अपनी चित्त-शुद्धि तथा सहज-सिद्धि के कार्यक्रम को अधिक अग्रसर किया। स्वामी शकराचार्य की पद्धति मे प्राचीन धर्म-ग्रथो का आश्रय लेकर चलना तथा प्रत्येक बात को पूर्व-परिचित मर्यादाओ के ही भीतर लाकर स्वीकार करना आवश्यक माना गया था। किंतु सिद्धो की प्रणाली इससे नितात भिन्न तथा विरुद्ध थी और इनके विचारो के लिए पहले की भाँति कोई दार्शनिक पृष्ठभूमि भी आवश्यक न थी। फिर भी इनके ही प्रचारो द्वारा प्रभावित 'नाथयोगी-सम्प्रदाय' का आविर्भाव हुआ जिसने शाकराद्वैत के दार्शनिक सिद्धातो को भी अपना लिया। इसी प्रकार प्राचीन भक्ति-वाद का अनुसरण करनेवाले भक्तो ने भी उसी उद्देश्य से विविध वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायो का प्रचार किया। विक्रम की ८वी शताब्दी से लेकर उसकी १३वी तक का समय इस प्रकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो की समन्वयात्मक चेष्टाओ मे व्यतीत

हुआ। इस काल के अंत में कतिपय फक्कड़ व्यक्तियों ने भी उक्त ध्येय की उपलब्धि में सहायता प्रदान की। इसके सिवाय मुस्लिम पीरों की ओर से आये हुए सूफी सम्प्रदाय के प्रचार-कार्य ने भी उक्त प्रवृत्ति को आगे बढ़ाने में सहयोग दिया। किन्तु इन सबके यत्न वस्तुतः अधूरे ही जान पड़े और उन्हीं की पूर्ति के लिए फिर उन सब पर विचार भी करते हुए अंत में संत-परंपरा की नींव डाली गई, जिसका स्पष्ट नेतृत्व कबीर साहब ने ग्रहण किया।
वही

संत-परंपरा के क्रम का सूत्रपात आज से प्रायः नौ सौ वर्ष पहले भक्त जयदेव के समय में ही हो चुका था। किंतु इसकी निश्चित रूप-रेखा उसके दो सौ वर्ष पीछे कबीर साहब के जीवन-काल में उनके क्रांतिकारी विचारों द्वारा प्रकट हुई। कबीर साहब तथा उनके पूर्ववर्ती तथा समसामयिक संतों की प्रवृत्ति अपने मत को किसी धर्म-विशेष के साम्प्रदायिक रूप में ढालने की नहीं थी न उन्होंने कभी इसके लिए यत्न किया। वे अपने विचारों को व्यक्तिगत अनुभव पर आश्रित समझते थे और सर्वसाधारण को भी उसी प्रकार स्वयं निर्णय कर लेने का उपदेश देते थे। परिस्थिति की निष्पक्ष आलोचना उसके आधार पर निश्चित किये गए स्वतंत्र विचार और तदनुसार व्यवहार करना ही उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। उसी के द्वारा वे विश्व-कल्याण में भी सहायता पहुँचाने में विश्वास रखते थे। परन्तु कबीर साहब के लगभग ५ वर्ष अनंतर और संभवतः गुरु नानकदेव के समय से संत-मत को अधिक व्यवस्थित रूप देने का उसे प्रचारित करने की भी आवश्यकता का अनुभव होने लगा। इस ओर विशेष रूप से प्रवृत्त होनेवाले संतों ने अपने अपने पंथों या सम्प्रदायों का संगठन आरम्भ कर दिया। इस प्रकार की योजना तब से स्वाभाविक मनोयोग के साथ प्रायः डेढ़ सौ वर्षों तक चलायी जाती हुई निरंतर चली आई। कदाचित् किसी भी प्रमुख संत को अपनी संस्था को किन्हीं संकुचित तथा संकीर्ण विचारों का एक पृथक् वर्ग स्थापित करने का भी अवसर नहीं मिला।
वही

परन्तु विक्रम की १८वीं शताब्दी अथवा संत बाबालाल के समय से संत-मत के प्रचारकों ने उसके तुलनात्मक अध्ययन की ओर भी ध्यान देना आरंभ किया। इसके महत्त्व की परीक्षा तब से अन्य प्रचलित मतों तथा सम्प्रदायों के विचारों के साथ भी की जाने लगी। किंतु इस निर मूल्यांकन की प्रवृत्ति ने इसके अनुयायियों को क्रमशः अन्य समकालीन धर्मों के घनिष्ट संपर्क में भी ला दिया। उनकी विचार-धारा तथा विविध बाह्य पद्धतियों तक से इसका प्रभावित होना एक प्रकार से अनिवार्य-सा हो गया। फिर तो संत-मत के अनुयायी प्रायः अन्य डेढ़ सौ वर्षों तक

भी अधिकतर अपनी-अपनी संस्थाओ के साम्प्रदायिक सगठन मे ही लगे रह गए । इनका ध्यान जितना पारस्परिक भेदो की सृष्टि तथा सूक्ष्म बातो के विस्तार की ओर आकृष्ट हुआ, उतना अपने मत के मूल व्यापक सिद्धातो वा सर्वांगीण साधनाओ की ओर न जा सका। इस समय के कुछ सतो ने इस प्रवृत्ति को सँभालने के लिए शुकदेव मुनि तथा कबीर साहब-जैसे महापुरुषो द्वारा अपना अनुप्राणित होना बतलाया। कुछ ने अपने नवीन अवतार धारण करने तक का विश्वास दिलाया तथा दूसरो ने आदर्श स्थिति के बहाने किसी काल्पनिक परलोक का आकर्षक वा अलौकिक चित्र खीच कर सर्वसाधारण को अपनी ओर लाने का प्रयास किया। किसी-किसी ने कर्मकाड की भी विस्तृत व्यवस्था कर उसकी ओर लोगो को प्रवृत्त करना चाहा। किंतु ऐसी बातो के कारण मत-मत की विशेषताएँ क्रमश और भी लुप्त होती चली गईं। इसके फलस्वरूप उसमे तथा अन्य धार्मिक सम्प्रदायो मे कोई स्पष्ट अतर नही रह गया। अतएव स्वय कुछ सतो को भी यह कहने का अवसर मिलने लगा कि वास्तव मे आज कबीर साहब द्वारा प्रदर्शित मार्ग छूट गया है और उनके अनुयायी कहे जानेवाले मानो प्रवचित से हो रहे है।

वही

फिर भी सत-मत के मूलत सहज तथा सार्वभौम सिद्धातो पर ही प्रतिष्ठित रहने के कारण उसके पुनरुत्थान का होना भी स्वाभाविक था। इस कारण विक्रम की गत उन्नीसवी शताब्दी के प्राय मध्यकाल से ही इसके लक्षण दीख पडने लगे। सत-मत का क्षेत्र अब कोरा धार्मिक वा साम्प्रदायिक ही न बना रह कर पूर्ण आध्यात्मिक तथा सास्कृतिक भी समझा जाने लगा और इसका रूप क्रमश पलटने लगा। सत-मत किसी वर्ग-विशेष के निजी सिद्धातो का सग्रह मात्र नही है, न वह किसी आदर्श-विशेष वा अमुक-अमुक उपदेशो वा सकेतो की कभी अपेक्षा ही करता है। उसके अनुयायियो की उक्त परपरा भी केवल कतिपय सतो की एक विशिष्ट प्रणाली के कुछ काल तक अबाध रूप से निरतर चलती आने के ही कारण स्थापित हुई नही समझी जा सकती है। सत-मत के मूल नियम वस्तुत नित्य, सर्वव्यापक, सर्वोपयोगी तथा सर्वसुलभ हैं। उनके मानने के लिए केवल स्वतत्र विचार, आत्म-चिंतन, एकातनिष्ठा तथा आदर्श और व्यवहार के सामजस्य भर की आवश्यकता है। इसके लिए किसी सम्प्रदाय-विशेष मे दीक्षित होना किसी प्रकार अनिवार्य नही कहा जा सकता। इसका लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति का शुद्ध-सात्विक जीवन है, जिसके द्वारा ही यह विश्वजनीन कल्याण तथा शाति की भी आशा रखता है। अतएव आधुनिक सतो ने न तो कबीर साहब के समय से आती हुई परपरा का प्रत्यक्ष आश्रय ग्रहण करना आवश्यक माना, न किन्ही अन्य महापुरुषो वा धर्मोपदेशो

की कमी बुराई की प्रत्युत ऐसी बातों का कभी-कभी केवल तुलना मात्र के लिए ही सबके सामने रखा। अपने निजी विचारों तथा अनुभवों के आधार पर ही इसे मतावलंबित बनाए रखने की चेष्टा की।

नयी प्रवृत्ति

संत-परंपरा के इस नवीन युग के प्रमुख संत महात्मा गांधी कहे जा सकते है। इन्होंने अपनी योग्यता तथा तपस्या द्वारा संत-मत के महत्त्व की ओर सारे संसार का ध्यान अत्यंत स्पष्ट रूप से आकृष्ट कर दिया है। अपने जीवन के क्रमिक और रचनात्मक विकास उसके सर्वांगीण सुधार तथा उसके द्वारा उपलब्ध व्यापक परिणाम का उदाहरण इन्होंने सबके समक्ष रख दिया है। इन्होंने अपने आदर्श जीवन द्वारा सिद्ध कर दिया है कि पूर्ण संत का पद प्राप्त करने के लिए शारीरिक वा मानसिक साधनाओं का पृथक्-पृथक् अभ्यास करना उतना आवश्यक नहीं न आध्यात्मिक उन्नति को मानव-जीवन का एक पृथक् अंग मान बैठना ही कभी उचित कहा जा सकता है। हमारे जीवन की पूर्णता की ओर सर्वांगीण विकास का एक साथ होना दुःसाध्य नहीं है। अतएव शारीरिक मानसिक तथा धार्मिक जैसी व्यक्तिगत बातों से लेकर आर्थिक सामाजिक नैतिक राजनीतिक तथा विश्वजनीन आवश्यकताओं की भी पूर्ति के लिए एक साथ प्रयास किया जा सकता है। इस सिद्धांत का मुख्य आधार सारे विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता तथा उस सत्य की नित्यता और एकरसता में निहित है। इसके अस्तित्व में पूर्ण विश्वास रखना इस मार्ग के प्रत्येक यात्री के लिए संबल-स्वरूप है। क्योंकि उस दशा में ही किसी प्रकार के भ्रम वा मोह का प्रवेश कभी संभव नहीं हो सकता।

संतों का महत्त्व

संत-परंपरा का साम्प्रदायिक रूप विविध पंथों के रूप में इस समय भी वर्तमान है यद्यपि संत-मत के मौलिक आदर्श उनमें आज पूर्ववत् लक्षित नहीं होते न इससे प्रारंभिक युग की भावनाएँ अब उस प्रकार काम ही कर रही हैं। संतों के अनेक वर्ग अपनी-अपनी विशेषताएँ मूक कर आज हिन्दू-समाज के साधारण अंग में अपना अस्तित्व खोते-से जा रहे हैं। फिर भी इतना निश्चित-सा है कि जिस उद्देश्य को लेकर प्राचीन संतों ने अपना कार्य आरंभ किया था उसका महत्त्व आज भी उसी प्रकार बना हुआ है। उसकी पूर्ति के लिए जब कभी यत्न किये जायँगे उनके नाम एक बार अवश्य लिए जा सकते हैं जिन्होंने इसके लिए अपने सुझाव दिये थे तथा जिन्होंने अपने उपदेशों वा आचरणों के द्वारा उन्हें कार्यान्वित करने का कुछ भी प्रयास किया था। कबीर साहब से लेकर महात्मा गांधी के समय तक प्रायः छह सौ वर्षों का एक लंबा युग होता है जिसमें चरित्रबल की आवश्यकता,

स्वावलवन के महत्त्व, समाजगत साम्य के आदर्श, विश्व-प्रेम तथा विश्व-शांति के स्वप्न की चर्चा करनेवाले अनेक महापुरुषो का आविर्भाव हुआ है। ऐसे विशिष्ट व्यक्तियो की श्रेणी मे हम उन प्रमुख सतो को भी नि सकोच भाव के साथ रख सकते हैं जिनके परिचय पिछले पृष्ठो मे दिये जा चुके है। उनके उद्देश्य, उनकी साधना, उनके यत्न तथा उनकी सफलता का उचित मूल्याकन उन सबके साथ ही किया जा सकता है।

भूतल पर स्वर्ग

इन सतो के वास्तविक रूप को ठीक-ठीक न पहचान सकने के कारण कुछ लोग इनके विषय मे बहुधा भ्रमात्मक बातें कह बैठते हैं। वे कह टालते है कि इन्होने इहलोक की अपेक्षा किसी अमरलोक का आदर्श रखा था जिसके भुलावे मे पड कर लोग यहाँ की बातो से सदा उदासीन रहने लगे। इस प्रकार समस्याओ के पडने पर इन्होने पलायन-वृत्ति भी प्रदर्शित कर दी। परन्तु उक्त प्रकार के काल्पनिक लोको की सृष्टि किस सत ने कब और कहाँ पर की यह बतलाया नही जाता। हम देख चुके है कि कबीर साहब ने अपने वातावरण की आलोचना करते समय उसे भ्रम-जनित विचारो पर आश्रित ठहराया था। उन्होने स्पष्ट शब्दो में कहा था कि जिन-जिन बातो को हम सत्य माने हुए बैठे हैं उनकी वस्तुस्थिति कुछ और है। इसके समझने के लिए भिन्न दृष्टिकोण होना चाहिए। उस दृष्टिकोण की एक रूपरेखा भी उन्होने बतला दी थी। उन्होने कह दिया था कि उसके अनुसार देखने पर हमारा आदर्श नितात भिन्न हो जाता है। वह आदर्श उनके अनुसार किसी स्थान-विशेष की अपेक्षा नही करता, न वह किसी स्वप्न की वस्तु है। वही वास्तविक स्थिति है जिसे वर्तमान स्थिति को सुधार कर इसकी जगह ला देना अत्यत आवश्यक है। उक्त आदर्श के लिए कही अन्यत्र जाना नही है, न वह मरने के उपरात हमें उपलब्ध होगा। वह तो यही और इस वर्तमान समय में ही इसी भूतल को स्वर्ग बना कर व्यवहार मे परिणत किया जा सकता है। यह सच है कि उस आदर्श का वर्णन आगे चल कर भिन्न-भिन्न नामकरणो के कारण कुछ भ्रमात्मक हो गया, किंतु वह स्वय स्पष्ट तथा दोषरहित है। वह 'सतलोक', 'सचखड', 'धाम', 'अभयलोक', 'सतदेश', 'अमरलोक' वा 'अनामी लोक'-जैसे नामो से अभिहित होता हुआ भी उसी प्रकार स्थान-विशेष की सीमा में नही आता। इस प्रकार महात्मा गाँधी का 'रामराज्य' किसी त्रेतायुगीन दाशरथी रामचन्द्र के शासन-काल की अपेक्षा नही करता।

विचार-स्वातंत्र्य

उक्त समालोचक संतों को क्रांतिकारी विचारों के लिए भी कोसते हैं।

वे कहते हैं कि उन्होंने "सताब्दियों के परीक्षित सदाचार, धर्मतत्त्व और सामाजिक आदर्शों का एक ही उच्छ्वास में फूँक दिया ।" इससे प्रकट होता है कि ऐसे लोग उन सारी बातों के प्रति अपनी ममता दिखलाते हैं जो रूढ़िगत तथा पुरानी है। उन्हें अपनाते समय सर्वसाधारण अपनी बुद्धि से काम न लेकर अंधानु सरण-मात्र में प्रवृत्त हो जाते हैं। उनके विचार से धर्मतत्त्व के संबंध में जो कुछ भी धारणा हमारे पूर्वपुरुषों ने स्थिर कर रखी है, वह शाश्वत तथा सनातन है। जो सदाचार का मानदंड उन्होंने एक बार अपने समय म निर्धारित कर दिया वह सदा के लिए उपयुक्त है और जिन-जिन सामाजिक आदर्शों को उन्होंने एक बार महत्त्व दे दिया वे अनंत काल के लिए हमारे पथ प्रदर्शक बने रहेंगे। वे लोग कदाचित् इस बात मे भी विश्वास रखते हैं कि जो कुछ भी सृष्टि के भीतर दीख पड़ता है, वह आदिकाल से प्राय ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। उसमें कोई प्रगति नही न कोई परिवर्तन ही हुआ। फलत हमारे आदर्श महा पुरुषों का आविर्भाव कभी प्रारंभिक युग में ही हो गया था जिन्होंने आने की पीढ़ियों के लिए कुछ बातें निश्चित कर दी थी जिन्हें हमें बिना किसी हिचक या संकोच के सहर्ष मान लेना चाहिए। दूसरे शब्दों में धार्मिक तथा सामाजिक नियमो के विवेचन का अवसर अब कभी न आने देना चाहिए। कोरी श्रद्धा तथा विश्वास से ही काम लेना चाहिए। परन्तु क्या इस प्रकार के विचार कभी उचित ठहराये जा सकते हैं अथवा इन्हें कोई क्षति रहित कर सकता है ? ऐसे विचारों के भीतर तो हमें एक ऐसी अवहेलना की भी गध आती है जो शताब्दियों से वस्तुस्थिति का अध्ययन कर स्थिर किये जाते हुए उपलब्ध सिद्धांतों के प्रति प्रदर्शित की गई हो। इनमें आज तक किये गए वैज्ञानिक अनुसंधान तथा दार्शनिक चिंतन के साथ-साथ उस सामाजिक विकास के भी प्रति उपेक्षा दीखती है जो हमारे इतिहास द्वारा सिद्ध होता है। ऐसे आलोचकों के अनुसार विचार-स्वातंत्र्य का कोई मूल्य नही न हम कभी अपनी विविध सामाजिक समस्याओं को हल करने का यत्न ही कर सकते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार की प्रतिगामिता का उपदेश देनेवालो के आक्षेपों की कोई पुरता नही हो सकती। हम देख चुके हैं कि संतो ने जिस बात की ओर विशेष ध्यान दिलाया है, वह सर्वसाधारण के विभिन्न दुखो तथा पारस्परिक झगड़ो को सदा के लिए हटा देना है। इसके लिए उन्होंने सबके व्यक्तिगत सुधार तथा सदाचरण के उपदेश दिये हैं। वे व्यक्ति के समुचित विकास के आधार पर ही समष्टिगत विकास तथा पूर्णता के आदर्श को कार्यान्वित करना चाहते हैं। महात्मा गांधी ने अपने जीवन में इस ही अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर इनके स्वप्नो को साकार बनाने की चेष्टा की

१. विषय-प्रवेश

'सत' शब्द

'सत' शब्द का प्रयोग प्राय बुद्धिमान्[1], पवित्रात्मा[2], सज्जन[3], परोपकारी[4] वा सदाचारी[5] व्यक्ति के लिए किया गया मिलता है। कभी-कभी साधारण बोलचाल मे इसे भक्त, साधु एव महात्मा-जैसे शब्दो का भी पर्याय समझ लिया जाता है। किंतु कुछ लोग इसे 'शात' शब्द का रूपातर होना ठहराते हैं और कहते हैं कि उस विचार से इसका अभिप्राय 'श सुख ब्रह्मानन्दात्मक विद्यते अस्य' के अनुसार 'ब्रह्मानन्द-सम्पन्न व्यक्ति' होना चाहिए। बौद्धो के पालि-भाषा मे लिखित प्रसिद्ध धर्म-ग्रथ 'धम्मपद' मे भी यह शब्द कई स्थलो पर शात के अर्थ मे ही प्रयुक्त दीख पडता है[6]। इसी प्रकार कुछ विद्वान् 'सत' शब्द को 'सनोति प्राथित फल प्रयच्छति' के आधार पर बने हुए 'सति' वा 'सत्य' शब्द का विकृत रूप समझते हैं और इसका अर्थ 'फलदाताओ मे श्रेष्ठ' बतलाते हैं[7]।

---

१ 'सत. परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ परप्रत्ययनेय बुद्धि ।'—कालिदास ।
तथा, 'त सत श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतव ।'—कालिदास ।

२. 'प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशै स्वयहि तीर्थानि पुनन्ति सत ।'—
भागवत, स्क० १, अ० १९, श्लोक ८ ।

३ 'बदो सत असज्जन चरणा। दुखप्रद उभय बीच कछु बरणा ।।'—
रामचरित मानस ।

४. 'सत स्वय परहिते विहिताभियोगा ।'—भर्तृहरि ।

५. 'आचारलक्षणा धर्म, सतश्चाचारलक्षणा ।'—महाभारत ।

६ 'अधिगच्छे पदे सत सङ्खारूपसम सुख ।'—भिक्खुवग्ग, गाथा ९ ।
'सत अस्स मनहोति ।'—अर्हतवग्ग, गाथा ७ ।

७ 'गार्हपत्येन सत्य ऋतुना यज्ञनीरसि । देवान् देवयते यज' ।।१२।।
—ऋग्वेद मडल १, सूक्त १५ ।

कष्ट तक झेलने पड़े । शासकों द्वारा बंदी बनाया जाना शारीरिक यातनाओं को भोगने के लिए विवश किया जाना तथा समाज के उपहास का लक्ष्य बन जाना तो साधारण बातें थी । कुछ संतों को अपने प्राणों से हाथ धोना तक पड़ गया और ये सभी घटनाएँ उन्हें पूर्णतः न समझ सकने के ही कारण हुईं । महात्मा गाँधी अपने कार्य में कदाचित् उन सबसे अधिक सफल कहे जा सकते हैं किन्तु उनका भी देहांत उसी प्रकार एक हत्यारे की गोलियों के कारण हुआ ।

पुनरावर्त्तन

उत्तरी भारत की संत-परंपरा का सूत्रपात कर उसे सर्वप्रथम प्रवर्त्तित करने वाले कबीर साहब के शरीर त्याग किये आज से सैकड़ो वर्ष व्यतीत हो गए और संत-मत की जो रूप-रेखा उन्होंने सर्वसाधारण के सामने रखी थी उसमें समयानुसार बहुत कुछ हेर-फेर हो गया । इस कारण संतों की वास्तविक देन का पता लगाना और उसका उचित मूल्यांकन करना इस समय कठिन हो गया है । कबीर साहब का समय दो विभिन्न धर्मों के संघर्ष का युग था । उस काल में किसी भी प्रश्न को केवल धार्मिक दृष्टिकोण से देखना अनिवार्य-सा हो गया था । फलतः उन्होंने अपने अंतिम व्यापक उद्देश्य की ओर संकेत करते हुए तथा उसकी उपलब्धि के लिए प्रवृत्त होते हुए भी धर्म की ओर ही विशेष ध्यान दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि उनके पीछे आनेवाले संत भी ठेठ धार्मिक क्षेत्र की ही सीमा में कार्य करने की ओर अधिक उन्मुख होते दीख पड़े । उनके द्वारा स्थापित संस्थाओं ने क्रमशः साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर उसे एकांगी तथा संकीर्ण बना दिया । परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, संत-परंपरा की इस प्रवृत्ति की आलोचना स्वयं संतों द्वारा ही आरंभ हो गई है । इधर की संत प्रवर्तित संस्थाएँ अपने कार्यक्षेत्र को कुछ अधिक विस्तार देने लगी हैं । महात्मा गाँधी ने उनके मौलिक आदर्श की अव्यक्त तथा अस्पष्ट भावना को कहीं अधिक निश्चित तथा स्पष्ट रूप देकर उसका साध्य होना भी सिद्ध कर दिया है । संत विनोबा इस कार्य को और भी आगे बढ़ाने दीख पड़ते हैं । अब वह कोरा स्वप्न नहीं रह गया है । उसे वास्तविक रूप दिया जा सकता है ।

आशा

महात्मा गाँधी एक अत्यंत उच्च कोटि के महापुरुष थे और उनके स्तर तक पहुँचना सबसाधारण का काम नहीं हो सकता । उनके सभी निकटवर्ती शिष्य तथा अनुयायी भी उनका अनुसरण पूर्ण रूप में कर सकेंगे या नहीं इसमें संदेह किया जा सकता है । परन्तु जिन बातों का उपदेश उन्होंने दिया है और जिन्हें कर दिखाने के लिए वे अपने मरण-काल तक यत्नशील रहे हैं, उनका महत्त्वपूर्ण

थी। उनके योग्य शिष्य संत विनोवा भी आज इसी उद्देश्य की पूर्ति में यत्नशील दीख पडते हैं।

पुराने सतो का कार्य समयानुसार अधिकतर धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा। उनका सामाजिक प्रश्नो के सुलझाने का ढग भी स्वभावत वैसी ही भावना से प्रेरित था। महात्मा गाँधी ने अपने कार्यक्षेत्र को कही अधिक विस्तृत कर दिया। वे एक ही साथ समाज की सर्वांगीण उन्नति मे लग गए। विश्व-कल्याण उन सतो का भी लक्ष्य रहा। यदि उन्हें इसकी उपलब्धि में पूरी सफलता नही मिल सकी, तो हम इसके लिए उन्हें दोषी नही ठहरा सकते, न उन्हें इसी कारण लोक-विरोधी ही कह सकते हैं। यह वात और है कि जिस प्रकार किसी राज्य-शासन के विरुद्ध आदोलन करनेवाले व्यक्ति असफल होने पर राजद्रोही कहला कर दडित होते हैं। यदि वे ही सफल हो जाते हैं तो देशोद्धारक वन कर पूजे जाते हैं। उसी प्रकार उन सतो को भी रूढ धर्म तथा मर्यादा के पोषक कुछ काल के लिए वुरा-भला कर सकते है। ऐसा करना वैसी मनोवृत्ति वालो के अनुसार कदाचित् न्याय-सगत भी हो सकता है। परन्तु विश्व की जटिल समस्याएँ अभी सुलझ नही सकी हैं, न इसके लिए यत्न ही वन्द किये जा सकते हैं। अतएव जव कभी उस ओर सफलता मिल सकेगी और इसके लिए उद्योगशील व्यक्तियो की चर्चा होगी, उस समय ये सत भी सभवत विश्वोद्धारको में ही गिने जायँगे।

सतों का उत्सर्ग

सत-परपरा के लोगो का प्रधान लक्ष्य कभी स्वार्थपरक नही था, न उन्होने आत्मानुभूति की अपेक्षा विश्व-कल्याण को कभी हेय माना। वे दोनो की सिद्धि के एक साथ हो सकने में विश्वास रखते थे और उसी उद्देश्य को लेकर उन्होने अपने-अपने जीवन भर कार्य किये। उनके जीवन उनके उपदेशो से भी कही अधिक महत्त्वपूर्ण थे। उनमें हमें उनके उद्देश्यो, आदर्शों तथा व्यवहारो की रूपरेखा कही अधिक स्पष्ट मिल सकती थी। किंतु हमें उनकी घटनाओ का कोई विवरण उपलब्ध नही और उनके विषय में हमारी सारी धारणाएँ कतिपय सकेतो पर ही निर्भर रह जाती हैं। इसके सिवाय उनकी रचनाओ में भी हमें उनके जीवन के अधूरे चित्र ही मिलते हैं, जिस कारण उनके प्रति हमारी धारणा-कभी-कभी विपरीत रूप तक ग्रहण करने लगती है। कवीर साहव के तो समकालीन समाज ने भी उनके महत्त्व को भली भाँति नही समझ पाया, न उनके अनुकरण में पथो वा सम्प्रदायो की स्थापना करनेवाले सतो का ही उनके समाजो ने समुचित आदर किया। वहुत-से सतो को तो अपने जीवन में

परिस्थिति प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग को एक दूसरे के निकटतर खींचती हुई सारे विश्व को एक तथा अखंड सिद्ध करने की ओर स्वयं प्रवृत्त है। एक का दूसरे के द्वारा किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होता जाना अब अनिवार्य-सा हो रहा है। वर्तमान का हमें स्पष्ट संदेश है कि हम अपने जीवन के प्रत्येक क्षण तथा क्षुद्रातिक्षुद्र कर्म का भी वास्तविक महत्त्व समझने का यत्न करें। आज तक पाठशाला के समान समझे जानेवाले इस विश्व को अपनी प्रयोगशाला के रूप में परिणत कर उसमें सत्य का साक्षात्कार करें। महात्मा गांधी का जीवन इसी ध्येय की ओर लक्ष्य करता है और उक्त साधना को अधिक सक्रिय बनाने का हमें उपदेश भी देता है। अतएव यदि हम चाहें तो उससे उचित लाभ उठा कर न केवल अपना प्रत्युत समस्त प्राणियों का भी एक साथ कल्याण कर सकते हैं जो संतों के जीवन का सदा परम उद्देश्य रहता आया है। उसके शुद्ध स्वरूप को बहुत कुछ भूल जाने के ही कारण संत-परंपरा तक के सभी महापुरुषों की इधर वैसी सफलता दृष्टिगोचर न हो सकी थी।

होना प्राय सभी स्वीकार करने लगे हैं। उनके आदर्शों का प्रकाश इस समय कुछ ऐसे क्षेत्रो तक भी पहुँच रहा है जो अभी कल तक स्वत पूर्ण समझे जाते रहे हैं। इस महत्त्वपूर्ण 'सर्वोदय' आदोलन को लेकर आज विनोवा अग्रसर हो रहे है। उसके कार्यक्रम की पूरी सफलता मे अनेक विकट प्रश्नो तक का हल हो जाना सभव प्रतीत हो रहा है। अतएव हो सकता है कि जिस सत-परपरा के आविर्भाव के वे आदर्श कभी मूल कारण रहे होगे और जिसने उन्हे इतने काल तक प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में सुरक्षित रखा है, उसके अगीभूत विविध पथ तथा सम्प्रदाय भी उनसे एक बार फिर अनुप्राणित होगे और इस सुअवसर से सदा के लिए वचित न रह जायँगे।

सत-परपरा का भविष्य

सत-मत तथा गाँधीवाद के मौलिक सिद्धातो में कोई भी अतर नही, न इन दोनो के प्रमुख साधनो में ही किसी प्रकार का भेद बतलाया जा सकता है। यदि दोनो को भिन्न-भिन्न ठहराने का कोई कारण हो सकता है, तो केवल यही कि पहिले की कार्य-पद्धति मे जहाँ ठेठ आध्यात्मिक बातो को बहुत अधिक स्थान दिया जाता था और अन्य प्रश्न केवल गौण बने रह जाते थे, वहाँ दूसरे की कार्य-प्रणाली मे जीवन के प्रत्येक पार्श्व की ओर समुचित ध्यान देती है। उसके कार्यक्रमानुसार प्रत्येक बात का एक साथ ही विकसित होती हुई पूर्णता तक पहुँच जाना असभव नही समझ पडता। यह अतर भी वस्तुत मौलिक आदर्शों का अतर नही, अपितु वह उनके विकसित रूपो मे लक्षित होनेवाली विशेषता के कारण सुधारी गई कार्य-पद्धति के रूपातर का परिणाम है। सतो की परपरा अब तक ऐसे युग में प्रवेश कर रही है, जो विक्रम की चौदहवी शताब्दी से कई बातो में नितात भिन्न है और जिसकी विविध आवश्यकताओ का प्रभाव किसी विचार-पद्धति वा आदोलन पर पडे विना नही रह सकता। यह प्राकृतिक नियमो की माँग है जिसके सभी अधीन है। अतएव सत-परपरा के अवशेष वर्गों ने भी यदि इसे पहचान पाया तथा अपने को फिर सँभाल लिया, तो उनका पृथक् अस्तित्व निश्चित है, नही तो मौलिक भावनाएँ अपने आप काम करती आगे बढती चली जाएँगी और उन्हें बरबस पिछड कर साधारण समाज में ही घुल-मिल जाना पडेगा।

वस्तुस्थिति

आज का समय कोरी आस्था, शुष्क आत्म-चितन वा रूढिगत नैतिक जीवन मात्र का नही रह गया है, न अपनी साधनाओ को केवल भक्तिभाव, ज्ञान वा सदाचार तक सीमित रहने देना अब किसी प्रकार सुसगत प्रतीत होता है।

परिशिष्ट

है। ऐसे अवसरों पर हमें कभी-कभी इस प्रकार की कुछ अन्य पंक्तियों का भी सहारा मिल जाया करता है जो कबीर-पंथी साहित्य में कबीर साहब के प्रकट होने के प्रसंग में उल्लिखित पायी जाती हैं। उक्त सभी प्रकार की पंक्तियाँ बहुधा भिन्न-भिन्न तथा परस्पर-विरोधी मत प्रकट करती हैं। उन सबको यदि एकत्र किया जाय तथा उनके मूल स्रोतों का भी पता लगाया जा सके तो वह स्वयं ही एक मनोरंजक विषय होगा। उक्त पंक्तियों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।[1]

चार भिन्न-भिन्न मत

कबीर साहब का मृत्यु-काल निर्धारित करनेवाले आजकल अधिकतर उपर्युक्त पहले तीन पद्यों में से ही किसी-न-किसी एक की सहायता लिया करते हैं। शेष में से अंतिम अर्थात् छठ को कभी-कभी उनका जन्म-संवत् भी स्वीकार कर लेते हैं। तीसरे पद्य को माननेवालों में आपस में थोड़ा-बहुत मतभेद भी जान पड़ता है और चौथे अथवा पाँचवें के समर्थकों की संख्या इस समय अधिक नहीं पायी जाती। इस संबंध में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि ये पंक्तियाँ भिन्न-भिन्न दीख पड़ने पर भी संभवतः कबीर-पंथ के अनुयायियों की ही रचनाएँ हैं। ये उनकी इस धारणा के साथ प्रस्तुत की गई हैं कि कबीर साहब वस्तुतः अमर तथा अजन्मा हैं केवल हंसों के उद्धारार्थ कभी-कभी युगानुसार अवतार धारण कर लेते हैं। इसके सिवाय इन पंक्तियों का आश्रय न ग्रहण कर स्वतंत्र रूप से विचार करनेवाले भी कुछ विद्वान् हैं, जो कबीर साहब के पूरे जीवन-काल को विशिष्ट संवतों वा सनों के भीतर न रख सकने के कारण उसे किसी-न

---

1 संवत पन्द्रह सौ पछत्तरा किया मगहर को गवन।
माघ सुदी एकादशी रलो पवन में पवन॥
पन्द्रह सौ औ पाँच में मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुद एकादसी मिल्यो पौन में पौन॥
पन्द्रह सै उनचास में मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदि एकादसी मिलो पौन में पौन॥
सुमंत पन्द्रासी उनहत्तरा रहाई।
सतगुरु चले उठि हंसा ज्याई॥
संवत बारह सौ पाँच में ज्ञानी कियो विचार।
काशी में परगट भयो शब्द कह्यो टकसार॥
चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रगट भए॥ आदि।

(क) कबीर साहब का जीवन-काल

उपक्रम

कबीर साहब का जीवन-काल निश्चित करने की चेष्टा प्राय गत सौ वर्षों से निरतर होती चली आ रही है। इस विषय के जो कुछ भी साधन अभी तक उपलब्ध हैं, उनकी छानबीन भी आजतक होती जा रही है। पहले के विद्वान् प्रत्यक्ष प्रमाणो के अभाव में अधिकतर अनुश्रुतियो का ही सहारा लिया करते थे और कभी-कभी यत्र-तत्र बिखरे हुए विविध प्रसगो का भी उपयोग करते थे। परन्तु कुछ दिनो से उक्त लेखको द्वारा निकाले गए परिणामो तथा उन तक पहुँचने के लिए प्रस्तुत की गई उनकी युक्तियो पर भी विचार किया जाने लगा। इस प्रकार के आलोचनात्मक अध्ययन से उक्त विषय के अधिकाधिक स्पष्ट होते जाने की आशा की जाती है। किंतु इस प्रश्न को लेकर इस समय एक से अधिक मत प्रचलित हैं और सभी एक दूसरे का खडन करते हुए से दीख पडते हैं। फिर भी, यदि ऐसी सभी उपलब्ध सामग्रियो पर हम एक बार फिर से विचार करे, तो कदाचित् किसी ऐसे निश्चय पर पहुँच सकते हैं जो वर्तमान परिस्थिति में अधिक-से-अधिक मान्य तथा युक्ति-सगत माना जा सके।

प्रमाण सबधी पक्तियाँ

कबीर साहब का जीवन-काल निश्चित करते समय कभी-कभी कुछ ऐसी पक्तियाँ भी उद्धृत की जाती हैं जो उसके लिए प्रमाण-स्वरूप समझी गई हैं। किंतु उन्हें आधार की भाँति स्वीकार करते समय उनके भी मूल का पता नहीं लगाया जाता, अपितु उन्हें केवल बहुत दिनो से प्रचलित रही आई ही मान कर उनमें से किसी-न-किसी को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चुन लिया जाता है और उसके द्वारा अपने मत की पुष्टि कर दी जाती है। ऐसी पक्तियाँ भी अधिकतर कबीर साहब के अतिम काल से ही सबद्ध हैं और उनके द्वारा मृत्यु-काल का सकेत पाकर हम उनके पूरे जीवन-काल की अवधि भी निर्धारित कर डालते

पहुँच गया था उनका शिष्य था और उनके शव का अग्नि-संस्कार करना चाहता था। दोनों में कबीर साहब से अपनी-अपनी इच्छा प्रकट की थी और दोनों को उन्होंने मृत्यु के पहले ही समझा दिया था। अतएव लाश खोलने पर जब वहाँ 'फक्त् कमल के फूल और दो चद्दर ही' पायी गई, तब उन दोनों ने उन्हें आपस में बाँट कर अपनी-अपनी विधि का निर्वाह किया। परन्तु बिजली खाँ और वीर सिंह का एक साथ उस समय वहाँ पर एकत्र होने की संगति किसी ऐतिहासिक प्रमाण से बैठती हुई दीख नहीं पड़ती। उक्त तिथि को ही मृत्यु दिवस निश्चित मान कर दोनों का पहले से युद्ध के लिए मौके पर उपस्थित रहना, कबीर साहब का उन दिनों के बीहड़ तथा लंबे मार्ग को माघ महीने के एक ही दिन में तय कर उक्त ढंग से प्रवेश करते हुए शरीर-त्याग करना आदि बातें केवल श्रद्धा के ही बल पर सच्ची घटना मानी जा सकती हैं। इसके सिवाय उक्त माघ सुदी ११ को बुधवार का पड़ना भी अभी तक सिद्ध नहीं।
वही

'कबीर-कसौटी' की रचना संवत् १९४२ में हुई थी और उक्त बातें उसके पहले से प्रचलित रही होंगी। किंतु इतने से ही दोहे की रचना का समय निश्चित नहीं किया जा सकता। यह दोहा संभवतः उस समय भी प्रसिद्ध था जब कि गार्साँ-द-तासी ने अपनी फ्रेंच पुस्तक 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदूई ऐंदुस्तानी' अर्थात् हिंदी तथा हिंदुस्तानी साहित्य के इतिहास' की रचना सं० १८९६ में की थी। उनके पीछे इस दोहे को एक प्रामाणिक सूत्र के रूप में मान कर उसके अनुसार अनेक विद्वान् सं० १५७५ को कबीर साहब का मृत्यु-काल निश्चित करते आये हैं। इस संबंध में रेवरेंड वेस्टकाट (सं० १९६४) मेकालिफ (सं० १९६६) बालेश्वर प्रसाद (सं० १९६९) भंडारकर (सं० १९७२) डॉ० भांडारकर (सं० १९७५) रेवरेंड कीहर (सं० १९७५) डॉ० श्यामसुंदर दास (सं० १९८५) रामचन्द्र शुक्ल (सं० १९८६) मनोहरलाल जुत्शी (सं० १९८७) रेवरेंड की (सं० १९८८) आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इनमें से भी मेकालिफ, बालेश्वर प्रसाद, भांडारकर, श्यामसुंदरदास आदि ने कबीर साहब के एक सौ बीस वर्षों तक जीवित रहने का भी किसी-न-किसी रूप में समर्थन किया है। किंतु वेस्टकाट, भंडारकर, कीहर और की को यह बात मान्य नहीं और वे उनका जन्म-काल सं० १४२७ में ही ठहराते हैं। सं० १५७५ को कबीर साहब का मृत्यु-काल मानने के पक्ष में जनश्रुति तथा दोहे के अतिरिक्त जो प्रमाण इन विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं, उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं

१ कबीर साहब को सिकंदर शाह लोदी (शासन-काल सं० १५४६ १५७४)

किसी एक शताब्दी मे वा भिन्न-भिन्न शताब्दियो के भागो में रखना अधिक युक्ति-सगत समझते हैं और उनमें भी आपस मे कुछ-न-कुछ मतभेद है। इस प्रकार स्थूल रूप से देखने पर इस समय कुल मिला कर केवल चार प्रकार के ही मत अधिक प्रसिद्ध जान पड़ते हैं, जो निम्नलिखित हैं

(१) मृत्यु-काल को स० १५७५ में ठहराते हुए भिन्न-भिन्न जन्म-सवत् वा जन्म-काल माननेवालो का मत,

(२) मृत्यु-काल को स० १५०५ मे अथवा १५०७ के आसपास मान कर भिन्न-भिन्न जन्म-सवत् वा जन्म-काल ठहरानेवालो का मत,

(३) मृत्यु-काल को म० १५५१ वा १५५२ में निश्चित कर भिन्न-भिन्न जन्म-सवत् देनेवालो का मत,

तथा, (४) मृत्यु और जन्म के सवत् अथवा पूरे जीवन-काल को ही भिन्न-भिन्न सवतो के बीच वा शताब्दियो के अनुसार वतलानेवालो का मत।

आलोचना · पहला मत

उक्त (१) के अनुसार स० १५७५ को कबीर साहब का मृत्यु-काल माननेवालो की सख्या कदाचित् सबसे अधिक होगी। इस मत के समर्थन में जो दोहा, "सवत् पन्द्रह सै पछत्तरा किया मगहर को गवन। माघ शुदी एकादशी, रलो पवन में पवन।"[1] दिया जाता है, उसके मूल रचयिता का पता नही चलता। 'कबीर-कसौटी' ग्रथ के लेखक बाबू लैहनासिंह कबीर-पथी के अनुसार यह 'साखी' उन्हें किसी "लाल माधो राम साहिब पाएलवाले से" मिली थी, जब वे "साल-सवत् श्री कबीर जी साहेब के प्रकट होने" की तलाश करते फिर रहे थे। एक दूसरे स्थान पर उन्हें यह भी पता चला था, "श्री कबीर जी काशी मे एक सौ बीस बरस रह कर मगहर को गए।" काशी से "माघ सुदी एकादसी, दिन बुधवार, स० १५७५"[2] को उन्होंने मगहर के लिए प्रस्थान किया था। उसी दिन वहाँ से चल कर काशी से मगहर तक की 'छह मजिल' की दूरी तय की, वहाँ पहुँच कर किसी सत की एक छोटी कोठरी में जो वर्तमान अमी नदी के किनारे पर थी, लेट कर चादर ओढ ली, बाहर से ताला बद करा दिया और एक अलौकिक ध्वनि के साथ सत्यलोक सिधार गए। वहाँ का नवाब बिजली खाँ पठान कबीर साहब का मुरीद था, जो उनकी लाश को पहले से ही दफनाना चाहता था। वीर सिंह बघेला जो पहले से ही अपनी लश्कर लेकर वहाँ

---

१. बाबू लैहना सिंह कबीर-कसौटी (भूमिका), बम्बई, स० १९७१ पृ० ३-४।
२ वही, पृ० ५३-५५।

इसके सिवाय एक अन्य मत के अनुसार, कुछ दूसरे लोग इसे 'समति सम्भवति लोकाननुगृह्णाति' का आशय ग्रहण कर इसका अर्थ 'लोकानुग्रहकारी' भी सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु ये उक्त सभी अनुमान प्रधानतः 'संत' शब्द द्वारा सूचित व्यक्तियों की प्रशंसा के ही द्योतक जान पड़ते हैं। इस प्रकार की कल्पनाएँ प्रायः वैसी ही हैं जैसी इस शब्द को अंग्रेजी शब्द 'सेंट'[1] का समानार्थक समझ कर उसका हिंदी-रूपांतर मान लेने पर भी की जा सकती है। अतएव 'संत' शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसके प्रयोगों द्वारा व्यक्त होनेवाले आशय का क्रमिक विकास जानने के लिए अन्यत्र खोज की जानी चाहिए।

व्युत्पत्ति

'संत' शब्द हिंदी भाषा के अंतर्गत एकवचन में प्रयुक्त होता है किन्तु यह मूलतः संस्कृत शब्द 'सन्' का बहुवचन है। 'सन्' शब्द भी अस् भुवि (अस्—होना) धातु से बने हुए 'सत्' का पुल्लिंग रूप है जो 'शतृ' प्रत्यय लगाकर प्रस्तुत किया जाता है और जिसका अर्थ केवल 'होनेवाला' या 'रहनेवाला' हो सकता है। इस प्रकार 'संत' शब्द का मौलिक अर्थ 'शुद्ध अस्तित्व' मात्र का ही बोधक है और इसका प्रयोग भी इसी कारण उस नित्य वस्तु वा परमतत्त्व के लिए अपेक्षित होगा जिसका नाश कभी नहीं होता जो 'सदा एकरस तथा अविकृत रूप में विद्यमान' रहा करता है और जिसे 'सत्य' के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। इस शब्द के 'सत्' रूप का ब्रह्म वा परमात्मा के लिए किया गया प्रयोग बहुधा वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है। जैसे 'छान्दोग्य उपनिषद्'[2] में कहा गया है कि आरम्भ में एक अद्वितीय 'सत्' ही वर्तमान था। इसी प्रकार 'ऋग्वेद'[3] में भी एक स्थल पर आया है कि 'क्रान्तदर्शी विप्र लोग उस एक एवं अद्वितीय 'सत्' का ही वर्णन अनेक प्रकार से किया करते हैं।" 'संत' शब्द का उक्त अर्थ अपभ्रंश की पुस्तक 'पाहुड़ दोहा'[4] में भी किया

---

१ Saint (सेंट) शब्द वस्तुतः लैटिन Sancio (सेंक्शियो = पवित्र कर देना) के आधार पर निर्मित Sanctus (सेंक्टस) शब्द से बनता है जिसका अभिप्राय इसी कारण 'पवित्र' होता है और यह ईसाई धर्म के कतिपय प्राचीन महात्माओं के लिए 'पवित्रात्मा' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

२ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। (द्वितीय खंड, १)

३ 'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'। ऋग्वेद (१०-११४-५)

४ 'संतु णिरंजणु सोवि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ। 'पाहुड़ दोहा' (कारंजा जैन सिरीज १८) तथा 'संत णिरंजणु जहि वसइ णिम्मल होइ मणेसु'-वही, ९४।

ने उनके धार्मिक सिद्धातो के कारण दडित किया था और उसके बनारस आने के समय अर्थात् स० १५५१ मे ही सभवत उन्हें काशी छोड कर मगहर जाना पडा था ,

२ गुरु नानकदेव (स० १५२६–१५९६) के साथ कबीर साहब की भेंट स० १५५३ (अर्थात् गुरु नानकदेव के २७ वें वर्ष) मे हुई थी ,

३ कबीर साहब के प्रसिद्ध शिष्य धर्मदास ने स० १५२१ (अर्थात् उनके जीवन-काल) में ही उनकी रचनाओ का सग्रह किया था ,

४ कबीर साहब के जो प्रामाणिक चित्र उपलब्ध हैं, उनसे उनकी वृद्धावस्था सूचित होती है। यह बात उनके जन्म-काल के स० १४५५ वा १४५६ होने से भी मेल खाती है ।

स्पष्ट है कि इनमें से किसी के भी आधार पर मृत्यु-काल का स० १५७५ में ही होना सिद्ध नही होता । चित्रो में लक्षित होनेवाली वृद्धावस्था जन्म-काल के काफी पहले होने पर किसी भी पूर्वोक्त मत के अनुसार सभव है। स० १५२१ में धर्मदास द्वारा कबीर साहब की रचनाओ का सगृहीत होना भी केवल जनश्रुति मात्र ही जान पडता है। वास्तव में अभी तक धर्मदास के ही जीवन-काल का निर्णय अतिम रूप में नही हो पाया है। अभी तक यही अनुमान किया जाता है कि ये उनके जीवन-काल में वर्तमान नही रहे होगे। गुरु नानक देव की किसी प्रामाणिक जीवनी में इन दो महान् सतो की भेंट की चर्चा नही मिलती। केवल इतना ही पता चलता है कि स० १५५३ वा १५५४ मे एक बार स्नान करते समय किसी नदी के किनारे गुरु नानक देव से किसी एक सत से भेंट हुई थी, जिनसे वे बहुत प्रभावित हुए थे।[1] किंतु केवल इतने से ही यह सिद्ध नही होता कि वे महात्मा कबीर साहब ही थे। कम-से-कम स्वय नानक जी ने उनके शिष्यो ने अथवा किसी भी जानकार समझे जानेवाले व्यक्ति ने कही पर इस विषय में कोई सकेत नही किया है। इसी प्रकार सिकदर शाह लोदीवाले प्रसग के विषय में भी किसी समकालीन इतिहासकार ने कोई उल्लेख नही किया है। सिकदर शाह के समय मे किसी धार्मिक विप्लव का होना प्राय सभी स्वीकार करते हैं। किसी-किसी के अनुसार एक ब्राह्मण सत का सिकदर शाह के अधिकारियो द्वारा प्राणदड दिया जाना भी बतलाया जाता है। किंतु कबीर साहब को उक्त शाह की आज्ञा द्वारा कष्ट पाना अथवा काशी से निकाल बाहर कर दिया जाना केवल अनुमान के ही सहारे समझा जा सकता है।

---

१ शालिग्राम · गुरुनानक, प्रयाग, स० १९७६, पृ० ३६ ।

आलोचना दूसरा मत

उक्त (२) द्वारा निर्दिष्ट मत के समर्थकों में सर्वप्रथम नाम उन अज्ञात कबीर-पंथियों का आता है जो कबीर साहब का जीवन-काल ३ वर्षों का होना बतलाते हैं। अपने मत की पुष्टि मे वो दोहे उद्धृत करते हैं जिनमें स दूसरा का मृत्यु-काल-संबंधी दूसरा दोहा औरों को भी मान्य है। उनका जन्म-काल-संबंधी उक्त पाँचवाँ दोहा 'संवत बारह सौ पांच में ज्ञानी कियो विचार। काशी में परगट भयो शब्द कहा टकसार।' सूचित करता है कि कबीर साहब (ज्ञानी) ने सबसाधारण के उद्धार के निमित्त काशी में अवतार धारण किया और अनेक महत्त्वपूर्ण उपदेशो का प्रचार किया। दूसरे दोहे 'पंद्रह सौ औ पांच में मगहर कीन्ही गौन। अगहन सुद एकादसी मिल्यौ पौन में पौन।' स प्रकट है कि सं १५ ५ में उन्होंने मगहर की यात्रा की और वहीं अगहन सुदी ११ को अपना शरीर छोड़ दिया। इसमें से प्रथम दोहे के अनुसार मत निश्चित करनेवालों की संख्या नितांत अल्प है और दिन-प्रति-दिन और भी कम होती जा रही है। किंतु केवल दूसरे दोहे को आधार मान कर निर्णय करनेवालों मे अनेक विद्वान् हैं जो अपने मत की पुष्टि अन्य प्रमाणों के सहारे भी करने की चेष्टा करते हैं। उक्त दोनो दोहों में से किसी के भी रचयिता का पता नहीं चलता किंतु जान पड़ता है कि कम से कम दूसरा दोहा भी प्रायः उतना ही प्राचीन है जितना पहले मत का सं १५७५ वाला दोहा पुराना है। अनुमान किया जाता है[1] कि यह दोहा डॉ एच एच विल्सन (सं १८८५) को भी मिला था। कदाचित् इसी के आधार पर उन्होंने कबीर साहब का मृत्यु-काल सं १५ ५ में मान लिया था। फिर भी सिकंदर वाले प्रसंग में भी वे कुछ आस्था रखते हुए दीख पड़ते हैं। फिरिश्ता द्वारा किये गए तत्कालीन धार्मिक विप्लव संबंधी उल्लेखों के आधार पर कबीर साहब अथवा कम-से-कम उनके किसी शिष्य के ही विषय में साम्प्रदायिक झगड़े का उस समय खड़ा होना संभव समझते हैं।[3] प्रो बी बी राय (सं १९११) ने सं १५ ५ में मृत्यु-काल होने

---

१ शिवशंकर मिश्र भारत का धार्मिक इतिहास कलकत्ता सं १९८ पृ २०१।

२ डॉ पी द बर्थ्वाल : दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री बनारस सन् १९३६ ई पृ १ १।

३ एच एच विल्सन ए स्केच ऑफ दि रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज, पृ ७२-३।

का समर्थन इस बात मे भी किया है कि गुरु नानकदेव (स० १५२६-१५९६) कबीर साहब द्वारा प्रभावित थे। वे कहते हैं, "गुरु नानक जो कबीर के बाद मौजूद था और जिसने कबीर की बहुत-सी तालीमी बातें अपने 'आदिग्रंथ' मे इख्तियार की। सन् १४९० ई० (स० १५४७) मे अपनी तालीम देनी शुरू की, सो कबीर का उसमे थोडी मुद्दत मौजूद होना ही मुमकिन है।"[1] परन्तु "आदिग्रंथ केवल गुरु नानक देव की ही रचना न होकर एक संग्रह-ग्रंथ है इसमे गुरु नानक, कबीर आदि के अतिरिक्त उन सिक्ख-गुरुओं की भी रचनाएँ संगृहीत हैं जो गुरु नानक के पीछे हुए थे। उसका संग्रह-काल वास्तव मे पाँचवे गुरु अर्जुन देव (स० १६२०-१६६३) के समय स० १६६१ मे बतलाया जाता है। इस विषय मे केवल इतना ही कहा जा सकता है (जैसा कुछ अन्य लेखकों ने भी अनुमान किया है) कि गुरु नानकदेव १५-१६ साल की अवस्था में अपने पिता की आज्ञा से भाई बाला के साथ व्यापार करने निकले थे। उस समय लाहोर के मार्ग मे जो भूखे साधुओं का अखाडा चोरकाना के पास मिला था, वह कबीर-पंथियों का ही रहा होगा।[2] ये लोग उन दिनों अपने मत के प्रचारार्थ दूर-दूर तक फैल गए होंगे। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से कबीर साहब के सिद्धांतों द्वारा उनका प्रभावित हो जाना कोई असंभव बात नहीं।

वही

स० १५०५ का मृत्यु-काल माननेवालों में प्रमुख नाम आचार्य क्षितिमोहन सेन (स० १९८६) तथा डॉ० बड़थ्वाल (स० १९९३) के भी समझे जाने चाहिए। क्षिति बाबू ने अपनी पुस्तक 'मिडीवल मिस्टिसिज्म' अथवा 'मध्य-कालीन रहस्यवाद' मे उक्त संवत् के समर्थन में किसी 'भारत-भ्रमण' ग्रंथ की की चर्चा की है।[3] इसके अनुसार कबीर साहब का जीवन-काल स० १४५५ से स० १५०५ तक बतलाया गया है। परन्तु 'भारत-भ्रमण' मे व्यक्त किये गए उक्त मत के किसी आधार का पता नहीं चलता, न इस ओर क्षिति बाबू ने ही कोई संकेत किया है। स० १५०५ के पक्ष मे वे फ्यूहरर की उस रिपोर्ट का भी उल्लेख करते हैं जिसमें अमी नदी के किनारे वर्तमान तथा बस्ती जिले के खिरनी स्थान पर निर्मित कबीर के रौज़े का बिजली खाँ द्वारा स० १५०७ . सन् १४५० ई० में बनाया जाना तथा नवाब फिदाई खाँ द्वारा स० १६२४

---

१ प्रो० बी० बी० राय सम्प्रदाय, लुधियाना, सन् १९०६ ई०, पृ० ६०।

२ शालिग्राम गुरुनानक, प्रयाग, स० १९७६, पृ० २७।

३ क्षितिमोहन सेन मिडीवल मिस्टिसिज्म, लंदन, सन् १९२९ ई०, पृ० ८८।

सन् १५६७ ई॰ में उसका जीर्णोद्धार होना लिखा है। उनका अपना अनुमान है कि कबीर साहब की मृत्यु होने पर बिजली खाँ ने वहाँ एक मकबरा बनवा दिया था और दो वर्षों के अनंतर उसी स्थल पर फिर एक रौजा भी निर्मित करा दिया। परन्तु बिजली खाँ का कबीर का अनुयायी होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक नहीं मिला न डॉ॰ फ्यूहरर ने ही सन् १५५ ई॰ के लिए कोई आधार दिया है। यह बात किसी शिलालेख आदि से भी सिद्ध नहीं होती।
वही

डॉ॰ बर्थ्वाल इस विषय में तर्क करते समय स्वामी रामानंद को कबीर साहब का गुरु निश्चित रूप से मान कर चलते हैं।[१] सं॰ १५७५ को उनका मृत्यु-काल इसलिए स्वीकार नहीं करते कि वैसी स्थिति में उनका जन्म-काल सं॰ १४५५ मान लेना पड़ेगा और तब उनकी स्वामीजी (मृ॰ सं॰ १४६८) के शिष्य होने की बात कुछ असंभव-सी जँचने लगी। इसके सिवाय उन्हें कबीर साहब का झूँसी वाले तकी (मृ॰ सं॰ १४६६) का समकालिक होना भी मान्य है और वैसा समय लेने पर इस बात में भी संदेह को स्थान मिल सकता है। झूँसीवाले मीर तकी के साथ कबीर साहब का परिचय वे जनश्रुति तथा झूँसी में वर्तमान कबीर-नाले के कारण भी सिद्ध करते हैं। डॉ॰ बर्थ्वाल ने रैदास तथा पीपा को भी स्वामी रामानंद का शिष्य माना है और पीपा को कबीर साहब से अधिक अवस्था का समझा है। इसके अनुसार कबीर साहब का जन्म-काल सं॰ १४२७ में मानना चाहिए जिसमें मृत्यु के समय उनकी आयु ७८ वर्ष की होगी। परन्तु वे सारी बातें उन्होंने कोरे अनुमान पर ही आश्रित रखी हैं, सिवाय इसके कि स्वामी रामानंद उनके गुरु थे तथा पीपा और रैदास ने उनसे संबंध में कुछ चर्चा की है (जिसकी संदिग्धता इसी पुस्तक में अन्यत्र सिद्ध की जा चुकी है) कोई अन्य प्रमाण उन्होंने उनका जीवन-काल निश्चित करने के लिए नहीं दिया है। डॉ॰ बर्थ्वाल को सिकंदर प्रसंग की सचाई में विश्वास नहीं है। उन्होंने इस बात को कबीर साहब को प्रह्लाद भक्त की भाँति स्पष्ट पाकर भी कब जातेवाला' सिद्ध करने की चेष्टा में रची गई मनगढ़ंत कल्पना ठहराया है।[२] क्षिति बाबू कबीर साहब का जन्म सं॰ १४५५ में होना मानते हैं जिससे मृत्यु के समय उनकी अवस्था केवल ५ वर्षों की ही रह जाती है।

---

१ डॉ॰ पी॰ द॰ बर्थ्वाल : दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री बनारस सन् १९३६ ई॰ पृ॰ २५२-३।
२ वही पृ॰ २५२।

आलोचना : तीसरा मत

उक्त (३) वाले मत का आधार-स्वरूप दोहा "पन्द्रह से उनचास मे मगहर कीन्हो गौन। अगहन सुदि एकादसी मिलो पौन मे पौन।" श्री रूपकलाजी (स० १९६५) द्वारा की गई नाभादास की 'भक्तमाल' की टीका मे उद्धृत हुआ है। इसके अनुसार वे उक्त सवत् मे तीन वर्ष और जोड कर मृत्यु-काल का स० १५५२ मे होना निश्चित करते हैं।[1] परन्तु ये तीन वर्ष उन्होने क्यो बढा दिये, इसका कोई भी उन्होने समाधान नही किया है। उनके अनतर स० १५५२ को मृत्यु-काल माननेवाले हरिऔध (स० १९६६), मिश्रबधु (स० १९६७), चन्द्रबली पाडेय (स० १९९०) तथा डॉ० राजकुमार वर्मा (स० २०००) ने इसकी सगति अधिकतर सिकदर-प्रसग के साथ बैठायी है। डॉ० वर्मा ने उक्त स० १५५२ को भी स० १५५१ इस कारण कर दिया है कि इतिहासकारो के अनुसार सिकदर लोदी वस्तुत उसी वर्ष काशी आया हुआ था। इस प्रकार उक्त मत का एकमात्र आधार सिकदर-प्रसग को ही मानना चाहिए। क्योकि उसी के प्रमाणित होने वा न होने पर इसके विषय मे कोई निश्चित निर्णय किया जा सकता है। डॉ० वर्मा ने उक्त प्रसग की पुष्टि मे जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं [2]

१ प्राय सभी इतिहासकार (जिनकी एक सूची उन्होने अपनी पुस्तक मे दी है) कबीर साहब और सिकदर लोदी का समकालीन ठहराते हैं,

२ ब्रिग्स ने सिकदर का स० १५५१ मे ही बनारस आना कहा है,

३ प्रियादास ने अपनी नाभादास की 'भक्तमाल' की टीका मे सिकदर और कबीर साहब का सघर्ष दिखलाया है,

४ अनतदास की रचना 'श्री कबीर साहब की परचई' मे इस बात की चर्चा की गई है,

५ 'आदिग्रथ' मे आये हुए कबीर साहब के रागु गौड ४ तथा रागु भैरउ १८ वाले पदो के आधार पर भी हम दोनो को समकालीन मान सकते हैं,

और, ६ बस्ती जिले मे स्थित बिजली खाँ का रौजा कबीर साहब का मरण-चिह्न न होकर केवल स्मारक मात्र भी हो सकता है, जिसे उक्त पठान ने कबीर साहब द्वारा काशी मे अक्षय कीर्त्ति प्राप्त करने के उपलक्ष मे भक्ति के आवेश मे बनवा दिया है।

---

१ नाभादास भक्तमाल, श्री रूपकला-कृत 'भक्त सुधाबिंदु स्वाद' टीका-सहित लखनऊ, सन् १९२६, पृ० ४९७।

२ डॉ० रामकुमार वर्मा . सत कबीर, इलाहाबाद, सन् १९४३ ई०, पृ० ३७–४०।

नहीं

परन्तु डॉ॰ वर्मा ने जिन इतिहासकारों के नाम अपनी सूची में दिये हैं, वे सभी बहुत पीछे के हैं। उनमें से सबने अधिकतर अनुमान से ही काम लिया है तथा सिकंदर-प्रसंग को उन्होंने एक प्रचलित किंवदंती से अधिक महत्त्व नहीं दिया है। ब्रिग्स का केवल इतना कहना भी कि सिकंदर सं॰ १५५१ में बनारस की ओर आया था यह सूचित नहीं करता कि उससे और कबीर साहब से कभी भेंट भी हुई थी। प्रियादास की टीका भी इस विषय में विश्वसनीय नहीं कही जा सकती क्योंकि बहुत अर्वाचीन होने के साथ ही उसमें सर्वत्र अलौकिक बातों की ही भरमार है। ऐतिहासिक तथ्य की रक्षा करने की जगह रचयिता का उद्देश्य उसमें चमत्कार-पूर्ण बातों के उल्लेख द्वारा भक्त का महत्त्व दरसाना ही अधिक दीख पड़ता है। अनंतदास की रचना भी कबीर साहिब की परचई अवश्य एक पुरानी पुस्तक है। किंतु जो हस्तलिखित प्रति (सं॰ १८४२ की) डॉ॰ वर्मा को मिली है, उसकी प्रामाणिकता बिना अन्य प्रतियों से मीलान किये सिद्ध नहीं की जा सकती और उसमें प्रक्षिप्त अंशों के आ जाने की भी संभावना है। इसके अतिरिक्त स्वयं अनंतदास का आविर्भाव भी सं॰ १६४५ के लगभग माना जाता है जो सिकंदर के सं॰ १५५१ में बनारस आने से प्रायः सौ वर्ष पीछे की बात है। इतने दिनों के भीतर उस युग में ऐसी अनैतिहासिक वा काल्पनिक बातों का क्रमशः प्रवादमात्र से उन्नति करते-करते भक्त-चरित्रों तक में प्रवेश कर जाना कैसी आश्चर्य की बात नहीं। अनंतदास से प्रायः ४०-५० वर्ष पहले मीराँबाई (सं॰ १५५५-१६ ३) ने भी अपने पदों में[1] ऐसी घटनाओं की चर्चा करना आरंभ कर दिया था।

उपर्युक्त सिकंदर-प्रसंग का उल्लेख भी वास्तव में अनंतदास के समय अर्थात् लगभग सं॰ १६४५ से ही आरंभ हुआ होगा। संत वषनाजी (सं॰ १६५) जैसे एकाध संतों ने इसकी चर्चा अपनी बानियों के अंतर्गत की।[2]

---

१ दास कबीर घर बालद जो लाया नामदेव की छान छवंद।
दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनंद। आदि
—मीराँबाई की पदावली हिंदी साहित्य सम्मेलन सं॰ १९९८, प्रयाग, पृ॰ १७-८।

२ 'कासी माहि सिकंदर तमस्यो मझमें डारि कबीर का।
जिनको आइ मिले परमगुर, बंधन काटि कबीर का॥
—वषनाजी की बाणी जयपुर, सं॰ १९९३ पृ॰ १४८।

ऐसा जान पडता है कि स० १६६१ मे सगृहीत 'आदिग्रथ' तथा लगभग ऐसे ही किसी समय की 'पचवानियो' मे सम्मिलित कर लिये गए स्वय कबीर साहब के पदो मे भी[1] ऐसी बातो के आ जाने से इस प्रवृत्ति को और भी शक्ति मिलती चली गई। परन्तु इस सबध मे यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि कबीर साहब की इन रचनाओ मे भी कही सिकदर का नाम लिया गया नही दीख पडता। इनमे उल्लिखित घटनाओ का सबध किन्ही अन्य शासको के साथ भी जोडा जा सकता है। इसके सिवाय ऐसे प्रसगो की चर्चा यहाँ पर 'नाउ महिमा' शीर्षक देकर की गई भी पायी जाती है जो किसी आदर्श भक्त की स्थिति को सूचित करने के लिए भी हो सकती है। वास्तव मे, यदि "गगा की लहरि मेरी टूटी जजीर" पक्ति का पाठ वहाँ पर "जल की तरग उठि कटिहै जजीर" मान लिया जाय (जो सभवत दादू-पथी तथा निरजनी सम्प्रदाय वाली पच बानियो मे स्वीकार किया गया भी जान पडता है)[2] उस दशा मे 'कबीर' शब्द भी वहाँ किसी ऐसे महापुरुष मात्र की ओर भी सकेत कर सकता है जो 'आदर्श भक्त' समझा जा सके तथा सत हरिदास (स० १५१२-१६००) की कतिपय साखियो के आधार पर[3] इस बात को कदाचित् असभव भी नही ठहराया जासकता। फिर इस सबध मे, यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि "कबीर और सिकदर लोदी के

---

१ दे० गुरुग्रथ साहिबजी, अमृतसर, रागुगोड ४, पृ० ८६९-७०।
तथा, 'गग गुसाइनि गहिर गभीर। जजीर बाधि करि खरे कबीर ॥
मनु न डिगै तन काहे कउ डराइ। चरन कमल चित हरिउ समाइ ॥रहाउ॥
गगाकी लहरि मेरी टुटी जजीर। म्रिगछाला पर बैठे कबीर ॥२॥
' कहि कबीर कोऊ सग न साथ। जल थल राखन है रघुनाथ ॥'
—वही, रागु भैरउ १८, पृ० ११६३।

२ कबीर-ग्रथावली, डॉ० पारसनाथ तिवारी द्वारा सपादित प्रयाग वाला सस्करण, सन् १९६१ ई०, टिप्पणी स० २४ पक्ति ५-६।

३ 'उलटै पंडे परम सुष, परम साध तहा जाहि।
हरिदास जन मूक है, गिगुरा पहुचै नाहि ॥३॥
अगनि न जालै जल नहि बूडै, झडि झडि पडै जजीर।
जन हरीदास गोविंद भजै, निरभै मतै कबीर ॥४॥
मारि मारि काजी करै, कुजर वदै पाव।
जन हरीदास कबीर कू, लगै न ताती बात ॥५॥'
—श्री महाराज हरीदास जी की वाणी, जयपुर १९६२, पृ० ३८८।

संबंध का उल्लेख मक्तमाऊ' 'आईन-ए-अकबरी' अखबारूल अखियार' 'दबिस्ताँ' में नहीं मिलता। इसके अलावा 'वाक़्मात मुस्ताक़ी' 'तारीख दाऊदी' तारीख खान जहाँ लोदी' निजामद्दीन बदायूनी और 'तारीख फ़िरिश्ता' आदि जिनके आधार पर सिकंदर का विश्वसनीय इतिहास लिखा जाता है उनके संबंध का उल्लेख नहीं करते। [१] इस कारण भी हमें उक्त प्रसंग की प्रामाणिकता स्वीकार करने में हिचक होती है।

बस्ती जिले में वर्तमान बिजली खाँ के रोजे का निर्माण वास्तव में यदि सन् १४५ या सं १५ ७ में ही हुआ था (जैसा कि डॉ वर्मा भी मानते हुए स्पष्ट जान पड़ते हैं) तो यह बात भी यह मरण-चिह्न है अथवा कबीर साहब की अक्षय कीर्त्ति का केवल स्मृति-चिह्न मात्र है, बड़ी आसानी से समझा जा सकेगा। इसके लिए कोई भी प्रमाण नहीं कि कबीर साहब उस समय तक वैसे यशस्वी हो चुके थे जन्म-भूमि मगहर से काशी जा चुके थे और बिजली खाँ को इतना प्रभावित भी कर चुके थे कि उसने उनके जीवन-काल में ही स्मृति-चिह्न के निर्माण का आयोजन किया। अभी तक तो बहुत लोगों की यही धारणा रहती आई है कि उनका जन्म काशी में हुआ था और मरने के केवल कुछ ही पहले वे मगहर गये जहाँ पर अभी नदी या नाले के निकट उक्त रौजा बना हुआ है।

यही

चन्द्रबली पाडेय का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना जान पड़ता है कि यदि स १५७५ की पुष्टि में दिये गए 'ग्रंथावली' की प्रस्तावना वाले प्रमाण ठीक हो तो उनके द्वारा उक्त संवत् की जगह सं १५५२ को ही स्वीकार कर लेना अधिक युक्ति-संगत होगा। वे सं १५५२ में हुई सिकंदर लोदी तथा कबीर साहब की किसी बातचीत का भी अनुमान करते हैं। वे कहते हैं 'संभव है और अधिक संभव है कि जायसी ने 'अखरावट' में आयी हुई 'रावर आगे का कहै, जो संवरे मन लाइ। तेहि राजा निंत संवरै, पूछै धरम बुलाइ। तेहि मुख बाचा बूझ समुझाए समुझै नहीं। परै खरौं तेहि बूझ मुहमद जेइ जाना नहीं।' पंक्तियों द्वारा इसी ओर संकेत किया हो।[२] उनका यह भी मंतव्य है, 'नानकदेव कबीर को सतगुरु समझते थे। यदि कबीर स १५७५ तक जीवित रहते तो नानक और न जाने कितनी बार उनसे मिलते। उनके अनुसार गुरु नानक सं १५५३ में कबीर साहब से नहीं मिले थे अपितु स १५५२ में ही मिले थे। उसी वर्ष कबीर साहब का

१ डॉ त्रिपाठी: कबीर की कालक्रम हिंदुस्तानी प्रयाग १९३२ई० पृ २ ७।

२ चन्द्रबली पांडेय: कबीर का जीवनवृत्त नागरी प्रचारिणी पत्रिका भा १४ पृ ५३९४।

देहात भी हो गया । वे 'सभा' मे सुरक्षित स० १५६१ वाली हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि का कबीर साहब की मृत्यु के अनतर किया जाना इस कारण मानते हैं कि प्रतिलिपि काशी मे हुई । यदि उस समय तक कबीर साहब वहाँ वर्तमान रहते, तो उनसे अवश्य प्रमाणित करा ली गई होती ।[1] अत मे वे स्वामी युगलानद के दिये हुए कबीर साहब के चित्र तथा 'ग्रथावली' के कतिपय अवतरणो के आधार पर यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि कबीर साहब की अवस्था मरने से पहले सौ से अधिक नही, अपितु उसके लगभग ही रही होगी जिसकी पुष्टि मे जायसी के 'अखरवाट' के 'जा नारद तव रोइ पुकारा । एक जुलाहे सो मैं हारा । प्रेम ततु नित ताना तनई । जप तप साधि सैकरा मरई ॥' उद्धृत कर उसके 'सैकरा मरई' मे भी इसी ओर के कुछ सकेत की कल्पना करते हैं। उनका कहना है, "उस समय कवीर यातना मे पडे थे और लगभग १०० वर्ष के थे ।"[2]

वही

स० १५७५ को मृत्यु-काल मानने के सबध मे हम अपने विचार इसके पहले ही प्रकट कर चुके हैं। स० १५७५ को स० १५५२ वा स० १५५१ मे बदल देने पर भी उसकी पुष्टि मे दिये गए प्रमाणो को सहायता नही मिलती, न वे कुछ अधिक युक्ति-सगत दीख पडने पर भी अकाट्य बन जाते हैं। नानकदेव कबीर को सत-गुरु समझते थे, इस बात का कोई प्रमाण नही दिया गया है। जहाँ तक पता है, गुरु नानक देव ने अपनी रचनाओ मे कबीर साहब की कही चर्चा तक भी नही की है और "हका कबीर करीम तू बेऐब परवरदीगार"[3]-जैसे स्थल पर जहाँ उन्होने 'कबीर' शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ भी स्पष्ट है कि उनका अभिप्राय 'कबीर' साहब से न होकर परमात्मा से ही हो सकता है। फिर, यदि कबीर साहब के प्रति उनके भाव बहुत उच्च रहे भी हो, तो भी उक्त दोनो सतो का समसामयिक भी होना तथा विशेषकर उनकी भेंट का भी अवश्य होना सिद्ध नही हो जाता । इसी प्रकार 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की हस्तलिखित प्रति मे दिये गए स० १५६१ के प्रामाणिक होने मे जब तक सदेह करने के लिए पूरी गुजाइश देखी जा रही है, तब तक उसे कबीर साहब के जीवन-काल मे लिखी मान कर उसके आधार पर भी तर्क करना उचित नही जान पडता ।

---

१ चन्द्रबली पाडेय कबीर का जीवनवृत्त, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, पृ० ५४१ ।

२ वही, पृ० ५४४ ।

३ गुरुग्रथ साहब, राग तिलगा १, पृ० ७२१ ।

गया जान पडता है, क्योकि वहाँ भी यह परमतत्त्व के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इस कारण 'तैत्तिरीय उपनिषद्'[1] मे भी, सभवत इसी आधार पर कहा गया है कि "यदि कोई पुरुष 'ब्रह्म असत् है,' जानता है, तो वह स्वय भी 'असत्' हो जाता है और यदि ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म है', तो ब्रह्मवेत्ता लोग उसे भी 'सत्' समझा करते हैं।" इसके सिवाय कुछ प्रसिद्ध महात्माओ ने भी सत एव परमात्मा मे कोई मौलिक भेद नही माना है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि "सत को अनत के ही समान जानो"।[2] गरीबदास ने बतलाया है कि "सत एव साँई दोनो ही एक समान हैं, इस बात मे किसी प्रकार के मीन-मेष करने की आवश्यकता नही।[3] इसी प्रकार पलटू साहब ने भी कहा है कि "सत तथा राम मे कोई भी भेद नही मानना चाहिए।"[4] अतएव 'सत' शब्द, इस विचार से उस व्यक्ति की ओर सकेत करता है जिसने सत् रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो, इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठ कर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। जो सत्य स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका है अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखड सत्य मे प्रतिष्ठित हो गया है, वही सत है।

'सत्' शब्द

परन्तु 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे 'सत्' शब्द के कुछ अन्य अर्थ भी बतलाये गए हैं। उसमे कहा गया है कि 'सत्' शब्द, 'ॐ तत्सत्,' वाक्य मे, ब्रह्म का निर्देश करता है[5], कितु फिर भी, इसका उपयोग 'अस्तित्व' एव 'साधुता' के अर्थ मे किया जाता है। इसी प्रकार, प्रशस्त तथा अच्छे कर्मों के लिए, भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है। यज्ञ, तप तथा दान मे स्थिति अर्थात् स्थिर भावना रखने को भी सत् कहते है। इसके निमित्त जो काम करना हो, उस कर्म का नाम भी 'सत्'

---

१ 'असन्नेव सभवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेतिचेद्वेद सतमेन विदुर्बुधा.' व० ६-१। मुण्डक (६-२-९) भी।

२ 'जानेसु सत अनत समाना'—रामचरित मानस (उत्तरकाड)।

३ 'साँई सरीखे सत है यामे मीन न मेख'—गरीबदासजी की बानी (वे० प्रे० प्रयाग) पृष्ठ ८७।

४ 'सत औ रामको एक कै जानियै, दूसरा भेद ना तनिक आनै'—पलटू साहब की बानी' (वे० प्रे० प्रयाग, भाग २) पृष्ठ ८। ज्ञानेश्वरी (अ०१२।२-३) भी।

५ 'ॐ तत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृत।'—गीता, १७,२३। दे० कठ (२-६-१२) 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथतदुपलभ्यते।'

आलोचना : चौथा मत

उक्त (४) वाले मत के समर्थक किसी दोहे आदि को आधार मान कर नहीं चलते। उन्हें शुद्ध ऐतिहासिक उल्लेखों की असंदिग्धता में ही विश्वास है। हंटर ने अपने इतिहास[1] में कबीर साहब के पूरे जीवन-काल को अर्थात् सं० १३५६ वा सं० १४७७ सन् १३ या सन् १४२ ई० के बीच बतलाया था। किन्तु उसने कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं दिये। डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी अपने एक निबंध[2] (सं० १९८९) में अनेक बातों की आलोचना करने के उपरांत इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह समय विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के आगे जाता हुआ नहीं जान पड़ता और सिकन्दर-प्रसंग को वे कई कारणों से प्रामाणिक मानने को तैयार नहीं हैं। उनका कहना है, 'कबीर जी के समय और उनके जीवन की घटनाओं का आधार जिन ग्रंथों पर है, उनमें से कोई भी सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पहले का नहीं है। इसके अनंतर उन्होंने कई ऐसी रचनाओं के नाम भी उनके रचना-काल के साथ दिये हैं। उक्त सोलहवीं शताब्दी का 'उत्तरार्द्ध' ईसवी सन् से संबद्ध है जो विक्रम की १७वीं शताब्दी के लगभग द्वितीय चरण में पड़ेगा। प्रायः इसी समय से नाभादास की 'भक्तमाल' (सं० १६४२) अनंतदास की 'परचई' (सं० १६४५) 'आईन-ए-अकबरी' (सं० १६५५) तथा 'आदिग्रंथ' (सं० १६६१)-जैसी रचनाओं का भी पहले पहल आरंभ होता है। इनमें भी कबीर साहब के किसी जन्म वा मरण-संवत् का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। डॉ० त्रिपाठी ने सं० १४१७ से सं० १४५१ सन् १३६ से सन् १३९४ तक के समय के विषय में लिखा है, जो चालीस वर्ष पूर्व देश में क्रांति के थे। "इन दिनों राजनीतिक क्रांति और धार्मिक क्रांति साथ-साथ चलती रही। कबीर साहब-जैसे 'प्रबल प्रचारक और उनके जैसे प्रबल प्रचार के लिए" यही समय 'सबसे उपयुक्त था'। उक्त मत के एक दूसरे समर्थक डॉ० मोहन सिंह (सं० १९९१) ने भी सिकन्दर-प्रसंग को निराधार माना है। कई बातों पर आलोचनात्मक विचार करने के अनंतर वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि कबीर साहब की मृत्यु का समय सं० १४७७ वा १५ ६ सन् १४२ या १४४० के भीतर रहा होगा और वे सन् १३८ (अपितु सन् १३६) और सं० १४३७ सन् १३८० (बल्कि सं० १४१७) और सं० १४५५ के बीच में ही उत्पन्न हुए होंगे।[3] सिकंदर के समय में वे किसी बोधन

---

१ डॉ० हंटर : इंडियन एम्पायर, अध्याय ८।

२ डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी : कबीरजी का समय, हिन्दुस्तानी भाग २, अं० २, पृ० २ ४१५।

३ डॉ० मोहन सिंह : कबीर, हिज बायोग्राफी लाहौर सन् १९३४ ई० पृ० ४०-१।

स्पष्ट ही है कि अखरावट की रचना कवीर के जीवन-काल मे ही हो रही थी।" 'अखरावट का रचना-काल' नामक उनका लेख देखने को नही मिला जिससे पता चलता कि किन-किन प्रमाणो के आधार पर कौन-सा निश्चित समय उन्होने इसके लिए माना है। यहाँ पर 'पद्मावत' का रचना-काल वे स० १५७७ सन् १५२० से पीछे स० १५९७ सन् १५४० तक ठहराते है और 'अखरावट' का रचना-काल उसके पहले वतलाते हैं। उसी स्थल पर वे यह भी कह देते हैं, "कवीर-दास की निधन-तिथि के सबध मे अतिम तिथि स० १५७५ मानी जाती है जो सन् १५१८ मे पडती है।" इस प्रकार यदि पाडेयजी के कुल तर्को को एकत्र कर उन पर विचार किया जाय, तो जान पडेगा कि 'अखरावट' की पक्तियो द्वारा कवीर साहव का समय तथा कवीर साहव के आनुमानिक समय के आधार पर 'अख-रावट' का रचना-काल निर्धारित किया जा रहा है और यह तर्क-प्रणाली चक्रावर्तन-सी वन जाती है। इसके सिवाय इस सबध मे यह भी विचारणीय है कि जायसी ने नारद के रोकर पुकारने के समय का निर्देश 'तव' शब्द द्वारा किया है जो भूतकाल का द्योतक होगा और चूँकि जुलाहे का पूरा वर्णन उसी के मुख से कराया गया जान पडता है, अतएव उक्त उद्धरणो मे आये हुए 'सैकरा भरई' से ही 'अखरावट' की रचना के समय कवीर साहव की आयु का लगभग सौ वर्षो का होना वतला देना अपनी कल्पना-शक्ति का असयत प्रयोग करना ही कहा जायगा। 'सैकरा भरई' का सौ वर्ष पूरा करने के अर्थ मे प्रयोग कही अन्यत्र नही देखा गया। यहाँ तो 'वुनाई' के किसी पारिभाषिक शब्द-समूह के रूप मे ही हम इसे यदि मान ले, तो अधिक युक्ति-सगत होगा। क्योकि उक्त जुलाहे का सैकरा भरना यहाँ जप-तप की साधना द्वारा व्यक्त किया गया है। अत मे श्री सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी के अनुसार[1] जायसी के कथन "भा अवतार मोर नौ सदी। तीस वर्ष ऊपर कवि वदी।" के 'नौ सदी' का अर्थ यदि वास्तव मे ९०० हिजरी वा स० १५५१ सन् १४९४ ही हैं, तो स० १५५२ अर्थात् पाडेयजी के अनुसार कवीर साहव के मृत्यु-कालवाले सवत मे जायसी केवल लगभग २ वर्ष के ही थे। उस समय भी 'अखरावट' की रचना का होना नितात असभव है, उसके पहले के लिए तो कुछ कहा ही नही जा सकता। कहना न होगा कि पाडेयजी द्वारा स्वामी युगलानद वाले चित्र तथा 'कवीर-ग्रथावली' से उद्धृत पक्तियो के आधार पर निकाले गए परिणाम भी इसी प्रकार कल्पित तथा पूर्वग्रह-प्रभावित ही समझ पडते हैं।

---

१ सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी मलिक मुहम्मद जायसी का जीवन-चरित, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४५, पृ० ४३।

के समर्थकों में से कुछ ने कबीर साहब के साथ गुरु नानकदेव की भेंट होने का भी उल्लेख किया है। कुछ ने उनके शव के अंतिम संस्कार के विषय में बिजली खाँ तथा बीरसिंह बाघेला के किसी कलह की भी चर्चा की है। इसी प्रकार (२) तथा (४) के समर्थकों में भी कोई विशेष अंतर नहीं दीख पड़ता क्योंकि दोनों ने ही सिकंदर प्रसंग को असंभव अथवा बहुत संदिग्ध बतलाया है। स्वामी रामानंद को कम-से कम कबीर साहब का समकालीन समझा है, गुरु नानक का उनके द्वारा अधिक-से अधिक प्रभावित मात्र होना अनुमान किया है। बिजली खाँ द्वारा निर्मित रौजे के समय (सं० १५०७) के प्रति स्पष्ट शब्दों में अपना अविश्वास नहीं दिखलाया है और किसी-न किसी तर्क का कबीर साहब का समकालीन होना भी मान लिया है। दोनों के मध्य अंतर केवल कोई निश्चित संवत् देने या न देने मात्र का है तथा एक यह भी कि (२) का पक्ष ग्रहण करनेवाले किसी जनश्रुति या दोहे पर भी आश्रित समझ पड़ते हैं। वास्तव में पूरी छान-बीन करने पर असंदिग्ध रूप से मृत्यु-समय बतलाने वाले केवल संवत् १५७५ तथा सं० १५०५ के ही दो समर्थक रह जाते हैं। इनके बीच मतभेद के मुख्य कारण भी स्वामी रामानंद, शेख तकी, सिकंदर लोदी, गुरु नानक और बिजली खाँ तथा वीरसिंह बाघेला में से किसी-न किसी के साथ एक विशेष आनुमानिक संपर्क या समसामयिकता में ही निहित हैं। मेकालिफ ने तो सं० १५७५ का मृत्यु-संवत् मानते हुए भी सं० १५०५ के समर्थन में किसी मराठी भगवद्भक्त अर्वाचीन कोश' का हवाला अपने ग्रंथ[1] में दिया है। डॉ० वर्थवाल ने सं० १५०५ वाले दोहे के 'सौ पाच मो" का सं० १५७५ वाले के 'पचहत्तरा' में कालानुसार परिवर्तित मात्र हो जाने का अनुमान किया है।[2]

निष्कर्ष

अतएव जान पड़ता है कि समकालीन तथा प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न हो सकने के कारण उक्त लेखकों द्वारा अधिकतर अनुमान वा जनश्रुति के ही आधार काम में लाये गए हैं। उन लोगों ने अपने काल्पनिक मतों की पुष्टि में कतिपय ऐतिहासिक व्यक्तियों का मनमाने ढंग से अपना साधन बना डाला है। कुछ संतों तथा श्रद्धालुओं की रचनाओं में अतिरंजित की गई निराधार घटनाओं का भी ऐतिहासिक तथ्य समझ लेने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए, स्वामी रामानंद एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे इसमें कोई भी संदेह नहीं। उनका एक प्रसिद्ध धार्मिक तथा क्रांतिकारी सुधारक होना तथा उनके द्वारा अपने समय (सं० १३५६

[1] दि सिक्ख रिलिजन भाग ४ पृ० १२२।

[2] दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोएट्री पृ० ५१।

का ममल मे स० १५५६-५८ सन् १४९९–१५०१ मे मारा जाना कहते है ।[१]

सतुलनात्मक समीक्षा

फिर भी उक्त चारो मतो का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है कि (१) तया (३) अर्थात् क्रमश स० १५७५ और स० १५५१ वा १५५२ वाले मतो के समर्थको मे से सिकदर लोदी वाले प्रसग मे प्राय सभी को विश्वास है। यदि अतर है तो केवल इतना ही कि (३) वाले जहाँ कबीर साहब का सिकदर लोदी द्वारा दमन के कारण उसी क्षण वा शीघ्र ही मगहर जाकर मर जाना समझते है, वहाँ (१) के अनुसार वे उक्त घटना वा कम-से-कम दोनो की भेंट के अनतर भी बीसो वर्ष तक जीवित रह कर इधर-उधर घूमते फिरे। अत मे मगहर जाकर मर गए। इस सबध मे विशेषत डॉ० फर्कुहर[२] तथा एवलिन अडरहिल[३] के अनुमान देखे जा सकते हैं। उक्त दोनो मत वाले कबीर साहब को स्वामी रामानद का शिष्य और एक वैष्णव भक्त होना ही बतलाते हैं, केवल (३) के समर्थक मौ० गुलाम सरवर (स० १९०७) ने "शेख कबीर जोलाहा शेख तकी के उत्तराधिकारी और चेले थे"[४] कह कर उनकी गिनती सूफियो मे की है। (१) के एक समर्थक रे० वेस्टकाट (स० १९६६) ने भी उक्त विचार के सबध मे बहुत दूर तक अपनी आस्था प्रकट की है। उक्त (३) के अन्य समर्थक चन्द्रबली पाडेय ने भी कहा है, "क्या भाषा, क्या भाव, क्या विचार, क्या परपरा, सभी दृष्टियो से कबीर 'जिंद' ही ठहरते हैं"[५] और 'जिंद' शब्द को "जिंदीक" शब्द का रूपातर बतला कर इसका अर्थ उन्होने 'बेशरा' या 'आजाद सूफी' किया है। इसके सिवाय उक्त (१)

---

१ डॉ० मोहन सिह कबीर, हिज बायोग्राफी, पृ० २७ ।

२ 'The Empetor Sikandar Lodi vanished him from Banaras and he thereafter lived a wandering life and died at Maghar near Gorakhpur' An Outline of the Religious Literature, p 332

३ "Thenceforth he appears to have moved about amongst various cities of northern India, the centre of a group of disciples continueing in exile he died at Maghar near Gorakhpur" One Hudred Poems of Kabir, Introduction, p XVIII

४ ख़जीनतुल असफिया, लाहोर, सन् १८६८ई०, पृ० २५-६ ।

५ चन्द्रबली पाडेय विचार विमर्श, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, स० २००२, पृ० ४४ ।

के विषय में 'बीजक' में आये हुए एक प्रसंग[1] से पता चलता है कि जिस पद में उनका नाम आया है उसकी रचना उनकी मृत्यु के अनंतर अवश्य हुई होगी। उस पद में उनका नाम जयदेव नामदेव मोरध्वज जैसे दिवंगत महापुरुषों के साथ तो आया ही है, उस प्रह्लाद के नाम के साथ भी जोड़ कर 'तिनहुं को काल न राखा' बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि यदि वह रचना कबीर साहब की है, तो पीपा जी उनके पहले अवश्य मर चुके होंगे। किंतु डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'संत कबीर' में जो एक पद[2] किसी 'सरबगुटिका' नाम की हस्तलिखित पुस्तक से उद्धृत किया है उससे विदित होता है कि वास्तव में पीपा ने कबीर से ही अपनी नामोपासना की चेतना प्राप्त की थी। इस प्रकार संभव है, इन दोनों में कबीर साहब ही अवस्था में पीपाजी से बड़े हों। कुछ भी हो उक्त विवरणों के अनुसार कालक्रम से स्वामी रामानंद सेना नाई कबीर साहब पीपाजी (अथवा पीपाजी कबीर साहब) रैदास की तथा धन्ना भगत के नाम दिये जा सकते हैं। इन सभी महापुरुषों के एक साथ अधिक दिनों तक समकालीन कहलाने में पर्याप्त संदेह की गुंजाइश है। सीमा गुरु-शिष्य का संबंध भी स्वामी रामानंद का उक्त पाँचों के साथ इसी कारण निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। कबीर साहब और स्वामी रामानंद के शिष्य-

रविदासु ढुवंता ढोरनी तिनिनी तिआगी माइआ।
परगटु होआ साध संगि हरि दरसनु पाइआ ॥२॥
सैणु नाई बुतकारिआ ओहु घरि घरि सुनिआ।
हिरदे वसिआ पारब्रह्म भगता महि गनिआ ॥३॥
इहि बिधि सुनि कै जाटरो उठि भगती लागा।
मिले प्रतखि गुसाईआ धंना वडभागा ॥४॥ गुरुग्रंथ साहिब आसा २, प ४८७-८।

१ ब्रह्मा वरुन कुबेर पुरन्दर पीपा औ प्रहलादा।
हिरनाकुस नख उदर बिदारा तिनहुं को काल न राखा।
गोरख ऐसे दत्त दिगंबर, नामदेव जयदेव दासा।
तिनकी खबर कहत नहिं कोई कहाँ कियो है बासा ॥आदि
—बीजक, पद ८६, पृ ६९।

२ जो कलि मांझ कबीर न होते।
तौ लै. बेद अरु कलिजुग मिलिकरि भगति रसातल देते।
. . . .
नाम कबीर साच परकास्या तहां पीपै कछू पाया।
—श्री पीपाजी की बानी, संत कबीर, प्रस्तावना पृ ४४।

१४६७) मे कम-से-कम उत्तरी भारत के अतर्गत एक प्रबल धार्मिक आदोलन का चलाया जाना और सर्वसाधारण का उससे बहुत कुछ प्रभावित होना ऐतिहासिक ग्रथो के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु केवल इसी कारण कबीर साहब का उनका दीक्षित शिष्य भी होना नही कहा जा सकता, जब तक इसके लिए हमे सीधे तथा असदिग्ध प्रमाण भी नही मिल जाते। कबीर साहब ने स्वय इस विषय मे कुछ भी नही कहा है और डॉ० बर्थ्वाल आदि कुछ विद्वानो का इनकी पुष्टि मे 'बीजक', 'कबीर-ग्रथावली' तथा 'आदिग्रथ' के एकाध पदो[1] का खीचातानी-पूर्वक अर्थ लगाना पर्याप्त नही समझ पडता। कबीर साहब के तथाकथित गुरु-भाई सेना नाई, पीपा, रैदास, धन्ना अथवा उस काल के किसी अन्य व्यक्ति ने भी इसे नही बतलाया। सेना नाई के एक पद[2] से केवल इतना जान पडता है, "राम की भक्ति के वास्तविक जानकार स्वामी रामानद ही हैं, जो पूर्ण परमानद की व्याख्या करते हैं।" इसके आधार पर इसके अतिरिक्त और कुछ भी नही कहा जा सकता कि सेना नाई उक्त स्वामीजी के समकालीन रहे होगे। उन्होने उनकी प्रशसा मे ये पक्तियाँ कही हैं। इस पद मे वे स्वामीजी को अपना गुरु भी नही स्वीकार करते। इसी सेना नाई और कबीर साहब के सबध मे उक्त रैदास ने इस प्रकार लिखा है, जैसे वे कभी के मर चुके हो। सेना नाई और कबीर साहब इन दोनो को वे नामदेव, त्रिलोचन और सधना की भाँति ही तर गए हुए अथवा मुक्त हो गए हुए कहते हैं।[3] कबीर साहब को तो एक दूसरे पद मे अपने समय तक तीनो लोको मे प्रसिद्ध तक बतलाते है।[4] इसी प्रकार सेना नाई, कबीर तथा रैदास को भी धन्ना भगत ने अपने से पहले ही प्रसिद्ध भक्तो की श्रेणी तक पहुँच गया हुआ कहा है। यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन्ही लोगो की प्रसिद्धि से प्रेरित होकर मैंने भक्ति की साधना अगीकार की और भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन किये।[5] पीपाजी

---

१ बीजक, पद ७७, बेलवेडियर प्रेस, पृ० ५९ और कबीर-ग्रथावली, पद १८९, पृ० १५२ तथा गुरुग्रथ साहब, पद ६४, पृ० ४६२।

२ 'राम भगति रामानद जानै, पूरन परमानद बखानै', श्री गुरुग्रथ साहिब, श्री सैणु धनासरी १, पृ० ५९४।

३ 'नामदेव कबीर तिलोचन सधना सैणु तरे'। वही, राग मारू १, पृ० ११०४।

४ 'तिहूरे लोक परसिध कबीरा', वही, राग मलार २, पृ० १२९२।

५ 'बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा।
नीच कुला जोलाहरा भइउ गुनी जग हीरा ॥१ ॥

द्वारा उपदेश देने और सतगुरु के रूप में प्रत्यक्ष दर्शन देकर दीक्षित करने की परंपरा आगे और भी प्रचलित होती गई। हम देखते हैं कि मीराँबाई के संभवतः कुछ ही अनंतर इसी प्रकार धर्मदास को कबीर साहब ने 'विदेही' होते हुए भी झीने रूप में दर्शन दिये। चरणदास (सं० १७६०–१८३९) को शुकदेव मुनि ने उपदेश दिये और गरीबदास (सं० १७७४–१८३५) को कबीर साहब ने ही फिर आकर अपना चेला बनाया। धर्मदास ने अपने विषय में कबीर साहब के साथ की भेंट की स्वयं चर्चा की है।[1] इस बात की पुष्टि 'अनुरागसागर'[2] तथा 'अमर सुख निधान'[3] की कुछ पंक्तियों द्वारा भी हो जाती है। मीराँबाई के समय (सं० १५५५ १६ १) तक कबीर साहब के विषय में चमत्कारपूर्ण वर्णनों का आरंभ हो जाना अनन्तदास (सं० १६१२ में वर्तमान) के समय से उनके रामानंद-शिष्य कहे जाने की प्रथा का चलना अनन्तदास (सं० १६४५) के लगभग से सिकंदर कादी के प्रसंग का बीज पड़ना[4] अबुल फ़ज़ल (सं० १६५५ में वर्तमान) के समय से उनके शव के लिए हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच कलह उत्पन्न होने की चर्चा का फैलना[5]

'रैदास संत मिले मोहिं सतगुरु, दीन्हा सुरत सहदानी।' मीराँबाई की पदावली पद १५८, पृ० ७७।

१ 'साहेब कबीर प्रभु मिले विदेही झीना दरस दिखाइया।' धरमदास की बानी, बेल० प्रेस प्रयाग पृ० ५६।

२ 'जुलहा की तब अवधि सिरानी। मथुरा देह धरी तिन आनी।

पुरुष आवाज उठी तिहिं बारा। ज्ञानी बेग जाहु संसारा॥

ज्ञानी बेगि जाहु तुम अंसा। धर्मदास के मेटहु संसा॥"
—अनुराग सागर बेल० प्रेस प्रयाग, पृ० ८४-५।

३ "जिंदरूप जब धरा सरीरा। धरमदास मिलि गए कबीरा॥
—अमर सुखनिधान (उक्त धरमदास की बानी के पृ० ९-६ में उद्धृत)।

४ 'स्याह सिकंदर कासी आया। काजी मुल्ला के मनि भाया॥

'बांध्यौ पग मस्यौ जंजीर। ले बोरयौ गंगा के नीर॥
—श्री कबीर साहिब जी की परचई संत कबीर, पृ० १ १ पर उद्धृत।

५ He was revered by both Hindus and Muhammadans for his catholicity of doctrine and the illumination of his mind and when he died the Brahamans wished to burn his body and the Mahammad ns to bury it" Ain-e-Akbari (translated by Col H I J rret vol II Calcutta 1891 p 129

गुरु-सवध को सबसे पहले प्रगट करनेवाले हरिराम व्यास या व्यासजी कहे जाते हैं जो स० १६१२ मे वर्तमान थे और जिन्होने कवीर साहब को अपने भक्त-कुल का भी माना है।[१] परन्तु स्वामी रामानद की मृत्यु के प्राय सौ वर्षों के अनतर की रचना मे एक भक्त द्वारा ऐसी बातो का यो ही भी सम्मिलित कर लिया जाना कोई असभव बात नही।

यही

जैसा पहले भी कहा जा चुका है, मीरांबाई के समय अर्थात् सवत् १५५५—१६०३ से ही कवीर साहब के सबध मे अलौकिक बाते कही जाने लगी थी और मीरांबाई ने धना भगत तथा पीपाजी को भी वैसा ही भक्त समझा था।[२] अब, यदि धन्ना भगत सचमुच स्वामी रामानद के तथाकथित शिष्यो मे सब से पीछे तक वर्तमान रहे हो और उनके सबध मे भी स्वय भगवान द्वारा विना बीज के भी गेहूँ उपजाने की बात कही जाने लगी हो, तो उसके लिए पर्याप्त समय व्यतीत हो चुकने का अनुमान करना अनुचित न होगा। उसके लिए यदि सौ नही, तो कम-से-कम ७०–८० वर्षों तक अपेक्षित होना तो आसानी से मान लिया जा सकता है। जान पडता है कि उक्त समय तक उन सभी सतो की गणना प्राचीन भक्तो मे प्रथानुसार होने लगी थी। उनके जीवन की घटनाओ पर पौराणिकता की छाप लगने लगी थी और उन पर चमत्कारो का रग भी चढाया जाने लगा था। इतना ही नही, प्राय निश्चित रूप से मीरांबाई से कही पहले मुक्त हो जानेवाले रैदासजी के विषय मे उन्ही की रचनाओ मे कहा जाने लगा था कि वे उससे स्वय मिले थे। मीरांबाई का स्पष्ट शब्दो मे कहना है, "मुझे रैदासजी गुरु मिले, जिन्होने ज्ञान की गुटकी प्रदान की और 'सुरत सहदानी' से परिचित कराया।"[३] यह मृत सतो

१ 'साचे साधु जु रामानद।

.. .. .

जाको सेवक कवीर धीर अति सुमति सुरसुरानत' आदि,

तथा, 'इतनी है सव कुटुम हमारो।

सैन, धना, औ नाभा, पीपा, कबीर, रैदास चमारो।' आदि।

—सूरदास, (राधाकृष्णदास द्वारा सपादित), पृ० २३।

२ 'दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनद।' मीरांबाई की पदावली, पद १३७, पृ० ६७-८।

'पीपा को प्रभु परच्यो दीन्हो, दियारे खजीना पूर'। वही, पद १३२, पृ० ६६।

३ 'गुरु मिलिया रैदास जी दीन्ही ग्यान की गुटकी।' वही, पद, २४ पृ० १२-१३।

ग्रंथावली' की भूमिका में[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी की जो गुरु-परंपरा उद्धृत की है। उससे पता चलता है कि शेख कमाल के गुरु-भाई शेख मुबारक थे और ये दोनों शाह हाजी के शिष्य थे जो स्वयं सैयद अशरफ जहाँगीर के चेले थे। इन अशरफ जहाँगीर का मृत्यु-काल सं० १४५८ सन् १४०१ ई० बतलाया जाता है।[2] अतएव इस हिसाब से यदि प्रत्येक पीर की पीढ़ी २५ वर्षों की मान ली जाय तो शेख कमाल का सं० १५०८ तक रहना सिद्ध किया जा सकता है। उसी प्रकार दादूदयाल की गुरु-परंपरा पर भी विचार करने पर यदि दादूदयाल की जीवनी लिखनेवाले जन गोपाल का कहना ठीक हो कि उनके गुरु मस्त वृद्ध के रूप में उनसे प्रथम ११ वर्ष की अवस्था में और फिर अंत में ७ वर्ष पीछे मिले थे। उक्त गुरु की मृत्यु दूसरी घटना के एक वर्ष पीछे संभव हो, तो कमाल का सं० १५४५ तक रहना भी कहा जा सकता है और उक्त दोनों संवतों में ३७ वर्षों का अंतर आता है। पता नहीं उक्त दोनों कमाल एक ही थे या नहीं और यदि नहीं तो इनमें से कोई भी एक वे समझे जा सकते हैं कि नहीं। यदि इनमें से किसी एक की भी संगति बैठ जाय तो कमाल के 'उत्तर ध्यान मयो कबीरा" से हम कबीर साहब के मृत्यु-काल के विषय में कुछ अनुमान कर सकते हैं। पद्मनाभ के विषय में नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में एक छप्पय दिया है और रूपकलाजी ने उनका सं० १५७४ के लगभग वर्तमान रहना बतलाया है।[3] एक नागर ब्राह्मण पद्मनाभ का और भी पता चलता है। उन्होंने सं० १५१२ में 'कान्हड़दे प्रबंध' नामक एक ऐतिहासिक ग्रंथ गुजराती भाषा में लिखा है।[4] इनके विषय में और कुछ भी ज्ञात नहीं। फिर भी डॉ० मोहनसिंह को संदेह है कि कहीं ये ही न कबीर साहब के उक्त शिष्य रहे हों।[5] परन्तु कबीरपंथी-परंपरा के अनुसार पद्मनाभ ने 'राम-कबीर-पंथ' भी चलाया था जो अयोध्या में फैला। उक्त इतिहासकार पद्मनाभ का गुजरात प्रदेश की ओर का होना लक्षित होता है तथा उन्हीं का कबीर साहब द्वारा शिष्य बना लिया जाना किसी अन्य

१ रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रंथावली भूमिका, पृ० ८७।

२ सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी 'मलिक मुहम्मद जायसी का जीवनचरित्र' —नागरी-प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४५, अंक १ पृ० ५१-५२।

३ नाभादास : भक्तमाल (रूपकला की टीका 'भक्ति-सुधा-स्वाद' सहित) पृ० ५४।

४ के० एम० झावेरी माइल स्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर, पृ० ४८।

५ डॉ० मोहन सिंह कबीर, हिज़ बायोग्राफी पृ० ८९।

तथा और आगे चल कर उनके शेख तकी का शिष्य होने अथवा गुरु नानक से भेंट करने की कल्पनाओ का भिन्न-भिन्न रचनाओ मे स्थान पाने लगना उपलव्व साम-ग्रियो की जाँच-पडताल करने पर क्रमश आये हुए प्रसगो के रूप मे दीख पडते हैं। इन सभी मे काल पाकर कुछ-न-कुछ वातें वढती ही गई हैं। अपनी-अपनी धारणा के अनुसार इनमे से किसी-न-किसी को लोग ऐतिहासिक महत्त्व भी देते गए है। कालातर मे पडती गई कल्पना-निर्मित 'गर्द ओ गुवार' को यदि मूल ऐति-हासिक वातो के ऊपर से हम किसी प्रकार हटा सकें, तो भिन्न-भिन्न सकेतो का सारा झगडा आसानी से तय हो जाय और केवल थोडी-सी भी स्वच्छ तथा निखरी सामग्रियो के आलोक मे हमे सत्य का आभास मिल जाय।

कवीर साहव के समकालीन समझे जानेवाले सतो तथा भक्तो मे कमाल और पद्मनाभ के भी नाम लिए जाते है। इनमे से कमाल का कवीर साहव का पुत्र तथा पद्मनाभ का उनका शिष्य होना प्रसिद्ध है। कमाल की कुछ रचनाएँ भी उपलब्ध हैं जिनसे प्रकट होता है कि वे अपने को कवीर साहव का 'पूत' वा 'वालक' कहा भी करते थे।[१] इसके सिवाय यह भी कहा जाता है कि वे कवीर साहव की आज्ञा लेकर सत-मत का प्रचार करने अहमदावाद की ओर गए थे।[२] दादूदयाल (स० १६०१–१६६०) की गुरु-परपरा मे (कमाल, जमाल, विमल, वुड्ढन वा बोधन और दादू-दयाल के अनुसार) उनके ऊपर पाँचवी पीढी मे हुए थे।[३] एक दूसरे मत के अनुसार कमाल की गिनती शेख कमाल के नाम से सूफी-सम्प्रदाय के लोगो मे भी की जाती है और उनकी कब्र का कडा मानिकपुर मे होना भी वतलाया जाता है।[४] 'जायसी

---

१ 'उत्तर स्याने भयो कवीरा, राम चरण का वदा है।
उनीका पूत कहै कमाल दोनों का बोलवाला है॥' ३॥ गाथा पचक, पद २, पृ० ७५।
'कहै कमाल कवीर का वालक, मन किताव सुनावेगा।' वही, पद ५२, पृ०८७।
'गगा जमुन के अतरे निर्मल जल पाणी।
कवीर को पूत कमाल कहै, जिन इह गति जाणी॥'
—कमाल वानी, डॉ० वर्थ्वाल द्वारा निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री, पृ० ३०४ पर उद्धृत।

२ 'चले कमाल तव सीस नवाई। अहमदावाद तव पहुचे आई॥'
—वोघसागर, पृ० १५१५।

३ डॉ० वर्थ्वाल · दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री, पृ० २५८-५९।

४ डॉ० मोहन सिह · कवीर, हिज वायोग्राफी, पृ० ९३।

ही है।[1] इस कारण स्पष्ट है कि सत्यकामी का संत होने के लिए केवल ब्रह्मनिष्ठ हो जाना ही पर्याप्त नहीं। इसके लिए स्वभावतः कतिपय अन्य गुण भी अपेक्षित हैं जिन्हें उक्त प्रसंग से क्रमशः 'साधुभाव' अर्थात् सर्वभूतहित सुहृद्भाव 'प्रशस्त कर्म' का सत्कार्य करने की क्षमता 'यज्ञ' तप तथा दान' आदि कर्म करते रहने की ओर प्रवृत्ति एवं 'तदर्थ' अर्थात् सब कुछ परमेश्वर के लिए वा निष्काम भाव से करने का अभ्यास कहकर गिनाया जा सकता है। इनमें से भी यदि यज्ञ तप तथा दान आदि कर्म करते रहने की प्रवृत्ति को किसी प्रकार प्रशस्त कर्म करने की क्षमता में ही सम्मिलित कर लिया जा सके तो चार गुण ही शेष रह जाते हैं। इन्हें उसी ग्रंथ के एक दूसरे प्रसंग[2] में 'हे पांडव जो इस बुद्धि से काम करता है कि सब कर्म परमेश्वर के हैं जो मत्परायण वा संगवर्जित है और सभी प्राणियों के विषय में निर्वैर रहा करता है वही मेरा भक्त मुझमें मिल जाता है' कह कर बतलाया गया है और जिनके साथ उपर्युक्त गुणों से पूरा मेल भी बैठ जाता है।

संतों के लक्षण

कबीर साहब ने अपनी एक साखी में कहा है[3] कि "संतों का लक्षण उनका निर्वैरी निष्काम प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है"। इसी प्रकार तुलसीदास ने भी श्रीरामचन्द्र द्वारा संतों की महिमा कहलाते हुए 'सभी सांसारिक संबंधों के प्रति प्रदर्शित ममता के धागों के बटोर लेने उन्हें सुदृढ़ रस्सी में बँटकर उसे प्रभु-चरणों में बाँध देने समदर्शी बने रहने तथा किसी प्रकार की कामना न रखने को'[4] ही उनके प्रधान लक्षण ठहराए हैं। संत की परिभाषा के अनुसार इस प्रकार, विषयों के प्रति निरपेक्ष रहते हुए केवल सत्कर्म करना सद्रूप परमतत्त्व में एकान्तनिष्ठ रहा करना, सभी प्राणियों के प्रति सुहृद्भाव

---

१ 'सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

२ 'मत्कर्मकृन्मत्परमो, मद्भक्तः संगवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव । गीता अ० ११-५५ ।

३ 'निरबैरी निहकामता साँई सेती नेह । विषिया सूँ न्यारा रहै संतनि को अंग एह ॥
—कबीर ग्रंथावली काशी संस्करण (२९,१ पृ ५०)

४ 'सबकै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । आदि रामचरित मानस (सुंदरकांड) ।

प्रमाणो से भी अभी तक सिद्ध नहीं। इसलिए इस विषय में कोई निश्चय नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त रूपकलाजी के दिये हुए स० १५७४ के लिए भी कोई अन्य आधार अपेक्षित है। उसे भी हम तब तक उक्त पद्मनाभ का आविर्भाव-काल मानने को बाध्य नही, जब तक कोई अन्य प्रमाण भी इस सबध मे उपलब्ध न हो जाय।

साराश

साराश यह कि कबीर साहब का जीवन-काल पूर्ण रूप से निर्धारित करने के लिए अभी तक यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नही है। इसी कारण इस विषय में हम अतिम निर्णय असदिग्ध रूप से देने में असमर्थ ही कहे जा सकते हैं। फिर भी जो कुछ साहित्य इस प्रश्न को सुलझाने के लिए आज तक प्रस्तुत किया गया हमारे सामने दीख पडता है, उससे इतना स्पष्ट है कि सभी बातो के पूर्वा पर विचार करते हुए उनके मृत्यु-काल को लोग पीछे की जगह कुछ पहले की ओर ही ले जाने के लिए अधिक यत्नशील हैं। हम तो समझते हैं कि उक्त समय का विक्रमी सवत् की सोलहवी शताब्दी के आरभ मे रखा जाना अनुचित नही कहा जा सकता। इस दृष्टि से स० १५०५ भी कदाचित् ठीक हो सकता है। ऐसा सिद्ध हो जाने पर कबीर साहब का स्वामी रामानद का समकालीन तथा उनके द्वारा बहुत कुछ प्रभावित होना, अपने निराले क्रातिकारी विचारो की सहायता से सत-मत की बुनियादी को सुदृढ बना उसे पूर्ण बल प्रदान करना, सेना, पीपा, रैदास, धन्ना तथा कमाल-जैसे साधको को अपने आदर्शों के प्रति पूर्ण रूप से आकृष्ट करना, कुछ पीछे आनेवाले जायसी (स० १५५१–१६४०) जैसे सूफी तथा सूरदास (स० १५४०–१६२०) तथा मीराँबाई (स० १५५५–१६०३') जैसे कृष्णानुरागी भक्त-जनो तक को अपनी विचार-धारा के प्रवाह में डाल देना आदि सभी बातें सभव हो सकेंगी। हाँ, कबीर साहब का जन्म-काल उस दशा में परपरागत स० १४५५ वा १४५६ से कुछ पहले ले जाना पडेगा। वैसी स्थिति आने पर सभव है, उक्त सवत् उनके सर्वप्रथम प्रबुद्ध होने का ही समय समझा जाने लगे। उनके 'काशी आने', 'काशी मे प्रकट होने' अथवा 'सत्पुरुष के तेज के गमन से लहरतारा में उतरने' आदि का तात्पर्य तब वही होगा जो उनके प्राथमिक जीवन का कायापलट होकर उनके एक नितात नवीन जीवन प्राप्त करने का हो सकता है। इसकी ओर उनके 'गुरुदेव', 'परचा', 'उपजणि' आदि अगो के अतर्गत आनेवाली कतिपय साखियो द्वारा कुछ सकेत भी हमे मिलते हैं। यदि 'अनतदास की परचई' प्रामाणिक मान ली जाय और उसके लेखक का एतत्सबधी कथन भी सत्य निकल आवे, तो इस विषय में 'तीस बरस तैं चेतन भयो" के

द्वारा उपदेश देने और सतगुरु के रूप में प्रत्यक्ष दर्शन देकर दीक्षित करने की परंपरा आगे और भी प्रचलित होती गई। हम देखते हैं कि मीरांबाई के संभवतः कुछ ही अनंतर इसी प्रकार धर्मदास को कबीर साहब ने 'बिदेही' होते हुए भी 'सीने रूप में दर्शन दिये। चरणदास (सं० १७६०–१८३९) को शुकदेव मुनि ने उपदेश दिये और गरीबदास (सं० १७७४–१८३५) को कबीर साहब ने ही फिर आकर अपना चेला बनाया। धर्मदास ने अपने विषय में कबीर साहब के साथ की भेंट की स्वयं चर्चा की है।[१] इस बात की पुष्टि 'अनुरागसागर'[२] तथा 'अमर सुख निधान'[३] की कुछ पंक्तियों द्वारा भी हो जाती है। मीरांबाई के समय (सं० १५५५ ११ २) तक कबीर साहब के विषय में चमत्कारपूर्ण वर्णनों का आरंभ हो जाना व्यासजी (सं० १६१२ में वर्तमान) के समय से उनके रामानंद-शिष्य कहे जाने की प्रथा का चलना अनंतदास (सं० १६४५) के लगभग से सिकंदर लोदी के प्रसंग का दीख पड़ना[४] अबुल फ़ज़ल (सं० १६५५ में वर्तमान) के समय से उनके शव के लिए हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच कलह उत्पन्न होने की चर्चा का फैलना[५]

'रैदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी। मीरांबाई की पदावली, पद १५९, पृ० ७७।

१ 'साहेब कबीर प्रभु मिले बिदेही झीना बरन दिखाइया। धरमदास की बानी, बेल० प्रेस प्रयाग पृ० ५६।

२ 'जुलहा की तब अवधि सिरानी। मथुरा देह धरी तिन आनी।

पुहुप आकाश उठी तिहि बारा। बानी बेग चाहु संसारा ॥

बानी वेगि चाहु तुम अंसा। धर्मदास के सेवहु संसा ॥"
—अनुराग सागर, बेल० प्रेस प्रयाग, पृ० ८४-५।

३ 'बिनदेह कब धरा सरीरा। धरमदास मिलि भए कबीरा ॥
—अमर सुखनिधान (उक्त धरमदास की बानी के पृ० ९-६ में उद्धृत)।

४ 'स्याह सिकंदर कासी आया। काजी मुल्ला के मनि भाया ॥

'बांध्यो पग मेल्यो जंजीर। ले बोरयो गंगा के तीर ॥
—श्री कबीर साहिब जी की परचई संत कबीर, पृ० ३०-१ पर उद्धृत।

५ He was revered by both Hindus and M hammadans for his catholicity of doctrine and the illumination of his mind nd when he died the Brahamans wished to burn his body and the Mahammadans to bury it *Ain-o-Akberi* (translated by Col H I Jerret vol II Calcutta 1891 p 129

तथा और आगे चल कर उनके शेख तकी का शिष्य होने अथवा गुरु नानक से भेंट करने की कल्पनाओ का भिन्न-भिन्न रचनाओ मे स्थान पाने लगना उपलब्ध साम-ग्रियो की जाँच-पडताल करने पर क्रमश आये हुए प्रसगो के रूप मे दीख पडते हैं। इन सभी मे काल पाकर कुछ-न-कुछ बातें बढती ही गई है। अपनी-अपनी धारणा के अनुसार इनमे से किसी-न-किसी को लोग ऐतिहासिक महत्त्व भी देते गए हैं। कालातर मे पडती गई कल्पना-निर्मित 'गर्द ओ गुबार' को यदि मूल ऐति-हासिक बातो के ऊपर से हम किसी प्रकार हटा सकें, तो भिन्न-भिन्न सकेतो का सारा झगडा आसानी से तय हो जाय और केवल थोडी-सी भी स्वच्छ तथा निखरी सामग्रियो के आलोक मे हमे सत्य का आभास मिल जाय।

कबीर साहब के समकालीन समझे जानेवाले सतो तथा भक्तो मे कमाल और पद्मनाभ के भी नाम लिए जाते हैं। इनमे से कमाल का कबीर साहब का पुत्र तथा पद्मनाभ का उनका शिष्य होना प्रसिद्ध है। कमाल की कुछ रचनाएँ भी उपलब्ध हैं जिनसे प्रकट होता है कि वे अपने को कबीर साहब का 'पूत' वा 'बालक' कहा भी करते थे।[१] इसके सिवाय यह भी कहा जाता है कि वे कबीर साहब की आज्ञा लेकर सत-मत का प्रचार करने अहमदाबाद की ओर गए थे।[२] दादूदयाल (स० १६०१–१६६०) की गुरु-परपरा मे (कमाल, जमाल, विमल, बुड्ढन वा बोधन और दादू-दयाल के अनुसार) उनके ऊपर पाँचवी पीढी मे हुए थे।[३] एक दूसरे मत के अनुसार कमाल की गिनती शेख कमाल के नाम से सूफी-सम्प्रदाय के लोगो मे भी की जाती है और उनकी कब्र का कडा मानिकपुर मे होना भी बतलाया जाता है।[४] 'जायसी

---

१ 'उत्तर म्यांने भयो कबीरा, राम चरण का बदा है।
उनीका पूत कहै कमाल दोनों का बोलबाला है॥' ३॥ गाथा पचक, पद २, पृ० ७५।
'कहै कमाल कबीर का बालक, मन किताब सुनावेगा।' वही, पद ५२, पृ०८७।
'गगा जमुन के अतरे निर्मल जल पाणी।
कबीर को पूत कमाल कहै, जिन इह गति जाणी॥'
—कमाल बानी, डॉ० बर्थ्वाल द्वारा निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री, पृ० ३०४ पर उद्धृत।

२ 'चले कमाल तब सीस नवाई। अहमदाबाद तब पहुचे आई॥'
—बोधसागर, पृ० १५१५।

३ डॉ० बर्थ्वाल दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री, पृ० २५८-५९।

४ डॉ० मोहन सिह : कबीर, हिज बायोग्राफी, पृ० ९३।

ग्रंथावली' की भूमिका में[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी की जो गुरु-परंपरा उद्धृत की है। उससे पता चलता है कि शेख कमाल के गुरु-भाई शेख मुबारक थे और ये दोनों शेख हाजी के शिष्य थे जो स्वयं सैयद असरफ जहाँगीर के चेले थे। इन असरफ जहाँगीर का मृत्यु-काल सं० १४५८ सन् १४०१ ई० बतलाया जाता है।[2] अतएव इस हिसाब से यदि प्रत्येक पीर की पीढ़ी २५ वर्षों की मान ली जाय तो शेख कमाल का सं० १५०८ तक रहना सिद्ध किया जा सकता है। उसी प्रकार दादूदयाल की गुरु-परंपरा पर भी विचार करने पर यदि दादूदयाल की जीवनी लिखनेवाले जन गोपाल का कहना ठीक हो कि उनके गुरु अत्यंत वृद्ध के रूप में उनसे प्रथम ११ वर्ष की अवस्था में और फिर अंत में ७ वर्ष पीछे मिले थे। उक्त गुरु की मृत्यु दूसरी घटना के एक वर्ष पीछे समझ ली तो कमाल का सं० १५४५ तक रहना भी कहा जा सकता है और उक्त दोनों संवतों में ३७ वर्षों का अंतर आता है। पता नहीं उक्त दोनों कमाल एक ही थे या नहीं और यदि नहीं तो इनमें से कोई भी एक वे समझे जा सकते हैं कि नहीं। यदि इनमें से किसी एक की भी संगति बैठ जाय तो कमाल के "उत्तर स्माने भयो कबीरा" से हम कबीर साहब के मृत्यु-काल के विषय में कुछ अनुमान कर सकते हैं। पद्मनाभ के विषय में नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में एक छप्पय दिया है और रूपकलाजी ने उनका सं० १५७४ के लगभग वर्तमान रहना बतलाया है।[3] एक भावर ब्राह्मण पद्मनाभ का और भी पता चलता है। उन्होंने सं० १५१२ में 'कान्हड़दे प्रबंध' नामक एक ऐतिहासिक ग्रंथ गुजराती भाषा में लिखा है।[4] इनके विषय में और कुछ भी ज्ञात नहीं। फिर भी डॉ० मोहनसिंह को संदेह है कि कहीं ये ही न कबीर साहब के उक्त शिष्य रहे हों।[5] परन्तु कबीरपंथी-परंपरा के अनुसार पद्मनाभ ने 'राम-कबीर-पंथ' भी चलाया था जो अयोध्या में फैला। उक्त इतिहासकार पद्मनाभ का गुजरात प्रदेश की ओर का होना कल्पित होता है तथा उन्हीं का कबीर साहब द्वारा शिष्य बना लिया जाना किसी अन्य

---

१ रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रंथावली भूमिका पृ० ८७।

२ सैयद आले मुहम्मद मैहर जायसी : 'मलिक मुहम्मद जायसी का जीवनचरित' —नागरी-प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४५, अंक १ पृ० ५१-५२।

३ नाभादास : भक्तमाल (रूपकला की टीका 'भक्ति-सुधा-स्वाद' सहित) पृ० ५४।

४ के० एम० झावेरी : माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर पृ० ४८।

५ डॉ० मोहन सिंह : कबीर, हिज बायोग्राफी पृ० ८९।

प्रमाणो से भी अभी तक सिद्ध नही। इसलिए इस विषय में कोई निश्चय नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त रूपकलाजी के दिये हुए स० १५७४ के लिए भी कोई अन्य आधार अपेक्षित है। उसे भी हम तब तक उक्त पद्मनाभ का आविर्भाव-काल मानने को बाध्य नही, जब तक कोई अन्य प्रमाण भी इस सबध मे उपलब्ध न हो जाय।

साराश

साराश यह कि कबीर साहब का जीवन-काल पूर्ण रूप से निर्धारित करने के लिए अभी तक यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नही है। इसी कारण इस विषय में हम अतिम निर्णय असदिग्ध रूप से देने में असमर्थ ही कहे जा सकते हैं। फिर भी जो कुछ साहित्य इस प्रश्न को सुलझाने के लिए आज तक प्रस्तुत किया गया हमारे सामने दीख पडता है, उससे इतना स्पष्ट है कि सभी बातो के पूर्वा पर विचार करते हुए उनके मृत्यु-काल को लोग पीछे की जगह कुछ पहले की ओर ही ले जाने के लिए अधिक यत्नशील हैं। हम तो समझते हैं कि उक्त समय का विक्रमी सवत् की सोलहवी शताब्दी के आरभ मे रखा जाना अनुचित नही कहा जा सकता। इस दृष्टि से स० १५०५ भी कदाचित् ठीक हो सकता है। ऐसा सिद्ध हो जाने पर कबीर साहब का स्वामी रामानद का समकालीन तथा उनके द्वारा बहुत कुछ प्रभावित होना, अपने निराले क्रातिकारी विचारो की सहायता से सत-मत की बुनियादी को सुदृढ बना उसे पूर्ण बल प्रदान करना, सेना, पीपा, रैदास, धन्ना तथा कमाल-जैसे साधको को अपने आदर्शों के प्रति पूर्ण रूप से आकृष्ट करना, कुछ पीछे आनेवाले जायसी (स० १५५१–१६४०) जैसे सूफी तथा सूरदास (स० १५४०–१६२०) तथा मीराँबाई (स० १५५५–१६०३') जैसे कृष्णानुरागी भक्त-जनो तक को अपनी विचार-धारा के प्रवाह में डाल देना आदि सभी बातें सभव हो सकेंगी। हाँ, कबीर साहब का जन्म-काल उस दशा में परपरागत स० १४५५ वा १४५६ से कुछ पहले ले जाना पडेगा। वैसी स्थिति आने पर सभव है, उक्त सवत् उनके सर्वप्रथम प्रबुद्ध होने का ही समय समझा जाने लगे। उनके 'काशी आने', 'काशी मे प्रकट होने' अथवा 'सत्पुरुष के तेज के गमन से लहरतारा में उतरने' आदि का तात्पर्य तब वही होगा जो उनके प्राथमिक जीवन का कायापलट होकर उनके एक नितात नवीन जीवन प्राप्त करने का हो सकता है। इसकी ओर उनके 'गुरुदेव', 'परचा', 'उपजणि' आदि अगो के अतर्गत आनेवाली कतिपय साखियो द्वारा कुछ सकेत भी हमे मिलते हैं। यदि 'अनतदास की परचई' प्रामाणिक मान ली जाय और उसके लेखक का एतत्सबधी कथन भी सत्य निकल आवे, तो इस विषय में 'तीस बरस तै चेतन भयो" के

सहारे हम उनके जन्म-काल के लिए भी सं० १४५५ से सं० १४२५ के सकेंगे और वैसा होने पर कबीर साहब मैथिलकवि विद्यापति (सं० १४१७-१५ ५) अथवा (१४ ७-१५ ७)[1] के समसामयिक हो जायेंगे। ऐसी दशा में संभवतः इस जनश्रुति की भी पुष्टि होती हुई दीख पड़ेगी कि असम के प्रसिद्ध भक्त शंकरदेव (सं० १५ ६-१६२५) ने अपनी उत्तरी भारत की द्वादशवर्षीया तीर्थ-यात्रा (सं० १५४०-१५५२)[2] के अवसर पर कबीर साहब की समाधि के भी दर्शन किये थे।

(ख) महात्मा गांधी की जीवन-निर्माण-कला

विशेषता

महात्मा गांधी को अपने जीवन-काल में अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट झेलने पड़े उनके सामने कई बार पारिवारिक उलझनें आयी जिन्हें सुलझाते समय उन्हें मानसिक पीड़ा हुई। इनके सिवाय उन्हें प्रतिदिन उन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं का भी सामना करना पड़ता रहा जो हमारे देश की विचित्र परिस्थिति के कारण बराबर उठ आया करती थी। परन्तु वे इस प्रकार की किसी भी कठिनाई से कभी मायते नहीं दीख पड़े। उन्होंने सदा पूरे धैर्य के साथ वस्तुस्थिति का अध्ययन किया और प्रत्येक समस्या को हल करने की चेष्टा में वे निरंतर रहे। उनके मानसिक क्षितिज पर विविध चिंताओं की घनघोर घटा घिर आया करती थी। उनके हृदय पर कर्त्तव्यों का बोझ सदा लदा-सा रहता था किंतु वे उनसे कदाचित् ही कभी विचलित हुए देखे गए होंगे अथवा उन्हें किसी प्रकार टाल देने के यत्न में लगे होंगे। उन्होंने अपने सामने आयी हुई बातों की वास्तविक स्थिति जान लेने की चेष्टा सदा यथाशीघ्र आरंभ की और उसके संबंध में कुछ-न-कुछ करने की ओर भी प्रवृत्त हो गए। फलतः अपने जीवन-काल की अवधि में जितना काम वे अकेले कर गए, उतना कई महापुरुषों ने कदाचित् मिल कर भी नहीं किया होगा। उनकी यह विशेषता स्पष्ट थी किंतु इसके कारण बहुत कुछ रहस्यमय थे।

जीवन का प्रयोग

महात्मा गांधी की उक्त सफलता का रहस्य सर्वप्रथम इस बात में निहित था कि उन्होंने अपने जीवन को कभी भार-स्वरूप नहीं समझा प्रत्युत उसे किसी अंतिम उद्देश्य के लिए एक नितांत आवश्यक साधन माना। मानव-जीवन के

---

१ विद्यापति पदावली पटना सं० २ १८ 'भूमिका' पृ० ११।

२ एच० एन० दास : शंकरदेव ए स्टडी गौहाटी, सन् १९४५ ई० पृ० २४।

महत्त्व मे भली भाँति वे परिचित थे और उसे अच्छे-से-अच्छे ढग से काम मे लाने की कला का वे आमरण अभ्यास करते रहे। इसके लिए उन्होने कुछ नियम निश्चित कर रखे थे जिन्हें आवश्यकतानुसार वे परखते भी चलते थे। उन्होने उनमें मे किसी के भी रूढिगत रूप में विश्वास नही किया, अपितु परिस्थिति के अनुसार उन पर नये ढग से पुनर्विचार करने पर वे तैयार हो जाते रहे। उन्होने सत्य-जैसी वस्तु के भी अपने जीवन में अनेक बार 'प्रयोग' किये और उसे उसी प्रकार जान लेने की चेष्टा की, जिस प्रकार एक वैज्ञानिक किसी पदार्थ की अपनी प्रयोगशाला में परीक्षा कर उसे समझता तथा उसके विषय में व्यापक नियम निर्धारित करता है। उन्होने किसी भी आदर्श को तब तक स्वीकार नही किया, जब तक उसे अपने व्यवहार की कसौटी पर जाँच कर पहले उसकी सुसगति बैठा लेने की भरसक चेष्टा नही कर ली और उसके मूल्य का यथाशक्ति अकन भी नही कर लिया।

सत्य का स्वरूप

सत्य उनकी जीवन-यात्रा का एक-मात्र पथ-प्रदर्शक था और अपना निजी अनुभव ही उसके लिए उनका एकमात्र सबल था। किंतु उस सत्य को भी उन्होने किसी ध्रुवतारा जैसी पृथक् तथा दूर से सकेत करनेवाली वस्तु के रूप में कभी नही देखा। वे उसे सदा अपना अत्यत निकटवर्त्ती तथा वास्तविक अग मानते रहे। उसके साथ तादात्म्य तथा तदाकारता उपलब्ध करने के यत्न में निरतर इसलिए लगे रहे जिससे उनके जीवन का प्रत्येक कार्य उसी के अनुरूप होता चले। उसके साथ किसी प्रकार की विषमता भी न आने पावे। सत्य ही वास्तव मे उनका ईश्वर था जिसे वे अपने हिन्दू-सस्कारो के अनुसार बहुधा 'राम' भी कहा करते थे। फिर भी उनके अनुसार वह कोई व्यक्ति-विशेष न था, न ऐसा ही था जिसे किसी देश-काल की परिधि में बँधा हुआ कोई अलौकिक तत्त्व कह सकते है। महात्मा गाँधी के लिए वह वस्तु कदाचित् 'है' का केवल एक प्रतीक मात्र था। उसकी नित्यता, सर्वव्यापकता और अद्वितीयता की शक्ति से मुग्ध होकर वे कभी-कभी न केवल उसे स्वभावत कोई-न-कोई नाम दे देते, प्रत्युत उससे स्मरण तथा चितन द्वारा उसके साथ सान्निध्य का अनुभव भी करते रहते थे।

उसकी अनुभूति

उस सत्य के अपनाने की चेष्टा ने उनके जीवन में एक अत्यत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया था। वे प्रत्येक वस्तु अथवा नियम के विषय में विचार करते समय उसे एक व्यापक तथा उदार दृष्टिकोण के साथ देखा करते थे। अपने उक्त प्रयोगो के निरतर करते-करते उनकी स्थायी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी हो चली

सहारे हम उनके जन्म-काल के लिए भी सं० १४५५ वि० = सं० १४७५ वि० तक मानें और वैसा होने पर कबीर साहब मैथिलकोकिल विद्यापति (सं० १४१७–१५०५) अथवा (१४०७–१५०७)[1] के समसामयिक हो जायँगे। ऐसी दशा में संभवत इस जनश्रुति की भी पुष्टि होती हुई दीख पड़ेगी कि असम के प्रसिद्ध भक्त शंकरदेव (सं० १५०६–१६२५) ने अपनी उत्तरी भारत की द्वादशवर्षीया तीर्थ-यात्रा (सं० १५४०–१५५२)[2] के अवसर पर कबीर साहब की समाधि के भी दर्शन किये थे।

(ख) महात्मा गांधी की जीवन-निर्माण-कला

विशेषता

महात्मा गांधी को अपने जीवन-काल में अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट झेलने पड़े, उनके सामने कई बार पारिवारिक उलझनें आयीं जिन्हें सुलझाते समय उन्हें मानसिक पीड़ा हुई। इसके सिवाय उन्हें प्रतिदिन उन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं का भी सामना करना पड़ता रहा जो हमारे देश की विचित्र परिस्थिति के कारण बराबर उठ आया करती थीं। परन्तु वे इस प्रकार की किसी भी कठिनाई से कभी भागते नहीं दीख पड़े। उन्होंने सदा पूरे धैर्य के साथ वस्तुस्थिति का अध्ययन किया और प्रत्येक समस्या को हल करने की चेष्टा में वे निरंतर रहे। उनके मानसिक क्षितिज पर विविध चिंताओं की घनघोर घटा घिर आया करती थी। उनके हृदय पर कर्तव्यों का बोझ सदा लदा-सा रहता था, किंतु वे उनसे कदाचित् ही कभी विचलित हुए देखे गए, न उनसे अथवा उन्हें किसी प्रकार टाल देने के यत्न में लगे हुए। उन्होंने अपने सामने आयी हुई बातों की वास्तविक स्थिति जान लेने की चेष्टा सदा यथाशीघ्र आरंभ की और उनके संबंध में उचित पग उठाने की ओर भी प्रवृत्त हो गए। फलत: अपने जीवन-काल की अवधि में जितना काम वे अकेले कर गए, उतना कई मनुष्य कदाचित् मिल कर भी नहीं किया होगा। उनकी यह विशेषता स्पष्ट थी, किंतु इसके कारण बहुत कुछ रहस्यमय थे।

जीवन का प्रयोग

महात्मा गांधी की उक्त सफलता का रहस्य सर्वप्रथम इस बात में निहित था कि उन्होंने मानव जीवन को कभी भार-स्वरूप नहीं समझा, वस्तुत उसे किसी अंतिम उद्देश्य के लिए एक निरंतर प्रयोग का साधन माना। मानव जीवन के

---

१ विद्यापति पदावली, भाग, सं० २०१८ 'भूमिका' पृ० ११।

२ एच० एच० नाथ : शंकरदेव, ए स्टडी, गौहाटी, सन् १९३५ ई० पृ० १४।

भी अपनी परिधि के बाहर कभी नही जाती और अपना प्रतिदिन का कार्य एक निश्चित नियम के अनुसार किया करती है, उसी प्रकार उन्होंने भी अपना प्रत्येक कार्य करने की चेष्टा की। इसके सिवाय जिस प्रकार उक्त घडी अपने केन्द्र से कभी विलग नही होती और इसी नियम पर उसकी सारी चाल भी निर्भर रहा करती है, ठीक उसी प्रकार महात्मा गाँधी ने भी अपने केन्द्रगत सत्य की ओर से अपने ध्यान को कभी नही हटाया, अपितु उसके साथ जुडे हुए ही रह कर सभी कार्य करते रह गए। घडी एक निर्जीव यत्र है और उसके मूलत कृत्रिम होने के कारण भी हम इसके उक्त कार्य को उतना महत्त्व देना नही चाहते, किंतु यदि एक क्षण के लिए हम ऐसी कल्पना कर लें कि उपर्युक्त पर्वत, नदी-जैसे प्राकृतिक वस्तु क्या, मनुष्यमात्र तक वस्तुत यत्रवत् कार्य करने में ही निरत हैं, तो इस व्यापक सिद्धात का रहस्य शीघ्र प्रकट हो जाय। हमें पता चल जाय कि यथार्थ में कोई भी पदार्थ गुप्त वा प्रकट रूप से उस केन्द्र की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रेरणा

महात्मा गाँधी जब कहते थे कि बिना 'उसकी' आज्ञा के एक साधारण पत्ता भी नही हिलता अथवा जब कभी उन्होंने अनशन आदि के अवसरो पर कभी-कभी कह डाला कि मेरा जीवन उस नियता के अधीन है, तब सदा उन्होंने उक्त नियम को ही अपने ध्यान में रखा। उनकी अतरात्मा तथा अत करण की प्रसिद्ध पुकार भी वही थी, जो अवसर विशेष पर उन्हें किसी कार्य से विरत कर देती थी अथवा उन्हें किसी ओर आवाहन करती थी। उन्होंने इस प्रकार अपने को उपर्युक्त प्राकृतिक वस्तुओ के साँचे में ही जैसे ढाल रखा था और उन्ही के आदर्शों पर सदा चलने का निश्चय कर लिया था। उनका कोई भी कार्य निजी नही था, न उसे करते समय उन्हें किसी प्रकार का सकोच वा भय दिखलाने की आवश्यकता ही पडती थी। किसी कार्य को बाह्यत विफल होता देख उन्हें इसी कारण कभी निराश होने का भी अवसर नही आता था और वे अपने को सदा आशावादी ही मानते रहे। वे उक्त नियमो का अक्षरश पालन करते समय भी किसी बधन का अनुभव नही करते थे। उनके यहाँ अनुशासन में भी आत्म-स्वातत्र्य की मात्रा बहुत अधिक रहा करती थी, क्योकि किसी कार्य को इन्होंने उसी भाव के साथ करने का यत्न किया जिससे एक सच्चा स्वयसेवक अनुप्राणित रहा करता है।

अनासक्ति

महात्मा गाँधी को अपने किसी कार्य मे कभी थकावट नही जान पडी,

थी कि किसी संकुचित भावना का उनके सामने आकर किसी प्रकार की बाधा डालना असंभव-सा था। बड़े-से-बड़े प्रश्नों से लेकर साधारण-सी साधारण कठिनाइयों तक के संबंध में की गई उनकी धारणा हमारे सामने एक विलक्षण रूप धारण करके आती हुई प्रतीत होती थी। हम उनके उस ऊँचे स्तर की रूप-रेखा से प्रायः अपरिचित रहने के कारण उनकी बातें पहले समझ नहीं पाते थे। किंतु जब उनके व्यक्त विचारों के आधार पर उन्हें अंशतः जान पाते थे तब फिर दंग भी रह जाते थे। किसी भी समस्या के आने पर उससे तटस्थ रह कर तथा अत्यंत उदार भाव के साथ उसे सुलझाने का यत्न करना उनकी एक विशेषता थी। इस कारण उन्हें आगे चल कर परिस्थिति के बहुत कुछ बदल जाने पर भी अपने किये हुए कामों के लिए पछताने का बहुत कम अवसर उपस्थित हुआ।

परिणाम

सत्य को इस प्रकार अपनाने का एक सुंदर प्रभाव यह पड़ता है कि ऐसा करते समय हम स्वभावतः अपने को विश्व का अंतरंग समझने लगते हैं। हमें कोई भी व्यक्ति वा पदार्थ पराया नहीं जान पड़ता न वह हमसे किसी प्रकार भिन्न प्रतीत होता है। इस कारण उसके प्रत्येक कार्य को हम अपने लिए प्रस्तुत मानने लगते हैं। उसी प्रकार स्वयं अपने कार्य को भी सबके निमित्त किया गया समझते हैं। इस आत्मीयता के भाव का परिणाम यह होता है कि हमें किसी को किसी बात के लिए उलाहना देने की आवश्यकता नहीं रहती न किसी से किसी प्रकार झगड़ने का ही अवसर आता है। मनुष्य को कौन कहे यदि विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि विश्व के सभी अंग जैसे पर्वत नदी पवन सूर्य तथा चन्द्र तक हममें से प्रत्येक के लिए निरंतर कार्य में लगे हुए हैं। वे अपने कर्त्तव्य का पालन करते समय कभी विराम लेना तक नहीं जानते न कभी उनके नियमों में किसी प्रकार का परिवर्तन ही देखा जाता है। मनुष्य कभी उनके उपकारों की ओर ध्यान नहीं देता, न उनके प्रति कभी अपनी कृतज्ञता का प्रकाशन ही करता है। फिर भी वे अपने-अपने कार्य सदा समवरत रूप में करते चले आ रहे हैं। उनके इस प्रकार एक ही ढंग से व्यस्त रहने पर भी विश्व नित्यशः अग्रसर होता हुआ भी दीखता है।

कार्य-पद्धति

महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में प्रतिदिन किये जानेवाले प्रत्येक कार्य को उक्त सिद्धांत के अनुसार ही नियमित कर रखा था। उनके नित्य प्रति के खाना-पीना सोना उठना-बैठना मिलना-जुलना आदि सभी कार्य निश्चित ढंग से हुआ करते थे। जिस प्रकार किसी घड़ी की सुई प्रत्येक क्षण आगे बढ़ती हुई

रखते हुए किसी के प्रति वैर-भाव न प्रदर्शित करना तथा जो कुछ भी करना उसे नि सग होकर निष्काम भाव के साथ करना समझे जा सकते हैं[१]। साराश यह कि सत लोग आदर्श महापुरुष हुआ करते हैं और इसके लिए उनका पूर्णत आत्म-निष्ठ होने के अतिरिक्त, समाज मे रहते हुए नि स्वार्थ भाव से विश्व-कल्याण मे प्रवृत्त रहा करना भी आवश्यक है। 'सत' शब्द का यह अर्थ वस्तुत बहुत व्यापक है और इसमे वैसे व्यक्ति-विशेष की 'रहनी' तथा 'करनी' के बीच एक सुन्दर सामजस्य भी लक्षित होता है।

रूढिगत 'सत' शब्द

फिर भी पता चलता है कि 'सत' शब्द का प्रयोग किसी समय विशेष रूप से केवल उन भक्तो के लिए ही होने लगा था जो विट्ठल वा वारकरी सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक थे और जिनकी साधना निर्गुण-भक्ति के आधार पर चलती थी। इन लोगो मे ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम-जैसे भक्तो के नाम लिये जाते हैं जो सभी महाराष्ट्र प्रान्त से सबद्ध थे। 'सत' शब्द उनके लिए क्रमश रूढि-सा हो गया था[२] और कदाचित् अनेक बातो मे उन्ही के समान होने के कारण, उत्तरी भारत के कबीर साहब तथा अन्य ऐसे लोगो का भी पीछे वही नामकरण हो गया।[3] इन सतो मे से प्राय सभी ने 'सत' शब्द की व्याख्या की है और सतो की रहनी तथा करनी के उक्त सामजस्य की ओर ध्यान देने की

---

१ बौद्ध धर्मानुसार बोधिसत्व का आदर्श बतलाते हुए जिन गुणो की ओर विशेष ध्यान दिया गया है, उनमे भी उक्त लक्षणो को ही कदाचित् क्रमश 'उपेक्खा' (उपेक्षा), 'पञ्ञा (प्रज्ञा), 'मेत्ता' (मैत्री) तथा 'नेक्खम्म' (निष्काम) कह कर गिनाया गया है। दे० भिक्खु नारद थेरो रचित 'दि बोधिसत्त आइ-डियल' (अड्यार, मद्रास)।

२ "Now 'Santa' is almost a technical word in the Vitthal Sampradaya, and means any man who is a follower of that Sampradaya Not that the followers of other Sampradayas are not 'Santas but the followers of the Varkari Sampradayas are santas par excellence"—Mysticism in Maharastra by Prof R D Ranade (Poona, 1933) p 42

३ डॉ० बर्थ्वाल ने इन सतो को 'निर्गुण-पथी' वा 'निरगुनिया' कहना अधिक उचित माना है और तदनुसार उन्होने इनके मार्ग को भी Nirgun School वा निर्गुणपथ नाम से अभिहित किया है। 'निर्गुण-पथ' शब्द से व्यक्त होता है कि इसके अनुयायी परमतत्त्व को केवल 'निर्गुण' ही मानते थे जो इस

न उसे उन्होंने कभी विरक्त होकर बीच में ही छोड़ दिया। उन्होंने प्रत्येक कार्य के छोटे-से-छोटे अंश को भी सावधानी के साथ और पूर्ण अभिरुचि से संपन्न करने की चेष्टा की। उन्हें किसी भी कार्य का कोई भी क्षुद्र-से-क्षुद्र अंश उसके पूर्ण रूप से कम महत्व का नहीं जान पड़ा न कभी ऐसा अवसर आया जब उसे उन्होंने अरुचिकर माना हो। कार्य करते समय आनंद का अनुभव करना और उसे मुदरता के साथ संपन्न करने में अंत तक लगा रहना उनकी एक अन्य विशेषता थी। परन्तु जिस प्रकार वे किसी कार्य के संपादन में अपना हृदय पूर्णरूप से लगा देते थे उसी प्रकार उसे कर डालने पर उससे अनासक्त भी रहा करते थे। उसके प्रति उनका ऐसा कोई महत्व नहीं रह जाता था जैसा अपने किये हुए काम के प्रति सर्वसाधारण का बहुधा देखा जाता है। सर्वसाधारण यदि कुछ करते हैं तो उसकी सफलता पर वे फूले नहीं समाते और उसके विफल होने ही हताश होकर गिर भी जाते हैं। परन्तु महात्मा गांधी ऐसे व्यक्तियों में नहीं थे। उनके इस अपूर्व स्वभाव ने ही उन्हें अपनी जीवन-यात्रा में बढ़ते जाने के लिए निरंतर उत्साह प्रदान किया था।

अहिंसा

जिस दृष्टिकोण या 'दर्शन' को लेकर वे अपने जीवन में अग्रसर हुए थे उसका एक अवश्यंभावी परिणाम उनका विश्व-बंधुत्व था जिसने उन्हें अपने शत्रु तक को मित्रवत मानने के लिए सदा प्रेरित किया और सारे विश्व को उनके लिए एक संयुक्त परिवार का रूप दे डाला। उनकी यह भावना इतनी तीव्र थी कि उसके कारण उन्होंने दूसरों के हृदयगत विकारों को भी अपने रंग में ही रँगा हुआ पाया। उनकी त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर उन्होंने उन पर पूरी उदारता के साथ दृष्टिपात किया और यदि उनमें कहीं अधिक निर्बलता पायी तो उसे क्षमा द्वारा दूर करने का प्रयत्न करने में भी वे नहीं चूके। सर्वसाधारण उनकी विविध बातों को अपनी नासमझी के कारण कभी सम्यक रूप में चाहे न भी देख पाते हों और उनका रूप से अधिक अर्थ लगा कर उनके कारण उन्हें चाहे अपना शत्रु तक मान बैठते हों किन्तु उन्होंने इस प्रकार की भूल कभी नहीं की। उनकी प्रसिद्ध अहिंसा के सिद्धांत का रहस्य इसी बात के भीतर निहित रहा कि चाहे जिस प्रकार भी हो किसी के शरीर वा मन तक पर भी किसी प्रकार का आघात न पहुँच सके। वास्तव में महात्मा गांधी के उपर्युक्त व्यापक दृष्टिकोण के रहते इस प्रकार की ही धारणा का होना नितान्त स्वाभाविक था।

संतुलित जीवन

सत्य को अपने निजी अनुभव द्वारा जाना लेने के ही कारण उन्होंने उसे

अपना निजी स्वरूप मान लिया था। फलत उसके आधार पर निर्धारित की गई वातो के प्रति उनके भीतर एक अनुपम आस्था हो जाती थी और उनके समर्थन तथा निर्वाह के लिए वे प्राणपन की चेष्टा में प्रवृत्त हो जाते थे। अपने इस प्रकार के यत्नो को उन्होने 'सत्याग्रह' का नाम दे रखा था और उसके अनुसार उन्होने अपने जीवन में अनेक वार कार्य किय थे। उनकी ऐसी चेष्टाओ मे उनकी सच्ची अनुभूति के कारण इतना आत्म-बल रहा करता था कि उसका सफलतापूर्वक सामना करना किसी के लिए भी असभव हो जाता था। फिर भी, यदि उनके विचारो में आगे चल के कभी परिवर्तन आ जाता था तथा अपने पूर्व-कृत निर्णय का वे कही अपनी भूल समझ वैठने थे तो उन्हें यथाशीघ्र रोक देने में भी वे कभी नही चूकते थे। उस समय जान पडता था कि वे किसी प्रयोगशाला मे ही काम कर रहे हैं। इस वैज्ञानिक युग मे रह कर उन्होने अपने व्यक्तिगत जीवन को ही प्रयोग की वस्तु वना डाला। एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति उसके नियम स्थिर करते गए। सत्य की कसौटी पर सदा कसते हुए उसे उन्होने ऐसा रूप दे डाला जो अन्य व्यक्तियो के लिए भी आदर्श हो सकता है। वे आमरण सदा इसी वात के लिए सचेष्ट रहे कि उनका ध्यान अपने केन्द्र-विंदु 'सत्य' से रचमात्र भी डिगने न पावे। हमारे इस विचित्र समाज के भीतर उन्होने अपने को प्राय उसी प्रकार सतुलित तथा सावधान रखना चाहा, जिस प्रकार किसी डोरी पर चलने वाला कलाभ्यस्त नट अपने को सँभाला करता है।

अपना निजी स्वरूप मान लिया था। फलत उसके आधार पर निर्धारित की गई वातों के प्रति उनके भीतर एक अनुपम आस्था हो जाती थी और उनके समर्थन तथा निर्वाह के लिए वे प्राणपन की चेष्टा में प्रवृत्त हो जाते थे। अपने इस प्रकार के यत्नो को उन्होने 'सत्याग्रह' का नाम दे रखा था और उसके अनुसार उन्होने अपने जीवन में अनेक वार कार्य किय थे। उनकी ऐसी चेष्टाओ मे उनकी सच्ची अनुभूति के कारण इतना आत्म-बल रहा करता था कि उसका सफलतापूर्वक सामना करना किसी के लिए भी असभव हो जाता था। फिर भी, यदि उनके विचारो में आगे चल के कभी परिवर्तन आ जाता था तथा अपने पूर्व-कृत निर्णय का वे कही अपनी भूल समझ वैठने थे तो उन्हें यथाशीघ्र रोक देने में भी वे कभी नही चूकते थे। उस समय जान पडता था कि वे किसी प्रयोगशाला मे ही काम कर रहे हैं। इस वैज्ञानिक युग मे रह कर उन्होने अपने व्यक्तिगत जीवन को ही प्रयोग की वस्तु वना डाला। एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति उसके नियम स्थिर करते गए। सत्य की कसौटी पर सदा कसते हुए उसे उन्होने ऐसा रूप दे डाला जो अन्य व्यक्तियो के लिए भी आदर्श हो सकता है। वे आमरण सदा इसी वात के लिए सचेष्ट रहे कि उनका ध्यान अपने केन्द्र-विंदु 'सत्य' से रचमात्र भी डिगने न पावे। हमारे इस विचित्र समाज के भीतर उन्होने अपने को प्राय उसी प्रकार सतुलित तथा सावधान रखना चाहा, जिस प्रकार किसी डोरी पर चलने वाला कलाभ्यस्त नट अपने को सँभाला करता है।

सहायक साहित्य-सूची

प्रथम अध्याय

१ 'ऋग्वेद' और 'अथर्ववेद'

२ 'छान्दोग्योपनिषद्', 'तैत्तिरीयोपनिषद्', 'कठोपनिषद्', 'ईशोपनिषद्', 'मुण्डकोपनिषद्', 'मैत्र्युपनिषद्', 'प्रेमोपनिषद्', नादविन्दूपनिषद्'

३ 'योगोपनिषद्' (सग्रह) Edited by A Mahadeva Sastri (Adyar Library, Madras)

४ 'पातजल योगसूत्र', 'ब्रह्मसूत्र' (शाकर भाष्य) तथा 'सर्वदर्शन सग्रह'

५ 'महाभारत', 'श्रीमद्भागवत', 'श्रीमद्भगवद्गीता' तथा 'मनुस्मृति'

६ 'रघुवश' (महाकाव्य), 'मालविकाग्निमित्र' (नाटक) तथा 'भर्तृहरि शतकत्रयम्'

७ 'कुरआन शरीफ'

८ 'गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह '(Saraswati Bhavan Texts No 18)

९ 'धम्मपद' (महाबोधि ग्रन्थमाल)

१० भिक्खु नारद थेरो The Bodhisatta Ideal (Adyar Pamphlet, No 158)

११ Dr S Radhakrishnan ' An Idealist View of Life '

१२ 'श्री गुह्य समाज तत्र' (Gaekwad Oriental Series, No 53)

१३ 'साधन माला' (Gaekwad Oriental Series Nos 26 and 41)

१४ 'सेकोद्देश टीका' (नाडपाद) Edited by M E Correlli (G O S No 90, 1941)

१५ 'प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि' (अनगवज्र) G O S No 44

१६ 'ज्ञान सिद्धि' (इन्द्रभूति) G O S No 44

१७ गगा (पुरातत्त्वाक), भागलपुर, जनवरी सन् १९३३ ई०

१८ 'दोहाकोश' (सरहपा, कण्हपा तथा तेलोपा) Calcutta Sanskrit Series No 25 C, 1938

१९ Materials, etc by Dr P C Bagchi, Calcutta University 1938

२ Old Bengali Texts Edited by Dr Sukumar Sen (Indian Linguistic Vol. X) Calcutta 1949

२१ डॉ हीरालाल जैन भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान भोपाल सन् १९६२ ई

२२ 'पाहुड़ दोहा' (मुनिराम सिंह) डॉ हीरालाल जैन-संपादित (कारंजा स १९९)

२३ 'योगसार दोहा' (योगीन्दु) श्री रामचन्द्र जैन शास्त्रमाला १ बंबई

२४ 'परमात्मप्रकाश दोहा' (योगीन्दु) सन् १९३ ई

२५ 'गोरखबानी' डॉ बड़थ्वाल संपादित (हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग) स १९९९।

२६ 'नाथसिद्धों की बानियाँ' (काशी सं २ १४)

२७ Dr Mohan Singh Gorakhnath and Medieval Mysticism (Lahore, 1937)

२८ George Weston Briggs Gorakhnath and the Kanphata Yogis (Calcutta 1938)

२९ 'कश्फुल महजूब' (Translated by Dr R. A. Nicholson (London, 1911)

१ शेख फरीदुद्दीन अत्तार मन्तिकुत्तैर, लाहौर

११ ईजाजुल्हक कुद्दूसी सूफिया-ए-पंजाब कराची सन् १९६२ ई

१२ सय्यद अहुल हाशिमी 'कुरान और धार्मिक मतभेद' (दिल्ली १९३३)

१३ श्री चन्द्रबली पांडेय तसव्वुफ व सूफीमत (बनारस १९४५ ई)

१४ रामपूजन तिवारी सूफीमत साधना व साहित्य (काशी) सं २ ११

१५ Dr A. J Arbery The History of Sufism (Dr A. Suharwardy Lectures for 1942 London)

१६ J S M. Hooper Hymns of the Alvars (Heritage of India Series Calcutta, 1929)

१७ Nammalvar (G A. Natesan Madras)

१८ J C Chatterji Kashmir Shaivism Part I (Kashmir Series of Texts and Studies, Srinagar 1914)

१९ Indian Historical Quarterly (Vol XV 1939)

सहायक साहित्य-सूची

प्रथम अध्याय

१ 'ऋग्वेद' और 'अथर्ववेद'

२ 'छान्दोग्योपनिषद्', 'तैत्तिरीयोपनिषद्', 'कठोपनिषद्', 'ईशोपनिषद्', 'मुडकोपनिषद्', 'मैत्र्युपनिषद्', 'प्रेमोपनिषद्', नादविन्दूपनिषद्'

३ 'योगोपनिषद्' (सग्रह) Edited by A Mahadeva Sastri (Adyar Library, Madras)

४ 'पातजल योगसूत्र', 'ब्रह्मसूत्र' (शाकर भाष्य) तथा 'सर्वदर्शन सग्रह'

५ 'महाभारत', 'श्रीमद्भागवत', 'श्रीमद्भगवद्गीता' तथा 'मनुस्मृति'

६ 'रघुवश' (महाकाव्य), 'मालविकाग्निमित्र' (नाटक) तथा 'भर्तृहरि शतकत्रयम्'

७ 'कुरआन शरीफ'

८ 'गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह' (Saraswati Bhavan Texts No 18)

९ 'धम्मपद' (महाबोधि ग्रन्थमाल)

१० भिक्खु नारद थेरो The Bodhisatta Ideal (Adyar Pamphlet, No 158)

११ Dr S Radhakrishnan 'An Idealist View of Life'

१२ 'श्री गुह्य समाज तत्र' (Gaekwad Oriental Series, No 53)

१३ 'साधन माला' (Gaekwad Oriental Series Nos 26 and 41)

१४ 'सेकोद्देश टीका' (नाडपाद) Edited by M E Correlli (G O S No 90, 1941)

१५ 'प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि' (अनगवज्र) G O S No 44

१६ 'ज्ञान सिद्धि' (इन्द्रभूति) G O S No 44

१७ गगा (पुरातत्त्वाक), भागलपुर, जनवरी सन् १९३३ ई०

१८ 'दोहाकोश' (सरहपा, कण्हपा तया तेलोपा) Calcutta Sanskrit Series No 25 C, 1938

१९ Materials etc by Dr P C Bagchi, Calcutta University 1938
२० Old Bengali Texts Edited by Dr Sukumar Sen (Indian Linguistic Vol. X) Calcutta 1948
२१ डॉ हीरालाल जैन भारतीय संस्कृति मे जैनधर्म का योगदान भोपाल सन् १९६२ ई
२२ 'पाहुड़ दोहा' (मुनिराम सिंह) डॉ हीरालाल जैन-संपादित (कारंजा, सं १९९)
२३ 'योगसार दोहा' (योगीन्दु) श्री रामचन्द्र जैन शास्त्रमाला १ बंबई
२४ 'परमात्मप्रकाश दोहा (योगीन्दु) सन् १९१ ई
२५ 'गोरखबानी' डॉ बड़थ्वाल संपादित (हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग) सं १९९९।
२६ 'नाथसिद्धो की बानियाँ' (काशी सं २ १४)
२७ Dr Mohan Singh Gorakhnath and Medieval Mysticism (Lahore 1937)
२८ George Weston Briggs. Gorakhnath and the Kanphata Yogis (Calcutta 1938)
२९ 'कश्फुल महजूब' (Translated by Dr R. A. Nicholson (London, 1911)
३० सेख फरीदुद्दीन अत्तार मन्तिक अत्तीर, लाहौर
३१ ऐजाजुल्हक कुद्दूसी सूफिया-ए-सिन्ध कराची सन् १९६२ ई
३२ सय्यद अहमद हाशिमी 'कुरान और धार्मिक मतभेद' (दिल्ली १९११)
३३ श्री चन्द्रबली पांडेय तसव्वुफ व सूफीमत (बनारस १९४५ ई)
३४ रामपूजन तिवारी सूफीमत साधना व साहित्य (काशी) सं २ ११
३५ Dr A. J Arbery The History of Sufism (Dr A. Suharwardy Lectures for 1942 London)
३६ J S M. Hooper Hymns of the Alvars (Heritage of India Series Calcutta, 1929)
३७ Nammalvar (G A. Natesan Madras)
३८ J C Chatterji Kashmir Shaivism Part I. (Kashmir Series of Texts and Studies, Srinagar 1914)
३९ Indian Historical Quarterly (Vol XV 1939)

४० विनयमोहन शर्मा हिंदी को मराठी संतो की देन (विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५७)
४१ वि० मि० कोलते महानुभावा चा आचार दर्शन (नागपुर, १९४८)
४२ Dr R D Ranade Mysticism in Maharastra (Poona, 1933)
४३ ल० रा० पागारकर श्रीज्ञानेश्वर चरित्र (गीताप्रेस गोरखपुर, स० १९९०)
४४ श्री ज्ञानेश्वरी (ज्ञानेश्वर)
४५ अमृतानुभव (ज्ञानेश्वर)
४६ नन्हेलाल वर्मा श्री नामदेव वशावली (जबलपुर, स० १९८३)
४७ बलदेव प्रसाद मैंक श्री नामदेव चरितावली („)
४८ 'नामदेवा चा गाथा' (विष्णु नरसिंह जोग सपादित, पुणे शक, १८५३)
४९ Namadeva (G A Natesan, Madras)
५० 'विश्वभारती पत्रिका' (बैशाख, आषाढ स० २००४)
५१ 'सतगाथा' (इदिरा प्रेस, पुणे) शक १८३१।
५२ श० पु० जोशी पजाबातील नामदेव (मुबई, १९४०)
५३ डॉ० मोहन सिंह नामदेव की नई जीवनी, नई पदावली (अबाला)
५४ डॉ० धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य (इलाहाबाद, १९५५ ई०)
५५ Dr D C Sen *History of Bengali Language and Literature* (Calcutta University, 1911)
५६ Dr R C Majumdar History of Bengal (Vol. I Dacca University, 1943)
५७ Dr R D Banerji History of Orissa (Calcutta 1930) Vol I
५८ रजनीकात गुप्त 'जयदेव चरित' (खड्गविलास प्रेस, बाकीपुर, सन् १९१० ई०)
५९ The Journal of the Kalinga Historical Research Society Vol I No 4 March, 1947)
६० N N Vasu Modern Buddism in Orissa (Calcutta, 1911)
६१ गीतगोविन्द (जयदेव)
६२ लल्लेश्वरी वाक्यानि (सस्कृत रूपातर सहित, श्रीनगर)
६३. Lalla Vakyani (Asiatic Society Monographs

चेष्टा भी की है। किन्तु साधना भेद के कारण उनके वर्णनो मे बहुधा ज्ञान भक्ति एवं आचरण की प्रधानता के अनुसार सूक्ष्म अंतर भी दीख पड़ता है। उदाहरण के लिए विचार-पद्धति को प्रधानता देनेवाले संतों ने आदर्श संत के लिए स्वभावत: सद्विवेक के प्रयोग मे दक्ष होना सबसे आवश्यक माना है। भक्ति भाव-द्वारा अधिक प्रभावित संतो ने उसका परम रहस्य से पूर्ण परिचित होना तथा उसके साथ तद्रूपता का अनुभव करना अंतिम लक्ष्य बतलाया है। इसी प्रकार आचरणवाद के समर्थको ने उसकी अलौकिक रहनी पर भी अधिक बल दिया है। परन्तु इन सभी संतो का लक्ष्य मानव जीवन को समुचित महत्त्व प्रदान करना उसका आध्यात्मिक आधार पर पुनर्निर्माण करने उसे इसी भूतल पर जीवन्मुक्त बनकर सानन्द यापन करने तथा साथ ही विश्व-कल्याण मे सहयोग देने का भी जान पड़ता है। इन्होंने अपने सिद्धांत को भी बहुधा 'संत-मत' ही नाम दिया है। आदर्श संत की स्थिति को 'संत-देश' मे निरंतर निवास द्वारा व्यक्त किया है और प्राय: सबने किसी न किसी रूप मे अपने को एक विशेष वा विलक्षण परंपरा का व्यक्ति होना भी स्वीकार किया है।

दक्षिण तथा उत्तर के संत

उत्तरी भारत के इन संतो ने अधिकतर फुटकर पदो की रचना की है जो इनकी 'बानियों' के नाम से प्रसिद्ध है। बहुतों ने साखी रमैनी अथवा कवित्त सवैया-जैसे विविध छन्दों से भी अपने उपदेशो को व्यक्त किया है। इनके तीन चार प्रबन्ध-ग्रंथ भी मिलते हैं किन्तु उनकी रचना शिथिल जान पड़ती है। दक्षिण भारत के संतो मे ज्ञानदेव और एकनाथ ने प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों पर अपनी टीकाएँ भी रची है। उन्हें अपने विचारो को प्रकट करने का माध्यम बनाया है, किन्तु उत्तरी भारत के संतो में यह प्रवृत्ति बहुत कम दीख पड़ती है। ये लोग कुछ को छोड़कर केवल साधारण श्रेणी के पढ़े-लिखे व्यक्ति थे जिन्होंने अपने भाव का

प्रसंग में वास्तविकता के विरुद्ध जाता है। कबीर साहब आदि सभी संतो ने निर्गुण वा सगुण से परे किसी अनिर्वचनीय वा अलेख किन्तु स्वसंवेद्य अनुभवगम्य वस्तु को परमतत्त्व माना है और निर्गुण तथा सगुण का वहाँ पर कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। जान पड़ता है कि 'निर्गुण-पंथ' शब्द का प्रयोग पहले सगुणोपासक भक्तों के सम्प्रदायों से इनकी विभिन्नता दिखलाने के लिए होने लगा था। किन्तु पीछे संत-परंपरा के कुछ दिन चल निकलने पर 'संत-मत' शब्द का ही प्रयोग संभवत: विक्रम संवत् की १७वीं शताब्दी के पिछले चरण में विशेष रूप से होने लगा। —लेखक।

४ भाई लेहना सिंह 'कबीर कसौटी' (वेंकटेश्वर प्रेस, बबई, स० १९७१)
५ महर्षि शिवव्रतलाल 'कबीर पथ' (मिशन प्रेस, इलाहाबाद)
६ Kabir (Natesan, Madras)
७ डॉ० रामरतन भटनागर 'कबीर साहित्य की भूमिका' (इलाहाबाद, सन् १९५० ई०)
८. Dr Mohan Singh Kabir and the Bhakti Movement (Lahore, 1934)
९ Evelyn Underhill Introduction to 'One Hundred Poems of Kabir' (Macmillan, 1923)
१०. डॉ० सरनाम सिंह 'कबीर एक विवेचन' (दिल्ली, १९६० ई०)
११ पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव 'कबीर साहित्य का अध्ययन' (काशी, स० २००८)
१२ परशुराम चतुर्वेदी 'कबीर साहित्य की परख' (प्रयाग, स० २०२१)
१३ डॉ० गोविंद त्रिगुणायत 'कबीर की विचार-धारा' (कानपुर स० २००९)
१४ Charlotte Vandeville Kabir Granthavali (Dohas) (Pondichery, 1957)
१५ डॉ० गोविंद त्रिगुणायत 'कबीर और जायसी का रहस्यवाद' (देहरादून)
१६ 'कबीर ग्रथावली' (डॉ० श्यामसुन्दरदास , काशी, सन् १९२८ ई०)
१७ 'कबीर ग्रथावली' (डॉ० पारसनाथ तिवारी, प्रयाग, सन् १९६१ ई०)
१८ 'भक्तमाल' (नाभादास)
१९. 'भक्तमाल' (राघोदास), अप्रकाशित ।
२० 'भक्तमाल' (दुखहरन), अप्रकाशित ।
२१ 'सतमाल' (महर्षि शिवव्रतलाल, मिशन प्रेस, इलाहाबाद)
२२ बी० बी० राय 'सप्रदाय' (मिशन प्रेस, लुधियाना, १९०६ ई०)
२३ नारायण प्रसाद वर्मा 'रहनुमाए हिंद'
२४ प० शिवशकर मिश्र 'भारत का धार्मिक इतिहास' (कलकत्ता, स० १९८०)
२५ Dr P D Badathwal 'The Nirgun School of Hindi Poetry' (The Indian Bookshop Banaras, 1936)
२६ Dr H H Wilson 'Religious Sects of the Hindus (Trubner, 1862)

London, 1920)
६४ लालदेद ए हिज वाक (कश्मीर, १९२४)
६५ Mother Lal of Kashmir by Shankar Lal Kaul, The Visvabharati Quarterly Vo XVIII part I May-July 1952 pp 45-71
६६ The Indian Antiquery (October 1920)
६७ 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भा ११ अं ४ सं १९८७)
६८ Dr Sufi Kashir (Lahore) 2 Vols Lahore 1949
६९ Travels of a Hindu Edited J T Wheeler London 1869
७० 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (भा ११ अं २, सं १९८९)
७१ डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी नाथ संप्रदाय (हिंदुस्तानी एकेडेमी प्रयाग सन् १९५ ई)
७२ Dr R G Bhandarkar Vaishnavism Shaivism and Minor Religious Systems (Poona, 1928)
७३ J C Oman Mystics, Ascetics and Saints of India (Fisher)
७४ Hastings Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol II
७५ Dr Mcnical Indian Theism.
७६ Dr J P Carpenter Theism in Medieval India.
७७ मौलाना सरवर 'खजीनतुल असफिया'
७८ ब्रजरत्न दास खड़ीबोली का इतिहास (काशी १९९८)
७९ Dr E. W Hopkins The Religions of India (London, 1902)

द्वितीय अध्याय

१ मनोहरलाल जुत्शी 'कबीर साहब' (हिंदुस्तानी एकेडमी प्रयाग सन् १९३९ ई)
२ डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कबीर' (हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, सन् १९४२ ई)
३ डॉ रामकुमार वर्मा 'संत कबीर' (इलाहाबाद १९४२ ई)

४ भाई लेहना सिंह 'कबीर कसौटी' (वेंकटेश्वर प्रेस, बबई, स० १९७१)
५ महर्षि शिवव्रतलाल 'कबीर पथ' (मिशन प्रेस, इलाहाबाद)
६ Kabir (Natesan, Madras)
७ डॉ० रामरतन भटनागर 'कबीर साहित्य की भूमिका' (इलाहाबाद, सन् १९५० ई०)
८. Dr Mohan Singh Kabir and the Bhakti Movement (Lahore, 1934)
९ Evelyn Underhill Introduction to 'One Hundred Poems of Kabir' (Macmillan, 1923)
१० डॉ० सरनाम सिंह 'कबीर एक विवेचन' (दिल्ली, १९६० ई०)
११ पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव 'कबीर साहित्य का अध्ययन' (काशी, स० २००८)
१२ परशुराम चतुर्वेदी 'कबीर साहित्य की परख' (प्रयाग, स० २०२१)
१३ डॉ० गोविंद त्रिगुणायत 'कबीर की विचार-धारा' (कानपुर स० २००९)
१४ Charlotte Vandeville Kabir Granthavali (Dohas) (Pondichery, 1957)
१५ डॉ० गोविंद त्रिगुणायत 'कबीर और जायसी का रहस्यवाद' (देहरादून)
१६ 'कबीर ग्रथावली' (डॉ० श्यामसुन्दरदास , काशी, सन् १९२८ ई०)
१७. 'कबीर ग्रथावली' (डॉ० पारसनाथ तिवारी, प्रयाग, सन् १९६१ ई०)
१८ 'भक्तमाल' (नाभादास)
१९ 'भक्तमाल' (राघोदास), अप्रकाशित ।
२० 'भक्तमाल' (दुखहरन), अप्रकाशित ।
२१ 'सतमाल' (महर्षि शिवव्रतलाल, मिशन प्रेस, इलाहाबाद)
२२ वी० वी० राय 'सम्प्रदाय' (मिशन प्रेस, लुधियाना, १९०६ ई०)
२३ नारायण प्रसाद वर्मा 'रहनुमाए हिंद'
२४ प० शिवशकर मिश्र 'भारत का धार्मिक इतिहास' (कलकत्ता, स० १९८०)
२५ Dr P D Badathwal 'The Nirgun School of Hindi Poetry' (The Indian Bookshop Banaras, 1936)
२६ Dr H H Wilson 'Religious Sects of the Hindus (Trubner, 1862)

२७ K. M Sen Medeival Mysticism of India (Luzac 1930)
२८. परशुराम चतुर्वेदी 'संत साहित्य की भूमिका' (हिंदी प्रचार सभा हैदराबाद सं २ १७)
२९. परशुराम चतुर्वेदी 'संत काव्य' (किताब महल प्रयाग) १९५२ ई
१ डॉ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय 'संत साहित्य पर तांत्रिक प्रभाव' (आगरा १९६२)
११ डॉ प्रभाकर माचवे 'हिंदी और मराठी का निर्गुण संत काव्य' (वाराणसी सं २ १९)
१२ डॉ मोती सिंह निर्गुण साहित्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' (वाराणसी २ १९)
१३ डॉ त्रिलोकी नारायण दीक्षित परिचयी साहित्य' (लखनऊ, १९५७)
१४ 'सम्मेलन निबंध माला' (हि सा सम्मेलन प्रयाग स २ ५)
१५. कासी 'तवारीखे मजाहिब (बंबई, १२६२ हि०)
१६ महालीन मुनि 'सद्गुरु श्री कबीर चरितम्' (बड़ौदा १९६ ई)
१७ डॉ रामकुमार वर्मा 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (इलाहाबाद १९३८)
१८. डॉ रामकुमार वर्मा 'कबीर का रहस्यवाद' (प्रयाग १९३१ ई)
१९ मोहम्मद हनीफ 'महात्मा कबीर' (लखनऊ, १९३९ ई)
४० सिद्धिनाथ तिवारी 'निर्गुन-काव्य-दर्शन' (पटना १९५३ई०)
४१ महावीर सिंह गहलोत 'कबीर' (प्रयाग)
४२ भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' 'संत साहित्य' (बांकीपुर, १९६२ ई)
४३ वैद्यनाथ तथा विश्वनाथ 'निर्गुनधारा' (पटना सं २ ०६)
४४ डॉ बड़थ्वाल 'योगप्रवाह' (वाराणसी)
४५ डॉ रामजीलाल सहायक 'कबीर दर्शन' (लखनऊ, १९६२ ई)

तृतीय अध्याय

१ Dr J N Farquhar The Historical Position of Ramanand (J R. A. S. 1922)
२ Ramanand to Ram Tirtha (G A. Natesan Madras)
३ अनुराग सागर (वे प्रे प्रयाग)
४ 'कबीर बीजक' (विचारदास संपादित)

५ 'कवीर वीजक' (वाराबकी सम्करण)

६ 'धनी धरमदास की वानी' (वे० प्रे०, प्रयाग, सन् १९१२ ई०)

७ 'वोघसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस, ववई , स० १९६६)

८ 'पचग्रथी, (")

९ 'कवीर मशूर (")

१० 'रैदासजी की वानी' (वे० प्रे०, प्रयाग)

११ मदन साहव 'नामप्रकाश' (वडैया, १९६२)

१२ " 'शव्दविलास' (प्रयाग, स० १९६५)

१३ कोठीरामदास 'मत्यदर्शन' (नागपुर, १९४९)

१४ किशन सिंह गो० चावडा 'कवीर सप्रदाय' (मुवई स० १९९४)

१५ डॉ० वदरीनारायण श्रीवास्तव 'रामानद सप्रदाय' (प्रयाग, १९५७)

१६ 'श्री राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रथ' (राजस्थान, स० २०१३)

१७ 'हिंदी-अनुशीलन' (प्रयाग, जून, १९५७)

१८ 'ह० लि० हिं० पु० की खोज' (का० ना० प्र० सभा, सन् १९२६-८)

१९ 'सत वाणी' (जयपुर)

२० हरिशरण दास 'भक्ति पुष्पाजली'

२१ 'उदाधर्म भजनसागर' (स० द्वारकादास कल्याणदास पटेल, अहमदावाद, सन् १९२६ ई०)

२२ Tarapad Bhattacharya 'The Cult of Brahma (Journal of the Behar Research Society Vol 40-42 Patna)

२३ साघु वशूदास कवीर पथी 'चौकाविधान'

२४ डॉ० केदारनाथ द्विवेदी 'कवीर और कवीर पथ' (तुलनात्मक अध्ययन) अप्रकाशित

२५ Rev Westcott 'Kabır and the Kabır Panth'

२६ Dr F E Key Kabır and his Followers (Relıgıous Lıfe of Indıa Serıes Calcutta, 1931)

२७ डॉ० भगवतव्रत मिश्र 'सत कवि रविदास और उनका पथ' (अप्रकाशित)

२८ Rev Ahmad Shah 'The Bıjak of Kabır' (Hamır-pur, 1917)

२९ 'खोलासातुतवारीख'

३० 'The Imperıal Gazettıer of Indıa' Vol II 1909

३१ Kincaid A History of the Marathas
३२ महात्मा रामचरन कुरील 'भगवान रविदास की सत्यकथा' (कानपुर, सं १९९७)
३३ परमानंद स्वामी 'रविदास भगत का जीवन चरित्र' वा 'रविदास पुराण' (अप्रकाशित)
३४ महंत मूरत दास 'सतपामी का वास्तविक तत्त्व' अथवा 'मोक्ष सोपान' (हुसंगाबाद सं १९८०)
३५ निर्पक्ष सत्यज्ञान दर्शन (के कबीर-पंथी साधु काशीदास बुरहानपुर, सन् १९२२)
३६ साधु सामनदास अनादि भेद प्रकाश' (अहमदाबाद सन् १९३१ ई)
३७ 'प्रेम मक्ता संतोष बोध' आदि २ ग्रंथ (ज्ञानसागर प्रेस किशनगढ़)
३८ स्वामी रामानन्द शास्त्री और वीरेन्द्र पाण्डेय संत रविदास और उनका काव्य' (ज्वालापुर, १९५५ ई)
३९ झवेर चंद मेघाणी 'सोरठी संत वाणी' (अहमदाबाद) १९४७ ई)
४० जयमल्ल परमार 'आपणी लोक संस्कृति' (अहमदाबाद १९५)
४१ सम्मेलन पत्रिका' (प्रयाग भा ४८ सं १ तथा भा ४९ सं १)
४२ 'परिषद पत्रिका (पटना वर्ष २ अंक १)
४३ 'हिन्दुस्तानी' (प्रयाग भाग १९ अं २ तथा ४)
४४ 'हिंदी अनुशीलन' (प्रयाग वर्ष ११ अं १ तथा वर्ष ११ अंक ४)

चतुर्थ अध्याय

१ M. A. Macauliffe The Sikh Religion (6 Vols, 1909)
२ Dr E. Trumpp The Adi Granth (London, 1877)
३ धारायाम गुरु नानक (भो भा च माला प्रयाग)
४ C H. Lochlin The Sikhs and their Book (Lucknow 1946)
५ Dr Mohan Singh History of Punjabi Literature (Lahore)
६ 'संत सिंगाजी' (सिंगाजी साहित्य शोधक मंडल खंडवा १९३६)
७ लक्ष्मीनारायण दुबे स्वामी रामजी बाबा (होशंगाबाद)
८. राधाकृष्ण दास 'सूरदास' (ना प्र सभा काशी)
९. 'सूर रत्नाकर' (ना ना प्र सभा)

१० 'मीरांबाई की पदावली' (हि० सा० स०, प्रयाग)
११ 'गुरुग्रंथ साहब' (भाई गुरदियाल सिंह, अमृतसर)
१२ Duncan Greenlees . 'The Gospel of the Guru Granth' (Theosophical Publishing House Adyar. 1952)
१३ 'गोविंद रामायण' (बनारस, १९५३ ई०)
१४ 'विचित्र नाटक' (नई दिल्ली, १९६१ ई०)
१५ डॉ० जयराम मिश्र 'नानकवाणी' (इलाहाबाद, १९६१)
१६ सलोक फरीद (घंटाघर, लुधियाना)
१७ 'प्राणसंगली' (वे० प्रे० प्रयाग)
१८ डॉ० जयराम मिश्र श्रीगुरु ग्रंथ दर्शन (इलाहाबाद, १९६०)
१९ 'श्री हरिपुरुष की वाणी' (सेवादास संपादित, जयपुर १९९३)
२० मंगलदास स्वामी 'श्री महाराज हरिदास जी की वाणी' (जयपुर १९६२)
२१ सूर्यशंकर पारीक 'सिद्धचरित्र' (रतनगढ़, सन् २०१३)
२२ लालनाथ 'जीव समझोत्तरी' (रतनगढ़, २००५)
२३ 'जम्भो महाराज का जीवन चरित' (रामदास कोलायत स० २००७)
२४ डॉ० हीरालाल माहेश्वरी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'
२५ 'यशोनाथ पुराण'
२६ डॉ० कृष्णलाल हंस 'निमाडी भाषा और उसका साहित्य' (इलाहाबाद, १९६०)
२७ श्री चन्द्रकांत बाली 'पंजाबी प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास' (दिल्ली, १९६२ ई०)
२८ Khaliq Ahmad Nizami 'The Life and Times of Sheikh Fariduddin Ganjae Shakar,' Aligarh, 1946)
२९ भाई परमानंद . 'वीर वैरागी बंदा' (अनारकली, लाहौर)
३० Dr Tarachand 'Influence of Islam in Hindu Culture'' (Indian Press Allahabad, 1946)
३१ K M Jhaveri 'Milestones in Gujerati Literature' (Bomby, 1914)
३२ भगवानदास निरंजनी 'अमृतधारा ग्रंथ' (बंबई स० १९४५)
३३ डॉ० हरिभजन सिंह 'गुरुमुखी लिपि में हिंदी काव्य' (दिल्ली, १९६३ ई०)

पञ्चम अध्याय

१ W L Allison 'The Sadhs (Religious life of India Series, Calcutta 1935)
२ क्षितिमोहन सेन 'दादू' (शांतिनिकेतन बुक डिपो कलकत्ता १९४२ ई)
३ 'राजस्थान' (वर्ष १ सं २ तथा ३ 'राजस्थान रिसर्च सोसायटी कलकत्ता)
४ 'संत' (वर्ष २ अंक १ पौष सं १९९९ जयपुर)
५ 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (वर्ष ४५ अंक १ सं १९९७)
६ 'मूल गोसाईं चरित' (गीता प्रेस गोरखपुर)
७ डॉ माताप्रसाद गुप्त 'तुलसीदास' (प्रयाग सन् १९५३ ई)
८ 'रामचरित मानस' (नागरी प्रचारिणी सभा काशी सं २ ५)
९ डॉ कपिलदेव पाण्डेय मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद वाराणसी सन् १९६३ ई
१ 'दादूदयाल की बानी' (चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी संपादित वैदिक यंत्रालय अजमेर, १९ ७)
११ 'सुन्दर ग्रन्थावली' (हरिनारायण शर्मा संपादित २ भागों मे) राजस्थान रिसर्च सोसायटी कलकत्ता १९९३
१२ डॉ रामनरेश वर्मा हिन्दी सगुण भक्ति काव्य की सांस्कृतिक भूमिका वाराणसी सं २ २
१३ 'विचार सागर' (निश्चलदास वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई)
१४ डॉ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय हिंदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि आगरा स २ १२
१५. 'महात्माओं की बानी' (भुरकुड़ा गाजीपुर)
१६ डॉ भँवरलाल प्रकाश सिंह अजय रस बड़ौदा सन् १९६३ ई
१७ 'ज्ञानीपद (बे प्रे प्रयाग)
१८ डॉ सरला त्रिगुणायत मध्यकालीन हिंदी साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव कानपुर, सन् १९६१ ई
१९. 'चरना जी की बानी' (जयपुर, स १९९३)
२ डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी सहज-साधना भोपाल सं २ २
२१ 'शब्द सागर' (तुलसी साहब का बे प्रे प्रयाग)
२२. Dr Y J Tripathi Kevaladvaita in Gujerati Poetry Baroda 19.8)

२३ 'गुलाल साहब की बानी' (")
२४ 'पलटू साहब की बानी व कुंडलिया' (")
२५ 'दादूदयाल की बानी' (")
२६ 'दादूदयाल की बानी', (स्वामी मगलदास सपादित जयपुर १९५१)
२७ 'दादूदयाल की बानी' (दलगजसिंह स० १९७५ जयपुर)
२८ 'दादू जन्मलीला परची' (जनगोपाल) मगल प्रेस, जयपुर, २००६
२९ 'दादू महाविद्यालय रजत जयन्ती ग्रथ' (जयपुर, स० २००९)
३० Dr. W G Orr A Sixteenth Century Indian 'Mystic, Dadu and his followers' (Lutterworth, Londn 1947
३१ 'सुन्दर विलास' (बबई स० १९६७)
३२ डॉ० त्रि० ना० दीक्षित 'सुन्दर दर्शन' (प्रयाग, १९५३ ई०)
३३ 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (उपखान विवेक)
३४ श्री पलटू साहब कृत 'शब्दावली' (अयोध्या, २००७)
३५ 'गोविंद साहब' सतसार (बस्ती, १९५६)
३६ 'श्री गोविंद साहब का जीवनचरित' (गैबदास जी भिक्षु, १९५६)
३७ 'यारी साहब की रत्नावली' (बे० प्रे०, प्रयाग)
३८ 'भीखा साहब की बानी (")
३९ 'मलूकदास की बानी' (")
४० 'Psalms of Dadu' (Theosophical Society Banaras 1930)
४१ 'दूलन दास की बानी (बे० प्रे०, प्रयाग)
४२ बनारसी दास 'बनारसी विलास' (जयपुर, २०११)
४३ 'राजकुमार जैन' . 'अध्यात्म पदावली' (काशी, १९५४)
४४ 'रज्जबजी की वाणी' (बबई, स० १९७५)
४५ 'पचामृत' (स० स्वामी मगलदास, जयपुर, स० २००४)
४६ 'गरीबदास की वाणी' (स० स्वामी मगलदास, जयपुर, स० २००४)
४७ गार्सां द तासी 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' (अनु० डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, इलाहाबाद, १९५३ ई०)

षष्ठ अध्याय

१ श्री मनोहरदास : 'रामस्नेही, धर्मदर्पण' (शाहपुरा, स० २००३)

२ 'श्री रामस्नेह धर्मप्रकाश' (प्रकाशक चौकस रामजी सिंहथल बीकानेर, सं १९८७)
३ श्री रामस्नेही संप्रदाय' (ले अक्षयचन्द्र शर्मा बीकानेर, सन् १९५९ ई)
४ 'स्वरोदय दोहावली' (इलाहाबाद १९४७ ई०)
५ 'हिन्दुस्तानी' (प्रयाग भाग १ अं ४ सन् १९३१ ई)
६ F S Growse Mathura A District Memoir' (1883)
७ G W Brigges 'The Chamars (R. L. L series)
८ Col. H. S. Jerret Aine Akbari (1891 Calcutta)
९ आईने अकबरी' (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ)
१ 'दरियासागर' (बे प्रेस प्रयाग)
११ धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री संत दरिया, एक अनुशीलन (बि रा० भा० परिषद् पटना सं २ ११)
१२ दरियाग्रंथावली (भा २)
१३ 'गुरु अन्यास ज्ञान दीपक' (साधू की गली लाहोर, १९३५ ई)
१४ 'गुरु अन्यास ज्ञान दीपक' (कानपुर १९५१ ई)
१५ शब्द ग्रंथ शब्दावली' (शिवनारायण)
१६ 'सत आचरी' (शिवनारायण-कानपुर)
१७ 'लौ परवाना (शिवनारायण) "
१८ 'सत भजन' (शिवनारायण)
१९ 'मूल ग्रंथ' (शिव नारायणी संप्रदाय) "
२ 'शब्द सत विलास' (शिवनारायण) "
२१ 'रविभाण संप्रदाय की वाणी' (पूना सं १९८९)
२२ डॉ धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री 'सतमत का सरभंग-संप्रदाय' (पटना १९५९)
२३ रमेशचन्द्र झा 'चम्पारन की साहित्य-साधना' (सुगौली २ १३)
२४ 'प्रमदीपिका' (शायर अनन्य) का सीताराम संपादित (प्रयाग १९३५)
२५ रा चि ढेरे 'दत्त सम्प्रदाया चा इतिहास' (मुम्बई, शके १८८)
२६ 'रविभाण सम्प्रदाय की वाणी' भा बीजो (पूना १९८९)
२७ तुलसी की जीवन भूमि (चन्द्रबली पाण्डेय काशी २ ११)
२८ मनहर आगराम साँई दीनदरवेश' (अहमदाबाद २ ८)
२९ 'राष्ट्रभारती' (नवंबर, १९६)

प्रकाशन किसी प्रकार टूटे-फूटे शब्दो मे ही किया और जिनकी रचनाएँ बहुत कुछ स्वतत्र है । । दक्षिण भारत के सतो मे से कई एक भजनानदी भी थे जो एकात मे वा कभी-कभी मूर्तियो के समक्ष करताल बजाकर गाया तथा नाचा तक करते थे । किंतु उत्तरी भारत के सतो मे इस प्रकार के उदाहरण कम देखने को मिलते हैं और ये लोग यदि गाते-बजाते हुए भी सुने जाते है, तो इनकी चेष्टाएँ सत-मडलियो तक ही सीमित रहती है । फिर भी उक्त दोनो प्रकार के सत, अधिकतर गार्हस्थ्य-जीवन मे ही रह कर अपनी साधना करते रहे, साम्प्रदायिक वेशभूषा वा विडबनाओ से सदा तटस्थ रहे । सामाजिक भेद-भावो को हटाने के लिए उपदेश देते रहे और सबके प्रति प्रेम और उपकार के भाव प्रदर्शित करते रहे । इनके सरल तथा सात्विक जीवन मे अहिंसा और अपरिग्रह को बराबर महत्त्व दिया गया । इन्होने स्तुति, निंदा वा मानापमान की कभी परवाह न करते हुए अपने छलछद्मरहित शुद्ध व्यवहार द्वारा सब किसी को सुख एव शाति पहुँचा कर ही स्वय आनन्दित होने की चेष्टा की ।

पारस्परिक सबध

दक्षिण भारत के सतो की परपरा मे जिस प्रकार उक्त ज्ञानदेव आदि के नाम आते हैं, उसी प्रकार उत्तरी भारत की सत-परपरा के अतर्गत कबीर साहब, रविदास, गुरुनानक, दादूदयाल आदि के नाम लिये जाते हैं। किंतु दक्षिण भारत के सतो मे ज्ञानदेव का जीवन-काल जहाँ विक्रम की १४वी शताब्दी के द्वितीय चरण के कुछ ही आगे तक पडता है, वहाँ उत्तरी भारत के सत कबीर साहब का जीवन-काल, सभवत उसकी १५वी शताब्दी के अतिम तीन चरणो से लेकर १६वी के प्रथम चरण तक चला जाता है। इस प्रकार पहले क्रम के सत दूसरेवालो के पूर्ववर्त्ती सिद्ध होते हैं। फिर भी दोनो परपराओ के बीच किसी प्रत्यक्ष सबध का कुछ भी पता नही चलता और न यही ज्ञात होता है कि पहले वाले दूसरे को कहाँ तक अपना ऋणी ठहरा सकते हैं। यह बात मानी जाती है कि दक्षिण भारत के सत नामदेव ने पजाब प्रान्त मे कुछ दिनो तक भ्रमण कर अपने उपदेश दिये थे और यह भी अनुमान किया जाता है कि उत्तरी भारत के कबीर साहब ने भी दक्षिण की ओर, सभवत महाराष्ट्र प्रान्त तक अपनी यात्रा की थी । इसके सिवाय कबीर साहब ने अपनी रचनाओ मे सत नामदेव का नाम बडी श्रद्धा के साथ लिया है और उन्हें एक आदर्श भक्त माना है । कबीर साहब ने अपनी अनेक रचनाओ के अतर्गत उक्त वारकरी सतो के प्रिय शब्द 'श्रीरग' वा 'बीठुला' (विट्ठल) आदि के प्रयोग भी किये हैं। परन्तु केवल इतनी ही बातो के आधार पर उक्त दोनो परपराओ के बीच किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सबध प्रमाणित

२ 'श्री रामस्नेह धर्मप्रकाश' (प्रकाशक चौकस रामजी सिंहथल बीकानेर, सं १९८७)
३ श्री रामस्नेही संप्रदाय' (ले अभयचन्द्र शर्मा बीकानेर, सन् १९५१ ई)
४ स्वरोदय दोहावली' (इलाहाबाद १९४० ई)
५. 'हिन्दुस्तानी' (प्रयाग भाग १ अं ४ सन् १९३१ ई)
६ F S Growse Mathura A District Memoir' (1883)
७ G W Brigges 'The Chamars) (R L./L series)
८. Col. H. S Jerret Aine Akbari (1891 Calcutta)
९. आईने अकबरी' (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ)
१ 'दरियासागर' (बे प्रेस प्रयाग)
११ धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री संत दरिया एक अनुशीलन (बि रा भा० परिषद् पटना सं २ ११)
१२ दरियाग्रंथावली (भा २)
१३ 'गुरु अभ्यास-ज्ञान दीपक' (साहू की गली लाहोर, १९३५ ई)
१४ 'गुरु अभ्यास ज्ञान दीपक' (कानपुर, १९५१ ई)
१५ 'सब्द प्रेम सब्दावली' (शिवनारायण)
१६ 'संत आचरी' (शिवनारायण-कानपुर)
१७ 'कौ परवाना (शिवनारायण)
१८ 'सत भजन' (शिवनारायण) "
१९. 'मूल ग्रंथ' (शिव नारायणी संप्रदाय) "
२ 'शब्द संत विलास' (शिवनारायण) "
२१ 'रविभाण संप्रदाय की वाणी' (पूना सं० १९८९)
२२ डॉ धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री 'संतमत का सरभंग-संप्रदाय' (पटना १९५९)
२३ रमेशचन्द्र झा 'चम्पारण की साहित्य-साधना' (सुगौली २ ११)
२४ 'प्रमदीपिका' (अक्षर अनन्य) का सीताराम संपादित (प्रयाग १९३९)
२५. रा चि डरे 'दत्त संप्रदाया चा इतिहास' (मुम्बई, शके १८८)
२६ 'रविभाण सम्प्रदाय की वाणी' भा बीजो (पूना १९८९)
२७ गुलसी की जीवन भूमि (चन्द्रबली पांडेय काशी २ ११)
२८. भगवर आमेवाग साईं दीनदरवेश' (अहमदाबाद २ ८)
२९. 'पाञ्चजन्यी' (नगर, १ १०)

३०. 'ब्रह्मवानी' (प्राणनाथ) ह० लि० प्रति
३१. 'पोथी सतमन मार' (वनारम, १९०५)
३२ 'विवेकमार' (किनाराम) वनारम, १९३२ ई०
३३ 'गीतावली' (किनाराम)
३४ श्री रामचरणदास जी की 'अगमै वाणी' (श्री रामनिवास धाम, शाहपुरा, प्रकाशक नैनूरामजी दीनू १९२५ ई०)
३५ 'भक्तिनागर' (चरणदास) लखनऊ
३६ 'गरीवदासजी की वाणी' (वे० प्रे० प्रयाग)
३७ 'ग्रथ साहव' (गरीवदासजी की वानी, राजकोट, सन् १९२४ ई०)
३८ 'सुपमवेद ग्रथ' (पानपदास) देहली ।
३९ 'पानपवोध (पानपदास) मुजफ्फरनगर
४० Bikramajit Hasrat Darashukuh (Visvabharati)
४१ डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित 'चरनदास' (प्रयाग, १९६१ ई०)
४२ डॉ० भगवानदास गुप्त बुदेलखड केशरी छत्रसाल (आगरा, १९५८)
४३ Kalikaranjan Kanungo 'Darshukoh (आगरा, १९५८)
४४ 'हिंदी साहित्य कोश' (भाग २) वाराणसी, स० २०२० ।
४५ 'हेवाल' ('गुजराती साहित्य परिषद्' २० मु समेलन, अहमदावाद मन् १९५९ ई०)
४६ 'शोध पत्रिका (साहित्य सस्थान, उदयपुर, अप्रैल, १९६३ ई०)
४७ 'मूल ग्रथ-वशमूल और वशावली' (कानपुर, १९६३ ई०)
४८ 'शब्दग्रथ सत सुन्दर' (कानपुर, १९६२ ई०)

सप्तम अध्याय

१ लाला प्रतापसिंह सेठ 'जीवन चरित्र हुजूर स्वामी महाराज' (वे० प्रे० प्रयाग, सन् १९०९)
२ 'राय अजुध्या प्रसाद' - 'जीवन चरित्र हुजूर महाराज साहव' (वे० प्रे०, प्रयाग, १९१०)
३ The Journal of the Royal Asiatic Society (Jan-June 1918)
४ 'तुलसी साहव की शब्दावली, (प्रे०, वे०, प्रयाग)
५ 'पद्मसागर' (वे० प्रे० प्रयाग)
६ घट रामायन (२ भाग) "

७ 'रत्न सागर'
८. सार बचन (नरम व नस्र)
९. 'प्रेम बानी' (हुजूर साहब)
१ सद्गुरु मदन साहब शब्द विलास वाराणसी नई दिल्ली सन् १९६१ ई
११ 'संक्षिप्त आत्मकथा' (सस्ता साहित्य मंडल)
१२ स्वामी राम के संक्षिप्त सिग व उपदेश (लखनऊ)
१३ Radhasoami Mataprakash (Calcutta 1941)
१४ Discources on Radhaswami Faith (Calcutta 1942)
१५ M. H. Philips Notes and Discourses, by Babuji Maharaj (Agra 1947)
१६ Souvenir in Commemoration of the First Century of the Radhaswami Satsang, (Agra, 1962)
१७ सत्संग योग (मेंहीदास) १९४६ ई
१८ भावार्थ सहित घट रामायन (मेंहीदास) १९३६ ई
१९. रामचरित मानस सटीक तथा विनयपत्रिका सार सटीक (मेंहीदास १९५१)
२ श्री सतमत सिद्धांत व गुरु कीर्तन (मेंहीदास १९४२)
२१ महर्षि मेंहीदास अभिनन्दन ग्रंथ (भागलपुर, १९६१ ई)
२२ 'श्री मेंहीदास वचनामृत' (खगड़िया १९५४)
२३ श्री मेंहीदास पदावली'
२४ 'वेद दर्शन योग' (मेंहीदास)
२५ 'गीता योग प्रकाश' (मेंहीदास)
२६ Jogendra Bhattacharya Hindu Castes and Sects' (Thacker 1896)
२७ R. V Russel and R B. Hiralal Tribes and Castes of the C. P Vol IV 1916)
२८. H. A. Rose A. Glossary of the Tribes and Castes of the Punjab and the Frontier Provinces Vol III
२९ W Crooke Tribes and Castes of the U P Vol. II and IV
३ रामदास गौड़ हिन्दुत्व (काशी)
३१ The Journal of the Behar & Orissa Research Society Vol. IV(1928)

३०. 'ब्रह्मवानी' (प्राणनाथ) ह० लि० प्रति
३१. 'पोथी सतमत सार' (बनारस, १९०५)
३२ 'विवेकसार' (किनाराम) बनारस, १९३२ ई०
३३ 'गीतावली' (किनाराम)
३४ श्री रामचरणदास जी की 'अगमै वाणी' (श्री रामनिवास धाम, शाहपुरा, प्रकाशक नैनूरामजी दीनू १९२५ ई०)
३५ 'भक्तिसागर' (चरणदास) लखनऊ
३६ 'गरीबदासजी की वाणी' (वे० प्रे० प्रयाग)
३७ 'ग्रथ साहब' (गरीबदासजी की बानी, राजकोट, सन् १९२४ ई०)
३८ 'सुषमवेद ग्रथ' (पानपदास) देहली।
३९ 'पानपबोध (पानपदास) मुजफ्फरनगर
४० Bikramajit Hasrat Darashikuh (Visvabharati)
४१ डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित 'चरनदास' (प्रयाग, १९६१ ई०)
४२ डॉ० भगवानदास गुप्त बुदेलखंड केशरी छत्रसाल (आगरा, १९५८)
४३ Kalikaranjan Kanungo 'Darshikoh (आगरा, १९५८)
४४ 'हिंदी साहित्य कोश' (भाग २) वाराणसी, स० २०२०।
४५ 'हेवाल' ('गुजराती साहित्य परिपद्' २० मु समेलन, अहमदाबाद मन् १९५९ ई०)
४६ 'शोध पत्रिका (साहित्य सस्थान, उदयपुर, अप्रैल, १९६३ ई०)
४७ 'मूल ग्रथ-वशमूल और वशावली' (कानपुर, १९६३ ई०)
४८ 'शब्दग्रथ सत सुन्दर' (कानपुर, १९६२ ई०)

सप्तम अध्याय

१ लाला प्रतापसिंह सेठ 'जीवन चरित्र हुजूर स्वामी महाराज' (वे० प्रे० प्रयाग, सन् १९०९)
२ 'राय अजुध्या प्रसाद' 'जीवन चरित्र हुजूर महाराज साहब' (वे० प्रे०, प्रयाग, १९१०)
३ The Journal of the Royal Asiatic Society (Jan-June 1918)
४ 'तूलसी साहब की शब्दावली, (प्रे० वे०, प्रयाग)
५ 'पद्मसागर' (वे० प्रे० प्रयाग)
६ घट रामायन (२ भाग) "

३२ ,, ,, XXIV 1938
३३ ,, ,, XXVII 1941
३४ अद्‌भुतयोग (महर्षि शिवव्रत लाल) इलाहाबाद, १९४० ई०
३५ Pilgrims' Path by Huzur Saheb, Agra, 1948

(क) संत सम्प्रदायादि-सूची

धर्म-पंथ सूची

नहीं होता। नामदेव का नाम उनके उक्त पंजाब भ्रमण के कारण तथा उनकी कतिपय उपलब्ध हिंदी-रचनाओं के आधार पर उत्तरी भारत के संतों में भी लिया जाता है। वे कबीर साहब के पथ प्रदर्शक एवं पूर्वकालीन संतों में सबसे प्रसिद्ध हैं। फिर भी उनमें उत्तरी भारत के संत मत की सारी विशेषताएँ लक्षित नहीं होती और वे प्रधानतः अपनी क्षेत्र तक ही रह जाते हैं।

पथ-प्रदर्शक संत

कबीर साहब के लिए पथ प्रदर्शन करनेवाले संतों में सर्वप्रथम नाम जयदेव का आता है जो बहुत लोगों की धारणा के अनुसार बंग-प्रान्तीय होने के कारण उत्तरी भारत के ही निवासी कहे जाते हैं। वे नामदेव तथा ज्ञानदेव से भी लगभग १ वर्ष पहले राजा लक्ष्मणसेन के यहाँ वर्तमान थे। इन जयदेव का भी नाम कबीर साहब ने नामदेव की भाँति बड़े आदर के साथ लिया है और उन्हें श्रेष्ठ भक्तों में स्थान भी दिया है। जयदेव से नामदेव तक का समय उन संतों का आविर्भाव-काल है जो विक्रम की ९वीं शताब्दी के सरहपा तथा शंकराचार्य से लेकर, १ वीं वा ११वीं शताब्दी के गुरु गोरखनाथ के समय तक तैयार किये गए तथा उनसे भी प्राचीन वा अर्वाचीन विविध भक्तों के भक्ति-भाव द्वारा सिंचित क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे किंतु जिनमें संत-मत का अंतिम रूप प्रदान करने की पूरी क्षमता न थी। इन्होंने अपने पहले से आती हुई नवीन धारा के प्रवाह में सहयोग प्रदान किया और उसकी एक प्रारम्भिक रूपरेखा भी प्रस्तुत कर दी। उस विशेष साधना से समन्वित विचार-धारा के रहस्य को सर्वप्रथम पहचानने तथा उसे स्पष्ट तथा व्यापक रूप देने का श्रेय कबीर साहब को ही दिया जा सकता है। इन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा के आलोक में इसके वास्तविक रूप का निरीक्षण किया तथा इसके महत्त्व द्वारा पूर्ण प्रभावित होकर अपनी अपूर्व शैली की सहायता से सर्व-साधारण की धारणा में कायापलट उपस्थित कर दिया। कबीर साहब की इस देन को उनके परवर्ती प्रायः सभी संतों ने स्वीकार किया है। इसी कारण उन्हें बहुत-से लोग 'आदि-संत' कहते हुए भी पाये जाते हैं।

उत्तरी भारत की संत-परंपरा

इस प्रकार कबीर साहब के उक्त पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी संतों की परंपरा बहुत लंबी है जिसके अंतर्गत आनेवालों की संख्या भी अधिक है। इस परंपरा का आरंभ यदि विक्रम की १३वीं शताब्दी के जयदेव से मान कर उसे २ वीं शताब्दी के महात्मा गाँधी तक वर्तमान समझा जाय तो यह दीर्घ काल प्राय ८ वर्षों का होता है जिसे छोटी-मोटी विशेषताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों में भी विभाजित कर सकते हैं। उनमें सम्मिलित किये जानेवाले

मठ-सूची

मत-सूची

परंपरा-सूची

गद्दी-सूची

ख. ग्रंथ-सूची

सतो के जन्मस्थान का क्षेत्र पूर्व की ओर जयदेव के वग-प्रदेश से लेकर पश्चिम की ओर प्राणनाथ के काठियावाड तक तथा उत्तर की लालदेद के कश्मीर से लेकर दक्षिण की ओर सिंगाजी के मध्यप्रदेश तक विस्तृत समझा जा सकता है। किंतु दक्षिण भारत के सतो से इन्हे पृथक् करने के लिए इनकी परपरा को 'उत्तरी भारत की सत-परपरा' ही कहना उचित होगा। उक्त विशाल भूखड के निवासी स्वभावत भिन्न-भिन्न बोलियो के बोलनेवाले थे, किंतु सत-मत की अपनी रचनाएँ उन्होने अधिकतर हिंदी भाषा के माध्यम द्वारा की। इसके सिवाय जिन-जिन जातियो मे उन सतो का जन्म हुआ था, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र से लेकर अहीर, नाई, चमार, मोची, धुनिया और जुलाहे तक की कही जाती हैं। किंतु सत-मत के अनुयायी होने के नाते उन्होने जातिगत विभिन्नता की सदा उपेक्षा की और शुद्ध मानव के रूप मे वे सबको एक समान समझते रहे। उन्होने स्वानुभूति तथा सदाचरण के उच्च आदर्शों की कसौटी पर ही कस कर पडित वा मूर्ख अथवा राजा वा रक का महत्त्व परखना चाहा। सतो के इस वृहद् समुदाय का स्तर इनके सीधे-साधे एव साधारण होने पर भी अत्यन्त ऊँचा है और इनका विशाल साहित्य अनाकर्षक होता हुआ भी महत्त्वपूर्ण है।

विशेषता

उत्तरी भारत के इन सतो ने जिस मत का प्रचार किया और जिसे उन्होने विश्वकल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक समझा, वह कोई नितात नवीन सदेश न था और न भारतीयो के लिए उसका कोई अश अपरिचित ही था। उसके प्राय प्रत्येक अग का मूल रूप हमारे प्राचीन साहित्य के किसी न किसी भाग मे विद्यमान है और हमारे कई महान् पुरुषो ने उनके आधार पर लगभग इन सतो के ही समान अपने सुझाव रखने के यत्न किये हैं। परन्तु जैसा कि आगे के कुछ पृष्ठो से जान पडेगा, वे बातें काल पाकर सदा उपेक्षित बनती गई थी और उनका प्रभाव कभी स्थायी न हो सका था। उन प्राचीन सूत्रो को लेकर अग्रसर होने की चेष्टा अपने-अपने ढग से अनेक नवीन सम्प्रदायो ने भी की, किंतु वे भी अधिक दिनो तक एक भाव से स्थिर नही रह सके। बीच-बीच मे कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य हुए जिन्होने समय-समय पर प्रतिगामिता की धारा को किसी प्रकार मोडने का साहस किया, किंतु उनके किये भी अधिक न हो सका। अत मे, कबीर साहब के समय से ऐसे महापुरुषो की एक परपरा ही चल निकली जिसने इतने दिनो तक स्थिति की चौकसी की है। प्रारभिक काल के सत आध्यात्मिक बातो को अधिक महत्त्व देते थे, जिस कारण उन्हे सुधारने के यत्न भी केवल धार्मिक दृष्टिकोण से किये जाते थे। किंतु, ज्यो-ज्यो समय व्यतीत होता गया है, उक्त

नाम-सूची

धार्मिक वातावरण मे परिवर्तन या संशोधन भी हुये गए है और तदनुसार अनेक नवीन समस्याएँ खड़ी होती गई हैं। आधुनिक संतों को इसी कारण अपने कार्यक्रम म कतिपय ऐसी बातो का भी समावेश करना पड़ा है, जो कदाचित् पहले संतो के अनुभव की न थी।

संत-मत स्वानुभूति

फिर भी सत-मत के मौलिक सिद्धांतो मे किसी प्रकार का हेर-फेर नहीं आ सका है और वे ज्यो के त्यो अटलएव अविच्छिन्न हैं। इन संतो का सबसे पहले यह कहना है कि प्रत्यक्ष अनुभव की सभी सासारिकबातें क्षणिक तथा भ्रामक हैं और उनके आधार पर सत्य का पता लगाना असम्भव-सा है। अतएव नित्य वस्तु के सच्चे खोजी के लिए आवश्यक है कि वह इस आवरण के भीतर विद्यमान मूल आधार का अन्वेषण करे। अनेक व्यक्तियो ने इस ओर पूरी चेष्टा की और वे अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सफल भी हुए हैं। उनके यत्नो के परिणाम उनकी रचनाओं मे संगृहीत है जिनके आधार पर अन्य लोग भी उनके अनुयायी बन कर उसका प्रचार करते फिरते हैं। किंतु सत्य का स्वरूप अत्यन्त गूढ वा रहस्य मय है। उसके अनादि एवं अनन्त होने के कारण भी उसे पूर्णत अनुभवगम्य कर लेना अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है। इस कारण संभव है कि एक के अनुभव की बात किसी अन्य के पक्ष मे भी उसी प्रकार तथ्य न बन सके। फलत प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह उस नित्य वस्तु का अनुभव अपने निजी ढग से यथाशक्ति उपलब्ध करने का अभ्यास करे। इस प्रकार जो कुछ भी अंश उस तत्त्व का उसे प्राप्त होगा वह 'अपना' होकर प्रकट हो सकेगा। उसके साथ तद्रूप की स्थिति मे आकर हम अपने को उस नित्य वस्तु में मग्न भी कर सकेंगे। इस प्रकार की स्वानुभूति ही हमारे दृष्टिकोण को अधिक से अधिक व्यापक एव विशाल करने मे समर्थ होगी।

सद्गुरु

परन्तु स्वानुभूतिपरक अभ्यास के लिए किसी प्रकार का पंडित वा गुणज्ञ होना अपेक्षित नहीं। किंतु कार्य अत्यन्त दुःसाध्य होने के कारण यह आवश्यक है कि इसके लिए पहले किसी अनुभवसम्पन्न तथा श्रद्धेय सद्गुरु की सहायता भी प्राप्त कर ली जाय। स्पष्ट है कि ऐसा सद्गुरु भी एक सच्चा पथ-प्रदर्शक व्यक्ति होना चाहिए जो अपने निजी अनुभव की बातें ठीक ढग से प्रत्यक्ष न करा सकने पर भी उसकी साधना के लिए पर्याप्त सकेत दे सके। ऐसे गुरु की योग्यता पर ही उसके शिष्य की सफलता निर्भर है, क्योंकि उचित मार्ग न पाकर साधक पथ भ्रष्ट भी हो सकता है। शिष्य अपने गुरु मे पूर्ण आस्था रखता है,

प्रति अपने को पूर्णत समर्पित कर देता है और तव कही उसके द्वारा कार्यक्षेत्र मे लाया जा सकता है। फिर भी उस निर्दिष्ट मार्ग मे साधक को अपने ही बल पर चलना पडता है और तदनुसार जो कुछ भी वह प्राप्त करता है, वह अपने ढ ग की ही वस्तु होती है। परन्तु नित्य वस्तु केवल एक एव अद्वितीय ही हो सकती है और उसके निर्मल, शुद्ध एव एकरस होने के कारण उसका अशत अनुभूत स्वरूप भी स्वभावत, अपने मूल रूप से किसी प्रकार भिन्न वा विजातीय नही कहा जा सकता। इस प्रकार सभी सच्चे साधको की अपनी-अपनी वस्तु भी मूलत सवकी कहला सकती है। तात्पर्य यह कि पृथक्-पृथक् भी किये गए अनुभवो का आधार एक ही होने से भेद-भाव के सभी कारण आप से आप नष्ट हो जायँगे, पारस्परिक साम्य का बोध होने लगेगा, तथा क्षणिक वा अनित्य वस्तुओ के बीच रहते हुए भी हम अपने को शात, सुखी एव सानद पा सकेंगे।

कायापलट

सतो का कहना है कि उक्त प्रकार का अनुभव प्राप्त कर लेने पर किसी भी व्यक्ति के जीवन मे कायापलट आ जाता है। इस कारण जिन-जिन बातो को वह अपनी पहली स्थिति मे जटिल वा समस्याओ से परिपूर्ण समझा करता था, वे उसके समक्ष स्पष्ट वा सुधरी प्रतीत होने लगती हैं। उसके निकट किसी वाद एव वितडा को आश्रय नही मिलता और न किन्ही काल्पनिक भेद-प्रभेदो के कारण उसे उनसे उलझना ही पडता है। उनके दृष्टिकोण का लक्ष्य सत्य रहता है—जिससे वह भी सदा स्थिर तथा निश्चल रहा करता है। जिस प्रकार घनाच्छन्न ध्रुवतारा के न दीख पडने पर भी, झझावात के थपेडो से विचलित जहाज का नाविक दिशासूचक यन्त्र (Mariners' Compass) के कारण कभी पथभ्रष्ट नही होने पाता, उसी प्रकार सासारिक प्रपचो के द्वारा सदा परिवर्तित होती हुई स्थिति मे भी वैसे दृष्टिकोणवाला महापुरुष कभी सन्मार्ग नही छोडता। फिर भी उत्तरी ध्रुव वा दिशासूचक यत्र केवल वाह्य वस्तुएँ हैं और उनके प्रयोगो मे कभी भूल भी हो सकती है, किंतु अपने भीतर के सधे हुए अत करण मे इस प्रकार की बाधाओ का उपस्थिति होना असभव-सा है। सधी वा सुस्थिर मनोवृत्ति अपने जीवन की चिरसगिनी बन जाती है और उसकी निरतर उपस्थिति सभी कार्यों को सहज रूप देकर हमे विपन्न होने से बचा लिया करती है। सतो ने उक्त दृष्टिकोण की एकतानता को सदा स्थिर रखने के लिए ही सुमिरन वा नाम-स्मरण की सहायता को इतना महत्त्व दिया है। जीवन मे उक्त प्रकार से काया-पलट हो जाने पर ही कोई वास्तविक सत की श्रेणी तक पहुँच पाता है और वैसी

स्थिति के उपलब्ध हो जाने पर ही उन बातों के प्रचार करने का अधिकारी बन सकता है, जो संत-मत के अंतर्गत आती है।

परम लक्ष्य एवं साधना

संत-मत के अनुसार सत्य वा परमतत्त्व एक अनिर्वचनीय वस्तु है, जो प्रत्यक्ष अनुभव में आकर भी अज्ञेय-सी है जो निर्गुण वा सगुण दोनों से परे वा परात्पर है और जिसे संकेत रूप में हम 'पूर्ण' 'सर्वव्यापी' 'नित्य' 'एकरस' 'केवल' वा 'सहज' जैसे शब्दों द्वारा बहुधा प्रकट किया करते हैं। वही सत्य परमतत्त्व के नाम से भी अभिहित होता है और उसी के साथ तद्रूपता वा तदाकारता का अनुभव कर कोई साधक फिर अपने को अमर की स्थिति में ला देता है। सृष्टि का प्रत्येक क्रम क्षणभंगुर वा भ्रांतिमूलक है। फिर भी मानव-शरीर उसका सर्वोत्कृष्ट अंश है जिसके सहारे मनुष्य अपनी आभ्यंतरिक शक्ति के समुचित विकास द्वारा पूर्णता प्राप्त कर सकता है। यही पूर्ण व्यक्ति जीवन्मुक्त संत कहलाता है जो प्राणी-मात्र के प्रति प्रेम तथा सद्भाव प्रदर्शित करता है और उन्हें एक समान मानता है। संत के लिए सभी प्रकार के भेद-भाव कृत्रिम तथा अस्वाभाविक हैं क्योंकि सभी कुछ उस भेदशून्य परमात्मा के अंश हैं। इसके विषय में व्यक्तित्व की भावना रखकर वह उसे परमपिता, परमगुरु, परमसहायक वा प्रियतम के रूप में अपनाये रहना चाहता है। संतों की साधना में इसी प्रकार, ज्ञानयोग भक्तियोग तथा कर्मयोग का पूर्ण सामंजस्य है और वे आवश्यकतानुसार राजयोग हठयोग मंत्रयोग वा कुंडलिनीयोग जैसी साधनाओं का भी उपयोग करने से नहीं चूकते। फिर भी इनकी प्रधान साधना अपने अंतःकरण को शुद्ध एवं निर्मल रखते हुए अपने सिद्धान्त वा व्यवहार में पूर्ण एकता लाने के यत्न में ही केन्द्रित है। हृदय की सचाई के सामने सभी प्रकार के बाह्याडंबर तुच्छ हैं और सादगी तथा सदाचरण ही सच्चे मानव की कसौटी है। इसी प्रकार संतों ने प्रवृत्ति वा निवृत्ति मार्गों के मध्यवर्ती सहजमार्ग को अपनाया है और विश्व-कल्याण में सदा निरत रहते हुए भूतल पर स्वर्ग लाने का स्वप्न देखा है।

साधना-भेद

उत्तरी भारत के इन संतों का लक्ष्य इस प्रकार बहुत उच्च है और वह 'संत' शब्द के पूर्व कथित सूक्ष्म अभिप्राय का द्योतक भी जान पड़ता है। इसमें आध्यात्मिक जीवन का निर्माण कर उसे सांसारिक जीवन में प्रतिफलित करने का कार्य क्रम निहित है। उसे यदि भली भाँति पूर्ण किया जा सके तो सचमुच स्थायी सुख तथा शांति आ सकता है। संतों ने उक्त आदर्श को सबके समक्ष रखते समय अभीष्ट स्थिति को उपलब्ध करने के अनेक उपाय भी बतलाये हैं जो अवस्थाभेद

४ पंथ-निर्माण का सूत्रपात सं० १५५ से १६ ० तक
५ प्रारंभिक प्रयास सं १६ से १७ ० तक
६ समन्वय या साम्प्रदायिकता सं १७ ० से १८५ तक
तथा ७ समीक्षा या पुनरावर्तन सं १८५ से

इनमें से प्रथम दो के परिचय द्वारा यह पता चल सकता है कि भारतीय साधना-धारा के मूल स्रोत क्या थे उनका प्रारंभिक विकास किस प्रकार हुआ। उनमें से प्रत्येक प्रधान स्रोत को सबल बनाने में किन-किन शक्तियों ने किस-किस प्रकार योग प्रदान किया। उन सबके बीच सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा पहले किस प्रकार की गई। इसके द्वारा हमें संतों की पूर्वकालीन स्थिति का बोध हो जा सकता है और हम उपर्युक्त वर्ण्य विषय को भलीभाँति समझने में सहायता भी ले सकते हैं।

२ भारतीय साधना का प्रारंभिक विकास

साधना

किसी प्रधान उद्देश्य को ध्यान में लाकर उसके निमित्त आवश्यक यत्न करने की क्रिया को बहुधा 'साधना' की संज्ञा दी जाती है। उसका मुख्य लक्ष्य वा साध्य वस्तु या तो कोई ऐहिक सुख होता है अथवा पारलौकिक आनन्द हुआ करता है। इसकी सिद्धि के अस्तित्व में विश्वास रखकर साधक उसके लिए प्रवृत्त होता है और उसकी उपलब्धि की अवधि तक सदा सोत्साह यत्नशील रहना चाहता है। उक्त ऐहिक सुख का तात्पर्य भी सामान्यतः उस सुखमय जीवन में होता है जो एक सांसारिक व्यक्ति के लिए सदा अभीष्ट है। उसे वह अतुल संपत्ति मनोवांछित ऐश्वर्य स्वस्थ शरीर एवं सुखी परिवार से युक्त रह कर उपभोग करने की अभिलाषा रखता है। पारलौकिक आनंद भी उसी प्रकार वह आदर्श स्थिति होती है जिसे प्रत्येक श्रद्धालु व्यक्ति अपने जीवन का अंत हो जाने पर प्राप्त करना चाहता है और जिसके स्वरूप का अनुमान वह अपनी कल्पना वा संस्कार के बल पर कर लिया करता है। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति वा सिद्धि के लिए कोई बाह्य शक्ति अपेक्षित रहती है जिसकी पूर्ण सहायता पर निर्भर होकर साधक अपनी साधना में प्रवृत्त होता है। उसे इस बात में विश्वास भी रहता है कि नियमित रूप से उसे पूर्ण कर लेने पर मैं अवश्य सफल हो जाऊँगा। हमारे दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्य में उक्त सारी बातें प्रायः नहीं रहा करतीं और इसीलिए उन सभी को 'साधना' का नाम नहीं दिया जाता। साधना कहलाने योग्य अधिकतर वे ही कार्य होते हैं जो दूसरे शब्दों

के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग मे लाये जा सकते हैं। साधनाओ की यह विभिन्नता अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आती है। उन्हें अपने सस्कार तथा सुभीते के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के साधक व्यवहार मे लाते आए हैं। सतो को उनमे से किसी एक वा उससे अधिक के लिए कोई विशेष आग्रह नही। वे सभी को महत्त्वपूर्ण समझकर उनमे सामजस्य लाना चाहते हैं और किसी भी प्रकार उस दशा को प्राप्त कर लेने की चेष्टा करते हैं जो उनका परम लक्ष्य है। आदि सत कबीर साहब ने सर्वप्रथम यही आदर्श अपने सामने रखा था और इसी धारणा के साथ वे अपने कार्य मे अग्रसर भी हुए थे। परन्तु आगे चलकर उनके परवर्त्ती सतो ने कभी-कभी किसी विशेष प्रकार की साधना पर ही अधिक ध्यान दे दिया। इस कारण उनके आदर्शों पर उनके अनुयायियो के पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय बन गए।

वर्ण्य विषय

भारतीय साधना की एक विशेष धारा बहुत पहले से चली आ रही थी जिसमे कई भिन्न-भिन्न प्रवाह सम्मिलित थे। ये प्रवाह भिन्न-भिन्न काल मे पृथक्-पृथक् न्यूनाधिक बल ग्रहण करते आए। इनके एकागी विकास के कारण, समाज मे कभी-कभी विश्रृखलता का भय भी उपस्थित होता आया। तदनुसार, इनके समन्वय की चेष्टा भी यदाकदा होती आई थी। सतो की परपरा भी वस्तुत ऐसे ही यत्नो मे सलग्न व्यक्तियो के एक समुदाय को लक्षित करती है। भारतीय साधना के क्रमिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण युग स० ८०० के लगभग समाप्त होता है जबकि देश के अतर्गत भिन्न-भिन्न विचार-धाराओ का सघर्ष उग्र रूप धारण कर रहा था और तत्कालीन विचारशील पुरुष उन्हे व्यवस्थित करने मे दत्तचित्त हो रहे थे। उनके यत्नो ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो को जन्म दिया जिनकी शृखला बहुत दिनो तक चलती आई। कबीर साहब आदि सतो ने इन सम्प्रदायो मे भी सामजस्य स्थापित करने की चेष्टा की। इस प्रकार एक नवीन परपरा की नीव डाल दी, जो तब से आज तक चलती आ रही है।

काल-विभाजन

अतएव, भारतीय साधना के उक्त क्रमिक विकास के सम्पूर्ण इतिहास मे सुभीते के अनुसार हम निम्नलिखित काल-विभाग कर सकते है—

१ भारतीय साधना का प्रारभिक विकास, स० ८०० तक,

२ साम्प्रदायिक रूप तथा सुधार तथा पूर्वकालीन सत स० ८०० से १४०० तक,

३ कबीर साहब और उनके समसामयिक सत, स० १४०० से १५५० तक;

मनुष्य की तीन मौलिक प्रवृत्तियों से संबद्ध है और जिनके अनुसार साधना के लिए क्रमशः ज्ञानकांड भक्तिकांड और कर्मकांड शब्दों के प्रयोग भी किये जाते हैं।

वैदिक साधनाएँ

प्राचीन वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से पता चलता है कि हमारे पूर्वजों का जीवन अत्यंत सरल था और उनके कृत्य भी बहुधा सीधे-सादे होते थे। उनके धार्मिक अनुष्ठानों के प्रधान अंग देव-पूजन पितृ-पूजन तथा यज्ञ थे। प्रार्थना के द्वारा वे अपने अभीष्ट ऐहिक सुख के लिए कभी-कभी याचना भी किया करते थे। उन्हें प्रकृति के भीतर निहित शक्तियों में पूरी आस्था थी और वे उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार के कल्पनात्मक देवरूप दिया करते थे। उनके देवता सामर्थ्य एवं शक्ति-विशेष के प्रतीक माने जाते थे और उनके प्रति की गई स्तुति भी तदनुसार उनके भय से ही प्रेरित हुआ करती थी। उनकी कृपा सहानुभूति अथवा अन्य ऐसी कोमल वृत्तियों में उन्हें वैसा विश्वास नहीं था। उनके प्रति किये गए गान या उनके लिए प्रदर्शित विनय के भाव इसी कारण उन्हें रिझाने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत किये जाते थे तथा अन्य जीवों का बलिदान भी प्राय इसीलिए हुआ करता था। पितृ-पूजन की व्यवस्था भी उस समय केवल इसीलिए की जाती थी कि हमारे पूर्व पुरुष हमारे प्रतिदिन के कार्यों में कभी कोई विघ्न-बाधा न उपस्थित करें। उनके पूजन-विधान द्वारा यह आशा की जाती थी कि वे उससे प्रसन्न होकर अपने हानि प्रद कार्यों से विरत हो जायँगे। उस समय की साधारण जनता को एक प्रकार के जादू-टोने में भी विश्वास था और वे लोग मन्त्रों के प्रयोग द्वारा विपादि को दूर किये जाने को भी निश्चित मानते थे। सारांश यह कि हमारे पूर्वजों के प्राय सभी धार्मिक कृत्य केवल इसी उद्देश्य से होते थे कि हमारा दैनिक जीवन पूर्णतः अबाधित रूप में प्रगतिशील रहे और हमारे ऐहिक सुख में वृद्धि भी होती रहे।

यज्ञ

परन्तु समय पाकर उक्त प्रार्थना तथा पूजनादि से कहीं अधिक महत्त्व याज्ञिक अनुष्ठानों को दिया जाने लगा। यज्ञ से संबद्ध प्रत्येक नियम का पालन उस समय के लोग अपने लिए अनिवार्य तक समझने लगे। यहाँ तक कि अग्नि आदि प्राकृतिक वस्तुओं का देवोपम भाव भी धीरे-धीरे विचारों के ईश्वरोपम भाव में परिणत हो चला और यज्ञ को ही सर्वस्व मान कर चलनेवालों का ध्यान क्रमशः विराट् आकार प्रधान जीवन की ओर से हटता हुआ किसी अदृश्य सत्ता अथवा सर्वव्यापक नियम की नियमता की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगा। जिस समय देवताओं की कल्पना आर्य लोग पहले पृथक्-पृथक् करते थे उन्हें वे अब एक का ही विविध रूपों में देखने लगे। उदाहरण के लिए वे अब इस प्रकार

मे धार्मिक कृत्य वा कर्म भी कहलाते हैं और जो एक आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक है ।

साधना के भेद

साधना प्रधानत , या तो ज्ञान का आधार लेकर चलती है अथवा भक्ति का आश्रय लेकर की जाती है वा उसे सपन्न करने के लिए हमे विविध कर्मो का उपक्रम करना तथा उन्हे निश्चित नियमो के साथ अनुष्ठित करना पडता है । ज्ञानमयी साधना बहुधा तर्क का अवलबन ग्रहण करती है और उसके साथ व्यवस्थित ढग से अग्रसर होती हुई किसी अतिम ध्येय तक पहुँचने के लिए सचेष्ट होती है । परन्तु भक्ति की साधना मे तर्क-वितर्क की जगह श्रद्धा वा विश्वास के भाव काम करते हैं और साधक को अपने उद्देश्य के प्रति दृढ आस्था रखने के लिए प्रेरित किया करते हैं । भक्ति एक प्रकार का अनुराग है जिसे साधक अपने से बडे के प्रति श्रद्धा-भाव के साथ प्रदर्शित करता है । किंतु वही यदि अपने से बराबरी वाले के प्रति प्रकट किया जाय, तो उसे बहुधा प्रेम का नाम दिया जाता है और यदि अपने से छोटे के प्रति दिखलाया जाय, तो यह स्नेह का रूप ग्रहण कर लेता है । उक्त अनुराग को व्यक्त करने के साधन कभी अनवरत स्मरण तथा कभी गुणगान वा कीर्तन हुआ करते हैं । किंतु कभी-कभी इसका प्रदर्शन उस अनुभव के रूप मे भी हुआ करता है जिसे एक योगी अपने ध्यान द्वारा उपलब्ध किया करता है । इसी प्रकार क्रियात्मक साधना के लिए भी यदि कभी किन्हीं शास्त्रविहित उपचारो की आवश्यकता पडती है और साधक उनके साधारण से साधारण नियमो के भी निर्वाह मे दत्तचित्त होना अपना कर्तव्य समझता है, तो बहुधा यह भी देखने मे आता है कि कुछ कर्मोपासक अपने कार्य की सिद्धि के निमित्त अपने जीवन को ही सयत वा सुन्दर बना लेना चाहते हैं । [1]अतएव उक्त तीनो प्रकार की साधनाओ के आधार क्रमश ज्ञान, सवेदन तथा सकल्प हैं, जो

---

१. इस प्रकार की साधना को क्रमश 'सदाचार' वा 'सदाचरण' नाम दिये जाते हैं। सदाचरण का अर्थ सात्विक रहनी वा जीवन-यापन का सुव्यवस्थित ढग है। किंतु सदाचार शब्द का व्यवहार शास्त्रविहित धर्म के लिए किया जाता है, जैसे 'मनुस्मृति' मे सदाचार को 'श्रुत्युक्त स्मार्त्त' कहा गया है (अ० १ श्लो० १०८, तथा अ० ४ श्लो० ५५) और उसी को परम धर्म भी ठहराया गया है। तदनुसार "सदाचार वही है जिसका पालन परपरा-क्रम से ब्रह्मावर्त्त देश के अतर्गत किया जाता है और जिसके द्वारा हम सुखपूर्वक १०० वर्षो तक जीवित रह सकते हैं।" (अ० २ श्लो० १८, तथा अध्याय ४ श्लो० ५८)

वाले मूर्खों को कर्म-फल के क्षीण होते ही फिर एक बार जरा-मरण का शिकार बनना पड़ता है।"[4] यज्ञ के इन विपक्षियों में कुछ लोग ऐसे भी थे जो ईश्वर अथवा मोक्ष के बदले केवल सांसारिक दुःखों की निवृत्ति मात्र चाहते थे और जिनसे आगे चल कर सांख्य के ज्ञानवाद की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार की ज्ञाननिष्ठा में एक ओर कोरे ज्ञान तथा चिंतन का आधिक्य था जो नितांत निष्काम तथा सुखभावनाहीन था। किंतु दूसरी ओर उसमें ज्ञान की श्रेष्ठता के साथ-साथ स्वर्ग वा आनंद का सर्वथा त्याग नहीं था और वह आस्तिक भावना से भी युक्त था।

योग तथा सदाचरण

ज्ञानवाद के साथ तपोविद्या का मेल हो जाने से इसी प्रकार योगमार्ग का भी आरंभ हुआ जिसके आदि-प्रवर्त्तक जैगीषव्य कहलाते हैं। इस प्रकार की साधना सांख्य के ज्ञानवाद द्वारा प्रभावित थी और उसी के सेश्वरवादी रूप में चली थी। इसकी शारीरिक प्रक्रिया तथा ध्यान-संबंधी अंश का आधार प्राचीन तपश्चर्या थी जिसके मूल-रूप में इसके द्वारा बहुत कुछ परिवर्तन होता गया था। इसके सिवाय उपनिषदों ने एक प्रकार के सदाचरण के मार्ग का भी उपदेश देना आरंभ किया जिसका मुख्य अभिप्राय यह था कि मनुष्य को अपने किये का ही अच्छा वा बुरा फल मिला करता है। इसमें देवों का कुछ भी हाथ नहीं, प्रत्युत सत्य, धर्म तथा सदाचरण द्वारा यदि हम चाहें तो उन्हें उनकी गद्दी से हिला भी सकते हैं। यह सदाचरण गृहस्थाश्रम में भी पूर्णतः संभव था। कहा जाता था कि 'जो इसमें रहते हुए संतानोत्पत्ति करते हैं तथा तप और संयम के साथ जीवन-यापन करते हैं अथवा जो सत्य को अपना नैतिक आधार मान कर चलते हैं वे ही वास्तव में ब्रह्मलोक के अधिकारी हुआ करते हैं।'[1] सत्य, गृहस्थ और सदाचरण ही परम धर्म है।

भक्ति-साधना

परन्तु उक्त यज्ञ-विरोधी आंदोलनों में सबसे अधिक प्रचार भक्ति-साधना का था जो राजा वसुचैद्योपरिचर के समय से प्रारंभ हुआ था। उपनिषदों में कहा गया मिलता है कि 'आत्मा की उपलब्धि किसी बलहीन को नहीं होती और न यह उपदेशों से, अध्ययन से अथवा मेधा से ही संभव है। यह जिस किसी को स्वयं वरण

---

४ 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥' —मुंडक१ २ ७

१ 'ततो ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ये मिथुनमुत्पादयन्ते।
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥'
—प्रश्नोपनिषद् १ १५।

कहने लगे कि "हे अग्निदेव ! तुम्ही वरुण हो," तुम्ही मित्र हो तुम्ही इन्द्र हो, तथा तुम्ही अर्यमा होकर स्वामिवत् भी कार्य किया करते हो।'[1] कभी-कभी यहाँ तक भी समझा जाने लगा कि "विद्वान लोग उसी सत् को इन्द्र, वरुण, मित्र अथवा अग्नि के नाम से पुकारते है और यही विशाल पखोवाला दिव्य गरुड भी है। उसी एक पदार्थ का वे अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। अतएव वही एक सत् (सृष्टि को आविर्भाव प्रदान करने के कारण) अग्नि, ससृति और (परिवर्तन का मूल तत्त्व होने से) यम तथा (अखिल विश्व का आधार-भूत होने से) मातरिश्वान् भी कहलाता है।"[2] तदनुसार, तत्कालीन आर्यो के समाज मे कर्म की प्रधानता हो चली, एकदेववाद मे बहुदेववाद परिणत हो गया और जन्मातर के प्रति भी विश्वास दृढतर होने लगा।

तप तथा ज्ञान

फिर भी उक्त वैदिक वाङमय के कुछ उल्लेखो से स्पष्ट है कि उस समय के बहुत-से लोग वायु के आधार पर जीवन-यापन करनेवाले मननशील प्राणाभ्यासी भी हुआ करते थे।[3] कुछ अन्य लोग तपश्चर्या तथा श्रम के साथ साधना करके मृत्यु पर भी विजय पा लेते थे।[4] इसके सिवाय उन दिनो कदाचित् ऐसे व्यक्तियो की भी कमी न थी, जो व्रात्य कहलाते थे। ये लोग उक्त यज्ञादि से दूर रहते हुए किसी अरूप वस्तु के ध्यान तथा चिंतन मे निरत रहते थे और अपने व्यक्तिगत उच्चादर्शो की प्राप्ति के लिए एकाग्रता की साधना किया करते थे। उपनिषदो की रचना के समय तो उक्त यज्ञ-कर्म की अनुपयोगिता तक सिद्ध की जाने लगी और तत्त्व-चिंतन उससे कही बढ कर समझा जाने लगा। यज्ञ के आलोचको का कहना था कि "ये यज्ञ वास्तव मे छोटे-छोटे डोगो की भाँति निर्बल साधन हैं जिनके द्वारा कल्याण का होना कभी निश्चित नही कहा जा सकता। इन पर भरोसा रखने-

---

१ त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्व मित्रो भवसि यत् समिद्ध ।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥१॥
त्वमर्यमा भवसि यत् कनीना नाम स्वधावन् गुह्य बिभर्षि ।
अञ्जन्ति मित्र सुधित न गोभिर्यद् दम्पती समनसा कृणोषि ॥२॥
—ऋग्वेद, मडल ५, सूक्त ३ ।

२ 'इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥'—ऋ० १ १६४ ४६

३ 'मुनयो वातरसना पिशङ्गा वसते मला ।'—ऋ० १० १३६-२

४ 'येनातरन्भूतकृतोति मृत्यु यमन्वविन्दान्तपसा श्रमेण ।'—अथर्व० ४ ३५ २

भी इस प्रकार की एक समस्या आ उपस्थित हो गई। उनके विरुद्ध लड़नेवालों में उनके अनेक गुरुजन तथा संबंधी रिश्तेदार पड़ते थे जिन्हें मार कर विजय प्राप्त करने की भावना उनके लिए असह्य प्रतीत हुई और न लड़ने पर भी होनेवाले अनर्थों की आशंका ने उनके हृदय को संशयग्रस्त बना दिया। अर्जुन इस प्रश्न को सरलतापूर्वक सुलझाता न देख कर इतने कातर हो गए कि उन्होंने अपने शस्त्र रथ पर डाल दिये और सहायता के लिए श्रीकृष्ण से प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने भी उक्त प्रश्न का पहले सीधा-सादा-सा उत्तर देना चाहा और उन्हें कहा कि "अन्तःकरण की क्षुद्र दुर्बलता को छोड़कर युद्ध में प्रवृत्त हो जाओ"[1]। परन्तु काम इतने से ही नहीं चल सका और समस्या का रूप इस प्रकार हो गया कि क्या युद्ध में जय प्राप्त कर लेना वास्तव में श्रेयस्कर होगा। अर्जुन साधारण प्रश्नकर्त्ता नहीं थे और न उनका प्रश्न एक साधारण उलझन को दूर कर देने से ही संबद्ध था। श्रीकृष्ण को इसी कारण उसका उत्तर देते समय अनेक दार्शनिक युक्तियों का भी आश्रय ग्रहण करना पड़ा और अंत में भिन्न-भिन्न प्रचलित साधनाओं के एक सुन्दर गीतोक्त समन्वय द्वारा उनकी कठिनाई दूर करनी पड़ी।

गीतोक्त समाधान

श्रीमद्भगवद्गीता की रचना के समय दो प्रकार की साधनाएँ प्रधान रूप से प्रचलित थीं जिनमें एक 'ज्ञानयोग' और दूसरा 'कर्मयोग' था। इनमें से प्रथम का रूप मुख्यतः आत्मोपासना का था। इसके अनुसार मनुष्य का कर्त्तव्य अपने चित्त को सभी सांसारिक बंधनों से हटा कर तथा उसे नित्य शुद्ध तथा ज्ञानमय आत्मा की ओर उन्मुख कर पूर्ण आत्मज्ञान की उपलब्धि करना था। दूसरे का रूप इसी प्रकार कर्मोपासना का था जिसके अनुसार सब किसी को चाहिए कि अपने धर्म-संबंधी व्यापारों का निर्वाह उन्हें यज्ञ वा कर्त्तव्य मानकर करें जिससे आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति हो। ये दोनों मार्ग क्रमशः 'निवृत्ति मार्ग' वा 'प्रवृत्ति मार्ग' भी कहलाते थे। श्रीकृष्ण ने इन दोनों की मर्यादित कर इनका 'ज्ञानकर्मयोग समुच्चय' के रूप में समन्वय कर दिया। इसके साथ ही उन्होंने दोनों के इस सुधरे हुए रूप में भक्ति-योग का भी पुट दे दिया जिसमें निष्काम भावना के साथ सदाचरण करने का एक सरल मार्ग निकल आया। उनकी मनोवृत्ति से संपन्न रहनेवाले के लिए कर्त्तव्य वा अकर्त्तव्य का प्रश्न एक प्रकार से हल भी हो गया।

समन्वय की प्रवृत्ति

श्रीमद्भगवद्गीता के उक्त समन्वयात्मक उपदेश द्वारा वैदिक धर्म में पृथक्

---

१ 'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप' ।।—गीता अ० २ श्लो० ३।

कर लेता है, वही उसे पाने मे समर्थ हो जाता है और उसी के समक्ष वह अपने स्वरूप को प्रकट वा प्रदर्शित भी करता है।[1]" अतएव आत्मा द्वारा वरण किये जाने के पूर्व उसे प्रार्थना वा सेवा मे प्रसन्न कर लेना परमावश्यक समझा गया। इस प्रकार एक मात्र 'हरि' मे एकाग्र भाव के साथ भक्ति करनेवाली साधना का भी 'एकातिक धर्म' के रूप मे उदय हुआ। इसकी पूजन-पद्धति 'सात्वत विधि' कहलाने लगी जिसके प्रधान अग भक्ति, आत्म-समर्पण तथा अहिंसा के भाव थे। इसे अपना कर प्रचार करनेवालो मे वासुदेव कृष्ण-जैसे महान् व्यक्ति की गणना भी की जाती थी। इस कारण आगे चल कर इसका नाम भी 'वासुदेव-धर्म' पड गया और हरि का स्थान क्रमश वासुदेव कृष्ण ने ही ग्रहण कर लिया। अत मे विक्रम सवत् के पूर्व तीसरी शताब्दी तक इसकी विधि 'पाचरात्र-पद्धति' मे परिणत हो गई और इसका नाम 'भागवत धर्म' के रूप मे परिवर्तित हो गया।

विषम परिस्थिति

इस प्रकार हम देखते है कि आर्यों के इतिहास के प्रारभिक युग मे जो साधना पहले सीधे-सादे स्तुति-गान वा पशु-बलि से आरभ हुई थी, वह क्रमश यज्ञ, कर्म, तपश्चर्या, तत्त्वज्ञान, सदाचरण तथा भक्ति के पृथक्-पृथक् रूप धारण करने लगी और इस विविधता के कारण मतभेद का भी अवसर आ उपस्थित हुआ। साधना की विभिन्नता के आधार पर समाज मे भिन्न-भिन्न वर्गों की सृष्टि होने लगी जिनमे से एक दूसरे को स्वभावत पराया समझने लगा। इसके सिवाय तर्क-वितर्क करने-वाले व्यक्तियो के हृदय मे इस बहुमार्गिता ने एक अन्य प्रकार के भाव का सचार भी किया। उस समय के लोग अधिकतर धार्मिक भावनाओ से ही प्रभावित हुआ करते थे और उनके दैनिक जीवन का प्रत्येक कार्य प्राय उन्ही द्वारा अनुप्राणित हुआ करता था। फलत अपने कर्तव्य वा अकर्तव्य का निश्चय करते समय वे कभी-कभी अस-मजस मे पड जाते थे और उनका मार्ग अवरुद्ध-सा हो जाया करता था। कार्यारभ के समय की विषम परिस्थिति उन्हे उसके अतिम परिणाम तक सोचने की ओर प्रवृत्त करती थी और वे 'किस प्रकार करने से क्या होगा' के फेर मे पड कर किंकर्तव्य-विमूढ भी हो जाते थे।

अर्जुन तथा श्रीकृष्ण

प्रसिद्ध महाभारत-युद्ध के समय कुरुक्षेत्र के मैदान मे वीरवर अर्जुन के सामने

---

१. 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो नमेधया बहुनाश्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्म विवृणुते तनु स्वाम्॥'
कठ०, १ २.२२ तथा मुडक, ३ २.३।

गए और विचार-संघर्ष के फलस्वरूप उनमें आवश्यक परिवर्तन भी होने लगे। उस समय के प्रचलित प्रत्येक आर्य-धर्म को प्राचीन वैदिक जीवन के पुनरुद्धार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और वह उसे समयानुसार अधिकाधिक अपनाने में लग गया। फलतः प्राचीन व्यवस्थाओं के संरक्षणार्थ पुराणों की सृष्टि की गई। उपासना के भीतर षोडशोपचार का समावेश किया गया। वैदिक देवताओं के अवतारो-पम भाव की पुनरावृत्ति होने लगी और पुराने 'एकांतिक धर्म' का भागवत धर्म वाला रूप क्रमशः 'वैष्णव धर्म' में परिणत हो गया। उपनिषदों के 'ज्ञान-मार्ग' को लेकर इसी प्रकार कई भिन्न-भिन्न दर्शनों की सृष्टि होने लगी और सभी अपनी अपनी तर्क-प्रणाली के अनुसार सुव्यवस्थित रूप ग्रहण करने लगे। इन प्रवृत्तियों का बहुत कुछ प्रभाव बौद्ध तथा जैन धर्मों के विचारों पर भी पड़ा और तत्कालीन वातावरण के अनुसार उन्होंने भी अपने रूप मर्यादित किये।

पौराणिक भक्ति

भारतीय साधना के इस युग अर्थात् सं० १५५ विक्रमी पूर्व से विक्रम सं० ५९ तक के समय को साधारणतः 'पौराणिक युग' का नाम दिया जाता है। यह प्राचीन वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का युग था अतएव इसके आरंभ के कुछ सम्राटों ने अश्व-मेध जैसे बड़े पुराने यज्ञों को एकाध बार कर दिखलाने के लिए भी यत्न किये। प्राकृतिक वस्तुओं के प्रतीक देवताओं की एक बार फिर सृष्टि हुई और इस बार उन्हें और भी स्पष्ट साकार तथा सजीव रूप प्रदान किये गए तथा उनके संबंध में अनेक उपाख्यानों की भी रचना कर दी गई। इसी प्रकार, तीर्थंकरों तथा बोधि-सत्त्वों के अनुकरण में भगवान् के भिन्न-भिन्न अवतारों की कल्पना भी की जाने लगी और उनकी लीलाओं के वर्णन का साहित्य भी बन गया। भक्ति का रूप इसी कारण अब कोरी प्रार्थना वा ईश्वरार्पण के भाव तक ही सीमित नहीं रह गया प्रत्युत उसमें षोडशोपचार का पूरा समावेश भी कर दिया गया। देवताओं की भिन्न भिन्न मूर्तियों की स्थापनाएँ की जाने लगीं और उनके लिए भव्य तथा विशाल मंदिरों का निर्माण भी होने लगा। देवता भी अब पहले की भाँति केवल शक्ति एवं सामर्थ्य के द्योतक नहीं रह गये थे और न उनसे हम वैसे भय की आशंका थी। अब उनमें मानवोचित कोमल वृत्तियों का कल्पना भी की जाने लगी और यह मान लिया जाने लगा कि वे महापुरुषों की भाँति हम पर दया दाक्षिण्य तथा अनुग्रह भी दरसा सकते हैं। उनमें सात्त्विक गुणों का इतना विस्तृत आरोप कर दिया गया कि वे अब हमारे किसी भी संकट की परिस्थिति में हमारी भक्ति से प्रेरित होकर हमें उबार ले सकते थे। देवताओं के स्वभावों तथा कार्यों की भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पना करके उनका वर्गीकरण भी कर दिया गया और सारे विश्व के सृजन, पालन तथा

पृथक् रूपो मे प्रचलित सभी साधनाओ का समाधान हो जाता था। यज्ञ, कर्म, पशु-वलि प्रधान न होकर शास्त्र-विहित कर्तव्यो का बोधक समझा जाने लगा। तपश्चर्या आत्मशुद्धि का साधन वन गई, तत्त्वज्ञान की उपादेयता चित्त के सतुलन एव अन्त -करण की शाति मे दीख पडने लगी। सदाचरण का निर्वाह निष्काम-कर्म के आदर्शो द्वारा प्रेरित होने लगा और भक्ति की भावना ईश्वरार्पण की प्रक्रिया के कारण सुखमयी वन कर सभी कार्यों को सरल तथा सुगम वनाने मे समर्थ हो गई। गीतोक्त साधना का मुख्य अभिप्राय सक्षेप मे यह था कि "यदि कर्म के किये विना हम एक क्षण भी नही रह सकते और यह किसी न किसी रूप मे हमारे लिए पूर्णत अनिवार्य है तथा यदि उसके परिणाम के भला वा बुरा होने पर ही हमे क्रमश सुख वा दु ख का अनुभव हुआ करता है, तो क्यो न हम उसे यज्ञार्थ अथवा विहित कर्तव्य मान ले, उसकी फलाशा को ईश्वरार्पित कर दें तथा उसे शुद्ध भाव के साथ अनासक्त होकर सपन्न करने मे प्रवृत्त हो जायँ।[1]" ऐसी दशा मे वस्तुस्थिति का ज्ञान रहने के कारण हमे न तो किसी वात की आशका होगी और न उसके ईश्वरार्पित होने के कारण हमारे ऊपर उसका कोई वोझ रहेगा। हमारा शात तथा निर्मल चित्त अविकृत रहने के कारण कभी क्षुव्ध नही होगा और इस प्रकार हमारा ऐहिक जीवन सदा सुखमय वना रहेगा। अकर्तव्य का प्रश्न हमारे सामने तभी गभीर रूप धारण करता है, जव हम किसी कार्य के परिणाम मे आसक्त रहते है। यदि उक्त साधना के अनुसार हम उसे निष्काम भाव के साथ करने लग जायँ, तो हमे किसी ऐसी विकट समस्या का सामना नही करना पडे।

प्रतिक्रिया

परन्तु भारतीय साधना का उक्त समन्वयात्मक रूप भी आगे चलकर कुछ परिवर्तित होने लगा। यज्ञ-सबधी पशुवलि एव वाह्याचार के विरुद्ध इन्ही दिनो दो अन्य प्रकार के आदोलन भी क्रमश 'जैन धर्म' तथा 'वौद्ध धर्म' के नाम से उठ खडे हुए जिनमे न तो किसी देवोपासना को स्थान था और न जिनमे कोई ईश्वरार्पण की भावना ही आवश्यक थी। उन दोनो का प्रधान लक्ष्य शुद्ध सात्विक जीवन था और उनके सामने मानव की महत्ता तथा उसके पूर्ण विकास का प्रश्न कही अधिक मूल्यवान् था। दोनो निरीश्वरवादी थे जिससे मूल वैदिक धर्म वा उसके सुधरे हुए रूपो पर भी उनकी प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। अतएव उन दोनो का सामना करने अथवा उनकी प्रतियोगिता मे आगे वढने की ओर सभी प्रवृत्त हो

---

१ 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मवधन ।
तदर्थ कर्म कौन्तेय मुक्तसग समाचर ॥९॥'—गी०, अ० ३ ।

थोड़े-से मतभेद के साथ प्राय: इन्हीं को अहिंसा सत्य अस्तेय शौच ब्रह्मचर्य अपरिग्रह संतोष तप स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान के नाम देकर योग-साधना ने भी अपने यहाँ यम-नियमों के रूप में स्थान दे दिया। 'ऋग्वेद' में 'धर्म' शब्द का अर्थ वास्तव में 'किसी वस्तु वा व्यक्ति की स्थायी वृत्ति प्रकृति वा स्वभाव मात्र'[१] ही किया गया था। किन्तु मीमांसाशास्त्र ने उसकी परिभाषा वेद-विहित यज्ञादि कर्मों का विधिपूर्वक अनुष्ठान के रूप में कर दी और स्मृतियों द्वारा यही फिर "आचार: परमोधर्म" कहला कर सदाचार प्रधान कर्म समझा जाने लगा। फिर तो सदाचार को समाज की स्थिति के लिए भी परमावश्यक तथा श्रेयस्कर मान कर उसे प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपित कर दिया गया।

तांत्रिक पद्धति

परन्तु इस पौराणिक युग की विशेष साधना तन्त्रोपचार की पद्धति थी जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह तन्त्रमूलक साधना बहुत प्राचीन समझी जाती है और कुछ लोगों के अनुसार तन्त्र की चर्चा वेदों तथा उपनिषदों में भी की गई मिलती है[२]। फिर भी इतना निश्चित है कि तान्त्रिक साधना को जितना पौराणिक युग में अपनाया तथा इसके अंगों का जितना विस्तार इस काल में किया गया उतना पहिले कभी नहीं हुआ था। इस समय तन्त्र वा आगम के बौद्धतंत्र शक्तितंत्र शैव आगम वैष्णव आगम आदि अनेक विभाग हो गए और सबने अपने-अपने मूल सम्प्रदायों के अनुसार भिन्न-भिन्न साधनाएँ प्रचलित कर दीं। इनके मंत्र पृथक्-पृथक् बनाये गए, इनके लिए विविध प्रकार के यन्त्रों का आयोजन किया गया तथा इनके भिन्न-भिन्न देवताओं के ध्यान एवं उपासना के प्रधान पाँच अंगों अर्थात् पटल पद्धति कवच सहस्रनाम और स्तोत्र को भी स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित रूप दे दिया गया। इस कारण तन्त्रोपचार की प्रणाली में जहाँ एक ओर मूर्तिपूजा के लिए षोडश वा इससे भी अधिक प्रकार के उपचारों का विधान बना वहाँ दूसरी ओर एक नवीन गुप्त साधना की भी पद्धति चल निकली। साधकों की योग्यता तथा प्रवृत्ति के अनुसार वेदाचार वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार बन कर प्रसिद्ध हो गए। बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय में भी इसी

---

१ 'प्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य:। अतो धर्माणि धारयन्।
—ऋ० १ २२ १८।

२ बलदेव उपाध्याय 'बौद्ध दर्शन' शारदा मंदिर, बनारस १९४६ ई० पृ० २१९२।

सहार की उन्हे क्षमता प्रदान कर उनके हाथो मे इसकी पूर्ण व्यवस्था का समूचा भार सौंप दिया गया ।

योग-साधना तथा ज्ञानवाद

प्राचीन समय के ध्यानयोग तथा तपश्चर्या को सम्मिलित कर इसी प्रकार योग-साधना प्रचलित की गई । इसके हठयोग नामक अग के अतर्गत अनेक प्रकार के यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा । उसके राजयोग नामक अग मे प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के विस्तृत विवेचन की व्यवस्था की गई । यह साधना भी एक प्रकार से उक्त भक्ति-योग के ही पार्श्व-विशेष का निर्देश करती थी और समझा जाता था कि इसके द्वारा हमे अपने इष्ट-देव का साक्षात् कर लेना भी सभव है । परन्तु योग-साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम चित्तवृत्तियो का सम्यक् निरोध है, जिसका उपयोग अन्य साधनाओ मे भी भली भाँति किया जा सकता है । इसलिए यह साधना कुछ आगे चल कर और भी अधिक लोकप्रिय होती गई और इसे अन्य धर्मों ने भी स्वीकार किया । इधर ज्ञान की साधना मे तर्क-वितर्क एव ऊहापोह के ही क्रमश अधिक प्रयोग होते रहने के कारण, उसका भी एक शास्त्र पृथक् बन गया । इस साधना का उपयोग अब केवल प्राचीन श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन मात्र तक ही सीमित न रह कर कार्य-कारण-सबध की प्रतिष्ठा, परिस्थिति के सम्यगालोचन तथा व्यापक सिद्धातो के निरूपण एव निर्धारण तक मे भी होने लगा और इसके कारण खडन-मडन की प्रथा भी पुष्ट की गई ।

सदाचारवाद

इसी प्रकार सदाचरण का स्वरूप भी, जो पहले केवल कर्मवाद को ध्यान मे रख कर सत्कर्म करना मात्र समझा जाता था और भी विस्तार के साथ प्रति-पादित किया जाने लगा । सदाचरण अब 'सदाचार' कहलाकर धर्म का समानार्थक शब्द माना जाने लगा और उसे 'दशक धर्म लक्षणम्' के द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा भी होने लगी । जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म ने सदाचरण को सबसे अधिक महत्त्व दे रखा था और उसे अपने-अपने ढग से निरूपित भी किया था । अहिंसा, निष्कामता, मनोविजय, आत्मसयम, जैसी सदाचरण-सबधी बातो की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया था । 'खति' (क्षमा), 'सील' (शील), 'पञ्ञा' (प्रज्ञा), 'मेत्ता' (मैत्री), 'सच्च' (सत्य), 'विरीय' (वीर्य) बोधिसत्व के आदर्श गुण माने जाते थे और चित्त की शुद्धि को भी उनके यहाँ एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था । पौराणिक युग की सदाचार-साधना ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य तथा अक्रोध को धर्म के दस लक्षण बतला कर उनको अपने मे समावेश कर लिया ।

आरंभ कर दी। उधर 'गीता' ने किसी भी प्राचीन पद्धति का त्याग करना उचित नहीं समझा था प्रत्युत 'शास्त्र-विधि को छोड़ कर स्वतंत्र रूप से कर्तव्य करनेवाले' के लिए बतलाया था कि 'उसे न तो सिद्धि मिलती है न सुख मिलता है और न उत्तम गति ही प्राप्त होती है।'[1] उसमें प्रचलित समाज के स्तर को प्रायः ज्यों का त्यों रहने देने का उपदेश दिया गया था और प्राचीन प्रमाणों की भी महत्ता पूर्ववत् ही स्वीकार कर ली गई थी। उसमें सारी बातों को एक नये सिरे से ढालने और तदनुसार नवीन परिणाम निकालने मात्र की ओर ही विशेष ध्यान दिलाया गया था। किंतु बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रवर्तकों और प्रचारकों ने वर्णाश्रम की प्रामाणिकता तथा सामाजिक रूढ़ियों की रक्षा के प्रति अपनी उदासीनता प्रदर्शित की। प्रधान प्रधान प्रचलित सिद्धांतों के समन्वय की अपेक्षा क्रमागत परंपरा के समुचित सुधार या कायापलट तक का आयोजन उपस्थित कर दिया।

मतभेदों का बोलबाला

पौराणिक युग ने उक्त नवीन प्रवृत्ति के प्रतिकार स्वरूप अपने सिद्धांतों को नये प्रकाश के आलोक में सँभालने की चेष्टा की। किंतु 'गीता' के उपर्युक्त सुझावों की ओर पूरा ध्यान न देकर उसने समन्वय तथा सामंजस्य की जगह वैदिक युग की ओर पुनरावर्तन का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया जो परिस्थिति के अधिक परिवर्तित हो जाने के कारण कभी पूरा न हो सका। उक्त विरोधी मतों के साथ निरंतर संघर्ष चलते रहने के कारण पौराणिक हिन्दू-समाज का ध्यान जितना सामयिक प्रश्नों की ओर जाता रहा उतना उक्त चिरस्थायी समस्या को हल करने के प्रति आकृष्ट न हो सका। परिणामस्वरूप वह प्रायः ज्यों की त्यों बनी रह गई और नवीन व्यवस्थाओं की उलझनों ने उसके निराकरण की आवश्यकता को और भी बल दे दिया। उस समय न केवल बौद्ध तथा जैन धर्म ही अपितु स्वयं वैष्णव शाक्त शैव-जैसे हिन्दू सम्प्रदायों ने भी अपने अपने भीतर अनेक मतभेदों को जन्म दे रखा था। इनमें से सबने वेदों को ही अपना अंतिम प्रमाण बना रखा था और उनसे कतिपय उद्धरण लेकर तथा उन्हें वास्तविक प्रसंगों से पृथक करके वे अपने-अपने मतानुसार उन पर मनमाने अर्थों का आरोप करने लगे थे। इसके सिवाय कुछ मतों ने वेदों की भाँति ही पुराणों तथा स्मृतियों को भी प्रधानता दे रखी थी। अतएव इनके पारस्परिक मतभेदों के कारण एक को दूसरे के प्रति द्वेष कलह या प्रतियोगिता के

---

१ 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्' ॥२३॥
—श्रीमद्भगवद्गीता अ० १६

प्रकार बौद्धतत्रो से प्रभावित अवधूतीमार्ग, रागमार्ग, डोबीमार्ग, चाडालीमार्ग आदि की पद्धतियाँ प्रवर्तित हो गई और इनकी रहस्यमय साधनाओ की आड मे कभी-कभी महान् अनर्थ भी होने लगा ।

ग्रथ-रचना

उक्त साधनाओ का प्रतिपादन तथा प्रचार सस्कृत भाषा के माध्यम द्वारा होता था । बौद्ध तथा जैन धर्म वालो ने भी बहुत कुछ इसी का अनुसरण किया था । इस कारण उनके गुप्त सिद्धातो का पता अधिकतर शिक्षित समाज को ही चल पाता था, सर्वसाधारण को इनकी गूढ बातो का प्राय कुछ भी परिचय नही रहता था । उनको यह सब कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता था और वे साधको के सामने मूक वा मुग्ध हो जाते थे । जैन तथा बौद्ध धर्मों के प्रवर्त्तको ने अपने सिद्धातो का प्रचार सर्वसाधारण के लिए मूलत प्राकृत वा पालि भाषा मे किया और उनके सर्वमान्य तथा महत्त्वपूर्ण ग्रथ आज भी उन्ही भाषाओ मे पाये जाते हैं । परन्तु तात्रिक साधनाओ के गोपनीय होने के कारण उनका विषय सस्कृत मे निरूपित किया गया और इन धर्मों के भी ऐसे ग्रथो की रचना सस्कृत भाषा मे ही हुई । इस प्रकार कर्मकाड, योग-शास्त्र, आचार वा धर्मशास्त्र, भक्ति-सबधी सूत्रो तथा तत्रोपचार-विषयक पद्धतियो के ग्रथो की एक बृहद् राशि प्रस्तुत हो गई । विषयो की गूढता तथा उनकी पद्धतियो की जटिलता की सीमा यहाँ तक पहुँची कि उनकी व्याख्या के लिए विविध भाष्यो की आवश्यकता पड गई । भिन्न-भिन्न मत वालो ने अपने काल्पनिक सिद्धातो के अनुसार उन पर टीकाओ की रचना कर उनमे निहित भ्रातियो को और भी अस्पष्ट कर दिया । ऐसी दशा मे वस्तुस्थिति का जानना तथा सच्चे मार्ग का अनुसरण करना अत्यत कठिन हो गया और सब कही अस्तव्यस्तता दीख पडने लगी ।

शास्त्रविधि तथा सुधार

इतना ही नही, हम पहले देख चुके है कि वैदिक युग का क्रमश बढती आई साधनाओ की विभिन्नता को दूर करने का प्रयास एक बार 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे किया गया था । उस समय की वर्तमान प्रमुख साधनाओ के समन्वय द्वारा एक सर्वोपयोगी मार्ग निकालने की चेष्टा की गई थी । ऐसा समझा गया था कि सभी प्रकार के विचारवाले व्यक्ति उसका अनुसरण करेंगे । परन्तु बौद्धो, जैनियो तथा अन्य नवीन मतो के प्रचार के कारण उसमे भी विशृखलता आने लगी और पुरानी समस्या ने एक बार और भी अपना सिर उठाया । बौद्ध तथा जैन धर्म वस्तुत सुधारपरक सिद्धात लेकर चले और उन्होने बिना किसी प्राचीन ग्रथ की सहायता लिये, केवल स्वतत्र विचारो वा अनुभूतियो के आधार पर ही अपने आदर्शों की स्थापना

जुड़ता रहा। उनके सिद्धान्त किसी शास्त्रीय पद्धति का सहारा लेकर निश्चित नहीं किये गए थे अपितु उनका आधार निजी अनुभव था और वे पूर्ण स्वावलंबी भी थे। उनका स्पष्ट कहना था कि किसी बात में केवल इसलिए विश्वास न करो कि वह तुम्हारे आचार्यों की कही हुई है। इसलिए भी न करो कि वह तुम्हारे किसी धर्म-ग्रंथ में लिखी मिलती है प्रत्युत प्रत्येक बात को अपने व्यक्तिगत अनुभव की कसौटी पर जाँचो। यदि तुम्हें वह अपने तथा औरों के लिए हितकर जान पड़े तो उसे मान लो, न जान पड़े तो मत मानो' और इस नियम का पालन करना वे सबके लिए परमावश्यक समझते रहे।

व्यावहारिक जीवन

इसके सिवाय गौतम बुद्ध ने अपने मतव्यानुसार गूढ़ दार्शनिक रहस्यों की खोज की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन के प्रश्नों की ओर ही अधिक ध्यान दिया था। उनका कहना था कि 'यदि किसी के शरीर में कोई तीर चुभ गया हो अथवा यदि कोई आग में पड़ कर जल रहा हो उस अवसर पर यह सोचने लगना कि उक्त तीर की बनावट कैसी होगी वह किस लोहे का बना होगा अथवा उसे किसने बनाया होगा तथा उसी प्रकार, उक्त आग का लगानेवाला कौन हो सकता है, उसकी जाति क्या होगी अथवा उसने क्या आग लगायी होगी निरी मूर्खता कहलायेगा वैसे ही अपनी आँखों के सामने दुःख के गर्त में पड़े हुए मनुष्यों के लिए किसी अंतिम सत्य को ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करने लगना व्यर्थ कहा जा सकता है। तीर चुभने के कारण मर्मान्तिक वेदना सहनेवाले के शरीर से जिस प्रकार तीर का शीघ्रातिशीघ्र निकाल देना अथवा आग में जलनेवाले को जिस प्रकार आग की लपटों से तत्क्षण बचा लेना ही आवश्यक होता है उसी प्रकार इस दुःखपूर्ण संसार के भवबन्धन से मनुष्य को उन्मुक्त कर देना ही परम श्रेयस्कर है। इसके मूल स्वरूप परम सत्य के दार्शनिक विवेचन में समय का दुरुपयोग करना कभी उचित नहीं कहा जा सकता।

महायान तथा हीनयान

फिर भी गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के अनंतर, लगभग कनिष्क (रा॰ का॰ स॰ ११५-१५८) के समय उनके अनुयायियों का एक दल अपना सबसे अधिक ध्यान दार्शनिक गुत्थियों के सुलझाने की ओर ही देने लगा और आगे चल कर उसके भीतर भी मतभेद के कारण कई भिन्न-भिन्न वादों के उठ खड़े होने का अवसर आ गया। उक्त दल का 'महायान सम्प्रदाय' अपने मूल बौद्ध धर्म का एक विकसित रूप था और वह अपने प्रतिद्वन्द्वी दल का सन्यास-मार्ग-प्रधान हीनयान से कई बातों में भिन्न था। 'हीनयान' का साधक जहाँ पर केवल अपने व्यक्तिगत निर्वाण के

प्रदर्शन के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन मिला करता था और बहुधा अनेक प्रकार के झगडे भी उठ खडे हो जाते थे ।

गौतम बुद्ध का मार्ग

इधर बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धातो मे भी महान् अतर आ गया था। महात्मा गौतम बुद्ध (स० ५०९-४२९ वि० पू०) ने अपनी घोर तपस्या के अनतर चार बातें निश्चित की थी, जो क्रमश १ 'दु ख', २ 'दु खसमुदय', ३ 'दु खनिरोध' तथा ४ 'दु खनिरोधमार्ग' के नामो से विख्यात है और जिनका मुख्य तात्पर्य इस प्रकार बतलाया जा सकता है 'हमारा जीवन दु खमय है, उसमे सुख की इच्छा करना ही दु ख का कारण है, अतएव उस इच्छा वा तृष्णा के क्षय द्वारा दु ख की निवृत्ति हो सकती है और यह तृष्णा का क्षय, पवित्र तथा निर्दोष जीवन से प्राप्त किया जा सकता है ।' ये चारो बातें 'चत्वारि आर्यसत्यानि' कहलाती हैं । इसके तीसरे सिद्धात के अनुसार उपलब्ध अवस्था को 'निर्वाण' कहते हैं और निर्वाण की उपलब्धि के लिए जिस मार्ग का अनुसरण करना उन्होने आवश्यक माना था, उसे 'अट्ठागिकी' अथवा 'आर्य अष्टागिक मार्ग' कहा जाता है। वह एक ओर, यदि भोग-विलासमय जीवन के विरुद्ध है, तो दूसरी ओर शरीर को व्यर्थ कष्ट पहुँचानेवाले तपश्चर्यादि से भी नितात भिन्न है। इस अष्टागिक मार्ग के अतर्गत १ सम्यक् वा उचित विचार, २ सम्यक् वा उचित सकल्प, ३ सम्यक् वा उचित वाणी, ४ सम्यक् वा शुद्ध कर्म, ५ सम्यक् वा शुद्ध आजीविका, ६ सम्यक् वा उचित व्यायाम अर्थात् उद्योग, ७ सम्यक् वा ठीक स्मृति अर्थात् चित्तवृत्ति, और ८ सम्यक् वा पूर्ण समाधि की गणना की गई थी और यही सभी साधको के लिए एक आदर्श मार्ग समझा गया था ।

स्वावलबन तथा नैतिक मार्ग

गौतम बुद्ध के हृदय मे वैराग्य सर्वप्रथम, क्रमश किन्ही वृद्ध, रोगी, मृतक तथा प्रसन्नमुख सन्यासी की विविध अवस्थाओ के पूर्वा पर विचार करने के कारण, उनकी २८ वर्ष की युवावस्था मे हुआ था । वे केवल एक सप्ताह के दुधमुँहे बच्चे के साथ सोयी हुई पत्नी तथा समृद्ध राजसी जीवन को त्याग कर घर से निकले थे । उनके जीवन का मुख्य ध्येय सारे प्राणियो का दु ख निवारण था । इसके लिए उन्होने सबके सामने एक नैतिक जीवन का ही आदर्श रखा । वे मोक्ष वा निर्वाण को ईश्वरीय ज्ञान वा भगवत्कृपा पर निर्भर नही मानते थे, प्रत्युत उनके लिए नियमो की नित्यता ही सब कुछ थी और सदाचार का अनुशीलन ही उनके विचार मे सबसे बढ कर श्रेयस्कर मार्ग था। तथा उसी के द्वारा वे अमरत्व का होना भी निश्चित मानते थे । उनके उपदेश इसीलिए पर शुद्ध व्यावहारिक जीवन को लक्ष्य करके दिये गए और उनका ढग भी बहुत कुछ प्रत्यक्षवाद की पद्धति से ही मिलता-

से किसी प्रकार भी कम नहीं समझा जाता था । ये मंत्र केवल दो-एक अक्षरों की भिन्न-भिन्न स्थिति वा संयोग द्वारा बना लिये जाते थे और इनके उच्चारण की विशेष शैली पर ध्यान दिया जाता था । इसके सिवाय इन्हें जब लिखित रूप में प्रकट किया जाता था तब इनके भिन्न-भिन्न अक्षरों की विशेष स्थिति के अनुसार भी उन्हीं परिणामों की कल्पना की जाती थी जो मूक उपदेशों से हुआ करते थे । मंत्रों को इस प्रकार महत्त्व प्रदान करने वाला महायान का उप-सम्प्रदाय 'मंत्रयान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इसके अनुयायियों की दृढ़ धारणा हो गई कि उक्त प्रकार से रचे गए मंत्रों की साधना यदि नियमित रूप से कर दी जाय तो अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेना कठिन नहीं होगा । ऐसे मंत्रयान का उदय विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के संभवतः कुछ पहले ही हो चुका था, किन्तु उसका अधिक प्रचार उसी समय से होने लगा ।

वज्रयान

मंत्रयान के अधिक प्रचार में श्रद्धालुओं की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि की और इस कारण मंत्रयानी साधकों में से अनेक व्यक्ति अपने विविध यत्नों द्वारा ऐसे लोगों की उदारता से लाभ उठा कर धन-संग्रह की ओर भी प्रवृत्त हुए । इस धन-संग्रह ने काल पाकर विलासिता को जन्म दिया और उक्त साधकों में अब ऐसे व्यक्ति भी दीख पड़ने लगे जिन्हें मंत्रों के अतिरिक्त हठयोग वा मैथुन की क्रियाओं में भी अधिक विश्वास रहा करता था । ऐसे ही साधकों ने आगे चल कर अपने विचारों को एक सुव्यवस्थित रूप दिया और इस प्रकार मंत्रयान के आगे 'वज्रयान' नाम के एक अन्य उप-यान का आरंभ हो गया जिसके प्रचारकों में प्रसिद्ध ८४ सिद्धों की भी गणना की जाती है । वज्रयानियों ने महायान की 'शून्यता' तथा 'करुणा' को क्रमशः 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के नाम दे दिए । इन दोनों के मिलन को 'युगनद्ध' की दशा बतला कर उसे ही प्रत्येक साधक का अंतिम लक्ष्य ठहराया । बोधिचित्त भी जो पहले विशुद्ध चित्त वा व्यापक कारुण्य भाव का द्योतक रहा इस प्रकार 'वज्र सत्त्व' बन गया । प्रज्ञा का स्वरूप एक निर्विशिष्ट किन्तु निष्क्रिय-ज्ञान मात्र है, जिसे स्त्री रूप देते हैं और उपाय उसके विपरीत एक सक्रिय तत्त्व है, जिसे पुरुषवत् मानते हैं । इन दोनों का अंतिम मिलन शक्ति तथा शिव के मिलन के समान परमावश्यक समझा जाता है[1] । इन दोनों के पारस्परिक मिलन की ही अंतिम दशा 'समरस' वा 'महासुख' के नाम से भी अभिहित होती है, जो

---

१ डॉ० एस० बी० दासगुप्त 'आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स' कलकत्ता यूनिवर्सिटी १९४६, पृ० १ ।

लिए यत्नशील होता था, वहाँ 'महायान' अपने को सभी प्राणियो के उद्धार के हेतु उद्योगशील होने वाला प्रदर्शित करता था और उसका परम आदर्श इसी कारण 'अर्हत्' की जगह 'वोधिसत्व' वन गया था। वोधिसत्व हो जाने का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति को वोधिचित्त की उपलब्धि हो जाना था, जिसमे शून्यता वा करुणा का सामजस्य रहा करता है। इसी कारण 'हीनयान' के अनुयायी जहाँ अधिकतर नैतिक प्रवृत्तिवाले व्यक्ति ही हो पाते थे, वहाँ 'महायान' मे सभी वर्ग,मत तथा विचार के लोगो का प्रवेश होने लगा। महायान की सवसे वड़ी विशेषता यह थी कि इसने अपनी मूल धर्म-भाषा पालि को छोडकर हिन्दुओ की सस्कृत भाषा को अपना लिया तथा पौराणिक युग के हिन्दुओ के प्रभाव मे आकर वह उनके भक्तिवाद तथा तत्रोपचार की पद्धतियो का भी पूर्ण समर्थक हो गया। इसने अपने धर्म के मूल प्रवर्त्तक गौतम वुद्ध को देवत्व प्रदान कर दिया और वह उनकी विविध 'जातक'-कथाओ के काल्पनिक आधार पर वोधिसत्वो की उपासना मे भी प्रवृत्त हो गया। इस कार्य मे इसके दर्शन-प्रेम ने किसी प्रकार की वाधा नही पहुँचायी, अपितु इसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म दार्शनिक विवेचन के कारण उसके ग्रथो मे कुछ ऐसी रहस्यमयी परिभाषाओ की सृष्टि भी हो चली, जिनके कारण इसकी सारी वातें भेदभरी वा गूढातिगूढ प्रतीत होने लगी। इसके अतिरिक्त उस समय के प्रचलित तत्रवाद ने भी इसे भिन्न-भिन्न गुप्त साधनाओ की ओर सकेत करके उनके प्रपचो मे उलझने के लिए विवश किया और गुह्य समाजो की एक परपरा चल निकली। इन समाजो की मुख्य साधनाएँ परम गुप्त हुआ करती थीं और उनकी विविध क्रियाओ के निर्वाह के लिए अनेक प्रतीको की आवश्यकता पडती थी। तदनुसार साधना-भेद के आधार पर इसके अतर्गत विविध उप-यानो की भी सृष्टि होने लगी और एक दूसरे मे वहुत कुछ अतर दीख पडने लगा। मूल वौद्ध धर्म अथवा महायान सम्प्रदाय से ये उप-यान इतने भिन्न हो गए कि इन्हे उनका विकसित रूप सिद्ध करना भी अत्यत कठिन हो गया।

मत्रयान

महायान द्वारा गौतम वुद्ध के देवत्व प्राप्त करते ही उनके उपदेशो को भी अलौकिक महत्त्व मिल गया। इसलिए उनके अनुयायियो मे उनके उपलब्ध वचनो के प्रति अपार श्रद्धा वढ़ चली और वे उनका पाठ करना अपना कर्तव्य समझने लगे। परन्तु ये पाठ साधारणत लवे हो जाया करते थे, इस कारण उनके आधार पर छोटे-छोटे सूत्रो की रचना होने लगी। अत मे इन सूत्रो को भी और सक्षिप्त-रूप देने की चेष्टा मे क्रमश मत्रो की सृष्टि हो गई। इन मत्रो का अर्थ-रहित होना ही सार्थक माना जाने लगा और इनका प्रभाव, इसी कारण उक्त लवे उपदेशो

व्यभिचारपरक आवेश बन गए और उक्त बातों का वास्तविक रहस्य क्रमशः विस्मृत हो गया ।

इस प्रकार हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म के इतिहास में यह समय अव्यवस्थिति के कारण बहुत विषम हो गया था । इस समस्यामूलक दशा को सँभाल कर किसी सर्वजनानुमोदित श्रेयस्कर मार्ग का निकालना अत्यंत दुष्कर कार्य था । फिर भी कई सुधारक सम्प्रदायों ने इस दिशा में सफल होने की चेष्टा की ।

२ साम्प्रदायिक रूप तथा सुधार

(१) स्मार्त सम्प्रदाय

शंकराचार्य के सिद्धांत

स्वामी शंकराचार्य (सं ८४५ ८७७) ने सर्वप्रथम इस कार्य को अपने हाथ में लेकर वैदिक धर्म की ओर से एक मार्ग निकालने का यत्न किया । ये केरल प्रांत के किसी नामूदरी ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए थे और अपनी अल्प वयस में ही संस्कृत भाषा में उपलब्ध प्रधान ग्रंथों के पारंगत विद्वान् हो गए थे । इन्होंने अपना मुख्य ध्येय बौद्ध तथा जैन जैसे अवैदिक धर्मों का इस देश से बहिष्कार कर अपने धार्मिक समाज में एकता स्थापित करना बना रखा था । इन्होंने अपने मत का मूल आधार श्रुति अर्थात् वैदिक साहित्य को ही स्वीकार किया और उसके प्रतिकूल जान पड़नेवाले मतों का खंडन तथा घोर विरोध किया । उक्त दोनों धर्मों के अनुयायियों को नास्तिक ठहरा कर इन्होंने हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न प्रचलित सम्प्रदायों की कटु आलोचना भी की । उनके मतों के अधिकांश को वेदबाह्य बतलाया उनके आधार-स्वरूप माने गए वेद-वाक्यों के इन्होंने भिन्न प्रकार से अर्थ किये और उन्हीं अर्थों को वेद-सम्मत सिद्ध कर उनकी संगति अन्य स्थलों के साथ भी बिठला दी । इस प्रकार वेदों की एकवाक्यता प्रतिपादित करते हुए इन्होंने एक नवीन मत का प्रवर्त्तन किया जिसके दार्शनिक अंश को 'अद्वैत' तथा साधना को 'स्मार्त मार्ग' कहते हैं । इनका कहना है कि श्रुति के मूल सिद्धांतों द्वारा एक नित्य शुद्ध बुद्ध सत् एवं आनंद स्वरूप मुक्तस्वभाव ब्रह्म का प्रतिपादन होता है । इसके सिवाय अन्य कुछ भी सत्य नहीं और जिसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही वास्तविक मोक्ष है । किन्तु इस ज्ञान-साधना के पहले यह परमावश्यक है कि वेद-विहित नियमानुसार अपने वर्णाश्रम धर्म का भली भाँति पालन कर अपने अंतःकरण को शुद्ध कर लिया जाय चाहे यह शुद्धि एक वा अनेक जन्मों के ही अभ्यास द्वारा क्यों न प्राप्त होती हो ।

प्रचार-कार्य

स्वामी शंकराचार्य ने अपने मत के प्रचारार्थ प्रायः सारे भारतवर्ष में भ्रमण

किया जाता था, "जगत् की सृष्टि परम तत्त्व मे वैपम्य आने के कारण आविर्भूत होती है, इसलिए इसकी साम्यावस्था उसके प्रलय को सूचित करती है। उक्त विषमता का मूल कारण भी उन दो विरुद्ध शक्तियो मे निहित है, जो अत शक्ति तथा वाह्य शक्ति के रूपो मे सदा एक दूसरे को अभिभूत करने पर उद्यत रहा करती है। इनकी क्रियाशीलता का प्रत्यक्ष उदाहरण हमे अपने शरीर के भीतर प्राण तथा अपान की पारस्परिक खीचातानी द्वारा लक्षित होता है। यही वात इडा और पिंगला नामक दो नाडियो की विषमता से भी प्रकट होती है, जिस कारण उनमे समता लाकर सुषुम्ना मे लीन कराने की चेष्टा योगी लोग भी किया करते हैं।"

महामुद्रा की साधना

वज्रयानियो के उक्त कथन मे हठयोगियो के सिद्धातो का कुछ- प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है और वहाँ तक उसमे किसी आपत्ति का प्रवेश नही है। परन्तु इसी प्रकार के विविध सकेतो के आधार पर, जो उन्होने अपनी साधना को एक विशेष रूप दे डाला, वह अत मे अत्यत हेय समझा जाने लगा। प्रत्येक साधक के लिए इसके अनुसार एक महामुद्रा के सपर्क मे भी रहना परमावश्यक समझा जाने लगा। बज्रयान का अनुयायी साधक, सर्वप्रथम किसी नीच जाति की सुदरी स्त्री को अपने लिए चुन लिया करता था और अपने गुरु के निकट जाकर उसके आदेशानुसार उसे अपनी महामुद्रा वना लेता था। तव से उसकी प्रत्येक साधना, उस महामुद्रा के सहवास मे रह कर ही चला करती थी और दोनो की मनोवृत्तियो मे पूरी साम्यावस्था लाने के यत्न भी होते रहते थे। तदनुसार "अनेक तीव्र एव कठिन नियमो के पालन से जितनी शीघ्रता से सिद्धि नही होती, उससे कही शीघ्र वह सभी प्रकार के कामोपभोगो से हो जाया करती है"[१], जैसे सिद्धातो के आधार पर वे वहुधा भिन्न-भिन्न प्रकार के दुर्व्यसनो मे भी प्रवृत्त हो जाते थे और उसका परिणाम समाज के लिए बुरा हो जाता था। बज्रयानी आचार्यों ने महामुद्रा एव उसके सहयोग मे की जानेवाली साधना के सबध मे जो सकेत किये थे कि "उसे चाडाल-कुल की वा विशेषकर डोमिन होना चाहिए और वह जितनी ही घृणित जाति की होगी उतनी ही सफलता मिल सकती है" तथा "स्त्रीन्द्रिय वास्तव मे पद्मस्वरूप है और पुसेन्द्रिय, उसी प्रकार वज्र का प्रतीक है"[२], वे सव अनधिकारी साधको के लिए

---

१. 'दुष्करैर्नियमैस्तीव्रै सेव्यमानो न सिध्यति।
सर्वकामोपभोगास्तु सेवयश्चाशु सिध्यति ॥ गुह्य समाज-तन्त्र, पृ० २७।

२ 'चाडालकुल सम्भूता डोम्बिकावा विशेषत।
जुगुप्सित कुलोत्पन्ना सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥
स्त्रीन्द्रियच यथा पद्म बज्र पुसेन्द्रिय तथा ॥' —ज्ञानसिद्धि।

साम्प्रदायिक ढंग से काम करनेवाले व्यक्ति बौद्ध तथा जैन धर्मों के कतिपय अनुयायी थे जिन्होंने लगभग इसी समय अपने-अपने क्षेत्रों में भी उक्त समन्वय सामंजस्य तथा सुधार का प्रचार आरंभ किया।

(२) सहजयान सम्प्रदाय

सहजयान

पूर्वोक्त सभी वज्रयानियों की स्थिति एक ही प्रकार की नहीं थी और न सभी को हम समान रूप से व्यभिचार के गर्त में पड़ा हुआ कह सकते हैं। इनके सफल साधक सिद्ध कहलाते थे जिनमें ८४ अधिक प्रसिद्ध थे। इन लोगों में से बहुत-से ऐसे भी थे जिन्हें उक्त साधना के वास्तविक रहस्य का परिचय प्राप्त था और वे उसे निर्लिप्त भाव के साथ किया करते थे। उक्त साधना के सच्चे स्वरूप का नाम वे 'सहज' बतलाते थे और उसके द्वारा 'सहज सिद्धि' अथवा सभी प्रकार की सिद्धियों को सरलतापूर्वक प्राप्त कर लेना संभव समझते थे। उनका कहना था कि 'हमारी साधना ऐसी होनी चाहिए जिससे हमारा चित्त क्षुब्ध न हो सके क्योंकि चित्तरत्न के क्षुब्ध हो जाने पर सिद्धि का होना किसी प्रकार भी संभव नहीं।'[1] तदनुसार सहज-सिद्धि की एक विशेषता यह थी कि इसके साधक वज्रयान तथा मंत्रयान-संबंधी मंत्र तथा मंडल आदि बाह्य साधनाओं की उपेक्षा कर बोध और मानसिक शक्तियों के विकास की ही ओर अधिक ध्यान देते थे। उनके मूल पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार करते हुए भी उनकी भिन्न-भिन्न व्याख्या करते थे। उदाहरण के लिए, 'वज्र' शब्द से अभिप्राय अब उस 'प्रज्ञा' का माना जाने लगा जो बोधिचित्त का सार स्वरूप है और जो हिन्दू तंत्र की 'शक्ति' का बोधक कहा जा सकता है। सहजयानियों की योग-साधना के लिए किसी योग्य गुरु की सहायता भी अनिवार्य थी। यह गुरु अपने शिष्य की आंतरिक वृत्तियों की पहले परीक्षा कर लेता और तदनंतर उसे किसी तदनुकूल साधना-विशेष में नियुक्त करता। उस साधना के ही अनुसार शिष्य एक विशेष 'कुल' या वर्ग का सदस्य समझा जाता था। ये कुल पाँच प्रकार के थे जिन्हें डोंबी, नटी, रजकी, चांडाली तथा ब्राह्मणी कहा जाता था और जिनका नामकरण बौद्धों के पंचस्कंधों या मूल तत्त्वों के स्वभावानुसार किया गया था। गुरु पहले इस बात की जाँच कर लेता कि किस व्यक्ति में कौन-सा तत्त्व अधिक

---

१ 'तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु नैव सिद्धिः कदाचन॥' —प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धिः, श्लोक ४ पृ १४।

किया। भिन्न-भिन्न प्रचलित मतो के प्रधान आचार्यों से शास्त्रार्थ किये, अनेक स्थलो पर अपने प्रवचनो द्वारा सर्वसाधारण को प्रभावित करने की चेष्टा की। देश की चारो दिशाओ मे अपने चार मठ भी स्थापित किये। इनका प्रधान उद्देश्य वैदिक आर्य-धर्म का पुनरुद्धार था, किंतु अपना दृष्टिकोण मूलत दार्शनिक होने के कारण इन्होने अपनी शक्ति का प्रयोग उक्त मत के अधिकतर सिद्धात-निरूपण तथा प्रतिपादन मे ही किया। इसके लिए इन्होने स्वभावत खडन-मडन की तर्क-प्रणाली का अनुसरण किया जिसका अधिक प्रभाव केवल शिक्षित वर्ग पर ही पड सका। इस श्रेणी के लोगो के लिए इन्होने 'भगवद्गीता', 'वेदात सूत्रो' तथा कुछ 'उपनिषदो' पर अपने भाष्यो की भी रचना की जिनमे इनके पाडित्य का पूर्ण परिचय मिलता है। फिर भी सर्वसाधारण हिन्दुओ के लिए इन्होने अपना एक स्मार्त्त सम्प्रदाय भी सगठित किया। इसके द्वारा सभी अन्य हिन्दू सम्प्रदायो के भी व्यक्ति प्रभावित हो सकते थे और जिसके सिद्धातो को न्यूनाधिक स्वीकार करते हुए वे अपने को एक वृहत् आर्य-धर्म का अनुयायी भी मान सकते थे। इन्होने मठो और मदिरो की स्थापना तथा सन्यासियो के सगठन द्वारा भी उक्त प्रचार को बडी सहायता पहुँचायी।

सम्प्रदाय का रूप

स्वामी शकराचार्य ने जिस मत का उपदेश दिया, उसके सिद्धात पक्ष मे ब्रह्म का स्वरूप बौद्धो के शून्यवत् प्रतीत होता था। इनके द्वारा किया गया सन्यासियो का सगठन भी बौद्ध धर्म के भिक्षुओ के आदर्श पर निर्मित जान पडता था। इनकी चित्त-शुद्धि भी प्राय वही थी जो बौद्धो को अभिप्रेत थी। परन्तु इनके स्मार्त्त सम्प्रदाय के लिए पचदेव अर्थात् शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य तथा गणेश की एक समान आराधना आवश्यक थी। स्मृत्तियो द्वारा विहित जप, तप, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, सस्कार, उत्सव, प्रायश्चितादि का करना भी प्रत्येक मनुष्य के लिए परम कर्तव्य समझा गया था। इसी प्रकार इनके मत का मूल आधार वेदो तथा उपनिषदो की वह व्याख्या थी, जो इन्होने स्वय अपने तर्क तथा बुद्धि के अनुसार की थी। उस व्याख्या मे इन्होने बौद्ध तथा जैन-जैसे धर्मों के सिद्धातो की आलोचना के साथ-साथ उन शाक्त, सौर, वैष्णव-जैसे हिन्दू-सम्प्रदायो के मतो को भी अमान्य ठहराया, जो अपने को वेद-सम्मत माना करते थे। इनके अपने कथन की प्रामाणिकता वैदिक शब्दो तथा वाक्यो के सूक्ष्म और पाडित्यपूर्ण विवेचन पर आश्रित थी। उसमे स्वानुभूतिपूर्ण स्वतत्र विचार को उतना स्थान न था। इस कारण वेदादि को आधार मान कर न चलनेवालो के लिए उसकी मान्यता आवश्यक न थी और वह इस दृष्टि से एकागी तथा अपूर्ण भी समझी जा सकती थी। केवल धर्म-ग्रथो पर ही आश्रित न रह कर निजी

और उसे अंतिम ध्येय नहीं माना। इनका कहना था कि 'कमल (स्त्रीन्द्रिय) तथा कुलिश (पुंसेन्द्रिय) के संयोग द्वारा जो साधना की जाती है वह तो निरा 'सुरत विलास' है और उसे संसार में कौन प्रयोग में नहीं लाता और कौन उससे अपनी वासना की तृप्ति नहीं कर लेता।[1]" "हमें उसके द्वारा वास्तव में निर्मल परम महासुख के आनंद का अंशमात्र क्षणानंद के रूप में प्राप्त होता है, वास्तविक रहस्य तो सभी लक्ष्य तथा लक्षणा से रहित है।[2] इन्होंने योगिनी के मार्ग अर्थात् उक्त वज्रयानी साधना के शुद्ध रूप को 'विसरिस' (विसदृश) अर्थात् अनोखा वा अपूर्व बतलाया है। कहा है कि जो उसे भली भाँति समझता हुआ अपना समय व्यतीत करता है वही तीनों भुवनों की रचना करनेवाले चित्त की शुद्धि उपलब्ध कर पाता है जो योगिनी का सहजसंवर वा स्वाभाविक सिद्धि है।[3]" योगिनी-मार्ग जिसे वज्रयान के साधकों ने अवधूती मार्ग चांडाली मार्ग और डोंबी मार्ग (अथवा बंगाली मार्ग) नामों से भी अभिहित किया है, वस्तुतः एक राग-मार्ग है। वह वैराग्य-मार्ग से नितांत विपरीत है और जिसे अपनाने पर ही सच्चे मोक्ष की संभावना हो सकती है। सरहपा ने इसीलिए कहा है कि "यदि साधक ध्यानहीन और प्रव्रज्या से रहित भी होकर अपने घर पर भार्या के साथ निवास करता हुआ तथा भली भाँति विषय भोग में लीन रहते समय अपने बंधन का परित्याग नहीं कर सका तो उसका मोक्ष होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[4]"

चित्त-शुद्धि

अतएव उक्त प्रकार के विविध राग-मार्ग निवृत्ति मार्ग के विपरीत प्रवृत्ति मार्ग के द्योतक हैं और उनका अभिप्राय भी वहीं तक समझना चाहिए। उन्हें अंतिम

---

१ 'कमल कुलिस बेविमज्झठिअजोसो सुरअ विलास।
को तरमई णहतिहुअणेहि कस्सणपूरइ आस॥ ९४॥ वही कलकत्ता १९३८ई
पृ ११।

२ 'कलिस सरोरुह जोएं जोइअ णिम्मल परम महासुह जोइअ।
खणें आणंद भेअ तहि जाणहु लक्ख लक्खण हीण परिआणहु॥
—सरहपाद का दोहाकोश पृ ४९।

३ 'इअ विसरिसविसहिअसहिमणइ तिहुअणजासु णिमाण।
सो चित्तसिद्धि जोइणितहुअ सम्बरजाण॥ ८७॥ दोहाकोश पृ १४।

४ 'झाणहीण पव्वज्जें रहिअउ। घरहिवसंत भज्जें सहिअउ।
जइभिडि विसअ रमंत ण मुच्चइ। सरहभणइ परिआणकि मुच्चइ॥ १९॥
—वही पृ० १८।

प्रभावशील है और उसी के आधार पर वह उसकी साधना निश्चित करता। फिर भी वज्रयान तथा सहजयान दोनो का लक्ष्य एक ही अर्थात् 'महासुख' वा पूर्ण आनद था और समरस की दशा का ही अन्य नाम 'सहज' था, जिस कारण सहजयान नाम पडा था।[१]

सरहपा

ऐसे ही सहजयानियो मे सरहपाद वा सरहपा की गणना की जाती है, जो सभवत स्वामी शकराचार्य के कुछ पूर्ववर्त्ती थे। इन्होने कई रचनाएँ सस्कृत मे तथा अन्य अपभ्र श वा प्राचीन हिंदी भाषा मे की है जिनसे इनकी साधना के स्वरूप का कुछ पता चलता है। इन्होने अपने समय की प्रचलित प्राय सभी साधनाओ की आलोचना की है। इनका कहना है कि "ब्राह्मणो को रहस्य का ज्ञान नही। वे व्यर्थ ही वेदपाठ किया करते है। मिट्टी, जल तथा कुश लेकर मत्र पढा करते हैं और घर के भीतर बैठ होम के कडुए धुँए से अपनी आँखो को कष्ट दिया करते है। ये परमहस बन कर भगवा वेश मे उपदेश देते फिरते हैं और उचित-अनुचित का भेद न समझते हुए भी ज्ञानी होने का ढोग रचा करते है। शैव लोग आर्यो के रूप मे शरीर पर भस्म लपेटते हैं। सिर पर जटा बाँधते हैं और दीपक जला कर घटा बजाया करते हैं। बहुत-से जैन लोग बडे-बडे नख रखा कर मलिन वेश मे नगे रहा करते हैं और शरीर के बाल उखाडा करते हैं। क्षपणक लोग, इसी प्रकार 'पुच्छ' के बाल ग्रहण किये फिरते हैं और उञ्छ वृत्ति से रह कर जीवन व्यतीत करते हैं। श्रमण तथा भिक्खु लोग प्रव्रजित की वदना करते हैं, 'सूत्रो' की व्याख्या किया करते हैं और केवल चिंता द्वारा चित्त-शोषण का प्रयास करते है। कितने लोग महायानी बन कर तर्क-वितर्क मे प्रवृत्त होते हैं। मडल-चक्र की भावना करते हैं और चतुर्थ तत्त्व के उपदेश देते हैं तथा अन्य लोग अपने को 'शून्य' मे मिला देने की आशा मे असिद्ध बातो के पीछे पडे रहते हैं।[२]"

उनकी आलोचना

सरहपा ने इस प्रकार प्रचलित हिन्दू, शैव, जैन तथा बौद्ध साधना-पद्धतियो के प्रति कटु शब्दो के प्रयोग किये और उनकी जगह सहज-साधना का प्रचार किया, जो कई बातो मे वज्रयानी सिद्धातो के अनुकूल होती हुई भी उनकी तत्कालीन धारणाओ से नितात भिन्न भावो को व्यक्त करती थी। सरहपा ने वज्रयानियो की कमल तथा कुलिशवाली प्रचलित साधना को 'सुरत विलास का साधन' मात्र ठहराया

---

१. डॉ० रमेशचद्र मजुमदार हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग १, पृ० ४२०-१।

२ सरहपाद का दोहाकोश, पटना, १९५७ ई०, दो० १०, पृ० ४-५।

पाकर दौड़ता है और मुक्त होकर स्थिर हो जाता है।"[1]

सिद्ध अद्वयवज्र ने भी कहा है कि "वज्रयानाचार्यों के अनुसार जब चित्त में अनन्तानेक संकल्पों का अंधकार भरा रहता है और जब वह आँधी के समान उन्मत्त बिजली के समान चंचल तथा रागादि मलों द्वारा अवलिप्त रहता है तब उसी को 'संसार' का नाम दिया जाता है। परन्तु वही जब प्रकाशमय होने के कारण सारी कल्पनाओं से रहित होता है जब उसमें रागादि के मल नहीं पाये जाते"[2] और "जब उसके विषय में ज्ञाता ज्ञेय तथा ज्ञान का प्रश्न भी नहीं उठता तब उसी श्रेष्ठ वस्तु को 'निर्वाण' की संज्ञा दी जाती है। चित्त ही सब कुछ है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं।

साधना

अतएव "इस सर्व रूप का खसम (ख = आकाश सम = समान) अर्थात् शून्य बना देना चाहिए और मन को शून्य स्वभाव का रूप दे देना चाहिए। इससे वह वस्तुतः अ-मन अर्थात् अपना चंचल स्वभाव छोड़ कर मन के विपरीत स्वभाव का' हो जाय और तब सहज रूप का अनुभव होने लगता है।[3]

सिद्ध तैलपा ने भी इसीलिए कहा है कि "चित्त जिस समय खसम (शून्य) का रूप धारण कर समरस अर्थात् संतुलित अवस्था में प्रवेश कर जाता है उस समय किसी भी इन्द्रिय के विषयों का अनुभव नहीं होता। यह समरस आदि तथा अंत दोनों से रहित होता है और आचार्य लोग इसे ही 'अद्वय' भी कहा करते हैं[4]। मन

चित्ते बज्झे बज्झइ मुक्के मुक्कइ णत्थिसंदेहा।
बज्झन्ति जेणविजडा लहु परिमुच्चंति तेणवि बुहा ॥४२॥
—दो को पृ २४

१ 'बद्धो धावइ दह दिहिं मुक्को णिच्चल ठाइ। वही पृ० २४

२ अनल्प संकल्प तमोभिभूतम् प्रभंजनोन्मत्त तडिच्चलञ्च।
रागादि दुर्वार मलावलिप्तम् चित्तंहि संसारमुवाच वज्री॥
प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं प्रहीण रागादि मलप्रलेपं।
तथा ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्त्वं तदेव निर्वाण वरं जगाद॥

३ 'सअलवि तहि खसम करिज्जइ खसम सहावे मणवि धरिज्जइ।
सो विमणु तहि अमणु करिज्जइ सहज सहावे सोपर रज्जइ ॥ ७० ॥
—दो को पृ १२

४ 'चित्त खसम जहि समसुह पइट्ठइ' इन्दीअ विसअ तहि म त्त दीसइ ॥५॥
आइ रहिअ एहु अंत रहिअ वरगुरु णाह अद्वअ कहिअ ॥ ६॥
—तैलोपा का दोहा कोश पृ ३।

कोटि की साधना मान बैठना अथवा उनके मुख्य उद्देश्य को न जानते हुए उनका दुरुपयोग करने लगना उचित नही कहा जा सकता । सहजयान बतलाता है कि सभी साधनाओ का अतिम लक्ष्य चित्त की शुद्धि है। इसके द्वारा हमे सहजावस्था की उपलब्धि होती है और 'सहज' ही हमारे परमार्थ का आदर्श रूप है। "सहज का त्याग करके जो निर्वाण प्राप्त करने का स्वप्न देखता है, उसकी कोई भी परमार्थ की साधना सफल नही हो सकती [1]", क्योकि वही निज स्वभाव का प्रतीक है और उससे बढ कर ऊँचा और कोई भी ध्येय नही। इस सहज को ही बौद्ध सिद्धो की शब्दावली के अनुसार 'बोहि' (बोधि), 'जिणरअण' (जिनरत्न), 'महासुह' (महासुख), 'अणुत्तर' (अनुत्तर), 'जिनउर' (जिनपुर) अथवा 'धाम' जैसे नामों द्वारा भी अभिहित किया गया है। इसी को प्राप्त कर लेना परम पुरुषार्थ समझा जाता है। 'निर्वाण' शब्द भी वास्तव मे निषेधार्थक नही है और न 'शून्य' शब्द ही निषेधवाची है। इन दोनो का तात्पर्य एक ही वस्तुस्थिति के पारमार्थिक रूप से है, जो न तो सत् है न असत् है। परन्तु जो सत् तथा असत् के परे की वस्तु के रूप मे सभी के लिए परम लक्ष्य है। "इस सहज को जान लेने पर अन्य किसी का भी जानना शेष नही रह जाता और अन्य जो कुछ भी जानने योग्य है, वह सभी कुछ इसी के अतर्गत आ जाता है।[2]"

उसका रहस्य

तो फिर सहजोपलब्धि के लिए की जानेवाली चित्त-शुद्धि का रहस्य क्या है ? सरहपा का कहना है कि, एक चित्त ही सबका बीज रूप है और भव अथवा निर्वाण भी उसी से उत्पन्न होते हैं। उसी चितामणि स्वरूप चित्त को प्रणाम करो अर्थात् उसी का आश्रय लो, वही तुम्हें अभीष्ट फल की प्राप्ति करा देगा। बद्ध-चित्त द्वारा बधन मिलता है और मुक्त-चित्त द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, इसमे कोई भी सदेह नही। जिस चित्त से जड जीव बधन-ग्रस्त होते हैं, उसी की सहायता से पडित लोग शीघ्र मुक्त हो जाते हैं।[3] वह चित्त स्वभावत शुद्ध है," "किंतु बधन

---

१. 'सहजछड्डिजे णिव्वाण भाविउ, णउ परमत्थ एक्क तेसाहिउ ॥' १३॥
—दो० को०, पृ० १७।

२. 'तसुपरिआणे अण्ण ण कोई, अवरें गण्णे सव्वविसोइ ॥१६॥
—दो० को०, पृ० १७।

३. 'चित्तेक्कसअलबीअ भवणिव्वाणोवि जस्सविफुरंति ।
तचितामणिरूअ पणमह इच्छा फलदेंति ॥४१ ॥

महासुख कमल के मकरंद का पान योगी तथा साधक लोग शरीर के भीतर ही कर लेते हैं और उसका आनंद 'सुरतवीर' के आनंद के समान होता है। वे अन्यत्र कहते हैं कि 'यदि पवन के निर्गमन-द्वार पर दृढ़ ताला लग जाय और तज्जनित घोर अंधकार में शुद्ध वा निश्चल मन का दीपक जला दिया जाय और यदि वह जिन रत्न की ओर उच्च गगन से स्पर्श कर जाय तो संसार का उपभोग करते समय भी हमें निर्वाण की सिद्धि प्राप्त हो जाय।[1] वायु-निरोध होने पर मन आप-से-आप निश्चल हो जाता है और मन के निश्चल हो जाने पर वायु-निरोध भी सिद्ध है अर्थात् इन दोनों का पारस्परिक कार्य-कारण संबंध है।

सिद्ध-रहस्य

पवन तथा मन को जहाँ एक साथ निश्चल वा निस्तब्ध किया जाता है, उस स्थान की कल्पना सिद्धों ने 'उद्यमेरु' अथवा मेरुदंड वा सुषुम्ना के सिरे के रूप में की है और काण्हपा ने कहा है कि "वह पर्वत के समान सम-विषम है और उसकी कंदरा में सारा जगत् विनष्ट होकर शून्य में लीन हो जाता है।[2]" उसी उच्च पर्वत के शिखर को सिद्धों ने महामुद्रा वा मूल शक्ति नैरात्मा का निवास-स्थान भी बतलाया है।[3] सिद्ध शबरपा का कहना है कि उक्त 'ऊँचे शिखर पर अनेक बड़े-बड़े वृक्ष पुष्पित हैं और उनकी शाखाएँ गगन का चुंबन करती हुई प्रतीत होती हैं। वहाँ पर अकेली शबरी (नैरात्मा) वन का एकांत विहार करती है, वहीं त्रिधातु की बनी सुंदर सेज भी बिछी हुई है और साधक योगी वहाँ पहुँच कर उक्त बालिका के साथ प्रेमपूर्वक विलास किया करता है।[3]

सिद्ध काण्हपा ने उस डोंबी (नैरात्मा) को 'चौसठ पँखुड़ी वाले कमल पुष्प के ऊपर चढ़ कर सदा नृत्य करती रहने वाली' भी कहा है और उसके साथ अपना विवाह-संबंध स्थापित करने का रूपक बाँधा है।[4]" सिद्ध डोंबीपा ने उसके विषय में बतलाया है कि वह मातंगी (डोंबिन वा नैरात्मा) गंगा-यमुना अर्थात्

---

१ 'जइ पवण गमण दुवारे दिढ़ तालावि दिज्जइ।
जइ तसु घोरान्धारे मण दिवहो किज्जइ।
जिणरअणउअरे जइ सो वर अम्बर छुप्पइ।
भणइ काण्ह भव भुंजन्ते निव्वाणोवि सिज्झइ॥ २२॥

२ काण्हपा का दोहाकोष दोहा २९, पृ० ४४।

३ वही दोहा १४-१५, पृ० ४२।

४ चर्यागीत भा० १ डॉ० बागची संपादित चर्या २८, पृ० १११।

५ वही चर्या १० तथा १९, पृ० ११६ और १२६।

को इसप्रकार अ-मन करनेवाली क्रिया को ही सिद्धो ने मन का नि स्वभावीकरण वा मन का मार डालना कहा है। इसके अभ्यास को स्पष्ट करने के लिए सिद्ध शातिपा ने रुई धुनने का रूपक भी दिया है। वे कहते हैं कि, "रुई को धुनते-धुनते उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अश निकालते चलो, फिर देखोगे कि उसे अश-अश विश्लेषण करते-करते अत मे कुछ भी शेप नही रह जाता, अपितु अनुभव होने लगता है कि रुई को धुनते-धुनते उसे शून्य तक पहुँचा दिया[1]"। 'वोधि-चर्यावतार' मे इसी क्रिया को हिरण के शिकार के भी रूपक-द्वारा वतलाया है, जैसे, "इस चमडे के ऊपरी अश को अपनी वुद्धि की सहायता से पृथक् कर दो और तव अपनी प्रज्ञा-द्वारा अस्थि-पजर को मास से भी निकाल दो। फिर हड्डियो को भी दूर कर अपने विवेक के वल से सोचोगे, तो स्वय समझ लोगे कि अत मे कुछ भी तत्त्व शेप नही रह जाता। सव कुछ वास्तव मे निस्सार मात्र है।[2] मन का आकार-प्रकार पूर्ण करनेवाले सकल्प, विकल्प आदि को दूर कर देने पर भी इसी प्रकार शून्य मात्र रह जाता है और वही अवस्था हमारे लिए परमपद की स्थिति है।

यौगिक प्रक्रिया

इस प्रकार उक्त दृष्टि से विचार करने पर वज्रयान की उपर्युक्त महामुद्रा साधना का तात्पर्य कुछ और ही हो जाता है।

सिद्ध काण्हपा ने शरीर के भीतर सहज वा महासुख के उत्पत्ति स्थान की कल्पना इडा तथा पिंगला नाम की दो प्रसिद्ध नाडियो के सयोग के निकट मे ही की है और उसे पवन के नियमन द्वारा भी प्राप्त करना आवश्यक वतलाया है।[3] उनके अनुसार वाँयी नासिका की 'ललना' नामक (प्रज्ञा स्वरूप) चद्रनाडी तथा दाहिनी नासिका की 'रसना' नामक (उपाय स्वरूप) सूर्य नाडी उस महासुख कमल के दो खड हैं। उसका पौधा गगन के जल मे, जहाँ अमिताभ वा परम आनदमय प्रकाश पक-रूप मे वर्तमान है, उत्पन्न होता है। उसका मुख्य नाल अवधूती अथवा मूल-शक्ति होती है और उसका रूपहकार अथवा अनाहत ज्ञान का होता है। इस

---

१. 'तुला धुणि धुणि आँसुरेआँसु, आँसु धुणि धुणि निरवरसेसु।
. . तुला धुणि धुणि सुणे अहारिउ।'

२. 'इम चर्मपुट तावत् स्वबुद्ध्यैव पृथक् कुरु।
अस्थिपजरतोमास प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय॥
अस्थीन्यपिपृथक् कृत्वा पश्य ज्ञानमनन्तत।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय॥'

३. काण्हपा का दोहा कोष, दो० ४-५-६, पृ० ४१।

महासुख कमल के मकरंद का पान योगी तथा साधक लोग शरीर के भीतर ही कर लेते हैं और उनका आनंद 'सुरतवीर' के आनंद के समान होता है। वे अन्यत्र कहते हैं कि 'यदि पवन के निर्गमन-द्वार पर दृढ़ ताला लग जाय और तज्जनित घोर अंधकार में शुद्ध वा निश्चल मन का दीपक जला दिया जाय और यदि वह जिन रत्न की ओर उच्च गगन से स्पर्श कर जाय तो संसार का उपभोग करते समय भी हमें निर्वाण की सिद्धि प्राप्त हो जाय।'[1] वायु-निरोध होने पर मन आप-से-आप निश्चल हो जाता है और मन के निश्चल हो जाने पर वायु-निरोध भी सिद्ध है अर्थात् इन दोनों का पारस्परिक कार्य-कारण संबंध है।

शिखर-रहस्य

पवन तथा मन को जहाँ एक साथ निश्चल वा निस्तब्ध किया जाता है, उस स्थान की कल्पना सिद्धों ने 'उदयमेरु' अथवा मेरुदंड वा सुषुम्ना के सिरे के रूप में की है और काण्हपा ने कहा है कि 'वह पर्वत के समान सम-विषम है और उसकी कंदरा में सारा जगत् विनष्ट होकर शून्य में लीन हो जाता है।[2]' उसी उच्च पर्वत के शिखर को सिद्धों ने महामुद्रा वा मूल शक्ति नैरात्मा का निवास-स्थान भी बतलाया है।[3] सिद्ध शबरपा का कहना है कि उक्त "ऊँचे शिखर पर अनेक बड़े-बड़े वृक्ष पुष्पित हैं और उनकी शाखाएँ गगन का चुंबन करती हुई प्रतीत होती हैं। वहाँ पर अकेली शबरी (नैरात्मा) वन का एकांत विहार करती है, वहीं त्रिधातु की बनी सुन्दर सेज भी बिछी हुई है और साधक योगी वहाँ पहुँच कर उक्त दारिका के साथ प्रेमपूर्वक विलास किया करता है।[4]

सिद्ध काण्हपा ने उस डोंबी (नैरात्मा) को 'चौसठ पँखुड़ी वाले कमल पुष्प के ऊपर चढ़ कर सदा नृत्य करती रहने वाली' भी कहा है और उसके साथ अपना विवाह-संबंध स्थापित करने का रूपक बाँधा है।[5] सिद्ध डोंबीपा ने उसके विषय में बतलाया है कि 'वह मातंगी (डोंबिन वा नैरात्मा) गंगा-यमुना अर्थात्

---

१ 'जइ पवण गमण दुआरे दिढ़ ताला वि दिज्जइ।
जइ तसु घोरान्धारे मण दिवहो किज्जइ।
जिणरअण उअरे जइ सो वर अम्बर छुप्पइ।
भणइ काण्ह भव भुंजन्ते णिव्वाणो वि सिज्झइ॥ २९॥

२ काण्हपा का दोहाकोश दोहा २९ पृ० ४४।

३ वही, दोहा १४-१५, पृ० ४२।

४ चर्यागीत भा० १ डॉ० बागची संपादित चर्या २८, पृ० १३३।

५ वही, चर्या १० तथा १९ पृ० ११६ और १२९।

इडा तथा पिंगला के मध्य नाव खेकर बिना कोई कौडी वसूल किये बडे सुभीते के साथ हमे पार करा कर जिनपुर पहुँचा देती है।[1]"

इसी प्रकार सिद्ध बिरूपा ने कहा है कि "वह अकेली शुडिनी (कलाली) इधर इडा और पिंगला नाडियो को सुषुम्ना नाडी मे लाकर एकत्र करती है और उधर बोधि-चित्त को ले जाकर प्रभास्वर शून्य मे भी ला जोडती है। उसके निकट चौसठ यत्रो मे भरा मद (महासुख) सँभाल कर रखा हुआ रहता है और वहाँ एक बार भी पहुँच कर मदपी फिर लौटने का नाम तक नही लेता।[2]" अतएव उक्त शबरडोबी, मातगी अथवा शुडिनी की प्रतीक महामुद्रा का महत्त्व स्वय सिद्ध है।

युगनद्ध

सहजयानियो की साधना के अतर्गत प्रज्ञा तथा उपाय को युगनद्ध मे परिणत कर बोधिचित्त को उसकी सवृत अवस्था से विवृत दशा मे ले जाना भी आवश्यक समझा जाता था और उसकी विवृत दशा ही पारमार्थिक सत्य की स्थिति समझी जाती थी। इसके लिए सहजयानी साधक बोधिचित्त को पहले निर्माण-चक्र (वा मणिपूर चक्र मे हठयोग के द्वारा उपलब्ध करता था और वहाँ से उसे फिर क्रमश धर्म-चक्र वा अनाहत चक्र तथा सभोग चक्र वा विशुद्धि चक्र ले जाता हुआ उसे शीर्षस्थ उष्णीश[3], कमल अर्थात् सहज चक्र वज्रकाय तक पहुँचा कर पूर्णत शात एव निश्चल सहज रूप प्रदान कर देता था। क्योकि बोधिचित्त उसके अनुसार जब तक निर्माण-चक्र मे रहेगा, तब तक अतिम सुख सभव नही। स्मरण रहे कि बोधिचित्त का उक्त मार्ग इडा (बाम नाडी) वा पिंगला (दक्षिण नाडी) से न होकर, मध्य नाडी अर्थात् सुषुम्ना से जाता है जो इसी कारण मध्य मार्ग भी कहलाता है। यह मार्ग अत्यत विकट तथा बाधापूर्ण है और इसके दोनो ओर बराबर खतरा बना रहता है।

काण्हपा ने इन दोनो पार्श्वों को 'आली' तथा 'काली' ललना-रसना अथवा रवि-शशि भी कहा है और बतलाया है कि उन 'ए' तथा 'व' को तोड कर ही

---

१. चर्यापद, चर्या १४, पृ० १२१।

२. 'एकसे शुडिनि दुइ घर सान्धअ। चीअण वाकलअ बारुणी बान्धअ॥
. .
चौसठी घडीये देल पसारा। पइठेल गराहक नाहि निसारा॥'
—चर्या ३, पृ० १०९।

३. डॉ० एस० बी० दास गुप्त आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स, कलकत्ता, १९४६, पृ० १०९।

मैं सहज तक पहुँच पाया हूँ। इस योग-साधना द्वारा एक प्रकार की आभ्यंतरिक शक्ति जागृत होती है जिसे योगिनी या चाण्डाली नाम दिया जाता है जिसे डोंबी या सहजसुंदरी भी कहा गया है और जिसके कारण ही महासुख संभव हो पाता है।

सहजमार्ग

सिद्धों ने सहजयान की इस साधना का नाम 'सहजमार्ग' भी दिया है और उसका उजूबाट (ऋजुबाट) अर्थात् सरल रास्ते के रूप में वर्णन किया है। सरहपा ने कहा है कि "जब कि नाद बिंदु अथवा चंद्र और सूर्य के मंडलों का अस्तित्व नहीं और चित्तराज भी स्वभावतः मुक्त है, तब फिर सरल मार्ग का त्याग कर बंक मार्ग ग्रहण करना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है। बोधि सदैव अपने निकट वर्तमान है उसके लिए लंका (कहीं दूर) जाने की आवश्यकता नहीं। जब हाथ में कंकण है ही फिर दर्पण लेकर फिरने से क्या काम हो सकता है। सहजमार्ग ग्रहण करने वाले के लिए ऊँचा-नीचा बाँया-दाहिना सभी एक भाव हो जाते हैं। इस मार्ग की प्रक्रिया चाहे सीधे चित्त-शुद्धि के ढंग से की जाय अथवा बोधिचित्त तथा नैरात्मा के पारस्परिक मिलन या समरस के रूप में हो दोनों ही दशाओं में वह स्वयं वेदन अथवा एक प्रकार की स्वानुभूति ही कही जा सकती है। इसका यथातथ्य वर्णन इसी कारण संभव नहीं है। परन्तु इतना निश्चय है कि यह बीच का मार्ग या मध्य मार्ग है जिसमें किसी प्रकार की गंभीर बाधाओं को स्थान नहीं है।[1]"

सिद्ध शान्तिपा ने इसीलिए कहा है कि "इस मार्ग में वाम तथा दक्षिण नामक दोनों पार्श्वों का त्याग कर आँखों देखी हुई राह से या आँख मूँद कर सीधे चलना है। क्योंकि इस प्रकार अग्रसर होने में तृण-कंटकादि या ऊबड़-खाबड़ स्थलों की अड़चनें किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकतीं।[2]" ऐसा सहजमार्ग अंत में एक विशुद्ध सात्विक जीवन का मार्ग बन सकता है और उसके द्वारा इस प्रकार विश्वकल्याण तक की आशा की जा सकती है।

---

१ 'नाद न बिन्दु न रविशशि मंडल। चिअ राअ सहावे मूकल॥
उजुरे उजु छाडि मा लेहु रे बंक। निअडि बोहि मा जाहु रे लंक॥
हाथेर कांकण मा लेउ दापण। अपणे अपा बुझतु निअमण॥
बाम दाहिण जो खाल बिखला। सरह भणइ बापा उजु बाट भइला॥
—चर्या ३२, पृ० ११८।

२ 'बाम दाहिण दो बाटा च्छाडी, शान्ति बुलथेउ संकेलिउ॥
घाट न गुमा खड़तड़ि न होइ, आखि बुजिअ बाट जाइउ॥
—चर्या १५, पृ० १२२।

इडा तथा पिंगला के मध्य नाव खेकर विना कोई कौडी वसूल किये वडे सुभीते के साथ हमे पार करा कर जिनपुर पहुँचा देती है।[१]"

इसी प्रकार सिद्ध विरूपा ने कहा है कि "वह अकेली शुडिनी (कलाली) इधर इडा और पिंगला नाडियो को सुषुम्ना नाडी मे लाकर एकत्र करती है और उधर वोधि-चित्त को ले जाकर प्रभास्वर शून्य मे भी ला जोडती है। उसके निकट चौसठ यत्रो मे भरा मद (महासुख) सँभाल कर रखा हुआ रहता है और वहाँ एक वार भी पहुँच कर मदपी फिर लौटने का नाम तक नही लेता।[२]" अतएव उक्त शवरडोवी, मातगी अथवा शुडिनी की प्रतीक महामुद्रा का महत्त्व स्वय सिद्ध है।

युगनद्ध

सहजयानियो की साधना के अतर्गत प्रज्ञा तथा उपाय को युगनद्ध मे परिणत कर वोधिचित्त को उसकी सवृत अवस्था मे विवृत दशा मे ले जाना भी आवश्यक समझा जाता था और उसकी विवृत दशा ही पारमार्थिक सत्य की स्थिति समझी जाती थी। इसके लिए सहजयानी साधक वोधिचित्त को पहले निर्माण-चक्र (वा मणिपूर चक्र में हठयोग के द्वारा उपलब्ध करता था और वहाँ से उसे फिर क्रमश धर्म-चक्र वा अनाहत चक्र तथा सभोग चक्र वा विशुद्धि चक्र ले जाता हुआ उसे शीर्षस्थ उष्णीश[३], कमल अर्थात् सहज चक्र वज्रकाय तक पहुँचा कर पूर्णत शात एव निश्चल सहज रूप प्रदान कर देता था। क्योकि वोधिचित्त उसके अनुसार जव तक निर्माण-चक्र मे रहेगा, तव तक अतिम सुख सभव नही। स्मरण रहे कि वोधिचित्त का उक्त मार्ग इडा (वाम नाडी) वा पिंगला (दक्षिण नाडी) से न होकर, मध्य नाडी अर्थात् सुषुम्ना से जाता है जो इसी कारण मध्य मार्ग भी कहलाता है। यह मार्ग अत्यत विकट तथा वाधापूर्ण है और इसके दोनो ओर बराबर खतरा वना रहता है।

काण्हपा ने इन दोनो पार्श्वों को 'आली' तथा 'काली' ललना-रसना अथवा रवि-शशि भी कहा है और वतलाया है कि उन 'ए' तथा 'व' को तोड कर ही

---

१. चर्यापद, चर्या १४, पृ० १२१।

२. 'एकसे शुडिनि दुइ घर सान्धअ। चीअण बाकलअ वारुणी बान्धअ॥

. . .

चौसठी घडीये देल पसारा। पइठेल गराहक नाहि निसारा॥'

—चर्या ३, पृ० १०९।

३. डॉ० एस० बी० दास गुप्त आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स, कलकत्ता, १९४६, पृ० १०९।

का एक समुदाय मात्र बन गया। परन्तु बौद्ध धर्म को भारत से निर्वासित कर उसे श्रीहत करने के लिए तब तक अन्य अनेक भिन्न-भिन्न शक्तियाँ भी काम करती आ रही थीं। इन्हें बातों चल कर पूरी सफलता मिल गई और उसका कार्य भी आंदोलन समवत: १४वीं शताब्दी के अनंतर न रह सका। उसके विविध अवशेष विष्णो तक ने विलय होकर नवीन हिन्दू-रूप धारण कर लिए और १७वीं-या १८वीं शताब्दी तक उसके शुद्ध रूप का यहाँ एक प्रकार से लुप्तप्राय हो गया।

(३) जैन मुनियों का सुधारक सम्प्रदाय

महावीर तथा उनका उपदेश

जैन-धर्मावलम्बी अपने धर्म को बहुत प्राचीन बतलाते हैं और कम से कम ऋषभदेव नामक एक पौराणिक महापुरुष को उसका प्रथम प्रवर्तक मानते हैं। ऋषभदेव के अनंतर इस धर्म के २३ अन्य प्रचारक भी हुए जिन्हें वे तीर्थंकर कहते हैं। इनमें से अंतिम अर्थात् महावीर (ई० ५२१-४६६ वि० पू०) के समय से इसका शृंखलाबद्ध इतिहास मिलता है और पता चलता है कि इसकी मुख्य साधना का प्रारंभ तथा विकास क्रमश: किस प्रकार होता गया। महावीर स्वामी का पूर्व नाम वर्धमान था और उन्होंने अपनी आयु के ३ वें वर्ष में अपनी नवजात कन्या प्रियदर्शना के आविर्भाव के अनंतर अपने भाई को कौटुंबिक भार देकर सन्यास ग्रहण किया था। उन्होंने १२ वर्षों तक घोर तपस्या की और ७२ वर्ष की अवस्था में उनका देहांत हो गया। उनके अहिंसात्मक उपदेशों के प्रचार से वैदिक कर्मकांड का पर्याप्त विरोध हुआ और एक संयमशील कठोर जीवन का आदर्श अधिक लोकप्रिय होने लगा। इस धर्म के सिद्धांतों के अनुसार जीव का मूल स्वभाव शुद्ध बुद्ध एवं सच्चिदानन्दमय है, किन्तु केवल पुद्गल या कर्म के आवरण से वह आच्छादित हो जाता है। अतएव जीव का प्रधान लक्ष्य अपने उक्त पौद्गलिक भार को पूर्णत: हटा कर अपने को उच्चातिउच्च स्थिति तक पहुँचा देना है। जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही फल भी मिला करता है, इसलिए मनसा वाचा तथा कर्मणा किसी प्राणी को दुःख न देना, संयमशील जीवन व्यतीत करना, सदाचार का पालन करना, बिना अधिकार किसी अन्य की वस्तु को ग्रहण न करना, किसी प्रकार का दान न लेना तथा मन को विषय-वासना से मोड़ने के लिए व्रत-उपवास करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म होना चाहिए। आवरण का पूर्णत: क्षय होने के लिए सम्यग् दर्शन सम्यग् ज्ञान तथा सम्यग् चरित्र की आवश्यकता होती है जिनमें से प्रथम से अभिप्राय जिनोक्त तत्त्वों में पूरी रुचि का होना, द्वितीय के अनुसार संपूर्ण वस्तु स्थिति का यथार्थ ज्ञान होना तथा तृतीय के द्वारा निन्दनीय भोगों का सर्वथा

साराश

बौद्धो की साधना अपने मूल प्रवर्त्तक के समय सदाचरण की साधना के रूप मे आरभ हुई थी। किंतु उसमे समयानुसार भक्ति, ज्ञान तथा तत्रोपचार की पद्धतियो का क्रमश प्रवेश होता गया। अत मे उसने बज्रयानियो के हाथ मे विकृत तथा वीभत्स रूप तक धारण कर लिया। फिर भी विक्रम की ८वी शताब्दी के लगभग उसे कतिपय सहजयानियो ने अनेक प्रचलित बातो का समन्वय तथा सामजस्य कर उसका पुनरुद्धार करना चाहा। इस प्रकार की चेष्टा विक्रम की १२वी शताब्दी के प्राय आरभ काल तक किसी न किसी रूप मे निरतर होती चली आई। पता चलता है कि उस समय तक महायान के अतर्गत एक अन्य उप-यान भी 'कालचक्रयान' के नाम से प्रचलित हो चुका था जिसने 'जो कुछ ब्रह्माड मे है वह सभी पिंड मे भी है' के आधार पर काया को विशेष महत्त्व प्रदान कर उसकी शुद्धि तथा प्राणशुद्धि को चित्त से भी अधिक आवश्यक ठहराया।[1] इसके अनुयायियो के अनुसार 'काल' शब्द का अक्षर 'का' उस कारण का प्रतीक है जो सर्व कारण-रहित तत्त्व मे अतर्निहित रहता है। अतएव बज्रयोग द्वारा कारण की भावना तक को दबा देना आवश्यक है और 'ल' अक्षर का अभिप्राय उस लय है से जो नित्य ससृति मे सदा के लिए सबके अतर्मुक्त हो जाने की ओर सकेत करता है। इसी प्रकार 'चक्र' शब्द का 'च' भी चल-चित्त का द्योतक है और 'क्र' उसके क्रम वा विकास का पूर्ण विरोध करने की ओर प्रवृत्त करता है।[2] इन चारो अक्षरो के आधार पर ही उन्होने बज्रयोग साधना को चार प्रकार से विभक्त किया था और वे उसका उपदेश देते थे। इस उप-यान ने योग-साधना के सबध मे मुहूर्त्त, तिथि, नक्षत्र-मडल आदि काल-सबधी बातो को भी अधिक महत्त्व दे रखा था जिसके कारण इस पर ज्योतिष का भी प्रभाव पडने लगा। फिर क्रमश निम्न श्रेणी के लोगो के सम्मिलित होते जाने के कारण, अत मे यह इस काल को Demon (राक्षस) समझनेवालो

---

१. टिप्पणी पिंड वा देह को सहजयानियो ने भी पूर्ण महत्त्व दिया था और सरहपा ने उसके भीतर गगा, यमुना जैसी पवित्र नदियो तथा गगासागर, प्रयाग, काशी आदि तीर्थ-स्थानों, पीठो और उपपीठो का भी अस्तित्व बतला कर उसे सबसे सुखदायक माना था एव उसी के भीतर उसका होना भी सिद्ध किया था। देखिये सरहपाद का दोहा कोष दोहा, ४७-४८।

२. 'काकारात् कारणे शान्ते लकाराल्लयोत्रवै।
चकाराच्चलचित्तस्य ककारात् क्रम वन्धनै॥'
नाडपाद की सेकोद्देश टीका, पृ० ८।

था। अतएव उन्होंने उस समय की लोकभाषा को ही अपनी उक्तियों का माध्यम बनाया तथा सबकी समझ में आने योग्य कथन-शैली का प्रयोग भी किया। देवसेन (लगभग सं ९९) जैसे जैन साधुओं ने अपने सहधर्मियों को सदाचार के उपदेश देकर उसके विविध वर्गों के महत्त्व तथा उपयोगिता पर भी पूर्ण प्रकाश डाला था। इस प्रकार वे एक बार फिर अपने धर्म का प्रचार पूर्ववत् करने की ओर अग्रसर हुए थे किन्तु समय के अनुसार केवल उतनी ही बातें अपेक्षित नहीं थीं। हिन्दू बौद्ध धर्मों के अनुयायी अपने समक्ष वर्तमान स्थिति की परीक्षा तथा उसके संशोधन की ओर भी प्रवृत्त हो चुके थे। सभी किसी न किसी प्रकार के सामञ्जस्य के आधार पर बिगड़ती हुई दशा को सँभाल लेना चाहते थे। फिर भी उनका अभिप्राय यह नहीं था कि हम दूसरे धर्मों द्वारा स्वीकृत मुख्य-मुख्य सिद्धांतों को भी अपना लें और इस प्रकार एक नवीन मत का प्रचार करें तथा उसे सर्वमान्य ठहरावें। वे लोग अन्य धर्मों की बुराइयों की ओर ही विशेष ध्यान देते रहे और उनके खंडन तथा समीक्षा द्वारा अपने-अपने मतों के मुख्य सिद्धांतों को सुधारकों की भाँति प्रतिपादित करते रहे।

मुनिराम सिंह

जैन साधु मुनिराम सिंह (लगभग विक्रम की ११वीं शताब्दी) एक ऐसे ही सुधारक थे जिन्होंने प्रचलित पाखंडादि का घोर खंडन किया। सिद्धांतों की व्याख्या मात्र करते फिरनेवाले तर्कपटु पंडितों के विषय में उन्होंने कहा है कि 'ऐसे लोग बुद्धिमान कहलाते हुए भी मानो अन्न के कणों से रहित भूसा का संग्रह किया करते हैं'[1] और 'कण का त्याग कर उसकी भूसी मात्र कूटा करते हैं'[2]। 'बहुत पढ़ने-लिखने से क्या काम है। पंडितों को चाहिए कि वे ज्ञान के उस एक अग्नि कण को ही अपना लें जो प्रज्वलित होने पर पुण्य या पाप दोनों को क्षण-मात्र में ही जला देता है'[3]। षड्दर्शनों के झमेलों में पड़ कर मन की भ्रांति नहीं मिट सकती। एक देव के ६ भेद कर दिए, किन्तु उससे मोक्ष के निकट नहीं पहुँच सके'[4] जैसे इसी प्रकार सिर मुड़ाये हुए संन्यासियों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा है कि 'हे मुंडी! तूने सिर तो मुड़ाया पर चित्त को नहीं मूड़ सके। जिसने अपने चित्त का

---

१ पाहुड़ दोहा (कारंजा जैन सिरीज ३) दोहा ८४ पृ० २७।
२ वही दोहा ८५, पृ २७। ३ वही, दोहा ८७, पृ २७।
४ 'छह दसण धंधइ पडिय मणहुण फिट्टिय भंति।
एक्कु देउ छह भेउ किउ तेणय मोक्खहं जंति ॥ ११६
—पाहुड़ दोहा पृ० ३५।

त्याग और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह वा सतोष नामक पाँच महाव्रतो का पालन समझा जाता है।

श्वेतावर तथा दिगवर

जैनियो ने सृष्टि को अनादि माना है और कर्मफल के किसी प्रदाता मे भी उन्हे विश्वास नही, अतएव उनका धर्म निरीश्वरवाद का प्रचार करता है। फिर भी अपने तीर्थंकरो को वे देवतुल्य अलौकिक व्यक्ति मानते है, जिस कारण समय पाकर उनके यहाँ उनकी मूर्तियो के पूजनार्चन की प्रथा चल पडी। पौराणिक युग मे उनके भव्य एव सुदर मदिरो का निर्माण होने लगा और उनकी भक्ति तत्रोपचारो के प्रभाव मे भी आ गई तथा कई अन्य आराध्य देवो तथा देवियो तक के प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित किया जाने लगा। प्रसिद्ध है कि ऐसी मूर्तियो के शृगारादि के सबध मे ही मतभेद होने के कारण सर्वप्रथम इस धर्म के अनुयायी 'श्वेतावर' तथा 'दिगवर' नामक दो दलो मे विभक्त हो गए। इनमे से श्वेतावर सम्प्रदायवाले जैन धर्म के प्राचीन ग्रथ 'अगो' के प्रति विशेष श्रद्धा रखते हैं, किंतु दिगवर सम्प्रदाय के अनुयायी अपने २४ पुराणो मे कथित धर्म को ही अधिक महत्त्व देते हैं। इसके अतिरिक्त श्वेतावर सम्प्रदाय के लोग तीर्थंकरो की मूर्तियो को कच्छ वा लँगोट पहना कर पूजते हैं, किंतु दिगवरो के यहाँ वे प्राय नगी ही रखी जाती हैं। दिगवर स्त्री का मोक्ष होना नही मानते, किंतु श्वेतावर मानते हैं। दिगबर साधु नग्न रहा करते हैं और श्वेतावर वाले श्वेत वस्त्र पहनते हैं। फिर भी इस धर्म की विशेषता मानव-जीवन के अतर्गत आत्मसयम, सदाचार तथा अहिंसा के नियमो को महत्त्वपूर्ण स्थान देना है। किंतु, पौराणिक युग के प्रभाव मे आकर इसके अनुयायी भी पुराणो की रचना, तीर्थों की स्थापना, कठोर व्रतो के अनुष्ठान, तीर्थंकरो की भक्ति तथा विविध तर्क-वितर्कों के फेर मे पड गए। उनका प्राचीन मुख्य ध्येय पूर्ववत् स्थिर न रह सका और विक्रम की ९वी-१०वी शताब्दियो तक आकर उनकी साधना के अतर्गत विविध बाह्याचारो का समावेश हो गया। समकालीन हिन्दू तथा बौद्ध पद्धतियो से वे बहुत कुछ प्रभावित हो गए और इन धर्मों के साधारण अनुयायियो मे बहुत कम अतर दीख पडने लगा।

सुधार की प्रवृत्ति

ऐसे ही समय जैन-धर्मावलबियो मे कुछ व्यक्ति अपने समय के पाखड तथा दुर्नीति की आलोचना करने की ओर प्रवृत्त हुए और उन्होने अपनी रचनाओ तथा सदुपदेशो द्वारा सच्चे आदर्शों को सच्चे हृदय के साथ अपनाने की शिक्षा देना आरभ किया। उनका प्रधान उद्देश्य धार्मिक समाज मे क्रमश घुस पडी अनेक बुराइयो की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट कर उन्हे दूर करने के लिए उद्यत करना

अतिरिक्त अन्य बातों को 'परग्रयउ भाउ' या पराये भाव का नाम दिया है। उनका बार-बार यही कहना है कि 'सुद्ध स्वभाव का ध्यान करो।'[1] इन मुनि जनों के अनुसार वही परमात्मा है।

जोगी इन्दु ने इसीलिए कहा भी है कि "जिसके भीतर सारा संसार है और जो संसार के भीतर भी वर्तमान रहने पर संसार नहीं कहा जा सकता वही परमात्मा है[2]" तथा 'जो परमात्मा है वही 'अहं' है और जो 'अहं' का रूप है वही परमात्मा भी है और योगी को बिना तर्क-वितर्क के केवल इतना ही जान लेने की आवश्यकता है।[3] निर्मल आत्मस्वभाव ही वास्तव में अंतिम लक्ष्य है। निर्मल एवं शुद्ध स्वरूप ज्ञानमय आत्मा जिसके हृदय मे अनुभूत हो गया वह त्रिभुवन में स्वतंत्र विचरण करता है और उसे किसी प्रकार के पापादि का भय नहीं। उसे न तो किसी प्रकार के विधि-निषेध की आवश्यकता रहती है और न उसे किसी प्रकार की उपासना ही करनी पड़ती है। ऐसे मुनिराम सिंह ने कहा है[4]।

अतएव इन लोगों की साधना का अंतिम स्वरूप यही जान पड़ता है कि "विषय सुखों का पूरा उपभोग करते हुए भी उनकी धारणा नहीं बननी चाहिए और इसी प्रकार शाश्वत सुख का लाभ शीघ्र से शीघ्र उठाया जा सकता है।[5]" इन मुनियों ने इसी प्रकार अपने मूल सदाचार-प्रधान धर्म का ही उपदेश दिया है।

उपसंहार

बौद्ध सिद्धों तथा जैन मुनियों के साधना-परक सिद्धांत इस प्रकार अपने-अपने मूल धर्मों के पुनरुद्धार की दृष्टि से ही निश्चित किये गए थे और वे क्रमशः सद्व्यवहार तथा सदाचार के पोषक थे। पहले का अंतिम ध्येय यदि चित्त-शुद्धि द्वारा सहजावस्था की उपलब्धि कर अपने को विश्व-कल्याण के भावों में मग्न कर देना था तो दूसरे का उसी प्रकार ज्ञान द्वारा शुद्ध स्वभाव की पूर्ण अनुभूति प्राप्त कर उसके आधार पर अपने को परमात्मा की कोटि तक पहुँचा देना था। दोनों

---

१ पाहुड़ दोहा दोहा १७ पृ १९।

२ परमात्म प्रकाश रामचन्द्र जैनशास्त्रमाला, बंबई पद्य ४१ पृ ४५

३ योगसार, पद्य २२ पृ ३७५।

४ पाहुड़ दोहा पृ १९।

अप्पु मिलियउ परमेसर हो परमेसरु विमणस्स।
विण्णिवि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउ कस्स ॥४९॥

५ वही दोहा ४ पृ १।

मुडन कर डाला, उसने ससार का ही खडन कर दिया।[१] स्वय जैन साधु भी एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ तक स्नान करते फिरते थे तथा पुराणादि का पाठ करना पुण्यप्रद कार्य समझते थे। मुनिराम सिंह ने उन्हे भी समझाते हुए कहा है कि "देवालयो मे पाषाण है, तीर्थों मे जल और सब पोथियो मे काव्य भरा है। जो कुछ भी फूली-फली वस्तु दीखती है, वह सब ईंधन हो जायगी। एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ तक भ्रमण करने वालो को कुछ भी फल नही होता। वे बाहर से शुद्ध हो गए, पर आभ्यतरिक दशा जैसी की तैसी ही रह गई।[२]" जब, "न मत्र, न तत्र, न ध्येय, न धारण, न उच्छ्वास को कारण किया जाता है, तभी मुनि परम सुख से सोता है। यह गडबड किसी को भी नही रुचता। मुनिराम सिंह को ये सारी बातें विडबना-मात्र ही जान पडती हैं।

सिद्धात तथा साधना

उनका फिर कहना है कि "विषय कषाय मे जाते हुए मन को जिसने रोक कर निरजन मे लगा रखा, उसी ने मोक्ष के कारण का अनुभव किया, क्योकि मोक्ष का स्वरूप इतना ही मात्र है[३]"। उनके पूर्ववर्त्ती जोगी इन्दु ने भी कहा है कि देवता देवालयो वा पाषाणो मे अथवा चित्रादि में भी नही रहा करते, ज्ञानमय निरजन तोअपने चित्त के सम एव शात होने पर आप ही आप अनुभव मे आ जाता है।[४]" इन्द्रियो को विषयादि से निवृत्त करने के सबध मे,इसी कारण मुनिराम सिंह ने भी कहा है कि दो रास्तो से एक साथ जाना नही होता और न दोमुही सुई से कभी कथा ही सिला जा सकता है। दोनो बातें एक साथ सभव नही, इन्द्रिय सुख और मोक्ष भी।[५]" उन्होने ज्ञानमयी आत्मा को ही सब कुछ माना है और उसके

---

१ 'मुडिय मुडिय मुडिया, सिरु मुडिउ चित्तुण मुडिया।
चितह मुडणु जि कियउ, ससारह खडणु ति कियउ ॥१३५॥
—पाहुड दोहा, (कारजा जैन सिरीज ३) पृ० ४१।

२ वही, दोहा १६१-२, पृ० ४९।
'मतुण ततुण धेउणु धारणु, णवि उच्छासह किज्जइ कारणु।
एमइ परम सुक्खु मुणि सुव्वइ, एहि गलगल कासुण रुच्चइ ॥२०६॥
—वही, पृ० ६३।

३ वही, दो० ६२, पृ० २१।

४ परमात्म प्रकाश, रामचन्द्र जैनशास्त्रमाला, बबई, पद्य १२३, पृ० १२४।

५. पाहुड दोहा, दोहा २१३, पृ० ६४।

में से तो कई एक ऐसे हैं जिनमें योगाभ्यास के महत्त्व के अतिरिक्त उसका सांगोपांग किया गया विवरण तक पाया जाता है[1]। गौतम बुद्ध के समय तक हमें इस प्रकार की साधनाओं के प्रेमी बहुत बड़ी संख्या में मिलने लगते हैं। पहले पहल वस्तुतः योग-मार्ग का ही अनुसरण करने की ओर वे तथा तीर्थंकर महावीर स्वामी भी प्रवृत्त होते हुए पाये जाते हैं। महावीर स्वामी की प्रवृत्ति तो व्रत एवं तपश्चर्या की ओर कदाचित् उनके अंतिम समय तक दीख पड़ती है। इसके सिवाय प्रसिद्ध है कि विख्यात यूनानी वीर सिकंदर ने सं० २६९ वि० पू० के लगभग पश्चिमोत्तर भारत के किसी योगी से भेंट की थी और वैसे ही किसी एक को वह अपने साथ भी ले गया था। इसी प्रकार महर्षि पतंजलि के समय (वि० पू० दूसरी शताब्दी के लगभग) योग-विद्या की प्रधानता पायी जाती है और इस विषय को लेकर वे प्रसिद्ध 'योग-सूत्रों' की रचना कर डालते हैं। इनमें इसकी साधना तथा दार्शनिक रहस्यों का भी विवेचन सुव्यवस्थित ढंग से किया गया दिखलायी पड़ता है तथा यों योग-दर्शन वा योग-शास्त्र का एक प्रामाणिक ग्रंथ बन जाता है।

शैव तथा योगी

'ऋग्वेद' के उल्लिखित मंत्र से कुछ और आगे[2] हमें केशी वा मुनि लोगों के जो वर्णन मिलते हैं उनसे तपस्वियों वा व्रतशील साधकों के आचरण तथा वेश भूषा के संबंध में हमें बहुत कुछ पता चलता है। उनके आधार पर अनुमान होने लगता है कि ऐसे लोग कदाचित् शिवोपासक भी रहे होंगे। उनमें और आधुनिक काल के योगियों में कोई बहुत बड़ा अंतर न रहा होगा। वे लोग उस समय लंबे-लंबे बाल तथा जटा धारण करते थे, धूनी रमाते थे, किसी विष तुल्य वस्तु को खाया करते थे। मटमैले पीले वस्त्र लपेटते थे, अपनी साधना द्वारा हवा में ऊपर उठ जाते थे तथा स्वच्छंद रहा करते थे। सिंध-प्रदेश की खुदाई से उपलब्ध कतिपय प्रमाणों से तो कुछ विद्वानों ने यहाँ तक निष्कर्ष निकाला है कि योग-विद्या तथा शैव-सम्प्रदाय का अस्तित्व वैदिक युग के पहले भी रहा होगा और इन दोनों के बीच कुछ न कुछ संबंध भी अवश्य रहा होगा। योग-शास्त्र के विद्वान् उसका प्रवर्त्तक भगवान् शिव को ही माना करते हैं। इसी कारण उन्हें एक नाम 'योगीश्वर' का भी दिया जाता है तथा शिव की अनेक मूर्तियों में उन्हें योगासन पर बैठे हुए वा समाधिस्थ के रूप में भी दिखलाया जाता है। शैवों में पाशुपत सम्प्रदाय

---

१ योगोपनिषद् (संग्रह) सं० महादेव शास्त्री सम्पादित अड्यार लाइब्रेरी मद्रास।

२ ऋग्वेद मं० १० सूक्त १३६।

की प्रगति विविध परिस्थितियो के प्रभाव के कारण वहुधा वक्र मार्गों से होती हुई गई। तदनुसार उनमे समय-समय पर भिन्न-भिन्न वातो का समावेश भी होता गया। किंतु विक्रम की ८वी मे ११वी शताब्दी तक उनके प्रमुख सुधारको ने उनके प्राचीन भावो को पुनरुज्जीवित करने के यत्न किये। यह युग ऐसी चेष्टाओ के लिए प्रसिद्ध था। वैदिक-धर्म के स्वामी शकराचार्य जैसे सुधारक भी अपने-अपने ढग से इस प्रकार के ही कार्यों मे व्यस्त रह चुके थे। परन्तु वे अपने प्राचीन धर्म-ग्रथो का प्रधान आश्रय लेकर चलते थे और ईश्वरवादी होने के कारण उनकी साधना मे भक्ति का भी अश पर्याप्त मात्रा मे रहता था। इसके विपरीत बौद्ध तथा जैन सुधारक निरीश्वरवादी थे और उन्हे किसी प्राचीन धर्म-ग्रथ का आधार भी स्वीकार नही करना था। ये ज्ञान तथा योग को महत्त्व अवश्य देते थे। इन दिनो इन तीनो का प्राय समकालीन एक चौथा आदोलन भी चल रहा था जो वहुत कुछ बौद्धो का अनुसरण करता हुआ भी ईश्वरवादी था और उसका नाम 'नाथयोगी-सम्प्रदाय' था।

(४) नाथयोगी-सम्प्रदाय

योग-साधना

योगियो की परपरा वहुत प्राचीन काल से चली आती है और योग-साधना का अस्तित्व किसी न किसी रूप मे लगभग वैदिक युग से ही मान लिया जा सकता है। उस काल के व्रात्य लोगो के विषय मे कहा गया है कि उनमे से कई एक रुद्र की उपासना करते थे तथा प्राणायाम को भी वहुत महत्त्व देते थे। उनके ध्यान की साधना वर्तमान योगाभ्यास से वहुत कुछ मिलती-जुलती थी।[1] उसमे राजयोग के प्रारभिक रूप का भी आभास मिलता है। अपने शरीर के विभिन्न अगो पर प्रभुत्व जमा कर उन पर प्राप्त विजय द्वारा प्राकृतिक शक्तियो को भी वश मे लाना उस समय समव समझा जाता था। तदनुसार हम उस काल के साधको मे से वहुतो को भिन्न-भिन्न प्रकार की तपश्चर्या मे निरत पाते हैं। तप के द्वारा उस समय एक अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होना समझा जाता था। उसकी क्रियाओ मे निहित सृजन-शक्ति तक की कल्पना हमे ऋग्वेद के एक मत्र[2] मे लक्षित होती है। उपनिषदो

---

१ जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स : गोरखनाथ ऐंड दि कनफटा योगीज, रिलिजस लाइफ ऑफ इडिया सिरीज १९३८ ई०, पृ० २१२-३।

२ 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेत सलिल सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥३॥
—ऋ० म० १०, सू० १२९।

में केवल इतना मान लेना कदाचित् सत्य से अधिक दूर नहीं कहा जा सकता कि नाथयोगी-सम्प्रदाय योगमार्गी साधकों का एक समुदाय है जिस पर बौद्ध धर्म तथा शैव-सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित होता है।

इतिहास

नाथयोगी-सम्प्रदाय के प्रारंभिक इतिहास का कुछ पता नहीं चलता। बहुतों की धारणा है कि इसके मूल प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ थे जिन्होंने सर्वप्रथम कनफटा योगियों की परंपरा चलायी थी और हठयोग की साधना को प्रचलित किया था। परन्तु विक्रम की ८वीं शताब्दी में रची गई बाण भट्ट की पुस्तक 'कादम्बरी' तथा उसके भी पहले की रचना 'मैत्रेयी उपनिषद्' में कनफटा-जैसे योगियों के उल्लेख मिलते हैं[1]। हठयोग के संबंध में भी एक जनश्रुति है कि उसका सर्वप्रथम प्रचार करनेवाले मार्कण्डेय ऋषि थे जिनका हमें पौराणिक परिचय मात्र उपलब्ध है। गुरु गोरखनाथ से समवत कहीं प्राचीन कुछ ग्रंथों में भी हठयोग की कतिपय क्रियाओं की चर्चा की गई मिलती है।[2] इसके अतिरिक्त हठयोग से अभिप्राय यदि हठपूर्वक या बलप्रयोग द्वारा की गई किसी योग-साधना से है, तो वह वस्तुतः गुरु गोरखनाथ की नहीं हो सकती। गुरु गोरखनाथ का अधिक ध्यान काया-शोधन की ओर ही था जो कतिपय साधना तथा एक संयत जीवन का भी परिणाम हो सकता है। इनकी योग-साधना की प्रणाली में भी अधिकतर उन्हीं बातों का समावेश था जो सहजयोग में पायी जाती हैं तथा जिनके कारण उसे शुद्ध हठयोग कहना वास्तविकता के नितांत विरुद्ध जाना कहा जा सकता है। गुरु गोरखनाथ द्वारा निर्दिष्ट योग-साधना के अंतर्गत बीज-रूप में प्रायः वे ही बातें प्रधानतः दीख पड़ती हैं जिनका प्रचार आगे चल कर कबीर साहब आदि संतों ने भी किया था।

गोरखनाथ तथा नाथ-परंपरा

गुरु गोरखनाथ योगी-सम्प्रदाय के सर्वप्रधान नेता थे और वास्तव में इसे संगठित रूप एवं सुव्यवस्थित रूप देने में सबसे अधिक हाथ इन्हीं का था। इसके लिए इन्होंने आसाम से लेकर पेशावर से भी आगे तक पूर्व-पश्चिम तथा कश्मीर और नेपाल से लेकर महाराष्ट्र तक उत्तर-दक्षिण की लंबी यात्राएँ कीं। कई स्थानों पर इसके केन्द्र स्थापित किये और वहाँ अपने योग्य शिष्यों को प्रचार के लिए नियुक्त किया। तदनुसार प्रसिद्ध है कि इनके मतों या प्रभावों के कारण इसकी अनेक

---

१ डॉ. मोहनसिंह : गोरखनाथ एँड मिडीवल मिस्टिसिज्म पृ. १५।

२ "द्विधा हठ स्यादेकस्तु, गोरक्षादि सुसाधितः।
अन्यो मृकंड पुत्राद्यै, साधितो हठ संज्ञक॥

के अनुयायी भस्म-स्नान के साथ-साथ योगाभ्यास को भी अत्यत आवश्यक समझते है। यह बात उनके कुछ अन्य सम्प्रदायो मे भी प्राय उसी प्रकार देखी जाती है। इसके सिवाय योग-शास्त्र के अनेक उपलब्ध ग्रथो की रचना शिव-पार्वती के सवादो के रूप मे की गई मिलती है।

शैव-प्रभाव

नाथयोगी-सम्प्रदाय के भी आदि प्रवर्त्तक 'आदिनाथ' शिव ही कहे जाते हैं। प्रसिद्ध मराठी कवि श्री ज्ञानेश्वर ने अपनी गीता की टीका मे कहा है कि "क्षीर-समुद्र के तीर पर देवी पार्वतीजी के कानो मे जिस ज्ञान का उपदेश श्री शकरजी ने किया, वह उस समय क्षीर-समुद्र मे रहनेवाले एक मत्स्य के पेट मे गुप्त रूप से वास करनेवाले मत्स्येन्द्र नाथ को प्राप्त हुआ। इन्ही के सचार मे सप्तशृग पर्वत पर हाथ-पैर टूटे हुए चौरगी नाथ, मत्स्येन्द्र नाथ के दर्शनो से चगे हो गए। विषयोपभोग की जहाँ गध भी नही पहुँच सकती, ऐसी अविचल समाधि लगाने की योग-विद्या मत्स्येन्द्र नाथ ने गुरु गोरखनाथ को दी। इस प्रकार गुरु गोरखनाथ, योग कमलिनी सर तथा विषय-विध्वसक एक वीर वन कर योगीश्वर पद पर अभिषिक्त हुए।[1]" उन्होने इसी प्रकार आगे चल कर गोरखनाथ का शिष्य गैनी नाथ को, गैनी नाथ का शिष्य अपने भाई निवृत्ति नाथ को तथा निवृत्ति नाथ का शिष्य अपने को वतलाया। ज्ञानेश्वर के अनतर उनके वारकरी सम्प्रदाय की परपरा चलती है। परन्तु नाथयोगी-सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक आदिनाथ को कुछ लोग प्रसिद्ध जालधर नाथ मानते हैं और उसी के अनुसार सिद्धो की गुरु-परपरा भी ठहराते हुए दीख पडते हैं।[2] उधर महाराष्ट्र मे प्रचलित परपरा के आधार पर जालधर नाथ मत्स्येन्द्र नाथ के गुरु-भाई सिद्ध होते हैं। क्योकि उनके विषय मे कहा गया है कि "महादेव और पार्वती विमान पर बैठे क्षीर-सागर की ओर विहार कर रहे थे। नीचे एक वालक को तैरते हुए देखा। पार्वती ने उसे उठा कर विमान मे बैठा लिया और शकर ने उस पर अनुग्रह किया। यही महेशानुगृहीत सिद्ध पुरुष आगे जालधर नाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए।[3]" वास्तव मे सिद्धो तथा नाथो की परपराओ का विवेचन ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर अभी तक नही हो पाया, जिस कारण इस विषय मे कोई अतिम निर्णय नही दिया जा सकता। इस सवध

---

१ श्री ज्ञानेश्वरी, अध्याय ८, ओवी १७५०-४।

२ गगा (पुरातत्वाक) सं० १९८९, पृ० २२०।

३. ल० रा० पागारकर श्री ज्ञानेश्वर चरित्र (हिन्दी अनुवाद) —गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० ६७।

रहस्यमयी कथाएँ भी प्रचलित हैं जिनमें उनके चरित्रों के विवरण अलौकिक शक्ति तथा चमत्कारों के प्रदर्शन-मात्र से जान पड़ते हैं। इस सम्प्रदाय के कई नाथों की रचनाएँ भी उपलब्ध हैं जो भिन्न-भिन्न संग्रहों के अंतर्गत अभी तक अप्रकाशित रूप में पड़ी हुई हैं। केवल गुरु गोरखनाथ तथा कतिपय अन्य ऐसे सिद्धों की कुछ बानियों का प्रकाशन अब तक हुआ है[1] और चर्पटीनाथ के कतिपय 'सलोक' और 'सपाया' तथा गोपीचंद वा भैरागनाथ की एक 'माषा' भी अन्यत्र प्रकाशित रूप में देखने को मिली है।[2] गोरखनाथ मत्स्येन्द्र नाथ जैसे नाथों की कुछ संस्कृत रचनाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

गोरखनाथ का समय

गुरु गोरखनाथ के आविर्भाव का समय भिन्न-भिन्न विद्वानों के अनुसार ईसा की ७वीं शताब्दी से लेकर उसकी १२वीं शताब्दी तक अनुमान किया गया है। इसी काल में बौद्ध धर्म का ह्रास तथा शैव-सम्प्रदाय का पुनरुद्धार भारतवर्ष में हुआ था और ऐसा ही समय उनके विविध कार्यों के लिए उपयुक्त भी हो सकता था। फिर भी इतना लंबा समय उनके जीवन-काल के लिए कभी संभव नहीं कहा जा सकता। उनके पूर्व वर्तमान रहनेवाले सरहपा आदि कतिपय सिद्धों का जीवन-काल ईसा की ८वीं ९वीं शताब्दियों तक जाता हुआ प्रतीत होता है और ११वीं १२वीं शताब्दी का समय गुरु गोरखनाथ के भिन्न-भिन्न शिष्यों तथा अनुयायियों का आविर्भाव-काल समझा जाता है। अतएव इनके जीवन-काल के लिए ईसा की १०वीं शताब्दी अथवा अधिक से अधिक ११वीं के प्रारंभिक भाग में अर्थात् विक्रम की ११वीं शताब्दी में ही कोई समय निश्चित करना उचित कहा जा सकता है।[3]

जीवन-वृत्त

गुरु गोरखनाथ के जन्म-स्थान के विषय में भी बड़ा मतभेद है और भिन्न-भिन्न परंपरानुसार इन्हें पश्चिम की ओर पेशावर अथवा जालंधर से लेकर पूर्व की

---

१ गोरखबानी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग सं० १९९९ तथा 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ' काशी नागरी प्रचारिणी सभा सं० २०१४।

२ डॉ० मोहन सिंह : गोरखनाथ ऐंड मिडीवल हिन्दू मिस्टिसिज्म पृ० २०-११।

३ हाँ यदि इनके समकालीन मत्स्येन्द्रनाथ की, 'मच्छन्द विभु' (तंत्रालोक, भा० १ पृ० २५) के रूप में, स्तुति करनेवाले अभिनव गुप्त (११वीं शताब्दी) का भी विचार किया जाय, तो ये इससे कुछ पहले के भी समझे जा सकते हैं।

भिन्न-भिन्न शाखाएँ चल निकली, जिनमे से कम से कम १२ आज भी अधिक प्रसिद्ध है। इन प्रधान १२ शाखाओ मे से (१) 'सत्यनाथ-पथ' का मुख्य स्थान उडीसा प्रदेश का पाताल भुवनेश्वर है और इसके प्रवर्त्तक सत्यनाथ माने जाते है, (२) 'धर्मनाथ-पथ' धर्मनाथ का चलाया हुआ कहा जाता है और इसका प्रधान केन्द्र कच्छ प्रदेश का विनोधर स्थान माना जाता है, (३) 'कपिलानी-पथ' का मुख्य स्थान गगासागर के निकट दमदम वा गोरखवशी है, (४) 'रामनाथ-पथ' के प्रवर्त्तक सतोषनाथ माने जाते है और इसका मुख्य स्थान गोरखपुर समझा जाता है तथा इसका सबध दिल्ली से भी बतलाया जाता है, (५) 'लक्ष्मणनाथ-पथ वा 'नाटेश्वर' का मुख्य स्थान झेलम जिले के अतर्गत गोरक्षटिला नामक स्थान है और इसके मूल प्रवर्त्तक कोई लक्ष्मणनाथ माने जाते हैं, (६) 'वैराग-पथ' के प्रथम प्रचारक भर्त्तृहरि समझे जाते हैं और इसका केन्द्र राताडुगा स्थान है, जो पुष्कर क्षेत्र से ६ मील पश्चिम की ओर स्थित है, (७) 'मीननाथी-पथ' सभवत 'पाव-नाथ-पथ' भी कहा जाता है और इसका मुख्य स्थान जोधपुर का महामदिर है, (८) 'आई पथ' की मुख्य प्रचारिका विमला देवी मानी जाती हैं तथा इसका केन्द्र दिनाजपुर जिले का गोरक्षकुंई स्थान है। इस पथ का सबध घोडाचोली से भी समझा जाता है, (९) 'गगानाथ-पथ' के प्रवर्त्तक गगानाथ माने जाते हैं और इसका प्रधान केन्द्र गुरुदासपुर जिले का जयवार स्थान है, (१०) 'ध्वजनाथ-पथ' का प्रधान केन्द्र सभवत अबाला मे वर्तमान है और इसके मुख्य प्रवर्त्तक ध्वजाधारी हनुमान बतलाये जाते हैं, (११) 'पागल-पथ' के प्रवर्त्तक चौरगीनाथ माने जाते हैं और इसका मुख्य केन्द्र बोहर स्थान है, जो इन्द्रप्रस्थ—प्राचीन दिल्ली—से ३५ मील पश्चिम की ओर वर्तमान है, (१२) 'रावल' वा 'नागनाथ-पथ' मे अधिकतर मुसलमान योगी ही पाये जाते हैं और इसका प्रधान केन्द्र रावलपिंडी है। इनके सिवाय दरियानाथ, कथडनाथ आदि के नामो से भी कई शाखाएँ प्रचलित हैं।

मुख्य नाथ-पथी

उपर्युक्त १२ शाखाओ के अतिरिक्त नव-नाथो की भी चर्चा की जाती है, जो ८४ सिद्धो की भाँति अधिक प्रसिद्ध हैं तथा प्रतिष्ठा के अधिकारी माने जा सकते हैं। किंतु भिन्न-भिन्न तालिकाओ मे इनके वही नाम नही दीख पडते और न यही जान पडता है कि उक्त नाम चुने जाने का आधार कौन-सी बात हो सकती है। 'नाथो की परपरा' मे अनेक नाम ऐसे मिलते हैं जो प्रसिद्ध नाथ-पथियो के हैं, किंतु जो किसी कारणवश विशेषणो की भाँति प्रयुक्त हुए है। ऐसे नामो मे उदाहरण-स्वरूप चौरगीनाथ, विचारनाथ, वैरागनाथ आदि हैं जो क्रमश पूरन भगत, भर्त्तृहरि, गोपीचद आदि के लिए प्रयुक्त होते हैं। ऐसे नाथो के सबध मे अनेक

ही सब कुछ समझता है किंतु योग दर्शन को केवल विचार या आत्म-चिंतन पर ही आश्रित रहना पर्याप्त नहीं जान पड़ता। उसका यह भी कहना है कि जब तक शरीर तथा उसकी इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं लायी जातीं प्राणों के नियमन पर पूर्णाधिकार नहीं प्राप्त होता तथा अपनी चित्त-वृत्तियाँ निरुद्ध नहीं हो जातीं तब तक वह निर्मल वा निरवयव *आत्मतत्त्व हमारे अंतःकरण में स्पष्टतः प्रतिबिंबित* नहीं हो सकता। ज्ञानियों की धारणा है कि इन्द्रिय वा मन की चंचलता के मूल में अज्ञान-जनित वासना रहा करती है जिसे हम श्रवण मनन वा निदिध्यासन द्वारा दूर कर सकते हैं। परन्तु योगियों के अनुसार इस बात को बिना पूर्ण समाधि की स्थिति प्राप्त किये असंभव नहीं तो अत्यंत दुष्कर अवश्य मानना पड़ेगा। योग-साधना का मुख्य ध्येय किसी प्रकार चित्तवृत्तियों की बहिर्मुखता वा बहुमुखता को अंतर्मुखता वा एकमुखता में परिणत करना है जिसके द्वारा साधक के सभी भाव ज्ञान तथा कर्म एक आत्मतत्त्व की ओर ही केन्द्रीभूत हो जायँ तथा उसके जीवन में साम्य वा शांति आ जाय और वह पूर्ण आत्मनिष्ठ भी हो जाय। इस प्रकार 'योग की प्रत्येक क्रिया प्रत्यक्ष प्रमाणों पर आश्रित है, किंतु ज्ञानी-गण वस्तुतः शास्त्रीय वाक्यों के विनिश्चय में ही आस्था रखा करते हैं।"[1]

हठयोग

गुरु गोरखनाथ का कहना है कि 'शरीर के नवों द्वारों को बंद करके वायु के आने-जाने का मार्ग यदि रुद्ध कर दिया जाय तो उसका व्यापार ६४ संधियों में होने लगेगा। इससे *निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक एक ऐसे सिद्ध में* परिणत हो जायगा जिसकी छाया नहीं पड़ती।'[2] इसके सिवाय 'साधना के द्वारा ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाने पर अनाहत नाद सुनायी पड़ता है जो समस्त सार तत्त्वों का भी सार है और गंभीर से गंभीर है। इससे ब्रह्मानुभूति की स्थिति उपलब्ध होती है जिसे स्वसंवेद्य होने के कारण कोई शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। तभी प्रतीत होने लगता है कि उसके अतिरिक्त सारा वाद-विवाद झूठा है।"[3]

---

१ प्रत्यक्षहेतवो योगाः, सांख्याः शास्त्र विनिश्चयाः। महाभारत।

२ 'अवधू नव घाटी रोकिलै बाट बाई वणिजै चौसठि हाट।
काया पलटै अविचल बिंब छाया विवरजित निपजै सिंध ॥५॥
—गोरखबानी (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग) पृ १९।

३ 'सारमसारं गहर गंभीरं गगन उछलिया नादं।
मानिक पाया फेरि लुकाया झूठा वाद विवादं ॥ १२ ॥
—गोरखबानी पृ ५।

ओर बगाल के बाकरगज जिले तथा दक्षिण की ओर गोदावरी नदी के निकटवर्त्ती चद्रगिरि नगर तक मे उत्पन्न हुआ समझा जाता है। फिर भी, इस समय उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर केवल इतना ही मान लेना अधिक समीचीन जान पडता है कि इनका जन्म सभवत पश्चिमी भारत वा पजाब प्रात के ही किसी स्थान मे हुआ था। इनका कार्य-क्षेत्र नैपाल, उत्तरी भारत, असम, महाराष्ट्र और सिंध तक फैला हुआ था। उक्त सामग्रियो के ही आधार पर इनके विषय मे यह भी अनुमान किया जाता है कि इनका जीवन पूर्ण ब्रह्मचर्यमय था। इनका शरीर सुदर, सुगठित तथा बाल रूप रहा और ये अपनी युवावस्था से ही वैराग्य की भावना से प्रभावित थे। इन्होने दूर-दूर तक देशाटन करके सत्सग तथा साधना की थी और अपने सम्प्रदाय के मतव्यानुसार आध्यात्मिक साधना का प्रचार करते हुए गुरु-भक्ति, अनुशासन, सेवा-भाव एव सरल, सात्विक तथा सयमशील जीवन के उपदेश दिये थे। फलत इनके उपदिष्ट मत का प्रभाव भारत के बाहर अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सीलोन तथा पेनाग तक क्रमश फैलता गया और इनके अनुयायियो मे विभिन्न जाति तथा धर्म के अनेक व्यक्ति सम्मिलित होते रहे और समय पाकर इनके नाम पौराणिक गाथाओ मे प्राचीन अवतारो वा महापुरुषो की भाँति स्थान पाने लगे। फिर तो इनके विषय मे यहाँ तक कहा जाने लगा कि ये अमर हैं तथा सतयुग मे पेशावर, त्रेतायुग मे गोरखपुर, द्वापर मे हुरमुज तथा कलियुग मे गोरख-मडी मे इन्होने अवतार धारण किया था।[1]

वेदात तथा योगशास्त्र

नाथयोगी-सम्प्रदाय के सगठन का कोई प्रारभिक इतिहास उपलब्ध न होने से पता नही चलता कि उक्त नाथो की शाखाओ मे किसी प्रकार का सिद्धातगत वा साधना-सबधी मतभेद भी था वा नही, अथवा कौन-सी शाखा किस काल वा परिस्थिति मे स्थापित की गई थी। गुरु गोरखनाथ के प्रभावो द्वारा उनका स्थापित किया जाना भी सभवत अनुमान पर ही आश्रित है। गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धात वेदात-परक जान पडते हैं। इनकी योग-सबधी रचनाओ के अतर्गत भी अद्वैत सिद्धात का ही प्रतिपादन लक्षित होता है। परन्तु मोक्ष-प्राप्ति के साधन-भेद द्वारा वेदात निर्दिष्ट साधना तथा नाथ-पथ की साधना मे महान् अतर है। वेदात का ज्ञान-मार्ग तत्त्व विचार को सर्वोच्च स्थान देता है तथा नित्या-नित्य विवेक, वैराग्य तथा ब्रह्म-स्वरूप मे समाहित होने की एकातिक चेष्टा को

---

१ जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स - गोरखनाथ ऐंड दि कनफटा योगीज (रिलिजस लाइफ ऑफ इडिया सिरीज), पृ० २२८।

कर लेनेवाले को पूर्ण ज्ञान हो जाता है।[1]" इसी प्रकार इन्होंने अजपा जाप द्वारा चंचल मन को स्थिर कर ब्रह्मरंध्र महारस वा योगामृत उपलब्ध करने की विधि को भी सुनारी का रूपक दिया है और बतलाया है कि इस प्रकार अपनी श्वास-क्रिया की धौंकनी के सहारे ही रस जमा कर उक्त कार्य संपन्न किया जा सकता है।[2]

आत्म-चिंतन

मनोमारण की ओर बौद्ध सिद्धों ने भी पूरा ध्यान दिया था और भुसुकुपा ने तो उक्त रूपक द्वारा प्रायः उन्हीं शब्दों में उसका वर्णन भी किया है।[3] किंतु गुरु गोरखनाथ की साधना की विशेषता उनके उक्त अजपा जाप तथा उसके साथ ब्रह्मज्ञान को भी महत्त्व देने में है। ये अन्यत्र कहते हैं कि "इस प्रकार मन लगा कर जाप जपो कि 'सोऽहं-सोऽहं' का उपयोग वाणी के बिना भी होने लगे। दृढ़ आसन पर बैठ कर ध्यान करो और रात-दिन ब्रह्मज्ञान का चिंतन किया करो।[4] यह ब्रह्मज्ञान आत्म-विचार है जिसे उक्त साधना के साथ निरंतर चलना चाहिए। आत्मा को ये सर्वत्र व्यापक समझते हैं और उसके अतिरिक्त इन्हें अन्य कोई भी वस्तु लक्षित नहीं होती जिसकी ओर इनका ध्यान आकृष्ट हो सके। इनके अनुसार आत्मा ही मछली है, वही जाल है, वही धीवर है और वही काल भी है। वह स्वयं मारता और स्वयं खाता है। वही माया के रूप में अनेक बंधन डालता है और वही जीव बन कर उसमें पड़ भी जाता है। उसके बाहर कोई तीर्थ नहीं जहाँ स्नान किया जाय और न कोई देवता है, जिसका पूजन किया जाय। वह अलक्ष्य वा अभेद है, किंतु जो कुछ भी है, वही है।[5] इनके सारे उपदेशों का सारांश यही जान पड़ता है कि "दसम् द्वार अथवा ब्रह्मरंध्र में सदा ध्यान केन्द्रित रखो निराकार पद का संयम करो अजपा जाप जपो और आत्मतत्त्व पर विचार करो। इससे सभी प्रकार की व्याधियाँ दूर हो जायँगी तथा पुण्य वा पाप किसी से संसर्ग नहीं रह जायगा। निरंतर एक समान तथा सच्चे हृदय के साथ 'राम' में रमना ही केवल एक मात्र उद्देश्य है और इसी के द्वारा मुझे भी

---

१ गोरख-बानी, पृ ११८-१९, पद २६।
२ वही पृ ११९-२०, पद ६।
३ चर्या, पृ ५१ (डॉ सुकुमार सेन-संपादित 'ओल्ड बंगाली टेक्स्ट्स' कलकत्ता १९४८)।
४ गोरख-बानी पद १० पृ १२४।
५ वही, पद ४१ पृ ११५-११६।

अतएव वे बतलाते हैं कि "यदि तुम्हे मेरे वचनो मे पूरी आस्था हो जाय और तुम उसके अनुसार कुछ कर देखो, तो पता चलेगा कि बिना खभ के आधार पर स्थित आकाश में तेल तथा वत्ती के विना ज्ञान का प्रकाश हो गया और तुम सदा उसके उजाले मे विचरण कर रहे हो।[1]" इसी कारण ये प्राणायाम की साधना को पूरा महत्त्व देते है और बतलाते हैं कि उनमनी जोग इस प्रकार श्वासोच्छ्वास के इस 'भक्षण' द्वारा ही सिद्ध होता है। इसलिए पडितो को चाहिए कि कोरे अध्ययन मे ही लीन न रह कर उक्त सारी बातो को अपनी करणी द्वारा प्रत्यक्ष भी कर लें। इसी प्रकार ये यह भी कहते हैं कि उक्त उक्तियो द्वारा शब्द को प्राप्त कर लेने पर परमात्मा आत्मा में वैसे ही दीखने लगता है, जैसे जल मे चद्रमा प्रतिविंवित होता है और शरीर की शुद्धि होकर अमरत्व भी मिल जाता है। इन्होने काया-शोधन, मनोमारण, सयत जीवन-यापन आदि पर विशेष रूप से जोर दिया है और कहा है कि इन साधनाओ की ओर ध्यान देना परमावश्यक है।

मनोमारण

गुरु गोरखनाथ ने अपने एक पद में मृगया के रूपक द्वारा मनोमारण-क्रिया को बडे सुदर ढग से समझाया है। ये कहते हैं कि "इस साढे तीन हाथ के पर्वत वा शरीर मे माया-रूपी बेल भले प्रकार से फूली-फली हुई है, इसमें (मुक्ति रूपी) मुक्ताफल भी लगते हैं और इसी के विस्तार में सारी सृष्टि का भी अस्तित्व है। फिर भी इस बेल की कोई जड नही है (अर्थात् माया निर्मूल वा मिथ्या है) और वह ऊपर तक फैल कर गोस्थान वा ब्रह्मानुभूति के स्थल पर आवरण डाले हुए है। इस बेल का लोभी मृग (अर्थात् मन) इसमे सदा विचरण किया करता है और उसे मारने के लिए ऐसा भील (अर्थात् आत्मा) प्रवृत्त होता है। उसके न तो हाथ हैं, न पैर हैं और न दाँत हैं तथा जिसके पास मृगो को मोहित करने के लिए कोई सुरीले सुर के बाजे वा मारने के लिए हाथ में तीर-धनुष भी नही है। ऐसी स्थिति में रहता हुआ भी वह शिकारी अचूक निशाना मार देता है और विना किसी वाह्य साधन के यह उसे वेध कर अपने हाथ कर लेता है। अपने स्थान पर लाये गए उक्त मृग को जब शिकारी देखने लगता है, तब पता चलता है कि वास्तव में उसके चरण, सींग अथवा पुच्छ आदि कुछ भी नही है। गुरु गोरखनाथ का कहना है कि यही मृतक मृग वह अवधूत वा योगी है जिसके रहस्य को हृदयगम

---

१ 'थभ विहूणी गगन रचीलै तेल विहूणी बाती।
गुरु गोरख के वचन पतिआया तब द्यौस नहीं तहां राती॥'२०४॥

—गोरखबानी, पृ० ६८।

पलब्धि में सहायक होना है और उनकी लोक-सेवा का भाव भी उसी में सिद्ध होने का परिणाम है। नाथयोगी-सम्प्रदाय के अन्य प्रचारकों की पर्याप्त रचनाएँ नहीं मिलतीं और जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उससे उक्त बातों का ही समर्थन होता है। इस सम्प्रदाय ने निरीश्वरवादी बौद्ध सिद्धों तथा जैन मुनियों की प्रचलित साधनाओं एवं योग की परंपरागत क्रियाओं के साथ लोकराद्वैतवाद तथा शैव सम्प्रदाय की अन्य कतिपय बातों का मेल बिठा कर एक नवीन पद्धति चलाने के यत्न किये। इसके परिणाम का प्रभाव चिरकालीन सिद्ध हुआ और आगे आने वाले अनेक धार्मिक आंदोलनों ने इसके किसी न किसी अंश को अपना लेना आवश्यक समझा। स्वयं बौद्ध सिद्धों के कालचक्रयान नामक उप-सम्प्रदाय ने भी इसकी बहुत-सी बातें ग्रहण कर लीं जिससे उसके धार्मिक हिन्दू-समाज में लय जाते देर न लगी। गुरु गोरख द्वारा निर्दिष्ट निर्गुण तथा निराकार की उपासना भक्ति वा प्रेम का आधार पाकर आगे और भी लोकप्रिय बन गई। उनके द्वारा निर्मित तत्त्व-विचार तथा योग-साधना का ढाँचा-बंधन आज तक भी प्रायः उसी रूप में वर्तमान समझा जा सकता है। इस सम्प्रदाय के अनेक अनुयायी बड़े विद्वान् चरित्रवान् तथा लोकसंग्रही बन कर मानव-समाज के समक्ष अपना आदर्श रखते गए हैं। उनके स्वस्थ शरीर, शुद्ध अतःकरण तथा सात्त्विक जीवन की स्मृति किसी को भी अनुप्राणित कर जीवन में सानंद अग्रसर कर सकती है।

(५) सूफ़ी सम्प्रदाय

उपक्रम

स्वामी शंकराचार्य का अद्वैतवाद अधिकतर तर्क पर ही प्रतिष्ठित था और उनके स्मार्तधर्म के अंतर्गत भक्ति-भाव-द्वारा हृदय-पक्ष को प्रश्रय देता हुआ भी वह स्वभावतः मस्तिष्क-पक्ष का ही अधिक समर्थक रहा। इसी प्रकार सहजयानी बौद्धों का सिद्धांत भी विशेषतः किसी अपूर्व मानसिक स्थिति की ओर ही संकेत करता था और उनकी मुद्रा-साधना युगनद्ध का उद्देश्य रखती हुई भी भाव प्रवणता से पूर्णतः युक्त न थी। नाथयोगी-सम्प्रदाय ने उक्त दोनों की केवल मौलिक बातों को ही स्वीकार किया तथा अपने मत के भीतर भी उसने योग साधना तथा सदाचरण पर ही विशेष ध्यान दिया। उसने न तो शंकराचार्य के भक्ति-भाव को अपनाया और न सहजयानियों की विचित्र पद्धतियों को ही कोई महत्त्व प्रदान किया। स्वामी शंकराचार्य की तर्क-प्रणाली को उपयोग में लाते हुए भी भक्ति भाव को प्रधानता देनेवाले आचार्यों का आविर्भाव कुछ आगे चल कर हुआ जब कि देश के अंतर्गत बाहर से आयी हुई एक नवीन साधना की धारा भी प्रवाहित होने लगी थी। उसने भारतीय दार्शनिक आधार को

परमनिधान वा ब्रह्मपद उपलब्ध हुआ है।[1]"

रसायन

गुरु गोरखाथ के नाथयोगी-सम्प्रदाय पर प्राचीन रसायन-सम्प्रदाय का भी कुछ न कुछ प्रभाव बतलाया जाता है। रसायन-विद्या एक प्राचीन विद्या है और पूर्व काल में इसका प्रचार अन्य कई देशो में भी सुना जाता था। रसायन-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धातो के उल्लेख सायण माधव के प्रसिद्ध ग्रथ 'सर्वदर्शन-सग्रह' में 'रसेश्वर दर्शन' वाले प्रकरण में मिलते हैं, जहाँ पर यह एक शैव सम्प्रदाय सा ही जान पडता है। पतजलि ऋषि नें भी अपने योग-दर्शन के 'कैवल्य पाद' वाले प्रकरण मे सिद्धि की उपलब्धि का मत्र, समाधि आदि के अतिरिक्त औषधि द्वारा भी सभव होना बतलाया है।[2] रसायन-सम्प्रदाय का ध्येय मानव-शरीर को कायाकल्प के सहारे अमरत्व प्रदान कर जीवन-मुक्ति के योग्य बना देना था। रसायन-क्रिया का प्रधान रस पारद ससार-सागर के दूसरे पार पहुँचाने-वाला समझा जाता था[3], जिसकी सहायता से अमर होकर जीवन-मुक्त सिद्ध विश्व में सर्वत्र विचरण कर सकते थे। फिर भी नाथयोगियो की रचनाओ में रस के प्रयोगो का उल्लेख बहुत कम मिलता है। गुरु गोरखनाथ ने "छठे-छमासे काया पलटिवा"[4] की चर्चा अवश्य की है और कही-कहीं रस तथा औषधि के सबध में रूपको के भी प्रयोग किये है। किंतु नाथयोगी-सम्प्रदाय का प्रधान लक्ष्य रस-प्रयोग की अपेक्षा सहस्रार स्थित चद्र से चूनेवाले अमृत का पान ही जान पडता है। अतएव, सभव है कि रसायन-क्रिया का बाह्य उपचार ही क्रमश परिवर्तित होता हुआ उक्त योग-सबधी अभ्यास मे परिणत हो गया हो और वही नाथ-योगियो द्वारा अमरत्व का आधार माना जाने लगा हो।[5]

प्रभाव

गुरु गोरखनाथ के कायाकल्प वा काया-शोधन का अतिम उद्देश्य ब्रह्मपदो-

---

१ गोरखबानी, पद ३३, पृ० १२७।

२ 'जन्मौषधि मत्र तप समाधिजा सिद्धय'॥१॥ पातजल योग दर्शन—कैवल्य पाद।

३ 'ससारस्य परपार दत्तेऽसौ पारद स्मृत'।

४ गोरखबानी, पद ३३, पृ० १३ और पद ५२, पृ० १९।

५ टिप्पणी नाथयोगियों मे से बहुत-से लोग 'औघड' वा 'औघडपथी' भी कह-लाये। ये लोग सभवत पाशुपत-शैवों तथा कापालिकों द्वारा अधिक प्रभावित हुए और इसी कारण इनकी साधना तथा रहन-सहन की अनेक बातें कुछ विचित्र-सी दीख पड़ती थीं।—ले०।

हजरत मुहम्मद

इस्लाम-धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब (सं० ६२८ ६८८) ने प्राचीन धर्मावलंबी अरब-निवासियों के पारस्परिक मतभेदों को दूर कर उन्हें अपने सिद्धांतों के अनुसार एक सूत्र में बांधने का यत्न किया था और उनके लिए ईश्वरोपासना की एक प्रणाली भी निश्चित कर दी थी। वे पूरे एकेश्वर वादी थे और ईश्वर वा खुदा के निरभिमानित्व तथा न्यायशीलता में पूर्ण विश्वास रखते थे। उनके समक्ष जब कोई कठिन समस्या आ जाती वे खुदा की इबादत के लिए बैठ जाते उससे दुआएँ माँगते और उससे उपलब्ध आश्वासन की कल्पना कर बहुधा गद्गद् होकर लेट जाते। जब उठते तब उनके मुख से अनेक वाक्य आप-से-आप निकलने लगते जिन्हें ईश्वर-प्रेरित मान कर महत्त्व दिया जाने लगता और जिनका संग्रह भावी 'कुरान शरीफ' का अंश बनता जाता। इन्होंने अपने चिंतन द्वारा अनुभवों के आधार पर निर्धारित किया था कि विविध धर्म के मौलिक सिद्धांतों में मतभेद का आ जाना अनिवार्य नहीं है, किंतु प्रत्येक धर्म की साधना का देश-कालानुसार भिन्न-भिन्न हो जाना प्रायः निश्चित-सा है। इसीलिए 'कुरान शरीफ' में भी कहा है, 'हे पैगंबर, हमने प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिए पृथक-पृथक विधियाँ नियत कर दी हैं। यदि चाहते तो उन विधानों में कोई अंतर न आने देते और सबका एक ही सम्प्रदाय बना देते। परन्तु यह विभिन्नता इसलिए आने दी गई है कि समय और अवस्था-भेद के अनुसार जो-जो आदेश दिये गए हैं उन्हीं में प्रत्येक की परीक्षा की जाय। अतएव इन मतभेदों के पीछे न पड़ कर नेकी की राहों में एक दूसरे से आगे निकल जाने का यत्न करो"[1]।

इस्लाम धर्म

'कुरान शरीफ' में उसके अंतर्गत बतलाये गए धर्म के लिए 'अल् इस्लाम्' शब्द का प्रयोग किया गया है[2] जिसका अर्थ 'किसी बात को मान लेना और आज्ञा पालन करना" है। 'कुरान' कहता है कि 'धर्म की असलियत यही है कि ईश्वर ने जो कल्याण का मार्ग मनुष्य के लिए निश्चित कर दिया है उसका ठीक-ठीक अनुसरण किया जाय'[3]। इस कारण उसमें यह भी कहा गया मिलता है कि

---

१ कुरान शरीफ सूरा ५, आयत ४८।

२ कुरान शरीफ सूरा ३ आयत १८।

३ सय्यद अबुल हसन हाशिमी 'कुरान और धार्मिक मतभेद' (मौलाना अबुल कलाम आजाद के 'तर्जुमानुल कुरआन' के एक अध्याय का हिंदी अनुवाद दिल्ली १९३३ ई०) पृ० २४।

कुछ दूर तक स्वीकार करते हुए भी उसमें प्रेम-भाव का पुट देकर हृदय-पक्ष को प्रधानता देना आरभ कर दिया। इस्लाम के साथ भारत का सपर्क कदाचित् स्वामी शकराचार्य के ही समय से किसी न किसी रूप में होने लगा था। किंतु इसके ऊपर उसके प्रभाव का पडना कुछ आगे चल कर सूफी-प्रचारको के यत्नो से आरभ हुआ। अतएव, साधना के साम्प्रदायिक रूप तथा सुधारवाले युग अर्थात् स० ८०० से लेकर स० १४०० तक के समय को यदि हम चाहें, तो सुभीते के लिए दो भागो में विभाजित कर सकते है। इनमें से पूर्वार्द्ध मे मस्तिष्क-पक्ष की प्रधानता थी और हृदय-पक्ष गौण था। इसके उत्तरार्द्ध मे इसके विपरीत हृदय-पक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था और मस्तिष्क-पक्ष उसके सामने कुछ उपेक्षित-सा हो गया था।

सूफी शब्द

'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के सबध मे सभी विद्वान् सहमत नही दीख पडते। कोई इसे ग्रीक शब्द 'सोफिया' (ज्ञान) का रूपातर मानता है, तो कोई इसे 'सफ' (पक्ति) के आधार पर निर्मित बतला कर सूफियो को उन चुने हुए व्यक्तियो मे गिनता है जो अपने चरित्र-बल के कारण निर्णय के दिन सबसे अलग खडे किये जायँगे। कुछ अन्य लोग इसी प्रकार यदि उक्त शब्द को 'सफा' (स्वच्छ) से बना हुआ अनुमान कर सूफियो के पवित्र जीवन की ओर सकेत करते हैं, तो दूसरे का सबध 'सुफ्फा' अर्थात् मदीना की मसजिद के सामने बने हुए 'चबूतरे' से जोडते हैं और बतलाते हैं कि किसी समय उस पर बैठनेवाले फकीरो को ही सर्वप्रथम सूफी कहा गया था। परन्तु सूफी सम्प्रदाय के इतिहास वा मत के विषय मे लिखनेवाले लोगो में से अधिकाश इस बात को मानते आये हैं कि उक्त शब्द 'सूफ' (ऊन) शब्द से बना है और सूफी सर्वप्रथम वे ही लोग कहलाये थे जो ऊनी कम्बल ओढकर घूमा करते थे और अपने मत का प्रचार किया करते थे। सूफी मत को बहुत-से सूफियो ने सबसे प्राचीन धर्म माना है और बतलाया है कि इसके मूल प्रवर्त्तक स्वयं आदम वा आदिपुरुष थे। परन्तु दूसरे सूफियो को यह बात जँचती-सी नही जान पडती। तदनुसार उनमें से कुछ लोग इसका प्रथम प्रचारक हज़रत मुहम्मद साहब को बतलाते हैं और दूसरे इसके मौलिक सिद्धातो का 'कुरान शरीफ' में अभाव पाकर इसके प्रचार का श्रेय अली वा अन्य ऐसे किसी महान् पुरुष को देना चाहते हैं जो पैगबर का साथी रह चुका हो। 'कुरान शरीफ' के साथ इसका पूरा सामजस्य स्थापित न करा सकने के कारण बहुत-से कट्टर मुसलमानो ने इसे विधर्मियो का मत ठहराया है और इसकी निंदा भी की है।

के निवासियों की भी गणना होने लगी तथा उनमें अनेक उच्च कोटि के धर्मशील व्यक्ति भी उत्पन्न हुए।

भारत में सूफ़ी-सम्प्रदाय

कहते हैं कि भारत में सूफ़ी-सम्प्रदाय मुसलमानों के प्रथम आक्रमण (सं० ७६९) से पहले ही प्रवेश पा चुका था। उमय्या-वंश के उक्त शासन-काल में ही अरब-निवासी व्यापारियों के साथ कभी-कभी कुछ सूफ़ी फ़क़ीर भी आ जाते थे और दक्षिण भारत तथा सिंध में अपने मत का प्रचार करते थे। फिर भी सूफ़ी मत का वास्तविक प्रचार यहाँ कदाचित् उस समय के लगभग आरंभ हुआ जब कि अबुल हसन अल् हुज्विरी (मृ० सं० ११२९) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कश्फुल महजूब' (निरावृत्त रहस्य) की रचना की और अपने प्रचार कार्य-द्वारा 'हज़रत दाता गंज' के नाम से विख्यात हुए। ये अफ़गानिस्तान देश के गजनी नगर के निवासी थे और लाहोर में संभवतः एक बंदी की दशा में लाये गए थे। सूफ़ी-मत की दीक्षा इन्हें बगदाद केन्द्र के किसी व्यक्ति से मिली थी और अध्ययन तथा सत्संग के लिए इन्होंने पूरा देशाटन भी किया था। ये अविवाहित जीवन के समर्थक थे और इन्होंने स्वयं भी विवाह नहीं किया था। इनकी प्रतिष्ठा इतनी बड़ी समझी जाती थी कि इनके अनंतर जितने भी प्रसिद्ध सूफ़ी बाहर से आए उनमें से सभी इनकी क़ब्र पर सर्व प्रथम उपस्थित हुए[1]। उक्त ग्रंथ को इन्होंने अपने जीवन-काल के अंतिम दिनों में लिखा था और उसके द्वारा अपने मत का उपदेश देकर ये लाहोर में मरे थे जहाँ पर इनकी क़ब्र बनी हुई है। इनकी रचना से पता चलता है कि सूफ़ी-मत को इन्होंने इस्लाम धर्म के सच्चे रूप का प्रतीक माना था और इसी दृष्टि से इन्होंने इसका प्रचार भी किया था। हुज्विरी के अनंतर प्रसिद्ध सूफ़ियों में बाबा फ़खरुद्दीन (मृ० सं० १२२५) का नाम आता है, जो दक्षिण भारत के पेनु कोंडा स्थान में रहते थे। इनके सिवाय एक अन्य प्रभावशाली सूफ़ी सय्यद मुहम्मद ख़्वाजा निज़ाम गेसू दराज़ (सं० १३७५-१४७८) थे जिनकी रचना 'मिराजुल आशिक़ीन' को हिंदवी भाषा का आदि रूप उपस्थित करनेवाली किताब कहा जाता है। इन लोगों के अतिरिक्त भारत में अन्य कई सूफ़ियों ने भी उस समय प्रचार किया किंतु उनका प्रभाव चिरस्थायी न हो सका।

चिश्तिया

भारत में सूफ़ी-मत का चिरस्थायी प्रभाव डालनेवाले व्यक्तियों में कदाचित्

---

१ जान ए सुभान 'सूफ़िज्म, इट्स सेंट्स ऐंड श्राइंस' लखनऊ, १८ ई० पृ० १२९।

प्रत्येक जाति को पथ-प्रदर्शन कराने के लिए पैगंबर भी अलग-अलग भेजे जाते हैं, जो ईश्वर की सच्ची आज्ञाओं का रहस्य बतलाते हैं। अतएव ऐसे पैगंबरों के ही वचनों के अनुसार चलना अपने कर्तव्य का पालन करना तथा ईश्वरीय आज्ञाओं का अनुसरण करना कहा जा सकता है। तदनुसार हज़रत मुहम्मद ने इस्लाम धर्म के पैगंबर की हैसियत से उसके अनुयायियों के लिए ईश्वरोपासना के संबंध में कुछ साधनाएँ निर्धारित की थी जिनकी चर्चा 'कुरान शरीफ' में कई स्थलों पर की गई दीख पड़ती है और जो किसी न किसी रूप में आज भी सभी मुस्लिमों को मान्य है। ये साधनाएँ 'हकीक़त' (ज्ञान-मार्ग), 'तरीकत' (भक्ति-मार्ग) तथा 'शरीअत' (कर्म-मार्ग) से संबद्ध हैं। इनमें अधिकतर प्राचीन परंपरा का ही अनुसरण है, कोई मौलिकता लक्षित नहीं होती, न कतिपय नवीन विवरणों के अतिरिक्त इनमें कोई उल्लेखनीय बातें ही पायी जाती हैं। यदि कोई विशेषता है, तो यही कि इस्लाम अपने अनुयायियों को अपने धर्म के प्रति घोर आस्तिक बना रहना सिखला देता है।

उसका प्रचार

सूफ़ी लोग मुसलमान होते हुए भी कुछ अंशों तक उक्त नियम के अपवाद स्वरूप थे और उनकी साधना 'मार्फत' कहलाती थी। उन पर इस्लाम-विहित बातों के अतिरिक्त उस 'मादन-भाव' का भी रंग चढ़ा था, जो शामी जाति की एक विशेषता थी और जिसे उन्होंने अन्य जातियों के तदनुकूल सिद्धांतों की सहायता से क्रमशः शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे रखा था। कट्टर मुसलमानों तथा कर्मकांडी नबियों की ओर से उनका किसी न किसी प्रकार सदा विरोध होता आया। किंतु उसकी प्रतिक्रिया में ही उन्हें अपने भावों को परिष्कृत करते जाने का अधिकाधिक अवसर भी मिलता गया और इस प्रकार समय पाकर उनका एक पृथक् सम्प्रदाय संगठित हो गया। कहा जाता है कि हज़रत मुहम्मद के अनंतर मुसलमानों का नेतृत्व करनेवाले चारों खलीफ़ा अर्थात् अबू बकर (मृत्यु सं० ६९१), उमर (मृ० सं० ७००), उसमान (मृ० सं० ७१२) तथा अली (मृत्यु सं० ७१७) भी उक्त सम्प्रदाय की बातों से न्यूनाधिक प्रभावित थे और उन्होंने इसे कभी निरुत्साहित नहीं किया। फलतः, इस्लाम-धर्म के अन्य देशों में फैलते जाने के साथ-साथ इसका क्षेत्र भी क्रमशः विस्तृत होता गया और इसके अंतर्गत अन्य जातियों का भी समावेश हुआ। खलीफा अली के अनंतर उमय्या-वंश के शासन-काल (सं० ७१८-८०६) से लेकर उसके परवर्ती अब्बासी-वंश के शासन-काल (सं० ८०७-१३३१) तक इसका विस्तार बसरा तथा बगदाद जैसे प्रधान केन्द्रों से लेकर सीरिया, मिस्र तथा स्पेन तक हो गया। इसके अनुयायियों में वहाँ

सुहर्वर्दी ही बतलाये जाते हैं। इनका जन्म अहमदाबाद में हुआ था किंतु ये अंत में दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के दरबारी कवि हो गए थे।

चिश्तिया

परन्तु फिर भी भारत में सुहर्वर्दिया के अनुयायी उतने नहीं हैं जितने चिश्तिया के समझे जाते हैं। इस उप-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक ख्वाजा अबू अब्दुल्ला चिश्ती (मृ. सं. १ २३) थे। किंतु भारत में इसका सर्वप्रथम प्रचार करनेवाले प्रसिद्ध मुइनुद्दीन चिश्ती (सं. ११९९-१२९३) हुए, जो मुल्क सीस्तान (ईरान प्रदेश) के निवासी थे और अनेक सूफी आचार्यों के साथ सत्संग करते हुए यहाँ सं. १२४० में पहुँचे थे। इन्होंने शहाबुद्दीन गोरी की सेना के साथ ही भारत में प्रवेश किया और कुछ दिनों तक पंजाब तथा दिल्ली में रह कर अजमेर के निकट पुष्कर क्षेत्र चले गए, जहाँ पर ये अपने अंतिम समय तक निवास करते रहे तथा मृत्यु को भी प्राप्त हुए। ये सूफी फकीरों में सर्वप्रसिद्ध हुए और इन्हें श्रद्धा के साथ भारत के सभी सूफियों ने 'आफताबे हिंद' की पदवी प्रदान की। इनकी दरगाह अजमेर में बनी हुई है जहाँ प्रति वर्ष ६ दिनों तक मेला लगता है और मुसलमानों की भाँति उसमें अनेक हिन्दू भी सम्मिलित होते हैं। ख्वाजा मुइनुद्दीन का प्रभाव हिन्दुओं पर भी बहुत रहा और कुछ ब्राह्मण इनके कारण 'हुसैनी ब्राह्मण' कहला कर प्रसिद्ध हो गए। इनकी दरगाह के निकट प्रति दिन प्रत्येक तीन घंटे पर संगीत हुआ करता है और अच्छे से अच्छे गवैये आकर उसमें भाग लेते हैं। बनिया लोग नित्य प्रति अपनी कुंजियाँ दूकान खोलने के पहले दरगाह की सीढ़ियों पर रख लेते हैं और उसके निकट हंडे से भात भी लुटाया जाता है। कहा जाता है कि उक्त दरगाह तक सम्राट् अकबर भी नंगे पैर गये थे। ख्वाजा मुइनुद्दीन के सबसे प्रसिद्ध शिष्य ख्वाजा कुतुबुद्दीन 'काकी' थे जिनके शिष्य फरीदुद्दीन शकर गंज (सं. १२३ —१३२२) ने मान्टगुमरी जिले के अजुधन नगर में साधना की थी जो इसी कारण 'पाक पत्तन' कहला कर प्रसिद्ध हो गया। पाक पत्तन में भी प्रति वर्ष मुहर्रम के समय मेला लगता है, जहाँ दूर दूर तक के लोग एकत्र होते हैं। वहाँ पर एक स्थान 'स्वर्ग का संकीर्ण द्वार' नाम से भी प्रसिद्ध है जिसमें श्रद्धालु यात्री मुहर्रम की रात्रि के समय प्रवेश किया करते हैं। फरीदुद्दीन अपनी मधुर उपासना-शैली के कारण 'शकर गंज' कहलाते थे और इनके ही कारण सूफी-मत का प्रचार दक्षिणी पंजाब में बड़ी सफलता के साथ हुआ था।

बही

उक्त शकरगंज के प्रधान शिष्य प्रसिद्ध निजामुद्दीन औलिया (सं. १२९५

वे लोग थे, जो इसके भिन्न-भिन्न चार प्रसिद्ध उप-सम्प्रदायो से सवद्ध थे। इन उप-सम्प्रदायो के नाम क्रमश चिश्तिया, सुहर्वर्दिया, कादिरिया तथा नक्शवदिया थे और ये सभी वाहर से ही सगठित होकर आए थे। इनमें से चिश्तिया तथा सुहर्वर्दिया का सबध हवीविया से था। कादिरिया तर्तवसिया का ही एक विकसित रूप है और नक्शवदिया जुन्नैदिया से निकली हुई शाखा कही जा सकती है।[1] ख्वाजा हसन निज़ामी के अनुसार सुहर्वर्दी सूफी ही सर्वप्रथम भारतवर्ष में आये थे और उन्होने अपना प्रधान केन्द्र सिंघ प्रदेश को वनाया था। सुहर्वर्दिया के सर्वप्रथम प्रचारक ज़ियाउद्दीन अवुल नज़ीब, अब्दुल काहिर, इब्न अब्दुल्ला माने जाते हैं, जिनका जन्म सुहर्वर्द नगर मे स० ११५४ में हुआ था और जिनकी मृत्यु स० १२२५ में वगदाद नगर में हुई थी। इन्होंने तथा इनके भतीजे शिहावुद्दीन (स० १२०२-१२९१) ने मिल कर इस सम्प्रदाय की नीव डाली थी और इसका प्रचार भी किया था। वहाउद्दीन जकारिया (स० १२२७-१३२४), जो मुल्तान के निवासी थे, शिहाबुद्दीन के ही शिष्य थे। भारत में इस सम्प्रदाय का सबसे अधिक प्रचार करने का श्रेय इन्ही को दिया जाता है। मक्का-मदीने से तीर्थ-यात्रा करके लौटते समय इन्होने उनसे बगदाद में भेंट की और उनसे दीक्षा ग्रहण कर उनके प्रमुख शिष्य वन गए। उनके पीछे प्रसिद्ध भारतीय सुहर्वर्दियो में सय्यद ज़लालुद्दीन सुर्ख पोश (स० १२५६—१३४८) का नाम लिया जाता है, जो उक्त ज़कारिया के ही शिष्य थे और जिन्होने अपने मत का प्रचार सिंघ, गुजरात तथा पजाब में भ्रमण करके किया था। इनके पौत्र ज़लाल इब्न अहमद कबीर (मृ० स० १४४१) थे, जिन्हें 'मखदूमे जहानियाँ' कहा जाता है और जिन्होने ३६ बार मक्के की तीर्थ-यात्रा की थी। इनके अनेक चमत्कारो की कहानियाँ कही जाती हैं और ये एक अत्यत लोकप्रिय सूफी कहला कर भी प्रसिद्ध हैं। सूफी शिहाबुद्दीन के एक अन्य शिष्य ज़लालुद्दीन तबरीज़ी (मृ० स० १३०१) तथा उनके अनुयायियो ने सुहर्वर्दिया उप-सम्प्रदाय का प्रचार विहार तथा बगाल प्रातो में किया था और वहाँ के वडे-वडे राजा लोगो तक को अपने धर्म की दीक्षा दी थी। हैदराबाद के निज़ाम का आसफजाही वश भी इसी उप-सम्प्रदाय का अनुयायी कहा जाता है। शेख तकी (स० १३७७-१४४१), जिनका पूरा नाम सैयद सदरुल हक तकीउद्दीन मुहम्मद अब्दुल अकबर था, इसी उप-सम्प्रदाय के मुरीद थे। इनकी समाधि झूंसी में आज तक वर्तमान है। इसी प्रकार उर्दू भाषा के प्रथम प्रसिद्ध कवि वलीउल्ला (स० १७२५-१८०१) भी

---

१. जान ए० सुभान : सूफिज्म, इट्स सेंट्स ऐंड श्राइस, पृ० १७४।

था। ये तथा इनके पिता जरी (ज़ारकैश) का काम करते थे और उसका नक्शा बनाने के कारण ये 'नक्शबंद' कहलाये। इस शाखा का भारत में प्रवेश कदाचित् ख्वाजा मुहम्मद बाकी बिल्लाह 'बेरंग' के द्वारा हुआ जिनकी मृत्यु सं० १६६ मे दिल्ली में हुई थी। किंतु कुछ विद्वानो इस बात का श्रेय शेख अहमद फारूखी 'सरहिंदी' को देते हैं जिनका देहांत सं० १६८२ में हुआ था। ये हज़रत मुहम्मद के अनंतर दूसरी सहस्राब्दी के आरंभ काल के प्रधान धर्म-सुधारकों में गिने जाते थे। फिर भी इनके द्वारा प्रतिपादित बातो का प्रचार यहाँ सफलता-पूर्वक नही हो सका। नक्शबंदिया शाखा वस्तुतः सर्वसाधारण के लिए उपयुक्त नही थी और इसका प्रभाव अधिकतर शिक्षितों पर ही पड़ सका। फिर भी इधर कुछ दिनो से इसका पुनरुद्धार पंजाब प्रात तथा कश्मीर में होता हुआ दीख पड़ रहा है और संभव है इसे आगे और भी सफलता मिल सके। इन चार सूफी सम्प्रदायो के अतिरिक्त शाह मदार (मृ० सं० १४९१) द्वारा १५वी शताब्दी में प्रचलित की गई 'मदारिया' शाखा तथा एक अन्य 'कलंदरिया' शाखा भी प्रसिद्ध है, किंतु उनका उतना प्रभाव नही है।

पारस्परिक संबंध

सूफी सम्प्रदाय की उक्त शाखाएँ भिन्न-भिन्न आचार्यों को अपना पथ-प्रदर्शक मानती हुई भी कोई पारस्परिक विरोध नही रखती। इनका आपस का भेद अधिकतर इनके प्रमुख गुरुओ की विशेषता तथा उनकी साधना से संबद्ध कतिपय गौण बातो की विभिन्नता पर ही आश्रित माना जा सकता है जिससे उनके मौलिक सिद्धांतो में कोई अंतर नही आ पाता। उदाहरण के लिए 'जिक्र' या नाम-स्मरण के समय शब्दो का उच्चारण पहले उच्च स्वर के साथ किया जाता है जिससे ध्यान में श्रवणेन्द्रिय भी सहायक हो सके। फिर साधक उन शब्दों को कुछ धीमे स्वर में कहता है जिसे केवल वही सुन पाता है। अंत में वही शब्द भक्ति के साथ अपने मन में कहे जाते हैं, आँखें बंद कर ली जाती है और साधक का पूरा ध्यान अपनी ध्येय वस्तु या खुदा की ओर लगा रहता है। एक उप-सम्प्रदाय या शाखा का सदस्य इसी प्रकार किसी अन्य शाखा का भी सदस्य बन सकता है और उसके कारण उसकी निंदा नही की जाती। उदाहरण के लिए, कुतुबमीनार के निकट वर्तमान मठ के मूल पुरुष ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी (मृ० सं० १२९१) पहले सुहर्वर्दी शाखा के अनुयायी थे फिर शेख अब्दुल कादिर से उपदेश लिये और अंत में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के एक मशहूर मुरीद हो गए। वास्तव में इन शाखाओ की विशेषताओ का परिचय केवल उन आदेशो मे ही मिलता है जिन्हें इनके मूल प्रवर्तक या मुख्य प्रचारक विशेष रूप से दिया

१३८१) हुए। इनका जन्म-स्थान बदायूँ था और ये केवल २० वर्ष की ही अवस्था मे अपने गुरु द्वारा प्रतिनिधि निर्वाचित हुए थे। इनके शिष्यों में अमीर खुसरू (स० १३१२--१३८१) और अमीर हसन देहलवी कवि तथा ज़ियाउद्दीन वर्नी इतिहासज्ञ प्रसिद्ध है। ख्वाजा हसन निज़ामी उक्त औलिया के अनुयायी निज़ामी सम्प्रदाय के ही पुरुष है। सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध चिश्ती फकीरो में एक शेख सलीम चिश्ती (मृ० स० १६२९) भी थे, जो फतेहपुर सिकरी की एक गुफा में रहा करते थे। कहा जाता है कि इन्ही के आशीर्वाद से सम्राट् अकबर के पुत्र शाहज़ादा सलीम का जन्म हुआ था जिसके उपलक्ष में इनकी दरगाह बनायी गई थी। हिंदी के प्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी (स० १४८३--१५९९) भी चिश्ती-वश के ही अनुयायी थे। इसके अनुयायी एक अन्य प्रसिद्ध फकीर अहमद साबिर (मृ० स० १३४८) थे जो उक्त फरीद के ही शिष्य थे और उनका देहावसान रुडकी के निकट हुआ था। इनके नाम पर 'साबिर' चिश्तियो की एक शाखा पृथक् चली थी। चिश्तियो का सबसे अधिक प्रचार उत्तरी, पश्चिमी, और कुछ दूर तक दक्षिणी भारत में भी हुआ था।

कादिरिया

कादिरिया शाखा के सर्व प्रथम प्रचारक शेख अब्दुल कादिर जीलानी (स० ११३५-१२२३) कहे जाते हैं जो बगदाद के निवासी थे। यह शाखा भारत में सिंध से होकर स० १५३९ में पहुँची थी और इसके यहाँ प्रथम प्रचारक सैयद बदगी मुहम्मद ग़ौस थे जो उच्छ नगर में स० १५७४ मे मरे थे। ये एक बडे योग्य व्यक्ति तथा वक्ता थे और कश्मीर प्रदेश में आज तक एक प्रधान सत के रूप में पूजे जाते है। इनके शिष्य मियाँ मीर (मृ० स० १६९२) भी एक विख्यात साधक थे जिनके शिष्य मुल्ला शाह ने इस मत का प्रचार कश्मीर प्रदेश में किया। शाहज़ादा दारा शिकोह (मृ० स० १७१६) भी इसी शाखा का अनुयायी था और उसने 'रिसाल ए हकनुमा' तथा 'सफीनात औलिया' की रचना फारसी में की थी। प्रसिद्ध सत बुल्ले शाह (स० १७३७-१८१०) भी पहले इसी कादिरिया शाखा के अनुयायी थे और शाह जलाल तथा मखदूम शाह ने इसका प्रचार क्रमश बगाल तथा बिहार में किया था, जिस कारण सूफी-मत के माननेवाले इन प्रातो मे आज भी पाये जाते हैं।

नक़्शबंदिया तथा अन्य सम्प्रदाय

सूफी-सम्प्रदाय की चौथी शाखा जिसका प्रभाव भारत में पडा, 'नक्श-बंदिया' थी जिसके मूल प्रवर्त्तक ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंद थे जो तुर्किस्तान के निवासी थे और जिनका देहात सं० १४४६ में बुखारा नगर के निकट हुआ

और स्वात के कुछ नाम इस शाखा में सम्मिलित हैं।[1]

प्रचार-कार्य

सूफी-सम्प्रदाय की उक्त शाखाओं ने अपने प्रचार द्वारा प्रायः सारे भारत को प्रभावित किया और यहाँ के धार्मिक सिद्धांतों से मिलती-जुलती हुई कुछ अपनी बातों की ओर विशेष ध्यान दिलाने का यत्न कर ये अपने मूल धर्म इस्लाम की जड़ जमाने में बहुत कुछ कृतकार्य भी हो गई। मुसलमानी शासन-काल में इनका प्रचार-कार्य हिन्दुओं को बलात्कार के साथ धर्मांतरित करते समय उसका पूरक बन कर सहायता देता गया। सूफी लोगों में इस्लामी कट्टरपन अधिक नहीं था। हिन्दू-समाज एवं हिन्दू-परंपरा की अनेक बातों को ये सीख अथवा लेते थे और उनके कारण यहाँ के सर्वसाधारण में हिल-मिलकर उन्हें अपनी भी बातें सरलता पूर्वक समझा देते थे। हृदय की शुद्धता, बाह्याचरण की पवित्रता, ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा, पारस्परिक सहानुभूति, विश्वभ्रातृत्व तथा विश्वप्रेम की ओर ये सबका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते थे। उन्हें अपने मत की मुख्य देन बतलाते हुए उसे स्वीकार कर लेने का आग्रह भी करते थे। इनके प्रधान प्रधान प्रचारक भी बड़े योग्य तथा कुशल व्यक्ति थे जिन्होंने अपने उपदेशों और विशेषकर व्यवहारों द्वारा अपने लिए लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। उनके लिए बहुधा प्रयोग में आने वाले 'दाता गंज' 'शकर गंज' 'बाबा' 'पीरे पीरां' 'बड़े पीर' आदि जैसे शब्द इसी बात के साक्षी हैं। परिणामस्वरूप हमें आज पता चलता है कि भारतीय मुसलमानों के कम से कम दो-तिहाई भाग में वे ही लोग हैं जो किसी न किसी सूफी शाखा के भीतर भी आ जाते हैं।[2]

प्रेम-साधना

जो हो, भारतीय साधना को उक्त सूफी-शाखाओं की मुख्य देन 'प्रेम साधना' है जो उन्हें सामी जाति की ओर से कभी उत्तराधिकार के रूप में मिली थी। इसका पूर्व रूप केवल 'मादन-भाव' था जिसका प्रदर्शन पहले धार्मिक अवसरों पर किये गए नृत्यगीतादि की सहायता से हुआ करता था तथा जो कभी अधिकतर देवदासियों के संपर्क या नृत्य-मंडलियों तक ही सीमित था। बसरा निवासिनी राबिआ (मृ० सं० ८०९) भी एक दासी थी जो ईश्वर

---

१ विलियम क्रुक : दी ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एंड अवध भाग ४ पृ० १८३-१८४।

२ डॉ० ए० जे० आरबेरी : एन इंट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री ऑफ सूफीज्म लांगमैंस १९४२ ई० इंट्रोडक्शन पृ० ७-८।

करते हैं। उदाहरण के लिए सुहर्वर्दी-शाखा की प्रधान साधना 'कुरान शरीफ' के पाठ तथा 'हदीश' की व्याख्या तक सीमित समझी जाती है, किंतु चिश्तिया तथा कादिरिया शाखावाले सगीत तथा नृत्य को भी बहुत महत्त्व देते हैं।

भिन्नता

चिश्तिया-शाखा के अनुयायी 'चिल्ल' का अभ्यास करते हैं जिसके अनुसार वे ४० दिनो तक किसी मसज़िद वा किसी कमरे में एकातवास किया करते है। वे 'ज़िक्र' के समय 'कलमा' के शब्दो पर अधिक जोर देते हैं और अपना सिर तथा शरीर का ऊपरी भाग हिलाते हैं। धार्मिक ग्रथो के पढने के अवसर पर ये सगीत को बहुत महत्त्व देते हैं और गीतो से प्रभावित होकर बहुधा आवेश में आ जाया करते हैं। ये अधिकतर रगीन वस्त्र पहनते हैं और इनके मुख्य तीर्थ-स्थान दिल्ली, अम्बाला, पाक पत्तन, डेरा गाजी खा तथा अजमेर में हैं।[1]"नक्शबदिया की साधना इसके विपरीत 'ज़िक्रे खफी' कहलाती है, क्योकि ये लोग कलमे का उच्चारण अत्यत धीमे स्वर में करते हैं। ये बहुधा ध्यानमग्न होकर चुपचाप बैठ जाते हैं, सिर झुका लेते हैं और आँखें भी नीची कर लेते हैं। ये लोग सगीत की बडी उपेक्षा करते हैं और इस प्रकार मूल कट्टर इस्लाम-धर्म का अनुसरण करते हैं। इनके पीर अपने मुरीदो की मडली में एक साथ मिल कर बैठते हैं और उनके चित्त पर रहस्यमयी बातो का प्रभाव डालने की चेष्टा भी करते हैं। नक्शबदी लोग श्वास-प्रश्वास के अनुसार स्मरण करते हैं, अपने कदमो पर दृष्टि रखा करते हैं और समूह में रहते हुए भी एकात-सेवन का अनुभव किया करते हैं। वे कभी-कभी एक चिराग़ लेकर भीख माँगते हुए भी दीख पडते हैं जिससे "चिराग़ रोशन मुराद हासिल" की कहावत चल पडी है[2]। कादरिया के अनुयायी ज़िक्र की साधना उच्च स्वर से और धीमे-धीमे स्वर से (ज़िक्र खफी वा ज़िक्र जल्ली) भी करते हैं। युवावस्था मे तो 'इल्लाह' वा 'इल्ला हू' का उच्चारण एक विशेष स्वर मे करते हैं, किंतु पीछे इसे बहुत धीमा कर देते हैं। नक्शबदियो की भाँति ये भी सगीत नहीं चाहते। इनका साफा हरे रग का होता है और इनके अन्य वस्त्र भी रगीन होते हैं। इनके मुख्य तीर्थ-स्थान लाहोर, बटाला तथा माटगुमरी जिले मे शाह कमाल की दरगाह हैं। पजाब प्रात के अधिकाश सुन्नी मुसलमान

---

१ विलियम क्रुक . दी ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐण्ड अवध, भाग २, कलकत्ता १८९६ ई०, पृ० २२९।

२ वही, भाग ४१, पृ० ५५-५७।

और स्वात के कुछ लोग इस शाखा में सम्मिलित हैं ।[१]

प्रचार-कार्य

सूफी-सम्प्रदाय की उक्त शाखाओं ने अपने प्रचार द्वारा प्राय सारे भारत को प्रभावित किया और यहाँ के धार्मिक सिद्धांतों से मिलती-जुलती हुई कुछ अपनी बातों की ओर विशेष ध्यान दिलाने का यत्न कर ये अपने मूल धर्म इस्लाम की जड़ जमाने में बहुत कुछ कृतकार्य भी हो गए । मुसलमानी शासन-काल में इनका प्रचार-कार्य हिन्दुओं को बलात्कार के साथ धर्मांतरित करते समय उसका पूरक बन कर सहायता देता गया । सूफी लोगों में इस्लामी कट्टरपन अधिक नहीं था । हिन्दू-समाज एवं हिन्दू-परंपरा की अनेक बातों को ये शीघ्र अपना लेते थे और उनके कारण यहाँ के सर्वसाधारण में हिल-मिलकर उन्हें अपनी भी बातें सरलता पूर्वक समझा देते थे । हृदय की शुद्धता बाह्याचरण की पवित्रता ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा पारस्परिक सहानुभूति विश्वभ्रातृत्व तथा विश्वप्रेम की ओर ये सबका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते थे । उन्हें अपने मत की मुख्य देन बतलाते हुए उसे स्वीकार कर लेने का आग्रह भी करते थे । इनके प्रधान प्रधान प्रचारक भी बड़े योग्य तथा कुशल व्यक्ति थे जिन्होंने अपने उपदेशों और विशेषकर व्यवहारों द्वारा अपने लिए लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी । उनके लिए बहुधा प्रयोग में आने वाले 'दाता गंज' 'शकर गंज' 'बाबा' 'पीरे पीराँ' 'बड़े पीर' आदि जैसे शब्द इसी बात के साक्षी हैं । परिणामस्वरूप हमें आज पता चलता है कि भारतीय मुसलमानों के कम से कम दो-तिहाई भाग में वे ही लोग हैं जो किसी न किसी सूफी शाखा के भीतर भी आ जाते हैं ।[२]

प्रेम-साधना

जो हो भारतीय साधना को उक्त सूफी-शाखाओं की मुख्य देन 'प्रेम साधना' है जो उन्हें शामी जाति की ओर से कभी उत्तराधिकार के रूप में मिली थी । इसका पूर्व रूप केवल 'भावना-भाव' था जिसका प्रदर्शन पहले धार्मिक अवसरों पर किये गए नृत्यगीतादि की सहायता से हुआ करता था तथा जो कभी अधिकतर देवदासियों के संपर्क वा नृत्य-मंडलियों तक ही सीमित था । बसरा निवासिनी राबिया (मृ स ८ १) भी एक दासी थी जो ईश्वर

---

१ विलियम क्रूक दी ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध भाग ४ पृ १८३ १८४ ।

२ डॉ ए जे आरबेरी : एन इंट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री ऑफ सूफीज्म लांगमैंस १९४२ ई इंट्रोडक्शन पृ ७-८ ।

के प्रति प्रणय की भावना से भावित थी। इस कारण वह हजरत मुहम्मद साहब तक को उपेक्षा की दृष्टि से देखती थी। उसका स्पष्ट शब्दो मे कहना था कि "हे रसूल! भला ऐसा कौन होगा जिसे आप प्रिय न हो। परन्तु मेरी तो दशा ही कुछ और है। मेरे हृदय मे परमेश्वर का इतना प्रसार हो गया है कि उसमे उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिए स्थान ही नही है।[१]" वह अपने को परमेश्वर की पत्नी मानती थी और उसका हृदय सदा माधुर्य-भाव से भरा रहा करता था तथा अपने उक्त काल्पनिक पति के विरह को वह क्षण भर के लिए भी नही सह सकती थी। इसी कारण उसका प्रेम वासनात्मक जान पडता था। परन्तु प्रेम-तत्त्व के पारखी सूफी जूल नून मिसरी (मृ० स० ९१६) ने प्रेम को कुछ और ही कह कर समझाने के यत्न किये। वे विरह-वेदना को एक साधक के हृदय की सचाई का चिह्न समझते थे और कहा करते थे कि यह "सिदक वा शुद्धहृदयता इस भू पर परमेश्वर की तलवार है, जिसे यह स्पर्श कर देती है वह टुकडे-टुकडे हो जाता है।[२]" जूल नून ने प्रेम की दार्शनिक व्याख्या भी की और इस प्रकार उसे प्राचीन मादन-भाव अथवा प्रणय की भावना से भी उच्च पद तक पहुँचा दिया। जूल नून के अनतर मसूर अल् हल्लाज (मृ० स० ९७८) ने प्रेम-भाव का आदर्श रखा और उन्होने इसे परमेश्वर का सार वा स्वरूप तक मान लिया। उनका कहना था कि "मैं वही हूँ जिसको प्यार करता हूँ, जिसे प्यार करता हूँ, वह मैं ही हूँ। हम एक शरीर मे दो प्राणवत् हैं। यदि तू मुझे देखता है, तो उसे देखता है और यदि उसे देखता है, तो हम दोनो को देखता है"[३] और उनकी इस अद्वैत-भावना ने उन्हें सूली पर चढा दिया।

सूफी-प्रभाव

कहते हैं कि सूफी 'हल्लाज' किसी समय भारत भी आये थे और यहाँ के शाकरअद्वैत से कदाचित् प्रभावित भी हुए थे। परन्तु उनके किसी प्रत्यक्ष अनुयायी अथवा उनके द्वारा स्थापित किसी शाखा का भी यहाँ पता नही चलता। यहाँ उनके द्वारा प्रचारित मत के कुछ प्रभाव का लक्षित होना भर कहा जा सकता है। शुद्ध तथा गभीर प्रेम-साधना की सहायता से परमेश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव कर अपने को उसकी स्थिति मे वर्तमान समझना यहाँ के लिए कोई नई बात नही। फिर भी केवल 'सरमद' जैसे एकाध को छोड कर भारत के अधिकाश सूफियो ने हल्लाज का अनुसरण नही

---

१ चन्द्रबली पांडेय : तसव्वुफ अथवा सूफी-मत, बनारस १९४५, पृ० ४४ पर उद्धृत।

२. कश्फुल महजूब मे उद्धृत।

३ चन्द्रबली पाडेय . तसव्वुफ अथवा सूफी-मत, पृ० ५४ पर उद्धृत।

किया। उनका दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैत की ही श्रेणी तक पहुँच सका और वे प्रेमानुगा भक्ति की सीमा से भी आगे नहीं बढ़ सके और न उन्हें मंसूर के उन्माद का कभी शिकार ही बनना पड़ा। भारतीय सूफी अपने मजहबे इस्लाम की बातों में पूरी आस्था रखते आए और उसकी मर्यादा का उल्लंघन करना पाप समझते रहे। इन्होंने ईरान के सूफियों का कदाचित् अधिक अनुसरण किया और उन्हीं की भाँति अपना प्रेममय जीवन बिताते रहे। उन्हीं के अनुकरण में ये बहुधा फ़ारसी हिंदी अथवा उर्दू में प्रेम-गाथा-साहित्य की रचना करते प्रेम की मस्ती के आवेश में अपना कार्य किया करते और कभी-कभी सुरा-सेवन या अन्य भ्रष्टाचारों तक में लीन हो जाते। इनके कारण यहाँ के साहित्य पर फ़ारसी-साहित्य का बहुत कुछ प्रभाव पड़ गया और बहुत-से इस्लामेतर धर्मों के अनुयायियों तक ने ईरानी संस्कृति की अनेक बातें अपना ली।

योग का प्रभाव

भारतीय सूफी अपनी प्रेम-साधना के अंतर्गत नाथयोगी-सम्प्रदाय की अनेक यौगिक क्रियाओं का भी समावेश करते थे। अपनी प्रेमगाथाओं में उनके द्वारा शरीर के भीतर कल्पित किये गए विविध महत्त्वपूर्ण स्थलों के वर्णन रूपकों की सहायता से किया करते थे। तदनुसार उन्होंने प्रत्येक साधक के लिए क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते समय की विभिन्न आध्यात्मिक स्थितियों वा 'मुकामात' का भी निर्दिष्ट किया था। उन्होंने इसी दृष्टि से चार ऐसे पदों की कल्पना की थी जिन्हें वे क्रमशः 'आलमे नासूत' (भौतिक जगत्) आलमे मलकूत' (चित्त जगत्) आलमे जबरूत' (आनंदमय जगत्) तथा 'आलमे लाहूत' (सत्य जगत्) कहा करते थे और कभी-कभी एक आलमे हाहूत' नामक रहस्यपूर्ण जगत् का भी नाम लेते थे। अपने अंतिम ध्येय तक पहुँचना उसकी सिद्धावस्था कहलाती थी जिसे वे कभी 'बका' (परमात्मा में स्थिति) और कभी 'फ़ना' (अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति से पूर्णतः रहित हो जाना) कहते थे और जिनके निश्चित स्वरूप के संबंध में बहुत मतभेद भी दीख पड़ता है।

प्रेम-गाथा-परंपरा

इन सूफियों की प्रेम-गाथा रचना की परंपरा यहाँ पहले पहल कब आरंभ हुई, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। किंतु मलिक मुहम्मद जायसी ने जो 'पद्मावत' लिखी है उसमें किये गए कतिपय उल्लेखों से जान पड़ता है कि यह उक्त रचना के समय (सं १५९७) से पहले से अवश्य चली आ रही थी और तब तक संभवतः बहुत-से सूफी कवि इस प्रकार के साहित्य का निर्माण कर चुके थे। फिर भी प्रेम-गाथा की परंपरा के प्रारंभ होने का समय संत-मत के आविर्भाव-काल

के प्रति प्रणय की भावना से भावित थी। इस कारण वह हज़रत मुहम्मद साहब तक को उपेक्षा की दृष्टि से देखती थी। उसका स्पष्ट शब्दों मे कहना था कि 'हे रसूल! भला ऐसा कौन होगा जिसे आप प्रिय न हों। परन्तु मेरी तो दशा ही कुछ और है। मेरे हृदय मे परमेश्वर का इतना प्रसार हो गया है कि उसमें उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिए स्थान ही नही है।[1]" वह अपने को परमेश्वर की पत्नी मानती थी और उसका हृदय सदा माधुय-भाव से भरा रहा करता था तथा अपने उक्त काल्पनिक पति के विरह को वह क्षण भर के लिए भी नहीं सह सकती थी। इसी कारण उसका प्रेम वासनात्मक जान पडता था। परन्तु प्रेम-तत्त्व के पारखी सूफी जूल नून मिसरी (मृ० स० ९१६) ने प्रेम को कुछ और ही कह कर समझाने के यत्न किये। वे विरह-वेदना को एक साधक के हृदय की सचाई का चिह्न समझते थे और कहा करते थे कि यह "सिदक वा शुद्धहृदयता इस भू पर परमेश्वर की तलवार है, जिसे यह स्पर्श कर देती है वह टुकडे-टुकडे हो जाता है।[2]" जूल नून ने प्रेम की दार्शनिक व्याख्या भी की और इस प्रकार उसे प्राचीन मादन-भाव अथवा प्रणय की भावना से भी उच्च पद तक पहुँचा दिया। जूल नून के अनतर मसूर अल् हल्लाज (मृ० स० ९७८) ने प्रेम-भाव का आदर्श रखा और उन्होने इसे परमेश्वर का सार वा स्वरूप तक मान लिया। उनका कहना था कि "मै वही हूँ जिसको प्यार करता हूँ, जिसे प्यार करता हूँ, वह मैं ही हूँ। हम एक शरीर मे दो प्राणवत् है। यदि तू मुझे देखता है, तो उसे देखता है और यदि उसे देखता है, तो हम दोनो को देखता है"[3] और उनकी इस अद्वैत-भावना ने उन्हें सूली पर चढा दिया।

सूफी-प्रभाव

कहते हैं कि सूफी 'हल्लाज' किसी समय भारत भी आये थे और यहाँ के शाकरस-द्वैत से कदाचित् प्रभावित भी हुए थे। परन्तु उनके किसी प्रत्यक्ष अनुयायी अथवा उनके द्वारा स्थापित किसी शाखा का भी यहाँ पता नही चलता। यहाँ उनके द्वारा प्रचारित मत के कुछ प्रभाव का लक्षित होना भर कहा जा सकता है। शुद्ध तथा गभीर प्रेम-साधना की सहायता से परमेश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव कर अपने को उसकी स्थिति मे वर्तमान समझना यहाँ के लिए कोई नई बात नही। फिर भी केवल 'सरमद' जैसे एकाध को छोड कर भारत के अधिकाश सूफियो ने हल्लाज का अनुसरण नही

१. चंद्रबली पाडेय : तसव्वुफ अथवा सूफी-मत, बनारस १९४५, पृ० ४४ पर उद्धृत।

२ कश्फुल महजूब मे उद्धृत।

३ चन्द्रबली पाडेय तसव्वुफ अथवा सूफ़ी-मत, पृ० ५४ पर उद्धृत।

साधन एवं विश्व-प्रेम का प्रचार किया था। इन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर जिन पदों की रचना की उनका एक संग्रह तमिल में 'प्रबंधम्' नाम से प्रसिद्ध है। इसकी प्रतिष्ठा वेदों की भाँति तमिल वेद के रूप में की जाती है और इसमें संगृहीत रचनाओं का पाठ विशेष धार्मिक उत्सवों के अवसर पर उनसे भी पहले ही किया जाता है। दक्षिण भारत के अनेक मंदिरों में उक्त आळवारों की मूर्तियाँ भी देव-मूर्तियों के साथ-साथ स्थापित की गई हैं और उनका विधिवत् पूजन होता है।

संक्षिप्त परिचय

उक्त १२ आळवार भक्त समकालीन नहीं थे अपितु उनके आविर्भाव का काल लगभग आठ-नौ सौ वर्षों (अर्थात् विक्रम की दूसरी शताब्दी से लेकर उसकी १ वीं) तक व्याप्त रहा। इस कारण उनमें से प्रथम चार को प्राचीन उनके पीछे-वाले क्रमशः पाँच को मध्यकालीन तथा शेष को अंतिम कहने की परिपाटी चली आती है। इन आळवारों में से दो-एक को छोड़कर प्रायः सभी साधारण श्रेणी के मनुष्य थे और कुछ निम्न कोटि की जाति के भी थे। इन्हें सांसारिक विषयों से बहुत कम सहायता मिल सकती थी किंतु अपने उपास्य देव की ओर इनकी लगन सदा एक-सी बनी रही। आळवारों में सर्वप्रसिद्ध नम्म या शठकोप एक शूद्र परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनके जन्म के समय उनके माता-पिता ने उनका भयावना रूप देख कर उन्हें 'मारन' नाम देकर उनका त्याग भी कर दिया था। वे लगभग १६ वर्षों तक एक इमली के वृक्ष के नीचे किसी प्रकार जीवित रहे थे। अंत में किसी ब्राह्मण तीर्थ-यात्री ने उनके निकट जाकर उनसे बातचीत की और उनकी आध्यात्मिक पहुँच का परिचय प्राप्त कर उनकी शिष्यता स्वीकार की तब से वे दोनों गुरु-शिष्य क्रमशः 'शठकोप' तथा 'मधुर कवि' के नाम से प्रसिद्ध हो चले। इन दोनों के अतिरिक्त प्रसिद्ध आळवारों में कुल शेखर तथा आंडाल के नाम आते हैं। इनमें से प्रथम प्रसिद्ध त्रावणकोर राज्य के अधिपति थे और द्वितीय एक महिला थीं जो अपनी माधुर्य भाव भरी भक्ति के कारण आगे चल कर 'गोदा' नाम से मीराँबाई के समान प्रसिद्ध हो गईं।

साधना

आळवार भक्तों की रचनाओं का उक्त संग्रह प्रबन्धम् विक्रम की १२वीं शताब्दी में वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा सम्पादित हुआ। पहले उसके मूल रूप का पाठ हुआ करता था किंतु पीछे उस पर लिखे गए मुख्य-मुख्य भाष्य भी उसके साथ पढ़े जाने लगे। प्रबन्धम्' का पाठ करनेवाले को 'अरैयार' कहते हैं, जो मंडप के समक्ष खड़ा होकर इसका उच्चारण एक निश्चित ढंग से करता है वह किसी

से पहले जाता हुआ नहीं दीख पड़ता । कम से कम हिंदी अथवा उर्दू में इस प्रकार की रचना करनेवाले सूफ़ी कवि विक्रम की १५वीं वा १६वीं शताब्दी से पुराने नहीं मिलते और संत-परंपरा में अब तक गिने-जाने वाले प्रथम व्यक्ति जयदेव का जीवन-काल विक्रम की १३वीं शताब्दी में पड़ जाता है । इसके सिवाय संत-परंपरा के इस काल में आरंभ होने के समय सूफ़ी-मत का प्रचार अधिकतर फ़ारसी रचनाओं के आधार पर हो रहा था । उसके उपदेशक अपने भावों को व्यक्त करते समय केवल फुटकर पद्यों का ही सहारा ले रहे थे । अतएव पहले के संतों का जितना ध्यान उनकी प्रेम-भावना के मूल उपदेशों तथा साधारण शब्दावली की ओर गया, उतना प्रेम-कहानियों की ओर आकृष्ट नहीं हुआ । वे परमेश्वर को कर्ता कहते, गुरु को 'पीर', 'ज़िंद' तथा 'सिकलीगर' तक कह देते और अपनी भावना को 'प्रेमवियान' का नाम देते थे । कर्म तथा जन्मान्तरवाद के विषय में भी सूफ़ियों द्वारा प्रभावित लक्षित होते थे, किंतु उन्होंने किसी प्रेमी वा प्रेमिका की कथा का प्रसंग उधर नहीं छेड़ा और न उनके प्रेम वा विरह को स्वर्गीय प्रेम का कभी आदर्श ही ठहराया । ऐसी बातों के उदाहरण उनमें कदाचित् १७वीं शताब्दी से पहले के नहीं मिलते । फिर भी जहाँ तक प्रेम-भावना की विविध पद्धतियों का संबंध है, वहाँ तक संत लोग सूफ़ियों के ऋणी अवश्य कहे जा सकते हैं ।

(६) भक्तों और साधकों के विविध सम्प्रदाय

क. आडवार और नायन्मार भक्त

आडवार भक्त

पौराणिक युग में जिस उपचार-विशिष्ट भक्ति का अधिक प्रचार था वह बुद्ध-काल के समाप्त होते-होते उत्तरी भारत में कम दीख पड़ने लगी । वह क्रमशः दक्षिण भारत की ओर अग्रसर हुई और उसको अपनानेवाले सर्वप्रथम ऐसे लोग निकले, जो संभवतः बहुत शिक्षित नहीं थे । इन भक्तों में से अधिकांश व्यक्ति तमिल प्रांत के निवासी थे जिनका जीवन बहुत सरल था और जिनकी मुख्य साधना गीतों और भजनों के गान तक सीमित थी । इनमें से कुछ लोग 'आडवार' कहलाते थे जिस शब्द का अभिप्राय कदाचित् ऐसे महात्मा से समझा जाता था जिसने ईश्वरीय ज्ञान तथा भक्ति के समुद्र में भली भाँति अवगाहन कर लिया हो और जो निरंतर परमात्मा के ही ध्यान में लीन रहा करता हो । फिर, 'संत' शब्द की भाँति 'आडवार' शब्द भी कालांतर में केवल इन भक्तों के लिए रूढ़-सा हो गया । इन लोगों की संख्या १२ थी और ये उक्त दक्षिण प्रदेश के विभिन्न स्थानों के निवासी थे । इनका कोई साम्प्रदायिक रूप न था; किंतु इन सबकी आध्यात्मिक मनोवृत्ति प्रायः एक-सी थी और एक ही भक्ति-भावना से प्रेरित होकर इन्होंने एक अपूर्व ढंग के भगवद्-

'तेवारम्' के नाम से संगृहीत है । भक्त संबन्दर के भक्तिपरक उद्‌गार अधिकतर प्राकृतिक सौंदर्य के वर्णनों में भी प्रकट हो जाते हैं और वे उन्मत्त-से बन जाते हैं । इसी प्रकार सुंदरर की रचनाओं के अंतर्गत अपने इष्टदेव भगवान् शिव के प्रति प्रायः सखा-भाव प्रदर्शित मिलता है । इन्हें भी बाह्य प्रकृति के सौंदर्य की ओर विशेष आकर्षण है और इनकी विशेषता इनके हृदय की विशुद्धता में लक्षित होती है । कहा जाता है कि इनका जीवन-काल शेष तीन शैव-भक्तों से कई सौ वर्ष पीछे रहा होगा । किंतु फिर भी ये उन्हीं की कोटियों में रखे जाते हैं । ये चारों शैव भक्त आळवारों के ही समान श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं और इनका भी प्रभाव उनसे कम नहीं बतलाया जाता ।

(ख) वैष्णव आचार्य और महानुभाव भक्त

आचार्य भक्त

आळवारों के अनंतर दक्षिण भारत में वैष्णव-धर्म का प्रचार करनेवाले भक्त आचार्यों के नाम से प्रसिद्ध हुए जो बहुत कुछ 'प्रबन्धम्' द्वारा ही प्रभावित थे और जिनकी अनेक रचनाएँ संस्कृत भाषा में मिलती हैं । इन आचार्यों में सर्वप्रथम नाम रघुनाथाचार्य वा नाथमुनि का लिया जाता है जो विक्रम की १ वीं शताब्दी में श्रीरंगम में वर्तमान थे और जिन्होंने आळवारों के चार सहस्र पदों को चार भागों में सम्पादित किया था । नाथमुनि के अनंतर चौथे आचार्य प्रसिद्ध यामुनाचार्य (सं ९७३ १ ९७) हुए, जिन्होंने आगे प्रचलित होनेवाले श्री सम्प्रदाय के सिद्धांतों का सर्वप्रथम प्रचार किया । इन्होंने 'सिद्धित्रय' जैसे ग्रंथों की रचना कर शंकराचार्य के मायावाद का खंडन किया और 'आगम प्रामाण्य द्वारा' अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन भी किया । यामुनाचार्य अपने कार्यों के कारण अपने पीछे आनेवाले रामानुजाचार्य (१ ८४१११९४) के लिए प्रधान पथ प्रदर्शक बन गए । रामानुजाचार्य ने भी आळवारों की रचना 'प्रबन्धम्' का अध्ययन बड़े मनोयोग के साथ किया था और उत्तरी भारत के तीर्थ-स्थानों की यात्रा कर संस्कृत में अनेक ग्रंथों की रचना की थी । इनके विशिष्टाद्वैत मतानुसार जीवात्मा और जगत् वस्तुतः परमात्मा के गुणविशेष हैं और उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं । वह विशिष्ट ब्रह्म अद्वितीय है और उसकी प्राप्ति केवल ज्ञान मात्र के आधार पर न होकर, वेदविहित कर्मानुष्ठान तथा विविध भक्ति-साधनाओं के अभ्यास द्वारा ही संभव हो सकती है । रामानुजाचार्य के अनंतर और भी कई आचार्य भक्त हुए जिन्होंने इस विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों का स्पष्टीकरण तथा प्रचार किया ।

प्रपत्ति मार्ग

आळवारों का 'प्रबन्धम्' अधिक्षित वा अर्द्धशिक्षित व्यक्तियों की रचनाओं

मी वर्ण वा जाति का मनुष्य हो मकता है। 'प्रवन्धम्' मे सगृहीत पदो द्वारा उक्त आडवारो की भक्ति के स्वरूप का कुछ परिचय मिलता है। उसमे तिरुमलमई वा भक्तिसार नामक चौथे आडवार ने कहा है कि "हे नारायण, मेरे ऊपर आज दया करो, कल भी करो और सदा कृपा वनाये रहो। मुझे विश्वास है कि न मैं तुम्हारे विना हूँ और न तू ही मेरे विना हो।[१]" इसी प्रकार नम्म आडवार वा शठकोप ने भी कहा है कि "हे भगवन्, चाहे जो कुछ भी कष्ट मुझे झेलने पडें, मैं तुम्हारे चरणो के अतिरिक्त शरण के लिए अन्य कोई भी स्थान नही जानता। यदि वालक को उत्पन्न करनेवाली माता क्षणिक रोप मे आकर उसे फेक भी दे, फिर भी उसके ही प्रेम का भूखा वच्चा किसी और को ध्यान मे नही ला सकता और मेरी भी दशा ठीक वैसी ही है।"[२] आडवारो ने अपनी भक्ति के लिए सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य नामक तीनो भावो को साधन बनाया और नम्म तथा आडाल ने अपने पदो मे विशेषकर माधुर्य को अपनाया था। उनकी रचनाओ द्वारा प्रदर्शित भक्ति के अतर्गत जीवात्मा वा परमात्मा के मध्यवर्त्ती एक अलौकिक प्रेम का अश भी विद्यमान है, जिसे आलकारिक भाषा मे हम 'सहवास का प्रेम' कह सकते है।

नायन्मार भक्त

आडवार लोग जहाँ वैष्णव भक्त थे, वहाँ नायन्मार शिव के उपासक रहे। इनमें से चार अर्थात् माणिक्क वाचकर, तिरुज्ञान सबदर, अप्पर और सुदरर के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। माणिक्क वाचकर के लिए कहा जाता है कि इनका जीवन-काल विक्रम की पाँचवी शताव्दी का समय रहा होगा। ये एक महान् पडित और कवि थे। इन्हें सारा जगत् शिवमय प्रतीत होता था और ये प्राय अपने इष्टदेव को किसी प्रेमपात्री के रूप में तथा स्वय अपने को प्रेमी के रूप में प्रदर्शित करते हुए भी, गभीर भक्तिमय उद्गार प्रकट कर दिया करते थे। इन्होंने लोकगीतो की शैली में अच्छी कविता की है। इनका कहना था कि भगवान् शिव सब किसी के लिए अवेद्य रहते हुए भी अपने भक्तो के लिए सुवेद्य हैं। भक्त अप्पर भी एक अच्छे पडित थे और जैन तथा वैदिक सिद्धातो के ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध रह चुके थे। किंतु इनकी भक्ति मे दास्य-भाव प्रमुख था। इन्हें अपने इष्टदेव के प्रति अत्यत गहरी आस्था रही, जिस कारण इनकी पक्तियो में निर्द्वंद्वता भी प्रचुर मात्रा में दीख पडती है। भक्त अप्पर तथा तिरुज्ञान सबदर समकालीन बतलाये जाते हैं। इन दोनो तथा सुदरर की रचनाएँ भी

---

१ जे० एस० कूपर हिम्स ऑफ दि आडवार्स, पृ० १२।

२ नम्म आडवार, जी० ए० नटेसन, मद्रास, पृ० ९।

तिवारम्' के नाम से संगृहीत है। भक्त संबदर के भक्तिपरक उद्‌गार अधिकतर प्राकृतिक सौंदर्य के वर्णनों में भी प्रकट हो जाते हैं और वे उन्मत्त-से बन जाते हैं। इसी प्रकार सुंदरर की रचनाओं के अंतर्गत अपने इष्टदेव भगवान् शिव के प्रति प्रायः सखा-भाव प्रदर्शित मिलता है। इन्हें भी बाह्य प्रकृति के सौंदर्य की ओर विशेष आकर्षण है और इनकी विशेषता इनके हृदय की विशुद्धता में लक्षित होती है। कहा जाता है कि इनका जीवन-काल शेष तीन शैव-भक्तों से कई सौ वर्ष पीछे रहा होगा। किंतु फिर भी ये उन्हीं की कोटियों में रखे जाते हैं। ये चारों शैव भक्त आळवारों के ही समान श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं और इनका भी प्रभाव उनसे कम नहीं बतलाया जाता।

(ख) वैष्णव आचार्य और महानुभाव भक्त

आचार्य भक्त

आळवारों के अनंतर दक्षिण भारत में वैष्णव-धर्म का प्रचार करनेवाले भक्त आचार्यों के नाम से प्रसिद्ध हुए जो बहुत कुछ 'प्रबन्धम्' द्वारा ही प्रभावित थे और जिनकी अनेक रचनाएँ संस्कृत भाषा में मिलती हैं। इन आचार्यों में सर्वप्रथम नाम रङ्गनाथाचार्य वा नाथमुनि का लिया जाता है जो विक्रम की १० वीं शताब्दी में श्रीरंगम में वर्तमान थे और जिन्होंने आळवारों के चार सहस्र पदों को चार भागों में सम्पादित किया था। नाथमुनि के अनंतर चौथे आचार्य प्रसिद्ध यामुनाचार्य (सं० ९७३-१०९७) हुए, जिन्होंने आगे प्रचलित होनेवाले श्री सम्प्रदाय के सिद्धांतों का सर्वप्रथम प्रचार किया। इन्होंने 'सिद्धित्रय' जैसे ग्रंथों की रचना कर शंकराचार्य के मायावाद का खंडन किया और 'आगम प्रामाण्य द्वारा' अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन भी किया। यामुनाचार्य अपने कार्यों के कारण अपने पीछे आनेवाले रामानुजाचार्य (१०८४-११९४) के लिए प्रधान पथ प्रदर्शक बन गए। रामानुजाचार्य ने भी आळवारों की रचना 'प्रबन्धम्' का अध्ययन बड़े मनोयोग के साथ किया था और उत्तरी भारत के तीर्थ-स्थानों की यात्रा कर संस्कृत में अनेक ग्रंथों की रचना की थी। इनके विशिष्टाद्वैत मतानुसार जीवात्मा और जगत् वस्तुतः परमात्मा के गुणविशेष हैं और उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं। वह विशिष्ट ब्रह्म अद्वितीय है और उसकी प्राप्ति केवल ज्ञान मात्र के आधार पर न होकर, वेदविहित कर्मानुष्ठान तथा विविध भक्ति-साधनाओं के अभ्यास द्वारा ही संभव हो सकती है। रामानुजाचार्य के अनंतर और भी कई आचार्य भक्त हुए जिन्होंने इस विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों का स्पष्टीकरण तथा प्रचार किया।

प्रपत्ति मार्ग

आळवारों का 'प्रबन्धम्' अशिक्षित वा अर्द्धशिक्षित व्यक्तियों की रचनाओं

का सग्रह था जिसमे केवल हृदय-पक्ष की ही प्रधानता थी। किंतु इन आचार्यो के विविध ग्रथो मे मस्तिष्क-पक्ष की भी प्रौढता दीख पडी। इन्होंने मीमासको के कोरे कर्मकाड तथा शाकराद्वैतवादियो के ज्ञानकाड का अनेक युक्तियो के साथ खडन किया और अपने भक्तिकाड के अनुसार प्रसिद्ध वेदात-ग्रथो का तात्पर्य भी निर्धारित किया। तदनुसार इन्होंने स्मार्तो द्वारा प्रचलित किये गए एक से अधिक देवताओ की पूजन-प्रणाली को अस्वीकार कर एकमात्र विष्णु भगवान् की आराधना का प्रचार किया और उसके लिए तीन उच्च वर्णों के अतिरिक्त शूद्रो को भी योग्य ठहराया। शूद्रो-जैसे निम्न श्रेणीवालो के विशेषकर 'प्रपत्ति' की व्यवस्था दे दी, जिसका मुख्य अभिप्राय अपने को भगवान् की शरण मे समर्पित कर उन्ही की दया-मात्र पर पूर्ण भरोसा करना रहा। परन्तु इस प्रपत्ति का भी अर्थ कालातर मे दो भिन्न-भिन्न दृष्टियो से लगाया जाने लगा। वेदात देशिक (स० १३२५ १४२६), के अनुसार प्रपत्ति भी अन्य साधनो की भाँति केवल एक मार्ग है जिसका अवलबन ज्ञान, कर्म आदि के न हो सकने पर कर लेना चाहिए। परन्तु मनवल महामुनि (स० १४२७ १५००) तथा उनके पक्षवालो का कहना है कि प्रपत्ति को एक निरा मार्ग मात्र ही न मान कर, उसे सब कुछ समझ लेना चाहिए और उसी की भावना के अनुसार अपनी मनोवृत्ति तक निर्मित कर लेनी चाहिए। पहले मत वाले इसी कारण 'वाड कडाई' कहलाये जिनके अनुसार भक्त तथा भगवान् का सबध किसी बदरी की छाती से चिपके हुए बच्चे तथा उस बदरी का सा होना चाहिए। दूसरे मत वाले 'टेन-कडाई' कहला कर प्रसिद्ध हुए जिन्होंने उसी भावना का अर्थ, बिल्ली के अबोध बच्चे की भाँति अपनी माँ द्वारा जहाँ कही भी उठा कर रखे जाने तथा अपनी ओर से कुछ भी प्रयास न करने का दृष्टात देकर समझाया।

अन्य आचार्य

भक्ति-साधना का प्रचार उक्त आडवारो के समय से लेकर इन आचार्यों के समय तक भारत के अन्य प्रदेशो मे भी किसी प्रकार होता जा रहा था। यह वस्तुत भक्ति का ही युग था और श्री रामानुजाचार्य की भाँति उनके पीछे आने-वाले उनसे भिन्न मतवाले अन्य आचार्यों ने भी अपने पक्ष के समर्थन मे विविध दार्शनिक ग्रथो की रचना करते हुए भक्ति-मार्ग की भिन्न-भिन्न शाखाओ का प्रवर्त्तन किया। तदनुसार निबार्काचार्य (स० ११७१ १२१९) ने अपने द्वैताद्वैत सिद्धातो के आधार पर राधा-कृष्ण की भक्ति प्रतिपादित की। मध्वाचार्य (स० १२५४ १३३३) ने अपने द्वैत सम्प्रदाय के अनुकूल भक्ति को अतिम निष्ठा का पद प्रदान किया। वल्लभाचार्य (स० १५३६ १५८७) ने अपने शुद्धाद्वैत मतानुसार 'पुष्टि-मार्ग' का प्रतिपादन कर भक्ति की प्रबल धारा बहा दी। इसी प्रकार चैतन्य

देव (सं० १५४२ — १५९९) ने भी 'अविरुद्ध भेदाभेद' सिद्धांत के आधार पर अपनी रागानुगा भक्ति का प्रचार किया। श्री रामानुजाचार्य के 'श्री सम्प्रदाय' के समान ही इन महापुरुषों ने भी अपने-अपने सम्प्रदाय प्रचलित किये जिस कारण भक्ति-साधना के महत्त्व की धाक क्रमशः सारे देश में व्याप्त हो गई। दक्षिण भारत से लेकर पूर्व की ओर बंग देश, पश्चिम की ओर गुजरात तथा उत्तर की ओर वृन्दावन तक का भू-खंड विशेषतः भक्ति से प्रभावित हो गया। वैष्णव सम्प्रदायों के इन प्रवर्त्तकों के अनुसार 'जीवन्मुक्ति' मान्य न होने के कारण उसके स्थान पर 'विदेह मुक्ति' स्वीकार की गई थी। 'श्री सम्प्रदाय' के अनुयायी भक्त का भगवान् के समान होकर उसके समक्ष किंकरवत् बना रहना परम मुक्ति का ध्येय मानते थे तो माध्व सम्प्रदायवाले भगवान् में प्रवेश कर वा उसके साथ युक्त होकर समग्र आनंद का उपभोग करना मोक्ष का अंतिम रहस्य बतलाते थे। इसी प्रकार 'निंबार्क सम्प्रदाय' का अनुसरण करनेवाले भक्त का पूर्णतः भगवद्भावापन्न होकर सभी दुःखों से रहित हो जाना मुक्ति का लक्ष्य मानते थे तो वल्लभ-सम्प्रदायवाले उक्त अंतिम स्थिति का स्वरूप विशेषतः भगवान् के अनुग्रह द्वारा उसके साथ एक प्रकार का अभेद-योजन बतलाते थे। 'चैतन्य सम्प्रदाय' के अनुयायी भी इसी प्रकार भक्ति को वैधी की जगह रागानुगा कहकर आर्त्त भाव द्वारा भगवान् के धाम में प्रवेश पा लेना सर्वोत्तम समझते थे।

साधना-भेद

इन वैष्णव सम्प्रदायों की साधना-प्रणालियों में भी इसी कारण कुछ न कुछ अंतर दीख पड़ता था। 'श्री सम्प्रदाय' के अनुयायी वर्णाश्रम-विहित कर्मों के विधान का पालन करना चित्त-शुद्धि के लिए अत्यंत आवश्यक मानते थे और उसके अनंतर ही ब्रह्म की जिज्ञासा को समय समझते थे। परन्तु ब्रह्म के ज्ञान तथा उक्त कर्मों के होते हुए भी बिना भक्ति के मुक्ति का होना वे असंभव समझते थे। यह भक्ति भी उनके अनुसार वह परा प्रपत्ति थी जिसे पूर्ण वा अनन्य शरणागति भी कह सकते हैं। बिना भगवान् के शरणापन्न हुए जीव का कल्याण नहीं हो सकता, अतएव उसके ध्यान में सदा मग्न रह कर उसकी कृपा के लिए निरंतर प्रार्थना में निरत रहना ही उनकी मुख्य साधना थी।

निंबार्काचार्य के 'सनक सम्प्रदाय' को भी शरणागति का उक्त भाव स्वीकृत था किंतु वह श्री सम्प्रदाय के उक्त ध्यानयोग पर अधिक अवलंबित रहना आवश्यक नहीं मानता था। इसके सिवाय इन दोनों के उपास्य देवों में भी अंतर था। 'श्री सम्प्रदाय' वाले जहाँ लक्ष्मी नारायण को इष्टदेव मानते थे वहाँ 'सनक सम्प्रदाय' के सर्वस्व राधा-कृष्ण थे। इसी प्रकार मध्वाचार्य के 'ब्रह्म सम्प्र-

का सग्रह था जिसमे केवल हृदय-पक्ष की ही प्रधानता थी। किंतु इन आचार्यों के विविध ग्रथो मे मस्तिष्क-पक्ष की भी प्रौढता दीख पडी। इन्होंने मीमासको के कोरे कर्मकाड तथा शाकराद्वैतवादियो के ज्ञानकाड का अनेक युक्तियो के साथ खडन किया और अपने भक्तिकाड के अनुसार प्रसिद्ध वेदात-ग्रथो का तात्पर्य भी निर्धारित किया। तदनुसार इन्होंने स्मार्तों द्वारा प्रचलित किये गए एक से अधिक देवताओ की पूजन-प्रणाली को अस्वीकार कर एकमात्र विष्णु भगवान् की आराधना का प्रचार किया और उसके लिए तीन उच्च वर्णों के अतिरिक्त शूद्रो को भी योग्य ठहराया। शूद्रो-जैसे निम्न श्रेणीवालो के विशेषकर 'प्रपत्ति' की व्यवस्था दे दी, जिसका मुख्य अभिप्राय अपने को भगवान् की शरण मे समर्पित कर उन्ही की दया-मात्र पर पूर्ण भरोसा करना रहा। परन्तु इस प्रपत्ति का भी अर्थ कालातर मे दो भिन्न-भिन्न दृष्टियो से लगाया जाने लगा। वेदात देशिक (स० १३२५ १४२६), के अनुसार प्रपत्ति भी अन्य साधनो की भाँति केवल एक मार्ग है जिसका अवलबन ज्ञान, कर्म आदि के न हो सकने पर कर लेना चाहिए। परन्तु मनवल महामुनि (स० १४२७ १५००) तथा उनके पक्षवालो का कहना है कि प्रपत्ति को एक निरा मार्ग मात्र ही न मान कर, उसे सब कुछ समझ लेना चाहिए और उसी की भावना के अनुसार अपनी मनोवृत्ति तक निर्मित कर लेनी चाहिए। पहले मत वाले इसी कारण 'वाड कडाई' कहलाये जिनके अनुसार भक्त तथा भगवान् का सबध किसी बदरी की छाती से चिपके हुए बच्चे तथा उस बदरी का सा होना चाहिए। दूसरे मत वाले 'टेन-कडाई' कहला कर प्रसिद्ध हुए जिन्होने उसी भावना का अर्थ, बिल्ली के अबोध बच्चे की भाँति अपनी माँ द्वारा जहाँ कही भी उठा कर रखे जाने तथा अपनी ओर से कुछ भी प्रयास न करने का दृष्टात देकर समझाया।

अन्य आचार्य

भक्ति-साधना का प्रचार उक्त आडवारो के समय से लेकर इन आचार्यों के समय तक भारत के अन्य प्रदेशो मे भी किसी प्रकार होता जा रहा था। यह वस्तुत भक्ति का ही युग था और श्री रामानुजाचार्य की भाँति उनके पीछे आने-वाले उनसे भिन्न मतवाले अन्य आचार्यों ने भी अपने पक्ष के समर्थन मे विविध दार्शनिक ग्रथो की रचना करते हुए भक्ति-मार्ग की भिन्न-भिन्न शाखाओ का प्रवर्त्तन किया। तदनुसार निंबार्काचार्य (स० ११७१ १२१९) ने अपने द्वैताद्वैत सिद्धातो के आधार पर राधा-कृष्ण की भक्ति प्रतिपादित की। मध्वाचार्य (स० १२५४ १३३३) ने अपने द्वैत सम्प्रदाय के अनुकूल भक्ति को अतिम निष्ठा का पद प्रदान किया। वल्लभाचार्य (स० १५३६ १५८७) ने अपने शुद्धाद्वैत मतानुसार 'पुष्टि-मार्ग' का प्रतिपादन कर भक्ति की प्रबल धारा बहा दी। इसी प्रकार चैतन्य

आत्म-प्रत्यय की दृढ़ धारणा तथा तत्त्वोपलब्धि की अलौकिक दीप्ति का इसमें आ जाना अनिवार्य सा है। जिस प्रकार सृष्टि के आदि में परमतत्त्व सदाशिव पूर्ण अहं मिस 'अहं' की स्फूर्ति द्वारा अनेक प्रकार की लीलाओं में प्रवृत्त होकर स्वयं आनंदित हुआ करते हैं उसी प्रकार 'अहं परमेश्वर' का अनुभव करने वाला साधक भी भक्ति के लिए द्वैत की कल्पना करके उसके सौंदर्य द्वारा प्रभावित हो जाया करता है यद्यपि इसके कारण वह किसी प्रकार के द्वैत-भाव में नहीं पड़ा करता। वास्तव में द्वैत की ऐसी भावना अद्वैत से भी कहीं अधिक सुंदर होती है। दो अभिन्न हृदय मित्र वा पति-पत्नी की भाँति जीवात्मा और परमात्मा समरसानंद में अमृत का पान करते हैं।[1]

वीर शैव सम्प्रदाय

वीर शैव सम्प्रदाय का एक अन्य नाम 'लिंगायत सम्प्रदाय' भी है और इसके प्रमुख प्रवर्तक बसवेश्वर समझे जाते हैं। इनके लिए प्रसिद्ध है कि वे कर्णाटक प्रांत के कल्याण में सं० १२११ से सं० १२२३ तक राज्य करने वाले राजा बिज्जल के प्रधान मंत्री थे। इनके अनुयायियों में परमतत्त्व को 'लिंग' की संज्ञा दी गई है और उसे 'परशिव' तथा 'पराशक्ति' का सामरस्य कहा गया है जो सर्वथा अनुपम तथा अनिर्वचनीय है। इसकी सम्यक् अनुभूति को ही यहाँ आदर्श स्थिति भी बतलाया गया है। इसके लिए '*शिवयोग*' की व्यवस्था की गई है जिसमें *ध्यान* तथा चिंतन द्वारा उसका 'साक्षात्कार' प्राप्त किया जाता है। 'वचन साहित्य' के अध्ययन से पता चलता है कि यहाँ पर वस्तुतः आत्यंतिक सत्य के ऐसे 'अनुभाव' को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इसकी उपलब्धि जिस किसी ऐसे साधक को हो जाती है उसे 'शरण' वा शरणापन्न भी अभिहित किया गया है। कहते हैं कि बसवेश्वर ने इस प्रकार की साधना के लिए किसी संस्था विशेष की स्थापना भी की थी जिसे 'अनुभव मंटप' कहते थे। 'अनुभावी' पुरुष की दशा उस जीवन्मुक्त की सी हुआ करती है जो सर्वथा *द्वंद्वातीत हुआ करता है*। परन्तु उसका *कर्तव्य* केवल आत्म-चिंतन तथा मनन तक ही सीमित न रह कर विश्वकल्याण की भावना के प्रति भी उन्मुख रहता है। इनके यहाँ किसी प्रकार का समाजगत भेद-भाव नहीं है और जीविकोपार्जन के लिए किये जाने वाले शारीरिक प्रयास को ईश्वरार्पित कर्म समझा जाता है। इसे यहाँ पर 'कायक' की संज्ञा दी जाती है और कहा जाता है कि "कायक ही कैवल्य वा कैलाश है" तथा 'व्रत-भंग सह्य है, किंतु काम का भंग कदापि सह्य

---

1 अतस्पर्वं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्। आसां समरसानन्दं द्वैतमप्यमृतोपमम्। मित्रयोरिव दम्पत्यो जीवात्म परमात्मनो ॥(बोधसार) पृ० २ ०–१।

दायवाले हरि वा भगवान् की प्राप्ति को अपने प्रत्यक्ष अनुभव की बात समझते हुए उसके लिए वैराग्य, शम, दम, शरणागति आदि अष्टादश साधनाओ को उपयोग मे लाकर उनके आधार पर उपासना करना अपना कर्तव्य समझते थे। 'बल्लभ-सम्प्रदाय' के पुष्टिमार्गी अपने आराध्य देव श्रीनाथ का विधिवत् पूजन करते थे तथा उन्हे भजनादि गा कर पूर्णत रिझाने के यत्न भी करते थे। परन्तु चैतन्य सम्प्रदायवाले पूजन-अर्चन-प्रणाली को प्राय उपेक्षा की दृष्टि से ही देखते थे और उनका एकमात्र साधन हरि-नाम का स्मरण तथा कीर्तन था जिसके द्वारा उन्हे 'महाभाव' की प्राप्ति होती थी।

महानुभाव भक्त

महानुभाव भक्तो मे अग्रगण्य चक्रधर स्वामी कहे जाते हैं जिनका जीवन-काल स० १२५१ से स० १३३१ तक रहा। ये गुजरात के मूल निवासी थे और इनका नाम पहले हरपाल देव था। ये किसी राजा के पुत्र भी कहे जाते हैं। प्रसिद्ध है कि द्यूत में कई बार हार जाने के अनतर, इन्हे उत्कट वैराग्य हो आया और ये भगवान् की खोज में रामगिरि की ओर चल पडे। इन्होने ऋद्धिपुर मे जाकर गोविंद प्रभु से मत्रोपदेश लिया और इसके अनतर 'चक्रधर' नाम से विरक्त रूप मे विचरण करने लगे। ये परमात्मा को श्रीकृष्ण के रूप में देखते थे और इनकी निष्ठा ज्ञान से अधिक भक्ति के प्रति ही प्रबल थी। तदनुसार इनके अनुयायियो ने भी श्रीकृष्ण-भक्ति को ही अपनाया तथा अपने इष्टदेव को श्रीकृष्ण, दत्तात्रेय, चागदेव, गुडम राउल तथा चक्रधर इन 'पच-कृष्ण-अवतार' के रूपो में प्रतिष्ठित मान कर उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा के भाव प्रदर्शित किये। इनका साम्प्रदायिक साहित्य एक विचित्र लिपि में लिखा जाता था, जिस कारण इन भक्तो के सिद्धात और साधना की बातें बहुत दिनो तक गुप्त रहती आई थी। अतएव, इनके प्रति प्राय तिरस्कार का भाव तक प्रदर्शित किया जाता था। परन्तु इधर की खोजो द्वारा तथ्य के प्रकाश में आ जाने पर इस सम्प्रदाय को उचित महत्त्व प्रदान किया जाने लगा है तथा इसका कुछ न कुछ परिचय भी दिया जाता है। चक्रधर स्वामी द्वारा रचे गए किसी ग्रथ का पता नही चलता, प्रत्युत उनके उपलब्ध वचनो को ही पूर्ण महत्त्व देने की परपरा पायी जाती है। इस कारण उनके अनु-यायियो के यहाँ इस प्रकार के 'सूत्रो' को बडी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। इनके अनुसार किन्ही देवताओ की उपासना न करके, केवल एक 'परमेश्वर' को ही अपना इष्टदेव स्वीकार कर लेना ठीक है। वेद-मार्ग के अनुसार चलना उचित नही है और न चातुर्वर्ण्य को मान कर व्यवहार करना ही कभी श्रेयस्कर कहा जा सकता है। जहाँ तक परमेश्वर की उपासना का प्रश्न है, इनके यहाँ

"ज्ञान हो जाने पर, सर्वसंग परित्यागपूर्वक एक भिक्षु की भाँति परमेश्वराधीन रहना ही उसका 'अनुसरण' करना है।[1] उसको नाम रूप (मूर्ति) लीला तथा चेष्टा इन बातों के आधार पर, चार प्रकार से स्मरण करने का विधान भी कर दिया गया मिलता है।[2] परन्तु महानुभावों के ऐसे 'अनुसरण' तथा स्मरण' संबंधी उपलब्ध विवरणों के साथ उपर्युक्त आचार्यों के 'प्रपत्ति-मार्ग' का पूरा मेल खाता नहीं जान पड़ता।

(घ) कश्मीरी शैव सम्प्रदाय तथा कर्णाटक का वीर शैव सम्प्रदाय

कश्मीरी शैव सम्प्रदाय

दक्षिण भारत के अंतिम आलवार भक्तों के समय तथा संभवतः शैव-भक्त सुंदरर के कुछ ही अनंतर कश्मीर प्रदेश में भी कतिपय शैवों का आविर्भाव होने लगा था। इनकी परंपरा में अनेक महापुरुष हुए और उन्होंने कश्मीर शैव मत का प्रचार किया। इनका सम्प्रदाय भी उपर्युक्त वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति कतिपय दार्शनिक सिद्धांतों पर आश्रित रहा और इनके आचार्यों ने भी अपने मत का प्रतिपादन करते समय बड़ी योग्यता प्रदर्शित की। इसके मूल प्रवर्त्तक वसुगुप्त माने जाते हैं जो विक्रम की ९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वर्तमान थे और जिनके 'शिवसूत्र' प्रसिद्ध हैं। इनके प्रसिद्ध शिष्यों में से *कल्लट ने स्पन्द* शास्त्र संबंधी ग्रंथों की रचना की और सोमानंद ने 'प्रत्यभिज्ञा मत' को प्रवर्तित किया। इन दोनों आचार्यों के दार्शनिक विचार मूलतः एक ही प्रकार के थे किंतु उनके प्रतिपादन की शैली तथा कतिपय अन्य बातों में बहुत कुछ अंतर दीख पड़ता था। इनका दार्शनिक मत 'ईश्वराद्वयवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जो स्वामी शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैतवाद से कई बातों में भिन्न था। ईश्वराद्वयवाद के समर्थकों का कहना था कि ईश्वर ब्रह्म की भाँति निष्क्रिय नहीं किंतु स्वतंत्र कर्त्ता स्वरूप है। माया उसकी स्वातन्त्र्यशक्ति वा स्वेच्छा परिगृहीत मात्र है जिसे किसी प्रकार की बाधा स्वीकार करना ठीक नहीं। ईश्वर इस अपनी इच्छा के अनुसार नटवत् लीला करने के लिए प्रयोग में लाया करता है और इसके द्वारा स्व-स्फुरण किया करता है। 'विमर्श' आत्मा का स्वभाव है और ज्ञान तथा क्रिया में यहाँ पर कोई भी अंतर नहीं है, प्रत्युत इन दोनों की उन्मुखता को ही यहाँ उसकी 'इच्छा' कहा करते हैं।

---

१ विष्णु भिकाजी कोलते : महानुभावांचा आचार धर्म मलकापुर बरार, १९४८ ई० पृ० ७।

२ वही, पृ० २९१।

नही है।" इस प्रकार 'वीर शैवो' अथवा 'लिगायतो' मे ऐसी अनेक बातें पायी जा सकती हैं जिन्हे पिछले सतो के यहाँ भी महत्त्व दिया गया। कश्मीरी शैव सम्प्रदाय की ज्ञानमूलक भक्ति वीर शैव सम्प्रदाय के अनुसार कर्ममूलक जैसी दीख पडती है और सतो के यहाँ दोनो का स्तर एक है।

(घ) वारकरी सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय

वारकरी-सम्प्रदाय

ईश्वराद्वयवाद की उपर्युक्त अद्वैत-परक भक्ति का ही प्रभाव कदाचित् उस वैष्णव सम्प्रदाय पर भी किसी न किसी प्रकार पडा था जो दक्षिण भारत के पढरपुर नामक स्थान के आस-पास विक्रम की १३वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे किसी समय प्रचलित हुआ था। इसके प्रवर्त्तको मे सर्वश्रेष्ठ ज्ञानदेव वा ज्ञानेश्वर (स० १३३२ १३५३) माने जाते हैं और यह सम्प्रदाय आज तक 'वारकरी सम्प्रदाय' कहला कर प्रसिद्ध है। ज्ञानेश्वर आलदी ग्राम के निवासी एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, जिन्होंने अपनी 'ज्ञानेश्वरी' तथा 'अमृतानुभव' जैसी महत्त्वपूर्ण रचनाओ द्वारा उक्त सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धातो को स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित कर उसकी भक्ति-साधना का सर्वसाधारण मे प्रचार किया था। 'अमृतानुभव' मे पाये जानेवाले उनके एक पद[1] से जान पडता है कि उक्त कश्मीरी शैव सम्प्रदाय के मूलाधार 'शिव सूत्रो' का उन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडा था और कदाचित् इसी कारण उन्होने शाकराद्वैत के माया-वाद का खडन भी किया था। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि पढरपुर मे स्थापित विट्ठल नामक विष्णु वा कृष्ण की मूर्ति के सिर पर शिव की मूर्ति बनी हुई है। वारकरी सम्प्रदाय के अनुयायी शिव तथा विष्णु अथवा हर वा हरि मे कभी कोई भेद भी नही माना करते, अपितु एकादशी तिथि के व्रत के साथ-साथ सोमवार के दिन भी उपवास करते है।[2] इस सम्प्रदाय की साधना मे योग-साधना को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जो उक्त कश्मीरी शैव सम्प्रदाय की एक विशेषता है।

ज्ञानेश्वर तथा अन्य वारकरी

ज्ञानेश्वर की सर्वप्रसिद्ध रचना 'ज्ञानेश्वरी' श्रीमद्भगवद्गीता पर एक सुदर भाष्य है, जो सम्प्रदाय के सिद्धातो के अनुसार मराठी भाषा मे निर्मित हुआ है। यह निर्गुण तथा निराकार परमात्मा की भक्ति का अद्वैतवाद की भावना के अनु-

---

१ 'आणि ज्ञानबन्धु ऐसे। शिव सूत्राचे निमिषे। ह्मणितलै असे। सदा शिवे।' ३, १६ (डॉ० रानाडे मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० १७९ पर उद्धृत)

२ बलदेव उपाध्याय . वारकरीज, दी फोरमोस्ट वैष्णव सेक्ट ऑफ महाराष्ट्र, दी इडियन हिस्टारिकल क्वार्टली, भा० १५, १९३९ ई०, पृ० २७४।

आत्म-प्रत्यय की दृढ़ भक्ति तथा तत्त्वोपलब्धि की अलौकिक शांति का इसमें आ जाना अनिवार्य सा है। जिस प्रकार सृष्टि के आदि में परमतत्त्व सदाशिव पूर्ण अहं-भिन्न 'अहं' की स्फूर्ति द्वारा अनेक प्रकार की लीलाओं में प्रवृत्त होकर स्वयं आनंदित हुआ करते हैं उसी प्रकार 'अहं परमेश्वरः' का अनुभव करने वाला साधक भी भक्ति के लिए द्वैत की कल्पना करके उसके सौंदर्य द्वारा प्रभावित हो जाया करता है, यद्यपि इसके कारण वह किसी प्रकार के द्वैत-भाव में नहीं पड़ा करता। वास्तव में द्वैत की ऐसी भावना अद्वैत से भी कहीं अधिक सुंदर होती है। दो अभिन्न हृदय मित्र वा पति-पत्नी की भाँति जीवात्मा और परमात्मा समरसानंद के अमृत का पान करते हैं।[1]

वीर शैव सम्प्रदाय

वीर शैव सम्प्रदाय का एक अन्य नाम 'लिंगायत सम्प्रदाय' भी है और इसके प्रमुख प्रवर्तक बसवेश्वर समझे जाते हैं। इनके लिए प्रसिद्ध है कि वे कर्णाटक प्रांत के कल्याण में सं० १२१३ से सं० १२२३ तक राज्य करने वाले राजा बिज्जल के प्रधान मंत्री थे। इनके अनुयायियों में परमतत्त्व को 'लिंग' की संज्ञा दी गई है और उसे 'परशिव' तथा 'पराशक्ति' का सामरस्य कहा गया है जो सर्वथा अनुपम तथा अनिर्वचनीय है। इसकी सम्यक् अनुभूति को ही यहाँ आदर्श स्थिति भी बतलाया गया है। इसके लिए 'शिवयोग' की व्यवस्था की गई है जिसमें ध्यान तथा चिंतन द्वारा उसका 'साक्षात्कार' प्राप्त किया जाता है। 'वचन साहित्य' के अध्ययन से पता चलता है कि यहाँ पर वस्तुतः आत्यंतिक सत्य के ऐसे 'अनुभाव' को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इसकी उपलब्धि जिस किसी ऐसे साधक को हो जाती है उसे 'शरण' वा शरणापन्न भी अभिहित किया गया है। कहते हैं कि बसवेश्वर ने इस प्रकार की साधना के लिए किसी संस्था विशेष की स्थापना भी की थी जिसे 'अनुभव मंटप' कहते थे। 'अनुभावी' पुरुष की दशा उस जीवन्मुक्त की सी रहा करती है जो सर्वथा द्वंद्वातीत हुआ करता है। परन्तु उसका कर्तव्य केवल आत्म-चिंतन तथा मनन तक ही सीमित न रह कर विश्व कल्याण की भावना के प्रति भी उन्मुख रहता है। इनके यहाँ किसी प्रकार का समाजगत भेद-भाव नहीं है और जीविकोपार्जन के लिए किये जाने वाले शारीरिक प्रयास को ईश्वरार्पित कर्म समझा जाता है। इसे यहाँ पर 'कायक' की संज्ञा दी जाती है और कहा जाता है कि 'कायक ही कैवल्य वा कैलास है' तथा "व्रत-भंग सह्य है किंतु काय का भंग कदापि सह्य

---

१ भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्। आस्तां समरसानन्दं द्वैतमप्यमृतोपमम्। मित्रयोरिव दम्पत्यो जीवात्म परमात्मनो ॥ (बोधसार) पृ० ९ ०-१।

प्रत्यभिज्ञा

अतएव मोक्ष न तो केवल ज्ञान से समव है और न कोरी भक्ति से ही, किंतु इन दोनो का सामजस्य होना परमावश्यक है। शुद्ध भक्ति की भावना में द्वैत-भाव की अपेक्षा रहा करती है जो अज्ञान का परिचायक है इस कारण मोह का होना भी समव है। परन्तु ज्ञान के अनतर जानबूझ कर कल्पित की गई भक्ति की द्वैतमूलक भावना में इस बात की कोई आशका नही रहती और इसी प्रकार की भक्ति वस्तुत नित्य कहलाने योग्य भी ठहरती है। इस सम्प्रदाय द्वारा प्रयुक्त 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द से भी अभिप्राय यही है कि साधक अपनी ज्ञात वस्तु को ही फिर से जान कर आनदित होता है। जिस 'अद्वय' ईश्वर का ज्ञान उसे पहले कदाचित् अस्पष्ट रूप में प्राप्त रहा करता है उसे ही वह अपने गुरु की सहायता से पूर्णत पहचान कर अपना लिया करता है। इस प्रकार की स्वानुभूति उसके भीतर एक अनिर्वचनीय आनद का कारण बनती है। ऐसे अद्वैत-भाव में द्वैत-भाव की कल्पना और निर्गुण-भाव में भी सगुण-भाव का काल्पनिक आरोप इस मत की एक विशेषता थी जिसे आगे चल कर सतो ने भी किसी न किसी रूप में स्वीकार किया।

ज्ञानमूलक भक्ति

इस प्रत्यभिज्ञा-विशिष्ट सम्प्रदाय का विकास वस्तुत अपने दार्शनिक सिद्धातो के अनुसार ही हुआ था। इसके प्रतिपादको मे अभिनवगुप्त जैसे महान् आचार्यों के भी नाम लिये जाते हैं। परन्तु इसके उन साधको द्वारा स्वीकृत साधना-पद्धति का महत्त्व भी कुछ कम न रहा जो अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक अभिवृद्धि के लिए विशेषत योग-साधना को अपनाते थे। इनका कहना था कि वास्तविक रहस्य का पता केवल योग-क्रिया द्वारा ही समव है, क्योकि उसी की सहायता से सारी बातें हमारे प्रत्यक्ष अनुभव मे आ सकती हैं। उनको हम तत्त्वत जानने मे भी समर्थ हो सकते हैं और उसी के वल पर हमे अपने मायाजनित आवरणो को दूर कर पूर्णत निरावृत हो जाने का अवसर मिलता है।[१] वास्तव मे हम उसी के सहारे उस मोक्ष की स्थिति के अधिकारी भी वन जाते है जो नित्य-सिद्ध ज्ञान-भक्ति का उन्मेष रूप है। ज्ञानमूलक अद्वैत भक्ति सदा अहेतुकी, किंतु सर्वथा आनद विधायिनी हुआ करती है, क्योकि इसमे द्वैत भावजनित पराश्रयता की आशका किंचिन्मात्र भी नही रहा करती, प्रत्युत स्वानुभूति की पूर्ण तृप्ति,

---

१ जगदीशचद्र चटर्जी कश्मीर शैविज्म, भा० १, श्रीनगर, १९१४ ई०, पृ० १६३-४।

सार प्रतिपादन करता है और इसकी शैली अत्यंत आकर्षक है। ज्ञानेश्वर ने अपने केवल २१ वर्षों के अल्प जीवन-काल मे ग्रंथ रचना के अतिरिक्त तीर्थ-यात्रा भी की थी जिसका रोचक वर्णन इनके सहयोगी मित्र वा कदाचित् शिष्य नामदेव (सं० १३२७ १४०७) ने अपनी रचना 'तीर्थावली' में किया है। ये नामदेव संभवतः वे ही हैं जिनका नाम कबीर साहब आदि संतों ने बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है और जिनकी बहुत-सी हिंदी रचनाएँ भी आज तक उपलब्ध हैं। ज्ञानेश्वर तथा नामदेव के अतिरिक्त उक्त सम्प्रदाय मे आगे चल कर एकनाथ (सं १५९० १६५६) तथा तुकाराम (सं १६६५ १७०७) जैसे अन्य संत भी हुए। इन्होंने इसके सिद्धांतों का प्रचार किया। समय पाकर इसके अंतर्गत चार शाखाएँ भी चलीं जिनके नाम १ चैतन्य सम्प्रदाय २ स्वरूप सम्प्रदाय ३ आनंद सम्प्रदाय तथा ४ प्रकाश सम्प्रदाय बतलाये जाते हैं। इनके अनुयायी इस समय महाराष्ट्र के बाहर बरार, गुजरात कर्णाटक और आन्ध्र तक मे भी पाये जाते हैं। इसके प्रधान प्रचारकों ने अपने मत का प्रचार अधिकतर मराठी भाषा मे रचे गए अभंगों द्वारा किया है। इसके कुछ बड़े-बड़े संतों की अनेक रचनाएँ हिंदी भाषा मे भी मिलती हैं और ऐसे लोगों मे नामदेव सबसे अधिक विख्यात हैं।

निर्गुणोपासना

वारकरी सम्प्रदाय एक प्रकार का स्मार्त सम्प्रदाय है जिसमें पंच-देवों की पूजा का विधान है। किंतु इसके सर्व प्रधान इष्टदेव विट्ठल भगवान् हैं जिनकी मूर्ति पंढरपुर में भीमा नदी के किनारे बनी हुई है। वे रुक्मिणी के साथ वर्तमान वस्तुतः श्रीकृष्ण के ही प्रतीक हैं। परमात्मा को निर्गुण ब्रह्म बतलाते हुए तथा अद्वैत भाव के समर्थक होते हुए भी इसके अनुयायी भक्ति-साधना को सर्वोत्तम ठहराते हैं। इनकी यह भक्ति अद्वैत भक्ति वा अभेद भक्ति है जिसका केवल अनुभव मात्र किया जा सकता है वर्णन नहीं हो सकता। अपने 'अमृतानुभव' मे एक स्थल पर ज्ञानेश्वर ने कहा है कि 'जिस प्रकार एक ही पहाड़ के भीतर देवता देवालय तथा भक्त-परिवार का निर्माण खोद कर किया जा सकता है उसी प्रकार भक्ति का व्यवहार भी एकत्व के रहते हुए सर्वथा संभव है इसमे संदेह नहीं।'[1] तभी तो अंत में जाकर देव देवत्व मे घनीभूत हो जाता है, भक्त भक्ति भाव मे विलीन हो जाता है और दोनों का ही अंत हो जाने पर अभेद का स्वरूप अनंत होकर प्रकट होता है। जिस प्रकार गंगा समुद्र से भिन्न रूप होने से कभी मिल नहीं सकती वैसे ही परमात्मा

---

१ 'देव देऊळ परिवारु। कीजे कोरूनि डोंगरु।
तैसा भक्तीचा वेव्हारु। कां न व्हावा' ४१॥ अमृतानुभव प्रकरण ९।

नही है।" इस प्रकार 'वीर शैवो' अथवा 'लिंगायतो' मे ऐसी अनेक बातें पायी जा सकती हैं जिन्हे पिछले सतो के यहाँ भी महत्त्व दिया गया। कश्मीरी शैव सम्प्रदाय की ज्ञानमूलक भक्ति वीर शैव सम्प्रदाय के अनुसार कर्ममूलक जैसी दीख पडती है और सतो के यहाँ दोनो का स्तर एक है।

(घ) वारकरी सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय

वारकरी-सम्प्रदाय

ईश्वराद्वयवाद की उपर्युक्त अद्वैत-परक भक्ति का ही प्रभाव कदाचित् उस वैष्णव सम्प्रदाय पर भी किसी न किसी प्रकार पडा था जो दक्षिण भारत के पढरपुर नामक स्थान के आस-पास विक्रम की १३वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे किसी समय प्रचलित हुआ था। इसके प्रवर्त्तको मे सर्वश्रेष्ठ ज्ञानदेव वा ज्ञानेश्वर (स० १३३२ १३५३) माने जाते हैं और यह सम्प्रदाय आज तक 'वारकरी सम्प्रदाय' कहला कर प्रसिद्ध है। ज्ञानेश्वर आलदी ग्राम के निवासी एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, जिन्होने अपनी 'ज्ञानेश्वरी' तथा 'अमृतानुभव' जैसी महत्त्वपूर्ण रचनाओ द्वारा उक्त सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धातो को स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित कर उसकी भक्ति-साधना का सर्वसाधारण मे प्रचार किया था। 'अमृतानुभव' मे पाये जानेवाले उनके एक पद[1] से जान पडता है कि उक्त कश्मीरी शैव सम्प्रदाय के मूलाधार 'शिव सूत्रो' का उन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडा था और कदाचित् इसी कारण उन्होने शाकराद्वैत के माया-वाद का खडन भी किया था। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि पढरपुर मे स्थापित विट्ठल नामक विष्णु वा कृष्ण की मूर्ति के सिर पर शिव की मूर्ति बनी हुई है। वारकरी सम्प्रदाय के अनुयायी शिव तथा विष्णु अथवा हर वा हरि मे कभी कोई भेद भी नही माना करते, अपितु एकादशी तिथि के व्रत के साथ-साथ सोमवार के दिन भी उपवास करते हैं।[2] इस सम्प्रदाय की साधना मे योग-साधना को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जो उक्त कश्मीरी शैव सम्प्रदाय की एक विशेषता है।

ज्ञानेश्वर तथा अन्य वारकरी

ज्ञानेश्वर की सर्वप्रसिद्ध रचना 'ज्ञानेश्वरी' श्रीमद्भगवद्गीता' पर एक सुदर भाष्य है, जो सम्प्रदाय के सिद्धातो के अनुसार मराठी भाषा मे निर्मित हुआ है।।यह निर्गुण तथा निराकार परमात्मा की भक्ति का अद्वैतवाद की भावना के अनु-

---

१ 'आणि ज्ञानवन्धु ऐसे। शिव सूत्राचे निमिपे। ह्मणितलें असे। सदा शिवे।' ३, १६ (डॉ० रानाडे मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० १७९ पर उद्धृत)

२ वलदेव उपाध्याय वारकरीज, दी फोरमोस्ट वैष्णव सेक्ट ऑफ महाराष्ट्र, दी इडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भा० १५, १९३९ ई०, पृ० २७४।

उसी प्रकार हरिदासी सम्प्रदाय के ऐसे भक्त माध्व सम्प्रदाय की द्वैतपरक भावना द्वारा प्रभावित रहे और इन्होंने कर्णाटक प्रांत में अपने मत का प्रचार किया। इनके मत प्रवर्त्तक नरहरितीर्थ तथा श्री पादराय कहे जाते हैं जिनका आविर्भाव १५वीं शताब्दी तक हो चुका था। परन्तु १६वीं शताब्दी में इनके सर्वश्रेष्ठ भक्त कवि हुए जिनमें से प्रथम अर्थात् व्यासराय के लिए कहा जाता है कि ये महाराज कृष्णदेवराय के धर्मगुरु स्वरूप थे। इन्हीं ने ऐसे भक्तों के 'दासकूट' नामक समुदाय को प्रतिष्ठित करके उसे अनुप्राणित किया। इनके प्रमुख शिष्यों में से दो अर्थात् पुरंदर दास तथा कनक दास ने अत्यंत उच्चकोटि के भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। पुरंदर दास ने अपने धन संपन्न जीवन के प्रति उपेक्षा प्रकट की और कनक दास ने अपने सैनिक जीवन को भी महत्त्व नहीं दिया। इन दोनों की उप लब्ध रचनाओं में इनके गंभीर अनुभव हृदय की पवित्रता और निश्छलता तथा कथनी और करनी में सामंजस्य लाने के प्रति विशेष आग्रह बड़ी सफलता के साथ अंकित है जो इस सम्प्रदाय की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। वारकरी सम्प्रदाय के संतों की ही भाँति हमें इनके यहाँ भी विट्ठल के प्रति उपास्य की भावना काम करती जान पड़ती है तथा हम इनकी पंक्तियों में भी लगभग उसी प्रकार भजन और कीर्तन के प्रति विशेष आकर्षण दिखलायी देता है।

८. वैष्णव सहजिया और उत्कल के पंचसखा भक्त

वैष्णव सहजिया

चैतन्य देव के पहले से ही[1] बंगाल प्रांत में वैष्णव सम्प्रदाय की एक शाखा 'सहजिया' के नाम से प्रसिद्ध रहती चली आ रही थी। इस शाखा के विख्यात पूर्व कालीन भक्तों में चंडीदास का नाम विशेष रूप से लिया जाता है जिनका आविर्भाव विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। इनका जन्म बीरभूमि जिले के अंतर्गत हुआ था और ये नान्नूर नामक गाँव के किसी वाशुली देवी के मंदिर में पुजारी का काम किया करते थे। अपने प्रेम भाव की उग्रता के कारण ये 'पागला चंडी' कहला कर विख्यात हो गए थे। इनका प्रेम-संबंध 'रामी' नाम की रजकी वा धोबिन के साथ भी हो गया था। किन्तु ब्राह्मण होते हुए भी इन्होंने इस बात की कुछ भी परवाह नहीं की और अपनी प्रेमपात्री को 'वेदमाता गायत्री' तक कह कर संबोधित करते रहे। इन्होंने श्रीकृष्ण तथा राधा से संबद्ध अनेक पदों की रचना की तथा उनकी नित्य-लीला का वर्णन किया। उनके अलौकिक प्रेम की व्याख्या करते हुए इन्होंने कहा है— 'ऐसी प्रीति कभी न तो देखी गई और न सुनी

---

१ डॉ मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल पृ ४२४।

के साथ तद्रूप हुए विना भक्ति का होना कभी समव नही ।[1] निर्गुण की इस अद्वैत भक्ति के लिए ये लोग सगुण रूप को भी एक साधन मानते है। उसके साथ तादात्म्य का भाव प्राप्त करने के लिए उसके नाम का निरतर स्मरण तथा उसके अलौकिक गुणो का सदा कीर्तन किया करते हैं। इनके यहाँ इस प्रकार भक्ति तथा ज्ञान का एक सुदर सामजस्य लक्षित होता है जिसे साधना के रूप मे स्वीकार कर किसी भी जाति वा श्रेणी का मनुष्य कल्याण का भागी वन सकता है।

कीर्तन-पद्धति

वारकरी सम्प्रदाय का नाम दो शब्दो अर्थात् 'वारी' तथा 'करी' के सयोग मे वना था, जिसका अर्थ 'परिक्रमा करनेवाला' था। किंतु यह परिक्रमा विशेष-कर पढरपुर के मदिर मे स्थापित विट्ठल भगवान् की ही प्रति मास की दोनो एका-दशियो को की जानेवाली तीर्थ-यात्रा तक सीमित समझी जाती रही। सम्प्रदाय के प्रत्येक अनुयायी का यह कर्तव्य था कि वह कम से कम आपाढ वा कार्त्तिक मे इसे अवश्य कर ले। इन अवसरो पर उक्त यात्री वहुधा सयत जीवन विताते थे और अपने इष्टदेव के भजन तथा कीर्तन मे लीन रहा करते थे। इस भजन और कीर्तन की पद्धति भी प्राय उसी प्रकार की थी, जैसे आगे चल कर नरसी मेहता (स० १४७२ १५३८) तथा मीराँवाई (स० १५५५ १६०३) ने क्रमश गुजरात और राजस्थान की ओर तथा चैतन्यदेव (स० १५४२ १५९०) ने वगाल और उडीसा प्रात मे अपनायी। ये लोग अपने इष्टदेव के भजन मे लीन होकर नृत्य तथा गान करते-करते वहुधा भावावेश मे आ जाते थे। इनकी भक्ति का मूल अद्वैती स्वरूप द्वैत-भाव से पूर्णत प्रभा-वित जान पडने लगता था तथा इनमे और सगुणोपासक भक्तो मे कोई विशेप अतर नही लक्षित होता था। फिर भी इनका वर्णाश्रम के नियमो से मुक्त रह कर एक अकृत्रिम जीवन व्यतीत करना, सामाजिक विशेषताओ की उपेक्षा करना, प्रवृत्ति मार्ग को स्वीकार करना तथा साम्प्रदायिक रूढियो को अधिक महत्त्व न देना आदि इन्हे साधारण भक्तो की श्रेणी से पृथक् कर देते थे। वारकरी सम्प्रदाय के इन भक्तो को इसी कारण सत कहने की भी परिपाटी चल निकली और यह शब्द इनके लिए रूढि सा हो गया।[2]

हरिदासी सम्प्रदाय

जिस प्रकार वारकरी सम्प्रदाय के वैष्णवो की विचारधारा अद्वैतपरक थी,

---

१ लक्ष्मण रामचन्द्र पागारकर . श्री ज्ञानेश्वर चरित्र (हिंदी अनुवाद), गीता प्रेस, गोरखपुर स० १९९०, पृ० २३१।

२ आर० डो० रानाडे मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पूना १९३३ ई०, पृ० ४२।

१२ ५)ई रहा था।[1] ये उक्त राजा के दरबारी कवि कहे जाते हैं और यह भी प्रसिद्ध है कि वहीं रह कर इन्होंने विशेष ख्याति भी प्राप्त की थी। श्रीमद् भागवत् (दशम स्कंध के १२वें अध्याय के ८वें श्लोक) की 'भावार्थदीपिका' पर की गई 'वैष्णवतोषिणी' टीका से भी प्रकट होता है कि ये उमापतिधर के साथ राजा लक्ष्मण सेन के दरबार में रहते थे।(दे श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मण सेन मन्त्रिवरेणोमापति धरेण' आदि) और राजा लक्ष्मण सेन के सभा मंडप के द्वार पर पत्थर की पट्टियों में खोदा हुआ एक लेख भी पाया गया है जिससे पता चलता है कि ये उक्त राजा के सभासदों में से थे। (दे 'गोवर्धन श्चशरणो जयदेव उमापति । कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च')।[2] इसी प्रकार इन्होंने अपनी रचना 'गीत गोविंद' में कवि धोयी आचार्य गोवर्धन उमापतिधर वा शरणदेव के नाम लिये हैं जिससे सेनों के राज्यकाल की सूचना भी मिलती है।[3] फिर भी इनके जन्म वा मरण-काल के संवत् अभी तक अविदित वा अनिश्चित हैं और यह भी पता नहीं कि ये उक्त राजा के यहाँ कब से कब तक रहे। रजनीकांत गुप्त ने राजा लक्ष्मणसेन का बारहवीं ई शताब्दी के प्रारंभ में होना अनुमान करते हुए भी इनका समय नहीं बतलाया है।[4] वे यह भी कहते हैं कि चंद बरदाई की पंक्ति 'जयदेव अट्ठ कवी कब्बिरायं जिनै केवलं कित्ति गोविंद गायं' से प्रकट है कि ये उसके पूर्ववर्ती वा समसामयिक थे।[5] अतएव इन संकेतों के आधार पर हम इनका जीवन-काल तब तक विक्रमीय संवत् की १३वीं शताब्दी में रख सकते हैं।[6]

---

१ डॉ मजुमदार : दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल भा १ ढाका यूनिवर्सिटी १९४३ ई पृ २११।

२ रजनीकांत गुप्त जयदेव चरित (हिंदी अनुवाद) 'खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर सन् १८९ पृ १२।

३ 'वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भ शुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुते ।
शृंगारोत्तर सत्प्रमेय रचनैराचार्य गोवर्धनः
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कवि क्ष्मापतिः ॥ सर्ग १ श्लो ४।

४ रजनीकांत गुप्त : जयदेव चरित पृ १२। ५ वही पृ १५।

६. टिप्पणी इनके 'गीत गोविंद' के एक श्लोक 'वेदानुद्धरते' आदि का उल्लेख सं० १३४८ (सन् १२९२) के एक शिलालेख में भी मिलता है जो गुजरात के सारंगदेव बघेल के समय का है। (दे डा मजुमदार संपादित 'दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल (भा १) पृ ३६९ नोट।

ही गई। उन दोनो के प्राण वा हृदय स्वभावत एक दूसरे से बँधे हुए हैं और एक दूसरे के समक्ष सदा रहते हुए भी वे भावी वियोग की काल्पनिक आशका से रो पडते हैं।[१]" इस प्रेम की तुलना मे अनेकानेक उदाहरण उपस्थित कर वे उन सभी को इससे हीन भी दरसाते है। इनके उस प्रेम का स्वरूप उस स्वच्छद, किंतु स्वाभाविक अनुराग की ओर सकेत करता है, जो एक परकीया नायिका का अपने प्रेम-पात्र वा प्रेमी के प्रति हुआ करता है। प्रेम की इस स्वाभाविकता के ही कारण उसे 'सहज-भाव' का नाम दिया गया था और सहज शब्द के ही महत्त्व से इसका नाम 'सहजिया सम्प्रदाय' पडा था।

राधा तथा कृष्ण

उक्त 'सहज' वस्तुत वही सहज तत्त्व था जो कभी बौद्ध दर्शन के अनुसार परमतत्त्व समझे जानेवाले शून्य के स्थान पर क्रमश महासुख के रूप मे प्रविष्ट हुआ था और जो बौद्ध सहजिया लोगो की साधना मे परमध्येय बना हुआ था। अतएव जिस प्रकार बौद्ध सहजिया लोगो ने इसे 'प्रज्ञा' तथा 'उपाय' का युगनद्ध रूप मान रखा था, उसी प्रकार इन वैष्णव सहजिया लोगो ने भी इसे 'राधा' तथा 'कृष्ण' के नित्य प्रेम का रूप दे डाला। इसी को सारे विश्व का मूलाधार मान कर इन्होंने सृष्टि-क्रम की कल्पना भी की। प्रत्येक मनुष्य के भीतर भी, इसी कारण कृष्ण-तत्त्व की कल्पना की गई जिसे उसका 'स्वरूप' समझा गया। उसी प्रकार प्रत्येक स्त्री के भीतर राधा-तत्त्व का भी अस्तित्व माना गया तथा मानव शरीर मे इसके अतिरिक्त पाये जानेवाले निम्नतर तत्त्व को उसका केवल 'रूप' नाम दिया गया। इसके सिवाय इन 'रूप' तथा 'स्वरूप' के मौलिक एकत्व को कार्यान्वित करने के लिए ही वैष्णव कवियो ने राधा तथा कृष्ण की नित्य-लीला का प्रत्यक्ष अनुभव करना अपने लिए परम ध्येय मान लिया था और उसका वर्णन करते हुए वे आनद के मारे फूले नही समाते थे। वे उस 'लीला' वा 'केलि' को अत्यत ऊँचा महत्त्व प्रदान करते थे और इस प्रकार की भावना तब से बराबर लक्षित होती चली आई है। जयदेव कवि ने अपनी रचना 'गीत गोविद' के प्रथम श्लोक वा पद मे ही राधा और कृष्ण की यमुना-तट पर होनेवाली रहस्यमयी 'केलि' वा लीला की जय मना कर मगलाचरण किया था[२]। उनके पीछे आने वाले चडीदास तथा

---

१. 'एखन पीरिति कभु देखि नार सुनि। पराणे पराण बाँधा अपना आपनि॥ दुहुँ कोरे दुहुँ कादे विच्छेद भाविया। आदि डॉ० दिनेशचद्र सेन की पुस्तक 'बगाली लैंग्वेज ऐंड लिट्रेचर', पृ० १३०-१ पर उद्धृत)।

२. 'राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रह केलय'॥ गीत गोविंद।

विद्यापति ने भी उक्त लीला का प्रायः उसी प्रकार वर्णन और गुणगान किया था। सहजिया वैष्णवों में उसी के आधार पर आगे चल कर 'रूप' के ऊपर 'स्वरूप' का क्रमशः आरोप करते हुए मानवीय प्रेम को भी स्वर्गीयता प्रदान कर दी। कालांतर में उनका वैष्णव-धर्म ही वस्तुतः मानव-धर्म में परिणत हो गया। 'मानव-प्रेम अपनी सर्वोत्कृष्ट तथा शुद्ध दशा में ईश्वरीय प्रेम बन जाता है' की भावना ने ही वैष्णव सहजिया तथा सूफी सम्प्रदायों के सहयोग से बंगाल प्रदेश में 'बाउल सम्प्रदाय' को भी जन्म दिया जिसने सहज की उक्त कल्पना को 'मनेर मानुष' वा हृदयस्थित प्रियतम के रूप में परिवर्तित कर एक नवीन मार्ग निकाला।[1]

पंचसखा भक्त

जिस समय बंगाल प्रांत में चैतन्यदेव का आविर्भाव हुआ था लगभग उसी समय उत्कल प्रांत में भी वैष्णव भक्तों का एक समुदाय 'पंचसखा' नाम से प्रतिष्ठित होने लगा था। उसमें बलराम दास, जगन्नाथ दास, अच्युतानंद दास, यशोवंत दास तथा अनंत दास नामक पाँच प्रमुख वैष्णव महापुरुषों के नाम लिये जाते हैं। इन पाँचों भक्त कवियों की यह विशेषता थी कि ये चैतन्य देव की भाँति केवल रागानुगा भक्ति के ही प्रचारक नहीं थे। इनकी भक्ति को योग-साधना का भी सहयोग प्राप्त रहा तथा ये बहुत कुछ उस बौद्ध धर्म की बातों द्वारा भी प्रभावित थे जो उन दिनों वहाँ अवशिष्ट रूप में वर्तमान था। ये लोग श्रीकृष्ण के उपासक होते हुए भी उन्हें निर्गुण तथा निराकार अथवा कभी-कभी 'शून्य देही' तक ठहरा दिया करते हैं और तदनुसार ये उनकी सगुणावतार परक विविध लीलाओं की वैसी ही व्याख्या भी करते पाए जाते हैं। अतएव जिस प्रकार हिंदी साहित्य के भक्त कवियों को हम यहाँ सगुण भक्ति तथा निर्गुण भक्ति' के कवि कहते हैं। इन दोनों में से भी द्वितीय वर्ग वाला में से कुछ को 'ज्ञानाश्रयी शाखा' के अनुसार पृथक कर देते हैं उसी प्रकार उड़िया साहित्य के भक्त कवियों में से भी कुछ को 'शुद्धा भक्ति' के कवि तथा अन्य को 'योगमिश्रा' वा 'ज्ञानमिश्रा' भक्ति के कवि कहने की परंपरा देखी जाती है।[2] इन 'पंचसखा' भक्त कवियों में से एकाध संत कबीर साहब के समसामयिक ठहर सकते हैं। किंतु हमें अभी तक इस बात के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर हम इन्हें उनके कभी संपर्क में आने का अनुमान भी कर सकें।

---

१ परशुराम चतुर्वेदी मध्यकालीन प्रेम साधना साहित्यभवन प्रा लिमिटेड प्रयाग १९६२ ई पृ ९१–१०८।

२ राष्ट्रभाषा रजत जयंती ग्रंथ (वर्धा १९६४ ई) पृ ११८।

जन्म-स्थान

इनकी जन्मभूमि प्राय जानकारो की सम्मति में किंदुविल्व नामका ग्राम था जिसका उल्लेख 'गीत गोविंद' में भी आया है।[1] और जो अजय नदी तट-वर्त्ती केंदुली नाम से वगाल के वीरभूमि जिले में आज भी प्रसिद्ध है। वहाँ पर प्रति वर्ष मकर सक्रांति के अवसर पर एक वडा भारी मेला लगता है, जहाँ सहस्रो वैष्णव एकत्र होकर इनकी समाधि के चारो ओर सकीर्तन करते है। इनके 'गीत गोविंद' के अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध कवियो के पदो का गान भी किया करते हैं।

कुछ अन्य लेखको के मतानुसार इनका जन्म-स्थान वास्तव में केंदुली-सासन गाँव है जो उडीसा प्रात में पुरी के निकट किसी प्राची नदी पर स्थित है। इनके उडिया होने का प्रमाण इस वात मे भी दिखलाया जाता है कि वहाँ के लोग इस कवि से वहुत अधिक परिचित जान पडते हैं। इस मत के अनुसार कवि जयदेव राजा कामार्णव.(स० ११९९-१२१३) तथा राजा पुरुषोत्तम देव (स० १२२७-१२३७) के समकालीन थे[2]। इस प्रकार इन दोनो मतो के ही आधार पर हम कवि का जीवन-काल विक्रम की १३वी शताब्दी में ठहरा सकते हैं। उडीसा का वैष्णव सम्प्रदाय की भाँति ही बौद्धो के वज्रयान तथा सहजयान सम्प्रदायो का भी एक प्रसिद्ध केन्द्र रह चुका है और जयदेव को सहजयान सम्प्रदाय द्वारा प्रभावित भी कहते हैं। अतएव सभव है कि कवि जयदेव उडीसा प्रात के मूल-निवासी हो, किंतु पीछे उनका कोई न कोई सवध वगाल प्रात के साथ भी हो गया हो।

जीवन-वृत्त

'गीत गोविंद' के रचयिता जयदेव ने अपनी रचना के अत में अपने पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम राधादेवी दिया है।[3] इनके जीवन-वृत्त

---

१ दे० 'वर्णित जयदेवकेन हरेरिद प्रणतेन। किन्दुविल्व समुद्र सम्भव रोहिणी-रमणेन' तृतीय सर्ग, श्लो० ८।

२ 1 The Journal of the Kalinga Historical Research Society, March, 1947

३ दे० 'भोजदेव प्रभवस्य, राधादेवी सुत श्री जयदेवकस्य।
पराशरादि प्रियवर्ग कठे, श्री गीतगोविन्द कवित्वमस्तु। द्वादश सर्ग, श्लो० ५।
परन्तु श्री किशोरी दास रचित 'निजमत सिद्धात' (मध्व खड, पृ० १५) के

विद्यापति ने भी उक्त लीला का प्राय: उसी प्रकार वर्णन और गुणगान किया था। सहजिया वैष्णवों ने उसी के आधार पर आगे चल कर 'रूप' के ऊपर 'स्वरूप' का क्रमशः आरोप करते हुए मानवीय प्रेम को भी स्वर्गीयता प्रदान कर दी। कालांतर में उनका वैष्णव-धर्म ही वस्तुतः मानव-धर्म में परिणत हो गया। 'मानव-प्रेम अपनी सर्वोत्कृष्ट तथा शुद्ध दशा में ईश्वरीय प्रेम बन जाता है' की भावना ने ही वैष्णव सहजिया तथा सूफी सम्प्रदायों के सहयोग से बंगाल प्रदेश में 'बाउल सम्प्रदाय' को भी जन्म दिया जिसने सहज की उक्त कल्पना को 'मनेर मानुष' वा हृदयस्थित प्रियतम के रूप में परिवर्तित कर एक नवीन मार्ग निकाला।[१]

पंचसखा भक्त

जिस समय बंगाल प्रांत में चैतन्यदेव का आविर्भाव हुआ था लगभग उसी समय उत्कल प्रांत में भी वैष्णव भक्तों का एक समुदाय 'पंचसखा' नाम से प्रतिष्ठित होने लगा था। उसमें बलराम दास, जगन्नाथ दास, अच्युतानंद दास, यशोवंत दास तथा अनंत दास नामक पाँच प्रमुख वैष्णव महापुरुषों के नाम लिये जाते हैं। इन पाँचों भक्त कवियों की यह विशेषता थी कि ये चैतन्य देव की भाँति केवल रागानुगा भक्ति के ही प्रचारक नहीं थे। इनकी भक्ति को योग-साधना का भी सहयोग प्राप्त रहा तथा ये बहुत कुछ उस बौद्ध धर्म की बातों द्वारा भी प्रभावित थे जो उन दिनों वहाँ अवशिष्ट रूप में वर्तमान था। ये लोग श्रीकृष्ण के उपासक होते हुए भी उन्हें निर्गुण तथा निराकार अथवा कभी-कभी 'शून्य देही' तक ठहरा दिया करते हैं और तदनुसार ये उनकी सगुणावतार परक विविध लीलाओं की वैसी ही व्याख्या भी करते पाए जाते हैं। अतएव जिस प्रकार हिंदी साहित्य के भक्त कवियों को हम यहाँ 'सगुण भक्ति' तथा 'निर्गुण भक्ति' के कवि कहते हैं। इन दोनों में से भी द्वितीय वर्ग वालों में से कुछ को 'ज्ञानाश्रयी शाखा' के अनुसार पृथक कर देते हैं उसी प्रकार उड़िया साहित्य के भक्त कवियों में से भी कुछ को 'शुद्धा भक्ति' के कवि तथा अन्य को 'योगमिश्रा' वा 'ज्ञानमिश्रा' भक्ति के कवि कहने की परंपरा देखी जाती है।[२] इन 'पंचसखा' भक्त कवियों में से एकाध संत कबीर साहब के समसामयिक ठहर सकते हैं। किंतु हमें अभी तक इस बात के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर हम इन्हें उनके कभी संपर्क में आने का अनुमान भी कर सकें।

१ परशुराम चतुर्वेदी: मध्यकालीन प्रेम साधना, साहित्यभवन प्रा० लिमिटेड, प्रयाग १९६२ ई० पृ० ९१-१०८।

२ राष्ट्रभाषा रजत जयंती ग्रंथ (कटक १९५४ ई०) पृ० ११८।

उपसहार

भक्तो के उपर्युक्त विभिन्न सम्प्रदायो की विविध सावनाओ मे, इस प्रकार कभी श्रद्धा तथा प्रेम, कभी तन्त्रोपचारमयी उपासना, कभी ज्ञानमूलक भावना, कभी शुद्ध रागानुगा भक्ति तथा कभी-कभी योगाश्रित अभ्यासो तक के न्यूनाधिक अश क्रमश प्रविष्ट होते गए और कतिपय साधको की प्रवृत्ति मानव-प्रेम तक की ओर अग्रसर होती दीख पडी। विक्रम की प्राय द्वितीय शताब्दी से लेकर उसकी चौदहवी-पद्रहवी शताब्दी तक के इस लवे युग मे भक्ति-सावना ने अनेक रूप ग्रहण किये। उनका इसके पीछे भी बहुत कुछ प्रचार हुआ और उन्हे अपनाने वाले अनेक महान् व्यक्तियो ने बडी ख्याति भी प्राप्त की। परन्तु इन साधको मे भी अधिकतर ऐसे भक्त ही हुए जिन्होने अपने-अपने सम्प्रदायो के नियमो का भरसक अक्षरश पालन करना ही उचित समझा तथा जो तदनुसार प्रचलित रूढियो के प्रभाव से अपने को बचा पाने मे पूर्णत समर्थ नही हो सके। अपनी साम्प्रदायिक बातो से सर्वथा तटस्थ बने रह कर उपर्युक्त साधनाओ को काम मे लाने वाले केवल कुछ ही ऐसे लोग हुए जिनकी गणना बहुधा पूर्वकालीन का पथ-प्रदर्शक सतो मे की जाती हैं तथा जिनके जीवन की कुछ झलक उनकी रचनाओ मे भी मिलती है। इनमे से कुछ के नाम कबीर साहब आदि सतो ने बडे आदर के साथ लिये है। कुछ की रचनाएँ 'आदिग्रथ' मे भी सगृहीत है तथा कुछ ऐसे भी है जिनके एकाध अन्यत्र प्राप्त फुटकर पदो के आधार पर उन्हें सतो की श्रेणी मे सम्मिलित कर लेने की प्रवृत्ति होती है। उदाहरण के लिए इन महापुरुषो मे जयदेव, सधना, लालदेद, वेणी, नामदेव तथा त्रिलोचन की गणना की जा सकती है जिनका उपलब्ध सक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा इसके आगे की जा रही है।

४. पूर्वकालीन सत

(१) सत जयदेव जीवन-काल

जयदेव का नाम सत कबीर साहब ने अपनी अनेक रचनाओ में बडे आदर के साथ लिया है और इन्हें 'भक्ति के रहस्यो से परिचित' भी बतलाया है। ये सभवत वे ही प्रसिद्ध जयदेव हैं जो 'गीत गोविंद' के रचयिता समझे जाते हैं और कदाचित् वे भी जिनके दो पद 'आदिग्रथ' मे भी सगृहीत है। सस्कृत-साहित्य के इतिहास मे नाटककार, चम्पूकार, छद शास्त्र में प्रवीण तथा प्रबध-रचयिता जयदेव भी एक से अधिक हो चुके हैं। परन्तु उनकी प्रसिद्धि उतनी नही, जितनी इन गीतकार जयदेव की है और इन्ही के सबध में नाभादास ने भी 'भक्तमाल' मे लिखा है। इनके समय का अनुमान बगाल के सेन-वशी राजा लक्ष्मण सेन के राज्य-काल के विचार से किया जाता है, जो स० १२३६ १२६२ (सन् ११७९,

१२ ५) ई रहा था।[1] ये उक्त राजा के दरबारी कवि कहे जाते हैं और यह भी प्रसिद्ध है कि वहीं रह कर इन्होंने विशेष ख्याति भी प्राप्त की थी। श्रीमद् भागवत् (दशम स्कंध के १२वें अध्याय के ८वें श्लोक) की भावार्थदीपिका' पर की गई 'वैष्णवतोषिणी' टीका से भी प्रकट होता है कि ये उमापतिधर के साथ राजा लक्ष्मण सेन के दरबार में रहते थे, (दे० श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मण सेन मंत्रिवरेणोमापति धरेण' आदि) और राजा लक्ष्मण सेन के सभा मंडप के द्वार पर पत्थर की पट्टियों में खोदा हुआ एक लेख भी पाया गया है जिससे पता चलता है कि ये उक्त राजा के सभासदों में से थे। (दे 'गोवर्धन-श्चशरणो जयदेव उमापति । कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च') ।[2] इसी प्रकार इन्होंने अपनी रचना 'गीत गोविंद' में कवि धोयी आचार्य गोवर्धन उमापतिधर वा शरणदेव के नाम लिये हैं जिससे सेनों के राज्यकाल की सूचना भी मिलती है।[3] फिर भी इनके जन्म वा मरण-काल के संवत् अभी तक अविदित वा अनिश्चित हैं और यह भी पता नहीं कि ये उक्त राजा के यहाँ कब से कब तक रहे। रजनीकान्त गुप्त ने राजा लक्ष्मणसेन का बारहवीं ई शताब्दी के प्रारंभ में होना अनुमान करते हुए भी इनका समय नहीं बतलाया है।[4] वे यह भी कहते हैं कि चंद बरदाई की पंक्ति 'जयदेव अहं कवी कव्विरायं जिनै केवल किती गोविंद गायं' से प्रकट है कि ये उसके पूर्ववर्ती वा समसामयिक थे।[5] अतएव इन संकेतों के आधार पर हम इनका जीवन-काल तब तक विक्रमीय संवत् की १३वीं शताब्दी में रख सकते हैं।[6]

---

१ डॉ मजुमदार दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल भा १ ढाका यूनिवर्सिटी १९४३ ई पृ २११।

२ रजनीकांत गुप्त : जयदेव चरित (हिंदी अनुवाद) 'खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर सन् १८९१ पृ १२।

३ 'वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः संदर्भ शुद्धिं गिरां जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुते। शृंगारोत्तर सत्प्रमेय रचनैराचार्य गोवर्धन स्पर्द्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कवि क्ष्मापतिः ॥ सर्ग १ श्लो ४।

४ रजनीकांत गुप्त जयदेव चरित पृ १२। ५ वही पृ १५।

६. टिप्पणी इनके 'गीत गोविंद' के एक श्लोक 'वेदानुद्धरते' आदि का उल्लेख सं० ११४८ (सन् १२९२) के एक शिलालेख में भी मिलता है जो गुजरात के सारंगदेव बघेल के समय का है। (दे डा मजुमदार संपादित 'दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल (भा १) पृ ३६९ नोट।

उपसहार

भक्तो के उपर्युक्त विभिन्न सम्प्रदायो की विविध साधनाओ मे, इस प्रकार कभी श्रद्धा तथा प्रेम, कभी तन्त्रोपचारमयी उपासना, कभी ज्ञानमूलक भावना, कभी शुद्ध रागानुगा भक्ति तथा कभी-कभी योगाश्रित अभ्यासो तक के न्यूनाधिक अश क्रमश प्रविष्ट होते गए और कतिपय साधको की प्रवृत्ति मानव-प्रेम तक की ओर अग्रसर होती दीख पडी। विक्रम की प्राय द्वितीय शताब्दी से लेकर उसकी चौदहवी-पद्रहवी शताब्दी तक के इस लबे युग मे भक्ति-साधना ने अनेक रूप ग्रहण किये। उनका इसके पीछे भी बहुत कुछ प्रचार हुआ और उन्हे अपनाने वाले अनेक महान् व्यक्तियो ने बडी ख्याति भी प्राप्त की। परन्तु इन साधको मे भी अधिकतर ऐसे भक्त ही हुए जिन्होने अपने-अपने सम्प्रदायो के नियमो का भरसक अक्षरश पालन करना ही उचित समझा तथा जो तदनुसार प्रचलित रूढियो के प्रभाव से अपने को बचा पाने मे पूर्णत समर्थ नही हो सके। अपनी साम्प्रदायिक बातो से सर्वथा तटस्थ बने रह कर उपर्युक्त साधनाओ को काम मे लाने वाले केवल कुछ ही ऐसे लोग हुए जिनकी गणना बहुधा पूर्वकालीन का पथ-प्रदर्शक सतो मे की जाती है तथा जिनके जीवन की कुछ झलक उनकी रचनाओ मे भी मिलती है। इनमे से कुछ के नाम कबीर साहब आदि सतो ने बडे आदर के साथ लिये हैं। कुछ की रचनाएँ 'आदिग्रथ' मे भी सगृहीत है तथा कुछ ऐसे भी हैं जिनके एकाध अन्यत्र प्राप्त फुटकर पदो के आधार पर उन्हे सतो की श्रेणी मे सम्मिलित कर लेने की प्रवृत्ति होती है। उदाहरण के लिए इन महापुरुषो मे जयदेव, सधना, लालदेद, वेणी, नामदेव तथा त्रिलोचन की गणना की जा सकती है जिनका उपलब्ध सक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा इसके आगे की जा रही है।

४. पूर्वकालीन सत

(१) सत जयदेव जीवन-काल

जयदेव का नाम सत कबीर साहब ने अपनी अनेक रचनाओ में बडे आदर के साथ लिया है और इन्हें 'भक्ति के रहस्यो से परिचित' भी बतलाया है। ये सभवत वे ही प्रसिद्ध जयदेव है जो 'गीत गोविंद' के रचयिता समझे जाते हैं और कदाचित् वे भी जिनके दो पद 'आदिग्रथ' मे भी सगृहीत हैं। सस्कृत-साहित्य के इतिहास मे नाटककार, चम्पूकार, छद शास्त्र में प्रवीण तथा प्रबध-रचयिता जयदेव भी एक से अधिक हो चुके हैं। परन्तु उनकी प्रसिद्धि उतनी नही, जितनी इन गीतकार जयदेव की है और इन्ही के सबध में नाभादास ने भी 'भक्तमाल' मे लिखा है। इनके समय का अनुमान बगाल के सेन-वशी राजा लक्ष्मण सेन के राज्य-काल के विचार से किया जाता है, जो स० १२३६ १२६२ (सन् ११७९:

की बहुत-सी घटनाओं का वर्णन नाभादास की 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास ने किया है। परन्तु उनकी अनेक बातें अलौकिक तथा चमत्कारपूर्ण समझ पड़ती हैं और अनुमान होता है कि उनका अधिकांश जयदेव का महत्त्व बढ़ाने के लिए रचा गया है। कहा जाता है कि ये गाँव के बाहर पर्णकुटी में रहा करते थे जहाँ पर जगन्नाथजी की प्रेरणा से एक ब्राह्मण इन्हें अपनी कन्या देने के लिए लाया और इनका संकोच देखकर उसे वहीं छोड़ अपने घर चला गया। उस कन्या को पीछे जयदेव ने स्वीकार कर लिया और उसके साथ विवाह कर अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करने लगे। उसी समय इन्होंने उन पदों की रचना भी की जो 'गीत गोविंद' में संगृहीत हैं। इन पदों का बहुत प्रचार हुआ और इनके कारण इन्हें कभी-कभी वस्त्र तथा अलंकारादि भी मिलने लगे। किंतु ऐसी ऐश्वर्य-वृद्धि का परिणाम अंत में अच्छा नहीं हुआ। एक बार जब ये धनोपार्जन के लिए की गई अपनी वृंदावन तथा जयपुर की यात्रा से लौट रहे थे[१] इन्हें ठगों और डाकुओं ने लूट कर इनके हाथ पैर तक काट डाले। फिर भी ये अपने कष्ट-काल में भी सदा प्रसन्न रहे। इनकी स्त्री पद्मावती का इनके लिए मर जाना तथा उसका इनके द्वारा जिलाया जाना आदि ऐसी अनेक अन्य घटनाएँ भी इनके जीवन-चरितों में लिखी मिलती हैं जिनसे इनका एक परम भक्त होना सिद्ध होता है। किंवदंती के अनुसार ये वृद्धावस्था तक जीवित रहे। और अंत समय तक किसी न किसी प्रकार गंगा-स्नान पैदल जाकर करते रहे। गंगाजी की जो धारा इनके केंदुली गाँव से अति निकट थी आजकल 'जयन्ती गंगा' के नाम से प्रसिद्ध है।

गीत गोविंद

इनका 'गीत गोविंद' काव्यग्रंथ अपने शब्द-सौंदर्य पद-लालित्य तथा संगीत माधुर्य के लिए संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय समझा जाता है और उसकी प्रशंसा इन्होंने उक्त रचना के द्वारा ही निज मुख से भी की है।[२] फिर भी कुछ विद्वानों की राय में उसकी मूल रचना प्राचीन बंगला वा परिनिष्ठी अपभ्रंश में हुई होगी

अनुसार इस जयदेव की जीवनी से संबद्ध बातों में कुछ अंतर पड़ता है जैसे 'जगन्नाथ योजन ठारा। विप्रु विदित इक ग्राम मुवारा॥ तामधि बसत विप्र सिवराया। द्वारावती तासु की जाया॥ सो बह भक्त अनन्य प्रभ जगन्नाथ प्रति जान। तासी बन तिनने रमी तिन दीनी रतिदान॥
हरित पुत्र प्रगट जयदेवा। द्वादस तिलक अंग सति भवा॥ आदि—स्ने०।

१ रजनीकांत गुप्त : जयदेव चरित पृ १६।

२ दे प्रथम सर्ग श्लो ३ अष्टम सर्ग श्लो ८ व द्वादश सर्ग श्लो ८, आदि।

जन्म-स्थान

इनकी जन्मभूमि प्राय जानकारो की सम्मति मे किंदुविल्व नामका ग्राम था जिसका उल्लेख 'गीत गोविंद' मे भी आया है।[1] और जो अजय नदी तट-वर्त्ती केंदुली नाम से वगाल के वीरभूमि जिले में आज भी प्रसिद्ध है। वहाँ पर प्रति वर्ष मकर सक्राति के अवसर पर एक वडा भारी मेला लगता है, जहाँ सहस्रो वैष्णव एकत्र होकर इनकी समाधि के चारो ओर सकीर्तन करते हैं। इनके 'गीत गोविंद' के अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध कवियो के पदो का गान भी किया करते हैं।

कुछ अन्य लेखको के मतानुसार इनका जन्म-स्थान वास्तव में केंदुली-सासन गाँव है जो उडीसा प्रात में पुरी के निकट किसी प्राची नदी पर स्थित है। इनके उडिया होने का प्रमाण इस वात मे भी दिखलाया जाता है कि वहाँ के लोग इस कवि से वहुत अधिक परिचित जान पडते हैं। इस मत के अनुसार कवि जयदेव राजा कामार्णव (स० ११९९-१२१३) तथा राजा पुरुपोत्तम देव (स० १२२७-१२३७) के समकालीन थे[2]। इस प्रकार इन दोनो मतो के ही आधार पर हम कवि का जीवन-काल विक्रम की १३वी शताव्दी में ठहरा सकते हैं। उडीसा का वैष्णव सम्प्रदाय की भाँति ही वौद्धो के वज्रयान तथा सहजयान सम्प्रदायो का भी एक प्रसिद्ध केन्द्र रह चुका है और जयदेव को सहजयान सम्प्रदाय द्वारा प्रभावित भी कहते हैं। अतएव सभव है कि कवि जयदेव उडीसा प्रात के मूल-निवासी हो, किंतु पीछे उनका कोई न कोई सवध वगाल प्रात के साथ भी हो गया हो।

जीवन-वृत्त

'गीत गोविंद' के रचयिता जयदेव ने अपनी रचना के अत में अपने पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम राधादेवी दिया है।[3] इनके जीवन-वृत्त

---

१ दे० 'वर्णित जयदेवकेन हरेरिद प्रणतेन। किन्दुविल्व समुद्र सम्भव रोहिणी-रमणेन' तृतीय सर्ग, श्लो० ८।

२ 1 The Journal of the Kalinga Historical Research Society, March, 1947

३ दे० 'भोजदेव प्रभवस्य, राधादेवी सुत श्री जयदेवकस्य।
पराशरादि प्रियवर्ग कठे, श्री गीतगोविन्द कवित्वमस्तु। द्वादश सर्ग, श्लो० ५।
परन्तु श्री किशोरी दास रचित 'निजमत सिद्धात' (मध्व खड, पृ० १५) के

आदिग्रंथ वाले पद

'आदिग्रंथ' में संगृहीत जयदेव की रचनाओं में केवल दो पद[1] ही मिलते हैं इनमें से एक उपदेश के रूप में है और दूसरे का विषय योग-साधना से संबद्ध समझ पड़ता है। पहले पद के अंतर्गत 'राम नाम' तथा सदाचरण के साथ-साथ मनसा वाचा वा कर्मणा से की जानेवाली 'हरि भगत निज निहकेवला' अर्थात् अनन्य भक्ति का महत्त्व दरसाते हुए उसे योग जप तथा दानादि से श्रेष्ठ बतलाया गया है। इसकी भाषा कहीं-कहीं संस्कृत से बहुत प्रभावित जान पड़ती है और तुलसीदास की अनेक ऐसी रचनाओं की भाँति यह भी 'पंडिताऊ पद' कहलाने योग्य है। इसी प्रकार दूसरे पद की शब्दावली पर नाथपंथ अथवा सिद्धों के बौद्ध मत का प्रभाव स्पष्ट है, इसकी वर्णन-शैली आगे आनेवाले संतों के बहुत-से 'सबदों' का स्मरण दिलाती है। मेकालिफ ने तो इस पद को 'एक अत्यंत कठिन मानवीय रचना' कहा है।[2] उक्त दोनों पदों में से किसी का भी पाठ आदिग्रंथ' वाले संग्रह में पूर्णत शुद्ध नहीं जान पड़ता। उनके कई शब्द विकृत तथा अस्पष्ट हो गए हैं।

महत्त्व

'गीत गोविंद' के रचयिता जयदेव के लिए कहा जाता है कि वे निंबार्क-सम्प्रदाय के अनुयायी थे और कुछ लोग उन्हें विष्णु स्वामी सम्प्रदाय का बतलाते हैं जैसा कि एक संस्कृत[3] श्लोक से भी सूचित होता है।[4] परन्तु ये बातें उक्त दो में से किसी भी पद के आधार पर प्रमाणित नहीं की जा सकती।

---

१ रागु गूजरी पद १ पृ० ५२६, तथा रागु मारू पद १ पृ ११०४

२ मेकालिफ दि सिख रिलिजन, भा ६, पृ १६।

डॉ सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का अनुमान है कि ये दोनों पद मूलतः पश्चिमी अपभ्रंश में लिखे गए होंगे जो उन दिनों बंगाल में प्रचलित रहा और उन्होंने विशेषकर इनमें पाये जाने वाले उकारांत प्रथम के प्रयोग का प्रमाण भी दिया है।

—Origin and Developm nt of Bengali Language p 126

३ विष्णुस्वामी समारम्भां जयदेवादि मध्यमाम्।
श्रीमद्वल्लभ-पर्यन्तां स्तुमो गुरु-परम्पराम्।

४ जयदेव के विष्णुस्वामी आदि की भाँति निंबार्क सम्प्रदायानुयायी होने में कुछ लोगों ने संदेह भी किया है। मथुरा निवासी कृष्णदास नामक एक सज्जन ने 'निंबार्क माधुरी' का संकलन करते हुए इन्हें माध्व सम्प्रदाय का अनुयायी बतलाया है तथा इनकी गुरु वंशावली भी दी है (दे 'माध्व गौडेश्वर

और उसका अनुवाद सस्कृत भाषा में कर दिया गया होगा ।[१] इसका कारण बतलाते हुए कहा गया है कि सपूर्ण काव्य की रचना-पद्धति सस्कृत से अधिक प्राकृत वा लोकभाषाओ का ही अनुसरण करती है । डॉ० पिशल इस बात में सबसे अधिक विश्वास करते हुए प्रतीत होते हैं । परन्तु गीतो की आलकारिक भाषा, ग्रथ की वर्णन-शैली अथवा अत्यानुप्रासो के प्रयोगादि उस समय सस्कृत-काव्य के लिए भी कोई नवीन बातें नही थी, न अनुवाद मे कोई वैसा सौदर्य लाना ही समव था । यह कहना बल्कि अधिक उचित होगा कि जयदेव के ऊपर उस समय की अनेक अपभ्र श रचनाओ का कुछ न कुछ प्रभाव पडा होगा और ये उनकी विशेषताओ की ओर सहसा आकृष्ट हो गए होगे ।[२] 'गीत गोविंद' मे शृगार के साथ-साथ भक्ति का भी पुट प्रचुर मात्रा में पाया जाता है और गौडीय सम्प्रदाय के अनुयायी उसे अपनी भक्ति का प्रबल स्रोत मानते हैं । उसकी कदाचित् इस विशेषता ने ही लोगो को सदा अधिक आकृष्ट किया है । उडीसा के राजा प्रतापरुद्र (स० १४६४ १५९८) के समय के एक शिलालेख से (जो जगन्नाथजी के मदिर के जगमोहन की बाँयी ओर वर्तमान है) प्रकट होता है कि स० १५५६ की १७वी जुलाई बुधवार को आदेश निकाले गए थे कि उक्त मदिर मे प्रति दिवस सध्या समय से लेकर भगवान के शयन-काल तक नृत्य आवश्यक समझा जायगा । प्रत्येक नर्तकी वा वैष्णव-गायक को केवल 'गीत गोविंद' के पदो का गान करना अनिवार्य होगा । दूसरे गीतो का गाना नियम भग करने का अपराध समझा जायगा ।[३] फिर भी शृगार रस के बाहुल्य तथा कला-प्रदर्शन की विशेषता के कारण उक्त रचना में भक्ति-भाव का उद्रेक स्पष्ट नही हो पाया है । उसके कुछ टीकाकारो ने उसके शव्दो के भीतर आध्यात्मिक रहस्य की खोज करने की अवश्य चेष्टा की है । परन्तु कदाचित् वे उतने सफल नही कहे जा सकते, न शुद्ध भक्ति की दृष्टि से भी उक्त कार्य को हम भक्ति-साहित्य में कोई प्रमुख स्थान दे सकते हैं । कबीर साहब जिस जयदेव के लिए "भगति कै प्रेमि इनही है जाना" कहते हैं,[४] उसमें ऐसी काव्य-शक्ति के अतिरिक्त कुछ अन्य वातें भी अवश्य अपेक्षित होगी ।

---

१ उदाहरण के लिए दे० 'प्राकृत पैंगलम्', कलकत्ता १९०० ई०, श्लो० २०७, पृ० ४७० तथा श्लो० २१३, पृ० ५८१ ।

२ डॉ० मजुमदार हिस्ट्री ऑफ वगाल, भा० १, पृ० ३७२-३ ।

३ डॉ० बनर्जी हिस्ट्री ऑफ ओडीसा, भा० १, रा० चटर्जी कलकत्ता १९३० ई०, पृ० ३३४ ।

४ गुरु ग्रयसाहव, रागु गौडी, पद ३६, पृ० ३३० ।

आविर्भाव वाले पद

'आदिग्रंथ' में संगृहीत जयदेव की रचनाओं में केवल दो पद[1] ही मिलते हैं इनमें से एक उपदेश के रूप में है और दूसरे का विषय योग-साधना से संबद्ध समझ पड़ता है। पहले पद के अंतर्गत 'राम नाम' तथा सदाचरण के साथ-साथ मनसा वाचा वा कर्मणा से की जानेवाली 'हरि भगत निज निहकेवला' अर्थात् अनन्य भक्ति का महत्त्व दरसाते हुए उसे योग जप तथा दानादि से श्रेष्ठ बतलाया गया है। इसकी भाषा कहीं-कहीं संस्कृत से बहुत प्रभावित जान पड़ती है और तुलसीदास की अनेक ऐसी रचनाओं की भाँति यह भी 'पंडिताऊ पद' कहलाने योग्य है। इसी प्रकार दूसरे पद की शब्दावली पर नाथपंथ अथवा सिद्धों के बौद्ध मत का प्रभाव स्पष्ट है इसकी वर्णन-शैली आगे आनेवाले संतों के बहुत-से शबदों का स्मरण दिलाती है। मेकालिफ ने तो इस पद को 'एक अत्यंत कठिन मानवीय रचना' कहा है।[2] उक्त दोनों पदों में से किसी का भी पाठ 'आदिग्रंथ' वाले संग्रह में पूर्णतः शुद्ध नहीं जान पड़ता। उनके कई शब्द विकृत तथा अस्पष्ट हो गए हैं।

महत्त्व

'गीत गोविंद' के रचयिता जयदेव के लिए कहा जाता है कि वे निंबार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे और कुछ लोग उन्हें विष्णु स्वामी सम्प्रदाय का बतलाते हैं जैसा कि एक संस्कृत[3] श्लोक से भी सूचित होता है।[4] परन्तु ये बातें उक्त दो में से किसी भी पद के आधार पर प्रमाणित नहीं की जा सकतीं।

---

१ रागु गूजरी पद १ पृ ५२६ तथा रागु मारू पद १ पृ० ११०४

२ मेकालिफ : दि सिख रिलिजन भा ६, पृ १६।
डॉ सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का अनुमान है कि ये दोनों पद मूलतः पश्चिमी अपभ्रंश में लिखे गए होंगे जो उन दिनों बंगाल में प्रचलित रहा और उन्होंने विशेषतः इनमें पाये जाने वाले अकारांत प्रथम के प्रयोग का प्रमाण भी दिया है।
—Orig and Development of B ngali Language p 196

३ 'विष्णुस्वामी समारम्भां जयदेवादि मध्यमाम्।
श्रीमद्वल्लभ-पर्यन्तां स्तुमो गुरु-परम्पराम्।

४ जयदेव के विष्णुस्वामी आदि की भाँति निंबार्क सम्प्रदायानुयायी होने में कुछ लोगों ने संदेह भी किया है। मथुरा निवासी कृष्णदास नामक एक सज्जन ने 'निंबार्क माधुरी' का संकलन करते हुए इन्हें माध्व सम्प्रदाय का अनुयायी बतलाया है तथा इनकी एक वंशावली भी दी है (दे 'माध्व गौड़ेश्वर

इस कारण इन दोनो जयदेवो के एक ही होने में सदेह भी किया जा सकता है। फिर भी इतना प्राय निश्चित-सा है कि उक्त दो पदो का रचयिता एक ऐसे समय में वर्तमान था जब कि पाल-वशी राजाओ के समकालीन बौद्ध सिद्धो का समय अभी-अभी व्यतीत हुआ था। नाथ-पथ तथा भक्ति-मार्ग की धाराएँ प्राय॰ समान रूप से एक ही साथ प्रवाहित हो रही थी और इन दोनो द्वारा सिंचित क्षेत्र एक विशेष रूप धारण करता जा रहा था। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर विदित होगा कि जयदेव-जैसे कुछ वैष्णवो की रचनाओ में सहजानियो के 'प्रज्ञा' तथा 'उपाय' नामक तत्त्व ही राधा-कृष्ण के रूप धारण कर अद्वय की दशा मे अपने ढग से मिल जाते हैं। उनकी 'महासुख' वाली अतिम स्थिति यहाँ पर 'अलौकिक प्रेम' में रूपातरित हो जाती है। फिर भी आगे चल कर इसी का परिणाम वारकरी सम्प्रदाय के अभगो में कही अधिक स्पष्ट होकर लक्षित हुआ। जयदेव वास्तव में एक बडे महत्त्वपूर्ण सधि-काल मे उत्पन्न हुए थे और अपनी कृतियो द्वारा उन्होने एक ऐसे मार्ग का प्रदर्शन किया,जो सत-मत के लिए आदर्श बन गया।

(२) सत सधना सक्षिप्त परिचय

सत सधना के विषय मे कहा जाता है कि ये एक बहुत प्राचीन भक्त थे। इनका उल्लेख नामदेव (स० १३२७ १४०७) ने भी अपनी रचनाओ मे किया है। किंतु सत नामदेव की ऐसी कोई प्रामाणिक रचना नही मिलती जिसमें इनकी चर्चा की गई हो। सभव है ये नामदेव के समकालीन रहे हो अथवा उनके कुछ ही आगे-पीछे उत्पन्न हुए हो। इनके जन्म-स्थान का भी ठीक-ठीक पता नही चलता। एक सधना वा सदन सेहवान, सिंध प्रात के निवासी कहे जाते है। कुछ लोगो का अनुमान है कि वे प्रसिद्ध सत सधना से भिन्न थे। उनका भी समय विक्रम की चौदहवी शताब्दी का अतिम भाग समझा जाता है जो नामदेव का भी जीवन-काल है। मेकालिफ के अनुसार नामदेव तथा ज्ञानदेव की तीर्थ-यात्रा के समय सधना की उनके साथ एलोरा की कदरा के निकट भेंट हुई थी और इन्होने उन दोनो सतो का आतिथ्य-सत्कार करके तीर्थ-यात्रा में उनका साथ भी दिया था।[१] सधना जाति के कसाई कहे जाते हैं और यह भी प्रसिद्ध है कि ये पशुओ को स्वय मारते नही थे, अपितु अन्य कसाइयो से मास लेकर वेचा

ग्रथ माला' छठा पुष्प, मथुरा, स० २००३, पृ० ४४)। किंतु इसके लिए भी अन्य प्रमाण अपेक्षित हैं। —ले०।

१ मेकालिफ दि सिक्ख रिलिजन, भा० ६, पृ० ३२।

करते थे। इन्हें जीव-हिंसा से घृणा थी किंतु अपने पैतृक व्यवसाय का ये त्याग भी नहीं करना चाहते थे।

रचनाएँ

इनका एक पद गुरु अर्जुनदेव द्वारा संपादित सिक्खों के 'आदिग्रंथ' में आया है जिसमें इनके आर्त्तभाव तथा आत्म-निवेदन बड़े सुंदर ढंग से प्रदर्शित किये गए हैं और इनके दैन्य भरे शब्दों में एकांतनिष्ठा भी वर्तमान है। इनकी पंक्तियों में हृदय के सच्चे उद्‌गार दीख पड़ते हैं और इनके उक्त एक पद के द्वारा भी इनके सरल तथा निष्कपट जीवन की एक झाँकी मिल जाती है। इस पद के प्रारंभ में जिस कथा का प्रसंग आया है वह इस प्रकार कही जा सकती है— किसी बढ़ई के लड़के को जब यह पता चला कि एक राजा की लड़की विष्णु भगवान् के साथ विवाह करने को उत्सुक है तब उसने उसी समय विष्णु के रूप में अपने को सुसज्जित करना चाहा। उसने अपने शरीर में चार भुजाएँ लगा लीं जो क्रमशः शंख चक्र गदा तथा पद्म धारण किये हुए थीं और वह गरुड़ पर सवार भी हो गया। परन्तु जब उक्त लड़की के पिता पर किसी शत्रु ने आक्रमण किया और लड़की ने उसकी रक्षा के लिए अपने उस कृत्रिम विष्णु-रूपी पति से सहायता चाही तब वह भयभीत हो गया और अधीर होकर उसने वास्तविक विष्णु भगवान् की शरण ली। विष्णु भगवान् ने उसकी प्रार्थना सुन ली। राजा के उक्त शत्रु को पराजित कर दिया और इस प्रकार उस बनावटी विष्णुरूपी बढ़ई का भी बचा लिया।[1] सधना के छह पदों का एक संग्रह 'संतगाथा' में भी मिलता है जिसमें इनकी भक्ति कृष्णावतार के प्रति लक्षित होती है। इन पदों की भाषा में फ़ारसी-अरबी के भी कुछ शब्द आये हैं जिससे इनके रचयिता का संभवतः किसी पश्चिमी प्रांत का निवासी होना सिद्ध होता है। परन्तु इन पदों की पंक्तियों में वह भाव-गांभीर्य नहीं न वे संतमत निर्दिष्ट विचार ही दीख पड़ते हैं जो सधना की विशेषता होनी चाहिए। संभव है सधना नाम के दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हो गए हों और उन दोनों की रचनाएँ पृथक्-पृथक् उपलब्ध हो रही हों।

सधना-पंथ

डॉ॰ ग्रियर्सन ने भक्त सधना के नाम पर प्रचलित किसी सधना-पंथ की चर्चा की है। उसके अनुयायियों का बनारस में वर्तमान होना भी बतलाया है किंतु ऐसा लोगों का इस समय काशी में कुछ पता नहीं चलता। इसके सिवाय डॉ॰ ग्रियर्सन ने सधना का समय भी ईसा की सत्रहवीं शताब्दी बतलाया है।

---

१ रागु बिलावलु पद १ पृ ८५८।

इस कारण इन दोनो जयदेवो के एक ही होने में सदेह भी किया जा सकता है। फिर भी इतना प्राय निश्चित-सा है कि उक्त दो पदो का रचयिता एक ऐसे समय में वर्तमान था जब कि पाल-वशी राजाओ के समकालीन बौद्ध सिद्धो का समय अभी-अभी व्यतीत हुआ था। नाथ-पथ तथा भक्ति-मार्ग की धाराएँ प्राय समान रूप से एक ही साथ प्रवाहित हो रही थी और इन दोनो द्वारा सिंचित क्षेत्र एक विशेष रूप धारण करता जा रहा था। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर विदित होगा कि जयदेव-जैसे कुछ वैष्णवो की रचनाओ में सहजानियो के 'प्रज्ञा' तथा 'उपाय' नामक तत्त्व ही राधा-कृष्ण के रूप धारण कर अद्वय की दशा मे अपने ढग से मिल जाते हैं। उनकी 'महासुख' वाली अतिम स्थिति यहाँ पर 'अलौकिक प्रेम' में रूपातरित हो जाती है। फिर भी आगे चल कर इसी का परिणाम वारकरी सम्प्रदाय के अभगो में कही अधिक स्पष्ट होकर लक्षित हुआ। जयदेव वास्तव में एक बडे महत्त्वपूर्ण सधि-काल मे उत्पन्न हुए थे और अपनी कृतियो द्वारा उन्होने एक ऐसे मार्ग का प्रदर्शन किया,जो सत-मत के लिए आदर्श बन गया।

(२) सत सधना सक्षिप्त परिचय

सत सधना के विषय मे कहा जाता है कि ये एक वहुत प्राचीन भक्त थे। इनका उल्लेख नामदेव (स० १३२७ १४०७) ने भी अपनी रचनाओ मे किया है। किंतु सत नामदेव की ऐसी कोई प्रामाणिक रचना नही मिलती जिसमें इनकी चर्चा की गई हो। समव है ये नामदेव के समकालीन रहे हो अथवा उनके कुछ ही आगे-पीछे उत्पन्न हुए हो। इनके जन्म-स्थान का भी ठीक-ठीक पता नही चलता। एक सधना वा सदन सेहवान, सिंध प्रात के निवासी कहे जाने है। कुछ लोगो का अनुमान है कि वे प्रसिद्ध सत सधना से भिन्न थे। उनका भी समय विक्रम की चौदहवी शताब्दी का अतिम भाग समझा जाता है जो नामदेव का भी जीवन-काल है। मेकालिफ के अनुसार नामदेव तथा ज्ञानदेव की तीर्थ-यात्रा के समय सधना की उनके साथ एलोरा की कदरा के निकट भेंट हुई थी और इन्होने उन दोनो सतो का आतिथ्य-सत्कार करके तीर्थ-यात्रा में उनका साथ भी दिया था।[१] सधना जाति के कसाई कहे जाते हैं और यह भी प्रसिद्ध है कि ये पशुओ को स्वय मारते नही थे, अपितु अन्य कसाइयो से मास लेकर बेचा

ग्रथ माला' छठा पुष्प, मथुरा, स० २००३, पृ० ४४)। किंतु इसके लिए भी अन्य प्रमाण अपेक्षित हैं। —ले०।

१. मेकालिफ दि सिक्ख रिलिजन, भा० ६, पृ० ३२।

में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कहते हैं कि एक बार किसी बजाज ने इन्हें पहनने के लिए दो बराबर कपड़े के टुकड़े दिए जिन्हें ये धारण करने लगीं। परन्तु इन्होंने पीछे अपनी चारों ओर लगी रहने वाली भीड़ की प्रत्येक गाली के अनुसार उनमें से एक में गाँठ देना आरंभ कर दिया तथा उसी प्रकार उसके अभिनंदनों के अनुसार भी दूसरे में गाँठें लगा दीं। अंत में जब उन दोनों को तौलवा कर देखा तो उन्हें तौल में बराबर पाकर इन्होंने अपने प्रति निंदा तथा स्तुति की ओर और भी उपेक्षा प्रकट की। इनके उपदेशप्रद उद्गारों के कारण इनके अनुयायियों की संख्या में भी क्रमशः वृद्धि होती गई। कहते हैं कि इन्होंने 'कश्मीर के संरक्षक संत' (Patron Saint of Kashmir) शेख नूरुद्दीन अथवा 'नंदा ऋषि' (सं० १४३४-१४९५) को भी बहुत प्रभावित किया। वृद्धावस्था प्राप्त करके इनका लगभग ८० वर्ष की आयु में शरीर त्याग करना प्रसिद्ध है तथा इनका मृत्यु-स्थान 'बीज बिहाड़ा' गाँव बतलाया जाता है।

रचनाएँ और विचार-धारा

संत लालदेद की विचार-धारा का पता इनकी उन फुटकर बानियों द्वारा चलता है जिन्हें इन्होंने समय समय पर अपने भ्रमणशील जीवन में सर्वसाधारण के प्रति विभिन्न उद्गार प्रकट करते समय कह डाला था। वे कश्मीर की ही भाषा में हैं और उन्हें एकत्र करके कुछ लोगों ने एकाध संग्रहों के रूप में प्रकाशित किया है। ऐसे संग्रहों में डॉ० ग्रियर्सन तथा डॉ० बार्नेट का 'लल्ला वाक्यानि'[1] तथा श्रीनगर से प्रकाशित 'लल्लेश्वरी वाक्यानि'[2] और कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा सर रिचार्ड टेम्पुल के अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किये गए 'दि वर्ड ऑफ लल्ला दि प्रोफेटेस'[3] के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें संगृहीत रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि संत लालदेद का आराध्यदेव वह परमतत्त्व है जिसे "शिव केशव जिन वा नाथ" में से कोई भी एक नाम दे सकते हैं। किन्तु इसके कारण उसमें किसी प्रकार का अंतर नहीं आ सकता। इनमें से किसी भी एक अथवा इनसे अन्य नामधारी तत्त्व के प्रति भी हार्दिक विश्वास रखने वाला सांसारिक दुःखों से मुक्ति

---

१ दि वाइज सेइंग्स ऑफ़ लालदेद ए मिस्टिक पोएटेस ऑफ एंशेंट कश्मीर एशियाटिक सोसाइटी मोनोग्राफ, लंदन १९२० ई०

२ इनके १०९ पदों का एक संग्रह जिसमें प्रायः प्रथम संग्रह की रचनाएँ ही ले ली गई हैं।

३ सन् १९२४ में प्रकाशित। मूल कश्मीरी में इनका 'लालदेद-ए-ह्रिद वाख' प्रसिद्ध है।

किंतु संत कबीर साहब के समसामयिक संत रविदास ने इनका उल्लेख अपनी एक रचना[1] में किया है जिससे उक्त डॉक्टर साहब का यह अनुमान भी ठीक नहीं जान पड़ता।

(३) संत लाल देद वा लल्ला संक्षिप्त जीवनवृत्त

संत लालदेद वा लल्ला के अन्य कई नामों में 'लल्लेश्वरी' तथा लल्ला 'आरिफ' भी प्रसिद्ध हैं। इनके माता पिता के विषय में कहा गया है कि वे श्रीनगर, कश्मीर से लगभग ४ मील दक्षिण पूर्व स्थित 'पाड्रेठन' नामक स्थान के निवासी थे जो अशोक-कालीन कश्मीर का कभी राजधानी भी रह चुका था। इनका जन्म सं० १३९२ में हुआ, जब वहाँ पर उदयानदेव का राज्य था और दिल्ली में मुहम्मद बिन तुगलक अपनी गद्दी पर आसीन था। इनकी जाति को किसी किसी ने 'देद' शब्द के कारण, ढेढ वा मेहतर तक समझा है, किंतु साधारणतः इनके परिवार को सम्भ्रांत कहा जाता आया है।[2] इनकी छोटी अवस्था में ही इनका विवाह 'पापर' नामक गाँव में कर दिया गया, जहाँ पर इनकी विमाता सास ने इन्हें अनेक प्रकार के कष्ट दिये। कहते हैं कि वह इनके भोजन की थाली में प्रायः एक सिलबट्टा रख कर उसके ऊपर भात बिखेर दिया करती थी। इस कारण, बाहर से यथेष्ट दीख पड़ने पर भी इन्हें भर पेट अन्न नहीं मिल पाता था और इस बात की ओर इन्होंने एक पंक्ति में संकेत भी किया है। इनके प्रति स्वयं इनके पति का भी व्यवहार कभी अनुकूल नहीं पड़ता था जिससे इन्हें क्रमशः विरक्ति होती गई। फलतः इन्होंने अपने परिवार का त्याग करके अवंतीपुर के निवासी शैव-सिद्ध 'बे' अथवा बाबा श्रीकंठ से दीक्षा ग्रहण कर ली तथा प्रसिद्ध त्रिक-सिद्धांतों द्वारा प्रभावित होकर तदनुसार साधना में भी निरत हो गईं। कुछ दिनों पीछे इनका सैयद अली हमदानी (सं० १३७१-१४४३) के प्रभाव में आना भी कहा जाता है। कदाचित् इसी कारण, इन्हें 'आरिफ' कहने की भी परंपरा चली आ रही है। सिद्धावस्था की प्राप्ति हो जाने पर इनका परमहंसों के समान रहा करना तथा कभी-कभी तन्मय होकर नृत्य तक करने लगना और अपने पहने हुए वस्त्रादि का त्याग करके नग्न तक बन जाना भी बतलाया जाता है। परन्तु इसके साथ यह भी प्रसिद्ध है कि किसी प्रकार के भी धार्मिक मतभेदों से ये बराबर दूर रहीं और इनकी समन्वयात्मक वृत्ति

---

१. 'नामदेव कबीर त्रिलोचनु, सधना सैणु तरै'-संत रविदास।

२. 'देद' शब्द यहाँ पर कश्मीरी भाषा के 'देद्दी' शब्द का एक संक्षिप्त रूप हो सकता है जिसका अर्थ 'आयु और पदवी में बड़ी' हुआ करता है और जो हिंदी के 'दीदी' शब्द का समानार्थक भी कहा जा सकता है।—ले०।

प्रयोग मिलते हैं तथा इनकी एक रचना में हमें उनकी पंक्ति "उलटी गंगा समुद्रहि सोख ससि औ सूर गरासै' तक का स्मरण हो आता है, जहाँ द्वितीया के चाँद का राहु द्वारा ग्रस लिया जाना बतलाया गया है। परन्तु फिर भी हमें इन दोनों संतों के बीच किसी प्रकार के सीधे संबंध का कोई पता नहीं चलता न इस बात के ही कोई प्रमाण अभी तक मिले हैं कि यह कभी संभव भी हो सकता था। संत लालदेव को कभी-कभी 'लल्ला योगिनी' का भी नाम दिया जाता है जो इनकी रचनाओं के अन्तर्गत पाये जाने वाले योग-साधना-विषयक विविध उल्लेखों के कारण भी हो सकता है। ऐसे प्रसंग संत-साहित्य में भी कम नहीं मिला करते। संत लालदेव का यह कथन कि 'कुछ लोग सोते हुए भी जागृतावस्था में रहा करते हैं तथा कुछ के जागते रहने पर भी उन पर निद्रा की छाया पड़ी रहती है। कुछ लोग स्नान करते रहने पर भी अपवित्र बने रहते हैं तथा कुछ गृहस्थी के प्रपंचों में फँसे दीख पड़ने पर भी कर्मों से पृथक तथा शांत रहा करते हैं' हमें 'श्रीमद्भगवद्गीता' के प्रसिद्ध श्लोक का स्मरण दिलाता है।[1]

(४) संत बेणी : संक्षिप्त परिचय

संत बेणी जी के समय अथवा जीवन की घटनाओं के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव (सं० १६२० – १६६३) ने अपने एक पद में इनका नाम लिया है[2] और कहा है कि इन्हें सद्गुरु द्वारा ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध हुआ था। उक्त गुरु ने अपने संपादित 'आदिग्रंथ' में इनके तीन पदों का संग्रह भी किया है जिससे इनके विचारों की कुछ सामग्री मिलती है। इनकी उपलब्ध रचनाओं की भाषा पुरानी जान पड़ती है और ये अनुमान से कबीर साहब से प्राचीन ही ठहरते हैं। इनकी जन्मभूमि वा कर्मक्षेत्र का कोई पता नहीं मिलता। फिर भी इनके पदों के पंजाब की ओर प्रचलित होने से इन्हें हम किसी पश्चिमी प्रांत का निवासी कह सकते हैं अथवा इनके एक पद में 'हरिका बिथाम' का प्रयोग पाकर हम इन्हें महाराष्ट्र की ओर का रहने वाला भी बतला सकते हैं। इनके पदों पर नाथयोगी-सम्प्रदाय वा संत-मत की गहरी छाप है और उनमें व्यक्त किये गए इनके विचारों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके समय तक उसका प्रचार इनके प्रान्त में बहुत कुछ होने लगा था। इन्हें नामदेव के

---

१ 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥' —अ० २ श्लोक ६९।

२ 'बेणी कउ गुरि कीओ प्रगासु रे मन तूभी होहि दासु' रागु बसंतु, महला ५, गुरुग्रंथ साहब पृ० ११९२।

प्राप्त कर सकता है ।"[1] इसलिए इन्होने मूर्तिपूजा के प्रेमियो को भी सबोधित करते हुए कहा है, "अरे मूर्ख पडित, मूर्ति पत्थर है, मदिर पत्थर है और ऊपर तथा नीचे सर्वत्र एक समान है । इस दशा मे तू किसकी पूजा करना चाहता है ? अरे, अपने मन तथा आत्मा का एकीकरण कर ।"[2] इन्होने अन्यत्र इस प्रकार भी कहा है, "पूरी लगन के साथ और चाहभरी आँखो द्वारा मैंने उसे रात दिन सब कही ढूंढा, किंतु उस सत्य रूपी परमात्मा को मैंने कही बाहर न पाकर स्वय अपने भीतर ही उपलब्ध कर लिया । वह अवसर मेरे जीवन के परम सौभाग्य का दिन था और तभी से मैंने उसे निर्निमेप देखने तथा उसे अपना पथ-प्रदर्शक बनाने का व्रत ले लिया ।[3] "उसे ढूंढती-ढूंढती मैं थक गई और मैंने उसके लिए अपने शक्ति से बाहर तक यत्न किये, किंतु मैंने उसके द्वार पर ताला पडा पाया । इससे मेरी अभिलाषा उसके प्रति और भी कई गुनी बढ गई तथा जब मैं वही ठहर कर देखने लगी तो प्रियतम दृष्टि मे आ गया ।"[4] अतएव, इनका कहना है, "बाहर की वस्तुओ की परवा न करके अपने विचार को अपने भीतर ही केन्द्रित करो जिससे तुम्हारा सदेह जाता रहे । मेरे गुरु ने मुझे यही उपदेश दिया और मैं तभी से दिगबर बन कर नाचने गाने लग गई । इससे बढ कर पवित्र अन्य कौन सा जीवन होगा ?"[5]

सत लालदेद तथा कबीर साहब

डॉ० ग्रियर्सन का कहना है कि आगे चल कर लालदेद की अनेक महत्त्वपूर्ण बातो से कबीर साहब भी प्रभावित हुए थे ।[6] उनके अनुसार लालदेद को मूर्ति-पूजा के प्रति वास्तविक विरोध नही था और वह एक सच्ची धार्मिक हिन्दू ललना थी । परन्तु उसने अपने समय मे ठीक वैसे ही यत्न किये थे जैसे कबीर साहब ने पीछे, राम तथा रहीम एव केशव और करीम को एक बतला कर हिन्दू और मुस्लिम जनता को एक सूत्र मे बांधने के लिए किये । सत लालदेद की रचनाओ मे हमे कबीर साहब की पक्तियो मे जैसे जुलाहो के यहाँ प्रचलित पारिभाषिक शब्दो के

---

१. लल्लेश्वरी वाक्यानि, श्रीनगर, पद २२, पृ० १० ।
२. डॉ० कौमुदी. कश्मीर इट्स कल्चरल हेरिटेज, बबई १९५२ ई०, पृ० ५७ पर उद्धृत ।
३ वही, पृ० ५६ पर उद्धृत । ४ वही, पृ० ५५ पर उद्धृत ।
५ डॉ० जी० एम० डी० सूफी . कश्मीर, ए हिस्ट्री ऑफ कश्मीर, लाहोर, १९४९ ई०, पृ० ३८७ पर उद्धृत ।
६. दि जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१८ ई०, पृ० १५७-९ ।

दक्षिण भारत में ही बतलाया जाता है । उत्तरी भारत में भी कदाचित् दो से अधिक नामदेव-नामधारी संतों का किसी न किसी समय वर्तमान रहना कहा गया है। अतएव उस प्रमुख संत नामदेव के विषय में निश्चित रूप से प्रामाणिक परिचय देना संदेह से रहित नहीं कहा जा सकता जिनके पद हमें 'आदिग्रंथ' में मिलते हैं। दक्षिण भारत या महाराष्ट्र के नामदेव जो प्रसिद्ध ज्ञानदेव के समकालीन थे उनके विषय में आज तक बहुत कुछ लिखा भी गया है। उनकी अनेक रचनाएँ मराठी अभंगों के बड़े-बड़े संग्रहों के अंतर्गत अच्छी संख्या में मिलती हैं और कहा जाता है कि 'आदिग्रंथ' की रचनाएँ भी उन्हीं की कृतियाँ हैं। किंतु, पंजाब की कतिपय किंवदंतियों के कारण इस बात में संदेह भी होने लगता है। पता चलता है कि उन्हें कभी-कभी विष्णुदास नामा भी कहते हैं। किंतु इस नाम वाले भक्त की रचनाओं के अंतर्गत मीराँ कबीर तथा कमाल-जैसे परवर्त्ती लोगों के प्रसंग भी पाये जाते हैं इसलिए उक्त कथन में विश्वास नहीं होता।[1] कारण यह है कि महाराष्ट्र के सर्वप्रसिद्ध नामदेव का ज्ञानदेव का समकालीन होना ऐतिहासिक तथ्य है। ज्ञानदेव वा ज्ञानेश्वर का आविर्भाव-काल उनकी रचनाओं में दिये गए संकेतों के ही अनुसार ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जा पड़ता है जब कि कबीर, कमाल वा मीराँ को हम उस काल के अनंतर सौ वर्षों के भीतर भी किसी प्रमाण के आधार पर नहीं ला सकते न उन्हें नामदेव का समसामयिक ही ठहरा सकते हैं। इसके विपरीत कबीर, कमाल तथा मीराँबाई ने भी अपनी कई रचनाओं में नामदेव का नाम बड़े आदर के साथ लिया है। श्री रजवाड़े द्वारा संपादित एक संग्रह के अनुसार स्वयं विष्णुदास नामा ने भी अपनी रचना 'बावन अक्षरी' में नामदेवराय की वंदना की है जो संभवतः उक्त संत नामदेव का ही नाम हो सकता है तथा जिससे इनका उनसे भिन्न और पूर्व-काल का होना भी सिद्ध है[2]।

महाराष्ट्र संत नामदेव

उक्त बातों के अतिरिक्त *'आदिग्रंथ'* में संगृहीत नामदेव की रचनाओं के साथ प्रसिद्ध महाराष्ट्र संत-रचित अभंगों की तुलना करने पर हमारी इस प्रकार की धारणा अधिक पक्की ग्रहण करने लगती है कि उन दोनों प्रकार की रचनाएँ

---

१ वि० का० रजवाड़े ने किसी ऐसे नामदेव का प्रसिद्ध मराठी कवि एकनाथ (विक्रम की १६ वीं शताब्दी) का समकालीन होना माना है (दे० इतिहास संशोधक मंडल का ग्रंथ १८३३ अहवाले पृ० १२२। —ले०)

२ विश्वभारती पत्रिका खंड ६, अंक २, पृ० ८८।

समकालीन सतो में हम गिन सकते हैं। सेन, पीपा वा कवीर के समय मे इन्हे लाना उचित नही जान पडता। इनके द्वारा, अथवा इनके नाम पर चलाये गए किसी पथ का भी अभी तक पता नही चला, न उपर्युक्त पदो के अतिरिक्त कोई अन्य रचनाएँ ही इनकी मिल मकी हैं। फिर भी इससे इनका महत्त्व कम नही होता और सत-मत के प्रथम प्रवर्त्तको में इनका नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।

रचनाएँ

इनके 'आदिग्रथ' में सगृहीत तीन[1] पदो में से एक में योग-सावना की चर्चा है जिसमें ये कहते हैं कि "इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाम की तीनो नाडियाँ जहाँ पर मिलती है, वह स्थान प्रयाग की त्रिवेणी का महत्त्व रखता है। वही पर निरजन वा राम का निवास है जिसे गुरु द्वारा निर्दिष्ट सकेत से ही कोई विरला जान पाता है। वहाँ पर सदा अमृत-स्राव हुआ करता है और मन के स्थिर हो जाने पर अनाहत शव्द भी सुन पडता है।" इसी प्रकार "अगम्य दसम द्वार मे परमपुरुष रहा करता है, जहाँ प्रवुद्ध होकर स्थित रहनेवाला शून्य में प्रवेश कर जाता है। पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ उसके वश में आ जाती हैं और वह कृष्ण के रग मे तन्मय हो जाता है। उसके मन सूत्र में नाम के माणिक सदा पिरोये रहा करते हैं और वह सर्वोच्च दशा को प्राप्त कर लेता है," भी इन्होने कहा है। सत वेणी मरणोपरात मुक्त होने मे विश्वास नही करते, उनका आदर्श 'जीवन्मुक्त' का है जिसके लिए चेष्टा करना वे प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य समझते हैं। उन्होने गर्भावस्था से लेकर मरण-समय तक किसी न किसी क्षण इस वात को स्मरण करने की चेतावनी दी है। उनके मत का मुख्य उद्देश्य 'आतम ततु' की अनुभूति है जिस कारण उन्होने केवल शरीर पर चदनादि का प्रयोग करनेवाले मूर्ति-पूजको को उनका हृदय शुद्ध न होने से वहुत कुछ फटकारा है। उनके धर्म को 'फोकट धरम' वतला कर उन्हें ठग, वचक तथा लपट तक कह डाला है।

(५) सत नामदेव **कई नामदेव**

नामदेव नाम के लगभग आधे दर्जन भक्तो वा कवियो का होना केवल

---

१ सिरी राग, पद १, पृ० ९२, राग रामकली, पद १, पृ० ९७४; और रागु प्रभाती, पद १, पृ० १३५०। वेणी जी के नाम से रामकली राग के अतर्गत ५ पद तथा भैरू राग के अतर्गत २ पद नराणे, जयपुर के दादू द्वारे वाली स० १७१० की हस्तलिखित प्रति मे भी आये हैं (दे० उसके ३९० पन्ने से ३९२ पन्ने तक)—ले०।

नामदेव के बहुत ऋणी हैं। उनके लिए तथा महाराष्ट्र के अनेक संतों के लिए भी संत नामदेव ने एक पथ प्रदर्शक का काम किया है।

जीवनी

फिर भी संत नामदेव की प्रामाणिक ऐतिहासिक जीवनी लिखने तथा बहुत सी रचनाओं को उनकी ही कृति मान लेने के लिए सामग्री की कमी है। भिन्न भिन्न मतावलंबियों के रचयिताओं ने इनके संबंध में बहुत कुछ लिखा है और इनकी कई स्वतंत्र जीवनियाँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु इस जैसी पुस्तकों में धार्मिक भावना या साम्प्रदायिकता के प्रभाव में आकर बहुत-सी अतिरंजित बातें कह दी गई हैं। उनमें अधिकतर एक प्रकार की पौराणिकता की गंध आती है और उनमें उल्लिखित चमत्कारपूर्ण प्रसंगों में सर्वसाधारण को सहसा विश्वास नहीं होता। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर लिखी गई, पूर्णतः विश्वसनीय समझी जानेवाली जीवनियों का अभी तक नितांत अभाव है। जब तक नामदेव की समझी जाने वाली सारी रचनाओं की पूरी छानबीन नहीं हो जाती तब तक उनमें दी गई बहुत-सी बातों को भी हम असंदिग्ध नहीं कह सकते।

प्रसंग

संत नामदेव के समकालीन समझे जानेवाले एक दूसरे संत सांवता माली ने अपने एक पद में इनके तथा ज्ञानदेव के अपने यहाँ साथ ही आने की चर्चा की है। उसकी कुछ अन्य पंक्तियों से विदित होता है कि उसने इन दोनों के साथ तीर्थ-यात्रा भी की थी।[१] इसी प्रकार संत चोखामेला की भी एक पंक्ति[२] से प्रकट होता है कि उक्त महात्मा का इनके प्रति बड़ा अनुराग था। उत्तरी भारत के संतों में भी कबीर साहब के अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी नामदेव के संबंध में अनेक स्थलों पर चर्चा की है और इन्हें आदर की दृष्टि से देखा है। उदाहरण के लिए संत रैदास ने इन्हें नीच कुल में उत्पन्न होकर भी गोविंद की कृपा द्वारा ऊँची पदवी तक पहुँचने वाला बतलाया है। एक दूसरे पद में उनके भगवान् को दूध पिलानेवाली कथा की ओर भी संकेत किया है।[३] इसी प्रकार संत धन्ना ने भी कहा है कि 'गोविंद-गोविंद' कह कर मैं साधारण छीपी से बढ़ कर बड़े हो गए।[४] स्वयं संत नामदेव ने अपने विषय में अधिक नहीं लिखा है।

---

१ श्री संतगाथा इंदिरा प्रेस पूर्वे पृ १४६।
२ वही पृ १४८ 'चोखा म्हणे लोटांगणी जाऊ, नामदेव माऊ केशवा चा।
३ गुरुग्रंथ साहब भाई गुरदित्ताल सिंह ऐंड सन्, अमृतसर, पृ० ११०४।
४ वही पृ० ४८७।

एक ही व्यक्ति की कृतिया हो सकती है । सबसे पहली समानता उक्त दोनो सग्रहो मे उनके रचयिता की जाति के छीपी होनेवाले उल्लेखो के विषय मे है । मराठी रचनाओ में कहीं-कहीं "आम्ही दीन शिपीये जातिहीन" जैसे अश मिलते है, वैसे ही 'आदिग्रथ' के अतर्गत "हीनडी जाति मेरी, जादम राइया, छीपे के जनम काहे कउ आइया" जैसे उद्गार दीख पडते है । इसी प्रकार उन्हे दोनो प्रकार की रचनाओ के रचयिता ने अपना इष्टदेव 'विट्ठल' को ही माना है । उनके प्रति अपने भक्ति-भाव का प्रदर्शन अनेक स्थलो पर बडी श्रद्धा के साथ किया है । इसके सिवाय नामदेव की मूर्ति को दूध पिलाने, अपनी छान छवाने, मदिर का द्वार पश्चिम की ओर करा देने, आदि के प्रसग दोनो में प्राय एक ही प्रकार से आये है । दोनो में आये हुए अनेक पदो के भावो पर नाथ-पथानुमोदित योग-धारा की छाप भी बहुत स्पष्ट रूप में लक्षित होती है । अतएव दोनो सतो का एक होना असभव नही है ।

महत्त्व

महाराष्ट्र प्रात में उत्पन्न हुए तथा ज्ञानदेव के समकालीन सत नामदेव एक परम प्रसिद्ध महापुरुष हो चुके है । उनका नाम वहाँ के विख्यात 'सत-पचायतन' अर्थात् 'पाँच प्रमुख सतो के समुदाय' में लिया जाता है । उनके अतिरिक्त चार अन्य सतो में ज्ञानदेव, एकनाथ, समर्थ रामदास तथा तुकाराम की गणना की जाती है और तुकाराम ने उन्हें अपना आध्यात्मिक आदर्श माना है । महाराष्ट्र की ओर प्रसिद्ध भी है कि ज्ञानदेव ने आगे चल कर एकनाथ के रूप में अवतार लिया था और नामदेव तुकाराम बन कर फिर प्रकट हुए थे । इसी प्रकार नामदेव से किसी न किसी प्रकार प्रभावित होनेवाले सतो में उत्तरी भारत के कई महात्माओ के नाम भी लिये जाते हैं । इधर के सबसे प्रसिद्ध सत कबीर साहब ने उनके प्रति प्रगाढ श्रद्धा के भाव प्रदर्शित किये है । उन्होंने कहा है कि "जिस प्रकार पहले युगो में भक्त उद्धव, अक्रूर, हनुमान्, शुकदेव तथा शकर हुए थे, उसी प्रकार कलिकाल में नामदेव तथा जयदेव का आविर्भाव हुआ था ।" एक लेखक ने तो यहाँ तक बतलाया है कि यदि ध्यानपूर्वक एव सूक्ष्म रूप से नामदेव की रचनाओ का अध्ययन किया जाय, तो जान पडेगा कि कबीर साहब ने अपनी भावना-सृष्टि तथा वर्णन-शैली दोनो में ही गोरखनाथ तथा नामदेव का स्पष्ट अनुसरण किया है[1] । यहाँ तक कह देना तो कदाचित् अक्षरश सत्य नही समझा जा सकता, किंतु इतना हम नि सकोच भाव के साथ कह सकते है कि उत्तरी भारत के सत भी

---

१ डॉ० मोहन सिंह · कबीर ऐंड दि भक्ति मूवमेंट, भाग १, पृ० ४८–९ ।

नाम कुछ लोगों ने केवल कपड़े का छापना ही समझा है, किंतु जान पड़ता है कि महाराष्ट्र प्रांत की ओर छीपी कहलानेवाले लोग कदाचित् दोनों प्रकार के व्यवसाय किया करते थे। जो हो इनके पूर्व-पुरुषों का भगवद्भक्त होना भी सभी लोग बतलाते हैं और कहते हैं कि इनके हृदय में भी इस प्रकार के भाव मूलतः इसी कारण जागृत हुए थे। इनके पिता दामा शेट अपने गाँव के बाहर निर्मित शिव-मंदिर में 'केशीराज' शिव की पूजा करने बराबर जाया करते थे। इनके किसी पूर्व-पुरुष का सदा 'जय विट्ठल जय विट्ठल' की धुन में लगा रहना भी बतलाया जाता है। किसी-किसी के अनुसार दामा शेट ही प्रति वर्ष पंढरपुर की यात्रा भी किया करते थे और वहाँ के इष्टदेव विट्ठल के प्रति पूर्णरूप से आकृष्ट हो जाने के कारण अंत में वहीं जाकर बस गए थे। संत नामदेव के जन्म का समय कार्तिक सुदी ११ रविवार शाके ११९२ (तदनुसार सन् १२७० ई० अथवा सं० १३२७) कहा जाता है और इस विषय में अधिक मतभेद नहीं दिखलायी पड़ता। यों तो डॉ० जे० एन० फर्कुहर जैसे लेखकों के अनुसार इनका जीवन-काल बहुत दिन पीछे लाकर ही निश्चित करना चाहिए।[१] डॉ० मोहन सिंह भी अपनी रचना 'भक्त शिरोमणी नामदेव की नमी जीवनी नमी पदावली' (सन् १९५९ ई०) में इनका समय ११९० ई० से १४०५ ई० तक ठहराना चाहते हैं (दे० पृ० १)। किंतु उनके आधार-ग्रंथ 'सर्व भक्त परिचय' (१९९९) की प्रामाणिकता में ही अभी संदेह किया जा सकता है।

बाल्यकाल

कहते हैं कि लगभग पाँच वर्ष की अवस्था में इन्हें पढ़ने के लिए बैठाया गया किंतु उसमें इनका जी नहीं लगा। इनका विवाह केवल आठ वर्ष की अवस्था में किसी गोविंद शेट की पुत्री राजबाई के साथ हुआ था और उससे इन्हें पाँच संतानें हुई थीं। इन संतानों में से भी चार पुत्र थे जिनके नाम क्रमशः नारायण, महादेव, गोविंद और विट्ठल कहे जाते हैं और इनकी एक मात्र पुत्री का नाम लिंबाबाई बतलाया जाता है। इन्हें इनके पिता ने पहले अपने पैतृक व्यवसाय में लगाने की बड़ी चेष्टा की किंतु उन्हें इस बात में असफलता रही। उन्होंने इन्हें फिर इसी कारण वाणिज्य के लिए भी तैयार करना चाहा किंतु इस बार उन्हें पता चला कि ये उनके दिये हुए मूलधन को भी किसी और कार्य में लगा देते हैं। इनका समय अधिकतर साधुओं के निकट बैठने या उनके सत्संग की बातें ध्यानपूर्वक

१ जे० ए० फर्कुहर : जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी, अप्रैल १९२० ई०, पृ० १८६।

इनकी कई रचनाओ द्वारा भी इतना ही पता चलता है कि अपनी जाति के छीपी होने के कारण इन्हें अपनी हीनता का अनुभव होता था। परन्तु तो भी इन्हे इस बात पर पूरा सतोष था कि गुरुपदेश तथा सत्सग के बल पर इन्हें अत में भगवान के दर्शन हो गए और इन्होंने अपना जीवन सुधार लिया ।[1]

जाति

परन्तु इतना होने पर भी कुछ लोगो ने सत नामदेव की जीवनी लिखते समय उन्हें क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुआ सिद्ध करना चाहा है । उनका कथन है कि "महाराज नामदेवजी के पूर्वज कुशक वंशी गाधि गोत्रीय देशस्थ क्षत्रिय थे । कन्नौज इनके आदि-पुरुषो की जन्म-भूमि थी"[2] । इनका अनुमान है कि परशु-राम द्वारा क्षत्रियवश के विध्वस किये जाने की प्रतिज्ञा होने पर क्षत्रियो में से बहुतो ने अपनी जाति छिपाने के लिए अनेक प्रकार की शिल्प-कलाओ का आश्रय ले लिया और तदनुसार इनके आदिपुरुष शूर वा शूरसेन ने धनुष-बाण को तोड उसकी जगह गज, कैंची तथा सुई बना ली । उनका कहना है कि उक्त दोनो व्यक्ति प्रसिद्ध सहस्रार्जुन के पांच पुत्रो में से थे और आगे चल कर इन्ही के वशज 'छीपी' कहलाये । वास्तव मे अपना वर्ण वा जाति छिपाने के ही कारण ये 'छीपी' कहे जाने लगे थे । इनके पूर्व पुरुष यदु शेट थे, जो रेडेकर कहे जाते थे और वे कपडे बेचा करते थे[3] । परन्तु आश्चर्य की बात है कि स्वय सत नामदेव ने इन बातो मे से किसी एक की ओर भी ध्यान न देकर अपने को केवल 'छीपी' ही कहा है ।[4] इतना ही नही, उन्होंने तथा उनके समसामयिक वा परवर्त्ती सतो ने भी उन्हें छीपी कहने के साथ ही नीच जाति का होना भी बतलाया है ।

जीवन-वृत्त

इधर जिन विद्वानो ने सत नामदेव के विषय में सभी बातो पर यथा-सभव विचार करते हुए कुछ लिखा है। उनके अनुसार ये दामा शेट नामक एक दर्जी के पुत्र थे और इनका जन्म सतारा जिले के अतर्गत कन्हाड के निकटवर्त्ती किसी नरसी बमनी गाँव में हुआ था । इनकी माता का नाम गोना बाई था जो उसी जिले के किसी कल्यान नामक गाँव के एक दर्जी की पुत्री थी । छीपी जाति का

---

१ गुरुग्रथ साहब, पृ० ४८७ ।

२ नन्हे लाल वर्मा श्री नामदेव वशावली, भूमिका, पृ० २ ।

३. वही, भूमिका, पृ० ४–६ ।

४. इनकी मराठी रचनाओ मे भी इनके "आम्ही दीन शिपी हो जाति हीन" जैसे कथन मिलते हैं । —ले०

करता था अन्य ८२ व्यक्तियों के साथ डाकुओं ने मार डाला है और अब उसके पास कुछ भी खिलाने के लिए शेष नहीं है। इस पर संत नामदेव का कठोर हृदय भी द्रवित हो उठा और उन्होंने शीघ्र अपनी घोड़ी के साथ-साथ अन्य वस्तुओं को भी वहाँ के ब्राह्मणों को दे डाला। वे वहीं पर कटारी मार कर अपने प्राण भी दे देने को उद्यत हो गए थे किन्तु लोगों के कहने-सुनने पर वे पंढरपुर की ओर चले गए।[१]

गुरु

इनके गुरु विसोबा खेचर नामक एक संत थे जो किसी गाँव में रहा करते थे। कहा जाता है कि 'गुरु न करने के कारण पहले इन्हें बड़ी ग्लानि थी। प्रसिद्ध है कि एक बार जब ये अपने अन्य संत साथियों के साथ गोरोबा नामक एक कुम्हार महात्मा के यहाँ बैठे हुए थे तब नामदेव की बहन मुक्ताबाई के पूछने पर गोरोबा ने कहा कि मैं मिट्टी के बर्तन ठोकनेवाली अपनी थापी की सहायता से जाँच कर यह निश्चित रूप से बतला सकता हूँ कि उक्त मंडली में से कौन पक्का और कौन कच्चा मनुष्य समझा जा सकता है। इतना ही नहीं उन्होंने सचमुच अपनी थापी उठायी और वे क्रमशः सबके सिर को उससे ठोक-ठोककर अपनी सम्मति देने लगे। वे जब नामदेव के निकट पहुँचे और उनके भी सिर को ठोका तब उनके विषय में तिरस्कारपूर्वक सबसे कच्चा घड़ा कह दिया और ऐसे कथन का कारण उन्होंने इनका निगुरा होना बतलाया। संत नामदेव को यह बात उस दिन ऐसी लगी कि वे बहुत चिंतित हो गए और फिर कदाचित् स्वप्न द्वारा परिचय पाकर विसोबा को अपना गुरु बना लिया।'[२] विसोबा खेचर तथा नामदेव के प्रथम मिलन की कथा भी बहुत विचित्र है। कहते हैं कि जब संत नामदेव उन्हें ढूँढ़ते हुए किसी शिव-मंदिर में पहुँचे तब वहाँ पर उन्हें शिवलिंग के ऊपर अपने दोनों पैर डाल कर लेटा हुआ पाया। इन्हें यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। परन्तु जब उक्त विसोबा के ही कहने पर इन्होंने उनकी टाँगों को पकड़ कर दूसरी ओर करना चाहा तब इन्हें और भी अधिक आश्चर्य होने लगा। इन्हें पता चला कि विसोबा की टाँगों के अनुसार शिवलिंग भी एक ओर से दूसरी ओर घूमता जा रहा है। फिर तो सारी बातों का कारण उक्त विसोबा की मुस्कराती हुई मूर्ति को ही मान कर ये उनके पैरों पर गिर पड़े और उन्हें गुरु के रूप से स्वीकार कर लिया।[३] इस

१ एम ए मेकालिफ दि सिक्ख रिलिजन भाग ६, पृ ११-२।

२ लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर : श्री ज्ञानेश्वर चरित्र गीताप्रेस गोरखपुर, पृ १३३-४।

३ डॉ निकल मैकनिकल इंडियन थीइज्म पृ ११४।

सुनने मे ही लग जाया करता था। इनके बाल्यकाल की कथाओ मे प्रसिद्ध है कि एक बार जब इनके पिता किसी कार्यवश कही बाहर गये थे, तब इन्हे उनकी जगह अपने घर मे रखी हुई भगवान् की मूर्ति को भोग लगाने की आवश्यकता पडी और इसके लिए इन्होने कटोरे मे गाय का दूध लाकर उसके सामने रख दिया। परन्तु जब बालक नामदेव ने देखा कि मूर्ति ज्यो की त्यो पडी हुई है और वह दूध पीने का कोई प्रयास नही करती, तब इन्हे समझ पडा कि वह इनके छोटे होने के कारण कुछ रुष्ट हो गई है, और अपनी विवशता के कारण ये रो उठे। परन्तु, जैसा इनके एक पद मे[1] भी बतलाया गया है, उस मूर्ति ने अत मे इनके हाथ से कटोरे के दूध को पी लिया और उसकी सजीवता मे पूर्ण प्रतीति हो जाने के कारण ये उसी समय से भगवद्भक्त हो गए। इसमे सदेह नही कि इस प्रकार की बातें चमत्कारपूर्ण ही मानी जा सकती है, किंतु इनसे बालक नामदेव के भोले हृदय की एक झाँकी हमे अवश्य मिल जाती है और क्रमश हम उनके जीवन की अन्य बातो को उसी के प्रकाश मे समझने के लिए तैयार होने लगते है।

युवावस्था

सत नामदेव के विषय मे कुछ लोगो का यह भी कहना है कि अपनी युवावस्था तक पहुँचने पर कुछ दिनो के लिए ये डकैती भी करने लग गए थे। मेकालिफ कहते है कि "नामदेव ने अपने को स्वय भी दुर्भाग्यवश डकैतो का साथी बन जाना बतलाया है। उन्होने कहा है कि किस प्रकार वे तथा उनके साथी लुटेरो ने अनेक ब्राह्मणो तथा निर्दोष व्यक्तियो का वध किया था। अत मे उन्हे तितर-बितर करने के लिए बादशाह को अपने घुडसवार भेजने पडे थे। नामदेव के पास एक बडी अच्छी घोडी थी जिस पर सवार होकर वे लूटपाट मचाने जाया करते थे। जब उन्होने अपनी डकैती का त्याग कर दिया, तब उसी पर चढ कर वे पढरपुर से १६ मील की दूरी पर स्थित औंढी के शिव-मदिर तक नागनाथ का दर्शन करने जाने लगे थे।"[2] उक्त लेखक का यह भी कहना है कि "एक बार जब वे किसी मदिर के निकट वर्तमान थे, तब वहाँ पर भोग लगाने के लिए कोई धनी व्यक्ति कई प्रकार के पकवान बनवा कर लाया जिनकी ओर दृष्टि पडते ही किसी क्षुधार्त बच्चे ने रोना आरम कर दिया और उसकी माँ उसे डाँटने तथा झिड-कने लगी। नामदेव ने जब उसे ऐसा करने से मना करना चाहा, तब उस स्त्री ने उन्हे बतलाया कि उसके पति को, जो बच्चे के लिए भोजनादि का प्रबध किया

---

१. गुरुग्रथ साहब . भाई गुरुदियाल, पृ० ११६४–५।
२. एम० ए० मेकालिफ दि सिक्ख रिलिजन, भा० ६, पृ० २०।

की। इसी अवसर पर संत गोरोबा ने संत नामदेव के सिर पर थापी से ठोका था। संत नामदेव ने इस पूरी यात्रा का बड़ा विशद वर्णन अपने ५९ अभंगों द्वारा मराठी भाषा में किया है और उस रचना को 'तीर्थावलि'[1] कहा जाता है।

बही

अंत में सबके सब देहली जगन्नाथपुरी आदि स्थानों से घूमते-घामते पंढरपुर लौट आये। कहा जाता है देहली वा हस्तिनापुर में उन्हें मुहम्मद बिन तुगलक से भी भेंट हुई थी और बादशाह ने उन्हें दंड देने का यत्न किया था किंतु सफलता नहीं मिली। इसी घटना का वर्णन कदाचित् इनके उस पद[2] में मिलता है जिसमें एक मरी गाय के जीवित कर डालने के संबंध में इनका चमत्कार दिखलाया गया है। उसमें किसी सुल्तान का नाम नहीं दिया गया है। संत ज्ञानदेव के जीवन-काल अर्थात् सं० १३२९ १३५ के अंतर्गत मुहम्मद बिन तुगलक का शासन-काल इतिहास से भी सिद्ध नहीं होता। उसका शासन-काल १३८२ से लेकर संवत् १४ ८ तक निश्चित है अतएव यदि इस प्रकार की कोई घटना घटी भी हो तो उसका किसी अन्य मुस्लिम शासक के शासन-काल में ही संभव होना समझा जा सकता है। यह भी प्रसिद्ध है कि उक्त सुल्तान वास्तव में बीदर प्रदेश का कोई शासक वा गवर्नर था। बीदर के ही किसी ब्राह्मण द्वारा निमंत्रित होकर संत नामदेव वहाँ उसके उत्सव में सम्मिलित होने के लिए अपने सभी साथियों के साथ पहुँचे थे। राजधानी में प्रवेश करते समय संकीर्तन में लीन मंडली ने वहाँ के कर्मचारियों का ध्यान अपनी ओर स्वभावतः आकृष्ट कर लिया और वे सभी वहाँ के शासक के सामने परीक्षार्थ लाये गए।[3]

अंतिम काल

तीर्थ-यात्रा से लौट आने के कुछ दिनों के अनंतर संत ज्ञानेश्वर का देहांत हो गया और उस काल से संत नामदेव का जी दक्षिण में रहने से उचटने लगा। इस कारण कुछ काल तक और वहाँ रह कर वे दूसरी देश-यात्रा में पंजाब प्रांत की ओर चले आये और इधर बहुत दिनों तक भ्रमण करते रहे। कहा जाता है कि उस समय तक इनकी अवस्था लगभग ५ वर्षों की हो चली थी और इन्हें अपने पुत्र-कलत्रादि की ओर से भी विरक्ति हो चुकी थी। उत्तरी भारत में आकर ये कुछ दिनों तक हरद्वार में रहे और वहाँ से फिर पंजाब प्रांत में गुरुदासपुर जिले

---

१ श्री ज्ञानेश्वर चरित्र पृ १२५ तथा १२७।
२ गुरुग्रंथ साहब पृ ११६६-७।
३ नामदेव की पु. स्टेतम नवास पृ १९२।

चमत्कारपूर्ण घटना के उल्लेख का महत्त्व भी कदाचित् सत नामदेव के हृदय मे मूर्ति-पूजा के विषय मे उनकी धारणा निश्चित कराने मे ही निहित जान पडता है। इसी प्रकार की एक दूसरी कथा गुरु नानकदेव के पैरो के साथ-साथ मक्के मे कावा के घूमने के सवध मे भी प्रसिद्ध है।

मदिर का द्वार फिरना

मूर्ति-पूजा की भावना के महत्त्व को कम करनेवाली एक अन्य घटना का भी उल्लेख मिलता है जो स्वय सत नामदेव के ही सवध मे है। कहा जाता है कि "एक समय नामदेव आलावती स्थान पर गये और वहाँ के मदिर के द्वार के सामने कीर्तन करने लगे। इन्हे शूद्र जान कर वहाँ के पडो ने इन्हे वहाँ से उठा दिया जिससे दुखी होकर अपनी जाति की नीचता पर झुंझलाते हुए ये मदिर के पिछवाडे चले गये और वही वैठ कर गाने लगे। परन्तु ज्यो ही इन्होने अपना कीर्तन आरभ किया, मदिर का द्वार झट पूर्व की ओर से घूम कर पश्चिम की ओर हो गया। इस प्रकार वहाँ के पडे ही द्वार पर बैठने की जगह पिछवाडे पड गए और उन पर इस वात का बहुत वडा प्रभाव पड़ा।" इस घटना का उल्लेख कवीर साहव ने एक अपने पद मे[1] किया है, किंतु इसका उससे कही अधिक विवरण स्वय सत नामदेव के ही एक पद मे मिलता है।[2]

यात्रा

सत ज्ञानेश्वर वा सत ज्ञानदेव को भी कोई-कोई सत नामदेव का गुरु होना वतलाते हैं और वास्तव मे सत नामदेव ने उनका नाम वडे आदर से लिया है। परन्तु महाराष्ट्र की प्रचलित परपराओ द्वारा अधिक पुष्टि विसोवा खेचर के सबध मे ही होती है। सत ज्ञानेश्वर वा ज्ञानदेव के साथ नामदेव की वडी घनिष्ट मित्रता थी और इन दोनो ने कुछ अन्य सतो के साथ भी अनेक पुण्य-स्थलो की यात्रा की थी। कहते हैं कि उक्त दोनो सतो मे सर्वप्रथम भेंट पढरपुर मे ही हुई थी जहाँ पर ज्ञानदेव अपने अन्य साथी तीर्थ-यात्रियो के साथ घूमते हुए इनके यहाँ पहुँच गए थे। ज्ञानदेव इनसे स्वय मिलने गये और इनसे भेंट हो चुकने पर इनसे अपने साथ चलने का अनुरोध भी किया। जव ये सभी लोग वहाँ से आगे बढे, तब मगलवेढा मे सत चोखामेला तथा आरणमेडी मे सत सामता माली भी इनसे मिल गए। तेरगाँव नामक स्थान तक पहुँचते-पहुँचते गोरोबा भी इनमे सम्मिलित हो गए। इन सभी लोगो की उन्होने बडी श्रद्धा के साथ सेवा-सुश्रूषा

---

१ कबीर ग्रथावली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ११७।

२ गुरुग्रथ साहब, पृ० ११९१।

हैं तो वे अवश्य किसी अन्य नामदेव के विषय में होंगी। आचार्य सेन ने यह भी बतलाया है कि संत नामदेव के किसी शिष्य बोहरदास (सं १४८१ १५५) के बराबर आजकल भी उक्त मठके अधिकारी हैं। वे इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के आचार्यों के रूप में उसके प्रबन्धादि का निरीक्षण किया करते हैं। सम्प्रदाय का नाम 'बाबा नामदेव का सम्प्रदाय' है और गुरुदासपुर के रहनेवाले इसके सभी अनुयायी अपने को बोहरदास का ही वंशज बतलाया करते हैं। घोमन के उक्त मठ में आचार्य क्षितिमोहन सेन ने किसी दो सौ वर्ष के पुराने हस्तलिखित ग्रंथ का होना भी बतलाया है। उन्होंने कहा है कि उक्त पुस्तक में हिंदी तथा मराठी के पद हैं और वह सिक्खों के 'ग्रंथ साहिब' की भाँति ही पवित्र तथा पूजनीय समझा जाता है। वे यह भी कहते हैं कि संत नामदेव की भाँति ही एक छीपी नामदेव बुलंदशहर का रहनेवाला था और एक दूसरा मारवाड़ का निवासी नामदेव जाति का धुनिया था।[१]

नामदेव-पंथी तथा नामदेव-वंशी

छीपीजातिके संबंध में लिखते समय विलियम क्रूक साहब ने उनकी एक शाखा को नामदेव-पंथी बतलाया है। उन्होंने कहा है कि "ये लोग एकेश्वरवादी तथा कर्मकांड-विरोधी होते हैं। ये अपने को अन्य छीपी जातिवालों से अपने शुद्ध धार्मिक विचारों के कारण पृथक समझते हैं और अपने को नामदेव-वंशी भी कहते हैं।[२] फिर आगे चल कर विलियम क्रूक साहब ने धुनिया वा धुना जाति के संबंध में भी लिखा है और कहा है कि ये लोग नामदेव भगत को बड़ी श्रद्धा के साथ देखते हैं। ये नामदेव मारवाड़ के अंतर्गत सं १५ सन् १४४३ ई में उत्पन्न हुए थे और सिकंदर लोदी सं १५४५-१५६९ सन् १४८८-१५१२ के समकालीन थे। किसी-किसी के अनुसार ये दक्षिण भारत के पंढरपुर के निवासी थे। उन्होंने मुसलमानों से सताये जाकर उत्तरी भारत की शरण ली और गुरुदासपुर जिले की बटाला तहसील में घुमन गाँव में आकर बस गए। वहीं पर उनकी मृत्यु भी हो गई जहाँ प्रत्येक माघ की संक्रांति को मेला लगा करता है। उनके अनुयायी वहाँ पर छिंबाँ अर्थात् धुनिया वा धोबी कहलाते हैं। उनका मत सिक्ख-धर्म के सिद्धांतों से मिलता-जुलता है और उनकी कई रचनाएँ 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं। बाबा नामदेव के अनुयायी वास्तव में सिक्ख ही कहे जा सकते हैं आदि।[३] इसी प्रकार रोज साहब ने लिखा है कि नामदेव-पंथी हिन्दू

१ क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया पृ ५६-७।

२ विलियम क्रूक : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स पृ २२५।

३ वही पृ २९९।

के घूमन वा घोमन गाँव मे चले आए।[1] मेकालिफ ने सत नामदेव की उस समय की अवस्था ५५ वर्षों की बतलायी है और कहा है कि वहाँ पर ये पहले भटवल होकर गये थे। भटवल मे ये किसी तालाब के निकट ठहरे थे जो आज तक भी नामियाना नाम से प्रसिद्ध है और उस समय इनके साथ दो शिष्य थे जिनमे से एक का नाम लाधा और दूसरे का जल्ला था और जो पीछे अपने अनुयायियो के साथ क्रमश सुखवल और धारीवाल मे बस गए। सत नामदेव ने भटवल से हट कर उक्त तालाब के निकट अपने ठहरने के लिए एक दूसरी जगह खोज निकाली और वही पर एकात मे रह कर भजन करने का विचार किया। किंतु इनके वहाँ ठहर जाने के कारण बहुत-से लोग धीरे-धीरे एकत्र होने लगे और अत मे उक्त घूमन गाँव की सृष्टि हो गई। आगे चल कर उस स्थान पर सिक्खो की रामगढिया मिसिल के भाई जस्सा सिंह ने एक सुदर मकान बनवा दिया। उक्त तालाब का भी महाराजा रणजीत सिंह की सास माई सदा कौर ने फिर से जीर्णोद्धार कराया। तब से वहाँ पर प्रति वर्ष दो दिन माघ मे व्यतीत होने पर सभवत सक्राति के लगभग एक धार्मिक मेला नियमपूर्वक लगा करता है। यहाँ के निवासी अधिकतर सत नामदेव की ही जाति के हैं, इन्ही की जैसी जीविका का पालन करते हैं और उनका रहन-सहन अधिकतर सिक्खो का सा है। मेकालिफ का कहना है कि यही पर रह कर इन्होने उन पदो की रचना की थी जो 'आदिग्रथ' मे सगृहीत हैं।[2] वही

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बतलाया है कि उक्त घोमन गाँव मे ही रह कर सत नामदेव की मृत्यु सवत् १५२१ सन् [illegible] ई० मे हुई थी। उन्होने यह भी कहा है कि सत नाम देव की भेंट फीरोज शाह तुगलक के साथ हुई थी। सैयद-वश के अतिम शासक शाह आलम ने [illegible] स० १५०३ सन् १४४६ मे एक मठ बनाने के लिए कुछ जमीन भी इनको दान मे दी थी। इनकी मृत्यु उसी मठ मे हुई थी।[3] किंतु इस कथन का मेल ऐतिहासिक घटनाओ के साथ लगता हुआ नही दीखता। फीरोजशाह तुगलक का शासन काल सवत् १४०८ से लेकर सवत् १४४५ तक रहा और उधर शाह आलम [illegible] गद्दी पर स० १५०० से १५०८ तक कायम रहा। सत नामदेव की मृत्यु का समय अधिक विद्वानो ने सवत् १५०७ मे ही ठहराया है। अतएव [illegible] नामदेव से ही सबद्ध

---

१ क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० ५६।
२ एम० ए० मेकालिफ : सिक्ख रिलिजन, भाग ६, पृ० ३९-४०।
३. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० ५६।

से बतलाना दुःसाध्य कार्य हो गया है। फिर भी जब तक उनकी सारी रचनाओं की पूरी खोज नहीं हो जाती और उनका वास्तविक रूप निर्धारित नहीं हो पाता तब तक हमें उनके 'आदिग्रंथ' में संगृहीत पदों तथा कुछ इधर-उधर पाये जानेवाले मराठी-संग्रहों में सन्निविष्ट कतिपय रचनाओं पर ही संतोष करना पड़ेगा। 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत आये हुए उनके पदों की संख्या ६१ है किन्तु एक मराठी-संग्रह में संगृहीत हिंदी पद १ २ तक पहुँच जाते हैं। कहते हैं कि अपनी बाल्यावस्था में संत नामदेव कट्टर मूर्तिपूजक थे युवावस्था में उनके विचारों में उदारता आने लगी और वृद्धावस्था में ये एक सुधारक हो गए। इनकी मराठी-रचनाएँ अधिकतर इनकी युवावस्था तक की ही बतलायी जाती हैं और इनके हिंदी-पद इनकी वृद्धावस्था के समझे जाते हैं।[1] इनकी हिंदी-रचनाओं के अंतर्गत इसी कारण, कुछ ऐसे उद्गार भी दीख पड़ते हैं जो इनके प्रथम विचारों से नितांत भिन्न समझ पड़ते हैं। कभी-कभी तो उक्त दोनों प्रकार की रचनाओं के रचयिता के एक ही होने में संदेह भी होने लगता है। उक्त हिंदी पदों में से ४१ ऐसे हैं जो किसी न किसी रूप में 'आदिग्रंथ' में भी संगृहीत हैं अतएव दोनों संग्रहों का मिलान कर कर लेने पर इनकी हिंदी रचनाओं की संख्या सवा सौ से भी कम पायी जाती है।

वारकरी नामदेव

संत नामदेव ने महाराष्ट्र के प्रसिद्ध वारकरी-सम्प्रदाय के अनुयायियों में ही अपने जीवन के अधिक दिन व्यतीत किये थे और इनके विचार भी अधिकतर उन्हीं के द्वारा प्रभावित थे। ये वारकरी-सम्प्रदाय के अनुयायियों में भी गिने जाते हैं। इस कारण वारकरी-सम्प्रदाय की बातों का ही इनकी रचनाओं में अधिकतर पाया जाना स्वाभाविक है। उत्तरी भारत की संत-परंपरा को जहाँ तक इन्होंने प्रभावित किया है वहाँ तक इनकी यही देन भी कही जा सकती है। वारकरी सम्प्रदाय के संतों में निर्गुण सर्वात्मस्वरूप अद्वैत ब्रह्म के प्रति पूरी निष्ठा पायी जाती है किन्तु सगुण की मूर्ति के समक्ष वे कीर्तन भी किया करते हैं। उनके लिए कोई ऊँच-नीच नहीं न धनी-दरिद्र अथवा पुरुष तथा स्त्री में ही उनकी दृष्टि में कोई मौलिक अंतर समझा जा सकता है। सबका कर्तव्य भगवान् के स्मरण तथा संकीर्तन में सदा निरत रहते हुए अपने आवश्यक दैनिक कार्यों का संपादन करना है। धन-वैभव के प्रति उदासीनता उनकी अवश्य देखी जाती है और वे कौटुंबिक ममता को भी अपने हृदयों में उच्च स्थान देते हुए प्रतीत नहीं होते। परन्तु इसका कारण उनकी इनके प्रति पूर्ण विरक्ति नहीं किन्तु इनके क्षणिक होने के कारण

---

१ एम ए मेकालिफ : सिक्ख रिलिजन भाग ६ पृ ३९४ ।

तथा सिक्ख दोनो हुआ करते हैं और दोनो ही 'आदिग्रथ' के प्रति श्रद्धा रखते तथा अनेक सिक्ख-परपराओ का अनुसरण करते हैं। उनकी पूजन-पद्धति मे कोई विशेषता नही। हिन्दू अनुयायी विशेषकर जालधर, गुरुदासपुर तथा हिसार मे पाये जाते हैं और सिक्ख अधिकतर गुरुदासपुर मे ही मिलते हैं। नामदेव को कभी-कभी 'नामदे' भी कहते है और इस पथ के लोग इसी कारण 'बाबा नामदे के सेवक' भी कहलाते हैं। इनके मठो के महतो को भी 'बाबा' कहने की प्रथा है।[1] अतएव जान पडता है कि आचार्य सेन द्वारा बतलाये गए उपर्युक्त मठ का सबध सभवत किसी अन्य नामदेव से होगा। तथा इस नाम के एक से अधिक व्यक्तियो के हो जाने के कारण उक्त सभी विद्वानो को कुछ न कुछ भ्रम अवश्य हो गया है।

जीविका

सत नामदेव के पारिवारिक जीवन के विषय मे प्राय कुछ भी पता नही चलता। सदा सकीर्तन मे लगे रहने के कारण इन्हे विट्ठलदेव के मदिर से बाहर जाने का अवकाश बहुत कम मिला करता था जिससे ये अपने जीवन-निर्वाह के लिए कुछ भी कार्य करने मे अशक्त थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अत मे ये अपने कुटुब के लोगो को दरिद्रता के अभिशाप से किसी प्रकार बचा न सके।[2] फिर भी कबीर साहब के सलोको के अतर्गत सगृहीत 'आदिग्रथ' की कुछ पक्तियो से प्रकट होता है कि सत नामदेव के सिद्धातानुसार चुपचाप बेकार बैठ कर भगवान् का नाम लेने की अपेक्षा नाम-स्मरण के साथ-साथ अपना आवश्यक काम-काज भी करते रहना अधिक श्रेयस्कर होता है।

रचनाएँ

सत नामदेव की ख्याति अपने अतिम समय तक बडी दूर तक फैल गई थी और उनके विचारो का प्रभाव महाराष्ट्र से पजाब तक पड चुका था। इसलिए इनके सबध मे अतिशयोक्तिपूर्ण अनेक कथाओ का क्रमश निर्मित होता जाना कोई असभव बात नही थी। इनकी रचनाओ का भी अधिक प्रचार होने के कारण, इसी प्रकार उनका कुछ न कुछ परिवर्तित होता जाना तथा उनमे कई दूसरो की कृतियो का भी स्थान पा जाना कठिन नही था। कई नामदेव-नामधारी भिन्न-भिन्न व्यक्तियो का पश्चिमी भारतवर्ष मे किसी-न-किसी समय के अतर्गत उत्पन्न होना उक्त कठिनाई को और भी बढा देता है। परिणामस्वरूप सत नामदेव की जीवनी की घटनाओ की ही भाँति उनके वास्तविक विचारो को भी निश्चित रूप

---

१ रोज · ए ग्लासरी, भा० ३, पृ० १५२।

२ नामदेव, जी० ए० नटेसन, मद्रास, पृ० १०-११।

मछली की ओर दृष्टि लगाये रहता है, स्वर्णकार सोने का गहना गढ़ते समय एक-चित्त रहता है, पर-स्त्री की ओर जिस प्रकार कामी दृष्टिपात करता है और जुआरी अपनी कौड़ी के फेर मे रहता है उसी प्रकार मेरी भी दृष्टि उसी एक 'राम' की ओर लगी हुई है। जहाँ देखता हूँ वहाँ वही है उसके सिवाय और कुछ भी नहीं।[1] इन्हे राम के अतिरिक्त कोई भी दूसरा सगा-संबंधी भी दीख नही पड़ता। ये कहते है कि "मेरे बाप तथा माँ तो वही एक माधव केशव अथवा बीठल है"[2] और उनके किये गए उपकारो के वर्णन भी ये करते है। इसीलिए इन्होने उस एक की भक्ति को ही अपनाया था और अन्य देवी-देवताओं की पूजा को व्यर्थ बतलाया था। ये भगवान् के अनुराग में आकर कहते है कि हे राम तेरा रूप-रंग और नाम तक मुझे अत्यंत भला जान पड़ता है। मारवाड़ी को जैसे जल प्रिय होता है ऊँट को जैसे लता प्रिय लगती है, मृग को नाद प्रिय लगता है पृथ्वी को वृष्टि सुखद लगती है भ्रमर को फूलो की गंध प्रिय होती है कोयल को आम की बौर भली लगती है चकई को सूर्योदय अच्छा जान पड़ता है हंस को मानस आनंदप्रद होता है बच्चे को दूध अच्छा लगता है चातक के लिए मेघ प्रिय हुआ करता है और मछली को जितना जल से प्रेम है वैसे ही मुझे तू भी प्रिय है और मेरा मन तुझमें रमा हुआ है।[3] इसी भाव को इन्होंने एक अन्य पद द्वारा भी 'ऐसी नामे प्रीति नराइन' आदि कहकर व्यक्त किया है।[4] इनकी भावुकता इन पदो के अंतर्गत इतनी मात्रा में बढ़ी हुई दीख पड़ती है कि ये अपने एक ही उद्गार को स्पष्ट करते समय अनेक उदाहरण देते भी नही अघाते।

अनिर्वचनीय

संत नामदेव के 'बीठल' का वास्तविक रूप उनके अनुसार वैसा ही है जैसा आकाश में उड़ती हुई चिड़िया का मार्ग अथवा जल में तैरनेवाली मछली का रास्ता हो सकता है। वह न देखने में आता है, न ढूँढने पर कहीं मिल सकता है।[5] "कोई उसे निकट बतलाता है और कोई उसे दूर का रहनेवाला ठहराता है और जिसने उसे जान-बूझ लिया है, वह उसे सदा अपने में छिपाये रहता है। वस्तुतः यह हमारी आत्मा में ही भरपूर है और उसका अनुभव हमें ज्योंही होने लगता है त्योंही आप से आप ध्वनि निकल पड़ती है"।[6] 'उस सनेही राम के मिलते ही

---

१ गुरुग्रंथ साहब पृ ८७२।
२ वही पृ ११७। ३ वही पृ ११६२।
४ वही पृ ११५। ५ वही ५१५।
६ वही पृ ७१८।

इनकी ओर मे न्यूनाधिक निरपेक्षता का भाव मात्र है। वारकरी-सम्प्रदाय के बहुत-से अनुयायी अपना पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए आध्यात्मिक भावो मे ही निरतर लीन रहे थे। सत नामदेव की भी सतानो के सबध मे ऊपर चर्चा की जा चुकी है, किंतु उनका यथेष्ट परिचय कही नही मिलता।

सिद्धांत

सत नामदेव ने अपने 'गोविंद' का परिचय देते हुए कहा है कि "वह एक है और अनेक भी है। वह व्यापक है और पूरक भी है। मैं जहाँ देखता हूँ, वहाँ पर वही दीख पडता है। माया की चित्र-विचित्र बातो द्वारा मुग्ध होने के कारण सभी कोई इस रहस्य को समझ नही पाते। सर्वत्र गोविंद ही गोविंद है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नही। वह सहस्रो मणियो के भीतर ओतप्रोत धागे की भाँति इस विश्व मे सर्वत्र वर्तमान है। जिस प्रकार जल की तरगें और उन पर प्रवाहित फेन तथा बुद्‌बुद् जल से भिन्न नही, उसी प्रकार इस प्रपच तथा परब्रह्म का भी हाल है। जब तक भ्रम के कारण स्वप्न मे पड़ा हुआ था और सत्य पदार्थ का बोध न था, तब तक और बात थी। जब गुरूपदेश द्वारा जगा दिया गया, तब अपना मन पूर्णरूप से स्थिर हो गया। नामदेव का कहना है कि इस बात को अपने हृदय मे भली भाँति समझ लो कि मुरारी ही एक मात्र घटघट मे और सर्वत्र एकरस भाव से व्याप्त है"।[2] इसी प्रकार "घडा लेकर जब उसमे जल भरता हूँ और चाहता हूँ कि ठाकुर को स्नान कराऊँ, फूल चुन कर जब उसे माला के रूप मे पिन्हाना चाहता हूँ और दूध लाकर उसकी खीर बना जब उसे भोग लगाना चाहता हूँ, तब मुझे ऐसा जान पडता है कि उक्त जल मे लाखो जीव मरे पड़े हैं। फूलो की सुगध पहले भ्रमरो ने ही ले ली है तथा दूध को तो सर्वप्रथम बछडे ने ही जूठा कर दिया है। फिर वैसी पूजा का करना क्यो न व्यर्थ समझा जाय। मुझे तो इधर-उधर सब कही बीठल ही बीठल दीख रहा है, उससे सारी की सारी पृथ्वी व्याप्त हो रही है। मैं इसी मे पूर्ण आनद का अनुभव क्यो न करूँ।[3]

प्रेम

इसी कारण सत नामदेव उस एकमात्र राम के प्रति ही अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। उनका कहना है कि "जिस प्रकार नाद को श्रवण कर मृग उसमे निरत हो जाता है और उसका ध्यान मर जाने तक नही टूटता, जिस प्रकार बगला

---

१. श्रीनामदेव वशावली, पृ० ३२। २ गुरुग्रथ साहब, पद १, पृ० ४८५।

३. वही, पद २।

मछली की ओर दृष्टि लगाये रहता है, स्वर्णकार सोने का गहना गढ़ते समय एक-चित्त रहता है, पर-स्त्री की ओर जिस प्रकार कामी दृष्टिपात करता है और पुजारी अपनी कौड़ी के फेर मे रहता है उसी प्रकार मेरी भी दृष्टि उसी एक 'राम' की ओर लगी हुई है। जहाँ देखता हूँ वहाँ वही है उसके सिवाय और कुछ भी नही।[1] इन्हे राम के अतिरिक्त कोई भी दूसरा सगा-सबधी भी दीख नही पड़ता। ये कहते है कि "मेरे बाप तथा माँ तो वही एक माधव केशव अथवा बीठल है"[2] और उनके किये गए उपकारो के वर्णन भी ये करते हैं। इसीलिए इन्होने उस एक की भक्ति को ही अपनाया था और अन्य देवी-देवताओं की पूजा को व्यर्थ बतलाया था। ये भगवान् के अनुराग मे आकर कहते हैं कि हे राम तेरा रूप रंग और नाम तक मुझे अत्यत भला जान पड़ता है। मारवाड़ी को जैसे जल प्रिय होता है ऊँट को जैसे लता प्रिय लगती है मृग को नाद प्रिय लगता है, पृथ्वी को वृष्टि सुखद लगती है भ्रमर को फूलो की गध प्रिय होती है, कोयल को आम की बौर भली लगती है चकई को सूर्योदय अच्छा जान पड़ता है, हंस को मानस आनंदप्रद होता है बच्चे को दूध अच्छा लगता है, चातक के लिए मेघ प्रिय हुआ करता है और मछली को जितना जल से प्रेम है वैसे ही मुझे तू भी प्रिय है और मेरा मन तुझमें रमा हुआ है।"[3] इसी भाव को इन्होने एक अन्य पद द्वारा भी "ऐसी रामे प्रीति नराइण' आदि कह कर व्यक्त किया है।[4] इनकी भावुकता इन पदो के अंतर्गत इतनी मात्रा मे बढ़ी हुई दीख पड़ती है कि ये अपने एक ही उद्गार को स्पष्ट करते समय अनेक उदाहरण देते भी नही अघाते।

अनिर्वचनीय

संत नामदेव के 'बीठल' का वास्तविक रूप उनके अनुसार वैसा ही है 'जैसा आकाश मे उड़ती हुई चिड़िया का मार्ग अथवा जल मे तैरनेवाली मछली का रास्ता हो सकता है। वह न देखने मे आता है न ढूँढ़ने पर कही मिल सकता है।'[5] "कोई उसे निकट बतलाता है और कोई उसे दूर का रहनेवाला ठहराता है और जिसने उसे जान-बूझ लिया है वह उसे सदा अपने मे छिपाये रहता है। वस्तुतः वह हमारी आत्मा मे ही भरपूर है और उसका अनुभव हमे ज्योंही होने लगता है त्योही आप से आप ध्वनि निकल पड़ती है'।[6] 'उस सनेही राम के मिलते ही

१ गुरुग्रंथ साहब पृ ८७२-३।
२ वही पृ० ९९७। ३ वही पृ ११९२।
४ वही पृ ११५। ५ वही ५१५।
६ वही पृ ७१८।

पारस के स्पर्श के समान कुछ कचन हो जाता है, अपने अहभाव का भ्रम दूर हो जाता है और जिस प्रकार किसी घडे का जल जल मे डूब कर एकाकार हो जाय, वैसी ही दशा हो जाती है। फिर तो 'ठाकुर' वा 'जन' तथा 'जन' वा 'ठाकुर' एक ही हो जाते हैं। स्वय देव, स्वय मदिर व स्वय पूजन भी बनकर जल तथा तरग की भाँति एक आकार धारण कर लेते हैं और उनकी भिन्नता केवल नाममात्र की रह जाती है। किसी मूर्ति के समक्ष कीर्तन करने का अभिप्राय उस दशा मे केवल यही होता है कि वह स्वय गा और नाच रही है।"[१] इस प्रकार सत नामदेव सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद, दोनो के ही अनुसार विचार रखते हुए जान पडते हैं और उनकी भक्ति का स्वरूप भी शुद्ध निर्गुण-भक्ति का है।

नाम-साधना

इनकी उक्त भक्ति के अतर्गत 'नाम-साधना' को बहुत बडा महत्त्व प्राप्त है। इन्होने उसे अश्वमेघ यज्ञ, तुलादान, प्रयाग-स्नानादि सभी से श्रेष्ठ बतलाया है। इन्होने उसकी प्रशसा मे अनेक पौराणिक भक्त-कथाओ का उल्लेख करके अपने मत की पुष्टि की है।[२] नाम-स्मरण का महत्त्व मुख्य रूप से इस बात मे है कि उसके द्वारा हम उसके नाम की ओर अपना ध्यान सदा लगाये रहने मे सफल होते है। इनका कहना है कि "मेरा मन रामनाम के साथ इस प्रकार बिधा हुआ है, जैसे स्वर्ण के तौलते समय ध्यान तुला की ओर बना रहता है। आकाश मे उडायी जाती हुई पतग की ओर जिस प्रकार उडानेवाले का चित्त लगा रहता है और वह 'वाह-वाह' की झडी चारो ओर लगने पर भी विचलित नही होता, जिस प्रकार युवतियाँ सिर पर भरे घडे लेकर चलती हुई आपस मे मनोविनोद करती और तालियाँ तक बजाती रहती हैं, किंतु उनका ध्यान सदा उसी पर रहता है, जिस प्रकार पाँच कोस की दूरी पर भी चरनेवाली गाय का मन अपने बच्चे की ओर ही लगा रहता है और माता का मन उसके घरेलू झझटो मे फँसे रहने पर भी अपने पलने पर पौढाये हुए बालक की ओर जाता रहता है, उसी प्रकार मेरा भी मन उसमे लगा रहता है"।[३] परन्तु नाम के प्रति उक्त प्रकार की साधना गुरु की कृपा द्वारा ही सभव है। यदि गुरु की कृपा हो जाय, तो मन मे पूरी दृढता आ जाती है और वह चारो ओर दौड-धूप लगाना छोड देता है। उसी की सहायता से 'मुरारि' मिलते हैं और ससार-सागर के पार जाना सरल हो जाता है। वास्तविक देवता गुरुदेव है और अन्य सभी देवो की सेवा करना कुछ अर्थ नही रखता।[४]

---

१ गुरुग्रथ साहब, पृ० ६५६। २ वही, पृ० ८७२।
३ 'नामदेवा चा गाथा' पृ० ५१७-८। ४. गुरुग्रथ साहब, पृ० ११६७।

मृत्यु

संत नामदेव की मृत्यु का समय महाराष्ट्र की प्रायः सभी परंपराओं के अनुसार आश्विन बदी १३ संवत् १४०७ समझा जाता है। इनकी समाधि पंढरपुर में है जहाँ पर विठ्ठल के मंदिर की सीढ़ियों के निचले भाग में इनका एक पीतल का सिर भी बना हुआ है। इनके मुख्य विचारों की बानगी इनकी जीवनियों में उल्लिखित अनेक घटनाओं के भीतर निहित समझ पड़ती है। इनके भोले हृदय इनकी गहरी भावुकता तथा मूर्ति या साकार देवताओं से कहीं अधिक विश्व-रूप भगवान् के प्रति निष्ठा के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। इनकी विरक्ति के संबंध में कहा जाता है कि एक बार अपने घर में आग लगने पर इन्होंने अपनी सभी वस्तुएँ उसमें उठा-उठाकर फेंकना आरंभ कर दिया। ऐसा करते समय बराबर यही कहते रहे कि ये सभी भगवान् की हैं और उसी के अग्नि-मुख में जा रही हैं। इसी प्रकार इनके ऊँच-नीच के बीच समता तथा सभी प्राणियों को भगवान् रूप समझने का भाव इस घटना से स्पष्ट हो जाता है। एक बार जब ये अपनी बनायी हुई रोटियाँ छोड़कर घी लाने के लिए उठे और उन रोटियों को कोई कुत्ता लेकर भाग चला तब ये उसके पीछे यह कहते हुए दौड़ पड़े थे कि 'भगवन् उन रोटियों में यह घी भी चुपड़ लो उन्हें रूखी-सूखी न खाओ।' वास्तव में संत नामदेव का सारा जीवन ही भक्ति रस में सराबोर था। ये सभी प्रकार उत्तरी भारत के संतों के अग्रणी होने योग्य थे।

(१) संत त्रिलोचन परिचय

त्रिलोचनजी संत नामदेव के समकालीन थे और उनसे अवस्था में कुछ बड़े थे। इनका जन्म-काल सं० १३२४ में बतलाया जाता है।[1] इन्हें तथा संत नामदेव को नाभादास ने ज्ञानदेव का शिष्य कहा है और संत रविदास ने इन्हें संत नामदेव के ही समान तर गया हुआ बतलाया है। प्रियादास के अनुसार इनका जन्म वैश्य-वंश में हुआ था और ये साधुओं के परम भक्त थे। इनकी एक पत्नी मात्र थी और दूसरा कोई नहीं था अतएव इन्हें साधुओं की भरपूर सेवा करने में पूर्ण मनोरथ नहीं होता था। इन्हें इस कार्य में सहायता के लिए एक नौकर की आवश्यकता थी और वे ये बहुधा एक ऐसे सेवक की खोज में रहा करते थे जो इन्हीं की भाँति प्रेम भाव के साथ साधु-सेवा किया करे। प्रियादास का कहना है कि एक दिन स्वयं हरि ने आकर इनसे कहा कि मैं ऐसी नौकरी कर सकता हूँ किंतु भोजन के लिए ५-७ सेर से कम न लूँगा और जिस समय मेरे अधिक भोजन की निंदा की जायगी

---

१ दे० मैकालिफ : सिक्ख रिलिजन भा० ६ पृ० ७६।

मैं शीघ्र नौकरी त्याग दूंगा। उस व्यक्ति ने अपना नाम 'अतर्यामी' वतलाया और त्रिलोचन के राजी होने पर वह सचमुच अपने नाम के ही अनुरूप साधुओ की मन-चाही सेवा करने लगा। तव से त्रिलोचनजी के घर साधुओ की भीड और भी वढने लगी और इनकी स्त्री को सामग्री तैयार करने मे अधिक कष्ट भी होने लगा। अतएव एक दिन उसने अपनी पडोसिन से कह डाला कि एक तो उक्त नौकर के कारण साधुओ की सख्या वढ गई है, दूसरे वह इतना अधिक भोजन करता है कि उसके कारण मैं तग आ गई हूँ। 'अतर्यामी' को जव अपनी निंदा की यह वात मालूम हुई, तव वह विना किसी से कहे-सुने नौकरी छोड चलता वना। त्रिलोचनजी को अत मे पता चला कि इनके यहाँ स्वय भगवान् ही 'अतर्यामी' के भेप मे इनकी नौकरी कर रहे थे और इस वात से इन्हे मार्मिक कष्ट तथा पछतावा हुआ।

रचनाएँ

त्रिलोचनजी का नाम उनके भूत, भविष्य तथा वर्तमान के एक साथ जानकार होने के कारण पडा था। इन्हे सत नामदेव ने अपने एक पद मे सवोधित करके कहा है कि "हे त्रिलोचन, अपने नन्हे वच्चे को पालने मे पौढा कर कार्य मे व्यस्त रहने-वाली माता सव कुछ करती हुई भी अपना चित्त सदा उस वालक मे ही लगाये रहती है, उसी प्रकार हमारा मन राम-नाम द्वारा सदा विंघा रहना चाहिए।" कुछ ऐसे ही भाव व्यक्त करनेवाले दो सलोक (दोहे) 'आदिग्रथ' मे प्रश्नोत्तर के रूप मे अन्यत्र भी आये हैं जिनकी चर्चा इसके पहले की जा चुकी है। इनमे त्रिलोचन के पूछने पर कि "हे नामदेव, तुम क्यो धघे मे लगे हो, रामनाम की ओर चित्त क्यो नही लगाते ?" सत नामदेव ने वतलाया है कि "हे त्रिलोचन, मुख-द्वारा राम-नाम का स्मरण करते रहो, किंतु हाथ-पैर को सदा काम मे लगाये रह चित्त को निरजन मे लीन रखो।" वास्तव मे सत-मत के अनुसार आदर्श जीवन का सारा चित्र ही उक्त रचनाओ के अतर्गत आ जाता है।

विचार

त्रिलोचनजी की अधिक रचनाएँ नही मिलती। केवल चार[1] पद उनके नाम से 'आदिग्रथ' मे सगृहीत हैं। इन पदो मे से एकाध मे मराठी भाषा के भी कुछ चिह्न लक्षित होते है, किंतु इनकी भाषा मूलत हिंदी ही है। उस पर कुछ अशो तक हमे खडी बोली का प्रभाव भी पडा हुआ जान पडता है जिसके कारण कदाचित् इस मत को भी कुछ पुष्टि मिल जा सकती है कि इनके पूर्वज पश्चिमी

---

१ सिरी राग, पद १, पृ० ९२, रागु गूजरी, पद १-२, पृ० ५२५-६ तथा रागु धनासरी, पद १, पृ० ६९४।

उत्तर प्रदेश के निवासी रह चुके थे। कहा जाता है कि इन्होंने भी संत नामदेव की भाँति कुछ मराठी पदों की रचना की थी किंतु वे आजकल उपलब्ध नहीं हैं। इनके उक्त चार पदों के देखने से त्रिलोचनजी के विषय में बहुत उच्च भाव जागृत नहीं होते। ये सभी मध्यम श्रेणी की रचनाएँ हैं। इनमें से सबसे बड़े पद द्वारा माया-मोह का प्रभाव दिखला कर उसकी व्यर्थता सिद्ध की गई है। एक दूसरे पद में झूठे संन्यासियों की कड़ी आलोचना है और उन्हें फटकार कर चेतावनी भी दी गई है। इस पद की शैली पहले की अपेक्षा अधिक सजीव है। तीसरे पद में त्रिलोचनजी ने बतलाया है कि अंत-काल में जैसा स्मरण किया जाता है, वैसा ही परिणाम हुआ करता है। इसी प्रकार चौथे पद में भी इन्होंने कर्म की अमिट रेख पर अधिक जोर दिया है और सब कहीं भगवन्नाम-स्मरण का ही महत्त्व दरसाया है। कहा जाता है कि इस अंतिम पद की रचना त्रिलोचनजी ने उस समय की थी जब इन्होंने भक्ति-मार्ग में अधिक अग्रसर हो जाने के कारण अपना सांसारिक व्यवहार छोड़ दिया था और आर्थिक कष्ट झेल रहे थे। संभवतः अपनी स्त्री द्वारा फटकारे जाने पर इन्होंने यह पद रचा था। इनके तीन पद मराणे वाली (दादू द्वारे की) प्रति में भी मिलते हैं जिनमें से एक राग टोडी का है दूसरा राग सारंग का और तीसरा राग रामकली का है। राग रामकली वाले पद में उलटवाँसी का भी उदाहरण मिल जाता है। विषय के अनुसार पहले पद में सांसारिक संबंध की व्यर्थता है, दूसरे में आखेट के रूपक द्वारा साधना बतलायी गई है और तीसरे का भी विषय लगभग इसी प्रकार का है।

मैं शीघ्र नौकरी त्याग दूंगा। उस व्यक्ति ने अपना नाम 'अतर्यामी' बतलाया और त्रिलोचन के राजी होने पर वह सचमुच अपने नाम के ही अनुरूप साधुओ की मन-चाही सेवा करने लगा। तब से त्रिलोचनजी के घर साधुओ की भीड और भी बढने लगी और इनकी स्त्री को सामग्री तैयार करने मे अधिक कष्ट भी होने लगा। अतएव एक दिन उसने अपनी पडोसिन से कह डाला कि एक तो उक्त नौकर के कारण साधुओ की सख्या बढ गई है, दूसरे वह इतना अधिक भोजन करता है कि उसके कारण मैं तग आ गई हूँ। 'अतर्यामी' को जब अपनी निंदा की यह बात मालूम हुई, तब वह बिना किसी से कहे-सुने नौकरी छोड चलता बना। त्रिलोचनजी को अत मे पता चला कि इनके यहाँ स्वय भगवान् ही 'अतर्यामी' के भेष मे इनकी नौकरी कर रहे थे और इस बात से इन्हे मार्मिक कष्ट तथा पछतावा हुआ।

रचनाएँ

त्रिलोचनजी का नाम उनके भूत, भविष्य तथा वर्तमान के एक साथ जानकार होने के कारण पडा था। इन्हे सत नामदेव ने अपने एक पद मे सबोधित करके कहा है कि "हे त्रिलोचन, अपने नन्हे बच्चे को पालने मे पौढा कर कार्य मे व्यस्त रहने-वाली माता सब कुछ करती हुई भी अपना चित्त सदा उस बालक मे ही लगाये रहती है, उसी प्रकार हमारा मन राम-नाम द्वारा सदा बिधा रहना चाहिए।" कुछ ऐसे ही भाव व्यक्त करनेवाले दो सलोक (दोहे) 'आदिग्रथ' मे प्रश्नोत्तर के रूप मे अन्यत्र भी आये हैं जिनकी चर्चा इसके पहले की जा चुकी है। इनमे त्रिलोचन के पूछने पर कि "हे नामदेव, तुम क्यो धधे मे लगे हो, रामनाम की ओर चित्त क्यो नही लगाते ?" सत नामदेव ने बतलाया है कि "हे त्रिलोचन, मुख-द्वारा राम-नाम का स्मरण करते रहो, किंतु हाथ-पैर को सदा काम मे लगाये रह चित्त को निरजन मे लीन रखो।" वास्तव मे सत-मत के अनुसार आदर्श जीवन का सारा चित्र ही उक्त रचनाओ के अतर्गत आ जाता है।

विचार

त्रिलोचनजी की अधिक रचनाएँ नही मिलती। केवल चार[1] पद उनके नाम से 'आदिग्रथ' मे सगृहीत हैं। इन पदो मे से एकाध मे मराठी भाषा के भी कुछ चिह्न लक्षित होते हैं, किंतु इनकी भाषा मूलत हिंदी ही है। उस पर कुछ अशो तक हमें खडी बोली का प्रभाव भी पडा हुआ जान पडता है जिसके कारण कदाचित् इस मत को भी कुछ पुष्टि मिल जा सकती है कि इनके पूर्वज पश्चिमी

---

१ सिरी राग, पद १, पृ० ९१ , रागुगूजरी, पद १-२, पृ० ५२५-६ तथा रागु धनासरी, पद १, पृ० ६९४ ।

द्वितीय अध्याय

कबीर साहब

१. परिस्थिति-परिचय

सिहावलोकन

विक्रम की नवी शताब्दी के लगभग आरभ होनेवाला समय वस्तुस्थिति के पर्यवेक्षण तथा मूल्याकन का युग था। उसमे शताब्दियो पूर्व से आती हुई विचार-धारा के विविध स्रोतो पर आलोचनात्मक दृष्टिपात किया गया। उनमे दीख पडनेवाले विविध दोषो के प्रति सकेत करते हुए उनके मार्जन की आवश्यकता सुझायी गई। कभी-कभी सारी प्रस्तुत बातो को एक बार फिर से सुव्यवस्थित रूप देने की चेष्टा भी की गई। इस कार्य मे जिन व्यक्तियो तथा सम्प्रदायो ने विशेप-रूप से भाग लिया, उनका सक्षिप्त परिचय पिछले अध्याय मे दिया जा चुका है। उनके यत्नो के सबध मे अध्ययन करने पर पता चलता है कि उन सबकी कार्य-शैली प्राय एक ही प्रकार की थी। सबने अपने समय के धार्मिक वातावरण पर विचार किया था और उसके भीतर समाविष्ट दोषो के विरुद्ध आक्षेप किया था। सबका उद्देश्य तात्कालिक स्थिति मे परिवर्तन लाने का था। इस कारण अपने विरोधी मतो की कटु आलोचना करते समय उन्होने बहुधा अपने मूल मतो तक की प्रचलित बुराइयो को अपना लक्ष्य बना डाला था। सुधार तथा सामजस्य की भावना से प्रेरित हो उन्होने उसे फिर से बदल डालना भी चाहा था। उन सभी के उद्देश्य सच्चे थे और उन सबने पूरे उत्साह के साथ अपने-अपने कार्यक्रम को अत तक निबाहना चाहा।

सुधार-पद्धति

फिर भी उन सबकी आलोचना एक ही प्रकार उग्र न थी, न उन सबने एक ही प्रकार अपने मूल मतो को सुधारने की चेष्टा की थी। स्वामी शकराचार्य ने अपने समय के अवैदिक मतो को अमान्य ठहराया। वैदिक मतो मे भी उपलब्ध दोषो की आलोचना कर उन्हे वेद-विरुद्ध तथा अग्राह्य घोषित किया। उनके पीछे आनेवाले भक्ति-प्रचारक आचार्यों ने भी प्राय इसी पद्धति का अनुसरण किया। वेदादि धर्म-ग्रथो के प्रति इन सबकी आस्था निरतर बनी रही और वे सदा

उनकी प्रामाण्यता का दम भरते रहे। बौद्धों तथा जैनों के सुधारक सम्प्रदायों को वैसे प्रामाण्य ग्रंथों का सहारा लेकर चलने की आवश्यकता न थी न नाथयोगी सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय अथवा पहले वाले वैष्णव सहजिया लोगों को ही ऐसा आश्रय ग्रहण करने की उपयोगिता प्रतीत हुई थी। अतएव प्रचलित मुराइयों के प्रति उनकी आलोचना कहीं अधिक स्वतंत्र रूप से हुई। इन्होंने उन्हें अधिकतर सरस एवं स्वाभाविक बातों द्वारा बदल डालने की चेष्टा की। वारकरी-सम्प्रदाय ने इन दोनों के बीच का मार्ग स्वीकार किया। उसने प्राचीन धर्म-ग्रंथों को अपने मत का आधार बनाते हुए भी उनके मंतव्यों को अपने विचारानुसार बहुत व्यापक बना डाला। सूफी सम्प्रदाय में भी इसी प्रकार अपने मूल धार्मिक ग्रंथ 'क़ुरान शरीफ़' तथा 'हदीस' के प्रति पूरी आस्था लक्षित होती है, किन्तु उसके अनुयायी उनकी बातों की एक विशेष दृष्टिकोण के साथ व्याख्या करते हुए भी जान पड़ते हैं।

दो भिन्न-भिन्न वर्ग

इस प्रकार उक्त सुधारक सम्प्रदायों में हमें प्रस्तुत दो भिन्न-भिन्न वर्ग दीख पड़ते हैं। इनमें से एक अपनी बिगड़ी हुई परिस्थिति में परिवर्तन लाने का यत्न करते समय उसे भरसक पूर्वनिर्दिष्ट आदर्शानुसार ही व्यवस्थित करना चाहता है। दूसरा किसी प्राचीन व्यवस्था के फेर में न पड़ कर उसे स्वतंत्र ढंग से कोई नवीन किन्तु सर्वमान्य रूप देने का यत्न करता है। प्रथम वर्ग को विश्वास है कि अंतिम सत्य तथा सर्वोत्तम आदर्श की झाँकी हमें अपने प्राचीन धर्म-ग्रंथों में अवश्य मिल सकती है। किन्तु द्वितीय वर्ग की धारणा है कि हमारा किसी ऐसी बात में आस्था रखना अनिवार्य नहीं है। यदि हम स्वतंत्र भाव से भी उचित यत्न करें, तो हमें उसका वास्तविक रूप आप-से-आप दृष्टिगोचर हो सकता है। उसी के आधार पर यदि हम चाहे तो अपने जीवन के लिए उच्चतम आदर्श भी स्थिर कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण से प्रभावित होने के कारण ही इस वर्ग के सम्प्रदायों ने योग-साधना को भी किसी न किसी अंश में अपनाया था। सहजयानी बौद्धों ने तो मानव-देह में ही काशी प्रयाग-जैसे तीर्थ तथा पीठों उप-पीठों आदि का भी अस्तित्व स्वीकार किया था और उसे सर्वश्रेष्ठ कह कर भी प्रसिद्ध किया था।[1] सूफी सम्प्रदाय में 'इश्क मजाजी' को 'इश्क हकीकी' का एक आवश्यक मुकाम ठहराया

---

[1] 'एत्थु से सुरसरि जमुणा एत्थु से गंगा साअरु।
एत्थु पआग बणारसि एत्थु से चन्द दिवाअरु ॥ ४७ ॥
खेत्तु पीठ उपपीठ एत्थु, मइ भमइ परिट्ठओ।
देहा सरिसउ तित्थ मइँ सुह अण्ण ण दिट्ठओ ॥'४८॥

था। वैष्णव सहजिया लोगों ने भी मानव सत्य को सबसे ऊपर स्थान देने की चेष्टा की थी।[1] इस भावना ने उन सबको इस प्रकार न केवल प्राचीन धर्म-ग्रंथों अथवा चिरकालीन रूढ़ियों पर सदा निर्भर रहा करने से ही रोक रखा प्रत्युत उन्हें अपने हृदय की शुद्धता तथा सचाई पर अटल विश्वास रखने के लिए भी प्रेरित किया। अतएव इस दल ने परमुखापेक्षिता के स्वभाव को भी बदलने का यत्न किया जिससे आत्म-विश्वास आत्म-गौरव तथा स्वावलंबन की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर दृढ़ होने लगी।

विभिन्न धारणाएँ

इनके सिवाय उक्त सुधारक सम्प्रदायों ने परमतत्त्व के स्वरूप के संबंध में भी अपनी भिन्न-भिन्न धारणाएँ निश्चित कीं। स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्म को अनिर्वचनीय सत्य तथा जगत् को मिथ्या मानते हुए जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की। तदनुसार आत्म-ज्ञान की साधना को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ ठहराया। किंतु उनके परवर्ती भक्ति-प्रचारक आचार्यों ने इस प्रकार के अभेद-भाव को प्रश्रय न देकर भक्ति के लिए एक अलौकिक भगवान् की कल्पना भी कर डाली। उधर सहजयानी बौद्धों ने अपने सत्य तथा शून्य की अद्वयता को स्पष्ट करते हुए उसमें महासुखमय 'सहज' का भी आरोप किया और चित्त की शुद्धि द्वारा उसके साथ सर्वथा एकाकार हो जाने का महत्त्व बतलाया। किंतु वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय ने उसी 'सहज' को अपना प्रेम-धाम भी मान कर उसे उपलब्ध करना अपना परम ध्येय समझा। इस प्रकार इनके प्रथम वर्ग की प्रवृत्ति जहाँ श्रद्धा तथा भक्ति के साधन द्वारा भगवान् की उपासना की ओर बढ़ी वहाँ दूसरे ने उसी सत्य को प्रियतम के रूप में स्वीकार कर उसके साथ अभिन्न बन जाना ही अपने लिए परम पुरुषार्थ निर्धारित किया। वैष्णव सहजिया लोगों की उक्त प्रेम-भावना सूफी सम्प्रदाय के 'इश्क हकीकी' से भी बहुत कुछ प्रभावित रही। आगे चल कर इन दोनों का सम्मिश्र रूप कबीर साहब जैसे संतों के लिए 'विरह-भावित-प्रेम' के भाव में परिणत होकर लक्षित हुआ।

साधनों की विभिन्नता

इन सुधारक सम्प्रदायों के भाषा-रूपों तथा वर्णन-शैली पर भी इनके शैलो-

---

—डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा संपादित सरहपाद का दोहाकोष, कलकत्ता १९३८ ई० पृ० २५।

१. 'शुन हे मानुष भाई।
सबार ऊपरे मानुष सत्य ताहार ऊपरे नाइ॥'—आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स : डॉ० एस० दास गुप्त. पृ० १३७ पर उद्धृत।

बनात्मक दृष्टिकोणका प्रभावस्पष्ट दीखपड़ता था। स्वामी शंकराचार्य तथा भक्ति-प्रचारक आचार्यों ने प्राचीनता का मोह त्याग न सकने के कारण संस्कृत-भाषा का व्यवहार किया। उन्होंने मौलिक बातों के लिखने की अपेक्षा केवल भाष्य तथा टीका-टिप्पणी की ओर ही विशेष ध्यान दिया। किंतु सहजयानी बौद्ध जैन मुनि नाथयोगी तथा सहजिया वैष्णवों की प्रवृत्ति इससे नितांत विरुद्ध दिशा की ओर काम करती हुई दीख पड़ी। इन्होंने न केवल स्वतंत्र रचनाएँ प्रस्तुत करने के यत्न किये किंतु उनका निर्माण करते समय प्रचलित जन भाषाओं को अपने भाव-कथन का माध्यम भी बनाया। इसके अतिरिक्त प्रथम वर्गवालों ने जहाँ पर अपने कथन की पुष्टि में स्थल विशेष पर मान्य ग्रंथों के उद्धरण देकर उन्हें प्रमाणित करते जाना आवश्यक समझा वहाँ दूसरे वर्गवालों ने अपने भावों को हृदयंगम कराने के लिए साधारण दृष्टांतों सरल रूपकों तथा कभी-कभी चमत्कारपूर्ण संध्याभाषा अथवा 'संधाभाषा' के भी प्रयोग किये।[1] इस प्रकार प्रथम वर्ग की रचनाओं के पाठकों को अपने समाधान के लिए जहाँ प्राचीन धर्मग्रंथों के अनेक पन्ने उलटने की आवश्यकता पड़ी वहाँ दूसरे वर्ग के दोहा वा पदों के पढ़नेवाले उन्हें समझने के लिए निजी अनुभव तथा साधारण संकेतों का ही उपयोग करते रहे।

मुसलमानी प्रभाव

विक्रम की नवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं तक का उक्त समय एक प्रकार के उथल-पुथल का युग था। इसका आरंभ होने के कुछ ही पहले सं ७६९ में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में अरबों का आक्रमण भारत के सिंध प्रांत पर हो चुका था। इस प्रकार बाहर के मुस्लिम देशों को इस देश की आर्थिक सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति का कुछ न कुछ परिचय मिलने लगा था। उत्तरी भारत में उस समय प्रतिहारों का राज्य था जो किसी न किसी रूप में बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक वर्तमान रहा। उसके अनंतर वहाँ क्रमशः गहरवारों तथा चौहानों का शासन प्रायः सौ वर्षों तक चला। इसी बीच में गजनी तथा गोर वंश के मुसलमानों के आक्रमण हुए तथा तराईं की लड़ाई (सं १२५) में विजय पाकर मुहम्मद गोरी

---

१ 'संध्याभाषा' झिलमिल प्रकाशमयी वा रहस्यमयी भाषा (Evening language, twilight language o mystical language)
'संधाभाषा' सोद्देश्य वा साभिप्राय भाषा (Intentional l nguage i. e language literally and apparently mea ing one thing, but aiming at a deeper meaning hidden behind.)
—डॉ एस बी दास गुप्त आब्सक्योर रिलिजस कल्ट्स पृ ४७७-८।

ने यहाँ पर अपने स्थायी राज्य की नीव डाली। उस काल से इस भूखड पर मुसलमानी शासन का आरभ हो गया। गुलाम वश (स० १२६३ १३४७), खिलजी वश (स० १३४७ १३७७) तथा तुगलक वश (स० १३७७ १४६९) के भिन्न-भिन्न व्यक्ति क्रमश सुलतान बन कर यहाँ के सिंहासन पर बैठे। ये सुलतान अपने 'मज़हबे इस्लाम' की 'शरियत' के न्यूनाधिक पाबद रहते हुए भी अपना शासन अपरिमित अधिकार के साथ करते थे और उनका पबध एक प्रकार का सैनिक प्रबध था। ये कभी-कभी खलीफा की प्रभुता स्वीकार कर लेते थे, किंतु व्यावहारिक बातो मे ये सदा निरकुश बने रहते थे। इनमे से कुछ पर यदाकदा उलमा लोगो का भी प्रभाव काम कर जाता था। परन्तु मुस्लिमेतर जातियो के लिए वह कभी हितकर न हो पाता था। इस कारण सुल्तानो के उस एकतत्र शासन द्वारा सदा अन्याय तथा असहिष्णुता को ही प्रोत्साहन मिलता रहा। फिर भी देश के भीतर अतुल सपत्ति थी। मुसलमान उमरा पूरे ठाट-बाट के साथ जीवन व्यतीत करते थे और कला, साहित्य आदि की उन्नति भी होती जा रही थी।

इधर बौद्ध धर्म का उस समय तक पूर्ण ह्रास होने लगा था। शकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट-जैसे विरोधी प्रचारको के यत्नो द्वारा वह प्राय निर्मूल-सा होता जा रहा था। उस समय जैन धर्म तथा शैव और वैष्णव-सम्प्रदायो के भीतर भिन्न-भिन्न सगठन हो रहे थे। इस्लाम के अदर भी सूफी सम्प्रदाय अपना प्रचार करने लगा था। सुलतानो के उक्त शासन-काल मे इस प्रकार स्वेच्छाचारिता की प्रधानता होने पर भी भिन्न-भिन्न विचारो तथा सस्कृतियो के सघर्ष के कारण एक नवीन प्रकार के समाज का निर्माण होता जा रहा था। इसके लिए सारी परिस्थिति पर एक बार फिर से दृष्टिपात कर उचित मार्ग दिखलाना नितात आवश्यक प्रतीत होता था। यह कार्य उसी के द्वारा सभव था जिसकी बुद्धि परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियो के बीच समन्वय तथा सामजस्य लाने के अतिरिक्त किसी स्थायी वा सार्वभौम नियम तथा आदर्श का प्रस्ताव रखने मे भी समर्थ हो।

पूर्वकालीन सत

इस युग के अतर्गत कतिपय सतो ने साम्प्रदायिक स्तर से कुछ ऊँचा उठ कर इस ओर यत्न अवश्य किये। उनकी विशिष्ट प्रवृत्तियो के कारण उन्हे उक्त युग के अनतर आनेवाले सतो मे गिना भी जाता है। फिर भी उनकी उपलब्ध रचनाओ तथा जीवन-सबधी केवल यत्किंचित् सामग्रियो के आधार पर कुछ अधिक पता नही चलता। सभव है, वे भी उक्त उद्देश्य को ही लेकर चले रहे हो, किंतु विकट परिस्थितियो अथवा उनके क्षीणस्वरो के कारण उनका प्रभाव वैसा स्पष्ट वा स्थायी न हो सका हो। ऐसे कुछ लोगो के सक्षिप्त परिचय गत अध्याय मे दिये जा चुके

है और उनके विचारों की बानगी भी यहाँ दी जा चुकी है। उससे प्रकट होगा कि उक्त युग (ई ८ १४)के पूर्वार्द्ध तक यहाँ का क्षेत्र तैयार हो चुका था। उसके उत्तरार्द्ध के लगभग आरंभ से ही कुछ ऐसे व्यक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगा था जिन्हें कम से कम पद प्रवर्तक संतों के नाते स्मरण करने की प्रवृत्ति होती है। उन पूर्वकालीन संतो के जन्म-स्थान एवं वातावरण से परिचित होने पर हम यह भी अनुमान करने का आधार मिलता है कि सर्वप्रथम उत्तरी भारत का बाहरी सीमा का ही क्षेत्र तैयार हुआ था। उसके केन्द्र काशी-संत को इस ओर प्रवृत्त होने का अवसर उक्त युग के कहीं अंत में जाकर मिला था।

नामदेव का प्रभाव

विक्रम संवत् की चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में महाराष्ट्रीय संत नामदेव पंजाब प्रांत म भ्रमण कर रहे थे। उनका मूल संबंध महाराष्ट्र प्रांत के 'वारकरी सम्प्रदाय' के साथ था। किन्तु उनके विचारों की व्यापकता तथा कार्य-पद्धति की रूप-रेखा उन्हें अपनी परिधि से कुछ बाहर जाने को भी बाध्य कर रही थी। अतएव अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने उक्त सम्प्रदाय के नियमों का कदाचित् अक्षरशः अनुसरण भी नहीं किया और स्वानुभूति के आधार पर ही वे अपने उपदेश देते रहे। उनके ये उपदेश सदा एक स्वतंत्र मत का संदेश सुनाते रहे और अपने सरल तथा सजीव होने के कारण अधिक ध्यान भी आकृष्ट करते रहे। प्रसिद्ध है कि इनकी लोकप्रियता के कारण इनके उपदेशों का वहाँ बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। मालवा राजस्थान तथा पंजाब मे इनके अनेक अनुयायी बन गए। आगे चल कर इनके नाम को अपनानेवाले कई अन्य व्यक्तियों ने भी अपने मठादि स्थापित कर लिये। संत नामदेव अपने पदों को बहुधा करताल के साथ गाया करते थे और उनकी भावुकता उपस्थित श्रोताओं को मुग्ध कर देती थी। इस प्रकार बहुत-से उनके हिंदी पद उधर की जनता को कंठस्थ हो जाते थे जिन्हें वे बाहर जाने पर भी प्रेम के साथ गाया करते थे। इस कारण संत नामदेव की रचनाओं का उत्तरी भारत मे कुछ दूर तक पूर्व की ओर भी प्रचलित हो जाना असंभव न था। कबीर साहब ने भी संत नामदेव का नाम कदाचित् इन्हीं प्रचलित पदों से प्रभावित होकर बड़ी श्रद्धा के साथ लिया होगा।

अन्य प्रवृत्तियाँ

उक्त युग के अंत तक बौद्धों का 'सहजयान' सम्प्रदाय यहाँ से प्रायः लुप्त हो चुका था। उसका केवल कुछ विकृत रूप ही बंगाल में दीख पड़ता था जहाँ पर इस कई छोटे बड़े सम्प्रदायों पर पड़े हुए प्रभावों के भीतर ढूँढ़ा जा सकता था। उत्तरी भारत मे उस समय के किसी ऐसे प्रसिद्ध जैन मुनि का भी पता नहीं चलता जिसने

ने यहाँ पर अपने स्थायी राज्य की नीव डाली। उस काल से इस भूखड पर मुसलमानी शासन का आरभ हो गया। गुलाम वश (स० १२६३ १३४७), खिलजी वश (स० १३४७ १३७७) तथा तुगलक वश (स० १३७७ १४६९) के भिन्न-भिन्न व्यक्ति क्रमश सुलतान बन कर यहाँ के सिंहासन पर बैठे। ये सुलतान अपने 'मजहबे इस्लाम' की 'शरियत' के न्यूनाधिक पाबद रहते हुए भी अपना शासन अपरिमित अधिकार के साथ करते थे और उनका प्रबध एक प्रकार का सैनिक प्रबध था। ये कभी-कभी खलीफा की प्रभुता स्वीकार कर लेते थे, किंतु व्यावहारिक बातो मे ये सदा निरकुश बने रहते थे। इनमे से कुछ पर यदाकदा उलमा लोगो का भी प्रभाव काम कर जाता था। परन्तु मुस्लिमेतर जातियो के लिए वह कभी हितकर न हो पाता था। इस कारण सुलतानो के उस एकतत्र शासन द्वारा सदा अन्याय तथा असहिष्णुता को ही प्रोत्साहन मिलता रहा। फिर भी देश के भीतर अतुल सपत्ति थी। मुसलमान उमरा पूरे ठाट-बाट के साथ जीवन व्यतीत करते थे और कला, साहित्य आदि की उन्नति भी होती जा रही थी।

इधर बौद्ध धर्म का उस समय तक पूर्ण ह्रास होने लगा था। शकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट-जैसे विरोधी प्रचारको के यत्नो द्वारा वह प्राय निर्मूल-सा होता जा रहा था। उस समय जैन धर्म तथा शैव और वैष्णव-सम्प्रदायो के भीतर भिन्न-भिन्न सगठन हो रहे थे। इस्लाम के अदर भी सूफी सम्प्रदाय अपना प्रचार करने लगा था। सुलतानो के उक्त शासन-काल मे इस प्रकार स्वेच्छाचारिता की प्रधानता होने पर भी भिन्न-भिन्न विचारो तथा सस्कृतियो के सघर्ष के कारण एक नवीन प्रकार के समाज का निर्माण होता जा रहा था। इसके लिए सारी परिस्थिति पर एक बार फिर से दृष्टिपात कर उचित मार्ग दिखलाना नितात आवश्यक प्रतीत होता था। यह कार्य उसी के द्वारा सभव था जिसकी बुद्धि परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियो के बीच समन्वय तथा सामजस्य लाने के अतिरिक्त किसी स्थायी वा सार्वभौम नियम तथा आदर्श का प्रस्ताव रखने मे भी समर्थ हो।

पूर्वकालीन सत

इस युग के अतर्गत कतिपय सतो ने साम्प्रदायिक स्तर से कुछ ऊँचा उठ कर इस ओर यत्न अवश्य किये। उनकी विशिष्ट प्रवृत्तियो के कारण उन्हें उक्त युग के अनतर आनेवाले सतो मे गिना भी जाता है। फिर भी उनकी उपलब्ध रचनाओ तथा जीवन-सबधी केवल यत्किंचित् सामग्रियो के आधार पर कुछ अधिक पता नही चलता। सभव है, वे भी उक्त उद्देश्य को ही लेकर चले रहे हो, किंतु विकट परिस्थितियो अथवा उनके क्षीण स्वरो के कारण उनका प्रभाव वैसा स्पष्ट वा स्थायी न हो सका हो। ऐसे कुछ लोगो के सक्षिप्त परिचय गत अध्याय मे दिये जा चुके

है और उनके विचारों की सामग्री भी वहाँ दी जा चुकी है। उससे प्रकट होगा कि उक्त युग (सं ८ ० १४)के पूर्वार्द्ध तक यहाँ का क्षेत्र तैयार हो चुका था। उसके उत्तरार्द्ध के लगभग आरंभ से ही कुछ ऐसे व्यक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगा था जिन्हें कम से कम पंथ प्रवर्त्तक संतों के नाते स्मरण करने की प्रवृत्ति होती है। उन पूर्वकालीन संतों के जन्म-स्थान एवं वातावरण से परिचित होने पर हमें यह भी अनुमान करने का आधार मिलता है कि सर्वप्रथम उत्तरी भारत का बाहरी सीमा का ही क्षेत्र तैयार हुआ था। उसके केन्द्र काशी-खंड को इस ओर प्रवृत्त होने का अवसर उक्त युग के कहीं अंत में जाकर मिला था।

नामदेव का प्रभाव

विक्रम संवत् की चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में महाराष्ट्रीय संत नामदेव पंजाब प्रांत में भ्रमण कर रहे थे। उनका मूल संबंध महाराष्ट्र प्रांत के 'वारकरी सम्प्रदाय' के साथ था। किंतु उनके विचारों की व्यापकता तथा कार्य-पद्धति की रूप रेखा उन्हें अपनी परिधि से कुछ बाहर जाने को भी बाध्य कर रही थी। अतएव अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने उक्त सम्प्रदाय के नियमों का कदाचित् अक्षरशः अनुसरण भी नहीं किया और स्वानुभूति के आधार पर ही वे अपने उपदेश देते रहे। उनके ये उपदेश सदा एक स्वतंत्र मत का संदेश सुनाते रहे और अपने सरल तथा सजीव होने के कारण अधिक ध्यान भी आकृष्ट करते रहे। प्रसिद्ध है कि इनकी लोकप्रियता के कारण इनके उपदेशों का वहाँ बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। मालवा राजस्थान तथा पंजाब में इनके अनेक अनुयायी बन गए। आगे चल कर इनके नाम को अपनानेवाले कई अन्य व्यक्तियों ने भी अपने मठादि स्थापित कर लिये। संत नामदेव अपने पदों को बहुधा करताल के साथ गाया करते थे और उनकी मधुरता उपस्थित श्रोताओं को मुग्ध कर देती थी। इस प्रकार बहुत-से उनके हिंदी पद उधर की जनता को कंठस्थ हो जाते थे जिन्हें वे बाहर जाने पर भी प्रेम के साथ गाया करते थे। इस कारण संत नामदेव की रचनाओं का उत्तरी भारत में कुछ दूर तक पूर्व की ओर भी प्रचलित हो जाना असंभव न था। कबीर साहब ने भी संत नामदेव का नाम कदाचित् इन्हीं प्रचलित पदों से प्रभावित होकर बड़ी श्रद्धा के साथ लिया होगा।

अन्य प्रवृत्तियाँ

उक्त युग के अंत तक बौद्धों का 'सहजयान' सम्प्रदाय यहाँ से प्रायः लुप्त हो चुका था। उसका केवल कुछ विकृत रूप ही बंगाल में दीख पड़ता था यहाँ पर इसे कई छोटे बड़े सम्प्रदायों पर पड़े हुए प्रभावों के भीतर ढूँढा जा सकता था। उत्तरी भारत में उस समय के किसी ऐसे प्रसिद्ध जैन मुनि का भी पता नहीं चलता जिसने

पूर्ववत् विचार प्रकट किये हो। लोंकाशाह (स० १४७५) तथा तारणतरण (स० १५०५-७२) ने क्रमश राजस्थान तथा मध्यप्रदेश मे जैन धर्म के अतर्गत सुधार के यत्न किये। 'नाथयोगी-सम्प्रदाय' के अनुयायी भी उस समय विशेषकर पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत की ओर ही अपना प्रचार करते पाये जाते थे। पूर्वी भारत मे उनकी प्रगति, उनके अन्य हिन्दू धर्मावलबियो के साथ बहुत कुछ घुलमिल जाने कारण, धीमी पडने लग गई थी। फिर भी राजस्थान के अतर्गत उसे कोई न कोई विशिष्ट साम्प्रदायिक रूप देने का प्रयास पीछे जभनाथ (स० १५०८-८०) तथा जसनाथ (स० १५३९-६३) की ओर से किया गया।

इधर सूफी सप्रदाय का प्रचार उस समय, कुछ अधिक वेग के साथ होने लगा था। उसकी चिश्तिया तथा सुहर्वर्दिया नामक दो शाखाओ का भारत मे प्रवेश हो चुका था। उनके अनुयायियो की सख्या भी बढती जा रही थी। चिश्तिया शाखा के फकीर अहमद साबिर (मृ० स० १३८२) ने अभी कुछ ही दिनो पहले वर्तमान उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भाग मे भ्रमण कर अपनी 'साबिरी' नामक उपशाखा की नीव डाल दी थी। इसी प्रकार शेख मुहम्मद हिशामुद्दीन (मृ० स० १५०६) भी उसकी 'हशीमिया' उपशाखा का प्रचार करने की ओर मानिकपुर तथा उसके आसपास यत्न कर रहे थे। 'सुहर्वर्दिया' शाखा के शेख तकी (स० १३७७-१४४१) ने भी इन्ही दिनो अपने उपदेशो द्वारा उक्त प्रात के पूर्वी भाग वालो को प्रभावित करके, झूंसी मे विश्राम लिया था। 'शत्तारी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक शेख अब्दुल्ला शत्तारी (मृ० स० १४८५) ने जौनपुर मे आकर अपने मत का प्रचार किया। इसके सिवाय सुदूर उत्तर की ओर कश्मीर प्रात मे, अभी कुछ ही पहले लालदेद (स० १३९२-१४७२) ने अपने उद्गार प्रकट किये थे। उनसे बहुत कुछ प्रभावित होकर नदा ऋषि (स० १४३४-९५) ने फिर अपना प्रचार-कार्य किया। अधिक पूर्व की ओर बगाल प्रात मे 'वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय' की नीव पड चुकी थी। प्रसिद्ध बगाली कवि चडीदास कदाचित् उसी समय के लगभग, अपने पदो के माधुर्य द्वारा उधर के निवासियो को मन्त्र-मुग्ध से कर रहे थे। कवि चडीदास की यह परपरा, सभवत उस प्रसिद्ध सत जयदेव द्वारा भी प्रभावित रही जिनकी प्रशसा कबीर साहब ने अपनी रचनाओ मे एक से अधिक बार की है।

कबीर साहब पर प्रभाव

परन्तु कबीर साहब के ऊपर उस दूसरी विशिष्ट भाव-धारा का प्रभाव भी कम न पडा होगा जिसके विभिन्न स्रोतो के स्वरूप का दिग्दर्शन गत अध्याय मे कराया जा चुका है। इसके प्रवाह की विभिन्न लहरो के रग-ढग मे हमे आगामी सत-मत

का प्रारंभिक रूप स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। उस पर विचार करने से प्रतीत होता है कि स्वामी शंकराचार्य के कतिपय दार्शनिक सिद्धांतों पर बौद्ध-मत की गहरी छाप लगी हुई थी। बौद्धों के सहजयानी विचार तथा शांकराद्वैत के आदर्श को एक साथ लेकर ही नाथयोगी-सम्प्रदाय की सृष्टि हुई थी। भक्ति के भिन्न-भिन्न आचार्य भी इसी प्रकार शंकराचार्य द्वारा अनुप्राणित हुए। उनकी भक्ति-साधना तथा नाथयोगी-सम्प्रदाय के मौलिक सिद्धांतों के आधार पर वारकरी-सम्प्रदाय की भित्ति खड़ी की गई थी। इसके सिवाय भक्ति-प्रचारक आचार्यों के मूल स्रोत तमिल आळवारों की सरस भक्ति-साधना और सूफी सम्प्रदाय के प्रेम भाव ने मिल कर इसी भाँति वैष्णव 'सहजिया-सम्प्रदाय' को जन्म दिया। बौद्ध सहजिया के मूल सिद्धांतों ने उसी प्रकार उसे पूरी शक्ति प्रदान की। फलतः भिन्न-भिन्न विचार-शैलियों के संघर्ष वा सहयोग से उन सुधारक सम्प्रदायों का कार्यक्रम क्रमशः अग्रसर होता गया। अंत में विक्रम संवत् की पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग उनके संमुक्त प्रयास द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई जिसे अनुभव करने वाले व्यक्ति के लिए किसी भी उक्त भावना की उपेक्षा करना असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य था। इस कथन की संगति कबीर साहब के विषय में भी भली भाँति लगायी जा सकती है।

उनका प्रधान उद्देश्य

कबीर साहब कदाचित् प्रत्येक संकीर्ण साम्प्रदायिक भावना से मुक्त थे और उनका मुख्य अभिप्राय किसी ऐसी विचार-धारा को जन्म देना था जो स्वभावतः सर्व-मान्य बन सके। इसमें इसी कारण किसी भी उल्लेखनीय प्रवृत्ति के संचार की पूरी गुंजाइश हो सके। तदनुसार उन्होंने अपने सामने उपस्थित समस्या पर अधिक से अधिक व्यापक दृष्टिकोण के साथ विचार करने का यत्न किया। इस प्रकार निकाले गए परिणामों के मूल्यांकन का भार प्रत्येक व्यक्ति के निजी अनुभव पर ही छोड़ दिया। इसीलिए कबीर साहब की उस ऊँचाई से देखने पर जहाँ निर्गुण तथा सगुण के प्रश्न आपसे आप हल हो गए और अद्वैत की भावना में भक्ति को भी स्थान मिल जाने से मस्तिष्क-पक्ष अथवा हृदय-पक्ष में सामंजस्य आ आ गया वहाँ 'शून्य' 'सहज' 'प्रेम' तथा 'योग' जैसे शताब्दियों से प्रचलित शब्दों का वास्तविक रहस्य भी खुल गया और व्यर्थ के वितंडावाद की प्रवृत्ति बहुत कुछ निर्बल प्रतीत होने लगी।

(२) कबीर साहब का जीवन-वृत्त

(१) जीवन-काल प्रामाणिक सामग्री अलभ्य

कबीर साहब के व्यक्तित्व इनके जीवन-वृत्त तथा मत का परिचयात्मक उल्लेख

करनेवाले तो अनेक ग्रथो का पता चलता है, किंतु ऐसी रचनाओ का प्राय अभाव-सा है जिनमे इनकी जन्म-तिथि वा मरण-तिथि के विषय मे किसी अधिकार के साथ चर्चा की गई हो और जिन्हे सभी प्रकार से विश्वसनीय भी समझा जा सके। कबीर साहब ने स्वय इस विषय मे कुछ भी नही कहा है और इनके समसामयिक समझे जानेवाले किसी इतिहासकार की रचना मे भी इसका स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। अन्य उपलब्ध सामग्रियो के आधार केवल जनश्रुति, अध-विश्वास अथवा फुटकर भ्रमात्मक प्रसग है जिन पर सहसा विश्वास कर लेना ऐतिहासिक तथ्य के प्रेमियो के लिए बहुत कठिन है। अतएव इस प्रश्न के छेडनेवाले कुछ लेखको का इस प्रकार कह देना भी अनुचित नही जान पडता कि "उनकी सवाने उमरी एक मुखफी इसरार है, हम उनके दौराने-जिदगी के हालात से बिल्कुल नावाकिफ हैं[1]।" वास्तव मे इस प्रकार का कथन हमारे अन्य अनेक महापुरुषो के विषय मे भी सत्य है।

उपलब्ध सामग्री

कबीर साहब का किसी न किसी रूप मे परिचय देनेवाली आज तक की उपलब्ध सामग्रियो को हम निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—

(१) कबीर साहब तथा उनके समसामयिक समझे जानेवाले सतो-जैसे, सेन नाई, पीपाजी, रैदास, धन्ना, कमाल आदि के फुटकर उल्लेख,

(२) उनके पीछे आनेवाले सतो तथा भक्तो जैसे, मीराँबाई, गुरु अमरदास, व्यासजी, मलूकदास, दादू, दरिया, वषना, हरिदास, रज्जब, गरीबदास आदि की बानियो मे पाये जानेवाले विविध सकेत,

(३) कबीर-पथी रचनाएँ जिनमे इनकी स्तुति के साथ-साथ चमत्कारपूर्ण तथा पौराणिक परिचय देने की भी चेष्टा की गई है, जैसे, 'अमरसुख-निधान', 'अनुराग सागर', 'निर्भय-ज्ञान', 'द्वादश पथ', 'बीजक', 'भवतारण', 'कबीर-कसौटी', 'कबीर-परिचय' तथा धर्मदास आदि की बानियाँ,

(४) वे ग्रथ जिनमे भक्तो के गुणगान के साथ-साथ उनका सक्षिप्त परिचय भी दिया गया है, जैसे नाभादास, राघोदास, मुकुद कवि आदि के 'भक्तमाल', अनतदास की 'परचई', रघुराजसिंह की 'रामरसिकावली' तथा उक्त 'भक्तमालो' पर की गई टीकाएँ, तथा गुलाम सरवर की 'खजीनतुल असफिया' जैसी रचनाएँ,

(५) वे ऐतिहासिक ग्रथ जिनमे प्रसगवश कुछ महापुरुषो की साधारण वा आलोचनात्मक चर्चा कर दी गई मिलती है, जैसे, अबुल फजल की 'आईन-ए-

---

१ नारायणप्रसाद वर्मा रहनुमाये-हिन्द, पृ० २२३।

अकबरी' अबुल हक की 'अखबारुल अख्यार' तथा 'खुलासातुत्तवारीख' अथवा बील डॉ० स्पूर्ट आदि की पुस्तकें

(६) उन धार्मिक इतिहासों में दिये गए आलोचनात्मक विवरण जिनके रचयिता इन्हें किसी सम्प्रदाय-विशेष से संबद्ध मान कर चलते हैं जैसे डॉ० भाडार कर, मेकालिफ वेस्टकाट फर्कुहर, की विल्सन फानी दत्त राय अथवा सेन आदि के ग्रंथ

(७) कबीर साहब से संबद्ध आलोचनात्मक निबंध साहित्यिक ग्रंथ आदि जिनमें किसी तथ्य पर पहुँचने की तर्कपूर्ण चेष्टा की गई है जैसे हरिऔध श्याम सुन्दर दास डॉ० मोहन सिंह डॉ० बड़थ्वाल डॉ० रामकुमार वर्मा डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी पंडित चन्द्रबली पांडेय आदि की रचनाएँ

और, (८) कबीर साहब की समझी जानेवाले चित्र तथा समाधि जैसी स्मारक वस्तुएँ।

इस वर्गीकरण के अनुसार हमें जान पड़ता है कि उक्त सामग्रियों में से (१) तथा (२) के सहारे अधिकतर किसी काल-क्रम अर्थात् कबीर साहब के आगे या पीछे प्रकट होने का अनुमान हो सकेगा। (३) (४) (५) तथा (८) द्वारा कुछ वस्तुओं या घटनाओं का मूल्य परखने में भी सहायता ली जा सकेगी। इसी प्रकार (७) की सहायता से हमें उनमें किये गए उल्लेखों आये हुए प्रसंगों अथवा दी गई सम्मतियों पर आलोचनात्मक तथा युक्तिसंगत विचार करने में सुविधा मिल सकेगी।

विभिन्न धारणाओं का विकास

उक्त सभी प्रकार के साधनों के रचना क्रम आदि की परीक्षा करने पर हमें यह भी पता चलता है कि उनमें से सबसे प्राचीन रचनाओं में कबीर साहब केवल एक भक्त-विशेष के रूप में ही दिखलाए गये हैं। इनका उल्लेख करनेवालों का ध्यान जितना इनकी भक्ति और इनके प्रति लक्षित होनेवाली भगवत्कृपा की ओर है उतना इनके व्यक्तित्व वा जीवन का चित्रण करने की ओर नहीं। फिर यह प्रवृत्ति मीरांबाई (स० १५५५ १६ ३) के समय से कुछ और भी स्पष्ट होती जाती है। उस वर्ग की कृतियों में तब से कई चमत्कारपूर्ण कथाओं का भी समावेश होने लगता है। कबीर-पंथ द्वारा किये गए प्रचारों के कारण कबीर साहब महात्मा के समय 'भक्त कबीर' से क्रमशः परिवर्तित होते हुए 'सत्य कबीर' का भी रूप ग्रहण करते हुए दीखने लगते हैं। इसी प्रकार कबीर साहब के रामानंद शिष्य होने की चर्चा सर्वप्रथम कदाचित् भक्त व्यासजी[१] (सं० १५६७ १६६९)

१ 'सांचे साधु जु रामानंद'।

करनेवाले तो अनेक ग्रथो का पता चलता है, किंतु ऐसी रचनाओ का प्राय अभाव-सा है जिनमे इनकी जन्म-तिथि वा मरण-तिथि के विषय मे किसी अधिकार के साथ चर्चा की गई हो और जिन्हे सभी प्रकार से विश्वसनीय भी समझा जा सके। कबीर साहब ने स्वय इस विषय मे कुछ भी नही कहा है और इनके समसामयिक समझे जानेवाले किसी इतिहासकार की रचना मे भी इसका स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। अन्य उपलब्ध सामग्रियो के आधार केवल जनश्रुति, अध-विश्वास अथवा फुटकर भ्रमात्मक प्रसग हैं जिन पर सहसा विश्वास कर लेना ऐतिहासिक तथ्य के प्रेमियो के लिए बहुत कठिन है। अतएव इस प्रश्न के छेडनेवाले कुछ लेखको का इस प्रकार कह देना भी अनुचित नही जान पडता कि "उनकी सवाने उमरी एक मुखफी इसरार है, हम उनके दौराने-ज़िंदगी के हालात से बिल्कुल नावाकिफ हैं[1]।" वास्तव मे इस प्रकार का कथन हमारे अन्य अनेक महापुरुषो के विषय मे भी सत्य है।

उपलब्ध सामग्री

कबीर साहब का किसी न किसी रूप मे परिचय देनेवाली आज तक की उपलब्ध सामग्रियो को हम निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—

(१) कबीर साहब तथा उनके समसामयिक समझे जानेवाले सतो-जैसे, सेन नाई, पीपाजी, रैदास, धन्ना, कमाल आदि के फुटकर उल्लेख,

(२) उनके पीछे आनेवाले सतो तथा भक्तो जैसे, मीराँबाई, गुरु अमरदास, व्यासजी, मलूकदास, दादू, दरिया, बषना, हरिदास, रज्जब, गरीबदास आदि की बानियो मे पाये जानेवाले विविध सकेत,

(३) कबीर-पथी रचनाएँ जिनमे इनकी स्तुति के साथ-साथ चमत्कारपूर्ण तथा पौराणिक परिचय देने की भी चेष्टा की गई है, जैसे, 'अमरसुख-निधान', 'अनुराग सागर', 'निर्भय-ज्ञान', 'द्वादश पथ', 'बीजक', 'भवतारण', 'कबीर-कसौटी', 'कबीर-परिचय' तथा धर्मदास आदि की बानियाँ,

(४) वे ग्रथ जिनमे भक्तो के गुणगान के साथ-साथ उनका सक्षिप्त परिचय भी दिया गया है, जैसे नाभादास, राघोदास, मुकुद कवि आदि के 'भक्तमाल', अनतदास की 'परचई', रघुराजसिंह की 'रामरसिकावली' तथा उक्त 'भक्तमालो' पर की गई टीकाएँ, तथा गुलाम सरवर की 'खज़ीनतुल असफिया' जैसी रचनाएँ,

(५) वे ऐतिहासिक ग्रथ जिनमे प्रसगवश कुछ महापुरुषो की साधारण वा आलोचनात्मक चर्चा कर दी गई मिलती है, जैसे, अबुल फज़ल की 'आईन-ए-

---

१ नारायणप्रसाद वर्मा रहनुमाये-हिन्द, पृ० २२३।

विषय में चमत्कारपूर्ण कथाएँ कहने लगते हैं। कबीर-पंथी इन्हें अमर तथा अलौकिक जीवनवाला मान कर इन्हें हंसो के उद्धारार्थ समय-समय पर अवतार-धारण करने वाला भी ठहराने लगते हैं यहाँ दूसरी ओर इन्हें एक धार्मिक नेता और सुधारक के रूप में स्वीकृत करने की परिपाटी भी चल निकलती है। इनके जीवन के संबंध में दिये गए फुटकर प्रसंगों में से कई एक ऐतिहासिक रूप लेने लग जाते हैं। उक्त प्राथमिक साम्प्रदायिक तथा ऐतिहासिक उल्लेखों की छानबीन आगे चल कर विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी के अंत में होती है जब कुछ विदेशी विद्वानों का ध्यान हमारे साहित्य संस्कृति तथा धर्म के अध्ययन की ओर पहले-पहल आकृष्ट होता है और भारत की अनेक बातों के संबंध में कुछ निबंध तथा ग्रंथ आलोचनात्मक दृष्टि से लिखे जाने लगते हैं। उन्नीसवी शताब्दी तक का समय इस प्रकार अधिकतर ऐसी सामग्रियों के निर्माण का रहता है और उसके अनंतर उनकी परख तथा मूल्यांकन का युग आ जाता है। फिर भी इस युग के विद्वान् लेखकों में एक यह बात भी पायी जाती है कि प्राचीन वा नवीन उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग करते समय वे उनके समर्थन में बहुधा भिन्न भिन्न जनश्रुतियों के भी हवाले देते चलते हैं और प्रत्येक मत की पुष्टि में किसी न किसी पद्यमयी रचना की सृष्टि भी होने लगती है। कबीर साहब के संबंध में रचित इस प्रकार के जन्म तथा मरण-काल के सूचक दोहे और अन्य रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मृत्यु-काल संबंधी मत

कबीर साहब के विषय में रचे गए जो जनश्रुतिमूलक दोहे मिलते हैं उनमें अधिकतर इनके मृत्यु-काल की ही चर्चा दीख पड़ती है इसका कारण भी कदाचित् यही हो सकता है कि अपने जीवन के अंतिम भाग में वे विशेष प्रसिद्ध हो गए होंगे अथवा इनके उपदेशादि द्वारा प्रभावित लोगों के लिए इनके मरण-काल की घटना इनके पूर्व जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ी होगी। जो हो इसमें संदेह नहीं कि इनके जन्म-काल वा जन्म-संवत् के निर्णय की चेष्टा संभवतः बहुत पीछे आरंभ हुई और उसके लिए भी प्रायः वैसे ही प्रमाण प्रस्तुत किये जाने लगे। फलतः इनके पूर्व जीवन वा केवल मृत्यु अथवा जन्म-संवत् का पता देनेवाले कम से कम चार मत इस समय प्रधान रूप से दीख पड़ते हैं—

(१) मृत्यु-काल को संवत् १५७५ में ठहरा कर भिन्न-भिन्न जन्म-संवत् देनेवालों का मत

(२) मृत्यु-काल को सं १५ ५ अथवा सं १५ ७ के लगभग मान कर उक्त प्रकार का निर्णय करनेवालों का मत

से आरम होती है। उसके अनतर 'भक्तमाल'-श्रेणी के ग्रथो मे इस वात का उल्लेख निरतर होता चला जाता है तथा इन्हे तको का उत्तराधिकारी वा चेला मानने की वात गुलाम सरवर की 'खजीनतुल असफिया'[1] मे वहुत पीछे दीख पडती है। इसके सिवाय नाभादास (स० १६४२ मे वर्तमान) की 'भक्तमाल'[2] मे हमे सवसे पहलेकवीरसाहव के विशिष्ट व्यक्तित्व तथा इनके मतव्य-विशेप का भी कुछ सकेत मिलने लगता है। अनतदास (स० १६४५ मे वर्तमान) की रचना कवीर-दास की 'परचई'[3] से (यदि उसकी उपलव्व हस्तलिखित प्रति मे कोई प्रक्षिप्त अश न हो तो) इतना और भी पता चलता है कि किसी 'सिकदरस्याह'-द्वारा इनका दमन भी किया गया था। अनतदास ने वहाँ पर यह भी वतलाया है कि कवीर साहव का वालपन धोखे मे ही वीता था। वीस वर्ष की अवस्था मे इन्हे धार्मिक चेतना मिली थी और सौ वर्षो तक भक्ति करके इन्हे मुक्ति उपलव्व हुई थी। आगे आनेवाले 'भक्तमाल'-रचयिताओ मे से वहुतो ने इनके विषय मे अधिकतर ऐसी वातें ही वतलायी हैं। इनसे इनका जीवन रहस्यमय एव चमत्कारपूर्ण घटनाओ का एक सग्रह मात्र वन जाता है। ऐतिहासिक ग्रथो मे से जो अभी तक उपलव्व है, इनका सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख अवुल फज़ल (स० १६५५ मे वर्तमान) की 'आईन-ए-अकवरी'[4] मे मिलता है, जहाँ पर इन्हे 'मुवाहिद' वा अद्वैतवादी कहा गया है। इनकी पुरी तथा रतनपुर (सूवा अवध) मे निर्मित दो मज़ारो की भी चर्चा की गई है। हिन्दुओ तथा मुसलमानो द्वारा इनके शव को जलाने तथा गाडने के पृथक्-पृथक् यत्नो क़ा भी कदाचित् सर्वप्रथम उल्लेख उक्त ग्रथ मे ही मिलता है और वहाँ पर यह भी पता चल जाता है कि इनकी हिंदी-भाषा की रचनाएँ तव तक प्रसिद्ध हो चली थी।

प्रमुख प्रवृत्तियाँ

इस प्रकार विक्रम की सत्रहवी शताव्दी के आगे जहाँ एक ओर भक्त तथा सत लोग कवीर साहब की भक्ति की प्रशसा करते, इन्हे अनुकरणीय मानते तथा इनके

जाको सेवक कवीर धीर अति, सुमति सुरसुरानद। आदि
—डा० राधाकृष्ण सूरदास, पृ० २३ पर उद्धृत।

१ पृ० २५-६, लाहौर सन् १८६८।

२ पृ० ४८५, रूपकलाजी सस्करण, लखनऊ सन् १९२० ई०।

३ डॉ० रामकुमार वर्मा : सत कवीर, पृ० ३०-१ पर उद्धृत।

४ कर्नल एच० एस० जेरे द्वारा अनुवादित, भा० २, कलकत्ता, सन् १८९१ पृ० १२९-१७१।

(२) जन्म-स्थान तथा मृत्यु-स्थान

काशी वा मगहर

परंपरानुसार तो सभी काशी को कबीर साहब के जन्म ग्रहण करने का स्थान स्वीकार करते आये हैं। इसी प्रकार उनके मृत्यु-स्थान के लिए भी मगहर के विषय में जनश्रुति प्रसिद्ध है, किंतु इधर कुछ दिनों से इन दोनों के संबंध में संदेह किया जाने लगा है। कबीरपंथी-साहित्य के अनुसार 'सत्य पुरुष का तेज काशी के लहर तालाब में उतरा'[1] था अथवा उक्त ग्रंथ में 'पुरइन के एक पत्ते पर पौढ़ा हुआ बालक नीरू जुलाहे की स्त्री को काशी-नगर के निकट[2] मिला था' जो आगे चल कर कबीर साहब के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किंतु 'बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर'[3] के अनुसार उनका जन्म बनारस में वा उसके निकट न होकर आजमगढ़ जिले के बेलहरा नामक गाँव में हुआ था। इस बात को 'पक्की खोज' की प्रामाणिकता देते हुए श्री चंद्रबली पांडेय ने बतलाया है कि 'आज भी पटवारी के कागजों में 'बेल्हरा' उर्फ 'बेलहर पोखर' लिखा मिलता है। अपनी निजी धारणा तो यह है कि यदि 'बेलहर पोखर' 'लहर तालाब' की जड़ है 'बेलहर' का 'लहर' एवं 'पोखर' का 'तालाब' कर लेना जनता के बाएँ हाथ का खेल है।'[4] इसके साथ ही वहाँ पर वे जुलाहों की बस्तियों के कुछ अवशेष चिह्न भी पाते हैं। एक दूसरे मत के अनुसार इसी प्रकार मगहर को कबीर साहब का जन्म-स्थान मानना चाहिए। क्योंकि 'आदिग्रंथ' में संगृहीत एक पद के अंतर्गत स्वयं उन्होंने ही कहा है कि 'पहिले दरसनु मगहर पाइओ पुनि कासी बसे आई।'[5] यह मगहर नामक गाँव इस समय बस्ती जिले में है और प्रसिद्ध गोरखपुर नगर से लगभग १५ मील की दूरी पर वर्तमान है। इसी मगहर के लिए उनका मृत्यु-स्थान होना भी कहा जाता है और इस संबंध में अधिक लोग सहमत भी हैं। परन्तु उक्त पांडेय जी की राय में मगहर में अवस्थित कबीर साहब की कब्र वास्तविक कब्र नहीं। वे उनके

---

५ मास और २७ दिनों का माना जाता है (दे० श्री सद्गुरु कबीर चरितम्, श्लोक २ पृ० ५२९ और श्लोक ८१ तथा ८५, पृ० ५११)—लेखक।

१ कबीर-चरित्र-बोध।

२ अनुराग सागर, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग पृ० ८४।

३ बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, इलाहाबाद १९०९।

४ चंद्रबली पांडेय : विचार विमर्श, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं० २००९, पृ० ५।

५ गुरुग्रंथ साहब, राग रामकली पद ३।

(३) मृत्यु-काल को स० १५५२ वा १५५१ मे निश्चित समझ कर अनुमान करनेवालो का मत,

और (४) मृत्यु तथा जन्म अथवा पूरे जीवन-काल को ही भिन्न-भिन्न सवतो वा शताब्दियो के मध्य स्थिर करनेवालो का मत,

इन सबके अतिरिक्त एक अन्य मत उन कबीर-पथियो का भी कहा जा सकता है, जो कबीर साहब को अजर तथा अमर मानते हुए इनका चारो युगो मे किसी न किसी रूप मे वर्तमान होना बतलाया करते हैं।

समीक्षा

कबीर-पथियो के मत का आधार कबीर साहब को अलौकिक पुरुष सिद्ध करने की चेष्टा तथा इनके प्रति उनकी प्रगाढ श्रद्धा मे निहित जान पडता है। इस प्रकार की बातें सर्वसाधारण के लिए युक्तिसगत नही प्रतीत होती। इसी भाँति उस चौथा मत भी वस्तुत अस्पष्ट तथा अनिश्चित समझा जा सकता है। शेष तीन मतो मे से इनके मृत्यु-काल को स० १५७५ मे ठहरानेवालो की सख्या कदाचित् सबसे अधिक होगी। किंतु जिन-जिन बातो को स्वयसिद्ध-सी मान कर वे उनके आधार पर निर्णय देना चाहते है, उनमे से लगभग सभी की ऐतिहासिकता अभी तक सदिग्ध बनी हुई है। इस कारण उनके मत को भी सर्व-मान्य समझ लेना कभी उचित नही कहा जा सकता। इसी प्रकार स० १५५२ वा स० १५५१ को मृत्यु-काल माननेवालो के विषय मे भी हम यही कह सकते है कि वे अपने प्रमाणो को अत्यधिक महत्त्व देते हुए जान पडते है। उनका भी मत उक्त प्रथम मत के ही समान कभी असदिग्ध नही कहला सकता। इसके विपरीत स० १५०५ को इनका मृत्यु-काल माननेवाले कई कारणो से सत्य के कुछ निकट जाते हुए समझ पडते हैं। परन्तु उनके मत को भी हम अतिम निर्णय का पद उस समय तक प्रदान करना नही चाहते जब तक उनके पक्ष का पूर्ण समर्थन पर्याप्त सामग्रियो द्वारा न किया जा सके और उसके कारण उठानेवाले कई प्रश्नो का भली भाँति समाधान भी न हो जाय। फिर भी उपलब्ध सामग्रियो पर विचार करते हुए इस प्रकार का निर्णय करनेवालो की प्रवृत्ति इधर कबीर साहब के जीवन-काल को क्रमश कुछ पहले की ओर ही ले जाने की दीख पडती है। ऐसी दशा मे कभी-कभी अनुमान होने लगता है कि उक्त समय कही स० १४२५ १५०५ के ही लगभग सिद्ध न हो जाय।[1] दे० परिशिष्ट (क)।

---

१ कबीर-पथ के अनुयायियो मे इनका जीवन-काल, ज्येष्ठ पूर्णिमा सोमवार स० १४५६ से लेकर अगहन शुक्ला ११ स० १५७५ तक अर्थात् ११९ वर्ष

करते हैं। इससे पता चलता है कि कम से कम इनके जीवन का अधिकांश भाग काशी में ही अवश्य व्यतीत हुआ होगा। फिर भी केवल इन बातों के ही आधार पर हम इनका काशी में ही उत्पन्न होना भी नहीं ठहरा सकते। क्योंकि उक्त 'पहिले दरसनु मगहर पाइओ पुनि कासी बसे आई' से इस विषय में पर्याप्त संदेह को स्थान मिलने लगता है। अनुमान करना पड़ता है कि इनकी जन्मभूमि कहीं संभवतः अन्यत्र रही होगी। हाँ यदि उक्त 'पुनि' शब्द का अर्थ 'और तब' अथवा 'उसके अनंतर' न लगा कर सीधा 'पुन' या 'पुनर्वार' लगाया जाय तो कह सकते हैं कि पहले काशी में रह कर ये किसी कारण पर्यटन करते हुए मगहर गये होंगे। वहाँ संभवतः अपनी साधना में कुछ सफलता पाने के अनंतर फिर से काशी लौट कर रहने लग गए होंगे। उक्त पूरे पद का मुख्य तात्पर्य भी इनका भगवान् के ऊपर अपना दृढ़ भरोसा तथा तज्जनित बुरे वा भले स्थान-विशेष के प्रति अपनी सम दृष्टि का प्रकट करना जान पड़ता है। काशी अथवा मगहर का उल्लेख यहाँ प्रसंगवश ही हुआ है। अपने इस भाव को इन्होंने कई स्थलों पर अन्यत्र[1] भी व्यक्त किया है और एक पद[2] में तो ये यहाँ तक कह डालते हैं कि स्थान-विशेष के महत्त्व की झूठी धारणा को मैं दूर करके ही छोड़ूँगा।

जन्म-स्थान

केवल 'पहिले दरसनु मगहर पाइओ पुनि कासी बसे आई' के आधार पर इन्हें मगहर में जन्म लेने वाला कहने में फिर एक कठिनाई 'दरसनु पाइओ' के कारण भी पड़ती है। 'दर्शन पाने' का सीधा-सादा अर्थ किसी दूसरे मान्य व्यक्ति वा इष्टदेव आदि के साक्षात् करने का ही हो सकता है जन्म ग्रहण करने का नहीं। यदि प्रसंगवश 'मगहर का दर्शन' अर्थ लगाया जाय तो भी कुछ खींचातानी ही जान पड़ेगी। अतएव केवल इतने ही संकेत के आधार पर इनकी जन्म भूमि का मगहर में निश्चित कर देना उचित नहीं। इसी प्रकार 'बनारस गजेटियर' में उल्लिखित उक्त बेलहरा गाँव को भी केवल शब्द-साम्य के आधार पर इनकी जन्मभूमि ठहराने में हम असमर्थ हैं। 'बनारस गजेटियर' के रचयिता ने अपने उक्त उल्लेख का कोई विशेष कारण नहीं बतलाया है। कबीर-पंथ के

---

१ 'किआ कासी किआ मगहरु ऊखरु रामु रिदै जउ होई।'

—गुरुग्रंथ साहब राग धनासरी ३।

'जैसा मगहरु तैसी कासी हम एकै करि जानी।' वही राग रामकली ३।

२ 'चरन बिरद कासी को न देहूँ कहै कबीर भल नरकहिं जैहूँ।'

—कबीर-ग्रंथावली ना० सं० पद २९ पृ० १८७।

अनुसार सूबा अवध के रतनपुर गाँव मे दफनाये गए थे और मगहर मे इनकी कब्र को बिजली खाँ ने वीरसिंह वघेल को धोखा देने के लिए झूठमूठ बनवा दिया था। इसलिए मगहर मे मर कर इनका वही दफनाया भी जाना ठीक नही कहा जा सकता और इसके लिए वे धर्मदास की बानियो से कुछ पक्तियाँ भी उद्धृत करते हैं।[1] इसी प्रकार अभी कुछ दिन हुए डॉ० सुभद्र झा ने अनुमान किया है कि कवीर का जन्म वस्तुत बिहार प्रात के मिथिला प्रदेश मे कही पर हुआ होगा, क्योकि उन्होने शाक्तो की निंदा की है। उन्हे वहाँ मत्स्यभोजी कहा जाता है और वैष्णव के प्रति श्रद्धा प्रकट की है जो मासादि का सेवन नही करते तथा उन्होने विदेह जैसे एकाध शव्दो के तदनुकूल प्रयोग भी किये हैं।[2]

काशी

कबीर साहब ने स्वय अपनी जन्म-भूमि का कही परिचय नही दिया है। ये केवल अपने निवास-स्थान की ओर ही कही-कही सकेत करते हैं। फिर भी इनकी रचनाओ मे आये हुए कतिपय प्रसगो से इस विषय मे कुछ सहायता ली जा सकती है। कबीर साहब स्पष्ट शव्दो मे अपने को काशी का जुलाहा कहते हैं[3] और जिस प्रकार इन्होने काशी मे रहनेवाले जोगी, जती, तपी, सन्यासी अथवा भक्त-रूपधारी 'बनारसी ठगो' का सजीव चित्र खीचा है[4], उससे भी स्पष्ट है कि वहाँ पर ये बहुत समय तक रहे होगे और इन्होने वहाँ का व्यक्तिगत अनुभव भी प्राप्त किया होगा। इसके सिवाय इनके एक पद[5] से यह भी सूचित होता है कि इन्होने काशी मे बहुत दिनो तक रह कर तप वा साधना भी की थी। अत मे उसे छोडते समय इन्हे जाल से बाहर कर दी गई मछली की भाँति अपनी दुर्गति का अनुभव हुआ था। अपने काशी-वास की अवधि को ये "सगल जनमु सिवपुरी गँवाइया" कह कर भी निर्दिष्ट

---

१ चद्रबली पाडेय विचार विमर्श, हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग, स० २००२ पृ० १३-१५।

२ Jou Rnal of the University of Bihar Vol II Nov, 1956 pp 1-6

३ गुरुग्रथ साहव, राग आसा, पद २६ तथा राग रामकली, पद ५।

४ कबीर-ग्रथावली, काशी-सस्करण, पद २९०, पृ० १८६-७ तथा पद ६० पृ० २८२।

५ 'बहुतु वरस तपु किआ कासी। मरनु भइआ मगहर को वासी॥'
तथा, 'जिउ जल छोडि बाहरि भइओ मीना। पूरव जनम हउ तप का हीना॥
अव कहु राम कवन गति मोरी। तजीले वनारस मति भई थोरी॥'
—गुरुग्रथ साहव, राग गउडी १५।

इस धारणा का कारण कबीर साहब की दो समाधियों का पुरी (जगन्नाथ) तथा रतनपुर (अवध) में वर्तमान होना भी कहा जा सकता है। इन दोनों समाधियों का उल्लेख अबुल फजल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आईन-ए-अकबरी'[1] में किया है और विशेषकर रतनपुरवाली समाधि की चर्चा 'खुलासातुत्तवारीख'[2] तथा शेर अली 'अफसोस' की पुस्तक 'आराइशे मोहफिल'[3] में भी पायी जाती है। इन्हीं बातों के आधार पर कहा जाता है कि 'कबीर मुसलमानी ढंग पर दफनाये अवश्य गये। परन्तु मगहर में नहीं (उनका) शव रतनपुर में दफनाया गया'[4]। मगहर की कब्र को सच्ची कब्र न मानने का कारण एक यह भी बतलाया जाता है कि 'धनी धरमदासजी की शब्दावली'[5] में संगृहीत एक पद की पंक्ति 'सोधि के दसी क्बुर, गुर देह न पाइया। पान फूल लै हाथ से न फिरि आइया' के अनुसार बीरसिंह बघेल को उक्त समाधि में कबीर साहब का शव उपलब्ध नहीं हुआ था जान पड़ता है कि उनके मुसलमान शिष्यों ने उसे पहले से ही हटा कर अन्यत्र गाड़ दिया था। परन्तु इसी 'शब्दावली' में आये हुए एक दूसरे पद की पंक्ति 'मग-हर में एक लीला कीन्हीं हिन्दू तुरक व्रतधारी। कबर खोदाइ के परचा दीन्हौं मिटि गयो झगरा भारी'[6] से यह भी सूचित होता है कि उक्त कब्र के भीतर शव का न पाया जाना कबीर साहब की लीला का परिणाम था। इसी कारण उसमें शव की जगह केवल पान-फूल पाये गए थे। परंपरा के अनुसार उक्त कब्र के स्थान पर कबीर साहब द्वारा मरने के पहले ओढ़ ली गई चादर की चर्चा की जाती है। उसके उठाये जाने के समय उनके हिन्दू तथा मुसलमान दोनों प्रकार के शिष्यों का उपस्थित रहना भी कहा जाता है। अतएव गुरु-देह के उक्त रूप में लुप्त हो जाने की बात को श्रद्धालु भक्तों द्वारा की कई गिरी कल्पना न समझ उसे ऐतिहासिक घटना-सा महत्त्व देना तथा केवल इसी एक प्रसंग के आधार पर कबीर साहब के शव को मगहर से हटा कर उसके लिए वहाँ 'नकली कब्र' बना देने तथा शव के वास्तव में रतनपुर में ही मुसलमानों द्वारा दफनाये जाने का अनुमान

---

१ आईन-ए-अकबरी कर्नल एच० एस जैरेट का अनुवाद भाग २, कलकत्ता १८९१ पृ १२९ १७१।
२ खुलासातुत्तवारीख दिल्ली पृ ४१।
३ विचार विमर्श पृ ९१ में उद्धृत।
४ चंद्रबली पांडेय : विचार विमर्श हि सा सम्मेलन प्रयाग पृ० १५
५ धनी धरमदासजी की शब्दावली बेल्वेडियर प्रेस प्रयाग शब्द ९, पृ ४।
६ वही शब्द १ पृ ४।

अनुयायियो मे से भी किसी को आज तक उक्त गाँव के विषय में ऐसा अनुमान करते अथवा उसे कबीर साहब का जन्म-स्थान होने के कारण पवित्र स्थल मानते हुए नही सुना गया है। कबीर-पथियो की ओर से आज तक उसकी उपेक्षा इस विषय में विशेष-रूप से सदेह प्रकट करती है । केवल शब्द-साम्य के कारण उनका भ्रम में पड कर बेलहरा के स्थान पर लहरतारा को ही स्वीकार कर लेना तथा लगभग ५०० वर्षों तक 'सत्य' का पता न पाना असभव-सा जँचता है। इसके विपरीत काशी के साथ कबीर साहब के सबध का पता हमें बहुत पहले से ही मिलता आ रहा है। इनके विषय में चर्चा करनेवाले अनतदास[१] से लेकर धर्मदास[२] आदि प्राय सभी पुराने लेखको ने इन्हे इस प्रकार काशी-निवासी के रूप में चित्रित किया है कि इसके विरुद्ध प्रचुर परिमाण मे सामग्री प्राप्त किये विना इन्हें अन्यत्र का रहनेवाला वा जन्म-ग्रहण करनेवाला सहसा स्वीकार कर लेना समीचीन नही जान पडता। इसके सिवाय जहाँ तक कबीर साहब के जन्म-स्थान के कही मिथिला में निर्धारित करने का प्रश्न है ऐसा मत प्रकट करने वाले ने अधिकतर खीचातानी से काम लिया है और जिन पक्तियो को उस लेखक ने प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है उनमे से कई एक सदिग्ध भी ठहरायी जा सकती हैं[३]।

मगहर मृत्यु-स्थान

मगहर को इनका मृत्यु-स्थान मानने के विषय में भी इनकी कुछ रचनाओ से सकेत मिलता है। इन्होने स्वय कहा है कि सारा जीवन काशी में व्यतीत करके भी "मरती बार मगहर उठि आइआ" तथा "मरनु भइआ मगहर को वासी[४]"। एक अन्य स्थल पर भी "जउ तनु कासी तजहि कबीरा, रमइअै कहा निहोरा" कह कर "किआ कासी, किआ मगहर ऊखरु रामु रिदै जउ होई"[५] बतलाया गया है। फिर भी कबीर साहब के उक्त कथन को कुछ लोग एक साधारण उद्गार-सा समझ कर इनके मगहर में ही मरने के विषय में सदेह प्रकट करते हैं ।[६] उनकी

---

१ 'कासी बसै जुलाहा एक। हरि भगतिन की पकरी टेक ॥'
—कबीर साहब की परचई ।

२ 'प्रगट भये कासी मे दास कहाइया ।'—धनी धरादास की शब्दावली, वे प्रे०, पृ० ३ ।

३ दे० सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग भाग ४३, अक ४, पृ० ७१-८५ ।

४ गुरुग्रथ साहब, राग गउडी, पद १५ ।

५ गुरुग्रथ साहब, राग धनासरी, पद ३ ।

६ डॉ० मोहन सिंह कबीर हिज बायोग्राफी, पृ० ४१-२ ।

(१) जाति जुलाहा

कबीर साहब की रचनाओं से स्पष्ट जान पड़ता है कि ये जाति के जुलाहे थे। ये अपने को "जाति जुलाहा नाम कबीरा"[1] तथा "कबीर जुलाहा"[2] बतलाते हैं। कभी-कभी[3] "कासी का जुलहा" द्वारा अपने निवास-स्थान के साथ-साथ भी ये यही परिचय देते हैं। इनका "हम घरि सूतु तनहि नित ताना"[4] तथा "बुनि बुनि आप आपु पहिरावउ"[5] भी सूचित करता है कि केवल जाति से ही ये जुलाहे न थे अपितु इनके घर उक्त जाति का व्यवसाय भी हुआ करता था। इन्होंने 'तनना बुनना'[6] त्याग कर भक्ति-निरत हो अपने "सभु कमु भानि तनाइओ ताना"[7] विशिष्ट 'कोरी' 'राम' को अंत में पहचान लेने का वर्णन भी 'जोलाहे घर अपना चीन्हा' कह कर ही किया है। इनकी इस आध्यात्मिक सफलता की ओर संकेत करते हुए इनके समकालीन समझे जानेवाले संत रैदास[8] तथा धन्ना[9] ने भी इन्हें 'जुलाहा' ही माना है। इसके सिवाय कबीर साहब के जाति के अनुसार जुलाहा होने की पुष्टि गुरु अमरदास[10] अनंतदास[11] रज्जबजी[12] तुकाराम[13]

---

१ कबीर-ग्रंथावली का सं पद २० पृ १८१।
२ वही पद ११४ पृ १११।
३ गुरुग्रंथ साहब राग आ २६ तथा ग ५।
४ वही राग आ २६। ५ वही, राग भैरउ ७।
६ वही राग गूजरी २।
७ गुरुग्रंथ साहब राग आ ३६।
८ 'जाके ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि मानीअहि सेख सहीद पीरा।
जाके बाप वैसी करी पूत ऐसी सरी तिहू रे लोक परसिध कबीरा।
—वही राग मलार २।
९ 'बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा
नीच कुला जोलाहरा भइओ गुनीय गहीरा।
—वही राग आसा २।
१० 'नामा छीपा कबीर जोलाहा पूरे गुर ते गति पाई'।
—वही सिरी राग महला ३ पद ९२।
११ 'कासी बसे जुलाहा एक हरि भगतनि की पकरी टेक'।
—कबीर साहब की परचई।
१२ जुलाहा घर उत्पन्यो साध कबीर महामुनि। सर्वंगी साध महिमा ११।
१३ सिलेक्शन्स फ्राम महाराष्ट्र पृ २१५६।

करना ठीक नही जान पडता। यहाँ पर इस सबध में यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि जिस प्रकार रतनपुर की समाधि के भीतर कबीर साहब के शव का गाडा जाना सभव समझा जाता है, उसी प्रकार हम चाहें तो पुरी (जगन्नाथ) वाली समाधि के लिए भी अनुमान कर सकते है। क्योकि इस समाधि के प्रसग मे भी 'आईन-ए-अकबरी[१]' में कबीर "मुवहिद आजा आसूद" कह कर उनके वहाँ दफनाये जाने की पुष्टि की गई है और टैवर्नियर[२] ने भी उसकी चर्चा की है। परन्तु यह बात सच्ची नही जान पडती, न आज तक इसे किसी प्रकार प्रमाणित किया जा सका है। अतएव अधिक सभव है कि कबीर साहब मगहर में मर कर वही मुसलमानी प्रथानुसार दफनाये भी गये हो और उसी का चिह्न हमे वहाँ आज भी उपलब्ध है। कोरी कल्पना के आधार पर रतनपुर वा पुरी की स्मारक समाधियो में उनका पता लगाना व्यर्थ है।

साराश

आज तक की उपलब्ध सामग्रियो के आधार पर हमें इससे अधिक अनुमान करने का कोई अधिकार नही जान पडता कि कबीर साहब का जन्म सभवत काशी में अथवा उसके आस-पास ही हुआ था और इन्होने अपने जीवन का अधिकाश वही पर व्यतीत किया था। उसके अतिम दिनो में काशी छोड कर ये मगहर चले गए थे जहाँ ये समाधिस्थ भी किये गए थे। मगहर की जगह 'मगह' शब्द का आरोप कर कुछ लोगो ने कबीर साहब के मगध में मरने की भी कल्पना[३] की है। इसके द्वारा इनसे "मगहर मरै सो गदहा होय"[४] वाली प्रसिद्धि को असत्य ठहराने की बात भी सोची है। कहते हैं कि दक्ष प्रजापति के याग मे सती के दग्ध होने पर भगवान् शकर ने ऐसा शाप दिया था कि जो मगह मे मरेगा वह गदहा होगा।[५] किंतु कबीर साहब की रचनाओ में 'मगहर' शब्द ही स्पष्ट दीख पडता है और उस स्थल को इन्होने केवल 'ऊखरु' वा ऊसर कहा है। इसके सिवाय जैसा इसके पूर्व कहा जा चुका है मगहर नाम का गाँव बस्ती जिले मे आज भी वर्तमान है जहाँ पर इनकी समाधि बहुत काल से बनी हुई है। किंतु मगध में इसका कोई चिह्न उपलब्ध नही।

---

१ आईन-ए-अकबरी, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८६९, पृ० ८२।

२ टैवर्नियर, ट्रैवल्स, भा० २, पृ० २२९।

३ शिवव्रतलाल . भक्तमाल, पृ० २३२-३।

४ कबीर-बीजक, शब्द १०३।

५ श्री सद्गुरु कबीर चरितम्, श्लोक ७, पृ० ५९४।

ने इनका शिष्यत्व स्वीकार कर अपनी जाति से बहिष्कृत होने पर अपनी कन्या के विवाह के संबंध में इनसे सम्मति माँगी थी तब इन्होंने परामर्श दिया था कि 'योग तुम माई करी आपु में सगाई'[1] जिससे सिद्ध है कि इनकी विचार-धारा पर भी मुसलमानी संस्कृति की छाप बिलकुल स्पष्ट थी।

हिन्दू

परन्तु कबीर साहब हिन्दुओं के उच्चतम आध्यात्मिक विचारों के भी प्रबल समर्थक थे। इन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में उक्त सिद्धांतों द्वारा प्रभावित बातें भी की हैं। इस कारण उक्त प्रमाणों के होते हुए भी कतिपय विद्वानों ने इनके मूलतः इस्लाम-धर्मी होने में संदेह किया है। प्रसिद्ध विद्वान् विल्सन का अनुमान है कि हिन्दू भावनाओं को स्पष्ट रूप में अपनानेवाले कबीर साहब का जाति तथा धर्म से पहले भी मुसलमान होना यदि असंभव नहीं तो विचार-विरुद्ध अवश्य है।[2] वे यहाँ तक मानने के लिए तैयार हैं कि इनका नाम 'कबीर' भी काल्पनिक ही रहा होगा। इस बात को अनेक कबीर-पंथियों ने भी ठीक माना है और कबीर साहब की उत्पत्ति किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से बतला कर कबीर शब्द की व्युत्पत्ति भी 'करबीर' से कर डाली है। कहा जाता है कि जन्म-धारण करने के पश्चात् नवजात शिशु एक मुस्लिम-दंपति को संयोगवश मिल गया था। उन्होंने उसे अपनी संतति के रूप में पाला-पोसा था। वास्तव में हिन्दू संस्कृति के वातावरण में पले हुए उक्त कबीर-पंथियों को कबीर साहब के कुल तथा मूल धर्म का मुसलमानी होना असह्य-सा प्रतीत हुआ है। उन्होंने अपनी धारणा की पुष्टि में बहुत-सी कथाओं की भी कल्पना कर डाली है। इस प्रकार की कुछ कथाएँ इनका गर्भ से जन्म न लेकर 'केवल प्रकट होना' सिद्ध करती हैं।[3] फिर भी कबीर साहब के कुल का हिन्दू होना किसी भी पुराने भक्त की रचनाओं अथवा ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर प्रमाणित नहीं होता। भक्तों की प्रशंसा में सदा चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन करनेवाले 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादासजी तथा राघो-दासजी भी इस संबंध में मौन ही दीख पड़ते हैं।

कोरी या जोगी

कबीर साहब की रचनाओं के अंतर्गत किंचित इस्लामी तथा हिन्दू

लखनऊ सं १९८१ पृ ४८६।

१ वही पृ ५४४।

२ रै वेस्टकाट : कबीर ऐंड दि कबीर-पंथ कानपुर सन् १९ ७ पृ २९।

३ कबीर चरितबोध बोधसागर, बंबई सं १९६१ पृ ६।

आदि की रचनाओ तथा खजीनतुल असफिया,[1] दबिस्ताने मजाहिब,[2] अनुराग सागर,[3] कबीर-कसौटी[4] तथा डॉ० भाडारकर,[5] रे० वेस्टकाट[6] आदि के मतो से भी भली भाँति हो जाती है। फिर भी इस विचार से कि केवल जाति से जुलाहा होते हुए भी किसी का धर्म से मुसलमान होना भी अनिवार्य नही और विशेषकर कबीर साहब के सबध में एक जुलाहे दपति के पोष्यपुत्र होने की जन-श्रुति भी बहुत दिनो से प्रसिद्ध है। कुछ लोगो ने अनेक प्रमाणो के आधार पर इनके माता-पिता को भी इस्लाम-धर्म का अनुयायी ठहराने का यत्न किया है। इस विषय में रैदास की पक्तियो से यह विदित होता है कि कबीर साहब के कुल मे ईद तथा बकरीद के त्योहार मनाये जाते थे और शेख, शहीद तथा पीरो का मान था। वहाँ गो-वध भी हुआ करता था और यही बात प्राय अक्षरश सत पीपाजी की एक रचना[7] से भी प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त रज्जबजी की पक्तियो से सिद्ध है कि इनकी उत्पत्ति जुलाहिन के गर्भ से ही हुई थी और इस बात का समर्थन 'कबीर-कसौटी' से भी स्पष्ट शब्दो में किया जा सकता है। कबीर साहब की रचनाओ में यत्र-तत्र पये जानेवाले मुसलमानी सस्कारो द्वारा प्रभावित मुर्दों के दफनाने, अल्लाह द्वारा एक ही नूर पैदा किये जाने, "खाक एक सूरति बहुतेरी" बतलाने, "करम करीमा लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाई" आदि कहने से भी यही परिणाम निकलता है। जान पडता है कि ऐसी बातें इनके उद्गारो के साथ-साथ स्वभावत प्रकट हो जाया करती थी।

इतना ही नही, इनके विषय मे लिखते समय 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादासजी ने बतलाया है कि जब इनके लिए आकाशवाणी हुई कि तुम स्वामी रामानद का शिष्य बन जाओ, तब इन्होने "देखे नही मुख मेरो मानिके मलेछ मोको"[8] कहा था। इसी प्रकार जब तत्त्वा, जीवा नामक दो दक्षिणी पडितो

---

१ कबीर ऐंड दि कबीर-पथ, पृ० २५-६।

२ 'कबीर जुलाहानजाद कि अजमोवहिदान मशहूर हिन्द अस्त', पृ० २००।

३. 'जुलहा की तब अवधि सिरानी। मथुरा देह धरी तिन आनी। बे० प्रे०, ८४।

४ 'माय तुरकनी बाप जोलाहा, बेटा भक्त भये'। पृ० १३।

५ वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृ० ९७।

६ कबीर ऐंड दि कबीर-पथ, पृ० ३५।

७ जाकै ईदि बकरीदि नित गऊ रे। बध करैं मानियैं सेष सहीद पीरा।
बाप बैसी करी पूत ऐसी धरी। नाव नवखड परसिध कबीरा॥
—सर्वंगी, भजन प्रताप, पद २२।

८. श्री रूपकला : भक्तमाल, भक्तिसुधा स्वाद तिलक सहित,

ये जातियाँ हिन्दू-समाज में स्वभावतः उच्च श्रेणी की नहीं गिनी जाती थीं अपितु नीच वा अस्पृश्य तक समझी जाती थीं और इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।[1] इस प्रकार द्विवेदीजी के अनुसार कबीर साहब का कुल कोरी से जुलाहा बन कर जुगी लोगों द्वारा प्रभावित नहीं था अपितु सीधे जुगिया का ही इस्लामी रूप था।

सारांश

उक्त दोनों मतों के स्थापित करनेवालों का मुख्य उद्देश्य कबीर साहब की रचना में पाये जानेवाले कतिपय परस्पर-विरोधी हिन्दू तथा मुसलमानी संस्कारों में सामंजस्य का कोई कारण ढूँढ निकालना ही जान पड़ता है। परन्तु कबीर साहब के वास्तविक कुल की खोज कर उसकी वंशानुगतिक परंपरा के संबंध में ऐतिहासिक तथ्य की जाँच करने का काम केवल इन्हीं के द्वारा सिद्ध होता हुआ नहीं दीखता। यह संभव है और अधिक संभव है कि जुगी कहलानेवाली जाति पहले नाथ-मत की अनुयायिनी रही होगी। ऐसी अनेक जातियों ने किसी न किसी कारण मुसलमानी प्रभाव में आकर कहीं-कहीं सामूहिक रूप में धर्मांतर ग्रहण किया होगा। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि काशी तथा मगहर के साथ विशेष संबंध रखनेवाले कबीर साहब का कुल यदि क्रमशः सारनाथ और कुशीनगर जैसे बौद्ध तीर्थों के आसपास निवास करनेवाले बौद्धों वा उनके द्वारा प्रभावित हिन्दुओं में से ही किसी का मुसलमानी रूप रहा हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। संभव है कि उसके सूत कातने तथा बुनने की जीविका भी पूर्व समय से वैसे ही चली आ रही हो और उसका नाम भी इसी कारण कोरी अथवा किसी अन्य ऐसी वयनजीवी जाति का ही रहा हो। फिर भी जब तक हमें कबीर साहब के माता-पिता इनके पालन-पोषण करनेवाले अथवा इनके पूर्व-पुरुषों का वास्तविक पता ज्ञात नहीं हो जाता न उनकी पूरी जाँच हो जाती तब तक इन्हें उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर हम केवल जुलाहा और संभवतः इस्लामी धर्म के अनुयायी जुलाहे कुल का ही बालक मान सकते हैं।

वही

इस विषय में यहाँ पर एक और बात भी विचारणीय है। कबीर साहब के जैसे हिन्दू, मुस्लिम वा बौद्ध धर्मों के अनुकूल विचारों का एक ही व्यक्ति द्वारा अपनाया जाना केवल कुल-क्रम के प्रभाव से ही संभव नहीं कहा जा सकता। भिन्न भिन्न संस्कारों तथा सिद्धांतों की अभिव्यक्ति उस शिक्षा वा परिस्थिति

---

१ कबीर पृ० १४।

विचारो की प्रचुरता को साथ ही साथ पाकर कुछ विद्वानो ने यह भी अनुमान किया है कि इनका मूल कुल पहले वास्तव में हिन्दू ही रहा होगा। मुसलमानी आक्रमण के प्रभाव में आकर पीछे से उसने धर्मांतर ग्रहण कर लिया होगा। कबीर साहब के दो पदो[1] में क्रमश आये हुए "कहै कबीरा कोरी" तथा "सूनै सूत मिलाये कोरी" को देखकर डॉ० बर्थ्वाल ने कल्पना की है कि "कोरी ही मुसलमान धर्म मे दीक्षित हो जाने पर जुलाहे हो गए" तथा "उक्त कोरियो को जुलाहा हुए अभी इतने अधिक दिन नही हुए थे कि 'कोरी' कहलाना वे अपना निरादर समझें"। इसके सिवाय कबीर साहब द्वारा योगसाधना-सबधी अनेक प्रसगो के उल्लेख किये जाने के कारण वे अत में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "मेरी समझ से कबीर भी किसी प्राचीन तथा कोरी, किंतु तत्कालीन जुलाहा कुल के थे जो मुसलमान होने के पहले जोगियो का अनुयायी था"।[2] ये योगी वा जुगी कहलानेवाले लोग असम, बगाल, बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश मे पाये जाते हैं। इनके विषय में खोज करनेवाले विद्वानो का अनुमान है कि ये पहले वास्तव में नाथ-पथी थे, जो मूलत बौद्ध धर्म के अनुयायी होने के कारण ब्राह्मणो की प्रतिष्ठा के विरोधी थे, वर्णभेद मे विश्वास नही रखते थे, अपना निजी व्यवसाय, विशेषकर कातने तथा बुनने का किया करते थे। उनके यहाँ मरने के उपरात शव का सस्कार जलाने तथा गाडने, दोनो प्रकार से हुआ करता था। डॉ० बर्थ्वाल की कल्पना का आधार, इसी कारण कबीर साहब द्वारा अपने लिए किया गया 'कोरी' शब्द का उक्त प्रयोग तथा इन 'जुगी' जातिवाले लोगो के विचारो का उनके साथ साम्य ही प्रतीत होता है। कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण अथवा सामाजिक कारण उक्त सम्मिश्रण के सबध में वे नही देते। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर साहब की जाति के विषय में इन्ही बातो पर विचार करते हुए कुछ अधिक विस्तार से लिखा है। अत में वे इस प्रकार का अनुमान करते हैं कि "कबीर दास जिस जुलाहा वश में पालित हुए थे, वह उस वयनजीवी नाथ-मतावलबी गृहस्थ-योगियो की जाति का मुसलमानी रूप था जो सचमुच ही 'ना हिन्दू ना मुसलमान' थी"[3]। "कबीर दास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले से योगी-जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी"।

---

१ कबीर-ग्रथावली, का० स०, पद ३४६ पृ० २०५ तथा पद ४९ पृ० २७९।

२ डॉ० पी० द० बर्थ्वाल योगप्रवाह, काशी विद्यापीठ, स० २००३, पृ० १२६

३ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर, हिंदी ग्रथ रत्नाकर कार्यालय, बबई सन् १९४२ ई०, पृ० ९।

कबीर साहब के माता पिता के संबंध में कभी-कभी कुछ कल्पना करते हुए दीख पड़ते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि कबीर साहब की माता वास्तव में एक विधवा ब्राह्मणी थी जो संभवतः अपने पिता के साथ स्वामी रामानंद के दर्शनों के लिए गयी थी। उसके प्रणाम करने पर उक्त स्वामीजी ने उसे 'पुत्रवती भव' कह कर आशीर्वाद दे दिया था और उसी के परिणाम स्वरूप कबीर साहब का उसके गर्भ से जन्म हुआ था। महाराज रघुराज सिंह का अनुमान[1] है कि उक्त विधवा ब्राह्मणी स्वामी रामानंदजी की सेवा में ही रहा करती थी और किसी दिन उनकी ध्यानस्थ दशा में उसे धोखे से उक्त आशीर्वाद दे देने के कारण गर्भ रह गया था। युवती विधवा ने उनसे वैसे वचन सुन कर उनके अभीप्सित पर कुछ विरोध सूचक शब्द भी कहे थे किंतु स्वामीजी ने उसे यह कह कर आश्वासित कर दिया था कि तुम्हारा पुत्र हरि-अनुरागी होगा। उसकी उत्पत्ति तुम्हारे गर्भ से होने के कारण तुम्हें कोई कलंक भी नहीं लगेगा। फिर भी पुत्रोत्पत्ति के समय में आकाश में नगाड़े का शब्द होते रहने पर भी उसके हृदय में अत्यंत क्षोभ हुआ। उस बालक को लेकर उसे वह कहीं दूर फेंक आई, जहाँ से जाती हुई एक जुलाहिन ने उसे अनाथ समझ अपने यहाँ उसका लालन-पालन किया। इसी कथा को एक अन्य रूप में इस प्रकार भी कहा गया है कि उक्त विधवा युवती वास्तव में स्वामीजी की फुलवारी में फूल चुनने गई थी वहाँ पर उसकी गोदी में भरे हुए फूलों को देख कर स्वामीजी के पूछने पर उसने कह दिया था कि 'पेट है फूल नहीं'। स्वामीजी ने इसी कारण 'तथास्तु' मात्र कह दिया था और उस युवती के इस प्रकार गर्भिणी हो जाने पर अंत में कबीर साहब का जन्म हुआ था।[2]

आलोचना

परन्तु कबीर साहब की रचनाओं अथवा इनके समसामयिक वा कुछ दिनों पीछे आनेवाले अन्य संतों के ग्रंथों से भी उक्त कथा की कोई पुष्टि नहीं होती न किसी प्राचीन इतिहासकार ने ही इस ओर कोई संकेत किया है। जान पड़ता है कि अंध-विश्वासी भक्तों ने मानवीय रजोवीर्य द्वारा कबीर साहब के आविर्भाव को उनका महत्त्व कम करनेवाला समझ कर अपनी-अपनी कल्पनाओं के अनुसार उक्त प्रकार की कथाएँ गढ़ ली हैं जिन पर विश्वास कर लेना ऐतिहा-

---

१ महाराज रघुराज सिंह : भक्तमाला रामरसिकावली, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० २२५ में उद्धृत।

२ डॉ० पी० द० बड़थ्वाल : योगप्रवाह, काशी विद्यापीठ [बनारस सं० २ ३] पृ० १७।

विशेष पर ही निर्भर है जो किसी बालक के ऊपर आगे चल कर प्रभाव डाला करती है। कबीर साहब के पीछे इस्लाम धर्मानुयायी कुलों में ही कुछ ऐसे प्रसिद्ध पुरुषों का भी जन्म हुआ जिनकी रचनाओं को पढ़ कर हमें उनके मुसलमान होने मे पूर्ण सदेह हो सकता है। अब्दुल रहीम खानखाना 'रहीम' के मूलत शुद्ध पठान कुल का होना इतिहास द्वारा प्रमाणित है। भक्त 'रसखान' के लिए प्रसिद्ध ही है कि उन्होंने अपने दिल्ली के 'बादशा वंश' की 'ठसक' का क्षण में ही त्याग कर केवल 'प्रेमदेव' की 'छवि' देखते ही अपना जीवन परिवर्तित कर दिया था। इसी प्रकार खुरासान के निवासी शाह जलालुद्दीन 'वसाली' ने भी केवल रामकथा को श्रवण कर ही भगवद्भक्ति स्वीकार कर ली थी। इनके पूर्व-पुरुषों के पहले हिन्दू वा भक्त रहने पर कभी विचार तक भी नही किया जाता। कबीर साहब के आदर्शों पर निष्ठा रखनेवाले दादूदयाल, रज्जबजी, दरिया-साहेब (मारवाडी), यारी साहब जैसे और भी अनेक सत हुए हैं जो निश्चित रूप से मुसलमान कुलों में ही उत्पन्न हुए थे। किंतु उनके भी पूर्व-पुरुषों का मूलत हिन्दू वा अन्य धर्म का होना अभी तक सिद्ध नही है। अतएव कबीर साहब की रचनाओं में पाये जानेवाले भिन्न-भिन्न मतों तथा सस्कारों का सामजस्य इनके केवल किसी धर्मांतरित कुल मात्र के ही सहारे न करके इनकी परिस्थिति, पर्यटन, सत्सग, प्रतिभा अथवा अन्य ऐसे कारणों के बल पर भी किया जा सकता है और ऐसा करना ही यहाँ पर अधिक न्याय-सगत जान पडता है। प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव मे उक्त प्रकार के केवल धर्मांतरण की कल्पना उतनी महत्त्व पूर्ण नही हो सकती।

(४) माता-पिता

माता

कबीर साहब के माता-पिता के सबध में श्रद्धालु कबीर-पथी प्राय कुछ भी कहना नही चाहते। उनका दृढ विश्वास है कि ये नित्य, अमर तथा अजर हैं। ये सदा सत्य-लोक में निवास करते हैं और आवश्यकता पडने पर प्रत्येक युग मे अवतार धारण करते हैं। तदनुसार कलियुग में भी ये कबीर के नाम से काशी के निकट लहरतारा तालाब में एक अलौकिक ज्योति के रूप में अवतीर्ण हुए थे। ये किसी के औरस पुत्र नही थे, अपितु उक्त तेज ही बालक रूप मे पहले-पहल नीरू तथा नीमा नामी जुलाहे-दपति को मिला था। इन्होंने उसे अपने घर लाकर पुत्रवत् पालन-पोषण किया और उनके घर अपने बचपन से ही रहते आने के कारण वे एक जुलाहा शरीरधारी कहला कर प्रसिद्ध हो गए। परन्तु यह धारणा केवल कबीर-पथियों के समाज तक ही सीमित है और उनमें से भी बहुत-से लोग

अपनी कल्पना के अनुसार उक्त कहानी निर्मित की है। एक कबीर-पंथी लेखक ने तो कबीर साहब के पोषक पिता और माता का क्रमशः गौरी शंकर तथा सरस्वती होना बतलाया है। उनकी जाति का ब्राह्मण होना कहा है। उसके अनुसार उन्हें यवनों ने बलपूर्वक मुसलमान बना दिया था तथा उनके नाम क्रमशः नीरू तथा नीमा रख दिये थे।[1]

मुस्लिम माता

कबीर साहब की रचनाओं में कुछ इस प्रकार के उल्लेख पाये जाते हैं जिनमें इनका अपनी माता के विषय में अपना उद्गार प्रकट करना लक्षित होता है। एक पद[2] की पंक्तियों द्वारा सूचित होता है कि कबीर साहब की अपनी जीविका के प्रति उदासीनता देख कर इनकी माता भविष्य की चिंता में भीतर ही भीतर रोया करती है। उसे आश्वासन देते हुए ये कहते हैं कि सबके पालन-पोषण करनेवाले भगवान् हैं। इसी प्रकार एक दूसरे पद[3] में ये कुछ संन्यासियों के सम्बन्ध में अपनी माता से निंदा के शब्द कहते हुए से समझ पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त एक तीसरे पद[4] की कुछ पंक्तियों से जान पड़ता है कि इनकी माता न केवल इनके जीविका के प्रति उदासीन हो जाने के कारण दुखी है अपितु एक हरि-भक्त की भाँति अपने घर को लीप-पोत कर स्वच्छ तथा पवित्र करते रहने और सदा हरि भक्ति में ही इनके निमग्न रहने की भी शिकायत करती है। इनके रामनाम लेने को वह अपने कुल-धर्म के विपरीत बतलाती हुई उसके कारण अपने परिवार के सुख से वंचित हो जाने की भी चर्चा करती है तथा इन्हें भला-बुरा

---

१ 'सद्गुरु श्री कबीर चरितम्' श्लोक १२ पृ० ६७।

२ 'मुसि मुसि रोवै कबीर की माई। ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई ॥
तनना बुनना तजु तजिओ कबीर। हरि का नामु लिख लिओ सरीर ॥

कहत कबीर सुनहु मेरी माई। हमरा इनका दाता एक रघुराई ॥
—गुरुग्रंथ साहब राग गूजरी २।

३ 'कहत कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुंडीअन मेरी जाति गवाई' ॥
—गुरुग्रंथ साहब राग आसा ११।

४ 'नित उठि कोरी गागरि आनै लीपत जीउ गइओ।
ताना बाना कछू न सूझै हरि हरि रस लपटिओ।
हमारे कुल कउने रामु कहिओ। जबकी माला लई निपुते तबतै सुखु न भइओ ॥
—वही राग बिलावल ४।

मिक सत्य के खोजियो के लिए अत्यत कठिन है। कबीर साहब ने एकाध पदो मे इतना अवश्य कहा है कि ये पूर्व-जन्म में ब्राह्मण थे, किंतु नीच तथा तपोहीन होने के कारण राम ने इन्हें कर्मानुसार जुलाहा बना दिया।[1] फिर भी यदि उन पक्तियो पर कुछ ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो उनमे कबीर साहब की आत्म-कथा की जगह कदाचित् इनके समकालीन ब्राह्मणो के प्रति एक प्रकार की व्यग्य-भरी चेतावनी की ही ध्वनि लक्षित होगी। उन पक्तियो से इन्होंने ब्राह्मणो का जुलाहो की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ होना न बतला कर वास्तव में सत्कर्मों का महत्व दरसाया है।

पिता

इधर 'ज्ञान-सागर' नाम के एक कबीरपथी ग्रथ में कबीर साहब के पूर्व-जन्म में ब्राह्मण होने की बात पर जोर न देकर, इनके पोषक पिता नीरू को ही पूर्व-जन्म का ब्राह्मण कहा गया है। उक्त ग्रथ के अनुसार जब नीरू जुलाहा बालक कबीर को लेकर अपने घर गया और वहाँ पर बच्चे का बिना दूध पिये भी हृष्ट-पुष्ट होना देखा, तब उसे महान् आश्चर्य हुआ। उसने स्वामी रामानद के पास जाकर इसका कारण पूछा। इस पर उक्त स्वामीजी ने उत्तर दिया[2] कि "वास्तव में तुम अपने पूर्व-जन्म में ब्राह्मण थे, किंतु किसी प्रकार भगवान् की सेवा में भूल-चूक होने के कारण तुम्हें जुलाहा होना पडा है। यह भगवान् की कृपा ही समझो कि तुम्हे उद्यान में पुत्र की प्राप्ति हुई है।" स्वामी रामानद द्वारा कहलाये गए इस वचन से ग्रथकर्ता का उद्देश्य कबीर साहब के पोषक पिता का पूर्व-जन्म में ब्राह्मण होना सिद्ध करना तो लक्षित होता ही है, इसके साथ 'कबीर-ग्रथावली' से उद्धृत उक्त कबीर साहब की पक्तियो से कुछ विचित्र समानता भी दीख पडती है। इससे स्पष्ट है कि उसने उन्हें देख कर ही

---

१ 'पूरब जनम हम बाम्हन होते, वोछै करम तप हीना।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हा॥'
—कबीर-ग्रथावली, पद २५०, पृ० १७३।
'कहत कबीर मोपह भगति उमाहा'। कृत करणीं जाति भया जुलाहा॥'
—वही, पद २७१ पृ० १८१।

२ 'पूर्व जन्म तैं ब्राह्मण जाती। हरि सेवा कीन्हसि बहु भाँति॥
कछु तुव सेवा हरि की चूका। तातैं भया जुलाहा को रूपा॥
प्रीति प्रभु गहि तोरीं लीन्हा। तातैं उद्यान मे सुत दीन्हा।'
—कबीर सागर, बबई, पृ० ७४।

ऊपर एक साधारण पिता का सा ही न होकर इन्हें सांसारिक प्रपंचों से अलग कर इन्हें भगवान् के प्रति उन्मुख कर देने का भी रहा होगा। पद के पहले चरण की पंक्तियों से तो यही प्रतीत होता है कि उक्त पिता ने इन्हें माता के अभाव में भी खाने-पहनने और सोने का समुचित प्रबंध किया था और इसी कारण ये उनके बहुत अनुगृहीत हैं। किंतु आगे चल कर उक्त पिता में कुछ अन्य प्रकार के भी गुण दीखने लगते हैं और वे एक महापुरुष से भी जान पड़ते हैं। इसके सिवाय यदि उक्त 'बड़ गोसाईं' से इनका अभिप्राय परमेश्वर से लिया जाय जैसा इनके कथन 'तिसु, पिता पहि किउकरि जाई' अर्थात् 'उस महान् के निकट मैं साधारण व्यक्ति वा अपराधी किस प्रकार पहुँच सकता हूँ' से भी सूचित होता है तो उक्त सारी बातें एक रूपक-सी समझ पड़ेंगी। हाँ उक्त पिता तथा 'जगत-पिता' शब्दों पर अलग-अलग विचार करने पर यह भी कहा जा सकता है कि वास्तव में इनका अभिप्राय 'बड़ गोसाईं' पिता का भी त्याग कर अब अपने मन में अधिक भले लगनेवाले 'जगत-पिता' परमेश्वर की ओर आकृष्ट होते जाने का ही है।

नीरू तथा नीमा

उक्त 'गोसाईं' शब्द का अर्थ जितेन्द्रिय वा इन्द्रियातीत होने के कारण उसके प्रयोग की सार्थकता के लिए कबीर साहब के पिता को काया पर पूर्ण विजय पा लेनेवाले नाथ-मतावलंबी जोगियों वा जुगियों से धर्मांतरित होकर बना मुस्लिम जुलाहा मान लेने की भी प्रवृत्ति होती है। परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है उक्त धारणा के लिए अभी अन्य प्रकार के प्रमाण भी अपेक्षित हैं। जब तक हम इनके पिता के स्थान पर किसी निश्चित व्यक्ति को मान नहीं लेते तब तक हम इस विषय में कोई अंतिम निर्णय देने में असमर्थ रहेंगे। नीरू तथा नीमा नाम के जुलाहा-दंपति अभी तक प्रायः सर्वसम्मति से इनके पोषक माता पिता समझे जाते आये हैं। किसी-किसी ने इन्हें इनका औरस पुत्र मान लेने में भी संकोच नहीं किया है। फिर भी उक्त दोनों के संबंध में अभी तक कोई ऐतिहासिक खोज नहीं हो पाई। इसलिए रे अहमद शाह ने इस विचार से कि पंजाब प्रदेश में 'नूरबफ' शब्द साधारण तौर पर मुस्लिम जुलाहे के लिए प्रयुक्त होता है और 'नीमा' शब्द नीचे दर्जे की मुस्लिम स्त्रियों के लिए व्यवहृत होता है उन दोनों को कबीर साहब के पोषक माता-पिता ही माना है। उनका अनुमान है कि स्वामी अष्टानंद जिन्हें कबीरपंथी-परंपरा के अनुसार कबीर साहब की अलौकिक ज्योति का सर्वप्रथम दर्शन हुआ था और जिन्होंने इस बात की सूचना पहले-पहल स्वामी रामानंदजी को जाकर दी थी उनके वास्तविक

तक कह डालती है। अतएव यदि ये पक्तियाँ सचमुच इनके आत्म-चरित से सबद्ध हैं, तो स्पष्ट है कि कबीर साहब का अपनी माता के साथ गहरा धार्मिक मतभेद रहा। इनके सदा भक्ति में लीन रहने के कारण वह इनके घरेलू प्रपचो से दूर रहने के स्वभाव को कुटुब के भविष्य के लिए बाधक समझती रही। यदि चाहें तो इन पक्तियो के सहारे हम यह भी परिणाम निकाल सकते हैं कि रामनाम के प्रति उक्त प्रकार की अनास्था प्रकट करना इनकी माता का हिन्दू-धर्म से भिन्न धर्म की अनुयायिनी होना भी सिद्ध करता है और इसी कारण हो सकता है कि इनकी माता मुसलमानिन ही रही हो। यदि वह स्त्री नीमा ही रही हो, तो भी आश्चर्य नही। अपनी माता के साथ इनका मतभेद कदाचित् कलह के रूप में भी बढ गया था जिस कारण इन्हें उसकी मृत्यु के अनतर पूरी सात्वना मिली थी। इस अनुमान का आधार हमें उस पद मे मिलता है जिसमें इन्होने "मुई मेरी माई हउ खरा सुखाला" कह कर उसके मरण से अपनी प्रसन्नता प्रकट की है।[1] परन्तु कबीर साहब-जैसे रूपक-प्रेमी का इस प्रकार कहना इनके माया-सबधी उद्‌गार का भी बोधक हो सकता है—सभव है उक्त सभी बातें माया-परक ही सिद्ध हो जायँ।

'गोसाईं' पिता

परन्तु उक्त पद की ही कुछ पक्तियो द्वारा ये अपने पिता के विषय में भी कुछ कहते जान पडते हैं। इनका कहना है कि "मैं अपने पैदा करनेवाले पिता की बलि जाता हूँ। वे एक 'बड्ड गोसाई' हैं और उन्होने मेरे लिए सभी प्रकार के सुभीते की व्यवस्था करके मुझे आश्वासित किया है। मैं उन्हें कैसे भुला सकता हूँ। उन्होने पचो वा पचेन्द्रियो से मेरा साथ छुडा दिया है और सतगुरु के मिलने पर मुझे अब जगत-पिता भी अच्छे लगने लगे हैं"।[2] परन्तु कबीर साहब के अपने पिता के लिए प्रयुक्त उक्त 'बड्ड गोसाई' शब्द से यह भी सूचित होता है कि वे कोई बहुत बडे जितेन्द्रिय वा इन्द्रियातीत रहे होगे और उनका प्रभाव अपने पुत्र के

---

१ गुरुग्रथ साहब, राग आसा ३।

२ 'बापि दिलासा मेरो कीन्हा। सेज सुखाली मुखि अम्रितु दीन्हा ॥
तिसु बापुकउ किउ मनहु बिसारी। आगे गइआ न बाजी हारी ॥
बलि तिसु बापै जिनि हउ जाइआ। पचा ते मेरा सगु चुकाइआ ॥
पिता हमारो बड्ड गोसाईं। तिसु पिता पहि हउ किउ जाई ॥
सति गुरु मिले त मारगु दिखाइआ। जगत पिता मेरे मन भाइआ ॥'
—वही, राग आसा ३।

दिनों से सर्वसाधारण की धारणा रहती आई है कि स्वामी रामानंद इनके गुरु थे। स्वामी रामानंद अपने समय के एक बहुत बड़े धार्मिक नेता तथा सुधारक थे और उनके साथ कुछ दिनों तक भी समकालीन रहने की दशा में ऐसा अनुमान करना कि कबीर साहब उनके संपर्क में कभी न कभी अवश्य आ गए होंगे और काशी में एक साथ रहने के कारण उनसे उपदेश भी ग्रहण किये होंगे कुछ असंभव नहीं है। इसी आधार पर बहुत लोगों ने अपनी धारणा के अनुसार कुछ कथाओं की भी सृष्टि कर डाली है। फिर भी उक्त प्रकार की धारणा जहाँ तक पता है भक्त व्यासजी सं १५५०-१६५५ के समय से लोगों के बीच बराबर चली आती है। इसका समर्थन अनंतदास नाभादास-जैसे भक्तचरित लेखक तथा अनेक कबीर-पंथी ग्रंथों द्वारा भी होता आया है।[1]

अभी कुछ दिन हुए एक ऐसी रचना का पता चला[2] है जिसका समाप्त होना माघ कृष्ण सप्तमी भृगुवार वि सं १५१७ को बतलाया जाता है। रचना का नाम 'प्रसंग-पारिजात' है और उसमें अवधी छंद की १ ८ अष्टपदियों द्वारा किसी चेतनदास नामक साधु ने स्वामी रामानंद की चरितावली तथा उपदेशों को लिपिबद्ध किया है। ग्रंथ से उद्धृत की गई पंक्तियों की भाषा बड़ी विचित्र जान पड़ती है और उसे बिना सकलो के समझ लेना असंभव है। उसका परिचय देनेवाले लेखक ने उसके आधार पर यह भी बतलाया है कि "हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध कवि भक्तराज कबीर दास जी का स्वामी रामानंद जी का शिष्य होना प्रमाणित हो जाता है और यह भी सिद्ध हो जाता है कि पीपाजी सेन रैदास आदि भी अनंतानंद योगानंद नरहर्यानंद के साथ उस समय विद्यमान थे"[3]। परिचय के अंत में दी गई नामों की तालिका में नीरू नीमा और तकी नाम भी दीख पड़ते हैं जिनकी चर्चा कबीर साहब की जीवनी के संबंध में की जाती है। इसके सिवाय स्वामीजी द्वारा कबीर साहब को अपना शिष्य मान कर तीर्थ-यात्रा के लिए निकली हुई अपनी जमात में सम्मिलित करना भी उक्त ग्रंथ में लिखा है। परन्तु अभी तक यह

---

१ कहते हैं स्वा रामानंद के समकालीन किसी मौलाना रशीदुद्दीन फ़क़ीर, काशी द्वारा रचित ग्रंथ 'तज़करीरातुल फ़ुकरा' में भी स्वा रामानंद के शिष्यों में कबीर साहब की चर्चा की गई है, किंतु पता नहीं उक्त लेखक का ठीक समय क्या है तथा उसके ऐसे कथन का आधार क्या है। —ले

२ शंकरदयाल श्रीवास्तव स्वामी रामानंद और प्रसंग-पारिजात 'हिंदुस्तानी' अक्तूबर १९३२ पृ ४ १-२ ।

३ वही पृ ४ ८-९।

पिता थे। इन्होने उनकी असली माता को हिन्दू-प्रथाओ के भय से अपनी स्त्री स्वीकार नही किया था। इस कारण बच्चे को एक अनाथ की दशा में किसी जुलाहे-दपति द्वारा पालित-पोषित होना पडा था। किंतु ऐसी धारणाओ को उन्होने भी अतिम निर्णय नही माना है।[१]

(५) शिक्षा-दीक्षा

गुरु

कबीर साहब को किसी प्रकार की पाठशाला वा मकतब मे शिक्षा दी गई थी, इसके लिए कोई प्रमाण नही, न निश्चित रूप से यही बतलाया जा सकता है कि इन्हें किसी व्यक्ति-विशेष ने ही कभी अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने में कोई सहायता दी थी। प्रसिद्ध है कि इन्होने कभी "मसि कागद छूयो नही कलम गह्यो नहि हाथ" और कबीर-पथियो की धारणा के अनुसार इनके विषय में कहा गया है कि "पाँच बरस के जब भये, कासी माँझ कबीर। गरीब दास अजब कला, ज्ञान ध्यान गुण सीर।" अर्थात् केवल पांच वर्ष की अवस्था मे ही ये सर्वज्ञान-सपन्न हो गए थे। इसमें सदेह नही कि इस प्रकार की बातें कहना अधिक से अधिक इनकी अलौकिक प्रतिभा का परिचायक मात्र ही हो सकता है।

कबीर के अक्षर-ज्ञान वा पुस्तकाध्ययन के सबध में इससे कुछ भी जानकारी प्राप्त नही होती, न यही सिद्ध होता है कि इनकी शिक्षा अमुक श्रेणी की रही होगी। इसके सिवाय कबीर साहब की पारिवारिक स्थिति आदि से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सभवत इन्हें नियमित रूप से शिक्षा मिली भी न होगी। जो कुछ ज्ञान इन्हें प्राप्त हो सका होगा, वह अनेक व्यक्तियो के सत्सग तथा अपने निजी विचार तथा मनन का ही फल होगा। कबीर साहब के समय में शिक्षा का रूप भी कदाचित् धार्मिक ही था और जो व्यक्ति शिक्षित समझा जाता था उसकी शिक्षा अधिकतर धार्मिक ग्रथों के परिशीलन तथा प्रसिद्ध महापुरुषो से उपदेश-ग्रहण तक ही सीमित थी। कबीर साहब के गुरु वा पीर के विषय में पता चलाने का अर्थ भी इसी कारण किसी सत, सूफी वा अन्य महान् धार्मिक नेता के साथ इन के गुरु-शिष्य-सबध का निश्चित करना ही समझा जा सकता है।

स्वामी रामानद

कबीर साहब ने अपने गुरु का नाम स्वय कही नही दिया है, किंतु बहुत

---

१ रे० अहमद शाह दि बीजक ऑफ कबीर, हमीरपुर सन् १९१७, पृ० ४-५।

गए थे तब वहाँ इन्होंने शेख तकी की प्रशंसा सुनी थी और ६३वीं रमणी की एक पंक्ति में[1] वे किसी शेख तकी को समझाते हुए भी दीख पड़ते हैं।

ऐसी स्थिति में यदि 'बीजक' की प्रामाणिकता सिद्ध है तो उक्त मानिकपुर वाले शेख तकी को हमें कबीर साहब के जीवन-काल में ही ढूँढना पड़ेगा। यदि 'बीजक' पीछे की रचना है तो उक्त बातों का समाधान काल्पनिक घटनाओं के आधार पर ही किया जा सकता है। मानिकपुर में किसी शेख तकी की कब्र का होना 'आईन-ए-अकबरी' से भी प्रमाणित होता है, किंतु उसमें कोई निश्चित समय नहीं दिया है।[2] इसलिए यदि कोई शेख तकी मानिकपुर में कबीर साहब के समकालीन रहे भी हों तो भी उन्हें उनका पीर भी मान लेना तर्कसंगत नहीं जान पड़ता।

शेख तकी झूँसीवाले

दूसरे अर्थात् झूँसीवाले शेख तकी को लोग सूफियों के 'सुहर्वर्दिया सम्प्रदाय' का होना बतलाते हैं और उनका समय 'इलाहाबाद गजेटियर' में सन् १३२ – १३८४ ई० सं० १३७७–१४४१ दिया हुआ है।[3] परन्तु रे० वेस्टकाट ने किसी अन्य प्रमाण के आधार पर उक्त शेख तकी का मरना सन् १४२९ हि० ७८५ सं० १४८६ में ठहराया है और कहा है कि कबीर साहब उनसे मिलने उस समय गये थे जब इनकी अवस्था ३० वर्ष की थी।[4] कबीर साहब के झूँसी जाने की घटना वहाँ पर वर्तमान कबीर-शाखे से भी सिद्ध की जाती है। परन्तु उक्त दो प्रसिद्ध पुरुषों का गुरु-शिष्य संबंध फिर भी संदेह में ही रह जाता है। झूँसीवाले उक्त शेख तकी के साथ कबीर साहब के सत्संग का होना बहुत संभव है किंतु इन्हें उनका शिष्य भी कह देने के लिए कोई प्रमाण नहीं।

पीतांबर पीर

कबीर साहब की एक रचना[5] से यह भी लक्षित होता है कि वे कभी-कभी किसी गोमती तीर-निवासी 'पीतांबर पीर' के दर्शन के लिए भी जाया करते होंगे

---

१ 'नाना नाच नचायके नाचै नट के भेख।
घट घट अविनासी अहै सुनहु तकी तुम सेख ॥ वही पृ० ७६।
२ डॉ० मोहन सिंह : कबीर हिज बायोग्राफी लाहौर १९३४ पृ० १९।
३ वही पृ० २४६।
४ रे० वेस्टकाट : कबीर एंड दि कबीर-पंथ कानपुर १९०७, पृ० ४–१।
५ 'हज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहिं पीतांबर पीर ॥
वाहु वाहु क्या खूब गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है ॥
नारद सारद करहिं खवासी। पासि बैठी बीबी कवलावासी ॥

ग्रथ प्रकाशित नही हुआ, न इसके सबध मे भली भाँति विचार कर इसकी प्रामाणिकता ही सिद्ध की जा सकी है। जब तक यह पूरा ग्रथ सबके सामने नही आ जाता और उसमे दी गई बातो पर निष्पक्ष रूप से निर्णय करने का कोई अवसर नही मिलता, तब तक इसे प्रामाणिक मान लेना उचित नही। इस ग्रथ के प्रामाणिक सिद्ध हो जाने पर फिर व्यासजी के पद अथवा नाभादास और अनतदास जैसे भक्त-चरित-लेखको के उल्लेखो मे सदेह करने की आवश्यकता नही रह जायगी। केवल इतना ही प्रश्न उठ सकता है कि कबीर साहब स्वामी रामानदजी द्वारा किस प्रकार प्रभावित हुए और वह प्रभाव उन पर कितना रहा।

शेख़ तक़ी मानिकपुरी

मौ० गुलाम 'सरवर' ने अपनी पुस्तक 'खजीनतुल असफिया'[1] मे लिखा है कि "शेख़ कबीर जोलाहा शेख़ तकी के उत्तराधिकारी और चेले थे। वे पहले मनुष्य थे जिन्होने परमेश्वर और उनकी सत्ता के विषय में हिंदी मे लिखा। धार्मिक सहनशीलता के कारण हिन्दू और मुसलमान दोनो ने उन्हे अपना नेता माना। हिन्दुओ ने भगत और मुसलमानो ने उन्हे पीर कहा। उनकी मृत्यु सन् १५९४ ई० मे हुई। उनके पीर शेख़ तकी सन् १५७५ ई० मे मरे थे।" इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'सरवर' साहब कबीर साहब की ओर ही लक्ष्य करके कह रहे हैं। किंतु उनका दिया हुआ कबीर साहब का मृत्यु-काल बहुत पीछे चला आता है और उनके सारे कथन मे ही सदेह होने लगता है। शेख़ तक़ी नाम के दो सूफी पीर प्रसिद्ध हैं जिनमे से एक कडा-मानिकपुर के और दूसरे झूंसी के रहनेवाले थे। कडा-मानिकपुर वाले शेख़ तकी सूफियो के 'चिश्तिया सम्प्रदाय' के अनुयायी कहे जाते हैं। किसी-किसी के अनुसार[2] उनके मृत्यु-काल का सन् १५४६ ई० स० १६०३ मे होना समझा जाता है। इस प्रकार ये कबीर साहब के समकालीन सिद्ध नही होते, न इस कारण उनके साथ इनके किसी सबध के होने का प्रश्न उठ सकता है। कबीर साहब के समकालीन मानिकपुर के प्रसिद्ध सूफी हिशामुद्दीन ठहराये जा सकते हैं जिनका देहात हि० ८५३ स० १५०६ मे हुआ था और जो हिशामुद्दीन मानिकपुरी नाम से विख्यात है। इनके द्वारा प्रवर्तित चिश्तिया सम्प्रदाय की एक 'हशीमिया' नाम की उपशाखा भी बतलायी जाती है। परन्तु 'बीजक' की ४८वी[3] 'रमैनी' से जान पडता है कि कबीर साहब जब मानिकपुर

---

१ रे० वेस्टकाट : कबीर ऐंड कबीर-पथ, कानपुर, १९०७, पृ० २५-६।

२ वही, पृ० ३९।

३ मानिकपुर हि कबीर बसेरी। मद्दति सुनी सेख तकि केरी॥
—विचार दास सस्करण, पृ० ६२।

कुछ भी नहीं। मेरी समझ में नहीं आता कि उसे कौन-सी वस्तु अर्पण कर संतुष्ट करूँ और इसकी अभिलाषा मन में बराबर बनी ही आ रही है'[1] आदि। फिर भी ये उक्त सतगुरु का किसी एक व्यक्ति-विशेष के रूप में नाम न लेकर कभी-कभी उसे केवल ज्ञान[2] विवेक[3] शब्द[4] अथवा राम[5] मात्र बतलाते हुए भी समझ पड़ते हैं। ऐसे वर्णनों पर ध्यान देने से प्रतीत होने लगता है कि ये अपनी उस पूर्णावस्था की दृष्टि से कथन कर रहे हैं जहाँ पहुँचने पर गुरु वा चेले के संबंध का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता और साधक सिद्ध बन कर आपै गुरु आप ही चेला[6] की स्थिति में आ जाता है। इनके गुरु वा पीर का पता लगाने की आवश्यकता हमें इनकी रचनाओं में यत्र-तत्र उपलब्ध अपने 'गुरु के चरणों में सिर झुका कर विनयपूर्वक पूछता हूँ कि मुझे जीव तथा जगत् की उत्पत्ति तथा नाश का रहस्य समझा कर कहिए'[7] 'जब सतगुरु मिले तब उन्होंने मुझे मार्ग दिखलाया और तभी से जगत-पिता मुझे अच्छे लगने लगे' तथा 'गुरु की कृपा द्वारा मुझे सब कुछ सूझने लगा'[8] आदि को देख कर ही जान पड़ती है। फिर भी इन्हें इस संबंध में अपनी ओर से किसी का नाम लेते हुए न पाकर हमें अंत में कहना पड़ता है कि ये किसी एक व्यक्ति से दीक्षित न होकर संभवतः अनेक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सत्संग से लाभ उठाये होंगे। इसी कारण इनकी रचनाओं में प्रयुक्त 'गुरु'

---

१ 'रामनाम के पटतरै देबै की कुछ नाहि।
  क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन माहि॥'वही सा ४।
२ 'ग्यान गुरु ले संका' कबीर ग्रंथावली का सं पद १५५।
३ 'कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ जाका नाउ बिबेकु रे'।
  —गुरुग्रंथ साहब राग सूही पद ५।
४ 'सबद गुरु का चेला'।
५ 'तुम्ह सतगर मैं नौतम चेला कहै कबीर राम रमूं अकेला॥
  —कबीर ग्रंथावली का सं पद १२।
६. 'नाद बिंद रंक इक खेला आपै गुर आपही चेला'।
  —वही रमणी पृ २४१।
७. 'गुर चरण लागि हम बिनवता पूछत कहु जीउ पाइआ।
  कवन काज जगु उपजै बिनसै कहु मोहि समझाइआ'॥
  —गुरुग्रंथ साहब राग आसा पद १।
८. 'सतिगुर मिलिआ मारगु दिखाइआ। जगतपिता मेरै मन भाइआ'॥
  गुरुग्रंथ साहब राग आसा पद ३।

और वहाँ की यात्रा इनके लिए हज करने की भाँति पुण्यमय तथा पवित्र हो जाती रही होगी। ये उक्त पीर की प्रशसा उसके सुदर गान तथा हरिनाम-स्मरण के लिए करते हैं। वे कहते हैं कि "उसकी सेवा मे नारद, श्री शारदा और लक्ष्मी तक लगी रहती हैं और मैं स्वय उसे कठ मे माला धारण कर तथा जिह्वा से राम के सहस्र नाम लेकर प्रणाम करता हूँ।" 'पीताबर पीर', 'नाम', 'बीबी कवलादासी' का प्रयोग 'हज' तथा 'सलामु' करने की बातें और 'वाहु वाहु किआ खूबु गावता है' के रूपो मे उक्त पीर के प्रति निकले हुए प्रशसात्मक उद्गार इस पद मे इस प्रकार आए हैं कि उनका 'हरि का नामु' अथवा 'कठे माला' तथा 'सहसनामु' से कोई मेल खाता नही दीखता, न उसमे प्रदर्शित अलौकिक ऐश्वर्य की कोटि तक उस गवैये 'पीर' की कोरी तारीफ ही पहुँच पाती है। कम से कम उक्त 'पीर' के लिए कबीर साहब का गुरु होना भी इस पद से सिद्ध नही होता, अपितु जान पडता है कि इसमे आया हुआ उस व्यक्ति का वर्णन अधिक से अधिक 'हिन्दू तुरक' दोनो को समझाने के उद्देश्य से ही किया गया है। इस पद के प्रामाणिक होने मे सकेत किया जा सकता है।

निष्कर्ष

वास्तव मे जब तक कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता, तब तक स्वामी रामानद, शेख तकी, पीताबर पीर वा किसी भी एक व्यक्ति को हमे कबीर साहब का गुरु वा पीर नही मान लेना चाहिए। कबीर साहब की अपने गुरु के प्रति अपार श्रद्धा है और ये अपने प्रति किये गए उपकारो के लिए उसकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हैं। इनका कहना है कि "मैं अपने गुरु के लिए प्रतिदिन अनेक बार बलिहारी जाता हूँ जिसने मुझे एक क्षण मे ही मनुष्य से देव-तुल्य बना दिया।"[1] "उस सतगुरु की महिमा अनत है जिसने अनत के दर्शनार्थ मेरे अनत नेत्र खोल कर अनत उपकार कर दिये हैं।"[2] "इन उपकारो के बदले मे देने के लिए मेरे पास

कठे माला जिहवा रामु। सहस नामु लै करउ सलामु।
कहत कबीर राम गन गावउ। हिन्दू तुरक दोऊ समझावउ।'
—गुरुग्रंथ साहब, राग आसा, पद १६।
दे० कबीर ग्रथावली, प्रयाग सस्करण —ले०।

१ 'बलिहारी गुर आपणे, द्यौ हाडी कै बार।
जिनि मानिष तै देवता, करत न लागी बार॥'—कबीर ग्रथावली, का० स०, सा० २।

२. 'सतगुर की महिमा अनंत, अनत किया उपगार,
लोचन अनत उघाडिया, अनत दिखावनहार।'—वही, सा० ३।

कारणों से भी गये थे। इन्हें ब्राह्मणों संन्यासियों आदि की हुस्नइदाजियों के कारण अपने साधारण निवास-स्थान काशी को छोड़ कर अंत मे मगहर भी जाना पड़ा था जहाँ इनका देहांत हो गया। इसके पहले इनके मानिकपुर में कुछ काल तक ठहरने का प्रसंग 'बीजक' की ४८वीं रमैणी में आता है। यह भी पता चलता है कि वहीं पर इन्हें शेख तकी की प्रशंसा सुन पड़ी। यह भी ज्ञात हुआ कि जौनपुर जाने के ऊंजी नामक स्थान तथा झूँसी में अमुक-अमुक पीरों का निवास है। इनम से मानिकपुर, जिला फतेहपुर को कड़ा-मानिकपुर भी कहते हैं जहाँ के घुमिया जातिवाले किसी चिश्तिया सूफी शेख तकी की चर्चा रे वेस्टकाट[1] ने की है। जैसा हम इसके पहले भी कह आये हैं इनकी मृत्यु का होना कुछ संदेह के साथ सं १६ २ सन् १५४५ ई मे बतलाया है। यह स्थान अन्य सूफियों के लिए भी प्रसिद्ध है और कहा जाता है कि उक्त शेख तकी के ही पुत्र शेख मकन द्वारा बसाये गए मकनपुर स्थान पर आज तक एक बड़ा मेला लगा करता है। परन्तु, 'बीजक' के टीकाकार विचारदास शास्त्री के अनुसार[2] उक्त मानिकपुर वास्तव में प्रसिद्ध मानिकपुर जंक्शन है जो जबलपुर लाइन में पड़ता है। वहाँ के विषय में 'पनिका' जातिवाले लोगों के मान्य ग्रंथ मानिक-खंड' में कबीर साहब के ठहरने आदि की चर्चा पूरी तरह से की गई है। उक्त ऊंजी नामक गाँव भी जौनपुर जिले मे किसी करौना नाम के अन्य स्थान के निकट वर्तमान है जहाँ पर किसी समय बहुत-से मुस्लिम संत रहा करते थे। झूँसी तथा वहाँ के रहनेवाले शेख तकी का उल्लेख पहले ही आ चुका है। वहाँ की जनश्रुति तथा 'कबीर-नाले' के अस्तित्व से इस अनुमान को दृढ़ आधार मिलता है कि कबीर साहब वहाँ पर अवश्य गये होंगे। वहाँ पर शेख तकी के साथ सत्संग करने के समय मे ही इन्हें कदाचित् किन्हीं शेख अकर्दी और शेख सकर्दी नामक दो अन्य फ़कीरों को कुछ उपदेश भी देना पड़ा था।

अन्य यात्राएँ

मगहर के समान रतनपुर तथा पुरी जगन्नाथ मे भी कबीर साहब की समाधि होने के कारण इनके वहाँ किसी समय जाने का अनुमान किया जाता है। उक्त दोनों कब्रों का उल्लेख[3] अबुल फजल ने अपनी प्रसिद्ध रचना आईन-ए-अकबरी'

---

१ रे जी वेस्टकाट कबीर ऐंड दि कबीर पंथ पृ १९।

२ बीजक विचारदास की टीका पृ ६२।

३ आईन-ए-अकबरी कर्नल एच एस जेरेट द्वारा अनूदित भा २, कलकत्ता १८९१।

'सतगुरु' वा 'गुरुदेव' शब्द प्रसगानुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियो को निर्दिष्ट करने के लिए आये होगे। अपने समय मे वर्तमान विशिष्ट महापुरुषो के निकट जाकर उनसे सत्सग करते रहने से ही इन्हे ज्ञानोपलब्धि हो सकी थी और इनकी जिज्ञासा दूर हुई थी।[1] इनका तो स्पष्ट शब्दो मे कहना[2] है कि "मैंने कोई विद्या नही पढी, न किसी मत-विशेष का ही आश्रय लिया। मैं तो हरि का गुण कहता-सुनता ही उन्मत्त-सा हो गया।

(६) देश-भ्रमण

झूंसी तथा मानिकपुर

तीर्थ-यात्रा वा हज करने की दृष्टि से कबीर साहब को कही पर्यटन करने मे श्रद्धा नही थी[3], किंतु इनकी कुछ रचनाओ[4] से इनके देश-भ्रमण का पता चलता है। इस बात के लिए अन्य प्रमाण[5] भी मिलते हैं कि इन्होने अनेक स्थानो की यात्रा की थी। यह यात्रा इनके प्रारभिक जीवन-काल मे सत्सग के उद्देश्य से की गई थी, किंतु बाद को कही-कही ये अपने मत के प्रचार के लिए वा किन्ही अन्य

---

१. 'कबीर बन बन मै फिरा, कारणि अपणं राम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम ॥'
—कबीर ग्रथावली, का० स०, साध कौ अग, साखी ५।

२ 'बिदिआ न परउ बादु नहि जानउ। हरिगुन कथन सुन बउरानउ ॥
—गुरुग्रथ साहब, राग बिलावल, पद २।

३ 'जपतप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत वेसास।
सूवै सैवल सेविया, यौ जग चला निरास'॥—कबीर-ग्रथावली, पृ० ३७।
सेष सूबरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जिनकी दिल स्यावति, तिनको कहा खुदाई ॥' वही, पृ० ४३।

४ 'बृदावन ढूढ्यो, ढूढ्यो हो जमुना तीर।
राम मिलन के कारने जन खोजत फिरै कबीर'॥—ना० प्र० पत्रिका, भा० १५' पृ० ४८।
'जाति जुलाहा नाम कबीरा, बन बन फिरौ उदासी।'
—कबीर-ग्रथावली, का० स०, पद २७०, पृ० १२१।

५ 'कहते हैं कि कबीर गुरु की तलाश मे मुसलमान और हिन्दू कामिलो के पास गया जो ढूँढता था न पाया। आखिरकार एक शख्स ने पीर रोशनदिल रामानद बरहमन की तरफ उसको तवज्जह दिलायी'।—मुहसिन फानी 'दबिस्ताने मजाहिब', सफहा २००।

गुजरात की यात्रा संभवत: सं० १५६४ के समय उसे स्पर्श कर कबीर साहब ने सूखा से हरा कर दिया था।[1] इसी प्रकार एक ऐतिहासिक रचना में आये हुए प्रसंग से विदित होता है कि ये पंढरपुर नामक प्रसिद्ध तीर्थ की ओर भी आकृष्ट हुए थे और कदाचित् कभी वहाँ की यात्रा भी इन्होंने की थी[2]। पंढरपुर में इसके पूर्व सं० १२६६ के लगभग कन्नड़ संत पुंडरीक द्वारा वारकरी सम्प्रदाय का स्थापित किया जाना भी प्रसिद्ध है।

सारांश

कबीर साहब ने वास्तव में कौन-कौन-सी यात्राएँ कब-कब की थीं तथा भिन्न-भिन्न यात्राओं में इन्हें कितना-कितना समय लगा था इसका पता व्यवस्थित रूप से नहीं चलता। इनकी पहली यात्राएँ संभवत: किसी सच्चे महात्मा वा सद्गुरु की खोज में की गई थीं। इसलिए अनुमान होता है कि उनमें सत्संग आदि होते रहने के कारण अधिक समय लगता होगा। कहीं-कहीं इन्हें आवश्यकतानुसार कुछ दिनों तक ठहर जाना पड़ता होगा और कभी-कभी कदाचित् एक से अधिक बार भी एक ही स्थान पर जाना पड़ा होगा। इन यात्राओं में इनका साथ देनेवाले किसी मित्र वा सहयोगी का भी कहीं पता नहीं चलता। इनकी रचनाओं में कई बार 'भमि-भमि फिरौ उदासी'[3] 'फाटै दीदै मैं फिरौं नजरि न आवै कोई'[4] आदि जैसे वाक्यों के आने से जान पड़ता है कि इनकी जिज्ञासा अत्यंत तीव्र रही होगी। इन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक बार अनेक जगहों की खाक छाननी पड़ी होगी।

(७) परिवार

विवाहित

कबीर साहब के परिवार का कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता। कुछ लोग इन्हें एक पक्के विरागी के रूप में रहनेवाला भी समझते हैं। फिर भी इस बात के लिए इनकी रचनाओं में ही संकेत मिलते हैं कि इनका जीवन एक गृहस्थ का जीवन था और ये दूसरों को भी गृह न छोड़ने का ही उपदेश देते रहे। कबीर साहब ने एक स्थल पर यह अवश्य कहा है कि कबीर त्यागा ग्यान करि कनक कामिनी

---

१ क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया लंदन १९३ ई० पृ० ९८-९९।

२ विल्सन तथा मार्सलिस : ए हिस्ट्री ऑफ दि मराठा पीपुल भा० १, पृ० १०८।

३ कबीर-ग्रंथावली का० सं० पृ० १८१।

४ वही पृ० ५२।

मे की है। दोनो जगहे कबीर-पथियो के लिए पवित्र स्थान कही जाती हैं। रतन-पुर के मजार की चर्चा 'खुलासातुत्तवारीख'[1] मे की गई है। पुरी के मकबरे का प्रसग प्रसिद्ध यात्री ट्रैवर्नियर के 'ट्रैवेल्स'[2] मे भी आया है। परन्तु कबीर-पथ मे प्रचलित कतिपय पौराणिक उल्लेखो के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण के आधार पर इनकी उक्त स्थानो की यात्रा सिद्ध नही होती। इस कारण अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ की समाधियो का निर्माण पथवालो द्वारा इनकी पूजा करने के विचार से ही किया गया होगा। कबीर-पथियो मे यह भी प्रसिद्ध है कि मगहर मे देहात हो जाने के अनतर भी कबीर साहब ने मथुरा, वृदावन, बाधोगढ आदि कुछ स्थानो पर जा-जाकर अपने प्रिय भक्तो को दर्शन तथा उपदेश दिये थे। इसी प्रकार इनके विदेशो मे भी जाने के उल्लेख उनके ग्रथो मे मिलते हैं। कबीर-पथ का भारत के कई प्रातो मे प्रचार है और अपने-अपने स्थानो तथा अपने-अपने यहाँ की प्रचलित जनश्रुतियो के आधार पर पथ के अनुयायियो ने भिन्न-भिन्न प्रकार की कथाओ की रचना कर डाली है जिनसे ऐतिहासिक सत्य को खोज निकालना सहज काम नही है। 'गुरु महिमा' नामक कबीर-पथी ग्रथ के अनुसार कबीर साहब का गढवाल मे जाना बतलाया जाता है। कहते हैं कि उस समय वहाँ पर श्रीनगर मे रायमोहन नाम के एक राजा राज्य करते थे। डॉ० बर्थ्वाल ने वहाँ पर कबीर साहब का एक सिद्ध माना जाना तथा कही-कही पर 'कबीर-नाथ' तक कहलाना लिखा है। उन्होने यह भी कहा है कि वहाँ के 'नरकार' की पूजा करने वाले डोम भी वस्तुत उन्ही के अनुयायी हैं।[3] किंतु अभी तक इन बातो की पुष्टि मे यथेष्ट प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नही है। ऐसे ही प्रमाणो के आधार पर कबीर साहब के मक्का, बगदाद, समरकद, बुखारा जैसे दूर-दूर के देशो तक की यात्रा का उल्लेख 'कबीर मशूर' मे आया है। नर्मदा-तटवर्त्ती भरोंच से १३ मील की दूरी पर शुक्लतीर्थ के निकट किसी द्वीप मे एक बहुत बडा बट-वृक्ष है जिसे 'कबीर बट' कहते हैं। उस पेड के लिए प्रसिद्ध है कि अपनी

' Some affirm that Kabır Muahıd reposes here (Pesoı) and many authentıc tradıtıons are related regadıng hıs sayıngs and doıngs to thıs day" (p129) "Some say that at Ratanpur (Subah of Oudh) ıs the tomb of Kabır, the assertor of the unıty of God" (p 171)

१ पृ० ४३, दिल्ली सस्करण।

२ भा० २, पृ० २२९।

३ डॉ० पीताबर दत्त बर्थ्वाल योगप्रवाह, बनारस स०२००३, पृ० २०३-५।

गुजरात की यात्रा संभवतः सं० १५६४ के समय उसे स्पर्श कर कबीर साहब ने सूखा से हरा कर दिया था।[1] इसी प्रकार एक ऐतिहासिक रचना में आये हुए प्रसंग से विदित होता है कि ये पंढरपुर नामक प्रसिद्ध तीर्थ की ओर भी आकृष्ट हुए थे और कदाचित् कभी वहाँ की यात्रा भी इन्होंने की थी[2]। पंढरपुर में इसके पूर्व सं० १२६६ के लगभग कभड़ संत पुंडरीक द्वारा वारकरी सम्प्रदाय का स्थापित किया जाना भी प्रसिद्ध है।

सारांश

कबीर साहब ने वास्तव में कौन-कौन-सी यात्राएँ कब-कब की थीं तथा किन-किन यात्राओं में इन्हें कितना-कितना समय लगा था इसका पता असंदिग्ध रूप से नहीं चलता। इनकी पहली यात्राएँ संभवतः किसी सच्चे महात्मा या सद्गुरु की खोज में की गई थीं। इसलिए अनुमान होता है कि उनमें सत्संग आदि होते रहने के कारण अधिक समय लगता होगा। कहीं-कहीं इन्हें आवश्यकतानुसार कुछ दिनों तक ठहर जाना पड़ता होगा और कभी-कभी कदाचित् एक से अधिक बार भी एक ही स्थान पर जाना पड़ा होगा। इन यात्राओं में इनका साथ देनेवाले किसी मित्र या सहयोगी का भी कहीं पता नहीं चलता। इनकी रचनाओं में कई बार 'बनि-बनि फिरो उदासी'[3] 'फाटै दीदै मैं फिरौं नजरि न आवै कोई'[4] आदि जैसे वाक्यों के आने से जान पड़ता है कि इनकी जिज्ञासा अत्यंत तीव्र रही होगी। इन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक बार अनेक जगहों की खाक छाननी पड़ी होगी।

(७) परिवार

विवाहित

कबीर साहब के परिवार का कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता। कुछ लोग इन्हें एक पक्के विरागी के रूप में रहनेवाला भी समझते हैं। फिर भी इस बात के लिए इनकी रचनाओं में ही संकेत मिलते हैं कि इनका जीवन एक गृहस्थ का जीवन था और ये दूसरों को भी गृह न छोड़ने का ही उपदेश देते रहे। कबीर साहब ने एक स्थल पर यह अवश्य कहा है कि "कबीर त्यागा ग्यान करि कनक कामिनी

---

१ क्षितिमोहन सेन मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया लंदन १९१ ई०, पृ ९८९९।

२ किनकेड तथा पार्सनिस : ए हिस्ट्री ऑफ दि मराठा पीपुल भा ९, पृ १ ७८

३ कबीर-ग्रंथावली का सं पृ १८१।

४ वही पृ ५२।

दोइ"। इसी से उक्त दोनो का उनके पास पहले रहना भी लक्षित होता है। इससे इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि अपनी वृद्धावस्था तक कदाचित् ये इन दोनो से पृथक् हो गए होगे। जो हो, इनके विवाहित होने मे सदेह करने की कोई आवश्यकता नही। इनके साथ प्राय सदा रहनेवाली किसी 'लोई' नाम की स्त्री के विषय मे प्रसिद्ध है कि वह इनकी विवाहिता पत्नी थी और कोई-कोई इनके दो वा तीन विवाह तक भी होने का अनुमान करते हैं। इनके एक पद[1] से सूचित होता है कि इनकी दो विवाहिता स्त्रियो मे से पहली, कदाचित् कुजाति तथा कुलखनी होने के कारण इन्हे पसद न थी, किंतु दूसरी सुजाति वा सुलखनी रही और उसी के द्वारा इन्हे सतान भी प्राप्त हुई। अपनी पहली स्त्री के नष्ट हो जाने से ये प्रसन्न होते हुए भी दीख पडते हैं और दूसरी की दीर्घायु के लिए शुभाशा प्रकट करते हैं। इस पद की अतिम पक्ति से पहली के किसी अन्य व्यक्ति को ग्रहण कर लेने तक की बात ध्वनित होती है। परन्तु इस पूरी रचना का आध्यात्मिक अर्थ भी लगाया जा सकता है और उस दशा मे इनकी इन पहली तथा दूसरी स्त्रियो को क्रमश 'माया' तथा 'भक्ति' कहना पडेगा। उसके अनुसार उसका तात्पर्य नितात भिन्न हो जायगा।

स्त्री

एक अन्य पद[2] से जान पडता है कि कबीर साहब अपनी माता के साथ बात-चीत करते समय उसके द्वारा अपनी पत्नी तथा पुत्र का भी कुछ परिचय दिला रहे हैं। इनकी माता को दु ख है कि उसके घर बहुधा आते रहनेवाले साधुओ ने उसकी पुत्र-वधू का नाम 'धनीआ' से बदल कर 'रामजनीआ' रख दिया है और उसके

---

१ 'पहिली कुरूपि कुजाति कुलखनी साहुरै पेईऐ बुरी।
अबकी सरूपि सुजाति सुलखनी सहजे उदरि धरी॥
भली सरी मुई मेरी पहिली बरी।
जुगु जुगु जीवउ मेरी अबकी धरी॥
कहु कबीर जब लहुरी आई, बडी का सुहाग टरिओ।
लहुरी सगि भई अब मेरे, जेठी अउर धरिओ॥'
—गुरुग्रथ साहब, राग आसा, पद ३२।

२ 'मेरी बहुरीआ का धनीआ नाउ। ले राखिओ रामजनीआ नाउ॥
इन्ह मुडीअन मेरा घर धुधरावा। बिटवहि राम रमऊआ लावा॥
कहतु कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुडीअन मेरी जाति गवाई॥'
—वही, पद ३३।

पुत्र कबीर को भी राम की भक्ति में लगा दिया है। कबीर साहब इसके समाधान में बतलाते हैं कि उक्त साधुओं ने वास्तव में इनकी जाति या धर्म को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर डाला है और वैसी दशा में इनकी माता को बुरा मानने की कोई बात नहीं है।

लोई

एक तीसरे पद से इसी प्रकार प्रकट होता है कि कबीर साहब की स्त्री लोई इनकी अपने व्यवसाय के प्रति प्रदर्शित उपेक्षा से घबड़ा उठी है। वह तनने-बुनने के व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं की अव्यवस्थित स्थिति उसके कारण व्यवसाय के बंद हो जाने तथा आय के न होने के दुष्परिणाम आदि के संबंध में अपना दुःख प्रकट करती हुई आगंतुक साधुओं को कोसती है। कबीर साहब इस पर कहते हैं "अरी नासमझ तथा निर्दयी लोई, इन्हीं साधुओं की सहायता से और भजन करने से तो मुझ कबीर को भगवान् की शरण मिली है।"[१] इस प्रकार संभव है कि कबीर साहब के दो विवाह हुए हों अथवा एक ही विवाहिता स्त्री के लिए उक्त दोनों 'धनिया' तथा 'लोई' नाम प्रयुक्त हुए हों उक्त पहले पद का केवल आध्यात्मिक अर्थ लगाने पर दूसरा अनुमान ही अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। परन्तु इनकी स्त्री चाहे एक ही रही हो उसके साथ इनकी पटती कदाचित् नहीं थी। इसी कारण कभी-कभी दंपति के बीच नोक-झोंक भी होती रहती थी।

कमाल तथा कमाली

उक्त तीसरे पद की ही पंक्ति "लरकी लरिकन खैबो नाहिं" से यह भी विदित होता है कि कबीर साहब के परिवार में इनकी संतानें भी सम्मिलित थीं जिनके खाने-पीने की चिंता इनकी माता को स्वभावतः सताया करती थी। इन्हीं बच्चों के पालन-पोषण का ध्यान करके स्वयं कबीर साहब की माता भी भीतर ही भीतर रोया करती है और उसे सांत्वना देते हुए कबीर साहब कहते हैं कि 'हमारा इनका

---

१ 'तूटे तागे निखुटी पानि । दुआर ऊपरि झिलकावहि कान ॥
कच बिचारे फूए फाल । इहा मुंडीआ सिरि चढ़िबो काल ॥
इहु मुंडीआ सगलो द्रबु खोई । आवत जात नाक सर होई ।
तुरी नारी की छोडी बाता । रामनाम वाका मनु राता ॥
लरकी लरिकन खैबो नाहि । मुंडिआ अनदिनु धापे जाहि ॥

सुनि अंधली लोई बेपीर । इन्हि मुंडीअन भजि सरनि कबीर ॥
—गुरुग्रंथ साहब राग गौंड पद ६ ।

दोइ" । इसी से उक्त दोनो का उनके पास पहले रहना भी लक्षित होता है। इससे इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि अपनी वृद्धावस्था तक कदाचित् ये इन दोनो से पृथक् हो गए होगे । जो हो, इनके विवाहित होने मे सदेह करने की कोई आवश्यकता नही । इनके साथ प्राय सदा रहनेवाली किसी 'लोई' नाम की स्त्री के विषय मे प्रसिद्ध है कि वह इनकी विवाहिता पत्नी थी और कोई-कोई इनके दो वा तीन विवाह तक भी होने का अनुमान करते हैं। इनके एक पद[1] से सूचित होता है कि इनकी दो विवाहिता स्त्रियो मे से पहली, कदाचित् कुजाति तथा कुलखनी होने के कारण इन्हे पसद न थी, किंतु दूसरी सुजाति वा सुलखनी रही और उसी के द्वारा इन्हे सतान भी प्राप्त हुई। अपनी पहली स्त्री के नष्ट हो जाने से ये प्रसन्न होते हुए भी दीख पडते हैं और दूसरी की दीर्घायु के लिए शुभाशा प्रकट करते हैं। इस पद की अतिम पक्ति से पहली के किसी अन्य व्यक्ति को ग्रहण कर लेने तक की बात ध्वनित होती है। परन्तु इस पूरी रचना का आध्यात्मिक अर्थ भी लगाया जा सकता है और उस दशा मे इनकी इन पहली तथा दूसरी स्त्रियो को क्रमश 'माया' तथा 'भक्ति' कहना पडेगा। उसके अनुसार उसका तात्पर्य नितात भिन्न हो जायगा ।

स्त्री

एक अन्य पद[2] से जान पडता है कि कबीर साहब अपनी माता के साथ बातचीत करते समय उसके द्वारा अपनी पत्नी तथा पुत्र का भी कुछ परिचय दिला रहे हैं। इनकी माता को दु ख है कि उसके घर बहुधा आते रहनेवाले साधुओ ने उसकी पुत्र-वधू का नाम 'धनीआ' से बदल कर 'रामजनीआ' रख दिया है और उसके

---

१ 'पहिली कुरूपि कुजाति कुलखनी साहुरै पेईऐ बुरी ।
अबकी सरूपि सुजाति सुलखनी सहजे उदरि धरी ॥
भली सरी मुई मेरी पहिली बरी ।
जुगु जुगु जीवउ मेरी अबकी धरी ॥
कहु कबीर जब लहुरी आई, बडी का सुहाग टरिओ ।
लहुरी सगि भई अब मेरे, जेठी अउर धरिओ ॥'
—गुरुग्रथ साहब, राग आसा, पद ३२ ।

२. 'मेरी बहुरीआ का धनीआ नाउ । ले राखिओ रामजनीआ नाउ ॥
इन्ह मुडीअन मेरा घर धुधरावा । बिटवहि राम रमऊआ लावा ॥
कहतु कबीर सुनहु मेरी माई । इन मुडीअन मेरी जाति गवाई ॥'
—वही, पद ३३ ।

साधारण कोटि का ही था किंतु फिर भी उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। कबीर साहब का पैतृक व्यवसाय कपड़ा बुनने का था जिसका परिचय इन्होंने 'हम घरि सूतु तनहि नित ताना" कह कर स्पष्ट शब्दों में दिया है।[1] इसका एक और भी सविवरण परिचय हमें उस पद मे मिलता है जिसमें इनकी स्त्री लोई द्वारा इनके तनने-बुनने के औजारो के अस्त-व्यस्त होकर अनुपयोगी सिद्ध हो जाने पर व्यवसाय का बंद हो जाना बतलाया गया है। लोई का कहना है कि 'पानी के कम हो जाने के कारण करघे के तागे टूट जाया करते हैं कूच के फूल जाने के कारण उसपर फफूंदी चढ़ गई है हत्था जो काफी पैसे खर्च कर खरीदा गया था और जो खूब काम देता था अब पुराना पड़ गया है और तुरी तथा नरी की अब आवश्यकता ही नहीं रह गई है' ।[2] इससे स्पष्ट है कि कबीर साहब के पास घर पर प्राय: सभी तनने-बुनने के आवश्यक सामान रहे होगे किंतु अपने व्यवसाय के प्रति इनके उपेक्षा प्रदर्शन के कारण सारे के सारे बेकाम हो रहे थे और जीविका बंद-सी होती जा रही थी। इनके किसी दूसरे व्यवसाय का पता हमें इनकी किसी रचना से नहीं चलता न यही विदित होता है कि इनकी उक्त उदासीनता किसी अन्य व्यवसाय के प्रति आकर्षण के कारण थी। जान पड़ता है कि अपने पिता के जीवित रहने तक तो इनका काम-धाम एक ठेकाने से चलता रहा किंतु उनकी मृत्यु के अनंतर जब कुटुंब का सारा भार इनके ऊपर पड़ा तब इन्होंने अपनी परिवर्तित मनोवृत्ति के कारण उसे सभी प्रीति सँभाला नहीं अपितु उसके प्रति क्रमश: शिथिलता ही दिखलाते गए। अंत मे यह नौबत आयी कि इनके बाल-बच्चे भूखों मरने तक की स्थिति को पहुँच गए।

आर्थिक परिस्थिति

अपने दायित्व का अनुभव कर जिस समय कबीर साहब को व्यवसाय के प्रति अधिक ध्यान देने की आवश्यकता थी उसी समय इन्होंने तनना-बुनना सभी कुछ को छोड़ कर अपने शरीर पर 'रामनाम' लिख लिया।[3] अब इन्हें यह सब सूझता ही न था और ये हरि रस मे सराबोर हो रहे थे।[4] इन्हें समझ पड़ता था कि मेरा व्यवसाय वास्तव में उस 'कोरी' का व्यवसाय है जिसने सारे जगत् में अपना ताना-बाना तान रखा है और अपने घर मे ही उसका परिचय पा लेने के कारण

---

१ गुरुग्रंथ साहब राग आसा पद २६।
२ वही राग गौड़ पद ६।
३ वही राग गूजरी पद २।
४ वही राग बिलावल, पद ४।

दाता एक रघुराई।"[1] परन्तु इन बच्चो मे कितने पुत्र तथा पुत्रियाँ थी, इसका निर्णय करना सहज नही है। कबीर साहब के एक जीवन-चरित-लेखक का कहना है कि उन्हे कमाल तथा निहाल नामक दो लडके और कमाली तथा निहाली नामक दो पुत्रियाँ थी, जिनमे से अत मे केवल कमाल ही बच रहे थे।[2] इन कमाल के विषय मे भी भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं और कबीर साहब की एक रचना से यह भी पता चलता है कि वे इन्हे सपूत नही समझते थे, अपितु उनकी धारणा थी कि हरि-स्मरण से कही अधिक सपत्ति की ओर ध्यान देकर इन्होने उनके कुल को ही नष्ट कर दिया।[3] इनकी बहन कमाली के लिए प्रसिद्ध है कि कबीर साहब ने किसी बैरागी से उसका विवाह कर दिया था। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि उन्होने इसका विवाह मुल्तान मे किसी के साथ कर दिया था जहाँ पर इसके कुछ अनुयायियो का भी पता दिया जाता है तथा इसके द्वारा रची कही जाने वाली कतिपय काफियाँ भी प्रचलित है। किंतु इससे अधिक पता नही चलता। निहाल तथा निहाली के विषय मे तो केवल नामोल्लेख ही पाया जाता है, अधिक कुछ भी नही। हाँ, कबीर-पथी ग्रथो मे कही भी कमाल, कमाली आदि को कबीर साहब की औरस सतान स्वीकार किया गया नही जान पडता। कमाल को कभी-कभी पोष्य-पुत्र और कभी केवल शिष्य-मात्र भी कहा जाता है। कमाली के लिए प्रसिद्ध है कि वह कदाचित् किसी शेख तकी की पुत्री थी, जिसे कबीर साहब ने मरने के आठ दिन पीछे पुनर्जीवन प्रदान कर कब्र मे बाहर किया था।[4] कमाली तभी से इनकी पोष्य-पुत्री हो गई थी। परन्तु इस प्रकार की कथाएँ कबीर साहब को अविवाहित सिद्ध करने या इनके चमत्कारो से उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए भी रची गई हो सकती है। इसमे सदेह करने का कोई कारण नही जान पडता कि कबीर साहब की कुछ औरस सतानें थी और इनके साथ वे रहती भी रही।

(८) व्यवसाय

वयनजीवी

कबीर साहब का परिवार बडा नही था और वह सामाजिक दृष्टि से भी

---

१ गुरुग्रथ साहब, राग गूजरी, पद २।

२ डॉ० मोहन सिह . कबीर हिज बायोग्राफी, लाहौर १९३४ ई०, पृ० ३२ पर उद्धृत।

३ 'बूडा बसु कबीर का, उपजिओ पूतु कमालु।
हरि का सुमिरनु छाडि कै, भरि लै आया मालु ॥
—गुरुग्रथ साहब, सलोक ११५।

४ एफ० इ० के० कबीर ऐंड हिज फालोवर्स, पृ० १६।

साधारण कोटि का ही था किंतु फिर भी उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। कबीर साहब का पैतृक व्यवसाय कपड़ा बुनने का था जिसका परिचय इन्होंने "हम घरि सूतु तनहि नित ताना" कह कर स्पष्ट शब्दों में दिया है।[1] इसका एक और भी सविवरण परिचय हमें उस पद से मिलता है जिसमें इनकी स्त्री लोई द्वारा इनके तनने-बुनने के औजारों के अस्त-व्यस्त होकर अनुपयोगी सिद्ध हो जाने पर व्यवसाय का बंद हो जाना बतलाया गया है। लोई का कहना है कि 'पानी के कम हो जाने के कारण करघे के तागे टूट जाया करते हैं कूंच के फूल जाने के कारण उसपर फफूंदी बढ़ गई है हत्था जो काफी पैसे खर्च कर खरीदा गया था और जो खूब काम देता था अब पुराना पड़ गया है और तुरी तथा नरी की अब आवश्यकता ही नहीं रह गई है' ।[2] इससे स्पष्ट है कि कबीर साहब के पास घर पर प्रायः सभी तनने-बुनने के आवश्यक सामान रहे होंगे किंतु अपने व्यवसाय के प्रति इनके उपेक्षा प्रदर्शन के कारण सारे के सारे बेकाम हो रहे थे और जीविका बंद-सी होती जा रही थी। इनके किसी दूसरे व्यवसाय का पता हमें इनकी किसी रचना से नहीं चलता न यही विदित होता है कि इनकी उक्त उदासीनता किसी अन्य व्यवसाय के प्रति आकर्षण के कारण थी। जान पड़ता है कि अपने पिता के जीवित रहने तक तो इनका काम-धाम एक ठेकाने से चलता रहा किंतु उनकी मृत्यु के अनंतर जब कुटुंब का सारा भार इनके ऊपर पड़ा तब इन्होंने अपनी परिवर्तित मनोवृत्ति के कारण उसे भली भाँति सँभाला नहीं अपितु उसके प्रति क्रमशः शिथिलता ही दिखलाते गए। अंत में यह नौबत आयी कि इनके बाल-बच्चे भूखों मरने तक की स्थिति को पहुँच गए।

आर्थिक परिस्थिति

अपने दायित्व का अनुभव कर जिस समय कबीर साहब को व्यवसाय के प्रति अधिक ध्यान देने की आवश्यकता थी उसी समय इन्होंने तनना-बुनना सभी कुछ को छोड़ कर अपने शरीर पर 'रामनाम' लिख लिया।[3] अब इन्हें यह सब सूझता ही न था और ये हरि रस में सराबोर हो रहे थे।[4] इन्हें समझ पड़ता था कि मेरा व्यवसाय वास्तव में उस 'कोरी' का व्यवसाय है जिसने सारे जगत् में अपना ताना-बाना तान रखा है और अपने घर में ही उसका परिचय पा लेने के कारण

---

१ गुरुग्रंथ साहब राग आसा पद २६।
२ वही राग गौड़ पद ६।
३ वही राग गूजरी पद २।
४ वही राग बिलावल पद ४।

मैंने अब अपना असली घर पहचान लिया है ।[१] और मेरा काम अब "बुनि बुनि आपु आप पहिरावउ"[२] के रूप मे आध्यात्मिक आत्मानुभूति मात्र रह गया है। अब ऐसा कहने मे इन्हे तनिक भी हिचक न होती थी कि "मैंने अपने हाथ मे मुराडा लेकर अपना घर जला डाला है। मैं उसका भी घर जला दूंगा जो मेरे साथ आगे बढने पर तैयार होगा।"[३] अब इन्हे कदाचित् अपने उस कथन[४] की ओर भी ध्यान न था कि "अपनी माता के गर्भ से उत्पन्न होने के समय से ही मैंने कभी सुख का अनुभव नही किया। यदि मैं डाल-डाल चलता हूँ, तो दु ख मुझे पात-पात खदेडे फिरता है।" परन्तु इनके कुटुबवालो को यह बात कैसे सह्य हो सकती थी। जैसे पहले कहा जा चुका है, इनकी सतान की दुर्दशा के कारण इनकी माता तथा स्त्री को बडी चिंता थी और इसका मूल कारण इन्ही को मान कर इन्हे वे बुरा-भला भी कह डालती थी। इतना ही नही, जब कभी इनके द्वार पर कोई साधु-सत आ जाता, तब वे अपनी वर्तमान दशा का कुछ अश तक उनको भी कारण मान कर उनमे जल-भुन जाती और उनके प्रति अनेक निंदा-सूचक शब्दो के प्रयोग करने लगती। इनकी स्त्री का कहना है कि "लडके-लडकियो को तो खाना नही मिल पाता, किंतु ये मुडिया वा वैरागी सन्यासी आदि नित्य प्रति सिर पर सवार बने रहते हैं। एक-दो घर मे रहते हैं, दूसरे मार्ग मे आते-जाते दीख पडते हैं। हमे तो सोने के लिए चटाई मिलती है और इनके लिए खाट वा चारपाई दी जाती है। ये सिर घुटा कर तथा कमर मे पोथी बाँध कर आया करते है और रोटी खाया करते हैं, किंतु हमलोगो को चना चबा कर ही रह जाना पडता है। ये मुडिया मेरे पति के साथ नाता जोड कर उसे भी मुडिया बनाये हुए है और इन सबने हमे डुबा देने की ठान ली है।"[५]

अपना आदर्श

परन्तु कबीर साहब द्वारा अपने पैतृक व्यवसाय के प्रति प्रदर्शित उक्त उदासीनता का वास्तविक परिणाम यह नही रहा कि इन्होने अपनी आर्थिक कठिनाइयो की ओर से अपनी दृष्टि एकदम फेर ली और एक निठल्ले की भाँति हाथ पर हाथ धरे बैठ गए। ये अपना व्यवसाय किसी न किसी रूप मे कदाचित् अत तक चलाते

---

१ गुरुग्रथ साहब, राग आसा, पद ३६ ।
२ वही, राग भैरउ, पद ७ ।
३ कबीर ग्रथावली, का० स०, साखी १३, पृ० ६७ ।
४ वही, साखी ११, पृ० ६२ ।
५ गुरुग्रथ साहब, राग गौड, पद ६ ।

रहे और इस प्रकार जो कुछ भी मिला करता था उससे संतोषपूर्वक अपना जीवन-यापन करते रहे। ये अपनी आध्यात्मिक साधनाओं तथा चिंतनों में कहीं अधिक समय दिया करते थे। इसी कारण ये सब बातें इनके लिए गौण मात्र हो गई थीं। इन्होंने अपने वा अपने कुटुंब के लिए कभी किसी के सामने हाथ फैलाया हो इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इनका तो यहाँ तक कहना है कि 'यदि भगवान् टेक रख ले तो अपने बाप से भी कुछ माँगना भला नहीं समझना चाहिए। माँगना वस्तुतः मरने के समान है।'[1] एक साधारण छोटे-से परिवार के लिए आवश्यक सामग्री के विषय में भी कबीर साहब का अपना निजी आदर्श था। इनका कहना[2] है कि 'हे भगवान्, मुझसे आपकी भक्ति नहीं हो सकती और मुझे किसी का देना-लेना नहीं है। यदि तुम मुझे स्वयं कुछ नहीं देते तो मैं तुमसे माँग कर लेना चाहता हूँ। मैं दो सेर चून वा आटा माँगता हूँ और साथ ही पाव भर घी तथा नमक भी चाहता हूँ। आधा सेर मुझे दाल भी चाहिए जिससे एक आदमी का दोनों समय के लिए भोजन का प्रबंध हो जाय। फिर सोने के लिए एक चारपाई माँगता हूँ जिस पर एक तकिया तथा रुई से भरा कोई गद्दा भी हो और ओढ़ने के लिए मुझे एक खींधा (कदाचित् कोई सिली हुई ओढ़नी) भी चाहिए। मैंने किंचिन्मात्र भी किसी से माँगने की अब तक चेष्टा नहीं की है।" इन पंक्तियों द्वारा स्पष्ट है कि इनकी माँग किसी एक व्यक्ति की अत्यंत आवश्यक वस्तुओं तक ही सीमित है और उसका लक्ष्य भी कोई संसारी पुरुष न होकर स्वयं भगवान् है।

(९) वेश भूषा तथा रहन-सहन

सादगी

कबीर साहब को सादा जीवन पसंद था और ये आडंबरों से दूर भागते थे। ये कहा करते थे कि "हमारा काम केवल नाम का जप करना तथा अन्न का भी 'जप' करना है जो पानी की सहायता से उत्तम बन जाता है।" ये अन्न के त्याग को पाखंड समझते थे और केवल दूध आदि के ही आधार पर शरीर की रक्षा करने को भी व्यर्थ बतलाते थे। ऐसे फलाहारियों को इन्होंने "ना सोहागिनि ना औहि रंड" कह कर उनकी हँसी तक उड़ायी है।[3] ये पहनावे में भी किसी विशेष आडंबर के पक्षपाती न थे। इनका कहना था कि सोलहों शृंगार करके भी अपने प्रियतम को रिझाया नहीं जा सकता, वह तो सच्चा हृदय चाहता है। उसके लिए भिन्न

---

१ कबीर-ग्रंथावली का सं० पृ० ५९।
२ गुरुग्रंथ साहब राग सोरठि पद ११।
३ वही राग गौड़ पद ११।

विभिन्न वेश में कबीर के चित्र

विभिन्न वेश में कबीर के चित्र

भिन्न प्रकार के भेषो का धारण करना व्यर्थ का प्रयास है।[1] इसीलिए ये थोडे मे इस प्रकार भी कहा करते थे कि "अपने स्वामी के साथ सच्चे हृदय से व्यवहार करते हुए औरो से भी सूधा बना रहना ही सबका लक्ष्य होना चाहिए।"[2]

साम्प्रदायिक चित्र

परन्तु इनकी अपनी वेश-भूषा तथा रहन-सहन के विषय मे कुछ निश्चित रूप से पता नही चलता। उपलब्ध चित्रो के सहारे इनके कद तथा पहनावे के सबध मे कुछ अनुमान किया जा सकता था, किंतु इन चित्रो की भी प्रामाणिकता अभी तक सिद्ध नही। यदि इन सबकी तुलना कर कोई परिणाम निकालने की चेष्टा की जाती है, तो जान पडता है कि इनमे से कई एक किसी उद्देश्य-विशेष से चित्रकार की एक निश्चित धारणा के अनुसार कभी पीछे से बनाये गए होगे। इनमे इसी कारण कबीर साहब की वास्तविक प्रतिकृति की खोज करना ठीक न होगा। ऐसे चित्र विशेषकर वे हैं जिनकी आजकल कबीर-पथ के अनुयायी बहुधा पूजा किया करते हैं। इन चित्रो मे भी आपस मे पूर्ण समानता नही दीख पडती। उदाहरण के लिए कबीरचौरा, काशी के चित्र मे जिसकी प्रामाणिकता के विषय मे कबीर-पथी लोग अधिक विश्वास कर सकते है, कबीर साहब एक मझले कद के मनुष्य जान पडते हैं। इनकी मुखाकृति बहुत लबी नही है और इनके पायजामे आदि की बनावट से सूचित होता है कि ये कदाचित् पछाँह के रहनेवाले है। किंतु प्राय इसी प्रकार के एक अन्य चित्र से जिसमे कबीर साहब अकेले ही दिखलाये गए हैं और जो रामरहसदास के प्रसिद्ध ग्रथ 'पचग्रथी' के बडोदावाले सटीक सस्करण मे दिया गया है, प्रतीत होता है कि इनका शरीर लबा था। इनका चेहरा भी काफी लबा था और इनके पहनावे मे धोती आदि को देखने से समझ पडता है कि ये किसी पूर्वी प्रात के निवासी रहे होगे। इसी प्रकार ऐसे ही एक दूसरे चित्र को देख कर जो एक मद्रास मे छपी पुस्तक[3] मे दिया गया है। इनके कद तथा आकृति की लबाई का अनुमान उक्त दूसरे चित्र के समान किया जा सकता है। किंतु इसमे प्रदर्शित कबीर साहब के कानो मे नाथ-पथी कुडल तथा सामने रखी हुई पोथी को देख इसकी प्रामाणिकता मे सदेह भी होने लगता है।[4]

---

१ कबीर-ग्रथावली, का० स०, साखी २३, पृ० ४७।

२ वही, साखी ११, पृ० ४६।

३ रामानद टु रामतीर्थ, जी० ए० नटेसन ऐंड को मद्रास,

४ दे० एक अन्य चित्र जो भी कँवर सग्राम सिंह जी के यहाँ के सग्रह मे मिला है। वह 'कबीर साहित्य की परख' मे दिया गया है। —ले०।

आलोचना

ऐसे चित्रों में कबीर साहब को तुलसी की मालाएँ पहनायी गई हैं और इनके ललाट पर लंबा तिलक दिया गया है जिनका इनके अनुसार कदाचित् कोई महत्त्व न था। इनके सिर के चतुर्दिक प्रदर्शित प्रकाश-मंडल तथा ऊपर के छत्र से सूचित होता है कि चित्रकार ने इन्हें महानता की एक विशेष भावना के साथ चित्रित किया है। कबीरचौरावाले चित्र में दिखलाये गए सुरत गोपाल तथा धर्मदास जैसे शिष्य और चँवरधारी कमाल के कारण यह भी बोध होता है कि इन चित्रों के बनानेवालों का मुख्य उद्देश्य इन्हें कोई निश्चित साम्प्रदायिक स्वरूप देना ही रहा होगा और इनमें कल्पना का अंश बहुत अधिक है।

व्यावसायिक चित्र

कबीर साहब के कुछ ऐसे चित्र भी मिलते हैं जिनमें वे एक करघे पर बैठे काम करते हुए दिखलाये गए हैं। इनमें से एक वह है जिसका मूल 'बृटिश म्यूजियम' में सुरक्षित है। यह चित्र मुगल-शैली का है और इसका निर्माण-काल ईसा की अठारहवीं शताब्दी बतलाया जाता है। इस चित्र में कबीर साहब के शरीर पर कोई कपड़ा नहीं है केवल कमर में धोती और सिर पर एक मोटे कपड़े की टोपी है। उनके सामने करघा फैला हुआ है और दोनों ओर एक-एक शिष्य वा भक्त बैठे हुए हैं। पीछे एक वृक्ष है जिसके नीचे एक छोटी-सी मढ़ी बनी हुई है। सिर, दाढ़ी तथा मूँछ के बाल छोटे-छोटे पके और बराबर दीख पड़ते हैं और चित्र में इनकी वय का अनुमान साठ वर्षों का किया जा सकता है। परन्तु इस चित्र में भी इनके गले तथा दाहिने हाथ की कलाई में तुलसी की मालाएँ हैं। इस चित्र से मिलता-जुलता एक चित्र कलकत्ते के म्यूजियम म भी वर्तमान है जिसमे कबीर साहब के पीछे कोई मढ़ी नहीं दीख पड़ती और शिष्य वा भक्त भी एक ही दिखलाया गया है। इस चित्र में सर्वत्र एक प्रकार की सादगी तथा स्वाभाविकता-सी लक्षित होती है और जान पड़ता है कि सभवत इसी को पहले देख कर उक्त प्रथम चित्र के रचयिता ने उसे बनाते समय कुछ अधिक सुव्यवस्थित और सुसज्जित कर दिया होगा। इस चित्र में कोई वैसी दाढ़ी नहीं दिखलायी गई है किन्तु मालाएँ ठीक उसी प्रकार पहनायी गई है। इस चित्र में कबीर साहब की अवस्था ५ वर्षों से अधिक की नहीं है। दोनों चित्रों से वे मझोले कद के ही जान पड़ते हैं और इनके मुख की मुद्रा भी प्राय एक ही प्रकार की है।

करघे पर बैठे हुए कबीर साहब का एक तीसरा चित्र भी मिलता है जो गुरु अर्जुन देव के लाहौरवाले गुरुद्वारे में फ्रेस्को के रूप में वर्तमान है। इस चित्र में कबीर साहब छोटे कद के दिखलाये गए हैं और इनका सिर भी लबे की जगह बहुत कुछ

चौडा और चपटा-सा है। शरीर पर कुछ साधारण पहनावा है और सिर पर एक समले के ढग की टोपी वा पगडी दी हुई है। इसमे इनकी बायी ओर तीन शिष्य वा भक्त हैं और दाहिनी ओर एक स्त्री बैठी हुई है। मढी, वृक्ष तथा करघे की भी अनुकृतियाँ ठीक और स्वाभाविक नही समझ पडती। दाढी तथा मूँछें कुछ बडी-बडी हैं और अवस्था प्राय ५० की होगी। इस चित्र मे भी कबीर साहब के गले मे माला पडी हुई है और एक इनकी दाहिनी कलाई मे भी कदाचित् बँधी हुई है। स्पष्ट है कि उक्त तीनो चित्र इनके गृहस्थ रूप के परिचायक हैं। परन्तु तीनो मे कुछ न कुछ भिन्नता है और इनमे तथा उक्त प्रथम वर्ग के चित्रो मे कोई समानता नही।

सूफी का चित्र

उक्त प्रथम तथा द्वितीय वर्ग के चित्रो के अतिरिक्त भी कुछ चित्र मिलते है, जिन पर विचार कर लेना आवश्यक है। इनमे से एक वह है जो स्वामी युगलानद कबीर-पथी द्वारा 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' को मिला है और जिसकी प्रतिकृति सभा-भवन मे रखी हुई है। इस चित्र मे कबीर साहब का कद मझले से कुछ अधिक समझ पडता है, मुखाकृति लबी-सी है और दाढी तथा मूँछें भी लबी-लबी हैं। इन्होने सिर पर एक लबी ऊँची टोपी पहनी है और शरीर पर एक चोगा वा ढीला-ढाला कोई पहनावा डाल रखा है, जिसे भिन्न-भिन्न रग के छोटे-छोटे कपडे सिल कर तैयार किया गया है, अवस्था प्राय ७० की जान पडती है। इसमे तिलक वा तुलसी-माला को कही स्थान नही मिला है। वेश-भूषा अधिकतर सूफियो से मिलती-जुलती है। इस चित्र का कोई ऐतिहासिक परिचय अभी तक उपलब्ध नही हुआ है। इस कारण इसकी प्रामाणिकता के विषय मे अतिम निर्णय नही दिया जा सकता। फिर भी कबीर-पथी लोगो के यहाँ से उपलब्ध होने के कारण इसे कुछ महत्त्व दिया जा सकता है।

कबीर साहब का एक दूसरा चित्र वह समझा जाता है जिसकी मूल प्रति पूना की 'चित्रशाला' मे सुरक्षित है और जो 'भारत-इतिहास-सशोधक-मडल', पूना से प्राप्त कर 'सत कबीर' नामक पुस्तक के प्रारभ मे दिया गया है। इसके लिए कहा गया है कि यह प्रसिद्ध नाना फडनवीस (कार्यकाल स० १८३०-५६) के चित्र-सग्रह से प्राप्त किया गया है। नाना फडनवीस सतो के प्रति श्रद्धावान और सदैव उनके चित्रो की खोज मे रहते थे। उसी भावना से प्रेरित होकर उन्होने उत्तरी भारत से यह चित्र प्राप्त किया था। चित्रकार वा चित्र की तिथि अज्ञात है।[1] इस चित्र मे कबीर साहब एक बिछौने पर मसनद के सहारे बैठे दीख पडते

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा सत कबीर, इलाहाबाद, १९४३ ई०, पृ० ७।

है। इनका कद संभवतः मझोला है और इनका पहनावा अफगानी कुर्ता जैसा है। इनके सिर पर एक टोपी है जिसके नीचे तथा पीछे की ओर इनके जुल्फ जैसे बाल दिखलाये गए हैं। इनकी दाढी उतनी बड़ी नही है जितनी ऊपर के चित्र म दीख पड़ती है और अवस्था लगभग ६०-७ वर्षों की जान पड़ती है। इस चित्र मे कबीर साहब के हाथ मे एक वाद्य-यंत्र भी दिखलाया गया है जिस पर हाथ फेरते हुए ये किसी भाव म मग्न-से समझ पड़ते हैं। इस चित्र म भी किसी तिलक वा तुलसी माला के चिह्न नही हैं। इसका मुस्लिम वातावरण स्पष्ट है।

निष्कर्ष

इस प्रकार यदि उक्त प्रथम वर्ग के चित्रो में कबीर साहब एक हिन्दू साधु वा महंत के रूप में वर्तमान किसी अलौकिक महापुरुष के समान दीख पड़ते हैं तो उक्त तीसरे वर्ग के अंतिम दो चित्रो म वे एक पूरे मुस्लिम फकीर तथा पीर जान पड़ते हैं। दोनो मे अवस्था का अनुमान ६ वर्ष वा उससे अधिक का ही किया जा सकता है। उधर दूसरे वर्ग के चित्रो मे अवस्था कुछ कम भी कही जा सकती है और ये उनमें मुस्लिम जुलाहा वा हिन्दू कोरी समझे जा सकते हैं। अतएव उक्त सारे चित्रो मे पारस्परिक विभिन्नताओ के रहते हुए भी यदि उनके आधार पर मोटे तौर पर यह अनुमान कर लिया जाय कि ये लगभग ६ वर्ष की अवस्था मे गृह-कार्य छोड़ कर उपदेश वा प्रचार में लग गये होंगे तो भी इनकी अंतिम वेश-भूषा के विषय में हमारी धारणा निश्चित नही हो पाती। हाँ यदि उक्त प्रथम वर्ग के चित्रों मे कल्पित भावनाओ का अंश अधिक हो तो तीसरे वर्ग के किसी एक को आधार मान कर कोई सामंजस्य बिठलाया जा सकता है।

(१) रचनाएँ

रचना-संग्रह

कबीर साहब ने ज्ञानार्जन अधिकतर सत्संग द्वारा किया था और इन्हे कुछ पढने-लिखने की आवश्यकता नही पड़ी थी। फिर भी इनकी 'बावन अखरी' जैसी रचनाओ को देखने से प्रतीत होता है कि इन्हे नागरी-अक्षरो की वर्णमाला अवश्य विदित थी। इन्होने कदाचित् कोई पोथियाँ नही पढी न इनके पोथी-जैसी किसी रचना के लिखने का ही हमे कोई प्रमाण उपलब्ध है। जो कुछ इनकी रचनाएँ इस समय हमे देखने को मिलती हैं वे सभी फुटकर पदो साखियो रमैनियों वा अन्य प्रकार की कविताओ के संग्रह-मात्र हैं। उनमे से अधिक रचनाएँ ऐसी हैं जो गायी भी जा सकती हैं अथवा कुछ ऐसी भी हैं जो छोटी-छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण होने के कारण लोगो के कठस्थ रहने योग्य हैं। अतएव इनकी रचनाओ के रूपो मे बराबर कुछ न कुछ परिवर्तन होता आया है और कभी-कभी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा

चौडा और चपटा-सा है। शरीर पर कुछ साधारण पहनावा है और सिर पर एक समले के ढग की टोपी वा पगडी दी हुई है। इसमे इनकी बायी ओर तीन शिष्य वा भक्त हैं और दाहिनी ओर एक स्त्री बैठी हुई है। मढी, वृक्ष तथा करघे की भी अनुकृतियाँ ठीक और स्वाभाविक नही समझ पडती। दाढी तथा मूँछें कुछ बडी-बडी हैं और अवस्था प्राय ५० की होगी। इस चित्र मे भी कबीर साहब के गले मे माला पडी हुई है और एक इनकी दाहिनी कलाई मे भी कदाचित् बँधी हुई है। स्पष्ट है कि उक्त तीनो चित्र इनके गृहस्थ रूप के परिचायक है। परन्तु तीनो मे कुछ न कुछ भिन्नता है और इनमे तथा उक्त प्रथम वर्ग के चित्रो मे कोई समानता नही।

सूफी का चित्र

उक्त प्रथम तथा द्वितीय वर्ग के चित्रो के अतिरिक्त भी कुछ चित्र मिलते हैं, जिन पर विचार कर लेना आवश्यक है। इनमे से एक वह है जो स्वामी युगलानद कबीर-पथी द्वारा 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' को मिला है और जिसकी प्रतिकृति सभा-भवन मे रखी हुई है। इस चित्र मे कबीर साहब का कद मझले से कुछ अधिक समझ पडता है, मुखाकृति लबी-सी है और दाढी तथा मूँछें भी लबी-लबी हैं। इन्होने सिर पर एक लबी ऊँची टोपी पहनी है और शरीर पर एक चोगा वा ढीला-ढाला कोई पहनावा डाल रखा है, जिसे भिन्न-भिन्न रग के छोटे-छोटे कपडे सिल कर तैयार किया गया हैं, अवस्था प्राय ७० की जान पडती है। इसमे तिलक वा तुलसी-माला को कही स्थान नही मिला है। वेश-भूषा अधिकतर सूफियो से मिलती-जुलती है। इस चित्र का कोई ऐतिहासिक परिचय अभी तक उपलब्ध नही हुआ है। इस कारण इसकी प्रामाणिकता के विषय मे अतिम निर्णय नही दिया जा सकता। फिर भी कबीर-पथी लोगो के यहाँ से उपलब्ध होने के कारण इसे कुछ महत्त्व दिया जा सकता है।

कबीर साहब का एक दूसरा चित्र वह समझा जाता है जिसकी मूल प्रति पूना की 'चित्रशाला' मे सुरक्षित है और जो 'भारत-इतिहास-सशोधक-मडल', पूना से प्राप्त कर 'सत कबीर' नामक पुस्तक के प्रारभ मे दिया गया है। इसके लिए कहा गया है कि यह प्रसिद्ध नाना फडनवीस (कार्यकाल स० १८३०-५६) के चित्र-सग्रह से प्राप्त किया गया है। नाना फडनवीस सतो के प्रति श्रद्धावान और सदैव उनके चित्रो की खोज मे रहते थे। उसी भावना से प्रेरित होकर उन्होने उत्तरी भारत से यह चित्र प्राप्त किया था। चित्रकार वा चित्र की तिथि अज्ञात है।[1] इस चित्र मे कबीर साहब एक बिछौने पर मसनद के सहारे बैठे दीख पडते

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा सत कबीर, इलाहाबाद, १९४३ ई०, पृ० ७।

तथा प्रामाणिक जान पड़ती है और इनमें से एक बहुत बड़े अंश को हम इनकी वास्तविक रचना निस्संदेह मान सकते हैं।

कबीर-ग्रंथावली

इसी प्रकार कबीर साहब की रचनाओं का एक दूसरा संग्रह वह है जो किसी प्राचीन हस्तलिखित प्रति के आधार पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित किया गया है और जिसकी लगभग ५ साखियाँ और ५ पद उक्त 'गुरु-ग्रंथ साहब' के समान हैं। शेष लगभग साढ़े सात सौ साखियाँ तथा चार सौ पद ऐसे हैं जो उनमें आयी हुई ऐसी रचनाओं से बहुत कुछ भिन्न हैं। इसके सिवाय इस दूसरे संग्रह में जो 'रमैणी' नामक रचना संगृहीत है वह भी उक्त पहले संग्रह में नहीं है। यह दूसरा संग्रह दो पुरानी हस्तलिपियों के आधार पर तैयार किया गया है जिसमें से एक सं० १८८१ तथा दूसरी सं० १५६१ की कही जाती है। उसमें सं० १५६१ वाली प्रति के प्रथम तथा अंतिम पृष्ठों की प्रतिलिपियाँ भी दी गयी हैं और उनसे इस प्रति की प्रामाणिकता के जाँचने में सहायता मिलती है। इसके अंतिम पृष्ठ की प्रतिलिपि में जो 'संपूर्ण संवत् १५६१' आदि लिखा है वह दूसरी लेखनी और दूसरे समय का लिखा जान पड़ता है। इस कारण वह उस अंश तक बढ़ाया गया समझ पड़ता है जो ऐसा संदेह करने के लिए हमें उत्साहित करता है कि संभव है उक्त प्रति सं० १५६१ की प्रतिलिपि न हो। फिर भी इस 'ग्रंथावली' में प्रकाशित रचनाओं की भाषा और उनके बेसुधरे रूप आदि से अनुमान किया जा सकता है कि वे भी बहुत कुछ प्राचीन तथा प्रामाणिक होंगी।

बयाना प्रति

इसी प्रकार 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को कुछ दिन हुए एक ऐसा अन्य हस्तलेख भी मिला है जो प्राचीन तथा प्रामाणिक रचनाओं का संग्रह जान पड़ता है और जो पदों की समानता के आधार पर उक्त 'ग्रंथावली' की रचनाओं को प्रमाणित करता है। इस संग्रह की प्रति एक गुटके के अंतर्गत बयाना में मिली है और इसमें दिये गए संवत् के कारण इसका लिपि-काल सं० १८५५ जान पड़ता है। इसमें संगृहीत कबीर साहब के पदों की टीका भी दी गई है जो कहीं-कहीं एक से अधिक ढंग की है और जिसकी भाषा पुरानी है। पर अधिक नहीं है किंतु उनमें से कुछ ऐसे हैं जो उक्त 'ग्रंथावली' में नहीं पाये जाते। वास्तव में इस 'बयाना प्रति' का आधार कोई और ही प्रति रही होगी जिसमें से इसमें आये हुए पद संगृहीत कर लिये गए होंगे और जिसका पता उक्त गुटके से भी नहीं चलता। कई दृष्टियों से यह प्रति भी बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसका प्रयोग उक्त 'ग्रंथावली' का समुचित संस्करण निकालते समय भली भाँति किया जा सकता है। इस बयाना प्रति के ही समान

उनके अनुकरण मे अन्य वैसी ही रचनाओ के निर्मित होते आने के कारण उनके रचना-सग्रहो के अतर्गत ऐसी कविताओ का भी समावेश हो गया है जो सरलता-पूर्वक पहचान कर अलग नही की जा सकती और जो इसी कारण कबीर साहब के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। इनके जीवन-काल मे अथवा इनके मरने के अनतर आज तक कितने ऐसे सग्रह बन चुके होगे, इसका कोई पता नही है, न अभी तक यही विदित है कि इनमे से सर्वप्रथम कौन बना था, किसके द्वारा प्रस्तुत किया गया था तथा उसका भी मौलिक वा प्रामाणिक रूप अभी तक उपलब्ध है वा नही। प्रसिद्ध है कि कबीर साहब के शिष्य धर्मदास ने सर्वप्रथम स० १५२१ मे इनकी रचनाओ का एक सग्रह 'बीजक' के रूप मे तैयार किया था। किंतु 'बीजक' का जो अधिक से अधिक प्रामाणिक पाठ समझा जाता है, उसको ध्यानपूर्वक देखने से उक्त सग्रह की प्राचीनता मे सदेह होने लगता है। इसमे सगृहीत कुछ रचनाओ का कबीर साहब के परवर्त्ती कवियो द्वारा निर्मित किया जाना भी स्पष्ट है। ग्रथ की भाषा इसे 'गुरुग्रथ साहब' जैसे अन्य ऐसे सग्रहो से पीछे की कृति मानने के लिए हमे बाध्य करती है। इस कारण सभव है कि उक्त ग्रथ कबीर साहब के देहात के बहुत पीछे सगृहीत किया गया हो। सभव है कि उसका सग्रह विक्रम की सत्रहवी शताब्दी के कभी मध्यकाल मे हुआ हो। जब तक उनकी रचनाओ के रूप मे बहुत हेर-फेर हो चुका था और जब कदाचित् बहुत कुछ 'गुरुग्रथ साहब' के आदर्श पर ही उसे बनाने की आवश्यकता भी पडी थी।[1]

ग्रथसाहब

सिक्खो के मान्य ग्रथ 'गुरुग्रथ साहब' वा 'आदिग्रथ' मे सिक्ख गुरुओ की रचनाओ के अतिरिक्त अन्य सतो की कविताएँ भी सगृहीत हैं। इस समय स० १६६१ मे वह गुरु अर्जुन द्वारा सगृहीत हुआ, तब से उसका पाठ पूज्य ग्रथ होने के कारण प्राय शुद्ध ही रहता आया है। फिर भी उसमे सगृहीत कबीर साहब की रचनाओ की सावधानी के साथ परीक्षा करने पर पता चलता है कि उक्त समय मे भी इनकी कृतियो के नाम से दूसरो की कुछ रचनाओ की प्रसिद्धि होने लगी थी और वे बिना किसी सकोच के वैसे सग्रहो मे स्थान पाने लगी थी। जो हो, 'गुरु-ग्रथ साहब' के अतर्गत कबीर साहब की रचनाओ के रूप मे लगभग सवा दो सौ पद तथा ढाई सौ 'सलोक' वा साखियाँ सगृहीत हैं। इनकी भाषा बहुत कुछ प्राचीन

---

१ इस सबध मे दे० 'कबीर बीजक की पाठ-परपरा' 'हिन्दुस्तानी', प्रयाग, भा० १९, अ० २ पृ० ७६-८९ जहाँ पर डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कुछ अन्य तर्क भी दिये हैं। —ले०।

में यों ही सम्मिलित कर लिया है। बेलवेडियर प्रेस से 'कबीर साहब का साखी संग्रह' में साखियों की संख्या २१२८ और 'कबीरसाहिब की शब्दावली (चारों भाग) के शब्दों की संख्या ६१२ है। फिर भी इसके शब्दों के अंतर्गत कुछ वे शब्द नहीं आ पाये हैं जो 'शांति निकेतन' द्वारा प्रकाशित 'कबीर' नामक संग्रह में संगृहीत हैं। उसी प्रकार न उक्त 'साखी-संग्रह' में ही वे सभी साखियाँ आ सकी हैं जो बंबई से प्रकाशित 'सत्य कबीर की साखी' में आती हैं। जान पड़ता है कि समय ज्यों-ज्यों व्यतीत होता गया है त्यों-त्यों कबीर साहब की रचनाओं की संख्या बढ़ाने की चेष्टा भी होती गई है और अब कबीर-पंथ के अनुयायी लोगों में उन्हें सहस्रों वा लाखों तक की संख्या में बतलाने की परंपरा चल निकली है उदाहरण के लिए प्रसिद्ध है कि कबीर साहब ने 'सहस छानबे औ छव लाखा। जुग परमान रमैनी भाखा'[1] अर्थात् युगधर्मानुसार छह लाख छियानबे हजार की संख्या में केवल रमैनियों की रचना की थी। इसके सिवाय अन्यत्र यहाँ तक भी कहा गया है—"बहे पत्र बनास्पति औ गंगा की रेन। पंडित बिचारा क्या कहै कबीर कही मुख बैन।[2] इधर खोज करने पर डॉ. पारसनाथ तिवारी को कबीर साहब की कही जाने वाली रचनाओं में से लगभग १६ सौ पद साढ़े चार सहस्र साखियाँ और २१४ रमैनियाँ मिली हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी ऐसी रचनाएँ मिली हैं जिन्हें कबीर कृत कहा जाता है किंतु उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ कई हस्तलिखित प्रतियों को प्रामाणिक मान कर और उनकी छानबीन करके इनके २ पद २ रमैनियों १ चौंतीसी रमैनी ७ साखियों को ठीक माना है।[3]

कृतियों का रूप

'साखी' शब्द संस्कृत के 'साक्षी' का रूपांतर है और इसका मूल अर्थ है वह पुरुष जिसने किसी वस्तु वा घटना को अपनी आँखों देखा है। ऐसे साक्षात् अनुभव द्वारा ही किसी बात का यथार्थ ज्ञान होना संभव है जिस कारण 'साक्षी' वा 'साखी' शब्द से अभिप्राय उस पुरुष से ही होगा जो उक्त बात के विषय में कोई विवाद खड़ा होने पर निर्णय करते समय प्रमाण-स्वरूप समझा जा सके। इस कारण कबीर साहब की दोहे सोरठे आदि के रूपों में पायी जानेवाली छोटी-छोटी रचनाओं के साखी कहे जाने का अभिप्राय भी यही हो सकता है कि उनका प्रयोग हम अपने दैनिक जीवन में कभी-कभी नैतिक आध्यात्मिक वा व्यावहारिक उलझनों के सामने

---

१ हिंदुस्तानी भा० २ अं० १४ पृ० ३७।

२ बीजक साखी २६१।

३ कबीर ग्रंथावली प्रकाश १९६१ ई०।

अभी और भी सग्रह खोज मे मिल सकते है, इस कारण उक्त सग्रहो की रचनाओ के विषय मे अतिम निर्णय देना कठिन है ।

अन्य सग्रह

'गुरुग्रथ साहव' तथा 'कवीर-ग्रथावली' जैसे सग्रह वे हैं जिनमे आयी हुई रचनाओ के प्राचीन और प्रामाणिक कहने मे हमे अधिक विचार करने की आवश्यकता नही पडती । यही वात हम इनके रज्जवजी की 'सर्वगी' तथा 'पचवाणी' नामक 'साम्प्रदायिक सग्रहो' मे सगृहीत पदो तथा साखियो के विषय मे भी कह सकते है । यदि अन्य वैसे सग्रहो की भी प्रतियाँ आगे उपलव्ध हो सकें, तो हम किसी अतिम निर्णय पर कदाचित् पहुँच भी सकेंगे । किंतु कवीर साहव की रचनाओ के नाम से आजकल वहुत-से ऐसे सग्रह वा ग्रथ भी प्रकाशित हो चुके है जिन्हे देखते ही उनकी प्रामाणिकता मे हमे कुछ न कुछ सदेह होने लगता है और इस वात का निर्णय करना वहुत कठिन हो जाता है कि उनके कितने अश प्रामाणिक हो सकते है । कवीर साहव के नाम से प्रसिद्ध कोई ग्रथ तो स्पष्ट ही अप्रामाणिक है, क्योकि उनके द्वारा किसी ग्रथ के रचे जाने का कोई प्रमाण नही मिलता । परन्तु उनका समय-समय पर पदो, साखियों वा अन्य ऐसी रचनाओ का मुख से कहना तथा श्रोताओ का उन्हे कठस्थ कर लेना वा लिख लेना और किसी समय आगे चल कर उनका सग्रहो के रूप मे भी लिपिवद्ध कर लिया जाना अधिक सभव जान पडता है । ऐसे सग्रह कई भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा कई भिन्न-भिन्न स्थानो पर हुए होगे । सभव है कुछ रचनाएँ सगृहीत होने से वच भी रही होगी । इन्ही बच गयी रचनाओ मे उनके अधिकतर मौखिक ही रह जाने के कारण वहुत कुछ परिवर्तन भी हो गया होगा । अनेक प्राचीन लिपिवद्ध रचनाओ के भी मौखिक रूपो मे क्रमश अतर पडते जाने की सभावना हो सकती है । परन्तु जहाँ उनकी मौलिकता का पता उनके उक्त लिपिबद्ध रूप से चल सकता है, वहाँ केवल मौखिक रूप मे आती हुई और बहुत पीछे लिपिवद्ध होनेवाली रचनायो के विषय मे हम ऐसा नही कह सकते ।

वहुत पीछे लिपिवद्ध की गई वे रचनाएँ कही जा सकती है जिनके सग्रह वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग आदि से प्रकाशित हुए हैं, जिनके रूप नितात आधुनिक तथा नवीन समझ पडते हैं । इनकी भाषा मे कई मुखो द्वारा उच्चरित होते आने के कारण वहुत फेर-फार हो गया है । ऐसे सग्रहो की अनेक रचनाएँ प्राय वे ही हैं जो पुराने लिपिवद्ध सग्रहो मे भी आ चुकी हैं, किंतु जो रूपातर हो जाने से वहुत भिन्न हो गई हैं । शेष मे से एक पर्याप्त सख्या उक्त रचनाओ की भी है जो सभवत दूसरो की कृतियाँ हैं । किंतु जो भावसाम्य के कारण एक साथ कर ली गई हैं अथवा जिनकी प्रामाणिकता के विषय मे खोज-पूछ करने के झमेले मे न पड कर सग्रहकर्ता

भगवान् के लिए प्रयुक्त 'राम' 'हरि' 'नारायण' 'मुकुंद' जैसे शब्दों के बाहुल्य से भी इसी धारणा की पुष्टि होती दीखती है। विशेषकर इस प्रसिद्धि के कारण कि इन्हें स्वामी रामानंद ने दीक्षित किया था तथा ये उनके प्रमुख १२ शिष्यों में से एक थे। उक्त प्रकार के कथन में किसी प्रकार के संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। फिर भी इनकी रचनाओं में बहुधा तीर्थ व्रत भेष मूर्तिपूजा जैसी बाह्य बातों के प्रति इनकी अनास्था लक्षित होती है और अवतारवाद तथा शास्त्र विहित नियमों के प्रति इनका विरोधभाव भी दीख पड़ता है। इसके सिवाय उनमें इनका निर्गुण ब्रह्म के महत्त्व का प्रतिपादन भी स्पष्ट शब्दों में किया हुआ मिलता है। इस कारण इन्हें सगुणोपासक न मानकर निर्गुणोपासक ठहराने की प्रवृत्ति अधिक लोगों की समझ पड़ती है। कुछ लोग तो इनकी गणना भी इसी कारण महाराष्ट्रीय 'वारकरी सम्प्रदाय' के संत ज्ञानदेव नामदेव आदि की श्रेणी में करना चाहते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य लोगों की यह भी धारणा है कि ये भक्त न होकर वास्तव में एक शुद्ध विचारक या दार्शनिक थे। इनके अनेक सिद्धांतों में शंकर अद्वैतवाद की गंध पाकर वे अनुमान करते हैं कि ये एक पूरे 'वेदांती' थे तथा इनकी बहुत सी रचनाओं के वेदांतपरक अर्थ करते हुए भी दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार इनकी कुछ उपलब्ध बानियों में योग-साधना की बातें पाकर इन्हें एक पूर्ण योगी या कम से कम नाथ-पंथी सिद्ध करने की ओर भी लोग प्रवृत्त होते हैं। इसके विपरीत कुछ लोगों का इनके विषय में केवल इतना ही कहना भी मिलता है कि ये एक सच्चे सुधारक-मात्र थे जिन्होंने अपने समय की प्रचलित अनेक धार्मिक तथा सामाजिक बुराइयों की कड़ी आलोचना की और उन्हें दूर करने की चेष्टा में ये अपने जीवन भर निरत रहे।

मुस्लिम मतावलंबी

इस उक्त मतधारा के अनुसार कबीर साहब की विचारधारा का मूल स्रोत हिन्दू-धर्म वा हिन्दू-संस्कृति के ही भीतर ढूँढ़ने का यत्न करना चाहिए। परन्तु इसके विरुद्ध कुछ लोग बहुत दिनों से यह भी समझाते आ रहे हैं कि इन्हें हिन्दू-धर्मानुयायियों में गिनना सत्य से कहीं दूर चले जाने के समान होगा। उनके अनुसार इनके जीवन का आरंभ ही इस्लाम धर्म के वातावरण में हुआ था और इनके सारे संस्कार उसी मत के द्वारा प्रभावित थे। इस कारण इनके विचारों में भी उन्हीं बातों की प्रधानता दीख पड़ती है जो उसके सिद्धान्तों से अधिक मिलती-जुलती हैं। उदाहरण के लिए इनका ईश्वर के लिए 'खसम' शब्द का अधिक प्रयोग करना, एक 'ज्योति' मात्र से ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति बतलाना, 'नूर' 'अंबर' 'चौरस चंद' आदि जैसी इस्लामी भाव प्रदर्शक बातों के हवाले देना, योग-साधना का मुख्य लक्ष्य

आने पर उन्हे सुलझाते समय साकेतिक प्रमाणो के रूप मे किया करते हैं। इन साखियो के लिए 'बीजक' मे 'साखी आँखी ज्ञान की'' भी कहा गया है और इनके द्वारा ही ससार के झगडे का छूटना सभव समझा गया है। कबीर साहब की साखियो को सिक्खो के 'गुरुग्रथ साहब' के अतर्गत 'सलोक' के नाम से सगृहीत किया गया है। कबीर साहब के पदो को भी 'शब्द', 'बानी', 'वचन' वा 'उपदेश' कहा जाता है और तदनुसार भिन्न-भिन्न सग्रहकर्ताओ ने इनके सग्रहो के भिन्न-भिन्न नाम दे दिये हैं। ये पद वास्तव मे भजनो के रूप मे गाने योग्य रचनाएँ हैं जिनमे इनके भिन्न-भिन्न उपदेशो के साराश बतलाये गए रहते हैं। इन्ही मे अधिकतर इनकी उलट-बाँसियाँ भी पायी जाती हैं जिनके गूढार्थ को पूर्ण रूप से समझ लेना सर्वसाधारण का काम नही है।

कबीर साहब की 'रमैनियो' का प्रचार अधिकतर कबीर-पथ के अनुयायियो तक ही सीमित है और इनकी रचना दोहे तथा चौपाइयो मे होने के कारण ये विशेषकर नित्य पाठ की वस्तु मानी जाती हैं। 'गुरुग्रथ साहब' के अतर्गत आयी हुई कबीर साहब की रमैनियो के एक सग्रह को 'बावन अखरी' कहा गया है और प्राय उसी प्रकार की एक रचना को 'बीजक' मे 'ज्ञान चौंतीसा' नाम दिया गया है। इन रमैनियो की रचना वर्णमाला के अक्षरो को लेकर की गई है। वैसी ही तिथियो को लेकर की गई रचनाओ को 'गुरुग्रथ साहब' मे 'थिती' (अर्थात् तिथि) तथा दिनो के अनुसार बनी हुई को 'वार' कहा गया है। उक्त सभी प्रकार की रचनाओ की परपरा बहुत पहले सभवत सिद्धो तथा नाथो के समय से ही चली आ रही थी। कबीर साहब ने भी उनका आवश्यकतानुसार अनुसरण किया था तथा समय-समय पर इनमे से भी अनेक रचनाएँ प्रस्तुत की गई थी जो आजकल उनके नाम से प्रसिद्ध हैं।

३ कबीर साहब का मत

(१) ये क्या थे ?

हिन्दू-मतावलबी

कबीर साहब को एक भक्त के रूप मे समझने की परपरा प्रारभिक काल से ही चली आ रही है। इनके समसामयिक वा निकट समकालीन सतो ने सदा इन्हे एक भक्त के रूप मे ही देखा। भक्तचरितो के रचयिताओ ने इन्हे भक्तो की श्रेणी मे ही रखा। इनके नाम से प्रचलित कबीर-पथ के अनुयायियो ने भी इन्हे हसो के उद्धारार्थ अवतीर्ण होनेवाले सत्य कबीर का रूप देकर [illegible] उसी ओर खीचने का यत्न किया। इनकी वैष्णवो के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा तथा इनके द्वारा

पूर्वविचार

परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय और कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं पर एक बार फिर निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय तो उक्त तीनों प्रकार की धारणाएँ केवल आंशिक रूप में ही सत्य जान पड़ेंगी और उनसे वास्तविकता कहीं दूर जाती हुई दीख पड़ेगी। कबीर साहब की रचनाओं के अन्तर्गत विविध प्रकार के सिद्धांतों के उदाहरण अवश्य बिखरे पड़े हैं। उनमें बाह्यतः दीख पड़नेवाली विभिन्नताओं के कारण इनके वास्तविक मत के विषय में सहसा निर्णय कर लेना सरल नहीं है। इनके कथनों तथा उपदेशों में प्राप्त प्रचलित मतों की साम्यताओं के भिन्न-भिन्न उदाहरणों के आधार पर इन्हें भिन्न-भिन्न वर्गों में रखने की प्रवृत्ति अवश्य होने लगती है[1] और हम उनके द्वारा सत्य के प्रति निश्चित किये गए वास्तविक दृष्टिकोण के पता लगाने का कार्य एकदम भूल-से जाते हैं। परिणामस्वरूप उस व्यक्ति को जिसने सदा अपने को वर्तमान मत-मतांतरों से अलग रखने की ही चेष्टा की थी हम एक निश्चित साम्प्रदायिक सीमा के भीतर आबद्ध कर देने को उद्यत हो जाते हैं। प्रत्यक्ष है कि कबीर साहब अपने समय में प्रचलित मत-मतांतरों को सत्य से दूर गया हुआ मानते थे और अपने अनुयायियों को भ्रम का त्याग कर फिर से उसे ही अपनाने का उपदेश दिया करते थे। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपने को 'ना हिन्दू ना मुसलमान' बतलाया था। इन्होंने कहा था कि हिन्दू तथा इस्लाम धर्मों के माननेवाले मूल की ओर ध्यान न देकर बाह्य बातों के जंजाल में ही फँसे हुए दीख पड़ते हैं जिस कारण उनमें परस्पर द्वेष विरोध और शत्रुता के भाव लक्षित होते हैं। यदि बाह्य प्रपंचों तथा विडंबनाओं को भ्रमजनित मात्र मान कर कोई सबके आधारभूत मौलिक सत्य तक पहुँच सके तो सारा झगड़ा शीघ्र दूर हो जाय। उसका अनुभव एक बार भी हो जाने पर सारे मतमत्र निरे काल्पनिक जान पड़ने लगते हैं। मन स्वयं स्थिर तथा शांत हो जाता है और उसे किसी सम्प्रदाय की परिधि के भीतर जाकर उसे केवल संकीर्ण मार्गों पर चलते रहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

(२) वास्तविक प्रश्न

अशांतिपूर्ण वातावरण

कबीर साहब के सामने वास्तव में एक बहुत बड़ी समस्या थी जिसका निराकरण करना इनके लिए अत्यंत आवश्यक था। धर्म के क्षेत्र में न केवल हिन्दू तथा

---

१ जैसे 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर भिन्न-भिन्न प्रकार की टीकाएँ देख कर उसे सम्प्रदाय-विशेष का ग्रंथ मान लेने की प्रवृत्ति कभी हो जाती है।

मुसलमान दो वर्गों मे बँट कर आपस मे लड-भिड रहे थे, अपितु यती, जोगी, सन्यासी, साकत, जैन, शेख तथा काज़ी भी सर्वत्र अपनी-अपनी हांक रहे थे। सभी अपने-अपने को सत्य मार्ग का पथिक मान कर एक दूसरे के प्रति घृणा तथा द्वेष के भाव रखते थे। इस प्रकार वर्गों के भीतर भी उपवर्गों की सृष्टि हो रही थी जो प्रत्येक दूसरे को नितात भिन्न तथा विधर्मी तक समझने की चेष्टा करता था। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र मे भी एक ओर जहाँ वर्ण-व्यवस्था के कारण हिन्दुओ के भीतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अतिरिक्त अनेक जातियाँ उत्पन्न हो गई थी एक-दूसरी को अपने से अलग मानती थी, वही दूसरी ओर इन्ही के भीतर ऊँच-नीच तथा कुलीन-अकुलीन होने का भाव यहाँ तक बढ गया था कि एक मनुष्य दूसरे को अछूत तक मानने लगा था।

आश्चर्य तो यह है कि इन सूक्ष्म विभाजनो तथा वर्गीकरणो के कारण झगडे और अशाति के होते रहने पर भी कोई इन्हे हानिकारक नही ठहराता था, अपितु भिन्न-भिन्न धर्मग्रथो के आधार पर इन्हे आवश्यक तथा धर्म-सगत बतला कर पारस्परिक अनैक्य की भावना को और भी पुष्ट करता रहता था। इन धर्म-ग्रथो के बल पर केवल सामाजिक विशृंखलता ही नही बढ रही थी, बल्कि इनमे कथित अगणित बाह्याचारो तथा विधानो के कारण लोगो का समय व्यर्थ के झमेलो मे ही अधिक लगा रहता था। उन्हे किसी वास्तविक तत्त्व की खोज तथा प्राप्ति की कभी चिंता ही नही होती थी। उनकी बहिर्मुखी वृत्ति उन्हे अपने विहित कर्मों की समुचित समीक्षा करने का कभी अवकाश नही देती थी और इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य सदा बाहरी तथा दिखाऊ बातो मे ही व्यस्त रहने के कारण अपने हृदय की सचाई की क्रमश उपेक्षा करता जा रहा था। उक्त धर्मग्रथो की बातो मे उनके अनुयायी पूरी आस्था रखते थे। उनकी व्याख्या करनेवालो के प्रति श्रद्धा तथा अधभक्ति तक प्रदर्शित करते थे। इसलिए पोथियो के प्रपचो के साथ-साथ नकली धार्मिक नेताओ की भी सख्या मे वृद्धि होती जा रही थी और बाह्याडबर तथा धोखा बढता जा रहा था। लोगो का मन जहाँ भ्रातियो से भरता जा रहा था, वहाँ उनके हृदय कपट के कारण कलुषित हो रहे थे। इस प्रकार सामाजिक आचार-व्यवहारो की दुर्व्यवस्था भीषण रूप धारण कर रही थी। ऐसी स्थिति मे किसी सर्वमान्य सुझाव का प्रस्तुत करना सरल काम नही था।

कठिन समस्या

कबीर साहब उक्त समस्या द्वारा कितने प्रभावित थे और उसे हल करने की चेष्टा मे ये कितने व्यग्र तथा बेचैन रहा करते थे, इस बात का पूरा सकेत हमे इनकी अनेक रचनाओ मे दीख पडनेवाले उन फुटकर उद्गारो मे भी मिल जाता है जो

जल की प्राप्ति हो गई जिसका कथन अपने शब्दों में करने की चेष्टा कर रहा हूँ।[1] उस 'रामजल' का वर्णन इन्होंने अपने एक पद में बड़े सुंदर ढंग से किया है। उसे अपनी जिज्ञासा की पिपासा तृप्त करनेवाला अक्षय आनंद का आगार 'सुख सागर' भी बतलाया है।[2] यही सबका मूल आधार है यही सब कुछ है और यही वह सत्य स्वरूप नित्य तथा एकरस तत्त्व है जिसे इन्होंने भिन्न भिन्न स्थलोंपर विविध नामो द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा की है। यहाँ जिस प्रकार इनके उसे 'जल' या 'रामजल' कहने मात्र से इसका सहज स्वरूप भौतिक जल-तत्त्व नही समझा जा सकता उसी प्रकार उसे ही अन्यत्र इनके 'राम' शब्द द्वारा अभिहित करने से प्रसिद्ध अवतार दाशरथि राम का बोध नही हो सकता न हम उसे कहीं अन्य स्थल पर इनके 'ब्रह्म' कह देने मात्र से ही निर्गुण परमात्मतत्त्व मान सकते है। वह इनके अपने निजी अनुभव की वस्तु है जिसे ये स्वभावतः दूसरों को पूर्ण रूप से समझा नहीं पाते और इन्हे विवश होकर इसे रहस्यमय तथा अकथनीय तक कह देना पड़ता है। वह इनकी अपनी 'भीतर की चीज' है जो पहले इन्ही के हृदय म एक तीव्र जिज्ञासा के रूप मे इन्हे बेचैन किये हुए थी और वही फिर जैसे परिवर्तित-सी होकर इन्हे पूर्ण शांति प्रदान कर रही है। अब इनकी अपनी ज्वालामयी वेदना ही शीतल जल की भाँति अनुभूत हो रही है और इनका 'मन मान गया' है। आग बुझ गई है किंतु ये अपने उक्त अनुभव-विशेष का चित्रण उसी रूप मे 'बाहर' करने में असमर्थ है।[3] इनके अनुसार इस अनुभव की कथा किसी के भी द्वारा कही नही जा सकती। जिसके भीतर यह 'सहजभाव' से उत्पन्न होता है वह उसमे रमण करता हुआ उसी मे लीन हो जाता है।[4]

---

१ 'चेतत चेतत निकसिओ नीरु। सो जलु निरमलु कथत कबीर' ।।
—आदिग्रंथ राम गउड़ी पद २४।

२ 'अब मोहि जलत रामजल पाइआ। राम उदकि तनु जलत बुझाइआ' ।।
—वही पद १।

३ 'राम भीतरि मन मानियां बाहरि कह्या न जाई।
ज्वाला त फिर जल भया बुझी बलंती लाई ।।
—कबीर ग्रंथावली का सं सा ११ पृ १५।

४ 'कहै कबीर यहु अकथ है कहतां कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै ते रमि रहे समाई ।।
—वही पद १४ पृ ९१।

मुसलमान दो वर्गों मे बँट कर आपस मे लड-भिड रहे थे, अपितु यती, जोगी, सन्यासी, साकत, जैन, शेख तथा काजी भी सर्वत्र अपनी-अपनी हाँक रहे थे। सभी अपने-अपने को सत्य मार्ग का पथिक मान कर एक दूसरे के प्रति घृणा तथा द्वेष के भाव रखते थे। इस प्रकार वर्गों के भीतर भी उपवर्गों की सृष्टि हो रही थी जो प्रत्येक दूसरे को नितात भिन्न तथा विधर्मी तक समझने की चेष्टा करता था। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र मे भी एक ओर जहाँ वर्ण-व्यवस्था के कारण हिन्दुओ के भीतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अतिरिक्त अनेक जातियाँ उत्पन्न हो गई थी एक-दूसरी को अपने से अलग मानती थी, वही दूसरी ओर इन्ही के भीतर ऊँच-नीच तथा कुलीन-अकुलीन होने का भाव यहाँ तक बढ गया था कि एक मनुष्य दूसरे को अछूत तक मानने लगा था।

आश्चर्य तो यह है कि इन सूक्ष्म विभाजनो तथा वर्गीकरणो के कारण झगडे और अशाति के होते रहने पर भी कोई इन्हे हानिकारक नही ठहराता था, अपितु भिन्न-भिन्न धर्मग्रथो के आधार पर इन्हे आवश्यक तथा धर्म-सगत बतला कर पारस्परिक अनैक्य की भावना को और भी पुष्ट करता रहता था। इन धर्म-ग्रथो के बल पर केवल सामाजिक विशृखलता ही नही बढ रही थी, बल्कि इनमे कथित अगणित बाह्याचारो तथा विधानो के कारण लोगो का समय व्यर्थ के झमेलो मे ही अधिक लगा रहता था। उन्हे किसी वास्तविक तत्त्व की खोज तथा प्राप्ति की कभी चिंता ही नही होती थी। उनकी बहिर्मुखी वृत्ति उन्हे अपने विहित कर्मों की समुचित समीक्षा करने का कभी अवकाश नही देती थी और इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य सदा बाहरी तथा दिखाऊ बातो मे ही व्यस्त रहने के कारण अपने हृदय की सचाई की क्रमश उपेक्षा करता जा रहा था। उक्त धर्मग्रथो की बातो मे उनके अनुयायी पूरी आस्था रखते थे। उनकी व्याख्या करनेवालो के प्रति श्रद्धा तथा अधभक्ति तक प्रदर्शित करते थे। इसलिए पोथियो के प्रपचो के साथ-साथ नकली धार्मिक नेताओ की भी सख्या मे वृद्धि होती जा रही थी और बाह्याडबर तथा धोखा बढता जा रहा था। लोगो का मन जहाँ भ्रातियो से भरता जा रहा था, वहाँ उनके हृदय कपट के कारण कलुषित हो रहे थे। इस प्रकार सामाजिक आचार-व्यवहारो की दुर्व्यवस्था भीषण रूप धारण कर रही थी। ऐसी स्थिति मे किसी सर्वमान्य सुझाव का प्रस्तुत करना सरल काम नही था।

कठिन समस्या

कबीर साहब उक्त समस्या द्वारा कितने प्रभावित थे और उसे हल करने की चेष्टा मे ये कितने व्यग्र तथा बेचैन रहा करते थे, इस बात का पूरा सकेत हमे इनकी अनेक रचनाओ मे दीख पडनेवाले उन फुटकर उद्गारो मे भी मिल जाता है जो

यहाँ पर विविध दार्शनिक प्रश्नों के रूप में प्रकट किये गए प्रतीत होते हैं[1]। उक्त समस्या इनके सामने कोरे परमार्थ की भावना से ही प्रेरित होकर नहीं आती अपितु जान पड़ता है कि उसे इन्होंने निजी वा अपने स्वार्थ का प्रश्न भी बना लिया है जिसका निबटारा किये बिना इन्हें किसी प्रकार भी कल नहीं पड़ती। ये अपनी आंतरिक वेदना से उद्विग्न होकर दर-दर की खाक छानते फिरते हैं। ये जहाँ कहीं भी किसी महापुरुष का पता पाते हैं, वहाँ दौड़ पड़ते हैं। उसके साथ सत्संग करते हैं उससे उपलब्ध बातों की छानबीन करने के लिए संभवतः एकांत में विचार करते हैं और अपने भीतर किसी अंतिम सत्य की अनुभूति प्राप्त कर लेने की चेष्टा भी करते हैं। इन्हें उक्त सामाजिक वा धार्मिक पहेली का सुलझाव अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति पर ही निर्भर जान पड़ता है। सभी समस्याएँ मूलतः एक हैं। यदि सब की तह तक पहुँच कर उनके रहस्य को समझने का यत्न किया जाय तो सबका उत्तर भी एक ही तत्त्व के अंतर्गत निहित दिखलायी देगा। कबीर साहब ने इसी कारण सर्वप्रथम उसी सत्य का ज्ञान लेने और उससे भली भाँति परिचित होकर उसे अपना लेने का यत्न किया और तब कहीं जाकर इन्हें शांति मिल सकी।

(१) सत्यान्वेषण

सत्यान्वेषण पद्धति

कबीर साहब के उक्त सत्यान्वेषण की पद्धति निगमनविधि-परक न होकर पूर्णतः व्याप्तिविधि-परक है। ये किसी भी सिद्धांत को निर्भ्रांत रूप से सर्व मान्य मान कर नहीं चलते न उसके आधार-स्वरूप किसी धर्म-ग्रंथ वा आप्त वाक्य की ही प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। इनकी धारणा है कि प्रचलित वेद-कुरानादि मान्य ग्रंथ जिनका आश्रय लेकर सर्वसाधारण अपने-अपने मतों का अनुसरण करते हैं, बहुत-सी भ्रमात्मक बातों से भी भरे हैं। उनकी व्याख्या करने वालों ने उनके वाग्जाल को और विस्तृत बना दिया है। चारों वेदों के जानकार समझे जानेवाले पंडित उन्हीं में उलझ कर मरते रहते हैं[2] वे उनकी व्याख्या तो करते हैं किंतु भीतरी बातों से वे स्वयं अनभिज्ञ रह जाते हैं।[3] वे दूसरों पर उनके रहस्य प्रकट करने के लिए उपदेश

---

१ उदाहरण के लिए दे० कबीर ग्रंथावली काशी संस्करण पद २० पृ० ९७; ३२ पृ० ९८; ३७ पृ० १०१; ४४ पृ० १०३; १४१ पृ० १३१; १५४ पृ० १३८ और १६४ पृ० १४२ आदि।

२ कबीर-ग्रंथावली का० सं० साखी १ पृ० १६।

३ वही पद ४२ पृ० १०२।

(४) परमतत्त्व का स्वरूप

धर्म-तत्त्व तथा निजी अनुभव

इस प्रकार कबीर साहब के अनुसार परमतत्त्व की अनुभूति का वास्तविक रूप सामूहिक वा साम्प्रदायिक न होकर व्यक्तिगत ही हो सकता है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य के स्वरूप का ज्ञान भी केवल उतना ही हो सकता है जितना उसके निजी अनुभव मे आ सके। वेद, कतेब वा अन्य मान्य ग्रथ उनके रचयिताओ के अपने अनुभव-विशेष पर ही अवलबित हैं और वे भी उसी हद तक प्रमाण माने जा सकते है। यदि किसी अन्य व्यक्ति के भी विचारपूर्ण अनुभव मे ठीक वैसी ही बातें आ सकें, तो कोई हानि नही, किंतु कोरे अधविश्वास के बल पर उन्हे वैसा मान बैठना अपने साथ भी छल तथा धोखा करने के समान है। कबीर साहब पूर्ण सत्य को पूर्ण रूप मे जान लेने का स्वय कही भी दावा नही करते, न दूसरो द्वारा ऐसा किया जाना ये पसद ही करते हैं। इनके मतानुसार "वह जैसा वस्तुत हो सकता है, वैसा किसी को भी ज्ञात नही। सब अपनी-अपनी पहुँच के आधार पर ही कुछ कहा करते हैं।"[१] "वह जैसा है वैसा उसे ही विदित है, वही केवल है ही, अन्य कुछ है ही नही।"[२] "जैसा कहा जाता है, वैसा ही उसका पूर्ण रूप मे होना सभव नही, वह जैसा है वैसा ही है।"[३] परन्तु अपने वास्तविक रूप मे "वह चाहे जैसा भी हो, रहा करे, हमे इसकी आवश्यकता नही, हमे तो केवल अपनी पहुँच भर उसे जान कर ही आनद मे मग्न होना है।"[४] "वह जिस किसी भी व्यक्ति के अनुभव मे जिस प्रकार अपने को व्यक्त कर उसे अनुप्राणित करता है, उसी प्रकार वह उसका वर्णन किया करता है"[५] और "जो जैसा उसे जानता है उसी के अनुसार

---

१ 'जस तू तस तोहि कोई न जान, । लोग कहैं सब आनहि आन' ॥
—कबीर ग्रथावली, का० स०, पद ४७, पृ० १०३।

२ 'वोहै तैसा वोही जानै, ओही आहि आहि नहीं आनै' ॥
—वही, रमैणी ६, पृ० २४१।

३ 'जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ'।
—वही, रमैणी ३, पृ० २३०।

४ 'हरि जैसा है तैसा रहौ, तू हरिषि हरिषि गुण गाय'।
—वही, साखी २, पृ० १७।

५ 'जहुवा प्रगटि बजावहु जैसा, जस अनभै कथिया तिनि तैसा'।
—वही रमैणी ३, पृ० २३०।

जल की प्राप्ति हो गई, जिसका कथन अपने शब्दों में करने की चेष्टा कर रहा हूँ।[1] उस 'रामजल' का वर्णन इन्होंने अपने एक पद में बड़े सुंदर ढंग से किया है। उसे अपनी जिज्ञासा की पिपासा तृप्त करनेवाला अक्षय आनंद का भांडार 'सुख सागर' भी बतलाया है।[2] यही सबका मूल आधार है, यही सब कुछ है और यही वह सत्य स्वरूप नित्य तथा एकरस तत्त्व है जिसे इन्होंने भिन्न-भिन्न स्थलोंपर विविध नामों द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा की है। यहाँ जिस प्रकार इनके उसे 'जल' वा 'रामजल' कहने मात्र से इसका सहज स्वरूप भौतिक जल-तत्त्व नहीं समझा जा सकता उसी प्रकार उसे ही अन्यत्र इनके 'राम' शब्द द्वारा अभिहित करने से प्रसिद्ध अवतार दाशरथि राम का बोध नहीं हो सकता न हम उसे कहीं अन्य स्थल पर इनके 'ब्रह्म' कह देने मात्र से ही निर्गुण परमात्मतत्त्व मान सकते हैं। वह इनके अपने निजी अनुभव की वस्तु है जिसे ये स्वभावतः दूसरों को पूर्ण रूप से समझा नहीं पाते और इन्हें विवश होकर इसे रहस्यमय तथा अकथनीय तक कह देना पड़ता है। वह इनकी अपनी 'भीतर की चीज' है जो पहले इन्हीं के हृदय में एक तीव्र जिज्ञासा के रूप में इन्हें बेचैन किये हुए थी और वही फिर कैसे परिवर्तित-सी होकर इन्हें पूर्ण शांति प्रदान कर रही है। अब इनकी अपनी ज्वालामयी वेदना ही शीतल जल की भाँति अनुभूत हो रही है और इनका 'मन मान गया' है। आग बुझ गई है, किंतु ये अपने उक्त अनुभव-विशेष का विवरण उसी रूप में 'बाहर' करने में असमर्थ हैं।[3] इनके अनुसार इस अनुभव की कथा किसी के भी द्वारा कही नहीं जा सकती। जिसके भीतर यह 'सहजभाव' से उत्पन्न होता है, वह उसमें रमण करता हुआ उसी में लीन हो जाता है।[4]

---

१ 'चेतत चेतत निकसिओ नीरु। सो जलु निरमलु कथत कबीर' ॥
—आदिग्रंथ राग गउड़ी पद २४।

२ 'अब मोहि जलत रामजलु पाइआ। राम उदकि तनु जलत बुझाइआ' ॥
—वही पद १।

३ 'तन भीतरि मन मानियां बाहरि कहा न जाई।
ज्वाला तै फिर जल भया, बुझी बलंती लाई ॥
—कबीर ग्रंथावली का सं सा ११ पृ १५।

४ 'कहै कबीर यहु अकथ है कहतां कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै ते रमि रहे समाई ॥
—वही पद १४ पृ ९१।

देते फिरते हैं, किंतु स्वय उनसे भली भाँति परिचित नही रहा करते। उक्त वेदो की व्याख्या मे जिन स्मृतियो की रचना हुई है, वे भी इसी कारण हमारे भ्रम-रूपी वधन के लिए साँकल तथा रस्सी लिए फिरती हैं। इनकी जजीर टूटती नही न काटने से कटने योग्य ही दीख पडती है, यह सारे ससार को सर्पिणी वन कर खाया करती है।[१] इसी प्रकार 'पट् दर्शन' और 'छानवे पापडो' के आवार पर तर्क-वितर्क करने वाले भी सदा व्याकुल तथा वेचैन रहा करते हैं। उन्हे सच्चा ज्ञान नही हो पाता न उनके सशय का निराकरण ही होता है।[२] काजी तो अपनी किताव 'कुरान' के पढने में पूरा समय देने पर भी किसी गति से परिचित नही हो पाता।[३] सच्ची वात तो यह है कि उक्त पडित तथा काजी जितना ध्यान अपने धर्म-ग्रथो के शव्दो की ओर देते हैं, उतना उनके अर्थों की ओर नही देते। उन्हे पढ कर वे न तो स्वय विचार करने का कष्ट उठाते है, न उनके मर्म को समझने की चेष्टा ही किया करते हैं। अतएव धर्म-ग्रथो के वाग्जाल का आश्रय न लेकर यदि सत्य की जानकारी के लिए स्वतत्र रूप से अपने निजी अनुभव के वल पर ही विचार किया जाय, तो उनसे अविक सफल होना सभव है। क्योकि वैसी दशा मे जिज्ञासु जो कुछ भी सोच सकेगा, अपनी पूरी शक्ति लगा कर समझ-वूझकर सोचेगा। जहाँ तक सोच-विचार करता जायगा, वहाँ तक उसका अनुभव गहरा तथा विस्तृत होता जायगा और सच्चा होने के कारण वही उसके जीवन का अग भी वन सकेगा। इसके विपरीत धर्म-ग्रथो के वाक्यो का अधानुसरण अनुभवाश्रित न होने के कारण सदा वाहरी प्रभाव तक ही डाल सकता है।

उसका स्वरूप

वास्तव मे कवीर साहव की विचार-पद्धति की भित्ति स्वानुभूति पर ही खडी है और इसी कारण ये जहाँ कही भी अवसर पाते हैं, वहाँ निजी अनुभव के महत्त्व का गान करते नही अघाते, न कभी परावलवन द्वारा प्राप्त तथाकथित ज्ञान की निंदा करने से ही चूकते हैं। इनका अपने विषय मे भी यही कहना है कि मैंने पराश्रय ग्रहण करने की अभिलाषा से कही भी दौड-धूप नही लगायी, "मेरे स्वय विचार करते-करते अपने मन ही मन सत्य का प्रकाश हो उठा और मुझे उसकी उपलव्वि हो गई।"[४] इसी प्रकार, "मेरे धीरे-धीरे चिंतन करते-करते ही उस निर्मल

---

१ आदिग्रथ, राग गउडी, पद ३०।

२ कवीर-ग्रथावली, का० स०, पद ३४, पृ० ९९।

३ वही, पद ५९, पृ० १०७।

४ 'करत विचार मनही मन उपजी, ना कहीं गया न आया'।
—कवीर ग्रथावली, पद २३, पृ० ९६।

उसे लाभ भी होता है।[1] सारांश यह कि यद्यपि सत्य के वास्तविक स्वरूप के विषय में किये गए वर्णन अंततः अपूर्ण ही कहे जा सकते हैं किन्तु उनके आधारभूत निजी अनुभव का आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है।

वह भी अनिर्वचनीय

कबीर साहब ने अपने विषय में स्पष्ट कहा है कि 'सद्गुरु ने मुझे तत्त्व की ओर विचारपूर्वक संकेत कर दिया और मैंने उसे अपने अनुभव के अनुसार ग्रहण कर लिया'[2] तथा 'अपने अनुमान के अनुसार ही स्मरण करते हुए मैंने राम को कुछ हद तक जान लिया।[3] वह 'अनुभूत' 'अभिमत' 'अगम' तथा 'अकल्प' तो है ही जहाँ तक अपने अनुभव के भीतर आ सका वहाँ तक भी उसे 'अनुपम' 'निराला' 'अकथ' तथा 'अगोचर' ही इन्हें कहना पड़ा। उसे निजी अनुभव द्वारा आत्मसात् कर लेने पर जो दशा हो जाती है, उसका भी वर्णन करने में वे अपने को असमर्थ पाते हैं। वे कहते हैं कि उस समय मेरे हृदय-स्थित 'त्रिभुवन राइ' ने मेरे शरीर में 'अग्नि कथा' ला दी अर्थात् एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी।[4] जिस प्रकार पानी से हिम बन कर फिर हिम पानी में ही परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार मैं जो कुछ पहले था वही फिर से हो गया अब उसे कहा क्या जा सकता है।'[5] उस समय जैसी शोभा का मैंने अनुभव किया वह वर्णन करने योग्य नहीं वह शोभा देख कर ही समझी जा सकती है।'[6] मैंने अविगत अकथ तथा अनुपम को देखा जिसका वर्णन यदि करना चाहूँ तो मैं उसी प्रकार नहीं कर सकता जिस प्रकार कोई

---

१ 'जिहि हरि जैसा जाणियां तिनकूं तैसा लाभ'।
—वही साखी २१ पृ ६।

२ 'सतगुर तत कह्यौ विचार, मूल गह्यौ अनभै बिसतार'।
—कबीर ग्रंथावली का सं पद १८६, पृ० २१६।

३ 'सुमिरत हूँ अपनं उनमाना क्यंचित जोग रांम मैं जांना'।
—वही रमैणी ४ पृ २१५।

४ 'अगिन कथा तनि आचरी हिरदै त्रिभुवन राइ'।
—वही साखी २९, पृ १४।

५ 'पांणी ही तैं हिम भया हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया अब कछू कह्या न जाइ॥
—वही साखी १७ पृ ११।

६. 'कहिबे कूं सोभा नहीं देख्या ही परवांन।
—वही साखी ३ पृ ११।

(४) परमतत्त्व का स्वरूप

धर्म-तत्त्व तथा निजी अनुभव

इस प्रकार कबीर साहब के अनुसार परमतत्त्व की अनुभूति का वास्तविक रूप सामूहिक वा साम्प्रदायिक न होकर व्यक्तिगत ही हो सकता है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य के स्वरूप का ज्ञान भी केवल उतना ही हो सकता है जितना उसके निजी अनुभव मे आ सके। वेद, कतेब वा अन्य मान्य ग्रथ उनके रचयिताओ के अपने अनुभव-विशेष पर ही अवलबित है और वे भी उसी हद तक प्रमाण माने जा सकते है। यदि किसी अन्य व्यक्ति के भी विचारपूर्ण अनुभव मे ठीक वैसी ही बातें आ सकें, तो कोई हानि नही, किंतु कोरे अधविश्वास के बल पर उन्हे वैसा मान बैठना अपने साथ भी छल तथा धोखा करने के समान है। कबीर साहब पूर्ण सत्य को पूर्ण रूप मे जान लेने का स्वय कही भी दावा नही करते, न दूसरो द्वारा ऐसा किया जाना ये पसद ही करते हैं। इनके मतानुसार "वह जैसा वस्तुत हो सकता है, वैसा किसी को भी ज्ञात नही। सब अपनी-अपनी पहुँच के आधार पर ही कुछ कहा करते हैं।"[१] "वह जैसा है वैसा उसे ही विदित है, वही केवल है ही, अन्य कुछ है ही नही।"[२] "जैसा कहा जाता है, वैसा ही उसका पूर्ण रूप मे होना सभव नही, वह जैसा है वैसा ही है।"[३] परन्तु अपने वास्तविक रूप मे "वह चाहे जैसा भी हो, रहा करे, हमे इसकी आवश्यकता नही, हमे तो केवल अपनी पहुँच भर उसे जान कर ही आनद मे मग्न होना है।"[४] "वह जिस किसी भी व्यक्ति के अनुभव मे जिस प्रकार अपने को व्यक्त कर उसे अनुप्राणित करता है, उसी प्रकार वह उसका वर्णन किया करता है"[५] और "जो जैसा उसे जानता है उसी के अनुसार

---

१ 'जस तू तस तोहि कोई न जान, । लोग कहैं सब आनहि आन' ।।
—कबीर ग्रथावली, का० स०, पद ४७, पृ० १०३।

२ 'वोहै तैसा वोही जानै, ओही आहि आहि नहीं आनै' ।।
—वही, रमैणी ६, पृ० २४१।

३ 'जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ' ।
—वही, रमैणी ३, पृ० २३०।

४ 'हरि जैसा है तैसा रहौ, तू हरिखि हरिखि गुण गाय' ।
—वही, साखी २, पृ० १७।

५ 'जहुवा प्रगटि बजावहु जैसा, जस अनभै कथिया तिनि तैसा' ।
—वही रमैणी ३, पृ० २३०।

कहते हैं कभी आतम[1] आत्मा[2] आप[3] या आपन जैसे शब्दों द्वारा उसे अभिहित करते हैं। कभी सार[4] कभी सबद अनहद[6] या अंतरधुनि कह कर उसका संकेत करते हैं तो कभी परमपद[7] 'निजपद'[8] 'चौथापद'[9] अभैपद[10] बतला कर उसकी सूचना देते हैं। ये उसे कभी-कभी 'सहज'[11] 'सुन्नि'[12] 'सति'[13] 'ग्यान'[14] 'अनंत'[15] 'अमृत'[16] 'उनमन'[17] 'गगन'[18] 'ज्योति'[19] 'सींव'[20] 'ब्रह्म'[21] भी कहते हैं। उनके पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार करते हुए अनेक प्रकार के रूपक भी बाँधते हैं। ऐसे शब्द वास्तव में इनके द्वारा अनुभूत सत्य के उन प्रतीकों के ही द्योतक हैं जिन्हें इन्होंने अपनी अनुभवाश्रित धारणाओं के अनुसार निर्धारित

---

१ कबीर-ग्रंथावली पद ११ पृ १५२।
२ वही पद ३११ पृ २१८।
३ वही सा ३ पृ १५ पद ६, पृ ९ तथा रमैनी ३ पृ २३१।
४ वही रमैनी ४ पृ २३४ तथा पृ २४१।
५ वही सा २, पृ ६३ पद ३६ पृ १ ।
६. वही पद ९ २, पृ १५७ ३३६, पृ २११ ।
७ वही पद १८४ पृ १५ ३३६, पृ १५४ २२८, पृ १३९ ।
२५७ पृ १७९ तथा २३६, पृ १८० ।
८ वही पद ३६ पृ १ । ९ वही पद ३६५ पृ २१ ।
१ वही पद ३४६ पृ २ ५।
११ वही पद ९ पृ ९ २५, पृ ९६; ४४ पृ १ २; ६१ पृ १ ७ ११५ पृ १२५ तथा १७६, पृ १४२ ।
१२ वही पद ८, पृ ९१ १५ पृ ११७, १७६, पृ १४८ ।
१३ वही पद ५८, पृ १ ३ ४ २, पृ २२२ ।
१४ वही रमैनी ६ पृ २४१ ।
१५ वही सा ३ पृ १ १ पृ १२, पद ११ पृ १२३ ।
१६ वही पद १८ पृ ९४ ।
१७. वही सा १६, पृ १३ ।
१८. वही पद २९३ पृ० १८७ ४४ पृ १ ३ ।
१९. वही सा ४ पृ १२ पद ३२८, पृ १९६ ३६२ पृ० २ ६, ३१ पृ ९८ ५५, पृ १ ६, तथा ७२ पृ १११ ।
२ वही पद १८८, पृ १५१ ।
२१ वही सा २ पृ ९६, ६, प ८१ पद ४२, पृ० १ २ ।

गूंगा व्यक्ति मिठाई का स्वाद पाकर उसका माधुर्य किसी दूसरे पर प्रकट नही कर पाता, अपितु मन ही मन आह्लादित होता हुआ सैन या सकेत-मात्र करके रह जाता है।"[1] "अपनी स्वप्न-जैसी स्थिति मे मैंने उस निधि का जो 'यत्किंचित्' पाया, उसकी शोभा कही गुप्त रखने योग्य नही थी, वह अपार थी और अपने हृदय मे मानो समा नही पाती थी। अतएव लोभ और अहकार की प्रवृत्तियाँ आपसे आप नष्ट हो गई।[2]" ये उक्त दशा मे आकर आनदातिरेक द्वारा विभोर से हो जाते है और अपनी तन्मयता की लहरो के वेग मे उस तत्त्व के विषय मे विविध प्रकार के उद्गार प्रकट कर उसका वर्णन करने की चेष्टा करते हैं।

सत्य का स्वरूप निर्गुण

तदनुसार कभी-कभी ये उसे 'गुनअतीत', 'गुनविहूँन', 'निरगुन' तथा 'निराकार' बतला कर उसके वर्णन मे कहते हैं कि "वह अलख, निरजन है जिसे कोई लख नही सकता, वह निरभै तथा निराकार है, वह न शून्य है, न स्थूल है। उसकी कोई रूपरेखा नही। वह न दृश्य है, न अदृश्य, उसे न तो गुप्त ही कह सकते हैं और न उसे प्रकट कह कर पुकार सकते है।"[3] इसी प्रकार ये "उस 'अविगत' की गति क्या बतलाऊँ, जिसके नाम-ग्राम का कोई ठिकाना नही, 'गुनविहूँन' को कैसे देखा ही जा सकता और उसका नाम ही क्या दिया जा सकता है"[4] भी कहते हैं। ये कभी उसे तत[5], परम तत[6], अनूप तत[7], निज तत[8] आदि

१ 'अविगत अकल अनूपम देख्या, कहता कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूगै जानि मिठाई॥'
—कबीर-ग्रंथावली, पद ६।

२ 'क्यचिति ह्वै सुपिनै निधि पाई। नहीं सोभा कौं धरौं लुकाई॥
हिरदै न समाइ जानियै नहीं पारा। लागै लोभ न और हकारा'॥
—वही, रमैणी ४, पृ० २३४।

३ 'अलख निरजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई॥
सुनि असूयल रूप नहीं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा'॥
—वही, का० स०, रमैणी ३, पृ० २३०।

४ अविगत की गति क्या कहूँ, जसकर गाव न नाव।
गुन बिहून का पेखिये, काकर धरिये नाव'॥
—वही, रमैणी ५, पृ० २३८।

५ वही, सा० ३२, पृ० १५, १, पृ० ५४, पद ५२, पृ० १०५; ३८६, पृ० २१६ तथा रमैणी ३, पृ० २३०।

६ वही, पद १९६, पृ० १५६।

७. वही, सा० ४, पृ० ६०, पद २२०, पृ० १६३।

८. वही, पद १६२, पृ० १४२।

करोड़ों विद्याएँ उसके गुणगान में लगी हुई हैं किंतु फिर भी उस परब्रह्म का अंत नहीं पाती हैं' आदि।[1] अष्टकुल पर्वत उसके पग की धूल हैं, सातों समुद्र उसके नेत्र के अंजन रूप हैं, अनेक मेरु पर्वत उनके नखों पर स्थित हैं और धरती तथा आकाश को उसने अधर में ही रख छोड़ा है। भला उसे केवल 'गोवर्धनधारी' मात्र कह देना कितने आश्चर्य की बात है।"[2] वे इसी प्रकार कभी विष्णु के पौराणिक रूप की कल्पना करते हैं[3] और कभी नरसिंह[4] तथा कृष्णावतार[5] की चर्चा भी कर जाते हैं। वे उस 'हरि' के गुणों की प्रशंसा करते नहीं अघाते और कहते हैं कि 'यदि सातों समुद्रों में स्याही घोल दी जाय, सभी जंगलों के पेड़ों की लेखनियाँ तैयार कर ली जायँ और सारी पृथ्वी को ही कागज बना कर उस पर लिखने लगें तो भी उसकी गुणावली लिखी नहीं जा सकती।[6]

निरपेक्ष रूप

इस प्रकार कबीर साहब की रचनाओं के अंतर्गत निर्गुण तथा सगुण दोनों का ही वर्णन करनेवाले अनेक उदाहरण मिलते हैं। परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ऐसे कथनों को हम अनुभूत सत्य के स्पष्टीकरण के प्रयत्न में प्रकट किये गए इनके उद्‌गारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते। इनके कारण ये न तो निर्गुणवादी कहे जा सकते हैं, न सगुणवादी ही माने जा सकते हैं। इनके अपने सिद्धांतों के अनुसार सत्य निर्गुण तथा सगुण इन दोनों से परे है और अनुभव में आ जाने पर भी अनिर्वचनीय है। 'उसे किसी भी उक्त वर्ग का मान कर अपना मत निर्धारित करना असली मार्ग को छोड़ कर भटकना और धोखा खाना है। उसे लोग अजर और अमर कह देते हैं, किंतु वास्तव में 'अलख' के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, वह तो बिना रूप तथा वर्ण का होकर सर्वत्र विद्यमान है। जब उसका आदि तथा अंत कुछ भी नहीं तो उसे पिंड वा ब्रह्मांड के रूप में भी कहना अनुचित है। हाँ, यदि पिंड तथा ब्रह्मांड को छोड़ कर सबके परे के संबंध में वर्णन किया तो तो उसी को हरि का स्वरूप कह सकते हैं[7]। सच तो यह है कि सत्य के

---

१ आदिग्रंथ, रागु भैरउ, पद २।
२ कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद ३३५, पृ० २०१।
३ वही, पद ३९, पृ० २१८। ४ वही, पद १७९, पृ० २१४।
५ वही, साखी १, पृ० ५७। ६ वही, साखी ५, पृ० ६१।
७ 'संतो धोखा कासूं कहिए।
गुण में निरगुण निरगुण में गुण है, बाट छाड़ि क्यूं बहिये॥
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणी जाई।

किया है। इस प्रकार के नामो की लवी सूची से भी स्पष्ट जान पडता है कि इन्होने उस वस्तु के रहस्य को व्यक्त करने के लिए कितने प्रकार की चेष्टाएँ की है।

सगुण तथा विराट् रूप

परन्तु ये इतने से ही सतुष्ट होते नही जान पडते। ये उस वस्तु को सगुण तथा साकार रूप मे भी दिखलाने के यत्न करते है। ये उमे सृष्टिकर्ता कहते हैं और वतलाते है कि "उसने स्वय कर्ता वन कर कुमार की भाँति विविध सृष्टि की रचना की और सामग्रियो को एकत्र कर जीव के रूप मे उसके भीतर प्रतिविवित हो गया, तव उसके पालन-पोषण मे लग गया। जिसने इस चित्र-रूपिणी सृष्टि की रचना की, वही इसका सच्चा सूत्रधार भी है, वे भले हैं जिन्होने इस सृष्टि को चित्रवत् मान लिया है।"[1] "वही गढने वाला, सुधारनेवाला तथा नष्ट करनेवाला भी है।"[2] ये उसे विराट् रूप मे भी देखते हैं और कहते हैं कि "करोडो सूर्य वहाँ प्रकाश करते हैं, करोडो महादेव अपने कैलाश पर्वत के सहित वर्तमान हैं, करोडो दुर्गाएँ सेवा करती हैं, करोडो ब्रह्मा वेद का उच्चारण करते हैं , करोडो चद्रमा वहाँ दीपक की भाँति प्रकाश कर रहे हैं और तैंतीस करोड देवता भोजन कर रहे हैं, नवग्रह के करोडो समूह उसके दरवार मे खडे रहते हैं और करोडो धर्मराज उसके प्रतिहारी स्वरूप है, करोडो पवन उसके चौवारो मे घूम रहे है और करोडो वासुकि उसकी सेज लगा रहे हैं, करोडो समुद्र उसके यहाँ पानी भर रहे हैं और अठारहो करोड पर्वत उसकी रोमावली वने हुए हैं, करोडो कुवेर उसका भाडार भरते हैं और करोडो लक्ष्मियाँ उसका शृगार करती हैं। पाप तथा पुण्य का हरण करनेवाले करोडो इन्द्र उसकी सेवा मे निरत है, उसके प्रतिहारियो की सख्या छप्पन करोड है और नगर-नगर मे उसकी अपार रचना दीख रही है। वह मुक्तकेशी वन कर विकराल-सी लक्षित होनेवाली करोडो कलाओ के साथ क्रीडा करता है, करोडो ससार उसका दरवार वने हुए हैं और करोडो गधर्व उसकी जय-जय मना रहे हैं।

---

१ 'आपन करता भये कुलाला। बहु बिधि सृष्टि रची दर हाला॥
बिधना कुभ कीये द्वै थाना। प्रतिबिंब ता माहि समाना॥
बहुत जतन करि बानक बाना, सौंज मिलाय जीव तहा ठाना॥

जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहे कबीर ते जन भले, जो चित्रवत लेहि विचार॥'
—कबीर-ग्रथावली, रमैणी, ५ पृ० २४०।

२ 'भांनड घडण सवारण सोई।' वही, पद २७३, पृ० १८१।

मुझसे और कुछ भी नहीं कहा जा सकता । जिस प्रकार बाजीगर अपना ढोल पीट कर तमाशे आरंभ कर देता है और सभी लोग उसे देखने जुट जाते हैं तथा फिर वह अपने सारे स्वाम इकट्ठा कर लेता है उसी प्रकार इस जगत् की सृष्टि तथा प्रलय का भी रहस्य है । उस हरि ने ब्रह्मांड के रूप में अपनी लीला का ही विस्तार कर रखा है वह इसे समेट कर फिर अपने रंग में रमण करने लगता है'[१] । उस नट ने ही यह सभी अभिनय कर रखा है वह जो कुछ बोलता है वही उसकी नटबाजी दीख पड़ती है"[२] । 'उसने यह सारा संसार कहने-सुनने मात्र के लिए रचा है और वह इसी में छिपा हुआ भी है उसे कोई पहचान नहीं पाता । उसने सत रज तथा तम नामक तीनों गुणों के द्वारा यह मायात्मिका सृष्टि रच रखी है और अपने ही भीतर उसने अपने को गुप्त भी कर लिया है । वह स्वयं आनंद-स्वरूप है और यह सारी सृष्टि उस आनंद-तरु के पल्लव-रूपी गुणों का विस्तार मात्र है पंचतत्त्व उसकी शाखाएँ हैं तथा रामनाम उसके सुंदर फल के रूप में हैं'[३] । सृष्टिकर्ता की दृष्टि से वह किसी भिन्न व्यक्तिविशेष-सा प्रतीत होता है किंतु वास्तव में वह और सारी सृष्टि मूलतः एक ही है क्योंकि "सृष्टिकर्ता में ही सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्ता ओतप्रोत है"[४] । दोनों में स्वभावतः अंतर नहीं ।

---

१ 'दुइ दुइ लोचन पेखा । हउ हरि बिनु अउरु न देखा ॥
नैन रहे रंगु लाई । अब बेगल कहनु न जाई ॥

बाजीगर डंक बजाई । सभ खलक तमासे आई ॥
बाजीगर स्वांगु सकेला । अपने रंग रवै अकेला ॥
—आदिग्रंथ रागु सोरठि ४ ।

२ 'जिनि नटवर नटसारी साजी । जो खेलै सो दीसै बाजी ॥
—क ग्रंथा का सं रमैनी २ पृ २२७ ।

३ 'कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हाँ । जग भुलान सो किनहुं न चीन्हाँ ॥
सत रज तम थें कीन्हीं माया । आपण माँझै आप छिपाया ॥
ते तौ आहि अनंद सरूपा । गुन पल्लव बिस्तार अनूपा ॥
साखा तत थें कुसम गियांनां । फल सो आछा रांम का नांमां ॥
—वही, पृ २२५ ।

४ 'खालिक खलक, खलक महि खालिक पूरि रहिओ सब ठाँई ।
आदिग्रंथ राग बिभास प्रभाती पद ३ ।

वर्णन मे हम उसे निश्चित रूप से 'है' मात्र ही कह सकते है। इसके सिवाय उसे 'केवल', 'नित्य', 'पूर्ण', 'एकरस' वा 'सर्वव्यापी आदि बतलाना भी उसके उक्त परिचय की व्याख्या कर उसे अधिक स्पष्ट करना मात्र है। सत्य के रूप वह वस्तुत 'निर्विशेष' अथवा 'निरपेक्ष' है और उसके लिए उस दशा में आत्मा, ब्रह्म जैसे नामो का प्रयोग करना भी उपयुक्त नही कहा जा सकता। 'नाम' का स्वरूप ही सापेक्षिक है और उसके नामी के बिना अनुभवगम्य हुए हम उसका व्यवहार कर नही सकते। हमारी अनुभूति की अतिम सीमा अधिक से अधिक विश्व की कल्पना तक ही परिमित रह सकती है, अतएव सत्य का जो भी नाम होगा विश्व-सापेक्ष्य होगा। परमात्मा अथवा परमेश्वर नाम भी उसके लिए तभी यथार्थ होगा और उसी दशा में हम अपनी कल्पना के अनुसार उसे अन्य नाम भी देंगे। इसीलिए कहा भी है कि "निरपेक्ष परमेश्वर का वह स्वरूप है जो जगत् के पूर्व का है और परमेश्वर नाम हम निरपेक्ष को ही जगत्-सबधी दृष्टिकोण से दिया करते हैं"[१]।

सृष्टि की लीला

कबीर साहब ने उसे प्राय उन सभी नामो से पुकारा है जो इनके समय मे हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदाती वा नाथ-पथी समाजो में प्रचलित थे। ये किसी भी ऐसे नाम का प्रयोग करते समय उसके व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की ओर विशेष ध्यान देते नही जान पडते। इसी कारण जिन-जिन को ये सत्य के भिन्न-भिन्न प्रतीको के रूप मे भी व्यवहृत करते हैं, वे भी कभी-कभी इनके 'राम' वा 'साहिब' की भाँति सजीव तथा सचेष्ट दीखने लगते है। फिर भी इन्होने सृष्टि वा जगत्-सबधी बातो का वर्णन करते समय उसे किसी क्रियाशील पुरुष के नामो से ही सूचित किया है। ये कहते है कि "मैंने अपने दो-दो नेत्रो से इस जगत् के भीतर देखने की चेष्टा की है, मुझे हरि के बिना और कुछ भी नही दीख् पडा है। मेरे नेत्र उसी के अनुराग मे अरुण हो गए हैं, अब उसके सिवाय

नाति स्वरूप वरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यो समाई।
प्यड ब्रह्मड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अत न होई।
प्यड ब्रह्मड छाडि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई॥'
—कबीर-ग्रथावली, का० स०, पद १८०, पृ० १४९।

१. "The absolute is the Precosmic nature of God and God is the absolute from the Cosmic point of view"—Dr S. Radhakrishnan An Idealist view of life, P 345

कहीं-कहीं बतलाया है। किंतु यत्र-तत्र बिखरे हुए उनके फुटकर विचारों से अनुमान किया जा सकता है कि ये दोनों अनादि काल से ही चले आते हैं। इनकी मूल प्रेरणा परमेश्वर की लीलामयी अभिव्यक्ति की उस 'इच्छा' में ही निहित हो सकती है जिसे इन्होंने कहीं-कहीं 'माया' का नाम प्रदान किया है। उस माया तत्व का वर्णन करते हुए उसे इन्होंने किसी विश्वविमोहिनी सुंदरी के रूप में चित्रित किया है और उसका स्वभाव इन्होंने सबको प्रलोभन देना, ठगना तथा फँसाना दिखलाया है। 'उसका त्याग करने की कोई कितनी भी चेष्टा किया करे, वह पिंड नहीं छोड़ती और फिर-फिर उसे पकड़ती ही रहा करती है। वह जल स्थल तथा आकाश सर्वत्र व्याप्त है और कभी माता-पिता कभी स्त्री-पुत्र कभी आदर-मानतथा कभी जप तप तथा योग के रूपों में ही बंधन डाल देती है'[१]। इतना ही नहीं यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो माया का प्रभाव सारी सृष्टि में ही दृष्टिगोचर होगा। "पानी में मछली को माया ने ही आबद्ध कर लिया है, दीपक की ओर पतंग माया के ही कारण आकृष्ट होता है। हाथी को माया ने ही कामवासना दी है। कुत्ते सियार, बंदर, चीते बिल्ली लोमड़ी और भेड़ माया में ही रँगे हुए हैं और वृक्ष की जड़ें तक वास्तव में माया द्वारा ही फँसायी गई हैं। छह यती नव नाथ तथा चौरासी सिद्ध तक माया के प्रपंचों से नहीं बच पाये और देवगण सूर्य चंद्र सागर, पृथ्वी आदि सभी इसके प्रभावों से प्रभावित हुए"[२]। वे उसे एक स्थल पर सर्पिणी के रूप में भी दिखलाते हैं। वे कहते हैं कि वह 'निर्मल जल के समान शुद्ध जीवात्मा में प्रवेश कर उसे विषैला-सा बना देती है। फिर भी वह वस्तुतः मिथ्या तथा सारहीन है और जिस परमेश्वरकी इच्छा के रूप में इसका आविर्भाव हुआ है उसी के लिये वह शक्ति सपन्न होती वा नष्ट होती है। अपने शरीर की बस्ती में उसे बसी हुई पाकर भी केवल अपने बूते पर उसे हम निकाल नहीं सकते"[३]। इसके विषय में उनका यह भी कहना है कि 'यह हमारे मन में एक 'डाइनि' के रूप में रह कर हमें नित्यश' डँसती अर्थात् अभिभूत करती रहती है। उसके पाँच पुत्र हैं जो हमें सदा नाच नचाया करते' और हमारे शरीररूपी पट को रात-दिन चोरों की भाँति लूटा भी करते हैं। ये पाँच माया-पुत्र काम क्रोध मोह मद तथा मत्सर जान पड़ते हैं क्योंकि इन्हीं की सहायता से 'मरम-करम' का भी बल पाना संभव है।

१ कबीर-ग्रंथावली, का सं पद ८४ पृ० ११४-५।
२ गुरुग्रंथ साहब रागु भैरउ पद ११ पृ ११६१।
३ वही रागु आसा पद १९, पृ ४८०-१।
४ कबीर-ग्रंथावली का सं पद २१६, पृ १६८।

आत्म-तत्त्व

मनुष्य उक्त सृष्टि के ही अतर्गत है और यह उसका सर्वश्रेष्ठ नमूना है, इसलिए यह भी उसी प्रकार सृष्टिकर्ता का अग है। देखने पर इसका शरीर और इसके भीतर का जीवात्मा दोनो भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, किंतु कवीर साहव इस वात पर विचार करते हुए कहते हैं, "पचतत्त्वो को मिला कर तो शरीर का निर्माण किया है, किंतु सोचने की वात है कि तत्त्व किस वस्तु से निर्मित है और उसी प्रकार यदि जीव को कर्मवद्ध कहा जाता है तो फिर उसे कर्म दिया किसने होगा। सच तो यह है कि हरि में ही पिंड है और इस पिंड वा शरीर में ही हरि है और वही सर्वमय तथा निरतर है"[१]। यह शरीर के भीतर का जीवात्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रक है, न ब्राह्मण है, न वढई है और न तो तपस्वी है, न शेख ही है। यह तो उस राम वा परमेश्वर का एक अश स्वरूप है और यह उसी भाँति नही मिट सकता जिस प्रकार कागज पर से स्याही का चिह्न नही मिटा करता"[२]। वह मूलत वही है जो पूर्ण सत्य है, अतएव उसमें दीख पडनेवाली विभिन्नताएँ मिथ्या हैं। ये उसके 'भरम-करम' अर्थात् उसके भ्रमात्मक दृष्टिकोण तथा उस कर्म के कारण हैं जो उसके जन्मातरो का आधार है। इन दोनो ने ससार-मात्र को भुला रखा है, क्योकि इनके ही कारण मनुष्य ज्ञान से रहित हो जाता है और अपनी 'मति' गँवा वैठता है[३]।

माया-तत्त्व

उक्त 'भरम-करम' का मूल कारण इन्होने अपनी रचनाओ में कदाचित्

---

१ 'पच तत मिलि काइआ कीनी, ततु कहा ते कीनु रे।
करम वध तुम जीव कहत हौ, करमहि किनि जीउ दीनु रे।
हरि महि तनु है, तन महि हरि है सरव निरतर सोई॥'
—आदिग्रथ, राग गौड, पद ३।

२ 'ना इहु मानस ना इहु देउ। ना इहु जती कहावै सेउ॥'
ना इहु जोगी ना अवधूता। ना इहु माइ न काहू पूता'॥ आदि

. . . . .

'कहै कबीर इहु राम को असु। जस कागद पर मिटै न मसु॥'—वही, पद ५।

३. इन दोऊ ससार भुलाया। इनके लागे ग्यान गवाया॥

. . . . . .

भरम करम दोऊ मति गवाई॥—कबीर-ग्रथावली, रमैणी ४, पृ० २५६।

अधिक निरा भावात्मक सच्चिदानंद मात्र ही नहीं है, अपितु उनके 'साहेब' के रूप में एक व्यक्ति-सा भी है। वह अपने खेल में सृष्टि का एक ताना-बाना बना कर उसमें अपने को छिपा देता है जिस कारण सभी भ्रांति में पड़ जाते हैं और जिस किसी को चाहता है वही उस आवरण की असलियत पहचान उससे मिल पाता है। उसे एक अकेला तथा सर्वशक्तिमान हम कह सकते हैं, किंतु इस्लाम के अल्लाह की भाँति उसे एक अनियंत्रित शाहंशाह वा शासक भी नहीं ठहरा सकते। वह स्वामी है किंतु चतुर तथा सहृदय भी है। ये उसके गुण भी वास्तव में जीवों की काल्पनिक सापेक्षता के ही कारण उसमें आरोपित किये जाते हैं। उसका सहज रूप तो निर्गुण सगुण निर्गुणातीत निरंजन का है जो सभी प्रकार के विकारों से रहित नित्य तथा निराकार भी है।

परिणाम नया जीवन

कबीर साहब कोई दार्शनिक नहीं थे न इसी कारण इनका उद्देश्य अपनी रचनाओं द्वारा किसी अंतिम परमतत्त्व की खोज कर उसका निरूपण करना मात्र रहा। इनकी विचार-पद्धति कोरे तर्कों के बल पर आश्रित न होकर अनुभवों का भी अनुसरण करती थी और इनकी जाँच-पड़ताल किसी प्रयोगशाला की केवल बाह्य परीक्षा न होकर इनके आभ्यन्तरिक परिचय के रूप में भी चला करती थी। ये स्वभावतः एक धार्मिक व्यक्ति थे। इनकी समस्याएँ सार्वभौम होती हुई भी व्यक्तिगत थीं। इनके यत्न कोरे शास्त्रीय न होकर सोद्देश्य भी थे। इन्होंने जो कुछ भी दार्शनिक विवेचन किया उसे अपना अंतिम साध्य मान कर नहीं किया। इनके समक्ष केवल द्वैत दुःख भ्रांति प्रपंच आदि के मूल कारण को जान लेने का ही प्रश्न नहीं था। इनका मुख्य कार्य सारे दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति के लिए एक शुद्ध जीवन का आदर्श स्थिर करने के रूप में इनके सामने पड़ा हुआ था। वस्तु स्थिति के ज्ञान ने इन्हें अपना दृष्टिकोण बदल देने में सहायता की और इस प्रकार 'दर्शन' इनके लिए एक जीवन-दर्शन बन गया। उसके द्वारा इन्होंने सारी बातों को एक बार फिर अपने नय ढंग से देखा और इस प्रकार आगे उस आदर्श-जीवन को निश्चित करने में प्रवृत्त हुए जो सतों की सच्ची 'रहनी' के नाम से आज तक प्रसिद्ध है। इन्होंने अपने जीवन को एक प्रकार से दो भागों में विभक्त करके देखा है जिनमें से पहला नितांत सारहीन पहला निरर्थक है। इनका वास्तविक जीवन अपनी मनोवृत्ति निश्चित कर उसके अनुसार व्यवहार करने से आरंभ होता है। यही इनकी 'मगति' का जीवन है जिसे ये सशय-रहित होकर पूरे आनंद के साथ व्यतीत करते हुए जान पड़ते हैं और जिसकी अपेक्षा इन्हें अपने पहले जीवन के दिन

साराश

अतएव कबीर साहब के दार्शनिक मतानुसार सबसे अतिम तत्त्व वा परम-तत्त्व सति (सत्य) है जिसका वास्तविक स्वरूप अगम तथा अज्ञेय है। अपने को वह स्वय आप ही जानता है और दूसरा उसे 'है' मात्र से अधिक नही कह सकता। फिर भी उसके विषय में अपने विचार प्रकट करने के यत्न में हम उसे विविध नामों से पुकार दिया करते हैं और उसके स्वभाव का कुछ परिचय भी देने लगते हैं। तदनुसार हम उसे 'केवल' अर्थात् 'वही मात्र है' कहते हैं, 'अविनासी' अर्थात् नित्य तथा 'अविगत' अर्थात् अव्यक्त बतलाते हैं। इसी प्रकार उसके 'चौथे पद' अर्थात् परात्पर, किंतु साथ ही साथ "जत पेखउ तत अतरजामी"[1] अर्थात् सर्व-व्यापक होने का भी अनुमान करते हैं। हम उसे अपने निजी अनुभव के बल पर, किंतु उसके बतलाने से ही यत्किंचित् मात्र जान पाते है। तभी निश्चय करते है कि हम और वह स्वभावत एक ही हैं तथा अब तक जो हमने उसके साथ अपनी एकता पहचान नही पायी थी, वह केवल 'भरम-करम' अर्थात् हमारी भ्राति और हमारे कर्मो के कारण था जिससे हमें आज तक अनेक जन्म लेकर भटकता रहना भी पडा था। इस भरम-करम का भी मूल कारण वास्तव में 'उसी' की नटसारी वा लीला है जिसके द्वारा उसने अपने को विविध प्रकार से व्यक्त कर रखा है। इसके मनोमोहक रूप ने हमारे भीतर आसक्ति का भाव उत्पन्न करके हमें धोखे के जजाल में फँसा रखा है। यही सत, रज, तम-रूपिणी त्रिगुणात्मिका प्रकृति है जिसका 'पसारा' समस्त जगत् के रूप में लक्षित होता है और यही उसकी 'माया' भी है जो 'अहेडे' वा शिकार खेलने निकली हुई है।

तुलनात्मक परिचय

इस प्रकार कबीर साहब का जो सति है वही वेदात की परिभाषा के अनुसार ब्रह्म है, जो उनका कर्ता है वही उपाधिगत ईश्वर है, जो उनका जीव है वही आत्मा है तथा जो उनकी माया है वही त्रिगुणमयी होने के कारण उसकी भी माया वा प्रकृति है और भरम-करम का मूल कारण होने के कारण उसकी अविद्या है। इसके सिवाय जिस प्रकार वेदात के अनुसार आत्मा तथा परमात्मा दोनो स्वरूपत अभिन्न है, उसी प्रकार कबीर साहब के जीव अथवा 'सुरति' का भी निजस्वरूप ही है जो सति का है। इसका पूर्ण अनुभव होते ही वह जल में जल वा गगन में गगन की भाँति लीन होकर तदाकारता प्राप्त कर लेता है। फिर भी कबीर साहब का 'सति' वेदात के ब्रह्म की भाँति कोरा चैतन्य वा अधिक से

---

१ गुरुग्रथ साहब, रागु बसत, पद १, पृ० ११९३।

हमारा कल्याण होना संभव नहीं न हमारा जीवन ही सार्थक हो सकता है।

मन की चंचलता

इसके सिवाय जिन इन्द्रियों के द्वारा हम अपने विविध कार्यों का संपादन किया करते हैं उनका शासक हमारा मन है। उसका स्वभाव अत्यंत चंचल है और वह एक ही स्थिति में रहना कभी पसंद नहीं करता। वह सदा इधर उधर बहकता फिरा करता है और कभी-कभी तो जान-बूझकर भी ऐसा काम कर बैठता है जिसका परिणाम दीपक हाथ में लेकर कुएँ में गिरने की भाँति आत्म-घातक तक हो जाता है[१]। फिर मन तथा विषय का कुछ ऐसा संबंध भी जान पड़ता है कि एक दूसरे को स्वभावतः छोड़ना नहीं चाहता और दोनों अर्थों में एक दूसरे से अधिक अनर्थ कर डालने की होड़ में लगे रहते हैं[२]। साथ ही मन को दबा कर मार डालने की चेष्टा करना भी व्यर्थ होता है क्योंकि विषय-विकार तनिक भी हवा लग जाते ही वह मर कर भी जी उठता है[३]। इसकी दशा वास्तव में उस मछली की-सी है जिसे काट-कूट कर छीके के ऊपर सँभाल कर रख दिया जाय और फिर भी वह किसी आंतरिक प्रेरणा से बाध्य होकर एक बार दह में आ गिरे[४]। हमारे मन की अनस्थिरता के कारण हमारे दैनिक व्यवहार में कभी एकतानता नहीं रहने पाती न ऐसी स्थिति के लाने की लाख चेष्टा करने पर भी हम कभी कृतकार्य हो पाते हैं। हमारे उक्त दृष्टिकोण की बुनावट में हमारे मन का मानो ताना-बाना लगा हुआ है जिसका रंग प्रतिक्षण बदलता रहता है। इसी कारण हमारे भीतर वास्तव में एक प्रकार का 'सुखिम जनम' वा सूक्ष्म जन्म-मरण भी बारंबार होता रहता है जिसे हम कभी लख नहीं पाते। किन्तु जिससे हमारी सुरति वा जीवात्मा को उस पद में लीन हो जाने के लिए कभी अवकाश ही नहीं मिल पाता[५]। अतएव अपने दृष्टिकोण को सदा एकरूप तथा एकरस बनाये रखने के लिए यत्न करते समय हमें इस मन की ओर भी समुचित ध्यान देना परमावश्यक है।

सुरति शब्द-योग

कबीर साहब ने मन को स्थायी रूप से एकाग्र करने तथा इस प्रकार उक्त

---

१ कबीर-ग्रंथावली साखी ७ पृ २८।
२ वही साखी ९, पृ ५६।
३ वही का स साखी २१ पृ १।
४ वही, साखी २४ पृ १।
५ वही साखी १ तथा २ पृ ३२।

कभी केवल स्मृति-मात्र में आ जाने पर भी कष्टदायक प्रतीत होते हैं।[1] नये जीवन को ये पहले का अत हो जाने के अनतर अथवा इन्ही के शब्दो मे उसकी दृष्टि से 'मृतक' हो जने के पीछे उपलव्ध करते हैं। इस प्रकार इनका पिछला अथवा दूसरा जीवन इनके पुनर्जन्म का महत्त्व रखता है। इस जीवन मे ही उन्हें अमरत्व का अनुभव होता है।

(४) आध्यात्मिक जीवन

नवीन समस्या माया का प्रभाव

वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार अपना दृष्टिकोण निश्चित कर लेने पर भी प्रश्न होता है कि उसे उसी प्रकार का चिरस्थायी रूप कैसे दिया जाय। अपने 'भरम-करम' को हम कैसे निर्मूल कर डालें और किस प्रकार उस माया के बधन से भी सदा के लिए छुटकारा पा सकें जो उन दोनो के मूल में रहा करती है। "माया की बेलि सर्वत्र फैली हुई है और उसकी जड ऐसी विचित्र है कि सारी टहनियो को काट-छाँट देने पर भी वह फिर से कोपल देकर हरी-भरी हो जाती है। इसे ज्ञान-रूपी अग्नि मे एक बार भस्म कर देने से भी काम नही चलता, क्योकि जब तक इसके मोह-रूपी फल का एक भी वासना-रूपी बीज अवशेष है, इसके एक बार फिर अकुरित होकर लहलहा उठने का भय बना हुआ है"[2]। जब तक हम इसे सबीज नष्ट कर अपने भरम-करम का पूर्णत निराकरण नही कर डालते, तब तक कौन कह सकता है कि हमें अपनी पुरानी स्थिति में फिर लौटना नही पडेगा। अतएव आवागमन के चक्कर से अपने को सदा के लिए मुक्त कर लेने के लिए हमें चाहिए कि जब तक अपने शेष जीवन की अवधि बनी हुई है, अपने उक्त दृष्टिकोण के अनुसार ही सदा व्यवहार भी करते चलें ताकि उसके किसी प्रकार भी विचलित हो जाने का कोई अवसर उपस्थित न हो और सतुलन की दिशा विगड जाने के कारण हम फिर उसी गर्त में आकर गिर न जायँ। हमारी भव-सागर की जीवन-यात्रा भरम-करम के विविध झझावातो से सदा आक्रात होती रहती है और हमारे पथ-भ्रष्ट हो जाने की आशका बनी रहती है। अतएव, जब तक हमारे निश्चित दृष्टिकोण का कुतुवनुमा अपने ध्येय के उत्तरी ध्रुव की ओर उसी भाँति कायम नही रहता,

---

१ 'कबीर केसौ की दया, ससा डाल्या खोह।
जे दिन गये भगति बिन, ते दिन सालै मोहि'॥
—कबीर-ग्रथावली, का० स०, साखी ११, पृ० ७९।

२ वही, का० स०, साखी २ तथा ६, पृ० ८६।

स्मृति (आत्म रति) भी कहा गया मिलता है जिस दशा में इसकी स्थायी परिणति को हम 'निरति' का नाम देते हैं। इस प्रकार 'सुरति' वस्तुतः मन की सूक्ष्मतम दशा को प्रकट करती है और 'निरति' उस स्थिति को सूचित करने लगती है जब वह आत्म-केंद्रित वा आत्म-लीन हो जाने के कारण अन्य ओर से नितांत निरवलंब बन जाती है।

कुंडलिनी-योग

कबीर साहब ने इस प्रसंग का अपनी रचनाओं के अंतर्गत जहाँ-तहाँ कुंडलिनी योग वा लय योग के अनुसार भी वर्णन किया है जिसकी चर्चा बहुधा योग साधना-संबंधी अनेक ग्रंथों में पायी जाती है। योग-मतानुसार हमारे शरीर के भीतर हमारे मेरुदंड अर्थात् रीढ़ की हड्डी की भिन्न-भिन्न ग्रंथियों के रूप में नीचे से ऊपर तक क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा नामक छह चक्र पाये जाते हैं जिनकी बनावट भिन्न-भिन्न संख्या के दलोंवाले कमल-पुष्पों की भाँति होती है। इन सबके ऊपर अर्थात् हमारे मस्तिष्क के सर्वोच्च भाग में एक सातवाँ चक्र भी वर्तमान है जो अपने दलों की अधिकता के कारण सहस्रार कहलाता है। इसी प्रकार सबसे निचले चक्र मूलाधार के भी नीचे और हमारे मेरुदंड के निम्नतम अंश में किसी सर्पिणी की भाँति साढ़े तीन घेरों में सिकुड़ी हुई एक शक्ति भी रहा करती है। यह यदि वायु को उलट कर प्राणायाम किया जाय तो उसकी गर्मी से प्रबुद्ध होकर मेरुदंड के भीतर उक्त छह चक्रों को क्रमशः बेधती हुई ऊपर की ओर बढ़ने लगती है और अंत में उक्त सहस्रार के निकट जाकर लीन हो जाती है। प्राणायाम की साधना द्वारा कुंडलिनी के उक्त प्रकार से उन्मुख होकर बढ़ते ही हमारी इंद्रियों की सारी शक्तियाँ क्रमशः सिमटती हुई एक केन्द्र में आ जाती हैं। हमारे मन की बिखरी हुई वृत्तियाँ भी सकुचित होने के कारण उसे स्थिर तथा अंतर्मुख होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा पाती। सारी शक्तियों का केन्द्रीकरण तथा एकीकरण हो जाने से हमारे भीतरी वातावरण का प्रत्येक अंश किसी दिव्य ज्योति से आलोकित हो उठता है और पूर्ण शांति तथा आनंद का अनुभव होने लगता है।

मेरुदंड के उस भीतरी मार्ग को जिससे होकर उक्त कुंडलिनी ऊपर की ओर बढ़ती है 'सुषुम्ना' नाड़ी कहा जाता है जिसके क्रमशः बायें तथा दाहिने 'इड़ा' (चंद्रनाड़ी) और 'पिंगला' (सूर्यनाड़ी) नाम की दो अन्य नाड़ियाँ भी उसमें लगी हुई रहती हैं। इन तीनों का संधि-स्थान आज्ञाचक्र के निकट है जिसे कबीर साहब ने 'त्रिकुटी' के नाम से अभिहित किया है। अतएव कुंडलिनी के लय हो जाने की स्थिति का वर्णन सूर्य तथा चंद्र के संयोग द्वारा भी किया जाता

दृष्टिकोण का सतुलन ठीक बनाये रखने के लिए हमारे सामने एक 'सहज-समाधि' का आदर्श प्रस्तुत किया है। इसे इनके अनुसार प्राप्त कर लेने पर हमारी सारी समस्या हल हो सकती है और उसकी प्राप्ति के लिए कुछ साधनाएँ अपेक्षित हैं। हमारी 'सुरति' हमारे जीव का वह निर्मल रूप है जिसमें हमारे मूल सत्य का प्रतिबिंब बराबर झलका करता है। यह सुरति हमारे भीतर कबीर साहब के 'सति' के एक सूक्ष्म, किंतु उससे भिन्न दशा मे अवशिष्ट अशवत् वर्तमान है। मन की बहुरगिनी बहिर्मुखी वृत्तियाँ जब तक उसके सामने घनी मेघमाला की भाँति घिरी रहती हैं, हम उनसे उपलब्ध विषयो के रसास्वादन में निमग्न रहते है। किंतु ज्योही कभी किसी सकेत-रूपी वायु के झोके से वे एक क्षण के लिए छिन्न-भिन्न होती है, उस परम ज्योतिमय 'सति' की छाया हमारी सुरति को एक वार स्वभावत जागृत तथा उत्तेजित कर देती है। हमे समझ पडने लगता है कि जिस स्थिति में हम अभी तक पडे हुए थे वह वास्तव में हमारे मौलिक सहज-स्वभाव से नितात भिन्न है। इसी क्षणिक स्मृति वा जागरण को स्थिरता प्रदान करने के लिए कबीर साहब ने सुरति को किसी सद्गुरु की बतलायी युक्तियो द्वारा उस अनाहत नाद वा 'अनहद सबद' के साथ जोड देना परमावश्यक बतलाया है। वह हमारे भीतर अपने आप उठा करता है और जो 'हरि की कथा'[१] अथवा भगवत्सकेत के रूप में इसे निरतर सकेत भी किया करता है। इसीलिए उन्होने अपने विषय में भी कहा है कि "सद्गुरु की वाणी रूपी वज्र ने मेरे हृदय को युक्ति-पूर्वक बेध दिया जिससे उस वस्तु का रहस्य हमारी समझ मे आ गया। शक्ति (माया) के अधकार में बधन डालनेवाली भ्रम की 'जेवडी' छिन्न-भिन्न हो गई और शिव-स्थान (उस पद) में मेरा निश्चल निवास हो गया। मेरा मन उन्मत्त होकर शून्य में प्रवेश कर गया, द्विविधा की दुर्मति भाग खडी हुई और इस प्रकार 'रामनाम' (अनाहत शब्द) में लीन हो जाने पर मैंने एक विचित्र अनुभव प्राप्त किया"[२]। फिर "सद्गुरु ने हमें इन्द्रियो के वे मार्ग सुझा दिये जिनसे होकर विषयो के मृग चोरी-चोरी चर जाया करते हैं। इसलिए हमने उन दरवाजो को बन्द कर दिया और ऐसा करते ही अनाहत का वाजा सुन पडने लगा। इस प्रकार हमारे मन में पवन-साधन वा प्राणायाम से ही सुख मिला है और हम इसे योग का परिणाम समझते है"[3]। 'सुरति' को कभी-कभी आत्म-

---

१ गुरुग्रथ साहब, रागु आसा, पद ३१, पृ० ४८३।—दे० 'हरि की कथा अनाहद बानी'।

२ वही, रागु गौडी, पद ४६, पृ० ३३२।

३ वही, रागु सोरठि, पद १०, पृ० ६५५।

स्मृति (आत्म रति) भी कहा गया मिलता है जिस दशा में इसकी स्वाभी परिणति को हम 'निरति' का नाम देते हैं। इस प्रकार 'सुरति' वस्तुतः मन की सूक्ष्मतम दशा को प्रकट करती है और 'निरति' उस स्थिति को सूचित करने लगती है जब वह आत्म-केन्द्रित वा आत्म-लीन हो जाने के कारण अन्य ओर से नितांत निरवलंब बन जाती है।

कुंडलिनी-योग

कबीर साहब ने इस प्रसंग का अपनी रचनाओं के अंतर्गत जहाँ-तहाँ कुंडलिनी योग या लय योग के अनुसार भी वर्णन किया है जिसकी चर्चा बहुधा योग साधना-संबंधी अनेक ग्रंथों में पायी जाती है। योग-मतानुसार हमारे शरीर के भीतर हमारे मेरुदंड अर्थात् रीढ़ की हड्डी की भिन्न-भिन्न ग्रंथियों के रूप में नीचे से ऊपर तक क्रमशः मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूरक अनाहत विशुद्ध तथा आज्ञा नामक छह चक्र पाये जाते हैं जिनकी बनावट भिन्न भिन्न संख्या के दलोंवाले कमल-पुष्पों की भाँति होती है। इन सबके ऊपर अर्थात् हमारे मस्तिष्क के सर्वोच्च भाग में एक सातवाँ चक्र भी वर्तमान है जो अपने दलों की अधिकता के कारण सहस्रार कहलाता है। इसी प्रकार सबसे निचले चक्र मूलाधार के भी नीचे और हमारे मेरुदंड के निम्नतम अंश में किसी सर्पिणी की भाँति साढ़े तीन फेंटों में सिकुड़ी हुई एक शक्ति भी रहा करती है। यह यदि वायु को उलट कर प्राणायाम किया जाय तो उसकी गर्मी से प्रबुद्ध होकर मेरुदंड के भीतर उक्त छह चक्रों को क्रमशः बेधती हुई ऊपर की ओर बढ़ने लगती है और अंत में उक्त सहस्रार के निकट जाकर लीन हो जाती है। प्राणायाम की साधना द्वारा कुंडलिनी के उक्त प्रकार से उन्मुक्त होकर बढ़ते ही हमारी इन्द्रियों की सारी शक्तियाँ क्रमशः सिमटती हुई एक केन्द्र में आ जाती है। हमारे मन की बिखरी हुई वृत्तियाँ भी सकुचित होने के कारण उसे स्थिर तथा अंतर्मुख होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा पाती। सारी शक्तियों का केन्द्रीकरण तथा एकीकरण हो जाने से हमारे भीतरी वातावरण का प्रत्येक भाग किसी दिव्य ज्योति से आलोकित हो उठता है और पूर्ण शांति तथा आनंद का अनुभव होने लगता है।

मेरुदंड के उस भीतरी मार्ग को जिससे होकर उक्त कुंडलिनी ऊपर की ओर बढ़ती है 'सुषुम्ना' नाड़ी कहा जाता है जिसके क्रमशः बाएँ तथा दाहिने 'इडा' (चन्द्रनाड़ी) और 'पिंगला' (सूर्यनाड़ी) नाम की दो अन्य नाड़ियाँ भी उससे लगी हुई रहती हैं। इन तीनों का संधि-स्थान आज्ञाचक्र के निकट है जिसे कबीर साहब ने 'त्रिकुटी' के नाम से अभिहित किया है। अतएव कुंडलिनी के लय हो जाने की स्थिति का वर्णन सूर्य तथा चंद्र के संयोग द्वारा भी किया जाता

है जिसके परिणाम-स्वरूप केन्द्रित शक्तियो से ब्रह्माग्नि प्रज्वलित हो उठती है। चद्र की ओर से अमृत-स्राव होने लगता है और शून्य में अनाहत नाद की ध्वनि स्फुटित हो जाती है। कबीर साहब ने इसी कारण कहा भी है कि "प्राणायाम-द्वारा पवन को उलट कर षट्चक्रो को बेधते हुए सुषुम्ना को भर दिया, जिस कारण सूर्य तथा चद्र का सयोग होते ही सद्गुरु के कथनानुसार ब्रह्माग्नि भी प्रज्वलित हो गई और सारी कामनाएँ, वासनाएँ, अहकार आदि जल कर भस्म हो गए।"[1] इसी प्रकार "जब चद्र तथा सूर्य का सयोग कर दिया, तब अनाहत शब्द होने लगा और जब अनाहत बजने लगा, तब स्वामी के साथ विराजने लगा जब चित्त निश्चल हो गया, तब राम-रसायन पीने को मिल गया और जब राम-रसायन पिया, तब काल का अत हो गया और अमरत्व की प्राप्ति हो गई।"[2] इसीलिए इनका उपदेश भी है कि "हे वैरागी, पवन को प्राणायाम द्वारा उलट कर षट्चक्रो का कुडलिनी द्वारा भेदन कर अपनी सुरति में शून्य के प्रति अनुराग उत्पन्न कर। इस प्रकार उसकी खोज कर ले जो न तो जाता है, न आता है और न जीता है, न मरता ही है।"[3]

मनोमारण

मन के शात तथा निश्चल करने के अभ्यास को इसी प्रकार कबीर साहब ने उसे 'उलट देना', 'खूँटे से बाँध देना', उसे 'मूँड देना', 'बेध देना', 'नन्हा-नन्हा करके पीस देना', 'विभूति बना देना' अथवा उसका 'मारना' आदि कह कर कई प्रकार से व्यक्त किया है। इस क्रिया में उसका अनुसरण करना बिलकुल छोड़ देना चाहिए और उसके बहकने पर उसे बार-बार अपने लक्ष्य की ओर मोड़ने का ही यत्न करना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास करते-करते उसका चचल स्वभाव क्रमश नष्ट हो जाय। स्थिर तथा शात होते ही उसका रूप नितात भिन्न हो जाता है और वही मन जो पहले अपनी रगीली वृत्तियो के कारण सविकार होकर हमारे सामने जाल बिछाया करता था, अब निर्मल तथा निर्विकार होकर हमारी सहायता करने लगता है। इस रहस्य को जान कर यत्न करने से वही हमारे लिए 'गोरख', 'गोविंद' वा स्वय 'करता' तक बन सकता है[4] तथा 'मधुसूदन' और 'त्रिभुवन देव' तक हो सकता है।[5] ऐसी स्थिति

१ कबीर-ग्रथावली, का० स०, पद ७, पृ० ९० ।
२ वही, का० स०, पद १७३, पृ० १४५ ।
३ गुरुग्रथ साहब, रागु गउडी, पद ४७, पृ० ३३३ ।
४ कबीर-ग्रथावली, का० स०, साखी १०, पृ० २९ ।
५ गुरुग्रथ साहब, रागु गउडी, पद २२, पृ० ३२८ ।

से सुरति तथा शब्द के बीच का भ्रमजनित व्यवधान आप-से-आप नष्ट हो जाता है। वह अपने आप जाकर उसमें लीन हो जाती है और दोनों के एकाकार हो जाने के कारण दृष्टिकोण के संतुलन की समस्या आप-से-आप हल हो जाती है। जब जिस दशा को स्थिर करने के लिए हमें सावधान रहना पड़ता था वह सहज ही उपलब्ध हो जाती है और हमारे पूर्वस्वभाव का आमूल परिवर्तन हो जाता है।

सहज-समाधि

कबीर साहब ने उक्त साधना के अनंतर होनेवाले परिणाम को 'ब्रह्म गियान' या ब्रह्मज्ञान की भी संज्ञा दी है। उस आत्मानुभूति की स्थिति में निरंतर टिके रहने को ही सहज समाधि में रहना कहा है। वह अपने अनुभव का वर्णन करते हुए बतलाते है कि "इस प्रकार मुझे ब्रह्मज्ञान उपलब्ध हो गया और अब मैं करोड़ों कल्पों तक भी इसी प्रकार सहज-समाधि में विश्राम करूँगा। दयालु सद्गुरु की कृपा द्वारा अब हृदय कमल विकसित हो गया और परम ज्योति का प्रकाश होते ही भ्रम के निराकरण से दसों दिशाएँ सूझने लगी। जान पड़ा जैसे रात्रि का अंत हो गया सूर्योदय हो चला। नींद टूट गई, मृतक हाथ में धनुष लेकर उठ खड़ा हुआ और काल अहेरी स्वयं भाग चला। उस अगाध *अकथ तथा अनुपम रूप के दर्शन का अनुभव वैसा ही अकथनीय है जैसा मिठाई* खाकर माधुर्य के कारण मन ही मन प्रसन्न हो संकेत-मात्र करनेवाले गूँगे का हुआ करता है। उक्त सहजरूप के प्राप्त होते ही वृक्ष में मानो बिना फूल के फल बीज पड़े। बिना हाथ के तुरही बजती सुन पड़ी और बिना पनिहारिन के गागर भर गई। देखते ही देखते काँच कंचन में परिणत हो गया और बिना मनाये मन मान गया। पक्षी (सुरति) ऐसा उड़ा कि उसका अंत में पता ही न चला और जल जैसे जल में प्रवेश कर जाय वैसे ही उसमें जाकर मिल गया। अब न पहले की भाँति देवों की पूजा करनी है, न वैसे तीर्थ-स्नान की ही आवश्यकता रह गई। अब तो भ्रम के नष्ट होने से आवागमन तक भी नहीं हो सकता। अब अपने में आपको देख लिया आप ही आप सूझने लगा अपने आप ही कहना-सुनना रह गया और अपने आप ही समझना-बूझना भी रह गया। अब अपने परिचय की ही तारी लग गई और अपने आप में सदा के लिए प्रवेश कर गया आदि [1]।

स्वामी आत्म-शुद्धि

इस प्रकार कबीर साहब की सहज-समाधि का स्वरूप केवल मानसिक

---

१ कबीर-ग्रंथावली का सं पद ६, पृ० ८९९।

परिवर्तन का नही, न वह किसी काल-विशेष तक सीमित ही है । उसमें सदा के लिए अपनी प्रकृति परिवर्तित हो जाती है और अपना आगे का जीवन पूर्णत और का और हो जाता है । मन, पवन तथा सुरति के एकत्र होते ही ज्ञानाग्नि द्वारा काया की प्रकृति उसी प्रकार जलकर नष्ट हो जाती है जिस प्रकार स्वर्ण के सारे विकार उसे तपाने पर भस्म हो जाते हैं। शरीर के शुद्ध स्वर्णवत्[१] बन जाते ही मन भी निर्विकार तथा निश्चल बन जाता है। "मन की शाति से गोविंद का ज्ञान सभव होता है जिससे तन की सारी उपाधियाँ सुख मे परिवर्तित हो जाती हैं। जो शत्रु थे, वही मित्र हो जाते है, जो 'साकत' वा दुष्ट थे, वे ही हितचितक बन जाते है और जो 'मन' था, वही अपने राम का रूप धारण कर लेता है। अपने आपको पहचानते ही यह चचल मन उलट कर नित्य तथा सनातन हो जाता है। समझ पडने लगता है कि अब मैं 'जीवत मूआ' अर्थात् अपने पिछले जीवन की दृष्टि से मरा हुआ, किंतु अपने इस नवीन जीवन के विचार से बिलकुल जीता-जागता बन गया । अब स्वय डरने वा अन्य को डराने का कोई प्रश्न ही नही रह गया" ।[२] सहज-समाधि कोई अल्पकालीन वा चिरकालीन मानसिक स्थिति नही, वह अपन स्वभाव का ही सर्वदा के लिए कायापलट है। वह अपने जीवन का ही एक नितात नवीन, किंतु साथ ही वास्तविक तथा विशुद्ध सस्करण है जिसके द्वारा अपना कुल वातावरण तक बदल जाता है । यही स्थिति उस वास्तविक आत्म-शुद्धि की है जिसे कबीर साहब ने 'सोधी' (शुद्धि) नाम देकर उसे सभी 'दाति' वा सद्गुरु द्वारा दातव्य वस्तुओ मे सर्वश्रेष्ठ ठहराया है ।[3]

अमर जीवन

अतएव अपने मन को सबोधित करते हुए कबीर साहब अपने एक पद[४] मे कहते हैं कि "अरे मन, अब तू जहाँ चाहे वहाँ जाने को स्वतत्र है, अब तुझे किसी प्रकार की रोक-टोक नही । अब तो मैं हरिपद का परिचय पाकर वहीं विश्राम करने लगा, इसलिए जहाँ कही भी तू जायगा तुझे राम ही राम दीख पडेंगे । जब तक शरीर की प्रकृति बहुरगिणी बनी हुई थी, द्वैत का अनुभव होता रहता था। अब तो ज्ञान की उपलब्धि के होते ही जहाँ न तहाँ वही एकमात्र दृष्टिगोचर हो रहा है। अब सदा उसी मे लीन रहने के कारण मुझे अपने शरीर तक की सुध भूल

१ कबीर-ग्रथावली, का० स०, पद १७, पृ० ९४ ।
२ गुरुग्रथ साहब, राग गउडी, पद १७, पृ० ३२६ ।
३ 'सोधी सई न दाति', क० ग्र०, सा० १, पृ० १ ।
४ कबीर-ग्रथावली, का० सं०, पद १४९, पृ० १३६ ।

गई और मैं सदा के लिए सुख के समुद्र में मग्न हो गया। स्वभाव से उक्त प्रकार से पूर्णतः परिवर्तित होते ही अपनी स्थिति सभी प्रकार से सुरक्षित जान पड़ने लगती है और आगामी आवागमन की आशंका भी निर्मूल हो जाती है। अब अपने मन में इस बात का दृढ़ विश्वास जम जाता है कि मैं फिर कभी जन्म ग्रहण नहीं करूँगा क्योंकि पंचतत्त्वमयी काया से विमुक्त होते ही पृथ्वी-तत्त्व का गुण जल-तत्त्व में निहित होकर अग्नि-तत्त्व के साथ मिल जायगा और अग्नि-तत्त्व पवन-तत्त्व से मिल कर आकाश-तत्त्व में लीन हो जायगा और अपनी सहज-समाधि लगी रह जायगी। जब जिस प्रकार स्वर्ण से बने हुए अनेक भूषण भी गलाये जाने पर एकरूप हो जाते हैं उसी प्रकार मैं भी लोक तथा वेद की उपाधियों से रहित होकर शून्य में प्रवेश कर जाऊँगा अथवा जिस प्रकार तरंगिणी (नदी) में उसकी तरंगें (लहरें) दीख पड़ती हैं, उसी प्रकार मैं भी समाप्त पड़ने लगूँगा"।[1] यही वह अमरत्व का जीवन है जिसमें अपने पंच भौतिक शरीर के नष्ट हो जाने का कोई महत्त्व नहीं रह जाता न इसी कारण किसी काल की भयंकरता का कोई प्रभाव ही रह जाता है।

भाव-भगति

सहज-समाधि के उक्त परिचय से लक्षित होता है कि उसका रूप स्वानुभूति-परक होने के कारण केवल ज्ञानात्मक ही होगा किंतु बात ऐसी नहीं है। कबीर साहब ने जो इस प्रसंग में अनेक स्थलों पर चर्चा की है उससे स्पष्ट है कि उक्त स्थिति का स्वरूप वास्तव में भक्तिमय भी है। इस दृष्टि से उस दशा को वे 'भाव-भगति' नाम देते हुए समझ पड़ते हैं। कबीर साहब के अनुसार 'भगति' का भक्ति से मुख्य तात्पर्य 'हरिनाम का भजन' मात्र है और अन्य बातें अपार दुःख से भरी हुई हैं। इसी कारण वे नाम स्मरण को ही यदि वह मनसा वाचा तथा कर्मणा किया जाय तो सबसे बढ़ कर साधना मानते हैं।[2] किंतु 'रामनाम' वस्तुतः एक 'अगोचर' पदार्थ है जिसका ऊपर से वर्णन नहीं किया जा सकता उसके भीतरी अनुभव द्वारा ही हम आनंद उठा सकते हैं। उसका रहस्य उससे परिचित होने पर ही मिल सकता है।[3] उस 'वस्तु अगोचर' को प्राप्त करने के लिए हमें अधकार के अदर दीपक की आवश्यकता पड़ती है और वह दीपक हमें अपने 'घट' या शरीर में ही समाया हुआ दीख पड़ता है।[4] 'जब षट्चक्र की कनक कोठड़ी में कर्म ताले

---

१ कबीर ग्रंथावली, का सं पद १५ पृ १३६-७।
२ वही साखी ४ पृ ५।
३ वही पद २१८, पृ १९२।
४ गुरुग्रंथ साहब रागु सोरठि, पद ७।

को युक्तिपूर्वक कुडलिनी की कुजी द्वारा खोल देते हैं, तब उसमे निहित भाव-रूपिणी उक्त वस्तु के प्रकट हो जाते देर नही लगती।[1] इस प्रकार पूर्वोक्त 'अनाहत वानी' ही वह भाव-रूपिणी वस्तु है जिसे हम ज्ञानरूपी दीपक का प्रकाश हो जाने पर उपलब्ध करते है और वही दूसरे शब्दो मे हरिनाम वा रामनाम भी है जिसका भजन यहाँ पर विवक्षित है। उसके साथ सुरति का सयोग होने पर जब तन्मयता आ जाती है और दोनो एकाकार हो जाते है, तब सारी स्थिति ही भावमयी हो जाती है और तभी भजन (भज् = भाग लेना अथवा भाग लेकर 'उसमे' लीन हो जाना) की सार्थकता भी सभव होती है। भाव-भगति को कबीर साहब ने इसी कारण 'हरि स् गठजोरा'[2] भी कहा है और एक अन्य स्थल पर सच्ची भगति की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि "जिस प्रकार मृग वीणा के स्वर को सुनते ही बिध जाता है और शरीर त्याग करने पर भी उसका ध्यान नही टूटता, जिस प्रकार मछली जल के साथ ऐसा प्रेम कर लेती है कि प्राण छोडने पर भी अपना स्वभाव नही भूलती तथा जिस प्रकार कीट भृ गी मे इतना लीन हो जाता है कि वह अत मे भृ गी ही बन जाता है, उसी प्रकार इस 'अमृत-सार' नाम का स्मरण करके भक्त लोग भव-सागर पार किया करते हैं"।[3] इस प्रकार की भक्ति का ही नाम 'प्रेम-भगति' भी है जिसमे "चद्रमा की ओर से अमृतस्राव हुआ करता है आप ही आप विचार करते समय अपार आनद मिला करता है"।[4]

उसका स्वरूप

कबीर साहब द्वारा निर्दिष्ट उक्त भाव-भगति का भी रहस्य इसी कारण किसी बाहरी पूजन वा गुणगान मे निहित न होकर एक स्थिति-विशेष मे सदा निरत रहने तथा उसी के अनुसार निरतर चेष्टा करने मे ही लक्षित होता है। इसका सबध उक्त भाव-विशेष से है। इसे वैसी किसी भावना वा प्रतीक से प्रयोजन नही जिस पर सगुणोपासना के लिए निर्भर रहना पडता हो। अतएव हम यदि साधारण भक्ति की भिन्न-भिन्न नवधा पद्धतियो की इसमे खोज करें, तो उनके प्रचलित रूपो का यहाँ सर्वथा अभाव ही मिलेगा। उदाहरण के लिए यहाँ 'श्रवण' की यह विशेषता है कि सबद के सुनते ही जी निकलने-सा लगता है और देह की सारी सुध भूल जाती है।[4] 'कीर्तन' मे हरिगुण का स्मरण कर उन्हे गाने की ज्यों-ज्यो चेष्टा

१ कबीर-ग्रथावली, का० स०, पद २३, पृ० ९६।
२ वही, पद २१३, पृ० १६०।
३ वही, पद ३९३, पृ० २१८।
४ वही, पद ५, पृ० ८९।
४ वही, का० स०, साखी ३३, पृ० ७१।

की जाती है, त्यों-त्यों एक तीर-सा लगने लगता है।[१] 'स्मरण' तथा 'वंदन' में क्रमश "मेरा मन राम को स्मरण करता है और वही हो भी जाता है" और "जब मेरा मन राम का ही रूप हो गया तब शीश किसे नवाया जाय"[३] की दशा का अनुभव होता है। 'पाद-सेवन' में "चरण कँवल मन मानियाँ" की स्थिति ऐसी आ जाती है कि हम सुख तथा दु ख दोनों को बिलकुल भूल जाते हैं[४] और वैसी सेवा करने लगते हैं कि जिसके बिना रहा नही जाता।[४] इसी प्रकार 'अर्चन' में भी "माँहि पाती माँहि जल माँहि पूजणहार" होने से अवस्था ही कुछ विचित्र-सी रहा करती है तथा 'साच सील का चौका' देकर हमें आरती के समय अपने प्राणों को ही उस 'तेजपुंज' के समक्ष उतार देना पड़ता है।[६] 'दास्य' में 'गले राम की जेवड़ी जित खिंच तित जाऊँ'[७] की दशा रहती है और कबीर साहब को इसी कारण कह देना पड़ता है कि 'हे स्वामी मैं तेरा गुलाम हूँ तू मुझे जहाँ चाहे बेच डाल तथा तूने तो मुझे ऐसी हाट में उतार दिया है जहाँ पर तू ही गाहक है और बेचनेवाला भी तू ही है"। 'सख्य' में भी इसी भाँति "सो दोसत किया अलेख"[९] के कारण सदा 'अक भरे भरि'[९] भेंटना होता रहता है और 'आत्मनिवेदन' की स्थिति में भेद रहित होने से अपनी दशा की सुध ही नहीं रहा करती। ऐसा अनुभव होता है कि 'पाला गलि पाँणी भया ढुलि मिलिया उस कूलि'।[११] फिर तो ऐसी अनिर्वच नीय समस्या उपस्थित हो जाती है कि बूँद समुद्र में खो जाती है और लाख यत्न करने पर भी नहीं मिलती न ढूँढनेवाले का ही पता चलता है।[१२] अतएव भक्त मे यही कह कर मौन धारण करना पड़ता है कि "मेरा तो मुझमे कुछ था ही नहीं जो कुछ था उसी का था इसलिए उसकी ही वस्तु को उसे सौंपते मेरा क्या ही क्या"।[१३] सारांश यह है कि उक्त सारे व्यापार भीतर ही होते रहते हैं और आप-से-आप स्वभावत चलते हैं।

सहजशील

सहज-समाधि की स्थिति में भाव-भगति से ओतप्रोत स्वभाव का इसी कारण

---

१ कबीर-ग्रथावली साखी ६, पृ ६३। २ वही साखी ८, पृ ५।
३ वही पद ४ पृ ८८। ४ वही रमैणी पृ २४१।
५ वही, साखी ४२, पृ १३। ६ वही रमैणी पृ २४।
७ वही साखी १४ पृ ९। ८ वही पद १११ पृ १२४।
९ वही, साखी १२, पृ ११। १ वही साखी २५, प १४।
११ वही साखी १८, पृ १४। १२ वही, का सं साखी ३ पृ १।
१३ वही साखी ३ पृ० १९।

को युक्तिपूर्वक कुडलिनी की कुजी द्वारा खोल देते है, तब उसमे निहित भाव-रूपिणी उक्त वस्तु के प्रकट हो जाते देर नही लगती।[१] इस प्रकार पूर्वोक्त 'अनाहत वानी' ही वह भाव-रूपिणी वस्तु है जिसे हम ज्ञानरूपी दीपक का प्रकाश हो जाने पर उपलब्ध करते हैं और वही दूसरे शब्दो मे हरिनाम वा रामनाम भी है जिसका भजन यहाँ पर विवक्षित है। उसके साथ सुरति का सयोग होने पर जब तन्मयता आ जाती है और दोनो एकाकार हो जाते हैं, तब सारी स्थिति ही भावमयी हो जाती है और तभी भजन (भज्=भाग लेना अथवा भाग लेकर 'उसमे' लीन हो जाना) की सार्थकता भी सभव होती है। भाव-भगति की कबीर साहब ने इसी कारण 'हरि सू गठजोरा'[२] भी कहा है और एक अन्य स्थल पर सच्ची भगति की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि "जिस प्रकार मृग वीणा के स्वर को सुनते ही विंध जाता है और शरीर त्याग करने पर भी उसका ध्यान नही टूटता, जिस प्रकार मछली जल के साथ ऐसा प्रेम कर लेती है कि प्राण छोडने पर भी अपना स्वभाव नही भूलती तथा जिस प्रकार कीट भृगी मे इतना लीन हो जाता है कि वह अत मे भृगी ही बन जाता है, उसी प्रकार इस 'अमृत-सार' नाम का स्मरण करके भक्त लोग भव-सागर पार किया करते हैं"।[३] इस प्रकार की भक्ति का ही नाम 'प्रेम-भगति' भी है जिसमे "चद्रमा की ओर से अमृतस्राव हुआ करता है आप ही आप विचार करते समय अपार आनद मिला करता है"।[४]

उसका स्वरूप

कबीर साहब द्वारा निर्दिष्ट उक्त भाव-भगति का भी रहस्य इसी कारण किसी बाहरी पूजन वा गुणगान मे निहित न होकर एक स्थिति-विशेष मे सदा निरत रहने तथा उसी के अनुसार निरतर चेष्टा करने मे ही लक्षित होता है। इसका सबध उक्त भाव-विशेष से है। इसे वैसी किसी भावना वा प्रतीक से प्रयोजन नही जिस पर सगुणोपासना के लिए निर्भर रहना पडता हो। अतएव हम यदि साधारण भक्ति की भिन्न-भिन्न नवधा पद्धतियो की इसमे खोज करें, तो उनके प्रचलित रूपो का यहाँ सर्वथा अभाव ही मिलेगा। उदाहरण के लिए यहाँ 'श्रवण' की यह विशेषता है कि सबद के सुनते ही जी निकलने-सा लगता है और देह की सारी सुध भूल जाती है।[४] 'कीर्तन' मे हरिगुण का स्मरण कर उन्हे गाने की ज्यो-ज्यो चेष्टा

---

१ कबीर-ग्रथावली, का० स०, पद २३, पृ० ९६।

२ वही, पद २१३, पृ० १६०।

३ वही, पद ३९३, पृ० २१८। ४ वही, पद ५, पृ० ८९।

४ वही, का० स०, साखी ३३, पृ० ७१।

की जाती है, त्यों-त्यों एक तीर-सा लगने लगता है।[1] 'स्मरण' तथा 'वंदन' में क्रमशः 'मेरा मन राम को स्मरण करता है और वही हो भी जाता है' और 'जब मेरा मन राम का ही रूप हो गया तब शीश किसे नवाया जाय'[2] की दशा का अनुभव होता है। 'पाद-सेवन' में "चरण कँवल मन मानियाँ" की स्थिति ऐसी आ जाती है कि हम सुख तथा दुःख दोनों को बिलकुल भूल जाते हैं[3] और वैसी सेवा करने लगते हैं कि जिसके बिना रहा नहीं जाता।[4] इसी प्रकार 'अर्चन' में भी "माँहि पाती माँहि जल माँहि पूजणहार"[5] होने से अवस्था ही कुछ विचित्र-सी रहा करती है तथा 'साच शील का चौका' देकर हमें आरती के समय अपने प्राणों को ही उस 'तेजपुंज' के समक्ष उतार देना पड़ता है।[6] 'दास्य' में 'मैं राम की जेवड़ी जित खिंच तित जाऊँ'[7] की दशा रहती है और कबीर साहब को इसी कारण कह देना पड़ता है कि 'हे स्वामी मैं तेरा गुलाम हूँ, तू मुझे जहाँ चाहे बेच डाल तथा तूने तो मुझे ऐसी हाट में उतार दिया है जहाँ पर तू ही गाहक है और बेचनेवाला भी तू ही है'। 'सख्य' में भी इसी भाँति "सौं दोसत किया अलेख"[8] के कारण सदा अंक भरे भरि"[9] भेंटना होता रहता है और 'आत्मनिवेदन' की स्थिति में भेद रहित होने से अपनी दशा की सुध ही नहीं रहा करती। ऐसा अनुभव होता है कि 'पाणी गलि पाणी भया ढुलि मिल्या उस कूलि'।[10] फिर तो ऐसी अनिर्वच नीय समस्या उपस्थित हो जाती है कि बूँद समुद्र में खो जाती है और लाख यत्न करने पर भी नहीं मिलती न ढूँढनेवाले का ही पता चलता है।[11] अतएव अंत में यही कह कर मौन धारण करना पड़ता है कि "मेरा तो मुझमें कुछ था ही नहीं जो कुछ था उसी का था इसलिए उसकी ही वस्तु को उसे सौंपते मेरा क्या ही गया"।[12] साराश यह है कि उक्त सारे व्यापार भीतर ही होते रहते हैं और आप-से-आप स्वभावत चलते हैं।

सहजशील

सहज-समाधि की स्थिति में भाव-भगति से ओतप्रोत स्वभाव को इसी कारण

---

१ कबीर-ग्रंथावली साखी ६, पृ १३। २ वही साखी ८ पृ ५।
३ वही पद ४ पृ ८८। ४ वही, रमैणी पृ २४१।
५ वही, साखी ४९, पृ १३। ६ वही रमैणी, पृ २४।
७ वही साखी १४ पृ २०। ८. वही पद ११३ पृ १२४।
९. वही, साखी १२ पृ १३। १० वही, साखी २५, पृ १४।
११ वही साखी १८, पृ १४। १२ वही का सं साखी ३ पृ १।
१३ वही साखी ३ पृ १९।

कबीर साहब ने 'सहजसील' की संज्ञा दी है और बतलाया है कि किस प्रकार उक्त श्रेणी तक पहुँचे हुए महापुरुष की प्रकृति एक निराले ढंग की हो जाती है जिसमे कुछ विशिष्ट गुणो का समावेश रहा करता है। इस सहजसील का संक्षिप्त परिचय देते हुए ये एक स्थान पर कहते हैं कि इसके लिए कम से कम सती, संतोषी, सावधान, सबदभेदी तथा सुविचारवान् होने की आवश्यकता है जो सद्गुरु के प्रसाद अथवा अपार कृपा पर निर्भर है।"[1] इस बात को इन्होंने अपनी अनेक रचनाओं द्वारा स्पष्ट करने की भी चेष्टा की है। 'सतीत्व' गुण के लिए इनके अनुसार शुद्ध भावना तथा एकांत निष्ठा के साथ ही अपने प्रिय उद्देश्य की प्राप्ति के विषय मे ऐसी उत्कट अभिलाषा भी अपेक्षित है जिसमे वियोग की तनिक भी संभावना असह्य हो उठती है। 'संतोष' गुण के लिए हरि मे अटूट विश्वास तथा उसके प्रति पूर्ण निर्भरता तो चाहिए ही, अपने अमल मे इस प्रकार निरंतर मस्त भी रहना चाहिए ताकि उसमे अपने को नितांत मग्न कर दें। 'सावधानी' के लिए इसी प्रकार संयमी, त्यागी, निर्भय तथा निःशंक होने की आवश्यकता है और एक शूरवीर की भाँति पूर्ण दृढव्रती होना भी अपेक्षित है। 'सबदभेदी' का गुण इनके अनुसार शब्द के रहस्यो से पूरा परिचय तथा नामस्मरण मे सदा निरत रहने का स्वभाव उत्पन्न कर देता है। 'सुविचार' का गुण भी एक सारग्राहितापूर्ण सच्चे तथा निष्कपट हृदय को वह बल प्रदान कर देता है जिसमे कथनी और करनी मे कोई विषमता नही आ पाती। यह सहजसील सतत अभ्यास का फल होता है और अपने निजी चरित्र-विशेष के रूप मे सदा प्रकट हुआ करता है। इस सहजसील की सबसे बडी विशेषता इस बात मे है कि उक्त सारे गुण आप-से-आप उत्पन्न हो जाते हैं। हमारे जीवन के स्वरूप को इस प्रकार परिवर्तित कर देते हैं कि वह पार्थिव अथवा सासारिक बने रहने की जगह आध्यात्मिक वा स्वर्गीय हो जाता है।

सहजावस्था

अतएव उक्त प्रकार से हृदयस्थित कपट की गाँठ सदा के लिए खुल जाती है, अंतःकरण निर्मल तथा विशुद्ध हो जाता है। आत्मा की निर्मलता अलौकिक आनंद ला देती है। अब कथनी तथा करनी मे कोई अंतर नही रह जाता। मुख से जैसा निकलता है, वैसा ही अपना दैनिक व्यवहार भी चलता है। परमात्मा सदा 'नेडा' वा निकट वर्तमान जान पडता है और अपने भीतर इस बात का अनुभव होने लगता है कि मैं अब कृतकार्य हो गया हूँ।[2] यही वह सहज की अवस्था है जब "अपनी

१ कबीर-ग्रंथावली, का० स०, साखी २, पृ० ६३।

२ वही, साखी २, पृ० ३८।

पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ अपने कहने म पूर्णत आ जाती है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हमे परमात्मा का स्पर्श वा प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है।[1] हमारे भीतर मानो अव्यक्त व्यक्त हो जाता है। 'प्रेमध्यान' की तारी लग जाती है और मन पट के खुलते ही सारी धन्नाएँ सुखमयी बन जाती है। उस समय संसार-मात्र के साथ आत्मीयता का बोध होने लगता है और किसी के प्रति वैर वा विद्वेष के भाव जागृत नही होते। सारी सृष्टि के अंतर्गत उस आत्मतत्त्व वा सति का प्रत्यक्ष आभास होते रहने से वृक्ष तथा वनस्पति के भीतर भी वही लक्षित होता है। उसके पत्ते म ब्रह्मा पुष्प मे विष्णु तथा फल मे साक्षात् महादेव के दर्शन होने लगते है उसका सारा अंग सजीव हो उठता है और पूजा के लिए भी उसके किसी अंश का तोडना असह्य प्रतीत होता है।[2] यह किसी व्यक्ति के विकास की पूर्ण अवस्था है जिसमें मनुष्यत्व तथा देवत्व के बीच कोई अंतर नही रह जाता। कबीर साहब ने इस स्थिति को पहुँचे हुए महापुरुषो को ही भगत हरिजन साधू अथवा अधिकतर सत कहा है और उन्हे 'प्रत्यक्ष देव' रूप माना है।

सत

उक्त सतो के लक्षण बतलाते हुए एक साखी द्वारा ये कहते है कि वे सत' लोग 'निरवैरी' अर्थात् किसी से किसी प्रकार की भी शत्रुता न रखनेवाले होते हैं। 'निह काम' होने के कारण किसी वस्तु की कामना न रखते हुए नि स्वार्थ होते हैं। उनके साईं सैती नेह' अर्थात् परमात्मा के प्रति पूर्ण प्रेम की 'भावना' रहा करती है और वे सारे 'विषिया सू न्यारा' अथवा अलग रहने के कारण निर्लिप्त तथा अना-सक्त रहा करते हैं।[3] इनकी ये बराबर प्रशसा करते है और उन्हे आदर्श के रूप म परिचित कराने के लिए निरतर सचेष्ट रहते है। सतो के हृदय को उन्होंने उजाला वा प्रकाशपूर्ण बतलाया है, उन्हे तत्त्वज्ञ तथा विवेकी हंस की उपमा दी है। उनके त्याग सतोष व निर्भीकता का वर्णन किया है। कबीर साहब के अनुसार सत-जन दूर से ही "तन पीना मन उन मना" अर्थात् क्षीण शरीरधारी व अन्य मनस्क दीख पडते हैं और उनका सतपन करोडो के समाज मे रहते हुए भी उसी प्रकार एकरस तथा एकभाव बना रहता है जिस प्रकार सर्पों द्वारा वेष्ठित रहने पर

---

१ कबीर-ग्रंथावली, का सं साखी २, पृ ४२। दे 'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते'। —श्री मद्भगवद्गीता, अध्याय ६, श्लोक २८ भी।

२ वही, पद १९८, पृ १५५।

३ वही, साखी १ पृ ५ (दे प्रथम अध्याय भी)।

४ वही साखी १ पृ ५१।

भी चदन वृक्ष की शीतलता वनी रहती है। उनके स्वभाव मे कुछ भी परिवर्तन नही होता।[1] कवीर साहव राम का भजनेवाला उसी को मानते है जो किसी प्रकार से 'आतुर' वा अशात नही होता, जिसमे सच्चा सतोष होता है और जो धैर्यवान् होता है। जिस पर काम तथा क्रोध अपने प्रभाव नही डाल सकते, जिसे तृष्णा नही जलाया करती और जो इसी कारण प्रफुल्लित मन के साथ गोविंद के गुण गाता रहता है, उसे दूसरो की निंदा नही भाती, न वह असत्य भाषण करता है। वह काल की कल्पना का भी त्याग करता हुआ परमात्मा मे निरतर लीन रहा करता है। वह सदा सम-दृष्टि तथा सबके प्रति 'सीतल' अर्थात् एकभाव के साथ उपकारी हुआ करता है और किसी प्रकार की 'दुबिधा' वा दो प्रकार की धारणा नही रखता। अतएव कवीर साहव का कहना है कि इनका मन ऐसे ही भक्तो मे विश्वास करता है।[2] साराश यह कि भक्ति के लिए शुद्धाचरण भी परमावश्यक है।

समष्टिगत सुधार

उक्त शुद्धाचरण का व्यापार मानव-समाज मे ही चलता है और उक्त नैतिक गुणो के प्रयोग समाज के अतर्गत ही सभव हैं। अतएव व्यष्टि के पूर्णत सुधरते ही समष्टि का भी सुधर जाना अनिवार्य-सा है। कबीर साहव कदाचित् इसी कारण किसी सामाजिक व्यवस्था का आदर्श हमारे सामने रखते हुए नही दीख पडते। इनके अनुसार जीवात्मा सर्वात्मा का अश है और व्यक्ति का ध्येय उसके साथ एकाकार होना है। अतएव समाज, राष्ट्र अथवा विश्व के सामजस्य की भी प्रक्रिया उसी यत्न मे आप-से-आप विकसित होती चलेगी। इनका सत शाश्वत सत्य को अपने नित्य के जीवन तथा दैनिक प्रश्नो के सबध मे उतारते रहने की चेष्टा स्वभावत किया करेगा। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के मानवीय सस्कारो मे सदा परिवर्तन होता ही रहेगा, अत इस प्रकार किसी दिन भूतल पर स्वर्ग तक लाने का भी अवसर आ सकता है।

कबीर सामाजिक समस्याओ पर इसी कारण आर्थिक, राजनीतिक आदि दृष्टियो से अलग-अलग विचार करते हुए नही दीख पडते। ये पूरे समानतावादी हैं। किंतु इनके यहाँ सामाजिक प्रश्न आर्थिक वा राजनीतिक प्रेरणाओ से नही जागृत होते, अपितु ठेठ 'समाज धर्म' के आदर्शानुसार उठा करते हैं। इनके अनुसार मानव-समाज के सभी अग मूलत एक हैं, अतएव केवल उनके 'अधिकार' मात्र में ही समानता का देखना अधूरा कार्य समझा जा सकता है। इनकी क्राति अपनी सामाजिक व्यवस्था वा परिस्थिति के उलट-फेर की ओर उतना ध्यान नही देती जितना समाज के व्यक्तियो के हृदय-परिवर्तन से सबद्ध है।

---

१ कबीर ग्रथावली, साखी २, पृ० ५१। २ वही, पद ३६३, पृ० २०९।

भी चदन वृक्ष की शीतलता बनी रहती है। उनके स्वभाव मे कुछ भी परिवर्तन नही होता।[1] कबीर साहब राम का भजनेवाला उसी को मानते है जो किसी प्रकार से 'आतुर' वा अशात नही होता, जिसमे सच्चा सतोष होता है और जो धैर्यवान् होता है। जिस पर काम तथा क्रोध अपने प्रभाव नही डाल सकते, जिसे तृष्णा नही जलाया करती और जो इसी कारण प्रफुल्लित मन के साथ गोविंद के गुण गाता रहता है, उसे दूसरो की निंदा नही भाती, न वह असत्य भाषण करता है। वह काल की कल्पना का भी त्याग करता हुआ परमात्मा मे निरतर लीन रहा करता है। वह सदा सम-दृष्टि तथा सबके प्रति 'सीतल' अर्थात् एकभाव के साथ उपकारी हुआ करता है और किसी प्रकार की 'दुबिधा' वा दो प्रकार की धारणा नही रखता। अतएव कबीर साहब का कहना है कि इनका मन ऐसे ही भक्तो मे विश्वास करता है।[2] साराश यह कि भक्ति के लिए शुद्धाचरण भी परमावश्यक है।

समष्टिगत सुधार

उक्त शुद्धाचरण का व्यापार मानव-समाज मे ही चलता है और उक्त नैतिक गुणो के प्रयोग समाज के अतर्गत ही सभव है। अतएव व्यष्टि के पूर्णत सुधरते ही समष्टि का भी सुधर जाना अनिवार्य-सा है। कबीर साहब कदाचित् इसी कारण किसी सामाजिक व्यवस्था का आदर्श हमारे सामने रखते हुए नही दीख पडते। इनके अनुसार जीवात्मा सर्वात्मा का अश है और व्यक्ति का ध्येय उसके साथ एकाकार होना है। अतएव समाज, राष्ट्र अथवा विश्व के सामजस्य की भी प्रक्रिया उसी यत्न मे आप-से-आप विकसित होती चलेगी। इनका सत शाश्वत सत्य को अपने नित्य के जीवन तथा दैनिक प्रश्नो के सबध मे उतारते रहने की चेष्टा स्वभावत किया करेगा। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के मानवीय सस्कारो मे सदा परिवर्तन होता ही रहेगा, अत इस प्रकार किसी दिन भूतल पर स्वर्ग तक लाने का भी अवसर आ सकता है।

कबीर सामाजिक समस्याओ पर इसी कारण आर्थिक, राजनीतिक आदि दृष्टियो से अलग-अलग विचार करते हुए नही दीख पडते। ये पूरे समानतावादी हैं। किंतु इनके यहाँ सामाजिक प्रश्न आर्थिक वा राजनीतिक प्रेरणाओ से नही जागृत होते, अपितु ठेठ 'समाज धर्म' के आदर्शानुसार उठा करते हैं। इनके अनुसार मानव-समाज के सभी अग मूलत एक हैं, अतएव केवल उनके 'अधिकार' मात्र मे ही समानता का देखना अधूरा कार्य समझा जा सकता है। इनकी क्राति अपनी सामाजिक व्यवस्था वा परिस्थिति के उलट-फेर की ओर उतना ध्यान नही देती जितना समाज के व्यक्तियो के हृदय-परिवर्तन से सबद्ध है।

---

१ कबीर ग्रथावली, साखी २, पृ० ५१। २ वही, पद ३६३, पृ० २०९।

सामाजिक साम्य

मानव-समाज की मौलिक एकता की ओर सर्वसाधारण का ध्यान दिलाते हुए कबीर साहब ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत कई स्थलों पर जाति कुल धन तथा धर्म-संबंधी वैषम्य को लेकर कुछ फुटकर विचार भी प्रकट किये हैं। वे कहते हैं कि गर्भावस्था में तो कोई जाति वा कुल का चिह्न नहीं रहा करता और सबकी उत्पत्ति एक ब्रह्म बिंदु से ही हुआ करती है। फिर पवित्र ब्राह्मण कब से हो गया? यदि वह ब्राह्मण वा ब्राह्मणी का उत्पन्न किया हुआ है तो उसकी उत्पत्ति के ढंग में भी कुछ विभिन्नता होनी चाहिए थी। परन्तु यदि वह भी सभी की भाँति जन्म लेता है तो फिर वह किस प्रकार ब्राह्मण हो गया और दूसरे शूद्र बन गए अथवा वे किस प्रकार साधारण रक्त रह गए और वह पवित्र दूध हो गया? सच्ची बात तो यह है कि जो ब्रह्म का विचार कर सकता है वही ब्राह्मण है'।[1] इसी प्रकार 'सर्वप्रथम एक ही ज्योति से सारी सृष्टि की रचना हुई, अतएव मूलतः हम किसी एक को अच्छा और दूसरे को बुरा नहीं कह सकते। मिट्टी एक ही है न तो पात्र में कोई बुराई है न उसके कुम्हार में ही कोई कमी है। सभी प्राणियों में वही एक अदृश्य रूप से विद्यमान है'।[2] फिर 'हम तो सबको एक ही एक समझते हैं। यह सारा जगत् एक ही पानी एक ही पवन तथा एक ही ज्योति का बना है। सभी बर्तन एक ही मिट्टी के बने हैं और उनका बनानेवाला भी एक ही है तथा सबके भीतर वही एक काठ के भीतर अग्नि की भाँति व्याप्त है'।[3]

आर्थिक तथा धार्मिक साम्य

धनी तथा निर्धन के संबंध में भी वे कहते हैं कि इस समय कोई निर्धन का आदर नहीं देता। वह लाख यत्न कर तो भी उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। यदि निर्धन धनवान् के पास जाता है तो निर्धन को आगे बैठा देख कर धनवान् पीठ फेर लेता है। परन्तु यदि धनवान् निर्धन के पास जाता है तो निर्धन धनवान् को आदर देता है और उसे अपने निकट बुला लेता है। फिर भी वस्तुतः निर्धन और धनवान् दोनों भाई भाई हैं और जो दोनों में अंतर दीख पड़ता है वह प्रभु का नित्य कौतुक मात्र है। कबीर साहब के अनुसार सच्चा निर्धन उसी को कहना चाहिए जिसके हृदय में रामनाम का धन न हो।[4] वे स्वयं किसी से भी

---

१ गुरुग्रंथ साहब राग गौड़ी पद ७ पृ ३२४।

२ वही राग बिभास प्रभाती पद ३ पृ १३४९।

३ कबीर-ग्रंथावली का सं पद ५५, पृ १०५।

४ आदिग्रंथ राग भैरउ, पद ८, पृ ११६।

कोई वस्तु अपने लिए माँगना नही चाहते, अपितु अपना काम करते हुए सतोष-पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहते है।'[१] इन्हे धार्मिक वा साम्प्रदायिक विषमता अधिक असत्य प्रतीत होती है और इसके विरुद्ध ये बार-बार लोगो का ध्यान आकृष्ट करते रहते है। ये हिन्दू और मुसलमान मे कोई मौलिक भेद नही देखते और सुन्नत तथा यज्ञोपवीत इन दोनो को ही कृत्रिम ठहराते है।[६] इन दोनो धर्मों तथा जैन, बौद्ध, शाक्त, चार्वाक आदि के भी बाह्य नियमो को ये पाखडपूर्ण तथा व्यर्थ बतलाते है और उन सबके अनुयायियो से कहते है कि मूल धर्म की ओर अपना ध्यान दें।

उपसहार

सक्षेप मे कबीर साहब का उद्देश्य कभी किसी प्रचलित धर्म वा सम्प्रदाय का अनुसरण करना नही रहा, न इन्होने किसी नवीन पथ के प्रचार की कोई बुनियाद ही डाली। इनके अनुसार धर्म का स्वरूप सत्य के प्रति किसी व्यक्ति की पूर्ण आस्था, उसके साथ तादात्म्य की मनोवृत्ति तथा उसी के आदर्शों पर निश्चित व्यवहार की प्रवृत्ति मे भी देखा जा सकता है। इन्होने सत्य को ही ईश्वरवत् माना और उसे ही सर्वत्र एकरस से ओतप्रोत भी बतलाया है। इन्होने इसी प्रकार समाज के भीतर निर्द्वद्व रह कर कतिपय व्यापक नैतिक नियमो के पालन की ओर ही विशेष ध्यान दिलाया। ये कपट, पाखड, वाग्जाल तथा अत्याचार के घोर विरोधी थे। उसी प्रकार शुद्ध हृदय, सादगी, स्पष्टोक्ति तथा प्रेम के प्रबल समर्थक भी थे। इनकी क्रांति बाहरी विप्लव न होकर अतर्मुखी थी और मानवी हृदय से ही सीधा सबद्ध थी। ये जीवन के किसी विशेष पहलू के सुधार पर ही अधिक जोर न देकर उसका पूर्णत कायापलट कर देना चाहते थे। इन्हे किसी परलोक-जैसे काल्पनिक प्रदेश मे भी आस्था नही थी। ये इहलोक को ही आदर्श व्यक्तियो के प्रभाव द्वारा स्वर्ग बना दिये जाने मे विश्वास रखते थे। वे जिस पद को 'हरिपद', 'निजपद', 'परमपद', 'अभैपद' वा 'चौथापद' कहा करते थे, वह स्थान-विशेष का बोधक न होकर स्थिति-विशेष का निर्देश करता है[१] जिसे उपलब्ध कर कोई भी व्यक्ति सत पदवी के योग्य बन सकता है। वास्तव मे 'सत' शब्द का सार्थक होना भी तभी सभव है जब उसके द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति ब्रह्म वा सत्य के अस्तित्व का पूर्णत अनुभव कर चुकने वाला हो जाय।[२]

---

१ गुरुग्रथ साहब, रागु सोरठि, पद ११, पृ० ६५५।

२ कबीर-ग्रथावली, का० स०, अष्टपदी रमैणी, पृ० २३९।

३ कबीर-ग्रथावली, का० स०, पद १८४, पृ० १५०।

४ 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सतमेन विदुर्बुधा' (दे० प्रथम अध्याय भी)

तृतीय अध्याय

कबीर साहब के समसामयिक संत, कबीर-शिष्य और कबीर-पंथ

सवत् १४०० : सवत् १५००

१· सामान्य परिचय

धार्मिक वातावरण

कबीर साहब के आविर्भाव का समय ऐसा था जिसमे धार्मिक विचार-धारा पर अनेक प्रकार के प्रभाव पडते जा रहे थे और उनसे अछूता रह कर किसी धार्मिक व्यक्ति का जीवन-यापन करना सरल न था। इसलिए इनके समसामयिक महापुरुषो मे से कई ने इन्हे प्रभावित किया तथा बहुत से अन्य ऐसे लोग इनके द्वारा प्रभावित हुए। फिर उन्होने भी अपने सिद्धातो तथा भावना द्वारा दूसरो को प्रभावित किया। इन महापुरुषो मे उन दिनो सर्वप्रसिद्ध स्वामी रामानद कहे जा सकते थे जो कबीर साहब से अवस्था मे बडे थे और जिन्हे उनका गुरु होना भी समझा जाता है। उन्होने सभवत प्रसिद्ध भक्ति-प्रचारक आचार्य श्री रामानुज स्वामी के 'श्री सम्प्रदाय' मे अपना पूर्व सबध विच्छिन्न करके स्वतत्र रूप से 'रामावत सम्प्रदाय' को पृथक् जन्म दिया था। अपने इस नवीन मत के प्रचार द्वारा तत्कालीन सुधार-आदोलनो मे सक्रिय भाग लिया। उन्होने एक ऐसे इष्टदेव की कल्पना की जो सर्वसाधारण के लिए भी कल्याणकारी प्रतीत हो सके। उन्होने एक ऐसी सर्वसुलभ उपासना भी चलायी जिसके अधिकारी मनुष्य मात्र तक समझे जा सके। उनकी इस विशेषता को ही आधार स्वरूप ठहरा कर पीछे तुलसीदास जी ने अपने अपूर्व ग्रथ 'रामचरितमानस' की रचना की जो कम से कम हिन्दू जाति के लिए अपने आदर्श पारिवारिक जीवन का पथ-प्रदर्शक बन गया। फलत उन महापुरुष का अपने इन छोटे समसामयिक अर्थात् कबीर साहब को प्रभावित कर देना कुछ भी कठिन नही था। यद्यपि इन दोनो के बीच किसी प्रत्यक्ष सबध का कोई पुष्ट प्रमाण नही मिलता, इनके लिए उनका कुछ बातोमे ऋणी होना कभी असभव नही कहा जा सकता।

सेन नाई पीपाजी आदि

स्वामी रामानद के ही समान उस समय कुछ ऐसे अन्य व्यक्ति भी थे जिनका

संबंध कबीर साहब के साथ बतलाया जाता है। संत सेन नाई, पीपाजी, रैदास तथा धन्ना की गणना भी स्वामी रामानंद के शिष्यों में की जाती है। प्रसिद्ध है कि ये सभी कबीर साहब की भाँति उनसे दीक्षित थे और उनके साथ रहते हुए उनकी विविध यात्राओं में भी सम्मिलित हुए थे। स्वामी रामानंद तथा इन शिष्यों के संबंध में बहुत-सी कथाएँ भी कही जाती हैं और इनके परस्पर गुरुभाई होने की अनुभूति प्रचलित है। यह प्रायः निर्विवाद-सा है कि ये सभी किसी एक स्थान के निवासी नहीं थे न इनका समवयस्क होना ही असंदिग्ध रूप में स्वीकृत है। फिर भी इतना मान लेने में किसी प्रकार की अड़चन लक्षित नहीं होती कि इन सबकी विचार धारा लगभग एक समान प्रवाहित हुई थी। इनमें से किसी पर भी साम्प्रदायिकता की छाप कभी हुई हमें नहीं दीख पड़ती न उसमें उदार हृदयता की कोई कमी जान पड़ती है। सभी प्रायः एक ही रंग में रँगे उन्मुक्त तथा स्वच्छंद आध्यात्मिक व्यक्ति समझ पड़ते हैं और सभी न्यूनाधिक एक स्वर में गान करते पाये जाते हैं। इन ऐसे लोगों की कोटि में ही हम उन संत मतिसुंदर की भी गणना कर सकते हैं जिनके नाम के कबीर साहब की एक रचना में उल्लिखित होने का अनुमान किया जाता है तथा जिनके नाम से कतिपय पद भी उपलब्ध हैं।

विशेषता

स्वामी रामानंद को छोड़ कर इस काल के उक्त सभी अन्य संत प्रायः अशिक्षित और अविचार-शून्य व्यक्ति समझे जाते हैं। स्वामी रामानंद का संबंध चाहे स्वामी रामानुजाचार्य से आनी हुई आचार्य-परंपरा के साथ रह भी चुका हो और उन्होंने कुछ प्रसिद्ध ग्रंथों पर भाष्य-रचना तक भी की हो किंतु सेन, कबीर साहब, पीपाजी, रैदास अथवा धन्ना जैसे व्यक्तियों के ऊपर हम वैसी बातों का कदाचित् लेशमात्र भी प्रभाव नहीं ठहरा सकते। इन संतों की एक यह विशेषता भी देखी जाती है कि इनमें से कदाचित् किसी ने भी अपने पीछे किसी नवीन पंथ के चलाने का प्रयास नहीं किया। इन सबका लक्ष्य कबीर साहब की भाँति किसी एक सार्वभौम तथा व्यापक धर्म का प्रचार करना था जो सब किसी के लिए मान्य बन सके। फिर भी हम पता चलता है कि पंथ-निर्माण की योजना का आरंभ ...ही लगभग इन सभी के नामों से पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय चल पड़ा। उदाहरण के लिए सेन-पंथ, पीपा-पंथ तथा रैदासी सम्प्रदाय के नाम आज भी सुनने में आते हैं। कबीर-पंथ के नाम से अभिहित की जानेवाली एक संस्था की तो अनेक शाखाएँ और उपशाखाएँ तक बन गई हैं। स्वामी रामानंद के उक्त 'रामावत सम्प्रदाय' का भी किसी समय 'श्री सम्प्रदाय' की कतिपय रूढ़ियों के विरुद्ध स्थापित होना ही कहा जाता है। किंतु पीछे वह फिर वैसा बाना के ही समर्थन में लिप्त जान पड़ने लगा और उसमें तथा वैसे अन्य सम्प्र

दायो मे मौलिक अतर नही रहा। इसके सिवाय, जहाँ तक उपर्युक्त सेन, पीपाजी, आदि के विषय मे हमे विदित है, वे लोग विभिन्न श्रेणियो के कुलो मे उत्पन्न हुए व्यक्ति थे। अपने वश-परपरानुसार जीवन-यापन करते हुए, उन्हे एक आध्यात्मिक आदर्श का अनुसरण करना अभीष्ट रहा। उन्होने कभी पूर्ण सन्यास भी नही अपनाया, प्रत्युत उनमे से अधिकाश ने अपने परिवार मे रह जीविकोपार्जन करते रहने को ही उत्तम समझ कर उसका सर्वथा त्याग करना उचित नही माना। उनके द्वारा स्वीकृत साधना की भाँति ही उनका जीवन भी सरल, शात, निर्द्वंद्व, निष्कपट तथा आडबरहीन था। उन्हे सभी प्रकार के प्रपचो तथा विडबनाओ से घृणा थी। कबीर साहब के इन समसामयिक सतो का ऐसा कोई प्रामाणिक विवरण नही मिलता जिसे असदिग्ध रूप मे स्वीकार कर लिया जा सके। परन्तु इनकी उपलब्ध रचनाओ तथा अनुश्रुतियो के आधार पर इनके आविर्भाव-काल के सबध मे कुछ अनुमान किया जा सकता है।

सत कमाल और अन्य कबीर शिष्य

साम्प्रदायिक भावनाओ से सर्वथा मुक्त समझे जाने वाले एक अन्य सत कमाल भी इसी समय उत्पन्न हुए थे। ये कबीर साहब के औरस पुत्र तथा दीक्षित शिष्य समझे जाते हैं और इनके सबध मे भी बहुत-सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि इन्होने कबीर साहब के अनेक भक्तो के आग्रह करने पर भी, उनके नाम का कोई पथ नही चलाया। इन्होने अपने पीछे स्वय अपने नाम से भी किसी पृथक् पथ के प्रवर्तन की कोई आवश्यकता नही समझी और कदाचित् इस प्रकार के साम्प्रदायिक बखेडो के ही भय से इन्होने अपना विवाह तक नही किया और सदा एक सयत जीवन व्यतीत करते रहे। कबीर साहब के जिन इस प्रकार के अन्य शिष्यो की चर्चा की जाती है उनमे कमाली, पद्मनाभ, तत्त्वा तथा जीवा, ज्ञानी, जागूदास, भागोदास, सुरतगोपाल और धर्मदास आदि के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। परन्तु जहाँ तक पता चलता है, हमे अभी तक इन लोगो के विषय मे भी, कोई ऐसी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नही हो सकी है जिसके आधार पर हम इनका कोई प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत कर सकें। इन सभी के सबध मे, कबीर साहब के पूर्णत समकालीन होने तथा उनसे दीक्षा लेकर अथवा उनके किसी परामर्श वा आदेश के आधार पर कबीर-पथ की स्थापना करने का हम इन्हे कोई श्रेय दे सकें। इनमे से कुछ तो ऐसे हैं जिनके सबध मे कतिपय चमत्कारपूर्ण बातें मात्र सुनी जाती हैं। उन्हे किसी न किसी प्रकार की अलौकिकता प्रदान करने की चेष्टा की गई मिलती है तथा अन्य इस प्रकार के व्यक्ति हैं जिनके आविर्भाव-काल को कबीर साहब के समय से पीछे भी लाया जा सकता है। फिर भी परपरानुसार इन सभी के लिए

सबन कबीर साहब के साथ बतलाया जाता है। संत सेन नाई पीपाजी रैदास तथा धन्ना की गणना भी स्वामी रामानंद के शिष्यों में की जाती है। प्रसिद्ध है कि ये सभी कबीर साहब की भाँति उनसे दीक्षित थे और उनके साथ रहते हुए उनकी विविध यात्राओं में भी सम्मिलित हुए थे। स्वामी रामानंद तथा इन शिष्यों के संबंध में बहुत-सी कथाएँ भी कही जाती हैं और इनके परस्पर गुरुभाई होने की अनुभूति प्रचलित है। *यह प्राय निर्विवाद-सा है कि ये सभी किसी एक स्थान के निवासी* नहीं थे न इनका समवयस्क होना ही असंदिग्ध रूप से स्वीकृत है। फिर भी इतना मान लेने में किसी प्रकार की अड़चन लक्षित नहीं होती कि इन सबकी विचार-धारा लगभग एक समान प्रवाहित हुई थी। इनमें से किसी पर भी साम्प्रदायिकता की छाप लगी हुई हमें नहीं दीख पड़ती न उसमें उदार हृदयता की कोई कमी जान पड़ती है। सभी प्राय एक ही रंग में रँगे उन्मुक्त तथा स्वच्छंद आध्यात्मिक व्यक्ति समझ पड़ते हैं और सभी न्यूनाधिक एक स्वर में गान करते पाये जाते हैं। इन ऐसे लोगों की कोटि में ही हम उन संत मतिसुंदर की भी गणना कर सकते हैं जिनके नाम के कबीर साहब की एक रचना में उल्लिखित होने का अनुमान किया जाता है तथा जिनके नाम से कतिपय पद भी उपलब्ध हैं।

विशेषता

स्वामी रामानंद को छोड़ कर इस नाम के उक्त सभी अन्य संत प्राय अशिक्षित *और अधिकार-शून्य व्यक्ति समझे जाते हैं। स्वामी रामानंद का संबंध चाहे स्वामी* रामानुजाचार्य से आती हुई आचार्य-परंपरा के साथ रह भी चुका हो और उन्होंने कुछ प्रसिद्ध ग्रंथों पर भाष्य रचना तक भी की हो किंतु सेन कबीर साहब पीपाजी रैदास अथवा धन्ना जैसे व्यक्तियों के ऊपर हम वैसी बातों का कदाचित् लेशमात्र भी प्रभाव नहीं ठहरा सकते। इन संतों की एक यह विशेषता भी देखी जाती है *कि इनमें से कदाचित् किसी ने भी अपने पीछे किसी नवीन पंथ के चलाने का प्रयास* नहीं किया। इन सबका लक्ष्य कबीर साहब की भाँति किसी एक सार्वभौम तथा व्यापक धर्म का प्रचार करना था जो सब किसी के लिए मान्य बन सके। फिर भी हम पता चलता है कि पंथ-निर्माण की योजना का आरंभ ही लगभग इन सभी के नामों से पृथक-पृथक सम्प्रदाय चल पड़ा। उदाहरण के लिए सेन-पंथ पीपा-पंथ तथा रैदासी सम्प्रदाय के नाम आज भी सुनने में आते हैं। कबीर-पंथ के नाम से अभिहित भी आजकल्ह एक संस्था की तो अनेक शाखाएँ और उपशाखाएँ तक बन गई हैं। स्वामी रामानंद के उक्त 'रामावत सम्प्रदाय' का भी किसी समय 'श्री सम्प्रदाय' की कतिपय रूढ़ियों के विरुद्ध स्थापित होना ही कहा जाता है। किंतु पीछे वह फिर वैसी बातों का ही समर्थन में निरत जान पड़ने लगा और उसमें तथा वैसे अन्य सम्प्

दायो मे मौलिक अतर नही रहा। इसके सिवाय, जहाँ तक उपर्युक्त सेन, पीपाजी, आदि के विषय मे हमे विदित है, वे लोग विभिन्न श्रेणियो के कुलो मे उत्पन्न हुए व्यक्ति थे। अपने वश-परपरानुसार जीवन-यापन करते हुए, उन्हे एक आध्यात्मिक आदर्श का अनुसरण करना अभीष्ट रहा। उन्होने कभी पूर्ण सन्यास भी नही अपनाया, प्रत्युत उनमे से अधिकाश ने अपने परिवार मे रह जीविकोपार्जन करते रहने को ही उत्तम समझ कर उसका सर्वथा त्याग करना उचित नही माना। उनके द्वारा स्वीकृत साधना की भाँति ही उनका जीवन भी सरल, शात, निर्द्वंद्व, निष्कपट तथा आडबरहीन था। उन्हे सभी प्रकार के प्रपचो तथा विडबनाओ से घृणा थी। कबीर साहब के इन समसामयिक सतो का ऐसा कोई प्रामाणिक विवरण नही मिलता जिसे असदिग्ध रूप मे स्वीकार कर लिया जा सके। परन्तु इनकी उपलब्ध रचनाओ तथा अनुश्रुतियो के आधार पर इनके आविर्भाव-काल के सबध मे कुछ अनुमान किया जा सकता है।

सत कमाल और अन्य कबीर शिष्य

साम्प्रदायिक भावनाओ से सर्वथा मुक्त समझे जाने वाले एक अन्य सत कमाल भी इसी समय उत्पन्न हुए थे। ये कबीर साहब के और सपुत्र तथा दीक्षित शिष्य समझे जाते हैं और इनके सबध मे भी बहुत-सी कथाएँ प्रसिद्ध है। कहते हैं कि इन्होने कबीर साहब के अनेक भक्तो के आग्रह करने पर भी, उनके नाम का कोई पथ नही चलाया। इन्होने अपने पीछे स्वय अपने नाम से भी किसी पृथक् पथ के प्रवर्तन की कोई आवश्यकता नही समझी और कदाचित् इस प्रकार के साम्प्रदायिक बखेडो के ही भय से इन्होने अपना विवाह तक नही किया और सदा एक सयत जीवन व्यतीत करते रहे। कबीर साहब के जिन इस प्रकार के अन्य शिष्यो की चर्चा की जाती है उनमे कमाली, पद्मनाभ, तत्त्वा तथा जीवा, ज्ञानी, जागूदास, भागोदास, सुरतगोपाल और धर्मदास आदि के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। परन्तु जहाँ तक पता चलता है, हमे अभी तक इन लोगो के विषय मे भी, कोई ऐसी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नही हो सकी है जिसके आधार पर हम इनका कोई प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत कर सकें। इन सभी के सबध मे, कबीर साहब के पूर्णत समकालीन होने तथा उनसे दीक्षा लेकर अथवा उनके किसी परामर्श वा आदेश के आधार पर कबीर-पथ की स्थापना करने का हम इन्हें कोई श्रेय दे सकें। इनमे से कुछ तो ऐसे हैं जिनके सबध मे कतिपय चमत्कारपूर्ण बातें मात्र सुनी जाती हैं। उन्हे किसी न किसी प्रकार की अलौकिकता प्रदान करने की चेष्टा की गई मिलती है तथा अन्य इस प्रकार के व्यक्ति हैं जिनके आविर्भाव-काल को कबीर साहब के समय से पीछे भी लाया जा सकता है। फिर भी परपरानुसार इन सभी के लिए

प्रसिद्ध है कि इन्होंने इस समय 'कबीर-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध धार्मिक वर्ग की किसी न किसी शाखा का कभी प्रवर्तन किया था अथवा कम से कम वैसी किसी न किसी संस्था के साथ इनका मूल संबंध जोड़ने का ही प्रयास किया जाता है ।

कबीर-पंथ का महत्त्व

'कबीर-पंथ' की कदाचित् किसी भी शाखा का संगठन कबीर साहब के जीवन काल में नहीं हुआ होगा। इस बात को आज कल कई कबीर-पंथी तक भी किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हुए दीख पड़ते हैं। इसके सिवाय यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसके अनुयायियों द्वारा स्वीकृत मत का इनकी विचार-धारा के साथ पूरा मेल भी बैठता नहीं जान पड़ता। परन्तु इनके विषय में अध्ययन करते समय उसकी चर्चा कर लेना केवल इसलिए आवश्यक समझ पड़ता है कि इस प्रकार हम इनके विचारों के क्रमिक विकास तथा उनमें कालक्रमानुसार लक्षित होते जाने वाले विभिन्न परिवर्तनों की एक रूपरेखा प्रस्तुत कर लेते हैं तथा उसके आधार पर किसी महत्त्वपूर्ण परिणाम तक पहुँचने में समर्थ भी हो जाते हैं। हमें इस प्रकार न केवल कतिपय मनोरंजक तथ्यों का पता चल जाता है, प्रत्युत हम उनके द्वारा कई मनोवैज्ञानिक रहस्यों का समुचित विवेचन भी कर सकते हैं। अतएव कबीर साहब अथवा कबीर-शिष्यों के साथ प्रत्यक्ष संबंध सिद्ध न हो सकने पर भी उसका मूल्य कम नहीं हो पाता प्रत्युत ऐसे अध्ययन के आधार पर हम उस प्रवृत्ति-विशेष को कुछ समझ पाने की स्थिति में भी आ जाते हैं। इसके अनुसार पीछे नानक दादू आदि संतों के नामों से विभिन्न संगठनों के बनते जाने की एक निश्चित परंपरा ही चल पड़ी ।

युगीन मनोवृत्ति

परन्तु कबीर साहब के कुछ पूर्व काल से लेकर उनके अनंतर तक भी हमें सब कहीं प्रायः उन्हीं की जैसी मनोवृत्ति प्रदर्शित की जाती हुई दीख पड़ती है। हमें ऐसा लगता है जैसे यह उस युग की अपनी कोई विशेषता ही बन गई थी। जैसा हम इसके पहले भी देख आये हैं लगभग उन्हीं दिनों पूरब की ओर सुदूर बंगाल प्रांत में उन प्रेमोन्मादी साधकों की संख्या बढ़ती जा रही थी जिन्हें 'बाउल' कहा जाता था। इनके जीवन पर सूफी-मत तथा वैष्णव धर्म का एक ऐसा सम्मिलित प्रभाव दीखने लगा था जो अपने ढंग का निराला था और जिसके कारण वे साथ किसी असाधारण कोटि के व्यक्ति समझे जाने लगे थे। इसके सिवाय उधर एक ऐसा ही दूसरा वर्ग उन वैष्णव सहजिया लोगों का भी पाया जाने लगा था जिन्होंने सहज तत्त्व की व्याख्या करके उसे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान

किया था। इनके धार्मिक मत की भी मार्वभौमिकता उससे कम नही कही जा सकती थी।

इसी प्रकार उत्कल प्रात मे भी ठीक इसके कुछ ही दिनो पीछे उन 'पचसखा' कहे जाने वाले वैष्णव भक्तो का प्रादुर्भाव हुआ जिन पर बौद्ध धर्म का अवशिष्ट प्रभाव लक्षित होता था। इन्होने क्रमश महाप्रभु के प्रभाव में भी आकर किसी ऐसे उन्मुक्त जीवन का आदर्श सबके मामने रखा जिसमे भेद-भाव अथवा सकीर्णता का लेशमात्र भी नही पाया जा सकता था। बगाल तथा उत्कल की भाँति हम सुदूर उत्तर वाले कश्मीर प्रात मे भी, प्राय इसी प्रकार की प्रवृत्ति को बल ग्रहण करती हुई पाते है। वहाँ की महिला सत लाल-देद सभवत कबीर साहब के कुछ पहले ही अपना जीवन व्यतीत कर चुकी थी। इनके समकालीन शेख नूरुद्दीन कहे जा सकते थे जो अपने जीवनादर्श की महत्ता और अनुपम लोकप्रियता के कारण, वहाँ पर 'नद ऋषि' कहला कर प्रसिद्ध थे। इनका मूलत सूफी-मत का अनुयायी होते हुए भी, उसके द्वारा पूर्णत अभिभूत न होना तथा अत में लालदेद के प्रभाव में आकर उनकी मनो-वृत्ति को अपना लेना और इसी कारण, किसी ऐसे धर्म का प्रचार करन लगना जिस पर साम्प्रदायिकता का रग न हो कोई आश्चर्य की बात नही थी।

लौंकाशाह का सक्षिप्त परिचय

जहाँ तक साम्प्रदायिकता के स्तर से ऊपर उठने तथा विभिन्न बाह्याचारो के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करते हुए विशुद्ध आध्यात्मिक जीवनादर्श को मामने रखने की बात है, हमें इसके कुछ उदाहरण उन दिनो के जैन धर्म में भी मिलते हैं। उस समय के धार्मिक इतिहास को देखने से पता चलता है कि उसी युग में उन दो प्रसिद्ध सुधारको का भी आविर्भाव हुआ था जो लौंकाशाह तथा तारण स्वामी के नामो द्वारा अभिहित किये जाते हैं। इनमें से प्रथम का पूर्व सबध जैन धर्म के श्वेताबर सम्प्रदाय से था और द्वितीय का उसके दिगबर मम्प्रदाय से रहा। लौंकाशाह के लिए कहा जाता है कि इनका जन्म स० १४७२ की कार्त्तिक शुक्ला १५ के दिन 'अरहट वाडा' मे हुआ था जो सिरोही राज्य के अतर्गत रहा है। इनकी जाति के लिए प्रसिद्ध है कि वह 'पोरवाडो' (प्राग्वाटो) की थी, किंतु उनके नामादि का कोई विवरण उपलब्ध नही है। वास्तव में इनके जीवन से सबद्ध अनेक बातो का पता हमें केवल इनके विरोधियो की रचनाओ से ही चल पाता है।[1] इस कारण हमें जो कुछ भी विदित होता

---

१ श्रीमद्राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रथ, आहोर, राजस्थान, स० २०१३, पृ० ४७१-५।

है उसे भी असंदिग्ध रूप से स्वीकार कर लेना सदा युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। इनकी अपनी रचनाओं का हमें अभी तक वैसा कोई परिचय नहीं मिल सका है जिसके आधार पर किसी तथ्य का निरूपण किया जा सके। कहते हैं कि इनका प्रारंभिक जीवन किसी ऐसे 'लहिये' अर्थात् प्रतिलिपिक का रहा जो उन दिनों उपलब्ध ग्रंथों को लिख दिया करते थे। इनके अक्षर सुंदर होते थे और अपने कार्य की सफलता के कारण इनकी प्रसिद्धि भी थी। परन्तु एक बार, संभवतः सं० १५०८ में जब ये गुजरात के अहमदाबाद में किसी ग्रंथ की प्रतिलिपि कर रहे थे इन्होंने उसके ७ पन्नों के न लिख पाने की भूल कर दी। फलतः उसके स्वामी 'मुणिवर' के साथ झगड़े बढ़ जाने पर इन्होंने न केवल स्वयं उस मति के शिथिलाचार, अपितु ऐसे लोगों द्वारा स्वीकृत मूर्तिपूजा जैसी बातों के भी विरुद्ध प्रचार करना आरंभ कर दिया जिसने पीछे एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया। ऐसे कार्य में इन्हें फिर किसी पाटण अक्खमसी का सहयोग मिल गया स० १५१३ के लगभग इन्होंने किसी 'भाणा' नामक व्यक्ति को दीक्षित भी कर लिया जिसके परिणामस्वरूप इनके प्रचार में और भी अधिक बल मिल गया। तब स प्रायः एक सौ वर्ष के ही भीतर इनके मत की १३ शाखाएँ प्रतिष्ठित हो गईं जिनमें से कम-से-कम चार अभी तक भी जीवित हैं।

इनकी प्रचार-पद्धति

लोंकाशाह के कार्यक्रम म पीछे मूर्तिपूजा स लेकर अन्य अनेक प्रचलित विडंबनाओं के प्रति भी विरोध सम्मिलित होता गया। इन्होंने उस समय दीख पड़ने वाल उन सभी बाह्याचारों के विरुद्ध प्रचार किया जो केवल जैन धर्म तक ही सीमित नहीं थे। उस युग के तथाकथित पंडितों और पुजारियों स लेकर इस्लाम के शेखों और पीरों तक का भी कार्य इन्हें जैन यतियों और मुनियों की मान्यताओं की अपेक्षा कम हेय नहीं प्रतीत हुआ जिस कारण इन्होंने इन सभी की खबर की। इन्होंने अपने समकालीन गुरु नानकदेव जैस अन्य सुधारकों की भाँति ही अपने मत को तर्काश्रित रखने की चेष्टा की और वे सफल भी होते गए। परन्तु हमें ऐसा लगता है कि इन लोंकाशाह द्वारा प्रतिपादित बातों का रूप अधिकतर खंडन-मंडनात्मक ही रह गया। इनकी ओर से कोई ऐसा यत्न कदाचित् कभी नहीं किया जा सका इससे इनकी विचार-धारा को कोई सुव्यवस्थित रूप मिल सके अथवा उसके द्वारा किसी ऐसे आदर्श की प्रतिष्ठा हो सके जो किन्हीं स्पष्ट आदर्शों पर आधारित हो। इनके प्रचार-कार्य का प्रमुख लक्ष्य उन पतनशील प्रवृत्तियों की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट कर देना मात्र जान पड़ा जो उन दिनों के धार्मिक समाज में प्रायः सर्वत्र लक्षित होने लगी थी तथा जिनकी

किया था। इनके धार्मिक मत की भी सार्वभौमिकता उससे कम नही कही जा सकती थी।

इसी प्रकार उत्कल प्रात में भी ठीक इसके कुछ ही दिनो पीछे उन 'पचसखा' कहे जाने वाले वैष्णव भक्तो का प्रादुर्भाव हुआ जिन पर बौद्ध धर्म का अवशिष्ट प्रभाव लक्षित होता था। इन्होने क्रमश महाप्रभु के प्रभाव में भी आकर किसी ऐसे उन्मुक्त जीवन का आदर्श सबके सामने रखा जिसमें भेद-भाव अथवा सकीर्णता का लेशमात्र भी नही पाया जा सकता था। बगाल तथा उत्कल की भाँति हम सुदूर उत्तर वाले कश्मीर प्रात में भी, प्राय इसी प्रकार की प्रवृत्ति को बल ग्रहण करती हुई पाते हैं। वहाँ की महिला मत लाल-देद सभवत कबीर साहब के कुछ पहले ही अपना जीवन व्यतीत कर चुकी थी। इनके समकालीन शेख नूरुद्दीन कहे जा सकते थे जो अपने जीवनादर्श की महत्ता और अनुपम लोकप्रियता के कारण, वहाँ पर 'नद ऋषि' कहला कर प्रसिद्ध थे। इनका मूलत सूफी-मत का अनुयायी होते हुए भी, उसके द्वारा पूर्णत अभिभूत न होना तथा अत में लालदेद के प्रभाव में आकर उनकी मनो-वृत्ति को अपना लेना और इसी कारण, किसी ऐसे धर्म का प्रचार करन लगना जिस पर साम्प्रदायिकता का रग न हो कोई आश्चर्य की बात नही थी।

लौंकाशाह का सक्षिप्त परिचय

जहाँ तक साम्प्रदायिकता के स्तर से ऊपर उठने तथा विभिन्न बाह्याचारो के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करते हुए विशुद्ध आध्यात्मिक जीवनादर्श को सामने रखने की बात है, हमें इसके कुछ उदाहरण उन दिनो के जैन धर्म में भी मिलते हैं। उस समय के धार्मिक इतिहास को देखने से पता चलता है कि उसी युग में उन दो प्रसिद्ध सुधारको का भी आविर्भाव हुआ था जो लौंकाशाह तथा तारण स्वामी के नामो द्वारा अभिहित किये जाते हैं। इनमें से प्रथम का पूर्व सबध जैन धर्म के श्वेताबर सम्प्रदाय से था और द्वितीय का उसके दिगबर सम्प्रदाय से रहा। लौकाशाह के लिए कहा जाता है कि इनका जन्म स० १४७२ की कार्त्तिक शुक्ला १५ के दिन 'अरहट वाडा' मे हुआ था जो सिरोही राज्य के अतर्गत रहा है। इनकी जाति के लिए प्रसिद्ध है कि वह 'पोरवाडो' (प्राग्वाटो) की थी, किंतु उनके नामादि का कोई विवरण उपलब्ध नही है। वास्तव में इनके जीवन से सबद्ध अनेक बातो का पता हमें केवल इनके विरोधियो की रचनाओ से ही चल पाता है।[1] इस कारण हमें जो कुछ भी विदित होता

१. श्रीमद्राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रथ, आहोर, राजस्थान, स० २०१३, पृ० ४७१-५।

इसी पर चल कर हमें केवल 'ज्ञान' का प्रकाश मिलता है। यहाँ पर 'ममल' शब्द वस्तुतः 'ममल' शब्द का पर्याय जान पड़ता है और इसका अर्थ वह विशुद्धात्मा है जिस अपने आपको पहचान लेना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए तथा हमें यह भी चाहिए कि उसकी भक्ति के माध्यम द्वारा स्वयं अपने आपकी भक्ति उपलब्ध कर लें। इस प्रकार हम आप ही जहाज रहते हैं आपही समुद्र बन जाते हैं तथा स्वयं आप ही उस 'मुक्ति-द्वीप' का भी स्थान ग्रहण कर लेते हैं जिसे 'मोक्ष' कहा जाता है। 'तारन तरन' शब्द का अभिप्राय भी दूसरे को पार करते हुए स्वयं पार होना है जिसमें तारन स्वामी के उपदेशों का सार तत्त्व-सा आ जाता है। 'अध्यात्मवाणी' के अंतर्गत सर्वत्र यही स्वर प्रधान है और इसके विपरीत मत को यहाँ पर वस्तुतः हेय ठहराया गया है। इस ग्रंथ के अनेक स्थलों पर जो पाखंड तथा मिथ्याचार की पूरी भर्त्सना की गई पायी जाती है वह भी हमें कबीर साहब की कथन-शैली का स्मरण दिलाती है। हमें इस बात के स्पष्ट होने देर नहीं लगती कि इसमें निहित मत किस दिशा की ओर इंगित कर रहा है।

२ कबीर साहब के समसामयिक संत

(१) स्वामी रामानंद

महत्त्व

उत्तरी भारत की संत-परंपरा के इतिहास में स्वामी रामानंद का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये एक सहृदय तथा स्वाधीन चेता व्यक्ति थे जो किसी प्रश्न पर विचार करते समय एक व्यापक दृष्टिकोण का उपयोग करते थे। किसी भी बात का सिद्धान्त-रूप से ये स्वीकार कर लेने पर उसे यथावत् व्यवहार में लाने का भी यत्न पूरी निर्भीकता के साथ किया करते थे। इनके चरित्र-बल तथा असाधारण व्यक्तित्व के कारण इनके समकालीन हिन्दू-समाज का वातावरण इनसे प्रभावित हो उठा और सर्वत्र एक प्रकार की क्रांति की लहर फैल गई। ये अपने समय के एक प्रभावशाली पंथ प्रवर्तक के रूप में दीख पड़ते हैं। उस युग के प्रायः प्रत्येक विशिष्ट सुधारक का इनका किसी न किसी प्रकार से आभारी होना आज तक स्वीकार किया जाता आया है। इस बात की चेष्टा की जाती आई है कि अमुक व्यक्ति के साथ इनका संबंध अमुक रूप में सिद्ध किया जा सके। वास्तव में जिस भक्ति साधना का प्रचार हम आज उत्तरी भारत में देख रहे हैं उसके प्रधान प्रवर्तक स्वामी रामानंद ही थे और इन्हीं की प्रेरणा से उसे वर्तमान रूप मिला है। हरि-भजन के आधार पर जाति तथा वर्ण-संबंधी कड़े नियमों को शिथिल कर सर्वसाधारण को भी बराबर अपनाने की प्रथा चला कर इन्होंने मनुष्य-मात्र की वास्तविक एकता

ओर स्वय कबीर साहब ने भी सकेत किया था। हो सकता है कि इन्होने भी उन्ही की भाँति सब कही उपदेश दिये हो तथा ऐसा करते समय इन्होने उन्ही के जैसे शब्दो में प्रसगवश, किन्ही ऐसे व्यापक सिद्धातो का भी प्रतिपादन कर दिया हो जो इनके मत के लिए पृष्ठभूमिका काम करते हो। इनका पता हमें इनकी रचनाओ के इस समय उपलब्ध न हो सकने के कारण, नही चलता।

तारणस्वामी का सक्षिप्त परिचय

तारणस्वामी के सबध मे हमें लौकाशाह से कही अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित सामग्री मिलती है। इनका जन्म स० १५०५ के अगहन मास की शुक्ला ७ के दिन किसी पुष्पावती नगरी में हुआ था और इनकी जाति 'परवार' की थी। इनके पिता 'गाढा मूरी वासल्ल' गोत्र के गढाशाह थे और इनकी माता का नाम विमलश्री देवी था। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे और इनकी वृत्ति, अपनी वाल्यावस्था से ही बराबर वैराग्यपरक रही। ये एक प्रतिभाशाली तथा सयमशील पुरुष थे और इन्होने अपने जीवन में आ जाने वाले विविध कष्टो को बडी धीरता के साथ सहन किया। इन्होने अपने जीवनादर्श को सदा उच्च स्तर का बनाये रखा और तदनुसार इन्होने सर्वसाधारण को भी उपदेश दिये। इन्होने प्रत्येक प्रकार की रूढिवादिता तथा मिथ्याचार का घोर विरोध किया तथा इसके लिए इनकी स्पष्टवादिता भी प्रसिद्ध रही। इनका प्रारभिक जीवन 'सेमरखेडी' के निर्जन वन में जैनमतानुसार तप साधना करते हुए बीता और ये उसके दिगबर सम्प्रदाय के सदस्य रहे। ये बेतवा नदी के तटवर्त्ती तथा मुगावत्ती (मध्यप्रदेश) के निकट अवस्थित निसई (मल्हार मठ) मे निवास करते हुए १४ ग्रथ लिखते रहे। अत में 'मुनि-दीक्षा' ग्रहण कर और अनेक व्यक्तियो को पूर्ण प्रभावित कर इन्होने स०·१५७२ की ज्येष्ठ कृष्णा ६ को समाधि ले ली। इन्होने अपने उपदेश-काल में पूरा देश-भ्रमण किया था तथा अनेक 'मडलो' की स्थापना करके 'तारण मडलाचार्य' की उपाधि प्राप्त की थी। इनके अनुयायियो की सख्या आज भी कम नही, किंतु वे अधिकतर मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान में ही पाये जाते हैं।

इनके मत की विशेषता

तारण स्वामी द्वारा रचे गए १४ ग्रथो का सग्रह 'अध्यात्मवाणी' के नाम से प्रकाशित है और इनमें से अधिकाश जैनमत की ही बातो से सबद्ध हैं तथा इनमें से कई के अनेक स्थलो की भाषा कुछ विचित्र-सी लगती हैं। परन्तु इनका अध्ययन कर लेने पर पता चलता है कि इसमें स्वानुभूति को कदाचित् सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। इनके अनुसार स्वानुभव ही वास्तविक मोक्ष-मार्ग है तथा

नामक ग्रंथ में लिखा है

> 'श्री अवधूत वेष को धारे राघवानंद सोई ।
> तिनके रामानंद जग जाने कलि कल्यानमई' ।[1]

जिससे इस बात की कुछ पुष्टि होती हुई जान पड़ती है। इन्हीं राघवानंद द्वारा रचित कही जानेवाली 'सिद्धांत पंचमात्रा' नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका की हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। इसके आधार पर डॉ॰ बड़थ्वाल ने इनके साधना मार्ग का योग और प्रेम का समन्वित रूप होना अनुमान किया है।[2] उक्त ग्रंथ की योग-संबंधी बातें अधिकतर हठयोग-प्रणाली का अनुसरण करती हैं और उसमें वैष्णव-धर्म द्वारा स्वीकृत माला, तिलक, सुमिरनी-जैसे विषयों का भी पूरा समावेश है जिससे सिद्ध है कि उस काल का वातावरण नाथयोगि-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों तथा साधनाओं द्वारा भी बहुत कुछ प्रभावित रहा। इसी कारण वारकरी-सम्प्रदाय की भाँति रामावत-सम्प्रदाय में भी हमें योग तथा भक्ति का समन्वय दीख पड़ता है।

रामानंद के शिष्य

परंपरा से प्रसिद्ध है कि स्वामी रामानंद के बारह शिष्य थे जिनमें से पाँच *अर्थात् सेन नाई, कबीर साहब, पीपाजी, रैदास (रविदास) तथा धन्ना* के साथ 'पद्मावती' नाम की एक शिष्या को भी सम्मिलित करके 'रहस्यत्रयी' के टीकाकार ने उन्हें छह मान लिया है और 'जितेन्द्रिय' भी कहा है। शेष सात में अनंतानंद, सुरसुरानंद, नरहर्यानंद, योगानंद, सुखानंद, भवानंद तथा गालवानंद को गिना कर उन्हें 'भंगमा' बतलाया है। इस प्रकार वस्तुतः तेरह जान पड़नेवाले व्यक्तियों को 'सार्द्धद्वादश शिष्या' ही कहा है।[3] परन्तु स्वामी रामानंद के उक्त शिष्यों की नामावली में बहुधा मतभेद भी पाया जाता है। सर्वसम्मत नामों में सेन नाई

---

१ डॉ॰ बड़थ्वाल : योगप्रवाह, श्री काशी विद्यापीठ, बनारस, सं २ १ पृ २ ३।

२ वही, पृ ८।

'राघवानन्द एतस्य रामानन्दस्ततोऽभवत् । सार्द्धद्वादश शिष्याः स्युः रामानन्दस्य सद्गुरोः । द्वादशादित्य संकाशाः संसार-तिमिरापहाः । योगानन्ता- नन्दस्तु सुरसुरानन्दस्तथा ॥१६॥ नरहर्यानन्दस्तु योगानन्दस्तथैव च सुखानन्दो भवानन्दो गालवश्च सप्तैते नाम भंगमाः ॥१७॥ कबीरश्च रमादास सेना पीपा धनास्तथा ॥ पद्मावती तथैवं च षडेते च जितेन्द्रियाः ॥ १८॥' भक्ति सुधाबिन्दुस्वाद रूपकलाजी, पृ ९९४ पर उद्धृत।

की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट किया। सबकी समझ तथा सुभीते के विचार से इन्होने धर्म-प्रचार के लिए सस्कृत की अपेक्षा हिंदी-भाषा को अधिक उपयुक्त ठहराया। लोक-सग्रह की दृष्टि से जनता के बीच कार्य करने वाले सयमशील साधुओ की एक टोली सगठित करके और उसे 'वैरागी' वा 'अवधूत' नाम देकर उन्हे सर्वत्र भ्रमण करते रहने के लिए प्रेरित किया।

सक्षिप्त परिचय

स्वामी रामानद का प्रसिद्ध स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य-परपरा मे होना बतलाया जाता है। कहा जाता है कि इनका जन्म प्रयाग के किसी कान्य-कुब्ज-कुल मे पुण्य सदन शर्मा के घर उनकी स्त्री सुशीला देवी के गर्भ से हुआ था। इनका जन्म-काल भी 'अगस्त्यसहिता' ग्रथ के आधार पर कलियुग के ४४००वें वर्ष अर्थात् विक्रम सवत् १३५६ मे होना समझा जाता है जिसे अनेक आधुनिक विद्वानो ने भी स्वीकार कर लिया है। प्रसिद्ध है कि लडकपन मे इन्हे पढने के लिए काशी भेजा गया था, जहाँ पर ये सभवत शाकराद्वैत मत के प्रभाव मे अपनी शिक्षा समाप्त कर अत मे विशिष्टाद्वैती स्वामी राघवानद के शिष्य हो गए। परन्तु कही से तीर्थ-यात्रा करके लौटने पर खाने-पीने के सबध मे कुछ मतभेद उत्पन्न हो जानें के कारण इन्हें अपने उक्त गुरु का साथ छोड देना पडा। तब से इन्होने अपनें स्वतत्र विचारो के आधार पर एक भिन्न मत का प्रचार करना आरभ कर दिया जो आजकल 'रामावत' वा 'रामानदी सम्प्रदाय' कहलाता है। ये अधिकतर काशी में पचगगा के आसपास किसी गुफा के भीतर रहा करते थे और केवल ब्राह्मवेला मे कुछ समय के लिए बाहर निकला करते थे। फिर भी इनके सपर्क मे आनेवाले उत्साही तथा उद्योगशील अनुयायियो ने इनके सिद्धातो का प्रचार दूर-दूर तक कर दिया।

स्वामी राघवानद

स्वामी रामानद के गुरु स्वामी राघवानद के विषय मे प्रसिद्ध है कि उन्होने भक्ति-आदोलन का नेतृत्व ग्रहण कर भक्तो को मान प्रदान किया था तथा सारी पृथ्वी पर अपनी धाक जमा कर वे स्थायी रूप मे काशी मे बस गए थे।[१] जनश्रुति के अनुसार यह भी कहा जाता है कि वे योग-विद्या मे भी पारगत थे और अपने शिष्य रामानद को भी पूर्ण योगी बना उन्होने इन्हें अल्पायु होने से बचा लिया था। भक्त नाभादास के समकालीन तथा सहतीर्थ जानकी दास के पोते-चेले तथा वैष्णव-दास के चेले मिहीलाल (अनुमानत १७वी शताब्दी) ने भी अपने 'गुरु प्रकारी'

१ नाभादास भक्तमाल, ३५।

मर्म जानने के लिए उसमें प्रयुक्त वाक्यों में लक्षित भावों की संगति बैठा लेना परमावश्यक होता है। अतएव उक्त पद की प्रथम पंक्ति के 'आपन आस कीजै' को यदि कोई अपने पूर्वग्रह के अनुसार 'आपन अस किये' मान कर उसका अर्थ 'अपने समान कर लिया' कुछ देर के लिए लगा भी ले और 'रामनंदु रामरस माते' का भी अभिप्राय उक्त स्वामी रामानंद की प्रशंसा में ही ढूँढने लगें फिर भी उक्त प्रथम वाक्य के आगे का कथन तथा दूसरे के अनंतर आनेवाले अंतिम वक्तव्य 'कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके' उसे इस पद का उचित अर्थ एक बार फिर से समझ लेने के लिए बाध्य करने लगेंगे। पूरे पद को निष्पक्ष रूप से ध्यानपूर्वक देखने पर स्पष्ट विदित हो जाता है कि उसके रचयिता का उद्देश्य हरि वा राम के सच्चे रहस्य को बिना समझे-बूझे केवल रामनाम की ध्वनि में ही मग्न रहनेवाले भक्तों को सचेत कर देना-मात्र है। उसमें आये हुए अन्य प्रसंग भी उसी मूल भाव के समर्थन में व्यवहृत समझे जा सकते हैं।

कबीर पीपा रैदास तथा धन्ना

इसके सिवाय उक्त 'बीजक' ग्रंथ के ही एक पद में आये हुए प्रसंग 'ब्रह्मा वरुन कुबेर इन्द्र पीपा तथा प्रह्लाद सभी कालग्रस्त हो गए'[1] से विदित होता है कि यदि यह कबीर साहब की रचना हो तो भी कम से कम पीपाजी की मृत्यु उनके पहले अवश्य हो चुकी होगी। उक्त पौराणिक भक्तों के साथ एक ही श्रेणी में उनके गिने जाने के कारण उनका बहुत पहले ही मर जाना भी समझा जा सकता है। परन्तु जैसा पहले भी कहा जा चुका है इन्हीं पीपाजी की एक रचना[2] कबीर साहब के संबंध में प्रस्तुत की गई समझी जाती है। इनके एक अन्य पद[3] से यह भी सूचित होता है कि ये कबीर साहब के एक बहुत बड़े प्रशंसक थे। इनका यहाँ तक कहना था कि 'कबीर साहब ने जिस 'सत्यनाम' का प्रचार किया था उसी से मैंने भी लाभ उठाया है'। इस प्रकार उक्त दो भिन्न-भिन्न प्रसंगों के कारण हम सहसा न तो स्वामी रामानंद कबीर साहब तथा पीपाजी को पूर्ण सम-कालीन मानने का साहस होता है न उनके गुरु-शिष्य-संबंध को ही स्वीकार

---

१ बीजक शब्द ८६।

२ 'जो कलि नाम कबीर न होते तौ लोक वेद अरु कलिजुग मिलि करि भगति रसातलि देते।' / 'आर्द्र दिन कबरीब मित चढ़ रे कब करे मानिये सेख सहीद पीरा। आपि जैसी करी कृत ऐसी करी नांव नवखंड परतिख कबीरा।

—हि निर्गुण स्कूल पृ ३ २।

३ 'नाम कबीर सत्य परकास्या तहाँ पीपै कछु पाया।

—संत कबीर पृ ४४।

आदि के उक्त पाँच के अतिरिक्त केवल भवानद, सुरसुरानद तथा सुखानद के ही नाम लिये जाते हैं, अन्य चार नाम प्राय भिन्न-भिन्न दीख पडते हैं। इसके सिवाय उक्त आठ नामवाले सतो की समकालीनता का प्रश्न भी आज तक किसी सतोषप्रद ढग से हल नही हो पाया है। हाँ, उक्त भवानद, सुरसुरानद तथा सुखानद नामो के अत में जुडे हुए 'आनद' शब्द के सकेत और कुछ उपलब्ध ग्रथो तथा प्रसगो के आधार पर उन्हे स्वामी रामानद के शिष्यो मे निश्चित रूप से सम्मिलित करने की परिपाटी बहुत दिनो से चली आती है और सभव है यह बात सत्य भी हो। किंतु उक्त अन्य पाँच व्यक्तियो के विषय में भी वैसा ही परिणाम निकालने के लिए यथेष्ट साधन की आवश्यकता है। इस कारण उन्हे भी इनके शिष्यो मे यो ही गिन लेना उचित नही कहा जा सकता।

सेन नाई, कबीर तथा रामानद

जहाँ तक पता है, उक्त पाँच मे से केवल सेन नाई ने ही स्वामी रामानद का नाम अपने एक पद[1] में लिया है और उन्हे 'रामभगति का जानकार' भी बतलाया है। उनके इस कथन से जान पडता है कि सभवत अपने समय मे वर्तमान रामानद के ही सबध मे ऐसा कह रहे हैं। इसके आधार पर सेन नाई तथा स्वामी रामानद का समकालीन होना मान लिया जा सकता है। परन्तु केवल इस प्रशसात्मक परिचय के ही सहारे सेन नाई को इनका शिष्य भी मान लेना ठीक नही जान पडता। कबीर साहब की उपलब्ध प्रामाणिक रचनाओ में स्वामी रामानद का नाम कही भी नही आता। कबीर-पथियो के मान्य धर्मग्रथ 'बीजक' मे एक स्थल पर रामानद शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है[2] जिसे स्वामी रामानद के ही लिए व्यवहृत मान कर तथा उक्त ग्रथ को कबीर साहब की कृति भी समझते हुए कुछ लोगो ने इन दोनो के गुरु-शिष्य सबध का प्रामाणिक हो जाना मान लिया है। परन्तु क्या 'बीजक' मे सगृहीत सारी रचनाएँ वास्तव मे कबीर साहब की ही कृति मानी जा सकती हैं अथवा क्या उक्त पद का ही सीधा-सादा-सा अर्थ लगाने पर ऐसा परिणाम कभी निकाला जा सकता है[3] ? किसी भी रचना का वास्तविक

---

१. 'रामाभगति रामानदु जानै, पूरन परमानदु बखानै'। —ग्रथसाहब, धनासरी १।

२ 'आपन आस कीजै बहुतेरा, काहु न मरम पाव हरि केरा।
इन्द्री कहा करै बिसरामा, सो कहाँ गये जो कहते रामा॥
सो कहाँ गये जो होत सयाना, होय म्रितक वोहि पर्दाह समाना॥
रामानद रामरस माते, कहहि कबीर हम कहि कहि थाके'॥ बीजक, शब्द ७७।

३ डॉ० बर्थ्वाल. दि निरगुन स्कूल ऑफ हिंदी पोइट्री, पृ० २०३, टिप्पणी।

रचनाएँ

स्वामी रामानंद की रचनाएँ कुछ संस्कृत तथा कुछ हिंदी में बतलायी जाती हैं। किंतु कई विद्वानों को उन सबकी प्रामाणिकता में संदेह जान पड़ता है। इनकी कही जानेवाली संस्कृत रचनाओं में से 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' इनके प्रमुख सिद्धांतों का परिचायक ग्रंथ जान पड़ता है। इसी प्रकार 'श्री रामार्चन पद्धति' इनकी पूजन प्रणाली का पता देनेवाली पुस्तक कही जा सकती है। इन दोनों के इनके द्वारा रचित होने में मतभेद भी कम दीख पड़ता है। हिंदी की उपलब्ध फुटकर कृतियों में एक हनुमान के विषय में है और दूसरी उनका बाह्य पूजन-अर्चनादि की ओर से विरक्ति भाव प्रकट करती है। इस दूसरी रचना में कहा गया है कि 'मुझे मंदिरादि में पूजन के लिए अब कहाँ जाना है, अब तो मेरे घट के भीतर हृदय में ही रंग चढ़ गया है। मेरा चित्त अब चलायमान होने की जगह पंगु बन कर स्थिर हो गया। कोई दिन था जब मैं पूरे उमंग के साथ चोआ चंदन प्रभृति सुगंधित द्रव्य लेकर ब्रह्म का स्थान-विशेष पर पूजन करने जाया करता था। अब तो मेरे गुरु ने मुझे उस ब्रह्म का परिचय मन के भीतर ही करा दिया। अब मैं जहाँ कहीं भी मंदिर-तीर्थादि में जाता हूँ वहाँ जल तथा पत्थर ही दीख पड़ता है। वेदों और पुराणों का अध्ययन कर लेने पर भी मेरी यही धारणा है कि वह (ब्रह्म) सर्वत्र एक ही समान व्याप्त है। इसलिए हमें उसके पूजन के लिए वहाँ मंदिरादि में तभी जाना चाहिए जब वह यहाँ (अपने हृदय में) विद्यमान न हो। मैं अपने उस सद्गुरु की बलिहारी जाता हूँ जिसने मेरे सारे बिखरे हुए भ्रमों के जंजाल को नष्ट कर दिया। रामानंद इस समय केवल ब्रह्म में ही लीन है। सद्गुरु के शब्दों ने इसके कर्म के करोड़ों बंधन छिन्न-भिन्न कर डाले हैं।"[1] यदि वास्तव में यह पद स्वामी रामानंद का है (और इस बात में संदेह करने का कोई प्रत्यक्ष कारण भी नहीं दीखता तो) हमें इन्हें संत-मत के आदि प्रचारकों तथा उन्नायकों में निर्विवाद रूप से सम्मिलित कर लेना चाहिए।[2]

डॉ० फर्कुहर का अनुमान

डॉ० फर्कुहर ने लिखा है कि स्वामी रामानंद के मत का मूल आधार श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के सिद्धांतों में निहित न होकर 'अध्यात्म रामायण' में वर्तमान है।[3] उनके अनुसार जान पड़ता है कि रामानंद ने (जो मूलतः दक्षिण भारत से

१ पंचसहृद रामु बसत पद १।

२ इनकी हिन्दी रचनाओं के लिए दे० स्वामी रामानंद की हिंदी रचनाएँ, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

३ डॉ० जे० एन० फर्कुहर : दि हिस्टारिकल पोजिशन ऑफ रामानंद, दि

कर लेने का। फिर इसी प्रकार सत रैदास ने भी कबीर साहब के विषय मे अपने कुछ पदो के अतर्गत 'हरि नाम के द्वारा जन्म-जन्म के बधन तोड देने वाला'[1], नामदेव, तिलोचन, सधना तथा सेन नाई की भाँति ससार-सागर से पार हो गया हुआ[2] तथा नीच कुलोत्पन्न होने पर भी तीनो लोको मे प्रसिद्ध हो गया हुआ[3] कहा है। एक अन्य स्थल पर उन्हे सदेह-मुक्त होकर निर्गुण भक्ति का महत्त्व प्रदर्शन करनेवाला[4] तक माना है जिससे स्पष्ट है कि कबीर साहब उनसे पहले ही मर कर प्रसिद्ध हो चुके होगे और सेन नाई की भी मृत्यु हो चुकी होगी। इसके सिवाय इसी रैदासजी को धन्ना ने अपने एक पद[5] द्वारा नाम देव, सेन नाई वा कबीर साहब के समान ही माया का त्याग कर हरि-दर्शन पा चुकनेवाला बतलाया है। अत मे यह भी कहा है कि उक्त सतो की कथाएँ सुन कर ही मुझ जाट के हृदय मे भक्ति का भाव जागृत हुआ और मैं भी सौभाग्यवश भगवान् के दर्शन कर सका। रैदासजी की प्रशसा पीपाजी ने भी एक पद मे की है।

निष्कर्ष

अतएव उक्त सभी बातो पर विचार करते हुए यही अनुमान लगाया जा सकता है कि उन पाँच व्यक्तियो मे से कदाचित् किसी ने भी स्पष्ट शब्दो मे स्वामी रामानद को अपना गुरु स्वीकार नही किया है और उनमे से सभी ने उनका नाम तक नही लिया है। कम-से-कम पीपाजी ने अपने को कबीर साहब द्वारा तथा धन्ना ने नामदेव, कबीर साहब, रैदास तथा सेन नाई की कथाओ द्वारा प्रभावित होना स्वीकार किया है। सभव है कि उक्त सभी सत एक ही समय और एक ही साथ ऐसी स्थिति मे वर्तमान भी न रहे होगे जिससे उनका स्वामी रामानंद का शिष्य और आपस मे गुरुभाई होना किसी प्रकार सिद्ध किया जा सके।

---

१ 'हरिकै नाम कबीर उजागर, जनम जनम के काटे कागर।'
—ग्रथ साहब, आसा ५।

२ 'नामदेव कबीर तिलोचनु सधना सैनु तरै'। वही, राग मारु, पद १।

३ 'जाकै बाप वैसी करी पूत ऐसी करी, तिहूँरे लोक परसिध कबीरा।'
—वही, राग मलार, पद २।

४ 'निरगुन का गुन देखो आई, देही सहित कबीर सिधाई।'
—रैदासजी की बानी, पृ० ३३।

५ 'रविदास ढुवंता ढोरनी, तितिनी तिआगी माइआ, परगटु होआ साध सगि हरिदरसन पाइआ। इतिविधि सुनिकै जाटरो उठि भगती लागा, मिले प्रतखि गुसाइआ धन्ना वडभागा। —ग्रंथ साहब, राग आसा २।

रचनाएँ

स्वामी रामानंद की रचनाएँ कुछ संस्कृत तथा कुछ हिंदी में बतलायी जाती हैं। किंतु कई विद्वानों को उन सबकी प्रामाणिकता में संदेह जान पड़ता है। इनकी कही जानेवाली संस्कृत रचनाओं में से 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' इनके प्रमुख सिद्धांतों का परिचायक ग्रंथ जान पड़ता है। इसी प्रकार 'श्री रामार्चन पद्धति' इनकी पूजन-प्रणाली का पता देनेवाली पुस्तक कही जा सकती है। इन दोनों के इनके द्वारा रचित होने में मतभेद भी कम दीख पड़ता है। हिंदी की उपलब्ध फुटकर कृतियों में एक हनुमान के विषय में है और दूसरी उनका बाह्य पूजन-अर्च नादि की ओर से विरक्ति भाव प्रकट करती है। इस दूसरी रचना में कहा गया है कि 'मुझे मंदिरादि में पूजन के लिए अब कहाँ जाना है, अब तो मेरे घट के भीतर हृदय में ही रंग चढ़ गया है। मेरा चित्त अब चलायमान होने की जगह पंगु बन कर स्थिर हो गया। कोई दिन था जब मैं पूरे उमंग के साथ चोवा चंदन प्रभृति सुगंधित द्रव्य लेकर ब्रह्म का स्थान-विशेष पर पूजन करने जाया करता था। अब तो मेरे गुरु ने मुझे उस ब्रह्म का परिचय मन के भीतर ही करा दिया। अब मैं जहाँ कहीं भी मंदिर-तीर्थादि में जाता हूँ वहाँ जल तथा पत्थर ही दीख पड़ता है। वेदों और पुराणों का अध्ययन कर लेने पर भी मेरी यही धारणा है कि वह (ब्रह्म) सर्वत्र एक ही समान व्याप्त है। इसलिए हमें उसके पूजन के लिए वहाँ मंदिरादि में तभी जाना चाहिए जब वह यहाँ (अपने हृदय में) विद्यमान न हो। मैं अपने उस सद्गुरु की बलिहारी जाता हूँ जिसने मेरे सारे बिखरे हुए भ्रमों के जंजाल को नष्ट कर दिया। रामानंद इस समय केवल ब्रह्म में ही लीन हैं। सद्गुरु के शब्दों ने इसके कर्म के करोड़ों बंधन छिन्न-भिन्न कर डाले हैं।'[1] यदि वास्तव में यह पद स्वामी रामानंद का है (और इस बात में संदेह करने का कोई प्रत्यक्ष कारण भी नहीं दीखता तो) हमें इन्हें संत-मत के आदि प्रचारकों तथा उपासकों में निर्विवाद रूप से सम्मिलित कर लेना चाहिए।[2]

डॉ० फर्कुहर का अनुमान

डॉ० फर्कुहर ने लिखा है कि स्वामी रामानंद के मत का मूल आधार श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के सिद्धांतों में निहित न होकर 'अध्यात्म रामायण' में वर्तमान है।[3] उनके अनुसार जान पड़ता है कि राघवानंद ने (जो मूलतः दक्षिण भारत से

1. पंचलाहुव रागु बसंत पद १।
2. इनकी हिन्दी रचनाओं के लिए दे० स्वामी रामानंद की हिंदी रचनाएँ, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
3. डॉ० जे० एन० फर्कुहर : दि हिस्टारिकल पोजिशन ऑफ रामानंद दि

एक 'रामावत वैरागी' के रूप मे आये थे और जिनके प्रधान मान्य ग्रथ 'वाल्मीकीय रामायण', 'अध्यात्म रामायण' तथा 'अगस्त्य-सहिता' थे) उत्तरी भारत मे रामानद को अपने मत मे खीच लिया। इस प्रकार ईसा की पद्रहवी शताब्दी मे एक नये आदोलन का सूत्रपात किया। सोलहवी ईसवी शताब्दी मे किसी समय उत्तरी भारत के उक्त 'श्री सम्प्रदाय' के साथ इसका अधिक सपर्क बढा और तभी से दोनो एक तथा अभिन्न समझे जाने लगे तथा रामानद-विषयक जनुश्रुतियाँ भी प्रचलित हो गई। ये सभी बातें भक्त नाभादास के पहले अस्तित्व मे आ चुकी थी और तब से आज तक उनमे बराबर विश्वास किया जाता आ रहा है। परन्तु डॉ० फर्कुहर की इस धारणा को अभी उनके अनुसार भी कोई प्रामाणिक रूप नही दिया जा सकता। इसका अतिम सत्य होना कुल सामग्रियो के उपलब्ध होने तथा उन पर पूर्ण रूप से विचार किये जाने पर ही निर्भर है।

श्री सम्प्रदाय तथा रामावत सम्प्रदाय

स्वामी रामानद के दार्शनिक सिद्धातो का आधार कदाचित् विशिष्टताद्वैत की मूल बातो मे ही निहित है। अतएव इस दृष्टि से दोनो मे कोई विशेष अतर नही जान पडता। परन्तु साम्प्रदायिक मान्यताओ के विचार से रामानुजीय 'श्री सम्प्रदाय' तथा रामानदीय 'रामावत सम्प्रदाय' मे कई प्रकार के भेद भी लक्षित होते हैं। सर्व-प्रथम 'श्री सम्प्रदाय' के उपास्य देव 'नारायण' के स्थान पर रामावत वाले 'राम' को स्वीकार करते हैं जो सर्वसाधारण की मनोवृत्ति के कही अधिक अनुकूल है। राम के आदर्श मे एक ओर जहाँ परमात्मा के सर्वव्यापी होने की भावना छिपी हुई है, वही उनके लौकिक चरित्र मे हमे मानवीय व्यक्तित्व का भी पूर्ण विकास दीख पडता है। क्षीरसागरशायी चतुर्भुजी नारायण वा विष्णु को हम एक अलौकिक स्थिति मे पाकर तथा उन्हे अपनी पहुँच के दूर समझ कर उनके प्रति केवल श्रद्धा के भाव प्रकट करते हैं। किंतु अपने अपूर्व मानवीय गुणो के कारण द्विभुजधारी राम हमे उनसे अधिक निकट जान पडते है और उनके लिए हमे अपना प्रेम प्रदर्शित करते भी सकोच नही होता। यही कारण है कि 'श्री सम्प्रदाय' के नियमो मे जहाँ कर्मकाण्ड तथा अर्चन-विधियो का बाहुल्य है, वहाँ 'रामावत सम्प्रदाय' के अनुसार भक्त का हृदय अपने इष्टदेव के भजन तथा गुणगान से ही अधिक तृप्त होता रहता है और यह अपेक्षाकृत अधिक सरल भी है। उसे बाह्य विधानो के अक्षरश पालन की विशेष चिंता नही करनी पडती। 'रामावत सम्प्रदाय' के अनुयायी का कुछ

जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड, १९२२ ई०, पृ० ३७३-८०।

क्याब स्मार्त धर्म की ओर भी रहा करता है जिस कारण उसका व्यवहार हिन्दू-धर्म के अन्य सम्प्रदायों के साथ कटुता तथा संघर्ष का न होकर उदारता और सहृदयता का हुआ करता है।

रामावत सम्प्रदाय

स्वामी रामानंद की मृत्यु का संवत् १४६७ वि में होना कहा जाता है जिस दृष्टि से इनकी आयु १११ वर्षों की ठहरती है। इनके दीर्घ काल तक जीवित रहने की ओर भक्त नाभादास ने भी संकेत किया है[1] और परंपरा से यही बात पुष्ट होती जान पड़ती है। इनके 'रामावत सम्प्रदाय' का प्रचार उत्तरी भारत में प्रायः सर्वत्र हो चुका है और आज तक उसके नाम पर अनेक मठ तथा अखाड़े स्थापित हो चुके हैं। ये संस्थाएँ प्रदेश-विशेष के मुख्य आचार्यों के निवास-स्थानों या उनकी संगठित मंडली के केन्द्रों के रूप में होती हैं। इनमें कम-से-कम एक मंदिर सीताराम का होता है जिसमें कभी-कभी अन्य देवताओं के भी विग्रह रखे जाते हैं। एक छोटी-सी धर्मशाला भी रहा करती है जिसमें समय-समय पर सम्प्रदाय के अनुयायी ठहरते वा एकत्र होते रहते हैं। साधारणतः इनके प्रबंध के व्यय का भार इनके आसपास की हिन्दू-जनता पर रहता है, किंतु कहीं-कहीं इसके लिए कुछ भूमि अलग निकाली हुई भी पायी जाती है। इन मठों वा अखाड़ों में कुछ ऐसे भी होते हैं जिनकी प्रतिष्ठा अन्य ऐसी संस्थाओं से बढ़ कर समझी जाती है। किसी समय पारस्परिक मतभेद उत्पन्न होने पर अथवा किसी अन्य महत्त्वपूर्ण अवसर पर भी उनके अंतिम निर्णय की प्रतीक्षा की जाती है। सम्प्रदाय के बहुत-से लोग वैरागी न बन कर गृहस्थ रूप में ही पाये जाते हैं और उनके लिए जो नियम हैं वे अधिक सरल तथा सुगम हैं। इन सबके लिए मूल मंत्र केवल 'राम' वा 'सीताराम' है और उनके इष्टदेव श्रीरामचंद्र हैं जिन्होंने ब्रह्म की दशा में निर्गुण और निराकार होते हुए भी भक्तों के लिए तथा विश्व का संकट दूर करने की भी इच्छा से नरदेह धारण किया था।

(२) सेन नाई

प्रथम मत

सेन नाई के संबंध में दो भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। एक के अनुसार ये बीदर के राजा की सेवा में नियुक्त थे। प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के ये समकालीन थे और उन्हीं की शिष्य-मंडली में सम्मिलित थे। इनके बनाये हुए अनेक मराठी अभंग आज भी प्रचलित हैं जिनमें इन्होंने पंढरपुर के भगवान् विठ्ठलनाथ की स्तुति की है

१ 'बहुत काल वपु धारिकै, प्रनत जनन कौं पार दियौ।
—नाभादास कृत भक्तमाल पृ. ३६।

एक 'रामावत वैरागी' के रूप मे आये थे और जिनके प्रधान मान्य ग्रथ 'वाल्मीकीय रामायण', 'अध्यात्म रामायण' तथा 'अगस्त्य-सहिता' थे) उत्तरी भारत मे रामानद को अपने मत मे खीच लिया। इस प्रकार ईसा की पद्रहवी शताब्दी मे एक नये आदोलन का सूत्रपात किया। सोलहवी ईसवी शताब्दी मे किसी समय उत्तरी भारत के उक्त 'श्री सम्प्रदाय' के साथ इसका अधिक सपर्क बढा और तभी से दोनो एक तथा अभिन्न समझे जाने लगे तथा रामानद-विषयक जनुश्रुतियाँ भी प्रचलित हो गईं। ये सभी बातें भक्त नाभादास के पहले अस्तित्व मे आ चुकी थी और तब से आज तक उनमे बराबर विश्वास किया जाता आ रहा है। परन्तु डॉ० फर्कुहर की इस धारणा को अभी उनके अनुसार भी कोई प्रामाणिक रूप नही दिया जा सकता। इसका अतिम सत्य होना कुल सामग्रियो के उपलब्ध होने तथा उन पर पूर्ण रूप से विचार किये जाने पर ही निर्भर है।

श्री सम्प्रदाय तथा रामावत सम्प्रदाय

स्वामी रामानद के दार्शनिक सिद्धातो का आधार कदाचित् विशिष्टताद्वैत की मूल बातो मे ही निहित है। अतएव इस दृष्टि से दोनो मे कोई विशेष अतर नही जान पडता। परन्तु साम्प्रदायिक मान्यताओ के विचार से रामानुजीय 'श्री सम्प्रदाय' तथा रामानदीय 'रामावत सम्प्रदाय' मे कई प्रकार के भेद भी लक्षित होते हैं। सर्वप्रथम 'श्री सम्प्रदाय' के उपास्य देव 'नारायण' के स्थान पर रामावत वाले 'राम' को स्वीकार करते हैं जो सर्वसाधारण की मनोवृत्ति के कही अधिक अनुकूल है। राम के आदर्श मे एक ओर जहाँ परमात्मा के सर्वव्यापी होने की भावना छिपी हुई है, वही उनके लौकिक चरित्र मे हमे मानवीय व्यक्तित्व का भी पूर्ण विकास दीख पडता है। क्षीरसागरशायी चतुर्भुजी नारायण वा विष्णु को हम एक अलौकिक स्थिति मे पाकर तथा उन्हे अपनी पहुँच के दूर समझ कर उनके प्रति केवल श्रद्धा के भाव प्रकट करते हैं। किंतु अपने अपूर्व मानवीय गुणो के कारण द्विभुजधारी राम हमे उनसे अधिक निकट जान पडते हैं और उनके लिए हमे अपना प्रेम प्रदर्शित करते भी सकोच नही होता। यही कारण है कि 'श्री सम्प्रदाय' के नियमो मे जहाँ कर्मकाण्ड तथा अर्चन-विधियो का बाहुल्य है, वहाँ 'रामावत सम्प्रदाय' के अनुसार भक्त का हृदय अपने इष्टदेव के भजन तथा गुणगान से ही अधिक तृप्त होता रहता है और यह अपेक्षाकृत अधिक सरल भी है। उसे बाह्य विधानो के अक्षरश पालन की विशेष चिंता नही करनी पडती। 'रामावत सम्प्रदाय' के अनुयायी का कुछ

जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड, १९२२ ई०, पृ० ३७३-८०।

बन गया।[1] इसी प्रकार सेन नाई को 'रामानंद का समकालीन' तथा जबलपुर के निकटवर्ती 'बांधूगढ़ के राजा का नौकर' बतलाते हुए, श्री ई पु जोशी ने शोध करके यह मत निश्चित किया है कि वह नामदेव का समकालीन न होकर उनका परवर्ती था तथा महाराष्ट्रीय न होकर उत्तर का निवासी था। वह पंढरपुर का एक विशिष्ट 'वारकरी' था और उसके कुछ मराठी 'अभंग' भी मिलते हैं।[2]

तृतीय मत

श्री बी एम पंडित नामक एक सज्जन ने अभी कुछ दिन हुए अपने एक निबंध में बतलाया है कि सेनजी की कथा का परिचय हमें मराठी कवि महीपति की 'भक्ति विजय' नामक रचना में मिलता है जो नाभादास की 'भक्तमाल' पर आश्रित है।[3] महीपति ने इनके अनुसार नाभादास के कथन को भली भाँति नहीं समझ पाया है और उन्होंने कई भूलें कर दी हैं। सेनजी वास्तव में बांधोगढ़ के ही निवासी थे और वहाँ के शासक 'राजाराम' के यहाँ नियुक्त थे। अतएव उनके लगभग १५ की संख्या में उपलब्ध मराठी अभंगों के विषय में यही अनुमान किया जा सकता है कि या तो उन्हें किसी अज्ञात कवि ने उनके नाम से लिख दिया होगा अथवा उन्होंने स्वयं महाराष्ट्र में कुछ दिनों तक ठहर कर उन्हें उसी प्रकार बनाया होगा जिस प्रकार संत नामदेव ने पंजाब में रह कर अपने हिंदी पदों की रचना की थी। परन्तु श्री पंडित अपने उक्त अनुमानों के लिए कोई प्रामाणिक आधार देते हुए नहीं जान पड़ते। महीपति ने क्या और किस प्रकार भूल की है तथा सेनजी के नाम से प्रसिद्ध मराठी अभंगों को उचित महत्त्व क्यों न दिया जाय इसके लिए वे कोई कारण नहीं देते। इसके सिवाय उनके अनुसार अपने राजाराम (सं १६११ ४८) के यहाँ नियुक्त होने पर भी स्वामी रामानंद के समकालीन भी सिद्ध नहीं होते। अतएव संभव है ये राजाराम बाँधवेश न होकर वस्तुत वे राजाराम हों जो सेन के इष्टदेव थे। उनकी ओर इन्होंने स्वयं 'नित मंगल राजा राम राइ को' द्वारा निर्देश किया है तथा जिसके भ्रमवश ही इस प्रकार का अनुमान संभव हो सका है।

परिणाम

गुरु अर्जुन देव द्वारा संगृहीत सिक्खों के प्रसिद्ध मान्य ग्रंथ 'आदिग्रंथ' में सेन

---

१ नाभादास : भक्तमाल, ६१।

२ पंजाबातील नामदेव।

३ ६ Proceed ngs of th Oriental C ference, Bombay

एक सच्चे वारकरी-भक्त की भाँति उनसे अपने ऊपर कृपा करने की प्रार्थना भी की है। एक अभग मे ये अपने को स्पष्ट शब्दो मे 'जन्मलो न्हावीय चें उदरी' अर्थात् 'एक नाइन माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ' भी वतलाते हैं और एक दूसरे अभग द्वारा ये यह भी कहते हुए दीख पडते है कि किस प्रकार एक दिन ये देव-पूजा मे लगे रहने के कारण राजा के निकट समय पर उपस्थित नही हो सके और इन्हे बुलाने के लिए दूतो को आना पडा। घ्यान टूटते ही ये उनके साथ राज-दरबार मे शीघ्र पहुँचे, राजा के हाथ मे दर्पण दिया और उसके वाल बनाने लगे। परन्तु राजा को दर्पण मे अचानक भगवान् की चतुर्भुजी मूर्ति दीख पडी और तैल-मर्दन कराते समय भी तैल की कटोरी मे उसी प्रतिबिब के दर्शन हुए जिससे प्रभावित होकर उसने विरक्ति-भाव के साथ भवित-मार्ग स्वीकार कर लिया। सेन नाई के उक्त अभगो मे उनकी भगवान् के प्रति एकात निष्ठा, शुद्धहृदयता और प्रगाढ भक्ति सर्वत्र लक्षित होती है। अपने कीर्तन, प्रेम तथा ज्ञानेश्वर-परिवार के प्रति अटूट श्रद्धा के कारण ये एक पक्के 'वारकरी-भक्त' ही प्रतीत होते है। इनके जीवन-काल के विषय मे कोई स्पष्ट प्रसग इनके उक्त अभगो मे नही दीख पडता। केवल मृत्यु-काल का निर्देश 'श्रावण वदि द्वादशी के दिन दोपहर के समय' द्वारा किया गया है जो किसी भी सवत् मे सभव है। प्रो० रानडे के अनुसार इनका समय सवत् १५०५ सन् १४४८ ई० मे समझना चाहिए।

द्वितीय मत

दूसरा मत सेन नाई को बाधोगढ-नरेश का सेवक होना वतलाया है और साथ ही इन्हे स्वामी रामानद का शिष्य भी ठहराया है। इसके अनुसार सेन के राज-दरबार मे यथासमय उपस्थित न हो सकने पर स्वय भगवान् ने ही जाकर उनकी जगह तैल-मर्दन कर दिया था। जब सेन को इस बात का पता चला, तब इन्हे बडी ग्लानि हुई। इसके मर्म को समझ लेने पर स्वय राजा भी इतना प्रभावित हुआ कि उसने सेन का शिष्यत्व तक स्वीकार कर लिया। स्वामी रामानद के तथाकथित अन्य शिष्यो में से धन्ना भगत ने सेन के लिए भगवान् द्वारा उसका रूप धारण करने की कथा को अपने समय मे घर-घर प्रसिद्ध होना वतलाया है।[1] आगे चल कर नाभादास ने भी अपने 'भक्तमाल' ग्रथ मे सेन नाई के विषय मे एक छप्पय दिया है। इसमे कहा है कि भगवान् ने इस भक्त के लिए नाई का रूप धारण किया था और शीघ्र ही छुरहेरी वा नाइयो की पेटी तथा दर्पण लेकर उसने राजा का तैल-मर्दन भी किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा अपने नाई का ही शिष्य

---

१ आदिग्रथ, रागु आसा, पद २।

विषय में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रसिद्ध हैं जिनमें से सिंह जैसे हिंस्र पशु को भी उपदेश देने के वृत्तांत का एक उल्लेख नाभादास के भक्तमाल में हुआ है। इनकी उदारता तथा निस्पृहता से संबंध रखनेवाली अनेक घटनाओं के भी वर्णन बहुत-सी पुस्तकों में लिखे मिलते हैं।[1] पीपाजी की द्वारा यहीं का रामद्वार (द्वारका) तथा गागरौनगढ़ में भी होना बतलाया जाता है।[2]

रचना

पीपाजी की रचनाओं में 'श्री पीपाजी की बानी' नामक दो-एक संग्रह अभी तक हस्तलिखित रूप में वर्तमान सुने जाते हैं। जहाँ तक पता है, इनमें से किसी के प्रकाशित होने का अवसर अभी तक उपस्थित नहीं हुआ है। एक संग्रह बहुत दिनों पहले काशी से निकला था जो अब उपलब्ध नहीं है न यही पता है कि उसमें संगृहीत पदों की हस्तलिखित प्रतियों की रचनाओं के साथ कहाँ तक समानता है। इनका एक पद गुरु अर्जुन देव द्वारा सम्पादित प्रसिद्ध 'आदिग्रंथ' में 'रागु धनासरी' के रूप में संगृहीत है। इसमें इनके ७ रागों में २१ पद तथा ११ साखियों का प्रकाशन हुआ है और इनके नाम से एक 'चितामणि योग' नाम की रचना भी छपी है[3] जो निरंजनी सम्प्रदाय के पीपाजी की भी कही जाती है।[4] 'जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है' का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है और जो सभी प्रकार से संत-मत की ही बातों का समर्थन करता है। उक्त पद में लिखा है[5] कि मानव शरीर के ही भीतर अपना इष्टदेव देवालय तथा सारे चर जीव हैं। उसी में धूप तथा नैवेद्य हैं और उसी में फल पूजन की सामग्रियाँ भी हैं। काया के ही भीतर खोज करने पर नवो निधियाँ राम की कृपा से बिना कहीं आये-गये ही प्राप्त हो सकती हैं। जो कुछ भी ब्रह्मांड में है, वह सभी पिंड में भी वर्तमान है और जो कोई खोजता है वह उन्हें उपलब्ध भी कर सकता है। पीपा परमतत्त्व को प्रणाम करता है वा उसके प्रति निवेदन करता है और कहता है कि उक्त वस्तु को कोई सद्गुरु ही बता सकता है।[6]

---

१ दे० अनंतदास कृत पीपाजी की परचई।

२ डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव 'रामानंद सम्प्रदाय' प्रयाग १९५७ ई० पृ० १९७।

३ संतवाणी धारा वर्ष ६ के ७ और ९ अंक।

४ दे० श्री महाराज हरिदास जी की बाणी: स्वामी मंगलदास १९६२ ई० में जयपुर से प्रकाशित।

५ ग्रंथसाहब, धनासरी रागु पद १।

६. इनके २ पद रामकली ८ राग आसावरी ५ राग सोरठि और १ राग सारंग के अंतर्गत ११ साखियों के साथ 'सरावें' प्रति में भी उपलब्ध हैं।

नाई का भी एक पद आता है जिसमे इन्होने स्वामी रामानद का नाम लिया है। जैसा हम इसके पहले भी कह चुके हैं इन्होने यहाँ पर बतलाया है कि राम की भक्ति का रहस्य वे ही जानते हैं और पूर्ण परमानद की व्याख्या करते हैं।[१] उस पद मे प्रयुक्त 'जानै' तथा 'बखानै' शब्दो के रूप से अनुमान होता है कि उक्त कथन का निर्देश वर्तमान काल की ओर है। अतएव सेन नाई उक्त स्वामीजी के समकालीन माने जा सकते हैं, किंतु वाक्य के प्रशसात्मक होने पर भी इतने से ही इन्हे उनका शिष्य भी होना आवश्यक नही। जान पडता है कि ये अपने जीवन के पूर्व भाग मे 'वारकरी-सम्प्रदाय' द्वारा ही अधिक प्रभावित रहे। पीछे इनका आना उत्तरी भारत मे भी हुआ जहाँ पर स्वामी रामानद के दर्शनो का भी इन्हे अवसर मिला। ये एक सरल हृदय के व्यक्ति थे और सतसग-प्रेमी होने के कारण स्वभावत पर्यटन भी किया करते थे। इसलिए अपने जीवन के पिछले दिनो मे इनका उत्तरी भारत मे भी सत नामदेव की भाँति कुछ काल तक रम जाना कुछ आश्चर्यजनक नही जान पडता। सत नामदेव ने जिस प्रकार मराठी अभगो के साथ-साथ हिंदी पदो की रचना भी की थी, उसी प्रकार इन्होने भी किया होगा। स्वामी रामानद का समकालीन होने से इनका सत ज्ञानेश्वर का भी समसामयिक होना समव नही कहा जा सकता। इनका समय चौदहवी विक्रमी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा पद्रहवी के पूर्वार्द्ध मे समझा जा सकता है। किंतु इनकी जन्म-भूमि आदि के सबध मे प्राय. कुछ भी ज्ञात नही है।

सेन-पथ

सेन नाई के नाम पर किसी सेन-पथ का भी प्रचलित होना प्रसिद्ध है। डॉ० ग्रियर्सन का अनुमान है कि उक्त पथ का अलग अस्तित्व मे आना इस बात के कारण समव था कि सेन तथा उनके वशजो का प्रभाव बाधोगढ के नरेशो पर बहुत काल तक कायम रहा।[२] परन्तु सेन-पथ के अनुयायियो अथवा उनके मत-विशेष का कोई पूरा विवरण उपलब्ध नही है।

(३) पीपाजी

समय

पीपाजी की भी गणना स्वामी रामानद के प्रसिद्ध बारह शिष्यो मे की जाती है। नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' मे जो छप्पय इनके सबध मे दिया है, उसमे

---

१ "रामाभगति रामानद जानै, पूरन परमानद बषानै", रागु धनासरी पद १।

२ सेन पथीज - एनसाईक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन ऐंड एथिक्स, भा० २, पृ० ३८४।

उन्होंने इस बात का उल्लेख स्वतंत्र रूप से भी कर डाला है।[1] परन्तु जहाँ तक पता है, इनके विषय में स्वामी रामानंद के शिष्य समझे जानेवाले संत कबीर, रैदास वा धन्ना ने इनकी कभी भी चर्चा नहीं की है। इनका कदाचित् सबसे पहला प्रसंग मीराँबाई के एक पद में आता है जहाँ पर इनके भगवान् के परिचय पाने तथा खजाने के पूर्ण किये जाने की ओर संकेत किया गया है।[2] इनका जन्म-काल डॉ॰ फर्कुहर के अनुसार सं॰ १४८२ सन् १४२५ बतलाया जाता है किंतु कनिंघम ने[3] गागरौन राज की वंशावली के आधार पर इनका समय सं॰ १४१७ तथा १४४२ सन् १३६० और १३८५ के बीच ठहराने का यत्न किया है, जैसा एक भ्रमण-वृत्तांत से भी प्रकट होता है[4] और उक्त दोनों निश्चयों में मेल खाता नहीं दीख पड़ता। इनकी अपनी दो रचनाओं[5] से केवल यही प्रतीत होता है कि ये कबीर साहब के एक बड़े प्रशंसक थे और उन्हें गुरु-तुल्य अथवा मार्ग-प्रदर्शक भी मानते थे। इस प्रकार इनका भी समय प्राय वही हो सकता है जो कबीर साहब का होना चाहिए। उस दशा में ये उनसे कुछ पीछे तक भी जीवित मान लिये जा सकते हैं। इस अनुमान की संगति कनिंघम के मत के साथ तभी बैठेगी जब पीपाजी द्वारा अपनी राजगद्दी का बीच ही में त्याग भी हुआ हो और वे विरक्त की दशा में कुछ काल तक भ्रमण तथा सत्संग करते फिरे हों। डॉ॰ फर्कुहर का निश्चय कुछ अधिक आगे तक पहुँच जाता है जो ठीक नहीं जान पड़ता। फिर भी राजस्थान के इतिहास से पता चलता है कि पीपाजी के बड़े भाई राजा अचलदास खीची के साथ राणा कुंभा (सं॰ १४७५ १५२५) की बहन लाला का ब्याह हुआ था और यह उनकी प्रथम रानी थी। अतएव सभी बातों पर विचार करते हुए पीपाजी का जन्मकाल सं॰ १४६५ १४७५ के लगभग अथवा इसके कुछ पहले तक भी मान लिया जा सकता है।

---

१ नाभादास भक्तमाल पृ॰ ६१।

२ मीराँबाई की पदावली हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग, पद २१ पृ॰ ११।

३ आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट भा॰ २ पृ॰ २९५-७ और भा॰ ३ पृ॰ १११।

४ ट्रैवेल्स ऑफ ए हिन्दू, वाल्यूम १ पृ॰ ५७।

५ 'श्री पीपाजी की बानी' 'सरब गुटिका' और रज्जबजी की 'सर्बंगी' में संगृहीत। ये दोनों पद 'दादू-ग्रंथावली' की मराठे वाली हस्तलिखित प्रति सं॰ १७१ में भी आये हैं और इनमें से एक में रैदास विषयक प्रशंसात्मक उल्लेख भी है। —लेखक।

(४) सत रविदास वा रैदासजी

जाति

सत रविदास वा रैदासजी के विषय मे धन्ना भगत ने कहा है कि इन्होने नित्य प्रति ढोरो का व्यवसाय करते हुए भी माया का त्याग कर दिया, ये साधुओ के साथ प्रत्यक्ष रूप मे रहने लगे और इस प्रकार भगवान् के दर्शन प्राप्त करने मे सफल हो गए।[१] स्वय रविदास के पदो से भी इस बात का समर्थन होता है कि इनके कुटुबवाले 'ढेढ' लोग बनारस के आस-पास इनके समय मे ढोरो वा मृत पशुओ को ढो-ढोकर ले जाया करते थे। इस प्रकार उन ढेढो का वशज होते हुए भी इन्हें भक्त तथा महात्मा मान कर सदाचारी विप्रो तक ने इन्हे प्रणाम किया।[२] अपनी जाति को इन्होने कई स्थलो पर 'ओछी' तथा 'कमीनी' कहा है। अपने को 'खालस चमार' अथवा 'चमइया' भी बतलाया है जिससे सिद्ध है कि इनके चमार जाति का होने मे कुछ भी सदेह नही। कहा तो यहाँ तक भी जाता है कि इनका जन्म वर्तमान काशी नगर के पश्चिम और मडुआडीह के निकटवाले लहरतारा तालाब के पास किसी चमार कुल मे हुआ था। इनके दादा का नाम हरनदन था, इनके पिता राहू थे तथा इनकी दादी और माता के नाम क्रमश चतर तथा करमा थे। इनकी पत्नी का नाम भी लोना चमाइन ही बतलाया जाता है। फिर भी प्रसिद्ध भक्तचरित-लेखक अनतदास ने इनका कम से कम पूर्वजन्म मे ब्राह्मण होना बतलाया है। उन्होने कहा है कि मास खाने के कारण इनका जन्म चमार जाति मे हो गया था। वर्ण-व्यवस्थानुसार ब्राह्मणो को सर्वश्रेष्ठ माननेवालो के लिए आज भी यह समझना कठिन है कि सिवाय उनके और दूसरा कोई, और विशेषकर चमार-जैसी नीच समझी जानेवाली जाति का मनुष्य किस प्रकार भक्त कहला कर इतना प्रतिष्ठित बन सकता है। इसी मनोवृत्ति के कारण वे रविदास के विषय मे एक ऐसी घटना की कल्पना भी करते हैं जिसमे इन्होने अपने शरीर पर चमडे के नीचे यज्ञोपवीत का होना प्रमाणित किया था। उसके कारण उस समय के ब्राह्मण अत्यत लज्जित हुए थे। नाभादास की 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास का यह भी कहना है कि सभवत पूर्वजन्म मे ब्राह्मण रह चुकने के ही कारण इन्होने चमार के घर उत्पन्न होकर भी अपनी चमारिन माता का दूध पहले नही पिया। स्वामी

---

१ ग्रथसाहब, रागु आसा, पद २।

२ 'मेरी जाति कुटबां ढला ढोर ढोवता नितहि बानारसी आसपासा।
अब बिप्र परधान तिहि करहि डडउति तेरे नाम सरणाई रविदासु दासा'।
—वही, रागु मलार, पद १।

विषय में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रसिद्ध हैं जिनमें से सिंह जैसे हिंस्र पशु को भी उपदेश देने के वृत्तांत का एक उल्लेख नाभादास के भक्तमाल में हुआ है। इनकी उदारता तथा निस्पृहता से संबंध रखनेवाली अनेक घटनाओं के भी वर्णन बहुत-सी पुस्तकों में लिखे मिलते हैं।[1] पीपाजी की प्राप्त गद्दी का रामद्वार (द्वारका) तथा गागरौनगढ़ में भी होना बतलाया जाता है।[2]

रचना

पीपाजी की रचनाओं में 'श्री पीपाजी की बानी' नामक दो-एक संग्रह अभी तक हस्तलिखित रूप में वर्तमान सुने जाते हैं। जहाँ तक पता है इनमें से किसी के प्रकाशित होने का अवसर अभी तक उपस्थित नहीं हुआ है। एक संग्रह बहुत दिनों पहले काशी से निकला था जो अब उपलब्ध नहीं है न यही पता है कि उसमें संगृहीत पदों की हस्तलिखित प्रतियों की रचनाओं के साथ कहाँ तक समानता है। इनका एक पद गुरु अर्जुन देव द्वारा सम्पादित प्रसिद्ध 'आदिग्रंथ' में 'रागु धनासरी' के रूप में संगृहीत है। इसमें इनके ७ रागों में २१ पद तथा ११ साखियों का प्रकाशन हुआ है और इनके नाम से एक 'चिंतामणि योग' नाम की रचना भी छपी है,[3] जो निरंजनी सम्प्रदाय के पीपाजी की भी कही जाती है।[4] 'जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है' का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है और जो सभी प्रकार से संत-मत की ही बातों का समर्थन करता है। उक्त पद में लिखा है[5] कि मानव शरीर के ही भीतर अपना इष्टदेव देवालय तथा सारे चर जीव है। उसी में धूप तथा नैवेद्य है और उसी से कक पूजन की सामग्रियाँ भी है। काया के ही भीतर खोज करने पर नवों निधियाँ राम की कृपा से बिना कहीं आये-गये ही प्राप्त हो सकती हैं। जो कुछ भी ब्रह्मांड में है वह सभी पिंड में भी वर्तमान है और जो कोई खोजता है वह उन्हें उपलब्ध भी कर सकता है। पीपा परमतत्त्व को प्रणाम करता है वा उसके प्रति निवेदन करता है और कहता है कि उक्त वस्तु को कोई सद्गुरु ही लखा सकता है।[6]

---

१ दे० अनंतदास कृत पीपाजी की परचई।

२ डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव : रामानंद सम्प्रदाय प्रयाग १९५७ ई० पृ० १९७।

३ संतबानी, आरा वर्ष ९ के ७ और ९ अंक।

४ दे० श्री महाराज हरिदास जी की बाणी : स्वामी मंगलदास १९६१ ई० में जयपुर से प्रकाशित।

५ ग्रंथसाहब धनासरी रागु, पद १।

६. इनके ९ पद रामकली, ८ राग आसावरी ५ राग सोरठि और १ राग सारंग के अंतर्गत ११ साखियों के साथ 'मराठे' प्रति में भी उपलब्ध हैं।

जीवनी

कहते हैं कि पीपाजी के हृदय मे बाल्यावस्था से ही भक्ति-भावना अकुरित हो चुकी थी, जो उनके सिंहासनासीन होने पर भी कम न हुई। अपने गगरौन गढ मे उनकी बारह रानियाँ थी। सभी प्रकार के आमोद-प्रमोद की सामग्री वर्तमान थी, किंतु उनकी साधु-सेवा बराबर चलती रहती थी। वे पहले भवानी के उपासक थे, किंतु कतिपय वैष्णव-भक्त अतिथियो की प्रेरणा से स्वामी रामानद के सपर्क मे आकर ये उनसे प्रभावित हो गए। प्रसिद्ध है कि अपनी राजधानी मे लौट कर इन्होने अपना सारा ठाट-बाट बदल डाला और साधु-वेश मे रहने लगे। इनका स्वामी रामानद के साथ एक बार तीर्थ-यात्रा करते हुए द्वारकापुरी तक जाना भी बतलाया जाता है। इस यात्रा मे इनके साथ इनकी रानी सीता देवी भी गई थी और उन्होने मार्ग के विविध कष्टो मे इनकी सच्ची सहधर्मिणी बन कर इनके साथ सहयोग किया था। द्वारकापुरी की एक यात्रा मे इनके किसी परिचित भक्त श्रीधर ने इनका सत्कार अपनी धोती तक बेंच कर किया था जिसके उपलक्ष मे इस वैष्णव-दपति ने जनता के बीच गा-बजा कर धन-सग्रह किया और उस अकिंचन मित्र की सहायता की। सीता देवी ने उक्त अवसर पर लज्जा का त्याग कर सबके सामने नृत्य के साथ गान किया था और पीपाजी ने सारगी बजायी थी। इनकी यात्रा के स्मारक-रूप मे 'पीपा वट' का वृहत् मठ आज भी वर्तमान है जहाँ यात्रियो के सेवा-सत्कार का बहुत अच्छा प्रबध है।

निवास-स्थान

पीपाजी की राज-दपति को द्वारकापुरी के प्रति इतना प्रेम हो गया था कि अत मे ये वहाँ जाकर ठहरने भी लग गए थे। एक अन्य स्थान पर जहाँ ये विशेष रूप से रहा करते थे, कोई गुफा थी जो अहू तथा काली सिंध नामक नदियो के सगम पर आज भी मौजूद है। गुफा इतनी भयावनी है कि उसमे प्रवेश करने का साहस किसी को नही होता। कहते हैं कि वह नदी के जल तक भीतर ही भीतर चली गई है। वही स्नान कर पीपाजी अपने मदिर मे आ जाते थे जो गुफा के निकट ही बना हुआ है। उक्त स्थान पर आज भी पर्व के दिनो पर एक मेला लगा करता है जिसमे स्नान के लिए अनेक यात्री प्रति बार एकत्र हुआ करते हैं। यह स्थान झालावाड राज्य मे पडता है। पीपा-दपति के विषय मे यह भी प्रसिद्ध है कि ये श्रीकृष्ण के दर्शनो के लिए लालायित होकर एक बार भावावेश मे समुद्र मे कूद पडे थे। वहाँ इन्हे भगवान् के युगल-रूप के साथ साक्षात् हो गया और इस बात के प्रमाणार्थ ये अपने शरीरो पर छाप लगा कर निकले थे। उक्त प्रकार की छाप आज भी द्वारकापुरी के तीर्थ यात्रियो के शरीरो पर वहाँ के 'पीपा मठ' मे उसी की स्मृति मे दी जाती है। इनके

रामानंद ने जब आकर उपदेश दिया तथा इन्हें अपना शिष्य बना लिया तब ये स्तन-पान करने लगे। इस प्रकार अपनी छोटी-सी अवस्था में ही ये उक्त कथन के अनुसार स्वामी रामानंद के शिष्य भी हो गए थे। 'भविष्य पुराण' के अनुसार तो ये मानदास नामक पुत्र के रूपमें अवतार ग्रहण किए थे और इन्होंने कबीर साहब को शास्त्रार्थ में हराया था। ये स्वयं शंकराचार्य से पराजित हो गए और तत्पश्चात् इन्होंने स्वामी रामानंद का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।[1]

गुरु

परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, स्वामी रामानंद के शिष्य समझे जानेवाले रविदास-जैसे अन्य संतों का भी पूर्णतः समसामयिक होना प्रमाणित नहीं होता। यथा भगत रविदास से कहीं छोटे जान पड़ते हैं और स्वयं इनकी भी कुछ रचनाओं से सिद्ध हो जाता है कि सेन नाई और कबीर साहब इनके समय तक मर कर प्रसिद्ध हो चुके थे। इन्होंने स्वामी रामानंद को अपना गुरु किसी भी उपलब्ध पद में स्वीकार नहीं किया है न इनकी किसी भी पंक्ति से ऐसा प्रकट होता है कि ये उनके समकालीन थे। कबीर साहब के साथ इनकी भेंट की एकाध कथाएँ अवश्य प्रचलित हैं। *किंतु सेन नाई के साथ इनका संपर्क में आना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता* न पीपाजी के ही साथ इनका कोई संबंध प्रमाणित होता है। परन्तु इनका काशी में रहना यदि कम से कम उक्त पद में आये हुए 'बनारस के आसपास ढोरों के ढोने वाले कुटुंबा' से सिद्ध किया जा सके तो वहीं दीर्घकाल तक निवास करनेवाले कबीर साहब के साथ इनकी भेंट इनकी युवावस्था में ही सही अवश्य हुई होगी और ये उनसे बहुत कुछ प्रभावित भी हुए होंगे। इसी प्रकार काशी में ही कुटी वा गुफा के भीतर निवास करके साधना में निरत रहनेवाले दीर्घजीवी स्वामी रामानंद से भी इनका किसी समय प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हो जाना असंभव नहीं कहा जा सकता। किंतु इसमें संदेह नहीं कि स्वामी रामानंद द्वारा इनका दीक्षित होना सिद्ध करने के लिए सेन नाई कबीर साहब तथा पीपाजी से भी कहीं अधिक प्रमाणों की आवश्यकता होगी। भक्त व्यासजी (सं० १५६७-१६६९) ने इनका नाम स्वामी रामानंद के शिष्यों में गिनाया है जो अवश्य विचारणीय है।

जीविका तथा स्वभाव

संत रविदास संभवतः काशी में ही रहा करते थे और इन्होंने अपने पैतृक व्यवसाय को भक्त के रूप में अपनी प्रसिद्धि हो जाने पर भी कदाचित् कभी नहीं

---

१ दे० चतुर्थ खंड, अध्याय १७-१८।

(४) संत रविदास वा रैदासजी

जाति

संत रविदास वा रैदासजी के विषय में धन्ना भगत ने कहा है कि इन्होंने नित्य प्रति ढोरों का व्यवसाय करते हुए भी माया का त्याग कर दिया, ये साधुओं के साथ प्रत्यक्ष रूप में रहने लगे और इस प्रकार भगवान् के दर्शन प्राप्त करने में सफल हो गए।[1] स्वयं रविदास के पदों से भी इस बात का समर्थन होता है कि इनके कुटुंबवाले 'ढेढ' लोग बनारस के आस-पास इनके समय में ढोरों वा मृत पशुओं को ढो-ढोकर ले जाया करते थे। इस प्रकार उन ढेढों का वंशज होते हुए भी इन्हें भक्त तथा महात्मा मान कर सदाचारी विप्रों तक ने इन्हें प्रणाम किया।[2] अपनी जाति को इन्होंने कई स्थलों पर 'ओछी' तथा 'कमीनी' कहा है। अपने को 'खालस चमार' अथवा 'चमइया' भी बतलाया है जिससे सिद्ध है कि इनके चमार जाति का होने में कुछ भी संदेह नहीं। कहा तो यहाँ तक भी जाता है कि इनका जन्म वर्तमान काशी नगर के पश्चिम और मडुआडीह के निकटवाले लहरतारा तालाब के पास किसी चमार कुल में हुआ था। इनके दादा का नाम हरनंदन था, इनके पिता राहू थे तथा इनकी दादी और माता के नाम क्रमशः चतर तथा करमा थे। इनकी पत्नी का नाम भी लोना चमाइन ही बतलाया जाता है। फिर भी प्रसिद्ध भक्तचरित-लेखक अनंतदास ने इनका कम से कम पूर्वजन्म में ब्राह्मण होना बतलाया है। उन्होंने कहा है कि मांस खाने के कारण इनका जन्म चमार जाति में हो गया था। वर्ण-व्यवस्थानुसार ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माननेवालों के लिए आज भी यह समझना कठिन है कि सिवाय उनके और दूसरा कोई, और विशेषकर चमार-जैसी नीच समझी जानेवाली जाति का मनुष्य किस प्रकार भक्त कहला कर इतना प्रतिष्ठित बन सकता है। इसी मनोवृत्ति के कारण वे रविदास के विषय में एक ऐसी घटना की कल्पना भी करते हैं जिसमें इन्होंने अपने शरीर पर चमड़े के नीचे यज्ञोपवीत का होना प्रमाणित किया था। उसके कारण उस समय के ब्राह्मण अत्यंत लज्जित हुए थे। नाभादास की 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास का यह भी कहना है कि संभवतः पूर्वजन्म में ब्राह्मण रह चुकने के ही कारण इन्होंने चमार के घर उत्पन्न होकर भी अपनी चमारिन माता का दूध पहले नहीं पिया। स्वामी

---

१ ग्रंथसाहब, रागु आसा, पद २।

२ 'मेरी जाति कुटबां ढला ढोर ढोवंता नितहि बानारसी आसपासा।
अब विप्र परधान तिहि करहि डंडउति तेरे नाम सरणाई रविदासु दासा'।
—वही, रागु मलार, पद १।

उन्हें सहसा प्रक्षिप्त ठहरा देना कठिन प्रतीत होता है। इस कारण या तो रविदास और मीरांबाई को समकालीन मानना होगा या उक्त 'रैदासजी' वा 'रैदास संत' को किसी और के लिए प्रयुक्त संकेत समझना पड़ेगा। इनमें से पहली धारणा को ठीक मानते समय हमें यह कठिनाई दीख पड़ती है कि जिस धन्ना भगत का उल्लेख स्वयं मीरांबाई ने ही किसी प्राचीन पौराणिक भक्त की भाँति किया है[1] वे संत रविदास को एक प्रसिद्ध भक्त तथा अपना एक आदर्श समझते हैं। इस प्रकार जब धन्ना भगत ही संत रविदास के अनंतर आते हैं तब मीरांबाई को उनसे और भी पीछे तक लाना पड़ेगा। हाँ दूसरी धारणा में कदाचित् कुछ अधिक तथ्य जान पड़ता है। संत रविदास के अनुयायियों को बहुधा 'रविदास' वा 'रैदास' कहते हुए आज तक भी सुना जाता है। इस कारण अनुमान किया जा सकता है कि मीरांबाई के गुरु संभवतः रैदासी सम्प्रदाय के कोई ऐसे आचार्य रहे होंगे जो उनके समय में जीवित रहे होंगे। इस धारणा की पुष्टि एक और बात से होती है। 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास ने अपने एक पद में[2] बीठलदास भक्त को 'रैदासी' कहा है और उन्हें पद-गान करते हुए मृत्यु को प्राप्त होनेवाला तथा जगद्-प्रसिद्ध भी बतलाया है। इस बीठलदास रैदासी का समय ज्ञात नहीं न निश्चित रूप से यही कहा जा सकता है कि मीरांबाई के साथ इनकी भेंट संभव थी या नहीं। फिर भी इतना अनुमान कर लेने के लिए पर्याप्त आधार मिल जाता है कि मीरांबाई की उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लिखित 'रैदासजी' वा 'संत रविदास' शब्द किन्हीं ऐसे ही रैदासी के लिए व्यवहृत हुए होंगे। यों तो संत रविदास का मीरांबाई का गुरु होना इनके वा इनके मत द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित होने पर भी सिद्ध किया जा सकता है।[3]

झालीरानी तथा रैदासजी

नाभादास की भक्तमाल पर टीका लिखनेवाले प्रियादासजी ने संत रविदास की शिष्या के रूप में किसी 'झालीरानी' का नाम लिया है। 'झाली' शब्द उक्त रानी का व्यक्तिगत नाम न होकर उसके पितृवंश का द्योतक है। यह शब्द उसी प्रकार का है जैसा मीरांबाई के लिए बहुधा प्रयुक्त होनेवाला 'मेड़तणी' शब्द कहला सकता है। झालीरानी भी प्रसिद्ध चित्तौड़ की ही थी और वहाँ के महाराणा की महारानी

---

१ मीरांबाई की पदावली हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० ४८।

२ नाभादास : भक्तमाल छप्पय १७७ पृ० ८८८-९।

३ मीरांबाई की पदावली पृ० ७२-७३।

छोडा। वे उसे अपनी जीविका मान कर सदा चलाते रहे और जो कुछ भी इन्हें उसके द्वारा प्राप्त होता रहा, उससे अपना भरण-पोषण करते रहे। कहा जाता है कि इन्हे अपने लडकपन से ही सत्सग का चसका लग चुका था और १२ वर्ष की अवस्था से ये मिट्टी की बनी 'राम जानकी' की मूर्ति पूजने लगे थे।[१] इस कारण इनके सासारिक भविष्य को उज्वल न होता देख कर इनके पिता ने इन्हे बहुत समझाया-बुझाया और इनमे सुधार के कोई लक्षण न पाकर इन्हे अत में अपने से अलग भी कर दिया। तब से ये अपने पूर्वजो के गृह के पिछवाडे एक छप्पर डाल कर बस गए और वही रह कर अपनी जीविका चलाने लगे। 'रविदास पुरान' के रचयिता परमानद स्वामी ने लिखा है कि इनके एक पुत्र भी थे जिनका नाम विजय दास था। सत रविदास अपने स्वभाव से परम निस्पृह तथा सतोषी थे और उदार भी होने के कारण अपने बनाये जूते ये बहुधा साधु-सतो को यो ही पहना दिया करते थे। इनकी निस्पृहता के सबध मे बहुधा एक प्रसग का भी उल्लेख किया जाता है। प्रसिद्ध है कि एक बार इन्हे किसी साधु ने पारस पत्थर लाकर दिया और इनके जूता सीनेवाले लोहे के औजारो से छुला कर उन्हें सोना बना उक्त पत्थर का उपयोग भी इन्हे बतला दिया। परन्तु रविदास ने उस बहुमूल्य वस्तु को ग्रहण करने से इनकार कर दिया और साधु के बहुत आग्रह करने पर उसे अपने छप्पर मे कही खोस देने के लिए कह दिया। तब से तेरह महीनो के अनतर जब वह साधु वहाँ वापस आया और इनसे उस पत्थर का हाल पूछा, तब इन्होने कहा, "देख लीजिए, जहाँ था वहीं पडा होगा।"

मीराँबाई तथा रैदासजी

इनके बहुत-से अनुयायी महाराष्ट्र तथा राजस्थान मे भी पाये जाते हैं, इस कारण कुछ लोगो ने अनुमान किया है कि ये किसी पश्चिमी प्रात के रहे होगे। किंतु इसके लिए कोई प्रमाण नही मिलता है। जान पडता है कि इनके अनुयायियो का उधर होना इनके भ्रमण वा प्रचार के कारण सभव होगा। मीराँबाई की कुछ रचनाओ के अतर्गत 'गुरु मिलिया रैदासजी दीन्ही ग्यान की गुटकी'[२] तथा 'रैदास सत मिले मोहि सतगुरु, दीन्हा सुरत सहदानी'[३]-जैसे वाक्यो के आने से जान पडता है कि वे इन्हे अपना गुरु स्वीकार करती हुई इन्हे दीक्षागुरु भी कह रही हैं। उनके ये कथन अब तक प्रामाणिक समझे जानेवाले प्राय सभी पद-सग्रहो मे पाये जाते हैं, इसलिए

१ जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स दि चमार्स, रिलिजस लाइफ ऑफ इडिया, पृ० २०८।
२ मीराँबाई की पदावली, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पद २४, पृ० १०।
३ वही, पद १५९, पृ० ५५।

इनकी कुछ फुटकर रचनाओं का एक संग्रह प्रयाग के 'बेलवेडियर प्रेस' से 'रैदासजी की बानी' के नाम से प्रकाशित हुआ है जो संभवतः अधूरा है। इसमें संगृहीत अनेक पद 'गुरुग्रंथ साहब' में आये हुए पदों से मिलते हैं। परन्तु सावधानी के साथ मिलान करने पर कई रचनाओं में बहुत कुछ अंतर भी दीखने लगता है। इन दोनों संग्रहों में आयी हुई रचनाओं की भाषा में भी कहीं-कहीं बहुत अंतर है जो संग्रहकर्ता वा लिपिकर्ता की अपनी भाषा के कारण भी समझ समझा जा सकता है। फिर भी 'गुरुग्रंथ साहब' में आये हुए पदों को उसकी प्राचीनता के कारण कुछ अधिक प्रामाणिक समझा जाय तो अनुचित न होगा। संत रविदास की उपलब्ध रचनाओं में कुछ पद ऐसे भी मिलते हैं जिनमें फारसी भाषा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है और उन्हें इनकी रचना मानते समय कुछ संदेह भी होने लगता है। किंतु फारसी-मिश्रित भाषा वा पूर्णतः फारसी में लिखे गए अनेक पद कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं में भी मिलते हैं और इस भाषा में सबद रचना करने की प्रवृत्ति इन दोनों संतों के अनंतर आनेवाले कई संतों में दीख पड़ती है। इन सभी संतों का फारसी भाषा से परिचित होना अभी तक प्रमाणित नहीं किया जा सका है। न बहुतों के साधारण प्रकार से भी शिक्षित होने का कुछ पता चलता है। ऐसी स्थिति में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ऐसे कुछ संतों की फारसी-मिश्रित रचनाएँ उनके बहुश्रुत होने के कारण भी प्रस्तुत हुई होंगी। हाँ, यह और बात है कि ऐसी अनेक कृतियों का इन संतों के साथ कुछ भी संबंध न हो और वे किन्हीं अन्य व्यक्तियों की रचना होने पर भी इनके संग्रहों में प्रक्षिप्त रूप में आ गई हों। फिर भी जब तक ऐसी रचनाओं की पूरी छान-बीन नहीं हो जाती और उन संतों की बानियों के प्रामाणिक संग्रह प्रकाश में नहीं आते तब तक इस विषय में कोई भी कथन अंतिम नहीं कहा जा सकता। संत रविदास की एक रचना 'प्रह्लाद लीला' नाम से प्रसिद्ध है किंतु अभी तक अप्रकाशित रूप में ही है। इनकी भाषा तथा रचना-शैली द्वारा इसका उनकी रचना होना सिद्ध नहीं होता।

सिद्धांत

संत रविदास हिन्दू-समाज के नियमानुसार नीच कुलोत्पन्न तथा नीच व्यवसाय से अपना जीवन-यापन करनेवाले व्यक्ति थे और इनका दारिद्र्य देख कर लोग बहुधा इनकी हँसी भी उड़ाया करते थे।[1] फिर भी इनके विचार अत्यंत उच्च तथा उदार थे। ये हृदय के सच्चे थे और इसी कारण इन्हें तर्क-वितर्क द्वारा उपलब्ध कोरे ज्ञान से कहीं अधिक सत्य की पूर्ण अनुभूति में ही आस्था थी। ये कहा करते

---

१ गुरुग्रंथ साहब राग बिलावल पद १।

थी। इस कारण उनका भी सबंध मीरांबाई के श्वसुर-कुल से था। कहते हैं कि उन झालीरानी ने काशी जाकर संत रविदास का शिष्यत्व ग्रहण किया था और चित्तौड लौट कर इन्हे उन्होने अपने यहाँ निमंत्रित किया था। उनके समक्ष संत रविदास का ठाकुरजी की मूर्ति को अपनी ओर आकृष्ट करना, पडितो का शास्त्रार्थ मे इनसे पराजित होना, भोजन करते समय ब्राह्मणो की पक्ति मे अनेक स्थलो पर इनका स्वय भी दीख पडना तथा उल्लिखित प्रसगानुसार इनका अपने शरीर के चमडे के नीचे से यज्ञोपवीत प्रदर्शित करना-जैसी घटनाएँ[1] इनकी चित्तौड-यात्रा से ही सबद्ध हैं। इन चमत्कारपूर्ण बातो की सत्यता के विषय मे जो भी सदेह किया जा सके, इन्हे झालीरानी का गुरु मान लेने मे अधिक कठिनाई न होगी। काशी जैसे प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान का निवासी होने के कारण इनकी ख्याति दूर तक सरलतापूर्वक फैल गई होगी। इस प्रकार उक्त झालीरानी को भी इनके उपदेश ग्रहण करने के लिए आना पड गया होगा। इन झालीरानी को कुछ लोग महाराणा साँगा (स० १५३९-१५८४ वि०) की धर्मपत्नी समझते हैं। इस विचार से संत रविदास का समय विक्रम की सोलहवी शताब्दी के प्राय अत तक चला जाता है जो असभव नही जान पडता। यो तो यदि झालीरानी को कुछ लोगो के अनुसार राणा कुभा (स० १४९०–१५२५) की पत्नी मान लिया जाय तो यह समय इसके पहले भी लाया जा सकता है। श्री रामचरण कुरील ने इनके जीवन-काल का स० १४७१ (माघी पूर्णिमा रविवार) से लेकर स० १५०७ (चैत्र वदी चतुर्दशी) तक होना माना है, किंतु वे इसके लिए किसी ऐतिहासिक तथ्य को आधार-स्वरूप प्रस्तुत करते नही जान पडते।[2]

रचनाएँ

संत रविदास की शिक्षा आदि के विषय मे कुछ भी पता नही चलता और अधिकतर यही सभव जान पडता है कि ये अशिक्षित रहे होगे। फिर भी इनकी रचना समझे जानेवाले अनेक पद कई भिन्न-भिन्न सग्रहो मे पाये जाते हैं। इनसे इनके विचारो के विषय मे अनुमान करने के लिए हमे यथेष्ट सामग्री मिल जाती है। कहा जाता है कि इनकी बहुत-सी रचनाएँ राजस्थान की ओर अभी तक हस्त-लिखित रूप मे पडी हुई हैं और उनकी सख्या कम नही है। किंतु अभी तक उन्हे एकत्र कर किसी प्रामाणिक सग्रह के रूप मे प्रकाशित नही किया गया है, न जहाँ तक पता है, कोई योग्य पुरुष इसके लिए यत्न करते हुए ही सुने जाते हैं।

---

१ नाभादास : भक्तमाल, कवित्त २५९-६७ प्रियादास।

२ दे० भगवान् रविदास की सत्यकथा (विशेष कथन)

तथा मिथ्यामात्र है। वही एकमात्र अक्षर तथा अविनश्वर है और हमारे भीतर वही जीवात्मा के रूप में स्थित है किंतु भ्रम के कारण हमें उसका बोध नहीं होता।

भक्त की समस्या

उक्त भ्रम वा अज्ञान ही सब दुःखों का कारण है और उसे निर्मूल करना हमारा परम कर्त्तव्य है। परन्तु यह किस प्रकार किया जाय।[1] कभी-कभी हम देखते हैं कि लोग इसके लिए धर्म का निरूपण किया करते हैं और वेद-पुराणादि के आधार पर कर्म-अकर्म पर विचार करते हुए विधि-निषेधों के नियम स्थिर करते हैं। किंतु बाह्य बातों में व्यवस्था आ जाने पर भी केवल इसी के द्वारा भीतरी शांति नहीं मिलती और हृदय का संशय ज्यों का त्यों बना रह जाता है।[2] इसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि इस संसार में अपना जीवन-यापन करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को सदा काम क्रोध लोभ तथा मोह की प्रवृत्तियों से काम लेना पड़ता है जिन सभी के मूल में भ्रम वर्तमान है। इसलिए मानव-समाज में रहते हुए जब कभी हम उसकी उपेक्षा कर भक्ति की शरण में आना चाहते हैं तब इसकी प्रतिक्रिया के रूप में आसक्ति प्रबल हो उठती है। जब आसक्ति के प्रभाव में आ जाते हैं तब उससे छुटकारा पाकर भक्ति की ओर भाग पड़ने को जी चाहता है। इन दो परस्पर विरोधी बातों के फेर में पड़कर हम कष्ट झेला करते हैं और समझ में नहीं आता कि क्या करें। सबसे बड़ी समस्या तो हमारे सामने तब आती है जब उक्त द्वन्द्व से बचने के लिए विवश होकर हम अपने को सभी प्रकार से भगवान् के ऊपर छोड़ देना चाहते हैं और हमें उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो पाता। आश्चर्य है कि सबके भीतर और सबके बाहर निरंतर विद्यमान रहता हुआ भी वह हमारे अनुभव में क्यों नहीं आया करता।[3]

साधना

संत रविदास की उपलब्ध रचनाओं के अंतर्गत हमें इनकी किसी साधना विशेष के स्पष्ट विवरण नहीं मिलते। जहाँ-तहाँ प्रसंगवश संकेतों के रूप में व्यक्त किये गए इनके विचारों से जान पड़ता है कि इनकी 'प्रेम भगति' का वास्तविक मूलाधार अहंकार की निवृत्ति है। ये अभिमान वा साधारण मान तथा 'बड़ाई' तक को भक्ति का एक प्रबल बाधक मानते हैं। कहते हैं कि दोनों एक साथ कदापि नहीं रह सकते न 'अहं' के किसी रूप में भी रहते हमें

---

१ रैदासजी की बानी बे प्रे प्रयाग शब्द ५४ पृ २५।
२ वही पद २३ पृ १४।
३ वही पद ७५, पृ ३७।

थे कि इस प्रकार ही 'राम' का परिचय पाने पर 'दुविधा' [illegible]
का रहस्य जान लेने पर मनुष्य जल के ऊपर तूंबे की भाँति [illegible]
करता है। जब तक यह 'परम वैराग' की स्थिति प्राप्त नही होती, [illegible]
के नाम पर की जानेवाली सारी साधनाएँ केवल भ्रम-मात्र कहा [illegible]
स्वर्ण की शुद्धि उसके पीटे जाने, काट कर टुकडे-टुकडे किये जाने, [illegible]
वा केवल तपाये जाने से ही नही, प्रत्युत उसका सयोग सोहागे के साथ [illegible]
हुआ करती है। उसी प्रकार हमारे भीतर का निर्मलत्व भी सत्य की पूरी पहचान
हो जाने पर ही निर्भर है। जब तक नदी समुद्र मे जाकर प्रवृष्ट नही हो जाती, तब
तक उसमे बेचैनी रहा करती है। समुद्र के साथ मिलन होते ही उसकी 'पुकार'
मिट जाती है और उसे शाति तथा स्थिरता का अनुभव होने लगता है। तभी उसके
जीवन की सफलता की सिद्धि होती है। हमारे भीतर भ्रम का दोष आ गया है जिस
कारण हम अपनी वास्तविक दशा की पहचान नही कर पाते। उस राजा की
भाँति दु ख का अनुभव करते रहते हैं जिसने स्वप्न मे अपने को भिखारी समझ कर
अनेक प्रकार के कष्ट झेले और जिसकी स्थिति उसके जग जाने पर ही सुधर सकी।

सत्य का परिचय

परन्तु वह 'सत्य' वा 'राम' कौन-सी वस्तु है जिसे हम अपने भ्रम का निवारण
हो जाने पर उपलब्ध करते हैं। सत रविदास ने सत्य का रूप बतलाते हुए उसे 'जस
हरि कहिये तस हरि नाही, है अस जस कछु तैसा' अर्थात् अनुपम तथा अनिर्वचनीय
कहा है। फिर भी ये उसका परिचय कई प्रकार से देते हुए दीख पडते हैं। इनका
कहना है कि वह आदि, मध्य तथा अत अर्थात् सर्वत्र एकरस है और चर, अचर आदि
सभी मे एक ही प्रकार किसी मणिमाला मे अनुस्यूत सूत्र की भाँति ओत-प्रोत है।
वास्तव मे वही एकमात्र है और सारा दृश्यमान ससार उसके भीतर वैसा ही लक्षित
होता है जैसा जल-राशि मे उसकी तरगें समझ पडती हैं। एक ही स्वर्ण के भिन्न-
भिन्न अलकार पृथक्-पृथक् जान पडते हैं और किसी पत्थर में गढ दी गई अनेक
प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं। वह न तो उत्पन्न होता है, न नष्ट ही
होता है, अपितु नित्य तथा निराकार बना हुआ सबके भीतर अलक्षित और निर्वि-
कार की दशा में वर्तमान रहता है। जिस प्रकार दर्पण मे प्रतिबिंब दीख पडता
है, समुद्र मे आकाश-स्थित वस्तुओ की छाया प्रतिभासित होती है तथा गध का
अनुभव वायु से हुआ करता है, किंतु इन सबके होते हुए भी उक्त दर्पण, समुद्र
तथा वायु क्रमश प्रतिबिंब, छाया और गध मे अछूते तथा निर्लिप्त रहा करते हैं,
उसी प्रकार समूचे दृश्यमान ससार का मूल आधार होने पर भी ब्रह्म सदा उनसे
अप्रभावित रहा करता है। इस नित्य-वस्तु मे प्रतिमासित होने पर भी वे अनित्य

महत्त्वपूर्ण है और उसके अनुसार गार्हस्थ्य-जीवन में लगे हुए लोग भी क्रमशः अग्रसर होते हुए एक अनुपम आदर्श की स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। संत रविदास को एक दीर्घजीवन की साधना का अनुभव प्राप्त था और इन्होंने सभी प्रकार की चेष्टाएँ करके अपना मार्ग अंत में निश्चित किया था।[1] दुःख की बात है कि इनकी शिष्य-परंपरा में अब कोई वैसा श्रेष्ठ साधक नहीं मिलता न इनकी सभी प्रामाणिक रचनाएँ ही उपलब्ध हैं।

महत्त्व

'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास ने संत रविदास के विषय में लिखते हुए कहा है कि इन्होंने सदाचार के जिन नियमों के उपदेश दिये थे वे वेद-शास्त्रादि के विरुद्ध न थे और उन्हें नीर-क्षीर-विवेकवाले महात्मा भी अपनाते थे। इन्होंने भगवत्कृपा के प्रसाद से अपनी जीवितावस्था में ही परमगति प्राप्त कर ली थी। इनके चरणों की धूलि की वंदना लोग अपने वर्णाश्रमादि का अभिमान त्याग कर भी किया करते थे। रविदास की विमल वाणी संदेह की ग्रंथियों के सुलझाने में परम सहायक है।[2]

रैदासी सम्प्रदाय   महत्त्व

संत रविदास के नाम पर एक रविदासी तथा रैदासी सम्प्रदाय का भी प्रचलित होना बतलाया जाता है और कहा जाता है कि उसके अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक है। परन्तु इस प्रकार के किसी सुसंगठित पंथ का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है न उसके प्रसिद्ध मठों वा मठधारी महंतों का ही कोई ऐतिहासिक परिचय मिलता है। जहाँ तक पता है स्वयं रविदास ने किसी ऐसे सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की थी किन्तु ब्रिग्स साहब ने किसी रैदासी सम्प्रदाय के अनुयायियों का पंजाब राज्य के गुड़गाँव तथा रोहतक जिलों और दिल्ली राज्य के भी अनेक भागों में एक बड़ी संख्या में वर्तमान होना लिखा है। उन्होंने गुजरात में उनका 'रविदासी' कहला कर प्रसिद्ध होना भी बतलाया है।[3] परन्तु वे इनका परिचय इससे अधिक देते हुए नहीं जान पड़ते। इतना अवश्य प्रसिद्ध है कि काठियावाड़ में जूनागढ़ से तीस मील की दूरी पर 'चावंड' स्टेशन के पास एक रविदास कुंड है और उस क्षेत्र में इनके बहुत-से अनुयायी भी पाये जाते हैं तथा

---

१ नाभादास : भक्तमाल छप्पय ५९।

२ वही छप्पय ५९।

३ जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स : दि चमार्स रिलिजस लाइफ ऑफ इंडिया सिरीज पृ० २१।

भगवान् की कभी उपलब्धि हो सकती है। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए हमें चाहिए कि सभी बातो की आशा का त्याग कर केवल उसी एक मे अपनी सारी वृत्तियो को केन्द्रित कर दे। उसी एक लक्ष्य की प्राप्ति के उपलक्ष में अपना सर्वस्व तक अर्पित कर अपने आपको भूल जायँ। हम उसके लिए आर्त्त तथा बेचैन हो उठें और अपनी सारी ज्ञानेन्द्रियो को उसी एक की टोह में लगा कर मन को भी उसी की प्रतीक्षा में बद्ध कर दें। तदनुसार एकातनिष्ठा के फलस्वरूप हमें क्रमश तादात्म्य का अनुभव होने लगगा और अत में हमें अपने उद्देश्य की सिद्धि हो जायगी। सत रविदास का कहना है कि "वास्तविक परिचय प्राप्त करने का रहस्य केवल सच्ची 'सोहागिन' ही जानती है जो अपना तन-मन सभी कुछ न्योछावर कर देती है और अभिमान का कुछ भी अश अपने भीतर नही रखती, न भेद-भाव को ही कभी प्रश्रय देती है। अपने पति के साथ निरतर एक भाव से प्रेम न करनेवाली स्त्री सदा दु खिनी तथा 'दुहागिन' हुआ करती है।[1]

अष्टाग-साधन

प्रसिद्ध है कि कबीर साहब ने रैदासजी को 'सतनि में रविदास सत है' कह कर किसी समय इनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की थी। उन्होने सत-मत के अनुसार सच्चे मार्ग का पता देनवाला भी इन्ही को बतलाया था जिसके आधार पर कभी-कभी इनके उनसे अवस्था मे बडे होने तक का अनुमान कर लिया जाता है।[2] कुछ लोग इसी प्रसग के आधार पर सत रविदास की मुख्य साधना का पता लगाने की भी चेष्टा करते है। 'गुरु-परपरा-क्रम' से प्रचलित उसके अगो की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि उसका नाम कदाचित् 'अष्टाग-साधन' था और उसके आठ अग इस प्रकार थे १ गृह, २ सेवा, ३ सत उसके बाह्य अग थे, ४ नाम, ५ ध्यान, तथा ६ प्रणति उसके भीतरी अग थे और ७ प्रेम तथा ८ विलय अथवा समाधि उसकी अतिम अवस्था को सूचित करते थे जिनके द्वारा साधक ब्रह्म मे लीन होकर पूर्ण सिद्ध वा सत बन जाता है।[3] इस अष्टाग-साधन का अधिक परिचय नही मिलता, न इस विषय में विस्तार के साथ कहने के लिए कोई सकेत ही उपलब्ध है। फिर भी स्पष्ट है कि उक्त मार्ग का प्रत्येक अग अत्यत

---

१ गुरुग्रथ साहब, तरणतारण सस्करण, राग सूही, पद १।

२ स्वामी रामानद शास्त्री और वीरेन्द्र पाण्डेय सत रविदास और उनका काव्य, ज्वालापुर ११५५ ई०, पृ० ८१।

३ विश्वभारती पत्रिका, कार्त्तिक-पौष, स० २००२, पृ० २१५।

तो इनमें सबसे छोटे और पीछे तक जीवित रहनेवाले सिद्ध होते हैं। मेकालिफ ने इनके जन्म-काल का सन् १४१५ अर्थात् सं० १४७२ में होना अनुमान किया है, जो कुछ पहले जान पड़ता है[1]। इनके स्वामी रामानंद का समकालीन होने तथा उनसे संपर्क में आने की बात का समर्थन किसी प्रकार भी नहीं होता। इनके विषय में सबसे प्रथम उल्लेख मीराँबाई ने किया है और उसमें निर्दिष्ट चमत्कार-पूर्ण बातों के कारण तथा उक्त सभी प्रश्नों पर विचार करते हुए हमें उचित जान पड़ता है कि इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रथम अथवा द्वितीय चरण तक मानें।

जीवनी

ये राजस्थान के टोंक इलाके के अंतर्गत किसी धुअन या धुवान गाँव में रहा करते थे जो छावनी देवली से बीस मील की दूरी पर है। इनका पैतृक व्यवसाय कृषि का था और इनके परिवार की स्थिति साधारण थी। गुरु अर्जुनदेव ने इनके संबंध में कहा है कि इन्होने 'बाळबुधि' के अनुसार भगवद्-भक्ति की थी[2] और यह बात प्रसिद्ध भी है कि इन्हें भगवत् के दर्शन बहुत कम अवस्था में ही हुए थे। इनके संबंध में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ भी प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक के अनुसार इन्होंने भगवान् की मूर्ति को हठात् भोजन कराया था। एक अन्य प्रसिद्धि के अनुसार एक बार इन्होंने खेत डालने के लिए सुरक्षित गेहूँ के बीज को अपने घर आये हुए हरि भक्तों को खिला दिया और अपने पिता के रुष्ट होने के भय से खेत में जाकर यों ही हल चला आये। नाभादास कहते हैं कि इनके भजन का प्रभाव ऐसा था कि उस खेत में बिना बोये ही बीज उग आये और उसकी फसल भी बहुत अच्छी हुई[3]। 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास ने इस विषय का और भी विशद रूप में वर्णन किया है और अन्य चरित-लेखकों ने भी धन्ना के संबंध में लिखते समय उस घटना की चर्चा की है।

स्वभाव

इनका एक सरस हृदय गृहस्थ तथा किसान होना इनके एक भिन्न रचित पद से भी प्रसिद्ध है। वहाँ पर ये कहते हैं कि हे भगवन्, मैं तेरी आरती करता हूँ। तू अपने भक्तों के मनोरथपूर्ण किया करता है। अतएव मैं भी तुमसे अपने लिए कुछ माँग रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि तू मुझे आटा दाल और घी दे जिसे

---

१ मेकालिफ 'सिक्ख रिलिजन' वाल्यूम ५, पृ० १०६।

२ गुरुग्रंथ साहब "कलसंविया बाळबुधि" पृ० ११९२।

३ "धन्य धन्ना के भगति की बिनहि बीज अंकुर भयो।" ६२।

जैसा मैंने अन्यत्र भी कहा है, वहाँ के 'रविभाण सम्प्रदाय' के साथ इनका कोई स्पष्ट सबध भी नही सूचित होता। साध-सम्प्रदाय के लिए प्रसिद्ध है कि उसके प्रधान प्रवर्त्तक का सबध सत रविदास की ही शिष्य-परपरा से था। इस प्रकार उस पर इनके न्यूनाधिक प्रभाव का भी होना अनिवार्य है। किन्तु उक्त सम्प्रदाय के उपलब्ध इतिहास अथवा उससे सबद्ध किसी महत्त्वपूर्ण साहित्य से भी इस बात पर पूर्ण प्रकाश नही पडता। अतएव अनुमान किया जा सकता है कि रैदासी वा 'रविदासी सम्प्रदाय' शब्द अधिकतर चमार जाति के उन व्यक्तियो के ही समूह का द्योतक है जो किसी-न-किसी प्रकार का एक धार्मिक जीवन व्यतीत करते है और जो इसी कारण साधु वा सत-कोटि के पुरुष भी माने जाते है। यो तो इस समय प्राय सभी चमार अपनी प्रतिष्ठा बढाने के उद्देश्य से अपने को 'रैदास' वा 'रैदासी' कहते हुए पाये जाते हैं और अपनी जाति के सगठन तथा सुधार की प्रवृत्तिवाले इनके नेता इस प्रकार के नामो के आधार पर विविध सामाजिक तथा राजनीतिक आदोलन भी किया करते हैं।

५ धन्ना भगत समय

धन्नाजी ने अपने को अपनी एक रचना में जाट जाति का होना स्वीकार किया है और यह भी बतलाया है कि "गोविंद में सदा लीन रहने वाले छीपी नामदेव की महत्ता, तनना-बुनना छोडकर भगवान् के चरणो में प्रीति करनेवाले जुलाहे कबीर के गुण, मृत पशुओ को ढोकर सदा व्यवसाय करनेवाले चमार रविदास के माया-त्याग तथा घर-घर जाकर बाल बनानेवाले सेन नाई की भक्ति का हाल सुन कर मैं भी भक्तिमार्ग की ओर आकृष्ट हुआ। मेरे भाग्य जगे और मुझे भी मालिक के दर्शन हो गए"[१]। इस कथन से जान पडता है कि उक्त नामदेव, कबीर, सेन तथा रैदास, धन्ना के समय तक प्रसिद्ध हो चुके थे और उन्ही के आदर्श पर इन्होंने सर्व प्रथम भक्ति-साधना के क्षेत्र में पदार्पण किया था। इन्होने स्वामी रामानद का नाम अपनी किसी उपलब्ध रचना में नही लिया है। फिर भी प्रसिद्ध है कि ये भी उक्त कबीर, सेन तथा रैदास की भाँति, उन स्वामीजी के बारह शिष्यो में से एक थ और इस बात का उल्लेख नाभादास ने भी अपनी 'भक्तमाल' में किया है। परन्तु जैसा उन सतो के विषय में भी कहा जा चुका है, उनमें से भी किसी के रामानद के शिष्य होने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही मिलता। इसके सिवाय ये सभी लोग पूर्णत समकालोन भी नही जान पडते और धन्नाजी

---

१ गुरुग्रथ साहब, तरणतारण सस्करण, रागु आसा, पद २, पृ० ४८७-८।

तो इनमें सबसे छोटे और पीछे तक जीवित रहनेवाले सिद्ध होते हैं। मेकालिफ ने इनके जन्म-काल का सन् १४१५ अर्थात् सं १४७२ में होना अनुमान किया है, जो कुछ पहले जान पड़ता है[१]। इनके स्वामी रामानंद का समकालीन होने तथा उनसे संपर्क में आने की बात का समर्थन किसी प्रकार भी नहीं होता। इनके विषय में सबसे प्रथम उल्लेख मीराँबाई ने किया है और उसमें निर्दिष्ट चमत्कार-पूर्ण बातों के कारण तथा उक्त सभी प्रश्नों पर विचार करते हुए हमें उचित जान पड़ता है कि इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रथम अथवा द्वितीय चरण तक मानें।

जीवनी

ये राजस्थान के टौंक इलाके के अंतर्गत किसी धुअन या धुवान गाँव में रहा करते थे जो छावनी देवली से बीस मील की दूरी पर है। इनका पैतृक व्यवसाय कृषि का था और इनके परिवार की स्थिति साधारण थी। गरु अर्जुनदेव ने इनके संबंध में कहा है कि इन्होंने 'बाल्बुधि' के अनुसार भगवद्-भक्ति की थी[२] और यह बात प्रसिद्ध भी है कि इन्हें भगवत् के दर्शन बहुत कम अवस्था में ही हुए थे। इनके संबंध में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ भी प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक के अनुसार इन्होंने भगवान् की मूर्ति को हठात् भोजन कराया था। एक अन्य प्रसिद्धि के अनुसार एक बार इन्होंने खेत डालने के लिए सुरक्षित गेहूँ के बीज को अपने घर आये हुए हरि भक्तों को खिला दिया और अपने पिता के क्रुद्ध होने के भय से खेत में जाकर यों ही हल चला आये। नाभादास कहते हैं कि इनके भजन का प्रभाव ऐसा था कि उस खेत में बिना बोये ही बीज उग आये और उसकी फसल भी बहुत अच्छी हुई[३]। 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास ने इस विषय का और भी विशद् रूप में वर्णन किया है और अन्य चरित-लेखकों ने भी धना के संबंध में लिखते समय उस घटना की चर्चा की है।

स्वभाव

इनका एक सरल हृदय गृहस्थ तथा किसान होना इनके एक भिन्न रचित पद से भी प्रसिद्ध है। वहाँ पर ये कहते हैं कि "हे भगवन्, मैं तेरी आरती करता हूँ। तू अपने भक्तों के मनोरथपूर्ण किया करता है। अतएव मैं भी तुमसे अपने लिए कुछ माँग रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि तू मुझे आटा दाल और घी दे जिसे

---

१ मेकालिफ सिक्ख रिलिजन वाल्यूम ५, पृ १ ६।

२ पुरातन साहब "धनासिया बाल्बुधि" पृ ११९२।

३ "धन्य धना के भगति की बिनहि बीज अंकर भयो।" ६२।

खाकर मेरा चित्त सदा प्रसन्न रहा करे। मेरी यह भी इच्छा है कि तेरी कृपा से मुझे पहनने के लिए जूता और कपडा भी मिल जाय, मेरे खेत में अच्छा अन्न पैदा हुआ करे और मेरे घर अच्छी लगहर दूध देनेवाली गाय, भैंस तथा एक तेज चरनेवाली अच्छी घोडी भी रहा करे। मैं इन सबके साथ अपने घर में रहनेवाली एक सुदरी स्त्री भी चाहता हूँ।"[1] इससे पता चलता कि य घर से कभी विरक्त नही रहे, अपितु सदा अपने पैतृक व्यवसाय मे लगे हुए ही भगवद्भजन करने का आदर्श अपने जीवन के लिए कल्याणकारक समझते रहे। इनके सासारिक जीवन की घटनाओ का पता हमें अभी तक नही चला, न आज तक यही विदित हो सका कि इन्होने किन-किन पदो की रचना की थी। इनके केवल तीन पद गुरु अर्जुनदेव द्वारा सपादित 'आदिग्रथ' में सगृहीत हैं जिनमें से दो के विषयो का सकेत ऊपर दिया जा चुका है।

सिद्धात

इनके शेष दो पदो में हमें इनके आध्यात्मिक जीवन के आदर्श की भी एक झलक मिल जाती है। ये कहते है कि 'आवागमन' मे ही अनेक जन्म व्यतीत हो गए, किंतु अभी तक शाति नही मिली। लोभ तथा काम की ओर सदा प्रवृत्त रहनेवाले मन के कारण भगवान् को भी भूल गया। अपने कल्याण की बातो से अनभिज्ञ मन को विषय का फल भी मधुर प्रतीत होता है और उसकी प्रीति सद्‌गुणो से भी हट जाती है। वास्तविक युक्ति को जान कर उसे अपने हृदय मे अपनाते नही बनता और यमराज के यहां व्यर्थ की ठोकरें खानी पडती है।- जिसके हृदय मे सद्‌गुरु की कृपा से ज्ञान का प्रकाश हो गया, उसका मन एक-निष्ठ हो जाता है और वही 'प्रेम भगति' को पहचान पाता है और वही अत मे मुक्ति का अधिकारी भी होता है। अतर्ज्योति के प्रकट हुए बिना प्रभु धन पहचान भी कभी सभव नही और धन्ना भी इसी प्रकार अपने 'धरणीधर' को पाकर सतो की श्रेणी में प्रविष्ट हुआ[2]। इसी प्रकार ये अपने मन को सबो-धित करके भी कहते हैं कि "अजी, तू ऐसा क्यो नही समझ लेता कि 'दयालु दामोदर' के अतिरिक्त अन्य को महत्त्व देकर घूमना-फिरना व्यर्थ है। समझ लो कि जो भगवान् करते हैं, वही होता है और इसमें किसी का भी चारा नही। वह मालिक ऐसा है जो माता के गर्भ में ही पानी से मानव-शरीर को भी रचता है। कुभी का पौधा जल में बिना किसी आधार के भी फैलता है। भगवान्

---

१ गुरुग्रथ साहब, तरणतारण, धनासरी पद १, पृ० ६९५।

२. वही, आसा पद १, पृ० ४८७।

की महिमा सोचने-समझने की बात है। धन्ना का कहना है कि "रे जीव मुझे अपनी चिंता भी न करनी चाहिए क्योंकि वास्तव में छिद्रहीन पत्थर के भीतर भी उसका कीड़ा भली भाँति सुरक्षित तथा जीवित रह जाता है[१]। धन्ना के इन सीधे-सादे शब्दों से इनके सरल हृदय तथा सच्चे ईश्वर विश्वास की एक सुंदर झाँकी मिल जाती है।

(९) संत मतिसुंदर

मतिसुंदर कौन ?

कबीर साहब के समसामयिक संतों में एक मतिसुंदर के भी होने का अनुमान किया गया है और इसके आधार-स्वरूप स्वयं उन्हीं की एक रचना प्रस्तुत की गई है जो कई प्रामाणिक संग्रहों में भी पायी जाती है। यह कबीर साहब के एक पद के रूप में है और इसका पाठ 'कबीर-ग्रंथावली' के इधरवाले एक नवीनतम संशोधित संस्करण[२] के अनुसार इस प्रकार है

> मेरी मति बउरी मैं राम बिसार्‌यो केहि बिधि रहनि रहउँ रे।
> सजे रमत नैन माँहि पेखउँ यहु दुख कासौं कहउँ रे ॥टेक॥
> सासु की दुखी ससुर की पिआरी जेठ कै तरसि डरउ रे।
> ननद सुहेली गरब गहेली देवर के बिरह जरउ रे ॥१॥
> बापु सावका करै लराई, माया मद मतवारी।
> सगौ भईया लै सीक चढ़िहूँ तबही नाह पिआरी ॥२॥
> सोचि बिचारि देखौ मन माँही औसर आइ बन्यौ रे।
> कहैं कबीर सुनहुँ मतिसुंदर, राजाराम रमौ रे ॥३॥[३]

यहाँ पर कहा जाता है कि अंतिम पंक्ति के द्वारा कबीर साहब ने किसी 'मतिसुंदर' नामक व्यक्ति को 'राम' के अपनाने का उपदेश दिया है। 'सभा'वाले संस्करण में 'मतिसुंदर' की जगह 'मति सुंदरि' शब्द का प्रयोग देखा जाता है किंतु 'राजस्थान के विभिन्न स्थलों पर अनेक पंचवाणी प्रतियों का पाठ मिलान करने पर ज्ञात होता है कि अधिकांश में 'मतिसुंदरि' के स्थान पर 'मतिसुंदर' ही पाठ है। 'मति' को यहाँ पर बुद्धि के अर्थ में ग्रहण करने पर 'सुंदरि' विशेषण मानने के कारण व्याकरण की असंगति का भय भी माना गया है।[४] अतएव

१ गुरुग्रंथ साहब, आसा घर ३ पृ ४८८।

२ कबीर-ग्रंथावली सं डॉ पारसनाथ तिवारी हिंदी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग अक्टूबर १९६१।

३ वही पृ ८।

४ डा पारसनाथ तिवारी: 'महात्मा मतिसुंदर' शीर्षक लेख 'हिंदी-अनुशीलन'

इस पक्ति के 'मतिसुदर' को किसी व्यक्ति विशेष का नाम स्वीकार कर लेने मे यो कोई आपत्ति नही की जा सकती। प्रश्न केवल इतना ही है कि फिर यहाँ पर कवीर साहव के 'मेरी मति वउरी' कहने अर्थात् अपनी मति को पगली वतला कर उसके कारण पछताने तथा अपनी आतरिक स्थिति का चित्रण कर उसके परिवर्तनार्थ यत्न करने की सार्थकता क्या रह जाती है? क्या यहाँ पर उनके अपनी 'मति वउरी' को सवोधित करके उसे 'सोच विचार कर मन मे देखने' तथा "मैं 'अपने सगौभइया' (सहजभाव) के साथ "सलि चढहूँ (सतीत्व साधन कर लूँगी)" कहकर उसे आश्वस्त वन कर ऐसे सुअवसर से लाभ उठाने के लिए आग्रह करने का अर्थ भी सूचित नही होता? और क्या इस पद की समुचित व्याख्या के निमित्त यहाँ पर किसी व्यक्ति की कल्पना भी करना वास्तव में, आवश्यक है? इस दूसरे प्रकार के भावार्थ को स्वीकार कर लेने पर तो, 'मतिसुदर' की अपेक्षा 'मतिसुदरि' शव्द ही यहाँ पर अधिक उपयुक्त जँचेगा। 'मति वउरी' शव्द तक भी कदाचित्, सवोधन के लिए उद्दिष्ट समझा जाने लगेगा और 'सुदरि' तथा 'वउरी' इन दो दो विशेषणो के 'मति' सज्ञा के अनतर प्रयोग में आने के कारण यहाँ पर हमें कोई उतनी व्याकरण की असगति भी नही दीख पडेगी।

कुछ परिचय और सभावना

अतएव डॉ० तिवारी के उपर्युक्त प्रस्ताव को अन्य यथेष्ट प्रमाणो के अभाव मे, निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेना ठीक न होगा। 'मतिसुदर' नाम वाले किसी एक सत की उन्हें तीन रचनाएँ भी मिली है जो एक से अधिक सग्रहो मे से ली गई है। इनमें से एक पद 'राग मारू' का है और दो राग गौडी के है। इन तीनो की रचना-शैली इस प्रकार की है जिससे इनके रचयिता के कोई सत-परपरा का व्यक्ति होने में सदेह करने की हमें आवश्यकता नही प्रतीत होती। 'राग मारू' वाले पद का विषय 'रामनाम' की महत्ता का प्रतिपादन जान पडता है और इसके द्वारा उसके स्मरण का उपदेश दिया गया भी दीख पडता है। इसी प्रकार 'राग गौडी' वाले एक पद का विषय 'प्रेम-भक्ति' का कठिन साधना होना तथा फिर उसी का राम द्वारा अधिक पसद भी किया जाना है और दूसरे[1] का विषय, 'चचल' तथा 'विष की वेलडी' माया के प्रति उपेक्षा भाव रखते

जन, १९५७ ई०, पृ० २७–८।

१ 'चचलमाया रहौ भावै जाव, गोविंदो जनि बीसरौ रे ॥टेक॥
माया विष की वेलड़ी रे, कुसुम विषै विकार।
इह चितवनि जाकै चित रहै, जाकूं भाई दुख सुख वारवार ॥१॥

हुए, अपने चित्त को 'चतुर्भुज' में लीन करने की सराहना है । परन्तु, इनमें से किसी के भी द्वारा हमें इनके रचयिता का कोई व्यक्तिगत परिचय नहीं प्राप्त होता न इनके आधार पर हमे इतना कहने का भी कोई सूत्र मिल पाता है कि उसका आविर्भाव अमुक समय में हुआ होगा । उक्त 'राम-भक्ति' वाले पद का जिन तीन हस्तलिखित प्रतियों में पाया जाना बतलाया गया है उनमें से सर्वाधिक प्राचीन प्रति सं १७१५ की है[1] । इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उसका निर्माता अधिक से अधिक उस समय से पहले रहा होगा जिस दशा में उसका १७ वीं अथवा कबीर साहब का समसामयिक होने की दृष्टि से उसका १६ वीं शताब्दी तक में भी वर्तमान रहना कोई असंभव बात नहीं है। किसी 'मतिसुंदर' के कुछ पदो का एक वाणी-संग्रह' (लिपि-काल सं १८२९ बृहस्पतिवार, शुक्लपक्ष पौष सुदी १२) के अंतर्गत संगृहीत होना भी बतलाया गया है ।[2] किन्तु उनके उद्धरण न देख पाने के कारण इस विषय में अधिक नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार, एक रचना 'विक्रम वेलि' के कवि 'मतिसुंदर' के संबंध में भी कहा जा सकता है कि उसके संत मतिसुंदर होने की संभावना अधिक नहीं है । सर्वप्रथम यह 'कलियुग माँहि,विक्रमरायनो सोइग सुंदर महिमा माने वाला है । इसके सिवाय उसकी उक्त रचना में दिये गए समय 'सं १७२४ आषाढ कृष्ण १'[3] से भी ऐसा लगता है कि यह कोई भिन्न व्यक्ति रहा होगा । ऐसी दशा में उपर्युक्त तीनों पदो के रचयिता 'मतिसुंदर' को कबीर कालीन मान लेने का भी कोई आधार हमें अभी तक उपलब्ध नहीं है । परन्तु यह असंभव नहीं कि इस नाम के कोई संत १६ १७ वीं शताब्दी मे हुए हों

एक कनक अरु कामिनी सूं कर अधिक पियार।
य कबहूं नरहरि भज ताके बरसन पर उपगार ॥२॥
अष्टसिद्धि नवनिधि सदा, हरिसजन के आधीन।
कह मतिसुन्दर सोई अलमा जाके विसारे चतुर्भुज लीन ॥३॥
—हिन्दी अनुशीलन पृ ९८ पर उद्धृत १५ ।

१ इन तीन प्रतियों में से एक सं १८५६ में लिखी गई है और शेष दो के लिपि काल क्रमशः सं १८५४ तथा सं १७१५ है। वे हि अनु पाद टिप्पणी पृ ९८।

२ राजस्थान में हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज तृतीय भाग, 'साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, पृ २ ८।

३ वही, पृ २ ९।

और वे कबीर साहब के सपर्क तक में भी कभी आये हो। इस अनुमान का समर्थन इस प्रकार भी होता जान पडता है कि नाभादास की 'भक्तमाल' (रचना-काल समवत स० १६४२) के छप्पय, स० ९७ के अतर्गत उल्लिखित नाम में भी हमे किसी ऐसे भक्त मतिसुदर का नाम आ गया प्रतीत होता है जिन्होने सासारिक प्रपचो की कोई परवा न की होगी।[1]

(७) सत नद ऋषि वा शेख नूरुद्दीन

सक्षिप्त परिचय

सत नद ऋषि वा शेख नूरुद्दीन का पूर्वनाम सहजानद बतलाया जाता है और कहा जाता है कि इनका जन्म स० १४३४ मे ठीक 'बकरीद' के दिन श्रीनगर कश्मीर प्रदेश से २८ मील पूर्वोत्तर बसे हुए किसी 'कैमूह' नामक गाँव में हुआ था जिसे उस समय 'कटीमुश' कहा जाता था और इनके पिता का नाम 'सालार साँज' था जो किस्तवार के क्षत्रिय राजा के कुल के थे। सहजानद की माता सदरा वा सदरा मोजी (देद्दी) भी राजपूत वश की ही थी तथा सालार साँज के साथ उनका विधवा-विवाह हुआ था। इन दोनो ने क्रमश किसी याशमन ऋषि से इस्लाम धर्म ग्रहण किया और तदनतर मुस्लिम हो गए। कहते हैं कि एक बार जब ये दोनो अपने रुग्ण पीर को देखने गये तो वहाँ पर सत लालदेद पहले से ही उपस्थित थी। इनके उस अभिभावक ने उनका कोई 'पुष्पगुच्छ' लेकर इन्हें प्रदान कर दिया जिसके फलस्वरूप इनके घर सहजानद का जन्म हुआ। शिशु ने लालदेद का स्तन पान भी किया जिसका प्रभाव उसके सारे जीवन भर बना रहा और वह पीछे एक 'पहुँचा हुआ फकीर' कहला कर भी प्रसिद्ध हुआ। बालक सहजानद को प्रारभिक जीवन मे अपने वैमात्र भाइयो के कारण बहुत कष्ट पहुँचा और वह उनके द्वारा बार-बार सताया गया। कहते है कि उन्होने एक बार इन्हें कोई गाय चुरा कर घर ले जाने को दी, किंतु कुत्तो के भूँकने लगने पर इन्होने उसे मार्ग में ही छोड दिया तथा उनके 'भो-भो' करने को अपने लिए चेतावनी समझ कर इन्होने उक्त घटना द्वारा प्रेरणा ग्रहण कर ली। प्रसिद्ध है कि ये अपनी कुछ ही वर्षों की अवस्था मे किसी गुफा मे बैठ कर एकात-चितन की साधना १२ वर्षो तक करते रह गए। इन्होने मीर मुहम्मद हमदानी के यहाँ दीक्षित होकर इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया और तब से कुछ कविताएँ भी रचने लगे। इनकी मृत्यु स० १४९५ में हुई जब ये ६३ वर्ष की अवस्था के थे और इनकी शव-यात्रा में सुल्तान, ज़ैनुल आबदीन तक सम्मिलित हुए। इनकी

---

१ "मतिसुदर धी धागै श्रम, ससार चाल नाहिन नचे" ॥९७

समाधि का स्थान इस समय 'चरार शरीफ' नाम से प्रसिद्ध है और इन्हें कश्मीर का संरक्षक संत भी कहा जाता है। सत नंद ऋषि या 'बाबानंद' ने एक सर्वथा संयत तथा सात्विक जीवन व्यतीत किया था और ये अत्यत लोकप्रिय भी बने रहे। इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं की चर्चा 'नूरनामा' वा 'ऋषिनामा' में की गई मिलती है जिसे बाबा नसीमुद्दीन गाजी (स १६२६ ९४) ने लिखा है तथा जिसके अंतर्गत उन्होंने इनके पद्यात्मक उपदेशों को भी सम्मिलित कर लिया है। उससे पता चलता है कि इन्होंने अपना विवाह भी किया था तथा इनके दो पुत्र थे और एक पुत्री भी थी जो सभी मर गए।

स्वभाव तथा विचार-धारा

सत नंद ऋषि स्वभावत प्रकृति-प्रेमी थे और इन्हें उद्यानों तथा जगलों तक में निवास करना बहुत पसंद था। इन्होंने अपने जीवन के समवत १ वें वर्ष से ही एक भ्रमणशील जीवन स्वीकार कर लिया था। ये अपनी निर्धनता के कारण प्राय फटे-पुराने कपड़े ही पहना करते थे जिससे कभी-कभी इन्हें पहचान पाना तक भी कठिन हो जाता था। कहते हैं कि एक बार जब ये निमंत्रित होकर किसी भोज मे सम्मिलित होने गये इनकी वेशभूषा से अपरिचित रहने के कारण वहाँ के नौकरों ने इन्हें गृह के भीतर प्रवेश करने नहीं दिया। ये वहाँ से सीधे लौट आये किन्तु फिर जब ये वहाँ पर दोबारा कोई चोगा पहन कर गये और इन्हें वहाँ पर उपस्थित महान व्यक्तियों म स्थान मिल गया तो इन्होंने अपने सामने परसी गई थालियों पर अपने लबे पहनावे की बाँह वाली छोर डाल दी जिसे देख कर लोगों को आश्चर्य हुआ। उनके पूछने पर इन्होंने कहा 'यह भोज वास्तव में शेख नूरुद्दीन के लिए न होकर इस चोगे के ही लिए है" जिसका रहस्य जान कर सभी लज्जित हो गए। इनका कहना है 'केवल नम्रता प्रदर्शित करने मात्र से ही कोई ऋषि नहीं बन जा सकता क्योंकि घास काटते समय तो उसकी कटाई करने वाले का भी सिर नीचे की ओर रहा करता है। केवल गुफा में रहने के ही कारण किसी को ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो जाती क्योंकि चूहे और नेवले भी अधिकतर बिलो में ही रहा करते हैं। इसी प्रकार, केवल स्नान करते रहने से ही शरीर पवित्र नहीं बन जाता क्योंकि मछली और उद बिलाव भी सदा जल में ही रहा करते हैं। उपवास करना भी तो किसी महत्त्व का नहीं है।'[१] एक अन्य स्थल पर इन्होंने कहा है 'परमात्मा की ओर से कोई भये विपत्ति के बाणो से अपनी रक्षा का यत्न न करो न उसकी तीक्ष्ण

---

१ कश्मीर, पृ १ २ पर उद्धृत।

और वे कवीर साहव के सपर्क तक में भी कमी आये हो। इस अनुमान का समर्थन इस प्रकार भी होता जान पडता है कि नाभादास की 'भक्तमाल' (रचना-काल समवत स० १६४२) के छप्पय, स० ९७ के अतर्गत उल्लिखित नाम में भी हमे किसी ऐसे भक्त मतिसुदर का नाम आ गया प्रतीत होता है जिन्होने सासारिक प्रपचो की कोई परवा न की होगी।[1]

(७) सत नद ऋषि वा शेख नूरुद्दीन

सक्षिप्त परिचय

सत नद ऋषि वा शेख नूरुद्दीन का पूर्वनाम सहजानद वतलाया जाता है और कहा जाता है कि इनका जन्म स० १४३४ मे ठीक 'वकरीद' के दिन श्रीनगर कश्मीर प्रदेश से २८ मील पूर्वोत्तर बसे हुए किसी 'कैमूह' नामक गाँव में हुआ था जिसे उस समय 'कटीमुश' कहा जाता था और इनके पिता का नाम 'सालार साँज' था जो किस्तवार के क्षत्रिय राजा के कुल के थे। सहजानद की माता सदरा वा सदरा मोजी (देद्दी) भी राजपूत वश की ही थी तथा सालार साँज के साथ उनका विधवा-विवाह हुआ था। इन दोनो ने क्रमश किसी याशमन ऋषि से इस्लाम धर्म ग्रहण किया और तदनतर मुस्लिम हो गए। कहते है कि एक वार जव ये दोनो अपने रुग्ण पीर को देखने गये तो वहाँ पर सत लालदेद पहले से ही उपस्थित थी। इनके उस अभिभावक ने उनका कोई 'पुष्पगुच्छ' लेकर इन्हें प्रदान कर दिया जिसके फलस्वरूप इनके घर सहजानद का जन्म हुआ। शिशु ने लालदेद का स्तन पान भी किया जिसका प्रभाव उसके सारे जीवन भर वना रहा और वह पीछे एक 'पहुँचा हुआ फकीर' कहला कर भी प्रसिद्ध हुआ। बालक सहजानद को प्रारभिक जीवन मे अपने वैमात्र भाइयो के कारण वहुत कष्ट पहुँचा और वह उनके द्वारा बार-बार सताया गया। कहते हैं कि उन्होने एक बार इन्हें कोई गाय चुरा कर घर ले जाने को दी, किंतु कुत्तो के भूँकने लगने पर इन्होने उसे मार्ग में ही छोड दिया तथा उनके 'भो-भो' करने को अपने लिए चेतावनी समझ कर इन्होने उक्त घटना द्वारा प्रेरणा ग्रहण कर ली। प्रसिद्ध है कि ये अपनी कुछ ही वर्षों की अवस्था मे किसी गुफा मे बैठ कर एकात-चिंतन की साधना १२ वर्षों तक करते रह गए। इन्होने मीर मुहम्मद हमदानी के यहाँ दीक्षित होकर इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया और तव से कुछ कविताएँ भी रचने लगे। इनकी मृत्यु स० १४९५ में हुई जब ये ६३ वर्ष की अवस्था के थे और इनकी शव-यात्रा में सुल्तान, जैनुल आवदीन तक सम्मिलित हुए। इनकी

---

१. "मतिसुदर घी धागै श्रम, ससार चाल नाहिन नचे" ॥९७

समाधि का स्थान इस समय 'चरार शरीफ' नाम से प्रसिद्ध है और इन्हें कश्मीर का संरक्षक संत भी कहा जाता है। संत नंद ऋषि वा 'शाहानंद' ने एक सर्वथा संयत तथा सात्विक जीवन व्यतीत किया था और ये अत्यंत लोकप्रिय भी बने रहे। इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं की चर्चा 'नूरनामा' वा 'ऋषिनामा' में की गई मिलती है जिसे बाबा नसीबुद्दीन गाजी (सं० १६२६-९४) ने लिखा है तथा जिसके अंतर्गत उन्होंने इनके पद्यात्मक उपदेशों को भी सम्मिलित कर दिया है। उससे पता चलता है कि इन्होंने अपना विवाह भी किया था तथा इनके दो पुत्र थे और एक पुत्री भी थी जो सभी मर गए।

स्वभाव तथा विचार-धारा

संत नंद ऋषि स्वभावतः प्रकृति-प्रेमी थे और इन्हें उद्यानों तथा जंगलों तक में निवास करना बहुत पसंद था। इन्होंने अपने जीवन के संभवतः ३० वें वर्ष से ही एक भ्रमणशील जीवन स्वीकार कर लिया था। ये अपनी निर्धनता के कारण प्रायः फटे-पुराने कपड़े ही पहना करते थे जिससे कभी-कभी इन्हें पहचान पाना तक भी कठिन हो जाता था। कहते हैं कि एक बार जब ये निमंत्रित होकर किसी भोज में सम्मिलित होने गये इनकी वेशभूषा से अपरिचित रहने के कारण वहाँ के नौकरों ने इन्हें गृह के भीतर प्रवेश करने नहीं दिया। ये वहाँ से लौट आये किंतु फिर जब वे वहाँ पर दोबारा कोई चोगा पहन कर गये और इन्हें वहाँ पर उपस्थित महान व्यक्तियों में स्थान मिल गया तो इन्होंने अपने सामने परसी गई थालियों पर अपने लंबे पहनावे की बाँह वाली छोर डाल दी जिसे देखकर लोगों को आश्चर्य हुआ। उनके पूछने पर इन्होंने कहा 'यह भोज वास्तव में शेख नूरुद्दीन के लिए न होकर इस चोगे के ही लिए है' जिसका रहस्य जानकर सभी लज्जित हो गए। इनका कहना है "केवल नग्नता प्रदर्शित करने मात्र से ही कोई ऋषि नहीं बन जा सकता क्योंकि धान कूटते समय तो उसकी कुटाई करने वाले का भी सिर नीचे की ओर रहा करता है। केवल गुफा में रहने के ही कारण किसी को ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो जाती क्योंकि चूहे और नेवले भी अधिकतर बिलों में ही रहा करते हैं। इसी प्रकार, केवल स्नान करते रहने से ही शरीर पवित्र नहीं बन जाता क्योंकि मछली और ऊदबिलाव भी सदा जल में ही रहा करते हैं। उपवास करना भी तो किसी महत्त्व का नहीं है।"[1] एक अन्य स्थल पर इन्होंने कहा है 'परमात्मा की ओर से छोड़े गये विपत्ति के बाणों से अपनी रक्षा का यत्न न करो न उनकी तीक्ष्ण

---

१ कश्मीर, पृ० १२ पर उद्धृत।

तलवार से अपने को बचाने के लिए ही उसकी ओर से अपना मुंह फेर लो। विपत्ति को सदा चीनी जैसी मिठास की वस्तु समझो और यह मान लिया करो कि चाहे यहाँ पर अथवा किसी दूसरी दुनिया मे ही क्यो न हो, सब कही हमारे लिए इसी में सच्ची भलाई है।"[१] इसी प्रकार "यदि कोई चाहे तो किसी सर्प से बचने के लिए वह एक बाँस की दूरी तक भग जा सकता है और ऐसे ही किसी शेर से अपना बचाव करने के लिए वह कोसो दूर तक जा सकता है। वह अपने ऋणदाता (महाजन) से मुक्ति पाने की आशा से कुछ दिनो के लिए कही बाहर समय काट सकता है, किंतु अपने दुर्भाग्य से वह एक निमिष तक भी नही टल सकता।[२]" इन्होने प्रेम की चर्चा करते हुए भी कहा है "प्रेम किसी माता के अपने इकलौते पुत्र की, मृत्यु के समान है, क्या किसी प्रेमी को कभी नीद आ सकती है ? प्रेम कीडो के विषैले डक की-जैसी टीस पहुँचाने वाला है, क्या किसी प्रेमी को कभी कोई शाति मिल पाती है ? प्रेम किसी के उस पहनावे के समान है जिससे रक्त की बूँदें टपक रही हो— क्या कभी उसे धारण करने वाला एक आह भी भर सकता है?"[३] जिससे पता चलता है इनकी अनुभूति कितनी गहरी रही होगी। इनके शिष्यो के से चार प्रमुख थे और उनमें भी इन लिए सर्वाधिक प्रिय शेख नसीरुद्दीन थे जिन्हे ये प्रेम से केवल 'नसरो' मात्र कहा करते थे। नद ऋषि की प्रतिष्ठा तथा इनकी लोकप्रियता के प्रमाण मे एक यह बात कही जा सकती है कि इनके 'नूरुद्दीन' नाम से कश्मीर के पठान गवर्नर अता-मुहम्मद खाँ ने सन् १८०८ ई० मे १८१० ई० तक कई सिक्के भी प्रचलित किये थे। इनके सत लालदद के प्रभाव में आने तथा उनकी विचार-धारा से प्रेरणा पाकर अपनी अनेक रचनाएँ प्रस्तुत करने का भी श्रेय दिया जाता है। कहा जाता है कि इनका जीवन किसी एक मुस्लिम फकीर का ही-जैसा न रह कर महान् सतो की उच्चकोटि तक पहुँच गया था।

३ कबीर-शिष्य

(१) प्रस्तावना प्रासगिक समस्या

कबीर साहब के जीवन-काल में, उनके अनुपम व्यक्तित्व द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित हो जाना अथवा उनके सारगर्भित उपदेशो का महत्त्व स्वीकार करते हुए उनके सुझाये पथ पर अग्रसर होने की चेष्टा करने लगना कोई असभव-सी

---

१ कशीर, पृ० ४३० पर उद्धृत।   २ वही, पृ० ४३० पर उद्धृत।

३ वही, पृ० ६५ पर उद्धृत।

बात नहीं की। इसमें संदेह नहीं कि उस समय के बहुत-से लोगों ने ऐसा किया होगा तथा वे इनके अनुयायी भी बन गए होंगे। परन्तु आश्चर्य की बात है कि आज ऐसे व्यक्तियों का हमें प्रायः कुछ भी परिचय उपलब्ध नहीं है न हम किन्हीं प्रामाणिक सूत्रों के आधार पर इस समय केवल इस प्रकार भी कह पाते हैं कि उनकी वास्तविक संख्या अमुक रही होगी। इतना ही नहीं हमें तो कभी-कभी यह देख कर पूरा दुःख भी होने लगता है कि बहुत से लेखकों ने इस संबंध मे अनेक भ्रमात्मक बातें तक फैला दी हैं। कतिपय चामत्कारिक प्रसंगों का वर्णन करने के प्रलोभन में पड़कर उन्होंने कई काल्पनिक बातों को तथ्य का रूप दे डाला है। इस कारण हम न तो सदा उनकी समुचित परीक्षा कर पाते हैं न इस प्रकार उनकी छान-बीन करके किसी ऐसे परिणाम तक पहुँचने में समर्थ होते हैं जिसे किसी ऐतिहासिक तथ्य का-जैसा मूल्य प्रदान किया जा सके। जहाँ तक पता चलता है अभी तक हमें अधिकतर ऐसी ही सामग्री मिलती आई है जिसमें या तो धार्मिक व्यक्तियों द्वारा लिखे गए प्रशंसात्मक उल्लेख मात्र सम्मिलित हैं अथवा उन लोगों के लिखे 'भक्तमाल' या 'परचई' कहे जाने वाले ग्रंथ हैं जिनमें साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का प्रभाव पाया जाना अनिवार्य-सा रहता है। ऐसे लोगों ने कबीर साहब के विषय में चर्चा करते समय कहीं-कहीं तो उनसे प्रभावित होने वालों में गुरु गोरखनाथ-जैसे उनके पूर्ववर्ती महापुरुषों की कथाएँ गढ़ ली हैं अथवा अग्रगण्य संत गरीबदास-जैसे बहुत-से धार्मिक पुरुषों तक के नाम ले लिये हैं जिनके संबंध में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये उनके परवर्ती थे। ऐसी दशा में हमें स्वभावतः उन कतिपय लोगों को भी उनका सम-सामयिक होना स्वीकार करते समय कभी-कभी पूरी हिचक होने लगती है जिनके साथ उनका प्रत्यक्ष संपर्क रहा होगा अथवा जो वास्तव में उनके शिष्य तक भी रहे होंगे।

कबीर शिष्यों के उल्लेख

पुराने 'भक्तमाल' रचयिताओं में से प्रसिद्ध नाभादास ने कबीर साहब के शिष्यों की चर्चा किसी एक स्थल पर नहीं की है। जहाँ तक जान पड़ता है उन्होंने इनमें से केवल एक मात्र पद्मनाभ के ही विषय में लिखा है कि जिस प्रकार उन्होंने कबीर साहब की कृपा से परमतत्त्व का परिचय उपलब्ध किया तथा रामनाम को विशेष महत्त्व प्रदान किया था[1]। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा रचित अगले (अर्थात् ६०वें) छप्पय पर टीका लिखते समय प्रियादासजी

---

1 छप्पय ६८।

तलवार से अपने को बचाने के लिए ही उसकी ओर से अपना मुँह फेर लो। विपत्ति को सदा चीनी जैसी मिठास की वस्तु समझो और यह मान लिया करो कि चाहे यहाँ पर अथवा किसी दूसरी दुनिया में ही क्यो न हो, सब कही हमारे लिए इसी में सच्ची भलाई है।"[१] इसी प्रकार "यदि कोई चाहे तो किसी सर्प से बचने के लिए वह एक बाँस की दूरी तक भग जा सकता है और ऐसे ही किसी शेर से अपना बचाव करने के लिए वह कोसो दूर तक जा सकता है। वह अपने ऋणदाता (महाजन) से मुक्ति पाने की आशा से कुछ दिनो के लिए कही बाहर समय काट सकता है, किंतु अपने दुर्भाग्य से वह एक निमिष तक भी नही टल सकता।[२]" इन्होने प्रेम की चर्चा करते हुए भी कहा है "प्रेम किसी माता के अपने इकलौते पुत्र की, मृत्यु के समान है, क्या किसी प्रेमी को कभी नीद आ सकती है ? प्रेम कीडो के विषैले डक की-जैसी टीस पहुँचाने वाला है, क्या किसी प्रेमी को कभी कोई शाति मिल पाती है ? प्रेम किसी के उस पहनावे के समान है जिससे रक्त की बूँदें टपक रही हो– क्या कभी उसे धारण करने वाला एक आह भी भर सकता है?"[३] जिससे पता चलता है इनकी अनुभूति कितनी गहरी रही होगी। इनके शिष्यो के से चार प्रमुख थे और उनमें भी इन लिए सर्वाधिक प्रिय शेख नसीरुद्दीन थे जिन्हे ये प्रेम से केवल 'नसरो' मात्र कहा करते थे। नद ऋषि की प्रतिष्ठा तथा इनकी लोकप्रियता के प्रमाण मे एक यह बात कही जा सकती है कि इनके 'नूरुद्दीन' नाम से कश्मीर के पठान गवर्नर अता-मुहम्मद खाँ ने सन् १८०८ ई० से १८१० ई० तक कई सिक्के भी प्रचलित किये थे। इनके संत लालदद के प्रभाव में आने तथा उनकी विचार-धारा से प्रेरणा पाकर अपनी अनेक रचनाएँ प्रस्तुत करने का भी श्रेय दिया जाता है। कहा जाता है कि इनका जीवन किसी एक मुस्लिम फकीर का ही-जैसा न रह कर महान् संतो की उच्चकोटि तक पहुँच गया था।

३ कबीर-शिष्य

(१) प्रस्तावना - प्रासंगिक समस्या

कबीर साहब के जीवन-काल में, उनके अनुपम व्यक्तित्व द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित हो जाना अथवा उनके सारगर्भित उपदेशो का महत्त्व स्वीकार करते हुए उनके सुझाये पथ पर अग्रसर होने की चेष्टा करने लगना कोई असभव-सी

---

१ कशीर, पृ० ४३० पर उद्धृत। २ वही, पृ० ४३० पर उद्धृत।
३ वही, पृ० ६५ पर उद्धृत।

शिष्यों का पता न होगा अथवा उन्होंने उनमें से केवल ऐसे ही लोगों की चर्चा करना उचित समझा होगा जिन्हें वे विशेष महत्त्व प्रदान करना चाहते होंगे। इसी प्रकार हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि राघोदास अथवा उनकी 'भक्तमाल' की टीका लिखने वाले चतुरदास के समय तक भी ठीक उसी प्रकार नहीं समझा जाता रहा होगा जिस प्रकार आजकल दीख पड़ता है। इस प्रकार की बातों का अधिकतर परंपरानुसार ही प्रचार होते आने के कारण इस विषय में बहुत से मनमाने कथन भी किये जाते आये होंगे। इसी कारण हम यहाँ पर कोई ऐसा निर्णय नहीं दे सकते जिसे सर्वथा प्रामाणिक कहा जा सके। न ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में हम अभी कबीर साहब के प्रमुख शिष्यों की कोई निश्चित संख्या ही ठहरा सकते अथवा उनका साधारण परिचय तक भी दे सकते हैं। ऐसी दशा में हम यहाँ पर केवल उन्हीं १ व्यक्तियों के विषय में विचार करना चाहते हैं जिनके नाम इस संबंध में विशेष रूप से लिये जाते हैं। ये क्रमशः कमाल, कमाली, पद्मनाभ, तत्त्वा, जीवा, ज्ञानी, जागूदास, भागोदास, सुरत गोपाल तथा धर्मदास हैं।

२ संत कमाल : संक्षिप्त परिचय

संत कमाल कबीर साहब के औरस पुत्र, शिष्य तथा एक पहुँचे हुए फकीर थे, किंतु इनके जीवन की घटना बहुत कम ज्ञात है। कबीर-पंथी ग्रंथ 'बोध सागर' से पता चलता है कि कबीर साहब का आदेश पाकर ये संत मत का प्रचार करने अहमदाबाद की ओर गये थे।[1] दादू दयाल की गुरु-परंपरा में भी इनका नाम उनके ऊपर पाँचवीं पीढ़ी में लिया जाता है जिससे इस बात की कुछ पुष्टि होती जान पड़ती है। इनकी कई रचनाओं द्वारा यह भी प्रकट होता है कि इनका भ्रमण महाराष्ट्र प्रांत तथा पंढरपुर के प्रसिद्ध पुण्यक्षेत्र तक भी अवश्य हुआ होगा। ये विट्ठल की मूर्ति, भीमा नदी और कुछ वारकरी भक्तों के विषय में यत्र-तत्र उल्लेख करते हैं और उनकी प्रशंसा भी करते हैं। इनका अपने एक पद में यह भी कहना है कि जिस प्रकार "दक्खन स्थाने नामा दरजी" अर्थात् दक्षिण भारत में संत नामदेव हुए उसी प्रकार "उत्तरस्थान भयो कबीर रामचरण का पाया है। उनका पुत्र कहे कमाल दोनों का बोलबाला है"। इसी प्रकार इन्होंने एक दूसरे स्थल पर "हम सबन तुम तो हिन्दू" कह कर अपना मुसलमान होना

---

१ 'चले कमाल तब सीस नवाई। अहमदाबाद तब पहुँचे आई॥'
—बोधसागर, बम्बई, पृ० १५१५।

ने उसके तत्त्वा तथा जीवा नामक भक्तो का भी कबीर साहब का शिष्य होना बतलाया है तथा उनका दक्षिण देश का निवासी होना तक स्वीकार किया है।[1] परन्तु एक अन्य 'भक्तमाल' के रचयिता दादू-पंथी राघोदास ने अपने एक छप्पय मे कहा है कि कबीर साहब के प्रमुख शिष्यो की सख्या नव थी तथा उन्होने उनके नाम क्रमश कमाल, कमाली, पद्मनाभ, रामकृपाल, नीर, षीर, ग्यानी, धर्मदास तथा हरदास-जैसे लेते हुए उन्हें मनुष्यो के लिए भव-सागर पार करने के निमित्त निर्मित नौकाओ के समान बतलाया गया है।[2] उन्होने इनमें से पद्मनाभ, कमाल, कमाली, ग्यानी तथा धर्मदास के विषय में फिर अन्यत्र भी लिखा है।[3] फिर एक छप्पय द्वारा स्वय धर्मदास तक के कतिपय शिष्यो और प्रशिष्यो के नामो का उल्लेख कर दिया है।"[4] इस प्रकार इनके अनुसार कहे गए नामो के अतर्गत, केवल उपर्युक्त 'पद्मनाभ' का ही समावेश किया गया दीख पडता है। यदि हम इनके 'नीर' तथा 'षीर' जैसे शब्दो को किसी प्रकार उक्त 'तत्त्वा' और 'जीवा' के पर्याय मान सकें तो, दो अन्य को भी स्थान मिलता जान पडता है। इसके सिवाय, हम यहाँ पर यह भी देखते हैं कि जिन कमाल, कमाली धर्मदास, जागू, भागो तथा सुरतगोपाल का कबीर साहब के प्रमुख शिष्यो में उल्लेख किया जाता है उनमें से नाभादास ने किसी एक का भी नाम नही लिया है। राघोदास न इनमें से प्रथम तीन के तथा एक अन्य ग्यानी के विषय में भी पृथक्-पृथक् छप्पयो की रचना कर डाली है। इनमें से शेष तीन को अत्यत्र धर्मदास के शिष्यो तथा प्रशिष्यो तक में गिना दिया है।

निष्कर्ष

अतएव हमे ऐसा लगता है कि या तो नाभादास को सभी प्रमुख कबीर

---

१ कवित्त ३१२।

२ "ज्यू नाराइन नव निरमये त्यू श्रीकबीर किये सिष नव।
प्रथमहि दास कमाल, दुतियह दास कमाली।
पद्मनाभ पुनि तृतिय, चतुरयम रामकृपाली।
पचम षष्टम नीर षीर, सप्तम पुनि ग्यानी।
अष्टम है ध्रुवदास, नवम हरदास प्रमानी।
नव का नव नरतिरनकौं, जन राघो कह्यो पयोध भव।
ज्यूं नाराइन नव निरमये, त्यूं श्रीकबीर किये सिष नव॥३५३॥"

३. दे० छप्पय सख्या क्रमश १८१, १८३, ३५४, ३५५ और ३५७।

४ दे० छप्पय ३५८ जिसमें धर्मदास के शिष्यो तथा प्रशिष्योंमें चूडामनि, कुलपति, साहेब दास, दल्हण, जागू, भगता और सुर्ति-गुपाल के नाम गिनाये गए हैं।

आये और इनकी पगड़ी की गाँठ की ओर कबीर साहब की दृष्टि गई, तब इसका पता चला। पिरहु के खुलते ही हीरा निकल आया जिस पर कबीर साहब ने कहा

'नाम साहब का बेच कर, घर लाया धन-माल।
बूड़ा बंस कबीर का उपजा पूत कमाल॥

और फिर महाजन के आने पर जब उसका भेद खुला तब उन्हें पूर्ण संतोष हुआ। इसी प्रकार इस विषय में एक दूसरा अनुमान यह भी किया जाता है कि *संत कमाल अपने बचपन में अपनी लंगोटी कुछ ढीली-ढाली पहना करते* थे जिस कारण वह कभी-कभी नीचे की ओर खिसक जाती थी। एक बार कबीर साहब का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने इन्हें अपनी लंगोटी कस कर बाँध लेने का आदेश दिया। संत कमाल ने उनकी आज्ञा का पालन करते समय पीछे से उसका वास्तविक अभिप्राय 'लंगोटबद रहना' मान लिया और अपन जीवन भर अविवाहित ही रह गए। अतएव कबीर साहब को अंत में इनके विषय में किसी समय प्रसंगवश कह देना पड़ा

'बूड़ा बंस कबीर का उपजा पूत कमाल।'[1]

वही

परन्तु एक 'भक्तमाल' नामक ग्रंथ में हमें उक्त पंक्तियों के संबंध में एक तीसरी ही घटना का पता मिलता है[2]। इस ग्रंथ के रचयिता का कहना है कि एक बार कोई राजा कबीर साहब का शिष्य बनने के लिए बहुत-सा धन लेकर काशी आया। कबीर साहब को यह बात पसंद न थी इस कारण उस अतिथि से आँख बचा कर वे कहीं अन्यत्र जाकर छिप रहे। राजा ने जब कबीर साहब को नहीं पाया तब उसने उनके योग्य पुत्र संत कमाल का ही शिष्य बन कर इन्हें सारा धन समर्पित कर दिया और वह अपने घर वापस चला गया। कबीर साहब को जब घर लौटने पर इसका पता चला तब वे संत कमाल पर बहुत बिगड़े और उन्होंने इनके लिए उन शब्दों का प्रयोग किये जो उक्त 'सलोक' में आये हुए हैं। परन्तु संत कमाल अपनी बातों पर पूर्ववत् ही दृढ़ रहे और इन्होंने अपने पिता से कहा कि इस प्रकार धन लेने से वस्तुतः कुछ भी हानि नहीं हुई है। मैंने राजा से धन लेकर हरि-नाम को कदापि नहीं बेचा है। राम के नाम

---

१ महर्षि शिवव्रतलाल वर्मा : संतमाल लाहौर, १९२३ ई० पृ० ५८९।

२ बुधहरन्हृत भक्तमाल हस्तलिखित प्रति : ये संत बुधहरन संभवतः संत शिवनारायण के पुत्र थे। देखिए इस संबंध में आगे शिवनारायणी सम्प्रदाय अध्याय ६।

स्वीकार किया है। इनकी भाषा, शैली तथा 'मुरशिद मौला' आदि-जैसे शब्दो के अधिक प्रयोग से भी यही सिद्ध होता है।[1] सभव है ये सूफियो के सपर्क में भी कुछ दिनो तक रह चुके हो और इनके विचारो पर उनका भी प्रभाव पर्याप्त रूप में पडा हो। इनकी कुल रचनाएँ अभी तक प्रकाशित नही है और जो कुछ सग्रहो के अतर्गत फुटकर पदोके रूप में मिलती हैं, वे भी बहुत कम है।

कबीर तथा कमाल

सत कमाल के विषय में जो अनेक बाते प्रसिद्ध है, उनमे से एक कबीर साहब के साथ इनके कुछ मतभेद की ओर सकेत करती है। कहा जाता है कि कबीर साहब इन्हें 'सपूत' नही समझते थे, अपितु उनकी धारणा थी कि हरि-स्मरण से अधिक सपत्ति की ओर ही ध्यान देकर इन्होने उनके कुल का नाम डुबो दिया और इस प्रकार 'कपूत' बन गए। इस विषय की एक रचना[2] 'सलोक' के रूप में 'गुरुग्रथ साहब' के अतर्गत कबीर साहब की ही कृति मान कर सगृहीत हुई है। उक्त 'सलोक' के अनुसार कबीर का वश डूब गया, क्योकि उसमें कमाल-जैसा पुत्र उत्पन्न हो गया। कारण यह कि उसने हरि का स्मरण छोड कर घर मे माल वा धन ला एकत्र कर दिया। सत कमाल के लिए ये शब्द वास्तव में अत्यत कठोर हैं। यदि ये सचमुच कबीर साहब के ही हैं, तो इनके लिए कोई-न-कोई आधार भी अवश्य रहा होगा। किंतु भिन्न-भिन्न ग्रथो मे भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाओ का सहारा लिया गया जान पडता है जिससे निश्चित रूप से कुछ कहना उचित नही प्रतीत होता।

वही

उक्त घटना के सबध में कहा जाता है कि एक समय जब सत कमाल अपने मत के प्रचारार्थ ग्वालियर गये हुए थे, तब किसी श्रद्धालु महाजन ने इन्हें बहुत-सा द्रव्य देना चाहा, किंतु इन्होने अपनी विरक्ति के नियमानुसार उसमें से एक पैसा भी लेने से स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। परन्तु जब ये विश्राम करने के लिए गये और उक्त महाजन ने इन्हें गाढी नीद में पाया, तब हीरे का एक टुकडा लेकर उसने चुपके से इनकी पगडी की पेच में बाँध दिया। सत कमाल ने जग जाने पर भी इस ओर ध्यान नही दिया और वहाँ से चल पडे। जब ये काशी वापस

---

१ श्री सत गाथा, इदिरा प्रेस, पूना, पृ० ७५, ७६, ७९ तथा ८७।

२ 'बूडा बसु कबीर का उपजिओ पूतु कमालु।
हरि का सिमरनु छाडिकै, घरि लै आया मालु।'
—गुरुग्रथ साहब, तरणतारण सस्करण, पृ० ११५।

करना गला घोटने के समान होगा जिसे मेरे पिता कबीर साहब ने अपने शब्दों द्वारा प्रकट किया है तथा उनके सिद्धांतों को नष्ट करने का यत्न करना भी उनकी ही हत्या करने के तुल्य होगा जो मेरे लिए कदापि संभव नहीं है। कहते हैं कि इनके इस प्रकार स्पष्ट कह देने पर कबीर साहब के अनेक अनुयायी इनसे बहुत रुष्ट हो गए और इनके प्रति विरुद्ध भाव प्रकट करते हुए उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि कमाल के उत्पन्न होने के कारण कबीर की वंश-परंपरा ही लुप्त हो रही है।[1] अतएव इस घटना के अनुसार 'गुरुग्रंथ साहब' में आया हुआ सलोक' इस अवसर पर ही कहा गया माना जा सकता है। परन्तु इस अनुमान का समर्थन उक्त रचना के केवल पूर्वार्द्ध से ही हो सकता है उसके उत्तरार्द्ध की संगति इसके साथ नहीं लगती।

सिद्धांत तथा साधना

संत कमाल की विचार-धारा का मूल स्रोत कबीर साहब के ही निर्मल जलाशय से आया हुआ प्रतीत होता है। ये उन्हीं की भाँति सच्चे हृदय को बाह्य साधनाओं से कहीं अधिक महत्त्व देते हैं और व्यर्थ इधर-उधर भटकनेवालों का उपहास भी करते हैं। उन्हीं के समान ये राजा तथा रंक दोनों को एक समान देखते हैं सभी साधनाओं से बढ़ कर रामनाम को ही ठहराते हैं और बाहर भीतर सब कहीं उसी एक की ज्योति का दर्शन पाते हुए समाधि पाते हैं जैसे

'काहे कूं जंगल जाता बन्दा अपना दिल रखो र सच्चा।
'राजा रंक दोनों बराबर, जैसे गंगाजल पानी।
माल करो कोई मूपर मारो दोनों मीठा बानी।
'सुख से बैठो अपने महेल मों राम भजन नहीं अच्छा है।
अंतर भीतर भई भरपूर, देख सब ही उजाला'[2]। आदि

इनकी बानी में भी कहीं-कहीं प्राय वही खरापन तथा चुटीलापन लक्षित होता है जो कबीर साहब की रचनाओं की विशेषता है। इनमें गर्व की मात्रा कहीं भी नहीं दीख पड़ती। इसके विपरीत इनकी नम्रता तथा दैन्यभाव के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं।

संत कमाल के जीवन-काल की निश्चित तिथियों का ठीक पता नहीं चलता न इनकी आयु के संबंध में ही अनुमान करने के लिए कोई आधार मिलता

---

१ क्षितिमोहन सेन मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया ल्यूजक ऐंड कंपनी १९३ ई पृ ९१।
२ श्री संत गाथा इंदिरा प्रेस पूना।

का तो, यदि सच पूछा जाय तो कोई 'मोजो' अर्थात् माविजा वा मूल्य हो ही नही सकता। फिर वह बेचा कैसे जा सकता है।[1] इस उत्तर को पाकर कबीर साहब चुप हो रहे।

वही

इसी सबध में उक्त ग्रथ के अतर्गत एक अन्य घटना का भी उल्लेख इस प्रकार किया गया मिलता है। कबीर साहब के उक्त प्रकार से रुष्ट हो जाने के अनतर अवसर पाकर कमाल ने यह भी कहा था कि यो तो धन लेकर शिष्य बनाने के कारण मुझमें कोई कमी भी नही आयी है। आप 'कउडी' से 'हीरा' बने हैं और मैं 'हीरा' से भी 'लाल' बन गया हूँ। अतएव, यदि विचार किया जाय, तो आप 'आधा भगत' ही कहला सकते हैं और मैं 'सारा भगत' वा पूर्ण भक्त बन गया हूँ।[2] इस कथन का तात्पर्य "सत कमाल ने उस ग्रथ के अनुसार इस प्रकार समझाया कि कबीर साहब के माता-पिता निरे 'साकठ जोलहा' थे जिनके पुत्र कबीर साहब एक भक्त के रूप में प्रकट हुए थे, किंतु सत कमाल उन कबीर साहब के ही पुत्र 'इन्द्रियजीत' वा ब्रह्मचारी भी थे। इस कारण ये 'कउडी' से 'हीरा' मात्र न बन कर 'हीरा' से भी 'लाल' हो गए थे। इस प्रकार सभव है कि इस 'इन्द्रिय जीत' शब्द के ही भीतर कबीर साहब के वश के डूबने का भी रहस्य छिपा हो, क्योकि जैसा कि ऊपर भी सकेत किया गया है, सत कमाल के विवाहित होने का कही पता नही चलता और उन्हें अधिकतर एक विरक्त के ही रूप में अब तक समझा गया है। इनके शिष्य किसी जमाल का नाम सुना जाता है, किंतु इनके किसी पुत्र वा पुत्री का पता नही चलता।

वही

जो लोग उक्त 'सलोक' को किसी दूसरे की रचना मानते है, उनका अनुमान है कि कबीर साहब की मृत्यु हो जाने पर बहुत-से लोगो ने सत कमाल से अनुरोध किया कि ये उनके नाम पर किसी नवीन पथ की स्थापना करें। किंतु इन्होने ऐसा करने से स्पष्ट शब्दो में इनकार कर दिया और कहा कि इस प्रकार का कार्य

---

१ 'कहहु तो राम के नाम को, मोजो कछुवै आहि।
तो मैं बेचा होइहै मोही बतावहु ताहि॥'
—दुखहरन भगतमाल, पृ० १५१।

२ 'कउडी शे हीरा भये। हीरा शे भये लाल।
आधा भगत कबीर थे, शारा भगत कमाल॥'
—वही, पृ० १५०।

बतलाया जाता है और इसके विषय का नीति व्यावहारिकता तथा आत्म-दर्शन से संबद्ध होना कहा गया है तथा इसके रचयिता का कोई जैनी होना भी ठहराया जाता है।[1] इस कारण हम इन्हें भी कबीर शिष्य पद्मनाभ से भिन्न ही मान ले सकते हैं। इसके सिवाय नाभादास की 'भक्तमाल' के एक छप्पय से जान पड़ता है कि स्वामी अनंतानंद के शिष्य कृष्णपयहारी के भी एक शिष्य का नाम पद्मनाभ था[2] जो इसी कारण कबीर साहब का किसी न किसी रूप में समसामयिक भी हो सकता है। परन्तु इन तीनों में से किसी एक का भी न तो उनके साथ कभी मिलना प्रमाणित है न उनसे किसी प्रकार प्रभावित होना ही कहा जा सकता है।

पद्मनाभ का परिचय

कबीर-शिष्य पद्मनाभ के लिए कहा गया है कि ये अपने गुरु के साथ काशी में रहा करते थे। उनसे दीक्षित होकर अपनी साधना पूरी कर लेने के अनंतर इन्होंने स्वयं किसी नीलकण्ठ को दीक्षित किया था। इस प्रकार यदि ये नीलकंठ वही थे जो हो जिनका देश भ्रमण करते-करते गुर्जर देश की ओर चला जाना तथा वहाँ पहुँच कर कहीं रघुनाथ नामक एक व्यक्ति को दीक्षित करना और इसी प्रकार उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा 'रामकबीर-पंथ' तथा 'रविभाण सम्प्रदाय' का भी उधर प्रचार होना प्रमाणित किया जा सके तो इसके आधार पर हम इनके आविर्भाव काल का भी कुछ अनुमान कर सकते हैं। रघुनाथ दास के पोता-शिष्य पद्मनाभ (पद्मनाभ स्वामी) का हमें जीवन-काल सं० १६६८ १७८६ ज्ञात है[3]। इसके आधार पर यदि हम उनके गुरु माधवदास दादागुरु रघुनाथ दास तथा उनके भी गुरु नीलकंठ दास के गद्दी-काल की अवधि को मोटे तौर पर पचीस वर्षों की स्वीकार कर लें।

समस्या तथा समाधान

संत-परंपरा के सभी पंथों या सम्प्रदायों की गुरु-गद्दियों के महंतों की नाम तालिका नहीं मिलती और जो मिलती है उनमें भी अधिकतर किसी समय का उल्लेख नहीं दीख पड़ता। केवल नानक-पंथ के प्रथम दस गुरुओं के जीवन काल तथा बावरी-पंथ के अंतिम ९ महंतों का मृत्यु-काल विदित है और प्रामाणिक भी समझा जाता है। इसके सिवाय रामसनेही सम्प्रदाय की 'सिंहथल-खेड़ापा

---

1. डॉ० हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी भाषा और साहित्य कलकत्ता १९६० ई० पृ० १९२।
2. छप्पय संख्या ३९।
3. कल्याण गोरखपुर संत अंक।

है। इनकी समाधि का होना कोई कडा-मानिकपुर मे बतलाते है[1], तो कोई उसका पता झूंसी के निकटवर्ती किसी स्थान के सबध मे देते है। किन्तु इनकी एक समाधि मगहर में कबीर साहब के रौजे के पास भी वर्तमान है[2] जो समवत इन्ही की हो सकती है। कमाल नामधारी कतिपय सूफी साधको के भी होने के कारण उक्त वा अन्य ऐसी समाधियो के विषय में उतने निश्चित रूप मे कुछ कहा नही जा सकता।

(३) सत कमाली

कमाली और कबीर साहब

कमाली के विषय मे कहा जाता है कि यह कबीर साहब की औरस पुत्री थी। इसका नाम भी समवत उन सत कमाल के नाम का आधार लेकर ही, प्रसिद्ध हुआ था जिन्हें उनका औरस पुत्र ठहराने की परपरा चली आ रही है। कबीर-पथी लोगो का साधारणत कहना है कि कबीर साहब ने न तो विवाह किया था, न उनकी कोई सतान ही थी। परन्तु उनकी रचनाओ के ही अतर्गत पाये जाने वाले कतिपय प्रसगो के आधार पर इसके विरुद्ध अनुमान कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए सिक्खो के 'आदिग्रथ' में उनके नाम से सगृहीत एक पद से पता चलता है कि उनकी स्त्री लोई, उनकी अपने व्यवसाय के प्रति प्रद-र्शित उपेक्षा के कारण, उन्हे कभी-कभी यह कह कर कोसा करती थी कि "हमारे लडको और लडकियो के लिए तो यथेष्ट भोजन का सामान मिल नही पाता और उधर 'मुडिया' साधु आकर हमारे यहाँ मौज उडा जाते है।"[3] अतएव, यदि कबीर साहब वास्तव में विवाहित रहे और उन्हे कोई 'कमाल' नाम का औरस पुत्र भी रहा उस दशा मे यह स्वीकार कर लेने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए कि उनकी कोई एक पुत्री कमाली भी हो सकती है। इसको कबीर साहब की पुत्री स्वीकार न करने वालो के किसी कथन के अनुसार डॉ० की ने कहा है कि यह वास्तव में, उनके किसी पडोसी की पुत्री थी जिसके मर जाने के उपरात उन्होने इसे पुनर्जीवन प्रदान किया था अथवा यह शेख़ तकी की ही सतान थी जिसके आठ दिनो तक कब्र मे रह चुकने के भी अनतर उन्होने जीवन-दान दिया था।[4] इन दोनो में से किसी भी दशा में इसके पुनर्जीवित होने पर इसका कबीर साहब

---

१ डॉ० मोहनसिंह कबीर ऐंड दि भक्ति मूवमेंट, १९३४ ई०, भा० २, पृ० ९३।
२ डॉ० एफ० इ० की कबीर ऐंड हिज फालोवर्स, १९३१ ई०, पृ० ९६।
३ 'लरको लरिकन खैबो नाहि। मुडिया अनुदिन धाये जाहिं', राग गौड, पद ६
४ डॉ० एफ० ई० की कबीर ऐंड हिज फालोवर्स, पृ० १६।

द्वारा अपनी पोष्य-पुत्री के रूप में रख लेना प्रसिद्ध है।

कमाली का परिचय

कहते हैं कि एक बार जब कमाली पानी भरने के लिए किसी कुएँ पर गई थी उधर से कोई पंडित आ निकले। प्यासे होने के कारण उन्होंने इससे पानी पीने को माँगा जिस पर उन्हें इसने अपने पात्र से जल पिला कर उनकी प्यास बुझा दी। परन्तु जब उन पंडितजी को यह पता चला कि मैंने भूलवश किसी जोलाहे की लड़की के हाथ का पानी पी लिया है तो उन्हें इसके कारण बड़ा संताप हुआ और वे इसके समाधानार्थ कबीर साहब के यहाँ पहुँचे। कबीर साहब वहाँ से कहीं निकट ही रहा करते थे। पंडितजी भी उनकी ख्याति का पता पाकर उनसे शास्त्रार्थ करने की इच्छा थी। अतएव दोनों के बीच छूआछूत-जैसे प्रश्नों पर पूरा विचार-विमर्श हुआ और अंत में पंडितजी को कबीर साहब का लोहा मान लेना पड़ा। प्रसिद्ध है कि उन पंडितजी का नाम सर्वाजीत था जो बड़े उद्भट विद्वान् थे और जिन्होंने बहुत लोगों को शास्त्रार्थ में हरा कर विजय प्राप्त की थी। रे० वेस्टकाट ने लिखा है कि कबीर साहब से पराजित हो जाने पर पंडित ने उनसे संभवतः दीक्षा ग्रहण कर ली और उन्होंने इस पर प्रसन्न होकर अपनी उस कन्या कमाली का इनसे पाणि-ग्रहण भी करा दिया।[1] परन्तु इस प्रकार के किसी भी कथन की पुष्टि के लिए हमारे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है न हम उपलब्ध सामग्री के आधार पर केवल इतना भी कह पाने की स्थिति में हैं कि इसका कोई भी अंश किसी प्रकार स्वीकार योग्य है भी अथवा नहीं। रे० वेस्टकाट ने उस समय कमाली की अवस्था २ वर्ष की बतलायी है और ब्रह्मलीन मुनि ने कहा है कि उन दिनों वह काशी-नरेश के दिये हुए किसी छोटे-से आश्रम में रह कर भक्ति आदि आत्म-कल्याण के साधनों में निरत रहा करती थी। इससे उसके कबीर साहब की शिष्या होने का अनुमान किया जा सकता है तथा उसके साथ 'सर्वाजित' पंडित की हुई बातचीत से भी ऐसा मान लिया जा सकता है कि वह बहुत योग्य रही होगी।[2] परन्तु इस कबीर-कन्या कमाली के विवाह का मुलतान में भी होना कहा जाता है। कहते हैं कि वहाँ पर मुल्तानी बोली में उसकी बहुत-सी काफियाँ भी

---

१ ई० जी० एच० वेस्टकाट : कबीर एंड दि कबीरपंथ, कलकत्ता १९५३ ई० पृ० ९१।

२ "एकान्ते ध्यान भक्त यादि साधनं कर्तुमादरात् ।
काशीनरेश दत्तेऽस्मिन् समाश्यतिष्ठदाश्रमे ।"—'सद्गुरु श्री कबीर चरितम्' पृ० १८७।

शाखा तथा उसकी शाहपुरा वाली शाखा के भी महतो के समय का कुछ सकेत किया गया मिलता है। इसी प्रकार सत्तनामी सम्प्रदाय की कोटवा शाखा के प्रथम चार महतो तथा राधास्वामी सत्सग के प्रथम चार सतो के विषय मे भी कहा जा सकता है। तदनुसार, यदि केवल इतने उदाहरणो पर तब तक विचार किया जाय तो, हमे पता चलेगा कि नानक-पथ के अतिम ९ गुरुओ का गद्दी-काल कुल १७० वर्ष ठहरता है जिसका माध्यम लगभग १९ वर्षों का पडता है। इसी प्रकार, 'बावरी-पथ' के वर्तमान को छोड कर शेष अतिम ७ गुरुओ का गद्दी-काल २१५ वर्ष आता है जिसका माध्यम यहाँ पर लगभग ३१ वर्षो का निकलता है। फिर इसी ढग से उक्त अतिम ३ सत्तनामी महतो के कार्य-काल ८२ वर्षों का माध्यम २७ वर्ष के लगभग आता है। 'सत्सग' के भी वर्तमान को छोड कर शेष ३ गुरुओ का समय ५९ वर्ष होता है जिसका माध्यम लगभग १९ वर्षों का पडता है। परन्तु 'दरनीश्वरी सम्प्रदाय' के विनोदानद (मृ० स० १७३१) के अनतर बावा रघुपति दास (मृ० स० १९९०) तक वाले ६ सतो के समय २५९ वर्षो का यदि माध्यम निकालते हैं तो वह ४३ वर्षो के ऊपर तक चला जाता है जो १९ से कही अधिक है। किंतु यदि 'रामसनेही-सम्प्रदाय' की 'सिंहथल खेडापा' वाली शाखा के सतो के गद्दी-काल का माध्यम, हरिरामदास (मृ० स० १८३५) के अनतर लालदास (मृ० स० १९८२) तक के ६ महतो के अनुसार निकालते है तो यह कुल १४७ वर्ष की दृष्टि से केवल २४ वर्ष के ही लगभग आता है। उसकी शाहपुरा वाली शाखा के रामचरणदास (मृ० स० १८५५) के अनतर, निर्भयराम (मृ० स० २०१२) तक जोडते है तो ११ महतो के कारण यह माध्यम १४ वर्षों तक ही जाता है। अतएव इन ७ विभिन्न उदाहरणो द्वारा हम किसी निश्चित परिणाम तक पहुँचते नही जान पडते। यदि हम एक बार उपर्युक्त सख्याओ अर्थात् क्रमश १९, ३१, २७, १९, ४३, २४ तथा १४ का भी माध्यम निकालते हैं तो इसके फल-स्वरूप हमे कोई एक ऐसी सख्या मिलती है जो २५ से कुछ ही अधिक दीख पडती है।

पता नही इस प्रकार हिसाब लगाने का ढग कहाँ तक ठीक समझा जा सकेगा, किंतु इतना निश्चित है कि इसकी सहायता से हम किसी अनुमान तक पहुँचने योग्य हो सकते हैं। तदनुसार कह सकते हैं कि २५ वर्षो का समय मान कर चलना अनुचित नही है। यहाँ पर एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि रामसनेही सम्प्रदाय की शाहपुरा वाली शाखा के महतो का औसत गद्दी-काल केवल १४ वर्षो का ही आता है। इसका कोई कारण नही समझ पडता, न इस सबध मे कही कोई बात कही गई ही पायी जाती है। इसके सिवाय यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि

बतलाया जाता है और इसके विषय का नीति व्यावहारिकता तथा आत्म-दर्शन से सबद्ध होना कहा गया है तथा इसके रचयिता का कोई जैनी होना भी ठहराया जाता है।[1] इस कारण हम इन्हें भी कबीर-शिष्य पद्मनाभ से भिन्न ही मान ले सकते हैं। इसके सिवाय नाभादास की 'भक्तमाल' के एक छप्पय से जान पड़ता है कि स्वामी अनंतानंद के शिष्य कृष्णपयहारी के भी एक शिष्य का नाम पद्मनाभ था[2] जो इसी कारण कबीर साहब का किसी न किसी रूप में समसामयिक भी हो सकता है। परन्तु इन तीनों में से किसी एक का भी न तो उनके साथ कभी मिलना प्रमाणित है न उनसे किसी प्रकार प्रभावित होना ही कहा जा सकता है।

पद्मनाभ का परिचय

कबीर-शिष्य पद्मनाभ के लिए कहा गया है कि ये अपने गुरु के साथ काशी में रहा करते थे। उनसे दीक्षित होकर अपनी साधना पूरी कर लेने के अनंतर इन्होंने स्वयं किसी नीलकंठ को दीक्षित किया था। इस प्रकार यदि ये नीलकंठ कहीं वे ही हों जिनका देश भ्रमण करते-करते गुर्जर देश की ओर चला जाना तथा वहाँ पहुँच कर कहीं रघुनाथ नामक एक व्यक्ति को दीक्षित करना और इसी प्रकार उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा 'रामकबीर-पंथ' तथा 'रविभाण सम्प्रदाय' का भी उधर प्रचार होना प्रमाणित किया जा सके तो इसके आधार पर हम इनके आविर्भाव काल का भी कुछ अनुमान कर सकते हैं। रघुनाथ दास के पौत्र-शिष्य पष्टमदास (पटभ्रम स्वामी) का हमें जीवन-काल सं० १६९८-१७८१ ज्ञात है[3]। इसके आधार पर यदि हम उनके गुरु भावदास, दादागुरु रघुनाथ दास तथा उनके भी गुरु नीलकंठ दास के गद्दी-काल की अवधि को मोटे तौर पर पचीस वर्षों की स्वीकार कर लें।

समस्या तथा समाधान

संत-परंपरा के सभी पंथों वा सम्प्रदायों की गुरु-गद्दियों के महंतों की नाम तालिका नहीं मिलती और जो मिलती है उनमें भी अधिकतर किसी समय का उल्लेख नहीं दीख पड़ता। केवल नानक-पंथ के प्रथम दस गुरुओं के जीवन काल तथा बावरी-पंथ के अंतिम ९ महंतों का मृत्यु-काल विदित है और प्रामाणिक भी समझा जाता है। इसके सिवाय 'रामसनेही सम्प्रदाय' की 'सिंहथल-शाखा'

---

१ डॉ० हीरालाल माहेश्वरी : राजस्थानी भाषा और साहित्य, कलकत्ता १९६ ई०, पृ० २५२।

२ छप्पय संख्या ३९।

३ कल्याण, गोरखपुर, संत अंक।

मिलती हैं जिसके आधार पर भी इसकी योग्यता के विषय मे कुछ अनुमान किया जा सकता है।[1] फिर भी जहाँ तक पता है, अभी तक हमे इस बात का कोई सकेत मिल नही सका है कि वास्तव मे वे काफियाँ उसी की है तथा वहाँ उसने अपनी ओर से कोई नया पथ चलाया भी था वा नही।

(४) सत पद्मनाभजी · पद्मनाभ कौन ?

सत पद्मनाभ का नाम कबीर साहब के प्रमुख शिष्यो मे लिया जाता है। इनके विषय मे प्रसिद्ध 'भक्तमाल' ग्रथ के रचयिता नाभादास ने कहा है, "पद्मनाभजी ने कबीर की कृपा द्वारा परमतत्व का परिचय प्राप्त किया था। इनके लिए नामोपासना सभी कुछ थी और 'नाम' स्वय रघुनाथ से भी बढ कर था।"[2] एक अन्य 'भक्तमाल' के रचयिता दादू-पथी राघोदास ने भी अपनी प्राय वैसी ही प्रसिद्ध रचना मे, नाभादास का अक्षरश समर्थन किया है।[3] इससे जान पडता है कि ये एक योग्य साधक और महान् पुरुष रहे होगे तथा इनके द्वारा अपने गुरु के मत का सभवत बहुत कुछ प्रचार भी हुआ होगा। परन्तु हमे इनका कोई जीवन-वृत्त अभी तक विदित नही है, न इनके जीवन-काल के सबध मे ही हमे कुछ भी पता चल पाता है। कबीर साहब के प्रमुख शिष्यो मे इनका नाम आने से अनुमान किया जा सकता है कि ये उनके समकालीन अवश्य रहे होगे। कबीर साहब से इन्होने कहाँ पर सर्वप्रथम, उपदेश ग्रहण किया होगा तथा किस प्रदेश को इन्होने अपना कार्य-क्षेत्र बनाया होगा इसका पता इस कारण भी नही चलता कि न तो इनकी अभी तक अपनी रचनाएँ मिल सकी है, न इनके विषय मे किसी ने इस रूप मे कहा है जिसके आधार पर इनका कोई ऐतिहासिक परिचय किसी प्रकार प्रस्तुत किया जा सके। कबीर साहब के न्यूनाधिक समसामयिक समझे जाने वाले ऐसे दो पद्मनाभो का पता चलता है जो पश्चिमी भारत के निवासी थे। इनमे से प्रथम पद्मनाभ की 'कान्हडदे प्रबन्ध' नामक एक रचना स० १५१२ मे निर्मित की गई मिली है जो प्रधानत वीर-रस की कृति जान पडती है।[4] इसके आधार पर कबीर-शिष्य पद्मनाभ का परिचय उपलब्ध कर पाने की कोई सभावना नही प्रतीत होती। इसी प्रकार इस युग के एक अन्य पद्मनाभ का नाम भी लिया जा सकता है जिन्होने 'डूंगर बावनी' नाम की एक पुस्तक लिखी है। इसका रचना-काल सं० १५४३

---

१ डॉ० चन्द्रकान्त बाली पजाब प्रातीय हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ९० ।

२ 'कबीर कृपातें परमतत्त्व पद्मनाभ परचौ लह्यो' आदि, छप्पय, ६८।

३ 'कबीर कृपाकौं धारि उर पद्मनाभ परचै भयो' आदि, छप्पय, १८१।

४ शोधपत्रिका, उदयपुर, पौष स० २००८, पृ० ५१-७२।

पंजाब राजस्थान तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश वाले अर्थात् पश्चिम के महंतों का कार्य काल जहाँ अधिक से अधिक २४ से लेकर १४ वर्षों तक आ जाता है वहाँ पूर्व वाले अर्थात् अवध (कोटवा) मांझी (बिहार) तथा भुरकुड़ा (पूर्वी उत्तरप्रदेश) के महंतों की दशा में यह ४२ से लेकर २४ तक ही रह जाता है

उक्त दशा में हम यह अनुमान कर सकते हैं कि पद्मनाभजी का जीवन-काल कहीं विक्रम की १७वीं शताब्दी के मध्यकाल तक आ सकता है जिससे कबीर साहब के युग के साथ उसका पूरा मेल खाता नहीं प्रतीत होता। ऐसा तभी संभव हो सकेगा जब वैसी अवधि को पचीस वर्षों से अधिक की कर दिया जाय। पद्मनाभजी के लिए नाभादास ने कहा है 'पद्मनाभजी रामनाम के मंत्र को 'महानिधि' माना करते थे और नाम को ही सेवा-पूजा भी ठहराते थे। इनके लिए जप तप तीर्थ आदि सभी कुछ 'नाम' के ही अंतर्गत आ जाते हैं। इसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। यही प्रीति है यही वैर है और नाम ही के द्वारा नामी अभिहित किया जाता है। अजामिल की साखी है कि नाम से संसार के बंधन खुल जाते हैं और जैसा हनुमानजी ने कहा है, यह स्वयं रघुनाथ से भी बढ़ कर है। इस कारण नाम संबंधी ऐसी धारणा के दृढ़ीकरण की कृपा द्वारा कबीर साहब ने इन्हें परमतत्त्व का परिचय करा दिया।[1] तदनुसार इनका 'रामकबीर-पंथ' जैसे किसी धार्मिक वर्ग का मूल प्रवर्त्तक होना सर्वथा स्वाभाविक भी हो सकता है। संभव है कबीर साहब से प्रेरणा प्राप्त कर के इन्होंने राम मंत्र की अमोघ आध्यात्मिक शक्ति का विशेष प्रचार किया हो। उसकी किसी साधना-विशेष के विषय में अनेक व्यक्तियों को दीक्षित भी किया हो जिनमें उपर्युक्त नीलकंठ भी रहे हों। उन्होंने इसके अनुसार उपदेश देते हुए बाहर जाकर किसी ऐसे सम्प्रदाय का संगठन कर दिया हो जो 'रामकबीर-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हो गया हो। यों तो 'रामकबीर-पंथ' के संबंध में प्रायः इस प्रकार भी कहा जाता है कि इसका प्रवर्त्तन किसी रामकबीर नाम के व्यक्ति ने ही किया था जिसका पूर्व नाम 'रामपद' रहा तथा जिसकी चर्चा यथास्थल आगे की जायगी।

---

१ "नाम महानिधि मंत्र नाम ही सेवापूजा।
जप तप तीरथ नाम नाम बिन और न दूजा॥
नाम प्रीति नाम बैर, नाम कहि नामी बोलै।
नाम अजामिल साखि नाम बंधन तै खोलै॥
नाम अधिक रघुनाथ तै राम निकट हनुमत कह्यो।
कबीर कृपातें परमतत्त्व पद्मनाभ परचौ लह्यो॥६८॥"
—नाभादासकृत भक्तमाल।

शाखा तथा उसकी शाहपुरा वाली शाखा के भी महतो के समय का कुछ सकेत किया गया मिलता है। इसी प्रकार सत्तनामी सम्प्रदाय की कोटवा शाखा के प्रथम चार महतो तथा राधास्वामी सत्सग के प्रथम चार सतो के विषय मे भी कहा जा सकता है। तदनुसार, यदि केवल इतने उदाहरणो पर तब तक विचार किया जाय तो, हमे पता चलेगा कि नानक-पथ के अतिम ९ गुरुओ का गद्दी-काल कुल १७० वर्ष ठहरता है जिसका माध्यम लगभग १९ वर्षो का पडता है। इसी प्रकार, 'बावरी-पथ' के वर्तमान को छोड कर शेष अतिम ७ गुरुओ का गद्दी-काल २१५ वर्ष आता है जिसका माध्यम यहाँ पर लगभग ३१ वर्षो का निकलता है। फिर इसी ढग मे उक्त अतिम ३ सत्तनामी महतो के कार्य-काल ८२ वर्षो का माध्यम २७ वर्ष के लगभग आता है। 'सत्सग' के भी वर्तमान को छोड कर शेष ३ गुरुओ का समय ५९ वर्ष होता है जिसका माध्यम लगभग १९ वर्षो का पडता है। परन्तु 'दरनीश्वरी सम्प्रदाय' के विनोदानद (मृ० स० १७३१) के अनतर बाबा रघुपति दास (मृ० स० १९९०) तक वाले ६ सतो के समय २५९ वर्षो का यदि माध्यम निकालते हैं तो वह ४३ वर्षो के ऊपर तक चला जाता है जो १९ से कही अधिक है। किंतु यदि 'रामसनेही-सम्प्रदाय' की 'सिहथल खेडापा' वाली शाखा के सतो के गद्दी-काल का माध्यम, हरिरामदास (मृ० स० १८३५) के अनतर लालदास (मृ० स० १९८२) तक के ६ महतो के अनुसार निकालते हैं तो यह कुल १४७ वर्ष की दृष्टि मे केवल २४ वर्ष के ही लगभग आता है। उसकी शाहपुरा वाली शाखा के रामचरणदास (मृ० स० १८५५) के अनतर, निर्भयराम (मृ० स० २०१२) तक जोडते है तो ११ महतो के कारण यह माध्यम १४ वर्षो तक ही जाता है। अतएव इन ७ विभिन्न उदाहरणो द्वारा हम किसी निश्चित परिणाम तक पहुँचते नही जान पडते। यदि हम एक बार उपर्युक्त सख्याओ अर्थात् क्रमश १९, ३१, २७, १९, ४३, २४ तथा १४ का भी माध्यम निकालते है तो इसके फल-स्वरूप हमे कोई एक ऐसी सख्या मिलती है जो २५ से कुछ ही अधिक दीख पडती है।

पता नही इस प्रकार हिसाब लगाने का ढग कहाँ तक ठीक समझा जा सकेगा, किंतु इतना निश्चित है कि इसकी सहायता से हम किसी अनुमान तक पहुँचने योग्य हो सकते हैं। तदनुसार कह सकते हैं कि २५ वर्षो का समय मान कर चलना अनुचित नही है। यहाँ पर एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि रामसनेही सम्प्रदाय की शाहपुरा वाली शाखा के महतो का औसत गद्दी-काल केवल १४ वर्षों का ही आता है। इसका कोई कारण नही समझ पडता, न इस सबध मे कही कोई बात कही गई ही पायी जाती है। इसके सिवाय यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि

भी पता नहीं चलता न इनके किसी जीवन-वृत्त का ही कोई प्रामाणिक विवरण अभी तक उपलब्ध हो सका है। इनके केवल कबीर-शिष्य कहे जाने के ही नाते अनुमान किया जा सकता है कि इनका आविर्भाव-काल किसी समय विक्रमी संवत् की १६वीं शताब्दी के अंतर्गत अथवा इसके आस-पास रहा होगा।

प्रारंभिक जीवन और समाधि

संत ज्ञानीजी के लिए कहा जाता है कि जब कबीर साहब तत्त्वा-जीवा के यहाँ नर्मदा तट पर शुक्ल तीर्थ में गये हुए थे उस समय उनके विषय में लोगों के मुख से प्रशंसात्मक बातें सुन कर इन्होंने वहाँ पर उनसे भेंट की तथा ये उनसे प्रभावित भी हुए। इनका उसके पहले किसी 'सोजीजी' का शिष्य रहना भी कहा गया है।[1] ये सोजीजी कौन थे इस बात की ओर कोई संकेत किया गया नहीं पाया जाता। किंतु ये यदि वे ही भक्त सोजी हों जिनकी चर्चा नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' (छप्पय ९७)[2] में की है उस दशा में इनका भी कबीर साहब का समकालीन ठहरना कोई असंभव बात न होगी। उसकी एक प्रकार की गई टीका में तो इस बात का स्पष्ट उल्लेख तक कर दिया गया मिलता है कि उनसे इनकी भेंट भी हुई थी।[3] कहते हैं कि ज्ञानीजी ने कबीर साहब के साथ सत्संग कर लेने पर उनसे भी दीक्षा ग्रहण कर ली और ये तभी से उनके शिष्य हुए। प्रसिद्ध है कि कबीर साहब ने इन्हें वहाँ पर 'कबीर वट' के निकट विहंगम मार्ग का उपदेश दिया तथा इनसे यह भी कह दिया कि तुम्हारा कोई सम्प्रदाय चलेगा। तदनुसार उन्हें इन्होंने स्वयं 'राम' का ही स्वरूप मान कर पीछे 'राम-कबीर' शब्द का उच्चारण करना आरंभ कर दिया।

वहै ग्यानी यह निमल ग्यान मिटि गया तिमिर उदै भया भान ॥"
—हस्तलिखित प्रति से ।

१ सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० २५१-२। इस संबंध में हमें यह भी पता चलता है कि ज्ञानी जी का जन्म वास्तव में जेसलमीर के किसी 'भाटीक' वंश वाले राजपूत के घर हुआ था। इन्होंने अपने गुरु सोजीजी के प्रभाव में आकर अपना राजपाट छोड़ दिया था। उनके साथ भ्रमण करते हुए ये गुजरात प्रदेश के 'चालम' जिले की ओर चले आये थे। दे० "जैसल-मेर वाहीतरे भाटीक कुल राजपूत। गुर्जर देश पावन कियो ग्यानी ग्यान अवधूत ॥ उ० प० अं० सागर, पृ० १२।—लेखक।

२ दे० "जनी राम रावल स्याम सोजो संत सीहा" आदि।

३ नाभाजी कृत श्री भक्तमाल 'भक्तिरस बोधिनी टीका' तथा 'भक्ति रसायनी व्याख्या' सहित श्री वृन्दावन सन् १९६० ई० पृ० ६१५।

(५-६) संत तत्त्वा-जीवा : संक्षिप्त परिचय

'तत्त्वा' और 'जीवा' शब्द दो ऐसे व्यक्तियों के नाम सूचित करते हैं जो आपस मे भाई-भाई कहे गए हैं। इन दोनो के विषय मे नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' मे कहा है 'तत्त्वाजी और जीवाजी ये दोनो अमृतमय भक्ति समुद्र के दो दृढ तट के समान रहे और इन दोनो की पारस्परिक प्रीति उत्तरोत्तर बढती चली गई। इनका स्वभाव प्रसिद्ध रघुवंशियो का-जैसा था। दोनो शिष्ट पुरुष थे, धर्म मे निरत रहा करते थे, शूरवीर, धीर, उदार और दयालु थे, लोक-व्यवहार मे पटु थे, तथा अनन्यव्रती थे। श्रीसम्प्रदाय कमल को प्रफुल्लित कर देने वाले दो सूर्यो के समान उदित जान पडते थे। ये दोनो ही दक्षिण देश मे उत्पन्न हुए थे।"[1] इनके छप्पयो पर टीका लिखने वाले प्रियादासजी ने वतलाया है कि, "तत्त्वाजी और जीवाजी ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे, दोनो भाई भाई थे, दोनो का व्रत संतो की सेवा करना था। इन दोनो ने ही किसी गुरु से दीक्षा ग्रहण करने के संबंध मे एक प्रण कर लिया था। दोनो ने मिलकर अपने द्वार पर कोईएक शुष्क ठूठा-सा वृक्ष गाड रखा था जिसकी जड मे ये लोग, वहाँ पर अतिथि रूप मे आये संतो का चरणोदक लेकर डाल दिया करते थे। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि जिस किसी के ऐसे जल से वह लकडी हरी-भरी हो जायगी उसी को हम दोनो अपने गुरु के रूप मे स्वीकार करेंगे। तदनुसार कबीर साहब के आने पर इन्हे वैसी सफलता मिली।"[2] परन्तु केवल इतना ही

---

१. "भक्तिसुधाजल समुद भये, वेलावलि गाढ़ी।
पूरबजा ज्यो रीति प्रीति, उतरोत्तर बाढ़ी॥
रघुकुल सदृश सुभाव, सिष्ट, गुन सदा धर्मरत।
सूर धीर उदार दयापर, दच्छ अनन्यव्रत॥
पदम खड पदमा पधति, प्रफुलित कर सविता उदित।
तत्त्वाजीवा दच्छिन देस, वसोद्धर राजत विदित॥६९॥"–'भक्तमाल'

२ "तत्त्वाजीवा भाई उभै विप्र साधु सेवापन, मनधरी बात ताते शिष्य नहीं भये हैं।
गाड्यो एक ठूठ डार, होयहो हरी डार, संत चरणामृत को लेके डारि नये हैं।
जवही हरित देखै, ताको गुरु करि लेखै, आये श्री कबीर पूजि आस पाँव लये हैं।
नीठ नीठ नाम दियो दियो परिचाय धाम, काम कोऊ होय जो वै आवो कहि गये हैं॥३१२॥" वही।

उल्लेख कर देने से हमें यह नहीं पता चल पाता कि इनका और जीवन-वृत्त क्या रहा होगा। इनका परिचय देते समय अन्यत्र यह भी कहा गया है कि ये दोनों गुजरात प्रांत में नर्मदा नदी के तट पर वर्तमान शुक्लतीर्थ नामक तीर्थ-स्थान के सामने दूसरे तट पर बसे हुए किसी ग्राम के निवासी औदीच्य ब्राह्मण थे। वहाँ पर कबीर साहब के आने तथा उपर्युक्त घटना के संपन्न होने और सूखे ठूँठे काठ के 'कबीर बट' के रूप में परिणत हो जाने आदि को सूचित करने वाले किसी शिलालेख का भी उल्लेख किया गया मिलता है। वह कदाचित् वहीं पर विद्यमान है तथा जिसमें सं० १४६५ का समय भी उल्लिखित है। कहते हैं कि उक्त कबीर बट के निकट बराबर प्रत्येक कार्तिकी पूर्णिमा को एक मेला लगा करता है तथा वहाँ पर कबीर साहब की एक मूर्ति भी है।[1]

आविर्भाव-काल

इस प्रकार यदि उक्त शिलालेख वास्तव में तत्त्वा-जीवा वाली घटना का ही स्मारक है उस दशा में वह बड़े महत्त्व का है। वह न केवल तत्त्वा-जीवा के जीवन-काल पर प्रकाश डालता है अपितु वह इस बात की ओर भी संकेत करता है कि कबीर साहब ने किस समय उधर की ओर देश भ्रमण किया था तथा उन्होंने किस प्रकार अपने मत का प्रचार भी किया होगा। 'कबीर बट' का तो वहाँ पर आज भी किसी न किसी रूप में वर्तमान रहना कहा जाता है किंतु उक्त शिलालेख का यथेष्ट विवरण नहीं मिलता। इसके सिवाय न तो अभी तक हमें तत्त्वा-जीवा की किसी रचना का पता चला है, न यही जान पड़ता है कि उनकी विचार-धारा क्या थी। नाभादास के छप्पय से हमें ऐसा लगता है कि ये लोग स्वामी रामानुजाचार्य के श्रीसम्प्रदाय (पद्मापद्धति) के अनुयायी रहे होंगे। किंतु कबीर साहब से संबद्ध उपर्युक्त घटना के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि इन्होंने पीछे उनका भी अनुगमन स्वीकार कर लिया होगा। कुछ लोग यहाँ तक भी अनुमान करते हैं कि इन दोनों में से तत्त्वाजी वा जीवाजी ने वर्तमान फतुहामठ (जिला पटना

---

१ "गुर्जरे शुक्लतीर्थस्थावौदीच्य कुलसम्भवौ।
तत्त्वाजीवेति नामाख्यावास्तां सहोदरा बुभौ॥१॥
वहबकेषु व्यतीतेषु ताप महान वटोऽभवत।
व्यतीतोऽस्मौ महाख्यातो 'कबीर बट' नामकः॥१२२॥"
"वाणरसमुनीमिताब्दे समाप्तोऽभ तद्युग।
इति तत्रशिलालेखा प्रख्यातेति सूच्यतेऽमुना॥११४॥
—सद गुरु श्रीकबीर चरितम्।

इसके आधार पर इस नाम से 'रामकबीर-पथ' की स्थापना हो गई तथा इनके शिष्य गोपालदास तथा प्रशिष्य जीवनदास ने उसका प्रचार किया। कहते हैं कि सत ज्ञानीजी की समाधि नर्मदा नदी के दक्षिण तट पर बसे हुए किसी 'साजापुर' ग्राम मे आज तक भी वर्तमान चली आती है[1]। इस प्रकार, यदि इन सत ज्ञानीजी तथा उपर्युक्त सबदियो आदि के रचयिता ज्ञानीजी को एक और अभिन्न सिद्ध किया जा सके, उस दशा मे हम कह सकते हैं कि कबीर-शिष्य ज्ञानीजी अमुक प्रदेश के निवासी तथा अमुक प्रकार के पथ-प्रवर्त्तक भी रहे होगे।

सत ज्ञानीजी की रचनाएँ

इधर की खोज-सबधी सूचनाओ द्वारा सत ज्ञानीजी की एक रचना 'शब्द पारखी' का पता चला है।[2] इनकी एक अन्य पुस्तक 'ब्रह्मस्तुति' का भी उल्लेख किया गया है, किंतु उसकी प्रति का खडित होना भी बतलाया गया है। इसी प्रकार 'ज्ञानीजी की साखी' नाम का भी कोई एक ग्रथ मिला है जिसमे इनकी विविध साखियाँ सगृहीत है।"[3] इनकी तीस सबदियो का पता विभिन्न सतो के बानी-सग्रहो से भी चलता है जिन्हे प्रकाशित कर दिया गया है।[4] परन्तु इस सामग्री की छानबीन करने पर जान पडता है कि ये सबदियाँ, सभवत उक्त 'शब्द पारखी' ग्रथ से ही लेकर सग्रह-ग्रथो मे समाविष्ट कर ली गई होगी। क्योकि इनका जो पाठ हमे उक्त खोज-सबधी सूचनाओ मे मिलता है वह इनके पाठ से अधिक भिन्न नही प्रतीत होता। परन्तु 'ज्ञानीजी की साखी' का उल्लेख करते समय उसके रचयिता का नाम वहाँ पर "जसवत (सभवत ज्ञानी)'—जैसा दिया गया दीख पडता है। उसमे से उद्धृत की गई पक्तियो मे से कुछ मे 'ज्ञानी' की जगह 'जसवत' नाम भी पाया जाता है। उसकी एक साखी से तो हमे ऐसा भी लगता है कि 'ज्ञानी' तथा 'जसवंत' दोनो एक ही व्यक्ति के नाम न होकर किन्ही दो भिन्न-भिन्न कवियो के भी हो सकते हैं। 'ज्ञानी' शब्द का प्रयोग वहाँ पर किसी 'मिथ्या ज्ञानी' के लिए भी किया गया हो सकता है।[5] इसी प्रकार, यदि दोनो नाम एक ही व्यक्ति के सूचक हो तो,

---

१ 'सद्गुरु श्री कबीर चरितम्', पृ० २५४।
२ हस्तलिखित हिंदी-ग्रथो की खोज सबधी त्रयोदश त्रैवार्षिक रिपोर्ट, सन् १९२६-२८ ई०, स० २०१०, पृ० ३४२-३, काशी ना० प्र० सभा।
३ वही, स० १००वीं।
४ 'सतवाणी' पृ० १०-१ मे डॉ० पारसनाथ तिवारी, प्रयाग का 'ज्ञानी और उनकी सबदियाँ' शीर्षक लेख।
५ 'जसवत को चित चल्यो, सुनि ग्यानी को ग्यान।
रहनी करनी तिल भर नहीं, कथनी मेरु समान॥'

उल्लेख कर देने से हमें यह नहीं पता चल पाता कि इनका और जीवन-वृत्त क्या रहा होगा। इनका परिचय देते समय अन्यत्र यह भी कहा गया है कि ये दोनों गुजरात प्रांत में नर्मदा नदी के तट पर वर्तमान शुक्लतीर्थ नामक तीर्थ-स्थान के सामने दूसरे तट पर बसे हुए किसी ग्राम के निवासी औदीच्य ब्राह्मण थे। वहाँ पर कबीर साहब के जाने तथा उपर्युक्त घटना के संपन्न होने और सूखे ठूंठे काठ के 'कबीर वट' के रूप में परिणत हो जाने आदि को सूचित करने वाले किसी शिलालेख का भी उल्लेख किया गया मिलता है। वह कदाचित् वहीं पर विद्यमान है तथा जिसमें सं० १४६५ का समय भी उल्लिखित है। कहते हैं कि उक्त कबीर वट के निकट प्रतिवर्ष प्रत्येक कार्तिकी पूर्णिमा को एक मेला लगा करता है तथा वहाँ पर कबीर साहब की एक मूर्ति भी है।[1]

आविर्भाव-काल

इस प्रकार यदि उक्त शिलालेख वास्तव में तत्वा जीवा वाली घटना का ही स्मारक है उस दशा में वह बड़े महत्त्व का है। वह न केवल तत्त्वा-जीवा के जीवन काल पर प्रकाश डालता है अपितु वह इस बात की ओर भी संकेत करता है कि कबीर साहब ने किस समय उधर की ओर देश भ्रमण किया था तथा उन्होंने किस प्रकार अपने मत का प्रचार भी किया होगा। 'कबीर वट' का तो वहाँ पर आज भी किसी न किसी रूप में वर्तमान रहना कहा जाता है किंतु उक्त शिलालेख का यथेष्ट विवरण नहीं मिलता। इसके सिवाय न तो अभी तक हमें तत्वा जीवा की किसी रचना का पता चला है न यही जान पड़ता है कि उनकी विचार-धारा क्या थी। नाभादास के छप्पय से हमें ऐसा लगता है कि ये लोग स्वामी रामानुजाचार्य के श्रीसंप्रदाय (परमारथपंथ) के अनुयायी रहे होंगे। किंतु कबीर साहब से संबद्ध उपर्युक्त घटना के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि इन्होंने पीछे उनका भी मत ग्रहण स्वीकार कर लिया होगा। कुछ लोग यहाँ तक भी अनुमान करते हैं कि इन दोनों में से [illegible] (जिनका परमा

---

१ "नर्मदे शुक्लतीर्थस्याग्रतोऽस्य कलतःस्थली।
तत्त्वाजीवेति नामानौ [illegible] सहोदरौ बुधौ ॥१॥"
वटवृक्ष [illegible] महान् वटो भवत्।
[illegible] 'कबीर वट' नामकः ॥१२९॥"
[illegible] सद्गुरु।
इति [illegible] ॥१३०॥"
—सद्गुरु श्रीकबीर चरितम्।

बिहार) का सर्वप्रथम प्रवर्तन किया होगा जिसकी कुछ पुष्टि वहाँ के २२ महतो के कालानुसार भी की जा सकती है ।

(७) सत ज्ञानीजी

कबीर शिष्य ज्ञानी जी

सत ज्ञानीजी के विषय मे राघोदास की 'भक्तमाल' के अतर्गत कहा गया मिलता है कि ये कबीर साहब के प्रमुख शिष्यो मे थे । इनके लिए उन्होने एक पृथक् छप्पय भी लिखा है जिसमे बतलाया गया है, "इन्होने कबीर साहब से ज्ञान प्राप्त करके परमार्थ के प्रचार के उद्देश्य से पश्चिम दिशा मे जाकर उपदेश दिये थे । ये भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य मे सर्वोपरि थे । इन्हें काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मात्सर्य इनमे से कुछ भी नही था, प्रत्युत धर्म, शील, सतोष, दया और दीक्षा के गुण इनमे प्रचुर मात्रा मे विद्यमान थे । इनमे रत्ती भर भी अभिमान नही था, न क्रोध ही था ।"[1] परन्तु इनके सबध मे अन्यत्र प्राय कुछ भी कहा गया नही मिलता, न इनकी उपलब्ध पक्तियो द्वारा ही हमे यथेष्ट सकेत मिलता है । अपनी 'सबदियो' मे इन्होने केवल इतना कहा है, "मुझ ज्ञानी का गुरु कबीर इस प्रकार कहता है"[2] तथा "सद्गुरु कबीर के मिल जाने पर 'जनज्ञानी' का सदेह दूर हो गया ।"[3] इन्होने इस बात को इस प्रकार भी कहा है, "सद्गुरु ने मुझे यह सुझा दिया कि 'शब्द' का रहस्य जान लेना वास्तविक परीक्षा का आधार है जिसके अनुसार मैंने सभी सतो के मतो का सारतत्त्व ग्रहण कर लिया । इस प्रकार निर्मल ज्ञान को प्राप्त कर लेते ही मेरे भ्रम का अधकार मिट गया और मेरे भीतर सूर्य का-जैसा प्रकाश हो गया ।"[4] इनके जीवन-काल की तिथियो अथवा इनके जन्म-स्थानादि का कुछ

---

१ "श्री कबीर साहेब पैं ग्यानी पायो ग्यान को ।
पच्छिम दिसि उपदेश कियौ, परमारथ काजैं ।
भक्ति ग्यान वैराग सहित सर्वोपरि राजैं ॥
काम क्रोध, मद, लोभ, मोह मच्छर नहि काई ।
धरम, सील, सतोष दया दीनता सुहाई ॥
राघो रोस रतीन उर, दूर कियो अभिमान को ।" श्री कबीर आदि, छप्पय ३५५ ।

२. "ग्यानी का गुरु कहे कबीरा"—सबदी ३

३ "वटक बीज की मांझ मे देखि भया मन भीर ।
जन ग्यानी का ससा मिटया, सतगुरु मिल्या कबीर ॥"—हस्तलिखित प्रति

४. "सबद परिष की परिषा होई । ऐसा जो जन उधरे सोई ॥
सतगुर मिलि मोहि दिया विचार, सर्व सत का लीया सार ॥

भी पता नहीं चलता न इनके किसी जीवन-वृत्त का ही कोई प्रामाणिक विवरण अभी तक उपलब्ध हो सका है। इनके केवल कबीर-शिष्य कहे जाने के ही नाते अनुमान किया जा सकता है कि इनका आविर्भाव-काल किसी समय विक्रमी संवत् की १६वीं शताब्दी के अंतर्गत अथवा इसके आस-पास रहा होगा।

प्रारंभिक जीवन और समाधि

संत ज्ञानीजी के लिए कहा जाता है कि जब कबीर साहब तत्त्वा-जीवा के यहाँ नर्मदा तट पर शुक्ल तीर्थ में गये हुए थे उस समय उनके विषय में लोगों के मुख से प्रशंसात्मक बातें सुन कर इन्होंने वहाँ पर उनसे भेंट की तथा ये उनसे प्रभावित भी हुए। इनका उसके पहले किसी 'खोजीजी' का शिष्य रहना भी कहा गया है।[1] ये खोजीजी कौन थे इस बात की ओर कोई संकेत किया गया नहीं पाया जाता। किंतु ये यदि वे ही भक्त खोजी हों जिनकी चर्चा नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' (छप्पय ९७)[2] में की है उस दशा में इनका भी कबीर साहब का समकालीन ठहरना कोई असंभव बात न होगी। उसकी एक इधर की नई टीका में तो इस बात का स्पष्ट उल्लेख तक कर दिया गया मिलता है कि उनसे इनकी भेंट भी हुई थी।[3] कहते हैं कि ज्ञानीजी ने कबीर साहब के साथ सत्संग कर लेने पर उनसे भी दीक्षा ग्रहण कर ली और ये तभी से उनके शिष्य हुए। प्रसिद्ध है कि कबीर साहब ने इन्हें वहीं पर 'कबीर वट' के निकट 'विहंगम मार्ग' का उपदेश दिया तथा इनसे यह भी कह दिया कि तुम्हारा कोई सम्प्रदाय चलेगा। तदनुसार उन्हें इन्होंने स्वयं 'राम' का ही स्वरूप मान कर पीछे 'राम-कबीर' शब्द का उच्चारण करना आरंभ कर दिया।

कहै ग्यानी यह निर्मल ग्यान मिटि गया तिमिर उदै भया भान ॥"
—हस्तलिखित प्रति से।

१ सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० २५१-२। इस संबंध में हमें यह भी पता चलता है कि ज्ञानी जी का जन्म वास्तव में जैसलमीर के किसी 'भाटीक' वंश वाले राजपूत के घर हुआ था। इन्होंने अपने गुरु खोजीजी के प्रभाव में आकर अपना राजकाज छोड़ दिया था। उनके साथ भ्रमण करते हुए ये गुजरात प्रदेश के 'कासम' जिले की ओर चले आये थे। दे० "जैसल-मेर बाहीतरे भाटीक कुल राजपूत। गुर्जर देश पावन कियो ग्यानी ग्यान अवधूत ॥ उ० म० भं० सागर, पृ० १२।—लेखक।

२ दे० "छती राम रावल, स्याम खोजी संत सीहा" आदि।

३ नाभाजी कृत श्री भक्तमाल 'भक्तिरस बोधिनी टीका' तथा 'भक्ति रसायनी व्याख्या' सहित श्री वृंदावन सन् १९६१ ई० पृ० ६१५।

बिहार) का सर्वप्रथम प्रवर्तन किया होगा जिसकी कुछ पुष्टि वहाँ के २२ महतो के कालानुसार भी की जा सकती है ।

(७) सत ज्ञानीजी

कबीर शिष्य ज्ञानी जी

सत ज्ञानीजी के विषय मे राघोदास की 'भक्तमाल' के अतर्गत कहा गया मिलता है कि ये कबीर साहब के प्रमुख शिष्यो मे थे । इनके लिए उन्होंने एक पृथक् छप्पय भी लिखा है जिसमे बतलाया गया है, "इन्होंने कबीर साहब से ज्ञान प्राप्त करके परमार्थ के प्रचार के उद्देश्य से पश्चिम दिशा मे जाकर उपदेश दिये थे । ये भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य मे सर्वोपरि थे। इन्हे काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मात्सर्य इनमे से कुछ भी नही था, प्रत्युत धर्म, शील, सतोष, दया और दीक्षा के गुण इनमे प्रचुर मात्रा मे विद्यमान थे। इनमे रत्ती भर भी अभिमान नही था, न क्रोध ही था।"[1] परन्तु इनके सबध मे अन्यत्र प्राय कुछ भी कहा गया नही मिलता, न इनकी उपलब्ध पक्तियो द्वारा ही हमे यथेष्ट सकेत मिलता है । अपनी 'सबदियो' मे इन्होंने केवल इतना कहा है, "मुझ ज्ञानी का गुरु कबीर इस प्रकार कहता है"[2] तथा "सद्‌गुरु कबीर के मिल जाने पर 'जनज्ञानी' का सदेह दूर हो गया।"[3] इन्होंने इस बात को इस प्रकार भी कहा है, "सद्‌गुरु ने मुझे यह सुझा दिया कि 'शब्द' का रहस्य जान लेना वास्तविक परीक्षा का आधार है जिसके अनुसार मैंने सभी सतो के मतो का सारतत्त्व ग्रहण कर लिया । इस प्रकार निर्मल ज्ञान को प्राप्त कर लेते ही मेरे भ्रम का अधकार मिट गया और मेरे भीतर सूर्य का-जैसा प्रकाश हो गया।"[4] इनके जीवन-काल की तिथियो अथवा इनके जन्म-स्थानादि का कुछ

---

१ "श्री कबीर साहेब पैं ग्यानी पायो ग्यान को ।
पच्छिम दिसि उपदेश कियौ, परमारथ काजैं ।
भक्ति ग्यान वैराग सहित सर्वोपरि राजैं ॥
काम क्रोध, मद, लोभ, मोह मच्छर नहि काई ।
धरम, सील, सतोष दया दीनता सुहाई ॥
राघो रोस रतीन उर, दूर कियो अभिमान को।" श्री कबीर आदि, छप्पय ३५५।

२. "ग्यानी का गुरु कहे कबीरा"—सबदी ३

३. "बटक बीज की मांझ मे देखि भया मन भीर ।
जन ग्यानी का ससा मिटया, सतगुरु मिल्या कबीर॥"—हस्तलिखित प्रति

४. "सबद परिख की परिषा होई । ऐसा जो जन उधरे सोई ॥
सतगुर मिलि मोहि दिया विचार, सर्व सत का लीया सार ॥

'जसवंत' शब्द ज्ञानी के पूर्व नाम के रूप में व्यवहृत किया गया भी हो सकता है। यदि ये दोनों किन्हीं दो व्यक्तियों की ओर निर्देश करते हों, उस दशा में यह भी संभव है कि यह (जगवंत) शब्द इनके किसी शिष्य वा इनके द्वारा प्रभावित व्यक्ति को सूचित करता हो। उसने इनकी साखियों का संगृहीत करते समय इनकी ऐसी रचनाओं के साथ अपनी कुछ कृतियों को भी मिला दिया हो। उपर्युक्त तीसरी रचना 'ब्रह्मस्तुति' के अधूरी पाये जाने तथा उसके कोई उद्धरण न मिल सकने के भी कारण उस पर कोई विचार प्रकट नहीं किया जा सकता। ज्ञानीजी के ग्रंथ 'शब्द पारखी' के प्राप्त अंशों के आधार पर कहा जा सकता है कि उसमें क्रमागत गुरु जोगी मुनि संन्यासी जंगम पंडित ब्राह्मण हिंदू शेख मुसलमान मुल्ला पीर, सैयद गृही भक्त दास मुक्त स्वामी श्याम सेवक वैरागी जती सिद्ध ध्यानी नागा आदि जैसे शब्दों द्वारा सूचित किये जाने वाले विविध प्रकार के आदर्श रूपों का परिचय देने की चेष्टा की गई है। उदाहरण के लिए गुरु के विषय में ज्ञानीजी ने कहा है 'जो अलख का अनुभव स्वयं कर ले शब्द का विचार करे अपनी ही भाँति औरों को भी मुक्त कर देने में समर्थ हो पक्षपात रहित हो लोक-वेद के प्रतिकूल भी चल सके तथा आत्मचिंतन में लीन रहे वही मेरा गुरु है।'[1] इसी प्रकार जोगी जंगम सेख आदि के विषय में भी जो यहाँ पर कहा गया है वह भी अधिकतर उसी रूप में मिलता है जिसमें कबीर साहब ने प्रकट किया है। 'ज्ञानीजी की साखी' ग्रंथ से उद्धृत रचनाओं से पता चलता है कि उनका भी निर्माता प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करता है जो कबीर साहब आदि संतों के यहाँ पायी जाती हैं तथा उसकी कथन-शैली भी उनसे किसी प्रकार भिन्न नहीं ठहरायी जा सकती।[2]

---

१ "अलेख देखि शब्द विचारै। आप तरै औरनहूँ तारै।
पक्षा पक्षी को पथ न सालै। लोकवेद से उलटा चालै।
आतम तत का करै विचारा। कहै ग्यानी सो गुरू हमारा'—रिपोर्ट, पृ. १५२।

२ 'बहुतक बन मैं ढूँढ़िया ढूँढ़ या देस बिदेस।
ग्यानी राम न पाइया बिन सतगुर उपदेस॥
पाप ताप सब कल्पना सतसंगति ते जाय।
ग्यानी दुख सहजे मिटे सुख में रहे समाय॥
ना हरि बैकुंठ में बसै ना कहुँ जोगी माँहि।
ग्यानी हरिजन जहाँ हरि, दूजा ठाम को नाँहि॥

—साधु महात्म।

इसके आधार पर इस नाम से 'रामकबीर-पथ' की स्थापना हो गई तथा इनके शिष्य गोपालदास तथा प्रशिष्य जीवनदास ने उसका प्रचार किया। कहते हैं कि सत ज्ञानीजी की समाधि नर्मदा नदी के दक्षिण तट पर बसे हुए किसी 'साजापुर' ग्राम मे आज तक भी वर्तमान चली आती है[1]। इस प्रकार, यदि इन सत ज्ञानीजी तथा उपर्युक्त सबदियो आदि के रचयिता ज्ञानीजी को एक और अभिन्न सिद्ध किया जा सके, उस दशा मे हम कह सकते हैं कि कबीर-शिष्य ज्ञानीजी अमुक प्रदेश के निवासी तथा अमुक प्रकार के पथ-प्रवर्त्तक भी रहे होगे।

सत ज्ञानीजी की रचनाएँ

इधर की खोज-सबधी सूचनाओ द्वारा सत ज्ञानीजी की एक रचना 'शब्द पारखी' का पता चला है।[2] इनकी एक अन्य पुस्तक 'ब्रह्मस्तुति' का भी उल्लेख किया गया है, किंतु उसकी प्रति का खडित होना भी बतलाया गया है। इसी प्रकार 'ज्ञानीजी की साखी' नाम का भी कोई एक ग्रथ मिला है जिसमे इनकी विविध साखियाँ सगृहीत है।"[3] इनकी तीस सबदियो का पता विभिन्न सतो के बानी-सग्रहो से भी चलता है जिन्हे प्रकाशित कर दिया गया है।[4] परन्तु इस सामग्री की छानबीन करने पर जान पडता है कि ये सबदियाँ, सभवत उक्त 'शब्द पारखी' ग्रथ से ही लेकर सग्रह-ग्रथो मे समाविष्ट कर ली गई होगी। क्योकि इनका जो पाठ हमे उक्त खोज-सबधी सूचनाओ मे मिलता है वह इनके पाठ से अधिक भिन्न नही प्रतीत होता। परन्तु 'ज्ञानीजी की साखी' का उल्लेख करते समय उसके रचयिता का नाम वहाँ पर "जसवत (सभवत ज्ञानी)'—जैसा दिया गया दीख पडता है। उसमे से उद्धृत की गई पक्तियो मे से कुछ मे 'ज्ञानी' की जगह 'जसवत' नाम भी पाया जाता है। उसकी एक साखी से तो हमे ऐसा भी लगता है कि 'ज्ञानी' तथा 'जसवंत' दोनो एक ही व्यक्ति के नाम न होकर किन्ही दो भिन्न-भिन्न कवियो के भी हो सकते हैं। 'ज्ञानी' शब्द का प्रयोग वहाँ पर किसी 'मिथ्या ज्ञानी' के लिए भी किया गया हो सकता है।[5] इसी प्रकार, यदि दोनो नाम एक ही व्यक्ति के सूचक हो तो,

---

१ 'सद्गुरु श्री कबीर चरितम्', पृ० २५४।

२ हस्तलिखित हिंदी-ग्रथो की खोज सबधी त्रयोदश त्रैवार्षिक रिपोर्ट, सन् १९२६-२८ ई०, स० २०१०, पृ० ३४२-३, काशी ना० प्र० सभा।

३ वही, स० १००वीं।

४. 'सतवाणी' पृ० १०-१ मे डॉ० पारसनाथ तिवारी, प्रयाग का 'ज्ञानी और उनकी सबदियाँ' शीर्षक लेख।

५ 'जसवत को चित चल्यो, सुनि ग्यानी को ग्यान।
रहनी करनी तिल भर नहीं, कथनी मेरु समान॥'

की प्रथम भेंट वस्तुतः कहाँ पर हुई होगी। यदि कबीर साहब का निधन-काल सं० १५ ५ स्वीकार किया जाय उस दशा मे उक्त सं० १५४५ में इनका उनके द्वारा दीक्षित किया जाना कभी सभव नही कहला सकता न तब इनके उक्त जन्म काल सं० १५३८ को ही तर्क-संगत समझा जा सकता है। कहते हैं कि धर्मदास को *बिद्दूपुर के मठ वाले तथा धमकटा या शिवपुर के मठवाले* दोनों ही अपने अपने पंथ का मूल प्रवर्त्तक स्वीकार करते हैं। किंतु इसके साथ ही अपने स्थान को प्रधान तथा दूसरे को उसकी शाखा भी ठहराया करते हैं। ये लोग इसके लिए कोई निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नही प्रस्तुत कर पाते जिसके आधार पर इसका निर्णय किया जा सके। उसी के प्रसंग में इस बात का भी निश्चय किया जा सके कि उन दोनो मठों में से प्रथम की स्थापना कब हुई होगी। केवल बिद्दूपुर वाले मठ के गद्दीधारियो की उपलब्ध नामावली से प्रकट होता है कि उसके स्थापना काल से धर्मदास को लेकर १७ महंत हो चुके हैं जहाँ शिवपुर के मठ म कोई ऐसी तालिका सुरक्षित नही कही जाती।[1] अतएव यदि बिद्दूपुर वाली सूची के अनुसार विचार किया जाय तथा प्रत्येक महंत के गद्दी-काल की औसत २५ वर्ष का मान ली जाय उस दशा मे कहा जा सकता है कि इसकी स्थापना कही १६वी विक्रमी शताब्दी के मध्यकाल के लगभग हुई होगी। यह घटना संभवतः उसके पहले भी हो सकती है जिस दशा म धर्मदास का जन्म-काल सं० १५३८ न होकर कभी और भी पहले बसा सकता है। वैसी दशा में हमारा इन्हें कबीर-शिष्य कहना अधिक ठीक भी माना जा सकेगा।

(९) संत भागोदास संक्षिप्त परिचय

कबीर-शिष्य कहे जाने वाले संत भागोदास को कभी-कभी 'भागूदास' नाम द्वारा भी अभिहित किया जाता है। कहा जाता है कि ये संत धर्मदास के सहोदर भाई थे। कबीर साहब का देहांत हो जाने पर जब उनके ग्रथ 'बीजक' को अपनाने के विषय में दोनों के बीच कोई झगड़ा उठा हुआ तो इन दोनों की माता ने उस पुस्तक म किंचित् पाठभेद करके निपटारा किया था। परन्तु ऐसी किसी घटना

---

१ १ भागूदास २ मथुरादास ३ गर्वूदास ४ श्यामदास ५ प्रेमदास ६ धरणी-दास ७ हरिदास ८ हाथीदास ९ प्रियतम दास १ प्रेमदास ११ संतोषदास १२ ममताराम १३ गरीबदास १४ सुन्दराम दास १५ मूलमणदास १६ अमृतदास और श्री रामकुमार दास। —कबीर और कबीरपंथ तुलनात्मक अध्ययन।

(८) संत जागूदास प्रारंभिक जीवन

कबीर-शिष्य जागूदास वा जागोदास के लिए प्रसिद्ध है कि इनका जन्म किसी उत्कल ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। ये वर्तमान उडीसा प्रात के कटक नगर मे उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम जगरदत्त था तथा इनकी माता कमलेश्वरी कही जाती थी। इनका जन्म सवत् १५३८ विक्रमी बतलाया जाता है। कहा जाता है कि शिशु-काल मे ये अधिक रोया भी करते थे। इस कारण इनके माता-पिता ने इन्हे काशीपुरी के निकट 'वनकटा' जगल मे लाकर कबीर साहब को अर्पित कर दिया।[1] परन्तु एक अन्य मत के अनुसार इन्हे इनके माता-पिता ने वही कटक मे ही कबीर साहब को दे दिया था जहाँ वे घूमते-घामते आये थे। इसके अनतर ये कुछ दिनो तक कोई कुटी बना कर वहाँ निवास भी करते रहे। फिर कुछ साधना कर लेने के अनतर ये पीछे बिहार प्रात की ओर निकल पडे, जहाँ पर इन्होने राज-नगर नामक किसी ग्राम से कुछ दूरी पर 'अधरागढी' कहे जानेवाले स्थान मे रहना आरभ किया। वहाँ पर इनके लिए वहाँ की रानी ने एक भवन भी बनवा दिया। कहते हैं कि जागूदास ने फिर अपने उस निवास-स्थान का भी त्याग कर दिया। वहाँ पर अपने किसी शिष्य को बिठला कर ये स्वय किसी बसतपुर नामक ग्राम मे चले आये जो वर्तमान समस्तीपुर नगर से प्राय ७ कोस की दूरी पर विद्यमान है। इस स्थान के निकट भी उक्त रानी की ओर से इनके लिए कुछ भूमि का प्रबध कर दिया गया जो आज तक सुरक्षित है। परन्तु कहते हैं कि जागू-दास फिर वहाँ पर भी अधिक काल तक नही ठहर सके। ये अत मे बिद्दूपुर आ गए। बिद्दूपुर चले आने के अनतर इनका वही पर देहात हो जाना भी बतलाया जाता है, किंतु इनके इस मृत्यु-काल का कोई निश्चित समय ज्ञात नही है।[2]

इनके कबीर साहब द्वारा काशीपुरी के निकट दीक्षित होने का समय स० १५४५ दिया गया मिलता है जिससे पता चलता है कि इनकी अवस्था उस समय केवल ७ वर्ष की ही रही होगी। इसके उपरात इनका वहाँ पर उनके द्वारा ध्यान मार्ग की साधना मे नियुक्त किया जाना भी बतलाया जाता है। इसके लिए कोई अन्य प्रमाण भी अभी तक उपलब्ध नही है। इसके सिवाय हमे अभी तक यह भी ज्ञात नही कि कबीर साहब की उपर्युक्त उत्कल-यात्रा किस समय हुई थी। इस कारण, वर्तमान सामग्री के आधार पर यह निश्चय किया जाना सभव नही कि इन दोनो

---

१. सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० ४१४-५।

२ कबीर और कबीर-पथ तुलनात्मक अध्ययन।

रहा होगा तथा इनके माता-पितादि कौन रहे होंगे। इनके जीवन-वृत्त की कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर इससे कोई भी स्पष्ट प्रकाश पड़ता नहीं प्रतीत होता न केवल इतने मात्र से ही हम इनके व्यक्तित्व अथवा विचार-धारा का ही कोई मूल्यांकन कर पाते हैं। जनश्रुति इन्हें कभी-कभी धर्मदास के १७५ वर्ष पीछे तक ले जाती हुई भी जान पड़ती है जिससे इनका कबीर शिष्य होना तक संदिग्ध बन जाता है। परन्तु इस प्रकार का कथन हमें निर्मूल-सा लगने लगता है जब हम इनके द्वारा स्थापित की गई उक्त 'भगताही शाखा' के गद्दीधारी महंतों की तालिका पर विचार करते हैं। जब हमें 'भक्तिपुष्पांजलि' के अंतर्गत लिखित उनकी सूची के आधार पर पता चलता है कि 'भागोदास' से लेकर आज तक उनकी संख्या २ तक पहुँच गई है।[1] अतएव उस दशा में हम यह अनुमान कर लेने की प्रवृत्ति होती है और हम इस निष्कर्ष तक भी पहुँच जाते हैं कि इनका समय सम्भवतः सं. १५५ के लगभग रहा होगा जिसकी ओर हम अभी जागूदास के संबंध में भी संकेत कर चुके हैं।

(१) संत सुरत गोपाल उपलब्ध परिचय

संत सुरतगोपाल के लिए कहा गया है कि इनका पूर्व नाम 'सर्वाजीत' रहा और ये एक महान् पंडित भी थे। कबीर साहब से शास्त्रार्थ में हार कर इन्होंने उनकी शिष्यता स्वीकार की और तब से इनके नाम में इस प्रकार का परिवर्तन आ गया।[2] परन्तु यह सुरतगोपाल अथवा श्रुतिगोपाल ही नाम इन्हें क्यों दिया गया दूसरा कोई नहीं दिया जा सका इस बात का प्रत्यक्ष समाधान हमारे देखने में नहीं होता न इसके संबंध में किये गए किसी अनुमान से ही हमें पूरा बोध हो पाता है। कहते हैं कि 'सर्वाजीत' नाम भी इनकी कोई पदवी मात्र ही थी और इनका वास्तविक नाम 'सर्वानंद' था। ये काशी के रहनेवाले थे और यहीं से अपने धर्मशास्त्रादि ग्रंथों को बैल पर लाद कर ये सब कहीं बाहर गये थे। सर्वत्र शास्त्रार्थ में पंडितों को परास्त कर इन्होंने 'सर्वाजीत' कहलाना आरंभ

---

१ भगवान् गोस्वामी २ घनश्याम ३ कबीरन ४ जीवमन ५ सुधाकर, ६ गणेश ७. कोकिल ८ व्रतधारी ९ श्रीनमन १० सीतम ११ भूपाल, १२ परमेश्वर, १३ गुणपाल, १४ प्रेममणि १५ जयमन १६. हरिनाम १७. स्वरूप १८ रामरूप १९. रामनवल तथा २० रामधारी।—कबीर और कबीर पंथ।

२ हरिचरण गोस्वामी के ग्रंथ भक्ति पुष्पांजलि पृ ५ के आधार पर 'कबीर और कबीर पंथ' पृ ६ पर लिखित मत।

की प्रामाणिकता का समर्थन अन्य प्रकार से होता नही जान पडता जिस कारण इसका कोई महत्त्व नही है। सत भागोदास का एक अन्य नाम 'भगवान् गोसाई' भी प्रसिद्ध है कहा जाता है कि ये पहले किसी हरिव्यासी भक्त के शिष्य थे।[१] किंतु जब इन्हे उस दशा मे पूरी शाति मिलती नही प्रतीत हुई तो ये कबीर साहब के शरणापन्न हो गए। भगवान् गोसाई नाम के अत मे 'गोसाई' (गोस्वामी) शब्द जुडे रहने के कारण तथा इनके अनुयायियो की वेशभूषा मे कतिपय निंबार्क सम्प्रदायानुमोदित तिलकादि के पाये जाने के कारण भी, इस मत की पुष्टि होती कही जाती है, किंतु केवल इतना यथेष्ट नही जान पडता। कहा जाता है कि कबीर साहब का शिप्यत्व ग्रहण कर लेने के अनतर ये प्राय उन्ही के साथ रहा करते थे। इस प्रकार, समय-समय पर उनके मुख से निकलने वाले शब्दो अथवा उपदेशो को लिपिबद्ध भी कर लिया करते थे। फलत उनका देहात हो जाने के अनतर इन्होने वैसी बानियो को सगृहीत करके एक पृथक् 'गुटका' तैयार किया जिसे कुछ लोगो ने वर्तमान 'कबीर बीजक' ग्रथ का मूल रूप तक ठहराया है। कहा गया है कि पीछे उसमे केवल कुछ ही वृद्धि की गई है। प्रसिद्धि तो यहाँ तक भी है कि उक्त गुटके को भागोदास ने कही दूर ले जाकर उसे छिपा रखा था जो पीछे प्राप्त किया जा सका। महर्षि शिवब्रतलाल के अनुसार भागोदास ने उक्त गुटके मे 'छ सौ वचन मुतखिब करके' उसे तैयार किया था।[२]

आविर्भाव-काल

सत भागोदास को कुछ लोगो ने अपने जन्म से अहीर जाति का होना भी कहा है और बतलाया है कि ये मूलत पिशौराबाद (बुदेलखड) के निवासी थे फिर पीछे विहार की ओर चले आये थे। ऐसे लोगो का यह भी कहना है कि ये कुछ समय के लिए बाधोगढ भी चले गये थे जहाँ पर धर्मदास ने इनके 'गुटके' को इनसे लेना चाहा। किंतु इन्होने उन्हे उसे देना स्वीकार नही किया, प्रत्युत उसे लेकर ये बिहार की ओर चले आये। इधर आ जाने पर इन्होने अपने अनुयायियो का सगठन करके एक नया पथ चलाने का यत्न किया जो आज कल 'कबीर-पथ' की 'भगताही शाखा' के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसकी स्थापना पहले पहल दानापुर मे हुई और जो पीछे धनौती मे जाकर अधिक प्रचलित हुई। परन्तु इस प्रकार की जनश्रुतियो के आधार पर इनके जीवन-काल को निर्धारित करने मे हमे कोई सहायता नही मिलती, न हमे यही जान पडता है कि इनका वास्तविक जन्म-स्थान कौन-सा

---

१ सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० ४०९।

२ कबीर और कबीर पथ, सत समागम, पृ० २१-२।

सुरतगोपाल का ही आना चाहिए जिस कारण श्यामदास का नाम उसके अनंतर तीसरा पड़ जाता है।[1] इस दूसरी नाम सूची के विचार से कबीर साहब के अतिरिक्त २ वें गुरु रामविलासदास सिद्ध होते हैं जो अभी वर्तमान हैं। अतएव यदि हम कबीर साहब का मृत्यु-काल सं १५ ५ स्वीकार करते हैं उस दशा में उनके अनंतर इधर लगभग ५ वर्षों का समय हो जाता है और प्रत्येक गुरु के गद्दी-काल का माध्यम २५ वर्ष मान लेने पर उक्त संख्या प्रायः ठीक हो जाती है।

(११) संत धर्मदास आविर्भाव-काल

कबीर-शिष्यों में संत धर्मदास को प्रायः सर्वप्रमुख मानने की प्रवृत्ति पायी जाती है। परन्तु उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर इनके लिए उनका ठीक सम-सामयिक होना तक भी सिद्ध होता नहीं जान पड़ता। संत धर्मदास द्वारा स्थापित कहे जाने वाले कबीर-पंथ अथवा वस्तुतः उसकी 'छत्तीसगढ़ी' शाखा की गुरु-परंपरा वाली तालिका पर यदि विचार करते हैं और यहाँ पर भी हम पूर्ववत् प्रत्येक गुरु के गद्दी-काल का औसतन २५ वर्ष होना स्वीकार कर लेते हैं तो इनका आविर्भाव-काल विक्रम संवत् की १७वीं शताब्दी के द्वितीय वा प्रथम चरण तक आता है।[2] अतएव इस प्रकार देखने पर इनका कबीर साहब (मृ सं १५ ५) का गुरुमुख शिष्य होना संभव नहीं कहा जा सकता। परन्तु प्रसिद्ध है तथा इस बात का समर्थन कबीर-पंथ के अनेक प्रसिद्ध ग्रंथों द्वारा भी किया जा सकता है कि ये अपने प्रारंभिक जीवन में जिस समय में बांधोगढ़ से मथुरा-वृंदावन की ओर तीर्थ-यात्रा करने गये थे इन्हें कबीर साहब के प्रथम दर्शन हुए थे और फिर दूसरी बार इन्होंने उन्हें काशी में भी देखा था। अंत में फिर कबीर साहब ने इन्हें बांधोगढ़ जाकर भी कृतार्थ किया था। इनका आतिथ्य ग्रहण करके

---

१ १ कबीर, २ सुरतगोपाल ३ ज्ञानदास ४ श्यामदास ५ लालदास ६ हरिदास ७ शीतलदास ८ सुखदास ९ हुलास दास १ माधोदास ११ कोकिलदास १२ रामदास १३ महादास १४ हरिदास १५ शरणदास १६ पूरनदास १७ निर्मलदास १८ रंगीदास १९ गुरुप्रसाद २ प्रेमदास और २१ रामविलास दास।—गुरु माहात्म्य पृ १ २।

२ १ धर्मदास २ चूड़ामणि नाम ३ सुदर्शन नाम ४ कुलपति नाम ५ प्रमोध नाम ६ केवल नाम ७ अमोल नाम ८ सुरतसनेही नाम ९ हक्क नाम १ पाक नाम ११ प्रगट नाम १२ धीरज नाम १३ उग्रनाम १४ दया-नाम और १५ काशीदास।

किया था और तत्पश्चात् अपनी माता के परामर्श से ये कवीर साहव के यहाँ गये थे तथा वहाँ पर उनके द्वारा इन्हें अपनी हार माननी पडी थी ।[१] इस प्रकार के कथनो में जो कुछ भी अश तथ्य का रहा हो अथवा न भी रहा हो इनके विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि ये एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे । कबीर साहब का शिष्यत्व ग्रहण कर लेने तथा उनका पूर्णरूपेण अनुयायी वन जाने के अनतर इन्होने काशी में वर्तमान कबीर-पथ की 'कबीर चौरा' नामक शाखा की स्थापना करके उनके मत का प्रचार करने की चेष्टा की थी । तदनुसार कहा जा सकता है कि ये कबीर साहब के समसामयिक अवश्य रहे होगे तथा अधिक से अधिक उनका देहात हो जाने के अनतर इन्होने काशी में अपनी गद्दी स्थापित की होगी अथवा इस प्रकार का कोई सगठन किया होगा । परन्तु इस प्रकार के किसी भी अनुमान की पुष्टि में हमारे पास यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नही है ।

आविर्भाव-काल

सत सुरतगोपाल के आविर्भाव-काल का अनुमान इनकी कही जानेवाली रचना 'अमर सुखनिधान' के आधार पर किया जाता है । कहा जाता है कि उसका रचना-काल स० १७८६ सन् १७२९ ई० रहा होगा । इसके सबध मे बतलाया गया है कि उस पुस्तक की भाषा १५० वर्षों से इधर की नही है । परन्तु डॉ० की का कथन है कि उक्त ग्रथ के रचयिता का सुरत गोपाल होना सभव नही है, क्योकि ये उक्त काल से पूर्व रह चुके होगे ।[२] उनके ऐसे अनुमान का समर्थन इस बात से भी होता प्रतीत होता है कि जिस 'कबीर चौरा' गद्दी की स्थापना इनके द्वारा की की गई कही जाती है उसके महतो वाले नामो की सख्या से इस बात का बहुत कुछ मेल खा जाता है । रे० वेस्टकाट ने तो इस शाखा की गुरु-परपरा की तालिका में सुरतगोपाल का नाम-क्रम से चौथा दिया है और किसी श्यामदास को सर्वप्रथम रखा है। इनकी गद्दी का भी होना वे स० १६१६ सन् १५५९ ई० में बतलाते हैं और इनकी समाधि का समय स० १६५१ · सन् १५९४ ई० देते हैं ।[३] परन्तु उनकी ऐसी तालिका का निर्माण किसी वैरागी के आधार पर किया गया कहा गया है और यह परपरा विरुद्ध भी ठहरता है । इसके विपरीत कबीर-पथी ग्रथ 'गुरु माहात्म्य' से पता चलता है कि 'कवीर चौरा' द्वारा स्वीकृत गुरु-परपरा के अनुसार कवीर साहव के अनतर प्रथम नाम

---

१ सद्‌गुरु श्री कवीर चरितम्, पृ० ३८४-४०९ ।

२ कबीर ऐंड हिज फालोवर्स, पृ० ११३ ।

३ कबीर ऐंड दि कवीर पथ, पृ० ९२ ।

भी ग्रहण कर ली थी तथा ये उसके उपदेशानुसार धार्मिक आचरण किया करते थे। कहते हैं कि कबीर साहब की विचार-धारा द्वारा प्रभावित हो जाने पर इनके मत में आमूल परिवर्तन आ गया और ये उनके अनुयायी बन गए। इनके शेष जीवन-वृत्तों का वर्णन अनेक साम्प्रदायिक कबीर-पंथी ग्रंथों के अंतर्गत प्रायः विस्तार के साथ किया गया मिलता है। बहुत-से वैसे ग्रंथों की रचना तो कबीर साहब तथा धर्मदास के बीच 'संवाद' के रूप में भी की गई कही जाती है। उनमें पौराणिक रचना-शैली का अनुगमन किया गया-सा मिलता है। अनेक चामत्कारिक बातों के उल्लेख भी किये गए पाये जाते हैं जिनके कारण संत धर्मदास के किसी ऐतिहासिक परिचय का हमें कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिल पाता। कबीर साहेब के एक आधुनिक जीवनचरित के अंतर्गत संत धर्मदास के लिए कहा गया है कि ये 'विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में समृद्ध द्रव्यवान थे। ये अपनी आयुष के तृतीय भाग में अपने गृह-कार्य से निवृत्त हुए।'[1] वहाँ पर यह भी बतलाया गया है कि इनके अपने गुरु उस समय रूपदास थे जिनकी आज्ञा से ये सदा तीर्थाटनादि किया करते थे। तदनुसार इनका मथुरा जाना वहाँ पर अपने भोजन की तैयारी करते समय चूल्हे की जलती हुई लकड़ी में सहस्रों चीटियों को देख कर इनके कारण खिन्न हो जाना तथा वहाँ पर संयोगवश कबीर साहब से भेंट हो जाने पर उनसे परामर्श लेना घर लौटने पर अपने उक्त प्रथम गुरु से अपनी मुक्ति के लिए प्रश्न करना और अंत में फिर उनसे संतुष्ट न होकर इन्हीं की शरण में आने की इच्छा से साधु-सम्मेलन करना आदि भी वहाँ पर न्यूनाधिक विस्तार के साथ कहा गया है जिससे पता चलता है कि इनके भीतर उत्कट जिज्ञासा बनी रहती होगी। परन्तु ऐसी सारी बातों का वर्णन तथा उपर्युक्त पंद्रहवीं शताब्दी के इनके जीवन-काल होने का उल्लेख भी उस ग्रंथ में समवत "कबीर-पंथी जगत् में तथा कबीर साहित्य में ऐसी प्रसिद्धि होने के ही कारण किये गए जान पड़ते हैं।"[2] संत धर्मदास की मृत्यु के संबंध में वहाँ पर कहा गया है कि यह घटना पुरी में हुई जहाँ पर कबीर साहब ने इनके पुत्र मुक्तामणि नाम द्वारा अन्त्येष्टि-क्रिया करायी और वे स्वयं वहाँ से अपने स्थान काशी लौट आए।[3] इसका कोई निश्चित समय नहीं दिया है।

---

१ 'पञ्चदश शताब्दान्ते समृद्धा द्रव्यवान सौ।
तृतीय आयुषो भागे निवृत्तो गृह कर्मतः ॥९॥ —सद्गुरु कबीर चरितम्।

२ वही पृ २७९।

३ वही श्लोक १९८ पृ ३२।

उन्होने इन्हें उपदेश भी दिये थे जिससे स्वभावत हमारी ऐसी घारणा होने लगती है कि इन्होने उन्हें जीते-जागते शरीरघारी के रूप में देखा होगा तथा उनसे आशीर्वाद लिया होगा। परन्तु कबीर-पथ के ही एकाघ ग्रथो की पक्तियो को पढने पर हमें इस बात को तथ्यवत् स्वीकार करने में हिचक भी होती है। उदाहरण के लिए जब हम देखते है कि 'अमरसुखनिधान' में कवीर साहव का इनसे 'जिद' रूप में ही मिलना कहा गया[1] है तथा स्वय इनकी भी रचना मे उनका इनके साथ 'विदेही' बन कर मिलना और अपना 'झीना दरस' दिखाना ही वतलाया गया है[2] तो, हमें इस बात में सदेह करने का आधार मिल जाता है। हम कभी-कभी इस प्रकार का अनुमान तक करने लग जाते हैं कि सत धर्मदास और सत कबीर साहब का भी मिलन कदाचित् वैसा ही रहा हो जैसा मत चरणदास तथा शुकदेव मुनि का था अथवा जैसा यह सत गरीबदास और स्वय कबीर साहब के सबघ में भी लिखा हुआ पाया जाता है।[3] इसके सिवाय बिहार वाले सत दरिया साहब की रचना 'ज्ञानदीपक' से तो यहाँ तक भी स्पष्ट हो जाता है कि कबीर साहब ने दो सौ वर्ष अनतर स्वय धर्मदास के रूप मे पुन जन्म ग्रहण किया था, कठी तोड कर फेंक दी थी तथा एक नवीन पथ की स्थापना भी की थी।[4]

जीवन-वृत्त तथा कार्य

कहा जाता है कि सत धर्मदास का पूर्व नाम जुडावन था। इनकी पत्नी आमीन थी और इनके दो पुत्र नारायणदास तथा चूडामणि थे। यह भी प्रसिद्ध है कि इनमे से नारायणदास ने कबीर साहब का विरोध किया था, किंतु आमीन तथा चूडामणि ने उनके प्रति श्रद्धा के भाव प्रकट किये थे तथा ये धर्मदास की ही भाँति उनके शिष्य भी बन गए थे। जुडावन की जाति कसौंधन वनिया की थी और इनका निवास-स्थान बाधोगढ (वर्तमान मध्यप्रदेश) था। ये शालग्राम के उपासक थे, उनकी मूर्ति का विधिवत् पूजन किया करते थे, गीतादि के पाठ को विशेष महत्त्व देते थे तथा तीर्थ-भ्रमण भी करते थे। इन्होने पहले से किसी वैष्णव से दीक्षा

---

१ 'जिद रूप जब धरे सरीरा। धरमदास मिलि गये कबीरा'—अमर सुख निधान

२ 'साहेब कबीर प्रभु मिले विदेही, झीना दास दिखाइया'—'बानी'—पृ० ५२।

३ 'व्यास पुत्र तुम मम गुरु देवा। करूँ मानसी तुम्हरी सेवा ॥—भक्तिसागर, पृ० ७८ तथा दास गरीब कबीर का चेरा। सत्तलोक अमरापुर डेरा' ॥—बानी, पृ० १४८।

४. ज्ञानदीपक, १५९-१—१६०, दे० सत कवि दरिया एक अनुशीलन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, पृ० १७।

इसमें संदेह नहीं कि ये एक बहुत योग्य पुरुष रहे होंगे और इनके व्यक्तित्व से भावी कबीर-पंथ को विशेष प्रेरणा भी मिली होगी। इनके द्वारा स्वयं उसके प्रवर्तित किये जाने के विषय में हमें यथेष्ट विवरण अभी तक उपलब्ध नहीं है।

शिष्यों के नाम

रामोदास ने अपनी 'भक्तमाल' के अंतर्गत इनके जिन सात शिष्यों की चर्चा की है[1] उनमें से प्रथम दो अर्थात् चूड़ामणि तथा कुलपति को उन्होंने संभवतः इनका 'नाती' शिष्य अथवा शिष्य होने के साथ-साथ इनका संबंधी होना भी कहा है। चूड़ामणि तो इनके पुत्र कहे ही जाते हैं। कुलपति उनके पुत्र सुदर्शन नाम के पुत्र थे जिस कारण उन्हें हम संत धर्मदास का प्रपौत्र कह सकते हैं। इसी आधार पर उन्हें इनका 'नाती' या संबंधी भी होना बतलाया गया जान पड़ता है। इनके शेष पाँच शिष्यों में से जागू भगता तथा मतिगुपाल हमें प्रत्यक्षतः वे ही समझ पड़ते हैं जिनके नाम हमने कबीर-शिष्यों के प्रसंग में क्रमशः जागूदास भागोदास तथा सुरतगोपाल के रूपों में लिये हैं जिस कारण यहाँ पर ठीक संगति नहीं बैठ पाती। उस दशा में वे तीनों इनके गुरुभाई ठहरते हैं तथा इसके विरुद्ध कोई अन्य प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार अन्य दो अर्थात् साहिबदास तथा दल्हण में से प्रथम को हम नाम साम्य के कारण उन साहेबदास से अभिन्न कह सकते हैं जिनके लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने कटक (उड़ीसा प्रांत) में कोई 'मूल निरंजन-पंथ' चलाया था तथा जिसमें 'संग' के स्मरण की साधना की जाती थी। किंतु उनके भी संबंध में हमें प्रायः कुछ भी विदित नहीं जिस कारण हम उनके साथ इनकी भेंट को किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। उक्त सातवें शिष्य दल्हण को यदि हम किसी प्रकार 'दल्हा' मान लें उस दशा में वैसे किसी भक्त के विषय में नाभादास द्वारा किया गया उनका एक उल्लेख हमें अवश्य मिलता है। किंतु उससे भी हमें यहाँ पर पर्याप्त सहायता नहीं मिल पाती। कहा गया है कि इन सातों शिष्यों ने गुरु धर्मदास के 'धर्मधन' को भलीभाँति 'धारण किया' जिसका तात्पर्य पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता।

सुन्न महल में अमृत बरसै प्रेम आनंद होय साध नहाय ॥२॥
खुली किवरिया मिटी अँधेरिया धन सतगुरु जिन दिया है लखाय ॥३॥
धरमदास बिनवै कर जोरी सतगुरु चरन में रहत समाय ॥४॥
—वही शब्द ५, पृ० ११।

२ "गुरु धर्मदास की धर्म धन नीके धार्यो सिष इम।
चूड़ामनि चित चतुर पुत्र कुलपती बंस के।

स्वभाव और साधना

सत धर्मदास की अनेक रचनाएँ इनके बानी-ग्रंथ में सगृहीत पायी जाती है। इनमें ये अनेक स्थलो पर अपने को कबीर-शिष्य होना बतलाते है तथा ये उनसे अपने कल्याणार्थ प्रार्थना करते तक भी दीख पडते हैं। इनकी पक्तियाँ सर्वत्र भक्तिरस द्वारा ओतप्रोत है और उनसे स्पष्ट है कि उनके प्रति इनकी प्रगाढ श्रद्धा रही होगी। इनकी कुछ पक्तियो द्वारा तो हमें ऐसा भी लगता है कि कबीर साहब को ये न केवल एक गुरु, अपितु इष्टदेव के रूप मे भी देखते है। इनकी ऐसी रचनाओ मे हमें इनका सगुणोपासक भक्तो का-जैसा आर्त्तभाव भी लक्षित होता है। इनकी भक्ति का रूप प्राय सर्वत्र दास्यभाव-विशिष्ट जान पडता है जिसके कई उदाहरण वहाँ से सरलता पूर्वक उद्धृत किये जा सकते हैं। इनकी भाषा पर कही-कही पूर्वीपन का प्रभाव भी दीख पडता है जो सभवत इनके इधर के प्रातो में कुछ दिनो तक रहने के कारण भी हो सकता है। कबीर साहब के लिए इन्होने कही-कही 'पिया' और 'पीव'-जैसे शब्दो का व्यवहार किया है। उन्होने कहा है कि "उस अनुपम 'सत ज्ञानी' का रूप देख कर मैं उसकी ओर आकृष्ट हो गया तथा उसे 'अपना' पहचान लेने पर उसके द्वारा अपना लिया भी गया। मेरे सारे कर्म जल कर भस्म हो गए, मैंने 'प्रेम की बानी' पढ ली तथा मेरा 'आवा-जानी' भी मिट गई [1]।" इसी प्रकार इन्होने एक स्थल पर अपने को 'नाम पदा-रथ' को लाद कर चलने वाला 'व्यापारी' बतलाया है। उन्होने यह भी कहा है कि किस प्रकार यह 'सत्तनाम' का व्यापार किया जाता है तथा कैसे इसमें सदा लाभ ही लाभ हुआ करता है और 'अपनी कोठारी' भरी रहा करती है।[2] इनके द्वारा किया गया अत साधना का वर्णन भी बहुत स्पष्ट और सुदर जान पडता है और हमे ऐसा लगता है कि ये उसका प्रत्यक्ष अनुभव अवश्य कर चुके होगे।[3] अतएव,

---

१ मोरे पिया मिले सतज्ञानी ॥टेक॥
ऐसन पिय हम कबहुँ न देखा, देखत रूप लुभानी ॥१॥
आपन रूप जब चीन्हा बिरहिन, तब पिया के मन मानी ॥२॥
कर्म जलाय के काजल कीन्हा, पढे प्रेम की बानी ॥४॥
धर्मदास कबीर पिय पाये, मिट गइ आवा जानी ॥५॥
—धनीधर्मदास की बानी, पृ० ३।

२ वही, पृ० ७।

३ "झरि लागै महलिया, गगन घहराय ॥टेक॥
खन गरजै खन बिजुली चमकै, लहर उठै सोभा बरनि न जाय ॥१॥

हमें प्रायः कुछ भी विदित नहीं है। केवल चौथे अर्थात् धर्मदास द्वारा कबीर पंथ की 'धर्मदासी' वा 'छत्तीसगढ़ी' शाखा का मध्यप्रदेश में चलाया जाना प्रसिद्ध है। उसका समय पाकर विविध उप-शाखाओं में विभक्त होना और वहाँ से दूर तक फैल कर दूसरों को प्रभावित करना भी कहा जाता है। उसके अतिरिक्त अथवा उससे पृथक प्रचार करने वाली किसी वर्तमान कबीर-पंथी शाखा का संबंध उन तीनों धाम कबीर-शिष्यों में से किसी के साथ सिद्ध नहीं होता। वास्तव में इस समय हमें केवल 'कबीर-पंथ' मात्र नाम से प्रचलित कोई भी एक समुदाय दीख नहीं पड़ता। इस प्रकार की जितनी भी संस्थाएँ आजकल विद्यमान पायी जाती हैं उनमें से प्रायः प्रत्येक का संबंध किसी न किसी ऐसे व्यक्ति के ही साथ जोड़ा जा सकता है जिसके लिए या तो कबीर साहब का एक प्रमुख शिष्य होना कहा गया है अथवा वह उनका परवर्ती ही रहा करता है।

द्वादस-पंथ

'अनुराग सागर' ग्रंथ के अंतर्गत धर्मदास के प्रति कबीर साहब की ओर से कहा गया मिलता है, "कलियुग में मेरा नाम 'कबीर' है जिसका उच्चारण करनेवाले के निकट यमराज नहीं जाता।" ऐसी बात सुन कर कोई अन्यायी बोल उठता है 'हे कबीर, मैं कहे देता हूँ कि तुम्हारे नाम से मैं पंथ चलाऊँगा तथा इस प्रकार सभी को धोखा दूँगा। 'द्वादस पंथ' का आयोजन किया जायगा और इनके द्वारा हम लोग तुम्हारे नाम को प्रसिद्ध करेंगे'[1] आदि। तदनंतर वहीं पर उन 'बारह पंथों' के नाम उनके प्रवर्तकों के संक्षिप्त परिचय देकर सूचित कर दिये गए हैं तथा उनकी कुछ न कुछ आलोचना तक भी कर दी गई है। इन बारह प्रवर्तकों को वहाँ पर क्रमशः 'मृत्यु अंधा' 'तिमिर दूत' 'अंध अचेत' 'मनभंग' 'ज्ञानभंगी' 'मकरंद' 'चित्तभंग' 'अकिलभंग' 'विसंभर' 'नकटा' 'दुर्गदानि' तथा 'हंसमुनि'—जैसी संज्ञाएँ देकर अभिहित किया गया है और इनमें से किसी को भी सत्य का अनुसरण करनेवाला नहीं माना गया है।[2] इन बारह विचित्र नामों का कुछ अधिक स्पष्टीकरण हमें तुलसी साहेब के 'घट रामायण' तथा परमानंद के 'कबीर मंशूर' नामक ग्रंथों की सहायता

---

१ "नाम कबीर हमार कलि माहीं। कबीर कहत जम निकट न जाहीं॥
इतना सुनत बोल अन्याई। सुनौ कबीर मैं कहौं बुझाई॥
तुम्हरे नाम से पंथ चलायब। इहिविधि जीवन धोख लगायब॥
द्वादस पंथ करब हम साजा। नाम तुम्हार करब आवाजा॥"—पृ० ८९।

२ वही पृ० ९२।

४. कबीर-पथ

(१) इसकी शाखा-प्रशाखाएँ साम्प्रदायिक उल्लेख

(क) प्रस्तावना

इसमे सदेह नही कि कबीर साहब के जीवन-काल मे ही उनके अनेक अनुयायी बन चुके होगे। किंतु फिर भी इतना निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि उनकी सहायता से उन्होने किसी पथ-विशेष के निर्माण का आयोजन भी अवश्य किया होगा। जहाँ तक जान पडता है उन्होने सदा एक सार्वभौमिक धर्म का ही उपदेश दिया था जिसे किसी प्रकार का साम्प्रदायिक रूप देने की कोई आवश्यकता नही थी, न इसी कारण उनका उसके आधार पर किसी पथ का चलना अथवा उसे सगठित करके उसके प्रचारार्थ अपने शिष्यो को नियुक्त करना कोई अर्थ ही रख सकता था। इसके सिवाय, उनके शिष्यो में से कम-से-कम एक अर्थात् सत कमाल का भी उन्ही की भाँति पथ-रचना के विरुद्ध होना बतलाया जाता है। जैसा हम इसके पहले देख चुके हैं, सभवत इसी कारण उनके द्वारा कबीर-वश का 'बूडना' वा नष्ट होना तक भी माना जाता है। परन्तु कबीर-पथी साहित्य के अतर्गत इस बात का उल्लेख मिलता है कि कबीर साहब ने अपने चार प्रमुख शिष्यो को चारो दिशाओ में इस निमित्त भेजा था कि ये उधर जाकर इनके मत का प्रचार करें। इन चारो के नाम वहाँ पर क्रमश चत्रभुज, बकेजी, सहतेजी और धर्मदास दिये गए मिलते हैं[1] जिनमें से प्रथम तीन के विषय में

सर्वंगि साहिब दास, मूल वल्हण अस के ॥
जागू जगरू तरक, भगति भगता कौ प्यारी।
सुर्ति गुपाल श्रुति सधि, सकल सत सगति प्यारी ॥
सिष पाँच प्रसिध था कवित मैं, राघो नाती द्वै कहिन।
गुर धर्मदास को धर्मधन, नीकै धार्यौ सिष इन ॥३५८॥"
—हस्तलिखित प्रति से।

१ उदाहरण के लिए देखिए,
"चत्रभुज बकेजी सहतेजी और चौथे तुम सही।
चारही कडिहार जग में, वचन यह निश्चय कही ॥
चार गुरु ससार मे हैं, जीवन काज प्रगटाइया।
काल के सिर पाँव दे, सब जीव बदि छुडाइया॥"—अनुरागसागर, पृ० ८६
जहाँ पर धर्मदास के प्रति कबीर साहब द्वारा इस प्रकार का कथन कराया गया है।—लेखक।

से होता जान पडता है। इसमे पता चलता है कि ये वास्तव में क्रमश नारायण-दास, भागोदास, सुरत गोपाल, साहेबदास, टकसारी-पथ-प्रवर्त्तक, कमाली, भगवानदास, प्राणनाथ, जगजीवनदास, तत्त्वा-जीवा तथा गरीबदास की ओर सकेत करते हैं।[1] इनमें से प्राय प्रत्येक के नाम से आज भी किसी न किसी पथ का चलाया जाना बतलाया जाता है और ये कही-न-कही प्रचलित भी है। परन्तु इस नाम-सूची में धर्मदास का नाम नही आता, न उनकी शाखा का यहाँ पर किसी प्रकार उल्लेख किया गया ही दीख पडता है। इसके आधार पर यह स्वभावत अनुमान किया जा सकता है कि इनका मत उनसे किसी-न-किसी प्रकार भिन्न पडता होगा तथा ग्रथकर्त्ता का उद्देश्य इनके द्वारा प्रवर्तित कही जानेवाली शाखा को उन बारहो से बढा कर बतलाने का भी हो सकता है। यहाँ पर यह भी उलेल्खनीय है कि जहाँ तक पता है, इन बारहो में से किसी के भी द्वारा स्वय कबीर साहब की कोई कटु आलोचना की जाती हुई नही पायी जाती, प्रत्युत सबके यहाँ इनके प्रति यथेष्ट श्रद्धा का ही भाव प्रदर्शित किया गया मिलता है। यह 'द्वादस पथ' विषयक भावना कब और किस प्रकार जागृत हुई होगी इस बात का हमें कोई स्पष्ट सकेत नही मिलता। यो जहाँ तक 'द्वादस'-जैसे सख्यावाचक शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, इसके कुछ उदाहरण हमें स्वामी रामानद के 'द्वादस' शिष्यो तथा निरजनी-सम्प्रदाय के 'द्वादस' महतो में भी मिलते हैं।

कबीर-पथ का आरभ

इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कबीर साहब का विचार किसी नवीन पथ के निर्माण के विपरीत होने पर भी उनके शिष्यो तथा प्रशिष्यो के हृदय में उनके नाम पर कोई न कोई पथ चलाने की प्रवृत्ति अत में जागृत हो ही गई। उनकी बानियो का सग्रह उनके सिद्धातो का प्रचार और उनके द्वारा निर्दिष्ट भिन्न-भिन्न साधनाओ की व्याख्या के रूप में विभिन्न प्रकार के उद्योग भी जहाँ तक जान पडता है, बहुत पहले ही आरभ हो गए। तदनुसार हम देखते हैं कि कबीर साहब के देहात हो जाने के कारण सभवत कुछ काल अनतर 'कबीर-पथ' के नाम से अनेक सस्थाएँ चल पडी और उनके मठ भी स्थापित होने लगे। 'अनुराग सागर' मे की गई उपर्युक्त 'द्वादस पथ' की चर्चा के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि उसके रचना-काल अर्थात् सभवत विक्रमी अठारहवी शताब्दी के अत तक वर्तमान उत्तर प्रदेश से लेकर मध्यप्रदेश, उडीसा,

---

१ घटरामायन, पृ० २३४-५ और कबीर मशूर, पृ० २९६।

'रविभाण सम्प्रदाय' के एक प्रमुख प्रचारक मोरार साहेब (मृ सं १९ २) के शिष्य जलराम साहेब द्वारा रची गई एक 'परंपरा' से प्रकट होता है कि ये नीलकंठ वास्तव में पद्मनाभ के शिष्य न होकर किसी ऐसे धीरदास के शिष्य रहे होंगे जो कबीर साहब की छठी पीढ़ी में थे। उनके अनुसार 'कबीर साहब स्वामी रामानंद के शिष्य थे और वे स्वयं ज्योतिस्वरूप तथा ब्रह्मस्वरूप थे। संत लोग उन्हें 'रामकबीर' कह कर उनका गुणगान करते हैं तथा वे स्वयं भी अपने आपको यही कहते थे। उनके शिष्य 'नीर-धीर' दास हुए जिनके शिष्य फिर 'धरदास' हुए तथा इन धरदास के भी शिष्य तुलादास थे जिनके शिष्य रामदास के शिष्य धीरदास थे जो उक्त नीलकंठ के गुरु थे।"[1] इस नीलकंठ के शिष्य रघुनाथदास के पोता शिष्य पष्टमदास या पद्मम स्वामी का जीवन-काल स १६६८ १७८६ कहा जाता है। इसके आधार पर ऊपर की ओर गणना करने से नीलकंठ का समय अनुमानतः सत्रहवीं विक्रम शताब्दी से लेकर उसकी अठारहवीं के प्रथम चरण तक ठहराया जा सकता है। इसको ठीक मान लेने पर ये कबीर-शिष्य पद्मनाभ के समकालीन नहीं सिद्ध होते। उन पद्मनाभ का जीवन-काल सोलहवीं विक्रम शताब्दी से आगे जाता नहीं जान पड़ता। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो उनके साथ 'रामकबीर-पंथ' का कोई संबंध होना भी प्रमाणित नहीं होता। इसके सिवाय

---

१ "कहे दास कबीर ते नाम तिनं एही जोति स्वरूपं आपे अलखं।
कहे राम कबीर तो संत गावे सोहं आप ही आप आपे कहावे।
हरि रंग सु धीर नीरभक्त नीर दासं रहे कोमलं निर्मल प्रेमरासं।
तीजं नाम ताके कहे दास धरं, सरं बहा पलामर हंस तीरं।
तुलादास तुलसी कहे ताही चौथं महिमा महान कवी कौन लाखं।
तनय नाम ताके कहे रामदासं रसं राम लौलीन न आन भासं।
सीखं नाम धीरदासं कहीजे मत क्रम वैराग अंग वरीजे।
तनय नाम ता निलकंठ कहावे बुद्धिवेत बहुत सो संत गावे।"
—रविभाण सम्प्रदाय की वाणी पूना सं १९८९,
पृ २८६-७।
—इसमें बतलाये गए 'नीर' तथा 'धीर' नामक व्यक्तियों के ही नाम संभवतः राघोदास ने भी अपनी 'भक्तमाल' में लिये हैं। उन्होंने इनकी गणना कबीर साहब के नव शिष्यों में करते हुए इन्हें उनमें क्रमशः पांचवां तथा छठा स्थान दिया है। दे भक्तमाल छप्पय ३५१।

धारणा नही बन सकती। ऐसी शाखाओ की ओर ध्यान देने पर भी हमें पता चलता है कि उन सभी का आरभ ठीक एक ही प्रकार से नही हुआ। उनमें से केवल कुछ ही ऐसी हैं जिन्हें हम आप-से-आप स्वतत्र रूप में स्थापित की गई कह सकते हैं। क्योकि उनमे से कई एक ऐसी भी हो सकती हैं जिन्होने या तो किसी मूल सस्था से पीछे सबध-विच्छेद कर लिया होगा अथवा जो केवल उससे प्रभावित मात्र ही रही होगी। तदनुसार इस समय तक प्रचलित कबीर-पथ को शाखाओ में से जो स्वतत्र रूप से प्रतिष्ठित समझी जाती हैं उनमें से प्राय प्रत्येक का सबध किसी न किसी ऐसे व्यक्ति के साथ जुडा हुआ भी माना जाता है जिनकी गणना हम कबीर साहब के प्रमुख शिष्यो में कर आये हैं। इनकी चर्चा करते समय हमने प्रसगवश ऐसी किसी न किसी शाखा का नामोल्लेख भी कर दिया है। अतएव इस प्रकार की शाखाओ में हम क्रमश १. राम कबीर पथ, २ फतुहा मठ, ३ विद्दूपुर मठ, ४ भगताही शाखा, ५ कबीर चौरा, काशी, और ६ छत्तीसगढी वा धर्मदासी शाखा के नाम ले सकते हैं। इसी प्रकार जिन शाखाओ का छत्तीसगढी शाखा से सबध-विच्छेद करके पृथक् मठ की स्थापना कर लेना बतलाया जाता है उनमें क्रमश १ कबीर चौरा, जगदीशपुरी, २ हटकेसर मठ, ३ कबीर-निर्णय मदिर, बुरहानपुर, तथा ४ लक्ष्मीपुर मठ की गणना की जा सकती है। शेष प्रमुख शाखाओ मे या तो कुछ ऐसी हैं जिन्हें उपर्युक्त स्वतत्र शाखाओ में से किसी न किसी की केवल उपशाखा मात्र ठहरा सकते हैं अथवा अन्य इस प्रकार की हैं। इनमें से १ आचार्य गद्दी, बडैया और २ महादेव मठ, रुसडा आदि कुछ को हम कबीर-पथी विचार-धारा द्वारा प्रभावित कह सकते हैं तथा कुछ को १ पनिका कबीर-पथयो तथा २ कबीर वशियो की-जैसी विशिष्ट जातियो के रूप में परिणत होकर तदनुसार जीवन-यापन करनेवाले सघ विशेष की कोटि मे रख सकते हैं। कबीर-पथ के स्वरूप उसके सिद्धात और साहित्य तथा उसके अनुयायियो पर विचार करते समय हमें इन सभी की चर्चा करनी होगी

(ख) स्वतत्र प्रतिष्ठित समझी जाने वाली शाखाएं

१ रामकबीर-पथ सक्षिप्त परिचय

रामकबीर-पथ के मूल प्रवर्त्तक के रूप में कबीर-शिष्य पद्मनाभ का नाम लिया जाता है। यह कहा जाता है कि इनके एक शिष्य नीलकठ ने इनसे दीक्षित होकर गुजरात तथा काठियावाड की ओर यात्रा की थी। उधर के लोगो मे अपने मत का प्रचार करते हुए उन्होने कुछ ऐसे शिष्यो को भी दीक्षित किया था जिनके द्वारा इसकी स्थापना हो सकी। परन्तु

है कि "रामकबीरजी के अनुयायियों ने ही बाद में चल कर उनको प्रसिद्ध निर्गुण संत कबीर से एक कर दिया होगा।[1] रामकबीरजी की किसी गादी का 'द्वारागादी' का कदमखण्डी (ब्रजगोवर्द्धन के पास) वर्तमान रहना कहा गया है। इसके साथ यह भी बतलाया गया है कि नर्मदा तट पर भड़ौंच के पास शुक्लतीर्थ में रामानन्दजी ने एक दतवन गाड़ दी थी जो एक विशाल वटवृक्ष हो गया और वहीं किसी रामयश ब्राह्मण का पंचम संस्कार करके उन्हीं को उसका 'रामकबीर' नाम दिया।[2] इसी प्रकार जैसा हम इसके पहले कबीर-शिष्य तत्त्वा जीवा के प्रसंग में अथवा ज्ञानीजी की चर्चा करते समय भी देख आये हैं शुक्लतीर्थ में जाकर कबीर साहब ने इन दोनों व्यक्तियों को दीक्षित किया था। इनमें से दूसरे अर्थात् ज्ञानीजी को उन्होंने इतना प्रभावित कर दिया था कि वे "सद्गुरु कबीर स्वामी ही मेरे भीतर निर्गुण ब्रह्म 'राम' के रूप में रमण करते हैं" ऐसा मानने लग गए थे। तदनुसार उन्होंने 'रामकबीर' शब्द का अपने मुख से सदा उच्चारण करते रहने की साधना की जिससे 'रामकबीर-पंथ' का आरंभ हुआ[3]। ये तीनों मत एक दूसरे से प्रत्यक्षतः भिन्न दीख पड़ते हैं। इनमें से किसी के भी समर्थन में हमें कोई ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं होता न ऐसी किसी सामग्री के अभाव में हम इन तीनों में कोई निश्चित संबंध ही स्थापित करने में समर्थ हैं। या साधारणरूप में विचार करने पर हमें स्वामी रामानंदजी का किसी व्यक्ति को दीक्षित करके उसे उसके ब्राह्मण रहने पर भी 'रामकबीर' जैसा नाम देना उतना स्वाभाविक नहीं जान पड़ता जितना स्वयं कबीर का ऐसा कहा जाना समझ पड़ता है। किसी एक तीसरे व्यक्ति का भी इस नाम द्वारा अभिहित किया जाना असंभव नहीं है न यही सत्य से अधिक दूर हो सकता

---

१ डॉ॰ बदरीनारायण श्रीवास्तव : रामानंद-सम्प्रदाय प्रयाग १९५७ ई॰, पृ॰ १९९-७।

२ वही पृ॰ १९९।

३ "ततस्त्वर्चिन्तिते मेरं रमते मयि सन्ततम्।
तद्दर्शनमवमुक्तावाततश्चमो रमते मयि ॥११४
तद्वर्धनः कबीरोऽपि निश्चिन्त्यति समाहतः।
वाणी 'राम कबीरे' ति शिष्योपोऽप्यावियतथा ॥११५
तमारतत्प्रवर्तामीऽप्यवतस्तेमव भावनः।
राम कबीर नाम्ना ते शिष्यापूर्वाह यत्निहि ॥"११६
—सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ॰ २५३।

यदि 'रामकबीर' शब्द स्वय कबीर साहब के ही लिए व्यवहृत होता आया हो उस दशा मे, 'रामकबीर-पथ' की सज्ञा तथा उसके मूल प्रवर्तन के ऊपर भी इस प्रकार कुछ प्रकाश पडता नही प्रतीत होता है। कहते हैं कि नीलकठदास इधर समवत काशी की ओर मे उधर गुर्जर देश मे घूमते-घामते चले गए। वहाँ पर 'धारा' नामक गाँव में कोई रघुनाथ नाम का ब्राह्मण रहता था और वह इनसे दीक्षित हो जाने पर रघुनाथदास कहला कर प्रसिद्ध हुआ। इसके कुछ दिनो पश्चात् ये दोनो गुरु-शिष्य भ्रमण करते हुए सौराष्ट्र देश पहुँचे, जहाँ पर सुरेन्द्रनगर के समीप वर्तमान 'मदावत' पर्वत के उपवन में जाकर इन्होने वहाँ की उमा नदी के निकटस्थ किसी तालाव के तीर पर विश्राम किया। उसके 'दुग्धवत् श्वेत तथा स्वच्छ जल' को देख कर नीलकठ दास ने उस रमणीय स्थान का ही नाम 'दुग्धस्थल' रख दिया जो अव 'दुधरेज' कहलाता है[1]। यह दुधरेज ही समवत वह प्रधान केन्द्र है जहाँ पर षष्टमदास के शिष्य लब्धरामदास की शिष्य-परपरा आज तक भी चली आई है। उनके दूसरे शिष्य भाण साहब की शिष्य परपरा 'शापर ग्राम' आदि केन्द्रो से 'रविभाण सम्प्रदाय' का प्रचार करती है। किंतु जयमल्ल परमार नामक एक गुजराती लेखक के अनुसार "भाण साहब सौराष्ट्र मे कबीर-पथ के आदि स्थापक गिने जाते हैं। कबीरजी के दो पथ चले एक 'राम कबीरिया' और दूसरा 'सत कबीरिया'। राम कबीरिया भगवा धारण करते हैं कनटोप पहनते हैं और गले मे 'श्रवणी' बाँधते हैं। भाण साहब राम कबीरिया थे"[2] जिसके लिए कोई अन्य आधार उपलब्ध नही है।

अन्य रामकबीर-पथ

'रामकबीर-पथ' के नाम से किसी एक अन्य सम्प्रदाय का अयोध्या के प्रसिद्ध स्थान 'हनुमान निवास' मे भी प्रधान केन्द्र होना कहा जाता है। वहाँ के लोग अपने को 'रामानदीय वैष्णव' बतलाते हैं तथा अपने पथ के प्रधानाचार्य के रूप में रामकबीर का नाम लेते हैं। उनके अनुसार ये रामकबीर स्वामी रामानद के सगुणमार्गी शिष्य थे और उनके प्रियपात्र भी थे। रामानदी भगवदाचार्य का तो यहाँ तक भी कहना बतलाया जाता है कि स्वामी "रामानद के शिष्य कबीर प्रसिद्ध सत कबीर नही थे, वल्कि रामकबीर थे जिन्हें भ्रमवश सत कबीर समझ लिया गया है।" इस बात की भी सभावना प्रकट की जाती

---

१. सद्‌गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० ४२७-९।

२ जयमल्ल परमार आपणी लोक सस्कृति, अहमदावाद, १९५७ ई०, पृ० ११७।

है। परन्तु इस समय के साथ उस ज्ञानीजी के समय से पूरा मेल खाता नहीं जान पड़ता जिसे कबीर-शिष्य समझा जाता है। जो हो उदासम के अनुयायी आज तक भी 'कबीर वट' के प्रति विशेष श्रद्धा प्रकट करते हैं तथा इन्होंने वहाँ पर उनका एक मंदिर भी स्थापित किया है। ये लोग अधिकतर गृहस्थ हुआ करते हैं तथा इनकी जाति भी उस ओर 'उग्राजाति' के नाम से प्रसिद्ध है।[1] इनके द्वारा स्वीकृत किए गये मत की अधिकांश बातें सगुण-पंथियों के मत का अनुसरण करती हैं। इस कारण इन्होंने अपने लिए वैसे ही नियम भी अपना लिये हैं और इनके मान्य ग्रंथों से भी इनके विषय में किसी वैसी विशेषता का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

२ फतुहा मठ जिला पटना

संक्षिप्त परिचय

कबीर-पंथ की शाखा 'फतुहा मठ' बिहार प्रांत के पटना जिले में स्थापित है और इसके मूल प्रवर्त्तक तत्त्वा-जीवा कहे जाते हैं।[2] परन्तु जहाँ तक पता चलता है कबीर-शिष्य कहे जाने वाले प्रसिद्ध तत्त्वा तथा जीवा में से किसी का भी वहाँ पर कभी आना अथवा वहाँ रहकर अपनी ओर से किसी मठ-विशेष का स्थापित करना सिद्ध नहीं किया जा सका है। इसके विपरीत यह भी कहा जाता है कि फतुहा मठ की स्थापना वस्तुतः किसी गणेशदास द्वारा की गई थी जो पटना जिले के ही किसी क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे और जो अपने प्रारंभिक जीवन में घोड़ों के क्रय-विक्रय तथा उनकी सवारी में भी बहुत कुशल थे। जब इनके यहाँ एक पुत्र तथा एक पुत्री के रूप में दो संतानें हो चुकी और इन्होंने कुछ धनोपार्जन भी कर लिया तो इनके हृदय में किसी प्रकार वैराग्य के भाव जागृत हुए और इन्होंने फतुहा मठ के कबीर-पंथी महंत की शिष्यता स्वीकार कर ली। कहते हैं कि उस समय जो वहाँ पर उस पंथ की शाखा चल रही थी उसका संबंध छत्तीसगढ़ी शाखा से था। छत्तीसगढ़ वालों की ओर से इस बात पर विशेष बल भी दिया जाता है किंतु स्वयं फतुहा मठ के लोग इसे स्वीकार करते नहीं जान पड़ते। छत्तीसगढ़ वाले

---

१ सद्गुरु श्री कबीर चरितम् पृ ९५४-५।

२ तत्त्वाजी तत्त्वाजी पुरुषोत्तम कृतादास सुजानद संतोषदास देवादास विश्वरूपदास विनोददास मुकुंददास, स्वरूपदास निर्मलदास कौशलदास गणेशदास पुरुषदास दास घनश्याम भरतदास मोहनदास रघुवरदास दयालदास बालीदास केशवदास तथा हरिनंदनदास (वर्तमान)—
—कबीर और कबीर पंथ अप्रकाशित पृ २९५।

है कि ऐसा नाम कल्पित मात्र करके उसके आधार पर कोई वैसा ही रामकवीर-पथ भी चला दिया गया हो जैसे 'सत्य कवीर', 'नाम कवीर', 'दान कवीर', 'मगल कवीर' तथा 'हस कवीर' शब्दो द्वारा सूचित किये जाने वाले कतिपय अन्य पथ भी प्रचलित कहे जाते हैं।[१] रामकवीर-पथ का हमें अभी तक ऐसा कोई साहित्य भी नही मिल सका है जिसके प्रकाश में इसके विशिष्ट मत का कोई परिचय प्राप्त हो।

रामकवीर-पथ और उदाधर्म

रामकवीर-पथ की चर्चा करते समय कभी-कभी 'उदाधर्म' का भी नाम लिया जाता है जिसका प्रचार सर्वप्रथम जीवनजी ने वडौदा के निकट वर्तमान 'पुनियाद' नामक स्थान में किया था। इसके अनुयायी इस समय सूरत जिला तथा 'छोटा उदयपुर' में हैं। कहा जाता है कि कवीर साहव के शिष्य कहे जाने वाले ज्ञानीजी के एक शिष्य गोपालदासजी थे। गोपालदासजी ने अपने गुरु द्वारा सतत स्मरण किये जाने वाले 'राम कवीर' शब्द के आधार पर किसी 'रामकवीर-पथ' का प्रचार किया तथा फिर उनके शिष्य जीवनजी ने उसी के मत को पीछे 'उदाधर्म' के नाम से प्रसिद्ध किया। उदाधर्म की मूल गद्दी पुनियाद मे है, किंतु इसकी एकाध शाखाओ का हासापुरा-जैसे स्थानो में भी प्रचलित होना वतलाया जाता है। जीवनजी के शिष्य श्यामदास हुए जिनके शिष्य द्वारकादास के शिष्य नाना पारेख ने वडोदा में गद्दी चलायी। इनके गुरुभाई राघोदास के शिष्य वीठलदास के समय से हासापुरा की गद्दी प्रतिष्ठित हुई और तब से इन दोनो स्थानो पर उनके शिष्य-प्रशिष्यो की परपरा चली आई है। राघोदास के एक अन्य शिष्य वसतदास हुए जिनकी गद्दी अभी तक उक्त पुनियाद में प्रतिष्ठित है। इसके महतो की 'वशावली' के देखने से पता चलता है कि जीवनजी से लेर सन् १९२६ ई० मे वर्तमान जदुनाथदास तक ये लोग १० की सख्या मे हो चुके हैं।[२] इसके अनुसार गणना करने पर उनका आविर्भाव-काल किसी समय स० १७५० के आसपास ठहरता है। इसी प्रकार उनके दादागुरु ज्ञानीजी का जीवन-काल स० १७०० अथवा उसके कुछ पहले तक भी ले जाया जा सकता

---

१ अनुराग सागर, पृ० ९२ मे "राम कबीर पथकर नाऊं। निरगुन सरगुन एक मिलाऊं" कह कर इसके द्वारा एक विचित्र मत का प्रचलित कया जिाना वतलाया गया है तथा वहाँ पर यह भी सकेत कर दिया गया है कि इसके अनुसार पाप तथा पुण्य में कोई भेद नहीं है।—लेखक।

२ उदाधर्म भजन सागर, भूमिका, अहमदाबाद, सन् १९२६ ई०, पृ० १३।

भी दशा में रहने पर नियमानुसार दीक्षित किये जा सकते हैं। यहाँ पर हिन्दुओं की भाँति इस्लाम धर्म के अनुयायी भी अपने में सम्मिलित कर लिये जा सकते हैं। यद्यपि इनके संबंध में कुछ विशेष नियम बरते जाते हैं जिनके कारण इस मठ को प्राचीन हिन्दू-व्यवस्था का अनुसरण करने वाला भी ठहराया जा सकता है। इसी प्रकार यहाँ पर छत्तीसगढ़ी शाखा में प्रचलित 'चौका-विधि' अथवा अन्यत्र पायी जाने वाली विविध बाह्य पूजा-पद्धतियों को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता जिसके कारण हम इसे उनसे कतिपय बातों में अधिक विशुद्ध भी कह सकते हैं।

१ बिद्दूपुर मठ, जिला मुजफ्फरपुर

प्रारंभिक परिचय

कबीर-पंथ की बिद्दूपुर वाली शाखा के लिए कहा जाता है कि इसके प्रवर्त्तक जागूदास थे जिनकी चर्चा कबीर शिष्यों में की जा चुकी है। वहाँ पर यह भी बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार वाराणसी के निकट वर्तमान शिवपुर मठवाले उनके केन्द्र को प्रधान ठहराते हुए इस मठ को गौण स्थान प्रदान करते हैं तथा यहाँ वाले भी उनके लिए इसी प्रकार का वक्तव्य दिया करते हैं। शिवपुर मठ वालों की कोई वंशावली हमें उपलब्ध नहीं है, किन्तु बिद्दूपुर वालों की एक ऐसी सूची के आधार पर बतलाया जाता है कि इनके यहाँ जागूदास से लेकर आज तक संख्या में १७ महंत हो चुके हैं। इस संबंध में यह भी कहा जाता है कि इनमें से जागूदास के शिष्य मथुरादास से लेकर हरिदास तक अर्थात् ६ महंत कटक की गद्दी पर रह चुके हैं। इस प्रकार, बिद्दूपुर मठवाले प्रथम आचार्य का पद इस सूची के आठवें महंत अर्थात् हाथीदास को ही दिया जा सकता है। तदनुसार हाथीदास मनसादास तथा भूमकदास-जैसे कतिपय महंतो की ही समाधियाँ भी यहाँ पर वर्तमान पायी जाती हैं।[1] परन्तु ऐसे कथन को तथ्य के रूप में स्वीकार कर लेने पर फिर यह प्रश्न भी उठ सकता है कि 'क्या तब हाथीदास भी जागूदास के उन शिष्यों में से ही एक थे जो उनके अंतिम समय में बिद्दूपुर में विद्यमान रहे होंगे?" यदि मथुरादास भी उनके प्रत्यक्ष शिष्यों में ही गिने जाते हैं उस दशा में उनके अनंतर क्रमशः आते जाने वाले ४ महंतो के गद्दी-काल को हाथीदास के पहले नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि मथुरादास तथा हाथीदास इन दोनों महंतो के परस्पर गुरु-भाई

---

१ कबीर और कबीर-पंथ तुलनात्मक अध्ययन अप्रकाशित पृ २७ जागूदास मथुरादास मर्दूदास बल्लभदास प्रेमदास बरजीदास हरिदास, हाथीदास प्रियतमदास प्रेमदास सतीवदास मनसादास परीखदास सुखरामदास भूमकदास अमृतदास तथा रामस्वरूप दास (वर्तमान)।

कबीर-पथी लोगो के अनुसार गणेशदासजी का आविर्भाव उस समय हुआ था, जब 'हक्कनाम' साहब (गद्दी-काल सभवत स० १८५० के आसपास) 'घमघा' ग्राम से हट कर 'कवर्धा' चले आये थे और इन्होने वहाँ पर उनके 'मुख्तार आम' का भी काम किया था। किंतु वहाँ के अनेक प्रबधको की ओर से इनके प्रति राग-द्वेष की भावना प्रकट होने लगने पर इन्हे अपने उस पद का त्याग कर देना पडा और तब से इन्होने अपने यहाँ लौट कर सदा के लिए फतुहा मठ को ही उन्नत बनाये रखने के यत्न किये। इस प्रकार, यदि गणेशदासजी का सबध छत्तीस-गढी शाखा के साथ कुछ काल के लिए सिद्ध भी किया जा सके, उस दशा मे भी इस बात का पूरा निर्णय नही हो पाता कि फतुहा मठ का मूल प्रवर्त्तक कौन रहा होगा। चाहे इसके लिए तत्त्वा-जीवा का नाम लेना सर्वथा प्रामाणिक न भी कहा जा सके, इसमे सन्देह नही कि यथेष्ट सामग्री के अभाव मे हमारा यह भी मान लेना कभी तर्क-सगत नही कहा जा सकता कि यह मूलत छत्तीसगढ वाली गद्दी से ही सबद्ध रहा होगा। फतुहा मठ गणेशदासजी के समय से बहुत पहले से प्रतिष्ठित है जिस कारण इसके मूल प्रवर्त्तक का निर्णय उनकी गुरु-परपरा के अनुसार भी किया जा सकता है। उसी दशा मे इस बात का भी पता लगाया जा सकता है कि इस शाखा को कितना प्राचीन कहा जाय। इसके १५वें महत का नाम दयाल साहब बतलाया जाता है जो 'कबीर परिचय साखी' ग्रथ के रचयिता के रूप मे भी प्रसिद्ध हैं। किंतु इनके जीवन-काल का हमे कोई पता नही जिसके आधार पर भी इस सबध मे विचार किया जा सके।

कतिपय विशेषताएँ

फतुहा मठ की ओर से प्रकाशित किसी ऐसे साहित्य का हमे अभी तक पूरा ज्ञान नही जिससे इसकी विशेषताओ पर प्रकाश डालने मे सहायता ली जा सके, न इसके सबध मे हमे कही अन्यत्र ही कुछ लिखा मिलता है। इधर की खोज द्वारा[1] केवल इतना ही पता लगाया जा सका है कि यह मठ सुव्यवस्थित रूप मे चलता दीख पडता है। इसकी उप-शाखाओ के रूप मे बहुत-सी गद्दियाँ बिहार प्रात के गया, छपरा, मुजफ्फरपुर-जैसे कई जिलो मे वर्तमान हैं। इसकी एक ऐसी ही शाखा का वाराणसी मे भी होना कहा जाता है जिसके विषय मे कोई विवरण उपलब्ध नही है। कहते हैं कि इस मठ के अनुयायियो मे 'विरक्त' तथा 'गृहस्थ' दोनो प्रकार के व्यक्ति देखे जाते हैं और वे पुरुष तथा स्त्री इन दोनो मे से किसी

---

१ डॉ० केदारनाथ द्विवेदी कबीर और कबीर-पथ तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित, पृ० २९६-७।

४ भगताही शाखा बनौली जिला सारन

संक्षिप्त परिचय

कबीर-पंथ की 'भगताही शाखा' मूल प्रवर्त्तक भागोदास वा भगवान गोसाईं कहे जाते हैं जो कबीर साहब के प्रमुख शिष्यों में भी गिने जाते हैं तथा जिनके विषय में इसके पहले हम विचार कर चुके हैं। भागोदास ने 'भगताही शाखा' का प्रवर्तन कब और किस रूप में किया तथा इसके मठादि का प्रारंभिक संगठन करते समय उन्हें किन किन व्यक्तियों से किस प्रकार की सहायता मिली और फिर इसका क्रमिक विकास कैसे होता गया आदि बातें विदित नहीं हैं। इसका प्रधान केन्द्र बनौली में प्रतिष्ठित है जहाँ पर भी इसके दो मठ क्रमशः 'बड़ा' और 'छोटा' कहला कर प्रसिद्ध हैं। इसकी उप-शाखाओं के रूप में अनेक मठ बिहार प्रांत में स्थापित हो चुके हैं, किंतु उनके संबंध में भी अभी तक हमें यथेष्ट सामग्री नहीं मिली है। ऐसे मठों में कछ तो सारन जिले में हैं कुछ मुजफ्फरपुर जिले में हैं तथा कुछ का चंपारन जिले में भी होना बतलाया जाता है। किंतु हमें अभी तक इस बात का पूरा पता नहीं चल सका है कि उनका आपस में कोई विशिष्ट संबंध है या नहीं। बनौली का 'बड़ा' मठ इन सभी से कहीं अधिक सुव्यवस्थित रूप में पाया जाता है। कहते हैं कि इसके वर्तमान महंत वपधारी गोस्वामी किसी 'सहेजी' नामक मठ में रहा करते हैं तथा स्वयं बड़े बनौली मठ का संचालन वहाँ के अधिकारी किया करते हैं।[१] भगताही शाखा के किसी मठ का बिहार प्रांत के बाहर पाया जाना अभी तक हमें विदित नहीं है, न हमें यही ज्ञात हो सका है कि जिस पिसौरागढ़ (बुंदेलखंड) के विषय में कहा जाता है कि वह इसके प्रवर्त्तक भगवान गोसाईं का निवास स्थान रहा होगा उसकी निश्चित भौगोलिक स्थिति क्या है अथवा वहाँ पर इसकी कोई उप-शाखा है भी वा नहीं।

कतिपय विशेषताएँ

भगताही शाखा की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में पायी जाती है कि इसके यहाँ बाह्योपचारों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता प्रत्युत इसके अनुयायियों का ध्यान विशेषकर भक्ति भावना की ही ओर केन्द्रित जान पड़ता है। जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है इसके प्रवर्त्तक भागोदास का प्रारंभिक जीवन संभवतः निंबार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों के वातावरण में बीता था जिस कारण उसका प्रभाव पीछे चल कर भी सर्वथा नष्ट नहीं हो सका होगा। अतएव हम देखते हैं कि इस शाखा से संबद्ध कबीर-पंथियों में अब तक भी अधिकतर उस विशिष्ट धार्मिक

---

१ कबीर और कबीर-पंथ तुलनात्मक अध्ययन अप्रकाशित पृ २९८।

हो जाने पर ही इनका जागूदास का समकालीन होना भी माना जा सकता है। अतएव इस शाखा के महतो की वर्तमान सूची वालो मे से एक को दूसरे का उत्तराधिकारी समझते हुए स्वभावत कुछ इस प्रकार का ही अनुमान किया जा सकता है कि यदि हाथीदास यहाँ के प्रथम आचार्य रहे हो तो, सभवत उन्होंने ही इसके मठ की पहले पहल स्थापना भी की होगी। यदि उनका सबध कटक की गद्दी वालो से रह चुका हो उस दशा मे ये जागूदास के बहुत पीछे ही हुए होगे। निष्कर्ष यह कि यदि कटक वाली गद्दी को मूल केन्द्र मान लिया जाय तथा वहाँ से आकर जागूदास का शिवपुर वा बनकटा मे एक अन्य गद्दी का स्थापित करना और तत्पश्चात् बिद्दूपुर मे आना भी समझा जाय तो, इसे हम क्रमश तीसरा स्थान ही दे सकते हैं। परन्तु जहाँ तक पता चलता है, बिद्दूपुर की ही शाखा इस समय इन तीनो मे अधिक सक्रिय दीख पडती है। कहा जाता है कि इसकी कुछ उप-शाखाएँ क्रमश: दरभगा, मुजफ्फरपुर, मुगेर, गया तथा लखनऊ मे प्रतिष्ठित हो चुकी हैं। इसके सिवाय इसकी ओर से किये गए कुछ प्रचार का नेपाल मे पाया जाना तथा वहाँ पर इसके ५३ मठो तक का स्थापित हो जाना भी प्रसिद्ध है।

कुछ विशिष्ट नियमादि

जहाँ तक बिद्दूपुर वाली शाखा की विशेषताओ की बात है इस दृष्टि से इसे हम फतुहा मठ से अधिक भिन्न नही ठहरा सकते। यहाँ पर भी हिन्दू और मुस्लिम अनुयायियो के बीच बहुत भेद नही रखा जाता। यहाँ के लिए तो प्राय इस प्रकार भी कहा जाता है कि इसकी एक उप-शाखा मे अधिकतर मुस्लिम ही पाये जाते हैं। किसी 'जपससी' नामक ऐसे स्थान के विषय मे प्रसिद्ध है कि वहाँ पर कोई 'तवारख' नाम के कबीर-पथी मुस्लिम कबीर आज भी वर्तमान हैं। कहते हैं कि कोई भी ऐसा साधु, चाहे वह मुस्लिम रह चुका हो अथवा हिन्दू रहा हो उसके लिए पच सस्कारो के अनुसार दीक्षित होना आवश्यक है। इनके अतर्गत क्रमश शिखा, सूत्र, कठी, तिलक तथा गुरु-मत्र की गणना की जाती है। यहाँ पर प्राय-प्रात काल और सायकाल के समय समाधियो की पूजा की जाती है तथा आचार्यों की आरती भी उतारी जाती है। इसके अनुयायियो मे एक की ओर से दूसरे के प्रति, पारस्परिक 'वदगी' का किया जाना, कदाचित् अनिवार्य-सा समझा जाता है। मठ का प्रबध करने के लिए इनके यहाँ विभिन्न अधिकारी नियुक्त रहा करते हैं, किंतु इनके विरक्तो मे कभी किसी स्त्री का भी सम्मिलित किया जाना निषिद्ध है। यहाँ के अनुयायियो की अत्येष्टि-क्रिया कभी शवदाह के रूप मे अनुष्ठित होती नही सुनी जाती।[1]

---

१. कबीर और कबीर-पथ तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित, पृ० २७१-२।

४ भगताही शाखा धनौती, जिला सारन

संक्षिप्त परिचय

कबीर-पंथ की 'भगताही शाखा' मूल प्रवर्तक भागोदास वा भगवान गोसाईं कहे जाते है जो कबीर साहब के प्रमुख शिष्यो मे भी गिने जाते हैं तथा जिनके विषय में इसके पहले हम विचार कर चुके है। भागोदास ने 'भगताही शाखा' का प्रवर्तन कब और किस रूप मे किया तथा इसके मठादि का प्रारंभिक संगठन करते समय उन्हे किन-किन व्यक्तियो से किस प्रकार की सहायता मिली और फिर इसका क्रमिक विकास कैसे होता गया आदि बाते विदित नही हैं। इसका प्रधान केन्द्र धनौती मे प्रतिष्ठित है जहाँ पर भी इसके दो मठ क्रमश 'बड़ा' और 'छोटा' कहला कर प्रसिद्ध हैं। इसकी उप-शाखाओ के रूप मे अनेक मठ बिहार प्रांत में स्थापित हो चुके हैं, किन्तु उनके सबध मे भी अभी तक हमें यथेष्ट सामग्री नही मिली है। ऐसे मठों मे कुछ तो सारन जिले मे है कुछ मुजफ्फरपुर जिले मे है तथा कुछ का चंपारन जिले मे भी होना बतलाया जाता है। किन्तु हमे अभी तक इस बात का पूरा पता नही चल सका है कि उनका आपस म कोई विशिष्ट संबंध है या नहीं। धनौती का 'बड़ा' मठ इन सभी से कही अधिक सुव्यवस्थित रूप मे पाया जाता है। कहते हैं कि इसके वर्तमान महंत रूपधारी गोस्वामी किसी 'लहेजी' नामक मठ में रहा करते है तथा स्वयं बड़े धनौती मठ का सचालन वहाँ के अधिकारी किया करते हैं।[१] भगताही शाखा के किसी मठ का बिहार प्रांत के बाहर पाया जाना अभी तक हमे विदित नही है न हमे यही ज्ञात हो सका है कि जिस पिथौरागढ (बुंदेलखड) के विषय म कहा जाता है कि वह इसके प्रवर्तक भगवान गोसाईं का निवास स्थान रहा होगा उसकी निश्चित भौगोलिक स्थिति क्या है अथवा वहाँ पर इसकी कोई उप-शाखा है भी या नही।

कतिपय विशेषताएँ

भगताही शाखा की सबसे बड़ी विशेषता इस बात मे पायी जाती है कि इसके यहाँ बाह्योपचारो को अधिक महत्त्व नही दिया जाता प्रत्युत इसके अनुयायियो का ध्यान विशेषकर भक्ति भावना की ही ओर केन्द्रित जान पड़ता है। जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है इसके प्रवर्तक भागोदास का प्रारंभिक जीवन संभवत निंबार्क सम्प्रदाय के अनुयायियो के वातावरण में बीता था जिस कारण उसका प्रभाव पीछे चल कर भी सर्वथा नष्ट नही हो सका होगा। अतएव हम देखते हैं कि इस शाखा से संबद्ध कबीर-पंथियों में अब तक भी अधिकतर उस विशिष्ट धार्मिक

१ कबीर और कबीर-पंथ तुलनात्मक अध्ययन अप्रकाशित पृ १९८।

वेशभूषा अथवा आचरण को ही महत्त्व दिया जाता आ रहा है जो उक्त सम्प्रदाय वालो मे प्रचलित हैं। इसके अनुयायी वैसा ही तिलक धारण करना पसद करते हैं, उनकी जैसी ही भक्ति-साधना को प्रश्रय देते सुने जाते हैं तथा अपने नामो के साथ ये लोग उस 'गोस्वामी' पदवी का भी उपयोग करना चाहते हैं जिसका प्रयोग निंवार्क सम्प्रदाय वालो मे होता आया है। तदनुसार इस शाखा के त्यागियो अथवा पडितो को जहाँ 'गोस्वामी' कह कर अभिहित किया जाता है, वहाँ इसके अनुयायी गृहस्थ उस नाम के विकृत रूप 'गोसाईं' शब्द का ही अपने लिए प्रयोग करते दीख पडते हैं। भगताही शाखा वालो की प्रवृत्ति साहित्य-रचना की ओर उतनी नही देखी जाती। ये लोग 'कबीर-बीजक' ग्रथ को विशेष श्रद्धा के साथ देखते हैं तथा कभी-कभी इनकी एक ऐसी मान्यता भी सुनी जाती है कि उसका विशेष सबध उनकी शाखा से ही रहता आया है। कबीर-पथ की अन्य शाखाओ और विशेषकर छत्तीसगढी वालो का तो कहना है कि उस ग्रथ का मूल रूप किसी न किसी प्रकार भागोदास के ही हाथ लगा था तथा 'अनुराग सागर' मे उसका इनके द्वारा 'चुरा लिया जाना' तक भी बतलाया गया है।[1] इसके सिवाय, जहाँ तक पता है भगताही शाखा के अनुयायी कबीर साहब को उस प्रकार का अवतारी रूप देना पसद नही करते, जैसा छत्तीसगढी वालो के यहाँ देखा जाता है और ये उन्हे अधिक से अधिक एक आदर्श रूप मे ही स्वीकार करते हैं।

५. कबीर-चौरा शाखा, काशी

स्थापना का समय

कबीर-पथ के अनेक अनुयायियो की धारणा है कि कबीर-चौरा वाली शाखा कदाचित् सभी अन्य शाखाओ से अधिक प्राचीन होगी। इसका मुख्य कारण, इसके कबीर साहब के जन्म-स्थान मे पाये जाने पर भी आधारित हो सकता है। परन्तु जैसा हम इसके मूल प्रवर्त्तक समझे जाने वाले सत सुरत गोपाल वाले प्रसग मे देख आये हैं, इसको तथ्य मान लेने के लिए हमारे पास अभी तक यथेष्ट साधन उपलब्ध नही हैं। इसके सिवाय स्वय कबीर-पथ के अनुयायियो मे से ही बहुत-से लोग यह भी कहते सुने जाते है कि उसका प्रारभ वस्तुत मध्यप्रदेश की ओर से हुआ होगा। इनके अनुसार कबीर-पथ के स्थापित करने की प्रेरणा सर्वप्रथम कबीर साहब की ओर से उनके शिष्य धर्मदास को मिली थी। फलत उनके उत्तराधिकारी मुक्तामणि नाम ने उसे कुदरमाल मे सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। इस प्रकार, "यह निश्चित है कि इस देश मे कबीर-पथ के जितने भी मठ हैं वे सब

---

१ 'बहुतक ग्रथ तुम्हार चुरैहैं। आपन पथ निहार चलैहैं ॥' पृ० ९१।

उसी के शाखा मठ कह जा सकते हैं।[1] ऐसी दशा में इस बात का अंतिम निर्णय कर पाना केवल तभी संभव हो सकता है जब हमारे पास कबीर-पंथ की सभी शाखाओं का प्रामाणिक इतिहास मिल सके तथा जब हम उनके क्रमिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन करके किसी स्पष्ट परिणाम तक पहुँच पाने में समर्थ हो सकें। कबीरचौरा शाखा की स्थापना का ठीक समय निर्धारित करने के लिए सर्वप्रथम इसके मूल प्रवर्त्तक संत सुरत गोपाल का जीवन-काल विदित होना चाहिए जिसके विषय में हम देख चुके हैं कि वह अधिक से अधिक १६वीं शताब्दी के अंत तक पहुँचता है। परन्तु हम केवल इसी के आधार पर कबीर-चौरा शाखा की स्थापना का भी समय निश्चित नहीं कर सकते जब तक हमें उसका कोई स्पष्ट उल्लेख न मिल जाय अथवा जब तक उसकी पुष्टि किन्हीं अन्य प्रमाणों के आधार पर भी न की जा सके। संत सुरत गोपाल तथा उनके शिष्य महंत ज्ञानदास की समाधियों का जगन्नाथ पुरी में होना बतलाया जाता है। इसके अनंतर श्यामदास लालदास हरिदास तथा शीतलदास अर्थात् यहाँ के सातवें महंत तक की समाधियों का यहाँ पर कोई पता नहीं चलता। सुरत गोपाल से सातवें महंत सुखदास की समाधि नीरू टीले में वर्तमान है। कहा जाता है कि सर्वप्रथम उन्हीं के समय अर्थात् संभवतः किसी समय १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल में यह स्थान पंथ के अधिकार में आया था। 'कबीर चौरा' की भूमि इसके भी पीछे कदाचित् काशी-नरेशों की सहायता से प्राप्त की गई तथा यहाँ के महंतों की समाधियों का निर्माण उनसे १४वें महंत शरणदास से आरंभ हुआ। इस दशा में हमें इस प्रकार के प्रमाणों से भी पूरी सहायता नहीं मिलती।

कबीर-चौरा का मठ

कबीर चौरा शाखा का मठ काशी-नगर के अंतर्गत उसी नाम के एक मुहल्ले में इस समय भी वर्तमान है। मुख्य स्थान पर इस समय एक मंदिर का निर्माण कर दिया गया है जहाँ पर कबीर साहब के उपदेश देने का पवित्र स्थल दिखलाया जाता है। इसके पास ही उनकी एक प्रस्तर मूर्ति भी स्थापित की गई है जहाँ पर उनकी आरती की जाती है और स्तोत्र पढ़े जाते हैं। कबीर चौरा के आँगन की चहार दीवारी के दक्खिन वाली गली के भी पीछे दो और आँगन घिरे हुए हैं जिनमें से पश्चिम वाले में 'नीरू टीला' पड़ता है तथा पूर्ववाले का रूप किसी धर्मशाला का

---

१ "दृश्यन्ते साम्प्रतं देशे मठा येऽस्य पथः खल।
शाखा मठा हि तस्यैव सर्वे सन्तीति निश्चितम्॥२५
——सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ ६२२।

वेशभूषा अथवा आचरण को ही महत्त्व दिया जाता आ रहा है जो उक्त सम्प्रदाय वालो मे प्रचलित है। इसके अनुयायी वैसा ही तिलक धारण करना पसद करते हैं, उनकी जैसी ही भक्ति-साधना को प्रश्रय देते सुने जाते है तथा अपने नामो के साथ ये लोग उस 'गोस्वामी' पदवी का भी उपयोग करना चाहते हैं जिसका प्रयोग निंवार्क सम्प्रदाय वालो मे होता आया है। तदनुसार इस शाखा के त्यागियो अथवा पडितो को जहाँ 'गोस्वामी' कहकर अभिहित किया जाता है, वहीं इसके अनुयायी गृहस्थ उस नाम के विकृत रूप 'गोसाईं' शब्द का ही अपने लिए प्रयोग करते दीख पडते हैं। भगताही शाखा वालो की प्रवृत्ति साहित्य-रचना की ओर उतनी नही देखी जाती। ये लोग 'कबीर-बीजक' ग्रथ को विशेष श्रद्धा के साथ देखते हैं तथा कभी-कभी इनकी एक ऐसी मान्यता भी सुनी जाती है कि उसका विशेष सबध उनकी शाखा से ही रहता आया है। कबीर-पथ की अन्य शाखाओ और विशेषकर छत्तीसगढी वालो का तो कहना है कि उस ग्रथ का मूल-रूप किसी न किसी प्रकार भागोदास के ही हाथ लगा था तथा 'अनुराग सागर' मे उसका इनके द्वारा 'चुरा लिया जाना' तक भी बतलाया गया है।[१] इसके सिवाय, जहाँ तक पता है भगताही शाखा के अनुयायी कबीर साहब को उस प्रकार का अवतारी रूप देना पसद नही करते, जैसा छत्तीसगढी वालो के यहाँ देखा जाता है और ये उन्हे अधिक से अधिक एक आदर्श रूप मे ही स्वीकार करते हैं।

५. कबीर-चौरा शाखा, काशी

स्थापना का समय

कबीर-पथ के अनेक अनुयायियो की धारणा है कि कबीर-चौरा वाली शाखा कदाचित् सभी अन्य शाखाओ से अधिक प्राचीन होगी। इसका मुख्य कारण, इसके कबीर साहब के जन्म-स्थान मे पाये जाने पर भी आधारित हो सकता है। परन्तु जैसा हम इसके मूल प्रवर्त्तक समझे जाने वाले सत सुरत गोपाल वाले प्रसग मे देख आये हैं, इसको तथ्य मान लेने के लिए हमारे पास अभी तक यथेष्ट साधन उपलब्ध नही हैं। इसके सिवाय स्वय कबीर-पथ के अनुयायियो में से ही बहुत-से लोग यह भी कहते सुने जाते हैं कि उसका प्रारम्भ वस्तुत मध्यप्रदेश की ओर से हुआ होगा। इनके अनुसार कबीर-पथ के स्थापित करने की प्रेरणा सर्वप्रथम कबीर साहब की ओर से उनके शिष्य धर्मदास को मिली थी। फलत उनके उत्तराधिकारी मुक्तामणि नाम ने उसे कुदरमाल मे सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। इस प्रकार, "यह निश्चित है कि इस देश मे कबीर-पथ के जितने भी मठ हैं वे सब

---

१ 'बहुतक ग्रथ तुम्हार चुरैहैं। आपन पथ निहार चलैहैं॥' पृ० ९१।

के पहले ही चुन लेता है। इसके साथ संबद्ध कबीर साहब को वे किसी एक 'पीर' विशेष से अधिक महत्त्व देना नहीं चाहते। परन्तु मगहर के मठ वाले हिन्दू अधिकृत भाग का निर्माण अधिक विस्तार के साथ किया गया है। इसका अपना एक आँगन है जिसमें कबीर साहब की समाधि एक पक्के कूएँ के पास बनी हुई है और जिसका जीर्णोद्धार भी सं १९५५ में किया जा चुका है। यहाँ का प्रबंध कबीर चौरा काशी की ओर से होता है और यहाँ के पुजारी की नियुक्ति भी वहीं से होती है तथा वह प्रति वर्ष वहाँ जाया करता है। इस मठ के उपलक्ष में वहाँ पर एक मेला लगा करता है और इसके निकट के ही एक स्थान को कबीर साहब का साधना-स्थल भी कहा जाता है।

कबीर-बाग तथा अन्य उप-शाखाएँ

कबीर चौरा शाखा काशी की 'कबीर बाग' वाली उप-शाखा की विशेष प्रसिद्धि रामरहसदासजी के कारण है जिनका पूर्व नाम रामरक्ष द्विवेदी था तथा जिनका जन्म सं १७८२ के अंतर्गत गया से २५ मील दूर 'टिकारी' नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता वहाँ के महाराजा मित्रजीत के मंत्री थे और बचपन में इन्होंने अपनी माँ से संस्कृत पढ़ी थी। इन्होंने फिर वहीं की गयावाली पाठशाला में अध्ययन किया तथा सं १८१२ में एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में वैराग्य भी ले लिया। प्रसिद्ध है कि पहले इनकी विशेष रुचि वेदान्त दर्शन की ओर थी किंतु किसी कबीर पंथी के प्रभाव में आकर ये पीछे फतुहा मठ के आचार्य गुरुदयाल जी से 'कबीर-बीजक' का अध्ययन करने लगे। कदाचित् इसमें इन्होंने कबीर चौरा काशी के आचार्य गुरुशरण साहब से भी परामर्श लेकर अपने 'पंचग्रंथी'-जैसे श्रेष्ठ ग्रंथों का निर्माण किया। इनकी कुछ पंक्तियों से हमें ऐसा लगता है कि इनकी श्रद्धा उक्त दोनों आचार्यों के प्रति रही होगी तथा इन्होंने उन दोनों के ही पाण्डित्य से पूरा लाभ उठाया होगा। इन्होंने सं १८९६ में शरीर-त्याग किया और ये आज तक भी एक मेधावी कबीर-पंथी पंडित के रूप में विख्यात हैं। इनका गयावाला निवास-स्थान इस समय अपने पूर्वरूप में विद्यमान नहीं है किन्तु वह 'कबीर बाग' के नाम से आज भी कम प्रसिद्ध नहीं है। काशी की कबीर चौरा वाली शाखा की उप-शाखाओं में लहियाद बड़ौदा तथा अहमदाबाद आदि के मठों के भी नाम लिये जाते हैं। परन्तु उनके संबंध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है, न उनकी ऐसी कोई विशेषताएँ ही सुनी जाती हैं जो उल्लेखनीय हों। इतना अवश्य है कि कबीर साहब के शिष्य सुरत गोपालजी अथवा किसी अन्य ऐसे पुरुष की अपेक्षा स्वयं उन्हीं के जीवन की घटनाओं के साथ अधिक संबद्ध समझे जाने के कारण इस शाखा का महत्त्व और भी बढ़ जाता जान पड़ता है। फिर भी 'अनुराग सागर' के देखने से पता चलता

जैसा है और उसमे 'कबीर-महाविद्यालय' नाम से एक सस्था भी चला करती है। नीरू टीला वाले विभाग मे बहुधा कबीर-पथ की कुछ स्त्रियाँ भी रहा करती हैं जिन्हे 'माई लोग' की सज्ञा प्रदान की जाती है। कबीर-चौरा शाखा का सारा प्रबध यहाँ के महत के अधीन है जो दीवान, कोतवाल तथा पुजारी नामक भिन्न-भिन्न कर्मचारियो द्वारा उसकी व्यवस्था कराया करते हैं और जो बाहर से आनेवाले यात्रियो से प्राप्त भेंट तथा मठ की सपत्ति के मालिक भी कहे जाते है। इस मठ के तत्त्वावधान मे एक साम्प्रदायिक मेला भी प्रतिवर्ष लगा करता है जो एक सप्ताह तक चला करता है। इस अवसर पर यहाँ 'जोत प्रसाद' की विधि सपन्न की जाती है तथा कबीर-पथ मे नवीन व्यक्ति सम्मिलित भी किये जाते हैं। कहते हैं कि कबीर मठ का जीर्णोद्धार करने के उद्देश्य से यहाँ पर कुछ खोदाई का भी काम हुआ है। इसके परिणामस्वरूप कुछ लकडी के पतले खभो, पत्थर की मूर्तियो, पुरानी हस्त-लिखित पुस्तको की प्राप्ति हुई है और ये अतिम वस्तुएँ किसी पत्थर की सदूक मे सुरक्षित मिली है।

उप-शाखाए लहरतारा और मगहर

कबीर-पथ की कबीर-चौरा शाखा, काशी की कुछ उप-शाखाएँ भी प्रसिद्ध हैं जिनमे से लहरतारा, मगहर तथा 'कबीर-बाग', गया के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और इनका हमे कुछ न कुछ परिचय भी उपलब्ध है। इन तीनो मे से लहरतारा वाली उप-शाखा का सबध उस प्रसिद्ध स्थान के साथ समझा जाता है, जहाँ पर कबीर साहब अपने शिशु-रूप मे नीरू और नीमा को मिले थे और जो उक्त कबीर-चौरा से लगभग दो मील उत्तर पश्चिम की ओर वर्तमान है। इस उप-शाखा का मठ साधारण है और इसका प्रबध भी सभवत इसकी मूल शाखा कबीर-चौरा की ही ओर से होता है। परन्तु मगहर वाली उप-शाखा जिसका सबध कबीर साहब के मृत्यु स्थान के साथ जोडा जाता है, इससे कही अधिक बडी है और वह गोरखपुर नगर से लगभग १६ मील पश्चिम की ओर बस्ती जिले मे स्थित है। इसके वहाँ पर दो भाग हैं और इन दोनो के बीच एक दीवार निर्मित कर दी गई है तथा इनमे से एक का सबध हिन्दू कबीर-पथियो से है और दूसरे का मुस्लिम कबीर-पथियो के साथ और इन दोनो मे इसी के अनुसार प्रबध भी किया गया दीख पडता है। मुस्लिम कबीर-पथियो वाले भाग मे एक 'रौजा' बना हुआ पाया जाता है जिसे कबीर साहब की समाधि कहते हैं तथा जिसके पूरब की ओर एक समाधि सत कमाल की भी बतलायी जाती है और जो एक छोटी-सी कोठरी के भीतर बनी हुई है। इस रौजे पर इसके अनुयायियो की ओर से पुष्पादि चढाये जाते हैं और इसके अधि-कारी को 'गनी करन कबीर' कहा जाता है जो अपना उत्तराधिकारी अपनी मृत्यु

पुरुषों का-जैसा स्थान दिया जाता है किंतु हक्कनाम (गद्दीकाल सं १८९१) से संबंध-विच्छेद की भी प्रथा चल निकलती है। महंत हक्कनाम का पुत्र सनेही नाम का आरस पुत्र न होकर केवल दासीपुत्र ही होना बहुत लोगों की दृष्टि में उनकी गद्दी के लिए प्रश्न बाधा उपस्थित करता जान पड़ा जिस कारण हटकेश्वर के-जैसे मठों के कबीर-पंथियों ने अपनी नयी उप-शाखा बना ली। इसी प्रकार, फिर हक्कनाम के अनंतर तीसरे गुरु प्रगट नाम (गद्दीकाल सं १९२) के मरने पर भी उत्तराधिकार का झगड़ा चला। इसमें मुकदमेबाजी तक हो गई। बंबई हाईकोर्ट के निर्णयानुसार उनकी वैध पत्नी से उत्पन्न धीरज नाम (गद्दीकालसं १९५१) को गद्दी मिली। इसी प्रकार धीरज नाम के अनंतर तीसरे गुरु दया नाम की मृत्यु हो जाने पर भी सं १९८४ से लेकर सं १९९४ तक अनेक प्रकार के झगड़े होते रह गए। अंत में धर्मदासजी के ४२ अंश वाले 'वंश' शब्द की अनेक व्याख्याएँ हो जाने पर उसके 'बिंद बंश' और 'नाद बंश' नाम के दो वर्ग बन गए। तदनुसार 'बिंद बंस' के अंतर्गत जहाँ सं १९९५ में मुंग्रमुनि नाम साहब प्रतिष्ठित हुए वहाँ 'खरसिया' में 'नाद बंस' की गद्दी आरंभ हुई।[1] अतएव 'बिंद-बंश' के महंतों में पैतृक अधिकार को विशेष महत्त्व प्राप्त है, किंतु 'नाद बंश' या 'बचन बंश' में इसे कोई मान्यता प्राप्त नहीं। इसके महंत विवाह नहीं करते और यह पद केवल उनकी योग्यता के ही आधार पर मिला करता है। छत्तीसगढ़ प्रदेश में तथा अन्यत्र भी इन दोनों की उप-शाखाएँ पायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी हैं जिन्होंने अपने मूल से संबंध विच्छेद कर लिया है।

कतिपय प्रमुख उप-शाखाएँ

छत्तीसगढ़ी की जिन उप-शाखाओं का उसके साथ संबंध-विच्छेद का होना नहीं कहा जा सकता उनकी भी संख्या कम नहीं है। जैसा हम इसके पहले भी देख चुके हैं यदि चूड़रमाल को हम इसकी सर्वप्रमुख शाखा रूप में स्वीकार करें तो जान पड़ेगा कि मुक्तामणि नाम द्वारा उसके प्रतिष्ठित हो जाने पर उनके अनंतर तीसरे महंत प्रमोद नाम (गद्दीकाल स १७५) के समय ऐसी एक शाखा की स्थापना 'मांडला' में की गई। वहाँ पर उनकी तथा प्रमोद नाम (गद्दीकाल स १७९४) की समाधियाँ बनी हुई हैं तथा वहाँ हक्क-

---

१ नौतिं अंशामी सत्य की बचन-बंश परकास।
बचन मांउ सो बंस है प्रकट कहा अविनास ॥
—कबीर-पंथी शब्दावली, भूमिका पृ २।

है कि इसके प्रवर्त्तक मत सुरत गोपाल को वहाँ धर्मदासजी के निकट 'खवास' के रूप मे आनेवाला तथा 'अघ अचेत' कहा गया है। उनकी निंदा इस रूप मे भी की गई है कि उन्होंने 'अक्षर जोगजीव' को भ्रम मे डाल दिया था।[1]

६ 'छत्तीसगढी' वा 'धर्मदासी' शाखा

प्रारभिक परिचय

कबीर-पथ की छत्तीसगढी शाखा की यह एक प्रमुख विशेपता है कि इसका सभी अन्य शाखाओ से कही अधिक प्रचार है। इसके अनुयायियो द्वारा एक विशाल साहित्य की रचना भी की जा चुकी है। कदाचित् इन्ही दो कारणो से यह अपने रूप मे, उसका मुख्य स्थान तक ग्रहण कर लेती प्रतीत होती है। इस शाखा के मूल प्रवर्त्तक धर्मदासजी समझे जाते हैं जिनका परिचय कबीर-शिष्यो की चर्चा करते समय दिया जा चुका है। कहते हैं कि उन्होंने अपने यहाँ अतिथि रूप मे उपस्थित कबीर साहब की आज्ञा से अपने द्वितीय पुत्र 'चूडामणि नाम' को विधिवत् गद्दी पर बिठला दिया। तभी से ये इस शाखा के प्रमुख आचार्य 'मुक्तामणि नाम' कहला कर प्रसिद्ध हो गए। धर्मदासजी का इस घटना के अनतर कबीर साहब के साथ जगन्नाथपुरी की ओर जाना तथा वही पर शरीर-त्याग करना भी कहा गया है। मुक्तामणि नाम के बडे भाई नारायण द्वारा उनकी गद्दी के प्रति विरोध भाव प्रकट किये जाने पर उन्हे पीछे वहाँ से पहले 'कोर्वा' तथा उसके भी अनतर 'कुदरमाल' मे चला जाना पडा। इस कारण यह अतिम स्थान ही शाखा का प्रधान केन्द्र हो गया और तब से उनके शिष्य-प्रशिष्य उत्तराधिकारियो की एक नयी परपरा ही प्रतिष्ठित हो चली। परन्तु यह घटना कब हुई इसका ठीक समय हमे ज्ञात नही है। इधर की गई कुछ खोज के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इसके आज से लगभग ३५० वर्ष हुए होगे। इस काल को यदि दो भागो मे विभक्त किया जाय तो, यह भी बतलाया जा सकता है कि इसके पूर्वार्द्ध वाले समय की घटनाओ का वर्णन, जहाँ बहुत कुछ पौराणिक-शैली मे ही किया गया मिलता है, वहाँ उत्तरार्द्ध में सघर्ष की प्रधानता रहती है।[2] तदनुसार हम देखते हैं कि मुक्तामणि नाम से लेकर 'सुरत सनेही नाम' तक ७ आचार्यों के सबध में अनेक चामत्कारिक घटनाओ का उल्लेख किया जाता है। उन्हे पहले के महा-

---

१ "पथ तीसरे तोहि बताऊँ। अघ अचेत दूत चल आऊँ॥
होय खवास आय तुम पासा। सुरत गोपाल नाम पर वासा॥
आपन पथ चलावे न्यारा। अक्षर जोग जीव भ्रम डारा॥"—पृ० ९१।

२ कबीर और कबीर-पथ तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित।

प्राचीन होगी किंतु जिसके लिए प्रस्तुत की जाने वाली सामग्री के आधार पर ऐसा कोई स्पष्ट निर्णय नहीं हो पाता। इसके संबंध में लिखित समझे जाने वाले किसी पुराने हस्तलिखित ग्रंथ 'आसा सागर' से यहाँ ऐसा लगता है कि इसकी स्थापना कदाचित् स्वयं कबीर साहब के जीवन-काल के आसपास हुई होगी वहाँ छत्तीसगढ़ी शाखा की अनेक बातों के यहाँ पर प्राय: पूर्ण रूप से अनुसरण होते जाने से कभी-कभी यह भी अनुमान होने लगता है कि यह संभवत: कहीं पीछे ही अस्तित्व में आयी होगी।[१]

कबीर निर्णय मंदिर, बुरहानपुर

परन्तु एक ऐसी ही अन्य शाखा कबीर-निर्णय-मंदिर, बुरहानपुर के विषय में हमें इस प्रकार का कोई भ्रम उत्पन्न नहीं होता। इसके सर्वप्रमुख प्रवर्तक माने जाने वाले प्रसिद्ध पूरन साहब (मृ सं १८९४) के लिए कहा जाता है कि इन्होंने छत्तीसगढ़ी शाखा वाले महंत पाक नाम साहब (मृत्युकाल सं १८९) से 'पंजा' लिया था और ये उससे पूर्णत: संबद्ध भी थे। परन्तु इनकी विद्वत्ता तथा अनुपम व्यक्तित्व द्वारा प्रभावित होकर जब अनेक व्यक्तियों ने इनसे दीक्षित होना आरंभ कर दिया तो इन्हें दंड के रूप में किसी कोठरी में बंद कर दिया गया और ये उसके बाहर बहुत कहने-सुनने पर ही आये जा सके। इसके सिवाय इस संबंध में यह भी प्रसिद्ध है कि इनके द्वारा की गई 'कबीर बीजक' की 'त्रिज्या' नाम की टीका कदाचित् छत्तीसगढ़ी शाखा के अनुरूप सिद्धांत प्रकट करती हुई नहीं जान पड़ी जिस कारण इन्हें उसका कोप-भाजन हो जाने पर उससे पृथक हो जाना पड़ा। जहाँ तक इनके उस शाखा के साथ पहले संबद्ध रहने की बात है इसे इन्होंने अपने 'निर्णय सार' ग्रंथ के अंतर्गत स्वयं स्वीकार किया है। यहाँ बतलाया है कि किस प्रकार इनके गुरु सुखलाल ने जिनके गुरु अमरदास ने स्वयं धर्मदास द्वारा 'पारसपद' प्राप्त किया था।[२] पूरन साहब द्वारा रचे गए ग्रंथों से जान पड़ता है कि ये एक बहुत योग्य पुरुष थे। कहते हैं कि इनका देहांत केवल ३२ वर्ष की आयु पाकर हो गया। इनके शिष्य-प्रशिष्यों में भी श्रीराम साहब काशी साहब तथा छोटे बालक साहब-जैसे कई अच्छे विद्वान्

---

१ कबीर और कबीर-पंथ तुलनात्मक अध्ययन अप्रकाशित।

२ पारखगुरु कबीर कहाये। पारख धर्मदास बतलायें।
पारख में सब संत समाई। पारख अमरदास गुरु पाई
सहबसि सुखलाल कृपानिधि। पारख पाई सकल बीजक निधि।
पूरन तिन का चरण को चैरो। कृपादृष्टि उनहिन प्रभु हेरो॥
—निर्णयसार, पृ ५७।

नाम के समय से ऐसे महत गुरुओ की स्मृति मे उनके पूजनादि की विधियाँ भी सपन्न की जाती हैं। इसी प्रकार धर्मदासी शाखा के रूप मे इस समय एक मठ दामाखेडा मे प्रतिष्ठित है जिसके महत बडी सजधज के साथ रहा करते हैं। उसे वस्तुत उसके प्रधान केन्द्र का जैसा महत्त्व भी कभी-कभी दे दिया जाता सुना जाता है। दामाखेडा वा धामखेडा मे प्रति वर्ष माघ के महीने मे वसतपचमी के अवसर पर एक मेला भी लगा करता है, जहाँ पर दूर-दूर के कबीर-पथी आकर सम्मिलित होते हैं। कहते हैं कि यह मेला तीन दिनो तक चलता है और इस अवसर पर यहाँ ३८ महत आकर यहाँ के महत से आदेश ग्रहण किया करते हैं। इसके सिवाय एक छोटी-सी गद्दी वमनी का भी उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ पर धीरज नाम के वशजो की परपरा चली आ रही है। जिन अन्य ऐसे मठो को इस प्रकार न्यूनाधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। उनमे महत सुदर्शन नाम (गद्दीकाल स० १७००) के नानिहाल वाले स्थान रतनपुर का है। प्रमोद गुरु के एक शिष्य सतजी द्वारा प्रतिष्ठित मऊ, छतरपुर वाला मठ है, केवल नाम (गद्दीकाल स० १७७९) के समय से आने वाला धमधा का मठ है। योगराज साहब (जगली बाबा) वाला पूना का मठ है तथा कबीर आश्रम मठ जामनगर वाला है। इसी प्रकार कुछ ऐसे आधुनिक मठो मे हक्कनाम के समय मे प्रतिष्ठित कवर्धा मठ, कबीर-मदिर सीय बाग बडोदा, कबीर-मदिर सूरत, सांपा, नागपुर वाले मठ और कबीर-मदिर तेरा, बिहार नाम से प्रचलित मठ के-जैसे कई नाम लिये जाते हैं।

(ग) संबध-विच्छेद के कारण प्रतिष्ठित शाखाएँ

हटकेसर तथा कबीर-चौरा, जगदीशपुरी

सबध-विच्छेद की प्रवृत्ति, वस्तुत उसी समय जागृत हुई जिस समय धर्मदासजी के प्रथम पुत्र नारायणदास तथा उनके द्वितीय पुत्र चूडामणि अथवा मुक्तामणि नाम की दो गद्दियाँ क्रमश बाँधोगढ तथा कुदरमाल मे प्रतिष्ठित हुई। बाँधोगढ वाली गद्दी, कदाचित् इस समय भी वर्तमान है और वहाँ नारायणदास के उत्तराधिकारी रहते आये हैं। परन्तु कुदरमाल की गद्दी के बहुत महत्त्वपूर्ण होने पर भी अनेक मठो ने उससे पृथक् बने रहना ही अधिक उचित समझा है। ऐसी उप-शाखाओ मे एक 'हटकेसर' का मठ है। इसने मुक्तामणि नाम की मृत्यु के अनतर उनके दो पुत्रो के बीच सघर्ष उत्पन्न होने के समय उन दोनो से पृथक् होकर ही रहना आवश्यक मान लिया और तब से इसकी एक पृथक् परपरा चली आ रही है। इस मठ के उपलब्ध इतिहास मे कोई वैसी उल्लेखनीय बात नही दीख पडती। इसी प्रकार हम उस एक अन्य ऐसी शाखा कबीर-चौरा, जगदीशपुरी के सबध में भी कह सकते हैं। वहाँ के महतो की नाम-सूची के देखने पर तो पता चलता है कि यह अत्यत

-उक्त शाखा के संभवतः प्रमोद गुरु (गद्दीकाल सं० १७५) का जीवन-काल होगा। दया नाम साहब (गद्दीकाल सं० १९७१) के समय वाले संघर्षों के कारण इसने अपनी मूल शाखा से संबंध तोड़ लिया और यह स्वतंत्र शाखा बन गई। परन्तु, जहाँ तक यहाँ के प्रचलित नियमादि के पालन का प्रश्न है इस विषय में यहाँ पर कोई शिथिलता नहीं प्रदर्शित की जाती। इसका संबंध-विच्छेद वैसे बौद्धिक स्तर पर किया गया नहीं जान पड़ता जैसा कबीर निर्णय मंदिर, बुरहानपुर का कहा जा सकता है। इसकी कतिपय उप-शाखाएँ बिहार प्रांत के मुंगेर, मुजफ्फरपुर आदि के जिलों तथा नेपाल तक में भी पायी जाती हैं। इसके महंत द्वारा रचित किसी साहित्य का कोई पता नहीं चलता न इसकी वैसी किसी विशेषता का ही परिचय उपलब्ध है।

(ख) कबीर-पंथी-विचार-धारा द्वारा प्रभावित स्वतंत्र मठ

आचार्य गद्दी बड़या

कबीर-पंथी विचार-धारा द्वारा प्रभावित किंतु स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित समझे जानेवाले मठों में भी कई के नाम लिये जा सकते हैं। किंतु उन सभी के विषय में हमें इतनी सामग्री उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर उनका परिचय दिया जा सके। इनमें से केवल दो अर्थात् आचार्य गद्दी बड़ैया तथा आचार्य गद्दी महादेव मठ संबंधी ही कुछ चर्चा की जा रही है। आचार्य गद्दी बड़ैया वाराणसी नगर से लगभग १७ मील पश्चिम सुरियावाँ रेलवे स्टेशन से तीन मील पर बरुना नदी के किनारे स्थित है। इसकी स्थापना मदन साहब ने की थी जो पहले 'बंसगद्दी की चार गद्दियों' में से किसी एक के कबीर-पंथी थे।[१] आध्यात्मिक रहस्य के प्रति इनकी जिज्ञासा इतनी प्रबल थी कि ये एक बार अपने भीतर शांति न मिलती देख कर आत्महत्या तक कर डालने की ओर प्रवृत्त हो गए। कहते हैं कि उसी अवसर पर इन्हें कबीर साहब के 'राधापत' रूप में दर्शन हो गए। कहा जाता है कि उन 'राधापत' ने इन्हें उस समय 'चार भेद' तथा 'सार शब्द' के रहस्यों से पूर्ण परिचित करा दिया। इसके फलस्वरूप इन्हें भीतरी शांति मिल गई और इन्होंने वहीं अपने जन्म स्थान 'करौना' जि० जौनपुर में रह कर उपदेश देते हुए सं० १९११ में गद्दी-कीला स्थापन की। तत्पश्चात् इनके प्रमुख शिष्य आचार्य 'हुकम पति' इनके उत्तराधिकारी हुए जिनका देहांत श्रावण शुक्ला ४ सं० १९३९ बुधवार को हुआ। फिर उनके शिष्य आचार्य 'विवेक पति' को यह स्थान मिला जिन्होंने सं० १९७८ की अगहन बदी ३ को अपना शरीर-त्याग किया। मदन साहब का देहांत

---

१ सत्य दर्शन : कोठीरामदास नागपुर सन् १९४९ ई० पृ० १७४।

और ग्रथ रचयिता हो चुके हैं। पूरन साहब और विशेषकर इनके उक्त उत्तराधि-
कारियो की रचनाओ से पता चलता है कि कबीर-पथ की इस उप-शाखा के अतर्ग
विचार-स्वातत्र्य तथा तार्किक चिंतन-प्रणाली को विशेष महत्त्व दिया गया है औ
इसके सिद्धात अधिकतर दार्शनिक भी कहे जा सकते हैं। इसका प्रधान केन्द्र बुरहान-
पुर मे ही स्थित है, किंतु इसके तत्त्वावधान मे अन्य कई मठ भी प्रचलित हैं
इनके यहाँ आचार्यों की गद्दी उनके पूर्ण योग्य होने पर ही निर्भर रहती है, जि
कारण किसी जन्मजात अधिकारादि के प्रश्नो को उतना प्रश्रय नही मिलता।
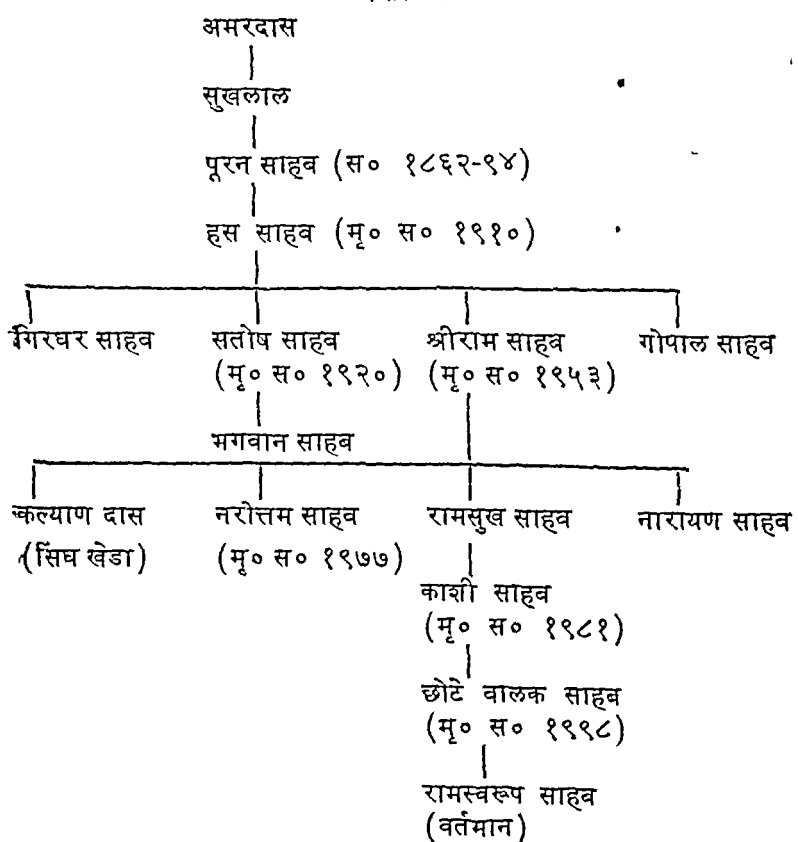
कबीर मठ लक्ष्मीपुर-बागीचा

छत्तीसगढी शाखा से सबध-विच्छेद करके अपना प्रचार-कार्य पृथक् कर ले
वाली उसकी प्रमुख उप-शाखाओ मे से कबीर साहब का मठ 'लक्ष्मीपुर बागीचा
रुसडा, जिला दरभगा का भी नाम लिया जा सकता है। इसकी स्थापना का सम

इस तालिका के संबंध में इस शाखा के अनुयायियों में कुछ मतभेद भी बतलाया जाता है किंतु वह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके मूल प्रवर्तक कृष्णदास कारख की जाति संभवतः छीपिक वा कलवार की थी। इसका प्रचार करनेवालों में भी अधिकतर वैसी ही जातियों के व्यक्ति पाये जाते हैं जिनमें मुसल्मानों के भी कुछ वर्ग सम्मिलित किये जा सकते हैं। कृष्णदास कारख के चार प्रमुख शिष्य कृपियामल्दास कादिरशाह देवीदास तथा रामफलदास कहे जाते हैं। प्रसिद्ध है कि उन्होंने क्रमशः हरदिया विष्णुपुर तथा मिसिहारा जिला दरभंगा तथा नवका भागलपुर में अपने मठ बनाये थे। इस शाखा के विषय में यथेष्ट साहित्य उपलब्ध न होने के कारण इसके मतादि की विशेषताओं का परिचय नहीं मिलता।

(ड) विशिष्ट जातियों के रूप में परिणत कबीर-पंथी वर्ग

कबीर बंसी और पनिका जातियाँ

उपर्युक्त मठों तथा संस्थाओं के अतिरिक्त हमें कुछ ऐसे वर्ग विशेष भी मिलते हैं जो अपने को कबीर-पंथी कहते हैं। इनमें से एक का संबंध कबीर साहब की पुत्री कही जाने वाली कमाली के वंशज कहला कर प्रसिद्ध है और इसी कारण उन्हें साधारणतः 'कबीर-बंसी' नाम से भी अभिहित किया जाता है। एच ए रोज साहब ने इन्हें हिन्दू जोलाहा बतलाया है और कहा है कि इनका व्यवसाय सूत कातने और कपड़े बुनने वाले गृहस्थों का-सा होता है।[१] ये लोग अधिकतर पंजाब की ओर लुधियाना तथा होशियारपुर में तथा उत्तरप्रदेश के मेरठ जिले में भी पाये जाते हैं। इस शाखा के कुछ अनुयायियों के मुल्तान की ओर पाये जाने का भी अनुमान किया जा सकता है जहाँ पर संत कमाली का ब्याहा जाना प्रसिद्ध है। वहाँ के लिए यह भी कहा जाता है कि उधर इनके द्वारा रची गई बहुत-सी 'काफियाँ' भी प्रचलित हैं जिनकी भाषा मुल्तानी ही बतलायी जाती है। किन्तु हमें इसका कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार वर्तमान मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ की ओर एक जाति-विशेष पनिका 'कबीर-पंथियों' की भी पायी जाती है जिसका संबंध पहले संभवतः कबीर-पंथ की छत्तीसगढ़ी शाखा के साथ रहा किन्तु पीछे वह पूर्ववत् बना नहीं रह सका। इस वर्गवालों के लिए प्रसिद्ध है कि ये अपनी धार्मिक वृत्तियों के विषय में बड़े कट्टर हुआ करते हैं। इसी कारण से कभी 'प्रभिका' वा 'प्रभु'

---

१ ए ग्लासरी ऑफ दि ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि पंजाब ऐंड नार्थ वेस्ट फ्रंटियर प्राविंसेज' भाग १ पृ १९८।

सभवत शाहावाद जिले (विहार प्रात) के डुमराँव स्थान पर हुआ था, जहाँ पर उनकी समाधि वनी हुई है। परन्तु, 'दुलन पति' साहव के समय से यह गद्दी उनके जन्म-स्थान वडँया में स्थापित की गई, जहाँ पर वह आज भी वर्तमान है। 'विवेक पति' साहव के अनतर उनके शिष्य गुरुशरण साहव उनकी गद्दी पर आसीन हुए जो स० २०१३ की फाल्गुन सुदी १३ गुरुवार तक जीवित रहे। अत में, वहाँ पर 'प्रकाश पति' जी वैठे जो अभी तक प्रचार-कार्य में निरत हैं। वडँया के मूल प्रवर्त्तक मदन साहव के दो ग्रथ क्रमश 'नाम प्रकाश' तथा 'शब्द विलास' के नामो से प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से प्रथम के अतर्गत उपयुक्त 'चार भेद' का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है तथा दूसरे में इनकी विविध विषयो वाली वानियाँ सगृहीत हैं।

आचार्य गद्दी महादेव मठ, रुसडा

आचार्य गद्दी महादेव मठ, रुसडा (जिला दरभगा) मे स्थित है जिसके सस्थापक श्री कृष्णदास कारख बतलाये जाते हैं। इनका जन्म स० १८६४ की ज्येष्ठ शुक्ला ५ को रुसडा में ही व्रजमोहन कारख के घर हुआ था। इनका व्यवसाय बैल लादने का था। कहते हैं कि इन्हे भी कबीर साहव ने अपने दर्शन दिये थे तथा इन्हें उन्होने शिष्यवत् स्वीकार किया था। इनके द्वारा रचित कई ग्रथ बतलाये जाते हैं, किंतु अभी तक उनमें से केवल एक पाजी पथ प्रकाश का ही कुछ अश प्रकाशित हो पाया है। कहते हैं कि इन्होने स्वय कबीर साहव के ही आदेशानुसार अपनी गद्दी की स्थापना की जो कृष्ण कारखी शाखा भी कही जाती है। इनके ग्रथ 'पाजी पथ प्रकाश' द्वारा पता चलता है कि इनका मृत्यु सवत् १८९६ रहा होगा। उसके आधार पर अथवा उसके अतिम पृष्ठ पर लिखित वशावली के अनुसार इस गद्दी के महतो की परम्परा इस प्रकार दी जा सकती है

कृष्णदास कारख (मृ० सन् १२४६ फ० स० १८९६)
|
डँवरदास (मृ० सन् १२७० फ० स० १९२०)
|
झकरीदास (मृ० सन् १२८३ फ० स० १९३३)
|
रामभरोसदास (मृ० सन् १३१० फ० . स० १९६०)
|
रामटहलदास (मृ० सन्० १३३० फ० स० १९८०)
|
वलदेवदास (वर्तमान)

बीजक' के भाष्यों के रूप में है अथवा जिनके अंतर्गत उनके लेखकों ने पंथ के मौलिक सिद्धांतों का विवेचन करते हुए अपनी निजी तर्क-पद्धति का सहारा लिया है। इस कोटि के ग्रंथों के निर्माण में अधिक हाथ 'रामकबीर-पंथ' 'कबीर-चौरा शाखा' फतुहामठ' अथवा 'कबीर निर्णय-मंदिर' बुरहानपुर, और आचार्य गद्दी' बड़ैया-जैसी कतिपय शाखाओं के अनुयायियों का रहा है और आज भी वे ही इस ओर विशेष ध्यान देते दीख पड़ते हैं। फिर भी इनमें से कुछ के अनुयायियों ने अपने मान्य वा खास' ग्रंथों में न्यूनाधिक स्थान उन पुस्तकों को भी दिया है जो छत्तीसगढ़ी शाखावालों द्वारा निर्मित है तथा जिनमें अधिकतर पौराणिक पद्धति का ही अनुसरण किया गया मिलता है। ऐसे ग्रंथों में कई एक बहुत बड़े-बड़े है और उनमें प्राय सभी प्रकार की बातों का समावेश किया गया पाया जाता है। इनमें 'अमर मूल' तथा 'कबीर मंशूर'-जैसी उपलब्ध पुस्तकों के नाम लिये जा सकते हैं। 'अमर मूल' के वास्तविक रचयिता का नाम हमें विदित नहीं किंतु उसके देखने से पता चलता है कि यह संभवत सुरत सनेही नाम (मृत्यु-काल सं १८२५) के समय में लिखा गया ग्रंथ है। उसे लिखनेवाले ने अपना परिचय कदाचित् उसी प्रकार नहीं दिया है, जैसा पौराणिक ग्रंथों में भी देखा जाता है। 'कबीर मंशूर' के रचयिता स्वामी परमानंद थे जिनका जन्म-स्थान आजमगढ़ अथवा उसके निकट का कोई नगर रहा। वहीं से उन्हें कदाचित् शिक्षा भी मिली थी और वे साधु होकर पर्यटन करते हुए फीरोजपुर पंजाब की ओर आकर रहने लगे थे। 'कबीर मंशूर' पहले सं १९३७ में उर्दू में लिखा गया था और इसका हिंदी अनुवाद पीछे किया गया तथा इसे 'स्वसंवेदार्थ प्रकाश' भी कहा गया।

कबीर-पंथी साहित्य की रचना-शैली

कबीर साहब के मत का परिचय देते समय बतलाया जा चुका है कि वे निजी अनुभव-जन्य ज्ञान को ही विशेष महत्त्व देते थे। उन्हें कोई शब्द-प्रमाण स्वीकृत न था जिस कारण उनका 'स्वसंवेद' सत्य को 'परसंवेद' से अधिक मानना स्वाभाविक भी था। परन्तु पीछे आने वाले कबीर-पंथियों ने 'स्वसंवेद' शब्द के विकृतरूप 'स्वसंबद' का एक भिन्न अर्थ भी निकाल लिया और वे यहाँ तक भी कहने लगे कि उसका अर्थ कबीर साहब का अपना 'वेद' अथवा उनकी स्व-रचित वाणियाँ है जहाँ इसी प्रकार, 'परसंवद' अथवा 'परसंवेद' के विकृत रूप का अभिप्राय भी 'दूसरों का वेद' अर्थात् प्रसिद्ध वेदादि ग्रंथ होना चाहिए। कहीं-कहीं तो उक्त 'स्वसवेद' अथवा 'स्वसंवेद' का एक अन्य रूप 'सूक्ष्मवेद' वा 'सूक्ष्मवेद' तक भी प्राप्त पड़ने लगा। उसके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों को

पर दृढ रहनेवाले भी कहलाते थे, किंतु समय पाकर इनका वह नाम केवल 'पनिका' रूप में ही प्रचलित हो गया । इस जाति के लोगो में अधिकतर निम्न श्रेणी के तथा सभ्यता और सस्कृति की दृष्टि से अविकसित समझे जानेवाले ही पाये जाते है । इस समय इनके प्राय दो भिन्न-भिन्न समुदाय मिलते हैं जिनमें से वस्तुत अपने को 'मानिकपुरी पनिका' कहनेवालो का ही सबध कबीर-पथ से हो सकता है । इस प्रसग में उल्लेखनीय यह है कि जहाँ तक धार्मिक जीवन के किसी प्रकार नियमानुसार निर्वाह करने का प्रश्न है, इन दोनो जातियो के विषय में हम उतना भी नही कह सकते जितना रामकबीर-पथी उदाजाति वालो की चर्चा करते समय वतला चुके है ।

कबीर-पथ का प्रचार-क्षेत्र

कबीर-पथ के आरभ तथा क्रमिक विकास के इतिहास का अध्ययन करने पर पता चलता है कि इसका प्रचार किसी न किसी रूप में उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र, गुजरात तथा पजाब में विशेष प्रकार से सफल कहा जा सकता है। परन्तु, जहाँ तक पता है इसके अनुयायियो की सख्या उत्कल, महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत तक में भी किसी प्रकार कम नही होगी । इसी प्रकार भारत के शेष प्रात जैसे , असम, वगाल तथा कश्मीर तक में भी कुछ न कुछ कबीर-पथियो का पाया जाना कहा जाता है । इनके कुछ मठो में सुरक्षित सूचियो द्वारा यह भी प्रकट होता है कि ऐसे लोगो का पता हमें नेपाल, फारस, अफगानिस्तान, लका, बर्मा, भूटान, फिजी द्वीपसमूह, दक्षिण अफ्रीका, मारिशस-जैसे विदेशो तक में लगाया जा सकता है। ये बाहर के कबीर-पथी किसी-न-किसी भारतीय शाखा के साथ अपना सबध जोडते जान पडते हैं तथा ये साधारणत उनके नियमानुसार व्यवहार करते भी पाये जाते हैं ।

(२) कबीर-पथी साहित्य और मत

कबीर-पथी साहित्य

कबीर-पथी साहित्य का अधिकाश जो पौराणिक कथाओ, कर्मकाडो अथवा गोष्ठियो-सवादो से सबद्ध है वह छत्तीसगढी शाखा के अनुयायियो द्वारा निर्मित जान पडता है । उसके अतर्गत 'सुख निधान', 'गुरु माहात्म्य', 'अमर मूल' 'गोरख गोष्ठी', 'अनुराग सागर', 'निरजन बोध' और 'कबीर मशूर'-जैसी रचनाएँ आती हैं । ऐसी पुस्तको मे कबीर साहब के विविध चरित्रो तथा उनके पूजनादि से सबद्ध वाली उपासना-पद्धतियो की भी गणना की जा सकती है । कबीर-पथी साहित्य के शेष भाग में वे ग्रथ आते है जिनमें पथ के मत की कोई न कोई दार्शनिक व्याख्या की गई है। ऐसी पुस्तकें विशेषकर वे हैं जो पथ के सर्वमान्य ग्रथ 'कबीर-

का निर्माण करना पड़ा। स्वसंवेद की सहायता से वह पुनः अभेद से एक वा अद्वैत की ओर उन्मुख होकर प्रकाश में आ जाता है।

वही 'पारखपद'

फिर भी जब तक जीव में वासना का अंकर विद्यमान है वह अद्वैत के ओर उन्मुख होकर भी पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाता। वह 'बारंबार' आवागमन के चक्कर में फँसा रह कर जन्म लेता और मरता रहा करता है। वेद-वेदान्तादि केवल ब्रह्मत्व की प्राप्ति के उपाय बतला कर ही रह जाते हैं। उन्हें पता नहीं कि यह स्थिति भी जीव को आत्यंतिक निरयमुक्ति देने में असमर्थ ही है। वास्तविक स्थिति अथवा 'पारखपद' की उपलब्धि बिना सद्गुरु की सहायता के संभव नहीं है। केवल कबीर साहब में ही यह सामर्थ्य है कि जीव का सारा भ्रम छुड़ा कर उसे अपने सत्य-स्वरूप की अनुभूति करा दें तथा उसकी बुद्धि को सदा के लिए स्थिर भी कर दें। यह स्थिति 'सत्यपद' वा 'परमपद' भी कहलाती है और यह 'तत्त्व मसि'-जैसे महावाक्यों वाली स्थिति से नितांत भिन्न और उच्चकोटि की भी है। इसे प्राप्त कर लेने पर ही कोई 'पारखी' वा सच्चा गुरु कहला सकता है और वही वास्तव में 'बंदीछोर' कहलाने के भी योग्य होता है। उसे प्रत्येक रहस्य की वास्तविक अनुभूति बनी रहती है और इस प्रकार, सत्य का परखनेवाला भी वही एकमात्र हो सकता है। तदनुसार इन सारी बातों को देखते हुए ऐसे दैवी महापुरुष केवल कबीर साहब ही ठहरते हैं जिन्होंने हंसों को उबारने के लिए शरीर धारण किया था तथा जिनकी शरण में गये बिना किसी जीव का कभी कल्याण नहीं हो सकता। 'कबीर-मंसूर' के रचयिता ने इस बात को बड़े विस्तार के साथ ग्रंथ के प्रायः पचास पृष्ठों में कहा है जो अधिकांशतः साम्प्रदायिक विचारों से ही पूर्ण है। 'पारखपद' का वर्णन कहीं-कहीं 'तत्' 'त्वं' तथा 'असि'-जैसे तीनों के वेदांत में बतलाये गए पदों से भिन्न और 'चौथे पद' के रूप में किया गया भी मिलता है।[1] वहाँ 'मूलतत्त्व' तथा 'पारखतत्त्व' भी अभिन्न माने गये हैं तथा सद्गुरु को 'पारखगुरु' कहा गया है। वास्तव में प्रत्येक जीव मूलतः पारख-स्वरूप है, क्योंकि उसमें 'मोटी' और 'झीनी' दोनों प्रकार की माया के परखने के लिए विवेकादि गुण रहा करते हैं।[2]

सृष्टि क्रम

'कबीर मंसूर' के अंतर्गत सृष्टि क्रम का वर्णन भी किया गया मिलता है।

---

१ दे जीवधर्मबोध, पृ ७६।
२ दे पारख विचार, पृ ४७।

केवल 'स्थूलवद' अथवा मोटी-मोटी वातो को प्रकट करने मात्र का ही श्रेय दिया जाने लगा। तदनुसार 'कवीर-वीजक'-जैसे ग्रथ मे सगृहीत वानियो पर भाष्य लिखते समय उसके भिन्न-भिन्न अशो का स्पष्टीकरण वडी सावधानी के साथ किया जाने लगा। इसके लिए अधिकतर तर्क-सगत तथा पाडित्यपूर्ण विवेचन-शैली का ही प्रयोग किया गया। परन्तु 'कवीर मशूर'-जैसे स्वतत्र ग्रथो की रचना करते समय वहुत कुछ कल्पना से भी काम लिया गया। इस कारण इनके अतर्गत अनेक ऐसी वातो तक का भी समावेश हो गया जिन्हें हम कवीर साहव के वास्तविक मत से दूर जाती हुई भी ठहरा सकते हैं। इसी प्रकार जहाँ तक पूजन-पद्धति प्रधान ग्रथो के सवध में कहा जा सकता है, हमें वहाँ पर अधिकतर उस रचना-शैली का उदाहरण मिलता है जो प्राय तात्रिक ग्रथो में अपनायी गई दीख पडती है। जीवन-चरितो पर भी वौद्ध 'जातको' अथवा ऐसे पौराणिक ग्रथो का प्रभाव लक्षित होता है जिनकी वर्णन-शैली कदाचित् कवीर साहव के जीवन-वृत्त के कभी उपयुक्त नही हो सकती।

कवीर मशूर का सिद्धात

'कवीर मशूर' के अतर्गत वतलाये गए सिद्धातो के अनुसार जीव पहले अपने सत्य स्वरूप में था और उसकी देह पाँच 'पक्के' तत्त्वो अर्थात् धैर्य, दया, शील, विचार और सत्य तथा तीन गुणो अर्थात् विवेक-वैराग्य, गुरु-भक्ति और साधु-स्वभाव की वनी हुई थी। यही देह 'हसा की देह' कही जाती थी जिसका प्रकाश तथा स्वभाव अलौकिक और अद्वितीय भी था। परन्तु सर्वगुण-सपन्न देवी शरीर को पाकर हसा को स्वभावत आनद के कारण, कुछ आत्म-विस्मृति हो गई और वह 'कच्ची देह' वाला वन गया। फलत उक्त धैर्य आकाश में परिणत हो गया, शील अग्नि हो गया, विचार जल में परिवर्तित हो गया, दया ने वायु का रूप धारण कर लिया और सत्य पृथ्वी वन गया। इन पाँच तत्त्वो के साथ-साथ प्रकृति के भी पचीस आकार कच्चे रूप में आ गए। तदनुसार जिस समय हसा आनद-विभोर होकर अपनी आँखें शून्य की ओर किये हुए था उसकी छाया ने स्त्री-रूप धारण कर लिया। इन द्रोनो के सयोग से समस्त ससार की रचना आरभ हो गई तथा अहकार के कारण एक से वहुत्व का प्रादुर्भाव हो गया। कहना न होगा कि स्त्री-पुरुष का उक्त सयोग, वास्तव में माया तथा ब्रह्म का सयोग सिद्ध हुआ और उस ब्रह्म को ही 'सच्चिदानद' की सज्ञा दी जाती है। अतएव उनका यह वर्णन वाह्य रूप से किया गया स्थूल वर्णन ही कहा जा सकता है। इसका भीतरी रहस्य केवल 'स्वसवेद्य' को ही विदित है। सूक्ष्मदेह से स्थूल-देह में आ जाने पर जीव स्वभावत भ्रम में पड गया था, जिस कारण उसे वेदादि

सिद्धांतों का भी प्रवेश हो गया है जो सर्वथा एक दूसरे के विरुद्ध प्रतीत होते हैं। इसकी छत्तीसगढी शाखा तथा अन्य अनेक ऐसी शाखाओं में प्रचलित मत के अनुसार परमतत्त्व की सत्ता में किसी प्रकार का संदेह करने की आवश्यकता नहीं है। किंतु कबीर निर्णय-मंदिर तथा 'फतुहा मठ' वाले ग्रंथों के अध्ययन से भी हमें प्राय ऐसा लगता है कि ये ब्रह्म को कदाचित् केवल कल्पना-प्रसूत मात्र ही ठहराते हैं। इसी प्रकार, ऐसी विभिन्न शाखाओ द्वारा साधना के रूप में ज्ञान-भक्ति तथा कभी-कभी कर्मकाड-के जैसे कृत्यो को प्रश्रय दिये जाने में भी बहुत अंतर दीख पड़ता है। जहाँ तक इनमें से कुछ पर 'धर्म सम्प्रदाय' का प्रभाव पड़ने की बात है वह विशेषकर इनके सृष्टि-सिद्धांत के ऊपर लक्षित होता है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इसे उन्होंने उत्कल प्रदेश वाले 'पचसखा' कवियों के माध्यम से अपनाया होगा। कुछ लोगों का अनुमान है कि भारतवर्ष के कतिपय पूर्वोत्तरीय प्रातो में पहले कोई प्राचीन 'ब्रह्मा-सम्प्रदाय' (Cult of Brahma) प्रचलित था जो कदाचित् वैदिक धर्म से भी प्राचीनतर था। इसकी ओर कुछ संकेत करने वाला 'ब्रह्माण्ड पुराण' नामक ग्रंथ है जिसके आधार पर हमें इसकी विभिन्न 'रात्र' नामक शाखाओ का भी पता चलता है। 'ब्रह्मा-सम्प्रदाय' का प्रधान देवता ब्रह्मा जो सृष्टि का विधायक भी था क्रमश 'काल' रूप में परिणत हुआ। अंत में उसने 'धर्म' का भी रूप धारण कर लिया जिसके नाम पर उक्त 'धर्म सम्प्रदाय' की सृष्टि हुई।[1] उत्कलीय 'पंचसखा' नामक वैष्णव कवियों की रचनाओं के अतर्गत उस 'धर्म' या 'काल' को ही 'निरंजन' अथवा 'शून्य-पुरुष' भी कहा गया जान पड़ता है जो उनकी मान्यता के अनुसार उनके इष्टदेव श्रीकृष्ण से अभिन्न भी बन जाता है। अतएव जिस सृष्टि क्रम का वर्णन वहाँ 'धर्म-सम्प्रदाय' के 'शून्यपुराण'-जैसे ग्रथो में पाया जाता है उसे ये वैष्णव कवि भी स्वीकार कर लेने से नहीं हिचकते। उसके कई अशो में पौराणिक साहित्यवाले वर्णनों के समान भी होने के कारण उसका उधर की कबीरपंथी शाखाओ द्वारा अपना लिया जाना बहुत सरल हो जाता है।

चौका-विधान आदि कृत्य

जिस प्रकार सृष्टि रचना तथा जिवेशो के जन्मादि-सबधी उपर्युक्त विवरण के विषय में 'धर्म-सम्प्रदाय' तथा कबीर-पथ मे बहुत कुछ साम्य है और जान पड़ता है कि पथ के अनुयायियो ने अपनी तत्सबंधी कथाओ की कल्पना करते

---

१ तारापद भट्टाचार्य दि कल्ट ऑव ब्रह्मा, जर्नल ऑव दि बिहार रिसर्च सोसाइटी पटना भाग ४ ४१ और ४२।

वहाँ पर बतलाया गया है कि किस प्रकार, सर्वप्रथम ब्रह्म की सृष्टि हो गई जिसने 'सहज', 'अकुर', 'इच्छा', 'सोह', 'अचित' और 'अक्षर नामक छह पुत्रो को उत्पन्न किया। इन छहो द्वारा सृष्टि-रचना न होती देख फिर उसने एक सातवाँ पुत्र 'काल पुरुष' के रूप में भी उत्पन्न किया जो 'निरजन' कहा गया। इसने 'कूर्म' के मुड काट कर उसके पेट से सामग्री निकाली और 'आद्या' के सयोग से ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश नामक तीन पुत्र उत्पन्न किये। निरजन के ही श्वास से चारो वेदो की भी उत्पत्ति हुई जिनको पढ लेने पर ब्रह्मा को विराट् पुरुष का बोध हुआ। परन्तु वे इसको प्राप्त नही कर सके और इसमें सफल होनेवाले विष्णु के साथ निरजन तथा आत्मा के एकरूप हो जाने पर सृष्टि-क्रम का मूल स्थिर हुआ। अतएव इन तीनो के पृथक्-पृथक् होने पर सृष्टि की प्रक्रिया का आरभ होता है और इनके एक बन जाने पर यह तिरोहित हो जाती है। इस वर्णन का मेल 'अनुराग सागर' वाले सृष्टि-क्रम के साथ भी होता जान पडता है। दोनो में प्रमुख अतर यह है कि वहाँ पर 'सत्य पुरुष' के १७ पुत्रो के नाम लिये गए हैं जिनमें से निरजन वा धर्मराज भी एक है। यहाँ पर जीवो के कष्ट को देख कर सत्य पुरुष के द्वारा 'योगजीत' वा 'ज्ञानी' का भेजा जाना तथा इनका सत्य युग, द्वापर और कलियुग में भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करके उन्हें बचाने का यत्न करना और इस प्रकार इन तीनो ही दशाओ में इनका स्वय कबीर साहब ही होना बतलाया गया है। ऐसे सृष्टि-क्रम के वर्णन 'ज्ञान सागर'-जैसे अनेक अन्य कबीर-पथी ग्रथो में भी किये गए मिलते हैं। परन्तु ये सभी ठीक एक से ही नही पाये जाते और 'ज्ञान सागर' वाला वर्णन जहाँ अधिकतर पौराणिक रूप धारण करता जान पडता है, वहाँ 'वश पाजी' तथा 'कबीर निर्णय मदिर' वाली पुस्तको के अनुसार उस पर क्रमश या तो प्रतीक योजनावाली शैली का प्रभाव लक्षित होता है अथवा उसे साख्यादि शास्त्रो में पाये जानेवाली व्याख्याओ का रूप मिल जाता है।

पूर्ववर्ती प्रभाव

इस प्रसग में यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि कबीर-पथी विचार-धारा के क्रमिक विकास पर विभिन्न मतो का प्रभाव भी पडता गया है। इस प्रकार स्थान-भेद के अनुसार इसकी विभिन्न शाखाओ की मान्यताओ तक में भी, महान् अतर आ गया दीख पडता है। उदाहरण के लिए कबीर-पथ के इतिहास पर विचार करते समय हमे पता चलता है कि इसे साधारण पौराणिक धर्म से लेकर 'धर्म सम्प्रदाय', तात्रिक बाह्योपचार-पद्धति और दार्शनिक ग्रथो तक ने बहुत कुछ प्रभावित किया है जिसका एक परिणाम यह हुआ हैं कि इसके अतर्गत कई ऐसे

नारियल एक पान तथा बताशादि सबको बाँट दिया करते हैं जिसे प्रसाद मान कर सभी श्रद्धा के साथ खाते हैं। प्रसाद का कुछ भी अंश नीचे नहीं गिरने दिया जाता तथा महंत की ओर से प्रवचन किये जाने पर यह विधि संपन्न हो गई समझी जाती है।

जही

चौका-विधि' के पश्चात् प्रायः 'जोत प्रसाद' की भी व्यवस्था की जाती है। उक्त रुई की बनी फूल बत्ती के नीचे जो भुना हुआ आटा रखा रहता है उसे कुछ और भी आटे में मिला कर तथा उसमें घी तथा गरी मिश्रित करके महंत का सेवक उन्हें अर्पित करता है और वे उसकी छोटी छोटी टिकरियाँ बना लिया करते हैं। इसी प्रकार, फिर महंत के चरणोदक द्वारा महीन मिट्टी गूँथ कर उसकी छोटी-छोटी गोलियाँ भी बना ली जाती हैं। महंत इन गोलियों तथा उन टिकरियों में से एक-एक अपने अनुयायी प्रत्येक व्यक्ति को पान के पत्ते के साथ दिया करते हैं। उस पान को 'परवाना' कहते हैं। यह भी एक विशेष प्रकार से उगाई गई तथा रात के समय आकाश से गिरने वाली ओस की बूँदों से प्रक्षालित तथा पवित्र की गई पान की पत्तियों में से ही लिया गया रहता है, जिस कारण उसका विशेष महत्त्व रहा करता है। इन सभी सामग्रियों को कबीर-पंथी बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते हैं और अपने समक्ष की गई विधियों को अपने लिए कल्याणकारी मानते हैं। वास्तव में उक्त सभी बातें उनके लिए संस्कार वा कृत्य-विशेष के प्रभावपूर्ण प्रतीक हैं। वे उन्हें उसी प्रकार आवश्यक समझा करते हैं जिस प्रकार तांत्रिक व्यवस्थानुसार किये गए कर्मों को कोई हिन्दू वा बौद्ध कर्मकांडी मान लिया करता है। उनके यहाँ नारियल तथा पान को कितना महत्त्व दिया जाता है यह बात उनके द्वारा की जानेवाली ऐसी विधियों मे उनके प्रयोग से ही सिद्ध है। चौका-विधान' की उक्त सारी विधि सामान्य रूप से बरती जाती है। इसके विशेष रूपों के उदाहरण उन चार प्रकार के रूपों में मिलते हैं जिन्हें क्रमशः १ आनंदी चौका' अर्थात् दीक्षा-काल अथवा आनंदोत्सवादि के अवसर का चौका २ 'जन्मौती चौका' अर्थात् पुत्र जन्म के उपलक्ष में किया जाने वाला चौका ३ 'चलावा चौका' अर्थात् किसी मृत कबीर-पंथी के तात्पर्य किया जानेवाला चौका और ४ एकोत्तरी चौका— अर्थात् अपने एक सौ एक पूर्वजों के कल्याणार्थ किया जानेवाला चौका-विधान— जैसे पृथक्-पृथक् नाम दिये गए मिलते हैं।[1]

---

१ कबीर और कबीर-पंथ तुलनात्मक अध्ययन अप्रकाशित।

समय शून्यपुराणादि के अतिरिक्त हिन्दू पुराणो की भी सहायता ली होगी, उसी प्रकार उनकी 'चौका-विधि' आदि कतिपय कर्मकाडी उपचारो पर भी हमें 'सेकोद्देश विधि'[२] का प्रभाव लक्षित होता है । हमें तो यहाँ तक दीख पडता है कि अपने 'चौका-विधान' का श्रीगणेश करते समय कबीर-पथियो ने तात्रिको के 'भैरवी-चक्र' को भी अवश्य ध्यान में रखा होगा । 'चौका-विधान' का परिचय देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार विभिन्न जड प्रतिमाओ का पूजन किया जाता है, उसी प्रकार पथ के अतर्गत सद्गुरु की चैतन्य मूर्ति का पूजन भी आवश्यक समझा गया है । इसके द्वारा मानवीय अत करण के मल-विक्षेपादि विविध दोषो का परिहार किया जाता है । इस प्रकार, इसे किसी 'सात्त्विक यज्ञ' का-जैसा महत्त्व भी दिया गया है । यदि हो सका तो प्रत्येक रविवार को नही तो प्रत्येक पूर्णिमा को वा कम से कम फाल्गुन तथा भाद्रपद की ही पूर्णिमाओ के अवसर पर इसका विधान है । इसके लिए उपवास किया जाता है और सध्या-समय कुछ रात व्यतीत होते ही किसी समतल तथा स्वच्छ की हुई भूमि पर आटे के चूर्ण द्वारा पाँच तथा साढे सात हाथ का लबा-चौडा एक समकोण चतुर्भुज बनाते हैं । फिर उसके भीतर भी एक वैसा ही चतुर्भुज ढाई हाथ लबा-चौडा बनाते हैं तथा इस दूसरे को आटे से भर कर उसके बीच में कुछ फूल भी रख दिया करते हैं । महत के आ जाने पर उन्हें बाहरी चतुर्भुज की एक ओर बीच में बिठला कर उसकी दाहिनी ओर चरणामृत का पात्र, एक अन्य पात्र जिसमें १२५ पान सजाये गए रहते हैं तथा कपास की पूरी हुई फूल बत्ती एक पक्ति में रखते हैं । इसी प्रकार, उनकी बायी ओर भी दूसरी पक्तियो में एक बताशे आदि मिष्ठान्न का पात्र, एक नारियल और एक जलपूर्ण कलश की स्थापना करते हैं । इस प्रकार, सामग्रियो के ठीक हो जाने पर उपस्थित महत पथ के मान्य ग्रथ के कतिपय स्थलो का पाठ करते हैं । फिर फूल-बत्ती द्वारा आरती कर लेने पर कर्पूर भी जला कर उसे किसी पत्थर के टुकडे पर रख देते हैं । इसके उपरात नारियल को फोड कर उसके टुकडे कर दिये जाते है और फिर उक्त पानवाले पात्र मे रखे कपूर को भी जला कर आरती कर दी जाती है। इस आरती को फिर उपस्थित कबीर-पथियो के सामने भेज कर वे नारियल के अर्द्ध भाग को अपने पास रख लेते है और द्वितीय अर्द्ध भाग को चाकू से छोटा-छोटा करके उसमें से एक टुकडा

---

१. दे० सिद्ध नाडपाद की सेकोद्देश टीका, गायकवाड ओरियंटल सीरिज १९४१ ई०, पृ० २४-५ ।

२ साधु वसूदास कबीर-पथी चौकाविधान, बडौदा, भूमिका, पृ० १-२ ।

ने उन्हें 'ज्ञानी' के रूप में समय-समय पर भेजा था। तदनुसार वे सत्ययुग में 'सत सुकृत' कहला कर, त्रेता में 'मुनीन्द्र' के रूप में द्वापर में 'करुणामय' के नाम से तथा कलियुग में 'कबीर' होकर अवतरित हुए थे। प्रत्येक युग में उन्होंने भिन्न व्यक्तियों के ऊपर विशेष कृपा की। अपने अनुपम चरित्रों द्वारा उन्होंने सबके समक्ष आदर्श की स्थापना करके सभी के लिए मुक्ति के मार्ग का प्रदर्शन भी किया था। तदनुसार चामक राजा मधुकर ब्राह्मण रानी इंदुमती राजा चन्द्रविजय सुदर्शन श्वपच इन्द्र दमन-आदि की कथाएँ 'अनुराग सागर'-जैसे ग्रंथों में दी गई मिलती हैं और उनके साथ कबीर साहब के विविध उपदेशों को भी प्रसंगवश समाविष्ट किया गया रहता है। इस प्रकार की कथाएँ एक ओर जहाँ बौद्ध जातकों की कथाओं-जैसी लगती हैं वहाँ वे दूसरी ओर हिन्दू पुराणों का भी स्मरण दिलाती हैं। कबीर-पंथी साहित्य के अंतर्गत अनेक स्तोत्र तथा मंत्रादि से संबद्ध पुस्तकें भी पायी जाती हैं और इनका उपयोग दैनिक प्रार्थनाओं तथा नित्य कर्मों के अवसर पर किया जाता है। परन्तु इस प्रकार की रचनाओं को महत्त्व अधिकतर उन्हीं शाखाओं में दिया जाता है जहाँ कबीर साहब को अपने इष्टदेव का-जैसा पद प्रदान किया गया है। इसके विपरीत जिन शाखाओं की मान्यता के अनुसार उन्हें केवल किसी महा-मानव की कोटि का ही समझा जाता है तथा जहाँ पर उनके महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों की ही ओर विशेष ध्यान दिया जाता है वहाँ पर बहुधा ऐसे ग्रंथों की ही संख्या अधिक है जो गूढ़ दार्शनिक रहस्यों का उद्घाटन करते हैं अथवा तर्क-संगत व्याख्या की ओर प्रवृत्त होते हैं।

'कबीर बीजक' की व्याख्या

कबीर-पंथियों के यहाँ 'कबीर-बीजक' सर्वमान्य ग्रंथ समझा जाता है और इसे यहाँ पर कभी-कभी एक ऐसे धर्म-ग्रंथ तक का पद प्रदान किया गया दीख पड़ता है जो साम्प्रदायिक दृष्टि से सर्वथा आदरणीय तथा पूज्य तक भी ठहराया जा सकता है। इसके ऐसे विशिष्ट महत्त्व के ही कारण इसकी विविध टीकाओं का निर्माण हो चुका है, इस पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं तथा इसके गूढ़ मर्म का प्रकाशन करने के उद्देश्य से कहीं-कहीं इसके अध्यापन की व्यवस्था की जाती हुई भी सुनी जाती है। इसके अंतर्गत बहुत-सी फुटकर रचनाएँ संगृहीत जान पड़ती हैं और उनके रचयिता के रूप में कबीर साहब का नाम लिया जाता है।[1] इस संबंध में ऐसा अनुमान किया गया है कि 'बीजक' के मूल रूपांतर का संकलन सं० १६५ विक्रमी शताब्दी के पश्चात् अथवा उसकी सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ होगा जिस समय तक कबीर साहब का देहांत

१ हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक) प्रयाग भा० १९ अं० २, १९५८ ई० पृ० ८९।

आध्यात्मिक व्याख्या

कबीर-पथी साहित्य के अतर्गत कही-कही उपर्युक्त कृत्यादि की रहस्यपूर्ण व्याख्या भी की कई मिलती है। उदाहरण के लिए 'नारियल का तोडना' एक प्रकार का अहिसात्मक बलिदान समझा गया दीख पडता है जो 'काल' वा 'निरजन' के उपलक्ष में कबीर-पथियो द्वारा अपने लिए सत्यलोक की प्राप्ति के निमित्त किया गया कहा जाता है। इसके स्पष्टीकरण मे बतलाते हैं कि नारियल की ऊपरी कडी खोल जहाँ काल-स्वरूप है, वहाँ उसके भीतर की कोमल तथा मधुर गरी कल्याण का भाव प्रकट करती है। इसे कभी-कभी 'श्रीफल' की सज्ञा भी दी जाती है तथा यह भी कहा जाता है कि इसका कठोर अश जहाँ मस्तिष्क रूप है, वहाँ इसका कोमल अश उसके भीतर का मन रूप है। इसी प्रकार 'चौका-विधान' वाली चतुष्कोण रचना कें लिए कहा जाता है कि उसका मध्यवर्त्ती अश स्वय सत्यपुरुष के स्थान को सूचित करता है। उसके भीतर बनाये गए सप्तदल कमल से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि किस प्रकार यह उस ओर सकेत करता है। यह कल्पना कर ली जाती है कि वह सप्तदल कमल सत्य पुरुष का सिंहासन है जिसके चतुर्दिक बनायी गई कमलो की आकृतियो से प्रकट होता है कि वे वस्तुत चौरासी की सख्या में रहने के कारण, उतनी योनियो की ओर इगित करती है अथवा वे उन चौरासी लाख द्वीपो का प्रतीक होती है जहाँ मुक्त होने के अनतर किसी को परम शाति उपलब्ध होती है।[1] इसके सिवाय 'चौके' के ऊपर तना चदोवा सत्यपुरुष के श्रेष्ठ छत्रपति होने का प्रतीक है तथा आरती की ज्योति प्रत्येक कबीर-पथी के लिए वह आत्म-प्रकाश रूप है जिसकी उपलब्धि उसका ध्येय रहा करती है। कबीर-पथी 'पान परवाना' की पद्धति भी इसी प्रकार सभवत उस अनुग्रह-पत्र का प्रदान सूचित करती है जो किसी महत की ओर से इसलिए दिया जाता है कि इस परिचय-पत्र को लेकर वह सत्यलोक तक पहुँच जा सके।

शेष साम्प्रदायिक साहित्य

कबीर-पथी साहित्य के उस अश मे जो कबीर साहब के जीवन-चरित से सबद्ध है, उनके जन्म तथा मरण की घटनाओ से लेकर उनके जीवन-वृत्त की अनेक बातो तक को किसी-न-किसी अलौकिकता के साथ प्रकट किया गया मिलता है। उनके पढने पर पता चलता है कि वे न केवल 'महामानव' अपितु 'अतिमानव' भी रहे होगे। कबीर-पथियो की धारणा के अनुसार 'सत्यपुरुष'

---

१. कबीर और कबीर-पथ तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित।

ऐसे 'सहज धर्म' का पोषण है जिसे प्रायः सभी मानवों के लिए उपयुक्त ठहराया जा सकता है। उनकी परमतत्त्व जीवतत्त्व तथा जगत्तत्त्व-संबंधी धारणाओं तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट सहज-साधना का महत्त्व स्वीकार कर लेने में कदाचित किसी भी प्रकार की अड़चन का अनुभव करना अनिवार्य नहीं है, न तदनुसार अपना जीवन-यापन करने के विषय में ही किसी को कोई आपत्ति होनी चाहिए, क्योंकि इसमें सामंजस्य का बिठा लेना उतना असंभव नहीं प्रतीत होता। सभी कुछ हमें मानवीय स्तर के उपयुक्त जान पड़ता है और इसका आधार भी एक ऐसी स्वानुभूति रहती है जिसमें आस्था का बन जाना स्वाभाविक है। किंतु फिर भी जिसके कारण किसी एक के लिए दूसरे को पृथक समझ लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु कबीर-पंथ द्वारा प्रचारित मत के अंतर्गत अनेक ऐसी लोकोत्तर बातों का समावेश कर दिया गया दीख पड़ता है जिन्हें स्वीकार करने के लिए हमें या तो किन्हीं प्रमाणभूत सिद्धांतों की शरण लेनी पड़ सकती है अथवा किसी वर्ग-विशेष द्वारा किया गया पथ प्रदर्शन ही स्वीकार करना पड़ सकता है। इसी कारण जिस पर आश्रित जीवन-पद्धति के लिए यह सदा संभव नहीं रहा करता कि इसमें कभी कोई सामंजस्य भी आ सकेगा। इसके सिवाय कबीर-पंथ की मान्यताओं में कतिपय ऐसे बाह्योपचारों तथा काल्पनिक बातों तक को महत्त्व दे दिया गया जान पड़ता है जिन्हें कबीर साहब की वास्तविक विचार-धारा के प्रतिकूल जाती हुई तक बतलाया जा सकता है।

हुए सभवत एक सौ से भी अधिक नही व्यतीत हो चुके थे। परन्तु अभी तक यह प्रश्न निर्विवाद रूप में हल नही किया जा सका है कि इसके कितने तथा किन-किन अशो के लिए इस प्रकार निश्चित रूप से कह सकते है। इस सबध में केवल इतना कदाचित् सभी को मान्य है कि जहाँ तक साम्प्रदायिक विचार-धारा के प्रकट करने की बात है, इस दृष्टि से इसे 'कबीर-पथ के अन्य सभी ग्रथो से कही अधिक महत्त्व दिया जा सकता है। परन्तु 'कबीर-बीजक' की टीका अथवा भाष्य के रूप में आजतक उपलब्ध लगभग डेढ दर्जन ग्रथो मे से किस एक को उसके रहस्य का वास्तविक उद्घाटन करनेवाला माना जाय, यह एक बहुत बडी समस्या है और इसका पूरा समाधान अभी कदाचित् नही हो पाया है। इस पर भाष्य लिखनेवालो में इसके अनेक स्थलो पर मतभेद की गुजाइश दीख पडती है। इस कारण एक ओर जहाँ महाराजा विश्वनाथ सिंह-जैसे कुछ लोग इसकी पक्तियो का अर्थ अपने ढग से वैष्णव सम्प्रदाय के अनुकूल करते दीख पडते है, वहाँ साधु विचारदास तथा हनुमानदास-जैसे पडित इसमे निहित सिद्धातो का दार्शनिक विवेचन करते हुए उन्हें वेदाती विचार-धारा के मेल में लाना चाहते हैं। इसी प्रकार पूरन साहब तथा राघोदास-जैसे कतिपय व्यक्ति इसके भीतर किसी ऐसे मत का पता लगाना आवश्यक समझते हैं जिसकी अनेक बातें हमें नितात नवीन प्रतीत होती हैं, किंतु जिनके कबीर साहब की मौलिक देन होने में उन्हें पूर्ण विश्वास जान पडता है। इसके सिवाय महर्षि शिवव्रत लाल, सदाफलदास आदि टीकाकारो के लिए भी कहा जा सकता है कि उनको भी इस ग्रथ का साम्प्रदायिक अर्थ करते समय इसके शब्दो में बहुत कुछ, कदाचित् अपने ढग की ही बातें सूझ पडी है। तदनुसार उन्होने भी कही-कही इसके द्वारा सभवत स्वय अपना मत ही व्यक्त किया है।

(३) कबीर साहब और कबीर-पथ

कबीर साहब और कबीर-पथ

कबीर-पथ के ऐसे एक सक्षिप्त परिचय से भी हमें यह स्पष्ट होते देर नही लगती कि इसकी बहुत-सी बातें उन कबीर साहब की उन रचनाओ में निहित विचार-धारा से बहुत कुछ भिन्न है जिन्हे आजकल उनकी प्रामाणिक 'बानी' के रूप में मान लेने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इनमें कुछ ऐसी भी आ गई जान पडती हैं जिनके साथ उसका मेल नही है। कबीर साहब हमें अपनी उन रचनाओ के अतर्गत एक स्वाधीन-चेता विचारक के रूप में दीख पडते हैं। हमें ऐसा लगता है कि उनका मत सर्वथा सार्वभौम कहलाने योग्य है तथा उसके कारण किसी प्रकार का भेदभाव नही उत्पन्न हो सकता। उसका रूप किसी

चतुर्थ अध्याय

पंथ-निर्माण का सूत्रपात

सं० १५५० : १६००

धारा का प्रश्रय देनेवाले बहुत-से लोग पहले उन्हीं की भाँति इधर-उधर घूम कर उपदेश दिया करते थे और उनकी कोई सुव्यवस्थित संस्था नहीं थी। परन्तु हमें ऐसा लगता है कि इस प्रकार का कार्यक्रम अधिक दिनों तक नहीं चल सका। ऐसे प्रचारकों के भीतर पीछे क्रमशः कुछ इस प्रकार की अभिलाषा भी जागृत होने लगी कि मेरा सिद्धान्त किस प्रकार अधिक-से-अधिक सफलता के साथ प्रचलित हो तथा मेरे मत के अनुयायियों की संख्या में किस प्रकार वृद्धि की जा सके। फलतः इनमें से कुछ लोगों का ध्यान ऐसे संगठन-कार्य की ओर भी आकृष्ट हुआ जिससे इसमें पूरी सहायता मिल सके तथा उसे स्थायी रूप देने के लिए उन्हें कभी-कभी यह भी आवश्यक जान पड़ा कि हम आगे के लिए अपना कोई-न-कोई योग्य उत्तराधिकारी तक को नियुक्त कर दें। यह युग ऐसा था जिसमें नाथ-पंथी योगियों की साधनाओं को विशेष महत्त्व दिया जाता आ रहा था। इस प्रकार उन दिनों के साधकों के लिए व्यक्तिगत काया-साधन तथा निवृत्ति-मार्ग ही कहीं अधिक अनुकूल पड़ते कहे जा सकते थे। परन्तु भक्ति के प्रचारक आचार्यों का प्रभाव बढ़ते जाने के साथ-साथ ऐसी बातों का महत्त्व क्रमशः घटने लग गया। अब इनके आदर्शानुसार कभी-कभी ऐसा भी समझा जाने लगा कि यदि किसी अपनी विचार धारा को सर्वसाधारण तक पहुँचाना हो तो यह केवल तभी संभव हो सकता है जब उसे न केवल कोई स्पष्ट और सुसंगत रूप दिया जाय अपितु उसके उचित प्रचार और प्रसार के लिए किसी स्थायी संगठन को भी काम में लाया जाय।

पंथ-निर्माण का सूत्रपात

कबीर साहब-जैसे संत-मत के प्रचारकों में से किसको यह बात सर्वप्रथम सूझ पड़ी इसका हमें कोई निश्चित पता नहीं। परन्तु, अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर हमें ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रवृत्ति का उदय पहले-पहल भारत के किसी पश्चिमी अंचल में ही हुआ होगा जहाँ पर उन दिनों धार्मिक आंदोलनों की हलचल अधिक रही। नाथ-पंथियों द्वारा अपना प्रचार-कार्य अधिक होते आने से उधर धार्मिक जागृति को विशेष बल मिलता आ रहा था। वैसे लोगों में से भक्तिपरक आंदोलनों में भी सबसे पहले भाग लेने वाले वे ही लोग निकले जो पश्चिमी प्रांतों के निवासी थे। उदाहरण के लिए राजस्थान प्रदेश के जोधपुर राज्य के अंतर्गत निवास करने वाले संत जम्भनाथ ने सं० १५५५ के कुछ पहले ही अपने नवीन 'बिश्नोई सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया उसके कुछ ही दिनों पीछे बीकानेर राज्य के निवासी संत जसनाथ के तत्त्वावधान में 'सिद्ध सम्प्रदाय' का आरंभ हुआ। इसी प्रकार लगभग इसी के आसपास डीडवाणे के स्वामी हरिदास के नेतृत्व में 'निरंजनी सम्प्रदाय' की भी एक विशिष्ट परंपरा चल निकली जिसका प्रचार

१ सामान्य परिचय

कबीर साहब का आदर्श

कबीर साहब की रचनाओ के अध्ययन से पता चलता है कि उन्होने किसी विशिष्ट धार्मिक वर्ग के सिद्धातो का अधानुसरण नही किया था, न किसी पूर्व कालीन मत का पुनरुद्धार कर उसके आधार पर किसी नये पथ की नीव ही डाली थी। उनका प्रधान उद्देश्य प्रचलित धर्मों के अनुयायियो की विविध विडब-नाओ की आलोचना करके उनका ध्यान मूल प्रश्न की ओर आकृष्ट करना था जिससे उन्हे अपनी भूल का ज्ञान हो सके। उनका कहना था कि धर्म के नाम पर जितने भी वाह्य कृत्य किये जाते हैं अथवा जो-जो धारणाएँ साधारणत बनायी जाती हैं वे प्राय सभी निरर्थक और निराधार हैं। इस प्रकार की बातें हमारे लिए लाभदायक होने की जगह बहुधा हानिकर ही सिद्ध होती हैं और उनके कारण पारस्परिक द्वेष और पाखड की प्रवृत्ति बढती है। उनके विचार से अपने धार्मिक सिद्धातो का अनुसरण करने के लिए किसी भी ऐसे धार्मिक जन-समूह का सदस्य होना भी अनिवार्य नही। धर्म का मूल तत्त्व सब किसी के व्यक्तिगत चिंतन तथा उसके अपने विश्वास के अनुसार कोई स्वरूप ग्रहण करता है और सभी को अपनी-अपनी पहुँच के अनुपात से उसकी अनुभूति हुआ करती है। इस कारण हृदय के शुद्ध तथा सच्चा रहने पर उसमे प्रेम तथा सतोष के भाव आप-से-आप जागृत हो उठते हैं और उसके लिए किसी वर्ग-विशेष का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक नही रह जाता। तदनुसार जहाँ तक पता चलता है तथा जैसा हम इसके पहले देख भी आये हैं, कबीर साहब के जीवन-काल तक समवत किसी भी वैसे पथ वा सम्प्रदाय का उदय नही हुआ, न ऐसे सगठन की ओर कोई विशेष प्रवृत्ति ही पायी गई। उनके स्वय नाम पर प्रचलित किये गए कबीर-पथ अथवा उनके प्रमुख शिष्यो की ओर से स्थापित समझे जाने वाली उसकी विभिन्न शाखाओ तक का आरभ कदाचित्, उनकी मृत्यु के समय (स० १५०५) के पहले नही हो सका।

पथ-निर्माण की प्रवृत्ति

कबीर साहब के मत मे विश्वास रखनेवाले साधु अथवा उनकी-जैसी विचार-

प्रकार संत भीपनजी के लिए भी हम नहीं कह सकते कि इनका मूल संबंध किसी संत विशेष के साथ रहा होगा या नहीं। परन्तु जहाँ तक पता चलता है इन दोनों ने अपने निजी व्यापक सिद्धांतों को संभवतः बहुत कुछ स्वतंत्र रूप से ही निश्चित किया होगा तथा उस काल के अनेक अन्य संतों की भाँति ये लोग भी अपनी साधनाओं में प्रवृत्त रहे होंगे।

भक्त सूरदास

इस युग के वातावरण पर विचार करते समय हमें यह भी पता चलता है कि इस काल के अनेक भक्त कवियों तथा साधकों पर भी तत्कालीन संत-मत का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ गया था। फलतः उनकी उपलब्ध रचनाओं में केवल भाव-साम्य ही नहीं मिलता प्रत्युत कहीं-कहीं शब्द तथा वाक्य तक भी अपना लिये गए जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए ऐसे लोगों में हम विशेषकर महाकवि भक्त सूरदास और प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीराँबाई के नाम ले सकते हैं। भक्त सूरदास का जीवन काल साधारणतः सं० १५४० से १६२० तक समझा जाता है जिस कारण इनके रचना-काल को भी हम अधिकांशतः इस युग के ही अंतर्गत ठहरा सकते हैं। ये एक विशुद्ध सगुणोपासक भक्त थे और 'मन बानी को अगम अगोचर' 'अविगत' की 'गति' को अनिर्वचनीय समझा करते थे। इन्होंने अपने 'भ्रमरगीत' वाले पदों में 'निर्गुण' के प्रति व्यंग भरी बातें कहला कर और उसके विषय में 'निर्गुन कौन देस को बासी'-जैसे प्रश्न करा कर उपहास भी कराया था जिससे स्पष्ट है कि इनकी धारणा किस प्रकार की रही होगी। परन्तु हम इनकी रचनाओं के अंतर्गत बहुत-से ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं जिनमें इनके संत-मत द्वारा प्रभावित होने के विषय में कतिपय स्पष्ट प्रमाण पाये जाते हैं।[1] ऐसे चार उदाहरणों में से तीसरे का

---

१ "रे मन आपुको पहिचानि।
सब जनम तें भ्रमत खोयो अजहुँ तौ कछु जानि॥
ज्यों मृगा कस्तूरि भूलै सुतौ ताके पास।
भ्रमतही वह दौरि ढूँढ़ै जबहिं पावै बास॥" आदि
"जौ लौं सतसरूप नहिं सूझत।
अ तौलौं मृगमद नाभि बिसारे, फिरत सकल बन बूझत॥"
"अपुन पौ आपुन ही बिसर्‍यो।
ब जैसे स्वान काँच मंदिर में भ्रमि भ्रमि भूँकि मर्‍यो॥"
"अपुन पौ आपुन ही में पायो।
स. सब्दहिं सब्द भयो उजियारो सतगुर भेद बतायो॥
—सूर रत्नाकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा सन् १९३४ ई० १ पद ७०
पृ १८ २ पृ १९७। ३ पृ १९७-८। ४ पृ २४ १।

कदाचित् इन दोनो से ही अधिक सफल सिद्ध हुआ। इसके सिवाय पजाब प्रात के गुरु नानकदेव तथा मध्यप्रात के सत सिंगाजी की गणना भी हम इस युग के उन महापुरुषो मे ही कर सकते हैं जिन्होने सकीर्ण साम्प्रदायिकता के स्तर से उठते हुए भी, किसी-न-किसी प्रकार के सगठन की आवश्यकता का अनुभव किया। इन दोनो मे से गुरु नानकदेव ने तो न केवल 'नानक-पथ' का सूत्रपात किया, प्रत्युत उन्होने उसे भविष्य मे सुव्यवस्थित रूप देने की दृष्टि से अपने पीछे सुयोग्य गुरुओ की एक परपरा भी प्रतिष्ठित कर दी जो कम-से-कम तीन शताब्दियो तक चलती रही। नानक-पथ को एक पृथक् वर्ग के रूप मे रखने की यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती ही चली गई। अत मे, शुद्ध आध्यात्मिक साधको का एक समुदाय 'सिक्ख' नामक जाति-विशेष के रूप मे परिणत हो गया। कबीर-पथ का आरभ इन उपर्युक्त पथो वा सम्प्रदायो के ही साथ किसी समय हुआ अथवा उसे इनका परवर्त्ती भी कहा जा सकता है इसके निर्णय का अभी हमे तक कोई साधन नही है।

परपराओ का रूप और फुटकर सत

उपर्युक्त पथो वा सम्प्रदायो के प्रवर्त्तको मे से सभी के द्वारा अपनी-अपनी सस्था का एक ही प्रकार स्थापित किया जाना सिद्ध नही होता, न सभी किसी के यहाँ ठीक एक ही प्रकार की सुव्यवस्था के पाये जाने का कोई पता चलता है। कम से कम सत जसनाथजी तथा सत सिंगाजी की ओर से किये गए किसी स्पष्ट यत्न का हमे कोई उल्लेख नही मिलता, न इसी प्रकार गुजरात प्रात की सूरत वाली उस 'हीरादासी परपरा' की स्थापना करनेवाले हीरादास के ही किसी ऐसे कार्य की ओर किया गया कोई सकेत मिलता है जिसके कुछ अनुयायियो का परिचय अभी आज तक भी उपलब्ध है। सत हीरादास के गुरु निर्वाण साहब को तो प्राय कबीर-पथी भी कह दिया गया मिलता है, किंतु यह कथन प्रमाणित नही होता। वास्तव मे सत सिंगाजी तथा सत हीरादासजी इन दोनो के नाम से प्रचलित परपराओ का वैसा नामकरण इनके कतिपय शिष्य-प्रशिष्यो के क्रमश अपनी-अपनी गद्दियो पर कुछ दिनो तक बैठते आने मात्र से भी हो गया समझा जा सकता है। इसी प्रकार पजाब प्रात मे स्थित किसी ऐसी ही परपरा का गुसाँई वा 'गोसाँई परपरा' के नाम से अभिहित किया जाना भी कहा जाता है। प्रसिद्ध है कि उसका प्रवर्त्तन 'सत साँईदास' ने किया होगा। परन्तु हमे आज तक इस प्रकार की कोई भी ऐसी सामग्री नही मिल सकी है जिसके आधार पर उसका विवरण दिया जा सके। अतएव हम सत साँईदास का भी उपलब्ध परिचय यहाँ उन फुटकर सतो के ही साथ देना चाहते हैं जिनमे शेख फरीद तथा सत भीषनजी के नाम आते हैं। इन अंतिम दो सतो मे से प्रथम अर्थात् शेख फरीद 'ब्रह्म' वस्तुत सूफी थे। इसी

है।[1] इसके संबंध में इन्होंने 'सुरत निरत' 'सबद निजनाम' 'सुमिरण' तथा 'अमर रस'-जैसे शब्दों के प्रयोग किये हैं जिससे भी इनके संत-मत के साथ घनिष्ट संपर्क का पता चल सकता है।[2] इससे हमें इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता है कि ये उस मत की ही अनुयामिनी रही होंगी।

क्या मीराँबाई संत थीं ?

परन्तु क्या केवल इतने मात्र से ही मीराँबाई को संत-परंपरा के अंतर्गत सम्मिलित कर लेना भी उचित कहला सकता है ? मीराँबाई परमात्मा को निर्गुण तथा सगुण दोनों से परे कहती हुई भी अपने उस इष्टदेव की किसी मूर्ति की उपासना को ही अपनी साधना का आधार समझती थीं। उनके हृदय में श्रीकृष्णचंद्र के सौंदर्य तथा गुण तथा लीलाओं के ही प्रति विशेष आकर्षण दीख पड़ता है। उनकी प्रगाढ़ रागानुगा भक्ति का विकास उस लोक-संग्रह के उच्च स्तर तक पहुँचता हुआ नहीं लक्षित होता जिसे संतों के कार्यक्रम में प्रधानता दी जाती है। इसके सिवाय 'गुरु-ग्रंथ साहब' के कुछ संस्करणों में मीराँबाई के अतिरिक्त भक्त परमानंद तथा भक्त गोविंद-जैसे लोगों की भी रचनाएँ संगृहीत हैं जिन्हें संत-परंपरा में कभी सम्मिलित नहीं किया जाता। भक्त सूरदास की कतिपय रचनाएँ उसके प्रारंभिक संस्करणों में भी पायी जाती हैं और ऐसा होने पर भी उन्हें सदा सगुण भक्तों में ही गिना जाता है। अतएव मीराँबाई को यदि संतों की कोटि में रखा भी जाय तो उन्हें अधिक-से-अधिक पहले के पथ-प्रदर्शकों के ही साथ गिनेंगे और उन्हें सगुणवाद को स्वीकार करने वालों तक की ही श्रेणी में रखना अधिक उचित समझेंगे।

२ बिश्नोई सम्प्रदाय

संक्षिप्त परिचय

बिश्नोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जानेवाले संत जंभदेव जंभऋषि जंभेश्वर, सिद्धेश्वर वा जाम्भोजी का जन्म सं० १५०८ की भादो बदी ८ सोमवार के दिन जोधपुर राज्य के नागौर परगने के पीपासर (पीपासर) नामक गाँव में हुआ था

---

१ मीराँबाई की पदावली पद १९२, पृ० ६४-६५।

२ "रैदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी। मैं मिली जाय पाय पिय अपना तब मेरी पीर बुझानी।।"

—वही पद १५९, पृ० ५५।

पूरा पद प्राय वही मिलता है जो 'कवीर-वीजक' मे 'अपनपौ आपुही विसरो' से आरम होता है।[१]

मीरांबाई

मीरांवाई का जीवन-काल, इसी प्रकार स० १५५५ से १६०३ तक समझा जाता है और यह भी इस युग के ही अतर्गत पडता है। मीरांबाई के इष्टदेव गिरधर नागर नामधारी श्रीकृष्णचद्र हैं जो सगुण रूप भगवान् माने जाते हैं और जिनकी सुदर छवि के वर्णन तथा जिनके गुणो के गान मे ये सदा लीन रहना पसद करती है। उनकी भावना से अलग रह कर इनका किसी एक क्षण के लिए भी जीना असभव-सा है। ये उन्हे अपने पूर्व जन्म का साथी भी वतलाती हैं और उन्हे 'पिव', 'साजण' वा 'सैयाँ'-जैसे शब्दो द्वारा ये अभिहित करती हुई भी दीख पडती हैं। फिर भी वे 'गोपाल' इनके लिए कोई साधारण व्यक्ति नही है, न वह शब्द उक्त सगुण रूप भगवान् के एक अवतार-मात्र का वोधक है। ये अपने अनेक पदो के अतर्गत उस प्रियतम को 'निर्गुण', 'निरजन', अविनासी आदि भी कहती है जिस कारण इनका उसे पूर्ण ब्रह्म परमात्मा मान लेना भी लक्षित होता है तथा कही-कही पर हमे ऐसा भी लगता है कि ये उसे निर्गुण तथा सगुण से परे अनिर्वचनीय समझ रही हैं। इन्होने अपने कई पदो मे सत रैदास को अपने गुरु के रूप मे स्वीकार किया है तथा इनकी कुछ रचनाओ मे हमे कबीर साहब तथा रैदासजी की भाँति 'पिंड के रहस्य' का परिचय भी दिया हुआ मिलता है। ये भी प्राय उन्ही के शब्दो मे वहाँ 'त्रिकुटी-महल' के झरोखे से झाँकी लगाने तथा "सुन्न महल मे सुरत सजा'कर सुख की सेज बिछाने की चर्चा करती हुई दीख पडती हैं"[२] अथवा 'सेझ सुषमणा'[३] तथा 'गगन मडल'[४] की सेज पर प्रियतम के साथ मिलने के प्रसग का वर्णन करती हुई भी जान पडती हैं। उसी 'सेझ' वाले पद को इन्होने अन्यत्र 'अगम अटारी',[५] 'अगम का देश' वा 'अमरलोक' का भी नाम दिया है। उसकी स्थिति से प्रभावित होकर इन्होने बिना करताल के पखावज का बाजा तथा 'अणहद की झकार' सुनने का पता बतलाया है।[६] मीरांबाई को इस प्रकार सतो के प्रसिद्ध 'सुरत शब्द योग' का भी परिचय प्राप्त

---

१ दे० कबीर बीजक, शब्द ७७, पृ० ५५, हरक, जिला बाराबकी, सस्करण स० २००७।

२ मीरांबाई की पदावली, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीय सस्करण, पद १२, पृ० ५।

३ वही, पद ३२, पृ० १४। ४ वही, पद ७२, पृ० २७।

५ वही, पद १५२, पृ० ५५। ६ वही, पद १५१, पृ० ५२।

रचनाएँ और विचार-धारा

इनकी रचनाओं में लगभग १२० सबद मिलते हैं। इनका एक संग्रह 'जंभ गीता' के नाम से प्रकाशित हो चुका है जिसमें इनकी फुटकर रचनाएँ एकत्र कर दी गई जान पड़ती हैं। इन्हें देखने से पता चलता है कि इनका प्रधान विषय देहभेद योगाभ्यास कायासिद्धि-आदि से संबद्ध है। इससे स्पष्ट है कि इनकी विचार-धारा अधिकतर नाथ-पंथ से प्रभावित है। इन्होंने कहा है "अरे अवधू अजपा जाप करो निरंजन की पूजा करो जो ज्योति के रूप में गगन-मंडल में विराजमान है तथा उसी देव का ध्यान धरो।"[1] 'गगन में हमारा बाजा बजता है और मूलमंत्र का फल अपने हाथ में है। संशय की शक्ति जाती रही और पंचेन्द्रियाँ अपना साथी बन गईं। गुरु की कृपा से अपनी 'जुगति' के सिंहासन पर आसीन रहने वाला तथा आकाश में मंदिर की रचना करने वाला पुरुष विरला होता है।[2] परन्तु इनकी कतिपय पंक्तियों द्वारा यह भी पता चलता है कि इनका इष्टदेव अथवा आराध्य परमात्म तत्त्व 'विष्णु रूप' है। इनका कहना है 'जो भीतर अजपा जाप करता है और सोहं शब्द के आधार पर घाट का पार कर जाता है वह फिर योनि-द्वार से जन्म नहीं लिया करता। वह परात्पर विष्णु के अमृत रस का पान करके अमर बन जाता है क्योंकि ॐ विष्णु है सोहं विष्णु है और वही तत्त्व स्वरूपी तारक विष्णु भी है।[3] इसी प्रकार इन्होंने अन्यत्र भी कहा है 'अरे प्राणी तू विष्णु' 'विष्णु' का जप किया कर, प्रति क्षण आयु बीत रही है और मरण-तिथि निकट आ रही है।'[4] इन जाम्भोजी द्वारा प्रवर्तित 'विश्नोई सम्प्र

---

१ "अजपा जपोरे अवधू अजपा जपो।
पूजो देव निरंजन जाण गगन मंडल में जोति जगाओं।
देव धरो का ध्यान।"—संतमाल इलाहाबाद पृ० १५६।

२ "गगन हमारा बाजा बाजै मूल मंतर फल हाथै।
संसै का बल गुरु मुख मोड़ा पाँच पुरुष मेरे साथी॥
जुगति हमारो छत्र सिंघासन महासक्ति को बासि।
जगनाथ वह पुरुष विलच्छन जिन मंदिर रचा अकासे॥"—वही।

३ "ओं सबद सोहं आप, अंतर जपे अजपा जाप।
तत सबद के लंघे घाट, फिर न आवे जोनी बाट॥
धरे बिस्नु अम्रित रस पीवे जरा न व्यापे जुग जुग जीवे।
ओं बिस्नु सोहं बिस्नु तत सरूपी तारक बिस्नु॥—वही, पृ० १५७।

४ "विष्नु विष्नु तू भण रे प्राणी, इस जीवन के हावै।
छन छन आव घटती जावे मरण दिने दिन आवै॥"—जंभ गीता पृ० ४२२।

और इनकी जाति परमार वा पँवार राजपूत की थी। इनके पिता का नाम लोहट (लोहित) था तथा इनकी माता हाँसा देवी अथवा केशर के नाम से प्रसिद्ध थी। ये अपनी माता की एकमात्र सतान थे, जिस कारण इनके परिवार के सभी लोग इन्हे बडे प्रेम-भाव के साथ देखा करते थे। किंतु, प्रसिद्ध है कि ये अपनी प्राय ३४ वर्षों तक की अवस्था तक किसी से कभी एक शब्द तक भी बोला नही करते थे और अपने चमत्कारो के कारण जभाजी (अचभा) कहे जाते थे।[1] कहा जाता है कि बचपन मे जब ये गायें चराते थे, इन्होने राव दूदाजी (स० १४९७-१५७२) को एक लकडी देकर उन्हे सफल बनाया था। इसी प्रकार पाखडी साधु लौहा पागल का पथ-प्रदर्शन करना और सिकदर लोदी को चमत्कार दिखलाना आदि प्रसिद्ध है। इनके पढने-लिखने के विषय मे कुछ पता नही चलता, किंतु इतना प्रसिद्ध है कि इन्हे स्वय गुरु गोरखनाथ ने आकर दीक्षित कर दिया था। परन्तु राजस्थान मे एक बाला गोरखनाथ का होना भी बतलाया जाता है। जभ-देव चरित्र के स्वामी ब्रह्मानन्द ने जभोजी से मिलने वाले महात्मा बाला गोरख यतीन्द्र का नाम लिया है।[2] किंतु इनके जीवन-काल का पता नही चल सका है। इस बात की चर्चा उस घटना के सबध मे भी की जाती है जब स० १५५७ मे इनकी सिद्ध जसनाथ से 'कतरियासर' मे भेंट हुई थी। इन्होने उनसे मिलते समय उनके प्रति अपने गुरुभाई का-जैसा व्यवहार किया था।[3] कहते हैं कि स० १५४२ मे इनका गूँगापन दूर करने के उद्देश्य से इनके पिता ने नागोर की देवी की पूजा १२ दीप जला कर करानी चाही। किंतु इन्होने उन दीपो को बुझा दिया। उसी समय से ये न केवल उपदेश देने लग गये, प्रत्युत इन्होने एक नये सगठन का भी सूत्रपात कर दिया जो 'विश्नोई सम्प्रदाय' कहलाया। ये अपने समय के एक पहुँचे हुए साधक माने जाते थे और कदाचित् इसी कारण, इन्हे कभी-कभी 'मुनीन्द्र जभ ऋषि' भी कहा जाता था। इनकी एक जीवनी इनके अनुयायी सुरजन दास ने लिखी है जिसमे इनके अनेक चमत्कारो की चर्चा भी की गई है।[4]

---

१. एच० ए० रोज . ए ग्लासरी आदि, भाग २, पृ० ११० ।
२ स्वामी ब्रह्मानद : जभदेव चरित्र भानु, पृ० ३९।
३. "जाभो कहे जसनाथ ने, मम गुरु गोरखनाथ ।
गुरु भाई हम जानके, ताहि मिलायो हाथ ॥"—रामनाथ यशोनाथ पुराण।
४. श्री जांभाजी महाराज का जीवन चरित, प्रकाशक रामदास, कोलायत, स० २००७ ।

वर्ष की अवस्था तक अर्थात् अपनी चौंतीस वर्ष की वय तक मे समवतः गोचारण-जैसे कार्यों मे निरत रहे। फिर सवा पचासी वर्ष के हो जाने पर इन्होने अपना शरीर-त्याग किया तथा यह समय सं० १५९३ के मार्गशीर्ष मास की कृष्णा नवमी का दिन था जब इनकी ज्योति अंतर्हित हो गई। इनकी समाधि का स्थान 'संभराथल' नाम से प्रसिद्ध है और वह समवतः एक बहुत बड़ा टीला (घोरा) है जो 'मुकाम' में वर्तमान है और जहाँ प्रत्येक फाल्गुन मास में एक मेला लगा करता है। यही स्थल इनका साधना-स्थल भी समझा जाता है और इसको इनके अनुयायियों द्वारा सर्वाधिक प्रधानता भी दी जाती है। वार्षिक मेले के अवसर पर यहाँ पर एक बहुत बड़ा होम (हवन) हुआ करता है जिसमें सैकड़ो मन सामग्री की आहुति की जाती है। वास्तव में इस सम्प्रदाय के २९ नियमों मे भी 'हवन' की चर्चा की गई है और इसे प्रतिमास की अमावस्या को संपादित किया जाता है। इसी प्रकार 'बिस्नोई सम्प्रदाय' वालों के यहाँ अहिंसा को भी बहुत बड़ा महत्त्व दिया जाता दीख पड़ता है। इनके यहाँ कोई खेजड़े वा शमी वृक्ष की हरी डाल काट नही सकता न इनके आसपास कोई हिरणों का आखेट ही कर सकता है। कहते है कि राजस्थान तथा पंजाब के अनेक स्थानों पर इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने इस अहिंसा व्रत के उपलक्ष में अपना बलिदान तक कर दिया है। इनके यत्नो द्वारा ऐसे अनेक स्थलो पर राजाज्ञा प्रचलित करके हिरन के शिकार का स्पष्ट निषेध तक करा दिया गया है। फिर भी इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में तगड़े नौजवानों तथा तेजस्विनी स्त्रियों की कमी नही जो उनके संयत जीवन का परिणाम है। सम्प्रदाय के *गद्दीधारियों की कोई वंशावली हमें उपलब्ध नहीं है।* कहा जाता है कि संत जांभोजी ने अधिकतर राजस्थान के क्षेत्र मे ही अपने उपदेश दिये थे किंतु इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय का पंजाब तथा उत्तरप्रदेश आदि में भी वर्तमान रहना बतलाया जाता है। स्वामी रामानंद गिरि के अनुसार मुकाम तालाब पीपासर, जांगलू रोटू लालासर और संभराथल नामक इनके सात तीर्थ-स्थान है। किंतु स्वामी ब्रह्मदास ने इनमे रामड़ास तथा जांगली की साथरी-जैसे दो अन्य नामों को भी जोड़ दिया है। इस सम्प्रदाय मे मांगलिक अवसरों पर कलश-स्थापन करनेवाले

प्यारह अवरि चालीस ब्रह्म कथिया अविनाशी।
बाल ग्याल वृद्ध बाल सकल पूजा सवा पचासी।
पनरासै तिरानवें बदी मंगसर भी आगले पाखटियो।
कृष्ण रहिया धर अर्थिम ज्योति संसार चाले॥"
—उसी पृष्ठ पर उद्धृत।

दाय' के २९ नियमो मे से भी १५वाँ 'विष्णु की नित्य सेवा करनी' है।[1] इससे नाथ-पथ के साथ कोई सबध नही जोडा जा सकता, न तो उसके 'ध्येय' को कभी 'विष्णु' की सज्ञा दी जाती है, न वहाँ पर वैसी 'सेवा' का ही महत्त्व है। इसके सिवाय जहाँ पर सिद्ध जसनाथजी तथा जाभोजी की भेंट का विवरण दिया गया मिलता है, वहाँ पर भी इनके प्रति यही कहलाया गया है, "आप चतुर्भुज विष्णु का जप करते हैं और मैं शिव का, जो युग-युगो तक सृष्टि के प्रत्येक क्षण मे व्यापक है।"[2] इससे यही जान पडता है कि यद्यपि सत जाभोजी गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रभावित रहे, इनकी कुछ रुझान विष्णु के प्रति भी अवश्य थी। यदि 'विश्नोई सम्प्रदाय', 'वैष्णव सम्प्रदाय' का समानार्थक न भी रहा हो और 'विश्नोई' शब्द का अर्थ, उसके अपने २९ नियमो के अनुसार 'बीस और नव' से बनी उस सख्या की ओर सकेत करता हो उस दशा मे भी, हमे यहाँ 'विष्णु' का प्रयोग निरर्थक नही जान पडता, न 'कबीर' द्वारा प्रस्तुत किये गए वातावरण में अपने मत की मूल धारणाएँ निश्चित करने वालो मे[3] सत जाभोजी का नाम इस दृष्टि से लेना कदाचित् किसी प्रकार अनुचित ही ठहराया जा सकता है। सत जाभोजी की रचनाओ के अतर्गत कही-कही जो भक्ति-भाव का पुट आ गया मिलता है उसके द्वारा भी हमे इसी बात की पुष्टि होती प्रतीत होती है। विश्वश्नोई समाज मे इन्हे 'प्रह्लाद पथी विश्नोई' कहा जाता है। पथ के २९ नियम परवर्त्ती भी हो सकते हैं, क्योकि स्वय उनकी वाणी मे उक्त नियमो का कही उल्लेख नही है।

समाधि तथा सम्प्रदाय

जनश्रुति के आधार पर सत जाभोजी के ब्रह्मलीन होने का समय स० १५८० के लगभग बतलाया जाता है, किंतु इनके अनुयायियो मे प्रसिद्ध है कि यह घटना स० १५९३ की अगहन कृष्णा ९ की है जो लालासर गाँव के निकट जगलो मे हुई थी। इनके किसी वील्हाजी नामक शिष्य ने अपने एक छप्पय द्वारा इनकी जीवनी का परिचय देते हुए कहा है[4], "सात वर्षो तक इन्होने बाल-लीला की, सत्ताइस

---

१ डॉ० हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी भाषा और साहित्य, कलकत्ता, १९६० ई०, पृ० २७८ पर उद्धृत।

२ "जापत आप चतुर्भुज ईसर देवजी जुग जुग री गैलाई ॥", —सूर्यशकर पारीक- सिद्ध चरित्र, पृ० १३९ पर उद्धृत।

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २७७।

४ "वर्ष सात ससार-बाल लीला निरहारी।
वर्ष पाँच वाईस पाल वहुता धनचारी।

प्रकार की संभावना को भी केवल उसी दशा म प्रश्रय दिया जा सकता है जब इस विषय मे पूरी छान-बीन की जा सके तथा ऐसी यथेष्ट सामग्री के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करके कोई निश्चित निर्णय करने का कभी यत्न किया जाय।

राघोदास का मत

राघोदास दादू पंथी मे अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्तमाल' के अंतर्गत कहा है कि जिस प्रकार मध्वाचार्य विष्णु स्वामी रामानुजाचार्य तथा निंबार्क ने 'महत चक्कवै' के रूप में सगुणोपासना का प्रचार करने वाले चार भिन्न भिन्न मतों का प्रवर्तन किया था उसी प्रकार कबीर, नानक दादू और जगन ने भी पीछे चल कर 'अगुण अरूप तथा अकल' की निर्गुणोपासना प्रचलित की तथा इन चारो ही की पद्धतियो का संबध निरजन' से रहा।[1] उनके ऐसे कथन द्वारा यह भी प्रकट होता

Nath school and the Nirgun School, Preface pp II & III to the Nirgun School of Hindi Poetry by Dr P D Badathwal

१ 'सगुन रूप गुन नाम ध्यान उन विविध बतायौ ॥
इन इक अगुन अरूप अकल जग सकल जितायौ ॥
पूर तेज भरपूरि जोति तहाँ बुद्धि समाई ॥
निराकार पद अमिल अमित आतमा ल्याई ॥
निरलेप निरंजन भजन कौं सम्प्रदाइ थापी सुघट ॥
वै च्यारि महंत ज्यूं चतुरव्यूह त्यूं चतुर महंत निगुनी प्रगट ॥१४१
नानक सूरजरूप भूप सारे परकासे ॥
मथवा दास कबीर ऊसर सूसर बरषासे ॥
दादू चंद सरूप अमी करि सबको पोषै ॥
जगन निरंजन भगी जिवा हरि जीव संतोषै ॥
ये च्यारि महंत चहूं चक्कवै च्यारि पंथ निरगुन थपे ॥
नानक कबीर दादू जगन राघो परमातम जपे ॥१४२
रामानुज की पधित चली लक्ष्मी सूं आई ॥
विष्णु स्वामि की पधित सुतौ संकर तै आई ॥
मध्वा चारज पधित ध्यान ब्रह्मा सुविचारा ॥
नीबादित की पधित च्यारि सनकादि कुमारा ॥
च्यारि सम्प्रदा की पधित अवतारनसूं ह्वै चली ॥
इन च्यारि महंत निगुनीन की पधित निरंजन सूं मिली ॥"१४३
—ग्रंथ की एक हस्त लिखित प्रति से जो लेखक को पुरोहित हरिनारायण शर्मा जयपुर से मिली थी।

को 'थापण' और मृत्यु आदि सस्कार करानेवाले को 'गायण' कहा जाता है।[1] जमोजी ने वाह्याडवर का तीव्र विरोध करते हुए ऐसे धार्मिको को फटकार वताया है।[2]

३. निरजनी सम्प्रदाय

प्रासगिक प्रस्तावना

'निरजन' वा 'निरजनी' कहे जानेवाले किसी सम्प्रदाय-विशेष को एक ऐसी धार्मिक परपरा वतलाया गया है जिसका मूल स्रोत नाथ-पथ है। कहते हैं कि इसका वहुत कुछ प्रभाव उडीसा प्रात के अतर्गत किसी-न-किसी रूप मे अभी तक वर्तमान है। सत्रहवी विक्रमी शताव्दी के मध्यकाल मे स्थापित सिलहट के कतिपय पथ भी इससे अनुप्राणित कहे गए हैं। अनुमान किया जाता है कि यह सम्प्रदाय सर्वप्रथम, कदाचित् उडीसा से ही आरम होकर पूर्व की ओर भी पहुँचा होगा। इसका प्रचार कभी राजपूताना तथा पश्चिमी पजाव मे था। यह इस समय भी कम-से-कम पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरभारत से चला गया नही कहा जा सकता।[3] फिर भी वैसे किसी 'निरजनी सम्प्रदाय' का कोई प्रामाणिक इतिहास अभी तक उपलव्ध नही है। इस कारण यह कहना सभव नही कि उसका उद्भव, विकास तथा प्रसार क्रमश किस प्रकार हुआ, न निश्चित रूप से यही वतलाया जा सकता है कि उक्त उडीसा वाले 'मूलरूप' तथा पश्चिमी भारत मे आज कल पाये जाने वाले इस नाम के पथ मे कहाँ तक समानता अथवा भिन्नता है। कहा तो यह भी गया है कि राजस्थान वाले ऐसे मत के मूल प्रवर्त्तक स्वामी निरानद निरजन भगवान् निर्गुण के उपासक थे।[4] किंतु हमे उनका भी कोई परिचय नही मिलता, न यही पता चलता है कि उनका आविर्भाव कब हुआ। उनके मौलिक सिद्धातो का रूप क्या था और उनका प्रचार किस ओर तथा किस प्रकार सभव हुआ। यदि इन निरानद निरजन भगवान् का जीवन-काल कही विक्रम की चौदहवी शताव्दी तक तथा विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायो के युग मे सिद्ध किया जा सके और इनकी रचनाओ तथा साधना-पद्धति आदि का पूरा पता चल सके तो, उसे हम नाथ-पथियो तथा सतो के बीच की एक लडी भी ठहरा सकते हैं।[5] परन्तु इस

१ श्री चद्रदान चारण विश्नोई पथ, राजस्थान भारती, भाग ७ अक ४ अगस्त १९६१, पृ० ५७–६२।

२ जभ-सागर, शब्द ११।

३. क्षितिमोहन सेन मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इडिया, पृ० ७० तथा १७०।

४ हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर, बम्वई, सन् १९४२ ई०, पृ० ५२।

५ "It (Niranjan School) is in a way, midway between the

सांध 'सारि' नामक स्थान में रह कर ये अत्यंत प्रसिद्ध हो गए। मोहनदास ने अपने अनुभव की बातें ठीक उसी प्रकार व्यक्त की जिस प्रकार काशी के कबीर ने की थी। नाथ सदा निरंजन में ही लीन रहने वाले साधक थे तुरसीदास एक ब्रह्म-जिज्ञासु योगी थे और संयमशील जीवन व्यतीत करते थे। जगजीवनदास बड़े ही सच्चरित्र और त्यागी थे। हरिदास की विशेषता यह थी कि उनकी कथनी और करनी दोनों उच्च कोटि की थी तथा अपनी निर्मल वाणी द्वारा वे निराकार की उपासना करके 'निरंजनी' कहला कर प्रसिद्ध हुए।[१]

मूल प्रवर्त्तक कौन ?

परन्तु राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' ग्रंथ में जिन उपर्युक्त स्थानों का उल्लेख किया है उनमें से सिवाय एक डीडवाणा के हमें अन्य किसी का भी कोई भौगोलिक परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। इसके सिवाय उन्होंने जो कुछ परिचय हमें उक्त १२ निरंजनी महंतों का दिया है उसमें भी कोई ऐसा ऐतिहासिक तथ्य नहीं मिल पाता जिससे हम उनके किसी जीवन-वृत्त का अनुमान कर सकें। उनके द्वारा किये गए 'कपटधौ जगन्नाथ' अथवा 'जगन्नाथ'-जैसे नामों का प्रयोग यह अवश्य सूचित कर सकता है कि ये कदाचित् उसी पुरुष के लिए व्यवहृत हुए हैं जिसे 'जगन' कहा गया है। इसके कबीर, नानक तथा दादू-जैसे निर्गुणी पंथ-प्रवर्त्तकों के नामों के साथ आने के कारण इतना और भी अनुमान कर लेना संभव है कि कहीं इसके द्वारा अभिहित किया जाने वाला ही व्यक्ति निरंजनी सम्प्रदाय का सर्वप्रथम प्रवर्त्तक भी न हो।[२] 'जगन' का नाम सम्प्रदाय के उपर्युक्त १२ महंतों में सबसे पहले लिया गया है। इसी प्रकार 'जगन्नाथ दास' अथवा केवल 'जगन्नाथ' नाम के प्रयोग भी क्रमशः जहाँ-जहाँ पर किये गए हैं जहाँ सर्वप्रथम उनका स्वाभावगत परिचय दिया गया है अथवा जहाँ उनके वास-स्थान 'परोली' की चर्चा की गई मिलती है। इससे उक्त अनुमान को और भी बल मिल सकता है यद्यपि इस बात की पुष्टि किसी अन्य प्रमाणों से भी नहीं होती। इसके विपरीत इस संबंध में बहुत-से लोगों की धारणा यह भी पायी जाती है कि वास्तव में इस सम्प्रदाय के मूल-प्रवर्त्तक हरिदास निरंजनी थे जिन्हें राघोदास ने उक्त महंतों की तालिका में १२वाँ अथवा अंतिम स्थान दिया है। ऐसे मत के समर्थकों में प्रसिद्ध दादू-पंथी संत सुंदरदास (सं० १६५३ १७४२) तथा रामसनेही संत रामदास (सं० १७८३-

---

१ छप्पय ४२९ ४४१ तक।

२ 'जगन' नामक किसी भक्त का नाम नाभादास की 'भक्तमाल' छप्पय ९९ में भी आया है जहाँ पर एक अन्य नाम किसी हरिदास का भी है।—लेखक

है कि ऐसे चौथे मत वा सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक 'जगन' नामक व्यक्ति को भी हम उसी प्रकार महत्त्व प्रदान कर सकते हैं, जिस प्रकार अन्य तीन मतो वालो को। इसी कारण, उन्होने इनके विपय मे आगे एक अन्य पथ भी लिखा है और इन्हे वहाँ पर 'लपटचौ जगन्नाथ'-जैसा नाम देकर इनके निवास-स्थान आदि का परिचय देने की चेष्टा भी की है। परन्तु 'निरजनी पथ वरनन' के शीर्षक से उन्होने इस सम्प्रदाय का एक विवरण पृथक् रूप मे भी दिया है। इससे पता चलता है कि इसके मुख्य प्रचारक सख्या मे १२ थे। उन्होने इनके नाम भी, क्रमश १ लपटचौ जगनाथ दास, २ श्यामदास, ३ कान्हडदास, ४ ध्यानदास, ५ षेमदास, ६ नाथ, ७ जगजीवन, ८ तुरसीदास, ९ आनदास, १० पूरणदास, ११ मोहनदास और १२ हरिदास-जैसे वतला दिये हैं। इन सभी वारहो को ही वहाँ पर उन्होने 'महत' की सज्ञा प्रदान की है और यह भी कहा है कि ये कवीर का भाव रखनेवाले वा उनसे प्रभावित थे।[1] उन्होन इनमे से किसी के भी जीवन-काल का कोई उल्लेख नही किया है, न इनके पारस्परिक सबध की ही ओर कोई सकेत किया है। इससे हमे न तो यह प्रकट हो पाता है कि ये सभी समसामयिक भी थे वा नही, न यही कि इनमे से किसे सर्वप्रमुख समझा जाय। उन्होने अपने एक छप्पय द्वारा इतना कह दिया है कि इनमे से जगनाथ 'थरोली' के रहनेवाले थे, श्यामदास 'दत्तवास' के निवासी थे, कान्हडदास 'चाडस' मे रहते थे, आनदास का स्थान 'लिवाली' था तथा क्रमश मोहनदास का स्थान 'देवपुर' मे, तुरसीदास का 'सेरपुर' मे, पूरणदास का 'भभोर' मे, षेमदास का 'सिवहाड' मे, नाथ का 'टोडा' मे, ध्यानदास का 'झारि' मे तथा हरिदास का उसी प्रकार 'डीडवाणें' मे था।[2] इसके सिवाय उन्होने अन्यत्र यह भी वतलाया है कि इनमें से जगन्नाथ दास वडे सयमशील थे और नाम-स्मरण मे निरत रहते थे। श्यामदास ऊँची स्थिति तक पहुँचे हुए साधक थे जिनके रोम-रोम से 'रकार' की ध्वनि उठा करती थी। आनदास इन्द्रियजीत और विरक्त थे, कान्हडदास कलाल-कुल मे उत्पन्न हुए थे, किंतु अपने रहने की कुटी तक भी उन्होने नही वनवायी। पूरणदास ने पिड और ब्रह्माड के रहस्य को जान लिया था और कवीर को अपना गुरु स्वीकार करके वे निरतर नाम-स्मरण मे लीन रहे। षेमदास हिन्दू-मुस्लिम अथवा ब्राह्मण तथा अत्यज सभी को एक समान देखते हुए सदा सत्सग मे प्रवृत्त रहा करते थे। इसी प्रकार ध्यानदास ने परब्रह्म विषयक अनेक रचनाएँ साखी, कवित्त और पदो के रूप मे, प्रस्तुत की। किसी रामदास के

---

१ 'अव राखहि भाव कवीर के इन येते महत निरजनी' आदि छप्पय ४२९।
२. छप्पय ४४४।

चला दिया।[1] उनका कहना है कि यह बात केवल दादू-पंथियों में प्रसिद्ध है निरंजनी इसे नहीं मानते। प्रागदासजी दादू दयाल के प्रधान शिष्यों में सम्मिलित थे। इनका देहांत कार्तिक बदी ६ बुधवार सं० १६८८ को डीडवाने में हुआ था। कुछ पुराने पत्रों की प्रतिलिपियों से यह भी जान पड़ता है कि हरिदासजी ने इनसे सं० १६५६ के जेठ में दीक्षा ली थी।[2] इस प्रकार यदि दादू-पंथियों का उक्त कथन स्वीकार कर लिया जाय तो हमें यह भी अनुमान कर लेना पड़ सकता है कि इन्होंने अपना नया निरंजनी पंथ इसके कुछ काल अनंतर अर्थात् संभवतः दादू-पंथ में कुछ दिनों रह कर तथा फिर क्रमशः कबीर-पंथ तथा गोरख-पंथ का भी अनुयायी रह चुकने के उपरांत ही चलाया होगा और ये इसके पीछे तक भी जीवित रहे होंगे। इस बात की पुष्टि स्वयं इनकी भी एक साखी से होती जान पड़ती है जिसमें इन्होंने अकबर का नाम लिया है। इन्होंने वहाँ पर कहा है 'छ चक्रवर्ती मुचकंद विक्रम भोज सामंत पृथ्वीराज चौहान अब कहाँ रहे और अकबर 'नौरोज' भी नहीं रह गया।'[3] इसका 'अकबर नौरोज' यदि सम्राट् अकबर (मृ० सं० १६६२) से अभिन्न हो तो हमें यह भी स्वीकार कर लेना पड़ सकता है कि इनका देहांत सं० १६६२ के कुछ काल पीछे ही हुआ होगा। 'अकबर' शब्द के साथ यहाँ पर प्रयुक्त 'नौरोज' शब्द के संबंध में यह कहा जा सकता है कि इसकी उपयुक्तता सम्राट् अकबर द्वारा प्रचलित किये गए पारसियों के 'नौरोज' नामक वार्षिकोत्सव के आधार पर सिद्ध की जा सकेगी। इसके सिवाय निरंजनी सम्प्रदाय के अनुयायियों की ओर से प्रकाशित की गई 'हरिपुरुषजी की वाणी' की 'भूमिका' में भी स्वामी हरिदास के जीवन की कतिपय घटनाओं का उल्लेख करके इनकी मृत्यु का सं० १७ की फाल्गुन सुदी ६ को होना लिखा है।[4] इससे भी इस मत का ही समर्थन होता जान पड़ता है और इनका जीवन-काल अधिक-से-अधिक विक्रम की १७वीं शताब्दी के अंत तक चला जाता है।

नहीं

परन्तु, इधर उपलब्ध कतिपय सामग्रियों के आधार पर यह समय इससे पहले

---

१ सुंदर-ग्रंथावली प्रथम खंड जीवन चरित्र पृ० ९२।
२ वही पृ० २७-८।
३ "छ चक्क्वै मुचकंद कहाँ कहाँ विक्रम कहाँ भोज।
सामंत पृथी चौहान कहाँ, कहाँ अकबर नौरोज ॥१८
—महाराज श्री हरिदास जी की वाणी जयपुर,पृ० ८२।
४ संपादक सेवादास जोधपुर, सं० १९८८, पृ० । 'स'

१८५५)-जैसे लोगो के भी नाम लिये जा सकते हैं जिन्होने इस वात की चर्चा अपनी रचनाओ में की है। तदनुसार इनमें से प्रथम ने जहाँ इन्हें दत्तात्रेय, गोरख-नाथ, कथड और कबीर तक की श्रेणी में स्थान दिया है,[१] वहाँ द्वितीय ने इन्हें न केवल पथ का प्रवर्त्तक जैसा वतलाया है, प्रत्युत इनके ऐसे वावन शिष्यो की भी चर्चा की है जिन्होने 'निरजन की छाप' लेकर माया का त्याग कर दिया और जो इस प्रकार अत्यत भाग्यशाली भी सिद्ध हुए। परन्तु सत सुदरदास के ऐसे कथन से केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निरजनी सम्प्रदाय वालो में स्वामी हरिदास श्रेष्ठ महापुरुषवत् अपना लिये गए थे, यद्यपि इस सबध में उनके यहाँ कोई 'विवाद' का चलना भी प्रतीत होता है। इसी प्रकार सत रामदास द्वारा यहाँ प्रयुक्त 'द्वादसपथ'-जैसे शब्द से भी ऐसा सूचित होता है जैसे कदाचित् निरजनी सम्प्रदाय की १२ भिन्न-भिन्न शाखाएँ प्रचलित रही हो तथा ये इनमें से केवल किसी एक के ही प्रवर्तन रहे हो। फिर भी इस समय हमें जो कुछ सामग्री उपलब्ध होती जा रही है उससे स्वामी हरिदास को ही इस सम्प्रदाय का आदि प्रवर्त्तक मानने की प्रवृत्ति होती है। ऐसी दशा में, किसी 'जगन' को यह श्रेय प्रदान करने के विषय में राघोदास का कथन केवल भ्रमात्मक भी बन जाता है। उसका विचार तभी हो सकता है, जव उसके समर्थन मे कोई और भी प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकें।

हरिदास का जीवन-काल

स्वामी हरिदस के सवध में चर्चा करते समय पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने लिखा है, "ये हरिदासजी प्रथम प्रागदासजी के शिष्य हुए, फिर दादूजी के। फिर कबीर और गोरख-पथ में हो गए। फिर अपना निराला पथ

---

१ "कोउक गोरष कौं गुरु थापत, कोउक दत्त दिगम्बर आदू।
कोउक कथर कोउ भरथ्थर, कोउक कबीर कोउ राषत नादू॥
कोउ कहै हरदास हमारै जु, यौं कहि ठानत वाद विवादू।
और तो सत सवै सिर ऊपर, सुन्दर कै उरहै गुरू दादू॥५"
—सुदर ग्रथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ३८५।

२ "हरीदास पूरा गुरु पाया, नाम निरजन पथ चलाया।
वावन शिष्य मिल्या सुख माँई, पादू माता चेली क्वाई॥
द्वादस पथ सत वडभागी, छाप निरजन माया त्यागी।
अजन छाड निरजन ध्याये, मन निरमल निश्चै कर पाये॥९६
—श्री श्री रामदासजी महाराज की वाणी, पृ० २०१।

स्वामी प्रागदासजी का सिष हरिदासजी निरंजनी संवत् १६७ के मिति फागण सुदि १ रामसरणि हुआ"[1] तथा भी हरिपुरुष की बाणी' में यह सं १७ और 'हरिदास की परचई' में सं १६ और पूर्णदास तथा 'भक्तराज प्रभाकर' के अनुसार, सं १५९५ हो जाता है जिससे भ्रांति उत्पन्न होने लगती है। यदि तिथि के साथ यहाँ पर किसी वार का भी उल्लेख कर दिया गया होता तो इस बात की परीक्षा सरलता पूर्वक हो जाती कि इनमें से किस संवत् को स्वीकार किया जाय। ऐसी दशा में यदि स्वामी हरिदास के जीवन-काल को विक्रम की १६वीं शताब्दी में स्वीकार करना चाहें तो हम यह भी कह सकते हैं कि जिन पुराने पत्रों की प्रतिलिपियों के आधार पर इनका प्रागदास का शिष्य होना तथा इनकी मृत्यु का सं १६७ में होना कहा जाता है उनकी सम्यक छान-बीन होनी चाहिए। इनके द्वारा स्वयं रचित कही जाने वाली उपर्युक्त साखी को या तो प्रक्षिप्त मान लेना चाहिए अथवा इस बात की ओर भी ध्यान दे लेना चाहिए कि सम्राट् अकबर को कहीं अन्यत्र भी इस प्रकार 'अकबर गौरीब' कहा गया नहीं मिलता जिस कारण हम इसे किसी अन्य व्यक्ति के लिए प्रयुक्त भी ठहरा सकते हैं। इसी प्रकार हम पंद्रहवीं शताब्दी में इनके जन्म-ग्रहण करने के आधुनिक उल्लेखों को भी अधिक महत्त्व न देकर ऐसा कह सकते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के पक्षवाले मत को उसके इस सम्प्रदायवालों द्वारा अधिकतर मान्य होने के कारण तब तक मान लिया जा सकता है। स्वामी हरिदास का जीवन काल सं १५१२ ९५ स्वीकार कर लेने पर संत सुंदरदास द्वारा इनके लिए किसी प्राचीन मत-प्रवर्तक-जैसा कहा जाना सुसंगत बन जाता है क्योंकि वे यों अपने समकालीन के संबंध में नहीं कह सकते थे। इसके साथ ही स्वयं इनकी कतिपय मान्यताओं में लक्षित होनेवाली उस विचार-धारा का भी कुछ-न-कुछ समाधान हो जाता है जो हमें पुरानी-सी लगती है।

उनका जीवन-वृत्त

कहा जाता है कि स्वामी हरिदास जन्म से सांखला गोत्र के क्षत्रिय थे। ये डीडवाणा परगने के 'कापड़ोद' नामक गाँव में जो वर्तमान 'कोलिया' के उत्तर-पूर्व दो कोस की दूरी पर आज भी स्थित है उत्पन्न हुए थे। इनके माता-पिता के नाम हमें विदित नहीं किन्तु पता चलता है कि इन्होंने आरंभ में वैवाहिक जीवन भी व्यतीत किया था। इनका अपना पूर्व नाम हरिसिंह था। प्रसिद्ध है कि ये लगभग ४५ वर्ष की अवस्था तक कभी-कभी दुर्भिक्ष आ जाने पर

---

1 सुंदर ग्रंथावली प्रथम खंड पृ २८ पर उद्धृत।

भी ले जाया जा सकता है। उदाहरण के लिए हरिरामदास (समवत. १८वी विक्रमी शताब्दी) द्वारा रचित 'हरिदासजी की परचई' से पता चलता है कि स्वामी हरिदास का जन्म स० १५१२ की फाल्गुन सुदी ६ को हुआ था। इन्होंने स० १५५६ की वसतपचमी को दीक्षा-ग्रहण की थी तथा स० १६०० के फाल्गुन मास की शुक्ला पष्ठी को डीडवाणे मे इनका देहात हो गया।[1] इसी प्रकार किसी पूर्णदास (सभवत २०वी विक्रमी शताब्दी) द्वारा नवलगढ में किये गए एक उल्लेख से जान पड़ता है कि इन्होंने स० १४७४ मे जन्म लिया था तथा स० १५९५ की फाल्गुन सुदी ६ को इनका देहात हुआ।[2] इस बात का समर्थन 'मत्रराज प्रभाकर' के एक अन्य ऐसे प्रसग से भी हो जाता है।[3] इसके सिवाय स्व० जगद्धर शर्मा गुलेरी द्वारा बतलाये गए हरिदासजी के रचना-काल स० १५७७-९७ सन् १५२०-४० ई०[4] की भी सगति इस मत के साथ बैठ जाती है और हमारा यह अनुमान कर लेना उचित हो जाता है कि ये स० १६०० के पहले रहे होगे। यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि इनके मृत्यु-काल के मास तथा तिथि का उल्लेख इन चारो मतो में एक ही प्रकार किया गया मिलता है। सभी के अनुसार महीना फागुन का था और तिथि उसके शुक्ल पक्ष की षष्ठी रही। केवल पुरोहित हरिनारायण द्वारा उद्धृत पत्रो में लिखा मिलता है "श्री

---

१ "पन्दर से वारोत्तरे फागुन सुदि छठ सार।
वैराग्य ज्ञान भगति कू लीयो हरि अवतार।"
"पन्दरह सै छप्पन समै वसत पञ्चमी जान।
तब हरि गोरष रूप धरि, आप दियो ब्रह्मज्ञान॥"
"सोलह सौ को छट्ठि सुदि फागुण मास।
परमधाम भै प्रापती नगर डींड हरिदास॥"
—सूरपूर्व ब्रजभाषा डॉ० शिवप्रसाद सिंह, वाराणसी, सन् १९५८ ई० पृ० १९९ पर उद्धृत।

२ "चवदह सै चौहोत्तरे जन्म लियो हरिदास।
पन्दरह सौ पिञ्चाणवे, कियो जोति मे वास।
फागुन सुदि की छट्ठ को, परम जोति परकास।"—वही, पृ० १९९।

३ "चवदा शत सवत् सप्तचार, प्रगटे सुदेस सुरधर मझार।
पचासौ पञ्चानवे शुद फागुण छठि जाण।
विशासो वपु राखिके पहुचे पद निर्वाण॥"—वही।

४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, स० १९९७, पृ० ७७ पर उद्धृत।

संख्या ५२ ही क्यों हो सकती है और इससे कम या अधिक क्यों नहीं ठहरायी जाती। इस बात का समाधान करते हुए कहा गया है कि "वैष्णवों में बावन 'द्वारा' माने जाते हैं' तथा 'इन बावन द्वारों का अनुकरण वैष्णव सम्प्रदाय से पीछे बनने वाले सम्प्रदायों ने बावन शिष्यों के रूप में किया'[1] होगा और इस अनुमान की पुष्टि अन्यत्र से भी होती है।[2] कुछ 'परंपराओं' के अनुसार हमें इनके इन ५२ शिष्यों के नाम दिये गए भी मिलते हैं किंतु उनकी ऐसी तालिकाएँ आपस में पूरा मेल नहीं खातीं जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि इस विषय में कुछ-न-कुछ मतभेद भी चला आ रहा होगा। 'भाऊदासजी की गुदड़ी' से जान पड़ता है कि निरंजनी सम्प्रदाय के जिन अन्य ११ महंतों की चर्चा राघो-दास ने अपने 'भक्तमाल' ग्रंथ में की है उनका भी महत्त्व कुछ कम नहीं था किंतु उन्हें वहाँ पर स्वामी हरिदास (हरिपुरुषजी) की अपेक्षा किंचित गौण स्थान प्रदान किया गया है।[3] उन्हें अन्यत्र इनका अनुगामी होना अथवा उनमें से कम-से-कम धनजी, माधजी, मोहनदासजी, पूर्णदासजी और जगजीवनदासजी-जैसे कुछ नामों का तो इनका शिष्य होना 'सिद्ध' तक बतलाया गया है।[4] इस प्रकार के कथन का समर्थन कुछ अंशों तक उनकी रचनाओं द्वारा अवश्य हो जाता है किंतु जब तक में कोई ऐसा ऐतिहासिक तथ्य भी न उपलब्ध हो न उसके आधार पर किसी प्रकार कोई प्रामाणिक 'वंशावली' निर्मित की जा सके तब तक इस विषय में अंतिम निर्णय संभव नहीं है। अभी तक केवल उतना ही कहा जा सकता है जितना उनकी उपलब्ध रचनाओं के आधार पर अनुमान किया जा सकता है। तदनुसार जगजीवनदास के लिए कहा जा सकता है कि उन्होंने कबीर को स्पष्ट रूप से अपना 'गुरु' स्वीकार किया है,[5] ध्यानदास ने

---

१ महाराज श्री हरिदासजी की वाणी पृ० १०१।

२ दे० स्वामी दादू दयाल, रामसनेही रामदास आदि के ५२ शिष्यों का प्रसंग भी।—लेखक।

३ "श्री हरिपुरुष महाराजा गुदड़ी तुम्हारी पातर जाणी।।टेक
नामदे मोहन खेम हजूरी आनदास पूरण मत पूरी।
ध्यान तोरई ध्यान लगाया जग जीवन गुरमी तन पाया।।
नाथ श्यामजी है अवधूता जगन्नाथ केवल पद पहुँता।
जिनकी चरण जे कोई धारे, जाम जन्म भय ज्यारपी।।३"

४ महाराज श्री हरिदासजी की वाणी भूमिका पृ० ११।

५ 'गुरु कबीर प्रताप तें कहै जगजीवन दास' चितावणी जोग ४।
'गुरु कबीर प्रताप ते कहै जगजीवन दास' प्रेमनामोजोग ग्रंथ ५०।

लूटपाट का काम भी किया करते थे। एक दिन, जब ये अपने कुछ साथियो के साथ ऐसे कार्य में प्रवृत्त थे, इनकी भेंट किसी महात्मा से हो गई जिनके द्वारा न केवल इन्हें किसी वैसे कुकृत्यो से विरत होने की शिक्षा मिल गई, अपितु जिन्होंने इन्हें आध्यात्मिक चिंतन की ओर प्रवृत्त भी कर दिया। इन्होंने उसी समय अपने शस्त्रादि पास के 'खोसल्ये कुएँ' मे डाल दिये और फिर ये 'तीखी डूंगरी' नाम की पहाडी की ओर चल पडे। ये वहाँ की किसी गुफा मे रहते हुए निरतर बहुत दिनो तक साधना करते रहे और इनके भोजनादि का प्रबध किसी-किसी प्रकार हो जाता रहा। कुछ दिनो तक तो वहाँ डीडवाणे के निवासी गाढा वियाणी नामक एक श्रद्धालु पुरुष ने इनके लिए भोजनादि की व्यवस्था की। उन्ही के विशेष आग्रह पर ये फिर वहाँ से उस नगर की ओर पधारे और उसके उत्तर-वाले जगल में निवास करने लग गए। तत्पश्चात् ये फिर वहाँ से भी कुछ दिनो के लिए देश-भ्रमण की इच्छा से निकले और क्रमश नागोर, अजमेर, टोडा, जयपुर तथा शेखावाटी जैसे कई स्थानो से होते हुए, अत में वही पर लौट आये। इनके पर्यटन-काल वाली घटनाओ का विस्तृत विवरण राघोदास की 'भक्तमाल', उस पर की गई चक्रदास की टीका तथा अन्यत्र कई स्थलो पर भी पाया जाता है। वह अधिकतर चमत्कारो से भरा हुआ अथवा विविध काल्पनिक बातो से पूर्ण भी कहा जा सकता है। रघुनाथदास द्वारा रचित 'परचई' से पता चलता है कि इनका जन्म स० १५१२ में, गृह-त्याग तथा साधना का आरभ स० १५५६ मे, साधना की पूर्ति स० १५७० में, देश-भ्रमण के अनतर डीडवाणे में निवास स० १५८० में तथा लगभग ८८ वर्ष की आयु पाकर वही पर देहावसान स० १६०० में सभव है।[1] स्वामी हरिदास ने समय-समय पर जो उपदेश दिये थे उनका एक अश इनकी उपलब्ध रचनाओ मे प्राप्त होता है। ये रचनाएँ इनकी 'वाणी' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं और इनमें इनके ४७ 'लघु ग्रथ' भी सगृहीत हैं जिनमें से केवल दो गद्य में और शेष पद्य में हैं। इनके अतिरिक्त उसमें इनके बहुत-से पद हैं जो रागो के अनुसार दिये गए हैं। इनके कवित्त, कुडलियाँ और चाद्रायण-जैसे छदो के अनतर इनकी साखियों को भी स्थान मिला है जिनकी सख्या कम नही है।

शिष्य-प्रशिष्य और थावे

स्वामी हरिदास के उपदेशो के प्रभाव में आकर अनेक व्यक्तियो ने इनसे दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इस प्रकार इनके द्वारा दीक्षित अथवा किसी-न-किसी प्रकार पूर्णरूप से प्रभावित शिष्यो की गणना ५२ तक की जाती है। यह

---

१ महाराज श्री हरिदासजी की वाणी, भूमिका, पृ० ७९।

सांप्रदायिक साहित्य

निरंजनी सम्प्रदाय की विशेषताओं में इसके विशाल साहित्य को भी उल्लेख किया जा सकता है। स्वामी हरिदासजी की रचनाओं की चर्चा इसके पूर्व की जा चुकी है और हमने यह भी देखा है कि उनमें कितनी विविधता लक्षित होती है। उनकी 'वाणी' के अतिरिक्त हमें तुरसीदास, मोहनदास, ध्यानदास, कल्याणदास, सेवादास, नरीदास, आत्माराम, रूपदास-आदि अनेक अन्य निरंजनी संतों की वाणियाँ भी प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। इनमें से तुरसीदास की रचनाओं में से केवल साखी भाग में ही दो सौ प्रकरण (अंग) पाये जाते हैं जिनमें ४२ २ साखियाँ संगृहीत हैं। इसी प्रकार, इनके चार 'लघु ग्रंथ' हैं, ४४१ पद हैं जो २९ राग रागिनियों में विभाजित हैं तथा उनकी कुल संख्या प्रायः ६ सहस्र तक पहुँच जाती है। सेवादासजी (सं० १६९७-१७९८) की वाणियों की संख्या तो इससे भी बड़ी जान पड़ती है, क्योंकि इनकी ५७ अंगों में विभाजित साखियाँ ३५११ हैं। इनके 'लघु ग्रंथ' १ हैं, कुंडलियाँ ३९९ हैं। इसी प्रकार इनके २० छप्पय, ४ सवैये, ११४ चाणायण, ४४ रेखतों तथा ४ २ पदों को लेकर इनकी कुल रचनाओं का जोड़ दोहे छंद के ८ सहस्र से भी अधिक तक पहुँचता है। इसी प्रकार उपर्युक्त अन्य ऐसे निरंजनी संत कवियों की उपलब्ध रचनाओं के संबंध में भी कुछ न कुछ विवरण उपस्थित किये जा सकते हैं। इसके सिवाय इन वाणियों के साथ-साथ कुछ ऐसी अन्य प्रकार की रचनाएँ भी मिलती हैं जिन्हें अनुवाद-साहित्य के अंतर्गत स्थान दिया जा सकता है। इनमें प्रसिद्ध भगवानदास निरंजनी की-जैसी उपलब्ध पुस्तकें गिनी जा सकती हैं। इन भगवानदास निरंजनी के कतिपय ग्रंथ 'अमृतधारा', 'विचार माला' तथा 'अनभै हुलास'-जैसे भी मिलते हैं। इनमें दादू-पंथी निश्चलदास की भाँति वेदान्त-संबंधी विषयों पर मत प्रकट किया गया है। इस कोटि की अन्य रचनाओं में पेमजी, मनोहरदासजी (समवत् सं० १७१७ के आसपास) तथा हरिरामदासजी आदि की कुछ पुस्तकों के भी नाम लिये जा सकते हैं। हरिरामदासजी की एक पुस्तक 'छंद रत्नावली' भी बतलायी जाती है, जिसका संबंध छंद शास्त्र से है। इसी प्रकार प्यारेरामजी, रघुनाथदासजी, पूर्णदासजी तथा जानकीदासजी-आदि कुछ लोगों ने ऐसे ग्रंथ भी लिखे हैं जिन्हें 'भक्तमाल', 'परचई' अथवा जीवन-चरित कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में एक नाम निपट निरंजन स्वामी का भी लिया जाता है। इनका जन्म संवत् कहीं १५९१[1] और कहीं

---

[1] शिवसिंह सरोज, नवीन संस्करण, लखनऊ, सन् १९२६, पृ० ४१८।

'गोपाल' को गुरु कहा है ।[1] षेमदास ने अपना गुरु हरिदास जी को बतलाया है[2] तथा शेष लोग भी कदाचित् इसी प्रकार कथन करते दीख पडते हैं । केवल इसी के आधार पर सभी को एक दूसरे का गुरु-भाई ठहराना युक्ति-सगत नही कहा जा सकता ।

वही

कहा गया है कि स्वामी हरिदासजी का देहावसान हो जाने के अनतर प्राय एक शताब्दी के समय तक इनके शिष्य-प्रशिष्य अधिकतर पूरी वैराग्य-वृत्ति को अपनानेवाले हुआ करते थे । उनकी 'साज-सज्जा' केवल एक गूदडी और पात्र तक ही सीमित रही तथा जहाँ तक पता चलता है ऐसा कोई स्थान कदाचित् ही मिल सके जो इसके पहले बना हो । डीडवाणे में निर्मित इनकी समाधि तथा एकाध अन्य शालाएँ भी सभवत १७वी शताब्दी के अत वा १८ वी के आरभ की बनी होनी चाहिए । इसके अनतर सम्प्रदाय के अतर्गत अपने प्रचार तथा विस्तार की प्रवृत्ति विशेष रूप से जागृत हुई । इसके अनेक योग्य आचार्यों ने सभवत इसी काल में अपनी विविध रचनाएँ भी प्रस्तुत की । इस समय तक हमें इस बात के लिए कोई प्रमाण नही मिलता कि स्वामी हरिदास का कोई उत्तराधिकारी बना हो अथवा इनकी ऐसी कोई आचार्य-परपरा चली हो जिसके अनुसार यह कहा जा सके कि इनकी किसी गद्दी पर अमुक-अमुक महत क्रमश रहते चले आए हैं । जहाँ तक पता है ऐसा एक 'परिवार' वा वशानुक्रम डीडवाणे के प्रसिद्ध 'विरक्त वाडे' में पाया जा सकता है जो अमर पुरुषजी के पीछे चला है। ये अमर पुरुषजी स्वामी हरिदास के शिष्य बडे षेमजी की छठी पीढी मे हुए थे और इनका जीवन-काल स० १७५५ से १८४२ तक रहा । ये एक सिद्ध पुरुष कहे जाते हैं और इनके शिष्यो की सख्या ९६ तक वतलायी जाती है । इसी प्रकार, कहते हैं कि डीडवाणे के अतिरिक्त नागौर, बीकानेर तथा जोधपुर के अतर्गत भी कुछ ऐसी परपराएँ स्थापित हो गई जो अभी तक चल रही हैं । इस प्रकार के स्थानो को प्राय 'मण्डल' की सज्ञा दी जाती है जिनमें से दो शेखावटी तथा एक मेडता को भी लेकर ७ विशेष प्रसिद्ध हैं । फिर भी ऐसा अनुमान किया जाता है कि सम्प्रदाय के अनुयायियो की सख्या में क्रमश ह्रास होता जा रहा है जो १९वी शताब्दी के अत से दीखता है ।[3]

---

१ सषीरी वधावणो आज म्हानै गुरु मिलिया गोपाल', पद सग्रह ।

२ 'गुरु मेरे हरिदास, जिन किया वुधि प्रकाश', विराग लछण ग्रथ ।

३ महाराज श्री हरिदासजी की वाणी, भूमिका, पृ० १०६-१० ।

उन्होंने गोपीचंद भामा पीपा तथा रैदास के भी नाम लिये हैं।[1] इनका कहना है कि जिस भाव निरंजन को अंतिम अभीष्ट वस्तु मान कर उन लोगों ने सिद्धि प्राप्त की थी उसी को मैं भी अपने लिए अनुभवगम्य समझता हूँ। मेरी धारणा है कि जो लोग उसमें विश्वास न रखने की दुर्बलता दिखलाते हैं वे असफल सिद्ध होते हैं।

साधना

स्वामी हरिदासजी ने इसी कारण उसे प्राप्त करने की रीति भी वही अपनायी है जो कबीर साहब की थी। इनका कहना है कि मुझे इसी में आनंद है इसलिए मैंने अपने मन को समझा-बुझा कर उसी पंथ वा मार्ग को ग्रहण किया है जो कबीर का है। यह पथ 'करड़ा' है और इसकी रीति भी कुछ उलटी-सी जान पड़ती है। इसके लिए मैं संसार की ओर से उपेक्षा-भाव रखने तथा हूँ और मैं केवल परमेश्वर के ही साथ प्रीति का बनाये रहना अपने लिए श्रेयस्कर मानता हूँ।[2] तदनुसार इन्होंने अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को अंतर्मुखी बनाने की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है। ये दूसरों को भी यही उपदेश देते दीख पड़ते हैं कि यदि सत्य के खोजी हो तो तुम्हें भी चाहिए कि एसी उलटी नदी ही बहा दें तथा बराबर इस उलटे मार्ग पर ही चला करें। सेवादास निरंजनी का भी यही कहना है कि 'उस 'अलख' वस्तु की पहचान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उलटा गोता लगाया जाय जिसके परिणाम स्वरूप अपनी आत्मा क्रमशः पुरुष इन्द्रिय मन तथा वाणी से अपने आप परे हो जाय।[3] इन लोगों का भी अन्य

---

१ "भाव निरंजन देखि अंति सबी सुखदाई।
गोरख गोपीचंद सहज सिधि नव निधि पाई॥
नामदेव कबीर राम भगती रस पीया।
पीपै जन रैदास बड़े छकि काहा लीया॥
अपने बस्त संभालि करि, जन हरीदास कापा लही।
राम बिमुख दुबिध्या करै, तै निरबल पहुँच नहीं॥१३॥" बानी, पृ २९५।

२ जन हरिदास आनंद यूहि अपना मन परमोधि।
करड़ा पंथ कबीर का सो हम लीया सोधि॥१॥
पीठि दई संसार सूं परमेश्वर सूं प्रीति।
जन हरीदास कबीर की या कछू उलटी रीति॥२॥
—बानी महिमाकी अंग पृ १८८

३ "सहजि सहजि सब जाहिगा, पुष मंद्री मन बानि।
सूं उलटा गोता मारि करि, अंतरि अलख पिछाणी।

१६५० [१] तक दिया गया मिलता है तथा जिन्हें महर्षि शिवव्रत लाल ने दौलतावाद का रहनेवाला वतलाया है।[२] कहते हैं कि ये मूलत गौड ब्राह्मण थे, अधिकतर काशी में रहा करते थे और स्वभाव के वडे अक्खड स्पष्टवादी और निर्भीक थे। इनकी दो रचनाएँ 'शात सरसी' तथा 'निरजन सग्रह' प्रसिद्ध हैं जिनमें से प्रथम को कही-कही 'सत सरसी'-जैसा नाम दिया गया भी मिलता है।

हरिदास के पथ-प्रदर्शक

स्वामी हरिदास की 'वाणी' के देखने से प्रकट होता है कि इन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती महात्माओ में से गुरु गोरखनाथ तथा सत कवीर साहव के प्रति वडी श्रद्धा और निष्ठा प्रदर्शित की है। इनमें से प्रथम को तो इन्होंने अपना 'गुरु' तक स्वीकार करके स्वय उनका 'वालक' होना तथा उनके 'हाथ' का अपने 'सिर पर' होना वतलाया है।[३] इन्होंने उन्हें 'गोरखमुनि' की सज्ञा दी है और कहा है कि उनकी गति मति को सुर-मुनि में से भी कोई नही जानता।[४] वातव में जिन महात्मा द्वारा इनके लूटपाटवाले प्रारभिक जीवन के स्वभाव का छूट जाना कहा जाता है उन्हें भी प्राय गोरखनाथ ही माना गया है। विश्वास किया जाता है कि स्वय उन्ही ने आकर इनका पथ-प्रदर्शन किया होगा। इसी प्रकार इन्होंने कवीर साहव की दृढ टेक और निर्भीकता की प्रशसा की है। इन्होंने कहा है कि वे राम के रग में रँगे जाकर सभी वर्गों में श्रेष्ठ हो गए, पचेन्द्रियो को वश मे कर लिया और नि शक वन कर अपनी कथनी तथा करनी में सदा सामजस्य बनाये रहे। ये जल में कमल की भाँति ससार में रहते रहे और समुद्र रूपी हरि में बूंद रूपी कबीर ठीक उसी प्रकार लीन रहे, जिस प्रकार एक साधारण बूंद समुद्र में मिल कर एक हो जाती है।[५] इन्होंने इन दोनो महापुरुषो को काल पर विजय प्राप्त करने वाले उस अमर की पदवी प्रदान की है जो निरजन में लीन होकर दूसरे पार पहुँच गया हो।[६] इसी प्रकार प्रशसात्मक उल्लेख करते हुए

---

१ हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद सन् १९३८ ई०, पृ० ७१८।

२ सतमाल, पृ० २९१-३।

३ दे० 'गोरष हमारा गुरू बोलिये' (४) 'जन हरिदास नाथ का बालक' (९) तथा 'सिदि गोरष का हाथ' (५) वाणी, पृ० ३५६-७।

४ वाणी, जोधपुर सस्करण, पद १२, पृ० ३०५।

५. वही, पद २, पृ० ३०२-३।

६ वही, साखी ३७, पृ० १८२।

लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी अग्नि के टुकड़े नहीं हो जाते उसी प्रकार हमारा परम गुरु काठ की आग की भाँति सर्वत्र एक भाव से व्याप्त तथा वर्तमान रहता है।[1] जिस प्रकार फूल की गंध को तेल में निहित करने पर तिल का तेल फुलेल बन जाता है उसी प्रकार हरि तथा हरिजन एक हो जाया करते हैं।[2] उस तत्त्व का न तो कोई रूप है न रेखा है, न वह घना है और न थोड़ा है, न पृथ्वी है न आकाश ही है। वह कला रहित रूप में सबके साथ निरंतर उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार चंद्रमा जल में प्रतिबिंबित होकर बना रहता है। वह अगम्य है और उसकी थाह का पता किसी को भी नहीं है जिसका जैसा मनोभाव रहता है उसी के अनुसार वह उसको मान लिया करता है। अपना वह निराकार वैसा ही है जैसा घड़े में जल हो और वह स्वयं समुद्र में हो। इस कारण जब हम उसी के हैं तो उसका रूप क्योंकर बतलाया जा सकता है।" इसी प्रकार सेवादास ने भी एक स्थल पर कहा है 'हरि सबमें है और सभी हरि में अंतर्हित हैं। यह संबंध उसी प्रकार का है जैसा जल तथा बुदबुदे का है तरंग तथा बुदबुदा दोनों जल के ही अंग हैं और पवन के मिल जाने के कारण उनका जल में अस्तित्व हो गया है।[3] स्वामी हरिदास ने एक स्थल पर अवतारवाद के प्रसंग में भी कहा है "हरि का दस अवतार धारण करना ही क्यों स्वीकार किया जाय वह तो अनंत अवतार धारण करके वर्तमान है। जल-थल के जितने भी प्राणी हैं वे सभी उसके अवतार स्वरूप हैं इसका रहस्य जल में पड़े चंद्रमा के प्रतिबिंब द्वारा समझ लो।"[4] इस प्रकार की उक्तियों द्वारा इनकी धारणा का पता चल जाता है।

निर्गुण भक्ति

ऐसे अनुपम परमात्म-तत्त्व के प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन भी स्वभावतः कुछ विभिन्न ढंग से हो सकता है। ऐसी निर्गुण-भक्ति के सगुण भक्ति वाले नवधा रूपों का वर्णन तुरसीदास निरंजनी ने बड़े सुंदर ढंग से किया है। इन्होंने उसकी

---

१ "लकड़ी कासी कटत है, अगनि न काटी जाय।
घट अगनि ज्यों परमगुरु जहाँ तहाँ लखियाइ॥"—वाणी मूल मत बोध ग्रंथ सा ६ पृ ७।

२ फूल बास तिल में पुरी तिल का तैल फुलेल।
हरिजन हरि ऐसे मिल्या अरस परस यहु मेल॥७॥—वही।

३ तत्त्वनिर्णय ग्रंथ संग्रह, पृ० ११९।

४ वाणी जोधपुर संस्करण पृ० २८८।

सत-मत वालो की भाँति, मुख्य उद्देश्य यही है कि ईडा तथा पिंगला नाडियो के मध्य वर्तमान सुषुम्ना को जागृत कर अनाहत नाद को श्रवण करें और वकनालि के द्वारा शून्य मडल की ओर से आते हुए अमृत का पान करें। ये लोग नाम-स्मरण को भी उसी प्रकार महत्त्व देते हैं, क्योकि जैसा स्वामी हरिदास ने कहा है यही वह 'डोरा' वा धागा है जो हमें उस निरजन के साथ जोड सकता है।[१] हमारा मन इसी के सहार परात्पर ब्रह्म में जाकर लीन हो जाता है तथा इस प्रकार का उद्यम हमारे अन्य उद्यमो को ग्रस भी लेता है।[२] नाम-स्मरण की क्रिया एक ऐसी विचित्र साधना है जिसमें भक्ति के साथ-साथ योग का पूर्ण सम-न्वय रहा करता है। सत-मत में इसी को 'सुरतिशब्द योग' नाम से अभिहित किया गया है जिसके द्वारा हमारी अतर्मुखी वृत्ति परमात्मा में आप-से-आप लीन हो जाती है। तदनुसार हम अपने प्रियतम के चरणो में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। उसके अतिरिक्त हमारा अन्य कुछ भी नही रह जाता। यह वास्तव में अपने आप की ही अपरोक्षानुभूति है जिस दशा को प्राप्त करने वाले को उसके वर्णन की कोई क्षमता नही रह जाती। अतएव स्वामी हरिदास का कहना है "अब मैं हरि के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु के पाने की इच्छा नही करता और उसका ही भजन करता हुआ मग्न होकर नाच रहा हूँ। हरि मेरा कर्त्ता है, मैं उसी की कृति मात्र हूँ और अपने मन को उसे समर्पित कर देता हूँ।"[३] "जब मैंने ज्ञान ध्यान तथा प्रेम की उपलब्धि की तो इस प्राप्ति के फलस्वरूप मैंने अपने आपको खो डाला।"[४] आदि।

परमात्म-तत्त्व

स्वामी हरिदासजी ने उस परमात्म-तत्त्व को साधारणत 'रामनिरजन', 'हरि निरजन' वा 'अलखनिरजन'-जैसे शब्दो द्वारा अभिहित किया है, किंतु उसकी व्याख्या करत समय इन्होने सदा प्राय वही शक्ति शैली अपनायी है जो अन्य सतो की है। इनका कहना है कि वह न तो उत्पन्न होता है, न नष्ट हुआ करता है। वह सदा और सर्वत्र एकरस बना हुआ वर्तमान है तथा वह आकाश की भाँति सब कही व्याप्त भी कहा जा सकता है। जिस प्रकार जलती हुई

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी स० १९९७, पृ० ८२ में उद्धृत।

१ वाणी, जोधपुर सस्करण, पद १, पृ० २२।

२ "अब मैं हरि बिन और न जाँचू, भजि भगवत मगन ह्वै नाचूं ॥टेक॥
हरि मेरा करता, हूँ हरि कीया, मैं मेरा मन हरि कूं दीया।"—वाणी, पृ० २२४।

३. 'ज्ञान ध्यान प्रेम हम पाया, जब पाया तब आप गँवाया। वही।

भक्ति का इसबापन सिद्ध किया जा सके।[1] निरंजनी सम्प्रदाय के संतों ने सगुणोपासना के प्रति किसी प्रकार का उपेक्षा-भाव प्रदर्शित न करके उसे अपने ढंग से अपनाया है। इसी प्रकार उन्होंने मूर्ति-पूजा-जैसी साधना का भी तिरस्कार न करते हुए, उसे उसके सच्चे रूप में स्वीकार करने का परामर्श दिया है। उदाहरण के लिए स्वामी हरिदास के अनुसार किसी देवल के प्रति वैर वा प्रीति का भाव रखने की वैसी आवश्यकता नहीं है।[2] उसी प्रकार तुरसीदास के अनुसार यह मूर्ति हमारे लिए अमूर्त की ओर लेजाने का एक महत्त्वपूर्ण साधन भी बन जा सकती है।[3]

सम्प्रदाय की विशेषताएँ

डॉ॰ बड़थ्वाल ने निरंजनी सम्प्रदाय की साधना में वेदांत-प्रभावित योग के कतिपय उदाहरण पाकर इसे नाथ-पंथ का एक विकसित रूप समझा है। कबीर पंथ तथा राधास्वामी-सत्संग के विचारानुसार निरंजन को काल-पुरुष मानने की प्रवृत्ति को देख कर इसे निर्गुन-पंथ (संत-मत) से भिन्न भी ठहराया है।[4] परन्तु इस प्रकार के वेदांत प्रभावित योग के अनेक उदाहरण संत-मत के कई अन्य पंथों वा सम्प्रदायों में जैसे दादूपंथ बावरीपंथ आदि की साधनाओं में भी न्यूनाधिक पाये जाते हैं। निरंजन को काल-पुरुष कहने की प्रवृत्ति भी उक्त कबीर वा राधास्वामी वाले पंथों के अंतर्गत पीछे चल कर ही दीख पड़ती है जिस कारण केवल इन्हीं दो बातों के आधार पर वैसा मत निश्चित करना ठीक नहीं है। निरंजनी सम्प्रदाय का मत तथा उसकी साधना उसी प्रकार के हैं, जैसे संत-मत में सामान्य रूप में भी दीख पड़ते हैं। यहाँ तक कि स्वयं इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास ने कबीर साहब के 'पंथ' वा मार्ग को ही अपने लिए *उपयुक्त* माना है। ऐसी दशा में यदि हम इस सम्प्रदाय की किन्हीं विशेषताओं का उल्लेख करना ही चाहें तो इसके लिए हमें इसे नाथ-पंथ तथा संत-मत के बीच की किसी

---

१ "तुरसी यह साधन भगति तर लौं सींची सोम।
तिन ऐसा फल पाइया, प्रेम मुक्ति फल जोय॥"—वही पृ० ८८।

२ 'नहिं देवल सूं वैरता नहिं देवल सूं प्रीति।
कृत्रिम तज मौलिक भजै या साधों की रीति॥" बानी, जोधपुर सं० । पृ० ८।

३ "मूरति में अमूरति बसै अमल आतमा राम।
तुरसी नरम बिसरामकी ताही को है नाम।"—ना० प्र० पत्रिका, पृ० ८५।

४ 'दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री' प्रीफेस पृ० २३।

व्याख्या अद्वैतवादी दृष्टिकोण से की है। उसी के अनुसार उसमें प्रेमा-भक्ति को भी जोडते हुए उसे दशवारूप तक दे डाला है जिसका एक परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है। इनके कथनानुसार श्रवण तथा कीर्तन क्रमश सारमत का श्रवण कर उसे अपने हृदय में धारण करना तथा उसी को नित्यश आत्मसात् करने की चेष्टा करना है।[1] इन्होंने इसी प्रकार ब्रह्म-भावना के जागृत करने को 'स्मरण' की सज्ञा दी है।[2] इनके अनुसार, हृदयस्थित परम ज्योति स्वरूप ब्रह्म का समस्त ब्रह्माड के अतर्गत ध्यान,[3] 'अर्चन', 'ॐ' का प्रतिरूप देखना तथा 'वदन', साधु, गुरु तथा गोविंद इन तीनों की अभेद भाव के साथ वदना करना है[4]। इसी प्रकार 'दास्य' से अभिप्राय हरि गुरु तथा साधु की निष्काम-भाव से निरतर सेवा करना,[5] 'सख्य' का अर्थ भगवान के प्रति बराबरी का अभिमान न रखते हुए भी, उसे जिस किसी भी मार्ग द्वारा प्राप्त कर लेने में विश्वास करते हुए उसको मित्रवत् समझने की भावना[6] तथा 'आत्मनिवेदन', राम के प्रति तन, मन तथा[7] आत्मा सब कुछ उसी की वस्तु मान कर समर्पित कर देना और इस प्रकार, उससे उऋण हो जाना है।[8] तुरसीदास इस नवधा भक्ति के वृक्ष को सीच कर उससे प्रेमा-भक्ति का फल स्प्राप्त करने की ओर भी सकेत करते हैं जिससे

---

१ "सार सार मत स्रवन सुनि, सुनि राखै रिद माँहि।
ताहीकौं सुनिबौ सुफल, तुरसी तपति सिराहि॥"—ना० प्र० पत्रिका, पृ० ८६।

२ "तुरसी ब्रह्म भावना यहै, नाम कहोवै सोय।
यह सुमिरन सतन कह्या, सारभूत सजोय॥"—वही, पृ० ८६-७।

३ "तुरसी तेजपुज के चरन वे, हाड चाम के नाहि।
वेद पुराननि वरनियें, रिदा कवल के माहि॥"—वही, पृ० ८७।

४ "तुरसीदास तिहुलोक में, प्रतिमा है ऊकार।
वाचक निर्गुण ब्रह्म को, वेदनि बरन्यो सार॥"—वही।

५ "गुरु गोविंद सतनि विषै, अभिन भाव उपजाय।
मगल सू वदन करै, तौ पाप न रहई काय॥"—वही।

६ "तुरसी बनै न दास कू, आलस एक लगार।
हरि गुरू साधू सेव मे, लगा रहै इक तार॥"—वही।

७ "बराबरी को भाव न जानै, गुन औगुन ताको कछू न आवै।
अपनो मित जानिबो राम, ताहि सपाप अपना धाम॥—वही।

८ "तुरसी तन मन आतमा, करहु समर्पन राम।
जाको ताहि के उरन होहु, छाडिहु सकल सकाम॥"—वही।

पंक्ति से यह भी प्रकट होता है कि अपनी उपासना की शैली विशेष के कारण वे स्वयं सर्वप्रथम 'निरंजनी' कहला कर प्रसिद्ध हुए होंगे। इसी कारण यदि इनके अतिरिक्त अन्य ११ व्यक्ति भी इस सम्प्रदाय के 'महंत' कहे गये होंगे तो उन्हें ऐसी पदवी संभवतः इनके साथ सहयोग के आधार पर ही मिली होगी।

वंशावली

केवल डीडवाणा और जोधपुर मंडलों की

डीडवाणा मंडल	जोधपुर मंडल
स्वामी हरिदास सं १५१२ ११	स्वामी हरिदास
पेमजी (बड़ा) मृ० सं १६१२	नारायणदासजी
चत्रदासजी मृ सं १६९४	हरीरामजी
पोकरदासजी मृ सं १६९९	रूपदासजी
दयालदासजी मृ सं० १७४५	सीतलदासजी
सेवादासजी सं १६९७-१७९८	लछमणदासजी
अमरपुरुषजी सं० १७५५ १८४२	गंगादासजी
नारायणदासजी	नृसिंहदासजी
दीनदासजी	मनछारामजी
जीवणदासजी	बलरामदासजी
श्रीरामदासजी	किसनदासजी
गोविंदरामजी	आशारामजी
हनुमानदासजी	पीतांबरदासजी
बालमुकुंदजी वर्तमान	(कोई वर्तमान महंत)

नानक-पंथ या सिक्ख धर्म

(१) उपलब्ध सामग्री

गुरु नानक देव की जीवनी और उनके अनंतर प्रचलित 'सिक्ख-धर्म' तथा 'नानक-सम्प्रदाय' के इतिहास की सामग्री बहुत कुछ अंशों में उपलब्ध है।

कडी की कल्पना करने की कोई आवश्यकता न होगी। इसकी एक विशेषता हम इस रूप में देख आये हैं कि निरजनियो के यहाँ किसी प्रकार के साम्प्रदायिक सगठन को उतना महत्त्व नही दिया जाता। इसी प्रकार इसके अनुयायियो मे सगुणोपासना अथवा मूर्ति-पूजा तक को किसी विरोध की भावना के साथ देखने की प्रवृत्ति नही है। इसी प्रकार इनके यहाँ वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रति भी किसी घोर तिरस्कार का भाव लक्षित नही होता। यह सम्प्रदाय वस्तुत किसी दलबदी की भावना से प्रेरित न होकर सामजस्य के अनुसार चलना चाहता है और यहाँ पर अविरोध (Toleration) की मात्रा भी अधिक है। जहाँ तक इसके ऊपर नाथ-पथ के प्रभाव की बात है इसकी यह विशेषता 'विश्नोई सम्प्रदाय', 'जसनाथी वा सिद्ध सम्प्रदाय' आदि कई अन्य ऐसे धार्मिक वर्गों में भी देखी जा सकती है जिनके यहाँ भी गुरु गोरखनाथ को आदि गुरु का महत्त्व मिला है।

साम्प्रदायिक वेशभूषादि

निरजनी सम्प्रदाय के अनुयायियो की वेशभूषा अधिकतर बहुत सादी ही पायी जाती है। इनके लिए जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है, केवल एक गूदडी मात्र तथा एक पात्र तक ही पर्याप्त रहा है। परन्तु इस समय इनमें से सभी केवल विरक्त भाव के साथ रहते ही नही दीख पड़ते, प्रत्युत इनमें साधारणत दो वर्ग भी बन गए पाये जाते हैं जिनमें से एक अर्थात् विरक्तो के समुदाय को 'निहग' तथा गृहस्थो वाले को 'घरबारी' कहा जाता है। निहग लोग कोई खाकी रग की गूदडी गले मे डाले रहते हैं और प्राय भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करते हैं। ये लोग कभी-कभी ऐसी गूदडी के साथ-साथ नाथो की-जैसी 'सेली' भी गले मे बाँधा करते हैं। इस समय बहुत-से निरजनी मूर्ति-पूजा करते हुए भी पाये जाते हैं। इस प्रकार कभी-कभी ऐसे लोगो तथा साधारण सगुणोपासक भक्तो में कोई अतर नही प्रतीत होता। जोधपुर वाले प्रात के डीडवाणे के निकट 'गाढा' नामक गाँव में प्रतिवर्ष फागुन सुदी १ से १२ तक एक मेला लगा करता है जहाँ पर सम्प्रदाय के अनुयायियो की एक बहुत बडी भीड, वहाँ पर सुरक्षित स्वामी हरिदासजी की गूदडी के दर्शन करने आती है। सम्प्रदाय के अनुयायी अधिकतर राजस्थान प्रदेश में ही पाये जाते हैं और अन्यत्र इनकी सख्या कम कही जाती है। उडीसा मे प्रचलित किसी ऐसे पथ का सबध अभी तक इसके साथ सिद्ध नही किया जा सका है, प्रत्युत राघोदास की स्वामी हरिदास के लिए लिखित

'नृमल नृवाणी निराकार कौ उपासवान,
नृगुणी उपासिकै निरजनी कहायौ है'

है और दूसरे न हैं जिन्हें देवत्व अथवा ईश्वरत्व तक की भावना से मुक्त करके 'निरंकारी' वा निराकार तक मान लिया गया है। ऐसे मानव सदेह कार्य करने-वाले होते हुए भी कभी-कभी इस प्रकार की अलौकिक घटनाएँ उपस्थित कर देते हैं जिनके सामने स्तब्ध हो जाना पड़ता है और जिन्हें सिवाय श्रद्धा-जनित काल्प-निक चमत्कार कहने के और कोई दूसरा मार्ग नहीं दीखता। जो हो वर्तमान सामग्रियों से अधिक प्रामाणिक आधार जब तक उपलब्ध नहीं होते और हमारे यहाँ महापुरुषों की जीवनियों का आलोचना-पद्धति के अनुसार लिखा जाना आरम्भ नहीं होता तब तक हमें ऐसी ही बातों पर संतोष करना पड़ेगा और उन्हीं में से तथ्य को छान-बीन के साथ निकाल कर स्वीकार करना होगा।

जन्म-काल तथा जन्म-स्थान

सिक्खों के पुराने धार्मिक साहित्य-संग्रहों के अनुसार गुरु नानकदेव का जन्म विक्रमी संवत् १५२६ के वैशाख मास शुक्ल पक्ष की तृतीया तदनुसार १५ अप्रैल सन् १४६९ ई० को राइ भोई के तलवंडी नामक गाँव में हुआ था। यह गाँव वर्तमान लाहौर नगर से दक्षिण-पश्चिम लगभग तीस मील की दूरी पर एक ऐसी जगह स्थित है जो गुजरानवाला तथा मांटगुमरी जिलों की सीमा के पास ही पड़ती है। इस भू भाग के इर्द-गिर्द पहले एक बहुत घना जंगल था जो पंजाब प्रांत के मध्यवर्ती वन-खंड का एक अंश था। तलवंडी का वातावरण अधिकतर जन-शून्य और सुनसान था और प्राचीन भारत की वन-भूमि का स्मरण दिलाता था। गुरु नानकदेव के पिता कालूचंद उसी गाँव के पटवारी थे जो खेती-बारी का धंधा भी करते थे। उनकी माता का नाम तृप्ता था जो रावी तथा व्यास नामक दो प्रसिद्ध नदियों के बीचवाली 'मांझा' या दोआबे की भूमि के निवासी किसी राम नामक व्यक्ति की पुत्री थी। उस समय पंजाब प्रांत में प्रचलित प्रथा के अनुसार माता को अपनी संतान की उत्पत्ति के समय अपने मायके जाना पड़ता था। इस कारण तृप्ता को भी अपनी प्रथम संतति को जन्म देते समय मांझा में जाना पड़ा था और उनकी पुत्री नाना के घर उत्पन्न होने के कारण 'नानकी' कहलायी थी। नानक का नाम भी उक्त नानकी बहन के नाम के अनुसरण में ही रखा गया और इसी नाम से ये आगे चल कर प्रसिद्ध भी हुए।

तलवंडी का बालकाल

उक्त गाँव को 'राइभोई' के तलवंडी नाम दिये जाने का कारण यह था कि वहाँ का प्रथम जमींदार राइभोई नाम का ही था। वह किसी भट्टी नाम की जाति का राजपूत था और मुसलमानों के आक्रमण के अनंतर इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुका था। गुरु नानकदेव के जन्म के समय राइभोई का वंशज

कबीर साहब के विषय में कदाचित् आरभ से ही लिखने-पढनेवालो का अभाव-सा रहा। तदनुसार हमें दीख पडता है कि एक ओर जहाँ कबीर साहब का नाम पहले-पहल केवल प्रसगवश ही सुनने में आता है, जिस कारण वैसी साधारण बातो की ओर से सहसा आँखें मूंदते हुए एच० एच० विल्सन-जैसे खोजी विद्वानो को भी उन्हें कोई काल्पनिक व्यक्ति मात्र मान कर उनके नाम 'कबीर' का किसी अन्य मनुष्य का केवल उपनाम-मात्र होना अनुमान करना पडता है[1], तो दूसरी ओर गुरु नानक देव का देहात होते ही उनके सम-कालीन व्यक्तियो द्वारा उनके जीवन की छोटी-छोटी-सी बातें भी लिखी जाने लगती हैं और कालातर में उनके आधार पर अनेक 'जनम साखियो' की सृष्टि हो जाती है। इसी प्रकार हमें यह भी पता चलता है कि एक ओर जहाँ कबीर साहब के द्वारा किये गए किसी ऐसे यत्न का सकेत नही मिलता जिससे उन्होने अपने उपदेशो का प्रचार करने का कभी निश्चय किया हो, वहाँ दूसरी ओर हमें इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि गुरु नानकदेव ने अपने अतिम समय में अपने स्थान पर गुरु अगद को स्वय बिठलाया था। उनके सामने पाँच पैसे तथा एक नारियल अर्पित कर अपने सारे अनुयायियो को उन्हें अपनी जगह अगला गुरु मानने का अनुरोध भी किया था। इसके सिवाय हमें यह भी विदित है कि गुरु नानकदेव की वाणियो को सग्रह कर उन्हें सुरक्षित रखने की परिपाटी भी उनकी मृत्यु के कुछ ही पीछे आरभ हो गई थी और इस नियम आ पालन अन्य गुरुओ की कृतियो के सबध में भी होता आया। किंतु कबीर साहब की रचनाओ की प्रामाणिकता मे आज भी अनेक प्रकार का सदेह किया जाता आ रहा है और किसी भक्ति-विशेष को उनकी कृति मान लेने वा ऐसा न करने के लिए अभी तक कोई निश्चित आधार वा आदर्श प्रस्तुत नही किया जा सका है। वास्तव में गुरु नानकदेव को एक ऐतिहासिक व्यक्ति, उनके द्वारा प्रवर्तित मत को एक सुव्यवस्थित तथा सुसगठित सम्प्रदाय का सिद्धात तथा उनके अनुयायियो को ऐतिहासिक परिस्थितियो के अनुसार विकसित एक धार्मिक समाज हमें मान लेना ही पडता है।

(२) गुरु नानकदेव दो प्रकार के नानक

फिर भी गुरु नानकदेव तथा उनके अनतर आनेवाले अन्य सिक्ख गुरुओ के जीवन-चरित्रो पर अभी तक पौराणिकता की छाप बहुत अशो तक लगी हुई दीख पडती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारे सामने इस समय कम से कम दो प्रकार के नानक दीख पड रहे हैं जिनमें एक तो ऐतिहासिक

---

१. एच० एच० विल्सन रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दुज, पृ० ६९ की टिप्पणी।

चिंतन के आवेश में कभी-कभी ये एक प्रकार की मस्ती का जीवन भी व्यतीत करने लगे।

नौकरी

परन्तु उक्त सभी बातें इनके सांसारिक माता-पिता को प्रिय नहीं जान पड़ती थी और वे इन्हें क्रमशः बहकता हुआ समझने लगे। उन्होंने इन्हें इसी कारण कई बार किसी न किसी कारोबार में लगा देना भी चाहा किंतु कभी सफलता न मिली। ये अपनी भैंसें चराने अथवा खेत की रखवाली करने में भी कभी सावधानी नहीं दिखलाते थे और बहुधा इनके द्वारा हानि भी हो जाया करती थी। कालांतर में जब इनकी बड़ी बहन नानकी का विवाह हो गया और वह विदा होकर अपनी ससुराल सुलतानपुर चली गई तब एक बार अपने माता-पिता की भिड़की पाकर ये भी उसके यहाँ गये और उसके पति जयराम की सहायता पाकर दौलत खाँ लोदी के किसी कर्मचारी की देख-रेख में इन्होंने मोदीखाने की नौकरी कर ली।

गार्हस्थ्य जीवन

अपनी बहन के विवाह के अनंतर इनका भी विवाह बटाला जिला गुरदासपुर निवासी मूला नामक व्यक्ति की पुत्री सुलक्खनी के साथ हो गया था किंतु इनकी स्त्री अधिकतर अपने मायके में ही रहा करती थी। गुरु नानकदेव के गार्हस्थ्य-जीवन के विषय में अधिक पता नहीं चलता। इतना ही प्रसिद्ध है कि पत्नी और पति के पारस्परिक भाव आदर्श कहे जाने योग्य न थे न कभी एक साथ बहुत काल तक दोनों रहते ही रहे। काल पाकर इन्हें दो पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें से एक का नाम श्रीचंद था और दूसरे का लक्ष्मीचंद था। पत्नी तथा पति का वियोग किसी कारण उक्त पुत्रों के बाल्यकाल में ही हो गया जिससे माता उन्हें लेकर अपने मायके में रहने लगी और पिता घर छोड़ कर भ्रमण करने लगे।

भाव-परिवर्तन

कहते हैं कि मोदीखाने की नौकरी करते समय एक बार जब गुरु नानकदेव आटा तौल रहे थे तब तराजू का कम गिनते समय तेरह तक आते-आते इन्हें अचानक भावावेश हो आया और वे बड़ी देर तक 'तेरा' 'तेरा' ही करते रह गए। परिणाम-स्वरूप इन्होंने उचित से कहीं अधिक आटा तौलकर दे डाला और इनके स्वामी को इनकी भूल के कारण हानि उठानी पड़ गई। तत्पश्चात् इन्हें अपनी नौकरी से भी हाथ धोना पड़ा और विरक्त होकर ये देश भ्रमण के निमित्त वहाँ से निकल पड़े। इसके पहले एक दिन नहाने जाकर ये तीन दिनों के लिए कहीं जंगल में गुम हो गए थे। कहा जाता है कि वहाँ पर इन्हें किसी ज्योति वा ज्योतिर्मय पुरुष के दर्शन हुए थे। उस दर्शन से प्रभावित होकर इन्होंने और भी मस्ती

राय वुलर वर्तमान था और उसने उक्त गाँव की रक्षा के लिए उसकी सीमा पर एक दुर्ग भी वना लिया था। राय वुलर में धार्मिक सहनशीलता वहुत अच्छी मात्रा में विद्यमान थी। उसके द्वारा शासित ग्रामीण समाज मे विद्वेष की भावना की जगह प्रेम और सद्भाव सदा वना रहता था और वहाँ के लोग पूरे सुख तथा शाति का जीवन व्यतीत करते थे। गुरु नानकदेव के प्रारभिक जीवन का वातावरण भी इसी कारण वहुत शात तथा निरापद रहा और उनके वचपन की सुखद स्मृतियाँ इन्हें आगे चल कर सदा उत्साहित भी करती रही। तलवडी गाँव का नाम कुछ दिनो के अनतर रामपुर भी रखा गया था, किंतु गुरु नानकदेव का जन्म-स्थान होने के कारण वह आजकल अधिकतर 'नानकाना' करके ही प्रसिद्ध है।

वचपन

अपने वचपन की अवस्था मे गुरु नानकदेव वडे शात स्वभाव के थे। इन्हें पाँच वर्ष की वय में जव अक्षरारभ कराया गया, तव इन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा दिखलायी और अपनी विलक्षण वुद्धि के कारण सवको चकित कर दिया। क्रमानुसार इन्हे पजावी, हिंदी, सस्कृत तथा फारसी की शिक्षा दी गई और प्रत्येक अवसर पर इनके शिक्षको ने इन्हे असाधारण वालक पाया। कहा जाता है कि सय्यद हुसेन नाम के किसी ग्रामीण मुसलमान ने इनके प्रति वाल्यावस्था मे अपनी सतान की भाँति स्नेह प्रदर्शित किया और कई वार एकात मे ले जाकर इन्हे इस्लाम-धर्म के सूफ़ी सम्प्रदाय की अनेक वातो से अवगत भी कराया था। परन्तु वालक नानक का ध्यान जितना पुस्तको अथवा शिक्षको की वातो मे नही लगता था, उतना अपने एकातवास और चितन की ओर आकृष्ट होता था। ये वहुधा अपने पासवाले जगल के किसी भाग मे जाकर घटो तक कुछ न कुछ विचार किया करते थे। कहा जाता है कि उक्त वन के भीतर कभी-कभी इन्हे एकाध ऐसे महात्माओ का साक्षात् भी हुआ था जिनके दर्शन तथा सत्सग का इनके ऊपर आश्चर्यजनक प्रभाव पडा और जिनके कारण इन्हे एक आध्यात्मिक मार्ग ग्रहण करने मे पूरी सहायता मिली। उस समय के वालक वा युवा नानक को दर्शन देकर प्रभावित करनेवाले किसी महापुरुष का इस समय कोई पता नही लगता। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उक्त भू-खड के प्राकृतिक वातावरण ने भी इन्हे अपने आध्यात्मिक चितन की प्रवृत्ति को जागृत कर उसे शक्ति प्रदान करने मे कम सहायता नही पहुँचायी होगी। इस प्रकार पढने-लिखने के विचार से तो इन्हे कुछ हिंदी, कुछ सस्कृत तथा फारसी की काफी शिक्षा मिली ही, इसके साथ ही इन्हे स्वय सोचने तथा विचार करने का भी पूर्ण अभ्यास हो गया और आत्म-

मे दीक्षित समझें इन्हें हिन्दू मानें अथवा मुसलमान। हरद्वार से ये दोनों साथी देहली और पीलीभीत होते हुए काशी पहुँचे। फिर वहाँ से गया होते हुए कामरूप तथा जगन्नाथपुरी जाकर लौट आए।

गुरु नानकदेव तथा शेख फ़रीद

पूर्व की यात्रा समाप्त कर पंजाब लौट आने के अनंतर ये लोग अजोधन वा पाकपट्टन की ओर शेख फरीद से मिलने गये। ये शेख फरीद प्रसिद्ध बाबा फ़रीद 'शकरगंज' की वंश-परंपरा के थे और इनका नाम शेख बह्रा (इब्राहिम) वा शेख फरीद द्वितीय था। गुरु नानकदेव तथा शेख फरीद के बीच बड़ी देर तक सत्संग होता रहा और वे दोनो रात को एक साथ जंगल मे ठहरे भी रहे। वहाँ से गुरु नानकदेव ने अपने निवास-स्थान तलवंडी लौटकर अपने माता-पिता से भेंट की। फिर वहाँ से पश्चिम की ओर चलकर घूमते-घामते ये लोग दुबारा पाकपट्टन गये और शेख फ़रीद द्वितीय के साथ इनका पुनर्वार सत्संग हुआ। कहते हैं कि इसी यात्रा के अवसर पर उत्तर की ओर लौटते समय गुरु नानकदेव के साथ बाबर बादशाह से भी भेंट हुई थी। फिर ये लोग सियालकोट होते हुए काबुल तक भी गये थे। वहाँ से लाहौर की ओर लौट कर किसी दुनीचंद को श्राद्ध के अवसर पर उपदेश दिये थे। गुरु नानकदेव ने फिर वहाँ से उत्तर-पूर्व की ओर जाकर किसी लक्षपती धनी को इतना प्रभावित किया कि उसने रावी के किनारे करतारपुर नामक एक नगर बसाना आरंभ कर दिया और एक सिक्ख मंदिर वहाँ पर बनवा कर उसे गुरु को अर्पित कर दिया।

भजन-गान

गुरु नानकदेव ने रात्रि के पिछले पहर मे भजन गाने की प्रथा चलायी। उनके पीछे खड़ा होकर भजनों को प्रेमपूर्वक श्रवण करनेवाला एक सात वर्षों का 'बूरा' नामक बालक वहाँ नियमपूर्वक आने लगा। गुरु के प्रश्न करने पर उसने अपने वहाँ उपस्थित होने का कारण इस प्रकार बतलाया 'एक दिन मेरी माँ ने मुझे आग जलाने के लिए कहा था। जब मैंने लकड़ियाँ जलाने के लिए लगायी तब देखा कि छोटी-छोटी टहनियाँ पहले जल जाती हैं और बड़ी-बड़ी लकड़ियों की बारी पीछे आया करती है। यह देख कर मुझे भय हो गया कि कम अवस्थावाले पहले मर जायँगे और बड़ो की बारी पीछे आयगी। यही विचार कर मैंने आपके भजनो का श्रवण करना उचित समझा।' गुरु नानकदेव इसे सुन कर बहुत प्रसन्न हुए और वैसे गंभीर कथन के कारण उस बालक का नाम बूरा की जगह 'बुड्ढा' रख दिया। यह भाई बुड्ढा अंत मे १ ७ वर्षों का होकर मरा और अपने समय में इसने पाँच गुरुओं को अपने हाथ से उनके आसन पर तिलक द्वारा अभिषिक्त

दिखलायी, घर आकर अपनी वस्तुएँ दूसरो को बाँटने लगे और इन्होने अपनी वेश-भूषा मे भी परिवर्तन कर लिया। ये अब अधिकतर 'ना हिन्दू ना मुसलमान' के भाव से भरे उपदेश देने लगे और अपनी उदाराशयता द्वारा इन्होने सभी लोगो को चकित कर दिया। इन्हे अब ससारी वा घरेलू बातो मे तनिक भी जी नही लगता था और ये सदा उदासीन बने रह कर बातचीत भी किया करते थे। इनका इस अवसर पर सबसे पक्का साथी 'मर्दाना' नाम का एक गवैया था, जो इनकी नौकरी के समय मे इनके साथ रहने तलवडी से आ गया था। वह इनके भजन गाते समय रबाब नामक बाजा बजा कर इनका साथ दिया करता था।

भ्रमण तथा पूर्व की यात्रा

भ्रमण करने जाते समय मर्दाना भी इनके साथ हो लिया और दोनो वहाँ से चल कर पहले-पहल सैयदपुर (वर्तमान अमीनाबाद) पहुँचे। वहाँ पर ये लोग किसी लालो नामक बढई के घर ठहरे और उसके यहाँ भोजन किया। बढई की गणना शूद्रो मे की जाती थी, इसलिए वहाँ के समाज मे उक्त व्यवहार के विषय मे बुरा-भला कहा गया। किंतु गुरु नानकदेव इससे विचलित नही हुए और वर्ण-व्यवस्था को अनावश्यक ठहरा कर इन्होने बढई के परिश्रम से कमाये गए अन्न को अत्यत पवित्र बतलाया। बढई के यहाँ दो-चार दिनो तक आतिथ्य ग्रहण कर तथा जनता मे अपने सिद्धातो का प्रचार करते हुए ये मर्दाना के साथ फिर कई अन्य गाँवो मे भी पहुँचे। अत मे कुरुक्षेत्र मे ग्रहण के अवसर पर उपदेश देते हुए हरद्वार गये जहाँ मेला लगा हुआ था। वहाँ पर प्रात काल स्नान करते समय लोग पितरो का तर्पण कर रहे थे। गुरु नानकदेव ने उनके सामने पूर्व की जगह पश्चिम ओर ही जल उलीचना आरभ कर दिया। लोगो के पूछने पर बतलाया कि जिस प्रकार तुम्हारा दिया हुआ जल तुम्हारे पितरो तक पहुँच सकता है, उसी प्रकार यह मेरा उलीचा हुआ जल भी मेरे बोये हुए दूर के खेतो को सीचने के लिए पहुँचाया जा सकता है। इस उक्ति को सुन कर पहले तो लोगो ने इन्हें पागल समझा, किंतु फिर इनके दिये हुए अन्य उपदेशो को सुन कर इनसे प्रभावित हो गए।

वेश-भूषा

गुरु नानकदेव अपनी इस यात्रा के अवसर पर अपने सिर पर मुसलमान कलदरो वा सन्यासियो की टोपी वा पगडी धारण करते थे। अपने ललाट पर हिन्दुओ की भाँति केशर का तिलक लगाते थे और गले मे हड्डियो के मनको की एक माला डाल लेते लेते थे। इनके शरीर पर इसी प्रकार एक लाल वा नारगी के रग की जैकेट रहा करती थी जिस पर ये एक सफेद चादर डाले रहते थे। इनकी वेश-भूषा से लोगों को सहसा पता न चलता था कि वे इन्हे किस धर्म वा सम्प्रदाय

अंतिम समय

गुरु नानकदेव ने अपना अंतिम समय निकट जान कर अपने प्रिय शिष्य 'लहिना' को अपना उत्तराधिकारी बना दिया। इन्होंने अपने दोनों पुत्रों की उनकी अयोग्यता के कारण उपेक्षा कर दी और इस प्रकार उन्हें असंतुष्ट भी कर दिया। इन्होंने लहिना को आसन पर बिठला कर उसके सामने विधिपूर्वक पैसे तथा नारियल की भेंट अर्पित की। उसके प्रति स्वयं सिर झुका कर अन्य शिष्यों को भी उसे गुरु मानने का उपदेश किया। गुरु नानकदेव ने आत्मीय होने के नाते लहिना' का नाम गुरु 'अंगद' रख दिया और आगे चल कर उसका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। गुरु नानकदेव अपने अंतिम समय में एक वृक्ष के नीचे जा बैठे और भजन गानेवाली सिक्खों की मंडली के मध्य आत्म-चिंतन में मग्न हो गए। जब 'जपुजी' की अंतिम पंक्तियों का पाठ हो रहा था उसी समय इन्होंने अपने शरीर पर चादर ओढ़ ली और 'वाह गुरु' कहते-कहते शांत हो गए। इनकी मृत्यु आश्विन शुक्ल १ को करतारपुर के निवास-स्थान पर संवत् १५९५ सन् १५३८ ई० में हुई थी।

रचनाएँ

गुरु नानकदेव ने समय-समय पर अनेक पदों की रचना की थी जो आगे चल कर अन्य गुरुओं की रचनाओं के साथ 'आदि ग्रंथ' में संगृहीत हुए और जो आज तक उनके अनुयायियों द्वारा बड़ी भक्ति तथा श्रद्धा के साथ गाये जाते हैं। उनकी मुख्य रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध 'जपुजी' है जो प्रत्येक सिक्ख को प्रिय है और जिसे वह प्रति दिवस प्रातःकाल शांतिपूर्वक पढ़ा करता है। इसमें कुल ३८ छंद हैं और इसके आदि तथा अंत में भी एक सलोक है जिसके अंतर्गत उनके उपदेशों का सार आ जाता है। यह सिक्ख धर्म के अनुयायियों के लिए वैसा ही महत्त्वपूर्ण है जैसी हिंदुओं के लिए 'श्रीमद्भगवद्गीता' की पुस्तक समझी जाती है। इसी प्रकार इनकी एक दूसरी प्रसिद्ध रचना 'आसा दी वार' है जो ईश्वर की स्तुति के रूप में है और जो उक्त 'जपुजी' के अनंतर पढ़ी जाती है। इसके अंतर्गत २४ 'पौड़ियाँ' हैं जिनके बीच-बीच में गुरु नानकदेव तथा कहीं-कहीं पर गुरु अंगद के भी कुछ सलोक सम्मिलित कर लिये गए हैं। इनके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में से कुछ 'रहिरास' नामक पद-संग्रह में आती हैं। ये अन्य गुरुओं की भी वैसी ही रचनाओं के साथ सूर्यास्त के समय पढ़ी जाती हैं। कुछ को 'सोहिला' नामक संग्रह में स्थान मिला है जिसका 'सोवन वेला' अर्थात् सोने के समय पाठ हुआ करता है। इस संग्रह में भी अन्य गुरुओं की रचनाएँ रखी गई हैं। गुरु नानकदेव की शेष रचनाएँ फुटकर पदों आदि के रूप में 'गुरुग्रंथ साहब' के अंतर्गत भिन्न-भिन्न रागों में

किया। करतारपुर मे गुरु नानकदेव के निवास-स्थान पर प्रति दिन 'जपुजी' तथा 'असा दी वार' का पाठ हुआ करता था और तब इनके अन्य भजनो का गान होता। भजनो तथा पदो की व्याख्या हो जाने पर 'गगन मैं थाल' आदि पक्तियो द्वारा आरती की जाती और तब जलपान किया जाता। तीसरे पहर फिर गान होता और तब सध्या समय 'सोदर' का पाठ हो जाने पर सभी सिक्ख एक साथ भोजन किया करते। गाने का क्रम उसके अनतर भी एक बार चला करता था और अत मे 'सोहिला' का पाठ समाप्त हो जाने पर लोग सोने जाते थे। गुरु नानकदेव ने अब यात्रावाली वेश-भूषा का त्याग कर दिया था और अपनी कमर मे एक दुपट्टा, कधे पर एक चादर तथा सिर पर एक पगडी-मात्र धारण करने लगे थे। उस समय तक वहाँ तथा कतिपय अन्य स्थानो पर भी भिन्न-भिन्न सिक्खो की समितियाँ बनने लगी थी और वे एक पृथक् समाज के रूप मे अपने को समझते हुए अपने मत का यत्र-तत्र प्रचार भी करने लग गए थे।

अन्य यात्राएँ

ऐसे ही समय मे गुरु नानकदेव एक बार दक्षिण की ओर भी यात्रा करने निकल गये थे। मार्ग मे जैनियो तथा मुस्लिम फकीरो के साथ सत्सग करते हुए इन्होने उनके प्रति अनेक उपदेश दिये। प्रसिद्ध है कि अत मे किसी प्रकार सिहल द्वीप तक पहुँच गए। सिहल द्वीप मे इन्होने राजा शिवनाभ के उद्यान मे अपना डेरा डाला और फिर वही पर इन्हे उस राजा से भेंट भी हुई। यही पर निवास करते समय, कहा जाता है कि इन्होने 'प्राणसगली' नामक ग्रथ की रचना की थी और सैदो तथा घट्टो ने उसे पीछे से लिपिबद्ध किया था। सिहल द्वीप से लौटने पर गुरु नानकदेव ने अचल बटाला नामक स्थान पर लगनेवाले शिवरात्रि के मेले की यात्रा की, जहाँ पर इन्होने अनेक योगियो के साथ सत्सग किया। वहाँ से फिर ये कश्मीर की ओर भी गये, जहाँ से लौटने पर इनकी यात्रा पश्चिम की ओर आरभ हुई। प्रसिद्ध है कि पश्चिम दिशा मे ये मुसलमानो के पवित्र स्थान मक्के तक पहुँचे थे और वहाँ पर काबे की ओर अपने पैर फैला कर लेट गए थे। इन्हे ऐसी विचित्र स्थिति मे पाकर किसी अरब देश-निवासी पुजारी ने इन्हे ठोकर लगा कर जगाया और डाँट कर पूछा कि तुम अल्लाह की ओर अपने पैर क्यो फैलाते हो। गुरु नानकदेव ने इसके उत्तर मे उससे कहा कि जिस ओर अल्लाह न हो, उस ओर मेरी टाँग घुमा कर छोड दो। परन्तु कहा जाता है कि अरबो ने इनकी टाँग पकड कर जिस-जिस ओर घुमाया, उसी ओर काबे का रुख भी फिरता गया। अत मे उसे हार मान लेनी पडी। गुरु नानकदेव के साथ वहाँ पर अनेक मुस्लिम फकीरो का सत्सग हुआ और फिर ये मदीना जाकर बग़दाद होते हुए लौट आये।

रहा करते थे। एक दिन जब वे इसी प्रकार की बातें सोच रहे थे कि उनके भतीजे के साथ हाल ही की ब्याही गई बीबी अमरू के सुरीले कंठ से निकलता गुरु नानकदेव के एक पद का कुछ अंश सुनायी पड़ा। बीबी अमरू गुरु अंगद की ही पुत्री थी और वह बाबा नानक द्वारा रची गई मारू राग की कुछ पंक्तियाँ[1] गा रही थी। उस संगीत ने अमर दास के ऊपर एक विचित्र जादू डाल दिया और इन्होंने उसके निकट जाकर उसे बार-बार दुहराने की प्रार्थना की। उसे सुन कर और याद कर ये बहुत प्रसन्न हुए और गुरु अंगद से भेंट करने का निश्चय किया। बीबी अमरू ने इन्हें ले जाकर गुरु अंगद के निकट पहुँचा दिया और अमरदास उनके यहाँ शिष्यवत् रहने लगे।

अमर की गुरु-भक्ति

एक बार किसी गोविंद नामक व्यक्ति ने किसी मुकदमे में सफलता पाने के उपलक्ष में व्यास नदी के किनारे एक नया नगर बसाने की इच्छा प्रकट की। उसमें नाम लगा कर गुरु अंगद से आवश्यक सहायता प्राप्त करनी चाही। गुरु अंगद ने अपने शिष्य अमरदास को अपनी छड़ी देकर भेज दिया। अमरदास ने गोविंद को नगर निर्माण में अनेक प्रकार के परामर्श दिये और इधर गोविंद ने गुरु अंगद के लिए वहाँ पर एक सुंदर महल भी बनवा दिया। अमरदास तब से उसी मकान में गुरु अंगद की आज्ञा पाकर निवास करने लगे। वह नगर पहले 'गोविंदवाल' कहला कर, फिर गोइंदवाल नाम से प्रसिद्ध हो गया। अमरदास गोइंदवाल में नित्य प्रति पहर भर रात शेष रहे उठा करते और व्यास नदी से पानी लेकर गुरु अंगद को स्नान कराने खडूर तक जाते। रास्ते में 'जपुजी' का पाठ भी करते जाते जो गोइंदवाल तथा खडूर के बीच मार्ग में ही बहुधा समाप्त हो जाया करता था। खडूर में वे 'आसा दी वार' का भजन सुन कर फिर गुरु की रसोई के लिए भी पानी भरते थे और उनके बर्तनों को माँज कर जंगल से लकड़ी भी ला दिया करते थे। इस प्रकार संध्या समय भी 'सोदर' का भजन श्रवण कर वे नित्यशः अपने गुरु के पैर दबाया करते थे और उन्हें सुला कर फिर पीठ की ओर से ही गोइंदवाल वापस चले जाते थे। खडूर के निकट ही जुलाहों का एक गाँव था और उनके घरों के आसपास बुनते समय उनके पैर रखने के लिए गड्ढे खुदे हुए थे। एक

---

१ 'करणी कागदु मनु मसवाणी बुरा भला दुइ लेख पए।
जिउ जिउ किरतु चलाए तिउ चलीए तउ गुण नाही अंतु हरे ॥१॥
चित चेतसि की नही बावरिआ हरि बिसरत तेरे गुण गलिआ ॥'
इत्यादि रागु मारू म० १, पृ० ९९० १।

महला १ के नीचे संगृहीत हैं। इनमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषय-जैसे ब्रह्म, माया, नाम गुरु, आत्म-ज्ञान, भक्ति, नश्वरता आदि का वर्णन वा प्रतिपादन किया गया है। कहीं-कहीं पर इनकी विनती, चेतावनी तथा प्रेमोद्गार से संबद्ध अनेक सुंदर पंक्तियों के भी नमूने दीख पड़ते हैं। इन पदों में सांसारिक मनुष्यों की झूठी विडंबना, सच्चे भक्तों तथा संतों की वास्तविक साधना तथा उनकी रहनी वा व्यवहार का भी एक अच्छा परिचय मिलता है। गुरु नानकदेव ने अपनी ओर जहाँ कहीं भी संकेत किया है, वहाँ अपनी नम्रता तथा हृदय की सचाई ही प्रदर्शित की है। इनकी रचनाओं में कुछ ऐतिहासिक प्रसंग भी आये हैं जो बहुत संक्षिप्त रूप में हैं।

(२) गुरु अंगद

प्रारंभिक जीवन

गुरु अंगद का प्रथम नाम लहिना था और जैसा पहले कहा जा चुका है, गुरु नानकदेव ने इन पर प्रसन्न होकर इन्हें यह नाम प्रदान किया था। इनके पिता का नाम फेरू था और वे वर्तमान फीरोज़पुर जिले के 'मत्ते दी सराय' नामक स्थान के रहनेवाले एक व्यापारी थे। अपनी व्यापारिक उन्नति के उद्देश्य से वे अपना जन्म-स्थान छोड़ कर हरिके नामक गाँव में चले आए और उन्होंने दया कुँवरि के साथ विवाह कर लिया। इसी दया कुँवरि के गर्भ से लहिना का जन्म मिती ११ वैशाख संवत् १५६१ वि० सन् १५०४ ई० को हुआ था। लहिना ने भी समय पाकर 'मत्ते दी सराय' की खीवी नाम की स्त्री के साथ विवाह किया और ये दोनों परिवार फिर अपने उस पहले गाँव को ही वापस चले आए। इसी गाँव में रहते समय लहिना को दातू और दासू नामक दो पुत्र और अमरू नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई। परन्तु मुगलों का आक्रमण होने के अवसर पर 'मत्ते दी सराय' नष्ट-भ्रष्ट हो गया और फेरू के उक्त दोनों परिवार वहाँ से विवश होकर अमृतसर जिले की तरणतारण तहसील के खडूर गाँव में चले आए।

नानकदेव से भेंट तथा लहिना से अंगद

लहिना शक्ति के उपासक थे, किंतु खडूर में एक बार किसी जोधा नामक सिक्ख के मुँह से 'असा दी वार' की कुछ पंक्तियाँ गायी जाती सुन कर उनके द्वारा इतने प्रभावित हुए कि इन्होंने उसके पास जाकर उसके रचयिता बाबा नानक के विषय में पूछताछ आरंभ की। जब इन्हें उससे पता चला कि वे रावी नदी के किनारे बसे हुए करतारपुर में रहते हैं, तब ये उनके दर्शनों के लिए बेचैन हो गए। जब ये अपने गाँववालों के साथ ज्वालामुखी भगवती की तीर्थ-यात्रा के लिए निकले, तब मार्ग में करतारपुर ठहर गए। वहाँ गुरु नानकदेव का प्रभाव इनके ऊपर

इतना गहरा पड़ा कि इन्होंने न घूँघरू आदि जिन्हें पहन कर ये भगवती के सामने नाचने जा रहे थे फेंक दिये और आर्त्त हो उनके चरणों पर गिर कर अपनी शरण में ले लेने की बार-बार प्रार्थना करने लगे। गुरु नानकदेव ने इन्हें अपने घर जाकर एक बार देखभाल कर आने का आदेश दिया किंतु ये वहाँ अधिक दिनों तक नहीं ठहर सके और कुछ कपड़े तथा एक भारी नमक लेकर फिर गुरु के घर आ गए। गुरु नानकदेव उस समय अपने पशुओं के लिए घास लाने खेत में गये थे। लहिना वहीं पर पहुँच गए और वहाँ बँधी हुई तीन गठरियों को एक साथ अपने सिर पर लेकर उनमें लगी हुई मिट्टी के कारण मैले-कुचैले बनते हुए अपने गुरु के घर आये। गुरु ने इनकी भक्ति की परीक्षा और भी कई बार की तथा अपने पुत्रों की तुलना में इन्हें सभी अवसरों पर अधिक योग्य और सच्चा पाया। एक बार जब अति वृष्टि के कारण गुरु नानकदेव की कच्ची दीवार गिर पड़ी थी तब इन्हें अपने गुरु की आज्ञा से उसे तीन बार तक गिरा-गिराकर फिर से उठाना पड़ा था। अंत में गुरु नानकदेव इनसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने पुत्र श्रीचंद तथा लक्ष्मीचंद के अधिकार की ओर ध्यान न देकर इन्हें ही अपनी जगह बिठा दिया। गुरु अंगद बन कर बैठते समय भाई बुड्ढा ने इनके ललाट पर तिलक लगाया और गुरु नानकदेव की आज्ञा से ये खडूर में जाकर रहने लगे।

गुरु का विरह तथा दैनिक कार्यक्रम

गुरु नानकदेव का देहांत हो जाने पर इन्हें उनके वियोग का इतना गहरा अनुभव हुआ कि ये बहुत उदास रहने लगे। इन्होंने एक जाट की लड़की से उसका एक कमरा लेकर उसमें अपने को छिपा लिया और बाहर की बाधा के भय से उस पर एक ताला भी लगवा दिया। ये उस समय सिवाय एक प्याला दूध के और कुछ भी खाते-पीते नहीं थे और भीतर बैठ कर सदा गुरु के ध्यान तथा चिंतन में लगे रहते थे। जब इनके सिक्ख अनुयायियों को इनका पता न चला और वे बहुत घबड़ाने लगे तब बुड्ढा ने यत्न करके इनकी खोज की और इन्हें बाहर निकाला। तब से ये बराबर बाहर रहने लगे और अपने दैनिक जीवन का क्रम निश्चित करके नियमानुसार सिक्खों को उपदेशादि देने लगे। ये नित्य प्रति प्रातःकाल तीन घड़ी रात शेष रहे उठ जाया करते ठंडे पानी से स्नान करते कुछ समय तक ध्यान तथा आत्म-चिंतन करते। रागियों द्वारा आसा दी वार' का गान सुनते फिर जाकर रोगियों और विशेषकर कोढ़ियों की देख भाल करते। गुरु नानकदेव की शिक्षाओं पर उपदेश देते उपस्थित जनता को भोजन कराते कभी-कभी बच्चों के खेल देखा करते और अंत में अपने दरबार में बैठा करते थे। इनका कहना था कि बच्चों का हृदय सदा शुद्ध तथा सरल रहा करता है और उन पर किसी प्रकार के शोक का

दिन पानी लाते समय इन्हीं मे से किसी गढे मे अमरदास का पैर भूल से पड गया और ये गिर पडे। इसकी आवाज सुन कर जुलाहे घर मे निकल आये और 'चोर-चोर' चिल्लाने लगे। परन्तु वाहर आते ही उन्होने अमरदास को 'जपुजी' का पाठ करते हुए पाया और इन्हे वही 'नियावा अमरू' समझ कर अपनी दया दिखलायी।

अतिम समय

अमरदास, इस प्रकार सेवा करते-करते गुरु अगद के प्रिय शिष्य हो गए और इन पर उनकी बडी कृपा दिखलायी देने लगी। अमरदास इनके हाथो से प्रति वर्ष दो वार कुछ कपडे पाया करते थे, जिन्हे वे श्रद्धा के साथ अपने सिर पर बाँध लेते थे। अत मे उनके ऐसे वस्त्र वारह की सख्या तक पहुँच गए थे और उनके सिर पर एक वहुत वडी पगडी तैयार हो गई थी। अमरदास ने एक वार भक्ति के आवेश मे अपने गुरु की विवाई से मुँह लगा कर उसका खून तक चूस लिया था और इसमे तनिक भी घृणा वा कष्ट का अनुभव नही किया था। वे अव तक स्वय भी वृद्ध हो चले थे और उनकी अनेक दु साध्य सेवाओ को देख कर औरो का हृदय द्रवित हो जाता था। इसी कारण गुरु अगद ने एक वार जुलाहो वाली उक्त घटना के अनतर उन्हे प्रेमपूर्वक अपने निकट वुलाया, नहलाया, नवीन वस्त्र धारण कराया और अपने स्थान पर उन्हे विठला कर पाँच पैसे और एक नारियल उनके सामने भेंट के रूप मे रख दिया। भाई वुड्ढा से कहा कि उन्हे नियमानुसार ललाट पर तिलक देकर अभिषिक्त कर दें। फिर अमरदास तो उस दिन से गुरु अमरदास के नाम से प्रसिद्ध हो गए और चैत सुदी ३, सवत् १६०९ सन् १५५२ ई० को गुरु अगद का देहात हो जाने पर गरु अगद की भाँति ही गुरु के रूप मे उपदेश देकर अनुयायियो का कल्याण करने लगे।

गुरु अगद के कार्य

गुरु अगद ने अपने समय मे कछ नयी प्रथाएँ चलायी और पहले से आनेवाली बातो मे भी अधिक योग दिया। इन्होने सर्वप्रथम गुरु नानकदेव की रचनाओ को एकत्र करा कर उन्हे 'गुरुमुखी' नाम की लिपि मे लिखवाना आरभ किया।[1] इस

---

१ राथुड गाँव, जिला लुधियाना मे गुरु नानकदेव से भी पहले के किसी चौधरी राथ फिरोज के समय निर्मित टूटे-फूटे मक़बर के तोरणवाले प्लास्टर पर जो वहाँ आने वाले यात्रियों के कुछ विवरण मिल रहे हैं वे गुरुमुखी लिपि मे है। इससे प्रकट होता है कि यह लिपि सिक्ख धर्म के पहले से वर्तमान थी और यह अशोक के शिलालेख की लिपि का एक परिवर्तित रूप है। —आज, काशी, ५-९-६२ —लेखक

रहा करते थे। एक दिन जब वे इसी प्रकार की बातें सोच रहे थे कि उनके भतीज के साथ हाल ही की ब्याही गई बीबी अमरू के सुरीले कंठ से निकलता गुरु नानकदेव के एक पद का कुछ अंश सुनायी पड़ा। बीबी अमरू गुरु अंगद की ही पुत्री थी और वह बाबा नानक द्वारा रची गई मारू राग की कुछ पंक्तियाँ[1] गा रही थी। उस संगीत ने अमर दास के ऊपर एक विचित्र जादू डाल दिया और इन्होंने उसके निकट जाकर उसे बार-बार दुहराने की प्रार्थना की। उसे सुन कर और याद कर ये बहुत प्रसन्न हुए और गुरु अंगद से भेंट करने का निश्चय किया। बीबी अमरू ने इन्हें ले जाकर गुरु अंगद के निकट पहुँचा दिया और अमरदास उनके यहाँ शिष्यवत् रहने लगे।

अमरू की गुरु-भक्ति

एक बार किसी गोविंद नामक व्यक्ति ने किसी मुकदमे में सफलता पाने के उपलक्ष में व्यास नदी के किनारे एक नया नगर बसाने की इच्छा प्रकट की। उसमें नाम लगा कर गुरु अंगद से आवश्यक सहायता प्राप्त करनी चाही। गुरु अंगद ने अपने शिष्य अमरदास को अपनी छड़ी देकर भेज दिया। अमरदास ने गोविंद को नगर निर्माण में अनेक प्रकार के परामर्श दिये और फलतः गोविंद ने गुरु अंगद के लिए वहाँ पर एक सुंदर महल भी बनवा दिया। अमरदास तब से उसी मकान में गुरु अंगद की आज्ञा पाकर निवास करने लगे। यह नगर पहले 'गोविंदवाल' कहला कर, फिर गोइंदवाल नाम से प्रसिद्ध हो गया। अमरदास गोइंदवाल में नित्य प्रति पहर भर रात शेष रहे उठा करते और व्यास नदी से पानी लेकर गुरु अंगद को स्नान कराने खडूर तक जाते। रास्ते में 'जपुजी' का पाठ भी करते जाते जो गोइंदवाल तथा खडूर के आधे मार्ग में ही बहुधा समाप्त हो जाया करता था। खडूर में वे 'आसा दी वार' का भजन सुन कर फिर गुरु की रसोई के लिए भी पानी भरते थे और उनके बर्तनों को माँज कर जंगल से लकड़ी भी ला दिया करते थे। इस प्रकार संध्या समय भी 'सोदर' का भजन श्रवण कर वे नियमतः अपने गुरु के पैर दबाया करते थे और उन्हें सुला कर फिर पीठ की ओर से ही गोइंदवाल वापस चल जाते थे। खडूर के निकट ही जुलाहों का एक गाँव था और उनके घरों के आसपास बुनते समय उनके पैर रखने के लिए कई गड्ढे खुदे हुए थे। एक

---

१ 'करणी कागदु मनु मसवाणी बुरा भला दुइ लेख पए।
जिस जिस किरतु चलाए तिउ चलिए तउ गुण नाहीं अंतु हरे ॥१॥
चित चेतसि की नहीं बावरीआ हरि बिसरत तेरे गुण गलिआ ॥
इत्यादि रागुमारू, पद ८, पृ ९९०:१।'

विषाद की छाप नही लगी रहती। इस कारण उनका जीवन औरो के लिए भी अनुकरणीय है।

गुरु अगद तथा हुमायूं

इनके समय मे ही वावर बादशाह मर गया और उसका पुत्र हुमायूं उसकी जगह गद्दी पर वैठा। उसने गुजरात तथा दक्षिण भारत पर आक्रमण करने के अनतर बगाल की ओर शेरशाह के विरुद्ध भी चढाई की, किंतु उससे हार मान कर पश्चिम की ओर भागने को विवश हुआ। उसने मार्ग मे सुना कि गुरु नानकदेव के आसन पर गुरु अगद उपदेश दे रहे हैं और एक सच्चे फकीर हैं। अतएव उसन इनके निकट आशीर्वाद के निमित्त भेंट लेकर उपस्थित होना अपने लिए उचित समझा। जव वह इनके निकट पहुँचा, तब ये ध्यान-मग्न थे और उसे कुछ काल तक खडा रहना पडा। इस पर स्वभावत उसे अपमान के कारण क्रोध हो आया और उसने अपनी तलवार म्यान से निकाल कर इन पर वार करना चाहा। परन्तु कहा जाता है कि उसकी म्यान से तलवार निकल नही सकी और उसे लज्जित होकर स्तब्ध रह जाना पडा। उस समय तक गुरु अगद का ध्यान टूट चुका था। इन्होने उसे वैसी दशा मे पाकर वहुत फटकारा और कहा कि तुम्हे शेरशाह के आगे हार मान कर एक फकीर के सामने शक्ति-प्रदर्शन करना किसी प्रकार भी उचित नही था। फिर भी मुझे इसके लिए कोई खेद नही है और मैं तुम्हे आशीर्वाद देता हूँ कि कुछ कष्ट झेलने के उपरात तुम्हे विजय अवश्य मिल जायगी। हुमायूं फिर काल पाकर विजयी हुआ और उसने गुरु अगद के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने की इच्छा भी की। किंतु उस समय तक इनका देहात हो चुका था और इनके स्थान पर गुरु अमरदास बैठ चुके थे।

गुरु अगद तथा अमरू

अमृतसर से कुछ ही दूरी पर वसरका नाम का एक गाँव था। वहाँ पर खत्रियो की भल्ला शाखा के एक तेजभान नाम के व्यक्ति रहते थे। उन्ही की स्त्री वखत कुँवरि के गर्भ से चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमे से सवसे वडे का नाम अमरू वा अमरदास था। अमरदास का जन्म वैशाख शुक्ल १४ सवत् १५३६ सन् १४७९ ई० को हुआ था और वे खेती तथा व्यापार से जीविका उपार्जित करते थे। उनका विवाह २३ वर्ष की अवस्था मे मनसा देवी के साथ हुआ और उससे उन्हे मोहरी तथा मोहक नाम के दो पुत्र हुए और रानी तथा भानी नाम की दो पुत्रियाँ पैदा हुई। वे वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे और नियमानुसार नित्य प्रति पूजा किया करते थे। किंतु उन्हे इन वातो से पूरा सतोष न था, वे किसी को गुरु मान कर उससे पूर्ण शाति लाभ करने के उपाय पूछने के फेर मे सदा

लिपि के आधार विशेषकर शारदा तथा टाकरी लिपियों के प्रचलित रूप मान लिये गए। इसमें देवनागरी की लिपिवाले बावन अक्षरों की जगह केवल ३५ अक्षर ही सम्मिलित किये गए। तदनुसार इसके अक्षरों के रूपों में भी बहुत-से परिवर्तन किये गए। उदाहरण के लिए देवनागरी का 'म' गुरुमुखी का 'स' उसका 'म' इसका 'भ' उसका 'ड' इसका 'ब' उसका 'प' इसका 'घ' और उसका 'घ' इसका 'ब' थोड़े-से ही हेरफेर के साथ बना लिया गया। तब से अर्थात् संवत् १५८९ सन् १५३२ ई० से गुरुमुखी-लिपि सिक्खों की धार्मिक लिपि समझी जाने लगी। इसी प्रकार गुरु अंगद ने गुरुओं की जीवनी लिखाने की परिपाटी भी सर्वप्रथम आरंभ की। उसी के अनुसार कदाचित् संवत् १५ १ में जन्म साखी भाई बाले की' रचना हुई। गुरु अंगद ने इसके अतिरिक्त गुरु नानकदेव के समय से चलने वाली लंगर या भंडारे की प्रथा को भी और विस्तार दिया। इनका लंगर प्रति दिन नियमपूर्वक चला करता और उसमे सिक्खों के अतिरिक्त अन्य अतिथि भी बहुत बड़ी संख्या में एक साथ सम्मिलित हुआ करते थे। गुरु अंगद की रचनाएँ अधिक नहीं मिलती और जो हैं वे सभी गुरुग्रंथ साहब' में 'महला २' के नीचे भिन्न-भिन्न रागो में संगृहीत हैं। इनमें माझ सोरठ सूही रामकली और मलार की वारें तथा सारंग नाम की रचना मुख्य हैं। सारंगवाले पद को गुरुमुखी का आविष्कार करने के अनंतर उन्होंने प्रसन्न होकर गाया था।

(४) गुरु अमरदास

शिष्य-परंपरा का क्रम

गुरु अंगद नाथ-सम्प्रदाय में तथा गुरु अमरदास वैष्णव सम्प्रदाय में बहुत काल तक रह कर सिक्ख-धर्म में दीक्षित हुए थे। इनसे अपने-अपने गुरुओं अर्थात् क्रमश गुरु नानकदेव तथा गुरु अंगद से कभी पहले का कोई परिचय वास्तव न था। उक्त दोनों पहले से ही धार्मिक भावनाओं से भरे हुए व्यक्ति थे और उन्हें उच्च धार्मिक भावोंवाले गीतों ने प्रभावित करके उनका मत-परिवर्तन करा दिया था। उनकी अपने-अपने गुरुओं के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा स्वतंत्र रूप से जागृत हुई थी और वह अंत तक एक ही प्रकार से उनके हृदयों में बनी रही। इनमें से प्रत्येक के जीवन में अवस्था अधिक हो जाने पर ही नवीन प्रकार के भावों का उदय हुआ था और उसे आगे के लिए नवीन मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा मिली थी। परन्तु अमरदास के अनंतर इस प्रकार गुरु-परंपरा चलने का नियम बंद हो गया और तब से आगे का गुरु बराबर कोई न कोई अपने परिवार वा संबंध का ही बिठाया जाने लगा। इस कारण गुरु बनने का अधिकार कभी-कभी पैतृक तक समझा जाने लगा। इसका परिणाम आगे चल कर यहाँ तक बुरा हुआ कि एक भाई के

दिन पानी लाते समय इन्ही मे से किसी गढे मे अमरदास का पैर भूल से पड गया और ये गिर पडे । इसकी आवाज सुन कर जुलाहे घर से निकल आये और 'चोर-चोर' चिल्लाने लगे। परन्तु वाहर आते ही उन्होने अमरदास को 'जपुजी' का पाठ करते हुए पाया और इन्हे वही 'निथावा अमरू' समझ कर अपनी दया दिखलायी।

अतिम समय

अमरदास, इस प्रकार सेवा करते-करते गुरु अगद के प्रिय शिष्य हो गए और इन पर उनकी वडी कृपा दिखलायी देने लगी। अमरदास इनके हाथो से प्रति वर्ष दो वार कुछ कपडे पाया करते थे, जिन्हे वे श्रद्धा के साथ अपने सिर पर वाँध लेते थे। अत मे उनके ऐसे वस्त्र वारह की सख्या तक पहुँच गए थे और उनके सिर पर एक वहुत वडी पगडी तैयार हो गई थी। अमरदास ने एक बार भक्ति के आवेश मे अपने गुरु की विवाई से मुँह लगा कर उसका खून तक चूस लिया था और इसमे तनिक भी घृणा वा कष्ट का अनुभव नही किया था। वे अव तक स्वय भी वृद्ध हो चले थे और उनकी अनेक दु साध्य सेवाओ को देख कर औरो का हृदय द्रवित हो जाता था। इसी कारण गुरु अगद ने एक बार जुलाहो वाली उक्त घटना के अनतर उन्हे प्रेमपूर्वक अपने निकट बुलाया, नहलाया, नवीन वस्त्र धारण कराया और अपने स्थान पर उन्हे बिठला कर पाँच पैसे और एक नारियल उनके सामने भेंट के रूप मे रख दिया। भाई बुड्ढा से कहा कि उन्हे नियमानुसार ललाट पर तिलक देकर अभिषिक्त कर दें। फिर अमरदास तो उस दिन से गुरु अमरदास के नाम से प्रसिद्ध हो गए और चैत सुदी ३, सवत् १६०९ सन् १५५२ ई० को गुरु अगद का देहात हो जाने पर गरु अगद की भाँति ही गुरु के रूप मे उपदेश देकर अनुयायियो का कल्याण करने लगे।

गुरु अगद के कार्य

गुरु अगद ने अपने समय मे कछ नयी प्रथाएँ चलायी और पहले से आनेवाली वातो मे भी अधिक योग दिया। इन्होने सर्वप्रथम गुरु नानकदेव की रचनाओ को एकत्र करा कर उन्हे 'गुरुमुखी' नाम की लिपि मे लिखवाना आरभ किया।[1] इस

---

१ रायुड गाँव, जिला लुधियाना मे गुरु नानकदेव से भी पहले के किसी चौधरी राय फिरोज के समय निर्मित टूटे-फूटे मक़वर के तोरणवाले प्लास्टर पर जो वहाँ आने वाले यात्रियो के कुछ विवरण मिल रहे हैं वे गुरुमुखी लिपि मे है। इससे प्रकट होता है कि यह लिपि सिक्ख धर्म के पहले से वर्तमान थी और यह अशोक के शिलालेख की लिपि का एक परिवर्तित रूप है। —आज, काशी, ५-९-६२ —लेखक

और एक भाव के साथ बैठा करता था। कहा जाता है कि एक बार अकबर बादशाह को भी यही करना पड़ा था। इस प्रकार ये समानता के भाव के भी बहुत बड़े पक्षपाती थे और संसार में रहते हुए ही ईश्वराराधन करने का बराबर उपदेश दिया करते थे। इनका कहना था कि जिस प्रकार कमल कीचड़ में उत्पन्न होकर भी अपनी पंखुड़ियों को सूर्य की ओर विकसित किये रहता है उसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि सांसारिक व्यवहार में लगे रहने पर भी अपना मन सदा ईश्वर की ओर लगाये रहे।

दामाद शिष्य जेठा

गुरु अमरदास की पत्नी मनसा देवी को अपनी पुत्री भानी की अवस्था देख कर ऐसा विचार हुआ कि वह ब्याह करने योग्य हो गई है। उन्होंने गुरु अमरदास से यह बात प्रकट की और एक दिन अपने घर के बाहर से गुजरते हुए किसी खाने-वाले लड़के को दिखला कर बतलाया कि वर की अवस्था उसी के समान होनी चाहिए। इस पर गुरु ने उस लड़के को अपने निकट बुला कर उसे देखा-भाला और उसी को पसंद कर लिया। उस लड़के का नाम जेठा था और वह लाहौर नगर के चूनी मंडी महल्ले के निवासी किसी हरिदास नामक खत्री का पुत्र था। उसका जन्म मंगलवार मिती २, कार्तिक कृष्ण पक्ष संवत् १५९१ सन् १५३४ ई० में दया कँवरि के गर्भ से हुआ था। वह देखने में सुंदर था और सदा मुसकराया करता था। वह बचपन से ही साधुओं की संगति पसंद करता था किंतु माता-पिता ने उसे चने उबाल कर घुघनी बेचने का काम सौंप दिया था। उन्हीं चनों को लेकर वह बहुधा रावी के किनारे चला जाता और वहाँ पर स्नान करनेवाले साधुओं को उसका जलपान करा दिया करता। एक बार वह ऐसे ही साधुओं के साथ-साथ लगा हुआ गोइंदवाल पहुँच गया था जहाँ पर गुरु अमरदास ने उसे अपनी पुत्री के वर के रूप में स्वीकार कर लिया। गुरु अमरदास ने लड़के के पिता हरिदास को अपनी बातें कहला भेजी और उसने अपने बिरादरी के सोढी खत्रियों की बारात लाकर विवाह कर लिया। तब से जेठा गुरु अमरदास के निकट उनके दामाद तथा शिष्य के रूप में भी रहने लगा और वही पीछे गुरु रामदास कहलाया।

दरबार-यात्रा

एक बार कतिपय ब्राह्मणों ने अकबर बादशाह के निकट इस बात की शिकायत की कि गुरु अमरदास के कारण हिन्दू-धर्म का अपमान हो रहा है। इस पर अकबर ने गुरु अमरदास को अपने यहाँ आने के लिए निमंत्रित किया। परन्तु अति वृद्ध होने के कारण गुरु अमरदास वहाँ नहीं जा सके। इन्होंने कहला भेजा कि मेरा पुत्र मोहन सदा ध्यान में लगा रहता है और मोहरी को दरबार में जाने का अभ्यास

गुरु बन जाने पर उसका दूसरा भाई उसके प्रति बहुधा द्वेष का भाव रखने लगा और शत्रुओ से मिल कर उसे नीचा तक दिखाने पर प्रवृत्त हो गया। गुरुओ की उदारता के कारण ऐसी स्थिति मे यद्यपि कोई कटुता नही आ पायी, किंतु फिर भी उसे सँभालने मे उनका कुछ समय लगता ही रहा।

गुरु अमरदास का स्वभाव

गुरु अंगद की गद्दी प्राप्त करने के समय गुरु अमरदास की अवस्था लगभग ७३ वर्ष की हो चुकी थी। ये अधिकतर गोइंदवाल मे रहा करते थे। इसी कारण गुरु अगद के पुत्र दातू ने खडूर के स्थान को रिक्त पाकर अपने पिता की जगह पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने लोगो से स्पष्ट शब्दो मे कह दिया कि अमरदास हमारा नौकर रह चुका है और अब अधिक बुड्ढा भी हो चुका है, वह गुरु नही कहला सकता। परन्तु सिक्खो को यह बात अप्रिय जान पडी और उन्होने गुरु अगद के वचनो को स्मरण कर के गुरु अमरदास के पास जा उनसे अपना दु ख प्रकट किया। दातू इस बात से और भी क्रुद्ध हो उठा और उसने गोइंदवाल पहुँच कर वृद्ध गुरु अमरदास को गाली देते हुए उन्हे ठोकर मार कर गिरा दिया। गुरु अमरदास ने सँभल कर दातू के पैर पकडते हुए पूछा, "आपके चरणो मे चोट तो नही लगी। कृपापूर्वक मुझ क्षमा कर दीजिए।" उससे इतना कहते हुए ये गोइंदवाल से भी हट कर अपने जन्म-स्थान बसरका चले आये और वही रहने लगे। इनके सिक्ख अनुयायियो को यह सुन कर और भी खेद हुआ और वे इन्हे फिर से गोइंदवाल लाने का यत्न करने लगे। दातू को इसी बीच मे किसी डाकू ने पैर मे चोट पहुँचा दी। वह लगडा होकर खडूर वापस चला आया और भाई बुड्ढा आदि सिक्खो ने गुरु अमरदास को समझा-बुझाकर इन्हे फिर गोइंदवाल की गद्दी पर बिठा दिया। गुरु अमरदास क्षमा तथा सहनशीलता की मूर्ति थे और ये इसी बात के उपदेश भी बहुधा दिया करते थे, किंतु इनके शत्रु बराबर इस बात से लाभ उठाते रहे।

लगर की प्रथा

गुरु अमरदास का लगर भक्त अनुयायियो की भेंटो के आधार पर चलता रहा। जो कोई भी इनके यहाँ आता, भर पेट भोजन पाता। बिना इनके लगर मे भोजन किये किसी को भी इनके दर्शन करने का अधिकार नही था। जो कुछ भेंट मे प्राप्त होता, वह प्रति दिन व्यय हो जाता था, बचता न था। ये अपने कपडे भी बहुत कम बदला करते थे और जब बदलते थे, तब पुराना कपडा किसी योग्य सिक्ख को ही दे दिया जाता था। इनके लगर मे अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बना करत थे, किंतु ये स्वय सदा रूखे-सूखे अन्न पर ही निर्भर रहा करते थे। जो कोई भी इनके यहाँ आता, खाने अथवा उपदेश सुनने के समय बराबर एक पक्ति मे

की चेष्टा की है अतएव इसका परिणाम संकटों से रहित न होगा। गुरु अमरदास का यह कथन आगे चल कर सत्य निकला।

इनके कार्य तथा अंतिम दिन

गुरु अमरदास ने अपना मरण-समय निकट जान कर एक दिन मिती भादों सुदी ११ संवत् १६३१ सन् १५७४ ई० को जेठा को रामदास के नाम से अपनी गद्दी पर बिठा दिया। उनके सामने नियमानुसार पाँच पैसे और एक नारियल अर्पण कर उन्हें भाई बुड्ढा द्वारा तिलक भी करा दिया। गुरु अमरदास का देहांत संवत् १६३१ के भादों की पूर्णिमा के दिन १ बजे दिन को हुआ था। गुरु अमरदास ने अपने मत के प्रचारार्थ २२ केन्द्र (मजे)[1] स्थापित किये थे और स्त्री-शिक्षा के निमित्त ५२ उपदेशिकाएँ भी भिन्न-भिन्न स्थानों में नियत की थी। इनकी रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध 'आनंद' है जो विशेषकर उत्सवों के अवसर पर गाया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ वारों पदों तथा सलोकों की भी इन्होंने रचना की है जो सभी 'गुरु ग्रंथसाहब' में संगृहीत हैं।

(५) गुरु रामदास

गुरु रामदास तथा श्रीचंद

गुरु रामदास कुछ ही दिनों में एक प्रसिद्ध महापुरुष हो गए और इनकी प्रशंसा चारों ओर फैलने लगी। गुरु नानकदेव के बड़े लड़के श्रीचंद 'उदासी सम्प्रदाय' की स्थापना की थी और नाना पंथ में इधर-उधर भ्रमण किया करते थे। उन्होंने गुरु अंगद वा गुरु अमरदास से भी भेंट नहीं की थी। किन्तु गुरु रामदास की ख्याति को सुन कर वह इनसे मिलने आए और गोइंदवाल की सीमा तक पहुँच गए। गुरु रामदास ने उनके आगमन की सूचना पाकर कुछ *मिष्ठान्न तथा पाँच सौ* रुपयों के साथ उनकी अगवानी की। श्रीचंद ने इन्हें देख कर कहा कि आपकी दाढ़ी बहुत लम्बी हो गई है जिसके उत्तर में गुरु रामदास ने बतलाया कि हाँ आपके चरणों को पोंछने के लिए मैंने इसे बढ़ा रखा है। श्रीचंद को इस उत्तर ने प्रभावित किया और वे प्रसन्न हो गए।

मंसदों की नियुक्ति

गुरु रामदास ने तालाब के निर्माण का कार्य पूर्ववत् जारी रखा और उसके निमित्त द्रव्य संग्रह करने तथा धर्म-प्रचार के लिए इन्होंने कई व्यक्तियों को नियुक्त किया। ये लोग 'मसंद' कहे जाते थे जो पूर्वकाल में प्रचलित मसनद शब्द का विकृत रूप था। अफगान बादशाहों के समय में 'मसनदे आली' कह विशेष प्रकार के दरबारियों की पदवी थी और सिक्खों के सच्चे बादशाह होने के नाते गुरु रामदास के

---

१ मंजा—मंजी (चारपाई) का पुल्लिंग-रूप—साम्प्रदायिक केन्द्र।

नही, अतएव जेठा को भेज रहा हूँ। इस पर जेठा अकबर के यहाँ पहुँचे और उसके साथ बहुत समय तक सत्सग करते रहे। अकबर को उनकी बातें सुन कर पूरा सतोष हो गया और उसने उन्हे यह कह कर लौटा दिया कि गुरु अमरदास एक बार हर-द्वार जैसे तीर्थों मे पर्यटन करके हिन्दुओ को कुछ आश्वासन प्रदान कर दें। तदनुसार गुरु अमरदास ने अपने मत के प्रचार के लिए भी हरद्वार की यात्रा उचित समझी और अपने अनुयायियो को लेकर वहाँ के लिए चल पडे। तब तक यह प्रसिद्ध हो गया था कि उनके साथ जानेवालो को तीर्थ-यात्रा का प्रचलित कर नही देना पडेगा। अतएव इनके साथियो की सख्या बढ गई। वे इनके लगर मे भोजन करते थ, इनकी गायक-मडली मे मिलकर भजन गाया करते थे तथा स्नानादि के लिए मिले विशेष सुभीत से भी लाभ उठाया करते थे। गुरु अमरदास इस प्रकार सबके साथ भ्रमण करते हुए तथा मार्ग मे अपने मत के सबध मे उपदेश देते हुए हरद्वार की यात्रा से लौट आये।

तालाब-निर्माण

एक बार गुरु अमरदास ने जेठा से कहा कि तुम कही जाकर अपने लिए कोई स्थान चुन लो और वहाँ एक मकान बना कर तालाब भी खोदवा लो। इस आज्ञा के अनुसार जेठा ने गोइदवाल से २५ मील की दूरी पर एक जगह पसद की और वही पर अपना स्थान निश्चित कर लिया। फिर क्रमश वहाँ पर औरो की भी बस्तियाँ बन गईं और एक तालाब 'सतोष सर' नाम का तैयार हो गया। फिर उसी के पूरब की ओर उन्होने एक दूसरा तालाब भी बनवाने की आज्ञा दी और बतलाया कि पूरा हो जाने पर वही आगे 'अमृतसर' नाम से प्रसिद्ध होगा। गुरु अमरदास ने इसी बीच मे जेठा की भक्ति की अनेक प्रकार से परीक्षा ली और एक बार तो इन्होने उनसे एक ही चबूतरे को सात बार गिरा-गिराकर बनवाया। प्रत्येक बार प्रसन्नतापूर्वक अपनी आज्ञा का पालन किया जाता हुआ देख कर इन्होने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे वश मे सात पुश्त तक गुरु की गद्दी मिलेगी। इसके सिवाय एक दिन सध्या समय जब गुरु अमरदास ध्यान मे मग्न थे, उनकी पुत्री तथा जेठा की पत्नी बीबी भानी ने देखा कि उनके पलँग का एक पाया टूटा हुआ है। यह समझ कर कि पलँग के गिर जाने से उनका ध्यान कही भग न हो जाय, उन्होन टूटे पाये की जगह अपने हाथ का सहारा दे दिया। जब गुरु ने आँखें खोली और उन्हें ऐसा करते देखा, तब प्रसन्न होकर उनसे कोई वर माँगने को कहा। बीबी भानी ने उनसे निवेदन किया कि अब से गुरु-परपरा मेरे ही वश में चलती रहे। गुरु अमर दास ने इस पर 'एवमस्तु' कर दिया, किंतु इसके साथ ही यह भी बतलाया कि तुमने बिना सोचे-समझे गुरु की परंपरा के बहते हुए स्रोत को बाँध द्वारा बाँधने

आवेश में आकर अपने पिता के प्रति भी दुर्वचन कहे। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं गुरु अर्जुन को हत्या कर ही छोड़ूँगा और उसकी जगह स्वयं बैठ कर इस बात की स्वीकृति बादशाह से भी करा लूँगा। रामदास ने तब उसे बहुत समझाया-बुझाया किंतु उसने उनकी एक न सुनी और अंत में रुष्ट होकर उन्हें उसे 'मीन' अथवा दुष्ट स्वभाव का मनुष्य तक कहना पड़ा। गुरु रामदास इस घटना के कुछ ही पीछे अर्जुन को लेकर गोइंदवाल आये और वहाँ की बावली में स्नान करके प्रात काल के समय 'जपुजी' और 'आसा दी वार' का पाठ करते हुए ध्यान-मग्न हो गए। फिर सूर्योदय होते-होते उन्होंने सभी सिक्खों को बुला कर उन्हें गुरु अर्जुन को समर्पित कर दिया। उनसे कहा कि अमृतसर का तालाब शीघ्र बनवा देना तथा सिक्ख-धर्म के सिद्धांतो के अनुसार चलने के लिए सबको उपदेश देते रहना। गुरु रामदास का देहांत मिती भादो सुदी ३ संवत् १६३८ सन् १५८१ ई० को हुआ था।

रचनाएँ

गुरु रामदास की सभी उपलब्ध रचनाएँ 'गुरुग्रंथ साहब' में संगृहीत है। इनमें भी भिन्न-भिन्न रागो के अंतर्गत पाये जानेवाले अनेक पद तथा 'वार' हैं जो कतिपय सलोकों के साथ 'महला ४' के नीचे दिये गए हैं और इनकी संख्या काफी बड़ी है।

(५) गुरु अर्जुनदेव

जन्म तथा बाल्य-काल

गुरु अर्जुनदेव का जन्म गुरु रामदास की पत्नी बीबी भानी के गर्भ से मिती बैसाख कृष्ण ७ मंगलवार संवत् १६२० सन् १५६३ ई० को गोइंदवाल में हुआ था। इनके नाना गुरु अमरदास इन्हें बहुत मानते थे और प्रसिद्ध है कि एक बार उन्होंने इन्हें गुरु-गद्दी तक देने की इच्छा प्रकट की थी। कहा जाता है कि बचपन में एक बार ये अपने सोये हुए नाना की पलँग तक चले गए और उन्हें सोते से जगा दिया। उस समय उन्हें कोई कभी छेड़ा नहीं करता था और इनकी माता को भ्रम हुआ कि पिताजी कहीं इन पर रुष्ट न हो जायें। परन्तु उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उठते ही उठते गुरु अमरदास कह रहे हैं 'आने दो मेरे पास उसे आने दो। यह मेरा दोहित पानी का बोहित होवेगा।' ऐसा कहने का तात्पर्य उनका यह था कि समय पाकर यह बच्चा एक दिन सांसारिक जीवों को भव-सागर से पार लगानेवाला होगा। अर्जुन इन दिनों बराबर गुरु अमरदास के ही निकट अपनी माता के साथ रहा करते थे और बचपन से ही इनके कोमल हृदय पर उस महापुरुष का प्रभाव सदा पड़ता रहा। कुछ दिनों के अनंतर इनका विवाह वर्तमान जिला जालंधर के मऊ गाँव में रहनेवाले किसनचंद की पुत्री गंगा से हुआ।

उक्त कर्मचारियो का नाम भी उनके शब्दो मे मसद ही रखा गया। इनका काम भिन्न-भिन्न प्रदेशो के रहनेवाले अनुयायियो तथा अन्य लोगो से भी द्रव्य लेकर उसे गुरु के पास व्यय करने के लिए भेजना था। तालाव के खोदाने का कार्य चल ही रहा था कि उसके निकट अनेक मनुष्यो की घनी वस्ती जमने लगी और वह रामदासपुर के नाम से प्रसिद्ध हो चली।

गुरु रामदास तथा पुत्र अर्जुन

एक वार गुरु रामदास के एक प्राचीन सवधी ने उनसे जाकर निवेदन किया कि मेरे लडके का विवाह होने जा रहा है, उसमे सम्मिलित होने चलिए। परन्तु गुरु रामदास के सामने वहुत-सा काम था, इसलिए उन्होने वहाँ पर स्वय न जाकर किसी को अपने प्रतिनिधि के रूप मे भेजना उचित समझा। गुरु रामदास के उस समय तीन पुत्र पृथीचद, महादेव और अर्जुन वर्तमान थे। उन्होने उनमे से वडे अर्थात् पृथीचद वा प्रिथिया से पहले कहा कि तुम जाकर उक्त उत्सव मे सम्मिलित हो जाओ, किंतु उसने कई प्रकार के वहाने वनाये और अत मे जाने से इनकार कर दिया। इसी प्रकार महादेव ने भी कहा कि मुझे सासारिक वातो मे कुछ भी रुचि नही और मैं ऐसा करना अपने स्वभाव के विरुद्ध समझता हूँ। परन्तु गुरु ने उक्त प्रस्ताव को ज्योही अर्जुन के सामने रखा, उसने उसे तुरत स्वीकार कर लिया और 'जैसी आज्ञा' कह कर वहाँ से चल दिया। लाहोर पहुँचने पर अर्जुन को उत्सव के उपरात भी वहुत दिनो तक रह जाना पडा और वह अपने पूज्य पिता के वियोग मे क्रमश अधीर होने लगा। अतएव उसने अपने पिता के नाम एक पत्र भेज कर कुशल-क्षेम पूछा और उनके दर्शनो की इच्छा प्रकट की। परन्तु प्रिथिया ने उस पत्र को दूत के हाथ से ले लिया और उसे छिपा कर अर्जुन के यहाँ कहला भेजा कि जव तक वुलावा न जाय, उसे वही रहना होगा। प्रिथिया ने अर्जुन के एक दूसरे पत्र के सवध मे भी जब यही चाल चली और उसे ये सब बातें विदित हो गई, तव उसने अपना तीसरा पत्र 'न० ३' करके लिखा और उसे वडी सावधानी के साथ भेजा। अव की वार अतिम पत्र गुरु को मिल गया और उस पर सदेह करके उन्होने प्रिथिया के पहनावे के पाकेट से अन्य दो पत्र भी हस्तगत कर लिए। प्रिथिया इस घटना के कारण अत्यत लज्जित हुआ और माई बुड्ढा ने इस बात की चर्चा सर्वत्र फैला दी। गुरु रामदास ने भी अपने छोटे पुत्र अर्जुन से ही प्रसन्न होकर उसे सवसे योग्य माना और पाँच पैसे तथा एक नारियल की भेंट उसके सामने अर्पित कर उसे माई बुड्ढा द्वारा तिलक दिला दिया।

मीन प्रिथिया

उक्त गुरुगद्दी के कारण प्रिथिया की लज्जा क्रोध मे परिणत हो गई और उसने

सुलही खाँ के साथ मिल कर उसने कई उद्योग किये किंतु वजीर खाँ की सहायता के कारण उसकी दाल नहीं गलने पायी और वह सदा असफल ही होता रह गया। गुरु अर्जुनदेव ने इसी बीच सन् १५९ ई के किसी महीने में तरनतारन की भी बुनियाद डाल कर वहाँ पर एक तालाब खोदवा दिया। इसी प्रकार व्यास तथा सतलज नदियों के बीच जलधर दोआब के अंतर्गत एक दूसरे नगर का निर्माण किया जो कर्तारपुर नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पुत्रोत्पत्ति

गुरु अर्जुनदेव की पत्नी गगा ने उनसे कई बार किसी पुत्र के लिए प्रार्थना की। इन्होंने प्रत्येक अवसर पर यही परामर्श दिया कि तुम जाकर भाई बुड्ढा से आशीर्वाद लाओ तो तुम्हें पुत्र उत्पन्न हो सकेगा। अंत में बीबी गंगा भाई बुड्ढा के पास भोजन तैयार करके ले गई और उनकी परसी हुई थाली को माता का दिया हुआ प्रसाद कह कर भाई बुड्ढा ने बड़े प्रेम के साथ खाया। उन्होंने भोजन के उपरांत कहा कि मुझ भूखे को तृप्त कर देने के उपलक्ष में आपको एक पुत्र रत्न होगा जो अपने शत्रुओं के सिर उसी प्रकार कुचलेगा जिस प्रकार अभी मैंने प्याज कुचले हैं। तदनुसार मिती आषाढ़ बदी ६ संवत् १६५२ ता १४ जून सन् १५९५ ई को बडाली गाँव में बीबी गगा के गर्भ से हरगोविंद का जन्म हुआ। अपने पिता के ये एकलौते पुत्र थे तो भी प्रिथिया तथा उसकी स्त्री को इनका जीना बहुत खला करता था। इस कारण बच्चे हरगोविंद के प्राण लेने के लिए उन दोनों ने दास-दासियों तथा कर्मचारियों को मिला कर अनेक बार भिन्न भिन्न प्रकार की चेष्टाएँ की। किंतु उन्हें सफलता कभी नहीं मिल सकी और बालक हरगोविंद उनके सामने खेलता और व्यायाम करता हुआ अधिकाधिक बलिष्ठ और रूपवान् ही होता गया।

आदिग्रंथ का निर्माण

गुरु अर्जुनदेव को एक बार इस बात की आवश्यकता जान पड़ी कि उनके अनुयायी सिक्खों के पथ प्रदर्शन के लिए कुछ नियम निर्धारित कर देने चाहिए ताकि आगे चल कर किसी धार्मिक प्रश्न के उठने पर किसी प्रकार की कठिनाई न उपस्थित हो और अपने सिद्धांतों में सामंजस्य भी आ जाय। इसलिए इन्होंने गुरुओं द्वारा दिये गए उपदेशों को उनके वास्तविक रूप में संगृहीत कर उनका एक ग्रंथ निर्माण करा देना उचित समझा। इसका एक और कारण यह भी था कि प्रिथिया उन दिनों कुछ पदों की रचना कर उन्हें गुरु नानकदेव के उपदेश बतला कर प्रचलित कर रहा था। वास्तव में इस प्रकार की प्रवृत्ति अन्य अनेक व्यक्तियों में भी पायी जाती रही। इस कारण उनकी ऐसी रचनाओं को वास्तविक 'गुरु बाणी' या 'सांची बाणी' की जगह 'कच्ची बाणी' नाम से अभिहित करने की एक परंपरा ही पीछे चल

प्रारभिक कार्य

गुरु रामदास का देहात हो जाने पर जब ये गद्दी पर बैठे, तब इनके मामा मोहरी ने परपरानुसार अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप मे इन्हे एक साफा अर्पित किया जिस पर इनके सबसे बडे भाई प्रिथिया ने आपत्ति की। गुरु अर्जुनदेव ने हर्षपूर्वक उस कपडे को प्रिथिया के हवाले कर दिया और स्वय गोइदवाल से हट कर अमृतसर चले आए। यहाँ आने पर भी कतिपय चौधरियो के कहने पर इन्होने गुरु-गद्दी को मिलनेवाले कुछ कर तथा मकान के किराये की आय प्रिथिया को दे दी। इसी प्रकार अपने दूसरे भाई महादेव को भी कुछ प्रबध करके दे डाला। अब इनके लिए आमदनी के रूप मे केवल वही द्रव्य रह गया जो भक्त अनुयायियो द्वारा भेंट मे इन्हे मिल जाया करता था। ऐसे ही साधनो के सहारे इन्होने सर्वप्रथम अपना ध्यान अमृतसर का निर्माण पूरा करने की ओर लगाया। तालाब की खोदाई गुरु रामदास के ही समय मे पूरी हो चुकी थी। गुरु अर्जुनदेव ने उसके बँधाने आदि का कार्य भी समाप्त कर दिया और उसके बीच मे 'हरमदर' नाम के एक मदिर का भी बनाना आरभ किया। इस 'हरमदर' की ऊँचाई गुरु की आज्ञा के अनुसार आसपास के मदिरो से बढने नही दी गई। उनका कहना था कि जो नम्र वा नीचा बन कर रहता है, वही ऊँचा हो जाता है। वृक्ष जितने ही फले रहते हैं, उतने ही नीचे झुके भी रहते हैं। इसी प्रकार मदिर का द्वार भी चारो ओर से खुला रहने दिया गया। गुरु अर्जुनदेव का कहना था कि यह सभी प्रकार के लोगो की पूजा का स्थान बनेगा। इसके बीच मे 'गुरुग्रथ साहब' रखा रहता है और उसके प्रति भक्ति प्रकट की जाती है। इस मदिर की बुनियाद सवत् १६४५ सन् १५८९ के माघ महीने के प्रथम दिवस को ही डाली गई थी और पहली ईंट इन्होने स्वय रखी थी। ईंट के एक बार अकस्मात् कुछ हट जाने पर इन्होने कहा था कि बुनियाद फिर कभी डाली जायगी। यह बात स० १८१९ मे अहमदशाह के आक्रमण के समय सच्ची निकली, जब दो वर्ष पीछे खालसा फौज ने इसे फिर से जीत कर अपने अधिकार मे लिया और टूटे-फूटे मदिर को दूसरी बार बनवाया।

द्वेष का सामना

अकबर बादशाह के मत्री राजा बीरबल गुरु के साथ धार्मिक मतभेद होने के कारण इनसे द्वेष रखते थे और इनकी उन्नति को भी नही देख सकते थे। अतएव कई बार उन्होने इन्हे अपमानित करने तथा कष्ट पहुँचाने के यत्न किये। किंतु सयोगवश वे कभी कृतकार्य न हो सके और कुछ ही दिनो के अनतर यूसुफ-जाइयो के विरुद्ध लडते समय मार डाले गए। इधर गुरु का बडा भाई प्रिथिया भी इनके नाश के लिए षड्यन्त्र रचने मे सदा लगा रहा। बादशाह के कर्मचारी

योग्य वर कहीं ढूँढ़ने पर नहीं मिलता था। उसके आदमियों ने उससे प्रस्ताव किया कि उसकी कन्या के लिए सबसे अच्छा वर गुरु अर्जुनदेव का लड़का हरगोविंद ही हो सकता है और उसी के लिए यत्न किये जाने चाहिए। चंदूशाह को यह बात पहले पसंद न आयी और उसने अपने ब्राह्मण को तिरस्कारपूर्वक यह कह कर टाल दिया कि राजमहल की अटारी की ईंट खपरैल कभी नाले में नहीं डाल दी जाती। परन्तु अंत में हार मान कर उसने अपनी पत्नी करमी के परामर्शानुसार उक्त बात मान ली और गुरु अर्जुनदेव के पास पत्र भेज दिया। इधर गुरु के अनुयायियों को चंदूशाह के उक्त तिरस्कारपूर्ण कथन का पता चल गया था और उन्होंने गुरु के निकट इस वैवाहिक संबंध का घोर विरोध कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि चंदूशाह के दूतों के सामने ही गुरु अर्जुनदेव ने उसके प्रस्ताव को ठुकरा कर हरगोविंद का विवाह नारायनदास तथा हरिचंद नामक सिक्खों की दो लड़कियों के साथ करना स्वीकार कर लिया और वे हताश होकर अपने मालिक के पास लौट गए। इस घटना के कारण चंदूशाह ने अपने को बहुत अपमानित हुआ समझ लिया और वह भी गुरु अर्जुनदेव का नाश करने पर तुल गया।

शत्रुओं का षड्यंत्र

इसके अनंतर चंदूशाह तथा प्रिथिया ने मिल कर गुरु अर्जुनदेव के विरुद्ध कई प्रकार के जाल रचे किंतु अकबर बादशाह की उदारता के सामने उनकी एक न चल पायी। परन्तु जब सन् १६०५ ई० में अकबर का देहांत हो गया और उसकी जगह जहाँगीर गद्दी पर बैठा तब इन लोगों को नया अवसर हाथ लग गया। अकबर जहाँगीर के लड़के खुसरो को बहुत मानता था। कहा जाता है कि उसने इसे अपना उत्तराधिकारी बनाने का वचन दिया था। इस कारण उसके मरते ही खुसरो ने पंजाब तथा अफगानिस्तान पर अपना अधिकार जमा लेना चाहा और इस बात पर जहाँगीर अत्यंत रुष्ट हो गया। जहाँगीर ने खुसरो को पकड़ने के लिए शाही फौज भेजी और वह आगरे से भागता हुआ तरनतारन चला आया। वहाँ पर उसने गुरु से कुछ आर्थिक सहायता के लिए प्रार्थना की जिस पर गुरु ने उसे यह कह कर टाल देना चाहा कि सिक्खों का धन गरीबों के लिए ही सुरक्षित है। परन्तु अंत में उसकी दीनता देख कर इन्हें दया आ गई और उसके पितामह द्वारा अपने प्रति किये गए उपकारों को ध्यान में रखते हुए इन्होंने उसे काबुल की ओर सुभीते के साथ भाग जाने के लिए पाँच सहस्र रुपये दे दिये। फिर भी खुसरो मार्ग में ही पकड़ लिया गया।

बंदी

इधर प्रिथिया के पुत्र मिहरबान ने चंदूशाह को उक्त खुसरो वाली घटना

पडी। इसके सिवाय गुरु अमरदास ने भी अपना रचना 'आन द' की २३वी-२४वी पौडियो मे वतलाया था कि गुरुओ की केवल असली रचनाएँ ही पढी जानी चाहिए। अतएव गुरु अर्जुनदेव गुरु अमरदास के वडे लडके मोहन के पास गोइदवाल मे स्वय गये और वहाँ सुरक्षित गुरु-पदो को माँग कर उठा लाये। इसके उपरात इन्होने भिन्न-भिन्न प्रसिद्ध भक्तो के अनुयायियो को आमत्रित करके उनसे अपने-अपने श्रेष्ठ भजनो को चुनवाया । उनमे से भी अपने सग्रह मे उन्ही पदो को स्थान दिया जो सिद्धात की दृष्टि से अपने गुरुओ की रचनाओ से मेल खाते थे। कुछ लोगो का मत है कि कम से कम शेख फरीद, वेनी, जयदेव तथा रैदासजी की बानियो को स्वय गुरु नानक ने ही सगृहीत किया था और अन्य ऐसी अनेक रचनाएँ गुरु अमरदास के समय सगृहीत की गई होगी। 'गुरु मत प्रकाश' मे साहेव सिह का तो यहाँ तक कथन है कि अधिकाश भक्तो की रचनाएँ गुरु नानक द्वारा ही सगृहीत हो चुकी थी।[१] इसमे सदेह नही कि उच्चारण आदि की कठिनाई के कारण उक्त चुने हुए पदो मे कुछ परिवर्तन हो गया और कही-कही एकाव पजाबी शब्दो का उनमे प्रवेश तक हो गया, किंतु फिर भी इन्होने उन्हे शुद्ध रखने की ही भरसक चेष्टा की। पदो का चुनाव समाप्त हो जाने पर गुरु अर्जुनदेव ने स्वय बैठ कर उन्हे भाई गुरदास से लिखवाया। इस प्रकार वह ग्रथ सवत् १६६१ सन् १६०४ ई० के भादो महीने की पहली तिथि को तैयार हुआ तथा भाई वुड्ढा के सरक्षण मे उन्हे अर्पित कर दिया गया। ग्रथ के अत मे जो 'रागमाला' दी गई है और जिसमे भिन्न-भिन्न राग-रागिनियो की चर्चा की गई है, वह वास्तव मे किसी आलम नामक भुसल-मान कवि की 'माधवानल' सगीत नामक रचना का एक अश है। यह रचना हिजरी सन् ९९१ . सन् १५८३ ई० मे तैयार की गई थी और वह ग्रथ मे किसी प्रकार छद ६३ से लेकर ७२ तक के रूप मे सम्मिलित कर ली गई है। यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि सग्रह करते समय गुरु अर्जुनदेव के प्रति लाहोर के छज्जू, कन्ह, शाह हुसेन तथा पीलू द्वारा अनुरोध किया गया था कि कुछ उनकी भी रचनाएँ ले ली जायें, किंतु गुरु ने उन्हे अनुपयुक्त ठहरा कर अस्वीकार कर दिया।[२]

गुरु अर्जुनदेव तथा चदूशाह

गुरु अर्जुनदेव के विरुद्ध शत्रुता-भाव रखनेवाला एक व्यक्ति चदूशाह भी था जो कुछ काल तक वादशाह का दीवान वा अर्थमत्री था। वह पजाव का निवासी था, किंतु कर्मचारी हो जाने के अनतर देहली मे रहने लग गया था। वह कुलीन, विद्वान्, धनी तथा प्रतिष्ठित था। उसे एक कन्या का विवाह करना था और उसे

१ गुरुमत प्रकाश, पृ० २५ ।
२ The Missionary Delhi, Vol II No 8, pp 26-7

तारन-जैसे नगरों तथा उनके तालाबों तथा मंदिरों का निर्माण करने के अतिरिक्त इन्होंने सिक्ख-धर्म में सुव्यवस्था लाने के लिए 'आदिग्रंथ' के संग्रह का आयोजन किया, सिक्खों की शिक्षा का प्रबंध किया और उनके वाणिज्य-व्यवसाय को भी प्रोत्साहन दिया। इन्होंने सिक्खों को तुर्किस्तान-जैसे दूर-दूर देशों में घोड़े का व्यापार करने के लिए भेजा जिसमें उनका एक मुख्य उद्देश्य अपने मत का प्रचार करना भी था। इनके उपदेश देने का ढंग भी एक अपना ही था जिसका प्रभाव इनके अनुयायियो पर बहुत अच्छा पड़ा करता था। एक बार किसी भूहर नामी चौधरी के पूछने पर कि सदा सत्य बोलना किस प्रकार संभव हो सकता है इन्होंने बतलाया था कि अपने झूठ और सत्य बोलने का लेखा अलग-अलग रखा करो और देखो कि किस प्रकार प्रति दिन मीलान करते जाने पर आपसे आप सुधार होने लगता है। इसी भाँति कोरे शास्त्रादि के पंडितों की धोखा देनेवाली प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए इन्होने एक बार किसी मानू और कालू को इस प्रकार समझाया था कि जिस सर्प के सिर मे मणि रहा करती है वह उसकी सहायता से रात को उजेले मे कीड़ो-मकोड़ो को खाया करता है वैसे ही जो शास्त्रादि मे पारंगत विद्वान् भर होता है, वह उनके प्रदर्शन द्वारा साधारण जनता को आकृष्ट कर उनसे अनुचित लाभ उठाया करता है।

रचनाएँ

गुरु अर्जुनदेव ने रचनाएँ भी बहुत-सी प्रस्तुत की। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'सुखमनी' अथवा चित्त की शांति है जिसमे २४ अष्टपदियाँ १ १ पंक्तियो की समृहीत हैं। इसका पाठ प्रातःकाल के समय 'जपुजी' के अनतर किया जाता है। इसके सिवाय 'बावन अखरी' 'बारामासा' तथा कई फुटकर पद भिन्न-भिन्न रागों मे रचे गए, महला ५ के नीचे 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत दिये गए हैं। इसमे इनकी संख्या ६ से भी कहीं अधिक है। गुरु अर्जुनदेव को अपनी गुरु-गद्दी के २५ वर्षों मे अनेक भीतरी तथा बाहरी समस्याओ को हल करने के अवसर प्राप्त हुए और इन्होंने प्रत्येक बार बड़े धैर्य और शांति के साथ सभी कठिनाइयो का सामना किया। अत मे उन्होंने धर्म के लिए अपने प्राणों तक की आहुति दे दी।

(७) गुरु हरगोविंद सिंह

प्रथम गुरुओं का दृष्टिकोण

गुरु अर्जुनदेव के समय तक सिक्ख गुरुओ का ध्यान विशेषकर अपनी निजी आध्यात्मिक उन्नति तथा सिक्ख-मत के प्रचार की ओर ही केन्द्रित रहा। यदि वे किसी सांसारिक बात की व्यवस्था आदि पर विचार भी किया करते तो उनका भी उद्देश्य मुख्यतः सिक्ख-धर्म से ही सबद्ध रहा। देश की राजनीतिक परिस्थिति अथवा

की व्योरेवार सूचना दे दी। जव जहाँगीर वादशाह पजाव की ओर अपने किसी दौरे मे आया, तव अवसर पाकर चदू ने उससे गुरु की वडी निंदा की और इन्हे पकडवा मँगाने की भी उसे सलाह दे दी। तदनुसार गुरु अर्जुनदेव जहाँगीर के सामने वुलाये गए और इनसे उसने कई प्रकार के प्रश्न करके इन्हे अपराधी ठहराना चाहा। अत मे इन पर दो लाख रुपये जुर्माने के रूप मे लगाये गए और यह भी कहा गया कि 'आदिग्रथ' मे से ये उन पक्तियो को निकाल भी दें जो अनुचित हो। गुरु अर्जुनदेव ने दोनो ही वातें अस्वीकृत कर दी जिस पर वादशाह वहुत विगड कर उठ गया और उसके अधिकारी ने इन्हे कैद करा दिया। वदीगृह मे इन्हे अनेक प्रकार की यातनाएँ दी गई। इनके ऊपर जलती हुई रेत डाली गई, इन्हे जलती हुई लाल कडाही मे विठाया गया और इन्हे उवलते हुए गर्म जल से नहलाया गया। गुरु ने सव कुछ सहन कर लिया और आह तक नही निकाली। कर्मचारियो द्वारा वार-वार कहे जाने पर भी इन्होने उसकी एक भी वात स्वीकार नही की और उसी भाँति नाम-स्मरण करते हुए धैर्यपूर्वक वैठे रहे।

अतिम समय

पाँच दिन इसी प्रकार व्यतीत हो जाने पर इन्होने एक वार नदी रावी मे जाकर स्नान कर आने की अनुमति माँगी और अपने साथ पाँच सिक्खो को भी ले जाने के लिए अनुरोध किया। इन्हे इस वात की अनुमति मिल गई और इनके साथ कुछ शस्त्रधारी सिपाहियो को लगा दिया गया जिससे इन्हे कोई लेकर कही चला न जाय। गुरु ने जाते समय एक लवी चादर ओढ ली और नदी की ओर की एक खिडकी से निकल कर धीरे-धीरे चल पडे। इनके शरीर मे फफोले पड गए थे और इनके पैरो के तलवो मे कई घाव हो गए थे। ये लँगडाते हुए अपने एक सेवक पीराना के कधो पर हाथ रख कर धीरे-धीरे चलने लगे। इन्हे ऐसी दशा मे पाकर लोग वहुत दुखी होते थे, किंतु ये वरावर उसी प्रकार ध्यान मे मग्न चले जा रहे थे। रावी तक पहुँच कर इन्होने पहले अपने हाथ-पैर धोये, फिर स्नान किया और 'जपुजी' का पाठ किया। अत मे इन्होने सिक्खो को हरगोविंद को गुरु मान कर चलने का आदेश दिया और वही पर जेठ सुदी ४, सवत् १६६३ जून सन् १६६ ई० को अपनी इहलीला सवरण की। अपने मृत शरीर के सबध मे इन्होने कह रखा था कि उसका कोई भी सस्कार न किया जाय, अपितु ज्यो-का-त्यो उसे रावी नदी में वहता हुआ छोड दिया जाय।

इनके कार्य

गुरु अर्जुनदेव की मृत्यु केवल ४३ वर्ष की अवस्था मे ही हो गई, किंतु इन्होने इतने ही दिनो मे सिक्ख-धर्म के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। अमृतसर, तरन-

पाठ सुनते और अपने अनुयायी सिक्खों को उपदेश देते। इनके प्रवचन तथा आनंद के समाप्त हो जाने पर सब लोग एक ही पंक्ति में बैठ कर जलपान किया करते और प्राय एक घड़ी तक विश्राम कर मे आखेट के लिए चल देते थे।

गुरु हरगोविंद तथा जहाँगीर

एक बार बादशाह जहाँगीर ने इन्हें शिकार खेलने के लिए आमंत्रित किया और इनसे अनुरोध किया कि ये आगरे तक उसके साथ जायें। परन्तु, वहाँ पर कुछ कारणवश इन्हें अपने पुराने शत्रु चंदूशाह की योजना के अनुसार ग्वालियर के किले मे कुछ काल तक एक निर्वासित के रूप में रह जाना पड़ा। ये किले के भीतर कुछ दिनों तक एक प्रकार के बंदी बन कर ही रहे। अंत में वजीर खाँ की सहायता से बहुत-से बंदियो के साथ उसके बाहर आ सके। चंदूशाह तथा इनके अन्य शत्रु भी इनकी ताक मे लग लगे रहते थे इस कारण इन्हें भी उनकी ओर से बराबर सतर्क रहना पड़ता था। बादशाह जहाँगीर को एक बार इनकी एक माला बहुत पसंद आयी और उसने इनसे उसका एक मनका भेंट करने के लिए अनुरोध किया। गुरु ने उत्तर दिया कि उक्त माला से भी कहीं अच्छी एक दूसरी माला इनके पिता गुरु अर्जुनदेव के पास थी जिसे वे सदा धारण किया करते थे जो अंत में चंदूशाह के हाथ लग गई है। चंदूशाह ने बादशाह के पूछने पर कहा कि वह माला कहीं रखी थी जहाँ से खो गई है और अब ढूँढने पर नही मिलती। परन्तु बादशाह को उसकी बातों में विश्वास नही हुआ और उसे संदेह हो गया कि वह माला को देना नही चाहता। अतएव शाही हुक्म के अनुसार चंदूशाह गुरु हरगोविंद के हवाले कर दिया गया और उसकी पत्नी तथा लड़के भी उसी के साथ कर दिये गए। सिक्खों ने उसे किले से बाहर लाकर उसके साफे को फाड़ कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले उसकी बाहो को उलट कर उसकी पीठ के पीछे बाँध दिया और सबके सामने उसके सिर पर जूते लगाये। चंदूशाह की दशा तब से बराबर गिरती ही गई। वह अंधा हो गया उसका शरीर अत्यंत क्षीण तथा दुर्बल दीख पड़ने लगा और उसे नगर की गलियो मे घूम-घूम कर मनियो द्वारा अपमानित होना पड़ा। अंत में उसे किसी अनाज बेचनेवाले बनिये ने लाठी मार कर घायल कर दिया और वह मर गया।

तालाब-निर्माण

बादशाह और गुरु हरगोविंद के बीच तब तक पूरी मित्रता हो गई थी और गुरु ने उसे गोइंदवाल अमृतसर तथा तरनतारन आदि अपने मुख्य-मुख्य तीर्थों मे साथ ले जाकर अपने सौहार्द का परिचय भी उसे दे दिया था। उसकी प्रेयसी बेगम नूरजहाँ ने जब गुरु को देखा तब वह इनके सौंदर्य द्वारा बहुत प्रभावित हुई। बादशाह की अनुमति लेकर वह अन्य बेगमो के साथ कई बार इनके दर्शनों

उसके तात्कालिक शासन-प्रबंध के सूत्रधार बादशाहो के कार्यों की ओर से भी ये सदा उदासीन रहे। वास्तव मे अपने धार्मिक जीवन मे सदा लगे रहने के कारण ये उन्हे ऐसा अवसर ही न देते जिससे उन्हे कोई हस्तक्षेप करना पडे। परन्तु गुरु अर्जुनदेव के समय उनके शत्रुओ के प्रपचो के कारण कुछ ऐसी घटनाएँ आ उपस्थित हुई कि बादशाहो ने अमानुषिक अत्याचार तक कर डाले। उनके आगे आनेवाले सिक्ख-गुरुओ को बाध्य होकर उसके विरोध मे कुछ करने की ओर स्वभावत प्रवृत्त होना पडा।

क्रातिकारी परिवर्तन

तदनुसार गुरु हरगोविंद ने अपने पिता की मृत्यु के विषय मे आवश्यक बातो का पता लगा कर 'आदिग्रथ' का पाठ कराया और दस दिनो तक बराबर नाम-स्मरण तथा कीर्तन की भी धूम रही। इसके अनतर भाई बुड्ढा ने इन्हे अत्येष्टि-क्रिया सपन्न हो जाने पर नवीन वस्त्र पहनाये और इनके सामने सेली वा दुपट्टा समर्पित करके उन्हे धारण करने का परामर्श दिया। परन्तु गुरु हरगोविंद ने उन्हे बतलाया कि परिस्थिति मे विशेष परिवर्तन आ जाने के कारण इनका सेली वा दुपट्टे का अपने शरीर पर डालना उचित नही कहला सकता। आज का राजनीतिक वातावरण इस बात की ओर सकेत कर रहा है कि मुझे अब से सेली की जगह अपनी कमर मे तलवार बाँधनी चाहिए और अपने साफे के ऊपर कोई राजसी चिह्न स्वीकार कर लेना चाहिए। इसी कारण इन्होने सेली को अपने सग्रहालय मे सुरक्षित रखवा दिया और स्वय अपने को युद्धोपयोगी वस्त्रो से सुसज्जित कर लिया। इन्होने सारे सिक्खो तथा अमृतसर के मुख्य-मुख्य नागरिको को निमत्रित कर उनका सह-भोज कराया और मसदो को आदेश भेजा कि वे आगे द्रव्य न भेज कर भेंट मे सदा शस्त्र तथा घोडो का ही उपहार दिया करें। इसी प्रकार सवत् १६६३ की आषाढ सुदी ५ को सोमवार के दिन इन्होने अमृतसर के स्वर्ण-मदिर के एक गलियारे मे 'तख्त अकाल बुगे' की नीव डाली जहाँ पर आज भी अकाली सिक्ख बैठा करते हैं और अपने महत्त्वपूर्ण शस्त्रो को सुरक्षित रखते हैं। अब इनकी सेवा मे दूर-दूर तक के अनेक योद्धा और पहलवान भी उपस्थित होने लगे जिनमे से ५२ को चुन कर इन्होने अपने आत्मरक्षक नियुक्त किया। ये ही सेवक आगे चल कर गुरुओ की सिक्ख-सेना के प्रथम सिपाही बने जिन्होने अपने अपूर्व साहस तथा वीरता के साथ प्रचड शाही फौज का अनेक अवसरो पर सामना किया। गुरु हरगोविंद उक्त समय से अपना ध्यान मृगया वा आखेट की ओर भी विशेषरूप से देने लगे। ये नित्यप्रति सूर्योदय के पहले उठ जाते, स्नान करते, अस्त्र-शस्त्रादि से अपने को सुसज्जित कर लेते, पूजन के लिए हरमदिर में चले जाते, 'जपुजी' तथा 'असा दी वार' का

एक तीसरी लड़ाई में सिक्खों को मुगल सेना के साथ लगातार १८ घंटों तक लड़ना पड़ा था और यह घटना माघ सुदी १ संवत् १६८८ सन् १६३१ में हुई थी।

अंतिम समय

गुरु हरगोविंद ने अपने पौत्र हरराय का हाथ पकड़ कर एक दिन उसे अपने अनुयायियों की एक भीड़ के सामने अपने स्थान पर बिठा दिया। उस समय तक भाई बुड्ढा का देहांत हो चुका था। इस कारण उसके पुत्र भाई भन्ना ने उनके ललाट पर तिलक लगाया और गले में माला पहनायी। गुरु हरगोविंद ने हरराय के सामने पाँच पैसे और एक नारियल भेंट किये। उनकी चार बार प्रदक्षिणा की और उनके सामने अपना सिर झुका दिया। गुरु हरगोविंद की मृत्यु रविवार के दिन चैत सुदी ५,सं० १७०१ सन् १६४४ ई० को ३७ वर्षों तक गद्दी पर बैठने के उपरांत हो गई। ये गुरु अर्जुनदेव के इकलौते पुत्र थे और अपने धैर्य तथा नीतिज्ञता के कारण इन्होंने सिक्खों की प्रतिष्ठा में बहुत बड़ी वृद्धि की। इन्होंने उपर्युक्त अकाल-तख्त के अतिरिक्त लोहगढ़ किले का भी निर्माण किया। इनके मृत्यु-स्थान को पाताल-पुरी भी कहा जाता है। इनकी कोई रचना 'गुरुग्रंथ साहिब' में वा अन्यत्र नहीं मिलती।

(८) गुरु हरराय

स्वभाव

गुरु हरगोविंद के पाँच पुत्र गुरुदित्ता सूरजमल अनीराय बाबा अटल तथा तेगबहादुर थे जिनमें से सबसे प्रथम अर्थात् गुरुदित्ता उनके पहले ही मर चुके थे। गुरुदित्ता के भी दो पुत्र धीरमल तथा हरराय थे जिनमें से प्रथम ने अपने को गुरु के प्रति अशिष्ट सिद्ध कर दिया था। इस कारण उन्होंने हरराय को अपनी गद्दी दी थी। हरराय अपने बचपन ही से अत्यंत कोमल हृदय के थे। कहा जाता है कि एक दिन जब ये अपनी वाटिका में टहलते थे तब इनके १ कलियों वाले बड़े जामे से लग कर किसी पौधे का एक फूल टूट कर गिर पड़ा। इसके कारण इन्हें इतना कष्ट हुआ कि तब से इन्होंने उस जामे को सदा समेट कर चलना आरंभ कर दिया। एक अन्य अवसर पर इन्होंने किसी अपरिचित स्त्री के हाथ का बनाया भोजन शीघ्रता में बिना हाथ धोये ही घोड़ पर चढ़े चढ़े खा लिया था। अपने अनुयायियों के पूछने पर इसका कारण यह बतलाया था कि उक्त स्त्री ने रसोई बड़ी श्रद्धा के साथ अपने अमार्जित अन्न को लेकर बनायी थी जिसे इन्हें उसके प्रति संकोच करते हुए प्रेमपूर्वक ग्रहण करना ही पड़ा।

गुरु हरराय तथा औरंगजेब

एक बार जब शाहजहाँ का सबसे बड़ा और प्रिय पुत्र दाराशिकोह बीमार

के लिए गई। किसी काज़ी की लडकी वीवी कौलन भी इनकी सेवा मे मियाँ मीर के परामर्शानुसार उपस्थित हुई थी और इनसे प्रभावित होकर उसने इन्हें अपना सब धन अर्पित कर दिया था। कहा जाता है कि उसी के द्रव्य से गुरु हरगोविंद ने अमृतसर मे एक नया तालाव स० १६७८ सन् १६२१ मे खोदवाया जिसका नाम 'कौलसर' रखा गया। इस प्रकार उक्त नगर मे इनके वनवाये एक अन्य तालाव विवेक सर को लेकर पाँच जलाशय हो गए। ये पाँचो तालाव आज भी सतोषसर, अमृतसर, रामसर, कौलसर तथा विवेकसर के नाम से उक्त नगर मे प्रसिद्ध हैं और वहाँ के मुख्य-मुख्य दर्शनीय स्थानो मे गिने जाते हैं।

पुत्रोत्पत्ति

गुरु हरगोविंद को उनकी पत्नी दामोदरी से कार्त्तिक सुदी १५, स० १६७० सन् १६१३ ई० को एक पुत्र गुरुदित्ता नामक उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार इनकी दूसरी पत्नी नानकी के गर्भ से वैशाख वदी ५, स० १६७९ सन् १६२२ ई० को एक दूसरे पुत्र तेग़वहादुर का जन्म हुआ। उक्त गुरुदित्ता से ही आगे चल कर माघ सुदी १३, स० १६८७ सन् १६३० ई० को गुरु हरगोविंद को एक पौत्र हुआ जिसका नाम हरराय रखा गया जो इनका उत्तराधिकारी वना।

गुरु हरगोविंद तथा शाहजहाँ

जहाँगीर वादशाह के देहात हो जाने पर एक वार उसका पुत्र वादशाह शाह-जहाँ लाहोर से अमृतसर की ओर शिकार के लिए निकला। उसी समय गुरु हर-गोविंद भी अपने अनुचरो को लेकर आखेट के लिए उधर आ गए थे। वादशाह के पास एक वहुत सुदर वाज था जिसे ईरान के शाह ने उसे भेंट के रूप मे दिया था जो ऐसे अवसरो पर सदा उसकी कलाई पर वैठा रहा करता था। सयोग-वश वाज को वादशाह ने किसी व्रह्मनी पडुकी पर छोड दिया और वे दोनो पक्षी आपस मे लडते-भिडते वा खेलते हुए दूर तक निकल गये। वादशाह के शिकारी अनुचर वाज के लिए दौडाये गए, किंतु वह नही मिल सका। अत मे पता चला कि गुरु हरगोविंद के अनुचरो ने उसे पकड लिया है। परन्तु माँगने पर उन्होने वाज को लौटाया नही जिससे दोनो दलो मे झगडा आरभ हो गया। सिक्खो को एक साधारण-सी घटना के कारण वादशाह की एक फौज के साथ अमृतसर नगर के ४ मील दक्षिण की ओर स० १६८५ सन् १६२८ ई० मे एक छोटा-सा युद्ध करना पड गया जिसमे वे सफल हो गए। उक्त घटना की स्मृति मे उस स्थल पर आज भी एक मेला प्रति वर्ष वैशाखी पूर्णिमा को लगा करता है। एक दूसरे अवसर पर भी गुरु हरगोविंद को मुगल सेना का सामना करना पडा, जव उसने इनके द्वारा स्थापित श्री हरगोविंदपुर नामक नवीन नगर पर आक्रमण किया था।

से पहुँचनेवाले इस समाचार से स्वभावतः बड़ा कष्ट पहुँचा। उन्हें उसी क्षण से ईर्ष्या और द्वेष से प्रभावित करना आरंभ कर दिया। औरंगजेब को जब इस बात का पता चला तब उसने ऐसे उपयुक्त अवसर से पूरा लाभ उठाने का निश्चय कर लिया। गुरु हरकृष्णराय को अपने दरबार में बुला लाने के लिए अंबर के राजा जयसिंह को भेजा। राजा जयसिंह ने जब गुरु हरकृष्णराय को इस बात की सूचना दी तब इन्होंने ऐसा करने से इनकार किया। यह भी कहला दिया कि बादशाह के दरबार में जाना हमारे पूर्व पुरुषों के मंतव्यों के प्रतिकूल पड़ेगा। फिर भी राजा जयसिंह के बहुत अनुरोध करने पर इन्होंने वहाँ जाना अंत में स्वीकार कर लिया और दिल्ली के लिए रवाना हो गए।

मृत्यु

परन्तु मार्ग के बीच में ही इन्हें अपनी यात्रा के चौथे दिन ज्वर आ गया। चैत्र का महीना था। ज्वर-ताप के कारण इनकी आँखें लाल-लाल हो गईं, श्वास अधिक वेग के साथ चलने लगी। इनके शरीर की आँच का स्पष्ट अनुभव कुछ दूर खड़े हुए लोगों को भी होने लगा। अंत में चेचक के चिह्न भी लक्षित होने लगे और ज्वराधिक्य के प्रभाव में आकर इन्हें बेहोशी तक होने लगी। इस प्रकार जब इन्होंने अपना अंत निकट आया हुआ समझा तब पाँच पैसे और एक नारियल मँगाये उन्हें उठा न सकने के कारण अपने पास रख कर केवल हाथ हिलाये। इस प्रकार तीन बार अपने उत्तराधिकारी किसी 'बाबा बाकले' की प्रदक्षिणा की। इनका देहांत चैत्र सुदी १४ संवत् १७२१ सन् १६६४ ई० को शनिवार के दिन केवल ७ वर्ष और कुछ महीने की अवस्था में ही हो गया। इनकी मृत्यु का स्थान 'बाला साहेब' कहलाता है।

(९) गुरु तेगबहादुर

गुरु-गद्दी का उत्तराधिकारी

गुरु तेगबहादुर अपने बचपन से बहुत शांतिप्रिय थे। कहा जाता है कि जब ये पाँच वर्ष के थे तभी अपने विचारों की धुन में लगे रहते थे और उस दशा में किसी से भी बोलते न थे। कुछ बड़ा होने पर इसका विवाह कर्तार-पुर जिले के करतारपुर नगर की गुजरी नामक स्त्री के साथ हुआ। गुरु हरगोविंद की मृत्यु के अनंतर तेगबहादुर अपनी माता तथा पत्नी के साथ बाकला नामक स्थान में रहने के लिए चले गए। जब गुरु हरकृष्णराय का अंतिम समय आया और उन्होंने अपने उत्तराधिकारी का नाम बाबा बाकले बतला कर तीन-चार बार अपना हाथ हिलाया तब इस बात की सूचना पाकर उक्त बाकला स्थान के २२ सोढ़ी खत्री अपने-अपने को गुरु घोषित कर उसके लिए मल्ल

पडा, तब किसी ने उसे सूचना दी कि गुरु हरराय के पास अच्छी-अच्छी दवाएँ हैं। इस पर बादशाह ने इन्हें सहायतार्थ लिख भेजा और इन्होने उपयुक्त दवा भेज कर उसे अनुगृहीत कर दिया, तब से दाराशिकोह भी उनका बडा कृतज्ञ था। अतएव अपने धार्मिक गुरु मियाँ मीर के परामर्श से उसने हरराय के पास एक पत्र भेज कर इनसे मिलने की प्रार्थना की। वह इसी कार्य के लिए कीरतपुर तक भी गया, किन्तु प्रथम बार इनसे उसकी भेंट न हो सकी और दूसरी बार जाकर उसे इनसे व्यास नदी के तट पर मिलना पडा। इसी बीच मे शाहजहाँ के पुत्रो के बीच उसका उत्तराधिकारी होने के लिए युद्ध भी छिड गया और अत मे औरगजेब विजयी होकर बादशाह बना। औरगजेब से किसी ने गुरु हरराय के विरुद्ध इस बात की शिकायत की कि ये उस दाराशिकोह के प्रति मैत्री का भाव रखा करते थे जो उसका परम शत्रु रहा। उसने जिसे इसी कारण मरवा तक डाला था और साथ ही साथ यह भी कहला भेजा कि ये इस्लाम के विरुद्ध प्रचार भी करते हैं। इसलिए औरगजेब ने इन्हे अपने यहाँ बुला भेजा। परन्तु ये स्वय उसके यहाँ नही गये और अपने पुत्र रामराय को उससे भेंट करने के लिए भेज दिया। रामराय से बातचीत करते समय औरगजेब ने प्रश्न किया कि 'आदिग्रथ' मे दिये गए गुरु नानकदेव के सलोक "मिट्टी मुसलमान की, पेडे पई कुमिआर। घर भाडे ईटन किया, जल दी करे पुकार ॥" मे मुसलमान शब्द के आने से इस्लाम धर्म का अपमान क्यो न समझा जाय ? इसके उत्तर मे रामराय ने उसे बतलाया कि वास्तव मे 'मुसलमान' शब्द की जगह बेईमान शब्द चाहिए, जिस पर बादशाह सतुष्ट हो गया।

अत

परन्तु गुरु हरराय को उक्त सलोक के पाठ-परिवर्तन से बडा दुख हुआ और इन्होने अप्रसन्न होकर उन्हे अपने उत्तराधिकार से वचित कर देने का निश्चय किया। तदनुसार इन्होने अपने छोटे पुत्र हरकृष्णराय को बुला कर उसे अपने स्थान पर बिठा दिया। उसके सामने पाँच पैसे तथा नारियल रख कर उसे तिलक दिलाया। अत मे कार्तिक वदी ७, सवत् १७१८ सन् १६६१ ई० को रविवार के दिन गुरु हरराय का देहात हो गया।

(९) गुरु हरकृष्णराय

गुरु तथा औरगजेब

गुरु हरकृष्णराय का जन्म गुरु हरराय की पत्नी कृष्णकुँवर के गर्भ से मिती श्रावण वदी ९, सवत् १७१३ सन् १६५६ ई० को हुआ था। इस प्रकार इन्हें केवल पांच वर्ष और तीन महीने की ही अल्प अवस्था मे गुरु-गद्दी मिली। इनके बडे भाई रामराय इस समय देहली मे बादशाह के यहाँ थे। उन्हे कीरतपुर

स्वीकार कर लिया और शाही फौज के साथ दोनों मुंगेर, राजमहल तथा मालदा होते हुए नदी पार करके कामरूप के प्रदेश में पहुँच गए। किंतु वहाँ के राजा ने इनके परामर्शानुसार बादशाह के साथ लड़ने का विचार त्याग दिया और दोनों दलों में सद्भावना के साथ संधि हो गई। यहीं पर इन्हें पटने से समाचार मिला कि मिती पौष सुदी ७ संवत् १७२१ सन् १६६६ ई० को एक पुत्र उत्पन्न हुआ है जिस कारण ये पटना लौट आए और वहाँ से फिर आनंदपुर पहुँच गए।

प्राणदंड

इसी बीच में इधर औरंगजेब बादशाह की ओर से धर्म-परिवर्तन की चेष्टा आरंभ हो गई थी और यह कार्य कश्मीर में धूमधाम से होने लगा था। कश्मीरी ब्राह्मणों ने उक्त आंदोलन से प्रभावित होने के कारण गुरु तेगबहादुर के यहाँ जाकर सहायता के लिए प्रार्थना की। उन्हें गुरु ने बतलाया कि बिना किसी महापुरुष का बलिदान किये हिंदू-धर्म की रक्षा असंभव है। उस समय इनका पुत्र गोविंद एक छोटा-सा बालक था और वहीं पर बैठा हुआ था। इनकी बातों को सुनकर वह सहसा बोल उठा "पिताजी यदि ऐसी ही बात है तो भला ऐसे बलिदान के लिए आपसे अधिक योग्य और कौन मिलेगा? कश्मीरी पंडितों ने इस घटना को एक निश्चित संदेश मान कर इसकी सूचना बादशाह को दे दी। उन्होंने कह दिया कि यदि गुरु तेगबहादुर इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लें तो हम सभी उनका अनुसरण करेंगे। तदनुसार गुरु के लिए बुलावा भेजा गया और ये मार्ग में लोगों से मिलते-जुलते दिल्ली की ओर चल पड़े। इनके धीरे-धीरे आगे बढ़ने के कारण स्वभावतः कुछ विलंब हो गया और बादशाह के दरबार में प्रसिद्ध हो चला कि ये कहीं छिप कर बैठ गए हैं। इस कारण इनकी खोज के लिए कई गुप्तचर नियुक्त हुए। अंत में किसी बालक द्वारा अँगूठी बेच कर कुछ मिठाई खरीदते समय ये पकड़ लिये गए। दिल्ली में इन्हें लाते ही किसी न-किसी प्रकार राजबंदी बना लिया गया। फिर एक दिन जब ये बंदीगृह की छत से दक्षिण की ओर खड़े-खड़े देख रहे थे बादशाह ने इन पर इस बात का दोषा रोपण किया कि ये पर्दे के भीतर रहनेवाली बेगमों पर दृष्टिपात कर रहे थे। इस कारण इन्हें मर्यादा-भंग का अपराधी मानना चाहिए और इन्हें कठोर दंड देना उचित है। इसके उपरांत इन्हें अधिक कष्ट दिया जाने लगा। इनके कुछ साथियों के किसी-न-किसी प्रकार बंदीगृह से भाग निकलने पर इन्हें लोहे के एक पिंजड़े में डाल दिया गया। उसी दशा में मिती अगहन सुदी ५, संवत् १७३२ सन् १६७५ ई० को बुरे ढंग से इनकी हत्या भी कर डाली गई।

करने लग गए। अत में जब लवाना परिवार का एक सिक्ख जिसका नाम मक्खन शाह था और जिसने अपने डूबते हुए जहाज के बच जाने के उपलक्ष मे सिक्ख-गुरु की भेट के लिए कुछ द्रव्य देने का निश्चय किया था, ५०० मुहरे लेकर आया, तब यह जान कर उसे बडी घबराहट हुई कि अभी तक उक्त पद के लिए कोई भी नाम निश्चित नही। इस कारण वह प्रत्येक व्यक्ति के पास गया और उसकी परीक्षा के लिए दो मुहरें अर्पित कर उसकी गभीरता की पहचान की। जब उक्त २२ सोढियो में से उसे कोई भी उपयुक्त न जँचा, तब वह अत मे तेग-बहादुर के पास पहुँचा और इनका अपूर्व सतोष तथा सौजन्य देख कर प्रभावित हो गया। तदनुसार सभी अनुयायियो के अनुरोध करने पर चैत्र शुक्ल १४, स० १७७२ सन् १६६५ ई० की २०वी मार्च को ये गुरु गद्दी पर बैठे।

द्वेषाग्नि तथा षड्यत्र

परन्तु उक्त भेंट की बात तथा गद्दी की प्राप्ति का हाल सुन कर इनका भाई धीरमल द्वेष के कारण जल उठा। उसने कुछ मसदो को यह कह कर इनके पास भेजा कि इन्हें वे गोली का निशाना बना दें। इस प्रकार उसके शत्रु का का नाश हो जाय। मसदो ने उसके कथनानुसार वार अवश्य किया, किंतु इन्हे अधिक चोट न आयी। सिक्खो ने उन्हें तथा धीरमल को भी इसके लिए भले प्रकार से दडित किया। इस घटना के अनतर भी सोढ़ी-परिवार के खत्री इन्हें अपने द्वेष के कारण सदा सताने की चेष्टा करते रहे। इसलिए इन्होने अत मे आषाढ स० १७२२ १६६५ ई० मे कीरतपुर का त्याग कर वहाँ से छह मील की दूरी पर एक नये शहर आनदपुर की नीव डाली और वही पर बराबर निवास करने का विचार किया। फिर भी धीरमल तथा रामराय अपने कुचक्रो से कभी नही चूके और इन्हें विवश होकर धर्म-प्रचार के बहाने भिन्न-भिन्न प्रातो मे भ्रमण करना पडा। एक बार ऐसी ही यात्रा करते-करते ये थानेश्वर आदि तीर्थों और प्रसिद्ध नगरो से होते हुए पूर्व दिशा की ओर कडा मानिकपुर तक पहुँचे जहाँ पर मलूकदास नाम के एक बहुत बडे सत रहा करते थे। मलूकदास ने पहले इनके आखेटादि का हाल सुन कर इनके प्रति बडी तुच्छ धारणा की थी, किंतु इनस मिल कर वे बहुत प्रभावित हुए। वहाँ से गुरु तेगबहादुर प्रयाग और काशी गये। काशी में इन्होने 'रेशम कटरा' मुहल्ले के 'शबद का कोठा' नामक स्थान में निवास किया जहाँ पर इनके जूते और कोट 'बडी सगत' के भीतर आज तक सुरक्षित हैं। यहाँ से आगे बढने पर इन्हें जयसिंह के पुत्र राम सिंह की ओर से पत्र मिला कि आप कृपापूर्वक हमें कामरूप के विरुद्ध औरगजेब बादशाह की चढाई में सहायता प्रदान करें। गुरु तेगबहादुर ने उक्त प्रस्ताव को

तथा युद्धोचित कलाओं के अभ्यास में अपना बहुत-सा समय दिया करते । तीसरे पहर में अपने दरबार में सिक्खों से मिल-जुल कर शिकार के लिए निकल जाते अथवा कभी-कभी घुड़सवारी में अपना समय व्यतीत करते थे । अंत में संध्या समय 'रहिरास' के भजन के अनंतर शयन करते थे ।

रतनराय की भेंट

आसाम के राजा राम का देहांत हो जाने पर उसका द्वादश वर्षीय पुत्र रतन राय इनसे मिलने के लिए आनंदपुर आया । वह अपने साथ सुनहले साजों से सुसज्जित पाँच घोड़े एक छोटा चतुर हाथी और एक ऐसा शस्त्र लाया था जिससे पाँच हथियार अलग-अलग निकाले जा सकते थे । सर्वप्रथम एक पिस्तौल निकलती थी फिर बटन के दबाते ही एक तलवार भी ऊपर आ जाती फिर एक भाला निकलता और तदनंतर क्रमशः एक कटार और एक मुद्गर भी निकल पड़ते । इनके सिवाय उक्त भेंट में वह एक ऐसा सिंहासन था जिसका बटन दबाने पर कुछ परियाँ निकल कर चौपड़ खेलने लग जाती थीं । एक बहुमूल्य प्याला था और उसके साथ ही अनेक हीरे-जवाहरात तथा वस्त्रादि थे । उक्त हाथी तो इतना प्रवीण था कि वह गुरु गोविंद सिंह के जूते साफ कर उन्हें ठीक ढंग से रख देता । इनके चलाये हुए तीर को इनके निकट फिर पहुँचा देता । इनके पैर धोने के लिए पानी से भरा बड़ा लिये खड़ा रहता और उन्हें तौलिये से पोंछ देता । एक चामर लेकर इनके ऊपर झलता और रात के समय अपनी सूँड में दो जलती हुई मशालें लेकर इनके साथ मार्ग दिखलाता हुआ चलता । राजा रतनराय ने गुरु गोविंद सिंह से विशेष अनुरोध किया था कि हाथी को कहीं अन्यत्र न दे दीजिएगा ।

प्रतिशोध की भावना

जिस प्रकार इनके पहले गुरु हरगोविंद ने अपने पिता की अकाल मृत्यु का समाचार सुन कर अपने सुख-सुलभ जीवन में परिवर्तन ला दिया था और अत्याचारियों से बदला लेने का प्रण करके सिक्खों का संगठन आरंभ कर दिया था उसी प्रकार, अपितु उनसे कहीं अधिक दृढ़ता के साथ गुरु गोविंद सिंह ने अपने पिता की हत्या करानेवाले बादशाह तथा उसके कर्मचारियों को हानि पहुँचाने का निश्चय किया । अब इनके यहाँ भी उसी प्रकार दूर-दूर तक के निवासी वीर युवक आ-आकर भरती होने लगे और इनकी सेना क्रमशः बढ़ती हुई वृहद् रूप धारण करने लगी । इन्होंने अपनी सेना के लिए एक बहुत बड़ा नगाड़ा भी बनवाया जिसका नाम इन्होंने 'रणजीत' रखा । इस नगाड़े को लेकर एक बार ये जब आखेट को निकले थे तब इनके आदमियों ने पहाड़ी राजा भीमचंद की

इनके शव को कुछ सिक्खो ने चोरी से निकाला और उसे ले जाकर किसी वस्ती मे छिपा दिया जहाँ पर आग लगने के कारण वह उसके मकानो के साथ जल कर भस्म हो गया ।

स्वभाव

गुरु तेगवहादुर एक वहुत वीर और साहसी पुरुष थे और अपने पिता की भाँति इन्होने भी पहले आखेटादि का अभ्यास किया था। किंतु यह सव कुछ होते हुए भी इनका हृदय अत्यत कोमल था और ये स्वभावत बडे क्षमाशील थे । ये बहुधा कहा करते थे कि "क्षमा करना दान देने के समान है । इसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति निश्चित रहती है । क्षमा के समान अन्य कोई भी पुण्य नही । सतो का यह अमूल्य धन है जिसे न तो कोई क्रय कर सकता है, न चुरा सकता है और न छीन ही सकता है ।" गुरु तेगबहादुर की अनेक सुदर तथा विशुद्ध रचनाएँ 'गुरुग्रथ साहब' मे सगृहीत हैं इनमे आध्यात्मिकता और नश्वर के प्रति उदासीनता के भाव अपेक्षाकृत अधिक मुखर जान पडते हैं।

(११) गुरुगोविंद सिंह

प्रारंभिक जीवन

गुरु गोविंद सिंह का पहला नाम गोविंद राय था। जैसा कहा जा चुका है, इनके बचपन का कुछ समय पटने में ही वीता था । अपने पिता गुरु तेगबहादुर के पटना छोड कर आनदपुर चले जाने के कुछ दिनो पीछे इन्होने अपनी माता के साथ वहाँ के लिए प्रयाण किया । ये मिर्जापुर से होते हुए बनारस गये जहाँ कई दिनो तक रह कर फिर अयोध्या, लखनऊ आदि की यात्रा करते हुए अपने पिता के निकट पहुँच गए । ये अपनी छोटी अवस्था से ही खेल-कूद तथा शारीरिक श्रम के अभ्यासो में बहुत भाग लेते रहे । पटना में रहते समय ही ये गगा नदी मे नाव खेते और दूसरे लडको को आपस में युद्ध करने के लिए उत्तेजित कर उनके द्वद्व का वडे चाव के साथ निरीक्षण करते । ये स्वय तीर चलाने का अभ्यास करते और दूसरो को भी इस कला की शिक्षा देकर उनसे निशाना लगाने की चेष्टा कराते । एक बार नाव खेते समय इनके पैर पानी में फिसल भी गए थे । आनदपुर जाने के अनतर इन्होने तीक्ष्ण नोकवाले तीरो को ढेर की ढेर कई वार लाहोर से मँगाया और वाण-विद्या में और भी दक्षता प्राप्त की। इन्होने इसी प्रकार अपने दादा गुरु हरगोविंद की भाँति आखेट का भी अच्छा अभ्यास कर लिया । गुरु-गद्दी पर बैठ जाने के अनतर भी ये नित्यप्रति सूर्योदय के पहले उठा करते, आवश्यक उपासना करते और विशेषकर 'असा दी वार' का पाठ सुना करते । सूर्योदय हो जाने पर ये अपने सिक्ख अनुयायियो को उपदेश देते

को उनकी पत्नी सुंदरी के गर्भ से एक पुत्र हुआ जिसका नाम अजीत सिंह रखा गया। फिर इसी प्रकार इनकी दूसरी पत्नी जिता के गर्भ से एक दूसरा पुत्र जोरावर सिंह मिती चैत्र बदी ७ संवत् १७४७ को हुआ। इसी दूसरी पत्नी से ही मिती माघ सुदी १ संवत् १७५३ सन् १६९७ ई० को एक तीसरे पुत्र जुझार सिंह की भी उत्पत्ति हुई जिसके लिए बधाई देने के उपलक्ष में बुंदेलखंड के प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र कुँवर इनके यहाँ उपस्थित हुए। गुरु ने उन्हें अपने यहाँ दरबारी कवि के रूप में नियुक्त कर लिया। गुरु गोविंद सिंह को अंत में एक चौथा पुत्र फतेह सिंह भी उसी जिता नामक पत्नी से मिती फाल्गुन बदी ११ संवत् १७५५ सन् १६९९ ई० को उत्पन्न हुआ।

दुर्गा का आविर्भाव

इस घटना के लगभग किसी केशोदास ब्राह्मण ने गुरु गोविंद सिंह से आकर कहा कि मैं आपको दुर्गा देवी के दर्शन करा दूँगा और इसके लिए उसने इनसे बहुत-सी सामग्री भी एकत्र करायी। परन्तु निश्चित समय पर वह पंडित कहीं भाग गया इस कारण गुरु ने कुल सामान लेकर होम-कुंड में डाल दिया। कुछ ही समय में एक भीषण ज्वाला के रूप में आग प्रज्वलित हो उठी। गुरु उसके प्रकाश में अपनी तलवार भाँजते हुए आनंदपुर की ओर बढ़े। उपस्थित जनता के समक्ष इन्होंने यह प्रकट किया कि उक्त चमचमाती हुई तलवार को इन्हें दुर्गादेवी ने ही भेंट की है। इसके अनंतर इन्होंने सभी सिक्खों को आनंदपुर में बैसाखी मेले के अवसर पर उपस्थित होने के लिए आमंत्रित किया और आदेश दिया कि सभी बिना बाल बनाये ही आवें। इन्होंने एक ऊँची जगह पर कालीन बिछा दिया और निकट की कुछ जगह को कनात में घेर कर उसे वहाँ एकत्र होनेवाले लोगों की आँखों से ओझल कर दिया। फिर आधी रात को इनके आदेशानुसार एक सिक्ख ने जाकर उसके भीतर पाँच बकरे बाँध दिये। दूसरे दिन इन्होंने उपासना के अनंतर अपना कार्य आरंभ किया। पहले इन्होंने उसके बाहर खड़ा होकर उपस्थित जनता में से उसके भीतर बलिदान चढ़ने के लिए एक-एक करके आमंत्रित किया। बड़ी हिचकिचाहट तथा सोच-विचार के अनंतर इनके यहाँ लाहौर के दयाराम सिक्ख, दिल्ली के धर्मदास, द्वारका के मुहकमचंद, बीदर के साहिबचंद तथा जगन्नाथपुरी के हिम्मत ने जाना स्वीकार किया। उन्हें इन्होंने क्रमशः भीतर ले जाकर मार डाल देने का प्रदर्शन किया। प्रत्येक बार जब ये किसी एक को लेकर भीतर जाते उसे वहीं बिठा देते और एक बकरे को मार कर उसके लहू से रंजित अपनी तलवार दिखलाते हुए बाहर निकल आते।

राजधानी विलासपुर के निकट इसे वजा दिया और इसके शब्द के कारण वहाँ पर लोगो में धूम मच गई। राजा भीमचद इनके यहाँ स्वय मिलने के लिए आया और जब उसकी दृष्टि इनके हाथी पर पडी, तव उसे इच्छा हुई कि उस विचित्र जीव को किसी-न-किसी प्रकार ले लें। प्राय इसी समय राजा भीमचद के निकट गढवाल प्रात के श्रीनगर-निवासी राजा फतेहशाह का दूत उसकी पुत्री के विवाह के लिए पत्र लेकर आया और बातचीत निश्चित हो जाने पर उक्त अवसर के लिए राजा भीमचद ने गुरु गोविंद सिंह से उस हाथी को भी माँगा। किंतु गुरु ने उसके प्रस्ताव की ओर कोई ध्यान नही दिया।

दुर्ग-निर्माण तथा सधि

गुरु गोविंद सिंह ने इसी समय के लगभग देहरादून से ३० मील की दूरी पर एक पौंटा नामक दुर्ग बनवाना आरभ किया। इसी सवध मे इनके साथ देहरादून के रहनेवाले इनके चाचा रामराय से मित्रता भी हो गई। यही पर इन्हें किसी बुद्धूशाह नामक सैयद मुसलमान से भी परिचय हो गया और यह इनके द्वारा इतना प्रभावित हुआ कि वह इन्हें अपना गुरु तक मानने लगा। श्रीनगर के राजा फतेहशाह तक ने इनसे घनिष्टता उत्पन्न कर ली और दोनो एक साथ कभी-कभी आखेट करने के लिए भी जाने लगे। तदनुसार गुरु गोविंद ने राजा फतेहशाह की पुत्री के विवाह के उपलक्ष में उसके निकट सवा लाख रुपये तथा कुछ बहुमूल्य रत्न भेजे। परन्तु भीमचद ने जिसके पुत्र का विवाह होने जा रहा था, उक्त मैत्री को द्वेष की भावना के साथ देखा। उसके यहाँ इसने कहला भेजा कि मैं ऐसी स्थिति में वैसा सवध करने पर किसी प्रकार तैयार नही। इस कारण राजा फतेहशाह ने गुरु गोविंद सिंह की भेंट को अस्वीकार कर दिया और लौटते हुए दूतो को मार्ग में घेर कर उनसे सभी वस्तुएँ छीन भी ली। इसके अनतर गुरु तथा पहाडी राजाओ के बीच शत्रुता के भाव स्पष्ट रूप मे दीख पडने लगे और दोनो दलो में भगमानी के मैदान में एक युद्ध भी हुआ जिसमे राजा लोग हार गए। गुरु गोविंद इन दिनो अपने दुर्ग के निकट ही निवास करते थे। ये प्रतिदिन बहुत सवेरे उठा करते, स्नान कर लेते और तव यमुना नदी के किनारे-किनारे बडी दूर तक एकात स्थान की खोज में टहलते हुए चले जाते। फिर ये कही बैठ जाते और कुछ घटो तक काव्य-रचना मे लगे रहते। ऐसे ही अवसरो पर इन्होंने श्रीकृष्ण के चरित से सवद्ध रासमडल सवधी कुछ रचनाएँ प्रस्तुत की थी।

पुत्रोत्पत्ति

गुरु गोविंद सिंह को मिती माघ सुदी ४, सवत् १७४३ - सन् १६८७ ई०

नवीन युग का सूत्रपात

इस प्रकार अत मे इन्होने उपस्थित जनता के समक्ष आकर एक वहुत गभीर भापण दिया और वतलाया कि "आज से एक नवीन युग का सूत्रपात और नवीन समाज का प्रादुर्भाव होता है जो लोग मेरी वातो का विश्वास करेंगे उनका भविष्य अवश्य उज्वल होगा।" इन्होने उक्त पाँचो व्यक्तियो को सवके सामने जीवित दशा में दिखला दिया और उन्हे उस दिन से 'पच प्यारे' की सज्ञा दी गई। इन्होने कहा कि आज से वर्ण-व्यवस्था नष्ट हो गई और अव से सभी सिक्ख एक समान भाई-भाई वन कर रहा करेंगे, किसी का किसी के साथ कोई भेदभाव नही रहेगा। इन्होने उक्त पाँचो सिक्खो को अपने हाथ से दीक्षित किया और उन लोगो ने भी इन्हें इसी प्रकार शुद्ध वा खालिस वनाया। इस प्रकार 'खालसा-सम्प्रदाय' की नीव डाली गई। इन्होने यह भी कहा कि पूर्वकाल में गुरु नानकदेव के लिए केवल एक अगद थे, किंतु मेरे साथ इस समय पाँच प्यारे वर्तमान है। दीक्षा के लिए इन्होने एक वडे कडाह में कुछ पानी भर कर उसे पहले अपनी तलवार से चलाया और फिर उनकी नोक से पानी को लेकर उक्त पाँच सिक्खो के शरीर पर छिडक दिया। इनकी पत्नी जिता ने उक्त पानी में कुछ वताशे भी लाकर डाल दिये थे जिससे वह शर्वत अथवा 'अमृत' वन गया और दीक्षा के कार्य मे स्त्री-पुरुप दोनो के सहयोग का आरभ भी हुआ। कहा जाता है कि जव कडाह के कुछ पानी को दो गौरैयो ने पिया, तव वे पीते ही आवेश मे आकर लडने लगे। गुरु गोविंद सिंह ने दीक्षित खालसा-पथियो को उस दिन से कटार, कघा, कच्छ, केश तथा कडा के धारण करने का आदेश दिया। 'वाह गुरुजी का खालसा' तथा 'वाह गुरुजी की फतेह' के मत्रो को महामत्र वतलाया। इन्होने आपस में वैवाहिक सवध स्थापित करते समय खालसा-पथियो को इस वात की ओर विशेष ध्यान रखने के लिए कहा कि 'कही भूल से भी तुम लोगो के साथी प्रिथीचद, धीरमल, रामराय अथवा मसदो के कुलो से किसी प्रकार का सपर्क न होने पावे। उक्त प्रथम दीक्षा वैशाख वदी १, स० १७५६ को हुई और उसके स्थान को अव किशनगढ कहा जाता है।

विकट सग्राम

पहाडी राजाओ ने वादशाह के निकट जाकर इस वात की शिकायत की कि सिक्खो ने इस्लाम के विरुद्ध कार्य करना आरभ कर दिया है। इस कारण उनके दमन के लिए कई यत्न किये गए। दोनो दलो में अनेक वार सघर्ष हुए जिनमें सिक्ख अपने को वडी वीरता के साथ वचाते गए। कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती कि ये एक ओर मुग़लो की फौज तथा दूसरी ओर पहाडी सेना

उसे ही अपना उत्तराधिकारी छोड़ कर चल बसे ।

गुरु गोविंद सिंह का देहांत मिती कार्तिक सुदी ५, संवत् १७६५ सन् १७ ८ ई में हुआ । मादेड़ जहाँ पर ये मरे थे अब अबिचल नगर के नाम से प्रसिद्ध है । इनकी मृत्यु के स्मारक रूप में महाराजा रणजीत सिंह ने यहाँ पर सन् १८१२ ई मे कुछ इमारतें भी बनवा दी हैं ।

गुरुग्रंथ साहिब

जिस समय गुरु गोविंद सिंह आनंदपुर को छोड़ कर अपने अनुयायियों के साथ दक्षिण की ओर बढ़ते जा रहे थे उसी समय इन्होंने दमदमा स्थान पर आदिग्रंथ का पूरा पाठ भाई मनी सिंह को बिठला कर लिखवाया था । उसमें पहले-पहल गुरु तेगबहादुर की कुछ रचनाएँ भी सम्मिलित करा दी थी । इन्होंने अपनी रचनाओ में से केवल एक सलोक-मात्र को उसमें स्थान दिया ।[१] इसके पहले 'आदिग्रंथ' के दो संस्करण (बीड़) भाई गुरुदास तथा भाई बन्नो द्वारा पहले ही प्रस्तुत किये जा चुके थे जो आज भी क्रमशः करतारपुर, जिला जालंधर तथा मांगट जिला गुजरात मे वर्तमान समझे जाते है । भाई मनी सिंह वाला उक्त दमदमा वाला तीसरा संस्करण संभवतः सबसे अधिक पूर्णरूप मे था किंतु वह अब नहीं मिलता । कहा जाता है कि उसे या तो अहमदशाह अब्दाली ने नष्ट कर दिया अथवा वह उसे अपने यहाँ उठा कर ले गया । गुरु गोविंद सिंह की रचनाओं का संग्रह 'दसवाँ पातसाह का ग्रंथ' के नाम से प्रसिद्ध है जिसे भाई मनी सिंह ने ही सन् १७३४ ई में तैयार किया था । भाई मनी सिंह एक बहुत योग्य व्यक्ति थे और इन्हें गुरु गोविंद सिंह के परिवार के प्रति अत्यंत गहरी निष्ठा थी । इन्होंने 'जपुजी' 'असावी वार' तथा 'सिधगोष्ठ' पर टीकाएँ लिखीं । 'ज्ञान रत्नावली' तथा 'भगत रत्नावली' नामक दो अन्य सुंदर पुस्तको की रचना भी की । इन्हें अंत में काजियों के फतवे के अनुसार लाहोर मे बोटी-बोटी काट कर मार डाला गया ।[२] 'दसम ग्रंथ' के अंतर्गत गुरु गोविंद सिंह की अपनी रचनाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी कृतियाँ हैं जिन्हें इनके दरबारी कवियो ने लिखा था । गुरु गोविंद सिंह ने इन कवियो से कई

---

१ डॉ दुग्ग मेकालिफ तेजा सिंह और गंडा सिंह-जैसे कुछ लेखक उनका यह 'दोहरा' मानते हैं
"बल होआ बंधन छुटे सम किछु होत उपाइ ।
नानक सब किछु तुमरे हाथ में तुमही होत सहाइ" ग्रं सा पृ १४२९ ।

२. दे० The Missionary Delhi, Vol II No 8 24

गुरु गोविंद के शेष दो बडे लडके अजीत सिंह तथा जोरावर सिंह को भी भागते समय मार्ग में ही लड कर अपने प्राण देने पडे और गुरु ने दीना नामक स्थान में पहुँच कर औरंगजेब के पास इसी समय अपनी एक रचना 'जफरनामा' फारसी भाषा में लिख कर भेजी थी।

गुरु और बहादुर शाह

इसके अनतर औरंगजेब बादशाह का देहात हो गया और उसके पुत्रो में राज-गद्दी के लिए लडाई छिड गई। अत में जब बहादुरशाह विजयी हुआ, तब उसने इस बात की सूचना गुरु गोविंद सिंह को भी दी और इनकी मित्रता तथा आशीर्वाद के लिए अनुरोध करते हुए इन्हें आगरा आने के लिए भी लिखा। तदनुसार गुरु देहली होते हुए आगरा पहुँचे और दोनो मे बडे सौहार्द के साथ बातचीत हुई। वहाँ से वे दोनो जयपुर, चित्तौर तथा बुरहानपुर आदि स्थानो मे साथ-साथ गये और कही भी उनके सद्भाव में कोई अतर आता दिखायी नही पडा। जिस समय बहादुरशाह राजस्थान में ही था, गुरु गोविंद सिंह वहाँ से गोदावरी नदी के किनारे नादेड चले गए और वहाँ के लोगो से भी इनका परिचय हो गया। ऐसे ही व्यक्तियो में एक वैरागी साधु भी था जिसने इनसे प्रभावित हो जाने के कारण इनकी शिष्यता स्वीकार कर ली और वह 'खालसा-सम्प्रदाय' का एक प्रमुख सदस्य बन गया। यही साधु आगे चल कर 'बदा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसने गुरु के आदेशानुसार मुसलमानो से उनके कुकृत्यो का पूरा बदला लिया।

अतिम समय

गुरु गोविंद सिंह जिस समय वहाँ पर ठहरे थे, तभी एक बार इनके कतिपय धार्मिक उपदेशो से चिढ कर किसी पठान ने इनके पेट में सोते समय कटार चुभो दी जिससे बहुत बडा घाव हो गया। पठान को तो इन्होने वही पर अपनी तलवार उठा कर मार डाला, किंतु घाव के कारण इन्हें कुछ कष्ट भोगना पडा। बहादुरशाह ने इस समाचार को पाकर कई निपुण डाक्टर तथा जर्राह घाव को अच्छा करने के लिए भेजे और शीघ्र ही वह बहुत कुछ भर भी गया था। परन्तु एक दिन जब ये किसी बडे धनुष की प्रत्यचा खीच रहे थे, तब घाव का टाँका अचानक टूट गया और उससे रक्त की धार वह निकली। यही घटना इनके लिए प्राण-घातक सिद्ध हुई। जब इन्होने अपना अत निकट आया समझा, तब अपने वीर वेश में सुसज्जित हो गए, कधे पर धनुष रख लिया और हाथ मे बदूक ले ली। इन्होने 'आदिग्रथ' को खोल कर उसे अपने सामने रखा और पाँच पैसे तथा एक नारियल उसके निकट रख कर उसके सम्मुख अपना सिर झुकाया और वे

(१२) वीर बंदा बहादुर

प्रतिशोध के प्रतीक

गुरु नानकदेव से जो सिक्ख गुरुओं की परंपरा चली थी वह दसवें गुरु गोविंद सिंह की आज्ञा से उनके अनंतर समाप्त हो गई। उनके पीछे किसी व्यक्ति-विशेष को गुरु न मान कर केवल 'ग्रंथसाहिब' अथवा अब से 'गुरुग्रंथ साहिब' द्वारा निर्दिष्ट बातों का अनुसरण करने की ही परिपाटी चल निकली। परन्तु गुरु गोविंद की मृत्यु के समय देश की दशा ऐसी विचित्र हो गई थी कि सिक्खों के लिए अपने धर्म का समुचित पालन करना अत्यंत कठिन था। मुसल्मानों के विरुद्ध उनके भाव क्रमशः इस प्रकार द्वेष तथा शत्रुता से भरते गए थे कि वे उनसे प्रतिशोध के लिए निरंतर चेष्टा करते रहे। वीर बंदा बहादुर इसी प्रतिशोध की भावना के प्रतीक थे। इन्होंने अपने शौर्य तथा साहस द्वारा मुसलमानों के प्रति 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' वाले कथन को पूर्ण रूप से चरितार्थ कर दिया।

प्रारंभिक जीवन

वीर बंदा का पूर्व नाम लक्ष्मणदेव था। इनका जन्म मिती कार्तिक शुक्ल १३ संवत १७२७ सन् १६७ ई को पुणछ (पंच) नामक पहाड़ी इलाके के अंतर्गत राजौरी नाम के नगर में एक कश्मीरी खत्री (अथवा डोगरा क्षत्रिय) के घर हुआ था। ये अपनी छोटी उम्र से ही अत्यंत चंचल तथा साहसी प्रकृति के थे। ये अधिकतर घोड़े की सवारी करते आखेट के लिए जंगलों में चले जाते तथा दूसरों को तंग कर उन्हें कष्ट पहुँचाने का यत्न किया करते। एक दिन इन्होंने बिना जाने ही किसी गर्भवती हरिणी को अपने तीर से मार डाला। जब उसका पेट फाड़ा गया तब उसमें से दो जीवित बच्चे निकल आए जो शीघ्र ही तड़प-तड़प कर मर गए। इस घटना का लक्ष्मणदेव पर इतना प्रभाव पड़ा कि ये अपना घर-बार छोड़ कर किसी जानकी प्रसाद नामक बैरागी साधु के शिष्य 'लक्ष्मणदास' बन गए। फिर ये लाहौर प्रांत के कसूर नामक स्थान में गये और वहाँ किसी अन्य बैरागी की शिष्यता स्वीकार कर नारायणदास हो गए तथा उसके साथ इन्होंने देश-पर्यटन आरंभ कर दिया। ये क्रमशः दक्षिण की ओर नासिक से बढ़ते हुए पंचवटी के जंगलों तक चले गये जहाँ कुछ दिनों तक तपश्चर्या कर लेने के अनंतर इन्होंने किसी औघड़ से योग तथा तंत्र-मंत्र भी सीखा। अन्त में ये वहाँ से वर्तमान हैदराबाद के अंतर्गत नांदेड़ नामक स्थान में जाकर गोदावरी नदी के किनारे एक कुटी में रहने लगे और वहाँ इनके कई शिष्य भी हो गए। यहीं पर इनका नाम भी 'माधवदास' पड़ गया और

सस्कृत ग्रथो क अनुवाद भी कराये थे जिनमें 'महाभारत', 'रामायण' तथा 'सप्त-शती' मुख्य हैं । ऐसी रचनाओ की सख्या पहले वहुत वडी थी और एक वार जव इन कुल को तौला गया था, तव इनका वजन ढाई हडरवेट (लगभग ३ मन १५ सेर) तक पहुँचा था। इस वृहद् सग्रह का नाम इन्होने 'विद्यावर' रखा था जिसे ये सदा अपने साथ लिये रहते थे । कहा जाता है कि इनके आनदपुर छोड कर जाते समय इसका एक वहुत वडा अश किसी नदी के प्रवाह में वह कर नष्ट हो गया ।

योग्यता

गुरु गोविंद सिह शास्त्र तथा शस्त्र-विद्या दोनो में ही निपुण थे और ये गुणियो का अपने यहाँ सम्मान करना भी जानते थे । इन्होने अपने दरवार में ५२ कवियो को आश्रय दिया था। सस्कृत-ग्रथो का शुद्ध तथा सुदर अनुवाद कराने की इच्छा से इन्होने पाँच व्यक्तियो को काशी में पूर्णरूप से शिक्षित हो आने के लिए भेजा था। इन्होने अपना नाम गोविंद राय से वदल कर गोविंद सिंह रखा और आगे के लिए सभी सिक्खो को भी यही उपाधि धारण करने की अनुमति दी । ये एक दृढ सकल्पवाले धर्मगुरु, नीतिपरायण नेता तथा साहसी शूरवीर होने के अतिरिक्त प्रवीण कवि भी थे । इनके 'दसम ग्रथ' मे १३ ग्रथ आते हैं जिनमे से इन्होने अपनी रचना 'विचित्र नाटक' के अतर्गत अपने पूर्वजन्म का इतिवृत्त सगृहीत किया है और अन्य कई रचनाओ द्वारा भी अपने अनुयायियो को अधिक साहसी तथा उन्नतिशील वनाने की चेष्टा की है । गुरु-परपरा का अत कर उसके स्थान पर 'ग्रथ साहिब' को ही गुरुवत् मानने का आदेश इनके धार्मिक सुधारो में से एक था ।[1] वास्तव मे गुरु और उसके वचन को एक और अभिन्न मानने की प्रवृत्ति पहले से ही लक्षित होती आ रही थी।[2] इसी प्रकार दूसरा सुधार मसदो की तैनाती को भी सदा के लिए बद कर देना था । उक्त दोनो कार्यो के कारण पारस्परिक कलह, विद्वेष तथा धन-लोलुपता का सिक्खो में वहुत कुछ मार्जन हो गया। इनकी महानता के कारण वीर बुद्धशाह-जैसे कुछ मुस्लिम फकीर तक इनके समर्थक और अनुयायी तक बन गए थे ।

---

१ आज्ञा भई अकाल की, तभी चलायो पथ ।
सव सिक्खन को हुक्म है, गुरु मानियो ग्रथ ।।
गुरु ग्रथजी मानियो, प्रकट गुरों की देह ।
जो प्रभु को मिलनै चहैं, खोज शब्द मे वेह ।।

२. दे० 'सतिगुरु वचन वचन है, सतिगुरु पाधरु मुकति जनावैगो' आदि, आदिग्रथ।

उत्पन्न हुआ। फिर क्रमशः इन्होंने अमृत बना कर दीक्षा देने की प्रथा की जगह अपना चरणोदक छिड़क और पिला कर शिष्य बनाने का नियम निकाला। 'वाह गुरु जी की फतेह' के स्थान पर 'दया जी की दर्शनी फतेह' कहलाना भी आरंभ कर दिया। अंत में संवत् १७७४ की बैसाखी संक्रांतिवाले मेले के अवसर पर ये अपने सिर पर कलँगी सजा कर हरमंदर के भीतर गद्दी पर जा बैठे। इस बात को देख कर अमृतसर के सिक्खों को बड़ा क्षोभ हुआ और बाबा काहना सिंह आदि कुछ लोगों ने आपस में मिल कर इन्हें वहाँ से शीघ्र हटा दिया। तब से सिक्खों के दो दल उत्पन्न हो गए जिनमें से बंदा के विरोधियों ने अपने को 'तत्त खालसा' अथवा वास्तविक खालसा कहना आरंभ कर दिया।

पतन तथा प्राणदंड

आगे चल कर इस बात का परिणाम इतना बुरा हुआ कि दिल्ली के बादशाह ने अपने शत्रुओं के पारस्परिक विरोध से लाभ उठा कर उनमें अधिक से अधिक फूट डालने तथा उन्हें अपनी ओर अधिक से अधिक संख्या में आकृष्ट करने के यत्न किये। वीर बंदा की उन्नति इसके आगे रुकने लगी और उस समय के अनंतर होनेवाली लड़ाइयों में अब इनकी पराजय बहुत बार होने लगी। अंत में गुरुदासपुर के किले में चार महीनों तक लड़ कर सिक्ख लोग बुरे ढंग से पराजित हो गए। सं० १७७३ में अब्दुल समद खाँ तौरानी ने वीर बंदा को पकड़ कर इन्हें फर्रुखसियर बादशाह के यहाँ दिल्ली पहुँचा दिया। यहाँ पर ये एक लोहे के पिंजड़े में रखे गए और इन्हें बड़ी क्रूरता तथा बर्बरता के साथ कष्ट पहुँचाया गया। गर्म लोहे के मोचना से बड़ी निर्दयता के साथ इनकी खाल शरीर से खींची गई और बराबर उस पर आघात भी पहुँचाया जाता रहा जिससे इनकी मृत्यु हो गई। इनके अनुयायियों को भी तलवार से कत्ल कर दिया गया और उनके सिरों को प्रदर्शनार्थ नगर की भिन्न-भिन्न गलियों तक में घुमाया गया। वीर बंदा के बचे हुए अनुयायी आगे बंदई खालसा कहलाये।

(११) सिक्ख-पंथ तथा खालसा-सम्प्रदाय

सिक्ख गुरुओं का कार्य

गुरु नानकदेव द्वारा प्रवर्तित किये गए सिक्ख-धर्म के मूल दस गुरुओं का जीवन चरित्र अध्ययन कर लेने पर पता चलेगा कि उनको अपने-अपने जीवन में प्रायः निरंतर किसी-न-किसी प्रकार के विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा था। उन्हें न केवल अपने भीतरी अथवा निजी संबंधियों के कलह तथा ईर्ष्या के प्रभावों से अपने को बचाना पड़ता था अपितु बाहरी शत्रुओं के भय से भी सुरक्षित रखना आवश्यक था। गुरु नानकदेव से लेकर गुरु रामदास के समय

उसी दशा में इनसे गुरु गोविंद के साथ स० १७६४ ई० के सावन महीने मे भेंट हुई तथा ये उनके शिष्य बन गए। गुरुगोविंद सिंह ने इन्हें खालसा बना कर इनका नाम गुरु बख्श सिंह रख दिया था, किन्तु आगे चल कर ये केवल 'बंदा' नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुए।

दसवें गुरु की आज्ञा

अन्य उपदेशों के साथ-साथ गुरु गोविंद सिंह ने इन्हे यह भी आदेश दिया था कि तुम अब से कभी मिथ्या भाषण न करना, जितेन्द्रिय बन कर रहना, अपना भिन्न मत खडा न करना, किसी सिक्ख समुदाय पर कभी अपनी हुकूमत चलाने की चेष्टा न करना, न कभी किसी गुरुद्वारे के सामने अपनी गद्दी लगा कर बैठना। तुम आज से अपना यही एकमात्र कर्त्तव्य समझना कि मुसलमान जाति और दिल्ली बादशाह के क्रूर कर्मचारियो से उनके कुकृत्यो का बदला लेना परमावश्यक है और जैसे भी हो वैसे इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करके ही छोडना। इसलिए वीर बदा उनकी आज्ञा पाकर वहाँ से उत्तर की ओर गुरु गोविंद के दिये हुए पाँच तीर, एक तलवार तथा पचीस उत्साही सिक्खो को अपने साथ लेकर आगे बढे और इन्होंने सगठन-कार्य आरभ कर दिया। ये क्रमश बुंदेलखड, भरतपुर आदि होते हुए सायाना पहुँचे और उस पर चढाई करके वहाँ के मुसलमानो को लूट लिया। फिर अन्य कई स्थानो पर भी मारकाट करते हुए इन्होंने मुसलमानी के कई अड्डो पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। ये जहाँ भी अपने अनुयायी सिक्खो के साथ धावा बोल देते, एक खलबली-सी मच जाती और मुसलमान कर्मचारी तथा नवाब आदि वहाँ से भाग खड़े होते। ये लूट के माल को अपने सिपाहियो में बाँट देते थे। गुरु गोविंद सिंह के परिवार तथा उनके किसी भी अनुयायी के प्रति नीचता का वर्त्ताव कर चुकनेवाले व्यक्ति से पूरा बदला लेकर उसे नष्ट तक कर डालते। इस प्रकार इन्हें मुगल सेना के विरुद्ध भी अनेक लडाइयाँ लडनी पडी और ये अनेक बार सफल होते गए।

उसका उल्लघन

अतएव इनके पराक्रम के कारण पहले सारे सिक्ख तथा हिन्दू इनकी सहायता के लिए एक साथ जुट जाते रहे। परन्तु जब इनकी प्रतिष्ठा अधिक बढ गई और इनके शौर्य का प्रताप का सूर्य मध्याह्न की दशा में पहुँच गया, तब इनके विचारो मे क्रमश अभिमान तथा प्रमुत्व की भावना भी आने लगी। इन्होंने अब गुरु गोविंद सिंह के दिये गए उपदेशो का अक्षरश पालन करना कदाचित् उतना आवश्यक नही समझा। इन्होंने सभवत पहाडी राजा मडी-नरेश की एक सुदर लडकी से अपना विवाह कर लिया जिससे ९ आषाढ स० १७६९ को इन्हें एक पुत्र भी

इसी कारण जो आत्म-चिंतन से लेकर कठिन से कठिन सांसारिक उलझनों तक में एक समान अविच्छिन्न तथा निर्द्वंद्व रह सके। सिक्ख गुरुओं ने सदा इसी एक बात को लक्ष्य में रख कर अपने-अपने जीवन-काल में सब कार्य किये और उन्हें उचित रूप से संपन्न करने की चेष्टा की। उनकी गुरु-परंपरा गुरु गोविंद से आगे लुप्त हो गई। किंतु उनकी वाणियाँ उनके प्रतीक बन कर आज भी वर्तमान हैं और उनके आदर्श व्यक्तित्व को सुरक्षित रख रही हैं। सिक्ख गुरुओं के संबंध में विशेष ध्यान देने योग्य बात एक यह भी है कि गुरु नानकदेव की गद्दी पर बैठनेवाले किसी भी गुरु ने अपने को उनसे भिन्न नहीं माना। उस स्थिति में वे सदा अपने को 'नानक' समझते रहे और अपनी रचनाओं तक में उन्होंने अपने को नानक ही बतलाया। इसी कारण गुरु नानकदेव के पीछे आनेवाले शेष सब गुरु एक दीपक से जलाये गए अन्य सब दीपकों की भाँति अपने आदि-गुरु के पूर्ण प्रतिरूप समझे जा सकते हैं। उनके संगठित तथा सुरक्षित महत्तम मणियों की माला में भी इसी भाँति उस एक ही भावना का सूत्र अनुस्यूत माना जायगा जिससे कभी गुरु नानकदेव ने पहले-पहल प्रेरणा प्राप्त की थी।

गुरु नानक हिंदू मुसलमान से नितांत भिन्न

गुरु नानकदेव के मत का वास्तविक स्वरूप निर्धारित करते समय कुछ लोग इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि उन्हें हिंदू, मुसलमान अथवा किसी अन्य तीसरे धर्म का अनुयायी मान लेना परमावश्यक है। इस कारण वे 'सिक्ख-धर्म' के मूल आधार की पहचान पाने में बहुधा भूल कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए 'ग्रंथ साहब' के अनुवाद की भूमिका में ट्रम्प साहब ने गुरु नानकदेव को उनके विचारों के कारण एक पूर्ण हिंदू ठहराया था। इन्होंने कहा था कि उनमें दीख पड़नेवाला मुस्लिम प्रभाव उस सूफी-मत के अनुरूप है जो स्वयं हिंदू सर्वात्मवाद से ही अनुप्राणित कहा जा सकता है।[1] किंतु सिक्ख-धर्म के विषय में अपना निबंध लिखनेवाले फ्रेडरिक पिंकॉट ने इसके विरुद्ध बतलाया कि वास्तव में वे इस्लाम धर्मावलंबी थे। इस बात के प्रमाण में उन्होंने उनकी वेश-भूषा तथा मक्का-मदीना के भ्रमण आदि के हवाले देकर अपने मत की पुष्टि करनी चाही।[2] इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरे पाश्चात्य विद्वान् मैकालिफ ने भी इसी प्रकार उन्हें एक नितांत भिन्न मत का प्रचारक माना और अपने 'सिक्ख रिलिजन' ग्रंथ की भूमिका में इस बात का पूर्ण समर्थन किया।[3] उधर

---

१ डॉ० ट्रम्प : दि आदिग्रंथ, इंट्रोडक्शन, पृ० ९७-११८।

२ फ्रेडरिक पिंकॉट : दि डिक्शनरी ऑफ इस्लाम।

३ एम० ए० मैकालिफ : दि सिक्ख रिलिजन, भा० २।

नक अधिकतर उन्हे अपने लोगो के ही असतोष तथा मनोमालिन्य के कारण सँभल कर चलना पडा, किंतु गुरु अर्जुनदेव के अतिम समय से लेकर गुरु गोविंद सिंह के पीछे तक उन्हें मुसलमानी शासन का कटुतापूर्ण अनुभव भी सदा होता गया। इसी कारण सिक्ख गुरुओ के जीवन में गुरु अर्जुनदेव के समय तक पूर्ण सतो-जैसी शाति, सद्भावना तथा सहनशीलता के ही गुण लक्षित होते हैं, किंतु गुरु हर-गोविंद के आविर्भाव-काल से उसमें वीर-भाव, वैमनस्य तथा प्रतिशोध की भावना भी दृष्टिगोचर होने लगती है। इस दूसरे युग में राजनीतिक परिस्थिति ने तत्कालीन सिक्ख गुरुओ के ऊपर अपना प्रभाव इतने उग्र रूप में डाला कि उन्हें वाध्य होकर अपने कार्यक्रम के अतर्गत वाह्य बातें भी मिला लेनी पडी। परिणाम-स्वरूप सासारिक विषमताओ के बीच समन्वय का सदेश लाकर उन्हें पूर्णत दूर करने की चेष्टा करनेवाला आदि गुरु नानकदेव का धार्मिक सिक्ख-सम्प्रदाय क्रमश भिन्न-भिन्न प्रभावो द्वारा गढा जाता हुआ अत में गुरु गोविंद सिंह के नेतृत्व में आकर 'खालसा-सम्प्रदाय' के रूप में परिणत हो चला और आत्म-रक्षा, सुव्यवस्था तथा सगठन की भावनाओ ने उसे 'सिक्ख जाति' तक का एक पृथक् रूप दे डाला।

सिक्ख-धर्म का व्यावहारिक रूप

फिर भी, यदि हम सिक्ख-धर्म के मूल रूप तथा मौलिक सिद्धातो पर कुछ ध्यान पूर्वक विचार करें, तो स्पष्ट हो जायगा कि उक्त वाहरी विभिन्नताओ के रहते हुए भी उसके भीतर किसी प्रकार की विशृखलता नही आने पायी है, न उसमें कोई वैसा परिवर्तन ही हुआ है। 'सिक्ख-धर्म' कोरा सैद्धातिक वा आदर्शवादी मत कभी नही रहा, न ऐसा होने पर वह कभी सत-मत के अत-र्गत समझा ही जा सकता था। आरभ से ही यह दार्शनिको का मतवाद न होकर सर्वसाधारण के लिए प्रस्तुत किया गया एक शुद्ध व्यावहारिक धर्म रहा जिसका पूर्ण अनुसरण समाज मे रह कर ही किया जा सकता था। इसी कारण इसके गुरुओ ने सासारिक जनता के बीच मे रहते हुए ही अपने उपदेश दिये और साथ ही अपने व्यक्तिगत जीवन का आदर्श भी सबके सामने रखा। इस धर्म ने सबसे अधिक ध्यान चरित्र-बल के निर्माण की ओर दिया जिससे मुक्त होकर व्यक्ति समाज के भीतर अपने कर्त्तव्यो का पालन समुचित रीति से कर सके। गुरु नानकदेव का वर्ण-व्यवस्था के दूर करने का मुख्य उद्देश्य भी यही था कि व्यक्ति का पूर्ण विकास सकुचित सीमाओ को हटा कर कराना है। इस धर्म के अनुसार आदर्श व्यक्ति वही हो सकता है जिसमे ब्राह्मणो की आध्यात्मिकता, क्षत्रियो की आत्मरक्षा-भावना, वैश्यो की व्यवहार-कुशलता तथा शूद्रो की लोक-सेवा एक साथ वर्तमान हो।

की जनता पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये गए तब गुरु नानकदेव का कोमल हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने उन सारी यातनाओं का कारण परमेश्वर की इच्छा को ही समझा था और कहा था कि उसी ने हम पर मुगलों को यमराज बना कर भेजा है।[1] गुरु नानकदेव के इन शब्दों में भी केवल हिन्दुओं के प्रति किये गए अत्याचारों के कारण उत्पन्न हुआ कोरा क्षोभ मात्र ही नहीं है अपितु इसमें निरीह मानवता के विरुद्ध प्रदर्शित नृशंसता तथा क्रूरता के कारण विचलित हुए हृदय की करुणा का उद्रेक भी स्पष्ट लक्षित होता है। उस समय जब ये सैदपुर की लड़ाई के अवसर पर पकड़े गए थे तब वहाँ भी उन्होंने बाबर के प्रति जो कुछ कहा था वह किसी हिन्दू होने के ही नाते नहीं कहा था प्रत्युत एक देश-प्रेमी तथा मानव-हितैषी व्यक्ति के रूप में ही कहा था।

भ्रांति का मूल कारण

गुरु नानकदेव के प्रारंभिक जीवन का परिचय देते हुए बतलाया जा चुका है कि उन्हें हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के ही धर्मों की शिक्षा मिली थी। अपने निवास-स्थान के निकटवर्ती जंगलों में जाकर अनेक बार उन्होंने आत्म-चिंतन तथा साधु-सत्संग भी किया था। इस प्रकार अपनी समसामयिक परिस्थिति पर कुछ तटस्थ भाव से विचार करने का भी उन्हें कभी-न-कभी समय मिल चुका था। उन्हें अपने जीवन के प्रारंभिक काल से ही क्रमशः इस बात का बोध होने लगा था कि धार्मिक क्षेत्र के अंतर्गत जो कुछ भी द्वेष या पाखंड की भावनाएँ दीख पड़ती हैं वे किसी धर्म-विशेष का अनुसरण करने से ही नहीं किन्तु उसके मौलिक उद्देश्यों के न समझ सकने के कारण उठा करती हैं। अतएव संसार में दिन-प्रति-दिन लक्षित होनेवाले धार्मिक झगड़ों अथवा पारस्परिक भेदभावों को दूर कर पूर्ण शांति स्थापित करने का एकमात्र उपाय मनुष्यों की उस समझ को ही सुधारना है। सर्व प्रथम उन्हें यह बतला देना है कि कोई भी धर्म किसी व्यापक उद्देश्य को ही लेकर पहले चला करता है। वह कुछ दिनों तक वैसे ही ढंग से प्रचलित भी होता जाता है किन्तु जब अधिक दिन व्यतीत होने लगते हैं और उसका मुख्य उद्देश्य क्रमशः विस्मृत हो जाता है तब उसकी जगह को उसके साधन लेने लगते हैं। फिर तो लोग अपने साधनों की विभिन्नता के कारण मूलतः एक ही समान उद्देश्यों वाले

---

1 "खुरासान खसमाना कीया हिन्दुसतानु डराइया।
आपै दोसु न देई करता, जमुकरि मुगलु चड़ाइया॥
एती मार पई करलाणे तैंकी दरदु न आइया।
करता तू सभनाका सोई।" वही पद ३९, पृ १६।

तीनों लेखकों ने सिक्ख-धर्म का अध्ययन अपने-अपने ढंग से अच्छा किया था और उनके रहस्यों को समझने के उन्होंने यत्न भी किये थे। किंतु प्रचलित प्रथा का अनुसरण करने के लिए विवश होकर उन्होंने गुरु नानकदेव तथा उनके अनुयायियों को किसी धर्म-विशेष के घेरे में ही डाल रखना कदाचित् आवश्यक समझा। तदनुसार उनसे भी हठात् वैसी ही भूल हो गई, जैसी हमने कबीर साहब के विषय में लिखने-वाले कई विद्वानों की रचनाओं में देखी है।

हिन्दू-वातावरण तथा परिस्थिति

गुरु नानकदेव एक हिन्दू परिवार में उत्पन्न हुए थे और उसी वातावरण में उनका भरण-पोषण भी हुआ था। उनके जीवन-काल में मुसलमानों के आक्रमण होते जा रहे थे और देश के भिन्न-भिन्न भागों में बसते हुए वे हिन्दू-जनता के विचारों तथा आचरणों पर किसी-न-किसी प्रकार अपना प्रभाव भी डालते जा रहे थे। इसका दिग्दर्शन स्वयं गुरु नानकदेव की कुछ पंक्तियों द्वारा कराया जा सकता है, जिन्हें उन्होंने समय-समय पर लिखी थी। एक स्थल पर वे कहते हैं कि "हिन्दुओं में से कोई भी वेद-शास्त्रादि को नहीं मानता, अपितु अपनी ही बड़ाई में लगा हुआ रहता है। उनके कान तथा हृदय सदा तुर्कों की धार्मिक शिक्षाओं द्वारा भरता जा रहे हैं और मुसल्मान कर्मचारियों के निकट एक दूसरे की निंदा करके लोग सबको कष्ट पहुँचा रहे हैं। वे समझते हैं कि रसोई के लिए चौका लगा लेने मात्र से ही हम पवित्र बन जायँगे।"[1] इसी प्रकार वे अन्यत्र मुसलमानी शासन में काम करने-वाले हिन्दू कर उगाहनेवाले को लक्ष्य करके कहते हैं कि "गौ तथा ब्राह्मणों पर कर लगाते हो और धोती, टीका तथा माला-जैसी वस्तुएँ धारण किये रहते हो। अरे भाई, तुम अपने घर पर तो पूजा-पाठ किया करते हो और बाहर कुरान के हवाले दे-देकर तुर्कों के साथ संबंध बनाये रहते हो। अरे, ये पाखंड छोड़ क्यों नहीं देते? अपनी मुक्ति के लिए नाम-स्मरण को क्यों नहीं अपनाते?"[2] ये बातें देख कर गुरु नानकदेव को मार्मिक कष्ट होता था और वे उक्त प्रकार की विडंबना के कारण तिलमिला उठते थे। उनकी समझ में यह बात नहीं आती थी कि किसी एक धर्म के प्रति अपनी पूरी आस्था का दम भरनेवाले उसके विपरीत धर्म की आड़ क्यों लेते हैं। उन्हें उस समय के हिन्दुओं के धर्म-भ्रष्ट होने का उतना दुःख न था, जितना उनके नैतिक पतन के कारण था। इस प्रकार जब बाबर के समय सं० १५८३ में पंजाब के सैयदपुर नगर पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ और देश

---

१ आदिग्रंथ, तरन तारन संस्करण, पृ० ३१८।

२ वही, पृ० २५५।

मन की पूर्ति के लिए जब वह ठठ व्यवहार के क्षेत्र में पदार्पण करे, तब प्रत्येक बात को सावधानी के साथ परखता चले। जहाँ कहीं भी किसी प्रकार की त्रुटि उसे दीख पड़े वहाँ उसे सत्य के अनुसार सुधारने में प्रवृत्त हो जाय। गुरु नानकदेव का साधक इसीलिए अपने को कभी पूर्ण नहीं कह सकता। वह सदा सीखता रहनेवाला शिष्य वा सिक्ख है। गुरु नानकदेव ने जिस व्यक्ति का अपने 'जपुजी' ग्रंथ के अंतर्गत 'पंच' की संज्ञा दी है वह भी इसी कारण ईश्वर का भेजा हुआ कोई पुरुष-विशेष या अवतार नहीं। वह सर्वसाधारण के बीच रह कर सर्व-सुलभ सामग्रियों के ही उपयोग द्वारा तथा प्रायः विभिन्न परिस्थितियों से ही लाभ उठा कर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। उसके विचारों व व्यवहारों में सामंजस्य लाने के लिए किसी प्रकार की सहायता अपेक्षित नहीं रहती। वह प्रत्येक समस्या को अपने आप निरे सहज-भाव के साथ सुलझा लेता है। ऐसा करते समय यदि उसे कोई नवीन कठिनाई आ घेरती है तो उसका सामना हर्ष के साथ करता है। ऐसे व्यक्ति की विशेषता केवल इसी बात में है कि वह अपने संकल्प साधन तथा क्रिया सभी को किसी व्यापक नियम 'हुकम' के प्रति समर्पित समझता हुआ अपने अहं-भाव 'हउ-मैं' को भूल-सा जाता है। इस प्रकार उसका व्यक्तित्व समष्टि के साथ किसी भेद का अनुभव नहीं करता।

'हुकम' का रहस्य

गुरु नानकदेव द्वारा प्रयुक्त उक्त 'हुकम' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसके वास्तविक अर्थ का ज्ञान लेना परमावश्यक है। साधारण प्रकार से इसका शब्दार्थ किसी की आज्ञा तथा उसके द्वारा प्रचलित किया गया नियम समझा जाता है। अतएव इस हुकम के विषय में भी धारणा हो सकती है कि यह किसी महापुरुष द्वारा रचे गए कोरे विधान का ही परिचायक है। परन्तु, वास्तव में बात ऐसी नहीं है। यहाँ न तो उक्त महापुरुष कोई साधारण वा असाधारण व्यक्ति है, न हुकम ही उसकी साधारण आज्ञा वा विधान है। गुरु नानकदेव ने 'ओंकार' का लक्षण बतलाते हुए अपने प्रसिद्ध वाक्य 'एक ओंकार सति नामु, करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनि सैभं गुर प्रसादि' में कहा है कि वह एकमात्र सत्य-स्वरूप स्वयंभू और नित्य है। परन्तु साथ ही उसे 'कर्त्ता' का भी विशेषण प्रदान कर उन्होंने उसे हम सबसे संबद्ध भी कर दिया है। इस प्रकार उनके ओंकार का स्वरूप कोरा पारमार्थिक सत्य-मात्र न रह कर कुछ करनेवाले के रूप में भी लक्षित होने लगता है। ध्यानपूर्वक विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर करना 'करनेवाला' रहना 'रहनेवाला' अथवा 'होनेवाला' और 'होना' भी आपस में भिन्न भिन्न नहीं है। सब-कै-सब चाहे वस्तु हो वा क्रिया एक

धर्मों के अनुयायियों मे भी भेद की भावना आ जाती है। कभी-कभी केवल पारस्परिक मनोमालिन्य के विद्वेष का रूप धारण कर लेने पर उनमे युद्ध तक होने लगते है। इसलिए किसी धर्म का वास्तविक रूप समझते समय उसके पहले यह आवश्यक है कि उसके प्रधान लक्ष्य को ही हृदयगम करा दिया जाय। इस प्रकार धर्म को उसके व्यापक रूप मे पूरी उदारता के साथ एक बार समझ-बूझ लेने पर फिर कभी किन्ही साधनो की विभिन्नताएँ हमे धोखा नही दे सकती। गुरु नानकदेव ने इसी मुख्य सिद्धात को लेकर पहले आगे बढना आरभ किया और उनकी सभी प्रारभिक उक्तियाँ भी इसी भाव से अनुप्राणित होकर व्यक्त हुई।

विकृत मनोवृत्ति

गुरु नानकदेव की प्रसिद्ध रचना 'जपुजी' को ध्यानपूर्वक पढने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसे लिखने समय उनका मुख्य उद्देश्य प्रपचादि मे सदा उलझे रहनेवाले मनुष्य के मन को उसकी उक्त भूल दिखला कर ठीक रास्ते पर ला देना रहा। उन्होने आध्यात्मिक प्रश्नो पर विचार करने की प्रचलित प्रणाली को दूषित ठहरा कर उसे नवीन दृष्टिकोण के साथ एक बार फिर से सोचने का परामर्श दिया। यह भी कहा कि यदि उचित रीति से सभी बातो को देखने का अभ्यास हमे हो जाय, तो फिर किसी प्रकार की समस्या हमे कष्ट नहीं पहुँचा सकती। उक्त रचना के अतर्गत गुरु नानकदेव ने अपनी अनोखी युक्तियो द्वारा क्रमश सिद्ध किया है कि हमारी वर्तमान परिवर्तित मनोवृत्ति के ही कारण सारे अनर्थ हो जाया करते है। उसे फिर से सुधार कर नवीन रूप देने का उन्होने एक नवीन मार्ग भी सुझाया है। ऐसा करते समय उन्होने कदाचित् कही भी किसी हिन्दू अथवा मुस्लिम विचार-धारा का अधानुसरण नही किया है, अपितु उन्होने उनकी भूलें ही दिखलायी है। प्रसगवश उन्होने योगी, सन्यासी, वैष्णव, शैव, नाथ-पथी, सिद्ध, पीर आदि सभी प्रकार के मतावलबियो की किसी-न-किसी ढग से आलोचना भी की है। वे इनमे से किसी एक की मान्य धारणाओ को लेकर अग्रसर नही होते, न इसी कारण उन्हे किन्ही एक के साथ मिला हुआ समझना उचित कहा जा सकता है। वे सभी बातें तटस्थ होकर देखते हैं। इसी कारण उन्हे विचार-स्वातत्र्य का ही पोषक समझना उचित है।

आत्मिक विकास

गुरु नानकदेव के अनुसार धार्मिक जीवन एक साधना-प्रधान अथवा निरतर अभ्यास वा शिक्षण मे निरत रहने का जीवन है। इसे यापन करनेवाले के लिए उचित है कि वह अपने को उत्तरोत्तर पूर्णता तक पहुँचाने की चेष्टा करता रहे। वह अपने को ज्ञानी या पडित समझ कर सतोष न कर ले। अपने आध्यात्मिक अनु-

सुन कर उस पर विचार भी वही करता है। वही रत्न है, वही जौहरी है और वही उसका मूल्य भी है। उसे कितना भी ऊँचे से ऊँचा समझा जाय और कहा जाय उसे न तो कहा जा सकता है, न देखा ही जा सकता है। जहाँ भी देखता हूँ वही वह दृष्टिगोचर होता है। उस ज्योति को सदा सहज स्वभाव से ही जाना जा सकता है।[1] वह स्वयं काँटा है वही तराजू है और तौलनेवाला भी वही है। वही देखता है वही समझता है और वही कम या अधिक अनुभूत भी हुआ करता है।[2] अतएव परमात्मा के अज्ञेय बने रहने का कारण भी उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है "समुद्र में यदि बूंद है और बूंद के भीतर समुद्र है तो उसे कोई किसी प्रकार जान भी कैसे सकता है? यह तो आपको ही आप स्वयं पहचानना और जान लेना है। यदि इस प्रकार का आत्म-ज्ञान किसी को हो सके तो निस्सन्देह परमार्थ की प्राप्ति तथा मुक्ति-दशा की उपलब्धि हो सकती है।[3]

उसका व्यक्तित्व तथा आदर्श

गुरु नानकदेव ने अपनी रचना 'जपुजी' के अन्तर्गत अपने विचारों को बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त किया है। उन्होंने परमात्मा का सर्वप्रथम एक ऐसी अस्थिति के रूप में होना बतलाया है जिसमें उस निर्विशेष सत्य के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व का होना भी समन्वित पाया जाय। इसी एक मात्र नित्य वस्तु के समक्ष वे हम अपने को अर्पित कर देने की शिक्षा देते हैं। इसके अनंतर हमें अपने आपको उसके आदर्शानुसार निर्मित करने का मार्ग भी दिखलाते हैं। वे बतलाते हैं कि किस प्रकार हमें उसके सर्वोच्च गुणों जैसे उसकी सर्वशक्तिमत्ता महानता सर्वज्ञता दयामता आदि का अनुभव करना चाहिए। क्रमश उसके अलौकिक

---

१ 'आपे गुण आपे कथै आपे सुणि वीचारु।
आपे रतनु परखि तूं आपे मोलु अपारु।
साचउ मानु महतु तू आपे देवणहारु।
ऊँचा ऊँचउ आखीए कहु उन देखिया जाइ।
जहँ देखता तहँ एक तूं सतिगुर दिया मिलाइ।
जोति निरंतरि जाणीए नानक सहजि सुभाइ। —आदिग्रंथ अष्टपदी १ पृ० ५११।

२ 'आपे कंडा तोल तराजी आपे तोलणहारा।
आपे देखै आपे बूझै आपे है वणजारा। वही सूही राग ९, पृ ७११।

३ 'आदिग्रंथ राग रामकली सबद ९ पृ २७२।
'सागर महि बूंद बूंद महि सागर कवणु बुझै बिधि जाणै।
उतभुज चलत आपमितकरि चीने आपे ततु पछाणै।

ही मे सम्मिलित तथा ओतप्रोत है और कोई भी अश किसी भी रूप मे उस एक-मात्र सत्य से अलग नही। यदि हुकम है तो वही है, हुकम देनेवाला है तो वही है और जिसे हुकम दिया जा रहा है, वह भी वस्तुत उससे किसी प्रकार भी भिन्न नही। इस प्रकार गुरु नानकदेव का मूल दार्शनिक सिद्धात सर्वात्मवाद के उस रूप की ओर सकेत करता है जिसके अनुसार उस नित्य निर्विशेष, एकमात्र सत्य तथा व्यावहारिक ससीम सत्ता मे कोई अतर नही। उक्त प्रकार का वर्णन केवल हमारे कथन की सुलभता को ही व्यक्त करता है। अतएव गुरु नानकदेव ने हुकम के विषय मे लिखते हुए यह भी बतलाया है कि "प्रत्येक वस्तु उसी के भीतर है, उसके बाहर कुछ भी नही। उस हुकम को यदि कोई भली भाँति समझ सके, तो फिर उसे अपने को भिन्न सिद्ध करनेवाले, अहभाव का बोध भी नहीं हो पावे"।[1] 'हुकम चलानेवाले ने हुकम को सदा के लिए प्रवर्तित कर दिया है और उसे पालन कर मार्ग पर निर्द्वन्द्व बन कर अग्रसर होते रहना ही हमारा कर्त्तव्य है।"[2]

सत्य का स्वरूप

परमात्मा का कोई निश्चित रूप ठहराना असभव-सी बात है। गुरु नानकदेव ने इस विषय मे भी अपने विचार प्रकट किये हैं। वे कहते है कि "उसके सबध मे हम लाखो बार भी चितन करे, उसकी धारणा हमे स्पष्ट रूप मे कभी हो नही सकती।"[3] "उसके विषय मे हम जितना भी कहते चले जायँ, उसका अत नही मिलता। हम ज्यो-ज्यो कहते जाते हैं, त्यो-त्यो वह और भी व्यापक होता हुआ प्रतीत होने लगता है।"[4] "वह स्वय रस-रूप है और उसका अनुभव करनेवाला भी वही है, वह अपने रग मे ही रमा हुआ सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। वही मछुआ है, वही मछली है, वही पानी है, वही जाल है, वही जाल का शीशा है और वही चारा भी है। वही कमल है, वही कमलिनी है और वही उन्हे देख कर आनदित होनेवाला भी है"[5]। "वह स्वय गुण है, वही उसका कथन करता है और उसे

---

१ 'हुकमै अदरि सभु को, बाहरि हुकम न कोइ।
नानक हुकमै जे बुझै, त हउ मैं कहै न कोइ॥'— जपुजी, छद २।

२ 'हुकमी हुकुम चलाए राहु। नानक विगसै बेपरवाहु॥ वही, छद ३।

३ "सोचै सोचि न होवई, जो सोची लख बार"॥ वही, छद १।

४ 'एहु अतु न जाणै कोई। बहुता कहीए बहुता होई।' जपुजी, छद २४।

५ 'आपे रसीआ आपि रसु, आपे रावणहारु।
रगिरता मेरा साहिब, रमि रहिआ भरपूरि।
आपे माछी मछुली आपे पाणी जालु। आपे जालमणकडा आपे अदरि लालु।
कउलु तू हैं कवीआ तू है आपे वेखि विगासु।'
आदिग्रथ, सिरी राग २५ पृ० २२ पर।

संगठन की वृद्धि से भी अधिकाधिक बढ़ता गया। सिक्खों के दसवें गुरु गोविंद सिंह के समय से उसके रूप, क्रम तथा प्रणाली में परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन भी किया जाने लगा। अब उक्त निश्चित पाठों के अतिरिक्त कुछ ऐसी छोटी छोटी प्रार्थनाओं की रचना भी कर दी गई है जो व्यवहारों में उलझे हुए व्यक्ति को भी सुगम जान पड़े। ऐसी ही प्रार्थनाओं में से सर्वप्रसिद्ध वह है जिसमें परमात्मा की स्तुति से आरंभ कर दसों सिक्ख गुरुओं, पाँच प्यारे, गुरु गोविंद सिंह के बलिदान हुए चारों पुत्रों तथा धर्म की रक्षा के लिए आत्मोत्सर्ग करनेवाले प्रसिद्ध प्रसिद्ध ऐतिहासिक सिक्खों की ओर भी लक्ष्य किया गया है। ऐसा करने का भी मुख्य अभिप्राय यही है कि गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित तथा अन्य नव गुरुओं द्वारा समर्थित सिक्ख-धर्म का अनुसरण तथा संरक्षण करनेवाले अपने कामों के लिए चिर-स्मरणीय हैं। उक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए उनके आदर्श का अनुकरण भी अपेक्षित है।

प्रार्थना का उद्देश्य

उक्त विवरणों द्वारा स्पष्ट है कि सिक्खों की प्रार्थना का वास्तविक उद्देश्य परमात्मा से किसी प्रकार की चिरौरी माँग वा याचना नहीं। किंतु उस एक और अद्वितीय सत्ता के प्रति अपना भक्ति-भाव प्रदर्शित कर उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करना तथा उसके उदात्त गुणों के निरंतर स्मरण द्वारा अपनी सारी भावनाओं का परिष्कार करते हुए अपनी मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को पूर्ण बल प्रदान करना है। सिक्खों के सामने अन्य किसी प्रकार के भी पूजा-पाठ का वैसा महत्त्व नहीं, न उनके नित्य कर्मों अथवा संस्कारों में ही किन्हीं विधियों के समुचित पालन वा निर्वाह के संबंध में कोई विधान वा व्यवस्था निश्चित है। उनकी दीक्षा-विधि जिसे 'पाहुल' संस्कार कहा जाता है बहुत सीधी-सादी है। उनके विवाह-संस्कार में प्रयुक्त 'आनंद की विधि' भी उसी प्रकार केवल अल्प-काल तथा श्रम की अपेक्षा करती है। ऐसे सभी अवसरों पर किसी-न-किसी रूप में प्रार्थना का किया जाना आवश्यक है। शुभ अवसरों वा उत्सवों के लिए तो आनंद नाम की एक विशेष प्रार्थना का पाठ भी निश्चित है जिसकी रचना तीसरे गुरु अमरदास ने की थी।

अन्य साधनाएँ

सिक्ख-गुरुओं ने प्रसंगवश अपनी रचनाओं के अंतर्गत उन दूसरी साधनाओं का भी नाम-तक उल्लेख किया है जो अन्य धर्मों वा सम्प्रदायों के अनुयायियों द्वारा विशेष रूप से अपनाई जाती हैं। जिन्हें वे सबसे अधिक महत्त्व दिया करते हैं। परन्तु वे सब यहाँ भक्ति-भाव की ही पोषक हैं। उदाहरण के लिए गुरु अमर

व्यक्तित्व को अपने मानसिक, नैतिक तथा सौंदर्य-संबंधी सर्वश्रेष्ठ आदर्शों का परम प्रतीक समझना चाहिए। अंत में वे हमारे सामने एक निश्चित साधना की रूपरेखा भी उपस्थित कर देते हैं और उत्तरोत्तर आगे बढानेवाली उसकी चार सीढियों की ओर संकेत करते हैं। उनके अनुसार साधक की सबसे पहली अवस्था 'धरम खंड' की होती है, जब वह अपने सभी कृत्यों को कर्त्तव्य के रूप में माना करता है। उसके उपरांत वह उन्हीं बातों को उनके कारणों के ज्ञान द्वारा अपनाने लगता है। इसी कारण इस दशा को उन्होंने 'ज्ञान-खंड' कहा है। फिर तीसरी दशा उसकी तब आती है, जब वह 'करम खंड' के अनुसार अपने सभी कार्यों को अपने आप करने लग जाता है और जो-जो कार्य वह इस स्थिति के अंदर किया करता है, वे सभी स्वभावतः उच्चकोटि के हुआ करते हैं। अंत में वह 'सच-खंड' अर्थात् सत्य के वास्तविक प्रदेश में प्रवेश कर जाता है, जहाँ पर आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि हो जाती है और वह विधि-निषेधादि से परे चला जाता है। इस अंतिम स्थिति में आ जानेवाला पुरुष ही सबके लिए 'पंच' रूप में दीख पडता है। उसी को आदर्श मान कर लोग कार्य करते हैं।

नाम-स्मरण

उस सर्वात्म-स्वरूप 'ओंकार' नामक परमात्मा के व्यक्तित्व की धारणा बनाये रखने के ही उद्देश्य से सिक्ख लोगों ने सदा प्रार्थना को इतना महत्त्व दिया है। वे समझते हैं कि यदि वह जल के रूप में है, तो हम मछलियों की भाँति उसमें रह कर जीवन-यापन कर रहे हैं। वह यदि किसी मनुष्य के रूप में है, तो हम उसकी साध्वी पत्नी की भाँति उसके साथ सदा रहा करते हैं। उसके बिना हमारा क्षण-मात्र के लिए भी जीता रहना कठिन है। इसी कारण प्रत्येक सिक्ख के लिए यह निर्धारित कर्त्तव्य है कि वह उसके साथ अपने संबंध का अनुभव निरंतर करता रहे। अतएव गुरु नानकदेव ने अपने उपदेशों द्वारा नाम-स्मरण की बहुत बडी महत्ता दिखलायी थी। सिक्ख-धर्म के मान्य ग्रंथ भी अधिकतर स्तुतियों से भरे पडे हैं। इसके सिवाय जिस प्रकार 'जपुजी' का पाठ प्रातःकाल कर लेना प्रत्येक सिक्ख के लिए आवश्यक समझा जाता है। कुछ लोग उसके साथ-साथ 'आसा दी वार' का भी पारायण करते हैं। उसी प्रकार सायं-काल के लिए 'रहिरास' का पाठ नियत है और सोने के समय 'सोहिलो' पढा जाता है। ये पाठ विशेष-रूप से परमात्मा का स्मरण दिला कर हमें उसके तथा जगत् के प्रति भी अपने कर्त्तव्य-पालन का निर्देश करते हैं। चाहे उन्हें हम व्यक्तिगत रूप में करें, चाहे सामूहिक रूप में दुहरावें, प्रत्येक दशा में केवल एक वही उद्देश्य रहा करता है। छठे गुरु हरगोविंद के समय तक सिक्ख धर्म-ग्रंथ तथा प्रार्थना-मंदिर के निश्चित हो जाने पर सामूहिक प्रार्थना का महत्त्व साम्प्रदायिक

पवन पर अधिकार कर लिया जाय तो उसके मरते ही अपनी मृत्यु का सारा भय जाता रहे और परमात्मा की कृपा से मन भी स्थिर हो जाय।"[१] इसी प्रकार सहज का महत्त्व वर्णन करते हुए गुरु अमरदास ने बतलाया है कि 'निर्गुण नाम का गुप्त भंडार सहज-साधना द्वारा ही प्रकट होता है। बिना सहज के सब कुछ अंधकारमय है और माया-मोहादि से व्याप्त है। सहज द्वारा ही 'निरभउ जोति निरंकार' की पहचान हो पाती है।'[२] गुरु नानकदेव के अनुसार भी ऊर्ध्व मूल तथा नीचे की ओर फैली शाखाओं वाले वृक्ष का रहस्य तभी समझ में आता है जब सहज की साधना की जाय। सहज-साधना की सफलता पारब्रह्म में मन की एकाग्रता द्वारा लीन हो जाने में ही निहित है। अतएव पूर्ण मनोनिग्रह के बिना सहज-साधना संभव नहीं समझी जा सकती और मनोनिरोध के लिए सभी ओर से हटा कर केवल एक परमात्मा की ओर मन को लगा देना ही विवक्षित है। नाम-स्मरण, भजन तथा प्रार्थना ये सभी हृदय के भक्ति भाव द्वारा अनुप्राणित होने पर ही सच्चे रूप में किये जा सकते हैं। भक्ति-रस में मग्न हुए बिना गुरु नानकदेव निर्दिष्ट उद्देश्य की सिद्धि संभव नहीं।

नाम का तात्पर्य

सिक्ख-धर्म के अंतर्गत 'नाम' को स्वभावतः बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है। नाम का शब्दार्थ किसी वस्तु को सूचित करने अथवा उसका परिचय देनेवाली 'संज्ञा' होता है। साधारण रीति से हम उसका प्रयोग उस वस्तु के गुण स्वभावादि को व्यक्त करने के लिए ही किया करते हैं। लोगों ने इसी नियम के अनुसार परमात्मा के भी अनेक नामों की सृष्टि कर डाली है। कभी-कभी नामों की भिन्नता से भी मतभेद हो जाता है। गुरु नानकदेव ने धार्मिक झगड़ों के इस कारण विशेष का निराकरण बड़े सुंदर ढंग से किया है। वे कहते हैं कि "हमें परमात्मा के किसी मुख्य नाम की खोज करते अथवा उसे निर्धारित करते समय सर्वप्रथम यह समझ लेना चाहिए कि संसार में अथवा इसके बाहर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जिसका संबंध उसके साथ न हो। इस कारण वह उसका परिचय आप-से-आप न दे रही हो। जहाँ-कहीं भी हम देखने का प्रयास करें, वहीं उसका नाम वर्तमान है। जितनी भी सृष्टि है वह सब कुछ उसका नाम ही है। बिना उसके नाम के कोई भी स्थान खाली नहीं।"[४] इसीलिए यह कहना भी कोई अर्थ नहीं रखता कि उसके

१ आदिग्रंथ गउड़ी ७ पृ० १५३।
२ वही सिरी रागु २३ पृ० ६७।
३ वही गूजरी अष्टक पृ० ५०३।
४ जपुजी १९।

दास ने कहा है कि "मन के अनुसार चलता हुआ मनुष्य 'हरि-हरि' की रटन लगा कर थक भी जाय, किंतु मन का मैल नही धुल पाता। मलिन मन के रहते न तो भक्ति का होना किसी प्रकार सभव है, न अपना कल्याण ही हो सकता है।"[१] इसी प्रकार गुरु तेगबहादुर ने भी बतलाया है कि "यह मन कुछ भी कहना नही करता। कितनी भी शिक्षा दी जाय, अपनी दुर्मति का त्याग यह कभी नही करता। इसकी दशा कुत्ते की उस पूँछ के समान है जो कितना भी सुधारी जाय, सदा टेढी की टेढी ही बनी रह जाती है।"[२] गुरु रामदास ने इसी भाँति इसे कायानगर मे रहनेवाले किसी अत्यत चचल बालक के रूपक द्वारा वर्णन किया है। परमात्मा से प्रार्थना करते हुए उन्होने कहा है कि "मैंने इसे अनेक यत्नो द्वारा सुधारना चाहा, किंतु यह मुझे बारबार भरमाता ही रह गया। मैं अपने को अब थका-सा मान कर प्रार्थना करता हूँ कि इसे कृपा करके वश मे ला दिया जाय।"[३] इसीलिए गुरु नानकदेव ने भी कहा है कि "जब तक मन को मार कर उसे ठीक न कर लिया जाय, तब तक कार्य सिद्ध नही हो सकता। इसका अपने वश मे कर लेना तभी सभव है, जब इसे निर्गुण राम के गुणो की उलझन मे डाल दिया जाय। सब कही का भला मन उस एककार मे जाकर ही ठहर सकेगा।"[४] इसी कारण वे कहते हैं कि "हठ तथा निग्रह करने मात्र से शरीर नष्ट होता है और व्रत तथा तपस्या द्वारा मन पूर्णत भीग नही पाता। यह केवल राम-नाम की सहायता से ही वश मे लाया जा सकता है।"[५] अतएव मनोमारण के लिए साधन तया साध्य दोनो ही नाम-स्मरण और ईश-प्रार्थना हैं।

गुरु नानकदेव ने उक्त मनोमारण क्रिया के लिए योग-साधना की भी आवश्यकता कही-कही बतलायी है। वे एक स्थल पर कहते हैं कि "कायानगर के अतर्गत मन राज्य करता है और पाँचो इन्द्रियाँ उसके शासनाधीन रहा करती हैं। वह पवन के सयोग मे रह कर अपना आसन जमाया करता है। अतएव, यदि पवन को ही योग-साधना द्वारा निरोध कर उसे पगु बना दिया जाय, तो अपना कार्य सिद्ध हो जाय।"[६] फिर "मन के भीतर प्रपच व्याप्त हो रहा है। यदि योग-साधना द्वारा 'सबदि' वा

१ आदिग्रथ, सिरी रागु ३१, पृ० ३८।
२ वही, देवागधारी १, पृ० ५३६।
३ वही, बसत हिंडोल १, पृ० ११९१।
४ वही, रामकली १, पृ० ९०५।
५ वही, गउडी २, पृ० २२२।
६ वही, रामकली ९, पृ० ९०७।

कृपा का अनुभव साधक को अपने आप बिना किसी माध्यम के ही हो सकता है। उसके लिए न तो किसी पुरोहित की सहायता अपेक्षित है न किसी पद के निर्देश की ही आवश्यकता है। फिर भी भगवद्भक्ति की भूख जागृत कर उसे बुझाने के लिए संकेत करनेवाले का प्रयोजन भी होना ही चाहिए। सिक्ख-गुरुओं ने इसी कमी को दूर करनेवाले सद्गुरु के महत्त्व का वर्णन अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर किया है। गुरु नानकदेव ने किसी मानव-गुरु के विषय में अभी तक निश्चित रूप से कहीं कहा गया नहीं मिलता। कुछ लोगों के अनुसार इस कारण उनके गुरु स्वयं ईश्वर ही कहे जा सकते हैं। किंतु अन्य सब गुरुओं के लिए इस प्रकार संदेह नहीं किया जा सकता। जो हो सभी ने सद्गुरु के महत्त्व का उल्लेख मुक्त कंठ से किया है और अपने कल्याण के लिए उसी को मूल कारण भी ठहराया है।

गुरु का कार्य

गुरु नानकदेव का कहना है कि 'गुरु के मिलने पर ही अपने सांसारिक जीवन के अंत तथा आध्यात्मिक जीवन के आरंभ का हमें अनुभव होता है, गर्व दूर हो जाता है, गगनपुर अर्थात् मुक्तावस्था की उपलब्धि होती है और हरि की शरण में स्थान मिलता है।'[1] "संसार में चाहे जितना भी मित्र वा सखा हो किंतु गुरु के बिना परमेश्वर के अस्तित्व का बोध नहीं हो सकता। उसकी सेवा से ही मुक्ति की प्राप्ति संभव है।'[2] 'गुरु की भक्ति का वास्तविक रहस्य कोई प्राणी क्या जान सकता है। यह तो ब्रह्मा इन्द्र तथा महेश के लिए भी अगम्य है, वह जिस किसी को चाहे अलख का दर्शन करा सकता है, बिना उसके ऐसा कदापि संभव नहीं कहा जा सकता।'[3] इस पद में आये हुए शब्द 'सत-गुरु' को यदि हम अलख के साथ जोड़कर अर्थ करें तो यह भी जान पड़ेगा कि गुरु नानकदेव ने मानव-गुरु के लिए केवल गुरु तथा ईश्वर के लिए 'सत-गुरु' शब्द का प्रयोग इस पद में किया है। इस प्रकार गुरु वा परमात्मा के बीच बहुत कम भेद रह जाता है। इसी प्रकार गुरु अमरदास बतलाते हैं कि 'प्रत्येक मनुष्य के भीतर हीरा लाल-जैसा रत्न वर्तमान है। किंतु अनजान होने के कारण हम उसे पहचान नहीं पाते। वह एक गुरु का शब्द ही है जिसके द्वारा हमें उसे परखने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। गुरुमुख होकर ही अत्यंत अगम्य तथा अपार

१ आदिग्रंथ रागु गउड़ी पृ० १५१।
२ वही भार सोरठे ८ पृ० १२८।
३ वही भार ११ पृ० ११२।

नाम अनत हैं। ऐसा करना भी एक प्रकार से अपने को बधन मे डाल रखना है, क्योकि इस विषय मे अतिम शब्द कोई कह नही सकता।

'नाम' शब्द का प्रयोग सिक्ख गुरुओ ने कही-कही पर एकमात्र, नित्य तथा सत्य-स्वरूप निर्विशेष परमात्मा के लिए भी किया है जो अव्यक्त रूप से सर्वत्र ओत-प्रोत है। उदाहरण के लिए, गुरु अर्जुनदेव ने अपनी रचना 'सुखमनी' के अतर्गत एक स्थल पर कहा है कि "नाम सभी जीवो के लिए आश्रय-स्वरूप है और उसी के आधार पर सारे ब्रह्माड का अस्तित्व है।"[१] इसी प्रकार गुरु रामदास ने भी बतलाया है कि "मैं अपने सत-गुरु की बलिहारी जाता हूँ जिसने गुप्त-नाम को मेरे सामने स्पष्ट करके दिखला दिया।"[२] नाम शब्द का परमात्मा के व्यक्त रूप के लिए किये गए प्रयोग का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। इस शब्द को सिक्ख-धर्म के मान्य ग्रथो मे एक तीसरे प्रकार से भी व्यवहृत किया गया है। वह प्रयोग सतगुरु के बतलाये हुए 'शब्द' वा उपदेश के लिए हुआ है। गुरु अमर-दास ने कहा है, "नाम का कथन करना चाहिए, गान करना चाहिए और उस पर विचार करना तथा उसकी पूजा भी करनी चाहिए।"[3] गुरु अर्जुनदेव ने तो अपनी रचना 'सुखमनी' के विषय मे "ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वर स्तुति तथा नाम"[४] कह कर ही उसका नामकरण किया है। इस नाम शब्द के साथ, चाहे यह जिस किसी भी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ हो, सिक्ख गुरुओ ने बडा प्रेम प्रदर्शित किया है। गुरु नानकदेव ने एक स्थल पर अपने मन को सबोधित करते हुए कहा है, "रे मन, कहाँ दौड-धूप लगा रहा है। अरे! तू घर पर ही क्यो नही रहता? गुरु के मुख से विस्तृत राम-नाम से तृप्त होकर तू महज ही अपनी इष्ट वस्तु की प्राप्ति कर सकता है।"[५] फिर दूसरी एक पक्ति मे वे यहाँ तक कह डालते है कि "बिना नाम के हमारा सारा जीवन भी जल कर नष्ट हो जाय तो हमें कोई चिंता नही। अरे मन, तू गुरु-मुख से निसृत हरि-नाम का जाप निरतर किया कर जिसके द्वारा तुझे अलौकिक स्वाद का आनद मिला करे।"[६]

गुरु की आवश्यकता

'सिक्ख-धर्म' के अनुसार परमात्मा का साक्षात्कार अथवा उसकी असीम

---

१ सुखमनी, १६५।
२. आदिग्रंथ, जैतश्री ५, पृ० ६९७।
३ वही, सिरी राग अष्टपदी ५, पृ० ६६।
४ सुखमनी, २४-५।
५ आदिग्रथ, आसा अष्टपदी ७, पृ० ४१४-५।
६ वही, प्रभाती १७, पृ० १३३२।

आधार पर यह भी बतलाया कि मूल वस्तु के एक आर समान होने के कारण किन्हीं भी दो मनुष्यों के बीच कोई वास्तविक भेद-भाव कभी नहीं हो सकता। अपने सामने किसी दूसरे को नीचा समझ कर उसके प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करना उतना ही बुरा है जितना किसी अन्य को अपने से सांसारिक दृष्टि क अनुसार बड़ा समझ कर उसके समक्ष अपने को हीन समझना पाप है। केवल कटुंब की प्रतिष्ठा या वर्ग-विशेष की प्रचलित बड़ाई के कारण अथवा अपन धन की अधिकता तथा पांडित्य की गहराई के ही आधार पर किसी को दूसरे से बड़ा कहलाने का कोई भी अधिकार नहीं न बड़प्पन का प्रदर्शन ही कभी प्रशंस नीय समझा जा सकता है। केवल कुलीनता के कारण ऊँच-नीच धन के कारण धनी-दरिद्र अथवा पठन-पाठन के आधार पर पंडित-मूर्ख कहा जाना न्याय-संगत नहीं हो सकता। इसी प्रकार उक्त धन पठन-पाठन तथा कुटुंब का त्याग क और कहीं अन्यत्र जाकर भजन-भाव में सदा लीन रहना भी श्रेयस्कर नहीं समझा जा सकता। समाज के भीतर रह कर ही अपने उच्च विचारों की व्यावहारिकता तथा सचाई सिद्ध की जा सकती है। सबको समान बतलाना समान रूप से बरतने पर ही निर्भर है।

समानता

गुरु अमरदास कहते हैं, "जाति की उच्चता के लिए किसी को भी गर्व न करना चाहिए। वास्तव में ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म का जानकार है। एक ही ब्रह्म-बिंदु से सबकी उत्पत्ति हुई है और एक ही माटी द्वारा गढ़े गए भांड की भाँति सारा संसार है। जब यह शरीर पंच-तत्त्व निर्मित ही है तब फिर इसके रहते घट कर वा बढ़ कर होने का निर्णय किस प्रकार किया जा सकता है"।[1] इस सिद्धांत को सिक्ख-गुरुओं ने अपने सिक्ख-समाज के अंतर्गत सभी प्रकार के ऊँच-नीच अथवा मध्यम कुल वाले लोगों को एक समान समझ कर तथा उन्हें अपना कर व्यवहारोपयोगी बना दिया था। गुरु नानकदेव से लेकर दसवें गुरु गोविंद सिंह तक ने इसका अक्षरशः पालन किया। आज भी इस बात के प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। वर्ग-विभेद की भावना को दूर करने के साथ ही सिक्ख गुरुओं ने इस बात की ओर भी ध्यान रखा कि उसी प्रकार स्त्री-पुरुष के अधिकारों में भी किसी प्रकार का मौलिक अंतर न समझा जाय अपितु सबको एक ही श्रेणी का मानव मान लिया जाय। जिस समय गुरु गोविंद सिंह ने सर्व प्रथम 'खालसा-सम्प्रदाय' की नींव रखी और पाहुल का आयोजन किया उस

---

१ आदिग्रंथ राग भैरउ १ पृ ११२८।

नाम वा निरंजन को हम प्राप्त कर लेते हैं"।[1] "प्रशसनीय गुरु हमें सदा सुख देनेवाला है, वही प्रभु है और वही नारायण है। गुरु के प्रसाद से ही परम पद की उपलब्धि होती है। अरे मन, गुरुमुख होकर ही हृदय में विचार कर और अहकार, तृष्णा-जैसे नीच कुटुवियो का त्याग कर उसे सँभाल ले। गुरु के समान कोई दूसरा दाता नही है। उसने रामनाम-जैसी वस्तु तुझे प्रदान करके उसके द्वारा तुझे अलख तक को लखा दिया है"।[2] गुरु का महत्त्व दरसाते हुए उन्होने यह भी कहा है कि "नामा-जैसे छीपी तथा कबीर-जैसे जुलाहे ने भी पूरे गुरु की ही कृपा से गति प्राप्ति कर ली, शब्द के रहस्य को वे जान गए, अहमाव त्याग दिये तथा प्रसिद्ध हो गए"।[3] सिक्ख-धर्म के अनुसार गुरु के प्रति गहरी निष्ठा का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि उसके अनुयायियो ने किसी सदेह मानव-गुरु के सर्वमान्य रूप मे न रहने पर भी अपने अतीत दस गुरुओ के सुरक्षित वचनो के सग्रहो को ही गुरुवत् मान रखा है। सिक्ख लोग 'आदिग्रथ' का आदर उसे 'गुरुग्रथ साहब' कह कर प्रदर्शित करते हैं और देह-गुरु की भाँति ही उनकी पूजा भी करते है। ये ग्रथ उनके लिए केवल प्रतीक मात्र नही, किंतु जीवित गुरु-तुल्य हैं।

आदर्श तथा व्यवहार का सामजस्य

सिक्ख-धर्म के सिद्धातानुसार आदर्श तथा व्यवहार दोनो के बीच सामजस्य स्थापित रखना सबसे अधिक आवश्यक है। यही सबके लिए सर्वोत्तम परम कर्त्तव्य समझा जाना चाहिए। यदि कहनी और हो और करनी के साथ उसका कोई मेल न बैठता हो, तो उच्च से उच्च विचारो की सार्थकता भी किसी प्रकार सिद्ध नही की जा सकती। इसी कारण गुरु नानकदेव से लेकर गुरु गोविंद सिंह तक सभी सिक्ख-गुरुओ ने जो कुछ भी अपने सिद्धातो के रूप मे कहा, उसे अपने व्यवहारो में भी परिणत करके सबके समक्ष दिखला देने की निरतर चेष्टा की। वे सदा भगवन्नाम तथा भगवद्गुणानुवाद द्वारा अपने समय का सदुपयोग किया करते थे। किंतु जब कभी व्यावहारिक क्षेत्र में सामाजिक समस्याएँ आ जाती थी, तो उन्हे सभी प्रकार की मनोवृत्ति के साथ सुलझाने की व्यवस्था करने में भी लग जाते थे। उन्होने यदि परमात्मा को एकमात्र सत्य माना तो उसे उसी भाँति सबके लिए एक समान भाव मे समझने का उपदेश भी दिया। उसी के

---

१ आदि ग्रथ, राग मांझ ५, पृ० ११२।

२ वही, राग मलार ४, पृ० १२५७-८।

३ वही, सिरी राग २२, पृ० ६६।

करते समय प्रचलित इस्लाम की बुराइयों को भी नहीं भुलाया। उन्होंने समय समय पर काजी शेख तथा मुल्ला को संबोधित करते हुए उन्हें भी मतभिन्नता पर गौर करने के लिए आमंत्रित किया। गुरु नानकदेव के अनुयायियों में अनेक मुसलमानों की गणना की जाती है और उनके चिरकालीन साथी मर्दाना का मुसलमान होना भी प्रसिद्ध है। गुरु गोविंद सिंह को पहाड़ी राजाओं तथा मुस्लिम मुगल अधिकारियों तक के विरुद्ध लड़ने में सैयद बुद्धू शाह ने सहायता दी थी। उन्हें संभवत ५ पठान सिपाही अपनी सेना में भर्ती करने के लिए दिये थे। इसके सिवाय यह भी प्रसिद्ध है कि महाराज रणजीत सिंह का एक विश्वास पात्र मंत्री फकीर अजीजुद्दीन था जो सदा उनके साथ रहा करता था। अतएव जान पड़ता है कि सिक्ख-धर्म के अनुयायियों में इस्लाम के प्रति जो कुछ भी दूषित भावना कभी लक्षित हुई वह अधिकतर मुस्लिम शासकों के विरुद्ध थी। उनके द्वारा बहुधा किये गए अत्याचारों के कारण उत्पन्न हुई थी तथा उनका मूल धार्मिक से कहीं अधिक राजनीतिक बातों से ही जुड़ा हुआ था।

भिन्नता

इसके साथ ही जो-जो बातें सिक्ख-धर्म के भीतर इस्लाम से प्रभावित रह कर दिखलायी जाती हैं वे भी केवल इस्लाम की देन नहीं हैं न उनमें से सबका स्वरूप ठीक-ठीक इस्लाम-धर्म का खुदा एक अलौकिक व्यक्ति है जो कहीं सातवें आसमान में रहता हुआ सब पर शासन किया करता है। किंतु सिक्ख-धर्म का निरंकार पुरुष उसके नितांत भिन्न है। वह किसी स्थान विशेष में रह कर सिंहासनासीन होनेवाला नहीं अपितु सर्वात्म भाव से अणु-अणु के भीतर ओतप्रोत है। उसके सार्वभौमिक नियमों का पालन विश्व के प्रत्येक पदार्थ द्वारा स्वभावत होता जा रहा है। सिक्ख-धर्म का विश्व-बंधुत्व भी इसी कारण किसी दीन या धर्म के प्रति अपमसक्ति प्रदर्शन पर अवलंबित न होकर उक्त व्यापक सिद्धांत पर ही आश्रित समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में किसी मूर्ति-विशेष की पूजा अथवा वर्ण-व्यवस्था के समान भेद भावों की मान्यता का प्रश्न भी आप ही आप हल हो जाता है। गुरु नानकदेव ने प्रचलित पूजन प्रणाली अथवा बहुदेववाद तथा अवतारवाद की धारणाओं के निषेध निराकरण की व्यवस्था कभी नहीं दी न किसी को उत्तम या निकृष्ट कह डालने पर विशेष जोर दिया। उनका उद्देश्य एक सतुलित मनोवृत्ति द्वारा उनका सच्चा उचित मूल्यांकन कराना मात्र था। एकेश्वरवाद विश्व-बंधुत्व आदि उक्त विचार हिन्दू-धर्म के लिए भी नवीन नहीं थे। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे' 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मण' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे अनेक वाक्य हिन्दू-समाज

समय उनके कडाह के जल मे उनकी पत्नी ने मीठा डाल कर उसे मधुर तथा स्वादिष्ट बना दिया था। इस प्रकार उसकी तैयारी में भाग लेकर स्त्री-पुरुष की समानता का परिचय दिया था। सिक्ख-धर्म के इतिहास में स्त्रियो के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आदोलनो में भाग लेने तथा अवसरो पर कार्य करने की चर्चा भी बहुत सुनी जाती है। कहा जाता है कि जिस समय गुरु अगद को गुरु नानकदेव का देहात हो जाने के अनतर विरह-जनित उदासीनता ने बहुत अधिक प्रभावित किया, उस समय एक साधारण स्त्री ने ही उन्हें कुछ काल तक एकातवास के लिए प्रबध कर दिया। गुरु अमरदास ने एक रानी को अपने यहाँ दर्शनो के लिए आने से इस कारण रोक दिया था कि वह पर्दे मे आना चाहती थी। गुरु तेगबहादुर के बदी हो जाने पर उन्हें कष्टप्रद कारागृह में समय-समय पर भोजन तथा जल पहुँचानेवाली एक स्त्री ही थी। एक मुस्लिम महिला ने गुरु हरगोविंद से प्रभावित होकर अपना सारा धन उन्हें धार्मिक सरोवरो के निर्माण के लिए समर्पित कर दिया था।

सिक्ख-धर्म तथा इस्लाम

बहुतो की यह धारणा रहती आई है कि सिक्ख-धर्म इस्लाम के विरुद्ध प्रचलित किया गया था और उसके सदा विरुद्ध रहता आया। परन्तु, यदि सिक्ख-धर्म के इतिहास पर भली भाँति विचार किया जाय तो इस कथन का अधिकाश कोरी कल्पना पर ही आश्रित दीख पडेगा। गुरु नानकदेव ने सिक्ख-धर्म का प्रचार करते समय इस्लाम-धर्म के मौलिक मतव्यो के विरुद्ध कभी एक शब्द तक का प्रयोग नही किया था। उन्होने तो सबसे अधिक ध्यान प्राय उन्ही विषयो के प्रतिपादन की ओर दिया था जो इस्लाम-धर्म के शिलाधार माने जाते हैं। एकेश्वर की भावना, मूर्ति-पूजा की नि सारता, वर्ण-व्यवस्था की निरर्थकता तथा विश्व-बधुत्व को गुरु नानकदेव ने इस प्रकार अपनाया है कि कुछ लोगो को उनके वस्तुत इस्लाम-धर्मानुयायी होने का भी भ्रम होने लगता है। अतएव गुरु नानकदेव ने न तो इस्लाम-धर्म के मूलोच्छेद का कभी यत्न किया, न उक्त बातो को उन्होने उस धर्म के अनुयायियो से ही ग्रहण किया। जैसा पहले कहा जा चुका है, गुरु नानकदेव का जन्म एक विशुद्ध हिन्दू-परिवार में हुआ था और उन्हें शिक्षा भी अधिकतर उसी वातावरण में मिली थी। उन्हें हिन्दुओं की धार्मिक अवनति का अनुभव मुसलमानी आक्रमणो से उत्पन्न हुई परिस्थिति में ही सर्वप्रथम हुआ था। इसी कारण उनका ध्यान सबसे पहले विशेषकर उन्ही बातो की ओर स्वभावत आकृष्ट हुआ था जो उन्हें दोनो के सघर्ष के कारण स्पष्ट हुई थी। फिर भी उन्होने हिन्दू-समाज के भीतर आ गई त्रुटियो की आलोचना

रह जाती है। कबीर साहब की विचार-धारा समवतः आरंभ से ही कुछ-न-कुछ दार्शनिकता वा अधिक से अधिक सैद्धांतिक रूप लेकर आगे बढ़ी थी। वह बहुत कुछ उपदेशात्मक बन कर ही रह गई। किंतु गुरु नानकदेव की विचार धारा का स्वरूप सदा से ही व्यावहारिक रहा और आगे आनेवाली परिस्थितियों ने क्रमशः उसके स्पष्ट तथा सुदृढ़ होने में सहायता ही पहुँचायी। एक लेखक के कथनानुसार कबीर साहब गुरु नानकदेव और महाप्रभु चैतन्य प्रायः एक ही युग में उत्पन्न हुए और इन तीनों के अनुयायी अलग-अलग आज भी वर्तमान हैं। किंतु इन तीनों में से पहले के विचारों का प्रभाव जहाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा विस्तृत था और तीसरे का व्यक्तित्व अत्यंत आकर्षक था वहाँ दूसरे के कार्यों का परिणाम कहीं अधिक स्पष्ट और व्यावहारिक रहा।[1]

साम्प्रदायिकता

सिक्ख-धर्म की सच्ची जानकारी उसके गुरुओं की रचनाओं के उचित क्रम से अनुशीलन करने पर ही हो सकती है। उसके साम्प्रदायिक उपदेशों के विवरण कतिपय धार्मिक पुस्तकों में भी पाये जाते हैं। कहीं-कहीं पर मुख्य बातों की अपेक्षा साधारण नियमादि के ही वर्णन अधिक मिलते हैं। सबसे प्रथम सिक्ख-धर्म का परिचय देनेवाले भाई गुरुदास थे जो गुरु अर्जुनदेव के संबंधी तथा समकालीन थे। भाई गुरुदास के ही द्वारा गुरु अर्जुनदेव ने आदि ग्रंथ' के प्रथम संस्करणवाला संग्रह लिखवाया था। गुरु अमरदास ने अपनी ओर से भी कुछ कविताओं की रचना की और अपनी ४ वारों के अंतर्गत सिक्ख-धर्म के प्रचलित सिद्धांतों का वर्णन किया। इन वारों में से प्रत्येक में कुछ पौड़ियाँ हैं जिनकी संख्या एक समान नहीं है और इन पौड़ियों में से भी कुछ की पंक्तियाँ केवल पाँच हैं, तो दूसरी की दस तक पहुँची हुई हैं। भाषा प्राचीन और क्लिष्ट पंजाबी है किंतु उसकी सहायता से हमें सिक्ख-धर्म के उस रूप का एक अच्छा-सा परिचय मिल जाता है जो उस समय था। भाई गुरुदास ने सिक्ख गुरुओं द्वारा उस समय तक किये गए कार्यों का स्वभावतः एक प्रशंसात्मक विवरण दिया है। उन्होंने उस समय के प्रचलित अन्य धर्मों के ऊपर कहीं-कहीं कटाक्ष भी किये हैं और अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि "जहाँ कहीं पर केवल एक सिक्ख है तो वह एक सिक्ख समझा जा सकता है किंतु जहाँ दो भी सिक्ख हैं वहाँ एक सत-समाज बन जाता है। यदि कहीं पर पाँच सिक्ख हो गए तो फिर वहाँ पर स्वयं परमात्मा का ही सदेह

---

१ डॉ॰ जे॰ ई॰ कार्पेंटर : थीइज्म इन मिडीवल इंडिया पृ॰ ४८८।

मे कदाचित् उस समय भी प्रचलित थे और इनका प्रयोग निरतर आज तक भी हिन्दू-पडितो द्वारा उसी प्रकार होता आ रहा है। उनके अस्तित्व के बने रहते ऐसी धारणाओ के लिए इस्लाम वा अन्य किसी धर्म के प्रति हिन्दू-धर्म का अपने को ऋणी समझने की कोई आवश्यकता नही, न उनके लिए गुरु नानकदेव को ही आभारी होना था। सिक्ख-धर्म को प्रकाश मे लाते समय उन्होने इन बातो की ओर अवश्य ध्यान दिया, किंतु इतना ही करके वे चुप नही रह गए। उन्होने इस सबध में यह भी बतला दिया कि ऐसी बातो को बाहर से उपदेशवत् ग्रहण न करके उन्हे अपने अनुभवो द्वारा स्वय जाँचने तथा व्यवहार में लाने मे कल्याण है। इसके लिए कही अन्यत्र जाने की भी आवश्यकता नही, वह तो पुत्र-कलत्रादि के बीच रह कर ही भली भाँति सभव हो सकता है।

कबीर साहब तथा गुरु नानकदेव

गुरु नानकदेव के बहुत पहले से भी उक्त प्रकार की विचार-धारा किसी न किसी रूप में दीखती आई थी। उनसे कुछ ही दिन पहले कबीर साहब ने लगभग ऐसी ही भावनाओ से प्रेरित होकर अपने सिद्धातो का प्रचार आरभ किया था। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि गुरु नानकदेव ने कबीर साहब का ही अनुसरण किया था और कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि ये उनके यहाँ जाकर उनसे उपदेश भी लिये थे। परन्तु इस प्रकार की धारणाएँ अक्षरश सत्य नही समझी जा सकती। कबीर साहब का देहात गुरु नानक के आविर्भाव-काल के कदाचित् लगभग २० वर्ष पहले ही हो चुका था। इस प्रकार दूसरे का प्रभावित होना, पहले के अनुयायियो द्वारा ही सभव हो सकता है। फिर भी इसमें सदेह नही कि इन दोनो महापुरुषो के उद्देश्यो में बहुत बडी समानता है और इन दोनो की साधना-प्रणाली भी प्राय एक ही है। अतर केवल यही जान पडता है कि कबीर साहब ने जहाँ अपने विचारो को जनता के बीच प्रकट और प्रचार करके ही छोड दिया, वहाँ गुरु नानकदेव ने अपने सिद्धातो को अपने पीछे भी व्यवहार में लाने के लिए एक प्रकार का सगठन भी कर दिया। यही कारण है कि गुरु नानकदेव के अनुयायियो के लिए जहाँ वैसे ही आदर्श की परपरा दो सौ वर्षों से भी अधिक काल के लिए चली और आज भी उसकी शृखला किसी न किसी रूप में वर्तमान है, वहाँ कबीर साहब के अनतर उनकी परपरा मे वैसी शक्ति नही दीख पडी, न वह आज तक सभव हो सकी। इसका एक परिणाम हम इस रूप में भी देखते हैं कि 'सिक्ख-धर्म' ने अपने सगठित प्रचार की प्रणाली द्वारा अपना प्रभाव आजकल के सार्वजनिक क्षेत्र पर भी जहाँ जमा रखा है, वहाँ कबीर-पथियो की गणना हिन्दू-धर्म के साधारण सम्प्रदायो में ही होकर

जागृत हुई। उसके लिए प्रवृत्त होने वाले लोगों ने अपनी नयी संस्थाएँ स्थापित करना आरंभ किया जिस कारण कतिपय सुधारक सम्प्रदायों की भी सृष्टि हो गई।

विभिन्न सिक्ख-सम्प्रदाय

सिक्ख-धर्म के अनुसार प्रचलित किये गए सम्प्रदायों तथा उसके सुधारकों की ओर विशेष ध्यान देनेवाले समाजों की संख्या बहुत है। इनमें से कई के विचारों तथा व्यवहारों में केवल सूक्ष्म अथवा कुछ बाहरी भेद ही दिखलायी पड़ते हैं। फिर भी इनमें से हिन्दू-धर्म के अनुयायी-जैसे बन गए हैं और उनके लिए इस समय हम 'सिक्ख' शब्द का प्रयोग केवल नाम-मात्र के लिए ही कर सकते हैं। इन पंथों का इतिहास तथा इनके अंतर्गत भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार आ गई प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन एक मनोरंजक विषय होगा। सिक्ख-धर्म के इन सम्प्रदायों के उत्थान तथा विकास इसी प्रकार से कबीर-पंथ के भिन्न भिन्न उप-सम्प्रदायों की भी गति-विधि के विचारपूर्ण अवलोकन और विश्लेषणात्मक विवेचन के द्वारा मानव-समाज की धार्मिक मनोवृत्ति के वास्तविक महत्त्व का मूल्यांकन भली भाँति किया जा सकता है। जो हो यह प्रश्न विशेषकर समाज-शास्त्र के विद्वानों से है और इसे यहीं छोड़ हम सिक्ख-धर्म के उक्त वर्गों में से मुख्य-मुख्य का परिचय देते हैं।

उदासी सम्प्रदाय

'उदासी-सम्प्रदाय' के अनुयायियों को भौतिक अथवा विशेष रूप से राजनीतिक बातों से कभी कोई संबंध नहीं रहा है। उसके मूल प्रवर्तक श्रीचंद[1] बराबर संन्यासियों के वेश में और अधिकतर कदाचित् नग्न रह कर ही भ्रमण किया करते थे। और उनके अनुयायी लोगों का भी रहन-सहन सदा साधुओं की ही भाँति रहा। सांसारिक बातों की ओर से इनकी ऐसी तटस्थता देख कर गुरु गोविंद सिंह इनके प्रति कुछ रुष्ट रहा करते थे। कभी-कभी इनकी 'अहिंसात्मक' भोली-भाली तथा शांत प्रवृत्ति के कारण इन्हें जैनी तक कह दिया करते थे। तीसरे गुरु अमरदास को भी यह सम्प्रदाय पसंद नहीं था और उन्होंने इसे भरसक निरुत्साहित ही किया था। किंतु छठे गुरु हरगोविंद के पुत्र बाबा गुरुदित्ता ने इसको फिर से जागृत किया। ये अधिकतर करतारपुर में रहा करते थे और कीर्तिपुर में मरे थे जहाँ इनकी समाधि विद्यमान है। इन्हें केवल 'बाबाजी' भी कहा जाता है। परन्तु उदासी-सम्प्रदाय के लोग अधिकतर स्वयं गुरु नानक

---

1 जान माल्कम के अनुसार श्रीचंद के पुत्र धर्मचंद ने 'उदासी-सम्प्रदाय' को स्थापित किया। दे० Sketch of the Sikhs Asiatic Researches Vol XI, 1810 reprinted in the Sikh Religion Susil Gupta (India) Private Ltd. Calcutta, 1958 p. 86

वर्तमान रहना समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार जैसे वर्ष के भीतर छह ऋतुएँ तथा वारह महीने हुआ करते हैं किंतु सूर्य केवल एक ही होता है, उसी प्रकार केवल सिक्ख ही उस परमात्मा के दर्शन कर सकता है।" ऐसी बातों के अतिरिक्त भाई गुरुदास ने नम्रता, सत्संग, स्त्रियों का महत्त्व, नाम-स्मरण आदि विषयों का विवेचन भी किया है। भाई गुरुदास तीसरे सिक्ख गुरु से लेकर छठे तक वर्तमान थे। वे संवत् १६९४ तक जीवित थे। इनकी अनेक उपलब्ध रचनाओं पर हमें हिंदी काव्य का रीतिकालीन प्रभाव भी स्पष्ट दीख पड़ता है।

(१४) सिक्ख-धर्म के सम्प्रदाय

सम्प्रदायों का निर्माण

वीर बंदा बहादुर के समय से सिक्खों के भीतर दलबंदी के भाव जागृत होने लगे। उसके पहले भी कुछ लोग किसी-न-किसी कारण से सिक्ख-गुरुओं से पृथक् होकर अपने-अपने नये पंथ चलाने के यत्न करते आ रहे थे। प्रसिद्ध है कि गुरु नानकदेव का देहांत हो जाने पर उनके पुत्र श्रीचंद (जन्म सं० १५५१) ने अपना 'उदासी-सम्प्रदाय' चलाया और कश्मीर, काबुल, कांधार, पेशावर तथा अन्य कई स्थानों में भ्रमण करते हुए ठट्टा सिंध-जैसे नगरों में कई केन्द्र भी स्थापित किये। कहा जाता है कि ये अपने पिता की गद्दी न पाने पर उदास हो गए थे। इनके अनंतर इसी प्रकार अपने पिता चौथे गुरु रामदास का उत्तराधिकारी न बन सकने के कारण प्रिथीचंद ने भी एक नया पंथ चलाया था जो 'मीनापंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। माँझ अर्थात् रावी और व्यास के बीच बसे हुए मध्यदेश के निवासी हंदल नामक किसी जाट ने अपना 'हंदली मत' स्थापित किया। ये हंदल गुरु अमरदास द्वारा दीक्षित हुए थे, किंतु इनके तथा इनके अनुयायियों के विचारों में बहुत भिन्नता आ गई। एक चौथा पंथ गुरु हरराय के पुत्र रामराय के अनुयायियों का 'रामैया पंथ' भी इसी भाँति चल पड़ा था। परन्तु इन सभी का रूप धार्मिक ग्रंथों का समान ही विशेष रूप से लक्षित होता था। उनके अनुयायियों के भावों के पहले उतनी उग्रता नहीं दीख पड़ती थी। वीर बंदा बहादुर के समय से गुरु गोविंद सिंह द्वारा प्रवर्तित वीर 'खालसा-सम्प्रदाय' के भीतर जो दो दल बने उनके रूप कुछ अधिक भयंकर दीख पड़े। उन 'तत्त-खालसा' तथा 'बंदई-खालसा' वालों में से प्रत्येक ने एक दूसरे को पूर्णतः नीचा दिखलाने के भी यत्न किये और हानि पहुँचायी। इन कारणों से सिक्ख-धर्म के अनुयायियों का समाज क्रमशः छिन्न-भिन्न होने लगा और धार्मिक दृष्टि से भी उनका अधःपतन आरंभ हो गया। ऐसे ही अवसर पर संवत् १९४७ के लगभग उसके कुछ अनुयायियों के हृदयों में सुधार की भावना

में इनका विवाह बलिया उत्तर प्रदेश के रहनेवाले युगलकिशोर लाल के साथ हुआ था। एक बार गंगा-स्नान करने जाते समय ये हीरादास साधु की झोंपड़ी में जाकर वहाँ से शीघ्र लौट आयी। साधु उदासी-सम्प्रदाय के ही नामा थे। सुबचना दासी उसी समय से बहुधा सहजयोग का अभ्यास करने तथा समाधि में रहने लगी। किंतु अपने पति की सेवा से अवकाश पाकर ही ये अपनी साधना में लगती थी। इनका प्रभाव आगे चल कर इनके पति पर भी पड़ा था। बलिया में रह कर ये सत्संग किया करती थी। इनकी रचनाओं में 'प्रेमतरंगिनी' 'विज्ञान सागर' 'विदेह मोक्षप्रकाश' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका एक पद नीचे पाद टिप्पणी में है।[1]

निर्मला सम्प्रदाय

सिक्खों के एक दूसरे सम्प्रदाय 'निर्मला' की स्थापना वीर सिंह ने गुरु गोविंद सिंह के समय में की थी। कहते हैं कि गुरु गोविंद सिंह को किसी अनूप कौर नाम की रूपवती कामिनी ने छलपूर्वक अपने प्रेम-पाश में बाँधना चाहा था जिसकी प्रतिक्रिया में गुरु साहब ने गैरिक वस्त्र परिधान करके उससे भेंट की और उसके प्रभावों से मुक्त हो चुकने के उपरांत ही वस्त्र वीर सिंह को प्रदान कर उन्हें इस पंथ की स्थापना के लिए आदेश दिया। इसी घटना के उपलक्ष में गुरु साहब का ४०४ कथाओं का सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'त्रियाचरित्र' भी लिखा गया।[2] वीर सिंह ने सबसे अधिक ध्यान व्यक्तिगत पवित्रता तथा आचार-शुद्धि की ओर दिया था और इस विषय में वे सदा दृढ़ रहते आए। निर्मला लोग बड़े सच्चरित्र और प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। ये लोग अधिकतर संस्कृत के विद्वान् हुआ करते हैं और साधारणतः श्वेत वस्त्र परिधान किया करते हैं। इनका अखाड़ा इनके किसी महंत के शासनाधीन रहा करता है। ये अविवाहित भी होते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों का भी मुख्य ध्येय उदासियों की ही भाँति गुरु नानकदेव के मूल सिद्धांतों के अनुसार चलना है। ये धार्मिक बातों के साथ-साथ सांसारिकता का सबंध अधिक बनाये रखना नहीं चाहते न इसी कारण राजनीतिक उथल-पुथल का प्रभाव इन पर कभी पड़ सकता है। इनकी भी धर्म-पुस्तक आदिग्रंथ है।

१ 'मोहि चार बिना रहनारे भजलिन बाबुगुर।
छिन छिन उमिर घटत निसिबासर इकदिन उठ चलनारे।
अपनी करो फिकर चलने की यहाँ नहीं रहनारे।
बस अपजस के साथ चलनारे, सुबचन हरि भजनारे।

२ जे सी ओमन दि मिस्टिक्स एड सेंट्स ऑफ इंडिया फिशर अनविन १९०३ ई० पृ० १९६-८।

देव को ही अपने आदि आचार्य के रूप मे स्वीकार करते पाये जाते हैं।

शाखाएँ तथा भेषादि

उदासी सम्प्रदाय की चार प्रधान शाखाएँ हैं जो 'घुआँ' कहलाती हैं और जिन्हें चार उदासियो ने चलाया था। १ फूलसाहिब की शाखा बहादुरपुर में है, २. बाबा हसन की आनदपुर के निकट चरनकौल में है, ३ अलमस्त साहिब की पुरी तथा नैनीताल में है, और ४. गोविंद साहिब की शिकारपुर-सिंध तथा अमृतसर में हैं। इनमें से प्रत्येक दूसरे से स्वतत्र है और उसका प्रबंध भी एक भिन्न महत करता है। उदासी लोग साधारणत इधर-उधर अपने तीर्थ-स्थानो मे भ्रमण करते फिरते है। किंतु इनकी अधिक सख्या मालवा, काशी, जलधर, रोहतक तथा फिरोज़पुर में पायी जाती है। ये अपनी पूजा मे घडी-घटा बजाया करते हैं और 'आदिग्रथ' की आरती किया करते हैं। इन्हें भस्म तथा विभूति के प्रति बडी श्रद्धा है जिसे ये बहुधा अपने शरीर पर धारण भी किया करते है। इनके दीक्षा-सस्कार के समय भी इनका गुरु इन्हें नहला कर भस्म लगा देता है। ये कुछ भस्म को सदा सुरक्षित भी रखते हैं और उसके ऊपर एक जत्री वा छोटी मढी भी बना देते हैं। इनका प्रिय मत्र "चरण साध का धो-धो पियो। अरप साध को अपना जियो" है। आजकल ये गैरिक वस्त्र-धारण करते हैं, साधुओ की भाँति रहा करते हैं और विवाह का करना आवश्यक नहीं समझते। ये 'आदिग्रथ' को मानते हैं। इनके भेष में हिन्दू-साधुओ की अनेक बातें सम्मिलित हो गई है और इन्होने साधारण हिन्दुओ की आचार-विधि को भी बहुत कुछ अपना लिया है। इस पथ के अनुयायियो को कभी-कभी 'नागा' अथवा नानकशाही भी कहा करते हैं। इनका मुख्य गुरुद्वारा देहरा में है और पूर्वी भारत में इसकी ३७० गद्दियाँ बतलायी जाती हैं।[1] इस सम्प्रदाय की एक विशेषता इसके अनुयायियो द्वारा निर्गुण तथा सगुण दोनो मे सामजस्य स्थापित किये जाने मे भी दीख पडती है। वनखडीजी द्वारा स्थापित उदासीन सम्प्रदाय ने भी श्रीचद से प्रेरणा ग्रहण की।[2]

सत सुवचना दासी

उक्त नानकशाही वा उदासी-सम्प्रदाय की एक अनुयायिनी सत सुवचना दासी अभी कुछ दिन हुए वर्तमान थी। इनका जन्म स० १९२८ मे हुआ था और ये गाँव डेहमा, जिला गाजीपुर के दलसिंगार लाल की पुत्री थी। इन्हे बचपन से ही भक्ति-भाव तथा साधु-सेवा की लगन थी। चौदह वर्ष की अवस्था

१. विलियम क्रुक ए ग्लासरी आदि, भा० ४, पृ० ४१७-२० वा पृ० ४७९-८०।
२ सीताराम चतुर्वेदी जय साधुबेला।

प्रकार कुछ अन्य लोग इस पंथ के प्रवर्तित करने का श्रेय गुरु तेग़बहादुर को देना चाहते हैं। जो हो इस सम्प्रदाय के अनुयायियों के प्रति सर्वसाधारण की श्रद्धा आजकल पूर्ववत् नही देखी जाती। ये लोग अधिकतर दो छोटे के डंडे बजा कर पैसे मांगने में दुराग्रह करनेवाले व्यक्तियों के ही रूप में देखे जाते हैं। पूर्व की ओर तो इनके सबध में एक कहावत भी चल पड़ी है कि 'केहू मुवे केहू जीये सुथरा घोरि बतासा पीये।'[१] सुथराशाहियों का प्रधान केन्द्र पहले पठानकोट के निकटवर्ती नगर बुरहानपुर में था। परन्तु पीछे वहाँ से हट कर लाहोर मे कश्मीर दरवाजे पर आ गया। सुथराशाह एक बड़े बहादुर पुरुष कहे जाते हैं। प्रसिद्ध है कि उन्होंने गुरु हरगोविंद की बड़ी सहायता की थी जिस कारण उन्हें मुगलो का अत्याचार भी सहन करना पड़ा था। परन्तु उनके अनुयायियो में अब इस प्रकार के लोग नही पाये जाते और इस पंथ की बहुत कुछ अवनति भी सुनी जाती है।[२] सुथराशाही अधिकतर पंजाब तथा बंगाल में पाये जाते हैं।

सेवा-पंथी सम्प्रदाय

सिक्खो के 'सेवापंथी सम्प्रदाय' की स्थापना कन्हैया नामक एक व्यक्ति के कारण हुई थी। वह सेवा-धर्म का कट्टर अनुयायी था और मुगलो द्वारा गुरु गोविंद सिंह के आनंदपुरवाले दुर्ग पर चढ़ाई किये जाने पर उसने शत्रु-मित्र दोनो के दलो को पानी पिलाने की व्यवस्था समान रूप से की थी। गुरु गोविंद सिंह ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और उसे मानव-जाति का सच्चा सेवक बतलाया। कन्हैया ने अपने विचारो के आधार पर एक नवीन पंथ के भी चलाने का यत्न किया और उसके अनुगामियो की सख्या बढ़ने लगी। उसके एक शिष्य का नाम सेवाराम था और सेवा-पंथी नाम पहले-पहल कदाचित् इसी कारण पड़ा था। कन्हैया के एक दूसरे शिष्य के नाम पर अमृतसर में इस सम्प्रदाय के अनुयायी अड्डणशाही या अददणशाही कहलाते हैं। फिर भी सेवापंथी कहलानेवाले सिक्ख आज भी अपनी नि स्वार्थ सेवा तथा सहृदयता के लिए प्रसिद्ध हैं। ये ईमानदारी के साथ मजदूरी करने और रस्सी बाँटने-जैसे छोटे-छोटे काम करके भी खाना अधिक पसद करते हैं। यदि वे भिक्षावृत्ति भी स्वीकार करते हैं तो जो कुछ भी मिल जाय उसी से सतोष कर लिया करते हैं। ये सफेद टोपी सफेद पगड़ी सफेद लाछ या धोती पहनते हैं और महन्तोत्सव के अवसर पर नये महत को एक साड़ और एक कटोरा भेंट किया जाता है।

---

१ डॉ मिकल मैकनिकल ईडियन थीइज्म पृ १५५।
२ जे सी ओमन 'मिस्टिक्स' आदि पृ १९८२ ।

नामधारी सम्प्रदाय

सिक्खो के 'नामधारी सम्प्रदाय' को लुधियाना के भाई राम सिंह नामक एक सिक्ख ने प्रवर्त्तित किया था जो पहले महाराजा रणजीत सिंह की सेना मे रह चुके थे। सेना का त्याग करने के उपरात उनके हृदय में धार्मिक भावनाएँ जागृत हुई वे कैंवलपुर जिले के किसी उदासी-सम्प्रदाय वाले बावा बालकराम से दीक्षित होकर अपने नवीन पथ को प्रवर्त्तित करने की ओर अग्रसर हुए। उनके अनुयायी बावा बालकराय (मृ० स० १९२०) को ११वाँ तथा रामसिंह को १२वाँ सिक्ख-गुरु मानते हैं और एक विशेष प्रकार से वेश-भूषादि धारण करते हैं। ये पक्के निरामिषभोजी हुआ करते हैं और नामधारियो से भिन्न किसी और के हाथ की रसोई ग्रहण नही करते। ये खादी के वस्त्र पहना करते है और आपस के झगडो को भरसक अदालतो तक ले जाना पसद नही करते। ये अपने गुरु की सेवा प्राणपण से करने पर तैयार रहते हैं। इनका एक दूसरा नाम 'कूका' भी है। 'कूका' का शब्दार्थ कूक करनेवाला होता है जिसका अभिप्राय यह है कि इस पथ वाले आराधना के अवसर पर बहुधा सिर हिलाया और चिल्लाया करते हैं। अत में 'सत श्री अकाल' कहते-कहते भावावेश तक मे आ जाते हैं। सर्वप्रथम यह पथ पौरोहित्य के विरुद्ध चलाया गया था। ये लोग गो-वध के भी बहुत विरुद्ध हैं और अपने अनुयायियो द्वारा बहुत-से कसाइयो की हत्या किये जाने पर इनके गुरु रामसिंह को रगून में निर्वासित होना पडा था जहाँ ये स० १९४५ में मरे थे। कूका लोग बहुधा एक प्रकार की सीधी पाग बाँधते है।

सुथराशाही सम्प्रदाय

सिक्ख-धर्म के एक अन्य सम्प्रदाय 'सुथराशाही' की स्थापना किसी सुथराशाह ने की थी। कहा जाता है कि उनके पिता ने उन्हें बचपन मे इसलिए त्याग दिया था कि वे बडे गदे ढग से रहा करते थे। सर्वप्रथम गुरु हरगोविंद ने उन्हें सुथरा वा स्वच्छ कह कर अपनाया था। परन्तु इस बात को कुछ लोग अनैतिहासिक मानते हैं और उन्हे सुथराशाह कहे जाने का मूल कारण उनके सुतार वा बढई के वश में जन्म लेना ठहराते हैं।[1] सुथराशाही सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय मे और भी अनेक मत है। इनके अनुसार कुछ लोग सुथराशाह को गुरु अर्जुन का शिष्य समझते है और दूसरो का कहना है कि वे गुरु हरिराय के समकालीन सूचा नाम के ब्राह्मण थे जो पीछे से सुथराशाह कहलाये। इसी

---

१ क्षितिमोहन सेन . मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इडिया, पृ० १६९।

जानेवाली परपराओं की ओर ध्यान न दकर अधिकतर सिक्ख-धर्मोचित नवीन बातों को ही प्रश्रय देते है। ये परमात्मा को सदा अकाल-पुरुष के नाम से पुकारते है अपने ढग से वस्त्रादि धारण किया करते है और अमृतसर के अकाल-तख्त' को सबसे अधिक महत्त्व तथा प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। किन्तु महाराजा रणजीत सिंह के समय से इनका एक प्रधान स्थान आनदपुर भी समझा जाने लगा है। अकाली लोग स्वभावत शूरवीरों का जीवन अधिक पसंद करते हैं और इनकी साम्प्रदायिकता कट्टरपने की सीमा तक पहुँच जाया करती है। ये सिक्खों में अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इन्होंने विक्रम की बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही कई प्रकार के सुधारो का सूत्रपात किया है और आज तक लड़-भिड़ कर अनेक अधिकार भी हस्तगत कर लिये है। सं १९४७ के लगभग प्रतिष्ठित 'सिंह-सभा' के प्रसिद्ध आंदोलन द्वारा सिक्ख-जाति के अतर्गत राष्ट्रीयता की भावना जागृत हो उठी थी और नामधारियों द्वारा भी उसे पूरी सहायता मिली थी। किंतु अकालियो की एकात निष्ठा ने इसे कही अधिक शक्ति प्रदान कर दी और उनमें आत्म-निर्भरता के भाव भर दिये। इन्होंने समय-समय पर अपने सत्याग्रहों से भी अनेक प्रकार की विजय प्राप्त की है।

भगत-पंथी सम्प्रदाय

'भगत-पंथी' सिक्ख अधिकतर बन्नू जिले के पहाड़पुर में और डेरा इस्माइल खाँ की तहसील में पाये जाते है। ये विवाह मृत्यु आदि के अवसरों पर किसी विधि-विशेष की ओर ध्यान नहीं देते। ये घर पर 'गुरुग्रंथ साहब' को ले जाते हैं और उसके कुछ अंश वही विवाह के अवसर पर पढ लेते है। मृत्यु के समय उनके शव गाड़े जाते हैं जलाये नहीं जाते। उसके अनंतर कुछ दिनो तक उक्त धर्म-ग्रंथ के कुछ अंश पढे जाते रहते हैं। इनमें छुआछूत का विचार बिल्कुल नहीं रहता न ये कभी तीर्थ व्रत मूर्ति-पूजा श्राद्ध-आदि का ही नाम लेते है। इनके यहाँ नित्यप्रति की प्रार्थना अत्यंत आवश्यक है जो छह बार हुआ करती है। सूर्योदय के पहले दोपहर के पहले दोपहर के अनंतर, सूर्यास्त के पहले सायंकाल तथा रात को। प्रार्थना के समय ये आठ बार बैठते हैं आठ बार उठा करते है और चार बार साष्टांग दडवत भी करते हैं। ये शुद्ध 'सिक्ख-धर्म के उपासक हैं।'[1]

गुलाबदासी सम्प्रदाय

'गुलाबदासी सम्प्रदाय' के प्रधान संचालक गुलाबदास पहले उदासी

---

१ एच ए रोज : ए ग्लासरी आदि भा २ पृ ८१।

अकाली सम्प्रदाय

उक्त सिक्ख सम्प्रदायो मे से 'निर्मला' को छोड कर अन्य सभी 'सहजधारी' भी कहलाते हैं, क्योकि उनका मुख्य उद्देश्य पूर्ववत् रहना ही कहला सकता है। किंतु निर्मला तथा निहग कहलानेवाले लोगो को कभी-कभी 'सिंहधारी' कहा जाता है। 'निहग' का शब्दार्थ निश्चित वा निर्भीक समझा जाता है और इन लोगो के अन्य नाम 'अकाली' और 'शहीदी' भी है। ये लोग खालसा-सम्प्रदाय के पक्के अनुयायी होते हैं और इनकी धार्मिक प्रवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक तथा सामाजिक बातो द्वारा भी प्रभावित रहा करती है। इनका आविर्भाव, वास्तव में खालसा-सम्प्रदाय की उत्पत्ति के पहले अर्थात् स० १७४७ के लगभग मान सिंह के नायकत्व में हुआ था। उस समय चमकोर के छोटे-से दुर्ग मे केवल ४० सिक्खो ने मुगल सेना का सामना किया था। अत में, वहाँ से गुरु गोविंद सिंह को भेष बदल कर स्थान छोड देना पडा था। उस समय उन्होने मार्ग मे फकीरो के नीले वस्त्र पहन लिये थे जिन्हें उन्होने निर्दिष्ट गाँव तक पहुँच कर अपने योग्य साथी मान सिंह को दे दिया था तथा उन्हें एक नवीन पथ चलाने की अनुमति भी दे दी थी। अकाली लोग इसी कारण नीले वस्त्र को ही अधिक पसद करते हैं और उसी के साफे बाँधा करते है। कुछ अकाली अपने नीले साफे के नीचे एक पीला कपडा भी बाँधते हैं जो बहुधा उनके ललाट की ओर दीख पडता है। कहते हैं कि दिल्ली के किसी खत्री नदलाल ने गुरु गोविंद सिंह से कभी पीले वस्त्र पहनने का आग्रह किया था जिसे गुरु ने स्वीकार कर लिया था। उसी के स्मारक के रूप में ऐसा किया जाता है। अकाली लोग पारस्परिक सहायता के बडे इच्छुक देखे जाते हैं। इनके नियमो में एक यह भी प्रसिद्ध है कि भोजन करते समय ये पहले चिल्ला कर पूछ लेते हैं कि क्या किसी को भोजन की आवश्यकता है ? किसी के 'हाँ' कह देने पर उसे ये अपनी थाली में से कुछ अश निकाल कर दे देते हैं। ये गांजा, तम्बाकू आदि कभी नही पीते, किंतु कभी भग छान लिया करते हैं।

इसकी विशेषताएँ

इनके सिद्धातो के अनुसार धार्मिक आचार-विचार तथा युद्ध-सबधी कार्यो मे कोई भी मौलिक अतर नही, न सार्वजनिक जीवन में पूरा भाग लेकर उसे उन्नत रूप में अग्रसर करते रहना किसी भी प्रकार से धार्मिक रहन-सहन के विपरीत समझा जा सकता है। इसके सिवाय इनका उद्देश्य एक यह भी जान पडता है कि सिक्ख-धर्म के अनुयायियो को एक अलग जाति के रूप मे स्वीकार किया जाना सर्वथा उचित है। इसी कारण ये हिन्दू-धर्म द्वारा अपनायी

की थी। इस कारण भी अन्य सिक्ख इन्हें अनुदार मानते थे। हंदालिया के अतिरिक्त उदासियों का एक उप-सम्प्रदाय 'दीवाना साध' नाम का भी था जो अपने को धार्मिक उन्मादी माना करता था। फिर भी उक्त सभी सम्प्रदायों में अधिक प्रभावशाली तथा प्रसिद्ध वर्ग अकालियों का ही रहता आया है।

सुधार की योजनाएँ

वास्तव में जब से सिक्ख-धर्म के अंतर्गत सुधार की लहर उमड़ी है तब से इसके छोटे-मोटे सम्प्रदाय भी जो पहले हिन्दू-धर्म की ओर अधिकाधिक झुकते-से जा रहे थे उसकी अपेक्षा में सजग होकर अपने को सँभालने लगे हैं। अब सिक्ख जाति का प्रत्येक युवक एक नये वातावरण में प्रभावित होकर 'इस नवीन परिस्थिति में हमारा क्या कर्त्तव्य है' का उत्तर खोजने लगा है। उसकी जिज्ञासा पूर्ण करने के लिए अनेक स्कूल तथा कालेज खुल गए हैं। बहुत-सी धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित होती जा रही हैं। भिन्न-भिन्न सभाओं द्वारा सिक्खों के इतिहास, उनकी पृथक् संस्कृति तथा मानव-समाज के भीतर उनके स्थान-विशेष की ओर संकेत कर उनका महत्त्व बतलाया जा रहा है। सिक्ख-जाति अपने को अब एक निरा धार्मिक समाज कहना छोड़ कर एक सम्मानित राष्ट्र मानने की ओर अग्रसर होती दीखती है। उसने अपने ऐतिहासिक विकास के प्रकाश में इस बात को भली भाँति देख-समझ लिया है कि हम जिस प्रकार एक धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में रह कर भजन भाव में लीन रह सकते हैं वैसे ही अवसर पड़ने पर अपने बाहुबल द्वारा शक्ति अर्जित करके महाराजा रणजीत सिंह (सं० १८३७-१८९६) की भाँति एक बड़े भू-भाग पर शासन भी कर सकते हैं। भारतवर्ष के भीतर यह जाति आजकल एक महत्त्वपूर्ण अल्प-संख्यक वर्ग के ही रूप में है। और हिन्दुओं अथवा मुसलमानों की तुलना में इनकी प्रायः सत्तावन लाख प्राणियों की संख्या नगण्य समझी जा सकती है। किन्तु देश का विभाजन हो जाने के कारण इनका प्रभाव कम-से-कम भारत में बहुत बढ़ता जा रहा है। अब इनके लिए अवसर मिल गया है कि ये अपने को गुरु गोविंद सिंह के 'तीसरा पंथ कीनो' वाक्य को भली भाँति चरितार्थ कर दें। फिर भी हिन्दू-जाति के साथ सिक्ख-जाति का कोई मौलिक भेद नहीं है। दसवें गुरु द्वारा कहा गया उक्त पद्यांश कदाचित् साम्प्रदायिकता के आवेश में निकला हुआ उद्गार-मात्र प्रतीत होता है। अतएव यह भी सम्भव है कि गुरु नानक द्वारा बीज-रूप में रोपा गया, गुरु अमरदास की भेदभाव-रहित विचार-धारा द्वारा सींचा गया, गुरु अर्जुन के आत्मोत्सर्ग के आलवाल में पाला गया, गुरु हरगोविंद राय की राजनीतिज्ञता द्वारा सुरक्षित किया गया, अंत में गुरु गोविंद सिंह के पराक्रम-द्वारा पुष्टि प्रदान किया गया यह पेड़ किसी दिन विशाल हिन्दू-जाति के उद्यान का

थे। किंतु कुसूर के हीरादास के प्रभाव मे पड कर इन्होने उदासियो की परपरा का त्याग कर दिया। इनकी रचना 'उपदेश विलास' नाम से प्रसिद्ध है। इनके मत का मुख्य उद्देश्य आनद है जिस कारण इनके अनुयायी वाल नही रखते, सुदर-से-सुदर कपडे पहनते है तथा ऐश्वर्य भोगते हैं। ये असत्य के प्रति बडी घृणा प्रदर्शित करते हैं। ये ईश्वर की भावना मे भी वैसी आस्था नही रखते, न इसकी कोई आवश्यकता समझते हैं। ये लाहोर, जलधर, अमृतसर, फीरोज़पुर, अबाला तथा करनाल मे अधिकतर पाये जाते हैं।

निरकारी सम्प्रदाय

'निरकारी सम्प्रदाय' को पेशावर के एक खत्री भाई देयालदास ने प्रवर्त्तित किया था जो स० १८९२ के लगभग रावलपिंडी मे आकर बस गए थे। इनकी मृत्यु के अनतर स० १९२७ मे इनके पुत्र भाई भारा वा दरबारा सिंह ने उत्तराधिकार ग्रहण किया। ये लोग शुद्ध निरकार की आराधना करते हैं जो प्रार्थनाएँ सुना करता है। प्रत्येक मास के प्रथम दिवस को ये विशेष-रूप से पवित्र मानते हैं और उस दिन 'ग्रथ' का अध्ययन वा श्रवण विशेष-रूप से होता है। इनकी विशेष श्रद्धा गुरु नानकदेव के ही पदो के प्रति रहा करती है। रावलपिंडी मे लेई नाम की जलधारा के निकट इनका अमृतसर बिलकुल अलग बना हुआ है जहाँ पर इनके मुर्दे भी जलाये जाते हैं। रावलपिंडी ही इनका प्रधान केन्द्र है।[1]

अन्य सम्प्रदाय

अन्य सिक्ख सम्प्रदायो मे से प्रिथीचद के 'मीनापथ', रामराय के 'रामैया पथ' तथा हदल के 'हदली सम्प्रदाय' के सबध मे पहले चर्चा की जा चुकी है। इन सबका मतभेद मूल सिक्ख-धर्म के साथ सर्वप्रथम व्यक्तिगत वा अधिक-से-अधिक साम्प्रदायिक मात्र ही रहा। हदलियो ने तो कभी-कभी स्वय गुरु नानकदेव के भी विरुद्ध कुछ-न-कुछ कह डाला तथा उनके अनुयायियो के विरुद्ध बराबर आचरण करते रहे। ये लोग 'निरजनी' कहला कर भी प्रसिद्ध हैं, क्योकि इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक ने ईश्वर को 'निरजन' शब्द के द्वारा ही अभिहित किया था। इनका गुरुद्वारा जडियाल, जिला अमृतसर मे 'बाबा हदल का दरबार साहिब' के नाम से प्रसिद्ध है। हदल की मृत्यु स० १७११ मे हुई थी तथा उनके उत्तराधिकारी देवीदास हुए थे जो उनकी मुसलमान पत्नी से उत्पन्न थे। इन्हें सिक्खो के साथ विरोध-भाव रहा जिस कारण महाराजा रणजीत सिंह ने इनकी भू-सपत्ति भी जब्त कर ली थी। कहा जाता है कि इन्होने अहमदशाह अब्दाली की सहायता भी

1 एच० ए० रोज. ए ग्लासरी आदि, भा० ३, पृ० १७७।

'सिद्ध जसनाथ' के नाम से अभिहित किये जाने लगे। इन्होंने अपने संपर्क में आने-वालों को दीक्षित करना तथा सब किसी को उपदेश देना भी आरंभ किया जिससे इनकी प्रसिद्धि हो चली। कहते हैं कि उधर का कोई एक तांत्रिक था जो अपनी "इन्द्रियों को वश में रखने के अभिप्राय से एक तालाबंद लोहे का लंगोट लगाये रहता था।'[१] वह इसी कारण 'लोहा पागल' भी कहलाता था और इनके प्रति ईर्ष्या का भाव रखता था। इन्होंने उसका मान-मर्दन करके उसे कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा अपने अंत करण को वश में रखने का उपदेश दिया। इसी प्रकार इन्होंने किसी बड़सीजी को भी पराभूत किया जो 'लूणकरजी' तथा बड़सीजी के साथ घोड़े पर चढ़ कर इनकी परीक्षा लेने आये थे। इनके सं० १५५७ में किसी समय 'बिश्नोई सम्प्रदाय' के प्रवर्तक संत जाम्भोजी के साथ वार्त्तालाप करके उन्हें प्रभावित करने की भी घटना प्रसिद्ध है। सिद्ध जसनाथजी की सगाई इनकी केवल १ वर्ष की ही अवस्था में किसी 'काळदे' के साथ हो चुकी थी। इनके योगी हो जाने पर इन दोनों का विवाह-संबंध नहीं हो सका किंतु काळदे ने इन्हें सदा वैसे पुरुष रूप में ही देखा। इस कारण कहा जाता है कि जब सं० १५६३ की आश्विन शुक्ल ७ को शुक्रवार के दिन इन्होंने समाधि ले ली तो वे भी वहीं समाविस्थ हो गईं और 'महा सती' कहला कर प्रसिद्ध हुईं। जसनाथजी की रचनाओं में 'सिंमूधड़ा' तथा 'कोडा' के नाम लिये जाते हैं। किंतु कुछ लोगों के मत में ये इनके शिष्यों की भी हो सकती हैं। इसी प्रकार इनकी अन्य अनेक फुटकर बानियों के संबंध में भी कोई निश्चित मत दे पाना संभव नहीं समझा जाता।

शिष्य-प्रशिष्य और समसामयिक

सिद्ध जसनाथजी ने केवल २४ वर्ष की ही अवस्था में समाधि ले ली। किंतु इसके पहले इन्होंने बहुत से व्यक्तियों को अपने अनुपम व्यक्तित्व द्वारा प्रभावित कर लिया था तथा इनके अनेक शिष्य भी हो गए थे। इनके ऐसे शिष्यों में सर्वप्रथम हारोजी का नाम लिया जाता है जिनका जन्म 'पसमू' नामक गाँव के उदोजी जाट के घर सं० १५१ में हुआ था। ये अपने सभी भाइयों में छोटे थे, सरल स्वभाव के थे तथा इन्हें इनके पिता ने 'रवड़' (भेड़ बकरी का झुंड) चराने का काम सौंप रखा था। इनका जन्म-स्थान कतरियासर से केवल ४ कोस पर ही था। इस कारण ये कभी कभी रेवड़ चराते समय गोरखमालिये तक भी चले जाते थे। इसलिए सिद्ध जसनाथजी का वहाँ इन्हें उपदेश सुनने का भी अवसर मिला और ये क्रमश: उनके

---

१ सूर्यशंकर पारीक : सिद्ध-चरित्र, सिद्ध-साहित्य-शोध-संस्थान, रतनगढ़ राजस्थान, सं० २०११ पृ० ९१।

एक सुदर वृक्ष बन कर मानव-समाज को अपने मधुर फल अर्पित करता रहे और दोनो मिल कर एक महान् भारतीय राष्ट्र के रूप मे उसका पथ-प्रदर्शन करने मे भी समर्थ हो जायें।

५. जसनाथी वा सिद्ध-सम्प्रदाय

सिद्ध जसनाथ का परिचय

जसनाथी अथवा सिद्ध-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सिद्ध जसनाथजी का जन्म स० १५३९ की कार्त्तिक शुक्ल ११ के दिन शनिवार को [illegible] हुआ था। इनका जाणी जाट हमीरजी के घर अवतार लेना कहा जाता है।[1] कहते है कि हमीरजी अपनी ८५ वर्ष की अवस्था तक बिना किसी सतान के थे और अपनी पत्नी रूपादे के साथ अत्यत दुखी रहते थे। एक दिन उन्हे इसके लिए जगल मे तप करते समय वरदान मिला। तदनुसार उन्होने 'डाभला' स्थान पर जाकर इन्हे बाल-रूप मे पाया। इस कारण हमीरजी को इनका पोषक पिता ही कहने की प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है। हमीरजी बीकानेर राज्य के अतर्गत वर्तमान कतरियासर के अधिपति थे। 'जलम झूलरो' के अनुसार[2] इन्हे अपने घर लाकर उन्होने इनका नाम 'जसवत' रखा। बालक जसवत की शिक्षा का कोई निश्चित विवरण उपलब्ध नही है। किंतु इतना पता चलता है कि जब ये अपनी १२ वर्ष की अवस्था मे किसी दिन अपनी माता की आज्ञा से जगल मे चरती हुई ऊँटनियो को ढूंढ रहे थे, इन्हे योगी गुरु गोरखनाथ वहाँ मिल गए। उन्होने इनके सिर पर अपना हाथ रख कर कान मे 'सत्य शब्द' फूंक दिया। उस दीक्षा वाले स्थान का नाम 'भाग-थली' बतलाया जाता है। उस समय के लिए कहा गया है कि वह स० १५५१ की आश्विन शुक्ल ७ का दिन था।[3] गुरु गोरखनाथ से आज्ञा पाकर जसवत ने अपने हाथ की छडी (जाल वृक्ष की टहनी) को जमीन मे गाड दिया। वहीं पर अपना आसन जमा कर इन्होने अपनी साधना की जिस कारण वह स्थान 'गोरख-मालिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बालक जसवत पीछे सिद्धि प्राप्त कर लेने पर

---

१ "विक्रम सवत् पचदश, गुण चाली दरसात।
कार्त्तिक शुक्ल एकादसी, मिल्या नाथ परभात॥"—यशोनाथ पुराण, पृ० २।

२ 'जलमझूलरा' नामक ४ पद्य सग्रह अधिक प्रसिद्ध है और वे जियोजी साँखला, लालनाथ, चोखनाथ तथा सवाईदास की रचनाएँ हैं।

३ "सवत् पनरै इकावनै, आसोजी सुद पाय।
वा दिन गोरखनाथ सूं, जसवत जोग पठाय॥
—यशोनाथ पुराण, पृ० ३३।

काम में नियुक्त करा लिया। एक दिन जब ये किसी शमी वृक्ष (खेजड़ी) की टहनी काट रहे थे किसी वृद्ध साधु ने आकर इन्हें ऐसा करना अनुचित बतलाया और अंत में इन्हें सन्मार्ग भी सुझा दिया। रुस्तमजी ने स्वयं भी इसकी चर्चा की है तथा इस संबंध में कहा भी गया है कि वह साधु गुरु गोरखनाथ थे जिन्होंने सं १७२८ की माघ शुक्ल प्रतिपदा को इन्हें उक्त प्रकार से सजग कर दिया। तत्पश्चात् रुस्तमजी को आनंद के कारण ध्यान भी लग गया और ये तीन दिनों तक अपने स्थान से डिगाये तक नहीं जा सके। फिर वहाँ से ये लिखमादेसर गये और वहाँ पर जसनाथजी से विधिवत् दीक्षा भी ले ली। इधर कुछ दिनों के उपरांत औरंगजेब बादशाह का जसनाथ जी को 'परवाना' मिला कि वे उसके यहाँ जाकर अपने चम त्कारों की परीक्षा दें। इसके अनुसार उनसे आज्ञा लेकर सं १७३६ में ये स्वयं १ साथियों को लिये हुए दिल्ली पहुँचे और वहाँ जाकर इन्होंने उसे भलीभाँति प्रभावित कर दिया। रुस्तमजी न केवल एक उच्च कोटि के योगी थे अपितु एक सिद्ध कवि भी थे। इनकी फुटकर पंक्तियों के अतिरिक्त दो प्रबंध-काव्य भी उपलब्ध हैं जिनमें से एक १८ कड़ियों का 'शिव-ब्यावलो' है और दूसरा १६ कड़ियों का 'किसन ब्यावलो' नामक है। इनकी जीवित समाधि का समय सं १७७५ की ज्येष्ठ सुदी ३ का दिन बतलाया गया है। यह घटना जागूसर में हुई जहाँ पर इनकी समाधि थी।[1] रुस्तमजी के अतिरिक्त १८वीं शताब्दी में ही एक प्रसिद्ध जसनाथी लालनाथजी भी हुए जिनकी जन्म-भूमि लालमदेसर गाँव में थी। इन्होंने जसनाथजी से उनके जीवित समाधि लेते समय कोई 'मतीरा-प्रसाद' पाकर वैराग्य स्वीकार कर लिया। इसका पता चलने पर इनकी पति-परायणा स्त्री ने भी इनका अनुसरण किया और इन दोनों ने अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त की। लालनाथजी के जीवन-काल की निश्चित तिथियाँ उपलब्ध नहीं हैं किंतु इनकी ६ रचनाएँ प्रसिद्ध हैं १ 'हरिरस' (दोहा-चौपाई में) २ 'करणविरद' (नीति-ग्रंथ) ३ 'हरलीला' (भक्ति-ग्रंथ) ४ निकलंग परवाण' (कल्कि अवतार विषयक और भविष्यवाणी परक ग्रंथ) ५ जीव समझौतरी' (आध्यात्मिक रचना) और ६ फुटकर वाणी संग्रह।[2]

सिद्धांत तथा साधना

जसनाथी साहित्य की उपलब्ध रचनाओं को देखने से पता चलता है कि इसमें

---

1 "संवत् सतरा बरस अठाई माघ सुदी एकम दिन आया।
  ता दिन गोरखनाथ मिलाया रुस्तमनाथ नाम गुरु दाया॥"
  —यशोनाथ पुराण पृ ११२।

2 सिद्ध-चरित्र पृ १७४।

पूर्ण प्रभाव मे आ गये। इनका यह परिवर्तन इनके पिता को पसद नही आया और वे सिद्ध जसनाथ से भी रुष्ट हुए। किंतु पीछे स्वय उन पर भी उनके दर्शनो का इतना गहरा प्रभाव पडा कि उन्होने न केवल अपने पुत्र को उन्हे समर्पित कर दिया, प्रत्युत उनके 'सेवक' तक बन गए। हारोजी ने जसनाथजी के साथ रहते समय उनके तथा जामोजी के पारस्परिक मिलन वाली घटना मे भाग लिया। फिर अपने गुरु तथा सती काडलदे के बीच समय-समय पर सदेश-वाहक बन कर भी उनका कार्य किया। जसनाथजी के समाधिस्थ हो जाने पर ये अपनी जन्म-भूमि बमलू चले आये। यहाँ पर प्राय १२ वर्षों तक उनके उपदेशो के प्रचार मे ये निरत रहे। अत मे स० १५७५ की आश्विन शुक्ल ७ को रविवार के दिन इन्होने वही समाधि ले ली जिस कारण वह गाँव भी एक तीर्थ-सा बन गया है। जिस समय हारोजी बमलू मे रह कर अपनी साधना कर रहे थे उस समय वहाँ पर एक दिन जसनाथजी के पोषक पिता हमीरजी के छोटे भाई राजोजी के पुत्र हाँसोजी पहुँचे। इन्होने उनकी कनिष्ठिका अँगुली पकड कर उन्हे 'आदेश' किया।[1] फलत अपने गुरु की किसी भविष्यवाणी को स्मरण करके हारोजी ने इन्हे उनकी 'माला-मेखली' समर्पित कर दी। तब से हाँसोजी वहाँ से चल कर एकाध स्थानो पर उपदेश देते रहे। इन्होने अहिंसा पर सबसे अधिक बल दिया। अत मे जसनाथजी की समाधि के निकट ३६ नियम-पालन के अनतर इन्होने अपनी 'साधना' के एक स्थल पर स० १५९९ मे समाधि ले ली और वह स्थान 'लिखमादेसर' कहलाया।

वही

जसनाथजी के शिष्य-प्रशिष्यो मे अन्य अनेक योग्य साधक भी हो चुके हैं और उनके विविध चमत्कारो की कथाएँ भी प्रसिद्ध है। ऐसे पिछले लोगो मे सिद्ध रुस्तमजी का नाम विशेष श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इनका जन्म किसी समय सरदार शहर से १४ कोस उत्तर की ओर बसे हुए 'थेडी' नामक गाँव मे हुआ था। इनके पिता साँवलदास चौहान थे जो किसी नवाब के यहाँ दीवान थे। वह उनसे इतना रुष्ट था कि उनके सारे परिवार को ही समूल नष्ट करने पर तुला हुआ था। इस कारण उसने सभी को मरवा डाला और केवल एक बालक रुस्तमजी को ही किसी प्रकार इनके ननिहाल मे छिपाने का यत्न किया गया। वहाँ पर भी कोई प्रबध न हो सकने पर इन्हे किसी 'सुखा' चौधरी को दे दिया गया। सुखा ने इन्हे अपनी सतान के रूप मे पाला-पोसा और उसने इन्हे भेंड-बकरी चराने के

---

१. 'आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारत ।
त्रयाणामेक्य सभूति रादेश परिकीर्तित'—सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ।

बिरला पारखी ही पहुँच पाता है।"[1] इसी प्रकार किसी योगी की वास्तविक योग-साधना के इन्होंने केवल चार अंग बतलाये हैं जिनमें से एक 'जत' (संयत जीवन) दूसरा 'रैणी' (रहनी) (सद्व्यवहार) तीसरा 'गुरु ध्यान' (सद्गुरु के प्रति निष्ठा) और चौथा विचार' (विवेकपूर्ण आदर्श) है। इसी मत को स्वीकार करने का ये आग्रह करते हैं।[2] जसनाथजी ने सृष्टि की रचना का मूल ओंकार' को माना है और बतलाया है कि किस प्रकार, सभी कुछ के नहीं रहते वही एक प्रकट हुआ था।[3] इसी प्रकार, 'सिभूधड़ा' में भी कहा गया है कि उस समय 'महान् सिभू (स्वयम्भू) ने सृष्टि-कर्ता के रूप में सब कुछ निर्मित किया।[4] सर्वप्रथम अपने आप निराकार का जप किया तथा छत्तीस युगों तक न्यारा रह कर भी एकात्मा कहलाया।"[5] सिद्ध लालनाथ के अनुसार 'इस रचना की जड़ आकाश की ओर है और इसकी शाखाएँ नीचे की ओर हैं। आकाश की ओर ही यह 'उगी' रहा करती है तथा जब तक हरी रहती है हिलती-डुलती है और अपना दिन पूरा हो जाने पर नष्ट हो जाया करती है।[6] अतएव इन्होंने कहा है कि 'हमें चाहिए कि अलख अमोलक नाँव' को ही दृढ़ निश्चय के साथ जपना लें नहीं तो फिर समय निकल जायगा।[7] "मस्ताना मन हमसे फिर कुछ करने नहीं देगा क्योंकि उसके प्रभाव में आकर कितने ऋषि-मुनि भी 'राम' और 'कृष्ण' के नाम लेते ही रह गए।[8] वास्तव में 'वही बड़ा है जो सदा समदृष्टि रह कर शांत बना रहे जिसके वश में

---

१ "गिगन मंडल में प्रेम सुन जहाँ हीरा री खान।
बिरला पूँचे पारखू सिख तांसै की भान॥"—जोग सम्भोतरी दो ६ पृ ४।

२ "जत रैणी गुरु ध्यान की चौथे चलो विचार।
सता सत कर मानज्यो जोगी का जप ध्यार॥"—वही दो ५७ पृ १७।

३ सिद्ध-चरित्र पृ १२४-५।

४ वही परिशिष्ट पृ १।

५ वही पृ ४।

६ 'पेड़ अकास जमी विस डाला आम दिसाई ऊगी।
हरयो हुवे नित हाले डोलै जोवत हुवे दिन पूगै॥ —वही सम दो ५७, पृ ९।

७ अलख अगोचर नाँव है कर लीजे मन स्याही।
दिन दस पीछे नीसरसी बाजरसी मुंगाई॥"—वही दो २ पृ १।

८ वही दो १६ पृ १२।

निहित मत का मूल स्रोत नाथ-पथी सिद्धात है। यदि सिद्ध-सम्प्रदाय के उदय और विकास पर विचार किया जाय तो उसके द्वारा भी इसी बात का समर्थन होता है। वास्तव मे सिद्ध जसनाथ का आविर्भाव-काल ही ऐसा था जिसमे नाथ-पथ के प्रभाव प्राय सर्वत्र दीख पड रहे थे। उस युग के अतर्गत सत जाभोजी, हरिदास निरजनी और गुरु नानक-जैसे महापुरुष हुए जिन पर भी उसका असर कुछ कम न था। परन्तु इसके कारण इस सम्प्रदाय की मूल विचार-धारा साधारण सत-मत से कही पृथक् प्रवाहित होती नही प्रतीत होती। जसनाथजी के 'जोग' का लक्षण यही है कि "सत्य के अनुसार सयम के साथ रहा जाय और किसी के साथ मिथ्यालाप न किया जाय। हे प्राणी, तुम अपने शरीर रूपी पुस्तक पर मनरूपी लेखनी से भगवान् के गुण लिखते चलो। अमृत-जैसे शब्द बोलो और गुरु का उपदेश मानो।"[१] इसी प्रकार "हम तो 'दरवेश', 'निरजन जोगी' हैं और इसी रूप मे बराबर नेतृत्व करते आये हैं, जो जैसा है उससे वैसा व्यवहार करते हैं। उसी के अनुसार उससे बातचीत तक भी करते है ,"[२] उन्होने कहा है। इससे उनके जीवनादर्श के स्पष्ट हो जाते देर नही लगती। सिद्ध लालनाथ के कथनानुसार, "सबके भीतर एक ही ब्रह्म है और वह चर तथा अचर सर्वत्र व्यापक है और केवल अपने व्यवहार के कारण द्वेष-भाव उत्पन्न हो जाता है अथवा द्वैत-भावना से 'छूत' तक का प्रसग आ जाया करता है।"[3] "निर्गुण का आधार लेकर उद्धार हो गया और सगुण की आराधना अपनाने पर पवित्रता आ गई तथा इन दोनो से रहित व्यक्ति मिथ्यावादी बने रह गए, विरले सुधर सके।"[४] इन्होने अपन भीतर 'गगन मडल मे प्रम ('शब्द') के श्रवण करने को कठिन साधना ठहरायी है। इस सबध मे इनका कहना है कि "यहाँ पर हीरे की खान है जहाँ तक अपने सदेह की शिला को तोड कर कोई

---

१ "जतसत रैणा कूड न कैणा, जोग तणी सहनाणी।
मन कर लेखण तन कर पोथी, हरगुण लिखो पिराणी॥
अमी चवै मुख इमरित बोलो, हालो गुर फरमाणी॥"—सिद्ध-चरित्र, पृ० ९७।

२ "हम दरवेश निरजन जोगी, जुग जुगरा अगवाणी।
जासूं जसा तासूं तैसा, और न बोला वाणी॥"—वही, पृ० ९९।

३ ब्रह्म सकल मे एक है, चर अचर मे जोत।
करमाँ सेती ईरखा, दुवितया सेती छोत॥"—जीव समझोतरी, दो० ६४, पृ० १८।

४ "निरगुण सेती निसतिरया, सुरगुण सूं सोधा।
कूडा कोरा रह गया, कोइ विरला बीधा॥"—वही, दो० ५०, पृ० १६।

करते हैं वहाँ ऐसे जाटों को अधिकतर साधारण वेश-भूषा में ही देखा जाता है और ये वैवाहिक संबंध भी किया करते हैं। इनके विवाह-संस्कार कन्या वा वर-पक्ष के यहाँ जाकर जसनाथी मंदिरों में 'मारसद्धंता' के पाठ द्वारा संपन्न किये जाते हैं। इसी प्रकार इनके यहाँ अंतिम संस्कार भी 'भू-गर्भ समाधि' के साथ पूर्ण हुआ करता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में गंगा स्नान को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है तथा 'पंखिया' (मयूर पंख) का भी उपयोग होता है। इनके यहाँ अहिंसा की महत्ता सदा स्वीकार की जाती है तथा प्रत्येक मास की शुक्ल सप्तमी तथा चतुर्थी के दिन पुण्य-तिथि माने जाते हैं।

जड़ी और अग्नि-नृत्य

इनके आवश्यक पर्वों और कृत्यों में 'रात्रि-जागरण' तथा 'अग्नि नृत्य' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये दोनों प्रायः साथ-साथ चलते हैं और विशेषकर महत्त्वपूर्ण पर्वों के ही अवसरों पर अनुष्ठित किये जाते हैं। रात्रि-जागरण जीवित समाधियों पर धूप-दीप तथा हवन से आरंभ होता है और 'सिंभू बड़ा' का पाठ भी किया जाता है। अग्नि-नृत्य के एक दृश्य का वर्णन करते हुए श्री सूर्यशंकर पारीक ने लिखा है, 'बात वि. सं. १९९३ की है। रतनगढ़ बीकानेर में स्थित परमहंसों के समाधि स्थल पर जसनाथी सिद्धों द्वारा अग्नि-नृत्य का प्रदर्शन किया गया था। मैंने देखा राजस्थानी वेश-भूषा में गेरुवे रंग की पगड़ी बाँधे कुछ व्यक्ति एक पंक्ति में बैठे थे। पंक्ति के मध्य में बैठे हुए व्यक्ति के सामने नगाड़ा जोड़ी रखी थी जिसे वह बजा रहा था और अन्य व्यक्ति कलापूर्ण ढंग से मँजीरे बजा रहे थे। सभी लोग गीत गा रहे थे। यद्यपि गीत दुर्बोध था फिर भी उसकी स्वर-लहरी से श्रोताओं को अपार आनंदानुभूति हो रही थी। नर्तक जो उस समय तक बैठे थे गीत की बढ़ती हुई ध्वनि को सुन कर आत्म-विभोर हो उठे। उन्हें अपने तन मन की सुध-बुध न रही और वे अलमस्त होकर लाल-लाल दहकते हुए अंगारों के ढेर में बिना किसी रासायनिक द्रव्य के सहारे नंगे पैरों कूद पड़े और नाचने लगे।'[1] उनके अनुसार सैकड़ों मन लकड़ियों को जला कर अंगारे तैयार किये जाते हैं और इनके ढेर का विस्तार ६ फीट लंबा ४ फीट चौड़ा तथा ३ ४ फीट के लगभग ऊँचे का हुआ करता है, किंतु सुविधानुसार इसे बड़ा अथवा घटा भी दिया जा सकता है। प्रारंभ में ६ व्यक्ति आरंभ करते हैं जिनमें से एक नगाड़े की जोड़ी को हथेली से बजाता हुआ 'ओंकार' का-सा आलाप लेता है और अन्य पाँचों दो श्रेणियों में विभक्त होकर मँजीरा बजाते हुए उसी (आलाप) को उठाते हैं। इनके बजाने का ढंग भी कुछ निराला

---

१ सिद्ध चरित्र भूमिका, पृ० -J-a-)।

(प्राणायाम की भावना द्वारा) पवन आ गया हो जो ब्रह्म के चिंतन मे निरत रहता हो, नही तो इस मानव शरीर मे और है ही क्या ?"[१] "जिसके हृदय मे प्रेम की कटारी चुभ चुकी है और जिसे ज्ञान की 'सेल' का घाव हो चुका है वही शूरवीर सम्मुख जूझनेवाला है और वही भव-सागर पार जाने मे समर्थ है।"[२]

साम्प्रदायिक विशेषताएँ

जसनाथी सम्प्रदाय के अनुयायी ऐसे ही आदर्श को सामने रख कर बनाये गए ३६ नियमो का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इनके ही अनुसार जीवन-यापन को "अगम के मार्ग पर अग्रसर होना ठहराया गया है।"[३] जो कोई व्यक्ति "श्री जसनाथजी द्वारा प्रतिपादित ३६ धर्म-नियमो का भलीभाँति से पालन करने की 'चलू' लेकर प्रतिज्ञा करता है या जिसने की हो यह तथा उसकी सतान को 'जसनाथी' समझा जाता है।"[४] इस सम्प्रदाय मे विरक्तो की मडली को 'परमहस-मडली' कहते है जिसका एक प्रारभिक रूप 'दुगवाहारी' कहा जाता था। कहते हैं कि लिखमादेसर मे जीवित समाधि लेने वाले खेतनाथजी उसके अतिम सदस्यो मे थे। वही पर समाधि लेने वाले एक अन्य सत गरीबदास भी थे जिनके द्वारा सम्प्रदाय के अतर्गत 'भगवे वस्त्र' धारण करने का प्रचार सर्वप्रथम हुआ था। 'परमहस मडली' के विरक्त साधुओ मे अनेक बहुत बडे विद्वान् और ग्रथ-रचयिता भी हो चुके हैं। इनके द्वारा लिखित साहित्य का आज तक सुरक्षित रखना भी बतलाया जाता है। उदाहरण के लिए लालनाथजी की चर्चा तो इसके पहले ही की जा चुकी है जिनमे एक मुक्तिनाथजी हुए है। इन्होने 'सर्वस्व सग्रहसार' नामक वेदात ग्रथ का सपादन किया था। एक दूसरे मगलनाथजी हुए जिन्होने 'विचार बिंदु' तथा 'वीर-विजय' नामक दो प्रसिद्ध सस्कृत ग्रथो की रचना की थी। एक तीसरे लक्ष्मीनाथजी हुए जिन्हे उच्चकोटि की विद्वत्ता के ही कारण, 'पडितजी' कहा जाता था। जसनाथी-सम्प्रदाय को 'सिद्ध-सम्प्रदाय' कहने की परपरा, कदाचित् इसके मूलत गुरु गोरखनाथ से सबद्ध होने के ही कारण चली थी। यद्यपि इसमे नाथ-सम्प्रदाय की मान्यताओ के अतिरिक्त वैष्णव मत को भी विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता आया है।[५] इसके दो प्रचलित वर्गों मे से एक को 'सिद्ध' तथा दूसरे को केवल जसनाथी जाट' कहने की परपरा भी दीख पडती है। इनमे से सिद्ध लोग जहाँ भगवा रग की पगडी बाँधते हैं और कभी-कभी काले ऊन का तीन गाँठो से गठा, धागा भी धारण

---

१ जीव समझोतरी, दो० ४८, पृ० १५। २ वही, दो० १६, पृ० ६।
३ सिद्ध-चरित्र, पृ० ११४। ४ वही, पृ० १८।
५ वही, पृ० २१-३, परिशिष्ट।

जागृत करने का श्रेय दिया जाता है। सम्प्रदाय के अनुयायियों की दृष्टि में सिद्ध जसनाथजी स्वयं परमात्म रूप हैं जिन्होंने 'कालंग' राक्षस का नाश करके कलि-काल का प्रभाव दूर करने के लिए विशेष रूप से अवतार धारण किया था। उन्होंने शिव तथा श्रीकृष्ण इन दोनों का यहाँ पर प्रतिनिधित्व किया था। इस बात में इन्हें संत जाम्भोजी से किंचित् भिन्न भी कहा जा सकता है। इन दोनों में एक विभिन्नता इस रूप में भी पायी गई कि जाम्भोजी जहाँ देशाटन में अधिक रमा करते थे वहाँ जसनाथजी को एकान्तस्थ रह कर अपनी साधना में लगे रहना ही कहीं अधिक प्रिय था।

६. हीरादासी परंपरा

हीरादास और समर्थदास

सूरत में एक प्रसिद्ध संत निर्वाण साहब हुए जिनका संबंध कबीर-पंथ के साथ जोड़ा जाता है, किंतु जिनकी गुरु-परंपरा अज्ञात है। इनकी अपनी शिष्य-परंपरा में कतिपय ऐसे संतों के नाम लिये जाते हैं जिनकी हिंदी बानियाँ भी उपलब्ध हैं। ऐसे लोगों में एक हीरादास हुए जिनका जीवन-काल सं॰ १५५१ से सं॰ १६२६ तक ठहरता है। इनका निवास-स्थान सूरत बतलाया जाता है और इन्हें संभवतः उक्त संत निर्वाण साहब के अनंतर आनेवाले वहाँ के गद्दीधारियों में भी समझा जाता है। इनके विषय में इतना और कहा गया मिलता है कि इन्होंने किसी 'बिजी' नामक वेश्या का उद्धार किया था। परन्तु इससे अधिक इनका कुछ भी पता नहीं चलता और इनकी बानियों में से भी केवल कुछ ही मिल पाती हैं। इन्होंने अपने एक चेतावनी भरे पद में कहा है, "अरे दीवाना अभी तेरी अवस्था केवल थोड़ी-सी है फिर तू गफलत में क्यों पड़ा हुआ है और सच्चे हीरे का त्याग करके निरे काँच पर अनुरक्त है? अरे, अपनी पुरानी प्रीति को सुध कर और हरि को अपना कर आवागमन से रहित हो जा।"[1] इसी प्रकार, इस संबंध में किसी एक समर्थदास की भी चर्चा की जाती है जिनका जन्म-स्थान सिद्धपुर, उत्तर गुजरात रहा। किंतु जो पीछे भ्रमण करते हुए सूरत की ओर चले आए थे और यहाँ की गद्दी पर आसीन हुए थे। इनका जीवन-काल स॰ १५५१ से सं॰ १६२१ तक बतलाया जाता है और इनका मूल नाम भी 'बकाजी' कहा जाता है। इससे हमारा ध्यान कबीर साहब के शिष्य बंकेजी की ओर नाम-साम्य के कारण आकृष्ट हो जा सकता

---

[1] 'तेरी बाली उमरियाँ रे दीवाना क्यों गफलत में रायेरी ।।टेक।।
सच्चा हीरा तेरे हाथ न आवे पाया तोहे काचेरी।" इत्यादि
—सतवाणी साहाबाद नवंबर १९५८ ई॰ पृ॰ ५।

हुआ करता है। अगारो के ढेर की चारो ओर पानी का छिडकाव भी कर दिया जाता है और मनौती के लिए घृत का हवन होता है। नृत्य करनेवाले अगारो के ढेर (धूणां) मे कई बार प्रवेश करते और उससे निकला करते हैं, किंतु इसके लिए नगाडे की थापी की ओर उन्हे विशेष ध्यान देना पडता है। उनका अगारो का हाथ मे रखना और उनमे से छोटी-छोटी चिनगारियो को मुख मे डाल कर दर्शको की ओर फेंकना भी विचित्र है। इसके सिवाय कभी-कभी प्रज्वलित अगारो को वे अपने दांतो से भी पकडते हैं तथा फूं-फूं करके छोटी-छोटी चिनगारियाँ फेंकते रहते हैं। उनका अगारो पर बैठ कर तथा उन्हे हथेली मे रख कर मतीरा फोडने का प्रदर्शन करना अथवा कभी-कभी उठ कर अपने पैरो से सांडो की भाँति उस ढेर को कुरेदने लगना और भी आश्चर्यजनक हुआ करता है।[1]

प्रचार-क्षेत्र तथा प्रसार

जसनाथी सम्प्रदाय के प्रमुख स्थलो मे कतारियासर, बमलू, लिखमादेसर, छाजूसर, पूनरासर, मालासर आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनमे से प्रथम को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है तथा वहाँ पर स्थित बाडी, गोरखमालिये और तालाब को पुण्य-भूमि का महत्त्व देकर वहाँ के लिए तीर्थवत् यात्राएँ की जाती है। सिद्ध वा महत अपने अपने 'मडलो' के 'सेवको' के यहाँ जाकर 'फेरी' (जागरण देकर भेट लेने की प्रथा) किया करते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रमुख स्थलो पर मेले भी लगा करते हैं जिनमे स्त्रियाँ झुडो मे एक विशेष प्रकार की छीट का घाघरा पहन कर लोक-गीतो को गाती फिरा करती हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायियो की सख्या आजकल १० लाख से कम की नही कही जा सकती। इनके प्रमुख केन्द्र बीकानेर तथा जोधपुर नामक राज्य क्षेत्रो के अतर्गत पाये जाते हैं तथा इनके वहाँ पर लगभग १५०० घर भी बतलाये जाते हैं। राजस्थान प्रात के अतिरिक्त कच्छ, भुज्ज, पजाब, हरियाणा तथा मालवा आदि के प्रदेशो मे भी इसका प्रचार हो चुका है। इसकी लोकप्रियता के बढाने का बहुत कुछ श्रेय इसके अनुयायियो द्वारा निर्मित प्रचुर लोक-साहित्य को भी दिया जा सकता है। यह अधिकतर राजस्थानी भाषा मे ही उपलब्ध है और यह केवल मौखिक रूप मे ही न रह कर लिपिबद्ध भी होता जा रहा है। 'जसनाथी साहित्य' का २२ अखाडो (सग्रह-खडो) मे पाया जाना कहा जाता है और इसका प्रमुख रूप आध्यात्मिक है। किंतु इसके गेय पद्यो मे अधिकतर ऐसे मधुर भावो का भी समावेश पाया जाता है जिनका सास्कृतिक महत्त्व भी कम नही है। रात्रि-जागरण के दिन जो गीत 'सगीत चौकियो' पर गाये जाते हैं उन्हे साम्प्रदायिक भावना

---

१ सिद्ध-चरित्र, परिशिष्ट, पृ० २७-८।

है। कहते हैं कि इनका मूलस्थान काशी था जहाँ पर ये भी किसी बीरमती नामक वेश्या पर अनुरक्त रहे और इनका जीवन क्रमशः नष्ट होता चला जा रहा था। परन्तु संत माधवदास से इनकी भेंट हो जाने पर इनका मोहभंग हो गया और ये उनके साथ सूरत चले आए। इनके भजन भी हमें केवल फुटकर रूपों में ही उपलब्ध होते हैं। किन्तु इनकी पंक्तियों में हमें कम सरसता नहीं दीख पड़ती। इन्होंने अपने एक पद में कहा है 'अय साजन मैं तेरा देश ढूँढ़ती-ढूँढ़ती हैरान हो गई, मैं तुझे ढूँढ़ती-ढूँढ़ती दूर देश तक जा पहुँची और मेरे यौवन की कांति जाति रही किन्तु तेरा पता नहीं चल सका। काले केश श्वेत हो गए, नवरंग चीर फीके पड़ गये और मेंहदी की लाली भी उड़ गई अब मेरा बुढ़ापा आ गया जिसके भय से शरीर काँपने लग गया नेत्रों तथा नाक से जल टपकने लगा और शरीर में पीड़ा प्रवेश कर गई। मैं प्रतिपल प्रियतम का नाम लेकर उस गुसाईं को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती हूँ। हे माधव तुम कहाँ हो।'[1] संत प्यारेदास के मरण-काल का कुछ पता नहीं चलता न इनके जीवन वृत्त की कोई अन्य बातें ही विदित हो पाती हैं। इनके गुरु माधवदास के अन्य शिष्यों में से आलम चेतसिंह तथा मिहाल आदि के नाम लिये जाते हैं किन्तु उनका कुछ पता नहीं है।

७. सिमार्पंथी परंपरा

सत सिमाजी

संतों की इस परंपरा का मूल संबंध संत बड़ापीर महाराज के साथ समझा

चकमक में आग मेंहदी में लाली तेल बसे तिल में सिरजायो ॥
तुही हो मुझ मे मैं हूँ तुझ मे दोनों में 'माधवदास' समायो ॥
—संतवाणी पृ १-७।

1 "खोजत खोजत हारी साजन तेरो देश कहाँ ॥टेक॥
साजन तोहे खोजत निकसत आय पड़ी दूर देश।
आजहु तेरा पता न पाया चल गयो जोबन वेश ॥
काला केश बिलाय गये ही सिर पै आय सफेदी।
नवरंग चीर फीके हो गये उड़ गई लाल मेंहदी ॥
अब तो बुढ़ापा आया भयावन काँपन लागे शरीर।
नयन नासिका नीर बहत है देही मे घुस गई पीर ॥
पल पल पियुका नाम पुकार के लाव लुभा हो गुसाईं।
प्यारेदास अब बरत बीननी कहाँ हो माधव साईं ॥"
—संतवाणी पृ ७।

है। परन्तु इन दोनो के एक और अभिन्न होने का हमे अभी तक कोई प्रमाण नही मिल सका है। सत समर्थ दास के लिए कहा गया है कि ये सिद्धपुर के हाकिम किसी मुसलमान की कन्या पर आसक्त हो गए थे जिस कारण इन्हे अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पडे। अत मे इन्हे विरक्त होकर तथा किसी लोचनदास नामक साधु से दीक्षा लेकर उस स्थान का त्याग कर देना पडा। सूरत मे आकर इन्होने सभवत फिर यहाँ के गद्दीधारी महत के साथ भी अपना सबध जोडा और उसके उत्तराधिकारी बन गए। इनकी रचना का परिचय हमें 'वैराग्य-अग', 'उपदेश अग' आदि जैसे विविध अगो में सगृहीत पदो के रूप में मिलता है। उदाहरण के लिए इन्होने अपनी एक वैराग्य अग वाली रचना में कहा है, "अरे प्यारे तू अलख से प्रेम कर क्योकि तुझे यहाँ से किसी एक दिन कूच कर देना पडेगा और तू यहाँ से कुछ 'नेक' का सौदा भी करता चल[1]"। इन्होने अपने को 'साँई समर्थ' भी कहा है।

माधवदास और प्यारेदास

सत धर्मदास के शिष्य और उत्तराधिकारी माधवदास कहे जाते हैं और इनका जीवन-काल स० १६०२-१६५३ प्रसिद्ध है। कहते हैं कि अपनी प्रारभिक अवस्था में ये भी किसी महाजन की कन्या पर अनुरक्त हो गए थे जिसके सर्प-दश के कारण मर जाने पर इन्हें विरक्ति जगी और इन्होने तदनतर साधु-वृत्ति स्वीकार कर ली। इनके जीवन की किसी अन्य घटना में कोई पता नही चलता, न इनकी कतिपय फुटकर रचनाओ के अतिरिक्त हमें इनका कोई ग्रथ मिलता है। इनके लगभग ५०० पद तथा ५८१ कुडलियो का उपलब्ध होना बतलाया गया है जिनमें से एक पद के अतर्गत इन्होने कहा है, "भ्रमर केवल कलियो मे लिपटा रह गया। जल में 'छीप' है छीप मे मोती है और 'स्वाती' उस मुक्ता में अतर्हित है, वृक्ष भूमि में है, बीज वृक्ष में है और फिर वृक्ष उस बीज में छिपा हुआ है, आग चकमक में है, लाली मेंहदी में है और उसी प्रकार तिल में तेल निहित है, तुझमें मैं हूँ और मुझमें तू है और हम दोनो में वही एक वर्तमान है।[2]" इन सत माधवदास के एक शिष्य प्यारेदास हुए जिन्होने इनकी गद्दी का उत्तराधिकार प्राप्त किया और इनका जन्म-काल स० १६२६ बतलाया जाता

---

१ "अलख मे प्रीत लगाव पियारे।
तोहे यहाँ से एक दिन जावना है॥" आदि--सतवाणी, पृ० ६।

२ भ्रमर कलिया मे लिपटायो ॥टेक॥
जल बिच छीप छीप विच मोती, स्वाति जाके मुक्ता मे समायो ॥
वृक्ष भूमि मे, बीज वृक्ष मे, वृक्ष जाके पुनि बीज छुपायो ॥

के रावसाहब सरूपसिंह के यहाँ सं० १५९८ के आसपास केवल एक या डेढ़ रुपया मासिक पर चिट्ठी-पत्री पहुँचाने के काम में नियुक्त कर लिये गए। इस कार्य को ये कुछ वर्षों तक उनका विश्वासपात्र बन कर करते रहे और इनका यह वेतन साढ़े तीन रुपये तक वृद्धि पा चुका था। परन्तु एक दिन जब ये अपने चपरासी वेश में घोड़े पर चढ़ कर जा रहे थे इन्हें मार्ग में रामनगर के मनरंगीरजी का गाना सुनायी पड़ा। मनरंगीरजी अपने गुरु लहरगीरजी की एक प्रसिद्ध रचना की पंक्तियाँ गा रहे थे

"समझि लेओ रे मना भाई अंत ना होय कोई आपना।

तथा "पड़ी रे मायाके फंद में नर आया तुमाना।" आदि

जिनका गहरा प्रभाव इनके हृदय पर पड़े बिना नहीं रह सका। इसके फलस्वरूप इन्होंने घोड़े से उतर कर उन्हें आत्म-समर्पण कर दिया। उनसे दीक्षित हो जाने पर फिर ये राव साहब की ओर से अनेक प्रलोभनों के आते रहने पर भी वहाँ से नहीं डिगे। कहते हैं कि यहीं रहते समय जब ये एक बार श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर अपने गुरु की सेवा में थे इन्हें आज्ञा हुई, "मुझे नींद लग रही है सोने जा रहा हूँ जन्म-समय आधी रात को मुझे जगा देना" किन्तु ये इसके रहस्य को भली-भाँति समझ नहीं पाये। तदनुसार अवतारवाद-जैसी बातों के प्रति पूरी निष्ठा न रहने के कारण इन्होंने अपने गुरु को जगा कर उन्हें कष्ट देना उचित नहीं समझा। उनकी जगह स्वयं आरती-पूजादि की विधि पूरी करके इन्होंने उनके आदेश की अवहेलना कर दी। मनरंगीरजी को जब जगने पर इस बात का पता चला तो वे इन पर अत्यंत रुष्ट हुए और उन्होंने कहा "अरे दुष्ट, तू जीते जी मुझे फिर कभी अपना मुँह न दिखलाना" जिस बात के लग जाने पर ये तब से केवल कुछ ही महीनों तक जीवित रहे और सं० १६१६ की श्रावण शुक्ल ९ को इन्होंने समाधि ले ली। मनरंगीरजी को इस घटना का समाचार पाकर बहुत कष्ट हुआ और इन्होंने पश्चात्ताप भी किया। संत सिंगाजी का समाधि-स्थान पिपड़[1] नदी के किनारे आज भी वर्तमान है जहाँ पर संभवतः इनके किसी शिष्य नारायणदास का चलाया हुआ एक मेला प्रतिवर्ष की आश्विन १ का लगा करता है। इसमें लोगों की भीड़ में एकत्र होकर उधर के लोग इनके भजनों का गान भी किया करते हैं।

---

१ इसका एक अन्य नाम 'डिडराड़' नदी भी है जिसे सिंगाजी नाम 'बामगंगा' भी कहा करते थे। इसी में स्नान करते थे तथा इसी के किनारे बालकों को पढ़ाते भी थे।—लेखक।

जाता है जो सभवत कवीर साहव के समकालीन थे। ये वर्तमान मध्यप्रदेश के निमाड प्रात में स्थित किसी 'भैंसावा' नामक गाँव के निवासी कहे जाते हैं। इनके विपय में इतना और भी ज्ञात है कि इनके दो प्रमुख शिष्य मनरगीर तथा देवगिर नामक थे जिनकी शिष्य-परपराएँ भी चल पडी। ब्रह्मगीर महाराज के शिष्य मनरगीर के ही शिष्य सिंगाजी थे जिनके नाम से इस परपरा को अभिहित किया जाता है। इन सतो का आविर्भाव निमाड प्रात में हुआ था और इन्होंने अपनी रचनाएँ भी अधिकतर निमाडी भापा में ही प्रस्तुत की थी। निमाडी भापा मे रची गई किन्ही 'अनामी सम्प्रदाय' के अनुयायियो की भी वानियाँ मिलती हैं, किंतु उनका कोई परिचय नही मिल सका। सत सिंगाजी की शिष्य-परपरा के खेमादास द्वारा लिखी गई 'परचुरी' से पता चलता है कि इनका जन्म 'गवली' (ग्वाल) जाति के किसी परिवार में हुआ था और इनके पिता का नाम भीमाजी तथा माता का गऊरबाई था। प्रसिद्ध है कि इनका जन्म-दिवस स० १५७६ की बैशाख सुदी ११ का गुरुवार था और इनका जन्म-नक्षत्र भी पुष्य था। किंतु 'परचुरी' के आधार पर इसके सभी विवरण प्रमाणित होते नही दीखते। उसके अनुसार इन्होंने स०१६६४ में समाधि ली थी जिस समय इनकी अवस्था लगभग ९० वर्ष की थी। इस प्रकार इनका जन्म सवत् १५७४ भी माना जा सकता है जिसका मेल जनश्रुति के साथ पूरा-पूरा नही लग पाता। इसके सिवाय यह भी प्रसिद्ध है कि इनका देहात इनके जीवन के केवल ४०वें वर्ष में ही हो गया था जिसके अनुसार इनका मृत्यु-सवत् १६१६ सिद्ध होता है। कहते हैं कि इनके जन्म-समय इनकी माता अपने घर के निकट उपलें पाथ रही थी और वैसी ही दशा में उन्हें तीव्र प्रसव-वेदना का अनुभव हुआ। जब वे ५-६ वर्ष के हुए उसी समय इनके पिता ने अपने स्थान खूजरी वा खूजर गाँव का त्याग कर दिया जो पुरानी रियासत वडवानी, मध्यप्रदेश में था और अपनी गृहस्थी का सारा सामान लेकर वे ३०० भैंसो के साथ हरसूद नामक गाँव में चले आये। यही रह कर उन्होंने सिंगाजी तथा इनके भाइयो और वहनो का विवाह-सस्कार किया और वालक सिंगा कुछ दिनों तक भैंस भी चराता रहा। 'परचुरी' से पता चलता है कि इनका प्रारभिक जीवन ऊधमी लडको का जैसा रहा। ये कानो में 'मुद्रिका' पहनते, गले में सेली डालते, कमर मे कटारी वाँधते तथा तीर कमान भी लिये रहा करते थे और ये प्राय वशी भी वजाते थे।

वही

कहा जाता है कि अपनी २१ वर्ष की अवस्था में सिंगाजी भामागढ, निमाड

हैं। इनके किसी पृथक वर्ग का पता नहीं चलता।

सिंगाजी का साहित्य

संत सिंगाजी एक बड़े मान्य पुरुष थे। इन्होंने अपनी उच्चकोटि की साधना के अतिरिक्त अपनी सुंदर बानियों की रचना में भी अच्छी सफलता प्राप्त की थी। उनकी ऐसी बानियों की संख्या ११० से कम नहीं है। इनमें से कुछ तो अनेक छोटे-छोटे संग्रहों में उपलब्ध हैं और शेष केवल फुटकर रूपों में ही मिला करती हैं। इनकी संगृहीत रचनाओं में 'गुरु उपदेश' (दोहा-चौपाई छंदों के २१ पद) 'अठवार' (७ पद) 'पंद्रतीन' (१५ पद) 'बारा मई' (२१ पद) 'आतम ज्ञान' (११ पद) 'नराज' (२ पद) 'महिम्न स्तोत्र' (४ पद) 'भावबलपुराण' (सात अध्याय) तथा 'बावावली' के नाम लिये जाते हैं। जहाँ तक पता है इनमें से किसी का भी अभी तक उपयुक्त प्रकाशन नहीं हो पाया है। सिंगाजी के दादागुरु ब्रह्मगीर महाराज की उपलब्ध रचनाओं की संख्या अभी तक आधे दर्जन से अधिक भी नहीं कही जा सकती। इनके गुरु मनरंगीर की रचनाओं में भी जितनी प्रसिद्ध उनकी 'लोरी' है उतनी अन्य कोई भी नहीं बतलायी जाती। मनरंगीरजी की 'लोरी' के लिए कहा जाता है कि उन्होंने इसकी रचना नदी में बहे जाते हुए किसी शिशु के शव को अपनी गोदी में लेकर तथा उसे संबोधित करके की थी।। इसका आरंभ

> "सोहं बाला हालरो नित निरमलो।
>
> निरमल बारी जोत सोहं बाला हालरो॥ टेक॥

जैसी मर्मस्पर्श करने वाली पंक्तियों से होता है। तत्पश्चात् क्रमश: मानव-शरीर के रूप में बीज पड़नेवाले उस विचित्र 'मूसने' से 'बिनब्याही को पूत' वा 'बाँझ को पूत' के प्रति लोरी कही जाती है तथा इसका अंत

> "अनहद घूँघरू बाजिया बाजा बाजिया अखपा की मेहू।
>
> मनरंगानन्द बल खिली रहया, बाला खिली रहया, जैसा तरवर मेव॥"

किया जाता है।[1] संत सिंगाजी की रचनाओं में से 'पंद्रतीन' के अंतर्गत प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक की चर्चा द्वारा उपदेश दिये गए हैं और इनकी 'बावावली' में कतिपय ऐसी अनूठी बातें कही गई हैं जो नुकीले बाणों की भाँति हृदय में चुभ जा सकती हैं। ये वास्तव में इनके अचूक बाणों की जैसी भी कहला सकती हैं। खेमादास की रचना 'सिंगाजी की परचुरी' में संत सिंगाजी के जीवन-वृत्तों का परिचय देने की चेष्टा की गई है। इसके एक स्थल पर यह भी कहा गया

---

१ सम्मेलन पत्रिका त्रैमासिक प्रयाग पृ० ८८ पर उद्धृत।

शिष्य-परंपरा तथा रामजी बाबा

संत सिंगाजी की ही भाँति मनरंगीरजी के एक अन्य शिष्य जगन्नाथगीर भी थे, किंतु उनका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। उनकी केवल एकाध फुटकर रचनाएँ मात्र मिलती हैं, जिस प्रकार सिंगाजी के किसी शिष्य वा प्रशिष्य खेमदास तथा धनजीदास और दलुदास आदि के संबंध में भी उनकी रचनाओं के सिवाय अन्य बातें विदित नहीं हैं। इनमें से दलुदास के विषय में इतना और कहा जाता है कि वे सिंगाजी के पौत्र भी थे तथा धनजीदास जाति के नाई कहला कर प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार ब्रह्मगीर महाराज के द्वितीय शिष्य देवगिर की शाखा के भी सभी लोगों का हमें यथेष्ट परिचय नहीं मिलता। केवल उनके प्रशिष्य रामदासजी वा 'स्वामी रामजी बाबा' के लिए कहा जाता है कि ये लोखो घघरीग्राम, ग्वालियर राज्य के किसी गूजर वंश में उत्पन्न हुए थे। इनका कर्मक्षेत्र धानावड तथा होशंगाबाद के निकट वर्तमान धारावासा, रामटेक, रायपुर, खेडी आदि तक विस्तृत रहा। इन्होंने देवगीर के शिष्य तथा नर्मदा-तटवर्त्ती रहट गाँव के निवासी रघो संत से दीक्षा-ग्रहण करके अपनी साधना पूरी की थी। ये पहले मालगुजार थे, फिर खेती करते रहे और अंत में इन्होंने केवल तंबाखू बेचने मात्र की जीविका स्वीकार कर ली। इन्हें एक सच्चा 'गृहस्थ संन्यासी' कहा गया है और इनके संबंध में अनेक विचित्र चमत्कारों की भी चर्चा की गई मिलती है। इनके जन्म-काल अथवा देहांत के समय का भी हमें पता नहीं चलता, किंतु अनुमानतः इनका आविर्भाव विक्रम की १७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध रहा होगा। स्वामी रामजी बाबा की एक समाधि धानावड तथा होशंगाबाद के मंगलवार मोहल्ले में है जहाँ पर इनका प्रधान 'आवास' भी है। इनके एक मात्र शिष्य अमरदास हुए और इनके पुत्र परसारामजी हुए, किंतु इन दोनों के विषय में हमें प्रायः कुछ भी नहीं चलता। इनके अपने समकालीन परिचित प्रमुख पुरुषों में विंध्यगुहानिवासी मृगन्नाथजी तथा औलिया गौरीशाह बादशाह भी प्रसिद्ध हैं। इनकी समाधि पर प्रतिवर्ष माघ सुदी १५ को मेला लगा करता है तथा इनकी रचनाओं में साखियों तथा भजनों की चर्चा की जाती है।[1] देवगीरजी के, इस रामजी स्वामी वाली शाखा-संबंधी शिष्यों का आगे का कोई विवरण हमें नहीं मिलता जहाँ मनरंगीरजी की सिंगाजी वाली शाखा-संबंधी शिष्यों की परंपरा का इधर बहुत दिनों तक वर्तमान रहना बतलाया जाता है। परन्तु स्वामी रामजी बाबा की शाखा वाले भी अपने आपको 'सिंगा-पंथी' ही स्वीकार करते कहे जाते

---

१ प्रो० लक्ष्मीनारायण दुबे स्वामी रामजी बाबा, होशंगाबाद, पृ० १-१३।

है।[1] संत सिंगाजी तथा इनकी परंपरा के लोगों ने परमात्मा की प्राप्ति के लिए जिस उपयुक्त साधना को अपनाया है वह भी ठीक उसी प्रकार की है जैसी अन्य संतों की रचनाओं में हमें देखने को मिलती है। सिंगाजी ने उसे हरिनाम की खेती का रूपक बाँध कर समझाने की चेष्टा की है[2] "श्वास प्रश्वास रूपी दो बैल हैं उनमें 'सुरति' की रस्सी लगाओ और अनन्य प्रेम की सबी लकड़ी लेकर उसमें नीकदार काँटी बिठा दो जिससे वे बैल भलीभाँति चलते रहें और तुम्हारी हरिनाम की खेती होती चले। स्वामी रामजी बाबा ने भी इसे बतलाया है।[3] इससे हमें संतों द्वारा अपनाये जानेवाले 'अजपाजाप' के महत्त्व का भी दिग्दर्शन मिल जाता है। जनभाव गिर ने ऐसा ही कहा है।[4] अतएव इस प्रकार की सिद्धि के विषय में सिंगाजी ने अन्यत्र इस ढंग से भी कहा है।[5] संत सिंगाजी

त्रिकूटी महल में अनहद बाजे होत सबद झनकारा।
सुखमन सेज सुन में झूले, सोहं पुरुष हमारा।
सिंगाजी भर नजरों देखे वोही गुरू हमारा॥"
सिंगाजी और उनका साहित्य पृ० २८६-७ पर उद्धृत।

तथा "मैं तो जानूँ साईं दूर है, मुझे माया घेरा।
रहूनी रही सामरथ नहीं, मुझे भरोसा तेरा॥"
—संत सिंगाजी स. सुकुमार पगारे, संध्या अक्टूबर १९५६ ई. पृ. ५१।

१ "तुम निरखो अपरंपार मनुआ, सहज करो व्योपार रे।
त्रिकुटी संगम भँवर गुफा में जहाँ रहे करतार रे॥"
—स्वामी रामजी बाबा पृ. १२।

२ "श्वास उश्वास दो बैल हैं सुर्ति रास लगाय।
प्रेम पिराणा ले करधरी ज्ञान आर लगाय॥"
—संत सिंगाजी पृ. ४१।

३ 'आपा मद्धे कई जुग बीते अजपा में सुध पड़िया।
अजपा जाप जिभ्या नहिं आवै सोई नाम से तिरिया॥'
—स्वामी रामजी बाबा पृ. १३।

४ "सतगुर बुध उपजाविया, गुण गुण किया परगास।
आपा माँहि लखीया निरगुण किया परगास॥"
—आजकल दिल्ली अक्टूबर, ५३ पृ. २८।

५ "जल बिच कमल कमल बिच कलियाँ जहं वासुदेव अविनासी।
घट में गंगा घट में जमुना वहीं द्वारका कासी।

है कि किस प्रकार उन्होने इसके लेखक को दर्शन देकर इसे लिखने की प्रेरणा दी थी। यह घटना स० १७४८ की बतलायी गई है[1] जब उनका (सिंगाजी का) देहात, सभवत निश्चित रूप से हो चुका था। यह पुस्तक स० १७५१ मे लिखी गई है। सत सिंगाजी के पौत्र दलुदास की रचनाओ की सख्या १५०० तक भी कही जाती है, किंतु अभी तक इनके १०० से अधिक पद उपलब्ध नही है।[2] इसी प्रकार धनजीदास की रचनाओ में फुटकर पदो के अतिरिक्त 'अभिमन्यु का व्याह', 'लीलावती', 'सेठ वारणसाह की कथा' तथा 'सुभद्रा-अर्जुन व्याह'-जैसी कथात्मक पुस्तको के भी नाम लिये जाते हैं। इससे जान पडता है कि इनका ध्यान प्रबध-रचना की ओर भी गया था। इन सभी सिंगा-पंथी रचयिताओ ने सत सिंगाजी क प्रति प्रगाढ भक्ति तथा श्रद्धा से पूर्ण उद्‌गार प्रकट किये हैं इस प्रकार की बातें न केवल उनके प्रत्युत स्वामी रामजी बाबा के सबध मे भी सर्वसाधारण तक प्रचलित बतलायी जाती है। उनके क्षेत्रो में इस सबध की पंक्तियाँ प्राय सर्वत्र सुनने को मिलती हैं।[3]

मत और विचार-धारा

सत सिंगाजी की बानियो को पढने पर पता चलता है कि उनमें निहित विचार-धारा का प्रवाह लगभग उसी रूप का है जिसमें कबीर साहब अथवा अन्य प्राचीन सतो के भी सिद्धात-स्रोत प्रवाहित होते दीख पडते हैं। इन्होने अपने आराध्य परमतत्त्व के विषय में कहते हुए बतलाया है।[4] इसी प्रकार इन्होने अन्यत्र उसके उस 'पद' वा स्थान की ओर भी निर्देश किया है जहाँ पहुँच कर हम उसे उपलब्ध कर सकते हैं।[5] इसी प्रकार स्वामी रामजी बाबा ने भी कहा

---

१. "सवत् सतरासो अडताला जांणी। सतगुरू बोल्या अमृत वाणी ॥
समदरसी होय दरसन दीन्हा। चदन वारे से लेपन कीन्हा ॥" ४३२

२ डॉ० कृष्णलाल हस निमाडी और उसका साहित्य, इलाहाबाद, १९६० ई०, पृ० २८९।

३ "म्हारा सिर पर सिंगा जबरा, गुरु मैं सदा करत हूँ मुजरा।"
तथा "रामदास और रामजी, दो मत जानो कोय।
जो कारज हरि से बने, रामदास से होय ॥"

४ "रूप नाहीं, रेखा नाहीं, नाहीं है कुल गोत रे।
बिन देही को साहेब मेरो, झिलमिल देखू जोत रे ॥"
तथा "पानी पवण सो पातला, जैसे सूरज घाम।
ज्यों हो शशि का चांदणा, ऐसो मेरो राम ॥"

५ "निर्गुण ब्रह्म है न्यारा, कोई समझो समझणहारा।

८. फुटकर संत

(१) संत साँईदास

संक्षिप्त परिचय तथा विचार-धारा

संत साँईदास के जीवन-काल के संबंध में हमें अधिक विदित नहीं है। केवल इतना ही पता चलता है कि इनका जन्म सं० १५२५ में हुआ था। इनका जन्म-स्थान 'बड़ोकी' बतलाया जाता है जो कहीं पंजाब प्रांत में हो सकता है। ये जाति के सारस्वत ब्राह्मण थे और इनको उसके भास्कर वंश का भी होना कहा जाता है।[१] किंतु इनके माता-पिता के नामादि उपलब्ध नहीं है। इनके गुरु प्रसिद्ध स्वामी रामानंद के शिष्य नरहरिमानंद कहे जाते है जिन दोनों की चर्चा इन्होंने स्वयं भी अपने एक पद में की है।[२] इनके वंशजरों तथा गद्दीधारियों की किसी 'गोसाँई-परंपरा' का पंजाब प्रांत में आज भी विद्यमान होना कहा गया है। साँईदास की एक मात्र उपलब्ध रचना 'ज्ञानरत्न' ग्रंथ बतलाया गया है तथा उसी से लिये गए कुछ उद्धरण भी प्रकाशित हैं। इनकी ऐसी पंक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनका मत भी अधिकतर इनके दादा-गुरु स्वामी रामानंद के ही जैसा रहा होगा। इनके 'निर्गुणोपासक' होने का अनुमान इस बात के आधार पर किया जा सकता है कि इन्होंने भी संत कबीर तथा अपने समकालीन गुरु नामकदेव की भाँति नाम-स्मरण को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। इन्होंने अपने भ्रम का गुरु के द्वारा प्राप्त 'जोग-जुगति' की साधना से दूर हो जाना भी बतलाया है। इस प्रकार के वर्णन किये हैं जो कुंडलिनी योगादि से संबद्ध हैं। इनका कहना है, "जप तप संयम कर्म तथा ज्ञान इन सभी प्रकार की साधनाओं से नाम-स्मरण की पदवी कहीं ऊँची है।[३] इसके प्रमाण में इन्होंने अनेक पौराणिक भक्तों के नाम लिये हैं और इसकी सहायता से उनके उद्धार पा जाने के उदाहरण दिये हैं। इसी प्रकार इन्होंने उक्त 'जोगजुगति' आदि के विषय में भी कहा है 'नाड़ी तत्त्व का मूल रहस्य समझ कर कुंडलिनी

१ श्री चंद्रकांत बाली : पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास प्रथम खण्ड, दिल्ली, सन् १९६२ ई० पृ० २११।

२ 'बाबा रामानंद जिस सिमरे होत अनंदि।
जिह सिमरत ते पाइये लक्ष्मी परमानंदि॥
गुरु नरहरि पूर्ण सकल करता बुद्धि बिवेक।
और नहीं कोऊ आसरा एक तुम्हारी टेक॥" उसी पृष्ठ पर उद्धृत।

३ "जपि तपि संयम कर्म ग्यान। सभतें ऊंचा तेरा नाम॥"
—वही पृ० २१५ पर उद्धृत।

की रचनाओ के अतर्गत हमें कबीर साहब की जैसी उलटवाँसियो के भी एकाध उदाहरण मिलते हैं। ऐसे पदो के अत में इन्होने प्राय कह दिया है कि उनमें 'उलट ज्ञान' का वर्णन है जिसे कोई 'विरला ही 'बूझ' वा समझ सकता है।[1]

परपरा की वशावली

- ब्रह्मगीर महाराज
  - मनरगीर
    - जगन्नाथगीर
    - सिंगाजी
      - कालूजी (पुत्र)
        - खेमादास (सभवत प्रशिष्य)
      - भोलू (भालदास) (पुत्र)
        - दलादास (दलूजी)
          - जीवन महत
            - खुस्याल महत
              - भीक्या महत
                - धना महत
                  - कीरजी महत
                    - हरनरायन महत
                      - रामलाल
                        - हरलाल
                          - रामकरण
                            - माँगीलाल (वर्तमान सिंगाजी)
      - सदूजी (पुत्र)
        - धनजीदास (सभवत प्रशिष्य)
      - दीपूजी (पुत्र)
  - देवगीर
    - रघुसत
      - रामजीवावा
        - अमरदास (शिष्य)
        - परसादास (पुत्रभी)
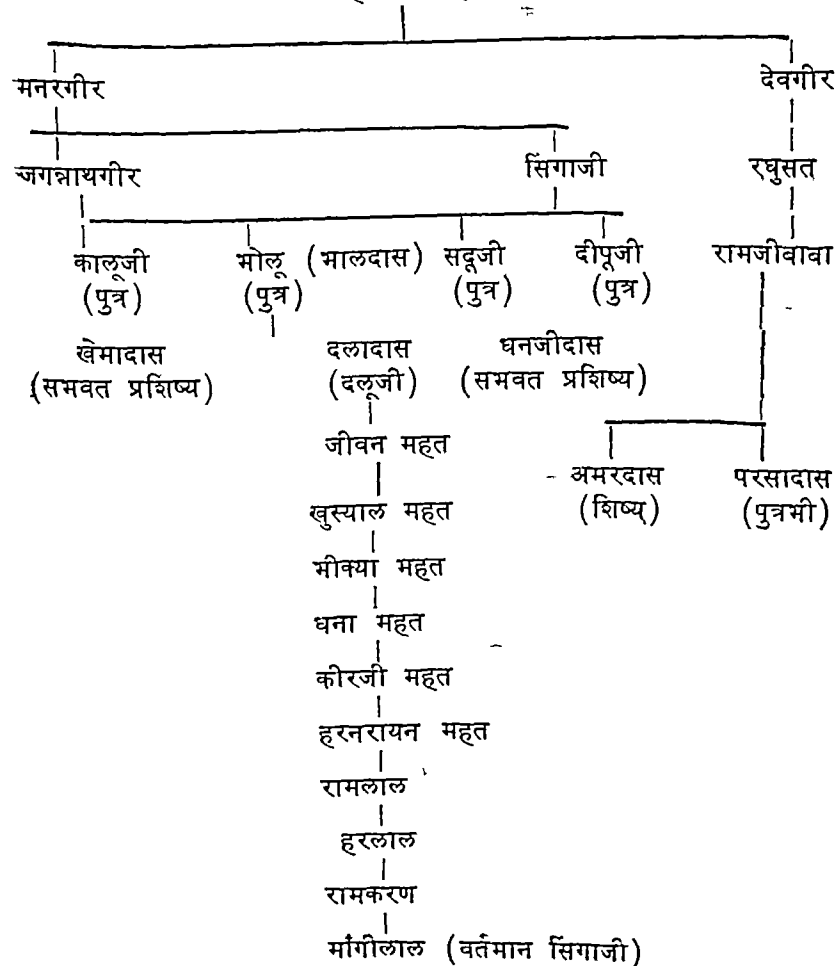
घर वस्तू वाहर क्यों ढूढो, वन वन फिरो उदासी ।
कहे जन सिंगा, सुनो भाई साधो, अमरपुरा के वासी ।।"
—सत सिंगाजी, पृ० ११ ।

१. निमाडी और उसका साहित्य, पृ० २८८ पर उद्धृत पद मे ।

शाह फ़रीद के' शीर्षक से संगृहीत की गई मिलती हैं। इनके वास्तविक रचयिता के विषय में मतभेद चला आता है। 'दि सिक्ख रिलिजन' ग्रंथ के लेखक डॉ एम ए मकालिफ ने 'ख़ालासातुत्तवारीख़' के आधार पर कहा है कि ये शेख फ़रीद २१वीं रज्जब सन् ९६ हि सन् १५५२ ई ९ में मर थे और उस समय तक अपनी गद्दी पर बैठे इनके ४ वर्ष बीत चुके थ। उन्होंने इनके दो लड़को के भी नाम दिये हैं जिनमें से पहला अर्थात् ताजुद्दीन मुहम्मद था और वह भी एक प्रसिद्ध फ़क़ीर हो चुका है। दूसरे का नाम उन्होंने शेख मुनव्वर शाह शहीद दिया है जिसके विषय में और कुछ विदित नहीं है। इनके अनेक शिष्यों में स भी उन्होंने शेख सलीम चिश्ती का नाम दिया है और उसे फतेहपुरी भी बतलाया है।[१] इसी प्रकार एक अन्य लेखक सी एच आकलिन ने भी इन्हें शेख फ़रीद (द्वितीय) ठहराते हुए इनक ज म-स्थान का दीपालपुर के निकट वर्तमान 'कोठीवाल' नाम दिया है। इनकी मृत्यु का समय १५५२ ई बतलाते हुए इनकी समाधि का सरहिंद पंजाब में होना भी कहा है।[२] इन शेख फ़रीद की अनेक पदवियाँ जैसे 'फरीद सानी' 'सलीस फरीद' शेख फरीद' 'ब्रह्म कर्ता' 'बलराजा' शेख ब्रह्म साहब' तथा शाह ब्रह्म' भी सुनने में आती हैं। मेकालिफ साहब ने गुरुनानकदेव के संबंध में लिखी गई प्राचीन जनम-साखियों के आधार पर यह भी बतलाया है कि इन्ही शेख फरीद के साथ उनकी दो बार भेंट हुई थी। इन दोनो क बीच कुछ सत्सग भी हुआ था और उक्त रचनाएँ निश्चित रूप से इन्ही की हामी।[३] उनका कहना है कि गुरुनानकदेव अपनी पूर्व वाली यात्रा से लौटते समय पंजाब के दक्षिणी भाग की ओर गये जहाँ वे पाकपत्तन की गद्दी पर वर्तमान थे। इनके साथ हुई उनकी बातचीत का उन्होंने कुछ विवरण भी दिया है। इसी प्रकार उन्होंने इन दोनों महापुरुषों की एक दूसरी भेंट की चर्चा भी की है। उन्होंने कहा है कि इस बार गुरु नानकदेव तथा मर्दाना पाकपत्तन से चार मील की दूरी पर ठहरे थे किंतु उनकी अभ्यर्थना के लिए ये वहाँ पर स्वय पहुँच गये तथा इन्हें आदर पूर्वक ले आये।[४] इन शेख फरीद का एक नाम शेख इब्राहिम भी प्रसिद्ध है। क्षिति बाबू के अनुसार इनकी कुछ अन्य

---

१ एम ए मेकालिफ दि सिक्ख रिलिजन भा ६, पृ ३५७-८।
२ सी एच आकलिन दि सिक्ख्स एँड देयर बुक लखनऊ, १९४६ ई पृ ९९।
३ दि सिक्ख रिलिजन भा १, पृ ३५६-७।
४ वही पृ १८४६।
५. वही, भा ६, पृ ४१२।

को क्रमश चतुर्दल कमल (मूलाधार चक्र) से लेकर षटदल तथा अष्टदल वाले कमलो वा चक्रो की ओर ऊर्ध्वगति प्रदान की। गुरु से सकेत ग्रहण करके सूर (पिंगला नाडी) को सोम (ईडा नाडी) के घर में ला दिया।"[1] इन्होने अन्यत्र इसी बात को इस प्रकार भी कहा है, "उलटी साधना द्वारा मन को गगन की ओर उन्मुख किया और तभी 'भर्म मृग' को मार डालने में समर्थ हो सका। इसके फलस्वरूप बाहरी कहना-सुनना सभी कुछ भूल गया, आवागमन का भय जाता रहा और 'अनभयपुर' के चिह्न दीख पडे। उस समय की दशा का वर्णन नही किया जा सकता है वह नितात अकथनीय थी। 'अविगति' की 'गति' कुछ लख नही पडती। साँईदास कहना है कि 'मुरारी' (परमात्म तत्त्व) की उपलब्धि हो जाने पर मैंने उसकी अद्भुत लीला अपनी आँखो देख ली।"[2] अतएव इनका अपनी ओर से यह भी कहना है "जो कुछ किया है वह केवल हरि ने ही किया है और जो कुछ भी सुख-साधन प्राप्त है उन्हें उसी ने प्रदान किया है, उस भगवान् के सिवाय और कोई भी नही है। इस बात को गुरु की शरण में जाकर मन में समझ लेना है।"[3] इन्हें विशुद्ध सगुणोपासक भक्तो की श्रेणी में रखना कदाचित् कभी उचित नही कहला सकता।

(२) सत शेख फरीद

शेख फरीद कौन ?

सिक्खो की प्रसिद्ध धर्म-पुस्तक 'आदिग्रथ' के अतर्गत कई रचनाएँ, 'सलोक

---

१. "जोग जुगति ते मेल गुरि तै पाई। मिटि गयो भर्म दूसरा भाई ॥
नाडी तत्त मूल जबि जान्या। चतुर्दल छीनि वटि दलि ठहरान्या ॥
अष्ट कविल दल पौना जाई। सूषम कुडिली रह्यो समाई ॥
रोक्या सूर सोम गृह आइया। साई दास पढ़ि गुरते पाइआ ॥"
—पृ० २१५ पर उद्धृत।

२ "धर्न उलटि मन गगनि चढायौ। भर्म मिर्ग तवि ही हति पायौ ॥
भूल गयौ जौ कुछ था बकिता। जोगि जुगतर जोग सो जुगता ॥
भइ की भीति सुर्त विसरानी। अनभयपुर की परी निशानी ॥
चित्ररूपु कहत नहीं आवै। जो मुष कहौं कहा नहीं जावै ॥
अविगति गति कछु लषी नि जावै। विसम होय मुष नाम चिरावै ॥
अतिभुति लील्हा नैन निहारी। सांई दास जवि मिलै मुरारी।"
—पृ० २१६ पर उद्धृत।

३ "जो कछु कीयौ सु हरि ही कीयौ। जो सुष दीयौ सु हरि ही दीयौ ॥
विन भगवानि और कौ नाहीं। गुरि मिल समझि देप मनि माही ॥"
—वही, पृ० २१६।

न यही आवश्यक होगा कि इनके साथ उनकी भेंट केवल तभी संभव हो जब वे पाकपत्तन में गद्दीनशीन हो चुके हों। जिन लोगों ने इन दोनों के मिलन की संभावना मानी है उन्होंने प्रायः इन शेख फरीद सानी का सं० १६०९ में अपनी गद्दी पर ४० वर्षों तक रह चुकने के अनंतर मरना भी स्वीकार किया है। इसके सत्य सिद्ध हो जाने की दशा में वह घटना कभी असंभव नहीं जान पड़ेगी। इसके सिवाय जहाँ तक मुल्तानी के प्रभाव का प्रश्न है हमें इस बात का भी कुछ-न-कुछ समाधान इस प्रकार अनुमान कर लेने पर हो सकता है कि इन सभी रचनाओं का निर्माता केवल एक ही 'शेख फरीद' नहीं होगा प्रत्युत यहाँ पर उक्त दोनों की कृतियों का सम्मिश्रण हो गया होगा। इसके द्वारा उस तीसरे मत को भी समर्थन मिलता जान पड़ता है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

शेख फ़रीद शंकर-ए-शकर

शेख फ़रीद सानी के पूर्वज शेख फरीदुद्दीन शंकर-ए-शकर का जन्म हि० सं० ५७१ (तदनुसार सं० १२३२ : सन् ११७५ ई०) में प्रसिद्ध मुल्तान नगर के निकटवर्ती किसी 'खतवाल' नामक गाँव में हुआ था और इन्हें अधिकतर 'बाबा फरीद' भी कहा जाता है। ये अजोधन में रह कर कई वर्षों तक साधना करते रहे और तदनंतर एक महान् पुरुष के रूप में विख्यात हो गए। इनके गुरु वा पीर ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार 'काकी' थे जिन्होंने सं० १२९४ में अपना शरीर-त्याग किया। तब से ये उनका 'चोगा' पहन कर सर्वसाधारण को उपदेश देते तथा अपने अनुयायियों का पथ-प्रदर्शन करते रहे। इनका देहांत सं० १३२२ में हो गया। इनके उत्तराधिकारियों की परंपरा शेख बदरुद्दीन सुलेमान से आरंभ हुई जिससे १२वीं पीढ़ी में शेख इब्राहिम वा शेख फरीद सानी हुए। इस प्रकार इन बाबा फरीद का तो गुरु नानकदेव सं० १५२६ १५९६ के साथ मिलन कभी संभव ही नहीं हो सकता। यदि इनकी किन्हीं रचनाओं का 'आदिग्रंथ' वा 'गुरुग्रंथ साहब' के अंतर्गत संगृहीत होना संभव हो तो वह इन दोनों के बिना ऐसे किसी संबंध के भी हो गया होगा। परन्तु इस प्रश्न पर विचार करते हुए एक लेखक ने यह भी बतलाया है कि 'यद्यपि सियारुल औलिया' के पृष्ठ १६७ पर अमीर खुर्द ने बाबा फरीद की एक मुल्तानी बोली में निर्मित रचना उद्धृत की है। हमें इनके समय में लिए गए ग्रंथ के अंतर्गत ऐसा कोई भी प्रसंग आया नहीं दीखता जिसमें इनके सलोकों के अधिक संख्या में लिखने की कभी चर्चा की गई हो। शेख निजामुद्दीन औलिया ने इनकी साहित्यिक रुचि तथा दैनिक जीवन के अनेक रोचक विवरण दिए हैं। उनके अनुयायियों ने

रचनाएँ भी उपलब्ध हैं।[१] 'आदि ग्रथ',में सगृहीत उक्त रचनाओ को 'शेख फरीद' की कृति कहा गया है, किंतु मेकालिफ साहब का अनुमान है कि शेख इब्राहिम का ही वह उपनाम है। इन्हें 'शेख फरीद सानी' कहने की परिपाटी भी चली आती है।
वही

इसके विपरीत कतिपय अन्य लेखको का मत है कि उक्त रचनाएँ 'शेख फरीद सानी' की न हो कर वस्तुत शेख फरीदुद्दीन गज-ए-शकर की है जो इनके पूर्वज रह चुके हैं। इनका जीवन-काल स० १२३० : १३२२ बतलाया जाता है अथवा कम-से-कम इनमें एक से अधिक व्यक्तियो की पक्तियाँ सम्मिलित हो गई हैं। जो लोग इनका रचयिता 'गज-ए-शकर' को मानते हैं उनका कहना कि एक तो गुरु नानकदेव के साथ इन शेख इब्राहिम की कोई भेंट होने की सभावना ही नही, क्योकि जिस समय स० १५९६ में उनका देहात हुआ उस समय तक अभी ये अपनी गद्दी पर बैठे तक भी नही थे। इनका स० १६१० में गद्दीनशीन होना बतलाया जाता है। इनके मरण का सवत् भी स० १६७१ दिया जाता है। इसके सिवाय इस सबध में यह भी कहा जाता है कि इन रचनाओ में जो कुछ प्रभाव मुल्तानी का दीख पडता है वह केवल उसी दशा में सभव हो सकता है, जब हम इन्हें उन पुराने फरीदुद्दीन द्वारा रचित स्वीकार कर लें। इस मत के समर्थको में एक डॉ० मोहन सिह जान पडते हैं जिनके लिए कहा गया है कि उन्होने कतिपय 'प्रतियो से तुलना करके' इन्हें 'बाबा फरीद की कृति प्रमाणित किया है'।[२] एक दूसरे लेखक श्री चन्द्रकात बाली हैं जिन्होने इस सबध में पाये जानेवाले विभिन्न मतो की विस्तृत आलोचना प्रस्तुत की है।[3] परन्तु इस सबध में, "गुरुग्रथ साहब में 'शेख फरीद' शीर्षस्थ रचनाएँ गज-ए-शकर बाबा फरीद की हैं, फरीद सानी की नही।"[४] जैसे स्पष्ट मत को 'विश्वास' के साथ व्यक्त करने के लिए कदाचित् कुछ विशेष गभीर अध्ययन और विवेचन अपेक्षित होगा। शेख फरीद सानी की रचनाओ के 'आदिग्रथ' मे सगृहीत होने के लिए इनकी गुरु नानकदेव के साथ भेंट का भी हो चुका रहना अनिवार्य नहीं,

---

१ मिडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १११।

२ पंजाब प्रातीय हिंदी साहित्य का इतिहास, दिल्ली, १९६२ ई०, पृ० १३२।

३ वही, पृ० १२९-३६।

४ वही, पृ० १३०।

जायगा। पता नहीं वह जाते समय दौड़ती हुई किसे अपने गले लगायगी।[१] 'विरह-विरह तो सभी कहा करते हैं, किंतु उसका रहस्य किसी को भी विदित नहीं। वास्तव में विरह एक सुलतान है और जिसके शरीर में वह उत्पन्न न हो उसे श्मशान समझना चाहिए।'[२] "फरीद का कहना है कि जब तक नेत्रों के दो दीपक जलते ही रहते हैं तब तक मृत्यु का दूत आकर शरीर पर बैठ जाया करता है वह दुर्ग पर अपना अधिकार कर लिया करता है 'आत्मारूपी धन को लूट लेता है और दीपक बुझा कर चल देता है।"[३] 'मैंने पहले समझा था कि मैं अकेले दुःख में पड़ा हूँ किन्तु अब सभी का दुःख में ही देखता हूँ। जब ऊँचाई पर चढ़ के मैंने देखा तो पता चला कि सबके घर में वैसी ही आग लगी है।'[४] अतएव ये दूसरों को उपदेश देते हुए कहते हैं "धूल की निंदा कभी नहीं करनी चाहिए। वास्तव में उसके बराबर कोई नहीं जब तक हम लोग जीवित हैं वह पैरों के नीचे रहा करती है किन्तु हमारे मरने पर कब्र में वह ऊपर पड़ जाया करती है।'[५] 'अपनी सूखी रूखी रोटी खाकर ठंढा पानी पी लिया करो दूसरों की घी में चुपड़ी हुई रोटी देख कर तरसने मत लगो।'[६] 'हे स्वामी मुझे किसी दूसरे के द्वार पर जाँचने की आवश्यकता न पड़े। यदि ऐसा अवसर आ ही जाय तो पहले मेरे प्राणों को शरीर से पृथक कर दो।'[७] 'हंस को देख कर बगले की भी तैरने की इच्छा हुई, किन्तु उसके अनुकरण में चलते ही वह डूबने लगा और उसके पैर ऊपर की ओर उठ गये।[८] "अय फरीद जब खालिक खलक के भीतर मौजूद है और उसी में यह सभी कुछ अंतर्हित भी है तो फिर किसको मंद या नीच समझा जाय।"[९]

(३) संत भीखनजी

काकोरी के भीखन

संत भीखन के संबंध में बहुत कम पता चलता है। केवल दो-एक प्रसंगों के अतिरिक्त इनके विषय में अधिक नहीं विदित हो पाता। 'दि सिक्ख रिलिजन' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ के रचयिता मैकालिफ साहब ने उस पुस्तक के छठें भाग में इनकी चर्चा करते हुए लिखा है कि अधिक संभव है कि ये भीखन काकोरी के शेख भीखन

---

१ आदिग्रंथ सलोक ३ पृ १३७७। २ वही सलोक ३६, पृ १३७९।
३ वही सलोक ४८ पृ १३८। ४ वही सलोक ८ पृ १३८२।
५ वही सलोक १७ पृ १३७८। ६ वही सलोक २९, पृ १३७९।
७ वही सलोक ४२ पृ १३८। ८ वही सलोक १२२ पृ १३८४।
९ वही सलोक ७५, पृ १३८१।

भी ऐसा ही किया है, किंतु इस महान् सत की ऐसी किसी प्रवृत्ति का उन्होंने कोई उल्लेख तक नही किया है।"[१] इस लेखक के विचार से "भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण करने पर भी पता चलता है कि इन 'सलोको' मे बहुत पीछे के समय वाले मुहावरो तथा उक्तियो के प्रयोग मिलते है। इनमें जो कवि का उपनाम पाया जाता है वह भी 'फरीद' का है, न कि 'मासूद' का जिसे ये प्रयोग मे लाया करते थे।" "यह प्राय निश्चित-सा है कि ये 'सलोक' इन के नही हो हो सकते। किंतु इतना स्वीकार किया जा सकता है कि इनमें से कुछ अर्थात् ९, १०, ११, १२, १४, १८, १९, २०, २३, २४, २६, २७, २८, ३३, ३७, ३९, ४१, ४३, ४४, ४७, ५०, ५१, ५४, ६१, ७०, ७१, ७२, ७३, ८४, ८९, ९०, ९१, ९९, १०१, १०२, १०३, १११, ११२ और ११६ इनके उन कतिपय प्रायश्चित्तो की ओर सकेत करते प्रतीत होते हैं जिनसे इनके जीवन की घटनाओ तथा इनकी विचार-धारा तक से कुछ-न-कुछ सबध जोडा जा सकता है।" अतएव, "हो सकता है कि गुरु नानकदेव के समकालीन शेख इब्राहिम ही इन सलोको के वास्तविक रचयिता हो तथा उन्होंने इन अपने आचार्य की कुछ बानियो को अपने शब्दो मे व्यक्त कर दिया हो।[२]

शेख फरीद की विचार-धारा

'सलोक शेख फरीद के' शीर्षक के अतर्गत आनेवाली रचनाओ की सख्या 'आदिग्रथ' में १३० की दीख पडती है। किंतु यह कदाचित् ठीक नही है इनमें से कुछ जैसे 'स० ११३, ११९, १२० आदि में शेख फरीद का नाम नही आता तथा अन्य जैसे ३२, ५२ आदि में 'नानक' शब्द मिलता है। फिर भी कुछ लोगो ने इनकी सख्या अधिक से अधिक ११३ तक की स्वीकार कर ली है। इस प्रकार ऐसी रचनाओ के आधार पर यदि हम इनकी विचार-धारा का कुछ परिचय देना चाहे तो इनके सलोको के अनुसार कह सकते हैं, "इस सरोवर में एक ही पक्षी है, किंतु पचासो जाल लगे हुए हैं, यह शरीर जल की लहरो में मग्न हो चुका है, हे सत्य परमात्मा, केवल तेरी ही आशा है।"[३] "आत्मा (जिंद) वधू और काल (मरण) वर स्वरूप है जो उसका पाणि-ग्रहण करके उसे लेता चला

---

१. खालिक अहमद निजामी दि लाइफ ऐंड टाइम्स ऑफ शेख फरीदुद्दीन गज-ए-शकर, मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़, सन् १९५५ ई०, पृ० १२१।

२. वही, पृ० १२२।

३ आदिग्रथ वा गुरुग्रथ साहेब, तारणतरण सस्करण, सलोक १२५, पृ० १३८४।

आलोचना

संत भीषनजी के उक्त दो पद गुरु अर्जुन द्वारा संपादित 'आदिग्रंथ' में संगृहीत है[1] जिनसे ये रामनाम के प्रेमी जान पड़ते है। बदायूनी के उक्त शेख भीखन कदाचित् इस्लाम-धर्म के ही विशेषज्ञ थे। उनके सूफी होते हुए भी उनसे राम नाम के प्रति निष्ठा की आशा करना कुछ ठीक नहीं जान पड़ता। उस सूफी भीखन के साथ इन पदों के रचयिता की एकता स्थापित करने के लिए अन्य प्रमाण भी अपेक्षित होंगे। फिर भी अभी उसे असंभव भी नहीं कहा जा सकता। संत भीषन की भाषा सीधी-सादी किंतु मुहावरेदार है। इनकी वर्णन-शैली भावपूर्ण होती हुई भी प्रसाद गुण के कारण अत्यंत सुंदर तथा आकर्षक है। हिंदी इनकी अपनी भाषा जान पड़ती है। अनुमान होता है कि इन्होंने उक्त दो पदों के अति रिक्त कुछ अन्य रचनाएँ भी अवश्य की होंगी। इनके उपलब्ध पदों में संत बेनी की भाँति योग-संबंधी पारिभाषिक शब्दों की भरमार नहीं न बाह्याडबर वा छल-कपट के विरुद्ध कोई निंदा के भाव ही प्रकट किये गए मिलते हैं। उनमें नाम का महत्त्व गुरु की महिमा तथा हरि के प्रति प्रदर्शित प्रेम तथा तन्मयता के भाव इनकी विशेषता प्रकट करते है। इनका सरल हृदय संत रैदास के समान अपनी भक्ति-हीनता के प्रदर्शन तथा आत्म-निवेदन की ओर अधिक प्रवृत्त जान पड़ता है। सभी बातों पर विचार करते हुए इनके समय का रैदास कमाल धन्ना आदि के अनंतर निश्चित करना तथा इन्हें वर्तमान उत्तर प्रदेश के ही किसी भाग का निवासी मानना उचित जान पड़ता है। इनका जीवन-काल यदि विक्रम की १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रखा जाय तो भी इनकी रचनाओं का 'आदिग्रंथ' में संगृहीत किया जाना संभव हो सकता है।

पदों के विषय

संत भीषनजी ने अपने एक पद में कहा है कि 'जब शरीर क्षीण तथा निर्बल हो जाता है, नेत्रों से अश्रुपात होने लगता है सिर के बाल दूध की भाँति श्वेत हो जाते हैं और कंठ के अवरुद्ध हो जाने के कारण मुख से शब्द नहीं निकल पाते उस समय विवशता आ जाती है। ऐसे समय यदि रामराइ ही वैद बनवारी' बन कर पहुँचें तो उद्धार हो सकता है। जब सिर में पीड़ा होने लगे शरीर में जलन हो और कलेजे में कसक पैदा हो जाय तब उसकी दूसरी कोई भी औषधि नहीं। केवल हरि का नाम ही उसके लिए निर्मल तथा अमृत जल है और वही संसार के लिए सबसे बड़ा पदार्थ है। यदि गुरु-कृपा से वह मिल सके तो उसी की सहायता से हमें

---

१ रागु सोरठि, पद १-२, पृ ६५८।

थे जिनकी मृत्यु अकबर के शासन-काल के प्रारभिक भाग मे हुई थी। फारसी के इतिहास-लेखक बदायूनी ने उनके सबध मे लिखा है कि "शेख भीषन जो लखनऊ सरकार के काकोरी नगर के निवासी थे, अपने समय के बहुत बडे विद्वान् थे। धर्म-शास्त्र के महान् पडित तथा पवित्र आचरणवाले पुरुष थे। बहुत समय तक उन्होने शिक्षक का काम किया। उन्हे सातो प्रकार के भिन्न-भिन्न पाठो के साथ सारा 'कुरान' कठस्थ था और वे उसका उपदेश भी दिया करते थे। वे अपने को इरीज के मीर सैयद इब्राहिम की शिष्य-परपरा मे समझते थे और सूफी-मत के रहस्यो को सर्वसाधारण के सामने कभी प्रकट नही करते थे। उसे वे केवल जिज्ञासुओ को ही एकात मे बतलाया करते। वे कहा करते कि खुदा की वहदियत का रहस्य जनता मे प्रकट कर दिया जाय तो उसका प्रभाव वक्ता वा कुछ पडितो तक ही सीमित रह जाता है। वे गाना नही सुनते थे और उसकी निंदा भी किया करते थे। उन्हे कई सतानें हुई जो सभी सच्चरित्र ज्ञान तथा बुद्धि-सपन्न थी। इन ऐतिहासिक विवरणो का सग्रहकर्ता एक बार मुहम्मद हुसेन खाँ के साथ उक्त शेख की सेवा मे उपस्थित हुआ था। रमज़ान का महीना था। किसी ने उन्हे न्याय-शास्त्र की एक पुस्तक लाकर दी और कहा कि मुझे इसमे से कोई पाठ दीजिए। शेख ने कहा कि तुम्हे कोई आध्यात्मिक ग्रथ पढना चाहिए। शेख की मृत्यु हि० सन् ९२१ सन् १५७३–४ ई० वा स० १६३०–१ मे हुई थी।[1]

मेकालिफ का अनुमान

बदायूनी का यह भी कहना है कि जब मुजफ्फर खाँ ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया था, तब उसने एक बार अपना खीमा शेख भीषन की समाधि के ही निकट लगाया था, ताकि वह उनसे अपनी सफलता के लिए प्रार्थना कर ले। इसी प्रकार बदायूनी ने हाजी भीषन बसवानी का भी नाम लिया है। किंतु वे काकोरी के शेख भीषन से भिन्न व्यक्ति जान पडते हैं। मेकालिफ साहब का कहना है कि जिस किसी ने भी आदिग्रथ मे सगृहीत पदो को लिखा होगा, वह धार्मिक पुरुष अवश्य रहा होगा। शेख फरीद सानी की ही भाँति उस समय की सुधार-सबधी बातो से प्रभावित भी रहा होगा। ऐसा अनुमान कर लेना सभव है कि वह भीषन कबीर का ही अनुयायी रहा होगा।[2] इसमें सदेह नही कि मेकालिफ साहब का यह अनुमान सत भीषन के उक्त पदो पर ही निर्भर है।

---

१ दि सिक्ख रिलिजन, भा० ६, पृ० ४१५।

२ वही, पृ० ४१६।

मोक्ष का द्वार भी खुलता हुआ दीख पडेगा ।" इसी प्रकार अपने दूसरे पद मे भी ये वतलाते हैं कि "नाम एक अमूल्य रत्न है, जिसे वहुत पुण्य करने पर ही कोई पदार्थ के रूप मे पा सकता है । वह अनेक यत्नो के साथ हृदय मे छिपाये रखने पर भी छिप नही पाता। जिस प्रकार कोई गूंगा मनुष्य मिष्ठान्न के माधुर्य का स्वाद लेता हुआ भी उसे कहने मे असमर्थ रहता है, उसी प्रकार हरि के गुणो का भी वर्णन सभव नही है । जिह्वा से कहने, कानो से सुनने और मन मे उसे समझने से सुख उत्पन्न होता है । अपने दोनो नेत्र तो इस प्रकार सतुष्ट हो जाते हैं कि जहाँ कही भी वे जाते हैं, वहाँ उसी का प्रत्यक्ष अनुभव किया करते हैं ।" इन पदो के आधार पर तो सत भीपनजी को किसी हिन्दू-परिवार का ही सदस्य कहना ठीक जान पडता है ।

पंचम अध्याय

प्रारंभिक प्रयास

सं० १६०० : १७००

१. सामान्य परिचय

पथ-निर्माण की प्रवृत्ति

पथ-निर्माण का सूत्रपात हो जाने पर उस प्रकार की प्रवृत्ति की ओर सर्व-साधारण के ध्यान का आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक था। प्राय देखा जाता है कि किसी भी एक धार्मिक महापुरुष के नेतृत्व मे विश्वास रखनेवाले व्यक्ति क्रमश अपने को किसी एक सयुक्त परिवार का सदस्य समझने लगते है। अपनी सामु-दायिक एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के यत्न भी करने लग जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप एक समान सिद्धातो को स्वीकार करनेवालो का एक पृथक् वर्ग ही बन जाता है। ऐसे नये वर्ग का सबध प्राय दूसरे वैसे वर्गों के साथ पूर्ववत् नही बना रह पाता और कालातर मे घटने तक लग जाया करता है। इसके सिवाय, ऐसे भिन्न-भिन्न वर्गों के अनुयायियो की प्रमुख प्रवृत्तियो के अनुसार उनके यहाँ विविध बाह्याचारो का समावेश होने लगता है। उनके सामने उनके मूल सिद्धातो का महत्त्व पूर्ववत् नही रह पाता। तदनुसार समय पाकर वे लोग बहुधा इन बातो की ही ओर विशेष ध्यान देने लगते हैं तथा इनके प्रचार की ओर अधिक यत्नशील भी हो जाते हैं। अतएव जान पडता है कि कदाचित् किन्ही ऐसे ही नियमो के अनुसार पीछे साध-सम्प्रदाय तथा सत्तनामी सम्प्रदाय-जैसी सस्थाओ की सृष्टि हो गई। इसी प्रकार गुरु नानकदेव-जैसे धार्मिक नेताओ द्वारा अपने-अपने सगठनो की ओर ध्यान दिये जाने लगते ही, वैसी सस्थाओ के प्रति अन्य धर्म-प्रचारको का आकृष्ट हो जाना सर्वथा स्वाभाविक हो गया। फलत हम देखते हैं कि ऐसे सम्प्रदायो अथवा पथो के अतिरिक्त, उन दिनो उत्तरी भारत मे क्रमश लाल-पथ, दादू-पथ, बावरी-पथ तथा मलूक-पथ-जैसे धार्मिक वर्ग भी हमारे सामने आ गए।

पारस्परिक भेद का कारण

उपर्युक्त सभी पथो और सम्प्रदायो ने अपने सघटन का कार्य बडी लगन के साथ आरम किया। उन सभी किसी की कोई-न-कोई परपरा भी निश्चित हो चली जिसके फलस्वरूप, उनके मूल उद्देश्य के लगभग एक समान रहते हुए

भरसक सतुलित ही बनाये रखा। परन्तु क्रमश आगे आते जानेवाले पथ-प्रवर्त्तको मे से कई ने उक्त आदर्श को छोडना भी आरभ कर दिया। इस कारण उनकी सस्थाओ मे पारस्परिक भिन्नता का बढने लगना अनिवार्य-सा हो गया। इनकी सख्या मे भी वृद्धि होती चली आई। पथ-निर्माण का युग सभवत प्रारभिक रूप मे, सत मलूकदास तक चलता है और वैसी प्रवृत्ति प्राय एक समान काम करती जान पडती है। इस युग का आरभ होने के साथ-साथ सतो की बानियाँ सगृहीत होने लगती हैं, उनका पाठ चलने लगता है। इसका अत होते-होते उनकी तुलना स्वभावत उन प्राचीन ग्रथो से भी की जाने लगती है जिनमे सुरक्षित विचारो का प्रभाव सर्वसाधारण पर दीखता है। इस कारण (तथा कतिपय अन्य बातो से भी प्रेरित होकर जिनकी चर्चा अगले अध्याय मे की जायगी) इसका दूसरा युग आ जाता है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि उक्त प्रथम युग अथवा प्रारभिक समय मे प्रवर्त्तित किये गए पथो का स्वरूप सदा एक-सा ही बना रह गया और उनमे पीछे कोई परिवर्त्तन नही हो पाये। उनके पिछले अनुयायियो पर भी क्रमश अपने-अपने वातावरणो का प्रभाव प्रचुर मात्रा मे पडता चला गया। इस प्रकार एक ही पथ के अतर्गत अनेक विचार-धाराओ का समावेश होते जाने के कारण, स्वय उनके भीतर भी विभिन्न शाखाओ की सृष्टि होती चली आई।[१]

---

१. 'पथ' या 'सम्प्रदाय' शब्दो का प्रयोग ठीक एक ही ढग से होता हुआ नहीं दीख पडता। जिस धार्मिक वर्ग ने अपनी सज्ञा अपने मूल प्रवर्त्तक के नाम से ग्रहण की है उसे साधारणत उसके द्वारा चलाया गया 'पथ' अर्थात् प्रदर्शित मार्ग कहा जाता है, जैसे, 'कबीर-पथ', 'नानक-पथ', 'दादू-पथ', 'बावरी-पथ', 'मलूक-पथ', 'दरिया-पथ' और 'पानप-पथ' आदि। परन्तु जिस ऐसे वर्ग का का नामकरण उसके अनुयायियो के किसी विशिष्ट नाम या विशेषता के आधार पर हुआ है वह बहुधा 'सम्प्रदाय' कहा गया मिलता है, जैसे, 'साध सम्प्रदाय', 'सतनामी सम्प्रदाय', 'निरजनी सम्प्रदाय', 'रामस्नेही सम्प्रदाय', 'शिवनारायणी सम्प्रदाय' और 'नांगी सम्प्रदाय' आदि। इस 'सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग कभी कभी वर्ग-विशेष के इष्टदेव अथवा उसके किसी कल्पित मूल-प्रवर्त्तक के नामानुसार भी हुआ करता है। जैसे, 'परब्रह्म सम्प्रदाय' अथवा वैष्णव भक्तो के 'श्री सम्प्रदाय', 'रुद्र सम्प्रदाय' आदि। फिर भी राधास्वामी के अनुयायी अपने सबध मे 'सम्प्रदाय' की जगह प्राय 'सत्सग' का ही प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। यही बात हम देवी साहब द्वारा प्रवर्तित 'सतमत-सत्सग' के अनुयायियों मे भी पाते हैं। इसके सिवाय, जहाँ पर 'पथ'

है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इन्हें जैनमरमी आनंदघन कहते हुए बतलाया है कि 'जीवन की साधना के पथ में आनंदघन जिस आलोक की अनुप्राणना से चले थे वह कबीर प्रभृति सहजवादी मरमियों का ही है।' उन्होंने अपनी इस धारणा को स्पष्ट और प्रमाणित करने के लिए इनके कतिपय पदों की तुलना कबीर साहब की रचनाओं के साथ की है। परन्तु इनकी उपलब्ध रचनाओं को देखने तथा उनके पूर्वापर संबंधानुसार अध्ययन कर लेने पर यह बात अक्षरशः प्रमाणित नहीं होती। इनकी 'आनंदघन चौबीसी' तो जैनधर्म विषयक भावों से भरी है ही, इनकी 'बहोत्तरी' में संगृहीत पदों में से कई प्रक्षिप्त से जान पड़ते हैं और उन्हें अन्य कवियों की रचना मान लेने की प्रवृत्ति होती है। फिर भी इनके ऊपर पड़ा हुआ संत-मत का प्रभाव पर्याप्त रूप में दीख पड़ता है। इनकी शब्दावली तथा वर्णन-शैली तक भी उसके साहित्य से प्रेरणा पाकर अपनायी गई समझ पड़ती है, इसमें संदेह नहीं।[1]

इनके अतिरिक्त 'अजपा' तथा 'अनहद' (बहोत्तरी २) 'अवधू' (वही ७) 'सुरत-समाधि' (वही १९) 'ब्रह्म अग्नि परजाली' (वही २८) 'गुरु गम' (चौबीसी ४) 'आतमराम' (वही १९) तथा 'सतगुरु' (वही १५) जैसे शब्दों वा वाक्य-समूहों के प्रयोग निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

संत अखा

कुछ और दक्षिण की ओर गुजरात प्रांत में तो इस युग के अंतर्गत अखा नामक एक ऐसे ज्ञान-मार्गी कवि हो गए जिन्हें प्रायः 'गुजरात के कबीर' कहा जाता है। इनकी गुजराती के अतिरिक्त हिंदी की भी अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। अखा का जीवन-काल सं० १६४८ १७१ बतलाया जाता है। इनके विषय में कहा गया है कि ये जाति के सोनार थे। इन्होंने इधर काशी में आकर कतिपय वेदांत के ग्रंथों का अध्ययन किया था।[2] अपने चिंतन तथा सत्संग द्वारा प्राप्त अनुभवों के आधार पर इनकी बड़ी ज्ञानपरक विचार-धारा बहुत प्रांजल और विशुद्ध

---

१ 'घट मंदिर दीपक कियो सहज सुज्योति स्वरूप' वही, ४।
'अनुभव गोचर वस्तु कोरे जाणवो यह इलाज
कहन सुनन को कछु नहिं प्यारे आनंदघन महाराज'। वही २१।
वचन निरपेक्ष व्यवहार झूठो कह्यो वचन सापेक्षव्यवहार साचो,
चौबीसी ४ आदि

२ कहते हैं कि काशी में इनके गुरु कोई ब्रह्मानंद जी थे जिन्होंने जगजीवनदास से शिक्षा प्राप्त की थी। इसलिए यदि ये जगजीवनदास वहीं प्रसिद्ध दादू-शिष्य रहे हों उस दशा में अखा की गुरु-परंपरा भी विदित हो जाती है। लेखक।

की एक नवीन गोष्ठी बनाली थी। इसमे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार-विनिमय हुआ करता था जिसके कारण इन्होने एक पृथक् सम्प्रदाय ही स्थापित कर दिया। इनकी प्राय ५० फुटकर रचनाओ के सग्रह 'वनारसी विलास' के अतर्गत कदाचित् इनकी सभी प्रकार की कृतियो का समावेश किया गया है। इसमे हमे बहुत-से ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं, जहाँ से हम इन पर पडे हुए उपर्युक्त प्रभाव के कुछ नमूने पाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए वनारसीदास ने अपनी रचना 'भवसिंधु चतुर्दशी' मे जो "भव समुद्र का अपने घट के ही भीतर वर्तमान रहना तथा उसे पार करने के लिए साधन-स्वरूप मन जहाज के भी वही विद्यमान रहने पर मूर्खों द्वारा अपने उद्धार का मार्ग बाहर बाहर ढूँढने मे समय व्यतीत करना"[1] बतलाया है। वह ठीक सत-मत वाली बानियो का अनुसरण करता है। इसी प्रकार इन्होने अपने एक पद के अतर्गत, घट के भीतर होनेवाले अतर्द्वंद्व का जो वर्णन 'रामायण' मे उल्लिखित विविध पात्रो तथा घटनाओ के आधार पर, उपयुक्त रूपकात्मक शैली मे किया है[2] वह भी इनकी वैसी ही विचार-धारा की पुष्टि करता है। इनका अपने 'अध्यात्म गीत' के अतर्गत किसी 'निर्गुणिया' विरहिणी को भाँति अपने विरहोद्गार प्रकट करना तथा अपने 'अलख, अमूरत पिय' के साथ घट के भीतर ही अपना आपा खोकर 'दरिया मे बूँद' के समान मिल जाने की आकाक्षा प्रकट करना[3] जैसी बातें भी हमे कबीर साहब आदि वाली उक्तियो का स्मरण दिलाती हैं। इसके सिवाय इन्होने अपने 'शवद' को समझाने के लिए 'मोदू' को जिस ढग से सबोधित किया है[4] तथा जिस शैली मे इन्होने पहेलियाँ लिखी हैं[5] वे सभी इस बात का समर्थन करती जान पडती हैं कि इन पर सतो की रचना-पद्धति का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

आनदघन

जैन कवि आनदघन का नाम इनकी दीक्षा के समय, 'लाभविजय' वा 'लाभानद' था। किंतु कविता करते समय ये अपना उपनाम 'आनदघन' दिया करते थे। जहाँ तक पता है, जैनी होते हुए भी ये पीछे सत-मत द्वारा बहुत प्रभावित हो गए थे। ये कही गुजरात वा राजस्थान की ओर के निवासी थे। इनके अतिम दिन जोधपुर के मेडता नगर मे बीते। इनकी उपलब्ध रचनाओ के आधार पर इनका समय विक्रम की १७वी शताब्दी के अतिम चरण तक पहुँचता जान पडता

---

१ बनारसी विलास, जयपुर, स० २०११, दो० ३, पृ० १५२।

२ वही, पद १६, पृ० २३३। ३ वही, पृ० १५९-६१।

४ वही, पद १८, पृ० २३४। ५ वही, पृ० १८०-१।

महत्त्व नहीं दे सकते न हमें इनके उतने अनुयायी ही देखने में आते हैं। इन अंतिम डेढ़ सौ वर्षों अथवा उससे कुछ अधिक समय के अंतर्गत पुराने पंथों की अनेक शाखाएँ तथा उप-शाखाएँ भी बनती चली गई हैं। नयी लहर के आ जाने से उनमें विभिन्न प्रकार के परिवर्तन भी हो गए दीख पड़ते हैं। इसके सिवाय इधर संत-मत का नए सिरे से अध्ययन और मूल्यांकन होने लगने से अब इसके भविष्य की भी कुछ कल्पना की जा सकती है।

२ साध-सम्प्रदाय

प्रारंभिक वक्तव्य

साध-सम्प्रदाय का वास्तविक परिचय देने के अभी तक अनेक यत्न किये जा चुके हैं। परन्तु इसके इतिहास के संबंध में उठनेवाले कई प्रश्नों के अंतिम उत्तर आज तक नहीं दिये जा सके न इसके प्रधान प्रवर्त्तक वा प्रवर्त्तकों की प्रामाणिक जीवनियाँ ही उपलब्ध हो सकीं। सं० १८७६ में रे० हेनरी फिशर ने दिल्ली के उत्तर पास वालेवाले ग्रामीण साधों का एक विवरण प्रस्तुत किया था। एक दूसरे व्यक्ति विलियम ट्राट ने सं० १८९४ में इसी प्रकार फर्रुखाबाद वाले साधों के विषय में भी एक निबंध लिखा था। ट्राट साहब के कुछ पहले सं० १८८९ में प्रसिद्ध विद्वान् विल्सन साहब ने सभी साधों के संबंध में चर्चा की थी। उसी प्रकार सर विलियम कूक ने भी फिर आगे चल कर सं० १९५१ में इस विषय पर लिखा। डॉ० ग्रियर्सन तथा डॉ० फर्कुहर ने भी पीछे विशेषकर इन्हीं सामग्रियों के आधार पर बहुत कुछ लिख डाला। अंत में अमेरिकन मिशनरी एकिसन साहब ने सं० १९९२ में अपनी पुस्तक 'दि साध्स' का प्रकाशन किया। इस अंतिम लेखक ने कतिपय साध-पंथी लेखकों की भी कृतियों से सहायता ली। परन्तु सब कुछ होते हुए भी इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति प्रगति तथा सिद्धांतों के विषय में अनेक बातें जहाँ की तहाँ रह गईं। कई विद्वान् लेखकों ने तो साध-सम्प्रदाय तथा सतनामी सम्प्रदाय को सर्वथा एक मान कर इन दोनों के इतिहास को भ्रांतिपूर्ण बना दिया है। कुछ ने बीरभान तथा जोगीदास को समकालीन ठहरा कर भी कई कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी हैं। वास्तव में साध-सम्प्रदाय और सतनामी सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं यद्यपि यह सर्वथा असम्भव भी नहीं कि इस दूसरे वर्ग के मूल-स्थान का पता पहले की दिल्ली वाली शाखा के इतिहास में ही कहीं-न-कहीं मिल जाय जैसा कि नीचे दिये गए संक्षिप्त परिचय से भी जान पड़ेगा।

साम्प्रदायिक धारणा

साध-सम्प्रदाय के अनुयायी अपने मत को परंपरा को अनादि काल से चली हुई बतलाते हैं। इसके इतिहास को अपने ढंग से अनुक्रम देना द्वापर और

रूप धारण कर चुकी थी। 'ब्रह्मरस' का अनुपम स्वाद पा लेने पर सदा ब्रह्मानद मे मगन रहते हुए इन्होने स्वरूपानुमधान का वेदातपरक सदेश पहुँचाना आरभ किया और कई एक ग्रथो की रचना भी कर डाली। इनकी 'सतप्रिया' तथा 'ब्रह्म-लीला' जैसी हिंदी पुस्तको के अतिरिक्त ऐसी बहुत-सी फुटकर पक्तियाँ भी मिल सकती है जिनमे इन्होने अपने दार्शनिक सिद्धातो का परिचय देते समय अधिकतर नीरस भाषा का ही प्रयोग किया है। परन्तु जहाँ-कही इनकी ऐसी बानियो मे स्वानुभूति के आनद अथवा स्वच्छद जीवन के उमग की अभिव्यक्ति दीख पडती है, वहाँ उनमे इस प्रकार का प्रवाह भी आ जाता है। वह बिना अपना प्रभाव डाले नही रह सकता तथा जो कभी-कभी कबीर साहब-जैसे सतो का स्मरण दिलाता है। इसके सिवाय इन अखा कवि की ऐसी रचनाओ मे यत्रतत्र सर्वसाधारण के प्रति कडी फटकार के तीखे वाक्य भी पाये जाते हैं जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है तथा जिनके लिए ये अधिक प्रसिद्ध भी हैं।[1]

युग का महत्त्व

इस युग के अतर्गत सत-मत के कम-से-कम एक दर्जन से भी अधिक ऐसे पथो और सम्प्रदायो की सृष्टि हुई जिनमे से अधिकाश आज भी प्रचलित हैं। इनमे से कई एक को उसके प्रमुख स्तभ होने तक का गौरव प्रदान किया जा सकता है। इस युग का अत होते-होते उसमे कतिपय नवीन बातें प्रवेश पाने लगी। इनके कारण उसकी ओर सब किसी का ध्यान आकृष्ट होता चला गया और अगले प्राय डेढ सौ वर्षों तक भी उसे निरतर प्रोत्साहन मिलता गया। तदनुसार इन तीन सौ वर्षों के समय स० १५५० से लेकर स० १८५० तक को हम उसका 'स्वर्ण-युग' तक ठहरा सकते हैं। सत-मत विषयक बहुत-से पथो वा सम्प्रदायो का निर्माण स० १८५० के अनतर भी अवश्य होता आया है। किंतु इनमे से सभी को हम उतना

---

१ अकल कला खेलत नरज्ञानी,
जैसेहि नावहिरे फिरे चहूँदिस, ध्रुवतारे पर रहत निशानी ।।टेक।।
चलन वलन अवनी परवाकी, मन की सुरत अकाश ठरानी।
तत्त समास भयो है स्वततर, जैसे हिम ह्वै जात है पानी ।।१।।
छुपी आदि अनत न पायो, आइ न सकत जहा मन बानी।
ता घर स्थिती भई है जिनकी, कहि न जात ऐसी अकथ कहानी ।।२।।
अजब खेल अद्‌भुत अनुपम है, जाकू है, पहचान पुरानी।
गगनहि गैब भयानर बोले, एहि 'अखा' जानत कोई ज्ञानी ।।३।।
—सत बाणी, आरा, वर्ष ३ अक ६, स० २०१५, पृ० ५-६ पर उद्धृत।

के निकटवर्ती बिजेसर ग्राम के निवासी थे। उन्होंने सं १६ विक्रमी के लगभग उदयदास द्वारा किसी अलौकिक ढंग से दीक्षा ग्रहण की थी। उदयदास ने उन्हें इस मत के कुछ आवश्यक सिद्धांतों का परिचय देकर यह भी बतला दिया था कि मैं फिर कभी तुमसे मिलूँगा और अमुक-अमुक लक्षणों के आधार पर मुझे भली भाँति पहचान कर तुम मुझमें और भी आस्था कर सकोगे। डॉ जे एन फर्कुहर ने इस उदयदास को प्रसिद्ध संत रविदास का शिष्य माना है। उन्होंने कहा है कि संत रविदास का समय अनुमानतः सन् १४७ १५ ई० सं १५२७-१५५७ वि मान लेने पर उदयदास का समय उसी प्रकार सन् १५००-१५१ ई सं० १५५७ १५८७ वि ठहरता है। वीरभान का सन् १५१०-१५६ सं १५८७-१६१७ वि० तक आ जाता है जिसका उक्त सं १६ अर्थात् पंथ के आरंभ काल के साथ मेल भी बैठ जाता है। परन्तु साधों की दिल्ली-शाखा के अनुसार बिदेर या बिजेर (संभवत उक्त बिजेसर) के निवासी गोपाल सिंह के पुत्र जोगीदास को इस मत की प्रेरणा सर्वप्रथम सं १७२६ के २७ फागुन को उनकी अवस्था अधिक होने पर मिली थी। जोगीदास इसके पहले अर्थात् सं १७१५ में लगभग धौलपुर के राजा की ओर से औरंगजेब के विरुद्ध किसी लड़ाई में आहत हो प्रायः १२ वर्षों तक भ्रमण कर चुके थे और सम्प्रदाय के प्रचार में उन्हें वीरभान से भी सहायता मिली थी। कहा जाता है कि उक्त प्रकार से आहत हो अथवा मर कर जब वे रणस्थल में पड़े थे तब उन्हें कोई वहाँ से उठा ले गया। उसने उन्हें एक प्रकार से जीवन-दान दिया जिसका उनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे उनके परम भक्त हो गए। वह अपरिचित व्यक्ति उनके निकट एक साधु के वेश में आया और उसने उन्हें किसी दूर की पहाड़ी पर ले जाकर अनेक आध्यात्मिक बातों की शिक्षा दी तथा उस सर्वसाधारण में प्रचार करने का उन्ह आदेश भी दिया। तब से जोगीदास लगभग ७२ वर्षों तक इस मत का प्रचार करते फिरे और इस काम में उन्हें अपने एक संबंधी वीरभान से बड़ी सहायता मिली। इस वीरभान को उन्होंने अपना शिष्य भी बना लिया था।[1]

तीसरा मत

एक तीसरे मत के अनुसार ऊधोदास तथा जगजीवनदास नामक दो भाई थे जो औरंगजेब बादशाह के शासन-काल (सं १६६२ १६८४) में वर्तमान थे। जगजीवनदास इन दोनों में ५ ६ वर्ष बड़े थे। जब ऊधोदास एक मकान में ... थे

---

१ डब्ल्यू एन एलिसन दि साध्स दि रिलिजस लाइफ ऑफ इंडिया सिरीज लंदन १९३५ ई पृ १९ २१।

कलजुग नामक चार कालो मे विभक्त करते हुए पाये जाते हैं।[1] उनके यहाँ इन्ही युगो के अनुसार क्रमश गोविंद, परमेश्वर रामचद्र-लक्ष्मण, कृष्ण-वलभद्र तथा वीरभान-जोगीदास का आविर्भाव होना भी वतलाया जाता है। इन चारो युगो के उक्त महापुरुष दो-दो की जोडियो मे रखे गए हैं। प्रथम युग वाले पुरुष वस्तुत ईश्वर के ही दो भिन्न-भिन्न नामधारी जान पडते हैं। इन दो प्रथम युग वालो को सम्प्रदाय वाले महादेव तथा पार्वती की सतान भी मानते हैं। इससे जान पडता है कि उन्हे इन दो के सदेह व्यक्ति होने मे कदाचित् वैसा विश्वास भी नही है। साधो के अनुसार जिस प्रकार उक्त गोविंद, परमेश्वर, महादेव तथा पार्वती की सतान थे, उसी प्रकार क्रमश रामचद्र, लक्ष्मण, गोविंद तथा परमेश्वर की, कृष्ण-वलभद्र, रामचद्र तथा लक्ष्मण की, तथा वीरभान-जोगीदास, कृष्ण तथा वलभद्र की सतान थे। इस 'सतान' शब्द से अभिप्राय वास्तव मे अवतार का ही समझ पडता है। साधो मे इन बातो के अतिरिक्त वीरभान तथा जोगीदास के ऊपर की ११ पीढियो की चर्चा भी की जाती है। इससे जान पडता है कि इन पीढियो वाले पुरुष उन लोगो के पूर्वपुरुष रहे होगे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वीरभान तथा जोगीदास न केवल समकालीन थे, प्रत्युत वस्तुत एक ही माता-पिता से उत्पन्न सहोदर भाई भी थे। इनकी माता का नाम साध लोग जैवती बतलाते हैं। उनका यह भी कहना है कि प्रथम तीन युगो की अपेक्षा चतुर्थ वा कलजुग मे ही यह सम्प्रदाय वीरभान तथा जोगीदास के यत्नो से अधिक स्पष्ट रूप मे व्यक्त हुआ। वीरभान तथा जोगीदास के प्रथम आनेवाले ११ पुरुषो के नाम क्रमश रावतभूप, रामसिंह वख्तावर सिंह, गोकलसिंह, हरमत सिंह, धातार सिंह, हरिसिंह, गिरधारी सिंह, मोती सिंह, बाघ सिंह, तथा गोपाल सिंह वतलाये गए हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनके मूलपुरुष रावतभूप ही थे। परन्तु ये कौन थे, इसका पता नही चलता।

दूसरा मत

अतएव वीरभान तथा जोगीदास के सवध मे ऐतिहासिक विवरणो का प्राय अभाव ही दीख पडता है। इनमे से न तो किसी एक के भी जन्म-काल का पता चलता है, न यही विदित होता है कि इनका व्यक्तिगत जीवन किस प्रकार का था और ये किस काल तक जीवित रहे थे। साधो की दो प्रधान शाखाओ—दिल्ली-शाखा तथा फर्रुखावादी शाखा मे से दूसरी के अनुसार वीरभान नारनौल

---

१ इनके दिये हुए युगो के नामो का क्रम एलिसन साहब सतजुग, द्वापर, त्रेता तथा कलजुग देते हैं जो अशुद्ध जान पडता है। दे०-डब्ल्यू० एल० एलिसन कृत 'दि साध्स' (दी रिलिजस लाइफ इडिया सिरीज, लदन १९३५) पृ० ६।

पर रचनाओं में पाया जाता है। डॉ फर्कुहर का यह अनुमान कि ऊधादास इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध प्रचारक बीरभान के गुरु तथा पथ-प्रदर्शक थे। इन बातों के विचार से निराधार नहीं कहा जा सकता प्रत्युत जोगीदास का बीरभान का पूर्ववर्ती होना ही किसी अन्य प्रमाण के अभाव में स्वीकार करने योग्य नहीं है। अतएव उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर यदि कोई युक्तिसंगत प्रमाण निकाला जा सके तो यही हो सकता है कि बीरभान ने साध-सम्प्रदाय को ऊधादास की प्रेरणा पाकर सं १६   के लगभग प्रवर्तित किया था। जोगीदास ने प्रायः सवा सौ वर्षों के अनंतर उसे और भी सुव्यवस्थित रूप में प्रचलित करने की चेष्टा की थी। बीरभान तथा जोगीदास का सम्प्रदाय की परंपरा के अनुसार सहोदर भाई मानने का कारण भी ऐसी स्थिति में केवल यही हो सकता है कि दोनों का ध्येय प्रायः एक ही रहा। फिर भी जैसा कि इस सम्प्रदाय के बाद इतिहास से लक्षित होता है उक्त दोनों व्यक्तियों के अनुयायियों में कुछ विभिन्नता भी आ गई। बीरभान की शाखा-वाले एक ओर यदि शांत स्वभाव के बने रह गए, तो दूसरी ओर जोगीदास का नेतृत्व मानने वाले कभी-कभी धर्मयुद्ध भी छेड़ते आए। तदनुसार बीरभान के अनुयायी आज तक केवल साध ही कहे जाते हैं किंतु जोगीदास का अनुसरण करने वालों में कुछ अपने को कभी-कभी 'साध सत्तनामी' वा केवल 'सत्तनामी' भी कहा करते हैं।[1]

संत बीरभान

बीरभान के अनुयायियों के यहाँ इनकी जीवनी का कोई विवरण नहीं पाया जाता। ये ऊधादास के सर्वप्रथम शिष्य समझे जाते हैं और 'निर्वाण ग्यान' में आये हुए एक प्रसंग द्वारा यह भी सूचित होता है कि ये विवाहित जीवन व्यतीत करते रहे होंगे।[2] संत बीरभान ने साध-सम्प्रदाय का प्रचार सं १६   के लगभग आरंभ किया था और इस समय को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। किंतु डॉ तारा चंद ने न जाने किस प्रमाण के आधार पर उक्त संवत् को बीरभान का जन्म-काल मान लिया है और आगे चल कर साधों सत्तनामियों को सिक्खों एवं कबीर-पंथियों ...।[3] बीरभान द्वारा सम्प्रदाय के प्रवर्तन का प्रारंभ-काल यदि सं १६   के लगभग ही ठीक है तो उनके जन्म-काल को उससे कम-से-कम २५ या   वर्ष भी पहले अवश्य

---

१ दे अध्याय ६

२ 'बीरभान तथा राजा दुर्योधन (संभवतः जोगीदासजी शिष्य ...) की लिखी साखी' की। दे हि सा व पृ १२ पर उद्धृत गुटका पद।

३ डा ताराचंद। इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन हिंदू कल्चर पृ १९२।

दलपत नामक किसी व्यापारी के यहाँ जहाज मे नौकरी करते थे। एक वार वह जहाज कही जाते समय अचानक वीच मे रुक गया और तव तक नही टला जव तक ऊदादास उस पर से उतर कर पानी मे खडे न हो गए। ऊदादास इसके अनतर वही खडे रहे और फिर पास ही वने हुए किसी मदिर को देख कर वहाँ पहुँचे। मदिर मे कोई वैरागी रहता था जिसमे इन्होने वातचीत की, उससे कुछ मिठाइयाँ लेकर अपनी भूख मिटायी और वही सो भी गए। नीद के टूटने पर इन्हे पता चला कि मैं अपने घर लौट आया हूँ और अपने परिवार वालो से इन्होने अपना सारा वृत्तात भी कह सुनाया। गोपालदास के दो लडके जोगीदास और वीरभान नाम के थे जिन्हे ऊदादास ने फिर से राम तथा लक्ष्मण के नाम दिये और वीरभान की स्त्री को भी सीता के नाम से अभिहित किया। इसके उपरात ऊदादास अपने कतिपय विचारो का प्रचार करते हुए भिन्न-भिन्न गाँवो मे भ्रमण करने लगे और अनेक व्यक्तियो को इन्होने अपने शिष्य भी वनाये। इन शिष्यो मे ही उक्त जोगीदास और वीरभान भी थे। कहते हैं कि ऊदादास द्वारा मत के प्रचार किये जाते समय औरगजेव वादशाह दिल्ली मे शासन करने लगा था। उसे जव इस नवीन सम्प्रदाय के उदय का पता चला, तव उसने इसके अनुयायियो के विरुद्ध अपनी सेना भेजी और एक वार स्वय भी उपस्थित हुआ। ऊदादास औरगजेव के तीर से रणक्षेत्र मे ही मार डाले गए।"[1] इस विवरण को फर्रुखाबाद के किसी प्रिथीलाल साध ने ही एक निवध के रूप मे तैयार किया था, जिसका अग्रेजी मे भाषातर कर एलिसन साहव ने उसे अपनी पुस्तक मे उद्धृत किया है।

तीनों पर विचार

उपर्युक्त तीनो मतो की तुलना करने पर पता चलता है कि साध-सम्प्रदाय के इतिहास मे प्राय तीन व्यक्तियो की चर्चा विशेष रूप से की जाती है। उनमे एक जोगीदास हैं, दूसरे वीरभान वा वीरलाल हैं और तीसरे का नाम कभी उदयदास वा ऊदादास दिया जाता है तथा कभी-कभी उसे प्रकट नही किया जाता। फिर इन तीनो मे भी उदयदास वा ऊदादास इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक-से समझ पडते हैं। तीसरे मत के अनुसार उन्हे ही इसके प्रचार का भी श्रेय दिया जाता है। इसी प्रकार यदि पहले मत ने सम्प्रदाय के प्रचार के सवध मे वीरभान का अधिक हाथ वतलाया है, तो दूसरे ने जोगीदास को ही इसका मुख्य प्रचारक माना है। अतिम दो मतो के अनुसार तो वीरभान तथा जोगीदास आपस मे सवधी अथवा सहोदर भाई तक दीख पडते हैं। तीसरे मत ने उदयदास को उन दोनो का चचा

---

१ डब्ल्यू० एल० एलिसन दि साध्स, पृ० १११-११३।

तक सिद्ध कर दिया है। फिर भी यदि समय के अनुसार उक्त तीनों मतों पर विचार किया जाय तो एक बहुत बड़ी कठिनाई खड़ी हो जाती है और उक्त कथनों का कोई मेल खाता हुआ नहीं जान पड़ता। पहले मत के अनुसार बीरभान ने सं० १६०० के लगभग ऊदादास द्वारा इस सम्प्रदाय के संबंध में प्रेरणा प्राप्त की थी तो दूसरे के अनुसार जोगीदास को इसका आभास सं० १७१५ की किसी लड़ाई के अनंतर सं० १७२१ में मिला था। तीसरे के अनुसार ऊदादास को कदाचित् इसके प्रवर्तन का संकेत एक बैरागी के द्वारा संभवतः विक्रम की १७वीं शताब्दी के लगभग अंत में मिला था। अतएव स्पष्ट है कि डॉ० जे० एन० फर्कुहर का उपर्युक्त अनुमान अंतिम दो मतों के अनुसार अमान्य ही समझा जाना चाहिए।

समीक्षा

एलिसन साहब ने उक्त समस्याओं का समाधान करते हुए बतलाया है कि वास्तव में इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक केवल दो ही पुरुष रहे होंगे तीन नहीं हो सकते। ऊदादास नाम का कदाचित् कोई भी व्यक्ति न था। यह नाम जोगीदास का कभी-कभी बीरभान की एक उपाधि के रूप में सम्प्रदाय के मान्य ग्रंथ 'निर्वाण ज्ञान' के अंतर्गत लगभग १५ बार आया है। कहीं-कहीं ऊदादास की जगह 'ऊदा के दास' भी कहा गया मिलता है। इसी प्रकार सं० १६०० : सन् १५४४ ई० तथा सं० १७१५ : सन् १६५८ ई० के संबंध में भी समझा जा सकता है कि पहला समय जोगीदास के आविर्भाव-काल का द्योतक है और दूसरे काल में इस सम्प्रदाय की विशेष जागृति हुई थी। डॉ० फर्कुहर ने बीरभान को जोगीदास का पूर्ववर्ती माना था किंतु एलिसन साहब जोगीदास को ही बीरभान का पथ-प्रदर्शक समझते हैं। इनका कहना है कि युद्धवीर जोगीदास ने ही सर्वप्रथम इस सम्प्रदाय को एक विचित्र ढंग से प्रचलित किया था जिसे आगे चल कर शांत स्वभाव वाले बीरभान ने अधिक स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित किया। जोगीदास ने ही वास्तव में इस सम्प्रदाय के धर्म-ग्रंथ का संपादन कर एक नयी पुस्तक 'बानी' की रचना भी की थी।[1] परन्तु एलिसन की ये धारणाएँ अधिकतर कोरी कल्पना के ही आधार पर आश्रित जान पड़ती हैं। इनकी पुष्टि किसी ऐतिहासिक प्रमाण से होती हुई नहीं दीखती। सं० १६०० : सन् १५४४ ई० के किसी ऐसे युद्ध का पता नहीं चलता जिसमें जोगीदास नामक कोई व्यक्ति भाग लेकर इस प्रकार प्रसिद्ध हो गया हो। इसके विपरीत सं० १७१५ : सन् १६५८ ई० का समय वह है जब कि बादशाह शाहजहाँ के लड़के दिल्ली की राजगद्दी के लिए आपस में लड़ने लग

1 डब्ल्यू० एल० एलिसन : दि साध्स पृ० १४।

ले जाना चाहिए ।[1] सत वीरभान के गुरु ऊदादास का जीवन-काल डॉ० फर्कुहर के अनुसार इस प्रकार स० १५५७–१५८७ सन् १५००–१५३० के लगभग ठहरता है और यह मान्य भी हो सकता है। किन्तु उनका इन्हे सत रविदास का शिष्य भी स्वीकार कर लेना सदिग्ध है । सत रविदास को वे स्वामी रामानद का शिष्य मानते है और स्वामी रामानद का समय स० १४८७–५२७ सन् १४३०–१४७० बतलाते है। परन्तु इन दोनो धारणाओ मे से एक भी निर्विवाद नही कही जा सकती । हा, यदि ऊदादास को सत रविदास का शिष्य कहना ही हो, तो वह इसी प्रकार समव है कि वे इनकी शिष्य-परपरा मे रहे होगे। साधो की सत रविदास के प्रति कोई विशेष श्रद्धा भी सूचित नही होती, ये लोग कबीर साहब को उनसे अधिक महत्त्व देते हुए दीख पडते है ।

साम्प्रदायिक साहित्य

सत वीरभान की रचनाएँ 'बानी' नामक ग्रथ मे सगृहीत समझी जाती हैं और वे पद्य मे हैं। साधो का एक अन्य मान्य ग्रथ 'आदि उपदेश' है जो गद्य मे है । इसके अतर्गत सम्प्रदाय के प्राय सभी मुख्य-मुख्य नियमो का समावेश किया गया है । तथा जिसके साथ कई अन्य साम्प्रदायिक रचनाए भी सगहीत पायी जाती है। इसके साथ कई अन्य साम्प्रदायिक रचनाएँ भी सगृहीत पायी जाती हैं। यह ग्रथ जोगीदास की रचना समझा जाता है। परन्तु साधो का सबसे प्रधान ग्रथ 'निर्वान ग्यान' है जो १६ पक्तियो वाले प्राय २५० पृष्ठो की एक पद्यमयी रचना है और जिसमे दोहे तथा चौपाइयाँ सगृहीत है। इसमे कुल मिला कर ४२०० पक्तियाँ तथा २३००० शब्द बतलाये जाते है और इसका एक अन्य नाम 'पोथी' भी है जिसे विशेषरूप से गुप्त तथा सुरक्षित रखा जाता । इसकी भाषा अनेक अरबी तथा फारसी शब्दो से मिश्रित हिंदी है जिसमे प्रह्लाद, लक्ष्मण, रामचद्र आदि नामो के अतिरिक्त कबीर, मीराँ, गोरख, ऊदादास, वीरभान, जोगीदास आदि के कुछ

---

१ महर्षि शिवब्रतलाल का कहना है कि वीरभान ने अपने साध-मत को स० १७१४ मे प्रवर्त्तित किया था। ये ब्रजेसर के निवासी थे जो नारनौल के निकट दिल्ली के पूर्व मे पडता था, किन्तु जो अब पटियाला के अतर्गत है । उन्होने 'जोगीदास' नाम उदयादास अर्थात् वीरभान के गुरु को दिया है जिन्हे उन्होने कबीर-पथी भी कहा है। उनका दिया हुआ वीरभान का परिचय इस प्रकार जोगीदास के हमारे उपर्युक्त परिचय से बिल्कुल मिलता-जुलता-सा है। उन्होने साध-सम्प्रदाय तथा सत्तनामी सम्प्रदाय मे भी कोई अतर नहीं माना है और जगजीवन साहब के सत्तनामी सम्प्रदाय से इसे नितांत भिन्न भी ठहराया है। —दे० सतमाल, पृ० २६७-२६८ ।

पद रचनाओं में पाया जाता है। डॉ॰ फर्कुहर का यह अनुमान कि ऊदादास इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध प्रचारक बीरभान के गुरु तथा पथ प्रदर्शक थे। इन बातों के विचार से निराधार नहीं कहा जा सकता प्रत्युत जोगीदास का बीरभान का पूर्ववर्ती होना ही किसी अन्य प्रमाण के अभाव में स्वीकार करने योग्य नहीं है। अतएव उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर यदि कोई युक्तिसंगत प्रमाण निकाला जा सके तो यही हो सकता है कि बीरभान ने साध-सम्प्रदाय को ऊदादास की प्रेरणा पाकर सं॰ १६ के लगभग प्रवर्तित किया था। जोगीदास ने प्रायः सवा सौ वर्षों के अनंतर उसे और भी सुव्यवस्थित रूप में प्रचलित करने की चेष्टा की थी। बीरभान तथा जोगीदास को सम्प्रदाय की परंपरा के अनुसार सहोदर भाई मानने का कारण भी ऐसी स्थिति में केवल यही हो सकता है कि दोनों का लक्ष्य प्रायः एक ही रहा। फिर भी जैसा कि इस सम्प्रदाय के शेष इतिहास से लक्षित होता है, उक्त दोनों व्यक्तियों के अनुयायियों में कुछ विभिन्नता भी आ गई। बीरभान की शाखा वाले एक ओर यदि शांत स्वभाव के बने रह गए तो दूसरी ओर जोगीदास का महत्त्व मानने वाले कभी-कभी धर्मयुद्ध भी छेड़ते आए। तदनुसार बीरभान के अनुयायी आज तक केवल साध ही कहे जाते हैं, किंतु जोगीदास का अनुसरण करने वालों में कुछ अपने को कभी-कभी 'साध सत्तनामी' या केवल 'सत्तनामी' भी कहा करते हैं।[1]

संत बीरभान

बीरभान के अनुयायियों के यहाँ इनकी जीवनी का कोई विवरण नहीं पाया जाता। ये ऊदादास के सर्वप्रथम शिष्य समझे जाते हैं और 'निर्वाण ग्यान' में आये हुए एक प्रसंग द्वारा यह भी सूचित होता है कि ये विवाहित जीवन व्यतीत करते रहे होंगे।[2] संत बीरभान ने साध-सम्प्रदाय का प्रचार सं॰ १६ के लगभग आरंभ किया था और इस समय को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। किंतु डॉ॰ ताराचंद ने न जाने किस प्रमाण के आधार पर उक्त संवत् को बीरभान का जन्म-काल मान लिया है और आगे चल कर साधों सत्तनामियों को बिल्कुल एक समझा है।[3] बीरभान द्वारा सम्प्रदाय के प्रवर्तन का प्रारंभ-काल यदि सं॰ १६ के लगभग ही ठीक है तो उनके जन्म-काल को, उससे कम-से-कम २५ ३ वर्ष भी पहले अवश्य

१ दे॰ अध्याय ६

२ 'बीरभान तथा राजा दुर्योधन (सम्भवतः गोरखजी शिष्य अरजोधन) की स्त्रियाँ साध्वी थीं'। दे॰ दि साध्स पृ॰ १२ पर उद्धृत तृतीय पद।

३ डा॰ ताराचंद इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम आन हिन्दू कल्चर पृ॰ १९२।

गए थे। उनकी विविध लडाइयो मे अन्य अनेक व्यक्तियो ने भी किसी-न-किसी ओर से सहायता पहुँचायी थी। तदनुसार डॉ० यदुनाथ सरकार का कहना है कि "फारसी मे लिखित इतिहास ग्रथो मे जहाँ धोलपुर के निकट होनेवाले सन् १६५८ ई० के युद्ध का वर्णन है, वहाँ किसी साध-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक जोगीदास का पता नही चलता। इस विषय मे अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि उक्त युद्धकाल मे धोलपुर के महाराजा महासिह थे जो धोलपुर से कुछ ही मील पूर्व की ओर वर्तमान भदवर के राजा थे। इन्होने दाराशिकोह के एक विश्वस्त सेनापति के रूप मे स० १७१६. सन्-१६५९ ई० वाली सामूगढ की लडाई मे भाग लिया था।"[१] अतएव, यदि साध-सम्प्रदाय वालो मे प्रचलित पूर्वोक्त अनुश्रुति का सबध इस अवतरण के साथ जोडा जा सके, तो जोगीदास का उस समय के लडनेवालो मे सम्मिलित रहना असभव नही कहा जा सकता।

निष्कर्ष

इसके सिवाय 'ऊदादास' शब्द का भी किसी एक व्यक्ति का नाम होना असभव नही समझा जा सकता। ऊदादास का शुद्ध रूप उदयदास है जिसका अर्थ 'उदय का दास' होगा और 'उदय' शब्द का एक अर्थ उद्गम वा निकलने का स्थान अर्थात् मूलस्रोत भी होने के कारण उदयदास से अभिप्राय परमात्मा, मूलतत्त्व वा आदि-पुरुप का दास हो सकता है। सम्प्रदाय के अनुयायियो की धारणा के अनुसार ऊदा-दास को 'मालिक का हुकुम' वा उसका सदेश-वाहक भी माना जाता है। उनके 'निर्वान ग्यान' ग्रथ के अतर्गत स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि "जो काशी मे कबीर नाम से प्रकट हुए थे, वे ही यहाँ विजेसर मे ऊदादास नाम से प्रसिद्ध है।"[२] इस बात से सिद्ध हो जाता है कि ऊदादास वा उदयदास अथवा उद्धवदास कोई एक व्यक्ति अवश्य रहे होगे तथा उन्होने इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक का काम किया होगा। इसके सिवाय इस नाम का 'निर्वान ग्यान' के अतर्गत जोगीदास वा वीरभान के लिए भी एक उपाधि के रूप मे प्रयोग होना केवल इतना ही सूचित करता है। वह उन दिनो की प्रथा के अनुसार 'नानक' तथा 'फरीद' शब्दो की भाँति उदयदास के प्रधान शिष्य वा उपशिष्य के लिए भी कभी-कभी प्रयोग मे आता रहा होगा। ऊदादास की शिष्य-मडली के एक सदस्य गोरखजी का भी पता चलता है और उस गोरखजी के किसी जरजोधन नामधारी शिष्य का नाम भी सम्प्रदाय की कई

---

१. डब्ल्यू० एल० एलिसन. पृ० १२ पर उद्धृत।

२. वही, पृ० ५६ और पृ० ११८ मे उद्धृत दो पदों का अंशानुवाद।

ऐतिहासिक नाम भी आये हैं। वास्तव में यह ग्रंथ जोगीदास के पीछे की रचना है। ये तीनों ग्रंथ अभी तक हस्तलेखों के ही रूप में हैं। इनके अतिरिक्त दो प्रकाशित ग्रंथों के भी नाम एलिसन साहब ने दिये हैं। इनमें से एक 'साध पंथ' है जो किसी प्रियीलाल साध द्वारा ईसाई-धर्म ग्रहण कर लेने पर लिखा गया था। इसमें गोरखजी दादूजी गोविंद गरीब कबीर, नामदेवी गोना बाई, राजा बाई, गोपीचंद भर-थोवन दुर्लादास बीरभान आदि के भिन्न-भिन्न गीत संगृहीत हैं। एक दूसरे ग्रंथ का नाम 'नसीहत की पुड़िया' है जिसके रचयिता कोई उमरावसिंह साध हैं। इसमें ११३ पृष्ठों के १४ अध्यायों में उपदेशमय वाक्य लिखे गए हैं। ये अंतिम दोनों पुस्तकें बहुत इधर की रचनाएँ हैं।

सिद्धांत तथा साधना

साध-सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत मत कबीर साहब के सिद्धांतों से बहुत कुछ प्रभावित जान पड़ता है। इसी कारण साध लोग अपने आदिगुरु ऊधोदास को भी कबीर साहब के एक अवतार के ही रूप में मानते हैं। दोनों को परमात्मा के प्रतीक भी समझते हैं। कबीर साहब के संबंध में उनका कहना है कि 'कबीर दास परमात्मा के संदेश-वाहक थे प्राणिमात्र के नियमन में उसके प्रधान परामर्शदाता थे और उस भगवत के शिष्य तुल्य भी थे।'[1] साध-सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत मत के अनुसार ईश्वर एक निराकार, सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् तथा परम दयालु है जिसे वे 'सतगुरु' और सतनाम' के नाम से पुकारते हैं। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार अन्य किसी को प्रणाम तक भी नहीं करना चाहिए। प्रसिद्ध है कि किसी समय साध-सम्प्रदाय के किसी अनुयायी के सलाम न करने पर सरकारी कर्मचारी बिगड़ खड़े होते थे और उसे दंड तक देने लगते थे। इस कारण कहे-सुने जाने पर एक बार फर्रुखाबाद के जिलाधीश ने इन्हें सं १९ ६ मे एक प्रमाण-पत्र देकर इनकी रक्षा की थी। फिर अंत मे स० १९५२ जून सन् १८९५ में जब पोलिटिकल एजेंट ने इस सम्प्रदाय के तत्कालीन मुखिये सुमेरचंद तथा सिगारचंद को महारानी विक्टोरिया के सम्मुख उपस्थित किया तब कहीं इनके कष्टों का निवारण हो सका। इस मत के अनुसार सृष्टि का निर्माण हो जाने पर जो गृह सर्वप्रथम बना वह एकोटा की कंदरा थी जिसके आदर्श पर पीछे अन्य मकान भी बनने लगे। सम्प्रदाय की स्वीकृत साधनाओं में नाम-स्मरण सत्सग तथा समत जीवन को प्रधानता दी जाती है। हुक्म के अंतर्गत

---

१ 'हुमा हौतें हुकमी दास कबीर, पैदायस अमर किया कबीर।
घट घट का पतीर कबीर, अबगत का शिष दास कबीर।
—डॉ पीतांबर दत्त बड़थ्वाल : दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री पृ १ ६१

ले जाना चाहिए।[1] सत वीरभान के गुरु ऊदादास का जीवन-काल डॉ० फर्कुहर के अनुसार इस प्रकार स० १५५७–१५८७ सन् १५००–१५३० के लगभग ठहरता है और यह मान्य भी हो सकता है। किंतु उनका इन्हे सत रविदास का शिष्य भी स्वीकार कर लेना सदिग्ध है। सत रविदास को वे स्वामी रामानद का शिष्य मानते है और स्वामी रामानद का समय स० १४८७–५२७ सन् १४३०–१४७० बतलाते हैं। परन्तु इन दोनो धारणाओ मे से एक भी निर्विवाद नही कही जा सकती। हाँ, यदि ऊदादास को सत रविदास का शिष्य कहना ही हो, तो वह इसी प्रकार सभव है कि वे इनकी शिष्य-परपरा मे रहे होगे। साधो की सत रविदास के प्रति कोई विशेष श्रद्धा भी सूचित नहीं होती, ये लोग कबीर साहब को उनसे अधिक महत्त्व देते हुए दीख पडते है।

साम्प्रदायिक साहित्य

सत वीरभान की रचनाऍ 'बानी' नामक ग्रथ मे सगृहीत समझी जाती हैं और वे पद्य मे है। साधो का एक अन्य मान्य ग्रथ 'आदि उपदेश' है जो गद्य मे है। इसके अतर्गत सम्प्रदाय के प्राय सभी मुख्य-मुख्य नियमो का समावेश किया गया है। तथा जिसके साथ कई अन्य साम्प्रदायिक रचनाए भी सगृहीत पायी जाती है। इसके साथ कई अन्य साम्प्रदायिक रचनाऍ भी सगृहीत पायी जाती हैं। यह ग्रथ जोगीदास की रचना समझा जाता है। परन्तु साधो का सबसे प्रधान ग्रथ 'निर्वान ग्यान' है जो १६ पक्तियो वाले प्राय २५० पृष्ठो की एक पद्यमयी रचना है और जिसमे दोहे तथा चौपाइयॉं सगृहीत हैं। इसमे कुल मिला कर ४२०० पक्तियॉं तथा २३००० शब्द बतलाये जाते है और इसका एक अन्य नाम 'पोथी' भी है जिसे विशेषरूप से गुप्त तथा सुरक्षित रखा जाता। इसकी भाषा अनेक अरबी तथा फारसी शब्दो से मिश्रित हिंदी है जिसमे प्रह्लाद, लक्ष्मण, रामचद्र आदि नामो के अतिरिक्त कबीर, मीरॉं, गोरख, ऊदादास, वीरभान, जोगीदास आदि के कुछ

---

१ महर्षि शिवव्रतलाल का कहना है कि वीरभान ने अपने साध-मत को स० १७१४ में प्रवर्त्तित किया था। ये ब्रजेसर के निवासी थे जो नारनौल के निकट दिल्ली के पूर्व मे पड़ता था, किन्तु जो अब पटियाला के अतर्गत है। उन्होने 'जोगीदास' नाम उदयादास अर्थात् वीरभान के गुरु को दिया है जिन्हे उन्होंने कबीर-पथी भी कहा है। उनका दिया हुआ वीरभान का परिचय इस प्रकार जोगीदास के हमारे उपर्युक्त परिचय से बिल्कुल मिलता-जुलता-सा है। उन्होने साध-सम्प्रदाय तथा सत्तनामी सम्प्रदाय मे भी कोई अतर नहीं माना है और जगजीवन साहब के सत्तनामी सम्प्रदाय से इसे नितात भिन्न भी ठहराया है। —दे० सतमाल, पृ० २६७-२६८।

ऐतिहासिक नाम भी आये हैं। वास्तव में यह ग्रंथ जोगीदास के पीछे की रचना है। ये तीनों ग्रंथ अभी तक हस्तलेखों के ही रूप में हैं। इनके अतिरिक्त दो प्रकाशित ग्रंथों के भी नाम एफिसन साहब ने दिये हैं। इनमें से एक 'साध पंथ' है जो किसी भिखीलाल साध द्वारा ईसाई-धर्म ग्रहण कर लेने पर लिखा गया था। इसमें भारतजी रैदासी गोविंद गरीब कबीर, नामदेवी मीरा बाई, राधा बाई, गोपीचंद चर-जीवन दुर्गादास बीरभान आदि के भिन्न-भिन्न गीत संगृहीत हैं। एक दूसरे ग्रंथ का नाम 'नसीहत की पुड़िया' है जिसके रचयिता कोई उमरावसिंह साध हैं। इसमें १११ पृष्ठों के १४ अध्यायों में उपदेशमय वाक्य लिखे गए हैं। ये अंतिम दोनों पुस्तकें बहुत इधर की रचनाएँ हैं।

सिद्धांत तथा साधना

साध-सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत मत कबीर साहब के सिद्धांतों से बहुत कुछ प्रभावित जान पड़ता है। इसी कारण साध लोग अपने आदिगुरु ऊदादास को भी कबीर साहब के एक अवतार के ही रूप में मानते हैं। दोनों को परमात्मा के प्रतीक भी समझते हैं। कबीर साहब के संबंध में उनका कहना है कि "कबीर दास परमात्मा के संदेश-वाहक थे प्राणिमात्र के नियमन में उसके प्रधान परामर्शदाता थे और उस अवगत के शिष्य तुल्य भी थे।"[1] साध-सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत मत के अनुसार ईश्वर एक निराकार, सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् तथा परम दयालु है जिसे वे 'सतकर' और 'सतनाम' के नाम से पुकारते हैं। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार अन्य किसी को प्रणाम तक भी नहीं करना चाहिए। प्रसिद्ध है कि किसी समय साध-सम्प्रदाय के किसी अनुयायी के सलाम न करने पर सरकारी कर्मचारी बिगड़ खड़े होते थे और उसे दंड तक देने लगते थे। इस कारण कहे-सुने जाने पर एक बार फर्रुखाबाद के जिलाधीश ने इन्हें स० १९ १ में एक प्रमाण-पत्र देकर इनकी रक्षा की थी। फिर अंत में स० १ ५२ जून सन् १८९५ में जब पोलिटिकल एजेंट ने इस सम्प्रदाय के तत्कालीन मुखिया सुमेरचंद तथा सिपारचंद को महारानी विक्टोरिया के सम्मुख उपस्थित किया तब कहीं इनके कष्टों का निवारण हो सका। इस मत के अनुसार सृष्टि का निर्माण हो जाने पर जो गृह सर्वप्रथम बना वह एलोरा की कंदरा थी जिसके आदर्श पर पीछे अन्य मकान भी बनने लगे। सम्प्रदाय की स्वीकृत साधनाओं में नाम-स्मरण सत्संग तथा संयत जीवन को प्रधानता दी जाती है। हृदय के अंतर्गत

---

1. 'हमा होने हस्ती दास कबीर पैदायस ऊपर किया कबीर।
   घट घट का वजीर कबीर अवगत का शिष दास कबीर।'
   —डॉ॰ पीतांबर दत्त बड़थ्वाल : दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोएट्री पृ॰ १०९१

शब्द का अनुभव करने का अभ्यास होना चाहिए जिसके निमित्त 'सत्तनाम' शब्द के प्रति पूरी आस्था का होना भी परमावश्यक है। ऊदादास ने योग को भी महत्त्व दिया। सम्प्रदाय के ग्रथो मे परमात्मा को कही-कही सतगुरु अथवा 'सदा अविगत्त' कहा गया है। उसके मदिरो पर बहुधा 'सत्त अवगत', 'गोरख', 'उदयकवीर'-जैसे कुछ शब्द लिखे या खोदे हुए पाये जाते हैं। सम्प्रदाय वाले महायोगी शिव को भी महत्त्व देते हुए जान पडते हैं। कभी-कभी वे कहते हैं

'सत की भगति महादेव पाई, जग्य जाइ न भीखा खाई'।

इनके यहाँ मूर्ति-पूजा, शपथ-ग्रहण भेष वा किसी प्रकार का भी व्यर्थ का प्रदर्शन निषिद्ध है और व्यक्तिगत साधना ही इन्हे अधिक मान्य है। पूजन यदि ये करते भी हैं तो केवल अपनी उक्त 'पोथी' का ही करते हैं। प्रत्येक पूर्णिमा को ये अपनी स्थानीय चौकी या धार्मिक स्थान पर एकत्र होते हैं। इनका कोई मदिर नही हुआ करता और इनका फर्रुखाबाद, आगरा तथा दिल्ली की प्रधान चौकियो पर उपदेश-दान तथा भडारा हुआ करता है और वहुत-से नये लोग दीक्षित भी हुआ करते हैं।

सदाचरण के नियम

परन्तु साध-सम्प्रदाय वास्तव मे आचरण-प्रधान ही जान पडता है। इसके अनुयायियो का पथ-प्रदर्शन उन १२ कठोर नियमो द्वारा हुआ करता है जिनकी ओर 'आदि उपदेश' मे विशेष ध्यान दिलाया गया है। इसके अक्षरश पालन करने की चेष्टा प्रत्येक साध नित्य प्रति किया करता है। ऐसे नियमो की वास्तविक सख्या ३२ है और ये 'बत्तीस नियम' कहला कर प्रसिद्ध भी हैं, किंतु इनका सार इन १२ नियमो के ही अतर्गत आ जाता है। डॉ० विल्सन ने इन १२ नियमो का एक विवरण दिया है जो उनकी पुस्तक 'दि रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज'[1] मे प्रकाशित है और जिसका उल्लेख उनके अनेक परवर्त्ती लेखको ने भी किया है। इन १२ नियमों का परिचय निम्नलिखित शब्दो मे दिया जा सकता है

(१) केवल एक ईश्वर को मानो और उसी को सृष्टिकर्त्ता तथा सर्वनियता के रूप मे पहचानो। वही सत्य, शुद्ध, अनादि, अनत, सर्वशक्तिमान् तथा 'सत्त अवगत' है।

(२) नम्र तथा विनीत बने रहो और विषयो के प्रति आसक्ति न रखो।

(३) कभी असत्य न बोलो, न किसी के प्रति बुरे शब्दो के प्रयोग करो। अपने हृदयो मे भी कोई दुर्भावना न आने दो, न कभी शपथ लो।

---

१ भा० १, पृ० ३५४-५।

(४) गदी बातें कभी न सुना करो न भजनों के अतिरिक्त किसी प्रकार के संगीत को श्रवण करो। संगीत की सभी सामग्री तुम्हारे भीतर ही वर्तमान है।

(५) किसी भी वस्तु के लिए कभी लालच न करो। जो कुछ हमें मिला है वह सब ईश्वर प्रदत्त है। ईश्वर केवल ध्यान निर्मल जीवन तथा अपने प्रति आत्म समर्पण पर ही प्रसन्न रहा करता है।

(६) यदि कोई पूछे कि तुम कौन हो तो अपने को केवल साध-मात्र बतलाओ। किसी वर्ण वा जाति का नाम न लो। तुम्हारा सच्चा गुरु परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है।

(७) श्वेत वस्त्र पहना करो रंगीन कपड़े मेंहदी सुरमा ललाट पर तिलक अथवा इस प्रकार के अन्य किसी भी चिह्न को धारण न करो। कर्ण-भेद कराना वा दाढ़ी रखना उचित नहीं है।

(८) कभी मादक द्रव्यों का व्यवहार न करो पान अथवा तंबाकू न खाओ। कभी किसी सुगंधित पदार्थ का सेवन न करो। ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य का अभिवादन न करो न किसी के यहाँ कोई नौकरी ही करो।

(९) जीव-हिंसा न करो न किसी से कुछ बलात्कार पूर्वक छीनो। अहिंसा ईश्वर का पहला नियम है। छोटे-छोटे जीवों पर सदा दया करो।

(१) पुरुष केवल एक पत्नी रखे और स्त्री केवल एक पति को ही अपनावे।

(११) विरक्त साधु का वेष-धारण न करो न किसी भिक्षा-वृत्ति स्वीकार करो।

(१२) दिन मास आदि के शुभाशुभ होने वा पक्षियों अथवा पशुओं की बोलियों की शकुनापशकुन मानने का स्वभाव त्याग दो। केवल ईश्वर पर ही भरोसा रखो।

प्रथाएँ

इस सम्प्रदाय के अनुयायी विशेषकर जाट जाति के लोग हुआ करते हैं। इनका मुख्य व्यवसाय छींपी काम का बुनाई, वाणिज्य किसानी तथा जमींदारी है। इनके द्वारा तैयार की गई वस्तुएँ बहुधा देश-विदेश की प्रदर्शिनियों में प्रदर्शित हुआ करती हैं। ये अपने विवाह आदि जैसे कृत्य बड़े सीधे-सादे ढंग से करते हैं और सादा जीवन व्यतीत करते हैं। इनके यहाँ सभी प्रकार के आभूषण निषिद्ध हैं तथा ये किसी व्यसन को भी नहीं अपनाते। इनका मुख्य सहभोज का प्रसार होली के लगभग हुआ करता है। ये अन्य सम्प्रदाय वालों से अधिकतर पृथक रहना ही पसंद करते हैं। आपस में ही बरतन् करते हैं और अपने धर्म की बातें गुप्त रखा करते हैं। साध-सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने पर कोई जात-पाँत का लगाव नहीं रह जाता।

शब्द का अनुभव करने का अभ्यास होना चाहिए जिसके निमित्त 'सत्तनाम' शब्द के प्रति पूरी आस्था का होना भी परमावश्यक है। ऊदादास ने योग को भी महत्त्व दिया। सम्प्रदाय के ग्रथो मे परमात्मा को कही-कही सतगुरु अथवा 'सदा अविगत्त' कहा गया है। उसके मदिरो पर बहुधा 'सत्त अवगत', 'गोरख', 'उदयकवीर'-जैसे कुछ शब्द लिखे या खोदे हुए पाये जाते हैं। सम्प्रदाय वाले महायोगी शिव को भी महत्त्व देते हुए जान पडते हैं। कभी-कभी वे कहते हैं

'सत की भगति महादेव पाई, जग्य जाइ न भीखा खाई'।

इनके यहाँ मूर्ति-पूजा, शपथ-ग्रहण भेष वा किसी प्रकार का भी व्यर्थ का प्रदर्शन निषिद्ध है और व्यक्तिगत साधना ही इन्हें अधिक मान्य है। पूजन यदि ये करते भी है तो केवल अपनी उक्त 'पोथी' का ही करते हैं। प्रत्येक पूर्णिमा को ये अपनी स्थानीय चौकी या धार्मिक स्थान पर एकत्र होते हैं। इनका कोई मदिर नही हुआ करता और इनका फर्रुखाबाद, आगरा तथा दिल्ली की प्रधान चौकियो पर उपदेश-दान तथा भडारा हुआ करता है और बहुत-से नये लोग दीक्षित भी हुआ करते हैं।

सदाचरण के नियम

परन्तु साध-सम्प्रदाय वास्तव मे आचरण-प्रधान ही जान पडता है। इसके अनुयायियो का पथ-प्रदर्शन उन १२ कठोर नियमो द्वारा हुआ करता है जिनकी ओर 'आदि उपदेश' मे विशेष ध्यान दिलाया गया है। इसके अक्षरश पालन करने की चेष्टा प्रत्येक साध नित्य प्रति किया करता है। ऐसे नियमो की वास्तविक सख्या ३२ है और ये 'बत्तीस नियम' कहला कर प्रसिद्ध भी हैं, किंतु इनका सार इन १२ नियमो के ही अतर्गत आ जाता है। डॉ० विल्सन ने इन १२ नियमो का एक विवरण दिया है जो उनकी पुस्तक 'दि रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज'[1] मे प्रकाशित है और जिसका उल्लेख उनके अनेक परवर्त्ती लेखको ने भी किया है। इन १२ नियमो का परिचय निम्नलिखित शब्दों मे दिया जा सकता है

(१) केवल एक ईश्वर को मानो और उसी को सृष्टिकर्त्ता तथा सर्वनियता के रूप मे पहचानो। वही सत्य, शुद्ध, अनादि, अनत, सर्वशक्तिमान् तथा 'सत्त अवगत' है।

(२) नम्र तथा विनीत बने रहो और विषयो के प्रति आसक्ति न रखो।

(३) कभी असत्य न बोलो, न किसी के प्रति बुरे शब्दो के प्रयोग करो। अपने हृदयो मे भी कोई दुर्भावना न आने दो, न कभी शपथ लो।

---

१. भा० १, पृ० ३५४-५।

संख्या में पाये जाते हैं। मथुरा बरेली मेरठ तथा शाहजहाँपुर की देहातों में भी रहा करते हैं। इसके सिवाय दिल्ली प्रांत तथा पंजाब प्रांत के रोहतक जिले और सिंध जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, भरतपुर तथा बड़ौदा की रियासतों में भी ये लोग अपने वाणिज्य-व्यवसाय के कारण बिखरे हुए देखे जाते हैं।

३ लाल-पंथ

संत लालदास

संत लालदास का जन्म सं० १५९७ में हुआ था। इनका जन्म-स्थान धौलीधूप नाम का एक गाँव है जो अलवर के राज्य में वर्तमान है। इनके पूर्वज मेव अथवा मेओ जाति के थे जो अधिकतर लूटपाट आदि जैसे निदनीय कामो के लिए भी आज तक प्रसिद्ध हैं। इनके माता-पिता की आर्थिक स्थिति अत्यंत साधारण थी। इनका भरण-पोषण उन्ही के साथ रह कर पहले धौलधूप में हुआ था। कुछ बड़े होने पर ये आसपास के जंगलों से लकड़ियाँ काट और उन्हे देहात में बेच कर अपना जीवन व्यतीत करने लगे। परन्तु कुछ साधुओं के संपर्क में आ जाने के कारण अपने बाल्य-काल से ही इनकी प्रवृत्ति धार्मिक रूप ग्रहण करने लग गई थी अतएव अपनी युवा-वस्था में भी इन्होने उस भाव का त्याग नही किया। एक मेव जाति के लकड़हारे का उक्त धार्मिक आचरण आश्चर्य की बात होने के कारण चारो ओर प्रसिद्ध हो चला। उनका नाम क्रमशः दूर-दूर तक फैलने लगा यहाँ तक कि तिजारा नामक स्थान के निवासी फ़कीर गद्दन चिश्ती ने आकर इनसे अनुरोध किया कि आप लोगो को उपदेश देना भी आरंभ कर दीजिए। संत लालदास को यह बात अच्छी लगी। अपने दैनिक कार्यक्रम से कुछ समय निकाल कर ये हिन्दुओं तथा मुसलमानों को अपने मतानुसार शिक्षा देने लगे। ये कुछ पढ़े-लिखे नही थे किंतु सत्संग और सद्विचारों की साधना से इनका आचरण शुद्ध हो गया था। ये सबको एक साथ मिल कर सात्विक जीवन बिताने तथा परोपकार करते रहने के ही उपदेश देते थे।

जन-सेवा का कार्य

संत लालदास ने उक्त फ़कीर के साथ बातचीत होने के कुछ ही दिनो पीछे अपने जन्म-स्थान का त्याग भी कर दिया। अलवर से १६ मील की दूरी पर कुछ उत्तर-पूर्व की दिशा में जाकर रामगढ़ परगने के बाँदोली गाँव में ये आ बसे। वहीं एक पहाड़ की चोटी पर कुटी बना कर ये रहा करते थे और अपने जीवन-निर्वाह का कार्य प्रायः पूर्ववत् ही करते हुए लोक-सेवा मे भी प्रवृत्त हो जाते थे। कड़ी-से-कड़ी धूप होने पर भी ये वहाँ से निकल पड़ते और दीन-असहाय रोगियों की चर्या मे अपना समय लगाते। इनके जीवन का प्रभाव क्रमशः अन्य लोगों पर भी पड़ने लगा और बहुत-से मनुष्य इनके यहाँ आकर इनका शिष्यत्व स्वीकार

किंतु सभी अनुयायी अपने सम्प्रदाय वालो मे ही विवाह करते हैं और एक ही घर मे फिर दुबारा सबध नही जोडते। बाल-विवाह इनके यहाँ हो सकता है, किंतु बहु-विवाह की प्रथा नितात वर्जित है और दहेज का लेन-देन भी अमान्य है। विवाह प्राय स्त्री के परिवार की ओर से ही निश्चित होता है। वर-पक्ष का आदमी कन्या के पिता के यहाँ जाता है और स्वीकृति मिल जाने पर मँगनी पक्की कर आता है। उसे उस समय मिठाई खिलायी जाती है और दूध भी पिलाया जाता है। कन्या का पिता ही विवाह का दिन भी निश्चित करता है और वर-पक्ष अपने सबधियो को उसकी सूचना देता है। सूचना लानेवाला प्राय एक रुपया और एक पगडी पाता है। कन्या का पिता मध्याह्न के समय अपने यहाँ एक भोज देता है। बाराती एक सफेद चादर पर बिठलाये जाते हैं। वर-कन्या आमने-सामने कर दिये जाते हैं और सभी लोग कुछ समय तक ध्यान लगा कर बैठते हैं। फिर वर-कन्या ग्रथि बधन करके एक वेदी की चारो ओर घूमने लगते हैं और सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति खडा होकर उनसे ऊँचे स्वर मे पूछता है, "साध सोध की पायी ?" जिस पर सभी बोल उठते हैं, "पायी"। फिर दूसरा प्रश्न होता है, "सब पचो को भाई ?" इसका उत्तर मिलता है, "भाई"। इसके अनतर वधू वर के घर चली जाती है। इस विधि मे कोई पडित वा पुरोहित नही रहा करता। इसमे केवल मगल के गीत गाये जाते हैं। स्त्रियो का चरित्र भ्रष्ट हो जाना बहुत बडा अपराध माना जाता है। इसके लिए साधो की एक सभा बुलायी जाती है और बातो के प्रमाणित हो जाने पर सबध-विच्छेद कर दिया जाता है।

प्रचार-क्षेत्र

सत वीरभान ने अपने मत का प्रचार कदाचित् फर्रुखाबाद, मिर्जापुर आदि की ओर ही अधिक किया था। जोगीदास ने पजाब, दिल्ली, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के कुछ पश्चिमोत्तरवर्त्ती जिलो मे अधिक भ्रमण किया था। अतएव शुद्ध साध-सम्प्रदाय तथा साध-सत्तनामी सम्प्रदाय के क्षेत्र यदि पृथक्-पृथक् माने जायँ, तो उन्हें इसी के अनुसार समझ सकते हैं। सत वीरभान के विशुद्ध अनुयायियो का प्रधान केन्द्र फर्रुखाबाद ही जान पडता है। इस नगर के जिस खड मे ये लोग रहा करते हैं। वह 'साध-वाडा' कहला कर प्रसिद्ध है और यह नाम उस समय स० १७७१ · सन् १७१४, से चला आता है, जब यह पहले पहल बादशाह फर्रुखसियर द्वारा बनाया गया था। कहा जाता है कि यहाँ के साधो से आकृष्ट होकर स्वामी दयानद इस नगर मे छह या सात बार आये थे। एक बार जब उन पर वहाँ के सनातनी हिन्दुओं ने आक्रमण किया था, तब यहाँ के साधो ने उनकी बडी सहायता की थी। साध लोग उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले मे भी एक अच्छी

भी कहा जाता है कि उन्होंने हरि के अतिरिक्त किसी अन्य देवता में कभी अपनी श्रद्धा नहीं रखी। संत लालदास का देहांत सं० १७०५ में हुआ। इनका शव नगला गाँव में समाधिस्थ किया गया जो भरतपुर राज्य के अंतर्गत किंतु अलवर राज्य की सीमा के निकट ही पड़ता है जो इनके अनुयायियों द्वारा आज भी तीर्थ-स्थान की भाँति पवित्र माना जाता है।

चमत्कार

संत लालदास के संबंध में अनेक प्रकार की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें से कई एक में इनके विविध चमत्कारों की चर्चा भी की गई है। ये चमत्कार प्रायः वैसे ही हैं, जैसे अन्य संतों के जीवन की घटनाओं में भी सम्मिलित किये गए दीख पड़ते हैं जिनमें विश्वास करने को सभी लोग तैयार नहीं होते। प्रसिद्ध है कि किसी समय तिजारा के हाकिम 'साहिब हुकम' के यहाँ जाकर किसी ने कह दिया कि लालदास मुसलमानों की भाँति प्रार्थना नहीं करता न स्नान ही करता है अपितु सबको एक ही प्रकार के उपदेश भी देता है। इस पर हाकिम ने इन्हें तलब किया और ये अपने १२ शिष्यों के साथ उसके सामने उपस्थित किये गए। उसने इन लोगों के साथ अच्छा व्यवहार किया किंतु जब इनकी परीक्षा के लिए इनके सामने मुसलमानों की भाँति खाने के लिए माँस रखा गया। इन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया तब सभी रात को जेल में बंद कर दिये गए जहाँ से जनश्रुति के अनुसार ये शिष्यों के साथ अंतर्हित होकर निकल आये। इसी प्रकार प्रसिद्ध है कि आगरे के किसी व्यापारी ने अपने माल से भरे जहाज के सकुशल लौट आने का आशीर्वाद इनसे माँगा जिसे इन्होंने सहर्ष दे दिया। किंतु जब ऐसा हो जाने पर उसने इसके बदले इन्हें कुछ द्रव्यादि देना चाहा तब इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। उसे परामर्श दिया कि सब कुछ साधुओं में वितरित कर दो। इस घटना का प्रभाव आगरे के ही किसी कायस्थ पर भी पड़ा जो शरीर का कोढ़ी था। किंतु धन तथा प्रतिष्ठा में बहुत बढ़ा-चढ़ा था और जिसने श्रद्धालु के रूप में इनसे सहायता लेनी चाही। संत लालदास ने उसे आदेश दिया कि अपनी सारी संपत्ति लुटा दो। उसके प्रभाव-स्वरूप अपने अहंकार की निवृत्ति के उपलक्ष में अपना मुँह काला कर गधे पर सवार हो अपनी पीठ पर जूता लटका कर चारों ओर घूमो। प्रसिद्ध है कि उसका अनुसरण करते ही त्रिवेणी में स्नान कर वह पूर्ववत् नीरोग हो गया।[1] उक्त दोनों व्यक्ति अपने प्रति किये गए उपकारों के कारण इनके परम भक्त बन गए। ऐसे ही

---

१ एच० ए० रोज़ : ए ग्लासरी ऑफ दि ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि पंजाब ऐंड नार्थ वेस्ट फ्रंटियर प्राविंस भाग ३, पृ० २५।

करने लगे। यहाँ तक कि थोडे दिनो के ही अनतर इनके साथियो की सख्या वहुत वडी हो चली। कतिपय झूठे शिष्यो तथा दुराचारियो से अपना पिंड छुडाने के लिए इन्हे तात्कालिक सरकार से सहायता तक लेनी पडी। इस कारण इनकी मडली से वाहर निकाले गए लोग इनके विरोधी वनने लगे। ऐसे ही विरोधी व्यक्तियो मे से कुछ ने कई वार जाकर वहाँ के हाकिमो को भी वहका दिया। इससे वे इनके कार्यों को सदेह की दृष्टि से देखने लगे और इन्हे उनके हाथो कभी-कभी कष्ट भी सहने पडे। कहा जाता है कि एक वार किसी दूसरे की स्त्री के साथ छेडछाड करने के कारण एक मुग़ल को इन्होने डाँटा-फटकारा और इनके किसी शिष्य ने आवेश मे आकर उसकी हत्या तक कर डाली। इसका सारा दायित्व इन्ही के सिर मढा गया और अपने साथियो के साथ ये वहादुरपुर स्थान पर बुलाये गए। वहादुरपुर मे उस समय कोई सरकारी पदाधिकारी रहता था। वह स्थान इनके यहाँ से कुछ मील दूर भी पडता था। फिर भी इनके सभी साथी वहाँ जाकर फौजदार के सामने हाजिर हुए। उसमे हिन्दुओ तथा मुसलमानो की वहुत वडी सख्या देख कर उसे अत्यत आश्चर्य हुआ। उसने इसी कारण इनसे प्रश्न किया कि तुम कौन और क्या हो। इन्होने उसके प्रश्न को ही मूर्खतापूर्ण वतलाते हुए उत्तर मे कह दिया कि मुझे पता नही कि मैं सचमुच क्या हूँ। केवल इतना ही जानता हूँ कि इस शरीर के पहनावे को मैंने मेव जाति मे पाया है। इस पर फौजदार ने विगड कर सभी को पाँच-पाँच रुपये जमा करने का दड दिया। जव इन्होने ऐसा करने से इनकार कर दिया, तव उसने आज्ञा दी कि इनमे से प्रत्येक को किसी विषैले कुएँ का पानी पिलाया जाय। परन्तु प्रसिद्ध है कि उस कुएँ का पानी पीने पर भी इनके वा इनके शिष्यो का कुछ भी नही विगडा। उस कुएँ का पानी ही मीठा हो गया और वह आज भी अपनी जगह 'मीठा कुआँ' के नाम से उस प्रदेश मे विख्यात है।

परिवार तथा अतिम समय

सत लालदास को उपर्युक्त जैसी वातो से वाध्य होकर वाँदोली गाँव छोड देना पडा। ये वहाँ से जाकर टोडी गाँव मे जा वसे जो अलवर राज्य की सीमा के ही निकट गुडगाँव जिले मे पडता है। किंतु, वहाँ भी इनके विरोधियो ने इनका पीछा न छोडा। उस गाँव को भी छोड कर इन्हें अन्यत्र नारोली नामक स्थान मे चला जाना पडा। अत मे, वहाँ भी सताये जाने पर ये रसगाँव अथवा रामगढ चले गये जहाँ कुछ अधिक दिनो तक निवास करते रहे। ये विवाहित थे और इन्हे पहाड नामक एक पुत्र तथा स्वरूपा नाम की एक पुत्री थी। इनके परिवार मे इसी प्रकार इनके दो भाई भी थे जिनके नाम शेर खाँ और गौस खाँ थे। इनके पुत्र-पुत्री के लिए प्रसिद्ध है कि वे आगे चल कर अच्छे महात्मा हुए। इनके भाइयो के लिए

प्रधानता देते हैं। संत मलूकदास की रचनाओं को बड़े प्रेम तथा श्रद्धा के साथ गाया करते हैं। ये परमात्मा को 'राम' ही कहते हैं। संत मलूकदास का कहना था कि अपने बड़प्पन वा किसी प्रकार के चमत्कार का प्रदर्शन घमंड की बातें हैं। ये हवा की भाँति उड़ जाते हैं। केवल नम्रता तथा पवित्रता मनुष्य को ऊँचा उठाने के लिए पर्याप्त हैं और ये ही स्थायी रूप में रह सकती हैं। सच्चे मलूकदासी का आदर्श ऐसा ही जीवन होना चाहिए।

४ दादू-पंथ

(१) संत दादूदयाल

उपलब्ध सामग्री

संत दादूदयाल की जीवनी अभी तक विशुद्ध ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर लिखी गई नहीं मिलती। न आज तक ऐसा कोई ग्रंथ देखने को मिला जिसे दादू-पंथ का इतिहास कहा जा सकता हो। पंथ के अनुयायियों द्वारा लिखित ऐसी पुस्तकों में सबसे प्रसिद्ध 'श्री दादू जन्मलीला परची' तथा राघोदास की 'भक्तमाल' कही जा सकती हैं। इनके देखने से हमें अधिकतर पौराणिक तथा काल्पनिक परिचय मिलता है जिससे सब किसी को पूरा संतोष नहीं हो पाता। जनगोपाल दादूदयालजी के ५२ शिष्यों में से एक थे और उनका देहांत हो जाने के पीछे तक जीवित रहे। इनके लिए कहा जाता है कि ये अपने गुरु द्वारा छोड़ी गई टोपी चरण-पादुका आदि वस्तुओं की सुरक्षा के लिए निर्मित 'पालकी जी' के प्रथम पुजारी भी थे। इसके सिवाय इन्होंने अपनी उक्त 'परची' के अंतर्गत यह भी कहा है कि "मैंने स्वामी जी की यह जन्म-कथा कहते समय केवल सच्ची बातें ही बतलायी हैं असत्य कुछ भी नहीं कहा है। जैसा सुना है, वैसा ही कह डाला है।"[1] इससे उसके प्रामाणिक होने की संभावना है। इसी प्रकार राघोदास भी दादूदयाल के शिष्य बड़े सुंदरदास के शिष्य प्रह्लाददास के पौत्र शिष्य कहे जाते हैं। इनकी 'भक्तमाल' (रचना-काल सं० १७१७) संत-परंपरा का परिचय देनेवाले ग्रंथों में बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाती आई है। यह पुस्तक संत दादूदयाल तथा उनके शिष्य प्रशिष्यों के संबंध में बहुत कुछ प्रकाश डालती है। परन्तु इन दोनों ही रचनाओं में चमत्कारपूर्ण घटनाओं तथा साम्प्रदायिक किंवदंतियों को ही विशेष महत्त्व दिया गया जान पड़ता है। इनके द्वारा हमारी सभी जिज्ञासाओं की पूर्ति नहीं हो

---

१ 'जन्मकथा स्वामी की गाई। मिथ्या नाहीं अर्थ पराई॥
झूठा वचन एक नहिं भाख्या। जैसा सुना सु तैसा भाख्या॥१४॥
—श्री दादू जन्मलीला परची जयपुर, सं० २ ६ पृ० १।

लोगो मे इनका एक शिष्य मनसुखा माली भी था जो लछमनगढ परगने के मौजपुर गाँव का निवासी था ।

रचनाएँ तथा विचार

सत लालदास ने समय-समय पर अनेक वाणियो की रचना की थी । इनका एक सग्रह 'लालदास की चेतावणी' के नाम से जयपुर के पुरोहित हरिनारायणजी के पुस्तकालय मे हस्तलिखित रूप मे सुरक्षित है। उनके अतिरिक्त इनके कुछ दोहे फुटकर रूप मे ही भी इधर-उधर मिलते है । इनके सिद्धात कबीर साहब की विचार-धारा द्वारा पूर्णत प्रभावित जान पडते हैं। इनके उपदेशो मे कही-कही दादूदयाल की रचनाओ के साथ भी समानता लक्षित होती है । इनका सबसे अधिक ध्यान अत करण की निर्मलता तथा आचरण की शुद्धि की ओर ही केन्द्रित जान पडता है । इनका कहना है कि "सत्य की अनुभूति को ही अपने दैनिक जीवन का विषय बनाना चाहिए । इसी से भगवान् प्रसन्न रहता है । परन्तु इस सिद्धात को बिरले पुरुष ही कभी अपने व्यवहार मे लाया करते हैं।"[1] इसी प्रकार भिक्षावृत्ति को हेय बतलाते हुए और स्वावलबन का उपदेश देते हुए ये सच्चे साधु तथा भगत के लक्षणो की चर्चा इस प्रकार करते हैं कि "किसी भक्त को राजा-रानी तक से भीख माँगते हुए लज्जा तथा दु ख का अनुभव करना चाहिए । आदर्श साधु तो वह है जो अपने से कमा कर जीवन व्यतीत करता है, अपने हृदय को भगवान् की भक्ति मे भी लीन रखता है और किसी के घर किसी स्वार्थवश जाने का नाम नही लेता ।"[2] साधुओ को ऐसे ही शब्दो मे इन्होने चरित्र-बल का सचय करने के लिए भी कहा है ।

लाल-पथ

लाल-पथ के अनुयायी अलवर राज्य और उसके आसपास विशेषकर मेव जाति मे ही पाये जाते हैं । मेव जाति वाले नाम-मात्र के ही मुसलमान होते हैं । उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार आदि प्राय हिन्दुओ के समान ही दीख पडते हैं । इस पथ के अनुयायी राम-नाम के जप तथा कीर्त्तन को सबसे अधिक

---

१ लालजी हक खाइये हक पीइये, हक की करो फरोह ।
इन बातो साहिब खुशी, विरला बरते कोय ॥

२ 'लालजी भगत भीख न मागिये, मागत आवे शरम ।
घर घर टांडत दु ख है, क्या बादशाह क्या हरम ॥'

तथा 'लालजी साधु ऐसा चाहिए, धन कमाकर खाय ।
हिरदे हर की चाकरी, पर घर कभू न जाय ॥'

व्यक्ति को एक 'सौदागर' मात्र कह कर ही रह जाते हैं।[1] परन्तु उनमें से कुछ का कहना है कि वे वास्तव में उक्त लोदीराम ब्राह्मण के औरस पुत्र थे। इनकी माता भी बसीबाई नाम की एक ब्राह्मणी ही थी। इसके विपरीत अन्य बहुत-से लोग इस बात में पूरा विश्वास करते नहीं जान पड़ते और इसे वर्ण व्यवस्था के प्रशंसकों की कल्पना मात्र मानते हैं। इनका कहना है कि दादूदयाल का ब्राह्मण होना तो किसी प्रकार प्रमाणित नहीं होता उनका हिन्दू होना तक भी सिद्ध नहीं है। इस विचार वाले लोगों ने इन्हें मुसलमानी धुनिया जाति का होना बतलाया है और इनका पूर्वनाम 'दाऊद' तक भी माना है। इसी प्रकार इनके पिता का नाम सुलेमान और इनके गुरु का नाम बुरहानउद्दीन कहा जाता है। इनकी स्त्री को भी 'हव्वा' नाम से अभिहित करते हैं। किन्तु द्विवेदी जी ने दादूदयाल को धुनिया की जगह मोची माना है। इसके लिए उन्होंने इनकी ही एक रचना उद्धृत की है।[2]

इससे स्पष्ट है कि दादू अपने को 'मोट महाबली' अर्थात् पानी खींचने के लिए चमड़े की मोट सीनेवाला महाबली नामक मोची बतलाते हैं। परन्तु केवल 'मोट' शब्द का अर्थ यहाँ 'मोची' कैसे हो गया यह बात समझ में नहीं आती न महाबली का व्यक्तिवाचक संज्ञा होना इनकी किसी अन्य रचना द्वारा किसी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। इसके विपरीत दादूदयाल के धुनिया जाति का वंशज होने का प्रमाण इनके शिष्य रज्जबजी के कथन से भी मिलता है।[3]

इसके सिवाय जमाली बालकों की वंदना वाले एक वाक्य[4] द्वारा इनके पूर्व नाम दाऊद होने की भी पुष्टि हो जाती जान पड़ती है। कारण कम-से-कम इनके मुसलमान होने में संदेह को स्थान नहीं मिलता। दादूदयाल जी के दो पुत्रों के नाम गरीबदास और मिस्कीनदास तथा इनकी दो पुत्रियों के नाम अब्बा और सब्बा भी इसी ओर संकेत करते हैं।

---

१ 'नगर अहमदाबाद मंझारा। सौदागर इक परम उदारा ॥१२॥'—पृ० ४।

२ 'सांचा समरथ गुरु मिल्या तिन तत दिया बताय।
दादू मोट महाबली सब घृत मथि करि खाय ॥१४॥'
—दादूदयाल की बानी भा० १ बेलवेडियर प्रेस प्रयाग पृ० ४।

३ 'धुनि ग्रभे उत्पन्नो दादू योगेन्द्रो महामुनिः।
उत्तम जोग धारनम् तस्मात् क्यं न्यासि कारणम्।'
—रज्जब जी की सर्वांगी साध महिमा को अंग।

४ 'धीपुरुष दाऊद बदि दादू धीर नाम।'
—क्षितिमोहन सेन : दादू, पृ० १७ पर उद्धृत।

पाती। इस सबंध में इधर के लिखनेवालों में चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी और आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा डॉ० ऑर (W. G Orr) के नाम लिये जा सकते हैं। किंतु इनके यहाँ भी अधिकतर अनुमान से ही काम लिया गया प्रतीत होता है। अतएव दादूदयाल जी तथा दादू-पंथ के विषय में चर्चा करते समय ऐसी सभी सामग्रियों से सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। इन सबके पूरक रूप में हमें उस 'संक्षिप्त परिचय' की ओर भी ध्यान देना पड़ता है जो पंथ द्वारा प्रकाशित 'रजत जयंती ग्रंथ' के 'इतिहास खण्ड' का अंग है।

दादूदयाल का जन्म-स्थान

दादू-पंथ के अनुयायियों के अनुसार दादूदयाल जी का जन्म गुजरात प्रदेश के प्रसिद्ध अहमदाबाद नगर में हुआ था। उनका यह भी कहना है ये एक छोटे-से बालक के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लोदी राम नामक किसी नागर ब्राह्मण को मिले थे। 'परची' के रचयिता, जनगोपाल ने भी अहमदाबाद को ही इनके 'प्रकट होने' का श्रेय दिया है।[1] परन्तु कहते हैं कि इनकी जन्म-भूमि होने का कोई भी चिह्न अहमदाबाद नगर वा उसके निकट नहीं मिलता। इस विषय में वहाँ पर खोज-पूछ करनेवालों को वहाँ के निवासियों के तत्संबंधी अज्ञान वा अधिक से अधिक उदासीनता का ही परिचय मिलता है, कोई सफलता नहीं मिलती।[2] 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित दादूदयाल जी की रचनाओं के संपादक पंडित सुधाकर द्विवेदी का अनुमान रहा कि इनका जन्म-स्थान अहमदाबाद न होकर जौनपुर था। इसके लिए उन्होंने कुछ कल्पनाएँ भी की थीं। परन्तु इनके जीवन की विविध घटनाओं तथा इनकी भाषा-जैसी बातों पर विचार करने से उनके इस कथन से सहमत होना उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में इनके जन्म-स्थान के लिए किसी स्थान-विशेष का निर्दिष्ट किया जाना अभी तक संभव नहीं प्रतीत होता, न इस संबंध में अंतिम निर्णय दिया जा सकता है।

इनकी जाति

इसी प्रकार दादूदयाल जी की जाति तथा कुल के संबंध में भी कुछ-न-कुछ मतभेद पाया जाता है। जिन दादूपंथियों ने इनके बालक रूप में साबरमती नदी में बहते हुए पाये जाने की कल्पना की है वे इनकी मूल जाति की कोई चर्चा न करके इनके एक ब्राह्मण द्वारा पोषित होने का ही अनुमान करते हैं। जनगोपाल उस

---

१. पच्छिम दिसा अहमदाबादू। तीं ठां साध परगटै दादू ॥६॥ —विश्राम ९, पृ० २।

२ क्षितिमोहन सेन दादू, उपक्रमणिका, पृ० ११-२।

हमारी प्रतीक्षा में खड़े विद्यमान हैं। फिर भी हमारी दृष्टि तक उनकी ओर नहीं जाती न हम उनके अस्तित्व से प्रभावित हो पाते हैं। नवयुवक दादू के हृदय पर उनके इन शब्दों ने विद्युत् की भाँति प्रभाव डाला और वह उस वृद्ध साधु के चरणों पर गिर कर उनका शिष्य बन गया।

वृद्धानंद कौन ?

उक्त साधु का नाम दादूदयालजी ने स्वयं कहीं पर भी नहीं बतलाया है किन्तु इनके शिष्यों ने उसे 'वृद्धानंद' कहा है।[1] इन्होंने स्वयं इस संबंध में केवल इतना कहा है कि "अंधकारमय प्रदेश में मेरे गुरु ने मेरे सिर पर हाथ रखा मुझे उनका प्रसाद मिल गया तथा मुझे उस अगम अगाध की दीक्षा भी प्राप्त हो गई।"[2] इस कथन द्वारा किसी पुरुष विशेष की ओर किया गया इनका कोई स्पष्ट संकेत लक्षित नहीं होता प्रत्युत अन्य अनेक प्रसंगों द्वारा हमें ऐसा भी प्रतीत होता है कि वे किसी अलौकिक व्यक्ति अथवा स्वयं भगवान् के लिए ही ऐसे उद्‌गार प्रकट कर रहे हैं। फिर भी कुछ लोगों ने उन वृद्धानंद को बुड्ढन का नाम देते हुए,उन्हें कबीर साहब की शिष्य परंपरा के भी अंतर्गत स्थान दिया है। उनका अनुमान है कि यह नाम क्रमशः कबीर, कमाल, जमाल, विमल और बुड्ढन के अनुसार, उनसे पाँचवीं पीढ़ी में आता है।[3] परन्तु ऐसे किसी बुड्ढन का वा वृद्धानंद का भी उस समय अर्थात् सं १६१९ के लगभग वर्तमान रहना किन्हीं अन्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध होता नहीं जान पड़ता। इस प्रकार कुछ लोगों का 'बुड्ढन बाबा मू कहीं न्यू कबीर की सीख' वाला कथन बहुत कुछ निराधार जान पड़ता है। इसके विपरीत डॉ ओर का मत है कि सम्राट् अकबर के समय में एक शेख बुड्ढन वास्तव में विद्यमान थे जो सूफियों की क़ादिरी शाखा के अनुयायी थे। इनके पिता का नाम क़ाज़ी इस्माइल था जिनके पूर्व पुरुष मुगल बादशाहों के यहाँ क़ाज़ी के पद पर काम करते आये थे तथा इस शेख बुड्ढन के वंश वाले इस समय तक भी साँभर में पाये जाते हैं। डॉ ओर ने इस बात का निर्विवाद रूप से सिद्ध होना कहा है।[4]

---

१ "दीव माहि गुरुदेव मिला, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरा कर धरा, दख्या अगम अगाध ॥१॥
उदाहरण के लिए देखिए संत सुंदरदास का ग्रंथ 'गुरु सम्प्रदाय' पद्य ८ ११
—सुंदर ग्रंथावली भा १ पृ १९८।

२ दादूदयाल की बानी भा० १ बे प्रे पृ १।

३ एच एच् विल्सन रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज पृ १ ३।

४ डॉ डब्ल्यू जी ऑर : ए सिक्स्टीथ सेंचुरी इंडियन मिस्टिक, लंदन, १९४७ ई पृ ५४।

जीवन-काल

दादूदयाल जी के जीवन-काल के विषय मे प्राय सभी एकमत जान पडते हैं। इनके जन्म का समय फाल्गुन सुदी ८ बृहस्पतिवार, स० १६०१ सन् १५४४ ई० सभी मानते हैं तथा इनके मृत्यु-दिवस का भी ज्येष्ठ वदी ८ शनिवार स० १६६० सन् १६०३ ई० होना सभी स्वीकार करते है। इस प्रकार इनका जीवन-काल मुगल सम्राट अकवर के जीवन-काल स० १५९९-१६६२ के वीच मे पडता है। इनका मृत्यु-स्थान भी सर्वसम्मति से नराणे (नारायणग्राम) समझा जाता है। वहाँ पर दादूदयाल पथियो का मुख्य दादूद्वारा विद्यमान है, जहाँ प्रधान मठ तथा तीर्थ-भूमि के उपलक्ष मे प्रति वर्ष फागुन महीने की शुक्ला चतुर्थी से लेकर उसकी पूर्णिमा तक एक वडा मेला भी लगा करता है। वहाँ की गद्दी पर इस समय पथ का मुख्य मान्य ग्रथ दादूदयाल जी का 'वानी ग्रथ' रखा रहता है जिसकी विधिवत् पूजा होती है।

इनके गुरु

सत दादूदयाल जी के जीवन-काल की सवमे महत्त्वपूर्ण वह समझी जाती जव इनकी अपने गुरु से भेंट हुई थी। प्रसिद्ध है कि उस समय ये केवल लगभग ११ वर्ष के थे और अन्य वालको के साथ कॉकरिया तालाव पर खेल रहे थे। इसी समय वहाँ अचानक आकर किसी वृद्ध साधु ने इनसे भिक्षा माँगी। इनके तदनुसार भीख दे देने के अनतर इनके मुख मे पान की पीक डाल दी। उस समय इनके ऊपर इसका कदाचित् कुछ भी प्रभाव नही पडा। किंतु जव ये १८ वर्ष के हो गए तव उसी वृद्ध साधु ने इन्हे फिर एक वार दर्शन दिये। अवकी वार उसने इनके भीतर एक विचित्र कायापलट-सा कर दिया। कहा जाता है कि इस वार ये अपने पैतृक व्यवसाय मे लगे बैठे हुए थे और ये उसमे इतने व्यस्त थे कि इन्हे अपने द्वार पर खडे हुए उक्त साधु के अस्तित्व का भान तक भी नही हुआ। उस समय इनके मकान अथवा मढी के वाहर वर्षा की झडी लगी हुई थी और सव कही अन्य प्रकार से बहुत कुछ शाति का ही अनुभव हो रहा था। नवयुवक दादूदयाल ने जव अपना सिर यो ही उठाया और उसे अपने सामने साधु की सौम्य मूर्ति एकाएक दीख पडी तव वह कुछ स्तब्ध-सा हो गया। उसने सकोच भाव के साथ अपने उस अतिथि को भीतर आकर वैठ जाने का अनुरोध किया। साधु दादू के अनुरोध पर उसके दिये हुए आसन पर वैठ गये, किंतु उनके नेत्रो से अश्रु-प्रवाह चलता हुआ दीख पडा। जव दादू ने इसका कारण पूछा तो उन्होने वतलाया कि मैं तुम्हारे द्वार पर केवल कुछ ही समय तक खडा रहा जिसके कारण मेरे स्वागत के लिए तुम्हे इतनी श्रद्धा प्रदर्शित करनी पडी। किंतु न जाने कितने युग-युगातर से भगवान् हमारे जीवन-प्रदेश की छोर पर

नाम ऐसे वर्ग का वास्तविक संबंध क्या है ? यह भी कि उपर्युक्त शेख बुड्ढन ने दादूदयाल जी को क्या कभी दीक्षित किया था ? जहाँ तक मरने वाले महंतों के लिए साँभर में काजियों की ओर से सूफी पहनावा भेजे जाने की बात है इसका समर्थन कहीं से नहीं मिलता । अतएव यथेष्ट सामग्री के अभाव में इस बात को निर्विवाद रूप में स्वीकार कर लेना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता कि बुड्ढन चाहे वे कबीर साहब की शिष्य-परंपरा में रहे हों अथवा शेख बुड्ढन के रूप में कादिरी सूफी हों दादूदयाल के गुरु थे ।

प्रारंभिक जीवन

दादू दयालजी को कोई पढ़ने-लिखने की शिक्षा दी गई थी या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भी हमारे पास कोई आधार नहीं। इनकी रचनाओं में निहित गंभीर भावों के ऊपर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका आध्यात्मिक अनुभव बहुत गहरा था । उसे व्यक्त करते समय इन्होंने जैसी भाषा तथा शैली का प्रयोग किया है उससे भी इनकी योग्यता का पता चलता है। हमें ऐसा लगता है कि इन्हें एक सफल कवि कह डालने में भी कोई अड़चन न होगी । परन्तु, फिर भी इस विचार से कि उक्त प्रकार की पहुँच स्वानुभूति की साधना तथा सत्संग के अनुकूल वातावरण द्वारा भी संभव हो सकती है । कबीर साहब तथा गुरु नानकदेव-जैसे अन्य अशिक्षित वा अर्द्धशिक्षित व्यक्ति भी ऐसे ही हो चुके हैं । हमें इनके 'अक्षर परिचयहीन साधक'[1] होने में किसी प्रकार का संदेह करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती न हमें इस बात के लिए विवश होना ही पड़ सकता है इन्हें हम 'विशेष चमत्कार युक्त' कह डालें । साँभर में सद्गुरु मिला दी पान की पीक'[2] वाक्य से पता चलता है कि ग्यारह वर्ष की अवस्था में जब इन्हें बाबा बुड्ढानंद के प्रथम दर्शन हुए थे ये साँभर में रहा करते थे और अपना जन्म-स्थान अहमदाबाद छोड़ चुके थे । इस कारण इनके उस बचपनकाल की घटनाओं का कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता। चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी का तो कहना है कि ये अपनी १८ वर्ष की अवस्था तक अहमदाबाद में ही रहे । उसके पीछे ६ वर्षों तक मध्यप्रदेश में फिरते हुए काटे तथा इसके पश्चात् जयपुर राज्य में आये व जहाँ कई वर्ष तक रहे ।"[3] परन्तु 'जयंती ग्रंथ' में दिए गए विवरण के अनुसार पता चलता है कि वृद्ध महात्मा के साथ भेंट हो

---

१ क्षितिमोहन सेन : दादू, उपक्रमणिका पृ० ११४ ।
२ वही पृ० १५ पर उद्धृत ।
३ स्वामी दादूदयाल की बानी अजमेर, १९०७ ई० भूमिका पृ० १ ।

विशेष वक्तव्य

डॉ० ऑर ने इस प्रसंग में हमारा ध्यान एक अन्य बात की ओर भी आकृष्ट किया है जो उल्लेखनीय है। उन्होंने इसके पहले एक स्थल पर[1] दादू-दयालजी की जाति का 'दबिस्ताने मज़ाहिब' के अनुसार नद्दाफ धुनिया, पिंजारा, पिनारा होना बतलाते हुए कहा है कि इस वर्ग के लोग राजस्थान मे उन हिंदुओ के वंशज समझे जाते हैं जो लोदी बादशाहो के शासन-काल मे मुसलमान हो गए थे जो साधारणत रुई धुनने का काम भी करते आने के कारण, 'पिंजारा' कहे जाते थे। डॉ० ऑर का कहना है कि ये ही लोग संभवत 'पिनारा' अथवा 'तेली-पिनारा' भी कहे जाते थे और तेल निकालने का व्यवसाय किया करते थे। ये लोग अपने को पठान समझते थे और इनमें से कई अभी तक 'लोदी' भी कहलाते आये है। तदनुसार लाहोर का 'हसन तेली' नामक एक व्यक्ति ऐसे तेली लोगो का संरक्षक संत (Patron saint) भी बन गया था। इन्हें धुनिया वा पिंजारा कहा जाता है तथा वह उन सूफी अब्दुल कादिर जीलानी का ही वंशज था जिनकी कादिरी शाखा के अनुयायी शेख बुड्ढन थे।[2] डॉ० ऑर तो यहाँ तक बतलाते हैं कि शेख बुड्ढन के वंश वाले काजी लोगो को दादू-पंथ के प्रधान दादूद्वारा नराणे में आज तक भी सम्मान प्रदान किया जाता है। वहाँ पर किसी नये महंत को गद्दी देते समय उसके पहनने के लिए साँभर से सूती कपडे, पगडी आदि जैसी वस्तुएँ मँगा कर उनसे परंपरानुसार इस बात की स्वीकृति ले ली जाती है कि आज से उन्हें इस पद के योग्य मान लिया गया।[3] इस प्रकार डॉ० ऑर दादू दयाल जी का मूलत न केवल पिंजारा प्रत्युत 'तेली पिनारा' होना तथा इसके साथ ही उनके गुरु का शेख बुड्ढन नामक सूफी होना भी तथ्य समझते जान पडते हैं। इस बात की ओर उन्होंने एक से अधिक बार संकेत भी किया है। दादूदयाल जी के एक पद की पंक्ति से[4] प्रकट होता है कि ये वास्तव में पिंजारा रहे होगे। जनगोपाल की 'परची' वाले 'चौथे विश्राम' के अंतर्गत[5] इनका 'धुनकरी कृत्य' करना और तदनुसार 'धुनिया' कहला कर प्रसिद्ध होना तक बतलाया गया है। परन्तु हमें इस बात का निश्चित पता नही चल पाता कि 'पिंजारा जाति' के साथ 'पिनारा' अथवा 'तेली पिनारा' कहे जाने

---

१. ए सिक्स्टींथ सेंचुरी मिस्टिक, पृ० ५०।

२. वही, पृ० ७०। ३. वही, पृ० ५५।

४. 'किसकू पूजें गरीब पिंजारा', पद ३३६।

५. दे० पृ० ३४-८ तक और विशेषकर पृ० ३५।

हुई दीख पड़ती है। जैसा हम इसके पहले भी देख आये हैं, वे लोग अपनी वंदना में इनके नाम 'दादू' अथवा 'दाऊद' को स्थान भी दिया करते हैं। इसके सिवाय उक्त नाथ-पंथी प्रभाव के विषय में भी कुछ लोग कहते हैं कि इन्होंने इसी कारण अपना एक नाम 'कुंमारीपाव' जैसा रखा था। ऐसे नामधारी व्यक्ति द्वारा रचित 'अजपाग्रंथ' 'अजपा गायत्री ग्रंथ' 'विराट पुराण' 'योगशास्त्र' तथा 'अजपाश्वास' जैसे पुस्तकों के नाम तक भी हमें बतलाये जाते हैं।[1] परन्तु अभी तक हमें ऐसा कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिल सका है जिस पर इनके कभी बंगाल के बाउलों के संपर्क में आने की कोई घटना निश्चित की जाय न कुंमारीपाव वाले उक्त ग्रंथ मिल सके हैं। इनकी उपलब्ध रचनाओं का अध्ययन करने पर ही हमें ऐसा कोई स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है जिसके अनुसार हम इनके ऊपर पड़े हुए किसी नाथ-पंथी सैद्धांतिक प्रभाव का अनुमान कर सकें।

परब्रह्म-सम्प्रदाय का सूत्रपात

दादू दयाल अपने देश भ्रमण से लौट कर लगभग सं० १६३ १५७३ ई० से साँभर में रहने लगे। यहीं पर इन्होंने अपने पंथ के संबंध में सर्वप्रथम कार्य आरंभ किया तथा उसके लिए अपने अनुयायियों की बैठकें भी नियम पूर्वक कराने लगे। ये लोग पहले इनके साथ ब्रह्म की उपासना के लिए एकत्र हुआ करते थे और इनके सत्संग से लाभ उठाया करते थे। इनके सम्मिलन के स्थान को 'अलख दरीबा' कहा जाता था[1] जिसका तात्पर्य यह था कि उक्त प्रकार से वहाँ पर स्वयं अलख निरंजन की अनुभूति के संबंध में सबका विचार-विनिमय चला करता है। ऐसे स्थान को दादू दयाल ने कहीं-कहीं 'चौगान' का नाम भी दिया है जिससे पता चलता है कि ये उसे दैनिक प्रपंचों के अनंतर विश्राम का स्थान भी समझते थे। जान पड़ता है कि उस समय तक इनका विवाह हो चुका था और ये गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश भी पा चुके थे। ऐसी ही स्थिति में इन्होंने पंथ-निर्माण की ओर निश्चित भाव-के-साथ अधिक से अधिक ध्यान देना आरंभ किया और इनका ब्रह्म-सम्प्रदाय क्रमशः अपना एक स्पष्ट रूप ग्रहण करने लगा।[2] जीवन के प्रश्नों पर दादू दयाल समन्वयात्मक रूप से विचार किया करते थे और उसकी साधारण-से-साधारण बात पर भी गंभीर चिंता करते थे। इसीलिए इन्होंने आध्यात्मिक सत्संग का सूत्रपात करते समय भी

---

१ 'मालिक मालूमी साथ सब अलख दरीबे जाइ।
साहिब दर दीदार में सब मिलि बैठे आइ॥'—परचा कौ अंग १२४२ पृ ७१।

२ क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म पृ १०४-७।

जाने पर इन्होंने घर बार छोड दिये । वहाँ से पेटलाद, आबू तथा सिरोही होते हुए कल्याणपुर (करडाला) की पहाडी पर पहुँचे, जहाँ इन्होंने छह वर्षो तक साधना की । इसके अनतर इनके वहाँ से अजमेर, भीलवाडा, चित्तौड होकर करौली पहुँचने तथा वहाँ से टोडा रायगढ होते हुए १९ वर्ष की अवस्था मे साँभर आने और वहाँ पर भी ६ वर्षो तक साधना करने की वात उसमें बतलायी गई दीख पडती है ।[1] इस प्रकार इनके जीवन-काल की घटनाओ का निश्चित पता वास्तव में, इनके साँभर आने अथवा अधिक से अधिक उसके छह वर्ष पहले भ्रमण के लिए निकल पडने से ही चलने लगता है । इसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि प्राय २५ वर्षो तक ये साधनाओ में ही लगे रहे । जनगोपाल की 'परची' से भी यही जान पडता है कि १२ वर्ष इनके बालपन मे बीते । तब गुरु से भेंट होने के अनतर २५ वर्ष की अवस्था मे ये साँभर में विद्यमान थे तथा ३२ वें वर्ष में गरीबदास का जन्म हुआ था ।[2]

देश भ्रमण का प्रभाव

साँभर निवास के पूर्व वाले छह वर्षों के भ्रमण-काल मे इनके काशी, विहार तथा बगाल देश की ओर पर्यटन करते रहने का भी अनुमान किया गया है । प्रसिद्ध है कि इस यात्रा में ही इन्हें कही-न-कही नाथ-पथी योगियो से भी भेंट हुई थी । कहा जाता है कि इनकी रचनाओ में यत्रतत्र पाये जानेवाले "देखिवा' 'पेखिवा' 'चलिवा' 'जाइवा'-जैसे प्रयोग उन योगियो के प्रभाव के ही कारण उनमें आ गए होंगे । इसके सिवाय इनकी कुछ रचनाएँ गोरखनाथ अथवा उनके अनुयायियो की पक्तियो का ठीक-ठीक अनुसरण करती हुई भी जान पडती है ।[3] परन्तु नाथ-पथ का प्रभाव इन पर पश्चिम के प्रदेशो में भ्रमण करते समय भी पड सकता था । इस कारण केवल इतने से ही, ऐसा अनुमान करना ठीक न होगा कि इन्होंने ऐसे पूर्वी देशो का भ्रमण अवश्य किया होगा अथवा यह कि उपर्युक्त प्रयोगो का मुख्य कारण भी यही रहा होगा । इतना अवश्य कहा जाता है कि बगाल के बाउलो में इनके प्रति एक विशेष प्रकार की श्रद्धा प्रकट की जाती

---

१ जयती ग्रथ, इतिहास खण्ड, पृ० ३ ।

२ 'बारह बरस बालपन गयऊ, गुरु भेंटत तब सनमुख भयऊ ।
साभर आये समै पचीसा, गरीबदास जनमै बत्तीसा ।।३०।।
साराश, पृ० १८९ ।

३ दे० दादूदयाल की बानी, वे० प्रे०, पद १९४, पृ० ६३ तथा पद १३८, पृ० १२९ ।

दुर्गुणों का त्याग कर अपने को सुधारने का उपदेश उन्होंने दिया था। उक्त हाकिम तभी से इनकी सेवा में प्रवृत्त हो गया।[१]

आमेर-निवास तथा अकबर से भेंट

साँभर में छह वर्षों तक रह चुकने पर फिर दादू दयाल आमेर चले गए, जहाँ इनके लगभग १४ वर्षों तक ठहरने का पता चलता है। आमेर जाने के मुख्य कारण का कोई अनुसंधान अभी तक नहीं किया जा सका है। इतना निश्चित-सा है कि इनकी प्रसिद्धि साँभर से होने लगी थी और दूर-दूर तक के लोग इनके सत्संग के लिए आने लगे थे। अतएव संभव है इनके किसी श्रद्धालु अनुयायी ने ही इन्हें आमेर जाने के लिए अनुरोध किया हो। क्योंकि यह नगर उन दिनों जयपुर राज्य की राजधानी के रूप में प्रसिद्ध हो गया था और वहाँ की सभ्य जनता का एक बड़ा केन्द्र था। यहाँ पर आते ही इनकी ख्याति सुदूर दिल्ली नगर तक फैल गई और किसी ने इनकी प्रशंसा मुगल सम्राट् अकबर से भी कर दी। अकबर की आध्यात्मिक महापुरुषों के साथ सत्संग करने की बड़ी लालसा रहा करती थी। इसलिए उसने अपना दूत भेज कर दादू दयाल के साथ मिलने की तिथि आदि निश्चित कर ली। इसके लिए उपयुक्त स्थान सीकरी का समझा गया। तदनुसार सं० १६४३ सन् १५८६ ई० में इन दोनों की भेंट हुई और प्रायः ४० दिनों तक दोनों का सत्संग चलता रहा। यह भी प्रसिद्ध है कि इस घटना के ही अनंतर बादशाह ने दादू दयाल से प्रभावित होकर अपनी मुद्राओं पर एक ओर 'अल्लाह अकबर' और दूसरी ओर 'जल्ल-जलालहु' अंकित कराया था जिसके अवशेष चिह्न अभी तक मिलते हैं। दादू दयाल का अब्दुर्रहीम खाँ खानखाना (सं० १६११ १७ ३) से भी भेंट होने की जनश्रुति प्रसिद्ध है, किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक उल्लेख कहीं नहीं मिलता। दादू तथा रहीम की रचनाओं में कहीं-कहीं पर समान भाव दृष्टिगोचर होते हैं जो बिना भेंट के भी संभव है। सीकरी से लौटने पर अब वे फिर आमेर आये तब उसी समय जयपुराधीश महाराज भगवत दास के यहाँ कोई महान् उत्सव था जिसमें अनेक राजा लोग तक आकर सम्मिलित हुए थे। परन्तु ऐसे अवसर पर भी वहाँ दादू दयाल उपस्थित नहीं हुए जिस कारण महाराज को बहुत बुरा जान पड़ा। दादू दयाल ने इस बात की कुछ भी परवाह

---

१ 'साँभरि हाकिम सौ कह्यौ यह प्रभु दादू देव।
मानि वचन गहि नीति कौ, करी गुरु की सेव॥
—त्रिपाठी : दा० द० के सबद, पृ० ४७८।

व्यावहारिक वातो की उपेक्षा नही की। इनका ब्रह्म-सम्प्रदाय ही आगे चल कर कर 'परब्रह्म-सम्प्रदाय' के नाम मे प्रसिद्ध हुआ। उसी को आज तक दादू-पथ नाम भी दिया जाता है।

साँभर-निवास

साँभर में दादू दयाल छह वर्षो तक रहे। वहीं रहते समय सवत् १६३२ में इन्हें प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ जो आगे चल कर गरीवदास के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गरीवदास के सिवाय इनके एक अन्य पुत्र मिस्कीनदास तथा नानीवाई तथा मातावाई नाम की दो कन्याओ के भी नाम लिये जाते है। गरीवदास के लिए दादू दयाल का औरस पुत्र होना 'जनगोपाल की परची' तथा राघोदास की 'भक्तमाल' से भी स्पष्ट है। फिर भी जनगोपाल की ही तथा वासुदेव कवि और स्वय गरीवदास की कुछ पक्तियो के आधार पर भी स्वामी मगलदासजी ने अनुमान किया है कि वे (तथा मिस्कीनदास भी जो उनके सहोदर थे) इनके आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे और उन दोनो का पालन-पोषण भर इनके आश्रम मे हुआ था। वे दादूजी के प्रिय शिष्य वा अधिक-से-अधिक प्रदत्त मात्र कहे जा सकते हैं।[1] यही वात नानीवाई तथा मातावाई के सवध में भी कही जा सकती है। कुछ लोगो का अनुमान है कि अपनी एक साखी की पक्ति[2] द्वारा ये अपने उक्त दोनो पुत्रों के नाम तथा उनकी जीवनचर्या की ओर सकेत करते हुए जान पड़ते हैं। जो हो, ये अपना गार्हस्थ्य-जीवन समवत अपनी पैतृक जीविका द्वारा द्रव्योपार्जन करके व्यतीत करते थे। इनका दृढ विश्वास था कि राम के परसाद से ही अपना सारा व्यवहार चल रहा है। ये कहते भी हैं कि "एकमात्र राम ही हमारे धन, वृत्ति वा वृत्तिदाता हैं। उन्ही की कृपा के सहारे हम अपने सारे परिवार का पालन-पोषण करने में सफल हो सके हैं।"[3] कहते हैं कि साँभर में रहते समय ही इनके पास किसी मुसलमान हाकिम ने आकर अनेक प्रकार के तर्क किये थे, जिनके उत्तर में इन्होने 'हुसियार हाकिम न्याव है' आदि राग टोडी का पद[4] कहा था। उसे क्रोध, अभिमान-जैसे

---

१ 'गरीव गरीबी गहि रह्या मसकीनी मसकीन।'
—गरीवदासजी की वाणी, मगल प्रेस, जयपुर, प्राक्कथन पृ० 'द'।

२ 'दादू रोजी राम है, राजिक रिज्किक हमार।
दादू उस परसाद सू, पोष्या सब परिवार॥' ५५॥
—साखी, जीवत मृतक कौ अग ३१, पृ० २०४।

३ साखी, वेसास कौ अग ५५, पृ० १९०।

४ भाग २, पद २८१, पृ० ११९।

में लीन होकर बैठे थे इनके कुछ विरोधी ब्राह्मणों ने इन्हें ईंटा से घेर कर बंद कर दिया और चाहा कि इसी प्रकार इनका प्राणांत भी कर दें। इनकी जब आँखें खुलीं और इन्होंने अपने को चारों ओर से घिरा और बंद पाया तब निकलने का रास्ता न देख कर इन्होंने अपनी आँखें फिर मूँद लीं। उसी प्रकार वे कई दिनों तक पड़े रहे। अंत में जब उनके आसपासवाले कुछ सज्जनों को इसका पता चला तब उन्होंने आकर ईंटों को हटा दिया और उक्त दुष्टों को दंड देने की व्यवस्था करने लगे। परन्तु दादू दयाल ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया और उनसे बतलाया कि वे दंड के भागी नहीं अपितु धन्यवाद के पात्र हैं। क्योंकि उन्हीं की करतूत के कारण मुझे भगवान के चरणों में कुछ अधिक काल तक लगे रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ था।

रचनाएँ

दादू दयाल की सारी रचनाओं की संख्या प्रायः २० सहस्र की कही जाती है जिसमें इनके पद साखियाँ और अन्य बानियाँ भी संगृहीत हैं। परन्तु इन सबका अभी तक कोई प्रामाणिक संग्रह प्रस्तुत नहीं किया जा सका है और जो रचनाएँ इस समय उपलब्ध हैं, वे भी सभी असंदिग्ध नहीं। दादू दयाल के शिष्यों में से संतदास तथा जगन्नाथदास ने इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'हरडे बाणी' नाम से तैयार किया था। किंतु उन्होंने उसका कोई वर्गीकरण नहीं किया था न उन्हें किन्हीं उपयुक्त शीर्षकों के नीचे रखने की कभी चेष्टा की थी। इनके एक अन्य शिष्य रज्जबजी ने इन त्रुटियों को दूर कर उन्हें ३७ भिन्न भिन्न अंगों या प्रकरणों में विभक्त किया और अपने संग्रह का नाम भी तदनुसार 'अंगबधू' रखा। इसके पश्चात् आधुनिक संपादकों में से पंडित सुधाकर द्विवेदी ने रज्जबजी की ही प्रणाली का अनुसरण कर एक नवीन संग्रह तैयार किया। यह संग्रह 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की ओर से प्रकाशित हुआ और उसमें २६२१ साखियाँ और ४४५ पद संगृहीत किये गए हैं। एक दूसरा संग्रह डॉ० राम बल्लभ सिंह का भी प्रायः इसी आदर्श के अनुसार प्रस्तुत किया हुआ जयपुर से प्रकाशित हुआ है। परन्तु इन सबसे प्रामाणिक संग्रह एक तीसरा निकला जिसका संपादन पंडित चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी ने किया और जो अजमेर से प्रकाशित हुआ। फिर प्रायः उसमें निर्धारित पाठ पर ही आश्रित एक नवीन संस्करण भी स्वामी मंगलदास द्वारा संपादित होकर निकला। इसमें ३७ अंगों में ही विभाजित साखियों की संख्या २६५२ है और २७ रागों के अनुसार लगे हुए ४४५ पद हैं। प्रयाग के 'बेलवेडियर प्रेस' की ओर से भी दादू

नही की और सघर्ष के लिए उनके कई अवसर देने पर भी ये तनिक उत्तेजित नही हुए।

अंतिम समय

आमेर में दादू दयाल के जीवन का एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग व्यतीत हुआ। इन्होने अपनी विविध रचनाओ का आरभ कदाचित् साँभर में ही कर दिया था और आमेर में रह कर उसके बहुत बडे अश को निर्माण किया। फिर अपने शिष्यों के आग्रह से इन्होने अपनी दूसरी बडी यात्रा आरभ की। अब की बार द्यौसा, मारवाड, बीकानेर, कल्यागपुर आदि स्थानो में जाकर वहाँ के लोगो को उपदेश दिये। द्यौसा में ये अब की बार दुबारा गये हुए थे और इनकी अवस्था अब ५८ वर्ष की हो चली थी। पहली बार ये स० १६५२ के लगभग गये थे और वहाँ पर इन्होने एक वैश्य-दपति को पुत्रोत्पत्ति के लिए आशीर्वाद दिया था। अब की बार उनका पुत्र सात वर्षों का हो चुका था और उन दोनो ने उसे दादू दयाल के चरणो पर बडे श्रद्धा-भाव के साथ डाला और उस पर प्रसन्न होने की प्रार्थना की। दादू दयाल ने उस बच्चे के सिर पर अपना हाथ रखा और उसके सौंदर्य की प्रशसा करते हुए उसे होनहार भी बतलाया। वही बालक आगे चल कर 'सुदरदास' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। द्यौसा से आकर दादू दयाल नराणे की एक गुफा में निवास करने लगे और वही रहते समय जेठ बदी ८ स० १६६० को इनका देहात हो गया। इस समय इनकी अवस्था ५८ वर्ष और ढाई महीने की हो गई थी और इनकी प्रसिद्धि भी दूर-दूर तक पहुँच चुकी थी। साँभर के निकट नराणे की गुफा में उनके बाल, तूबा, चोला और खडाऊँ अभी तक सुरक्षित हैं, जहाँ उनका दर्शन किया जाता है।

स्वभाव

दादू दयाल स्वभाव के अत्यत नम्र और क्षमाशील थे। इन्हें कोमल स्वभाव का होने के ही कारण लोग दादू के साथ 'दयाल' भी कहा करते थे। इन्होने निंदा की कुछ भी परवाह नही की और इसके प्रति ये इतने उदासीन थे कि इसका नाम तक लेना नितात व्यर्थ समझा करते थे।[1] इनकी क्षमाशीलता के सबध में कहा जाता है कि एक बार जब ये आत्म-चिंतन

---

१. 'निन्द्या नाम न लीजिये, सुपिनै ही जिनि होई
न हम कहैं न तुम सुणो, हम जानि भाखै कोई॥' ५॥
—स्वामी दादू दयाल की वाणी, चद्रिका प्रसाद त्रिपाठी-सपादित, विद्या की अग सा० ५, पृ० ३३५।

प्रकार घुल-मिल गए हैं कि उनमें कोई विशिष्ट बात हमें लक्षित नहीं होती।

प्रमुख शिष्य

राघोदास ने अपनी 'भक्तमाल' के अंतर्गत ५२ दादू-शिष्यों के नाम गिनाये हैं।[1] ५२ शिष्यों की इस नामावली के साथ उपर्युक्त ऐसी सूची की तुलना करने पर केवल एकाध नामों की ही भिन्नता दीख पड़ती है। इसके सिवाय यह भी पता चलता है कि इनमें से बखना शंकर, बाइसो चांदो बड़े प्रागदास बड़े गोपाल-दास दयालदास लालदास चरणदास टीलोजी परमानंद, चैनजी मोहन सांभू जांभू छोटे गोपालदास जगन्नाथदास नागरनिजाम चैनजी तथा श्यामदासजी-जैसे कुछ लोगों के किसी थांभे का कहीं पता नहीं चलता। यदि सभी सूचियों को मिला कर दादू दयाल के प्रमुख शिष्यों के नाम चुने जायें तो संभवतः १ रज्जबजी २ छोटे सुंदरदास ३ गरीबदास ४ प्रागदास ५ जगजीवनदास ६ बाजिंदजी ७ बनवारीदास ८. मोहनदास ९ जनगोपाल १ संतदास, ११ जगन्नाथदास १२ खेमदास १३ चंपाराम १४ बड़े सुंदरदास १५. बखनाजी १६ बड़सीदास १७ माधोदास १८ शंकरदास १९. बाइसो २० चैनजी, २१ जग्गाजी २२ मिस्कीनदास तथा २३ चतुर्भुजजी के ही नाम लिये जा सकते हैं। इनमें से भी केवल कुछ के ही परिचय उपलब्ध हैं।

---

१ दादू जी के पंथ में ये बावन शिष्य महंत।
प्रथम गरीब, मसकीन, बाई, है सुंदर दासा।
रज्जब दयालदास मोहन ध्यानी प्रकासा॥
जगजीवन, जगन्नाथ, तीन गोपाल बखानूं।
गरीब जन जूझन बड़सी चैनल है जानूं॥
सावा टेलानंद पुनि प्रमानंद बनवारि है।
साधू जन हरदास हू कपिल चतुरभुज पार है॥३६१॥
चरनदास है चरन भाग है चैन प्रहलादा।
बखनी, जग्गो लाल माधू टीला अरु चांदा॥
झिंगोल गिर, हरिसिंघ निराइन बड़सी संकर।
सांभू जांभू संतदास टीई स्यामहि बर॥
माधव सुदास नागरनिजाम जन राघो बनि कहंत।
दादूजी के पंथ में ये बावन शिष्य महंत॥३६२॥
—राघोदास की अप्रकाशित 'भक्तमाल'।

दयाल की रचनाओ का एक सस्करण प्रकाशित हुआ है जिसमें त्रिपाठीजी के सस्करण से अधिक भिन्नता नही दीख पडती। इधर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सपादित एक नया सस्करण अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक रूप मे प्रकाशित होने जा रहा है।

(२) शिष्य-परपरा

शिष्य और थाँवे

सत दादू दयाल का व्यक्तित्व अत्यत आकर्षक था और इनके कोमल और हृदयग्राही स्वभाव के कारण, अनेक व्यक्ति इनके प्रभाव में बहुत शीघ्र आ जाते थे। इनके सत्सग का प्रभाव ऐसे लोगो पर इस प्रकार पडता था कि वे उन्हें बहुधा अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लेते और तदनुसार आचरण करने पर कटिबद्ध भी हो जाते थे। दादू-शिष्यो की सख्या उनके जीवन-काल का अत होते-होते बहुत बडी हो गई। इनके अनेक शिष्य बहुत प्रसिद्ध भी हो गए। इस प्रकार प्रसिद्धि-प्राप्त शिष्यो की सख्या ५२ बतलायी जाती है। लालदास की 'नाममाला' के अनुसार यह १५२ तक पहुँच जाती है।[१] प्रसिद्ध है कि इनमें से १०० ऐसे थे जिन्हें 'वीतरागी' कहा जा सकता है तथा जिन्होंने व्यावहारिक जीवन का प्राय त्याग ही कर दिया था। वे सदा आत्म-चिंतन मे लीन रहा करते थे। उन्होने न तो कोई शिष्य किया, न उन्हें किसी स्थान-विशेष में रहना अच्छा लगा। परन्तु शेष ५२ मे से अधिकाश के पीछे उनकी परपराएँ चल निकली तथा उनके 'थाँवो' पर भजन तथा व्यवहार दोनो साथ चले। उनके द्वारा स्थापित ऐसे थाँवो में से भी सभी आज तक नही रह गए हैं। इनमें से केवल २५ वा २६ ऐसे हैं जिनमें महत और साधु दोनो पाये जाते हैं। ४ वा ५ में साधु तो हैं, किंतु कोई थाँवायती महत नही है। शेष २२ के लिए कहा जाता है कि उनके अब न तो कोई महत रह गए हैं, न कोई ऐसे साधु ही पाये जाते हैं जिन्हें उनके साथ सबद्ध समझा जा सके।[२] उक्त सभी ५२ दादू-शिष्यो अथवा १५२ ऐसे लोगो की भी सूची प्रकाशित की जा चुकी है,[३] किंतु उनका यथेष्ट विवरण उपलब्ध नहीं है। इसके सिवाय प्रचलित भावो के अतर्गत जो कहीं-कही कुछ उप-थाँवें वा उप-सम्प्रदाय से बन गए मिलते हैं। उनमें से कई एक साधारण हिन्दू-समाज के समुद्र में मग्न होकर इस

---

१. जयती ग्रथ, पृ० २२।

२ वही, पृ० २४।

३ वही, पृ० ७०-४ तथा पृ० ८७-९०।

"सेवा तथा स्मरण के सारे साज किसी उद्देश्य से सजा रखे थे परन्तु बीच म ही बंदगी विस्मत हो गई और एक भी काम संपन्न न हो सका।[१] फिर क्या था रज्जबजी इसे सुनते ही परम विरक्त-से हो गए। प्रसिद्ध है कि अपने सारे दूल्हे के कपड़े आदि अपने छोटे भाई को देकर ये वहीं ठहर गए। गरु दादू दयाल ने इन्हें अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। यह भी कहा जाता है कि अपने गुरु की आज्ञा से उस अवसर के स्मारक रूप में रज्जबजी तब से निरंतर दूल्हे के ही वेश में रहने लगे थे। जब एक पोशाक पुराना पड़ जाती थी तब उसकी जगह कोई प्रेमी सेवक इन्हें वैसी ही दूसरी बनवा देता था। पूछने पर ये कह देते थे कि अपने प्रियतम की भेंट का यह चिह्न है।

गुरु-सेवा तथा सत्संग

गुरु दादू दयाल द्वारा उक्त प्रकार से दीक्षित होने के समय रज्जबजी की अवस्था लगभग २ वर्षों की थी। उसी समय से गुरु ने इन्हें रज्जब अली खाँ की जगह 'रज्जबजी' कहना आरंभ कर दिया और तब से ये निरंतर उनकी सेवा-सुश्रूषा मे रहने लगे। यह घटना दादू दयाल के अकबर बादशाह के साथ मिलने के पीछे की है। क्योंकि उस समय जो सात शिष्य उनके साथ सीकरी गए थे उनकी सूची में इनका नाम नहीं है। बादशाह के साथ दादू दयाल की भेंट स १६४२ में हुई थी। यह घटना सं १६४४ में हुई होगी जब रज्जबजी की उम्र २ साल की थी। ये गुरु दादू दयाल के साथ उनकी छाया की भाँति सदा बने रहते थे और उनके प्रत्येक शब्द को बड़े प्रेम तथा बड़ी श्रद्धा के साथ सुना करते थे। पाँच-छह वर्षों तक उनके सत्संग में रहने पर ये फिर स्वयं भी पदो तथा साखियो की रचना करने लग गए। क्रमशः इनकी ख्याति साधु-संतो की मडलियो में दूर-दूर तक फैलने लगी। गुरु दादू दयाल तक इन्हें बड़े प्रेम के साथ देखने लगे। अंत में जब इनका अनुभव बढ़ने लगा और इनकी योग्यता के प्रभाव द्वारा अनेक जन इनकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगे तब इनके शिष्यो की भी संख्या में वृद्धि होने लगी।

गुरु-भक्ति

रज्जबजी ने अपने गुरु की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है और उनके प्रति इनकी श्रद्धा प्रत्येक शब्द से टपकती है। ये कहते हैं कि "मुझे ऐसे महान् पुरुष दादू गुरु के रूप में मिले जो गंभीर मन तथा सागरवत्

---

१ 'कीया था कुछ काज कौ, सेवा सुमिरण साज।
दादू भूल्या बंदिगी, सरया न एको काज॥

(क) रज्जबजी

प्रारंभिक जीवन

रज्जबजी का स्थान संत दादू दयाल के शिष्यों में सबसे ऊँचा समझा जाता है। इनका जन्म साँगानेर के एक प्रतिष्ठित पठान-वंश में हुआ था। इनके पितृ-कुल के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह पहले हिन्दू कलाल का था, जिसमें मद्य की बिक्री होती थी और मुसलमान होने पर भी ये लोग सुरा-विक्रेता ही बने रहे। किंतु दादू-पंथी तथा रज्जबजी के भक्तगण इस बात को स्वीकार नहीं करते और अधिक मत उन्हें पठान-वंशीय ठहराने के पक्ष में ही मिलता है। रज्जबजी के पिता महाराज जयपुर की सेवा में नायक के पद पर थे और उनकी वहाँ अच्छी प्रतिष्ठा थी। उनके घर इनका जन्म संवत् १६२४ के लगभग हुआ था। इनका प्रारंभिक नाम रज्जब अली खाँ था और इन्हें तात्कालिक प्रथानुसार सर्वप्रथम व्यायाम, कुश्ती तथा शस्त्रास्त्र प्रयोग की ही शिक्षा मिली थी। अपनी युवावस्था से ही, इसी कारण ये एक सुंदर, सुडौल शरीरधारी व्यक्ति बन गए थे और इनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली हो गया था। इन्हें पढ़ने-लिखने की शिक्षा भी पूरी मिली थी, किंतु इस संबंध में हमें कोई प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता। इतना अवश्य कहा जाता है कि बचपन से ही इनकी रुचि साधुओं तथा फकीरों के सत्संग की ओर अधिक दीख पड़ती थी। इन्हें धार्मिक बातों को ध्यान पूर्वक सुनने में अधिक आनंद आता था।

दादू दयाल से भेंट

साँगानेर का नगर आँबेर से लगभग १४-१५ मील दक्षिण की ओर बसा हुआ है। युवक रज्जब अली खाँ के विवाह की सगाई समय पाकर आँबेर के ही किसी पठान घराने में संपन्न हुई। निश्चित तिथि पर विवाह करने के लिए बारात सज कर साँगानेर से चल पड़ी। आँबेर में पहुँच कर बारात का मार्ग नगर के उस स्थान से होकर जाता था, जहाँ पहाड़ी की तलहटी के निकट दादू दयालजी अपनी मंडली के साथ बैठे हुए थे। उस पवित्र स्थान के सामने 'बनड़ा' बना हुआ युवक स्वभावतः घोड़े से उतर गया और क्षण भर के लिए दादू दयाल के दर्शन करने आगे बढ़ा। उस समय दादू दयाल ध्यान में मग्न थे, इसलिए दूल्हा कुछ और ठहर गया। परन्तु ज्यों ही उनकी आँखें खुलीं, इसके शरीर पर उनका प्रभाव बिजली की भाँति पड़ गया और झुके हुए मस्तक को सीधा करते ही करते उसका हृदय और-से-और हो गया। उसने अपने सामने दादू दयाल के मुख से निकलता हुआ एक दोहा सुना जो उसके कोमल हृदय में एक तीखे तीर की भाँति प्रवेश कर गया। अंत में वहीं बना रह गया। उसका मंतव्य था कि

और उनके अतिरिक्त चार अन्य शिष्य भी बतलाये जाते हैं। इनकी मुख्य गद्दी साँगानेर में चलती है किन्तु वहाँ पर भी कोई साधु नियम पूर्वक नहीं रहता। उनके स्मारक के रूप में कुछ वस्तुएँ वहाँ अवश्य रखी हुई हैं। साँगानेर के अतिरिक्त कई छोटे-छोटे गाँवों में भी इनके शिष्यों द्वारा स्थापित कुछ मठों के नाम सुनने में आते हैं। इनके अनुयायियों को रज्जब-पंथी अथवा 'रज्जबावत' कहने की परिपाटी है। इस प्रकार के साधु-संत इधर-उधर अनेक स्थानोंमें पाये जाते हैं।

इन्हें कथा-वार्ता करने का बहुत अभ्यास था और दृष्टांतों के प्रयोग में तो ये इतने कुशल थे कि इनकी बराबरी का कोई कदाचित् ही मिलेगा। इसीलिए इनकी प्रशंसा करते हुए किसी ने कहा है कि "रज्जबजी के सामने सारे-के-सारे दृष्टांत राजा के समक्ष साधारण जनों की भाँति सदा प्रस्तुत रहा करते हैं और जहाँ-कहीं इन्हें उनकी आवश्यकता पड़ी कि तुरन्त इनकी इच्छा के अनुसार काम आ जाते हैं।[1]

योग्यता तथा रचनाएँ

रज्जबजी की रचनाओं में उनकी 'बानी' तथा 'सर्वंगी' ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इनमें से पहला छप कर प्रकाशित भी हो चुका है। इसमें इनकी प्रायः सभी रचनाएँ संगृहीत हैं जिनमें से साखी के अंतर्गत १९१ अंगों में ५३५२ छंद आये हैं। पदों की संख्या २० राग रागिनियों में २०९ तक पहुँचती है। २१ अंगों में ११७ सवैये दिये गए हैं और इनके अतिरिक्त ११ पुनकंड ८२ अरिल्ले ११ छोटे फुटकर पद्य तथा ८९ छप्पय दिखलायी पड़ते हैं। पुस्तक 'ज्ञानसागर प्रेस' में छपी है किन्तु संपादन की असावधानी कई स्थलों पर खटकती है। इसका एक नवीन संस्करण डॉ० व्रजलाल वर्मा द्वारा अधिक सावधानी के साथ संपादित होकर अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है। इसमें एक 'बानी-कोश' भी संलग्न है।[2] रचना-काल पुरोहित हरिनारायण शर्मा के अनुमान से सं० १६५ से लेकर सं० १७०४ तक समझा जा सकता है। रज्जबजी का दूसरा ग्रंथ कई दृष्टियों से बहुत उत्तम है। इसे 'सर्वंगी' के अतिरिक्त 'सर्वांगयोग' कहने की भी प्रथा चली आती है। इसमें दादू दयाल की बानी तथा रज्जबजी की रचनाओं के अतिरिक्त दृष्टांत-स्वरूप दूसरे अनेक संतों-महात्माओं की भी कृतियाँ संगृहीत हैं। इनमें भक्तों में से नामदेव कबीर, पीपा रैदास नानक अमर दास अंगद जीवन

1 'ज्यूं नृपके सब लगते संपत, पास रहैं नर आइ अजूके।
ऐसेहि भांति सबै दृष्टांतहि आगे खड़े रहैं रज्जबजूके॥
2 डॉ० व्रजलाल वर्मा रज्जब बानी उपमा प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड कानपुर सन् १९६३ ई०।

उदार हृदय के थे। इनके प्रसन्न होते ही भजन का रस उमड पडता था और अपने निकटवर्ती को उसके द्वारा आप्लावित कर आनंद-मग्न कर देता था।"[१] उन्हें इसी प्रकार इन्होंने 'परब्रह्म के प्यारे', 'त्रिगुणरहित', 'निर्बंध', 'ब्रह्मरसरत' तथा सकल स्वांग की उपेक्षा करनेवाला सच्चा साधु भी कहा है। उनकी मृत्यु के समय स० १६६१ में ये नराणे में ही वर्तमान थे। उनके परमपद प्राप्त कर लेने पर इन्हें ससार इतना सूना जान पडा कि उस समय से ये प्राय आँख बद किये ही रहने लगे। इन्होंने उक्त अवसर पर इस प्रकार कहा था।[२] गरीबदास के कहने पर अपने बाल तक मुडवा दिये थे। यह कथा भी प्रसिद्ध है कि सांगानेर में एक बार उन्होंने अपने जीवन-काल मे इनका स्वागत-सत्कार भी किया।

रज्जबजी तथा बपना

एक समय जब रज्जबजी नराणे में रहते थे, उस समय ये दादू दयाल के अन्यतम शिष्य बपनाजी के घर गये थे। उस समय इनकी अवस्था प्राय ४० वर्ष की थी। इनके शारीरिक सौंदर्य का प्रभाव इनकी विचित्र वेश-भूषा के कारण और भी अधिक पड रहा था। इन्हें वैसे रूप मे देख कर बपनाजी की स्त्री ने अपने पति से कहा कि एक ये दादू-शिष्य हैं जो इतने वैभवशाली दीख पडते हैं और एक तुम हो जिसके घर खाने को अन्न तक नही नसीब होता। बपनाजी ने इसके उत्तर में बतलाया कि, "यह सारी विषमता हमारे गुरुदेव की ही कृपा का फलस्वरूप है।"[३] कहा जाता है कि इस दोहे को सुन कर रज्जबजी को हँसी आ गई। उस दिन से बपनाजी के घर भी सपत्ति का ढेर लगने लगा तथा फिर कभी उनकी स्त्री को वैसा कहने का अवसर नही मिला। प्रसिद्ध है कि अपने जीवन के अतिम समय मे रज्जबजी किसी जगल में चले गए थे, जहाँ पर १२२ वर्ष की अवस्था में स० १७४६ में उनका देहात हो गया।

शिष्य

रज्जबजी के दस शिष्यो के नाम राघोदास की 'भक्तमाल' मे मिलते हैं

---

१ 'गुरु गरवा दादू मिल्या, दीरघ दिल दरिया।
हँसत प्रसन्न होत ही, भजन भल भरिया॥'

२ दीनदयाल दिनो दुख दीनन, दादूसी दौलत हाथसौं लीनी।
रोष अतीतन सौं जु कियौ हरि, रोजी जु रकनि की जगछीनी॥

३ 'रज्जबको था सपदा, गुर दादू दीनी आप।
बपना को या आपदा, था चरणारो परताप॥'

कई स्थलों पर की है। ये उनके साथ सदा रहा करते थे और संभवत: उनके निकट उस समय भी विद्यमान थे जब उनका देहांत हुआ था। दादू-शिष्य हो जाने के अवसर से ही इनके गुरु-भाई इन्हें अपने आत्मीय-सा मानने लगे थे। इस कारण दादू दयाल के देह-त्याग के अनंतर भी इन्हें किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करना पड़ा। टहलड़ी वाले जगजीवन की इन पर विशेष प्रेम-भाव रखते थे और उन्हीं के पास रह कर ये बहुत दिनों तक अपने गुरु की बानी का कंठस्थ करते रहे। किंतु इनकी प्रतिभा के लक्षण इनके बालकपन में ही दीख पड़ने लगे थे। इसलिए उसे पूर्णत: विकसित करने के उद्देश्य से इन्हें काशी भेजने का निश्चय हुआ। तदनुसार सं० १६६३–१६६४ में जब य केवल ११ वर्ष के थे इन्हें लेकर जगजीवनजी तथा रज्जबजी काशी पहुँचे। वहाँ इन्होंने साहित्य तथा दर्शन का विशेष रूप से गहरा अध्ययन किया और लगभग सं० १६८२ तक वहाँ ठहर कर ये अनेक शास्त्रों में पारंगत हो गए। काशी में ये असीघाट पर गंगा तट के निकट ही रहा करते थे। इनका निवास कदाचित् उसी स्थान के आसपास कहीं पर था जहाँ आजकल दादूमठ बना हुआ है।

फतहपुर-निवास

काशी में अपना विद्याध्ययन समाप्त करने के अनंतर ये अपने साथियों के साथ सं० १६८२ में फतहपुर शेखावाटी में लौट आये। फतहपुर में आकर ये कुछ दिनों तक प्रागदास बीहाणी के संसर्ग में रहे और इन्होंने उनके साथ सत्संग किया। इसी स्थान पर किसी गुफा के भीतर इनका अपने अन्य छह साथियों के साथ १२ वर्षों तक योगाभ्यास में लगा रहना भी प्रसिद्ध है। इन छह नाम के प्रागदास संतदास बड़सीदास जगजीवनदास नारायणदास और भीखन बतलाये जाते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि इनके साथ उस समय नारायणदास की जगह श्यामजी रहते थे। ये लोग उक्त गुफा में रह कर अपनी साधना में लीन रहा करते थे और व्रत तथा संयम का जीवन व्यतीत करते थे। इनके कार्यक्रम में अपने गुरु दादू दयाल की बानियों का गंभीर अध्ययन तथा अपनी योग्यता के अनुसार कभी-कभी अपनी रचनाओं का प्रस्तुत करना भी सम्मिलित था। क्रमश: इनकी योग्यता तथा साधुता की प्रशंसा चारों ओर फैलने लगी और फतहपुर के लोग इनके यहाँ बराबर दर्शनों के लिए उपस्थित होने लगे। कहा जाता है कि फतहपुर का नवाब अलफ खाँ भी सुंदरदास के दर्शनार्थ दिनों में रहा करता था। उसके साथ इनका बड़ा प्रेम और सद्भाव था। यह नवाब स्वयं भी एक अच्छा हिंदी-कवि था और सुंदरदास के साथ उसका सत्संग साहित्य चर्चा के संबंध में भी बहुधा हुआ करता था। इस नवाब का

हरिदास, वषना, जनगोपाल, तुरसी, पेमदास गरीबदास, त्रिलोचन, वेणी, रविदास, रामानद, जगजीवनदास, वाजिद आदि की रचनाएँ आ जाती है। यह ग्रय अभी तक अप्रकाशित है। जयपुर 'दादू महाविद्यालय' के पुस्तकालय में सुरक्षित हस्त-लिखित प्रति की ग्रय-सख्या ६८००० वतलायी गई है, किंतु उक्त पुरोहितजी के अनुसार यह गणना अशुद्ध है। रज्जवजी की एक तीसरी कृति 'अगवबू' नाम से प्रसिद्ध हैं जो वास्तव में दादू दयाल की रचनाओं का एक सग्रह मात्र है। यह सिक्खो के प्रसिद्ध पूज्यग्रय 'आदिगय' से प्राय दस वर्ष पहले सगृहीत हुआ था जिस कारण यह अपने ढग के ग्रयो का प्रथम आदर्शस्वरूप भी कहा जा मकता है।

(ख) सत सुदरदास

जाति तथा जन्म-काल

सत सुदरदास दादूदयाल के योग्यतम शिष्यो में से थे। इनकी प्राय सारी रचनाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। दादू-पथ के प्रसिद्ध अनुयायियो मे सबसे अधिक जानकारी अभी तक इन सुदरदास के ही सबध में प्राप्त हो सकी है। ये सूदरदास वूसर गोत के खडेलवाल वैश्य थे और ये छोटे सुदरदास कहला कर भी प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म चैत सुदी ९ स० १६५३ को जयपुर राज्य की प्राचीन राजवानी द्यौसा नगर में हुआ था। इनके पिता का नाम परमानद तथा माता का नाम सती था। इनके पिता का एक उपनाम चोखा भी वतलाया जाता है। कुछ लोगो का अनुमान है कि यही नाम अधिक प्रामाणिक है। जो भी हो, सुदरदास के जन्म का इनके घर किसी महात्मा के वरदान द्वारा होना समझा जाता है। प्रसिद्ध है कि ये किसी जग्गा नामक दादू-शिष्य के ही अवतार थे। इनके जन्म का स्थान खडहर के रूप में आज तक वर्तमान है, किंतु इनके वूसर-गोती वैश्य वहाँ अथवा उस नगर में अब कोई नही रहते।

दीक्षा तथा अध्ययन

सुदरदास केवल छह वर्ष की अवस्था में ही दादू दयाल के शिष्य हो गए थे। कहा जाता है कि जव दादू दयाल (स० १६५८–१६५९ मे) द्यौसा मे ठहरे हुए थे, उस ममय इनके पिता इन्हें लेकर उनकी सेवा मे पहुँचे थे और उनके चरणो में डाल कर उनसे दीक्षा का प्रसाद माँगा था। सुदरदास ने भी लिखा है कि 'दादूजी जव द्यौसा आये, वालपने मुँह दर्शन पाये' तथा 'तिनही दीया आपुतें सुदर के सिर हाथ'। इनका नाम 'सुदर' भी कदाचित् स्वय दादू दयाल ने ही रखा था और पहले से उनके एक अन्य शिष्य का भी नाम सुदर-दास होने के कारण ये 'छोटे सुदरदास' कहला कर प्रसिद्ध हुए। ये अपने गुरु के परम भक्त थे और उनकी प्रशसा इन्होने अपनी अनेक रचनाओ के अतर्गत

प्रबोधता में वे रज्जबजी से किसी प्रकार कम न थे उनसे बढ़ कर ही समझे जा सकते हैं। परन्तु रज्जबजी की उक्तियाँ मस्ताने सूफियों के ढंग की उतरी हैं और वे दादू दयाल के अधिक अनुरूप कही जा सकती हैं। इसी प्रकार रज्जबजी के यहाँ कुल मिला कर ११ छोटे ग्रंथ हैं, वहाँ सुंदरदास की ऐसी रचनाएँ ३७ से कम नहीं। रज्जबजी ने साखियाँ अधिक लिखी हैं और उनके पद भी बहुत सरस तथा गंभीर हैं किंतु सुंदरदास के सवैये तथा मनहर छंद अत्यंत सुंदर तथा सजीव हैं। वास्तव में छंदों का बाहुल्य जितना रज्जबजी में पाया जाता है, उससे कहीं अधिक हमें सुंदरदास की रचनाओं में मिलता है। रज्जबजी की भाषा अधिकतर राजस्थानी है जिसमें उनका अनुभव कूट-कूट कर भरा हुआ है और उसका समझना कभी-कभी कठिन हो जाता है। किंतु सुंदरदास की भाषा में ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली की भी प्रचुरता है और उसमें माधुर्य सरलता तथा अर्थ की गंभीरता साथ-साथ रहती है। रज्जबजी तथा सुंदरदासजी दोनों ही वास्तव में दादू-शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ समझे जाने योग्य थे।[1] जब सुंदरदास सं० १७४६ में रज्जबजी से मिलने अंतिम बार सांगानेर पहुँचे तब इन्हें पता चला कि उनकी परमगति हो चुकी है। अतएव ये उनके वियोग को सहन नहीं कर सके और उसी वर्ष इन्होंने भी शरीर त्याग दिया।

अन्य गुरु-भाई तथा समकालीन

सुंदरदास को अपने अन्य गुरु-भाइयों के साथ भी संपर्क में आने तथा उनके साथ सौहार्द्र प्रदर्शित करने का अवसर मिला था। उनमें बड़सीदास प्रागदास जगजीवनजी संतदास बखनाजी आदि प्रसिद्ध हैं। इनके समकालीन प्रसिद्ध पुरुषों में तुलसीदास (सं० १५८९ १६८०) जी जैनकवि बनारसीदास (सं० १६४३ जन्म संवत्) सिक्ख कवि भाई गुरुदास (सं० १६ ८ १६९६) तथा महाकवि केशवदास (सं० १६ २ १६७४) के नाम लिये जा सकते हैं। तुलसीदास जी के साथ तो इन्हें काशी के असीघाट पर सं० १६६३ से सं० १६८० तक रहने का सौभाग्य प्राप्त था। संभव है ये उनके देहावसान के अवसर पर उपस्थित भी रहे हों। भाई गुरुदास के साथ सुंदरदास की भेंट के संबंध में कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं किंतु दोनों की अनेक रचनाओं का मिलान करने पर अद्भुत साम्य दीख पड़ता है। इसी प्रकार 'विचार-माला' के रचयिता अनाथदास के विचारों के साथ भी सुंदरदास के सिद्धांतों का आश्चर्य

---

१ पुरोहित हरिनारायण शर्मा सुंदर-ग्रंथावली प्रथम खंड, जीवन चरित पृ० ५७१।

उपनाम 'जान कवि' बतलाया जाता है। फतहपुर में रहते समय सुदरदास का कई प्रकार के चमत्कारो का प्रदर्शन करना भी प्रसिद्ध है, किंतु ऐसी बातें अधिकतर श्रद्धा के कारण कभी-कभी पीछे भी गढ ली जाती हैं।

देश-भ्रमण

सुदरदास को देशाटन बहुत अच्छा लगता था। फतहपुर के निवास काल में भी ये कभी-कभी बाहर निकल जाया करते थे। पूर्व की ओर विहार, बगाल, उडीसा-जैसे प्रदेशो तक भ्रमण कर चुके थे। दक्षिण की ओर गुजरात, मध्यप्रदेश, मालवा आदि गये थे। पश्चिम मे द्वारका तथा उत्तर में बदरिकाश्रम तक पहुँच कर सब कही के भिन्न-भिन्न स्थानो तथा समकालीन महापुरुषो के प्रभावो द्वारा अपने को लाभान्वित किया था। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पजाब तथा दिल्ली के तो अनेक नगरो में ये कई बार गये थे और कई स्थानो पर बहुत दिनो तक ठहर कर इन्होने वहाँ सत्सग भी किया था। इनके देशाटन-सबधी अनुभवो का कुछ पता इनके उन सवैयो से भी चलता है जो इन्होने समय-समय पर अपनी यात्राओ के समाप्त होने पर लिखे थे। इन देशाटन के सवैयो से जान पडता है कि इन्हें कई स्थानो का अनुभव अच्छा नही हुआ था। ये उनके लिए कुछ कटु शब्दो तक के प्रयोग करते हैं। परन्तु ऐसी कटूक्तियाँ अधिकतर इनकी विनोदप्रियता की भी सूचक हो सकती हैं। सभव है उनमें निंदा की मात्रा बहुत कम हो। इन्होने इन विविध प्रदेशो में प्रचलित भाषाओ के भी प्रयोग अपनी ऐसी अनेक रचनाओ में किये हैं। इन यात्रा वाले स्थानो में इन्हें कुरसाना गाँव अधिक प्रिय था जो मरवाड में पीपाड और खाँगटा स्टेशनो से अनुमानत २-३ कोस पर वर्तमान है। यहाँ पर ये अन्य कई स्थानो मे भ्रमण कर के ही गये थे, जैसा उनके 'ताहिते आन रहे कुरसानें' से प्रकट होता है। यहाँ की सुदर जलवायु के कारण इन्होने कदाचित् कुछ अधिक समय तक यहाँ प्रवास भी किया था।

सुदरदास तथा रज्जबजी

अपने गुरु-भाइयो में से जिन-जिन के प्रति सुदरदासजी विशेष श्रद्धा के भाव रखते थे, उनमें एक रज्जबजी थे। गुरु-वाणियो के समझने में इन्होने रज्जबजी तथा जगजीवनजी से विशेष सहायता ली थी और रज्जबजी से सत्सग करने के लिए तो ये बहुधा साँगानेर जाते-आते रहते थे। पुरोहितजी ने रज्जबजी तथा सुदरदास की तुलना करते हुए लिखा है कि ये दोनो ही सत बडे प्रतिभाशाली थे। इन दोनो में से रज्जबजी को जहाँ गुरु दादू दयाल के सपर्क में रहने का अवसर स० १६४४ से १६६० तक मिला था, वहाँ सुदरदासजी उनके साथ केवल वर्ष भर के ही लगभग रहे थे। फिर भी वेदात, साख्य तथा साहित्यिक

(ग) अन्य दादू-शिष्य तथा प्रशिष्य

गरीबदास जी

इन दो प्रधान दादू-शिष्यों के अतिरिक्त जिन अन्य ऐसे व्यक्तियों ने अपनी रचनाओं आदि के द्वारा विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण किये हैं उनमें सर्वप्रथम नाम कदाचित् गरीबदास का आता है जो संत दादूदयाल के बड़े पुत्र शिष्य तथा उनके उत्तराधिकारी बन कर गद्दी पर बैठनेवाले महापुरुष भी थे। किसी माधोदास द्वारा रचित 'संतगुणसागर' नामक ग्रंथ के आधार पर स्वामी मंगलदासजी ने लिखा है कि ये दादू दयाल जी के औरस पुत्र न होकर उनके केवल पोष्य पुत्र थे। इनके पिता वास्तव में सांभर निवासी दामोदरजी थे जो पहले संतानहीन रहने के कारण परम दुखी रहा करते थे। कहते हैं कि पत्नी सहित इन्होंने इसके लिए दादू दयालजी की सेवा की जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने दो लौंग और दो इलायची प्रदान किये। फलतः इन्हें गरीबदास तथा मस्कीनदास नामक दो पुत्र तथा रामकुँवारी तथा शोभाकुँवारी नामक दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। उनको इन्होंने उन्हें ही समर्पित कर दिया और तब से ये चारों उनकी संतान कहला कर प्रसिद्ध हो गए।[1] परन्तु जनगोपाल की 'परची' अथवा राघोदास की भक्तमाल' के अंतर्गत इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता प्रत्युत इनका वहाँ उनका औरस पुत्र होना ही जान पड़ता है। गरीबदास का जन्म सं. १६१२ में हुआ और सं. २८ वर्ष की अवस्था में उत्तराधिकारी बने थे। सं. १६९३ में इनका देहांत हुआ था। ये एक शांतिप्रिय महात्मा होने के साथ कुशल कवि गायक तथा वीणाकार भी थे। इनकी प्रशंसा सभी लोगों ने की है। इनके नाम से नराणे में एक तालाब 'गरीब सागर' कहला कर प्रसिद्ध है। इनकी बानियों की संख्या २१ तक बतलायी जाती है, किन्तु वास्तव में अभी तक इनकी केवल चार ही रचनाएँ मिली हैं। इनके नाम अनभै प्रबोध साखी' चौबोला तथा पद हैं। इन सभी को एक साथ 'गरीबदासजी की बाणी' नामक एक संग्रह-ग्रंथ के रूप में संपादित करके स्वामी मंगलदासजी ने प्रकाशित करवाया है।

प्रागदास बिहाणी, चाँदजी चतुर्भुजजी आदि

इसी प्रकार प्रसिद्ध दादू-शिष्यों में एक नाम प्रागदास का आता है। कहते हैं कि ये एक भजन ध्यानशील और प्रभावशाली व्यक्ति थे। इन्हें अनेक प्रकार की मार्ग-सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं। इनका देहांत कार्तिक बदी ८ सं. १६८८

[1] गरीबदास की की बानी, जयपुर, सं. २००४ प्राक्कथन पृ. 'ड'।

जनक मेल खाता है। दोनो के समकालीन होने के कारण उनकी भेंट का अनुमान किया जा सकता है।

मृत्यु

सुदरदास अपने अतिम समय मे साँगानेर चले गए थे। वही पर मिती कार्तिक सुदी ८ सवत् १७४६ को इनका देहात हो गया और पथ की प्रचलित प्रथा के विपरीत इनके शव का अग्नि-सस्कार किया गया।

रचनाएँ

सुदरदास ने कुल छोटे-बडे मिला कर ४२ ग्रथो की रचना की थी जिनमे से सभी 'सुदर-ग्रथावली' के अतर्गत बडे अच्छे ढग से सपादित किये जा चुके हैं। इनकी रचनाओ का समय स० १६६४ से १७४२ तक समझा जाता है और दो-एक ग्रथो मे उनका रचना-काल स्पष्ट रूप मे दे भी दिया गया हैं। इनके वडे ग्रंथो मे सबसे उत्तम 'ज्ञानसमुद्र' और 'सवैया' हैं। दूसरे ग्रथ को कभी-कभी 'सुदरविलास' भी कहा जाता है। 'ज्ञानसमुद्र' की रचना स० १७१० मे हुई थी। इसमे कुल पाँच उल्लास वा अध्याय हैं जिनमे क्रमश गुरु, नववा-भक्ति, अष्टाग-योग, सेश्वर साख्य-मत तथा अद्वैत ब्रह्म-ज्ञान का पाडित्यपूर्ण निरूपण किया गया है। ग्रथ का मुख्य उद्देश्य वेदात-शास्त्र की सर्वोच्चता का प्रतिपादन कर साख्य तथा भक्ति को उसका आवश्यक अग ठहराना जान पडता है। लेखक ने अपने रचना-नैपुण्य द्वारा एक नीरस विषय को भी बडी सफलता के साथ ३४ प्रकार के छदो द्वारा स्पष्ट किया है। इनका 'सुदरविलास' अथवा 'सवैया' नामक ग्रथ 'ज्ञान-समुद्र' से भी अधिक प्रसिद्ध है। इसमे कुल ५६३ छदो द्वारा अनेक विषय प्रतिपादित किये गए हैं। इसके विषय साखी-सग्रहो की भाँति भिन्न-भिन्न अगो के अतर्गत रखे गए हैं। उनका वर्णन अत्यत ललित तथा रोचक भाषा मे हुआ है। सुदरदास की रचनाओ से स्पष्ट है कि काव्य-कौशल के प्रदर्शन मे वे किसी कवि से कम नही और सत-कवियो में ये निस्सदेह सर्वश्रेष्ठ हैं।

शिष्य-परपरा

सुदरदास के कई शिष्य थे, किंतु उनमे से प्रसिद्ध पाँच थे। इनके नाम दयालदास, श्यामदास, दामोदरदास, निर्मलदास तथा नारायणदास है। इनमे से नारायणदास इन्हे सबसे प्रिय थे, किंतु उनका देहावसान इनके जीवन-काल मे ही हो गया था। इन पाँचो शिष्यो के अपने-अपने थाँवे थे, किंतु इनमे सबसे बडा फतहपुर का था, जहाँ नारायणदास के शिष्य दयाराम गद्दी पर बैठे थे। फतहपुर का थाँवा अब तक चल रहा है, किंतु इनका सबसे बडा स्मारक इनके ग्रथो का सग्रह है। इसे अध्ययन करने पर पता चलता है कि राघोदास ने इन्हे 'दुतिय सकराचारज' क्यो कहा होगा।

साहित्य[1] आगरा में प्रकाशित हो चुकी है और वहीं[2] एक अन्य भी 'मैना को सतु' नाम से प्रकाशित है जिसके रचयिता खेमदास 'अवरोहा' का निवासी जान पड़ता है।

राघोदास

संत दादू दयाल के प्रशिष्यों में राघोदास अपनी 'भक्तमाल' के लिए प्रसिद्ध हैं। ये बड़े सुंदरदास के शिष्य प्रह्लाद दास के पौत्र शिष्य थे। इन्होंने अपनी उक्त रचना आषाढ़ शुक्ल ३ सं० १७१७ में प्रस्तुत की थी। उस पर छोटे सुंदरदास की सातवीं पीढ़ी के चतुरदास ने भादों बदी १४ सं० १८५७ को अपनी टीका लिखी थी। उक्त 'भक्तमाल' का मूल आधार प्रसिद्ध नाभादास की ही भक्तमाल जान पड़ती है, किंतु फिर भी राघोदास ने अपनी रचना में अनेक विशेषतायें भी ला दी हैं। यह ग्रंथ संत-परंपरा के इतिहास के लिए बहुत उपयोगी है। नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में जहाँ नानक-जैसे संतों की भी चर्चा नहीं की है, वहाँ राघोदास ने इस विषय पर विशेष ध्यान दिया है। इन्होंने कबीर, नानक, दादू तथा जगन नामक चार संतों के संबंध में लिखते हुए बतलाया है[3] और प्रत्येक की पद्धति का विवरण उसकी शिष्य-परंपरा के क्रम से दी है। इन्होंने इसी प्रकार रामानुज, विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य तथा निंबार्क नामक चतु सम्प्रदायों भक्तों के संबंध में भी लिखा है। योगी, सन्यासी, बौद्ध, जैन, सूफी, श्रमण तथा षड्दर्शन वादियों का भी परिचय कराया है। इनके अतिरिक्त ७१ अन्य भक्तों को भी स्थान दिया है।

साधु निश्चल दास

दादू-पंथी साहित्य के प्रमुख रचयिताओं में साधु निश्चल दास का भी नाम बहुत प्रसिद्ध है। ये पंजाब प्रांत के हिसार जिले की हाँसी तहसील के कूँगड़ गाँव के निवासी थे और जाति के जाट थे। इनका शरीर अत्यंत सुंदर और सुडौल था और अपने बचपन में ही इन्हें किसी दादू-पंथी साधु द्वारा दीक्षा मिल चुकी थी। संस्कृत पढ़ने की बड़ी लालसा के रहते हुए भी ये जाट जाति में उत्पन्न होने के कारण उस भाषा का विधिवत् अध्ययन किसी पंडित द्वारा नहीं कर पाते थे। अंत में ये

---

१ भारतीय साहित्य, आगरा, अक्तूबर १९५९, पृ० १४०-५१।

२ वही, जुलाई १९५९, पृ० ६६-७६।

३ ये च्यारि महंत च्हूँ चकवै च्यारि पंथ निरगुण थपे।
नामक कबीर, दादू, जगन राघो परमातम जपे ॥३४२॥

मे हुआ था। कहा जाता है कि इस बात के स्मारक रूप में एक शिलालेख भी फतेहपुर मे वर्तमान है। इनका थाँवा डीडवाणे में बतलाया जाता है और इनकी वाणियो की सख्या ४८००० तक कही जाती है। जगजीवनदास भी एक ऐसे ही शिष्य थे जिनका पहले एक महान् पडित तथा वैष्णव सम्प्रदाय का अनुयायी और दार्शनिक भी रहना प्रसिद्ध है। ये बहुत दिनो तक वाराणसी मे रह कर अध्ययन कर चुके थे और वहाँ से ढूढारग चले आये थे। इन्होंने आमेर में जाकर दादूदयाल जी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा, किंतु उनके गभीर निर्मल स्वभाव के सामने उनकी एक न चली और ये उनके शिष्य हो गए। इनका थाँवा डिलडी अथवा द्यौसा में है और इनकी रचनाएँ भी बहुत बतलायी जाती हैं। परन्तु इनमें से 'शब्द', 'साखी', 'लघुग्रन्थावली' आदि प्रसिद्ध है और इनकी वाणी का एक सग्रह उक्त डिलडी मे सुरक्षित है। दादू-शिष्यो मे एक पठान व्यक्ति वाजिद जी भी थे जो अपनी युवावस्था में आखेट के समय किसी गर्भिणी हरिणी की हत्या करने के कारण, ग्लानि में पड कर शिष्य हुए थे। ये अपनी 'अरिल्लो' के लिए अधिक प्रसिद्ध है जिनमें से १३५ का एक सग्रह 'पचामृत' के अतर्गत प्रकाशित हो चुका है।[1] इनके आज तक उपलब्ध सभी ग्रथो वा रचनाओ की सख्या ४० तक बतलायी गई है।[2] इसी प्रकार मुस्लिम दादू-शिष्यो में से एक अन्य का नाम बखनाजी था जो जाति के मीरासी थे और एक बडे सगीतज्ञ भी थे। इनकी वाणियाँ भी बहुत सुदर तथा सारगर्भित हैं और उनका एक सग्रह 'बखनाजी की वाणी' के नाम से प्रकाशित भी हो चुका है।[3] उपर्युक्त 'पचामृत' नामक सग्रह के अतर्गत वाजिदजी को छोड कर भीखजन, बालकराम, छीतरजी तथा खेमदासजी की रचना प्रकाशित हो चुकी है।[3] उनमें से भीखजन जी फतेहपुर-निवासी ब्राह्मण थे। दादू-शिष्य सतदास जी के शिष्य थे जिनके एक अन्य शिष्य चतुरदासजी द्वारा लिखित कोई 'श्रीमद्भागवत' ('एकादश स्कध', रचना-काल स० १६०?) का भी उपलब्ध होना बतलाया जाता है। बालकरामजी छोटे सुदरदासजी के शिष्य थे और छीतरजी तथा खेमदासजी के लिए कहा जाता है कि ये दोनो रज्जबजी के शिष्य थे। उन खेमदास की एक छोटी-सी रचना 'गोपीचदकी वैराग बोध' नाम से प्रकाशित

---

१ पचामृत, स० स्वामी मगलदास, जयपुर १९४८ ई०, पृ० ६६-९२।

२ हिंदुस्तानी (पत्रिका), इलाहाबाद, भा० २३ अ० १, पृ० १५०-१।

३ पचामृत, पृ० १-२१, पृ० २२-४१, पृ० ४२-५७ तथा पृ० ५८-६५।

जा रहे थे। इनका देहांत दिल्ली में रह कर सं० १९२ में हुआ था। इनका गुरु-द्वारा सिहुरौली गाँव में वर्तमान है जो दिल्ली से १८ कोस पर है। वहाँ पर इनकी शिष्य-परंपरा तथा पाठशाला आज भी चल रही है। 'विचार-सागर' इन्होंने वहीं पर लिखा था।

(३) परब्रह्म सम्प्रदाय और दादू-पंथ

नामकरण

संत दादू दयाल के परब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना के संबंध में उनके जीवन-चरित की चर्चा करते समय प्रसंगवश कुछ पहले ही कहा जा चुका है। उसका आदिगुरु स्वयं परब्रह्म होने के कारण इस सम्प्रदाय का ऐसा नामकरण किया गया था जैसा दादू शिष्य छोटे सुंदरदास की एक रचना से विदित होता है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'गुरु-सम्प्रदाय' के अंतर्गत स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि सबका गुरु एक परमात्मा है जिसने यह सारी चित्रकारी की है और वही सबके भीतर विद्यमान भी है। उसी का नाम ब्रह्मानंद कहा जा सकता है जिससे क्रमशः शिष्य-परंपरा-नुसार पूर्णानंद अच्युतानंद आदि से लेकर वृद्धानंद तक नामावली प्रस्तुत होती है और इस अंतिम पुरुष वृद्धानंद के ही शिष्य दादू दयाल थे। अतएव परंपरा के परब्रह्म से चलने के कारण इसे यह नाम देते हैं।[1] परन्तु सुंदरदास ने उक्त ग्रंथ में दादू दयाल को छोड़ कर जितने नाम अन्य गुरुओं के गिनाए हैं उनमें से कोई भी किसी व्यक्ति-विशेष के नाम नहीं जान पड़ते। दादू दयाल के प्रसिद्ध गुरु वृद्धानंद के विषय में भी उन्होंने यही कहा है कि उनका कोई भी 'ठौर ठिकानौं' नहीं वह सहजरूप में ही विचरण करते हैं। और जहाँ इच्छा होती है, वहाँ वे जाते हैं। अतएव जान पड़ता है कि अपने गुरु के ऊपर वाले सभी नामों को उन्होंने आत्मानुभूति की क्रमोन्नत भूमियों की कल्पना के अनुसार यों ही रख दिया है। परब्रह्म तक अपने से केवल ३७ पुरुषों के ही नाम बतलाना अन्य प्रकार से विचार करने पर भी नितांत भ्रमात्मक ही समझ पड़ेगा। सुंदरदास ने इस सम्प्रदाय की चर्चा करते समय अपने एक अन्य ग्रंथ में भी कहा है कि "सद्गुरु ब्रह्म-स्वरूप है और वे संसार में शरीर धारण कर ऐसे शब्द प्रकट करते हैं जिनसे सारे संशय नष्ट हो जाते हैं। हृदय में शीघ्र ही ज्ञान का प्रकाश हो जाता है और करोड़ों सूर्यों की दीप्ति के सामने अंधकार का नाममात्र भी नहीं रह जाता। तदनुसार जिस समय दो विरोधी दल आपस में लड़ते झगड़ते हुए थक रहे थे उसी समय दादू दयाल ने इस परब्रह्म-सम्प्रदाय को सर्वत्र प्रचलित किया।[2]

---

१ सुंदर ग्रंथावली पु० हरिनारायण शर्मा-संपादित पृ० १९७-२ १।
२ वही पृ० २४४।

काशी पहुँचे और इन्होने अपने को ब्राह्मणो का वशज वतला कर किसी पडित के यहाँ पढना आरभ कर दिया तथा अन्य शास्त्रो के साथ-साथ वेदात के गूढ दार्शनिक सिद्वातो पर भी पूर्ण अविकार प्राप्त कर लिया। इन्होने अपनी रचना 'विचार-सागर' के अत मे स्वय भी कहा है।[1]

किसी ब्राह्मण को अपनी कन्या का विवाह करना था, किंतु उसे कोई उपयुक्त वर नही मिलता था। उसने निश्चलदास को देखते ही पसद कर लिया। परन्तु ये अभी तक अपनी जाति के भेद को गुप्त रखे हुए थे और उक्त ब्राह्मण के वहुत आग्रह करने पर इन्होने विवश होकर अपना सारा रहस्य खोल दिया। यह भी कह दिया कि जाट जाति का होने के अतिरिक्त मैं दादू-पथी भी हूँ। इस पर ब्राह्मणो ने रुष्ट होकर आदेश दिया कि इस बात के दड-स्वरूप तुम्हे अपने गार्हस्थ्य-जीवन मे दो विवाह करने पडेगे और घर आने पर इन्होने वैसा ही किया। घर लौटने पर ये अपने विवाह के अनतर वही रह कर वेदात की शिक्षा देने लगे। इनका इस प्रकार का अध्ययन-अध्यापन अत तक चलता रहा। कहा जाता है कि बूंदी के राजा राम सिंह ने इन्हे गुरु-भाव के साथ वहुत दिनो तक अपने यहाँ रखा था और इनसे दीक्षा भी ग्रहण की थी। इन्होने 'विचार-सागर', 'वृत्तिप्रभाकर' तथा 'मुक्ति-प्रकाश' नामक तीन गथो की रचना की जो सभी प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होने 'कठोपनिषद्' की एक व्याख्या सस्कृत मे की है और एक ग्रथ वैद्यक का भी लिखा है। इनके 'विचार-सागर' (रचना-काल लगभग स० १९१४) के अनुवाद मराठी, बँगला तथा अँगरेजी भाषाओ मे हो चुके हैं। स्वामी विवेकानद-जैसे महान् पुरुप ने इसे भारत के अतर्गत तीन शताब्दियो मे लिखे गए किसी भी भाषा के ग्रथो मे सबसे अविक प्रभावशाली[2] वतलाया है। प्रसिद्ध है कि न्याय-शास्त्र का अध्ययन करने ये नदिया, वगाल भी गये थे। इन्हे छदशास्त्र का भी वहुत अच्छा ज्ञान था जिसे इन्होने उसके प्रसिद्ध मर्मज्ञ 'रमपुजजी' से उस समय प्राप्त किया था जव वे काशी मे गगा नदी मे खडे-खडे शरीर-याग करने

---

१ साख्य न्याय में श्रम कियो, पढि व्याकरण अशेष।
पढे ग्रथ अद्वैत के, रहे न एकहु शेष ॥१११॥
कठिनजु और निबध हैं, जिनमे मत के भेद।
श्रमतें अवगाहन किये, निश्चलदास सवेद ॥११२॥

2 "It has more influece in India than any that has been written in any language within the last three centuries" —Vivekananda Complete Works Vol IV, p 281

में लाया। अपने पहले उद्देश्य की सिद्धि के विषय में विचार करते समय उन्होंने सोचा "यदि पवन पानी पृथ्वी आकाश सूर्य चंद्र जैसे प्राकृतिक पदार्थ किसी एक पक्ष में रह कर काम नहीं करते। यदि ब्रह्मा विष्णु महेश का कोई भिन्न पंथ नहीं न मुहम्मद या जिब्राइल के लिए ही कोई पृथक नवीन मार्ग बतलाया जा सकता है तो फिर किसी एक पंथ-विशेष का अनुयायी बन कर ही क्या रहा जाय। क्या न उन सबको अनुप्राणित करनेवाले उक्त एक मात्र 'जगत गुरु अलख इलाही' पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया जाय जिसके सिवाय अन्य कोई दूसरा हो भी नहीं सकता"।[1] किसी पक्ष-विशेष का आश्रय लेना अथवा किसी पंथ-विशेष का अनुगमन करना तो अद्वितीय ब्रह्म को खंड-खंड करके अपनाने की चेष्टा करना है जिस कारण सारे अनर्थ आ खड़े हो जाते हैं[2]। अतएव जिस प्रकार उक्त सभी प्राकृतिक पदार्थ उस एक जगन्नियंता तथा जगदाधार के अंग होकर सदा एक समान अपने कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ रहते हैं जिस प्रकार उक्त ब्रह्मादि अथवा मुहम्मदादि के लिए भी उसके अतिरिक्त कोई नवीन भिन्न मार्ग निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता उसी प्रकार हमें भी चाहिए कि उसी मूल वस्तु को समझने और उसे भली भाँति अनुभव कर अपनाने की ओर उन्मुख हो जायें केवल निष्पक्ष भाव को ही ग्रहण करें।

इसी प्रकार उन्होंने उक्त दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के संबंध में भी विचार किया। अंत में वे इस निर्णय पर पहुँचे कि आदर्श ढंग से जीवन व्यतीत करने के लिए

---

१ ये सब किसके पंथ में धरती अरु असमान।
पानी पवन दिन राति का चंद सूर रहिमान ॥११३॥
ब्रह्मा बिस्नु महेस का कौन पंथ गुरदेव।
साँई सिरजनहार तू कहिये अलख अभेव ॥११४॥
महम्मद किसके दीन में जबराइल किस राह।
इनके मुर्सिद पीर को कहिये एक अलाह ॥११५॥
ये सब किसके ह्वै रहे यहु मेरे मन माँहि।
अलख इलाही जगतगुर, दूजा कोई नाँहि ॥११६॥
— दादू दयाल की बानी 'साच को अंग' ११३-११६, पृ २०१।

२ खंडि खंडि ब्रह्म को पखिपखि लीया बाँटि।
दादू पूरन ब्रह्म तजि बंधे भरम की गाँठि ॥५ ॥
— वही 'साच को अंग' ११३ ११६, पृ १९२।

परन्तु 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' वा 'परब्रह्म-सम्प्रदाय' नाम स्वय दादू दयाल का रखा हुआ प्रतीत नही होता, क्योकि उनकी किसी रचना मे इसका पता नही चलता। उनके शिष्य रज्जवजी ने भी कदाचित् इस नाम का प्रयोग कही नही किया है। एक पद उनका अपने गुरु दादू दयाल के विषय मे इस प्रकार अवश्य है।[1] किंतु इससे केवल इतना ही प्रकट होता है कि ये उन्हे परब्रह्म के प्रियपात्र तथा वस्तुत परब्रह्मवत् ही मानते थे। दादू दयाल की रचनाओ मे एक स्थल पर परब्रह्म-सम्प्रदाय के अनुयायी के लिए दादू-पथी शब्द आया है।[2] कई प्राचीन प्रतियो मे पायी जाने के कारण वह पवित प्रक्षिप्त भी नही कही जा सकती। अतएव सभव है परब्रह्म-सम्प्रदाय वा ब्रह्म-सम्प्रदाय नाम का प्रयोग पहले पहल सुदरदास ने ही किया हो। ऐसे नाम रखने की परिपाटी प्रसिद्ध चतु सम्प्रदाय वाले रामानुज, निंवार्क, विष्णु स्वामी तथा मध्वाचार्य के अनुयायी लोगो मे भी चलती आ रही थी। जान पडता है उसी का अनुकरण किया गया। फिर भी इस नाम की अर्थवत्ता इस बात से भी स्पष्ट हो जाती है कि सुदरदास तथा दादू दयाल के अन्य अनुयायियो ने आगे चल कर वेदात के मुख्य-मुख्य सिद्धातो का ही विशेष रूप से प्रतिपादन किया था। उक्त दर्शन के अनुसार परब्रह्म ही एक मात्र पारमार्थिक सत्ता समझा जाता है।

प्रवर्त्तक की प्रेरणा

दादू दयाल ने अपने इस सम्प्रदाय का सूत्रपात अपने साथियो की गोष्ठी के अतर्गत आध्यात्मिक तत्त्वो की चर्चा द्वारा किया था। उनका मुख्य उद्देश्य यही था कि किस प्रकार प्रचलित परस्पर-विरोधी धर्मों वा सम्प्रदायो के बीच समन्वय लानेवाली बातो का निरूपण किया जाय। इसके सिवाय उनकी यह भी इच्छा थी कि ऐसे यत्नो द्वारा सर्वसाधारण के लिए भी सुलभ तथा उपयोगी सिद्ध होनेवाले किसी जीवन-पद्धति का निर्माण किया जाय और उसका सब कही प्रचार करके सब किसी को लाभान्वित करने की चेष्टा की जाय। उक्त गोष्ठी वा समाज के सगठन के पूर्व उन्होने बहुत दिनो तक एक पहाडी के निकट गुफा मे रह कर आत्म-चिंतन भी किया था। उस अनुभव को भी उन्होंने इस अवसर पर काम

---

१ 'आये मेरे पारब्रह्म के प्यारे।
त्रिगुण-रहित निरगुण निज तमरत, सकल साग गहि डारे।'
—महात्मा रज्जवजी, राजस्थान, वर्ष १, खड २, पृ० ७५ पर उद्धृत।

२ 'दुर्बल देही निर्मल वाणी, दादूपंथी ऐसा जाणी'। ४१।
—दादू दयाल की वाणी, चद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी-संपादित, पृ० ३१८।

वही इसके हृदय मे अपना घर कर प्रवेश करता है।[1] ये कबीर साहब के विचारों से भली भाँति परिचित थे। यदि जनश्रुति ठीक है तो बुड्ढन या बृद्धानन्द की कबीर-परंपरा में ही होने से ये अपने को उसी मार्ग का अनुयायी भी मानते थे। जो हो किसी प्रकार के दार्शनिक पचड़े की उधेड़-बुन म न पड़ कर इन्होंने कबीर साहब द्वारा ही स्वीकृत परमतत्त्व को अपना भी ध्येय मान लिया। ये स्पष्ट शब्दो म कहते है, 'मेरा भी इष्टदेव वही परमात्मा है जिसे कबीर साहब ने अपनाया था। मैं सभी प्रकार से उसी एक के प्रति अपने को न्योछावर करूँगा मुझे अन्य किसी से काम नही न इस विषय मे मुझे कुछ और सोच विचार करने की आवश्यकता है।

परमतत्त्व का स्वरूप

दादू दयाल उस परम तत्त्व को सर्वत्र एक समान व्याप्त और भरपूर समझते है। उसके सिवाय किसी भी अन्य वस्तु का अस्तित्व नही मानते। ये उस हरितत्त्व को स्पष्ट करने के लिए उसे सरोवर का रूपक देते है। वे कहते है, "हरि का सरोवर सर्वत्र पूर्ण है जहाँ चाहो उसका पानी पी लो उसके भीतर कही भी आचमन करते ही जीव की तृषा बुझ जाती है और वह सुखी हो जाता है। फिर उस शून्यमय सरोवर का पानी निरंजन स्वरूप है। मन उसम मीन की भाँति रम जाता है। यह मसरु और अभेद का तत्त्व ऐसा है जिसके रस में सदा विलास किया जा सकता है। इसी प्रकार 'जैसे सरोवर मे हंस विहार करता है, उसी प्रकार परमात्मा म आत्मा उस प्रियतम के साथ हिलमिल कर नित्य खेला करता है। इस सरोवर को य 'सहज का सरोवर' भी कहते है और बतलाते हैं 'उसकी तरगें प्रेम की हुआ करती है और आत्मा वहाँ पर अपने स्वामी के साथ सदा मौज मे झूला करता है। ये उस तत्त्व को ही अपना 'पिव' अर्थात् प्रियतम भी कहते है और बतलाते है कि सभी दिशाओ मे मैं केवल उसी एक को देखता और भीतर भी अनुभव करता हूँ। वह बिना बत्ती और बिना तेल के जलते हुए दीपक की भाँति चारो ओर सूर्यवत् प्रकाश कर रहा है और प्रत्येक राम के भीतर भी उसी प्रकार व्याप्त है।[2] उक्त प्रेम की तरगो की व्याख्या करते हुए इन्होंने

---

१ 'जथा संत कबीर का सोई वर वरिहूँ।
मनसा वाचा कर्मना मैं और न करिहूँ' ॥११॥
—दादू दयाल की बानी 'सबद को अंग' १४ पृ २७१।

२ वही 'पीव पिछाण' ११ पृ २६५।

३ वही 'परचा को अंग' ६२, ६५, ७२ ७४ ८७ तथा ७८
पृ ७२-५।

त्रिविध प्रकार के प्रपचो मे पडने अथवा बाहरी आडवरो के फेर मे रह कर समय नष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं। बहुधा देखने मे आता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के अनुयायी वर्ग अपने अपने कल्पित इष्टदेवो को रिझाने की चेष्टा मे अनेक प्रकार की तैयारियाँ किया करते हैं। अपने को विविध भेषो द्वारा सुसज्जित करके गर्व के साथ एक निराले पथ का पथिक मान बैठते है। इसके सिवाय उनके जीवन का एक बहुत बडा अश व्यर्थ के पूजन, पाठ, व्रत, उत्सव, तीर्थ-जैसे बाह्य प्रदर्शनो मे ही बीत जाता है। अपना हृदय सच्चे ढग से भगवान के प्रति उन्मुख करने के लिए उन्हे थोडा-सा भी अवसर नही मिलता। उक्त अनेक विधानो की विभिन्नताओ की उलझनो मे पड कर वे प्राय आपस मे लडने-भिडने तक लग जाते है। अतएव इन सभी बुराइयो से अलग रह कर एक सीधा-सादा जीवन-यापन करने का ढग उन्होने ढूँढ निकाला और अपने इस मत का निष्कर्ष भी उन्होने बतलाया, "अपने अहकार का सर्वथा त्याग कर भगवान का भजन करे, अपने तन-मन मे किसी प्रकार के विकार न आने दे और सभी प्राणियो के साथ निर्वैर भाव रखे।"[1] इसके परिणाम का कभी दु खप्रद होना सभव नही कहा जा सकता।

कबीर साहब का प्रभाव

दादू दयाल को कबीर साहब मे बडी आस्था थी और इन्होने उनका नाम बडी श्रद्धा के साथ लिया है। ये उनकी साधना-पद्धति को बहुत कठिन बतलाते हैं। कहते हैं कि उनकी चाल के निराधार होने अर्थात् किसी साकार प्रतीक पर अवलबित न रहने के कारण कोई उनका अनुसरण साधारण प्रकार से नही कर सकता। यदि वैसा करना चाहेगा तो मृग की भाँति उछल-कूद मचा कर हो गिर पडगा, वहाँ पर जम नही सकेगा।[2] इसी प्रकार उनकी रहनी को भी ये वैसी ही दु साध्य मानते हैं। वे कहते हैं कि उनका यह ढग भी विचित्र है, क्योकि वे निराधार के साथ अपने को उस स्थिति मे रखा करते है, जहाँ काल की भी दाल नही गलती। फिर भी इन्हे कबीर साहब के प्रति बडा आकर्षण है। ये उन्ही के उपदेश को वास्तव मे सच्चा समझते हैं और वही उनको मीठा भी लगता है। उसे सुनते ही इन्हे परम सुख की प्राप्ति होती है और बडा आनद भी होता है, क्योकि

---

१ 'आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निर्बैरी सब जीवसौं, दादू यह मत सार' ॥२॥
—दादू दयाल की वाणी, 'दया निर्वैरता कौ अग' २, पृ० ३२२।

२ वही, मधिकौ अग २७-८, पृ० २३५-६।

वास्तविक तथा मौलिक एकता का रहस्य बतलाया है। यह भी कहा है कि उक्त दोनो मे भेद केवल उतना ही जितना जमे हुए घी वा बर्फ तथा पिघले हुए घी वा पानी मे क्रमशः कहा जा सकता है।[1] इसका कारण अज्ञान के सिवाय दूसरा कोई हो भी नहीं सकता। इसी बात को संक्षेपतः उन्होने अन्यत्र भी कहा है।[2] अतएव ब्रह्म इस जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनो प्रकार का कारण है और सर्वत्र एक समान ही व्यापक है। यदि ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मान कर जगत् को मिथ्या कहा जाय तो उसका समाधान भी सुंदरदास ने किया है।[3] इससे एक प्रकार के विवर्तवाद की भावना का आभास मिलता है।

शून्य तथा सृष्टि

दादू दयाल ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत उक्त परमतत्त्व को 'सहज सुनि' नाम भी दिया है और उसे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि वही सर्वत्र व्यापक है। सभी शरीरों के भीतर भी वही है उसी मे निरंजन वा राम को रमता हुआ समझना चाहिए और उसमे त्रिगुण का कोई प्रभाव नहीं।[4] यह शून्य उन काया-शून्य आत्मशून्य तथा परमशून्य से भी परे है जहाँ पर क्रमशः स्थूल शरीर जागृतावस्था मे प्रतीत होता है सूक्ष्म शरीर स्वप्नावस्था मे जान पड़ता है तथा जहाँ समाधि की पूर्ण और परिपक्वावस्था मे जीव को ब्रह्म का अनुभव होने लगता है। इन तीनों से भी परे वह स्वयं एकमात्र तथा अद्वितीय निर्गुण तत्त्व है जिसे उन्होंने अन्यत्र ब्रह्म शून्य ब्रह्म निरंजन निराकार अथवा ज्योतिर्मय तत्त्व बतलाया है।[5] वहीं से सूर्य *चंद्र आकाश पानी पावक पवन तथा धरती काम कर्म माया मन जीव घट* श्वास आदि की उत्पत्ति होती है और उसी मे फिर सभी का लय भी होता रहता है।[6] इस सृष्टि का कारण भी दादू दयाल ने एक 'रहस्यमय विनोद' वा 'परमानंद'

१ सुंदर ग्रंथावली 'अद्वैत ज्ञान को अंग' १४ १७ पृ ६४९-५ ।

२ 'जगत कहे तें जगत है सुंदर रूप अनेक ।
ब्रह्म कहे तें ब्रह्म है बस्तु बिचारे एक' ॥४३॥
—वही ४३ पृ ८५।

३ 'सुंदर कहत यह एकई अखंड ब्रह्म
ताही कौं पलटि कैं जगत नाम धरयौ है ।
—वही 'जगन्मिथ्या को अंग' ५ पृ ६५५ ।

४ दादू दयाल की बानी परचा को अंग ५६, पृ ७१ ।

५ वह ५१ पृ ७१ ।

६ वही ११ पृ ८ ।

७ वही ५४-५, पृ ७१ ।

एक स्थल पर यह भी बतला दिया है कि वास्तव मे, "इश्क वा प्रेम ही 'अलह' वा ईश्वर की जाति है, वही उसका अग स्वरूप है, वही उसका रग है और उसका अस्तित्व भी वही है।"[1] इसी कारण विरह को भी इन्होने अपना परम मित्र कहा है। इस तत्त्व को दादू दयाल ने अन्यत्र 'सहज' नाम भी दिया है। उसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि "इसमे सुख-दुख नाम के दोनो पक्षो मे से कोई भी नही रहता, यह न मरता है, न जीता है, अपितु पूरा निर्वाण-पद इसी को कहते है। इसमे रम जाते ही मन की द्वैत भावना जाती रहती है और गर्म वा ठढा दोनो मे एक ही समान बन कर यह उसके साथ एकाकारता ग्रहण कर लेता है।"[2] फिर तो किसी प्रकार के पक्ष-विपक्ष का भी प्रश्न नही उठता। वह 'निर्भै', 'निर्पख', 'सहज', इस हद्द वा सीमित विश्व के अतीत 'वेहद्द' वा नि सीम है, जहाँ स्थूल तथा सूक्ष्म दोनो मे से किसी की भी गति नही। वही कबीर साहब का निराधार घर भी है।[3]

सर्वात्मवाद

दादू दयाल ने इस प्रकार उस परमतत्त्व को 'शून्य', 'परमपद', 'निर्वाण'-जैसे नामो द्वारा अभिहित किया है। उसका स्वरूप प्रेम तथा सहजमय बतलाया है। यही वह परमात्मतत्त्व है जिसके विषय मे बहुधा 'अनिर्वचनीय' शब्द का प्रयोग होता है। उसके सबध मे दादू-शिष्य सुदरदास ने भी बडे विचित्र ढग से कहा है।[4] परन्तु फिर भी उन्होने इस ब्रह्मतत्त्व को जगतमय और जगत को ब्रह्ममय कह कर एक प्रकार के सर्वात्मवाद का प्रतिपादन किया है। 'तोही मे जगत यह, तूही है जगत माहि, तो मे अरु जगत मे भिन्नता कहा रही' कह कर उसे एक ही मिट्टी के बने हुए विविध भाडो, जल मे उठती हुई विविध तरगो, ईख के रस की बनी हुई भिन्न-भिन्न मिठाइयो, काठ की बनी अनेक प्रकार की पूतरियो, लोहे के बने अनेक हथियार तथा स्वर्ण के बने हुए विविध गहनो के उदाहरण देकर उनकी

---

१ दादू दयाल की वाणी, 'विरह को अग' १५२, पृ० ६१।

२ वही, 'मधिको अग २ ३, पृ० २३३।

'एक कहू तो अनेक सो दीसत, एक अनक नहीं कछु ऐसो।
आदि कहू तिहि अतहु आवत, आदि न अत न मध्य सुकैसो॥
गोपि कहू तो अगोपि कहा, यह गोपि अगोपि न ऊभो न वैसो।
जोई कहू सोइ है नहि सुदर, है तो सही परि जैसो को तैसो'॥६॥

३ वही, मधिको अग १३, १५, पृ० २३५।

४ सुदर-ग्रथावली, 'आत्मानुभव को अग' ६, पृ० ६१६-७।

हमारी सारी समस्याएँ तभी पूर्णतः हल हो सकेंगी जब हम इस अज्ञान को दूर करने में कृतकार्य होंगे। क्योंकि बिना ऐसे किये उस निरपेक्ष तथा सर्व प्रकार के पक्षपातों से रहित तत्त्व की अनुभूति हमारे लिए कभी संभव नहीं हो सकती। उस तत्त्व की प्रत्यक्ष अनुभूति ही सभी साधनाओं का परम लक्ष्य है।

अनुभूति तथा ज्ञान

अनुभूति तथा ज्ञान में महान् अंतर है। हमें किसी वस्तु का जब ज्ञान होता है तब हम उसकी बाहरिक सीमाओं से परिचित होकर उसके विवरण देने लगते हैं। हम उसे जैसे किसी दूरी पर से देखते हैं और उसी भाँति उसके विषय में दूसरों को भी परिचित करा देने की अपने शब्दों द्वारा चेष्टा करते हैं। परन्तु अनुभूति करते समय हम अपने अनुभव की वस्तु में अपने को एक प्रकार से मग्न कर देते हैं। उसे हम इतने निकट से जानने लगते हैं कि हमें उसके अंग-प्रत्यंग के विश्लेषण करने की कोई शक्ति ही नहीं मिल पाती। ज्ञान की स्थिति में हम अपनी ज्ञेय वस्तु से पृथक् रहते हैं। अतएव उसका समझना उतना कठिन नहीं जान पड़ता किंतु अपने अनुभव की वस्तु के साथ हमारा तादात्म्य हो जाता है और हम उसमें प्रवेश कर जाते हैं। इसी कारण दादू दयाल ने भी कहा है 'ज्ञान की लहर जहाँ से उठती है वहाँ पर हमारी वाणी का प्रकाशित होना भी संभव है किन्तु जहाँ से हमारी अनुभूति जागृत होती है वहाँ की हमारी अवस्था अनिर्वचनीय होती है और वहाँ से वाणी के स्थान पर कोरे ध्वन्यात्मक शब्द-मात्र ही उठ सकते हैं। यही वह स्थान है जहाँ निरंजन सदा वास किया करता है। इस कारण उसकी अनुभूति का भी व्यक्त किया जाना अत्यंत कठिन है। उसका हमें केवल अनुभव ही हो सकता है। उसी अनुभव द्वारा हमें आनंद की प्राप्ति होती है, हमें 'निर्मम' का परिचय मिलता है और हम उस अभय निर्मल तथा निश्चल दशा में भी पहुँच जाते हैं।'[1]

साधना

दादू दयाल की साधना अनुभूति पर ही आश्रित है। इसी कारण इसके साधन तथा सिद्धि दोनों में से किसी का भी विवरण नहीं दिया जा सकता। इस साधना की प्रथम क्रिया तन तथा मन का मान मर्दन कर उन्हें अपने वश में लाना है तभी इसके परिणाम-स्वरूप मैं सहज की दशा में प्रवेश प्राप्त हो सकता है।[2] ऐसी स्थिति में त्रिगुणात्मिका प्रकृति-जन्य आकार प्रकार के सभी विकार हमारे लिए प्रभावहीन हो जाते हैं और आत्मा प्रेम रस का आस्वादन करने लगती है।[3]

१ दादू दयाल की बानी 'परचा को अंग' २१, १० पृ ६७ और २ १ पृ ९।
२ वही 'जीवनमृतक को अंग' ४१ पृ १८१।
३ वही 'लै को अंग' ४ व १२१।

बतलाया है जिसके विषय मे उन्होंने स्वामी से स्वय जिज्ञासा की है। वे इसी बात को इस प्रकार भी कहते है, "वह 'खालिक' वा सृष्टिकर्त्ता निरतर खेल किया करता है जिसे विरले ही समझ पाते है। वह कुछ लेकर सुखी नही होता, अपितु सब कुछ प्रदान करते रहने मे ही उसे आनद आता है और वही आनद इस सारी सृष्टि का मूल कारण है।[1] इसी बात को दादू-शिष्य बषनाजी ने भी कहा है, "मैने इस बात पर विचार किया है और मुझे यह प्रतीत हुआ है कि सृष्टि-कर्त्ता ने इसका आरभ अपनी खुशी अथवा आनद के अवसर पर ही किया था।[2]" यह उत्तर किसी काजी के प्रश्न का है जो सीकरी मे दिया गया था।

सृष्टि-क्रम तथा भ्राति

दादू दयाल ने सृष्टि के मूल तत्त्व के साकार परिणाम का नाम एक दूसरे प्रसग मे 'ओकार' दिया है। उन्होंने बतलाया है कि किस प्रकार उस रहस्यमय आदि शब्द से ही पच तत्त्वो का निर्माण हुआ, सारे शरीरो की रचना हुई और इनमे 'तू' आदि भेदमय विचारो का गुणो के कारण क्रमिक विकास हुआ। यह सारा विश्व एक वाद्ययत्र के समान बना हुआ है। इसमे उसी का शब्द सर्वत्र ओतप्रोत भरा हुआ है। उक्त पाँच तत्त्वो अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश तथा पवन का रस वा कारण यही नाद वा ओकार है जो कार्यरूप जीव होकर बोला करता है। यह सब कुछ केवल माया का विस्तार है। यह वह मूल परमतत्त्व नही है। वह अव्यक्त तत्त्व तो निरजन तथा निराकार है, जहाँ 'ओकार' व्यक्त तथा साकार है।[3] इस ओकार द्वारा गुणोत्कर्ष के कारण उत्पन्न हुए 'मैं', 'तू' जैसे भेदमय विकारो से अहता की भावना जागृत होती है और वही इस जगत् के सारे अनर्थों का मूल है। यह 'मैं'-'तू' का भेद जीवात्मा के सामने प्रत्यक्ष बाधा के रूप मे किसी आड करनेवाली वस्तु की भाँति खडा हो जाता है। इसके पीछे छिपे रहने के कारण हम अपने सामने प्रकट रूप मे सर्वत्र वर्तमान प्रियतम का भी प्रत्यक्ष अनुभव नही कर पाते। यदि यह अपने सामने का व्यवधान वा 'दुई का पर्दा' किसी प्रकार हट सके, तो हमे अपने आपके वास्तविक रूप को समझते विलब न लगे और आनद आ जाय।

---

१ दादू दयाल की वाणी, 'राग असावरी' पद २३५, पृ० ४५६।

२ 'जिहि वरिया यहु सब हुआ, सो हम किया विचार।
बषना वरिया खुशी की, करता सिरजनहार ॥
—बषनाजी की वाणी, स्वामी मगलदास-सपादित, सम्रथाई को अग २, पृ० ३३।

३ दादू दयाल की वाणी, 'सबद को अग' ८, १२, १४ तथा ११, पृ० २७५-६।

पसारते न उसके लिए किसी के प्रति अपने उपालम्भ ही प्रकट करते हैं। उनकी स्थिति इस प्रकार है, 'दादू मन ही मन विरह की दशा में पूर हुआ जा रहा है, मन ही मन रोता है और मन ही मन चिल्ला भी रहा है, वह बाहर कोई भी निवेदन वा प्रदर्शन नहीं करता"।[1] इस कारण अपनी साधना के फलस्वरूप उसे जो कुछ भी सिद्धि मिलती है, वह उसके कायापलट अथवा पुनर्जन्म के ही रूप में होती है।

एक तथा अनेक

इस दशा तक पहुँच जाने पर सभी बाहरी बातें ज्यों-की-त्यों रह जाती हैं केवल आभ्यंतरिक परिवर्तन मात्र हो जाता है। जो अहंता-जनित आवरण हमारे सामने पड़ा रहता था केवल वही सामने से उठ जाता है और अब किसी प्रकार की कोई वस्तु हमें भ्रांति में नहीं डालती। अपने आप का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और उसके ही परमार्थतः परमतत्त्व भी होने से सारे भेदों की जड़ अपने आप कट जाती है। ऐसी ही स्थिति में आकर दादू दयाल कहते हैं, "हे अलह हे राम अब मेरा सारा भ्रम जाता रहा। अब मैं तेरे प्रत्यक्ष दर्शन का अनुभव कर रहा हूँ। इस कारण कोई भी भेद नहीं दीखता सबके प्राण वे ही हैं सबके रक्त माँस भी वे ही हैं सबकी आँखें तथा नाक भी वे ही हैं। सहज' ने और-का-और तमाशा सामने रख दिया है। कानों से शब्द की झंकार एक ही प्रकार सबको सुनायी पड़ती है सभी की जीभ मीठे का स्वाद लिया करती है, वही भूख सबको सताया करती है और एक ही प्रकार आवृत होती है वे ही हाथ-पाँव वे ही शरीर सबके हैं। पहले ये सभी मुझे भिन्न-भिन्न जैसे प्रतीत होते थे। किन्तु अब तूने मेरी दृष्टि ही बदल डाली और अब मैं उन्हीं वस्तुओं में सर्वत्र एकता का अनुभव कर रहा हूँ तथा मुझे अब हिन्दू तथा तुर्क में कोई भेद ही नहीं दीख पड़ता।"[2] "अब हमने निश्चयपूर्वक जान लिया कि सभी घट तथा शरीर में एक ही आत्मा व्याप्त है और हिन्दू-मुसलमान अथवा स्त्री-पुरुष में भी कोई भेद नहीं।[3] उन्होंने इसी कारण इस बात को एक सिद्धांत के रूप में कह डाला है, 'यदि आत्मनिष्ठ होकर पूर्ण ब्रह्म की दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा के ऐक्य के कारण कोई भेदभाव नहीं किन्तु शरीरादि की दृष्टि से अनेकत्व ही दीखता है"[4] और हमारे सामने न जाने कहाँ से

१ दादू दयाल की बानी 'विरह को अंग' १ ८ पृ ५६।
२ वही 'राग गौडी' ६५, पृ १८३।
३ वही 'दया निर्बैरता को अंग ५ ६ पृ ३२३।
४ 'जब पूरण ब्रह्म विचारिये तब सकल आतमा एक।
काया के गुण देखिये तो नाना बरण अनेक ॥ ११ ॥
—वही साच को अंग' ११ पृ २ ३।

इस साधना मे मार्ग शून्यमय रहता है, सुरति को चैतन्य के पथ पर चलना पडता है और वह लय मे अपने को मग्न किये रहती है। यह मार्ग न तो योग-समाधि का मार्ग है, न भक्ति-योग ही इसे कह सकते है। यह इन दोनो के बीच वाला 'सहज मार्ग' है, जहाँ किसी साधना-विशेष का प्रयोग न होने पर भी पूर्ण समाधि का आनद मिला करता है और इस काल के प्रभाव से भी दूर हो जाते है।[1] इसमे सबसे बडी तथा महत्त्वपूर्ण क्रिया अपने आपको पूर्णत समर्पित कर देने की भावना है जिससे 'अह' का भाव नितात रूप से नष्ट हो जाता है। इस दशा का वर्णन करते हुए दादू ने कहा है, "यह स्थूल शरीर, यह मन और ये प्राणादि सब कुछ पूर्णत न्योछावर कर दिये जाते है, किंतु इसके मूल मे सदा केवल एक यही भावना काम करती रहती है कि जिसे हम अपना सर्वस्व समर्पित कर रहे है, वह 'मेरा' अथवा स्वय 'मैं' ही हूँ"। अतएव इस सर्वस्व दान और सर्वस्व की उपलब्धि मे वस्तुत कोई भी अतर नही रह जाता और देनेवाला अपनी कमी का अनुभव करने की जगह अपने को और भी पूर्ण मानने लगता है।

काया-वेलि

इस पूरी प्रक्रिया का रहस्य इस बात मे निहित है कि इस प्रकार की साधना के लिए किसी बाह्य उपचार की आवश्यकता नही पडती। इसके सारे साधन अपने भीतर ही मिल जाते हैं, उनके लिए कही दौड-धूप करनी नही पडती। दादू दयाल की एक रचना 'काया-वेलि' नाम से प्रसिद्ध है जो बहुधा उनकी सगृहीत रचनाओ के साथ ही प्रकाशित हुई मिलती है। उस रचना मे दादू दयाल ने सभी कुछ को इस काया के ही अतर्गत वर्तमान सिद्ध करने की चेष्टा की है। उसमे अन्य बातो के अतिरिक्त यह भी कहा है कि इसी मे 'साधन-सार', 'अनसैसार' तथा 'पदनिर्वाण' भी है और इसमे ही विद्यमान गुरु की कृपा से हमे प्रियतम का प्रत्यक्ष दर्शन आप-ही-आप हो जाता है। इसमे जो माँगनेवाला है और जिससे माँग रहा, वे दोनो ही वस्तुत एक हैं और जो वस्तु माँगी जा रही है, वह भी वही है। दादू दयाल का कहना है, "मैं ऋद्धि-सिद्धि अथवा मुक्ति इनमे से किसी की भी-अभिलाषा नही करता, न ये मुझे पसद है। मैं तो केवल रामरस के एक प्रेम प्याले के लिए ही आर्त्त हूँ"[3]। ये उसके लिए किसी के आगे हाथ भी नही

---

१ दादू दयाल की बाणी १३, ८ तथा ९, पृ० १२२।

२ 'तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा प्यड परान।
सब कुछ तेरा, तू है मेरा, यहु दादू का ज्ञान॥'२३॥
—वही, 'सुदरी कौ अग २३, पृ० ३३०।

३. वही, 'निहकर्मी पतिव्रता कौ अग' ८३, पृ० १३७।

है और जिसकी वाणी बंद हो गई वह अब कह ही क्या सकता है। अब तो मस्त पक्षी आकाश में बड़ी दूर निकल गया और उसे सर्वत्र वही अनंत आकाश-मात्र ही चारों ओर व्याप्त दीख रहा है। अब हम यदि कहना ही चाहें तो क्या कह सकते हैं।[1] ऐसी स्थिति में हमारा मन किसी भी बंधन में नहीं रहता अपितु जिस प्रकार पक्षी आकाश के निःसीम क्षेत्र में उन्मुक्त होकर अपनी पूरी उड़ान भर चला जा सकता है उसी प्रकार वह भी सारे सांसारिक बंधनों से अपने को मुक्त पाकर अत्यंत व्यापक तथा उदार भावों में विचरण करने का अभ्यास डाल लेता है। परमतत्त्व के लिए 'सहज' 'शून्य'-जैसे शब्दों के प्रयोगों की भी इसी बात में सार्थकता है और दादू दयाल की सहज-साधना अथवा सहज समाधि का भी यही रहस्य है। इसमें जीव अपने को सदा अपने प्रियतम के संपर्क में समझा करता है और उसका शरीर संसार के भीतर ही रह कर उसके प्रभाव में यंत्रवत् काम करता रहता है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह अपने लक्ष्य समुद्र की ओर बिना किसी बाधा का विचार करते हुए अनवरत बढ़ता ही जाता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त के जीवन में भी कभी रोक थाम का अवसर नहीं आता। सांसारिक बातें तो केवल उसे नियंत्रित कर सकती हैं जो अपने जीवन के रहस्यों से परिचित न होकर जगत् को जंजाल की भाँति मानता हुआ उसे उद्यम छोड़ जंगल की राह लेना जानता है। जीवन्मुक्त को तो उद्यम में भी आनंद ही आनंद है क्योंकि वह अपना सब कार्य अपने प्रियतम अथवा अपने आपके उद्देश्य से ही किया करता है। दादू दयाल कहते हैं अपने स्वामी के प्रीत्यर्थ समर्पित किसी कार्य में भी उदासी आ नहीं पाती।[2]

प्रवृत्ति-मार्ग तथा सेवा-धर्म

दादू-शिष्य रज्जबजी ने इसी कारण कहा है, 'योग में भी एक प्रकार का भोग है और भोग में भी इसी प्रकार योग हो सकता है। अनेक लोग बैरागी बन कर भी संसार में डूबे रहते हैं और अन्य लोग गार्हस्थ्य-जीवन में रह कर उसके पार हो जाते हैं।[3] संसार से लोग इस कारण भागा

---

१ श्री स्वामी दादू दयाल की वाणी सं० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी पद २४४ पृ० ४५९ १ ।

२ 'दादू उद्यम औगुण को नहीं जेकरि जाणे कोई ।
उद्यम में आनंद है जो साँई सेती होई ॥ १ ॥२
—वही साखी १ पृ० २५८ ।

३ 'एक जोग में भोग है एक भोग में जोग ।
एक बूड़हिं बैराग में एक तिरहिं सो गृही लोग ॥

नामरूपादि के भेद का खडे हो जाते है ।

जीवन्मुक्ति

इस उपर्युक्त स्थिति को ही दादू दयाल ने जीवनमुक्त की अवस्था का नाम दिया है। उन्हे मृत्यु के अनतर मुक्त होने मे विश्वास नही। वे स्पष्ट कहते हैं, "निरजन के निकट पहुँचते ही मैं जीवन्मुक्त वन गया। मरने पर जिस मुक्ति की प्राप्ति का वर्णन किया जाता है, उसमे मुझे विश्वास नही, न मेरा मन इस वात को मानता है कि आगे चल कर हमे अच्छे कर्मों के कारण अच्छा जन्म मिलेगा। शरीर छूटने पर जो गति होती है, वह तो सभी को प्राप्त होती है। दादू तो यही जानता है कि जीते जी राम की उपलब्धि हो जाय और अपना जीवन सफल हो जाय।"[१] इसी वात को दादू-शिष्य सुदरदास ने भी इस प्रकार कहा है, "मुक्ति तो एक धोखे का चिह्न-मात्र है। ऐसा कोई भी ठौर-ठिकाना नही, जहाँ पर मुक्ति ऐसी कोई वस्तु हमे मिल सकती है। कुछ लोग मुक्ति की उपलब्धि आकाश मे वतलाते हैं, कोई उसे पाताल मे ले जाते हैं और कोई-कोई पृथ्वी पर ही उसे ढूंढते हुए भटकते फिरते हैं। कोई भी इस वात पर गभीरतापूर्वक विचार नही करता, अपितु जिस प्रकार गुवरैला अपनी गोली लेकर निरुद्देश्य चला करता है, उसी प्रकार वे भी अपनी धुन मे वढते जाते हैं, जीते जी इसके लिए अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हैं, धोखे मे पड कर व्यर्थ मरा करते हैं। वास्तविक मुक्ति का स्वरूप तो यही है।[२] उन्होने इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा है, "देवलोक, इद्रलोक, सत्यलोक, विधिलोक, शिवलोक, वैकुठलोक, मोक्षशिला, विहिश्त वा परमपद ये सभी जीवनकाल के भीतर ही उपलब्ध होनेवाली वातें हैं। जिन्होने आत्मानुभूति की उपलब्धि कर ली, उनके सारे सशय नष्ट हो गए और वे जीवन्मुक्त वन गए।"[3]

सहज समाधि

इस दशा का नाम दादू दयाल ने 'सहज-समाधि' भी वतलाया है। उन्होने कहा है कि इसमे आते ही मन थकित हो जाता है और अपनी दशा का वर्णन करते नही वनता। कितना भी सोचा-विचारा जाय, इसका अनुभव सदा अगम्य, अपार तथा इन्द्रियातीत ही कहा जा सकेगा। भला एक वूंद समुद्र को किस प्रकार तोल सकती

---

१. दादू दयाल की वाणी, 'राग गौडी' ५२, पृ० ३७७।

२ 'निज स्वरूप कौं जानि अखडित, ज्यो का त्यो ही रहिये।
सुदर कछू ग्रहै नहिं त्यागै, वहै मुक्ति पद कहिये ॥'४॥
——सुदर ग्रथावली, ४, पृ० ८७५–६।

३ वही, २२, पृ० २५८।

मनोविकार-मात्र है। उस शून्य का स्वरूप शुद्ध अविकृत तथा निर्मल अस्तित्व है और उस प्रेम का भी रूप व्यापक जीवन का मूल आधार है। उन बातों की पूरी व्याख्या तीसरे शब्द 'सहज' के द्वारा पूर्ण रूप से हो जाती है जब हम अंतिम सत्त्व वा सत्ता के प्रकाशित अनिर्वचनीय रूप का कुछ अनुमान करते हैं। दादू दयाल की उसके प्रति की गई धारणा ठीक वही प्रतीत होती है जो अद्वैत वेदांत के सिद्धांतानुसार निर्विशेष तथा निरपेक्ष अनुभवातीत परमात्मतत्त्व की है। उसे कबीर साहब ने भी अगम अगोचर, 'वोही आहि आहि नहि आनै' आदि द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा की है। उनकी साधना तथा व्यवहार के नियम भी उसी निश्चित आदर्श के अनुसार निर्धारित किये गए हैं और उससे पूर्णतः मेल खाते हैं। ऐसे विचारों के आधार पर निर्मित मनोवृत्ति स्वभावतः अधिक-से-अधिक व्यापक तथा उदार होगी और उसके साथ यापन किये जानेवाले जीवन का स्वरूप भी विशुद्ध तथा स्वार्थ होगा। इस कारण उसमें दुःख वा क्लेश का कभी समावेश नहीं हो सकता न आनंद की कमी की कभी आशंका ही आ सकती है।

दादू दयाल ने अपने मत का विवरण थोड़े-से शब्दों में स्वयं भी दे दिया है।[1] उनका कहना है कि इसी मार्ग पर चल कर तुम उस परमतत्त्व का अनुभव कर सकोगे और संसार-सागर के पार भी हो जाओगे।

कबीर, नानक तथा दादू में समानता

अतएव दादू दयाल तथा कबीर साहब अथवा गुरु नानक देव के मतों में कोई मौलिक भिन्नता नहीं प्रतीत होती। इन तीनों संतों के सामने प्रायः एक ही प्रकार की समस्या थी। इन तीनों ने अपने अपने ढंग से उस पर विचार करने तथा

---

१ भाई रे ऐसा पंथ हमारा।
 द्वपख रहित पंथ गहि पूरा अवरण एक अधारा।
 वाद विवाद काहु सौं नाहीं माहि जगत थैं न्यारा।
 समदृष्टी सुभाइ सहज मैं आपहि आप विचारा॥१॥
 मैं तैं मेरी यहु मति नाहीं निर्वैरी निरकारा।
 पूरण सबै देखि आपा पर, निरालंब निर्धारा॥२॥
 काहू के संगि मोह न ममिता संगी सिरजन हारा।
 मन ही मन सौं समझि सयाना आनंद एक अपारा॥३॥
 काम कल्पना कदे न कीजै पूरण ब्रह्म पियारा।
 इहि पंथि पहुंचि पार गहि दादू सो तत सहजि संभारा'॥४॥
 —दादू दयाल की बानी शब्द ११ पृ १८१४।

करते है कि अन्य लोग उन्हे शत्रुतावश किसी प्रकार की वाधा पहुँचायेंगे, किंतु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो किसी के साथ कोई वैर नही। जव हम किसी प्राणी को अपने से भिन्न समझेंगे, तभी इस प्रकार की धारणा हमारी हो सकती है। जव अपना विचार ऐसा हो गया कि हमारे लिए कोई विजातीय नही तथा जिस एक से हम सभी की उत्पत्ति हुई है, वही परमपिता हम सभी के भीतर भी एक ही समान विद्यमान है, तो फिर वैर-भाव से आशकित होने का कोई प्रश्न ही नही उठता।[1] ऐसी दशा मे तो एक दूसरे के साथ अधिकाधिक मैत्री-भाव की वृद्धि होगी और जी चाहेगा कि हम सबके प्रति नि स्वार्थ भाव के साथ सेवा-धर्म मे लगे रहे। इस सेवा-धर्म का आदर्श भी दादू दयाल ने बहुत ऊँचा और सुदर वतलाया है। उनका कहना है कि सवसे वडा सेवक इस विश्व के भीतर स्वय वह जगन्नियता परमात्मा है जो विना किसी स्वार्थ के सानद सभी कार्य कर रहा है। हमे ठीक उसी की भाँति सेवा करनी चाहिए और उसी की भाँति अपने भीतर उत्साह भरा रखना चाहिए। सेवा-धर्म मे उसका अनुकरण करने वाले हमारे सामने सूर्य, चद्र, वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि भी प्रतिदिन अपने-अपने कार्य अथक रूप से नियमानुसार करने मे निरतर लीन है। इसकी ओर इस दृष्टि से विचार करने के लिए कभी हमारा घ्यान भी नही जाता, न हम उनसे कभी ऐसी शिक्षा ग्रहण करने के यत्न ही करते हैं। हम इन प्राकृतिक वस्तुओ के साथ अपने प्रति किये गए उपकारो के लिए कभी श्रेय भी नही देना चाहते। दादू दयाल का कहना है कि सेवा करते समय उन्ही की भाँति हमे अपने आपको भूल जाना चाहिए और विना किसी प्रत्युपकार की भावना अपने हृदय मे लाये हुए उन्ही की भाँति विश्व के प्रत्येक प्राणी की बधुवत् सेवा करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।[2]

मत का सार

दादू दयाल के सिद्धातो का निचोड इसी कारण जिस प्रकार जीवात्मा तथा परमात्मा तथा जगत् की अभेदमयी मौलिक एकता है और उस मूलतत्त्व का सच्चा स्वरूप सहज, शून्य तथा प्रेममय है, उसी प्रकार उनकी साधना तथा व्यवहार का भी निष्कर्ष 'सहज, समर्पण, सुमिरण[3] और सेवा' है। उनके शून्य की कल्पना में किसी प्रकार के नास्तित्व की भावना नही, न उनके प्रेम का ही भाव कोरा

---

१ स्वामी दादू दयाल की वाणी, स० चद्रिका प्रसाद त्रिपाठी, सा० १०, पृ० ३२४।

२ वही, 'परचा कौ अग २४९-५१, पृ० ९७।

३ वही, 'राग गौडी' ७२, पृ० ३८६।

सूफी प्रभाव

संत दादू दयाल के सिद्धांतों पर सूफी प्रभाव की चर्चा की जाती है, किंतु कुछ लेखकों में इस विषय के संबंध में मतभेद भी जान पड़ता है। डॉ॰ ग्रियर्सन ने लिखा है "दादू का मत इनके पूर्ववर्ती संत कबीर से बहुत मिलता-जुलता है। इन दोनों के सिद्धांतों में विशेष अंतर इस बात में पाया जाता है कि दादू ने जहाँ परमात्मा संबंधी मुस्लिम धारणाओं के सभी प्रसंगों का नितांत बहिष्कार कर दिया है वहाँ वे कबीर की रचनाओं के अंतर्गत बहुधा पाए जाते हैं।"[1] परन्तु डॉ॰ ताराचंद के अनुसार, 'दादू ने अपने शरीर को मसजिद माना है और जमायत' के पाँचों सदस्यों तथा नमाज के समय नेतृत्व करनेवाले मुल्ला या इमाम का भी मन के भीतर ही वर्तमान रहना बतलाया है। अविनाशी परमात्मा का वे सदा भजन समक्ष पाते हैं और वहीं उसके प्रति वे अपना भक्ति-भाव प्रकट कर लेते हैं। दादू ने अपने सारे शरीर को ही जप की माला मान ली है जिसके द्वारा वे करीम के नाम का स्मरण किया करते हैं। इनके अनुसार एक ही 'रोजा' या उपवास है दूसरा नहीं और 'कलमा' भी वह स्वयं परमात्मा ही है। इस प्रकार दादू अल्लाह के समक्ष ध्यान में लीन होकर खड़ा है और अर्श के भी ऊपर उस पद पर चला जाता है जहाँ रहीम का स्थान है।"[2] फिर 'दादू ने अपने पूर्ववर्ती संतों से कहीं अधिक अपने सूफी-मत के ज्ञान को व्यक्त किया है। इसका कारण कदाचित् यही हो सकता है वे कमाल के शिष्य थे और कमाल की प्रवृत्ति इस्लामी विचार-धारा की ओर इन सबसे अधिक थी। इसके सिवाय पश्चिमी भारत विशेषतः अहमदाबाद तथा अजमेर के सूफी ईश्वर के नाजी हिन्दू या मुसलमानों पर पूर्वी भारत वालों से कदाचित् कहीं अधिक प्रभाव रखते थे। जो भी हो उनके उपदेशों के प्रभाव में ही आकर वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के एक प्रबल समर्थक बने थे।'[3] परन्तु जैसा दादू दयाल

---

१ His (Dad) doctrine closely resembles that of the older prophet, the main difference being the exclusion of all references to th Muslim ideas of th Diety which we often meet within the writing of Kabir —'Th Imperial Gazetteer of India, vol II (New edition) 1909 P 417

२. Dr Tara hand Influe ce of Islam on Hindu Culture., pp. 184-5.

३ Dadu manif ts, perhaps e en greater knowledge of Sufism than his predecessors perhaps, because he was th disciple of Kamal who probably had greater leaning towards Islamic ways of thinking than others, perhaps

उसको हल करने की युक्ति निकालने के यत्न किये। तीनो ही प्राय अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित थे, किंतु शास्त्रीय प्रमाणो से अधिक उन्होने अपने सच्चे अनुभव का ही आश्रय लिया और तीनो ही लगभग एक-से ही परिणाम पर पहुँचे। इन तीनो को ही अत मे जान पडा कि लोगो के भीतर बढते हुए भेदभाव, पारस्परिक वैमनस्य तथा दुर्भावना की जड उनके वास्तविक सत्य के प्रति अज्ञान के भीतर पायी जा सकती है। इस कारण इन्होने उसी को सर्वप्रथम उखाड कर फेंकने की चेष्टा की। इन्होने बतलाया कि सभी कोई एक ही परमतत्त्व के स्वरूप हैं, किन्ही भी दो मे किसी प्रकार का भी मौलिक अतर नही, जो कुछ भी विभिन्नता दीख पडती है, वह बाहरी तथा मिथ्या है। अतएव इन तीनो ने ही इस बात की ओर पूरा ध्यान दिलाया कि उस वस्तु के मर्म को जान कर उसका अनुभव आत्मवत् करना परमावश्यक है। फिर तो हमारे जीवन मे ही आमूल परिवर्तन आ जायगा और हम प्रत्येक प्रश्न को एक नवीन, किंतु वास्तविक ढग से हल करने का अभ्यास ग्रहण कर लेगे। जो-जो बातें आज तक हमे जटिल जान पडती थी, वे सहज मे सुलझ कर आसान हो जायँगी। तदनुसार तीनो ने ससार मे रहते हुए भी आनदमय जीवन-यापन करने की पद्धति की रचना की और सबको उसका अनुसरण करने के लिए उपदेश दिये।

कबीर, नानक तथा दादू मे अतर -

परन्तु कुछ सूक्ष्म विचार करने पर पता चलता है कि इन तीनो सतो की विचार-धाराओ तथा प्रणालियो मे कुछ-न-कुछ अतर भी अवश्य था। उदाहरण के लिए कबीर साहब की विशेष आस्था यदि आत्म-प्रत्यय मे निहित रही, तो गुरु नानकदेव की आत्म-विकास मे और उसी प्रकार दादू दयाल की आत्मोत्सर्ग मे थी। इन तीनो ने परमतत्त्व को भी क्रमश नित्य, एक, तथा सहज (समरस) की भिन्न-भिन्न भावनाओ के अनुसार कुछ विशेष रूप से देखा। इनकी साधना भी तदनुसार अधिक-तर क्रमश विचार-प्रधान, निष्ठा-प्रधान तथा प्रेम-प्रधान थी। इसी कारण सुरत शब्दयोग के एक समान समर्थक होते भी इन्होने क्रमश ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा लययोग की ओर ही विशेष ध्यान दिया। इन तीनो के मुख्य उपदेशो तथा समाज के प्रति इनकी पृथक्-पृथक् देनो पर भी यदि हम विचार करें, तो कह सकते हैं कि कबीर साहब ने यदि स्वातत्र्य तथा निर्भयता को अधिक प्रधानता दी, तो गुरु नानकदेव ने समन्वय तथा एकता पर विशेष बल दिया और दादू दयाल ने उसी प्रकार सद्-भाव तथा सेवा को ही श्रेष्ठ माना। परन्तु इन बातो का यह अर्थ नही कि इनमे से किसी की मनोवृत्ति एकागी थी। साधनाएँ सभी की पूर्णांग थीं, विशेषताओ का कारण केवल अवस्था-भेद हो सकता है।

प्रधान दादू शिष्यों का देहांत हो गया। उनकी विशेषताओं को भी अक्षुण्ण रखने की प्रवृत्ति उनके भिन्न-भिन्न अनुयायियों में जागृत होने लगी। उनके भिन्न-भिन्न थांबे क्रमश: शक्ति ग्रहण करने लगे तथा उनमें अलगाव की भावना भी आ गई। फिर भी दादू दयाल के पंथ का प्रधान दादूद्वारा उनके मृत्यु-स्थान नराणे में ही अब तक माना जाता आया है और वहीं के दादू-पंथी 'खालसा' भी कहलाते हैं। दादू-पंथियो के अंतर्गत जो उप-सम्प्रदाय की सृष्टि हुई है वह वास्तव में कुछ तो स्थानीय कारणों का प्रभाव है और कुछ उनकी भिन्न-भिन्न रहन-सहन के अनुसार भी अस्तित्व में आ गई है। उसके मूल में कोई सिद्धांतगत भेद काम नहीं करता न कोई इस बात को स्वीकार करने को तैयार ही हो सकते हैं। इसमें केवल एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दादू दयाल जाति के विचार से स्वयं मुसलमान थे और उनके शिष्यों में भी रज्जबजी बखनाजी वाजिंदजी गरीबदास और फिर क्रमश: मिस्कीनदास वा फकीरदास प्रभृति कुछ दिनों तक योग्य मुस्लिम व्यक्ति दिखलायी पड़ते रहे। परन्तु आगे चल कर ऐसी बात नहीं रह गई और पंथ पर शुद्ध हिन्दू-धर्म का प्रभाव अधिकाधिक पड़ता गया यहाँ तक कि रज्जबजी के बंधि को छोड़ अन्य थांबा अब कम मुसलमान दीख पड़ते हैं। प्रसिद्ध है कि रज्जबजी की गद्दी का अधिकारी चुनते समय आज तक भी इसी बात पर विशेष ध्यान रखा जाता है कि सबसे योग्यतम व्यक्ति कौन है? यह नियम नराणे की प्रधान दादू गद्दी के संबंध में भी प्राय: एक सौ वर्षों तक उसी प्रकार चलता आया था।

उप-सम्प्रदाय

कहते हैं कि प्रधान दादू-गद्दी नराणे के महंत जैतराम (सं० १७८९) के समय से पंथ के भीतर उप-सम्प्रदाय बल पकड़ने लगे। तदनुसार कम-से-कम पाँच प्रकार के दादू-पंथी क्रमश: भिन्न-भिन्न वर्गों में बँटते हुए पृथक् रूपों में दीख पड़ने लग गए। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है

१ खालसा ये अपने को विशुद्ध दादू-पंथी समझते हैं और इनका मुख्य केन्द्र नराणे में है। खालसा के सदस्यों का विशेष ध्यान अध्ययन अध्यापन तथा भजन-आराधन की ही ओर रहा करता है। इनका भेष पहले थान तक की कपाली टोपी चोला और कटि-वस्त्रादि तक ही सीमित जान पड़ता था किंतु अब उसमें कुछ अंतर भी आने लगा है। इनमें बहुत-से लोग साधारण गृहस्थों की भाँति जीवन व्यतीत करते हुए भी दीख पड़ते हैं, किंतु इनकी संख्या अधिक नहीं है। दादू-पंथियों की एक शिक्षा-संस्था 'दादू-महाविद्यालय' के नाम से जयपुर में जेठ सुदी १ सं० १९७७ में स्थापित है जो अधिकतर इसी उप-सम्प्रदाय द्वारा प्रभावित है।

के मत के उपर्युक्त सक्षिप्त परिचय से भी प्रकट होगा, इस प्रकार के मतभेद का कोई विशेष महत्त्व नही है। दादू दयाल का अपना मत शुद्ध सत-मत ही था।

४ पथ की प्रगति

गरीबदास

ब्रह्म-सम्प्रदाय की स्थापना स० १६३१ के लगभग हुई थी और दादू दयाल के जीवन-काल तथा उसके कुछ दिन अनतर तक उसमे प्रगति अबाध गति से होती गई। परन्तु काल पाकर सम्प्रदाय के अतर्गत कई एक उप-सम्प्रदाय भी बनते जाने लगे और इस प्रकार उसके प्रधान केन्द्र का कुछ निर्बल पड जाना स्वाभाविक हो गया। दादू दयाल का देहात हो जाने पर उनके ज्येष्ठ पुत्र गरीबदास उनकी गद्दी पर बैठे थे और वे व्यक्तिगत रूप से एक अच्छे सत थे। किंतु उनमे सगठन की शक्ति अथवा शासन की योग्यता की कमी थी, जिस कारण पथ की प्रगति मे शिथिलता आने की आशका हो चली। रज्जबजी ने गरीबदास की पहले बडी प्रशसा की थी और "दादू कै पाट दीपै दिन ही दिन" तथा "उदार अपार सबै सुखदाता"-जैसी उक्तियो द्वारा उनके विषय मे वे अपनी अच्छी सम्मति ही देते आये थे। परन्तु जब उनकी नम्रता तथा उदारता अतिशयता की सीमा तक पहुँच गई, तब उनसे नही रहा गया। एक बार कुछ व्यग-भरे शब्दो मे उन्होने उनके निकट लिख भेजा [1]। इसका आशय उन्हे समझते विलब नही लगा और उन्होने गद्दी का त्याग कर दिया। फलस्वरूप उनके छोटे भाई मिस्कीनदास उनके उत्तराधिकारी बने और अपने अत काल तक उसका कार्य-भार सँभाले रहे। इस प्रकार पथ की परपरा गद्दी के लिए योग्यतम व्यक्ति के चुनाव द्वारा आगे चलने लगी। प्राय सौ वर्षों तक अर्थात् सत दादू दयाल की चौथी पीढी के स्वामी फकीर दास (मृ० स० १७५०) तक उसके सगठन तथा कार्य-पद्धति मे विशृखलता प्रतीत नही हुई।

पृथक् वशाएँ

परन्तु इसी बीच मे रज्जबजी, सुदरदास, प्रागदास, बनवारीदास आदि

---

because the Sufis of Western India—Ahmedabad and Ajmer—weilded greater influence upon the minds of seekers after God Hindu or Muslim than those of the East At any rate the effect of their teachings was to make him a staunch supporter of Hindu Muslim unity Do p 185

१ 'गरीब के गर्व नाहिं दीनरूप दास माहिं।
आये न विमुख जाहिं आनन्द का रूप हैं॥' आदि।

प्रधान दादू-शिष्यों का देहांत हो गया। उनकी विशेषताओं को भी अक्षुण्ण रखने की प्रवृत्ति उनके भिन्न-भिन्न अनुयायियों में जागृत होने लगी। उनमें भिन्न भिन्न थाँबे क्रमशः स्थित ग्रहण करने लग तथा उनमें असमभाव की भावना भी आ गई। फिर भी दादू दयाल के पंथ का प्रधान गद्दीद्वारा उनके मृत्यु-स्थान नराणे में ही अब तक माना जाता आया है और वहीं के दादू-पंथी 'खालसा' भी कहलाते हैं। दादू-पंथियों के अंतर्गत जो उप-सम्प्रदाय की सृष्टि हुई है वह वास्तव में कुछ तो स्थानीय कारणों का प्रभाव है और कुछ उनकी भिन्न भिन्न रहन-सहन के अनुसार भी अस्तित्व में आ गई है। उसके मूल में कोई सिद्धांतगत भेद काम नहीं करता न कोई इस बात को स्वीकार करने को तैयार ही हो सकते हैं। इसमें केवल एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दादू दयाल जाति के विचार से स्वयं मुसलमान थे और उनके शिष्यों में भी रज्जबजी बखनाजी बाजिदजी गरीबदास और फिर क्रमशः मिस्कीनदास वा फकीरदास प्रभृति कुछ दिनों तक योग्य मुस्लिम व्यक्ति दिखलायी पड़ते रहे। परन्तु आगे चल कर ऐसी बात नहीं रह गई और पंथ पर शुद्ध हिन्दू-धर्म का प्रभाव अधिकाधिक पड़ता गया यहाँ तक कि रज्जबजी के बाद को छोड़ अन्य जगह अब कम मुसलमान दीख पड़ते हैं। प्रसिद्ध है कि रज्जबजी की गद्दी का अधिकारी चुनते समय आज तक भी इसी बात पर विशेष ध्यान रखा जाता है कि सबमें योग्यतम व्यक्ति कौन है? यह नियम नराणे की प्रधान दादू गद्दी के संबंध में भी प्रायः एक सौ वर्षों तक उसी प्रकार चलता आया था।

उप-सम्प्रदाय

कहते हैं कि प्रधान दादू-गद्दी नराणे के महंत जैतराम (मृ० सं० १८०९) के समय से पंथ के भीतर उप-सम्प्रदाय बल पकड़ने लगे। तदनुसार कम-से-कम पाँच प्रकार के दादू-पंथी क्रमशः भिन्न-भिन्न वर्गों में बँटते हुए पृथक् रूपों में दीख पड़ने लग गए। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है:

१ खालसा: ये अपने को विशुद्ध दादू-पंथी समझते हैं और इनका मुख्य केन्द्र नराणा में है। खालसा के सदस्यों का विशेष ध्यान अध्ययन अध्यापन तथा गमन-आगमन की ही ओर रहा करता है। इनका भेष पहले बाल तक की पगामी टोपी चोला और कटि-वस्त्रादि तक ही सीमित जान पड़ता था किंतु अब उसमें कुछ अंतर भी आने लगा है। इनमें बहुत-से लोग साधारण गृहस्थों की भाँति जीवन व्यतीत करते हुए भी दीख पड़ते हैं, किंतु इनकी संख्या अधिक नहीं है। दादू-पंथियों की एक शिक्षा-संस्था 'दादू-महाविद्यालय' के नाम से जयपुर में जेठ सुदी १ सं० १९७० में स्थापित है जो अधिकतर इसी उप-सम्प्रदाय द्वारा प्रचालित है।

२ नागा 'नागा' शब्द के प्रयोग से कभी-कभी इस वर्ग के अनुयायियों के अधिकतर नग्न रहने का अनुमान किया जा सकता है, किंतु बात ऐसी नहीं है। ये लोग विशेष रूप से अपने वस्त्रों की सादगी के लिए प्रसिद्ध हैं। इस उप-सम्प्रदाय को सर्वप्रथम दादू-शिष्य बडे सुन्दरदास ने चलाया था जो बीकानेर निवासी थे। उसका संगठन पीछे भीमसिंह ने बडी योग्यता से किया था। नागा लोगों का एक थांबा नराणे में है और इनकी ९ टुकडियों का जयपुर राज्य की सीमा के निकट होना बतलाया जाता है। जयपुर राज्य के साथ उनका संबंध विशेषकर स० १८०० से चला आता है। ये लोग पहले सिपाही का काम करने के लिए ही प्रशिक्षित किये गए थे तथा इन्हें नियमानुसार ड्रिल तथा शस्त्र-प्रयोग का अभ्यास भी कराया गया था। परन्तु तत्पश्चात् इस ओर उनका ध्यान देना बंद होता चला गया और इन लोगों में कुछ-न-कुछ शिथिलता तक लक्षित होने लगी। ये लोग कभी-कभी सैनिक होने की जगह कर उगाहनेवाले सिपाहियों के रूप में भी राजाओं द्वारा काम में लाये जाने लगे। क्रुक साहब का कहना है, "जयपुर के निकटवर्ती गाँवों में रहनेवाले ये सात अखाडों में बँटे हैं और वहाँ पर इनमें से प्रत्येक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति को एक आना प्रतिदिन के हिसाब से तनख्वाह दी जाती है। काम पर जाने की दशा में इन्हें प्रतिदिन दो आना के हिसाब से मिलता है। गृहस्थी में रहनेवाले खेती करते है, ऊँट पालते हैं और लेनदेन भी करते हैं।"[1] सैनिक नागाओं के पास अधिकतर ढाल, तलवार और एक साधारण-सी बंदूक रहा करती है जिनका प्रयोग करना उन्हें सिखलाया गया रहता है। सन् १८५७ ई० के स्वातंत्र्य-युद्ध के समय इन्होंने कंपनी को बडी सहायता पहुँचायी थी जिस कारण इनकी प्रशंसा अँगरेज लेखक बराबर करते आये है। इनकी भर्ती बहुधा उच्च कुलों के हिन्दू युवकों में से ही हुआ करती थी और इनकी संख्या क्रमश घटती चली गई। स० १९९५ के अनंतर नागाओं का संबंध जयपुर राज्य के साथ विच्छिन्न हो गया।[2]

३ उत्तराढ़ी इस उप-सम्प्रदाय में अधिकतर पंजाब की ओर के धनी मानी लोग सम्मिलित है और वे 'उतराधे' वा 'स्थानधारी' भी कहे जाते हैं। इनमें से कई का व्यवसाय वैद्यक के अनुसार दवा देने का तथा लेनदेन के व्यवहार का भी देखा जाता है। इनकी एक शाखा की स्थापना हरद्वार में किसी गोपालदास

---

१ वि० क्रुक ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि नार्थ वेस्ट प्राविंसेज ऐंड अवध, भा० २, पृ० २३८।

२. जयंती ग्रंथ, पृ० २१।

ने की थी किंतु मूल उत्तरादी के प्रवर्तक बनवारी दास या कभी-कभी रज्जबजी भी समझे जाते हैं। दोनों ही दादू-शिष्यो बनवारीदास के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने अपना थांभा सर्वप्रथम रतिया ग्राम (पटियाला) मे स्थापित किया था। वहाँ से 'उत्तरादी' दल प्रवर्तित होकर क्रमश उत्तरी भारत के कई स्थानो तक में भी फैल गया। इस वर्ग के लोगों ने कुछ दिना तक मूर्ति-पूजा को भी अपनाना आरंभ कर दिया था। किंतु नागा लोगों की ओर से विशेष रूप में आपत्ति की जाने पर इन्हें ऐसा विचार छोड़ देना पड़ा। कहा जाता है कि इस उप-सम्प्रदाय के ५२ थांभे अलग-अलग स्थापित हैं और केवल डेहरा गाँव में ही इनकी १४ गद्दियाँ वर्तमान हैं। इनके प्रधान महंत हिसार जिले के रतिया नामक गाँव में रहा करते हैं। इसके सदस्यों में अनेक बहुत बड़े कवि और विद्वान् हो चुके हैं जिनमें साधु निश्चलदास रसपुंजजी हीरादासजी आदि की गणना भी की जा सकती है।

४ विरक्त : इनके विषय में प्रसिद्ध है कि ये रुपये-पैसे हाथ से नहीं छूते और अधिकतर भिक्षावृत्ति पर ही जीवन-निर्वाह करते हैं। ये भगवामी रंग के वस्त्र धारण करते हैं और अपना समय अधिकतर पढ़ने लिखने में ही लगाया करते हैं। ये एक स्थान पर अधिक दिनों तक नहीं ठहरा करते और इनके मुखिया लोगो के साथ दो-एक अथवा कभी-कभी इससे अधिक शिष्य भी रहा करते हैं। ऐसे शिष्य बहुधा लड़के होते हैं जो इनके संपर्क में रह कर सदा दादू-वाणियों और संस्कृत ग्रंथो का अध्ययन किया करते हैं। ये लोग अधिकतर नंगे सिर घूमा करते हैं। इनके शरीर पर केवल एक वस्त्र और हाथ में एक कमंडल ही रहा करता है। ये लोग कभी किसी व्यवसाय की ओर ध्यान नहीं देते और इनका मुख्य कर्तव्य दादू-पंथी गृहस्थो के यहाँ जाकर उपदेश देना रहता है।

५ खाकी ये लोग बहुत ही कम कपड़े पहना करते हैं और ये साधारणत लम्बी जटा धारण करके तथा अपने सारे शरीर में भस्म लपेटे हुए शारीरिक साधना करते पाये जाते हैं। ये छोटी-छोटी टुकड़ियो मे घूमते-फिरते हुए भी दिखलायी पड़ते हैं। ये संभवत इस प्रकार की धारणा बनाये रहते हैं कि पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए किसी प्रवाहित नदी की भाँति निरंतर भ्रमणशील रहा करना ही परमावश्यक है।

दादू-पंथी जन-समाज

परब्रह्म-सम्प्रदाय की जगह पर दादू-पंथ नाम संभवत उक्त सौ वर्षों के अनंतर ही अधिक प्रसिद्ध हुआ और तब से इसी नाम के लोग विशेष जानकार हैं। दादू पंथी जन-समाज वास्तव मे मुख्य दो प्रधान समुदायों मे विभक्त है जिनमे एक स्वामी

२ **नागा** 'नागा' शब्द के प्रयोग से कभी-कभी इस वर्ग के अनुयायियो के अधिकतर नग्न रहने का अनुमान किया जा सकता है, किंतु बात ऐसी नही है। ये लोग विशेष रूप मे अपने वस्त्रो की सादगी के लिए प्रसिद्ध हैं। इस उप-सम्प्रदाय को सर्वप्रथम दादू-शिष्य बडे सुदरदास ने चलाया था जो बीकानेर निवासी थे। इसका सगठन पीछे भीमसिंह ने बडी योग्यता से किया था। नागा लोगो का एक थाँवा नराणे में है और इनकी ९ टुकडियो का जयपुर राज्य की सीमा के निकट होना बतलाया जाता है। जयपुर राज्य के साथ इनका सबध विशेषकर स १८०० से चला आता है। ये लोग पहले सिपाही का काम करने के लिए ही प्रशिक्षित किये गए थे तथा इन्हें नियमानुसार ड्रिल तथा शस्त्र-प्रयोग का अभ्याम भी कराया गया था। परन्तु तत्पश्चात् इस ओर इनका ध्यान देना बद होता चला गया और इन लोगो में कुछ-न-कुछ शिथिलता तक लक्षित होने लगी। ये लोग कभी-कभी सैनिक होने की जगह कर उगाहनेवाले सिपाहियो के रूप में भी राजाओ द्वारा काम में लाये जाने लगे। क्रुक साहब का कहना है, "जयपुर के निकटवर्त्ती गाँवो में रहनेवाले ये सात अखाडो में बँटे है और वहाँ पर इनमें से प्रत्येक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति को एक आना प्रतिदिन के हिसाब से तनख्वाह दी जाती है। काम पर जाने की दशा में इन्हें प्रतिदिन दो आना के हिसाब से मिलता है। गृहस्थी में रहनेवाले खेती करते हैं, ऊँट पालते है और लेनदेन भी करते हैं।"[1] सैनिक नागाओ के पास अधिकतर ढाल, तलवार और एक साधारण-सी बदूक रहा करती है जिनका प्रयोग करना उन्हें सिखलाया गया रहता है। सन् १८५७ ई० के स्वातत्र्य-युद्ध के समय इन्होने कपनी को बडी सहायता पहुँचायी थी जिस कारण इनकी प्रशसा अँगरेज लेखक बराबर करते आये हैं। इनकी भर्ती बहुधा उच्च कुलो के हिन्दू युवको में से ही हुआ करती थी और इनकी सख्या क्रमश घटती चली गई। स० १९९५ के अनतर नागाओ का सबध जयपुर राज्य के साथ विच्छिन्न हो गया।[2]

३ **उत्तराढ़ी** इस उप-सम्प्रदाय में अधिकतर पजाब की ओर के धनी मानी लोग सम्मिलित हैं और वे 'उतराधे' वा 'स्थानधारी' भी कहे जाते हैं। इनमें से कई का व्यवसाय वैद्यक के अनुसार दवा देने का तथा लेनदेन के व्यवहार का भी देखा जाता है। इनकी एक शाखा की स्थापना हरद्वार में किसी गोपालदास

---

१ वि० क्रुक ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि नार्थ वेस्ट प्राविसेज ऐंड अवध, भा० २, पृ० २३८।

२ जयती ग्रथ, पृ० २१।

में की थी किंतु मूल उत्तराढ़ी के प्रवर्तक बनवारी दास या कभी-कभी रज्जबजी भी समझे जाते हैं। दोनो ही दादू-शिष्यों बनवारीदास के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने अपना थाँबा सर्वप्रथम रतिया ग्राम (पटियाला) मे स्थापित किया था। वहाँ से 'उत्तराढ़ी' दल प्रवर्तित होकर क्रमशः उत्तरी भारत के कई स्थानों तक में भी फैल गया। इस वर्ग के लोगों ने कुछ दिनों तक मूर्ति-पूजा को भी अपनाना आरंभ कर दिया था। किंतु नागा लोगों की ओर से विरोध रूप में आपत्ति की जाने पर इन्हें ऐसा विचार छोड़ देना पड़ा। कहा जाता है कि इस उप-सम्प्रदाय के ५२ थाँबे अलग-अलग स्थापित है और केवल डेहरा गाँव में ही इनकी १४ गद्दियाँ वर्तमान हैं। इनके प्रधान महंत हिसार जिले के रतिया नामक गाँव में रहा करते हैं। इसके सदस्यों में अनेक बहुत बड़े कवि और विद्वान् हो चुके हैं जिनमें साधु निश्चलदास रसपुंजजी हीरादासजी आदि की गणना भी की जा सकती है।

४ विरक्त इनके विषय में प्रसिद्ध है कि ये रुपये-पैसे हाथ से नहीं छूते और अधिकतर भिक्षावृत्ति पर ही जीवन-निर्वाह करते हैं। ये बादामी रंग के वस्त्र धारण करते हैं और अपना समय अधिकतर पढ़ने-लिखने में ही लगाया करते है। ये एक स्थान पर अधिक दिनों तक नहीं ठहरा करते और इनके मुखिया लोगों के साथ दो-एक अथवा कभी-कभी इससे अधिक शिष्य भी रहा करते हैं। ऐसे शिष्य बहुधा लड़के होते हैं जो इनके संपर्क में रह कर सदा दादू-वानियों और संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया करते हैं। ये लोग अधिकतर नंगे सिर घूमा करते है। इनके शरीर पर केवल एक वस्त्र और हाथ में एक कमंडल ही रहा करता है। ये लोग कभी किसी व्यवसाय की ओर ध्यान नहीं देते और इनका मुख्य कर्तव्य दादू-पंथी गृहस्थों के यहाँ जाकर उपदेश देना रहता है।

५ खाकी ये लोग बहुत ही कम कपड़े पहना करते हैं और य साधारणतः लंबी जटा धारण करके तथा अपने सारे शरीर में भस्म लपेटे हुए शारीरिक साधना करते पाये जाते हैं। ये छोटी-छोटी टुकड़ियों में घूमते-फिरते हुए भी दिखलायी पड़ते हैं। ये सम्भवतः इस प्रकार की धारणा बनाये रहते हैं कि पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए किसी प्रवाहित नदी की भाँति निरंतर भ्रमणशील रहा करना ही परमावश्यक है।

दादू-पंथी जन-समाज

परब्रह्म-सम्प्रदाय की जगह पर दादू-पंथ नाम सम्भवतः उक्त भी वर्गों के अंतर ही अधिक प्रसिद्ध हुआ और तब से इसी नाम के लोग विशेष जानकार हैं। दादू पंथी जन-समाज वास्तव में मुख्य दो प्रधान समुदायों में विभक्त है जिनमें एक स्वामी

वा साधु हैं और दूसरे सेवक वा गृहस्थ है। इनमे से प्रथम वर्ग के लोग अधिकतर ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हैं, विरक्ति-भाव से प्रभावित रहते है और धर्मोपदेश किया करते हैं। इनमे मे अनेक व्यक्ति प्रकाड विद्वान् हुआ करते हैं और इनके अनुयायियो की सख्या भी कम नही रहा करती। इनका मुख्य उद्देश्य सर्वसाधारण गृहस्थो मे जाकर उन्हे दादू-वानियो के गूढ रहस्यो से परिचित कराना तथा पथ के अनुसार व्यवहार करने की शिक्षा देना रहता है। इनमे से जो स्वामी कम पढे-लिखे वा सयोगवश निरक्षर ही रह जाते है, वे गृहस्थो के द्वार पर जा-जाकर साधारण भिक्षुओ की भाँति भीख माँगा करते है। ये लोग बहुधा गेरुए वस्त्र भी धारण कर लेते है और कभी-कभी तो इनके शरीर पर अन्य कई साधुओ की भाँति दो-एक मालाएँ भी पायी जाती हैं। सेवक-दल के लोगो का काम इसी प्रकार गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करना, दादू-वानियो का पढना अथवा कहना-सुनना और अतिथि-सेवा रहता है। जो धनी होते हैं, वे अपने सामर्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यवसाय करते हैं और जो निर्धन होते हैं, वे दूसरो के यहाँ सेवा-टहल मे लग जाते है। शिक्षित दादू-पथ के लोगो मे वेदात का बहुत प्रचार है और इस विषय के पडित उनमे अनेक देखे जाते हैं।

उसकी विशेषता

दादू-पथी लोगो का स्थान धार्मिक समाजो मे काफी ऊँचा रहता आया है और आदर्श दादू-पथी की बडी प्रशसा भी सुनी जाती है। किसी दास जी नामक एक भक्त ने दादू-पथी के विषय मे बहुत दिन हुए इस प्रकार लिखा था, "जिस किसी को गर्व न हो, जो परमात्मा की आराधना अपने हृदय मे ही करता हुआ उसका बाह्य प्रदर्शन पसद न करता हो, जो सासारिक भेद-भावो से अलग रहता हो और जो किसी दर्शन-विशेष का आश्रय न लेकर अपने मन पर पूरी विजय प्राप्त कर लेने को ही अधिक महत्त्व देता हो, वही सच्चा भक्त और दादू-पथी है। जिसने सभी रीतियो तथा परपराओ का त्याग कर दिया हो, जो किसी भी अवतार मे विश्वास नही करता, अपितु केवल एक निर्विशेष ब्रह्म की ही उपासना अपने भीतर किया करता है, वही सच्चा दादू-पथी है। जिसके लिए किसी ऊँच-नीच का भेद-भाव महत्त्व नही रखता, जिसके लिए राजा तथा रक एक समान हैं, जो अपने हृदय के अतस्थल मे ईश्वर-प्रेम का भाव सदा बनाये रहता है, वही सच्चा दादू-पथी है। जिसने काम, क्रोध तथा स्वार्थ पर विजय प्राप्त कर ली है, जो भोजन-वस्त्रादि के व्यवहार मे सयत रहा करता है, जो विश्व की सेवा के लिए हर्ष के साथ उद्यत रहता है, जिसका आनद परमात्मा के सयोग मे तथा दुःख उसके वियोग मे ही दीख पडता है और जो निर्गुण ब्रह्म से ही सदा आवृत रहा करता है, वही सच्चा दादू-

पथी है। जो सत्य की उपलब्धि के लिए सभी प्रकार के असत्य का पूर्ण त्याग कर देता है जिसके विचार निर्ममतापूर्वक सदा आत्म-साधन में ही लगे रहते हैं जो सदा उस शाश्वत सत्य को ही व्यक्त किया करता है जो हृदय से नम्र तथा कोमल स्वभाव का होता है और जो अपना निर्णय देते समय सदा स्पष्ट तथा सावधान रहा करता है, वही सच्चा दादू-पंथी है। इसी प्रकार जो उक्त आदर्श के अनुसार मनसा वाचा तथा कर्मणा रहा करता है, वही सच्चा दादू-पंथी है और जो इसके विपरीत चलते हैं वे इस पंथ का अनुयायी होने का व्यर्थ नाम लेते हैं।[1]

साहित्य-निर्माण

दादू-पंथ की एक यह बड़ी विशेषता रही कि उसके अनुयायियों ने अपने प्रधान गुरुओं तथा अन्य संतों की भी बानियों की रक्षा तथा प्रचार के लिए बहुत यत्न किये। इसी कारण ऐसा साहित्य जितना दादू-पंथी क्षेत्र में उपलब्ध है उतना अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता। अनुमान किया जाता है कि दादू दयाल के जीवन-काल से ही संत-संदेशों के विविध संग्रह प्रस्तुत किये जाने लगे थे। दादू-शिष्य संतदास तथा जगन्नाथदास ने अपने गुरु की बानियों को 'हरडे बानी' के रूप में कदाचित् उसी समय संगृहीत कर ली थी। रज्जबजी का 'अंगबंधू ग्रंथ' भी संभवतः उसी काल की रचना है तथा 'सर्वंगी' को भी उन्होंने सिक्खों के 'आदिग्रंथ' से पहले ही तैयार कर लिया था। इसी प्रकार जगन्नाथदास का संग्रह-ग्रंथ 'गुणगंजनामा' भी प्रायः उसी काल की रचना है। 'सर्वंगी' तथा 'गुणगंजनामा' के संग्रहकर्त्ताओं ने अपने गुरु दादू की रचनाओं के अतिरिक्त उन संत-बानियों को भी स्थान दिया जो उस समय बहुत प्रसिद्ध थी। ऐसे संग्रहों में दादू दयाल की बानियाँ कुछ विस्तार के साथ रहा करती थीं किंतु उनके अनंतर कबीर साहब संत नामदेव रैदासजी तथा हरिदास निरंजनी की रचनाओं को भी प्रमुख स्थान मिला करता था। इन पाँच प्रधान संतों के अतिरिक्त जिन अन्य लोगों की रचनाएँ इनमें पायी जाती हैं उनमें रामानंद पीपा नरसी मेहता सूरदास मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ भरथरी चर्पट नाथ हालीपा गोपीचंद शेख बहाउद्दीन गुरु नानक शेख फरीद तथा कमाल मुख्य कहे जा सकते हैं। ऐसे संग्रहों में अनेक रचनाएँ ऐसी भी पायी जाती हैं जिनका पता बहुत लोगों को अभी तक नहीं है। उनमें ऐसे संतों का भी परिचय मिल जाता है जो श्रेष्ठ होने पर भी अब तक विख्यात न थे। संत-बानियों की ऐसी अनेक ग्रंथ-राशियाँ अभी तक हस्तलिखित तथा अप्रकाशित पड़ी हुई हैं। यदि केवल दादू-द्वारा तथा दादू-पंथियों के गृहों में सुरक्षित संत-साहित्य का ही प्रकाशन किया

---

१ क्षितिमोहन सेन मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया पृ १८६-७।

जा सके, तो एक वहुत वडा ग्रथ-भडार हमारे सामने आ जाय और हिंदी-साहित्य की श्री-वृद्धि मे भी सहायता मिले ।

५ वावरी-पथ

(१) प्रधान प्रवर्त्तक

परिचय

बावरी साहिवा की परपरा-मत, परपरा की आधे दर्जन वडी परपराओ मे से एक है, इसका प्रभाव-क्षेत्र प्रधानत दिल्ली प्रात तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो तक विस्तृत है। इसके अतर्गत उच्च कोटि के अनेक महात्मा हो चुके हैं जिनके कारण कुछ नवीन पथ भी प्रचलित हो गए है। फिर भी इस परपरा का कोई क्रम-वद्ध इतिहास नही मिलता, न इसके प्रचारको की इतनी रचनाएँ ही मिलती हैं जिनके आधार पर कुछ निश्चित अनुमान किया जा सके। अनुश्रुतियो के अनुसार इसका प्रारभ सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर जिले से हुआ था, किंतु इसके पथ की रूपरेखा दिल्ली प्रात मे जाकर निर्मित हुई। अपने अधिक वा पूर्ण विकास के लिए इसे फिर एक बार पूर्व की ओर ही लौटना पडा। पथ के प्रथम पाँच प्रचारको ने इसके सगठित करने का कदाचित् कुछ भी यत्न नही किया। इनमे से क्रमागत चतुर्थ प्रवर्त्तक को हम एक योग्य नारी बावरी साहबा के रूप मे पाते हैं जिसका व्यक्तित्व विशेष-रूप से उल्लेखनीय रहा। इसके नाम पर इसी कारण यह परपरा आज तक भी प्रसिद्ध चली आ रही है। उक्त पाँच प्रवर्त्तको के अनतर आगे वाले इसके छठें प्रधान व्यक्ति यारी साहब हुए जिन्होने इसे सर्वप्रथम सुव्यव-स्थित रूप देने का यत्न किया। कुछ लोग इसी कारण इस परपरा का नाम कभी-कभी यारी साहब की परपरा ही रखना अधिक उचित समझते है। फिर भी इसका जितना प्रचार इनके शिष्य बूला साहव तथा प्रशिष्य गुलाल साहव के कारण इसके पूर्वी क्षेत्र मे हुआ, उतना पश्चिमी क्षेत्र में न हो सका। आगे आनेवाले इवर के अनेक महापुरुषो ने अपने मत के अनुसार उपदेश देकर पथ के जीवित तथा जागृत रखने की सदा चेष्टा की। अतएव समय पाकर इसका प्रधान केन्द्र वस्तुत पश्चिम की ओर से हट कर पूर्व की ओर चला आया।[1]

प्रथम तीन प्रवर्त्तक

वावरी साहिवा की परपरा का आरभ उसके आदि प्रवर्त्तक रामानद से

---

१ उक्त सतों के विषय मे एक दोहा इस प्रकार प्रसिद्ध है

'यारी वारी प्रेम की, गाछी बूलादास ।
जन गुलाल परगट भयो, रामनाम खुशवास ।'

माना जाता है जो सभवतः प्रसिद्ध स्वामी रामानद से भिन्न थे। इनका निवास स्थान गाजीपुर जिले का कोई पटना नामक गाँव था जो वर्तमान रेलवे स्टेशन 'औरिहार' के कुछ पश्चिम ओर बसा है। वहाँ पर गगा के किनारे पेड़ो के घने झुरमुट में उक्त स्वामी की भी एक समाधि का होना भी बतलाया जाता है। उक्त रामानद के शिष्य दयानंद भी उसी पटना गाँव के ही रहनेवाले थे किन्तु उनके शिष्य मायानद किसी अन्य स्थान के निवासी थे और अपने मत का प्रचार उन्होंने किसी प्रकार सुदूर दिल्ली तक जाकर किया। दिल्ली में इस सम्प्रदाय का केन्द्र उनके पीछे आज भी वर्तमान है। उनके प्रशिष्य बीरू साहब के शिष्य यारी साहब के नाम से प्रसिद्ध है। इन महात्माओ के व्यक्तिगत जीवन अथवा आविर्भाव-काल के विषय में प्राय कुछ भी पता नही है। इनकी किसी रचना का अवशेष चिह्न भी आज तक उपलब्ध नही न इनके अनुयायियों तक को ही यह विदित है कि इनके मूल विचार क्या थे और इन्होंने किस प्रकार उसका प्रचार किया था। इनके सबध की सारी बातें विस्मृति के गर्भ में लीन हो चुकी है। इनके नाम आजकल केवल इनके अनुयायियो द्वारा सुरक्षित वंशावली मे ही रह गए है। पंथ वालों के अतिरिक्त इन्हे कदाचित् कोई भी नही जानता।

बावरी साहिबा

पंथ के मठों मे सुरक्षित वंशावली से पता चलता है कि बावरी साहिबा उक्त मायानंद की शिष्या थी। इनके अनुयायियो का कहना है कि ये किसी उच्च कुल की महिला थी। सत्य की खोज मे पड़ कर इन्हें बहुत कुछ कष्ट भी झेलने पड़े थे। कई साधु-सतो के साथ सत्संग करने के अनंतर इन्हे अंत मे मायानंद मिले और उनके उपदेशो से प्रभावित हो इन्होंने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। अनुमान किया जाता है कि इनका आविर्भाव प्रसिद्ध सम्राट् अकबर के समय अर्थात् संवत् १५९९-१६६२ के लगभग हुआ था। इस प्रकार ये संत दादू दयाल (सं १६ १ १६६) की समकालीन थी। इनके पथ वालो के पवित्र स्थानो मे इनका एक चित्र पाया जाता है जिसमें इन्हें दायें हाथ मे एक मोरछल लेकर और बायाँ हाथ किसी आधारी लकड़ी पर टेक कर बैठी हुई किसी अन्यमनस्क किन्तु आनंद विभोर भक्तिन के रूप मे दिखलाया गया है। लगभग इसी प्रकार का एक चित्र 'व्रजचद चकोरी मीरां' नाम की पुस्तक आदि में मीरांबाई का कह कर भी दिया गया है। इनके सिर की ओर देखने से अनुमान होता है कि इनके बालो का जूड़ा किसी चीज से दो-तीन लपेटो में बँधा हुआ है और बाँधनेवाली वस्तु जटा के ढग की बनी जान पड़ती है। वैसी ही कोई वस्तु इनके शिष्य बीरू साहब के चित्र मे भी उनकी टोपी के इर्द-गिर्द बँधी हुई

जा सके, तो एक बहुत बडा ग्रथ-भडार हमारे सामने आ जाय और हिंदी-साहित्य की श्री-वृद्धि मे भी सहायता मिले ।

५ बावरी-पथ

(१) प्रधान प्रवर्त्तक

परिचय

बावरी साहिबा की परपरा-मत, परपरा की आधे दर्जन बडी परपराओ मे से एक है, इसका प्रभाव-क्षेत्र प्रधानत दिल्ली प्रात तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो तक विस्तृत है। इसके अतर्गत उच्च कोटि के अनेक महात्मा हो चुके है जिनके कारण कुछ नवीन पथ भी प्रचलित हो गए हैं। फिर भी इस परपरा का कोई क्रम-बद्ध इतिहास नही मिलता, न इसके प्रचारको की इतनी रचनाएँ ही मिलती हैं जिनके आधार पर कुछ निश्चित अनुमान किया जा सके। अनुश्रुतियो के अनुसार इसका प्रारभ सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर जिले से हुआ था, किंतु इसके पथ की रूपरेखा दिल्ली प्रात मे जाकर निर्मित हुई। अपने अधिक वा पूर्ण विकास के लिए इसे फिर एक बार पूर्व की ओर ही लौटना पडा। पथ के प्रथम पाँच प्रचारको ने इसके सगठित करने का कदाचित् कुछ भी यत्न नही किया। इनमे से क्रमागत चतुर्थ प्रवर्त्तक को हम एक योग्य नारी बावरी साहबा के रूप मे पाते है जिसका व्यक्तित्व विशेष-रूप से उल्लेखनीय रहा। इसके नाम पर इसी कारण यह परपरा आज तक भी प्रसिद्ध चली आ रही है। उक्त पाँच प्रवर्त्तको के अनतर आगे वाले इसके छठें प्रधान व्यक्ति यारी साहब हुए जिन्होने इसे सर्वप्रथम सुव्यवस्थित रूप देने का यत्न किया। कुछ लोग इसी कारण इस परपरा का नाम कभी-कभी यारी साहब की परपरा ही रखना अधिक उचित समझते हैं। फिर भी इसका जितना प्रचार इनके शिष्य बूला साहब तथा प्रशिष्य गुलाल साहब के कारण इसके पूर्वी क्षेत्र मे हुआ, उतना पश्चिमी क्षेत्र मे न हो सका। आगे आनेवाले इधर के अनेक महापुरुषो ने अपने मत के अनुसार उपदेश देकर पथ के जीवित तथा जागृत रखने की सदा चेष्टा की। अतएव समय पाकर इसका प्रधान केन्द्र वस्तुत पश्चिम की ओर से हट कर पूर्व की ओर चला आया।[1]

प्रथम तीन प्रवर्त्तक

बावरी साहिबा की परपरा का आरभ उसके आदि प्रवर्त्तक रामानद से

---

१ उक्त सतों के विषय मे एक दोहा इस प्रकार प्रसिद्ध है
'यारी बारी प्रेम की, गाछी बूलादास ।
जन गुलाल परगट भयो, रामनाम खुशबास ।'

'रहल' 'राखिलो' 'लागिलो' 'देखिलो' 'मोर' तथा 'करमो'-जैसे शब्दों द्वारा प्रतीत होता है कि इनका संबंध किसी पूर्वी प्रांत से भी अवश्य रहा होगा। वह प्रदेश संभवतः पंथ के आदि पुरुष रामानंदतथा दयानंद की जन्म भूमि रही होगी। इनके चित्र में प्रदर्शित इनकी धोती और इनका अंगरखा भी इनका संबंध किसी पूर्व वाले प्रदेश के ही साथ सूचित करते हुए जान पड़ते हैं। इनके चित्र के देखने से पता चलता है कि ये अपने हाथ में एक सितार-जैसा वाद्यपत्र भी लिये रहते थे तदनुसार ये संगीत-प्रेमी भी रहे होंगे। इनके भी व्यक्तिगत जीवन की किसी घटना का कहीं उल्लेख नहीं मिलता न यही निश्चित होता है कि किस परिस्थिति में इन्होंने इस पंथ में प्रवेश किया था। वास्तव में पंथ के मूल प्रवर्तक रामानंद से लेकर बीरू साहब तक पाँच महात्माओं का उक्त परिचय भी बहुत कुछ इस पंथवालों की कतिपय मान्यताओं पर ही आश्रित जान पड़ता है। इस बात के लिए भी कोई अन्य स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि आगे आनेवाली यारी साहब की परंपरा का संबंध इससे अवश्य ही रहा होगा।

यारी साहब

यारी साहब उक्त बीरू साहब के दीक्षित शिष्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी गद्दी की परंपरा दिल्ली में आज तक भी चल रही है। इनका मूल नाम यार मुहम्मद रहा। कहा जाता है कि इनका पूर्व संबंध किसी शाही घराने से था तथा ये शाहजादा भी रह चुके थे। पीछे इनकी मनोवृत्ति अपने ऐश्वर्यमय जीवन की ओर से किसी प्रकार हट गई और ये विरक्त होकर सत्य की खोज में लग गए। ऐसी दशा में किसी समय इनकी भेंट बीरू साहब से साथ हुई और उनके द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित हो इन्होंने उनका शिष्यत्व भी स्वीकार कर लिया। इनकी रचनाओं से पता चलता है कि इनका सत्संग पहले सूफी पीरों के साथ भी अवश्य हुआ होगा। उनके उपदेशों से तृप्त न होकर ही अंत में इन्होंने बीरू साहब से दीक्षा भी ग्रहण की होगी। इनके जीवन-काल के विषय में अभी तक अनुमान से ही काम लिया जाता है। इनकी समाधि दिल्ली नगर में वर्तमान कही जाती है। इनके चार चेलों अर्थात् केसवदास सूफीशाह शेखन शाह और हस्त मुहम्मद ने इनके मत का प्रचार दिल्ली की ओर किया। इनके पाँचवें शिष्य बूला साहब ने इनके पंथ की एक शाखा भुरकुड़ा जिला गाजीपुर में प्रतिष्ठित की जो अब तक चल रही है। यारी साहब की रचनाओं का एक छोटा-सा संग्रह 'रत्नावली' नाम से बेलवेडियर प्रेस प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ है। इनकी कुछ अन्य फुटकर रचनाएँ भी कई संग्रहों में मिलती

दीख पडती है, किंतु वह जटा नही हो सकती। बावरी साहिबा के सिर पर इस प्रकार बँधी हुई उक्त वस्तु, यदि किसी भेष-विशेष की द्योतक हो तो इनके मूल सम्प्रदाय के सबध में भी कुछ प्रकाश पड सकता है। जो हो, इनके व्यक्तिगत जीवन की किसी घटना अथवा इनकी किसी विस्तृत रचना का भी हमे पता नही जिससे इन-जैसी बातो के विषय में कोई धारणा निश्चित करने में सहायता मिल सके।

इनके नाम की सार्थकता

'बावरी' शब्द का अर्थ बावली या पगली होता है। इसलिए यह नाम इनका उपनाम-सा ही जान पडता है। परन्तु ऐसा मान लेने पर इनके मूल नाम का पता चलाना भी बहुत कठिन हो जाता है। इनका परिचय देनेवाले लोगो ने इनके विषय में लिखते समय बहुधा एक सवैया उद्धृत किया है जो कदाचित् इन्ही की रचना समझी जाती है। उसमें कहा गया है,"बावरी कहती है कि हे प्रभो, आपकी विचित्र लीला के विषय में क्या कहा जाय! मेरा मन तो सदा पतग की भाँति उससे आकृष्ट होकर चक्कर काटता रहता है। इस चक्कर मारने वा 'भाँवरी भरने' का रहस्य केवल उन्ही को विदित है जो तुम्हारे रूप की माधुरी का अनुभव अपने हृदय में कर चुके हैं। उस मनोमोहनी मूर्ति की झलक दिखला कर तुम अनत का ज्ञान प्रदान करते हो। मैं तो तुम्हारी शपथ खाकर कहती हूँ कि तुम्हारी गतिविधि को देख कर मेरी बुद्धि हैरान हो गई है। उसकी दशा पगली की-सी हो गई है और मैं अब सचमुच 'बावरी' हूँ[1]"। इस प्रकार इस पद्य द्वारा इनके नाम की सार्थकता सिद्ध होती है। यह भी लक्षित होता है कि इनकी लगन परमात्मा के प्रति कितनी सच्ची थी तथा उसका वास्तविक रूप क्या था।

बीरू साहब

बावरी साहिबा के शिष्य बीरू साहब के विषय में भी हमें अधिक पता नही चलता। इनके सबध मे भी केवल इतना ही कहा गया मिलता है कि ये किसी उच्च घराने के वशज थे और उनके गुरुमुख चेले थे। ये बावरी साहिबा का देहात हो जाने पर उनकी गद्दी पर बैठे थे। उनके कदाचित् ये इकलौते शिष्य थे और दिल्ली में ही रह कर इन्होने बहुत दिनो तक सत्सग किया तथा कराया था। फिर भी इनकी उपलब्ध रचनाओ की भाषा में पाये जानेवाले 'बाझल', 'आयल',

---

१, 'बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतग भरै नित भांवरी।
भांवरी जानहिं सत सुजान, जिन्हे हरिरूप हिये वरसावरी।
सांवरी सूरत मोहनी मूरत, दै करि ज्ञान अनन्त लखावरी।
खांवरी सोह तेहारी प्रभु, गति रावरी देखि भई मति बावरी।'

'रहस' 'राखिका' 'सागिकौ' 'देखिको' 'मोर' तथा 'करवो' जैसे शब्दों द्वारा प्रतीत होता है कि इनका संबंध किसी पूर्वी प्रांत से भी अवश्य रहा होगा। वह प्रदेश संभवत पंथ के आदि पुरुष रामानंदतथा दयानंद की जन्म भूमि रही होगी। इसके चित्र में प्रदर्शित इनकी धोती और इनका अंगरखा भी इनका संबंध किसी पूर्व वाले प्रदेश के ही साथ सूचित करते हुए जान पड़ते हैं। इनके चित्र के देखने से पता चलता है कि ये अपने हाथ म एक सितार-जैसा वाद्ययंत्र भी लिए रहते थे तदनुसार य संगीत-प्रेमी भी रहे होंगे। इनके भी व्यक्तिगत जीवन की किसी घटना का कहीं उल्लेख नहीं मिलता न यही विदित होता है कि किस परिस्थिति में इन्होंने इस पंथ में प्रवेश किया था। वास्तव में पंथ के मूल प्रवर्त्तक रामानंद से लेकर बीरू साहब तक पाँच महात्माओं का उक्त परिचय भी बहुत कुछ इस पंथवालों की कतिपय मान्यताओं पर ही आश्रित जान पड़ता है। इस बात के लिए भी कोई अन्य स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि आगे आनेवाली यारी साहब की परंपरा का संबंध इससे अवश्य ही रहा होगा।

यारी साहब

यारी साहब उक्त बीरू साहब के दीक्षित शिष्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी गद्दी की परंपरा दिल्ली में आज तक भी चल रही है। इनका मूल नाम यार मुहम्मद रहा। कहा जाता है कि इनका पूर्व संबंध किसी शाही घराने से था तथा ये शाहजादा भी रह चुके थे। पीछे इनकी मनोवृत्ति अपने ऐश्वर्यमय जीवन की ओर से किसी प्रकार हट गई और ये विरक्त होकर सत्य की खोज में लग गए। ऐसी दशा में किसी समय इनकी भेंट बीरू साहब के साथ हुई और उनके द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित हो इन्होंने उनका शिष्यत्व भी स्वीकार कर लिया। इनकी रचनाओं स पता चलता है कि इनका सत्संग पहले सूफी पीरों के साथ भी अवश्य हुआ होगा। उनके उपदेशों से तृप्त न होकर ही अंत में इन्होंने बीरू साहब से दीक्षा भी ग्रहण की होगी। इनके जीवन-काल के विषय में अभी तक अनुमान से ही काम लिया जाता है। इनकी समाधि दिल्ली नगर में वर्तमान कही जाती है। इनके चार चेलों अर्थात् केशवदास सूफीशाह, शेखन शाह और हस्त मुहम्मद ने इनके मत का प्रचार दिल्ली की ओर किया। इनके पाँचवें शिष्य बूला साहब न इनके पंथ की एक शाखा भुरकुड़ा जिला गाजीपुर म प्रतिष्ठित की जो अब तक चल रही है। यारी साहब की रचनाओं का एक छोटा-सा संग्रह 'रत्नावली' नाम से बेलवेडियर प्रेस प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ है। इनकी कुछ अन्य फुटकर रचनाएँ भी कई संग्रहों में मिलती

हैं। 'रत्नावली' के सपादक ने इनके आविर्भाव का समय स० १७२५ और १७८० के बीच बतलाया है। किंतु अनुमान से जान पडता है कि इनका देहात उक्त काल के पूर्वार्द्ध मे ही किसी समय हो चुका होगा। ये सभवत सत मलूकदास (मृ० स० १७३९) तथा सत (प्राणनाथ मृ० स० १७५१) के समकालीन रहे होंगे।

केशवदास तथा सूफीशाह

यारी साहब की रचनाओ से विदित होता है कि ये एक मस्त मौला फक़ीर थे। इनकी साधना बडे ऊँचे पैमाने की थी। इनके पश्चिमी क्षेत्र वाले चार शिष्यो मे सर्वप्रसिद्ध केशवदास हुए जो जाति के बनिया थे और कही उसी ओर के रहनेवाले थे। इनकी भी एक रचना 'अमीघूंट' के नाम से उक्त प्रेस द्वारा प्रकाशित हो चुकी है[1]। इसके कई स्थलो पर इन्होने यारी साहब को अपना गुरु स्वीकार कर उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की है।[2] इससे प्रतीत होता है कि निर्गुण वा सत जनानुमोदित परमतत्त्व को सर्वोच्च पदस्थ सम्राट् की पदवी देकर इन्होने अपने गुरु यारी साहब को उसके पद की अनुभूति उपलब्ध करनेवाला मार्ग-प्रदर्शक माना है। केशवदास भी अपने गुरु की ही भाँति एक पहुँचे हुए साधक जान पडते हैं। इनकी रचनाओ मे भी प्राय उसी प्रकार के आत्मबल तथा गभीरता की छाप लक्षित होती है। इनके पश्चिमी क्षेत्र वाले गुरु-भाई सूफीशाह की रचनाएँ उनके उपनाम 'शाह फकीर' के साथ मिलती हैं। उनकी भाषा अधिकतर फारसी-मिश्रित है। केशवदास का समय स० १७५० और १८२५ के बीच बतलाया जाता है जो लगभग २५ वर्ष पीछे टल गया हुआ समझ पडता है। कहा जाता है कि इस पश्चिमी क्षेत्र

---

१ महर्षि शिवव्रत लाल ने अपनी 'सतमाल' (पृ० २४९) में 'अमीघूंट' के रचयिता को जगजीवन साहब का शिष्य होना लिखा है जो ठीक नहीं है। केशवदास की अमीघूंट, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९१४ ई०, पृ० २। 'महात्माओ की वाणी' (पृ० १३-८) मे 'केशवदासजी की रास' के नाम से भी इनकी एक रचना सकलित की गई है, जिससे तुलना करने पर अतर कम लक्षित होता है, किंतु 'सत वाणी' (आरा, वर्ष ६, अक ८, पृ० ३-१०) मे प्रकाशित साखियो के विषय मे नहीं कहा जा सकता कि वे इन्हीं की हैं वा नहीं। —लेखक।

२ निर्गुन राज समाज है, चवर सिंहासन छत्र।
तेहि चढ़ि यारी गुरु दियो, केसोहि अजपा मत्र ॥२

का प्रधान केन्द्र दिल्ली नगर में अब तक वर्तमान है किन्तु उसकी परंपरा के अन्य संतों के विषय में कुछ पता नहीं चलता।

बुलाकीराम और उनके जमींदार

बावरी-पंथ की पूर्वी क्षेत्रवाली परंपरा अभी तक अविच्छिन्न रूप में चल रही है और भिन्न-भिन्न मठों का कुछ-न-कुछ परिचय भी उपलब्ध है। यारी साहब के प्रसिद्ध पाँचवें शिष्य बूला साहब गाजीपुर जिले के भुरकुड़ा नामक गाँव के निवासी थे और जाति के कुनबी वा कुर्मी थे। ये एक जमींदार के यहाँ हल चलाने का काम किया करते थे। इनका नाम भी पहले बुलाकी राम था। कुक साहब का कहना है कि भुरकुड़ा के जमींदार मर्दन सिंह मालगुजारी न दे सकने के कारण गिरफ्तार होकर दिल्ली गये थे। उन्हें सूबेदार ने वहाँ भेज दिया था और वे वहाँ कैद भी हो गए थे। उन्हीं का एक नौकर यारी साहब के यहाँ आता-जाता रहा। यारी साहब ने मर्दन सिंह की रिहाई के लिए आशीर्वाद दिया और नौकर तथा मालिक ने घर लौट कर उनका पंथ चलाया।[1] परन्तु भुरकुड़ा की ओर प्रसिद्ध जनश्रुति के अनुसार मर्दन सिंह बानापुर, जिला बनारस के रहनेवाले जाति के क्षत्रिय जमींदार थे। काशीनरेश महाराजा बलवंत सिंह के समय में ये उस प्रांत के चकलेदार भी थे। गुलाल साहब (बूला साहब के शिष्य) को देख कर उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो ये उनके शिष्य हो गए थे। इन्होंने अपना घर-बार भी छोड़ दिया था। इनका एक पक्का मकान (धमधमा) इनके स्मारक के रूप में बना हुआ आज भी वर्तमान है।[2] अतएव मर्दन सिंह का कोई संबंध बूला साहब के साथ होना संभव नहीं जान पड़ता। इसके सिवाय मर्दन सिंह का एक चित्र भुरकुड़ा मठ में सुरक्षित चित्रावली के लगभग अंत में दिया हुआ है। किन्तु गुलाल साहब का चित्र उसी में इनके चित्र के पहले और बूला साहब वाले चित्र के अनंतर ही दिया हुआ है। इस बात से भी सूचित होता है कि मर्दन सिंह का संबंध बूला साहब से न होकर गुलाल साहब से ही रहा होगा तथा उपर्युक्त जमींदार मर्दन सिंह नहीं रहे होंगे।

यारी साहब से भेंट तथा दीक्षा

भुरकुड़ा की ओर प्रसिद्ध जनश्रुति के अनुसार बुलाकी राम एक बार अपने

---

१ कुक : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध भा० २, पृ० ४६-७।

२ महात्माओं की बानी, सं० महंथ बाबा रामबरन दास साहब भुरकुड़ा गाजीपुर, सन् १९३१ ई०, पृ० 'अ'।

मालिक के साथ किसी मुकदमे की पैरवी के सिलसिले में दिल्ली गये और वहाँ पर उन्हें कुछ दिनो के लिए ठहर जाना भी पडा। वहाँ रहते समय ये अवकाश पाकर वहाँ के प्रसिद्ध यार मुहम्मद शाह वा यारी साहब के निवास-स्थान पर कभी-कभी बैठने लगे। इनके ऊपर वहाँ पर चलनेवाले सत्सग का बहुत बडा प्रभाव पडा। एक दिन इन्होने उनसे प्रार्थना की कि मुझे भी अपने मत्र मे दीक्षित कर अपना लीजिए। यारी साहब ने इनकी निष्ठा देख कर इनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इन्हे कुछ रहस्यमयी बातो के उपदेश देकर अपने मार्ग से इन्हें परिचित भी करा दिया। इन्होने तब से अपने मालिक के साथ रहना उचित नही समझा और उसे छोड कर ये नगर मे बाहर निकल पडे। वहाँ से चल देने के अनतर भ्रमण करते हुए ये कुछ दिनो मे सरदहा गाँव, जिला बाराबकी पहुँचे। वहाँ पर इन्होने अपने एक साथी फकीर के साथ बालक जगजीवन को उपदेश देकर सन्मार्ग दिखलाया। वहाँ से घूमते-घामते ये फिर अपने पूर्व निवास-स्थान भुरकुडा लौट आए।

हलवाही की घटना

इधर जब इनके मालिक को इनका कही पता न चला, तब वे अपना कार्य समाप्त हो जाने पर अकेले ही घर लौटे। वे यहाँ पहुँच कर इनका पता लगान की चिंता मे सदा व्यस्त रहने लगे। उन्हे बराबर यही आशा थी कि ये कभी-न-कभी अवश्य लोटेंगे। कुछ काल तक यो ही प्रतीक्षा करने के अनतर इन्हें एक दिन चरवाहो से पता चला कि कोई बुलाकी राम जैसा ही व्यक्ति निकट-वर्त्ती जगलो मे साधु के भेष में रहा करता है और वहाँ की झाडियो मे इधर-उधर भटकता फिरता है। यह समाचार पाकर वे इन्हे ढूँढते हुए इनके पास पहुँचे। इन्हें किसी प्रकार समझा-बुझा कर अपने घर लाये और उन्होने हलवाही का काम फिर इनके सिपुर्द कर दिया। परन्तु बुलाकी राम अब पहले की भाँति एक साधारण हलवाहा नही रह गए थे। इनके ऊपर आध्यात्मिक जीवन का रग भरपूर चढ चुका था। तदनुसार अपना हल चलाते समय भी इनका ध्यान अधिक-तर दूसरी ओर ही रहा करता। ये उसी में सदा मस्त रहा करते थे। एक दिन जब ये खेत में हल चलाते समय वही किसी मेंड पर ध्यानावस्थित हो गए थे, इनके मालिक अचानक पहुँच गए। इनको इस प्रकार बैठे-बैठे समय गँवाते देख कर क्रोधवश उन्होने इन्हें पीछे से धक्का दे दिया। प्रसिद्ध है कि उस चोट के लगते ही ये मुँह के बल गिर पडे। इनके हाथ से दही छलक पडा जिसे देख कर इनके मालिक को महान् आश्चर्य हुआ। उनके बार-बार पूछने पर इन्होने बतलाया कि मैं उस समय कुछ सतो को भोजन कराने में लगा हुआ था।

उन्हें खाने के लिए दही परसने जा रहा था जो आपस धक्का लग जाने के कारण मेरे हाथ से गिर पड़ा और मैं उक्त सेवा-भाव से वंचित रह गया। बुलाकी राम के इस कथन का इनके मालिक पर ऐसा मार्मिक प्रभाव पड़ा कि वे उसी समय इनके चरणों में गिर पड़े और इनके शिष्य बन गए।

बूला साहब

बुलाकी राम तब से बूला साहब के नाम से प्रसिद्ध हो चले और अपनी उक्त नौकरी का त्याग कर फिर ये जंगल चले गए। जंगलों मे रहते समय इन्होने अब अपने लिए एक कुटी बना ली और वहीं रह कर सत्संग का कार्य चलाने लगे। इनकी कुटी जिस जंगल में बनी हुई थी वह इस समय 'रामबन' के नाम से प्रसिद्ध है किंतु अब वह जंगल के रूप में ही नहीं रह गया। बूला साहब ने ७७ वर्ष की आयु में सं १७६६ में अपना चोला छोड़ा। इनकी कुटी के निकट ही इनकी समाधि बनी। इनका जन्म सं १६८९ में हुआ था। इनकी शिक्षा के विषय में कुछ पता नहीं चलता किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओं को देखने से जान पड़ता है कि इनकी पहुँच ऊँची थी। इन्होंने अपने गुरु यारी साहब के प्रति बड़ी श्रद्धा प्रकट की है। नामदेव सदना सेन कबीर, पीपा रैदास धना नानक तथा कान्हदास को आदर्शवत् माना है तथा अपने गुरु-भाई केशवदास को भी उसी भांति हरि के पास रहनेवाला बतलाया है।[1] इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'बुल्ला साहब का शब्दसार' के नाम से 'बेलवेडियर प्रेस' प्रयाग द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

गुलाल साहब

बूला साहब का देहांत हो जाने पर उनके पूर्व-मालिक उनके शिष्य तथा उत्तराधिकारी के रूप में गुलाल साहब के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये जाति के क्षत्रिय थे और बँसहरि तालुका परगना शादियाबाद तहसील तथा जिला गाजीपुर के जमींदार थे जिसके अंदर उक्त भुरकुड़ा गाँव भी पड़ता है। इन्होंने एक पद में अपने को 'बसहरिया' या बँसहर का रहनेवाला स्पष्ट शब्दों में कहा भी है।[2] इनके

---

१ बुल्ला साहब का शब्दसार, पृ २ तथा १२।

२ 'गगन मगन धुनि गाजे हो बाजे अवर अकास।
जन गुलाल बँसहरिया हो तहँ करहि निवास।।'

—गुलाल साहब की बानी पृ ३१ पंक्ति १२-जहाँ पर 'बँसहरिया' की जगह भ्रमवश 'बसिहरि' पर पाठ दिया गया है। फिर भी 'बँसहरिया' पाठ ही प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है और वही शुद्ध भी है।

मालिक के साथ किसी मुकदमे की पैरवी के सिलसिले मे दिल्ली गये और वहाँ पर इन्हें कुछ दिनो के लिए ठहर जाना भी पडा। वहाँ रहते समय ये अवकाश पाकर वहाँ के प्रसिद्ध यार मुहम्मद शाह वा यारी साहब के निवास-स्थान पर कभी-कभी बैठने लगे। इनके ऊपर वहाँ पर चलनेवाले सत्सग का बहुत बडा प्रभाव पडा। एक दिन इन्होने उनसे प्रार्थना की कि मुझे भी अपने मत मे दीक्षित कर अपना लीजिए। यारी साहब ने इनकी निष्ठा देख कर इनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इन्हे कुछ रहस्यमयी बातो के उपदेश देकर अपने मार्ग से इन्हें परिचित भी करा दिया। इन्होने तब से अपने मालिक के साथ रहना उचित नही समझा और उसे छोड कर ये नगर से बाहर निकल पडे। वहाँ से चल देने के अनतर भ्रमण करते हुए ये कुछ दिनो मे सरदहा गाँव, जिला बाराबकी पहुँचे। वहाँ पर इन्होने अपने एक साथी फकीर के साथ बालक जगजीवन को उपदेश देकर सन्मार्ग दिखलाया। वहाँ से घूमते-घामते ये फिर अपने पूर्व निवास-स्थान भुरकुडा लौट आए।

हलवाही की घटना

इधर जब इनके मालिक को इनका कही पता न चला, तब वे अपना काय समाप्त हो जाने पर अकेले ही घर लौटे। वे यहाँ पहुँच कर इनका पता लगान की चिंता मे सदा व्यस्त रहने लगे। उन्हे बराबर यही आशा थी कि ये कभी-न-कभी अवश्य लौटेंगे। कुछ काल तक यो ही प्रतीक्षा करने के अनतर इन्हे एक दिन चरवाहो से पता चला कि कोई बुलाकी राम जैसा ही व्यक्ति निकट-वर्त्ती जगलो मे साधु के भेष में रहा करता है और वहाँ की झाडियो मे इधर-उधर भटकता फिरता है। यह समाचार पाकर वे इन्हे ढूँढते हुए इनके पास पहुँचे। इन्हें किसी प्रकार समझा-बुझा कर अपने घर लाये और उन्होने हलवाही का काम फिर इनके सिपुर्द कर दिया। परन्तु बुलाकी राम अब पहले की भाँति एक साधारण हलवाहा नही रह गए थे। इनके ऊपर आध्यात्मिक जीवन का रग भरपूर चढ चुका था। तदनुसार अपना हल चलाते समय भी इनका ध्यान अधिक-तर दूसरी ओर ही रहा करता। ये उसी में सदा मस्त रहा करते थे। एक दिन जब ये खेत में हल चलाते समय वही किसी मेंड पर ध्यानावस्थित हो गए थे, इनके मालिक अचानक पहुँच गए। इनको इस प्रकार बैठे-बैठे समय गँवाते देख कर क्रोधवश उन्होने इन्हें पीछे से धक्का दे दिया। प्रसिद्ध है कि उस चोट के लगते ही ये मुँह के बल गिर पडे। इनके हाथ से दही छलक पडा जिसे देख कर इनके मालिक को महान् आश्चर्य हुआ। उनके बार-बार पूछने पर इन्होने बतलाया कि मैं उस समय कुछ सतो को भोजन कराने में लगा हुआ था।

इनका जी वहाँ से भी उचट गया और अपने हृदय में शांति आती हुई न पाकर वहाँ से ये अपनी जन्म-भूमि की ओर लौट पड़े ।

आत्म-परिचय

अपनी लौटती यात्रा में जब ये घूमते-घामते जिला गाजीपुर के सैदपुर भीतरी परगने के भुड़कुड़ा गाँव में पहुँचे तब उन्हें किसी देव-मंदिर में गाते हुए एक गवैये के मुख से गुलाल साहब की बनायी हुई एक ध्रुपद सुनायी पड़ी जिसे सुनते ही ये अत्यंत प्रभावित हो गए । इन्होंने गवैये के निकट जाकर उससे उक्त पद के रचयिता का परिचय पूछा । यह जान कर कि वह भुरकुड़ा के संत गुलाल साहब की रचना है वहाँ एक क्षण भी नहीं ठहरे और उनसे भेंट करने के उद्देश्य से वहाँ से शीघ्र चल पड़े । जब ये भुरकुड़ा पहुँचे तब गुलाल साहब को वहाँ इन्होंने अपने शिष्यों के साथ सत्संग करते हुए पाया और उनके निकट जाकर इन्होंने अपनी जिज्ञासा उनके सामने प्रकट कर दी । गुलाल साहब के सुंदर शरीर तथा शीलपूर्ण व्यवहार से ये प्रथम दृष्टिपात के क्षण से ही प्रभावित हो चुके थे । इनके आनंद का पारावार न रहा जब उन्होंने वैसी ही उदारता के साथ इनकी सारी बातें सुन लीं और इन्हें संतोषपूर्ण उत्तर देकर अपना शिष्य भी बना लिया । अपने व्यक्तिगत परिचय सत्यान्वेषण की चेष्टा तथा गुलाल साहब के साथ प्रथम मिलन की चर्चा ये अपने पद्यों द्वारा स्वयं भी करते हैं ।[१]

---

१ 'जनम अस्थान खानपुर बुहना, सेवत चरन भिखानंद चौबे ।।४।।
—भीखा साहब की बानी बेलवेडियर प्रेस प्रयाग पृ० १ ।
बीते बारह बरस उपजी रामनाम सों प्रीति ।
निपट लागि चटपटी मानो चारिउ पन गयी बीति ।।१।।
नहिं खान पान सोहात तेहि छिन बहुत तन दुर्बल हुआ ।
घर ग्राम लाग्यौ बिरस मन मानों सकल हारो है जुआ ।।२।।

'सतसग खोजी जिससो जहँ बसत अलख अलेख है ।
कृपा करि कब मिलहिंगे यह कहाँ कौन भेख है ।।४।।
कोउ कहैउ साधू है यहू बनारस भक्तिबीज सदा रह्यौ ।
तहँ सास्त्र मतको ज्ञान है गुरु भेद काहू नहिं कह्यौ ।।५।।

'चर्यौ बिरह अपार छिनछिन उमँग मन अनुराग ।
यहू कौन दिन अब घरी पल कब खुलैगो मम भाग ।।७।।

तया इनके नौकर बुलाकीराम की चर्चा बूला साहव वाले प्रकरण में की जा चुकी है। इनके हृदय की उदारता तथा भावुकता का पता केवल इसी एक बात से लग सकता है कि अपने नीच टहलुए के भी आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इन्होने उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। उस समय से ये अपने सारे पूर्व-सस्कारो को भुला कर उसके सच्चे सेवक तथा अनुयायी तक बन गए। इन्होने भी अपनी रचनाओ में अपने पूर्ववर्त्ती सतो के नाम बडी श्रद्धा तथा भक्ति के साथ लिये हैं। उनकी तालिका में दो-एक सगुणोपासक भक्तों का भी उल्लेख किया है।[1] वास्तव में इनकी रचनाओ के अतर्गत हमें भक्ति की भावना इनके गुरु वा दादा-गुरु से कही अधिक मात्रा मे दीख पडती है। इनकी कुछ रचनाओ का सग्रह 'गुलाल साहव की वानी' के नाम से वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ है। इनके वहुत-से अन्य पद महात्माओ की वानी में भी मिलते है जो इनके प्रधान मठ भुरकुडा से प्रकाशित है। इनके तीन अन्य ग्रथ 'ज्ञान-गुष्टि' 'रामदरियाव' तथा 'रामसहस्र नाम' के भी नाम सुनने में आते हैं। इनकी भाषा में भोजपुरी शब्द तथा मुहावरे की भरमार है।

भीखा साहव

बूला साहव के दो प्रधान शिष्यो मे से प्रथम अर्थात् जगजीवन साहव ने अपने मुख्य केन्द्र कोटवा से सत्यनामी सम्प्रदाय का प्रचार किया। उसी प्रकार उनके द्वितीय शिष्य गुलाल साहव ने अपने केन्द्र भुरकुडा से उनके मूल मत को प्रचलित किया। गुलाल साहव अपने गुरु बूला साहव की गद्दी पर उनके अनतर स० १७६६ मे आसीन हुए जहाँ पर इन्होने स० १८१७ में इहलोक से यात्रा की। गुलाल साहव के भी दो शिष्य प्रधान थे जिनमें से एक का नाम भीखा साहब और दूसरे का हरलाल साहब था। भीखा साहब का पूर्व-नाम भीखानद चौबे था। इनका जन्म जिला आजमगढ के परगना मुहम्मदाबाद में वर्तमान जहाँनाबाद के निकट खानपुर बोहना गाँव में हुआ था। अपनी आयु के आठवें वर्ष से ही इन्हें साधुओ के साथ उठने-बैठने तथा उनसे सत्सग करने का स्वभाव पड गया था। इस कारण इनके माता-पिता ने इनके विवाह बारहवें वर्ष मे करके इन पर गृहस्थी का भार डाल देना चाहा। परन्तु तिलक के लिए निश्चित दिन को ही ये किसी बहाने से अपना घर छोड बाहर निकल पडे और देशाटन करने में लग गए। ये भ्रमण करते हुए जब काशी पहुँचे, तब वहाँ पर रह कर इन्होने कुछ शास्त्राध्ययन द्वारा ज्ञानार्जन करना चाहा। किंतु कुछ ही दिनो में

---

१. गुलाल साहव की बानी, पृ० ९४ तथा १३३।

निवेदन की मात्रा अधिक है। उनका भोलापन भी हमें शीघ्र आकृष्ट कर लेता है। इनके किसी बृहद् ग्रंथ 'राम जहाज' की चर्चा भी की जाती है।

शिष्य-परंपरा

भीखा साहब के प्रधान केन्द्रस्थ उत्तराधिकारी चतुर्भुज साहब जाति के ब्राह्मण थे और उनका जन्म-स्थान बनारस जिले का कावरि नामक गाँव था। ये परमात्मा की खोज में अपने निवास-स्थान से चल कर भुरकुड़ा तक आये थे और वहाँ भीखा साहब से प्रभावित हो उनके शिष्य हो गए थे। भीखा साहब के मर जाने पर ये *सं० १८४९ में उनकी गद्दी पर बैठे और सं० १८७५ में वहीं पर इनका भी देहांत* हो गया। इनकी केवल थोड़ी-सी ही बानियाँ कई संग्रहों में इधर-उधर बिखरी हुई मिलती हैं जिनमें एक परमात्म-निष्ठ सच्चे फ़क़ीर होने का अच्छा प्रमाण पाया जाता है। इनका देहांत हो जाने पर इनके शिष्य नरसिंह साहब इनकी गद्दी पर सं० १८७६ में बैठे और सं० १९ १ तक जीवित रहे। ये गाजीपुर जिले के किसी धरमपुर गाँव के निवासी थे और जाति के क्षत्रिय थे। ये १ वर्षों तक अपने मठ में रह कर धर्मोपदेश करते रहे। नरसिंह साहब के पीछे इनके शिष्य कुमार साहब सं० १९ ७ में भुरकुड़ा की गद्दी पर बैठे और सं० १९१६ तक उसके अनुकूल कार्य करते रहे। ये हासिमपुर, जिला बलिया के रहनेवाले किसी क्षत्रिय पिता के पुत्र थे। बलिया के ददरी मेले के अवसर पर विरक्त होकर ये भुरकुड़ा चले गए थे। कहते हैं कि इन्हें सर्वप्रथम प्रेरणा चीट बड़ागाँव के महंत देवकीनंदन (मृ० सं० १९११) से मिली थी जिन्होंने इन्हें समझा-बुझा कर भुरकुड़ा भेज दिया था। कुमार साहब का सं० १९१६ में देहांत हो जाने पर इनके शिष्य रामहित साहब सं० १९१७ में भुरकुड़ा की गद्दी पर बैठे थे। ये भी जिला बलिया के ही किसी गेरुआ नामक गाँव के निवासी क्षत्रिय-कुल के बालक थे और अपनी वृद्धावस्था में इन्हें उक्त उत्तराधिकार मिला था। इनका देहांत सं० १९४ में हुआ और इनके स्थान पर जयनारायण साहब सं० १९५ में बैठे थे। ये भी जाति के मगहिया राजपूत थे विरक्त होकर अपने जन्म-स्थान से भुरकुड़ा तक आये थे और अपनी साधना तथा सच्चरित्रता के लिए परम प्रसिद्ध थे। इनका देहांत सं० १९८१ में हुआ। इनकी जगह रामबरनदास महंत हुए जो वर्तमान काल तक भुरकुड़ा में विद्यमान हैं।

---

१ परन्तु "तत्त्व वेद पुरान है विधा माई चंद।
जग पापिन को तारिबे भए गये भीखानंद॥" के आधार पर यह समय १८४५ बतलाया जाता है।
—दे० हिंदुस्तानी प्रयाग भा० १९ अं० ४ पृ० ८ ।

शिष्य तथा रचनाएँ

भीखा साहव आगे चल कर एक वडे तेजस्वी महात्मा हुए। गुलाल साहव का देहात हो जाने पर ये उनके उत्तराधिकारी भी वने। ये स० १८१७ मे उनकी गद्दी पर आसीन हुए और ३१ वर्षो तक निरतर सत्सग कर-करा कर इन्होने स० १८४८ में अपना शरीर छोडा। इनके दो प्रधान शिष्यो में से प्रधान गोविद साहव थे, जिन्होने अपने गुरु से आज्ञा लेकर जिला फैज़ावाद के अहरौला गाँव मे अपनी गद्दी चलायी। इनके दूसरे शिष्य चतुर्भुज साहव थे जो इनकी जगह भुरकुडा गाव में ही इनके उत्तराधिकारी वने। भीखा साहव की रचनाओ मे १ रामकुडलिया २ रामसहस्रनाम ३ रामसवद ४ रामराग ५ रामकवित्त और ६ भगत वच्छावली के नाम सुने जाते हैं। इनकी विविध कृतियो का एक सग्रह 'वेलवेडियर प्रेस', प्रयाग द्वारा 'भीखा साहव की वानी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। उक्त अप्रकाशित ग्रथो में सवसे वडा ग्रथ 'रामसवद' है जिसमें भीखा-साहव के अतिरिक्त कुछ अन्य सतो की रचनाएँ भी जोडी गई हैं वा भावसाम्य वाले पदो के रूप में उद्धृत हैं और अधिकतर चुने हुए होने के कारण उत्कृष्ट भावो के परिचायक हैं। इनकी 'भगत वच्छावली' में भिन्न-भिन्न अनेक भक्तो का शब्द-हिंडोलना पर झूलना दिखलाया गया है। इस प्रकार उसके अतर्गत विविध पौराणिक भक्तो, नाथपथी-योगियो तथा सतो के नाम आ गए हैं। गुलाल साहव की रचनाओ में जिस प्रकार आत्मानुभव-सवधी वर्णनो का वाहुल्य है और उनका प्रवाह भी उल्लेखनीय है, उसी प्रकार भीखा साहव की पक्तियो में आत्म-

---

इक ध्रुपद बहुत विचित्र सूनत भोग पूछेउ है कहाँ।
नियरे भुरकुडा ग्राम जाके, सब्द आये है तहाँ ॥९॥
चोपलागो वहुत जायके चरन पर सिर नाइया।
पूछेउ कहा कहि दियो आदर सहित मोहि वैसाइया ॥१०॥
—भीखा साहब की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० १६-१७।
'गुरु दाता छत्री सनि पाया। सिष्य होन द्विज जाचक आया ॥१॥'
देखत सुभग सु दर अति काया। बचन सप्रेम दीन पर दाया ॥२॥

बूझि विचारि समुझि ठहराया। तन मन सों चरनन चित लाया ॥३॥
'सर्वदान दियो रूप विचारी। पाय मगन भयो विप्र भिखारी' ॥६॥२
—वही, पृ० १९-२०।

में हुआ था। ये जाति के पंक्तिपावन सरयूपारीण ब्राह्मण थे और इनका आस्पद 'दूबे' का था। इनका पूर्व-नाम 'गोविंदधर' था, इनके पिता पृथुधर के नाम से अभिहित होते थे और इनकी माता दुलारी देवी कहला कर प्रसिद्ध थी। भजन मार्ग में गुरु से कोई मर्म-वचन सुन कर इन्होंने गृह-त्याग कर दिया और ये जानकीदास नामक एक साधु के संसर्ग में आ गए। परन्तु इन्हें उससे पूरी शांति नहीं मिल सकी और ये जगन्नाथपुरी की ओर चल पड़े। कहते हैं कि इस पुरी-यात्रा के ही समय इनकी भेंट भीखा साहब से हो गई जिनका साथ सत्संग करने पर इन्होंने इन्हें अपना गुरु स्वीकार कर लिया। इनकी शिक्षा अथवा इनके व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध अन्य बातों का स्पष्ट परिचय नहीं मिलता। इतना कहा जाता है कि इनका जन्म अगहन सुदी १० रविवार सं० १७८२ को हुआ था। इनका देहांत फागुन सुदी ११ सोमवार सं० १८७१ को हुआ। ये नगर जलालपुर से हट कर पीछे इमामपुर चले आए थे, वहाँ से ये अंत में अहिरौली पहुँचे। इनके नाम पर यह गाँव 'गोविंद साहब' कहला कर प्रसिद्ध हुआ। इनके शिष्यों में सर्वप्रमुख पलटू साहब थे जो कुछ दिनों तक इनके यजमान रह चुके थे तथा जो इनके साथ कुछ साधना भी कर चुके थे। इनके अन्य शिष्यों में कृपादास (कमकार) बलीनाथ, रामचरणदास, मानदास, इच्छासाहब, मोती दास, घनश्यामदास तथा अयोध्यादास थे। इनकी रचनाओं में 'सत्यसार', 'सत्यगर्व', 'सत्यटोप', 'ज्ञान गुटका' आदि हिंदी की पुस्तकें तथा 'गोविंद योगभास्कर' नामक एक संस्कृत-ग्रंथ भी प्रसिद्ध है। इनमें से केवल प्रथम दो का ही अभी तक प्रकाशन हो पाया है। उक्त गैबदास भिक्षु ने इनके जीवन से संबद्ध अनेक बातों का संग्रह करके उनके आधार पर इनका एक परिचय 'गोविंद साहब का जीवन चरित्र'[1] नाम से प्रकाशित किया है। इसके अंतर्गत उन्होंने इनके संबंध में अनेक चमत्कारपूर्ण बातों का भी उल्लेख किया है।

पलटू साहब

गोविंद साहब के शिष्य पलटू साहब अपने गुरु से कहीं अधिक विख्यात हुए। इनका जन्म भी उपर्युक्त नगर जलालपुर जिला फैजाबाद में ही हुआ था। इसका आजमगढ़ जिले की पश्चिमी सीमा के निकट वर्तमान होना बतलाया जाता है। इसके सिवाय ये भी पहले अपने पुरोहित गोविंद साहब की भाँति साधु जानकीदास के शिष्य रह चुके थे। किंतु इन्होंने उनके भीखा साहब द्वारा दीक्षित होकर लौट आने पर उन्हें ही अपना गुरु स्वीकार कर लिया। इस

---

१ गोविंद साहब का जीवन चरित्र, कालर्माच, बस्ती सन् १९५६ ई०।

हरलाल साहब की शिष्य-परंपरा

भीखा साहब के गुरु-भाई हरलाल साहब ने अपने निवास-स्थान चीट बडागाँव, जिला बलिया में अपनी शाखा प्रवर्त्तित की। ये सदा गृहस्थाश्रम में ही रहते रहे, किंतु अपनी आध्यात्मिक साधना तथा चरित्रबल के कारण, इनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक हो गई। कहते हैं कि एक बार गाजीपुर के किसी नवाब ने इनके जीवन-काल में चीट बडागाँव पर आक्रमण किया। वह इसके पश्चात् इनसे अपनी विजय का वरदान माँगने आया जिसे इनकार कर देने पर उसने इनकी गर्दन धड से उडा दी। प्रसिद्ध है कि इसके परिणामस्वरूप आज भी इनके सिर तथा धड की दो पृथक्-पृथक् समाधियाँ बनी हुई बतलायी जाती हैं। इनके गद्दी पर बैठने का समय सं० १७७१ बतलाया जाता है तथा इनकी मृत्यु का सं० १७८० मे होना कहा जाता है। इनकी चलायी हुई शिष्य-परंपरा उक्त चीट बडागाँव में अभी तक उसी प्रकार विद्यमान है। इसमें कई उच्च कोटि के महापुरुष हो चुके हैं। इनकी गद्दी के स्थान को 'रानशाला' कहते हैं जहाँ पर महंत का आसन रहता है। उसी के निकट उसके पूर्ववर्त्ती महंतो के स्मारक भी बने हुए दीख पडते हैं। हरलाल साहब की शिष्य-परंपरा के लोगो ने जितना ध्यान विशुद्ध सात्विक जीवन की ओर दिया उतना समय रचनाओ के निर्माण में नही लगाया। इस कारण इस शाखा वालो के यहाँ बहुत से ग्रंथ नही पाये जाते। इनमें सबसे प्रसिद्ध संत कवि देवकीनंदन साहब कहे जा सकते हैं जो महंत तेजधारी साहब (मृ० सं० १८७९) के पुत्र और उत्तराधिकारी थे और जो सं० १८६० के लगभग उत्पन्न हुए थे। कहते हैं कि ये अपने पिता की गद्दी पर संवत् १८८० मे आसीन हुए और इनका देहांत श्रावण शुक्ला ९ रविवार सं० १९१३ को हुआ। अपने गहरे आध्यात्मिक अनुभवो के आधार पर इन्होने, १ शब्द, २ चतुरमासा, ३ कुंडलियाँ, ४ कृष्णचरित्र तथा फुटकर पद्यो की रचना की है। इनके अंतर्गत निर्गुण परमात्मा के अतिरिक्त सगुण श्रीकृष्णवतार परक सुंदर बानियाँ भी अच्छी संख्या में पायी जाती हैं। इस शाखा के अन्य अनुयायियो में अजबदास, गरीबदास, विरंच गोसाईं, मकरंद दास, आदि कुछ लोगो की भी फुटकर रचनाएँ उपलब्ध कही जाती हैं।

गोविंद साहब

संत भीखा साहब के प्रथम शिष्य गोविंद साहब के विषय मे केवल यही प्रसिद्ध रहा है कि ये फैजाबाद जिले के अहिरौली में रहा करते थे। परन्तु गैबदास भिक्षु के अनुसार इनका जन्म तमसा तटवर्त्ती नग जलालपुर, जिला फैजाबाद

बीरू साहब (दिल्ली)

यारी साहब (दिल्ली)

केसोदास (दिल्ली) | शाह मुहम्मद शाह (दिल्ली) | बूलाशाह (स १६८९ १७९६) भुरकुड़ा जिला गाजीपुर | शेखनशाह (दिल्ली) | सूफीशाह (दिल्ली)

जगजीवन साहब (कोटवा जिला बाराबंकी) | गुलाल साहब (मृ स १८११) भुरकुड़ा जिला गाजीपुर

सेवक मर्दन सिंह (मामापुर, जिला वाराणसी) | भीखा साहब (मृ सं १८४८) (भुरकुड़ा) | हरलाल साहब (मृ सं १७८) (मीट बड़ागाँव जिला बलिया)

रघुनाथ साहब (बनेला जिला बलिया) | चतुर्भुज साहब (मृ स १८७५) (भुरकुड़ा) | गोविंद साहब (सं १७८२ १८७९ अहिरौली जिला फैजाबाद) | गजराज साहब (मृ सं १८ ५)

शिवनाथ साहब | नरसिंह साहब (मृ स १९ ६) | पलटू साहब (अयोध्या) | इच्छा साहब (बीरनगर जिला बस्ती) | जीवन साहब (मृ स १८४८)

तेजधारी साहब (मृ सं १८७)

हुलमन साहब | कुमार साहब (मृ स १९११) | हुलासदास (बरौली बाराबंकी) | पलटूप्रसाद (अयोध्या) | देवकीनंदन साहब (मृ सं १९११)

रामराम साहब | रामहित साहब (मृ स १९४९) | मथादास | घनमाली साहब (म सं १९२१)

निर्मोहराम साहब | जैनारायण साहब (मृ० स १९८१) | गरीबदास

रामहरण साहब | हरिभजनदास | बिसुनप्रसादवास (अयोध्या) | बजमोहन साहब (मृ सं १९५२)

परमादास साहब | रामचरनसाहब

प्रकार ये भी उनकी परंपरा में सम्मिलित हो गए। पलटू साहब जाति के कांदू बनिया थे। ये पहले बहुत समय तक गृहस्थ रूप में ही बने रहे। इनके 'पलटू' नाम के विषय में "पल पल में 'पलटू' रहे, अजपा आठो जाम। गुरु गोविंद अस जानि के राखा 'पलटू' नाम।"—जैसा दोहा प्रसिद्ध है। इनकी रचनाओं की एकाध पंक्तियों से सूचित होता है कि ये अंत में, मूंड मुंडा कर और अपनी करधनी तोड़ कर विरक्तों की पंक्ति में प्रवेश कर गये थे तथा अपने निकट के अयोध्या नामक तीर्थ-स्थान को इन्होंने अपने लिए प्रधान केन्द्र बना लिया था।[१] इसी प्रकार अपनी विरक्ति के मूल कारण तथा भक्ति के परिणाम के संबंध में भी, इन्होंने अपनी पंक्तियों में बतलाया है कि किस प्रकार, 'मधु मक्खी' बूंद-बूंद करके रस एकत्र किया करती है। किंतु उसे कोई निकाल ले जाते हैं तो दुखी हो जाती है-जैसी घटना का अनुभव करके मैंने माया को बुरी बला समझ त्याग दिया।[२] चारों वर्णों के प्रपंच को दूर करके मैंने भक्ति चलायी और इस प्रकार, अपने गुरु गोविंद के उद्यान में पुष्पवत् विकसित हो गया।[3]

इनका आत्म-परिचय

पलटू साहब की रचनाओं के अंतर्गत इनके द्वारा दिया गया कुछ आत्म-परिचय भी दीख पड़ता है जो उल्लेखनीय है। अपनी कुंडलियों में जो इन्होंने इस विषय में कहा है उसके अनुसार ये जब तक गृहस्थाश्रम में रहे इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इन्हें भोजन के लिए प्रायः बिना नमक का केवल 'साग' मात्र तक ही उपलब्ध था। परन्तु जब से हरि की शरण में आकर विरक्त बन गए इन्हें सदा पूड़ी, लड्डू, पेड़ा, खोया-जैसे पदार्थ तक सुलभ हो गए।[४] इसी प्रकार उस समय 'नाम' का 'तेज' इतना बढ़ा कि अमीर लोग तक भेंट ले लेकर उपस्थित होने लगे, राजा-प्रजा सभी सामने आकर अपनी नाक रगड़ने लगे। चारों वर्ण के लोग इस नीच जाति वाले का चरण धो-धो कर 'चरणामृत' पान करने लगे और इनकी आपसे आप दोहाई फिर गई।[५] उस समय इनकी प्रसिद्धि इतनी हो गई कि परदे के भीतर वाले तक वहाँ पहुँचने लग गए। पलटूदास बनिया को 'अवध के बीच' इस प्रकार 'निरधार भक्ति' चलाता हुआ

---

१ **पलटू साहब की बानी, बे० प्रे०, प्रयाग, भा० ३, पृ० ७९ (११८)।**
२ वही, भा० २, पृ० ८५ (४८)।
३ वही, भा० ३, पृ० ११४ (१४३)।
४ वही, भा० १, पृ० १०८ (२४२)।
५ वही, भा० १, पृ० ९ (१०)।

देख कर बैरागी पंडित तथा काशी लोगों में द्वेष-भाव आ गया।[1] इसका एक परिणाम यह हुआ कि सभी बैरागियों ने मिल कर इन्हें 'अजात' घोषित कर दिया। वे कहने लगे कि यह 'कल का बनिया' आज बड़ा महंत होने चला है जहाँ हम जैसे बड़े-बड़े महंतों को कोई पूछ तक नहीं रहा है।[2] अतएव अंत में "अवध पुरी के दुष्ट लोगों ने इन्हें जीते जी जला दिया और फिर वहाँ से सुदूर जगन्नाथ पुरी में जाकर प्रकट हुए।[3]

मृत्यु-काल और समाधि

फिर भी जिस स्थान पर इनका शरीर-त्याग करना कहा जाता है, वह अयोध्या से चार मील की दूरी पर 'रामकोट' नामक एक स्थान में इनकी किसी समाधि का आज भी वर्तमान होना बतलाया जाता है। प्रसिद्ध है कि वहाँ पर इनके अनुयायियों की 'समत' बसती है और उस स्थान को 'पलटू साहब का अखाड़ा' भी कहा जाता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि पलटू साहब का मृत्यु-स्थान वास्तव में 'साखो पार' नामक ग्राम है जो देवरिया से २५ मील उत्तर तथा कुशीनगर से ५ मील पर स्थित है। वहीं पर इनकी एक समाधि भी है जो ग्राम के पूरब किसी परती में दिखलायी जाती है। इस समय वहाँ पर कदाचित् कोई चबूतरा भी नहीं है। किन्तु प्रति वर्ष अगहन में वहाँ चौका सुरती लोहे का चिमटा तथा खेलनार की भेंट चढ़ायी जाती है। परन्तु इसके लिए अभी तक कोई सुनिश्चित आधार नहीं बतलाया जाता। इस कारण हो सकता है कि ऐसा अनुमान किसी भ्रम के कारण भी कर लिया गया हो। इनके शिष्य हुलासदास के ग्रंथ 'ब्रह्मविलास' के आधार पर कहा जाता है कि उन्होंने इनकी जन्म-तिथि माघ सुदी रविवार संवत् १८२६ दी है जो समय संभवतः स्वयं उनके दीक्षा-ग्रहण का भी हो सकता है।[4] इनकी मृत्यु-तिथि का आश्विन सुदी १२ होना तथा उसका सोमवार के दिन पड़ना इनके अनुयायियों में मान्य कहा जाता है किन्तु उसके साथ कोई सबूत भी नहीं दिया जाता।

---

१ पलटू साहब की बानी पृ० २७ (५८)।

२ वही पृ० ११४ (२५५)।

३ वही 'जीवन चरित' पृ० २ पर उद्धृत एक दोहे के अनुसार।

४ 'नौमी तिथि का जन्म रोज इतवार है, माघ महीना मकर पख उजियार है।
सतगुरु पलटू हमार संत औतार है, हुलास को दीन्हा नाम अधार है॥
संवत् अठारह सौ छब्बीस सुभ धन्य जन्मपत्र है।
हरिहर हुलास को दियो, लिखासन अचल जन्म है॥

(वर्तमान) (वर्तमान) विदुरदास रामसेवकदास |

| | राजाराम

रामसरनदास रामप्रकाशदास साहब

| | (मृ० स०

शिवप्रसाददास त्रिवेणीदास २०११)

(वर्तमान) | |

जगन्नाथदास राधाकृष्ण

(स०१९७१-२०१९) साहब

रामसुमेरदास (वर्तमान)

(वर्तमान)

*गोविंद साहब के शिष्यो मे से उक्त पलटू साहब तथा इच्छा साहब के अतिरिक्त अन्य सब प्रमुख लोगो की वशावली इस प्रकार है

मोतीदास (अयोध्या) — थानदास (रुद्रगढ, जिला गोडा)

गोविंददयाल (मेहदावल जिला फैजावाद) — घनश्यामदास

खडगदास (खिडकी जिला गाजीपुर)

कृपादास (इलाहाबाद) | रामदास — अवधदास (मुवारकपुर जिला फैजावाद)

वेनी साहब | पौहारी बाबा | जीतादास | सीताराम (केउटला)

रामचरनदास | अन्नाधर | भगवतदास | राजाराम (अहिरौली)

* पलटू प्रसाद के अन्य तीन प्रमुख शिष्यो की वशावली इस प्रकार है

रामवहोरीदास (जवाढ, जिला वहराइच) | मुन्नूदास | रामसुदरदाम | ज्वालाप्रसाददास (वर्तमान)

रामरूपदास (जलालपुर, जिला फैजावाद) | लक्ष्मीदास | महादेवदाम | सतोपदास

लक्ष्मणदास (स० १८९०-१९४०) (पडूलघाट, जिला वस्ती) | दुखहरनदास (मृ० स० १९६०) | गोवर्धनदास (मृ० स० १९७५) | विश्वनाथप्रसाद (मृ० स० २०१०) | कोई नही

बीरू साहब (दिल्ली)
|
यारी साहब (दिल्ली)
|
केशवदास (दिल्ली) | हस्तमुहम्मदशाह (दिल्ली) | बूलाशाह (स १६८९ १७९६) गुरकुड़ा जिला गाजीपुर | शेखनशाह (दिल्ली) | सूफीशाह (दिल्ली)

बूलाशाह →
जगजीवन साहब (कोटवा जिला बाराबंकी) | गुलाल साहब (मृ स १८१६) गुरकुड़ा जिला गाजीपुर

गुलाल साहब →
सेवक मर्दन सिंह (भानापुर, जिला वाराणसी) | भीखा साहब (मृ सं १८४८) (गुरकुड़ा) | हरलाल साहब (मृ सं १७८) (बीट बड़ागाँव जिला बलिया)

भीखा साहब →
रघुनाथ साहब (बभैला जिला बलिया) | चतुर्भुज साहब (मृ स १८७५) (गुरकुड़ा) | गोविंद साहब (स १७८२ १८७९, अहिरौली जिला फैजाबाद)

हरलाल साहब → गजराज साहब (मृ स १८ ५) → जीवन साहब (मृ स १८४८) → तेजमारी साहब (मृ सं १८७९) → देवकीनंदन साहब (मृ स १९११) → रामभाखी साहब (मृ सं १९२१) → ब्रजमोहन साहब (मृ सं १९५२)

रघुनाथ साहब → शिवनाथ साहब → ठेलमन साहब → सरमराम साहब → तिलोकराम साहब → रामहरख साहब → परमादास साहब

चतुर्भुज साहब → नरसिंह साहब (मृ सं १९ ६) → कुमार साहब (मृ स १९१६) → रामहित साहब (मृ स १९४१) → जैनारायण साहब (मृ स १९८१) → रामबचनसाहब

गोविंद साहब →
पल्टू साहब (अयोध्या) | उच्छा साहब (बीरनगर, जिला बस्ती)

पल्टू साहब →
हुलासदास (बरौली बाराबंकी) → मथुरादास → शरीबदास → हरिभजनदास
पल्टूप्रसाद (अयोध्या) → किशुनप्रसाददास (अयोध्या)

रचनाएँ तथा शिष्यादि

पलटू साहब की अनेक रचनाओ का पता चलता है जिनमें से इनकी कुडलियो, रेखतो, झूलनो, अरिल्लो, शब्दो तथा साखियो का एक अच्छा सग्रह 'बेलवेडियर प्रेस' प्रयाग से तीन भागो में प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार इनके ८४६ 'शब्दो' तथा १६४ साखियो का एक अन्य सग्रह इनकी 'शब्दावली' के नाम से भी निकल चुका है। इन दोनो सग्रहो की अधिकाश रचनाएँ एक समान हैं और इनमें पाठ-भेद भी उतना अधिक नही पाया जाता। इनकी ऐसी रचनाओ की भाषा बहुत स्पष्ट, सरल किंतु ओजपूर्ण तथा मुहावरेदार है। इनके कई स्थलो पर कबीर साहब के भावो और उनके शब्दो तथा वाक्यो तक की छाप प्रत्यक्ष रूप में पडी जान पडती है। इस कारण ये 'द्वितीय कबीर' भी कहे जाते है। इनकी रचनाओं को देखने से विदित होता है कि ये एक उच्चकोटि के अनुभवी सत, निर्भीक आलोचक तथा निर्द्वद्व जीवन व्यतीत करनेवाले महापुरुष थे। यही कारण है कि इनका प्रचार अधिक हुआ तथा इनके नाम पर 'पलटू-पथ' भी चल पडा। इनकी कुछ फुटकर रचनाएँ ६० कवित्तो के रूप में भी मिली है जो कदाचित् उपर्युक्त दोनो सग्रहो में नही आती। इनका देहात हो जाने पर इनके शिष्य परसाद साहब इनकी गद्दी पर बैठे जिन्हें उनका भाई ,पलटू प्रसाद होना भी समझा जाता है। इनके शिष्य-प्रशिष्यो की कुछ परपराएँ मिलती है। किंतु उनका कोई स्पष्ट परिचय हमें अभी तक उपलब्ध नही है। इनमें से हुलासदास के 'ब्रह्मविलास' ग्रथ के अतिरिक्त परसाद साहब के ६० पद मिले हैं। बाबा कृपादास की एक शब्दावली भी मिली है जिसमें सगृहीत प्रत्येक पद का 'बारह-मासा' होना भी बतलया जाता है। पलटू साहब के सबध में कहा गया है कि ये नवाब शुजाउद्दौला के समकालीन थे और स० १८२७ के आसपास वर्तमान थे।[१]

वशावली

रामानद (पटना, जिला गाजीपुर)
|
दयानद (वही)
|
भयानद (दिल्ली)
|
बावरी साहिबा (दिल्ली)
|

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग० १५, पृ० ८६।

(३) मत तथा प्रचार

पंथ का मत : विशेषता

बावरी पंथ का आरंभ वस्तुतः उस काल में हुआ था जब निरंजनी-सम्प्रदाय, कबीर-पंथ, नानक-पंथ तथा नाथ-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उनके मतों का प्रचार अपने अपने क्षेत्रों में हो रहा था तथा दादू-पंथ का विकास भी क्रमशः होता जा रहा था। पंजाब, दिल्ली तथा राजस्थान की ओर उस समय इस प्रकार के धर्माश्रमों में एक जागृति की लहर उत्पन्न हो गई थी। अपने-अपने सिद्धांतों, विचारों तथा मान्यताओं को सर्वसाधारण के बीच फैलाने की चेष्टा में सभी वर्ग के लोग लगे हुए थे। फिर भी बावरी-परंपरा की ओर से किये गए इस प्रकार के यत्नों का कोई पता नहीं चलता, न उसके संगठन के ही संबंध में अनुमान करने का कोई आधार उपलब्ध है। इस परंपरा के महात्माओं का जितना ध्यान व्यक्तिगत जीवन को आदर्श रूप देने की ओर था, उतना अपने मत के प्रचार वा पंथ के संगठन की ओर न था। उनके अनुयायियों ने उनके उपदेशों से भरी रचनाओं को सुव्यवस्थित रूप से कर उनकी उनकी सुरक्षा तथा प्रतिष्ठा भी कभी नहीं की। इस कारण उनके यहाँ न तो कोई 'बीजक', 'आदि ग्रंथ' आदि 'उपदेश' या 'वाणी' के ढंग का धार्मिक ग्रंथ विद्यमान है जिसका पूजन वा सम्मान होता हो, न इनके धर्म-गुरुओं के जन्म अथवा मरण-स्थान के उपलक्ष में कोई वैसा मेला वा उत्सव ही मनाया जाता है। इस पंथ के मूल मत तथा वास्तविक स्वरूप का परिचय हमें कुछ इधर-उधर बिखरी हुई बानियों और इनके मठ वालों के सत्संग द्वारा ही चल सकता है।

पंथ का साहित्य

बावरी-पंथ के पश्चिमी क्षेत्र में साहित्य का निर्माण पूर्वी क्षेत्र से कदाचित् बहुत कम हुआ। यारी साहब की 'रत्नावली', केशवदास की 'अमीघूँट' तथा बावरी साहिबा, बीरू साहब और शाह फ़कीर की कतिपय फुटकर रचनाओं के अतिरिक्त हमें प्रायः कुछ भी उपलब्ध नहीं। किंतु इसके पूर्वी क्षेत्र के महात्माओं की बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं और उनका एक बहुत बड़ा अंश अभी तक अप्रकाशित रूप में भी पड़ा है। बुला साहब, गुलाल साहब, जगजीवन साहब, भीखा साहब, पल्टू साहब तथा दूलन साहब की बहुत-सी बानियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं। किंतु मकमदास, खेमदास, देवीदास, पहलवानदास, चतुर्भुजदास, देवकीनंदन आदि संतों की कृतियाँ अभी तक हस्तलिखित रूप में ही पड़ी हैं। यदि इस पंथ की सभी रचनाएँ संगृहीत होकर प्रकाश में आ जायँ तो इनके द्वारा संत-साहित्य के कलेवर में अच्छी वृद्धि हो सकती है। इस पंथ की जगजीवन साहब वाली

(वर्तमान) (वर्तमान)

विदुरदास
|
रामस्मरनदास
|
शिवप्रसाददास
(वर्तमान)

रामसेवकदास
|
रामप्रकाशदास
|
त्रिवेणीदास
|
जगन्नाथदास
(स०१९७१-२०१९)
रामसुमेरदास
(वर्तमान)

|
राजाराम साहब
(मृ० स० २०११)
|
राधाकृष्ण साहब
(वर्तमान)

*गोविंद साहब के शिष्यो मे से उक्त पलटू साहब तथा इच्छा साहब के अतिरिक्त अन्य सब प्रमुख लोगो की वशावली इस प्रकार है

- मोतीदास (अयोध्या)
  - थानदास (रुद्रगढ, जिला गोंडा)
- गोविंददयाल (मेहदावल जिला फैजाबाद)
  - घनश्यामदास
- खडगदास (खिडकी जिला गाजीपुर)
- कृपादास (इलाहाबाद)
  - रामदास
  - अवधदास (मुबारकपुर जिला फैजाबाद)
- बेनी साहब
  - पौहारी बाबा
  - जीतादास
  - सीताराम (केउटला)
- रामचरनदास
  - अज्ञाधर
  - भगवतदास
  - राजाराम (अहिरौली)

* पलटू प्रसाद के अन्य तीन प्रमुख शिष्यो की वशावली इस प्रकार है

- रामबहोरीदास (जवाढ, जिला बहराइच)
  - मुन्नूदास
  - रामसुदरदास
  - ज्वालाप्रसाददास (वर्तमान)
- रामरूपदास (जलालपुर, जिला फैजावाद)
  - लक्ष्मीदास
  - महादेवदास
  - मतोपदास
- लक्ष्मणदास (स० १८९०-१९४०) (पडूलघाट, जिला वस्ती)
  - दुखहरनदास (मृ० स० १९६०)
  - गोवर्धनदास (मृ० स० १९७५)
  - विश्वनाथप्रसाद (मृ० स० २०१०)
  - कोई नही

उसका साथ करना ही हमारा सबसे अंतिम ध्येय है।[1]

यारी साहब की व्याख्या

यारी साहब ने उस 'झिलमिल झिलमिल' बरसनेवाले 'नूर' 'रुनझुन रुनझुन' बजनेवाले 'अनहद' 'रिमझिम रिमझिम' बरसनेवाले 'मोती' तथा 'निरमल निरमल' रूप में विद्यमान उस 'नाम' का वर्णन कई प्रकार से किया है।[2] इनके अनुसार वास्तविक भजन वही है जिसके द्वारा उस 'निर्मल नाम' का बिना आँखों की सहायता से ही प्रत्यक्ष दर्शन होता हो। उस परम ज्योति की ओर हमारी सुरति इस प्रकार प्रीतिपूर्वक लगी रहे जैसे चकोर चंद्रमा की ओर देखता रहता है। समुद्र की बूँद जैसे समुद्र में लीन हो जाती है, जैसे लोहा पारस द्वारा कंचन हो जाता है अथवा जैसे सखियों के साथ बात करती हुई भी पनिहारिन का ध्यान सदा अपने सिर पर रखे हुए घड़े की ओर ही रहता है। इसी की युगति के बतलानेवाले को इन्होंने अपना गुरु माना है।[3]

इनकी विशेषता केवल इसी बात में है कि इन्होंने सूफी-सम्प्रदाय के जैसे वर्णनों की ओर भी कभी-कभी ध्यान दिया है तथा तदनुरूप बहुत से अरबी वा फारसी शब्दों के प्रयोग भी किये हैं।[4] इनकी भाषा अत्यंत ओजपूर्ण है और उसमें मस्ती तथा आवेश के भाव प्रायः प्रत्येक स्थल पर हमें दृष्टिगोचर होते हैं। शाह फकीर तथा केशवदास ने भी बहुधा इन्हीं का अनुसरण किया है। इन तीनों संतों की रचनाओं में हमें बावरी साहिबा के पूर्वोक्त पद की ही व्याख्या सर्वत्र दीख पड़ती है और इनकी शैली भी वही है।

---

१ महात्माओं की वाणी भुरकुड़ा गाजीपुर १९३३ ई॰ पृ॰ २।

२ 'झिलमिल झिलमिल बरसै नूरा। रुनझुन रुनझुन बाजै तूरा ॥
घट घट बोलै रमताराम। नाद बरन नारायण नाम ॥५॥
जीव-बुधि बिन जोग न होई। वा तन प्रेम न उपजै कोई ॥
नाद बरन जो लावै ध्यान। तो जोगी बुझ बुझ परमान ॥६॥'
—यारी साहब की रत्नावली ब॰ प्रे॰ प्रयाग १९१० ई॰ पृ॰ ९।

३ वही पृ॰ ४।

४ 'घट घट नूर मुहम्मद साहब जा का सकल पसारा है ॥१॥
—वही पृ॰ २, शब्द ५।
तथा: 'सूली के पार मेहर मेवा मलकूत जबरूत लाहूत तीनों।
लाहूत लैलीनासूत हैरे लाहूत के रस में रंग भीनो' ॥६॥
—वही भूलना ६, पृ॰ १८९

शाखा सत्यनामी-सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण अग बन चुकी है और उसे बहुत-से लोग इससे पृथक् भी माना करते है। परन्तु इसकी भीखा-पथ, पलटू-पथ-जैसी अन्य शाखाओ की गणना अभी तक इसी के भीतर हुआ करती है। इसके पश्चिमी क्षेत्र की फकीरी परपराओ का भी इसी में समावेश किया जाता है। इस पथ के विकास में क्रमानुसार अनेक भिन्न-भिन्न मतो का सहयोग मिलता आया है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियो के प्रभाव ने इसके मूल सिद्धातो में अनेक प्रकार के सशोधन, परिवर्धन तथा परिमार्जन कर दिये हैं, जैसा कि इसके क्रमागत साहित्य को ध्यान पूर्वक देखने से विदित होता है।

बावरी तथा बीरू का सिद्धात

बावरी साहिबा को जो सिद्धात तथा साधना के ढग अपनी गुरु-परपरा से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए थे। उनके स्वरूप का कुछ आभास एक पद्य[1] से मिलता है, "अजपा जाप की क्रिया स्वभावत प्रत्येक शरीर में नियमानुसार चल रही है, किंतु जो जानकार है वही उसे अनुभव कर सकता है। जब सद्‌गुरु की कृपा द्वारा उस अगम्य ज्योति वा परमतत्त्व का परिचय कोई पा लेता है, तभी उसे इसमें सफलता मिलती है। बावरी का कहना है कि वह उसी परमतत्त्व की दासी है, फिर भी लोग उसे केवल पगली मात्र समझा करते हैं"। वे अपने शिष्य बीरू को सबोधित करके बतलाती है कि सुरति का कमल अथवा शब्द तत्त्व के केन्द्र के साथ जोडे रहना परमावश्यक है। इन पक्तियो द्वारा बावरी साहिबा ने सक्षेप में स्पष्ट कर दिया है कि हमारा मुख्य ध्येय परमतत्त्व की पूर्ण अनुभूति है जो गुरु की बतलायी हुई युक्ति से अपने भीतर सदा चलनेवाले अजपाजाप के सहारे सुरति के साथ उसका नित्य सबध स्थिर करके ही उपलब्ध की जा सकती है। इसी को सत-मत के अनुसार 'स्वानुभूति', 'सुरतिशब्दयोग' अथवा 'चतुर्थ पद की प्राप्ति' आदि अनेक अन्य शब्दो द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। बीरू साहब ने भी एक अपने पद्य में उस अजपाजाप को ही त्रिकुटी के तीर-तीर बजायी जाने-वाली 'लाल की बासरी' की 'तान' वा 'अनहद सुर' कहा है। उन्होने बतलाया है कि उसके आगे बढ कर उस शब्द के केन्द्र खसम वा नाह के पहचानना तथा

---

१ 'अजपा जाप सकल घट बरतै, जो जानै सोइ पेखा।
गुरु गम जोति अगम घर बास, जो पाया सोइ देखा।
मैं बादी हौं परम तत्व की, जग जानत कि जानत कि भोरी।
कहत बावरी सुनो हो बीरू, सुरति कमल पर डोरी ॥१॥'
—महात्माओं की वाणी, भुरकुडा, गाजीपुर,, १९३३ ई०, पृ० १।

दिये हैं। इस प्रकार अपने आपको प्रकट कर निहारने या देखने तथा बिना माला की जाप के सहारे अंतर्लीन होने की विधि भी बतलायी है।[1] ये यह भी कहते हैं कि मैंने अपने प्रभु के साथ नयी प्रीति जोड़ ली है। मुझे अब उस 'बानी' का अनुभव हो रहा है जो गगन-मंडल में हरदम नवीन-नवीन रूपों में उठा करती है।[2] ये उस प्रभु के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा प्रदर्शित करते रहने से भी कभी नहीं चूकते। ये अपने को 'अतीत' या 'अतीथ' अवधूत और फ़क़ीर भी कहते हैं।[3] कभी कभी वात्सल्य भाव के आवेश में आकर उस परमतत्त्व तथा सत्पुरुष को अपना कंत या 'अविनाशी दूल्हा' भी ठहराते हैं। परन्तु 'ज्ञानगुष्टि' नामक रचना में ये अपने मत को स्पष्ट शब्दों में वेदांत-मत पर ही आश्रित बतलाते हैं। यह रचना 'शिष्य अर्ज' और 'श्री गुरु दया' के रूप में एक प्रकार की प्रश्नोत्तरी है जिसमें भीखा साहब इनसे कुछ प्रश्न करते हैं और ये उनके उत्तर देते हैं।

सर्वात्मवाद

'ज्ञानगुष्टि' के अंत में 'श्री गुरु दया' शीर्षक के नीचे कहा गया है[4] "अध्यात्म योग के अंत में विचार आता है, अथवा जहाँ उसकी निवृत्ति होती है वहीं से ब्रह्म-विचार का आरंभ होता है। निर्गुण-मत या संत-मत जिसे कहते हैं वह वास्तव में वेदांत है। उसके माननेवाले संत ब्रह्म के अध्यात्म रूप हैं जितने रूप दीख पड़ते हैं वे सभी आत्म-स्वरूप हैं और अपने आपका ज्ञान गुरु की कृपा द्वारा ही संभव होता है। अध्यात्म का शुद्ध रूप ही वेदांत का विषय है जो बिना आकार का अनुपम रूप है। ब्रह्म को चेतन न कह कर निरंतर शून्य कहना ही अधिक

---

१ गुलाल साहब की बानी शब्द ११ पृ ५१।

२ वही शब्द २८ पृ ४२।

३ वही शब्द २१ प ६२।

४ 'योग अध्यातम अंत विचारा। जहाँ निवृत्त सो ब्रह्म विचारा॥
निरगुन मत सोइ बेद को अंता। ब्रह्मरूप अध्यातम संता॥
जेते रूप आतमा कहिये। आपै आपु गुरु सो लहिये॥
बेदांत अध्यातम सुध रूपा। बिनु अकार को रूप अनूपा॥
शून्य निरंतर ताको कहिये। भीखा ब्रह्म चेतन्य नहिं रहिये॥
तहँवा अक्षय पक्ष कछु नाहीं। केवल ब्रह्म निरंतर माहीं॥
जहँवा दुविधा भाव न कोई। अध्यातम वेदांत मत सोई॥
यहि सिवाय कोइ और बतावै। ताको सतगुरु मत नहिं भावै॥
—महात्माओं की बानी भुरकुड़ा गाजीपुर १९३२ ई पृ २१४।

बूला का आत्म-विचार

बूला साहब ने भी भेद की उक्त बातो के अनेक वर्णन किये हैं और 'सुरति-शब्दयोग' की साधना की ओर बार-बार सकेत किया है। परन्तु इनके अनुसार 'जोग' का सच्चा जानकार उसे ही समझना चाहिए जो उस प्रकार सब-कुछ करता हुआ आत्म-चिंतन मे भी रत रहा करे।[1] ये कहते हैं कि योग-साधना द्वारा केवल सुरति तथा निरति के सयोग की स्थिति ला देना मात्र ही पर्याप्त नही। उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए आत्म-विचार की ओर भी ध्यान देना चाहिए जो ज्ञानयोग की साधना का आधार है। उसके बिना आत्मानुभूति मे दृढता तथा एकतानता का आना बहुधा कठिन हो जाता है। ये रामनाम के स्मरण को उद्धार का उपाय बतलाये हैं, किंतु 'गगन' मे सदा 'सब्द विवेकी' को ही देखने का उपदेश देते है और सत्सग की महिमा बतलाते हैं।[2] इनके मत का साराश यही जान पडता है कि इन्होने सभी मुख्य साधनाओ को महत्त्व दिया है।[3] इसी प्रकार इनके 'उपनिषद् अरु वेद गावत' से यह भी पता चलता है कि इन पर वेदात का भी प्रभाव कम नही पडा था। ये नाम-स्मरण के साधक थे, भगवत्प्रेम मे सदा विभोर रहनेवाले महापुरुष थे, किंतु साथ ही आत्म-ज्ञान की साधना को भी अपनाये रहना जानते थे।

गुलाल की भक्ति

बूला साहब के शिष्य गुलाल साहब ने भी आसन मार कर अकेले बैठने, ससि तथा सूर अर्थात् इडा और पिंगला मे वायु भरने, गगन की ओर उल्टी राह से चलने, कमल के विकसित करने, अनहद के सुनने, शून्य-अशून्य के बीच सबब जोडने तथा अगम, अगोचर और अविगत के खेल का अनुभव करने[4] आदि के अनेक विवरण

---

१ 'सतो जोग जानै तौन।
आपु आपु विचारि लेवै, रहै घट मे मौन ॥१॥'
—बुल्ला साहब का शब्दसार, बे० प्रे० प्रयाग, १९१० ई०, पृ० १०।

२ वही, शब्द ५, पृ० ३०।

३. स्रवन सुनिले नाद प्रभु की, नैन दरसन पेखु।
उपनिषद् अरु वेद गावत, अचल अमर अलेखु ॥१॥
भाव सग तू भक्ति करिले, प्रेमसो लवलीन।
सुरति सो तू बेडा बाधो, मुलुक तीनो छीन ॥२॥
—महात्माओ की वाणी, भुरकुडा, गाजीपुर १९३३ ई०, पृ० १८।

४ गुलाल साहब की वाणी, बे० प्रे० प्रयाग, १९१० ई०, शब्द १३, पृ० २७।

मुझे मन तथा माया ही फेर में डाल कर नाच रहे हैं।[1]

उनका 'योग' वर्णन

भीखा साहब ने एक सन्तमार्गी की भाँति 'सुरति शब्दयोग' के भी वर्णन किये हैं।[2] इसी प्रकार उन्होंने उक्त योग के परिणाम का भी वर्णन किया है।[3] उनके उक्त 'योग' का योगी निरा साधक वा सिद्ध नहीं। वह एक भजनानन्दी फ़क़ीर है जो एकनिष्ठ आध्यात्मिक जीवन-यापन करता हुआ भी अपने को संसार का विरोधी नहीं मानता न उसकी उपेक्षा ही करता है। उसमें क्षमा शील संतोष सरल चित्तता आदि सारे नैतिक गुणों का समावेश रहता है। वह इसके साथ ही 'दरबंद पर पीर' भी होता है, जैसा होना हमारे समाज के लिए परमावश्यक है।[4]

पलटू की विशेषता

पलटू साहब भी कभी-कभी उक्त प्रकार की ही बातें करते हुए जान पड़ते हैं। किन्तु वास्तव में उनका अधिक ध्यान काया के भीतर की रहस्यमयी स्थिति और उसका स्पष्ट विवरण देने की है। वे बार-बार उसका वर्णन करते

---

१ एकै शब्द ब्रह्म फिरि एकै फिरि एकै जग छाया।
आतम जीव करम भ्रमजाला जड़ चेतन विस्माया ॥१॥
—भीखा साहब की बानी पृ २।

२ युक्ति मिले योगी हुआ, योग मिलन को नाम
योग मिलन को नाम सुरति जा मिले निरति जब।
दिव्य दृष्टि संयुक्त देखिके मिले रूप तब।
जीव मिले जा पीव को पीव स्वयं भगवान।
तब शक्ति मिले जा सीव को सीव परम कल्यान ॥११॥
—भीखा साहब की बानी बे प्रे प्रयाग १९०९ ई पृ ९५।

३ शब्द परकास के सुनत अरु देखते
बूड़ि गई चित्त बुधि आस बाकी।
सुरति गै निरति घर रूप आयो दृष्टि पर,
प्रेम की रेख परतीत बाकी।
आतमा राम परिपूर परब्रह्म रह्यो,
छूटि गई ग्रंथि जिव भास बाकी॥
भीखा यों पगि गयो जीव तोइ ब्रह्म में,
सीव अरु शक्ति की मिलन साखी ॥३॥
—पलटू साहब की बानी पृ ६३।

४ वही पृ २४।

उचित है। वहाँ पवन वा शब्द तक की गति नही है, सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म व्याप्त है, वहाँ किसी प्रकार की दुविधा की गुजाइश नही है। अध्यात्म वेदात की यही सबसे बडी विशेषता है। इन वातो के अतिरिक्त यदि और कुछ कोई बतला रहा हो तो समझ लो कि उसे हमारा सत्गुरु-मत ज्ञात ही नही है"। 'ज्ञानगुष्टि' की कथन-शैली आदि पर विचार करते हुए उसे गुलाल साहब की रचना होने मे सदेह भी किया जा सकता है। वह अन्य ऐसी ज्ञान-गुष्टियो की भाँति पीछे की कृति भी हो सकती है, किंतु उसमे प्रतिपादित विषय का मेल उनकी अन्यत्र कही गई वातो के साथ भी खाता हुआ दीखता है। इस विचार से इसका महत्त्व कुछ कम नही होता ।

भीखा की प्रतिपादन-शैली

सत गुलाल साहब के समय से साधना से अधिक सिद्धातो के प्रतिपादन की ओर ध्यान देना आरभ हो जाता है। भीखा साहब ने भी यही किया है और उन्होने अपनी अधिकाश रचनाओ मे ब्रह्म, माया, जगत् तथा जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है। इनके वर्णन की शैली बावरी, बीरू अथवा यारी की भाँति गहन विषयो की ओर सकेत करके उनका दिग्दर्शन करा देना मात्र की नही है, अपितु उनका सुव्यवस्थित निरूपण करने तथा उन्हे बहुधा शास्त्रीय शब्दावली तथा पद्धति के अनुसार विस्तार देने की भी है। ये अनुभूत वातो को व्यक्त करते समय उनके रसानद मे मग्न होकर अपना कथन बीच मे ही बद कर देना नही जानते, अपितु उसके प्रवाह मे वह निकलते है। वस्तु-स्थिति के सागोपाग स्पष्टीकरण की चेष्टा मे एक ही बात को विविध प्रकार से कहने लगते हैं। इसका सबसे सुदर दृष्टात उनके द्वारा किये गए अनाहत शब्द के स्वरूप के वर्णन मे मिलता है, जहाँ पर उन्होने इसे प्रत्यक्ष करने के यत्न मे सगीत के विविध रूप उद्धृत किये हैं।[1] इसी प्रकार उन्होने एक ही तत्त्व की अनेकरूपता दरसाते समय भी एक ही मिट्टी के गढे गए विचित्र रग के वर्त्तन, एक ही सोने के आधार से निर्मित अनेक प्रकार के खरे-खोटे गहने तथा एक ही जलराशि मे उठनेवाले फेन, बुदबुद, लहर और भिन्न-भिन्न तरगो के मीठे वा खारे पानी के उदाहरण देकर आत्मा की एकता प्रतिपादित की है[2]। उन्होने कहा है कि वास्तव मे ठगनेवाला वटमार तथा ठगा जानेवाला बटोही सब एक ही सरकार के अग हैं। वे अपने अद्वैतवाद का निरूपण करते हुए कहते हैं कि

---

१ भीखा साहब की बानी, वे० प्रे० प्रयाग, १९०९ ई०, पृ० १८-१९ ।

२ वही, पृ० ५९ ।

निर्द्वंद्व होकर व्यतीत करता है। उसे संयत जीवन नाम-स्मरण और संतोष जागीर में मिले रहते हैं। वह सुखी की कफनी डाले रहता है अपने हृदय को उदार कर लेता है दिन रात आत्माराधन में लगा रहता है। वह जीवन्मुक्त बन जाता है, सम्राट तथा भिक्षु को एक समान जानता है। प्रेम का प्याला छाने रहता है और उसी के मद में सदा चूर रह कर किसी बात की कभी परवा नहीं करता।[1] इस प्रकार की मानसिक स्थिति ही एक फकीर के लिए सच्ची भक्ति है जिसके सामने हठयोगादि कुछ नहीं। इसे अपना कर वह अपना जीवन सफल बना लेता है।[2] पलटू साहब ने इसी के अनुसार स्वयं अपने विषय में भी लिखा है कि मैं अब सांसारिक बनियाई का त्याग कर सतगुरु की सिफारिस से राम की मोदियाई पा गया हूँ। मेरे घर नौबत बज रही है और बराबर सवाई काम होता जा रहा है। मेरी भरती त्रिकुटी में है और गादी सुषुम्ना में लगी हुई है। दसम द्वार पर मेरी कोठी है जहाँ अनादि पुरुष बैठा हुआ है। ईडा तथा पिंगला के दोनों पलड़ों में सुरति की जोती लगी है और सत्त सबद की डाँडी पकड़ कर मोती भर भर कर मैं तौला करता हूँ। तत्त्व की ढेरी लगी है जहाँ चाँद सूर्य दोनों रखवाली करते हैं। मैं तुरीयावस्था में रह कर वचन के कार्य में व्यस्त हूँ।[3]

सारांश

इस प्रकार जो आध्यात्मिक दीवानापन बावरी साहिबा के अनुपम व्यक्तित्व से उनके पंथ में आरंभ हुआ था। वह यारी साहब के सूफी-संस्कारों तथा गुलाल साहब तथा भीखा साहब के वेदांती वातावरणों में क्रमशः और भी गंभीर होता हुआ पलटू साहब तक अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति में आ गया। पलटू साहब का परमात्म-विश्वास उनका उत्कट वैराग्य उनका संतोष तथा उनकी अपूर्व मस्ती इस पंथ की मान्यताओं के अनुयायियों के लिए आदर्श-स्वरूप है। पलटू साहब के नाम पर पलटूदासियों का एक नवीन पंथ भी चला जिसका केन्द्र अयोध्या में माना जाता है। इसके अनुयायी नील रंग के वस्त्र तथा टोपी धारण करते हैं तथा मुख्यतः अयोध्या के अतिरिक्त लखनऊ तथा नेपाल में भी पाये जाते हैं। किंतु फिर वैसा कोई दूसरा संत उसमें नहीं हुआ। भीखा साहब के नाम पर भी

---

१ पलटू साहब की बानी भा० १ पृ० १४।
"जगत हँसै तौ हँसन दे पलटू हँसै न राम।
२ लोक लाज कुल छाड़ि कै करिलो अपना काम ॥ १२१॥
—वही पृ० ६७।
३ वही भा० १ पृ० ४६।

हुए मगन रहा करते हैं। वे ब्रह्म की सर्वव्यापकता वतलाने के लिए फूल के भीतर की सुगध, काठ के भीतर की आग, धरती के भीतर के जल, दूध मे छिपे घी तथा मेंहदी मे छिपी लाली के उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि ब्रह्म उसी प्रकार सब कही अदृश्य रूप से भरपूर है और उसके विना तिल भर भी खाली नही है।[1] अतएव यह सिद्ध है कि वह साहिव हमारे पास ही वर्तमान है। उसे अपने भीतर धँस कर केवल याद भर कर लेने की आवश्यकता है।[2] याद करते ही वह हमारे भीतर दीख पडने लगता है।[3] वे उसे स्थिति को पार्थिव रूप तक देते हैं। उसे आठवाँ लोक[4] के नाम से अभिहित करते हैं। उन्होने उसकी भौतिक स्थिति निश्चित करते हुए वतलाया है।[5] इससे प्रतीत होता है कि उसके पहले सात अन्य भूमियो को भी पार करना पडता है।

अद्वैतवादी

पलटू साहव अद्वैतवाद के माननेवाले हैं और 'जोई जीव सोई ब्रह्म एक है' वतला कर उसे समझाते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार फल मे वीज है और वीज मे फल है। जल मे लहर है और लहर मे जल है, छाया मे पुरुष है और पुरुष मे छाया है, अक्षर मे स्याही है और स्याही मे अक्षर है तथा मिट्टी मे घडा है और घडे मे मिट्टी है तथा सोने मे गहना है और गहने मे सोना है, ठीक उसी प्रकार जीव मे ब्रह्म है और ब्रह्म मे जीव है, विना जीव के ब्रह्म हो नही सकता। ये दोनो न तो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं, न इनके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरी वस्तु है ही और यह वात 'ज्ञान समाधि' में प्रत्यक्ष हो जाती है।[6] इस प्रकार की धारणा रखनेवाले के लिए किसी प्रपच वा विडवना के फेर मे पडने की आवश्यकता नही रह जाती। वह अपनी वास्तविक स्थिति का परिचय पाकर पक्का फकीर वन जाता है और अपना जीवन

---

१ पलटू साहव की वानी, वे० प्रे० प्रयाग, १९२९ ई०, भा० १, पृ० ३६।

२ वही, कुडलिया ९३, पृ० ४२।

३ 'प्रेम की घटा मे वूँद परै पटापट, गरज आकास वरसात होती।
गगन के वीच मे कूप है अधोमुख, कूप के वीच इक वहै सोती।
उठत गुजार है कुज की गली में, फेरि आकास तव चली जोती।
मानसरोवर मे सहसदल कवल है, दास पलटू हस चुगै मोती॥'
—वही, भा० २, रेखता ३०, पृ० १३।

४ वही, भा० १, पृ० ४७ तथा भा० २, पृ० ८७।

५ 'सात महल के वाद मिलै अठए उजियाला।'
—वही, भा० १, पृ० ७८।

६ वही, भा० ३, पृ० ५३।

होकर प्रकाशित है। इसका एक अन्य और संभवत: उससे प्रामाणिक पाठ 'कबीर ग्रंथावली' के प्रयाग वाले संस्करण में दिया गया मिलता है।[1] इसके आधार पर कदाचित् वैसे प्रश्न का उठना भी संभव नहीं कहा जा सकता। यों तो यदि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर देखा जाय तो संत मलूकदास तथा उक्त कबीर-शिष्य मलूकदास के ठीक समसामयिक होने में भी संदेह किया जा सकता है।

वैरागी मलूकदास

इसी प्रकार सर्वसाधारण में यह बात प्रसिद्ध चली आती है कि संत मलूकदास ने निम्नलिखित दोहे की रचना की थी।[2] इसी कारण इन्हें घोर भाग्यवादी तक भी कह दिया जाता है। परन्तु, पता चलता है कि ये पंक्तियाँ वस्तुत: 'श्री मलूक शतकम्' नामक एक छोटी-सी रचना से ली गई हैं जिसके रचयिता कोई अन्य मलूकदास जान पड़ते हैं। 'श्री मलूक शतकम्' में मलूकदास रचित १०१ दोहे संगृहीत हैं जिनमें स्वामी रामानंद के साम्प्रदायिक सिद्धांतानुसार अनेक बातों की चर्चा की गई समझ पड़ती है। उसमें स्पष्टत: 'दशरथ सुत चरण रज' का महत्त्व दरसाया गया भी दीख पड़ता है। इस रचना का कुछ परिचय देनेवाले एक लेखक के कथन से पता चलता है कि इसके रचयिता कोई 'रामानंदाचार्य जी महाराज के सम्प्रदाय के द्वारपीठाचार्य' मलूकदास थे। यहाँ इन संत मलूकदास का स्वामी रामानंद की शिष्य-परंपरा में केवल होना मात्र ही सिद्ध किया जा सकता है। उनकी किसी साम्प्रदायिक संस्था वा 'द्वारपीठ' के साथ भी इनके संबंध का पता नहीं चलता, प्रत्युत इनका जीवन हमें किसी गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति का जैसा तक प्रतीत होता है। ये संत मलूकदास संत-मत में पूरी आस्था रखनेवाले तथा तदनुकूल रहनी के समर्थक महापुरुष थे। इस कारण इनके लिए उपयुक्त 'अजगरी वृत्ति' का अनुमोदन उतना करना संभव नहीं जान पड़ता, न इस विचार में हमें उक्त दोहे के रचयिता को इनसे अभिन्न व्यक्ति मान लेना कभी उचित ही समझ पड़ सकता है।

---

१ गुरु जी बसै बनारसी सीष समुंदर तीर।
   बीसारे नहिं बीसरे, जो गुन होइ सरीर ॥
   —कबीर-ग्रंथावली हिंदी-परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय-संस्करण १९६१ ई०
   पृ० १४५ (साखी २७)।

२ अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
   दास मलूका कहत है सबके दाता राम ॥
   —'संत' (मासिक पत्र) जयपुर, वर्ष २ अंक १० चैत्र सं० १९९८, पृ० ७-१२।

वलिया तथा गाजीपुर जिलो मे 'भीखा-पथ' प्रसिद्ध है। किंतु एक सात्विक जीवन के अतिरिक्त इसके अनुयायियो की कोई अन्य विशेपता नही, न साधारण वातो मे वे किसी दूसरे पथ वालो मे किसी प्रकार भिन्न कहे जा सकते हैं।

६ मलूक-पथ

कवीर-शिष्य मलूकदास

मलूकदास के नाम मे प्रसिद्ध एक से अधिक महात्मा हो चुके हैं। इस कारण, सत मलूकदास के विपय मे लिखते समय, कभी-कभी भ्रम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इस वात के उदाहरण अभी आज तक भी मिलते हैं।[1] वावू श्यामसुदरदास ने 'कवीर ग्रथावली' की 'भूमिका' के अतर्गत एक 'मलूकदास' का उल्लेख किया है जिन्होने किसी खेमचद के लिए उसकी काशी वाली प्रति स० १५६१ मे लिखी थी। उन्होने इस वात की सभावना प्रकट की है कि कदाचित् कवीर साहव के वे ही शिष्य रहे होगे जो जगन्नाथपुरी मे जाकर वसे थे तथा जिनकी खिचडी का 'भोग' वहाँ अब तक लगता है।[2] वावू साहव ने उस मलूकदास तथा कवीर साहव का सवध प्रमाणित करने के लिए उक्त 'ग्रथावली' की एक साखी भी प्रस्तुत की है।[3] पुरी मे किसी मलूकदास की एक समाधि कवीर साहव की समाधि के निकट वनी हुई भी वतलायी जाती है। अतएव यह सभव है कि कवीर साहव के शिष्य माने जानेवाले कोई मलूकदास जगन्नाथपुरी मे रहते रहे हो तथा उन्ही की उक्त समाधि हो। कुछ लेखको ने इस समाधि के विपय मे लिखते समय, सभवत मथुरादास की 'मलूक परिचयी' के आधार पर कहा है कि वह सत मलूकदास की ही है। इसके लिए इनके शव का कडा से वहाँ तक प्रवाहित होता हुआ चला जाना भी वतलाया है। परन्तु ऐसी चामत्कारिक घटना का प्रस्तुत किया जाना इस वात को भी सूचित कर सकता है कि उक्त दोनो मलूकदासो को एक ही व्यक्ति सिद्ध करने की चेष्टा मे ऐसा किया गया हो और यह कथन कोरे अधविश्वास पर ही आधारित हो। इसके सिवाय वावू साहव ने जो उक्त साखी की प्रथम पक्ति को 'मेरा गुरु वनारसी चेला समदर तीर' तक का रूप दे डाला है उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नही। इसके उस पाठ को भी असदिग्ध नही समझा जा सकता है जो उनके द्वारा सपादित

---

१ मलूकदास तीन नहीं एक, हिंदुस्तानी, प्रयाग, भा० २३ अ० १।

२ कवीर ग्रथावली, का० ना० प्र० सभा, सन् १९२८ ई०, 'भूमिका' पृ० २।

३ कवीर गुर वसै वनारसी, सिख समदा तीर।
बीसारचा नहि वीसरै, जे गुण होइ सरीर ॥२॥
—वही, 'मूलपाठ' पृ० ६८ (साखी २)।

सामग्री थी उसे बाहर निकाल लिया और उसे साधुओं को खिलाया। इनकी माता को जब यह पता चला तो उन्हें इस कारण महान् कष्ट हुआ किंतु अधिक हानि की संभावना न देख कर वे उस समय चुप हो गई। अपने इस विचित्र स्वभाव के ही कारण 'मलूक' किसी वृत्ति वा जीविका में भी यथेष्ट सफलता नहीं पा सके। कहते हैं कि जब ये ११ वर्ष के थे उस समय इनके पिता ने इन्हें कंबल बेचने का काम सौंपा और देहात की पैठ में इन्हें प्रति आठवें दिन भेजने लगे। एक बार संयोगवश इनका कोई भी कंबल नहीं बिक सका न कोई ऐसा ही मँगता मिला जिसे वे उनमें से एकाध दे डालते। इस प्रकार उन कंबलों का पूरा गट्ठर लादे समय मार्ग में थक जाने पर वे किसी वृक्ष के नीचे हार मान कर बैठ गए और किसी की प्रतीक्षा करने लगे। तदनुसार ऐसे ही समय उधर से एक मजदूर निकला जिसके सिर पर इन्होंने कंबल की गठरी रख दी और स्वयं वे उसके पीछे हो लिए। परन्तु मजदूर इतना तेज चला कि वह इनसे आगे इनके घर पहुँच गया और इनकी माँ को इस बात का संदेह हो गया कि उसने अकेले कहीं एकाध कंबल न निकाल लिये हों। इस कारण उन्होंने उसे खिलाने के बहाने किसी कमरे में बंद कर दिया और इधर मलूक की प्रतीक्षा करने लगीं जब ये घर लौटे और दोनों ने कमरा खोल कर कंबलों को सहेजना चाहा तो उन्हें पता चला कि मजदूर कहीं चंपत हो गया है और खाना यों ही पड़ा हुआ है। इसका प्रभाव बालक मलूक पर बिना पड़े नहीं रह सका। इन्होंने वहाँ पड़ी हुई रोटी को प्रसाद रूप में उठा कर खा लिया और उस कमरे को बंद कर ये उसके भीतर भगवान् के साक्षात् दर्शनों के लिए तीन दिनों तक पड़े रहे। कहते हैं कि तीसरे दिन इनकी अभिलाषा पूरी हो गई और ये उसी समय से 'मलूक दास' बन कर बाहर निकले।[1]

इनके गुरु

संत मलूकदास के गुरु का परिचय देते समय प्रायः उन्हें किसी द्रविड़ देश-निवासी विट्ठलदास के नाम से अभिहित किया जाता है। परन्तु इधर उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह बात असत्य सिद्ध होती है। तथ्य यह जान पड़ता है कि इन्होंने किसी देवनाथ अथवा उनके पुत्र पुरुषोत्तम से पहले केवल नाममात्र की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इन्हें आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करानेवाले कोई मुरार स्वामी नामक महापुरुष थे।[2] इसके सिवाय इनकी रचना 'सुखसागर'

---

१ मलूकदास की की बानी वे. प्रे. प्रयाग 'भूमिका' पृ २ १।

२ 'सतगुरु मिले मुरारि की प्रगट छाप विस्वास' 'सुखसागर' पृ १९२ 'परिचयी-साहित्य' पृ १९ पर उद्धृत।

सत मलूकदास एक परिचय

मलूक-पथ के अनुयायियो के अनुसार सत मलूकदास का जन्म वैशाख वदी ५ स० १६३१ को इलाहावाद जिले के कडा नामक गाँव मे हुआ था। इनके पिता लाला सुदरदास जाति के कक्कड खत्री थे। इनके भाजे तथा शिष्य प्रयाग-निवासी सथुरादास ने इनकी एक 'परिचयी' लिखी है। इससे यह भी पता चलता है कि इनके पितामह का नाम जठरमल था तथा इनके प्रपितामह कोई वेणीराम थे। इनकी एकमात्र सतान एक पुत्री थी जो अपनी माता के ही साथ जाती रही। इस रचना द्वारा हमे यह भी विदित होता है कि इनके हरिश्चद्रदास, शृगारचद्रदास तथा रामचद्रदास नामक तीन भाई थे और इन्हे 'मल्लू' भी कहते थे।[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने मलूक 'परिचयी' के रचयिता सथुरादास का कायस्थ होना वतलाया है[2] जो ठीक नही जान पडता। इससे स्पष्ट[3] है कि किसी कायस्थ का साधारणत किसी खत्री का 'भगिनी सुत' होना सभव नही है। इस कारण सथुरादास का भी खत्री होना ही तथ्य हो सकता है। कहा जाता है कि 'मल्लू' अपने वचपन से ही अत्यत कोमल हृदय के थे और इन्हे अपनी पाँच वर्ष की वय-से ही, ऐसा स्वभाव पड गया था कि जव कभी ये खेलते समय मार्ग मे कही काँटे वा ककड पडे पाते, उन्हे चुन कर किसी दूसरी ओर डाल देते। इनकी परहित-चिंतन की इस मनोवृत्ति को देख कर किसी महात्मा ने भविष्य का वहुत उज्वल होना वतलाया था। सथुरादास की 'परिचयी' से पता चलता है कि इनका सेवाभाव, परोपकार तथा आत्मत्याग विषयक स्वभाव अत तक वना रह गया।

प्रारभिक जीवन

वालक 'मल्लू' की साधु-सेवा के सवध मे कुछ कथाएँ भी प्रचलित हैं। प्रसिद्ध है कि एक दिन साधुओ की किसी मडली ने इनके यहाँ भोजन की माँग प्रस्तुत की, किंतु इनके घर वालो ने इस ओर कोई ध्यान नही दिया। मल्लू को उनका यह व्यवहार असह्य हो उठा और उसने अपने ही घर के भडार मे सेंध लगा कर जो कुछ भी

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका भा० १५, स० १९९१, पृ० ७९।

२ मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इडिया, १९३० ई०, पृ० १५२।

३ 'मलूक को भगिनी सुत जोई, मलूक को पुनि शिष्य है सोई।
' , सथुरा नाम प्रकट जग होई॥
तिनहित सहित परिचयी भाषी, वसै प्रयाग जगत सब साखी।'
—परिचयी, पृ० २५।

नहीं और वह नदी की धारा मे पड़ कर बहता हुआ कहीं अदृश्य हो गया। केवल कुछ ही दूर तक दिखलायी पड़ सका।[1] इनकी कोई संतान जीवित न रहने के कारण इनका देहांत हो जाने पर इनके भतीजे रामसनेही इनकी गद्दी पर बैठे। उनके अनंतर, क्रमशः कृष्णसनेही कान्ह ग्वाल ठाकुरदास गोपालदास कुंजबिहारी-दास रामसेवक शिवप्रसाद गंगाप्रसाद तथा अयोध्याप्रसाद एक के पीछे दूसरे उत्तराधिकारी बनते चले गए। अंत मे अयोध्या दास से यह क्रम भी टूट गया।

इनकी रचनाएँ

संत मलूक दास की शिक्षा आदि के संबंध में कुछ पता नहीं चलता किंतु इनकी रचनाओं से इनका कम-से-कम बहुश्रुत होना सिद्ध है। इनकी रचनाओं की संख्या २१ तक की बतलायी गई है,[2] किंतु उनके अप्रकाशित रहने के कारण तथा जब तक इन सभी का तुलनात्मक अध्ययन नहीं हो पाता तब तक यह बतलाना संभव नहीं कि वास्तव मे ये सभी इनकी है या नहीं। इनमे से जिन पुस्तकों का उल्लेख एक से अधिक सूचियों मे किया गया दीख पड़ता है उनके नाम इस प्रकार दिये जा सकते है १ अलख बानी २ ध्रुव प्रताप ३ ज्ञानबोध ४ पुरुषविलास भक्त वच्छावली ६ भक्त विरुदावली ७ रतनखान ८ रामावतार लीला ९ शब्द १ साखी ११ सुखसागर और संभवत १२ दसरत्न ग्रंथ। इन तथा इनके अतिरिक्त शेष ग्रंथों के नामादि से अनुमान किया जा सकता है कि यदि इन सभी के रचयिता संत मलूक दास ही सिद्ध किये जा सकें तो इनमें से कुछ का विषय संत मत के साथ सीधा संबद्ध होगा तथा अन्य के अंतर्गत सगुण भक्ति परक विषयों की चर्चा की गई होगी। इनके चुने हुए शब्दो तथा साखियो का एक संग्रह 'मलूकदासजी की बानी' नाम से प्रयाग के 'बेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। इसके देखने से इनके मत साधना तथा रचना-शैली का कुछ परिचय दिया जा सकता है।

सतगुरु

संत मलूकदास ने सतगुरु का वर्णन करते समय उसमे तथा भगवान् में कोई भेद नहीं दिखलाया है। इनके सतगुरु को विरले ही जान सकते है उसके स्वरूप का बयान वही कर सकता है जो सुई के छेद से होकर सुमेर पर्वत को निकालने की शक्ति रखता हो। उस सतगुर की पहचान या तो कबीरदास को थी अथवा उसे प्रह्लाद नामदेव नानक या गोरख अवधूत जानते थ। उसकी लीला अद्भुत है।

---

१ परिचयी पृ २४।

२ हिंदुस्तानी भा २१ अं १ पृ १११-२।

से उद्धृत की गई कतिपय पंक्तियों द्वारा उक्त देवनाथ और परसोत्तम का भी पता चल जाता है।[1] वेणीमाधव दास के 'मूल गोसाईं चरित' से भी पता चलता है कि संभवत मुरारि स्वामी के ही साथ मलूकदास तुलसीदास के यहाँ गये थे।[2] कुछ के अनुसार संत मलूक दास की गुरु-परंपरा स्वामी रामानंद से आरंभ होकर क्रमश आशानंद, कृष्णदास और कील्ह तक आयी थी और ये कील्ह के ही शिष्य थे। इस दशा में कील्ह और मलूकदास का समकालीन होना सिद्ध होता है जो कदाचित् किसी उपलब्ध आधार पर संभव नही है। इसके विपरीत जीवाराम जी की 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के अनुसार जो स्वामी रामानंद की शिष्य-परंपरा का क्रम क्रमश अनंतानंद, कृष्णदास पयहारी, अग्रदास, जंगी, तनतुलसी और मुरारि स्वामी-जैसा चलता है[3] वह कही अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है।

देश-भ्रमण और अंतिम दिन

मजदूर संबंधी उपर्युक्त घटना के अनंतर मलूकदास को साधुओं के दर्शन और उनके साथ सत्संग करने का एक चस्का-सा लग गया था। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर ये चारो ओर देश-भ्रमण करने लग गए थे। परन्तु इन्होंने कब-से-कब तक तीर्थ-यात्रा अथवा पर्यटन में समय दिया इस बात का कोई निश्चित पता नहीं चलता। सथुरादास की 'परिचयी' के आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि ये जगन्नाथपुरी, पुरुषोत्तम क्षेत्र, कालपी और दिल्ली गये थे। इनकी दिल्ली यात्रा के ही अवसर पर सम्राट् औरंगजेब द्वारा कडा से जजिया कर का माफ किया जाने का भी अनुमान किया जाता है। कहते है कि ये अपनी वृद्धावस्था तक सदा परोपकार तथा जन-सेवा के विभिन्न कार्यों मे लगे रहे। अंत मे वैशाख वदी १४ बुधवार, सं० १७३९ को इन्होंने कडा मे ही रहते समय अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर दी। गंगा के प्रवाह मे इनके शव को छोड देने के अनंतर जयजयकार किया गया और कुछ लोग इनके अंतिम दर्शनो के लिए जल मे कूद पडे। किंतु कोई डूबा

---

१ 'दच्छिन ते प्रगटी भये, द्रावएड के देस।
गोकुल गाउ विदित भये, प्रगटे विट्ठलनाथ।
भावनाथ तिनते भये, देवनाथ सुत तास।
तेनते परसोत्तम तह सिख मलूकादास॥'
—परिचयी-साहित्य डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० १३८ पर उद्धृत।

२ मूल गोसाई चरित, दोहा ८३।

३ हिंदुस्तानी, भा० २३ अं० १, पृ० १२८।

करते हैं। इसीलिए इनके नाम-स्मरण का आदर्श इस प्रकार बतलाया गया है "नाम-स्मरण का तात्पर्य उसका प्रदर्शन कदापि नहीं हो सकता। यदि हृदय में अपने इष्ट के प्रति सच्चा प्रेम है तो वह प्रेमी की प्रत्येक चेष्टा द्वारा यों ही इंगित होता रहेगा उसके लिए बाह्य नियमों का पालन आवश्यक नहीं।[1]

ईश्वर-तत्त्व का स्वरूप

संत मलूकदास के उपर्युक्त कथनों से प्रतीत होता है कि इनका ईश्वर कोई एक व्यक्ति है जिसके साथ पारस्परिक संबंध बनाये रखने को वे परम इच्छुक हैं, किंतु वास्तव में इनकी धारणा ऐसी नहीं है। आपा खोजने की युक्ति का स्पष्टीकरण इन्होंने बतलाया है 'हे भाई, आपा या अपने आपको जी में ही जानो जिससे भ्रांति दूर हो जाय और सारा विश्व तुम्हारे परिचय के भीतर आ जाय। जो मन है वही परमेश्वर भी है जिसका ज्ञान कोई विरले जान पाते हैं और जो सबके घट का रहस्य जानता है वही उसका रूप बतला भी सकता है। ब्रह्म का वास्तविक निवास हमारे भीतर वहाँ पर है जहाँ से अनाहत शब्द सुनायी पड़ता है और जहाँ पर वह परम ज्योति के रूप में गगन-मण्डल के बीच झलमलाता हुआ-सा प्रतीत होता है। उस निर्गुण तत्त्व के लक्षण कोई बड़भागी पुरुष ही बतला सकता है। इसके लिए उसका गृही की दशा में रहना या विरक्त होकर भ्रमण करते फिरना अनावश्यक है। यह शक्ति उस हरि की दया से अपने आप आ जाती है।'[2] यह एक स्थिति है जिसे संत मलूकदास

१ माला जपों न कर जपौं जिम्या कहौं न राम।
सुमिरन मेरा हरि करैं, मैं पाया बिसराम ॥१४॥
सुमिरन ऐसा कीजिये दूजा लखै न कोय।
ओठ न फरकत देखिये प्रेम राखिये गोय ॥४॥
—मलूकदास की बानी पृ ११।

२ 'आपा जान रे जिय भाई।
आपा खोज त्रिभुवन सूझै अंधकार मिटि जाई ॥१॥
सोई मन सोई परमेसुर, कोई बिरला अवधू जान।
बीन जोगीसुर सब घट व्यापक सो यह रूप बखाने ॥२॥
सब्द अनाहत होत जहाँ तें तहाँ ब्रह्म को बासा।
गगन मंडल में करत कलोलै परम जोति परगासा ॥३॥
कहत मलूका निरगुन के गुन कोई बड़भागी गावै।
क्या गिरही और क्या बैरागी जेहि हरि देय सो पावै ॥४॥
—वही पृ १७।

वह न सोता है, न जागता है, न खाता है न पीता है और न मरता वा जीता ही है।
वह जिस किसी को भी शक्ति दे दे, वह बिना किसी वृक्ष के फल फूल लगा सकता है, एक क्षण मे अनेक रूप धारण कर सकता है और फिर अकेला भी दीख सकता है। मेरा गुरु-भाई बिना पैरो के भी ससार का भ्रमण कर सकता है।[1] वह सतगुरु ही सत मलूकदास के 'रामराय' है जिन्होने उसके नाव की डगमगी छुडा दी और वह आँधी-तूफान के रहते हुए भी निर्भीक हो मजे मे चलने लगी। उस सतगुरु ने ऐसी युक्ति बतला दी जिसके सहारे ये उसे गहरे अथवा छिछले जल मे भी खेते जा रहे हैं और इन्हे उसके उलटने तक की आशका नही है।[2] परन्तु वह युक्ति क्या है? सत मलूकदास ने कहा है कि गुरु ने कृपापूर्वक मुझे यही युक्ति बतला दी कि आपा खोजो जिससे भ्रम नष्ट हो जाय, त्रिभुवन का रहस्य प्रकट हो जाय और काल से भी युद्ध करने की शक्ति आ जाय। ब्रह्म का विचार, सत-सेवा, गुरु-वचनो मे विश्वास, सत्य, तथा सतोष का जीवन और नाम-स्मरण का स्वभाव अपनाने से अपनी आत्मा जागृत हो उठती है। यही उसके मत का सार है जिसे दूसरे शब्दो मे आत्म-ज्ञान भी कहते हैं।[3]

ईश्वर-विश्वास तथा नाम-स्मरण

सत मलूकदास की ईश्वर के अस्तित्व मे प्रबल आस्था थी और उसके प्रति असीम निष्ठा थी। ये उसके प्रत्यक्ष वर्तमान रहने का अनुभव प्रति क्षण और प्रत्येक स्थल पर सच्चे हृदय से करते थे। अपने को ये उसका आत्मीय असदिग्ध रूप से समझा करते थे। ये उससे विनय करते हुए अपने एक सवैया द्वारा कहते हैं, "यदि मेरे प्रति तूने अनुग्रह नही दिखलाया, तो लोग तुझे ही हँसगे।"[4] उसके वात्सल्य-भाव पर इन्हे इतना भरोसा है कि ये उसका नाम-स्मरण करने तक की वैसी आवश्यकता नही समझते। इन्होने उसके प्रति अपने को पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया है। उसके हाथ मे पड कर ये निश्चित भाव के साथ अपना जीवन-यापन

---

१ मलूकदासजी की बानी, वे० प्रे० प्रयाग, पृ० १-२।

२ वही, पृ० ३।

३ वही, पृ० १७।

४ दीन दयाल सुनी जबतै तबतै हिया मे कछु ऐसी बसी है।
तेरो कहाय के जाऊ कहा, मैं तेरे हित की पट खैच कसी है।
तेरोई एक भरोस मलूक को, तेरे समान न दूजो जसी है।
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हसी नहि तेरी हसी है ॥१४॥
—वही, पृ० ३२।

सिंह ने भी इनसे कड़ा गाँव में भेंट की थी और सत्संग किया था। इसी प्रकार इनका मुगल सम्राट् औरंगजेब द्वारा भी सम्मान पाने की एक कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि जब उसने इन्हें अपने दरबार में दर्शनों के लिए बुलाया तब इन्होंने उसके अहदियों के वापस आने से पहले ही उससे जाकर भेंट कर ली जिससे वह बड़े आश्चर्य में पड़ गया। इनके कहने से उसके द्वारा कड़ा नामक गाँव के लोगों पर से जजिया कर का उठा लिया जाना भी प्रसिद्ध है। औरंगजेब का कोई फतेह खाँ नामक कर्मचारी तो संत मलूकदास का इतना बड़ा भक्त हो गया कि उसने अपनी नौकरी तक का त्याग कर दिया और इनके साथ 'मीरमाधव' कहला कर रहने लगा। इस मीर माधव की गणना संत मलूकदास के प्रधान शिष्यों में की जाती है। कहते हैं कि उसकी समाधि भी कड़ा में वहीं बनी है जहाँ उसके गुरु की वर्तमान है। इनके अन्य मुख्य १२ शिष्यों में रामसनेही रामदास उदयराम प्रमुदास सुदामा आदि के नाम आते हैं। परन्तु उनका कोई परिचय उपलब्ध नहीं है।

मलूक-पंथ का प्रचार

संत मलूकदास के कहीं जाकर अपने मत का प्रचार करने अथवा किसी मठ के स्थापित करने का उल्लेख कहीं भी नहीं पाया जाता। फिर भी इनके अनुयायियों की संख्या कम नहीं और वे पूर्व में पुरी तथा पटना से लेकर पश्चिम की ओर काबुल तथा मुल्तान तक मिला करते हैं। किंवदंती है कि प्रयाग में इनकी गद्दी की स्थापना इनके शिष्य दयालदास कायस्थ ने की थी। इस्फहाबाद में इसके लिए हृदयराम पहुँचे थे। लखनऊ में गोमतीदास ने उसकी बुनियाद डाली थी। मुल्तान में मोहनदास गये थे सीता कोयल का भी काबुकम् (आमा) में पूरनदास ने मठ स्थापित किया तथा काबुल में रामदास ने जाकर इनके पंथ का प्रचार किया। इनकी अन्य गद्दियाँ जयपुर, गुजरात, वृन्दावन पटना और नेपाल तक पायी जाती हैं। इनकी पुरी वाली गद्दी के विषय में चर्चा करनेवाले इनके शव का जल के प्रवाह के साथ वहाँ तक बहते हुए पहुँचने की घटना का आविष्कार करते हैं। उनका कहना है कि बाबा मलूकदास का मृत शरीर कड़ा से बह कर पहले प्रयाग के किसी घाट पर ठहर एक बालिये से थोड़ा पानी पीने को माँगा और फिर डुबकी लगा कर काशी जा निकला। वहाँ पर कलम-दावात माँग कर अपनी पहुँच की सूचना लिख दी वहाँ से भी डुबकी मार कर वह जगन्नाथपुरी चला गया। वहाँ पर जगन्नाथजी ने पंडों को स्वप्न दिया कि समुद्र तट पर एक अरथी पड़ी हुई है उसे मेरे यहाँ शीघ्र उठा लाओ। अरथी के आने पर शव मलूकदास के शव ने जगन्नाथजी से बातचीत की और उनसे प्रार्थना की कि मेरे विश्राम के लिए अपने पनाले के निकट स्थान दीजिए। मेरे भोजन के लिए अपने भोग लगनेवाले 'दाल-चावल' के पछोरन बिनवा

ने 'अनुभव पद' का नाम दिया है और जिसे अन्य सतो की भाँति चौथा पद भी कहा है। ये कहते हैं कि पहले पद वा प्रथम स्थिति मे देवी-देवता का पूजन महत्त्व रखता है, दूसरे पद मे नियम तथा आचार-विचार का पालन किया जाता है। तीसर पद मे सभी प्रकार का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी मौलिक भ्राति तभी रह जाती है और वह उस अनिर्वचनीय चौथे पद को पाने पर ही जा पाती है।[1] इस स्थिति मे अनहद की तुरही वजती रहती है और सहज ही उसकी ध्वनि सुन पडती रहती है, ज्ञान की लहरें उठती रहती हैं और ज्योति जगमग-जगमग करती रहती है। उस समय अनुभव होता है कि अतिम दशा को पहुँच गया, शून्य मे ध्यान लग गया, तीनो दशाएँ विस्मृत-सी हो गई और चौथा पद प्राप्त हो गया। अनुभव के उत्पन्न होते ही भ्राति का भय दूर हो जाता है, साधक सीमित वातो को छोड नि सीम मे लग जाता है। उसके भीतर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है और आत्म-जागृति हो जाती है। फिर तो अपने को कैसी भी वाह्य स्थिति मे हम डाले, हमे दुविधा नही सता पाती और हम पक्के 'रावल' वन जाते हैं।[2]

हृदय की विशालता

सत मलूकदास एक पहुँचे हुए महात्मा थे और इनका सासारिक अनुभव भी कच्चा नही था। ये कैसी भी स्थिति मे पड कर घवडाना नही जानते थे, अपितु उसे अपने सामने आ गई अनिवार्य बात मान कर उसे आनदपूर्वक अनुभव कर लेना आवश्यक समझते थे। ये विश्व-कल्याण के इतने पक्षपाती थे कि उसका सारा दु ख अपने ऊपर सहर्ष उठा लेने के लिए भी ये प्रस्तुत रहा करते थे।[3] इस कयन से इनके हृदय की विशालता की एक झाँकी मिलती है। इनके अनुभव की वानगी इनकी अनेक सुदर उक्तियो मे भी दीखती है जो कभी-कभी पूर्ण भाव-भरी तथा अत्यत चुटीली जान पडती हैं।

परिचय तथा शिष्य

सत मलूकदास की ख्याति इनके जीवन-काल मे भी वहुत फैल गई थी और इनसे भेंट करने के लिए वहुत-से लोग इच्छुक रहा करते थे। प्रसिद्ध है कि अपनी पूर्वयात्रा स० १७२२ सन् १६६५ ई० के अवसर पर सिक्खो के नवें गुरु तेगवहादुर

---

१ मलूकदासजी की वानी, वे० प्रे० प्रयाग, पृ० २३।

२. वही, पृ० २१।

३ 'जे दुखिया ससार मे, खोवो तिनका दुक्ख।
दलिद्दर सौंप मलूक को, लोगन दीजै सुक्ख ॥५३॥'
—वही, पृ० ३७।

का रोट और तरकारी के छौलन की भाजी' का प्रवव कर दीजिए। तदनुसार जगन्नाथजी के पनाले के पास मलूकदासजी का स्थान अव तक मौजूद है। उनके नाम का रोट अव तक जारी है जो यात्रियो को जगन्नाथजी के भोग के साथ प्रसाद मे मिलता है।[1] परन्तु जैसा इसके पहले ही कहा जा चुका है, ये सारी वातें पीछे मे गढी हुई जान पडती हैं। इनका कोई यदि महत्त्व हो, तो वह किसी अन्य मलूकदास के साथ इनकी अभिन्नता सिद्ध करने के प्रयास मे भी समझा जा सकता है।

मलूक-पथ की वशावली

---
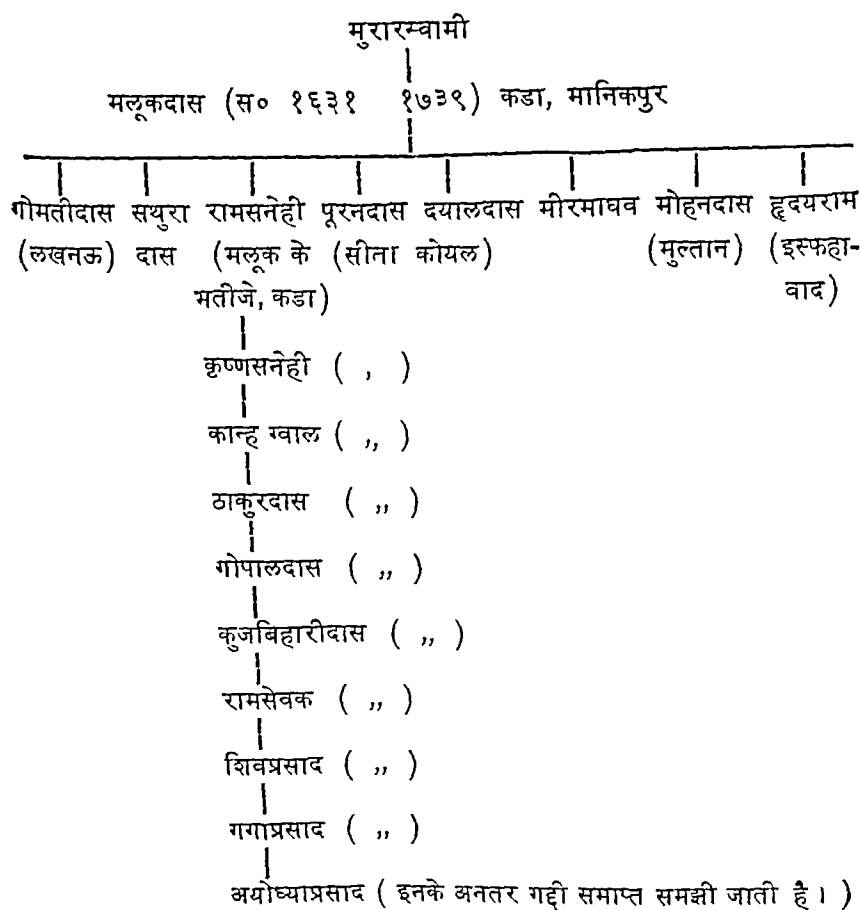
१ मलूकदासजी की वानी, जीवन-चरित्र, पृ० ७।

षष्ठ अध्याय

समन्वय तथा साम्प्रदायिकता (सं० १७००:१८५०)

१. सामान्य परिचय

सतो की स्वानुभूति

सतो ने जो सिद्धात निश्चित किये थे और जिन साधनाओ को उन्होने अपनाया था, उनका मूलस्रोत उनकी स्वानुभूति ही थी। इस कारण उन्होने विभिन्न धर्मों के प्रधान मान्य ग्रथो अथवा किन्ही व्यक्ति-विशेष के प्रमाणो की ओर अधिक ध्यान नही दिया था, न इस बात को सिद्ध करने की ही कभी कोई चेष्टा की थी कि उनकी विचार-धारा किसी प्रकार अपने समय प्रचलित धर्मो के मुख्य-मुख्य सिद्धातो के साथ मेल खाती भी है वा नही। वे विचार-स्वातत्र्य के पोषक थे और उनकी धारणा यह थी कि सत्य को सत्य मानने के लिए किसी बाह्य आधार की आवश्यकता नही है। कोई बात केवल इसलिए ही ठीक नही कि उसका वैसा होना धर्म-ग्रथो मे लिखा मिलता है अथवा ऐसा किसी बडे-से-बडे महापुरुष ने बतलाया है। उसकी सत्यता को अपने निजी अनुभव द्वारा यथासाध्य प्रमाणित कर लेना चाहिए इसके लिए केवल बाह्य प्रमाणो की अपेक्षा करना ठीक नही। सभव है कि उक्त धर्म-ग्रथो के रचयिता महापुरुषो ने भी स्वानुभूति के बल पर उसे हमारी ही भाँति सत्य समझा हो। यह बात हमारे भीतर उसके प्रति श्रद्धा तथा विश्वास लाने का कारण बन सकती है। परन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नही, न हमारे सिद्धातो का केवल उसी बल पर आश्रित रहना कभी उचित ही कहला सकता है। सतो की यह धारणा उनके हृदयो की सचाई, उनके विचारो की स्वतत्रता तथा उनके सिद्धातो की असदिग्धता का परिचायक थी। इसके द्वारा हमे उनके मूल्याकन मे बडी सहायता मिलती है, क्योकि इस प्रकार उनकी सारी बातें हमारे समक्ष विशुद्ध 'उनकी' होकर ही आती हैं। उनके विषय मे हमे किसी सम्मिश्रण के कारण दूषित वा विकृत बन जाने का भ्रम नही हुआ करता।

समन्वय की प्रवृत्ति

परन्तु ज्यो-ज्यो सतो के विविध पथ बनते गए और उनके पृथक् धर्म वा सम्प्रदाय कहलाने की परपरा आरभ होती गई, उनके अनुयायी अपने-अपने वर्गो को अन्य धार्मिक समुदायो की भाँति भिन्न-भिन्न समझने की ओर प्रवृत्त होते चले गए।

तदनुसार उन्होंने अपने वैदिक विचारों की तुलना भी उन प्रचलित धर्मों के सिद्धान्तों के साथ आरम्भ कर दी। इस प्रकार उनकी समान तथा असमान बातों की समीक्षा तक भी होने लगी। फलतः उन्हें ऐसा जान पड़ने लगा कि बहुत-सी प्रमुख बातों में ऐसे धार्मिक वर्ग एक दूसरे के समान ठहराये जा सकते हैं। इस प्रकार का परिणाम व्यापक भी हो सकता है। यहाँ तक कि इस प्रकार विचार करने पर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि सभी धर्म वा सम्प्रदाय अपने अपने मूल सिद्धान्तों की दृष्टि से एक समान हैं। उनकी उन एक समान बातों की ओर समुचित ध्यान न देकर केवल उनकी असमान बातों को महत्त्व दे डालना ठीक नहीं। क्योंकि एक तो वे बातें एक समान सर्वमान्य न होने के कारण सर्वथा सत्य नहीं हो सकतीं और दूसरे यह कि ऐसी असमान बातों के ही कारण प्रायः मतभेद तथा पारस्परिक वैमनस्य तक का भय बना रहता है। इसलिए, यदि संसार में एकता तथा समानता का भाव स्थापित करना हमें वास्तव में अभीष्ट है तो उक्त नियमानुसार मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों में समन्वय लाना भी आवश्यक होगा। ऐसा करने पर यह आप-से आप सिद्ध हो जा सकता है कि संसार के प्रचलित धर्मों के प्रमुख सिद्धान्तों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। इस प्रकार धर्मों की विभिन्नता के नाम पर आपस में एक दूसरे को भिन्न मान बैठना तथा व्यर्थ के झगड़े मोल लेना मूर्खता मात्र है। इससे न तो किसी व्यक्ति वा धार्मिक समुदाय का सच्चा हित हो सकता है, न इसके द्वारा कभी विश्व-कल्याण की ही आशा की जा सकती है।

समन्वय का सूत्रपात

इस युग के आरम्भ से प्रायः ५०-६० वर्ष पहले सम्राट् अकबर (सं० १५९९-१६६२) के दरबार में विभिन्न मतावलंबियों की पारस्परिक धर्म चर्चा आरम्भ हो चुकी थी। इसके परिणामस्वरूप सभी धर्मों की मौलिक एकता के आधार पर 'दीन इलाही' नामक एक समन्वयात्मक मत की बुनियाद तक भी डाली जा चुकी थी। इस प्रकार की भावना तत्कालीन वातावरण में तब से क्रमशः प्रवेश करती जा रही थी और लोगों का ध्यान इस ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता जा रहा था। इसके सिवाय सम्राट् अकबर के प्रपौत्र प्रसिद्ध दाराशिकोह (मृ० सं० १७१६) की प्रवृत्ति भी इधर हो चली। उसने वेदान्त के ग्रन्थों का फारसी अनुवाद करना आरम्भ किया। भिन्न भिन्न मतों के आचार्यों के साथ वह इसी अभिप्राय से सत्संग भी करने लग गया। इन यत्नों के सिलसिले में ही उसकी भेंट संत बाबालाल से हुई जो वेदान्त तथा सूफी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से भली भाँति परिचित थे। इनके साथ उसकी बातचीत हो जाने पर इस प्रवृत्ति को और भी बल मिला। समन्वय-

१. सामान्य परिचय

सतो की स्वानुभूति

सतो ने जो सिद्धात निश्चित किये थे और जिन सावनाओ को उन्होंने
था, उनका मूलस्रोत उनकी स्वानुभूति ही थी। इस कारण उन्होंने विि
के प्रवान मान्य ग्रथो अथवा किन्ही व्यक्ति-विशेष के प्रमाणो की ओर अि
नही दिया था, न इस वात को सिद्ध करने की ही कभी कोई चेष्टा की
उनकी विचार-धारा किसी प्रकार अपने समय प्रचलित धर्मों के मुख्य-मुख्
के साथ मेल खाती भी है वा नही। वे विचार-स्वातत्र्य के पोपक थे अं
धारणा यह थी कि सत्य को सत्य मानने के लिए किसी वाह्य आधार
श्यकता नही है। कोई बात केवल इसलिए ही ठीक नही कि उसका व
धर्म-ग्रथो मे लिखा मिलता है अयवा ऐसा किसी वडे-से-वडे महापुरुप ने
है। उसकी सत्यता को अपने निजी अनुभव द्वारा यथासाध्य प्रमाणित
चाहिए इसके लिए केवल वाह्य प्रमाणो की अपेक्षा करना ठीक नही।
कि उक्त धर्म-ग्रथो के रचयिता महापुरुषो ने भी स्वानुभूति के वल
हमारी ही भाँति सत्य समझा हो। यह वात हमारे भीतर उसके :
तथा विश्वास लाने का कारण वन सकती है। परन्तु केवल इतना ही पर
न हमारे सिद्धातो का केवल उसी वल पर आश्रित रहना कभी उचित
सकता है। सतो की यह धारणा उनके हृदयो की सचाई, उनके विचारो की
तथा उनके सिद्धातो की असदिग्धता का परिचायक थी। इसके द्वारा
मूल्याकन मे वडी सहायता मिलती है, क्योकि इस प्रकार उनकी सारी :
समक्ष विशुद्ध 'उनकी' होकर ही आती हैं। उनके विपय मे हमे किसी सि
कारण दूषित वा विकृत वन जाने का भ्रम नही हुआ करता।

समन्वय की प्रवृत्ति

परन्तु ज्यो-ज्यो सतो के विविध पथ वनते गए और उनके पृथक् धर्म व
कहलाने की परपरा आरभ होती गई, उनके अनुयायी अपने-अपने वर
धार्मिक समुदायो की भाँति भिन्न-भिन्न समझने का ओर प्रवृत्त होते

तदनुसार उन्होंने अपने वर्तमान विचारों की तुलना भी उन प्रचलित धर्मों के सिद्धांतों के साथ आरंभ कर दी। इस प्रकार उनकी समान तथा असमान बातों की समीक्षा तक भी होने लगी। फलतः उन्हें ऐसा जान पड़ने लगा कि बहुत-सी प्रमुख बातों में एक धार्मिक वर्ग एक दूसरे के समान ठहराये जा सकते हैं। इस प्रकार का परिणाम व्यापक भी हो सकता है। यहाँ तक कि इस प्रकार विचार करने पर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि सभी धर्म वा सम्प्रदाय अपने अपने मूल सिद्धांतों की दृष्टि से एक समान हैं। उनकी उन एक समान बातों की ओर समुचित ध्यान न देकर केवल शेष असमान बातों को महत्त्व दे डालना ठीक नहीं। क्योंकि एक तो ये बातें एक समान सर्वमान्य न होने के कारण सर्वथा सत्य नहीं हो सकतीं और दूसरे यह कि इन्हीं असमान बातों के ही कारण प्रायः मतभेद तथा पारस्परिक वैमनस्य तक का भय बना रहता है। इसलिए, यदि संसार में एकता तथा समानता का भाव स्थापित करना हमें वास्तव में अभीष्ट है तो उक्त नियमानुसार मुख्य-मुख्य सिद्धांतों में समन्वय लाना भी आवश्यक होगा। ऐसा करने पर यह आप-से-आप सिद्ध हो जा सकता है कि संसार के प्रचलित धर्मों के प्रमुख सिद्धांतों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। इस प्रकार धर्मों की विभिन्नता के नाम पर आपस में एक दूसरे को भिन्न मान बैठना तथा स्पर्धा वा झगड़े मोल लेना मूर्खता मात्र है। इससे न तो किसी व्यक्ति वा धार्मिक समुदाय का सच्चा हित हो सकता है न इसके द्वारा सभी विश्व-कल्याण की ही आशा की जा सकती है।

समन्वय का सूत्रपात

इस युग के आरंभ के प्राय ५०-६० वर्ष पहले सम्राट् अकबर (सं० १५९९-१६६२) के दरबार में विभिन्न मतावलंबियों की पारस्परिक धर्म-चर्चा आरंभ हो चुकी थी। इसके परिणामस्वरूप सभी धर्मों की मौलिक एकता के आधार पर 'दीन इलाही' नामक एक समन्वयात्मक मत की बुनियाद तक भी डाली जा चुकी थी। इस प्रकार की भावना तत्कालीन वातावरण में तब से क्रमशः प्रवेश करती जा रही थी और लोगों का ध्यान इस ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता जा रहा था। इसके सिवाय सम्राट् अकबर के प्रपौत्र प्रसिद्ध दाराशिकोह (मृ० सं० १७१६) की प्रवृत्ति भी इधर हो चली। उसने वेदांत के ग्रंथों का फारसी अनुवाद करना आरंभ किया। भिन्न-भिन्न मतों के आचार्यों के साथ वह इसी अभिप्राय से सत्संग भी करने लग गया। इन यत्नों के सिलसिले में ही उसकी भेंट संत बाबालाल से हुई जो वेदांत तथा सूफी सम्प्रदाय के सिद्धांतों से भलीभाँति परिचित थे। इनके साथ उसकी बातचीत हो जाने पर इस प्रवृत्ति को और भी बल मिला। समन्वय-

परक विचारो से ही अनुप्राणित इस युग के एक अन्य सत प्राणनाथ भी हुए जिन्होने हिन्दू, मुस्लिम तथा ईसाई धर्म-ग्रथो का गभीर अध्ययन करके उनमे निहित व्यापक सिद्धातो की मौलिक एकता के आधार पर अपने 'प्रणामी-सम्प्रदाय' की स्थापना की। सत दरियादास ने इसी युग के अतर्गत, अपनी साधना-प्रणाली मे अनेक मुस्लिम आचार-पद्धतियो का समावेश किया। 'साईदाता सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक मोहन साईं ने भी इस युग का अत होने के समय तक अपने यहाँ वैसी कई बातो को प्रश्रय दिया। इसके सिवाय, कह सकते है कि इस युग के सत रामचरणदास ने भी इसी प्रकार, अपने ढग से कतिपय जैन-धर्म की बातो को अपनाया। वास्तव मे इन सतो के अनुसार किसी भी धर्म वा सम्प्रदाय-विशेष के व्यापक सिद्धात सर्वमान्य समझे जा सकते हैं और वे स्वीकार कर लेने योग्य हैं।

अन्य प्रवृत्तियाँ

समन्वय की ऐसी प्रवृत्ति के जागृत हो जाने पर यह स्वाभाविक था कि सत-मत के अनुयायियो मे अन्य धर्मों के प्रवर्त्तको तथा उनके मान्य ग्रथो के प्रति श्रद्धा का भाव बढे तथा वे उनसे न्यूनाधिक प्रभावित भी होने लग जाए। फलत वेदात-ग्रथो के साथ-साथ इस युग मे सूफियो की रचनाओ के प्रति आदर का भाव बढा। उनका गभीर अध्ययन आरभ हुआ। दादू-पथ के प्रसिद्ध सत सुदरदास ने वेदात-दर्शन का अनुशीलन करके उससे प्रभावित ग्रथो की रचना की। बावरी-पथी भीखा साहब तथा सत चरणदास की रचनाओ पर भी इस प्रकार के प्रभाव लक्षित हुए। इसके सिवाय सत चरणदास-जैसे कुछ लोगो ने हिन्दुओ के अन्य धार्मिक ग्रथ-जैसे पुराणो और इतिहासो के अध्ययन और अनुवाद की ओर भी यत्न किये। उन्होने ज्ञानयोग तथा योग-साधना सबधी विविध प्रसगो का भी विवेचन किया। सत शिवनारायण तथा सभवत उनके गुरु दुखहरन ने प्राचीन भक्तो के चरित की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट किया। कुछ 'भक्तमाल' और 'बीतक' ग्रथ भी रचे गए। इस युग की एक अन्य प्रवृत्ति पुराने महापुरुषो को अपने प्रत्यक्ष गुरु के रूप मे स्वीकार करने भी मे दीख पडी। सत चरणदास ने पौराणिक मुनि शुकदेव को, बाबा किनाराम ने दत्तात्रेय को तथा गरीबदास ने कबीर साहब को अपना गुरु घोषित किया। इसी प्रकार सत दरियादास ने अपने को कबीर साहब का अवतार तक होना बतलाया। इस प्रकार की बातो को उत्साह मिलते जाने के कारण, प्राचीन आधारो का अवलबन ग्रहण करना तथा प्रमाण-नारायण होना, एक बार फिर साधारण-सी बात जैसा स्वाभाविक हो चला। उन दिनो के सतो तथा साधारण हिन्दू-सम्प्रदायो के अनुयायियो के बीच का अतर उतना अधिक नही रह गया।

अलौकिक प्रदेश

पौराणिकता के उपर्युक्त प्रभाव का परिणाम उस समय एक अन्य प्रकार से भी लक्षित हुआ जो कम उल्लेखनाय नहीं है। कबीर साहब ने संत-मत के अंतिम ध्येय अथवा संतों की अभीष्ट सिद्धावस्था को 'परमपद' का नाम दिया था जो वास्तव में उनके द्वारा प्रयुक्त इसके अन्य पर्यायवाची शब्दों के रहते हुए भी एक प्रकार की आध्यात्मिक दशा अथवा स्थिति मात्र का ही परिचायक था। उनकी यह मंशा कदाचित् कभी भी न रही कि यह शब्द किसी स्थान-विशेष की ओर भी इंगित करे। गुरु नानकदेव ने अपनी रचना 'जपुजी' में उसे 'सचखंड' का नाम अवश्य दिया था किंतु उनकी व्याख्या द्वारा भी इसका स्पष्टीकरण हो जाता था। इसके विपरीत इस युग के प्रायः प्रारंभ से ही उसे विभिन्न भौगोलिक रूप प्रदान किया जाने लगा। संत प्राणनाथ ने इसे स्पष्ट शब्दों में 'धाम' की संज्ञा दी जो वस्तुतः किसी-न-किसी पावन वा पवित्र स्थान को लक्ष्य करता था। उन्होंने उसे पूर्ण महत्त्व प्रदान कर वहाँ के रहनेवाले तथा उस तक पहुँचनेवाले को 'धामी' के नाम से अभिहित किया। इसी प्रकार संत दरियादास इससे और भी आगे बढ़े और कदाचित् 'शिवलोक' 'विष्णुलोक' अथवा 'गोलोक'-जैसे प्रचलित शब्दों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने उसे 'छपलोक' 'सत्य लोक' वा 'अमयलोक' कहने की प्रणाली आरंभ की तथा उसके वर्णनों में भी अनेक भौगोलिक बातें आ गईं। संत शिवनारायण ने तो इसे 'संत देस' का नाम देकर इसके पार्थिव रूप को और भी स्पष्ट कर दिया। इस प्रकार कबीर साहब की उपर्युक्त धारणा जो सर्वप्रथम केवल किसी एक [मान] सिक दशा की ही ओर संकेत करती थी क्रमशः उसे अलौकिक प्रदेश वा स्थान-विशेष का रूप प्रदान करने की ओर हमें प्रेरित करने लग गई। उसे साम्प्रदायिक महत्त्व भी मिलने लगा।

पवित्र ग्रंथ

इसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि कबीर साहब का शरीरांत हो जाने पर उनकी उपलब्ध रचनाओं के कुछ संग्रह तैयार होने लगे थे। गुरु नानकदेव के शिष्य गुरु अंगद ने भी अपने अनुयायियों की सहायता से सर्वप्रथम वैसा ही यत्न आरंभ किया था। परन्तु कालक्रमानुसार, भिन्न-भिन्न मतों के समर्थकों ने अपने पुरखों पथ प्रदर्शकों अथवा मान्य महापुरुषों की विभिन्न रचनाओं को सुव्यवस्थित रूप देकर उन्हें संगृहीत करने का यत्न किया। इसके फलस्वरूप 'आदि ग्रंथ' 'कबीर बीजक' 'अगमबूं'-जैसे विशिष्ट संग्रहों की भी सृष्टि हुई जो अभी और ये पीछे 'पवित्र ग्रंथ' तक माने जाने लग गए। ऐसे ग्रंथों का संपादन पहले पहल केवल इसी विचार से किया गया था कि उनमें संगृहीत बहुमूल्य वाणियाँ भी आगे के लिए सुरक्षित

रखना उनके द्वारा निर्दिष्ट मत को प्रमाणित करने के लिए आवश्यक होगा। किन्तु इस युग के आ जाने पर उनकी साधारण उपादेयता ने क्रमश उनकी श्रद्धेयता का भी रूप ग्रहण कर लिया। उन्हे अब से 'पवित्र धर्म-ग्रथ' माना जाने लगा। कबीर-पथ का 'बीजक', सिक्खधर्म का 'आदि ग्रथ', साध-सम्प्रदाय का 'आदि उपदेश' तथा दादू-पथ का 'अगबधू' अब से प्रसिद्ध मान्य ग्रथो की कोटि मे गिने जाने लगे। उन्हे आदर्शवत् स्वीकार करके उनके अनुकरण मे प्रणामी-सम्प्रदाय का ग्रथ 'कुल्जम शरीफ' तथा शिवनारायणी-सम्प्रदाय का 'गुरु अन्यास' ग्रथ भी पूजनीय हो चले। सिक्खो के दसवें गुरु गोविंद सिंह के अतिम आदेशानुसार 'आदिग्रथ' की प्रतिष्ठा तो यहाँ तक बढ गई कि वह उस वर्ग के अनुयायियो द्वारा स्वय 'गुरुग्रथ साहब' तक कहला कर प्रसिद्ध हो गया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि उक्त ग्रथो की अलौकिकता ने उन्हे सर्वसाधारण की दृष्टि मे किसी एक परम गोपनीय वस्तु की भी पदवी दे डाली। वे क्रमश प्रामाणिक आधारो की जगह से उठते हुए, अज्ञात वा रहस्यपूर्ण की दशा तक पहुँच गए। अतएव ऐसे ग्रथो मे से कई का अभी तक अप्रकाशित रूप मे पडा रहना भी कदाचित्, इन्ही बातो का परिणाम समझा जा सकता है।

दूसरों पर प्रभाव

परन्तु जिस प्रकार इस युग के सतमतानुयायी पथ, साधारण हिन्दू, मुस्लिम वा जैन आदि धर्मों की अनेक बातो द्वारा प्रभावित होने लगे थे, उसी प्रकार विविध प्रचलित सम्प्रदायो के कई आचार्यों तक पर इसका प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष प्रभाव पडता आ रहा था। उदाहरण के लिए इस सबध मे, राजस्थान के परशुराम देवाचार्य तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश के बाबा रामचन्द्र के नाम ले सकते हैं। परशुराम देवाचार्य निबार्क-सम्प्रदाय के अनुयायी थे और इनके निजी सिद्धात प्राय उसी के अनुसार बराबर निश्चित रहते आये। परन्तु इनकी रचनाओ के सग्रह 'परशुराम सागर' के देखने से पता चलता है कि इनकी विचार-धारा पर कुछ-न-कुछ सत-मत का भी प्रभाव अवश्य पडा होगा। उसी दशा मे इन्होने कदाचित् वहाँ पर सगृहीत कई कृतियो का निर्माण भी किया होगा। इसमे सदेह नही कि इनके अनुयायियो के 'भेष' वा धार्मिक चिह्न मूल-सम्प्रदाय का ही अनुसरण करते है। इनकी उपासना-पद्धति का प्रधान अग भी ज्यो-का-त्यो वर्तमान है। किन्तु जहाँ तक इनके दार्शनिक दृष्टिकोण, परमतत्त्व के स्वरूप वा अन्य ऐसी बातो का प्रश्न है, ये बहुत कुछ सत-मत के निर्गुणाविशिष्ट विचारो का भी आश्रय ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं पर इनकी कथन-शैली ने भी अधिकतर वही रूप धारण कर लिया है जो सत-साहित्य के अतर्गत पायी जाती है। इसी प्रकार हम इधर के बाबा रामचन्द्र

के विषय में भी कह सकते हैं जो वर्तमान बलिया जिले (उ० प्र०) के चकछीह नामक गाँव के निवासी थे। इनका जीवन-काल १९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समझा जाता है। कहा जाता है कि ये एक प्रकांड विद्वान् और निपुण कवि भी थे। इनकी उपलब्ध रचना 'चरणचन्द्रिका' से पता चलता है कि ये कभी भगवती के उपासक रह चुके थे। किन्तु प्रसिद्ध है कि ये फिर किसी वैष्णव साधु द्वारा दीक्षित हो गए थे। तदनुसार इन्होंने कोई 'सीतारामीय सम्प्रदाय' भी स्थापित किया। इनके सुयोग्य शिष्य बाबा नवनिधिदास (सं० १८९०-१९२) ने इस सम्प्रदाय के प्रचारकार्य में कदाचित् इनसे कहीं अधिक सफलता प्राप्त की। इसके उपलब्ध साहित्य से पता चलता है कि इसके अनुयायियों में प्रधानतः अपने इष्टदेव सीताराम की ही भावना काम करती रही। परन्तु सम्प्रदाय के ग्रंथ 'सत-मत-सार' के अनुसार ये लोग सत-मत के द्वारा भी बहुत कुछ प्रभावित हैं।[1] बाबा रामचन्द्र के पथ-प्रदर्शक के रूप में ये लोग किसी रामदास का नाम तक लेते हैं जिनका संबंध कबीर साहब की शिष्य-परंपरा के साथ रह चुका है।

सुल्तान बाहू और शाह लतीफ

इसी प्रकार इस युग के अंतर्गत हम संत-मत का प्रभाव अनेक सूफी साधकों पर भी पड़ा हुआ दीख पड़ता है। ऐसे लोग अधिकतर भारत के पश्चिमी प्रांतों के निवासी थे। उनमें से कई की भाषा हिंदी न होकर ठेठ पंजाबी अथवा सिंधी तक थी। परन्तु फिर भी हमें ऐसा लगता है कि कबीर साहब आदि की रचनाओं द्वारा ये लोग परिचित अवश्य हो गए होंगे क्योंकि जहाँ तक हमें इनकी उपलब्ध रचनाओं का पता से प्रकट होता है इनमें कई स्थलों पर इनका प्रभाव स्पष्ट है। इन सूफी कवियों में से एक सुल्तान बाहू थे जिनका जन्म पश्चिमी पंजाब प्रांत के झंग जिले के किसी 'आवान' नामक गाँव में हुआ था। सुल्तान बाहू का जीवन-काल (सं० १६८७-१७४८) बतलाया जाता है। कहा जाता है कि इनके पिता अरबी-फारसी के प्रसिद्ध विद्वान् थे जिन्हें सम्राट् शाहजहाँ के दरबार से कोई विशिष्ट उपाधि भी मिली थी। प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करके सुल्तान बाहू कादिरी सूफी-सम्प्रदाय के अब्दुर्रहमान से वहाँ दीक्षित हुए और तब से अपनी साधना तथा मत-प्रचार की ओर भी प्रवृत्त हो गए। कहते हैं कि इन्होंने १४ पुस्तकों की रचना की जिनमें से अधिक फारसी भाषा में ही लिखी गई हैं और केवल कुछ ही पंजाबी में हैं। पंजाबी में इनकी 'सिहरफियाँ' और 'काफियाँ' विशेष प्रसिद्ध

---

1. श्री बालेश्वर प्रसाद जी : श्री पोथी सतमतसार, बनारस १९५ ई०।

हैं। इनके वर्ण्य-विषय प्राय वे ही हैं जो संत-साहित्य मे भी पाये जाते हैं। शाह अब्दुल लतीफ भी इसी प्रकार, एक अन्य सूफी कवि थे जो सिंध के निवासी थे। इनका जीवन-काल (स० १७४७-१८०९) था और इनका जन्म हैदराबाद, सिंध जिले के 'हाला' नामक गाँव मे हुआ था जो आजकल इन्ही के नाम पर 'शाह भिट्टाई' कहला कर प्रसिद्ध है। इनका जीवन अत्यत सरल और सादा था। ये अपने यहाँ के सर्वश्रेष्ठ सूफी कवि भी माने जाते हैं, किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओ पर कबीर साहब का प्रभाव स्पष्ट दीख पडता है। इनके कुछ पद्य तो उनकी साखियो के ठीक अनुवाद के जैसे भी जान पडते हैं। उदाहरण के लिए कबीर साहब की एक साखी है,[1] जो शाह साहब के यहाँ भी पायी जाती है जिसका अभिप्राय है, "मेरी आँखो मे बैठ जाओ ताकि मैं तुझे ढाँप लूँ, न दुनिया तुझे ही देखे, न मैं ही दूसरो को देख सकूँ।' शाह साहब के लिए यह भी कहा जाता है कि इन्होने सभवत कबीर साहब के ही प्रभाव मे आकर अपनी रचनाओ मे 'राम' शब्द तक का प्रयोग किया है।[2]

शासन-विद्रोह

इस युग के सतो की एक विशेपता उनके द्वारा तत्कालीन शासन के विरुद्ध विद्रोह का झडा उठाने की प्रवृत्ति मे भी लक्षित हुई। सिक्खो के छठे गुरु हरगोविंद राय ने, अपने पिता गुरु अर्जुनदेव की नृशंसतापूर्ण हत्या के कारण क्षुब्ध होकर मुगल-शासन के विरुद्ध प्रतिशोध की जो प्रतिज्ञा की थी उसका परिणाम उनके अनतर गुरु गोविंद सिंह तथा वीर बदाबहादुर की लडाइयो के रूप मे इसी युग के भीतर दीख पडा। उसका प्रभाव बहुत पीछे तक भी बना रह गया। इसके सिवाय सम्राट् औरगज़ेब के विरुद्ध सत्तनामियो ने भी इस युग के ही अतर्गत अपना विद्रोह आरभ किया। गुरु नानकदेव के शाति तथा सद्भाव प्रचार करनेवाले नानकपथ ने मुगल-शासन के विरुद्ध जिस प्रकार लोहा लेनेवाले युद्ध-निपुण खाल्सा सिपाहियो का सगठन किया, कदाचित् उसी प्रकार इस काल मे और लगभग वैसी ही परिस्थिति मे विवश होकर सत्तनामी विद्रोहियो का एक पृथक् वर्ग भी सगठित हो गया।

---

१ 'नैना अतरि आव तू, ज्यो हौं नैन झपेउ।
ना हौं देखौं और कौं, ना तुझ देखन देंउ ॥१२॥'
—कबीर ग्रथावली, प्रयाग सस्करण, १९६१ ई०, 'साखी' पृ० ७६।
तुलनीय 'अख्युनि मे थी वेहु मा, वारे टखया द।
तोखेन द्रिसे द्रेहु, आऊ न द्रिसा ब्यनिग्ये ॥'

२ शाह लतीफ पर कबीर का प्रभाव, सम्मेलन पत्रिका, स० २००५, पृ० ३१।

रचना-शैली

इसी प्रकार इस युग के संतों की एक अन्य विशेषता उनके द्वारा रचे जानेवाले ग्रंथों की रचना-शैली में भी दीख पड़ी। इनके पहले वाले संत-कवि अपनी रचनाएँ अधिकतर पदों, साखियों अथवा लोक-प्रचलित काव्य-प्रकारों के ही माध्यम द्वारा प्रस्तुत किया करते थे। इस नियम में परिवर्तन लाने की ओर उनका ध्यान नहीं था। परन्तु इस युग की अनेक रचनाएँ हमें दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, अरिल्ल, रेखता तथा कुंडलिया-जैसे रूपों में भी दीख पड़ती हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि इस युग वाले संतों में प्रचार की भावना अधिक तीव्रता के साथ काम करती थी। उन्होंने समय की गति को ध्यान में रखते हुए स्वभावतः उन रचना-शैलियों को भी अपनाना आरंभ कर दिया जो विभिन्न विषयों का वर्णन करने के लिए उस समय लोकप्रिय माध्यम बनती जा रही थीं। इसके सिवाय इस संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय जान पड़ता है कि इस युग के कतिपय संतों ने न केवल पौराणिक ग्रंथों का भाषांतर करने की ही ओर ध्यान दिया, अपितु उनमें से कुछ ने प्रचलित सूफी प्रेमगाथा-साहित्य के आदर्श पर ऐसी कथा-पुस्तकों की भी रचना कर डाली जिन्हें प्रबंध-काव्यों की कोटि तक में गिना जा सकता है।

२. बाबालाली-सम्प्रदाय

चार बाबालाल

पंजाब प्रांत में बाबालाल नामक चार महात्माओं के नाम प्रसिद्ध हैं। रोज साहब के अनुसार इन चारों में से एक 'पिण्ड दादन खाँ' स्थान के निवासी थे। ये सूखी लकड़ी को भी सीसम का हरा-भरा वृक्ष बना डालने के कारण 'टहली बाबा' वा 'टहनी बाबा' कहलाते थे। एक दूसरे का निवास-स्थान भेराम्याली वा भेरा नामक पश्चिमी ग्राम वा ही कोई नगर था। तीसरे का एक मठ अभी तक गुरदासपुर में विद्यमान बतलाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि इसके अनुयायियों की संख्या कुछ-न-कुछ आज भी ठहरायी जा सकती है। परन्तु रोज साहब इन तीनों में से किसी को भी उस बाबालाल से अभिन्न नहीं मानते जिनके साथ शाहजादा दारा शिकोह की प्रसिद्ध बातचीत हुई थी।[1] इस चौथे अर्थात् शाहजादा दाराशिकोह के संपर्क में आनेवाले बाबालाल का मालवा प्रांत के किसी क्षत्री-परिवार का होना कहा जाता है। इनके लिए यह भी बतलाया जाता है कि इनका जन्म सं० १६४८ सन् १५ में हुआ था।[2] कहते हैं कि अपनी आध्यात्मिक पिपासा की शांति

---

१ एच ए रोज : ए ग्लासरी आदि भा २ पृ ११।

२ क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया पृ १४ ।

हैं। इनके वर्ण्य-विषय प्राय वे ही हैं जो सत-साहित्य मे भी पाये जाते हैं। शाह अब्दुल लतीफ भी इसी प्रकार, एक अन्य सूफी कवि थे जो सिंध के निवासी थे। इनका जीवन-काल (स० १७४७-१८०९) था और इनका जन्म हैदराबाद, सिंध जिले के 'हाला' नामक गाँव मे हुआ था जो आजकल इन्ही के नाम पर 'शाह भिट्टाई' कहला कर प्रसिद्ध है। इनका जीवन अत्यत सरल और सादा था। ये अपने यहाँ के सर्वश्रेष्ठ सूफी कवि भी माने जाते है, किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओ पर कबीर साहब का प्रभाव स्पष्ट दीख पडता है। इनके कुछ पद्य तो उनकी साखियो के ठीक अनुवाद के जैसे भी जान पडते हैं। उदाहरण के लिए कबीर साहब की एक साखी है,[1] जो शाह साहब के यहाँ भी पायी जाती है जिसका अभिप्राय है, "मेरी आँखो मे बैठ जाओ ताकि मैं तुझे ढाँप लूँ, न दुनिया तुझे ही देखे, न मैं ही दूसरो को देख सकूँ।' शाह साहब के लिए यह भी कहा जाता है कि इन्होने सभवत कबीर साहब के ही प्रभाव मे आकर अपनी रचनाओ मे 'राम' शब्द तक का प्रयोग किया है।[2]

शासन-विद्रोह

इस युग के सतो की एक विशेषता उनके द्वारा तत्कालीन शासन के विरुद्ध विद्रोह का झडा उठाने की प्रवृत्ति मे भी लक्षित हुई। सिक्खो के छठे गुरु हरगोविंद राय ने, अपने पिता गुरु अर्जुनदेव की नृशसतापूर्ण हत्या के कारण क्षुब्ध होकर मुगल-शासन के विरुद्ध प्रतिशोध की जो प्रतिज्ञा की थी उसका परिणाम उनके अनतर गुरु गोविंद सिंह तथा वीर बदाबहादुर की लडाइयो के रूप मे इसी युग के भीतर दीख पडा। उसका प्रभाव बहुत पीछे तक भी बना रह गया। इसके सिवाय सम्राट् औरगज़ेब के विरुद्ध सत्तनामियो ने भी इस युग के ही अतर्गत अपना विद्रोह आरभ किया। गुरु नानकदेव के शाति तथा सद्भाव प्रचार करनेवाले नानक पथ ने मुगल-शासन के विरुद्ध जिस प्रकार लोहा लेनेवाले युद्ध-निपुण खालसा सिपाहियो का सगठन किया, कदाचित् उसी प्रकार इस काल मे और लगभग वैसी ही परि-स्थिति मे विवश होकर सत्तनामी विद्रोहियो का एक पृथक् वर्ग भी सगठित हो गया।

---

१ 'नैना अतरि आव तू, ज्यो हौं नैन झपेउ ।
ना हौं देखौं और कौं, ना तुझ देखन देउं ॥१२॥'
—कबीर ग्रथावली, प्रयाग सस्करण, १९६१ ई०, 'साखी' पृ० ७६ ।
तुलनीय 'अख्युनि मे थी वेहु मा, थाणे ढ्यया ढ ।
तोखेन द्रिसे द्रेहु, आऊ न द्रिसा ब्यनिग्रे ॥'

२. शाह लतीफ पर कबीर का प्रभाव, सम्मेलन पत्रिका, स० २००५, पृ० ३१।

पेशावर गाधार देहली और सूरत की ओर भी भ्रमण करते फिरे और सब कहीं अपने गठ द्वारा निर्दिष्ट आध्यात्मिक मार्ग का उपदेश देते रहे। इनके कहीं एक स्थान पर अधिक दिनों तक जम कर ठहरने अथवा पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। प्रो कालिकारंजन कानूनगो ने संभवत मार्वा द तासी के आधार पर बतलाया है कि इन्होंने कुछ समय तक सरहिंद वा बटाला के निकट किसी ध्यानपुर नामक स्थान में निवास किया था। वहाँ पर इन्होंने कोई एक आश्रम बनाया था जहाँ पर ये भजन उपदेश किया करते थे।[1] इनके अनुयायियों का विश्वास है कि उच्च कोटि के मानिराज होने के कारण इन्होंने काया सिद्ध कर ली थी जो ३ वर्षों तक बनी रही।

बाबालाल तथा दाराशिकोह

संत बाबालाल के जीवन की सबसे प्रमुख घटना इनका शाहजादा दाराशिकोह के निमंत्रण पर लाहौर आकर उसके साथ आध्यात्मिक विषयों पर वार्तालाप करना समझी जाती है और इसे ऐतिहासिक महत्त्व भी प्रदान किया जा चुका है। इस मिलन का काल साधारणत सं १७२६ सन् १६६९ बतलाया जाता है जो ठीक नहीं जान पड़ता। इतिहास के अनुसार उक्त शाहजादे का उसके भाई औरंगजेब द्वारा सं १७१६ सन् १६५९ में वध करा दिया जाना सिद्ध है। हम अभी अनुमान कर आये हैं कि स्वयं संत बाबालाल का देहांत भी संभवत सं १७१२ वा १७२ में ही हुआ होगा। शाहजादा दाराशिकोह सं १६९७ सन् १६४ में कश्मीर गया था। कहते हैं कि उधर देश भ्रमण करते समय उसने प्रत्येक धर्म के महात्माओं वा ब्रह्मज्ञानियों को बुला कर उनसे उनके दर्शन किये थे और यथाविध उनसे उपदेश भी ग्रहण किये थे। प्रसिद्ध है कि उसी समय के अंत में उसने काशी से कई पंडितों को बुला कर उनकी सहायता से ५ उपनिषदों का फ़ारसी अनुवाद किया था जो २६वीं रमज़ान सन् १ ६७ हि सन् १६५६ ई या सं १७१२ में पूरा हुआ था। इस बात की चर्चा उसने उसकी भूमिका में भी कर दी है।[2] इस अनुवाद का नाम सिर्रे अकबर' (महान रहस्य) रखा गया था। इसके अतिरिक्त उसने एक सूफ़ी धर्म की पुस्तक भी फ़ारसी में लिखी थी जो 'रिसाल-ए-हक़नुमा' नाम से प्रसिद्ध है। इसका रचना-काल हि सन् १ ५९ सन् १६४५ ई सं १७ २ है। इससे पता चलता है कि सं १६८७ में किंवा

---

१ डॉ कालिका रंजन कानूनगो दाराशिकोह, हिंदी अनुवाद आगरा सन् १९५८ ई पृ १५९।

२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका काशी वर्ष ४७ अंक २ पृ १८ -५।

के उद्देश्य से ये अपने जन्म-स्थान से लाहोर की ओर निकल पडे थे तथा
चेतन से दीक्षा ग्रहण की थी। किंतु वावालाली-सम्प्रदाय के अनुयायियो के
इन वावालाल का जन्म स० १४१२ की माघ शुक्ल २ को हुआ था
देहात की तिथि स० १७१२ अथवा १७२० की कार्त्तिक शुक्ल १० थी। इस
इनका ३०० अथवा इससे अधिक वर्षो तक भी जीवित रहना सिद्ध होता है
जन्म-स्थान भी ये लोग कुसूर (कुशपुर) वतलाते है जो लाहोर नगर से
दूर नही है और जो पजाव प्रात मे वर्तमान है। इन्ही वावालाल का ये लो
चेतन वा चैतन्य स्वामी द्वारा कभी दीक्षित होना कहते है तथा इन्ही से दारा
की भेंट भी स्वीकार करते है। उपलब्ध सामग्रियो के आधार पर विचा
समय हमे केवल इसके ३०० वा उससे अधिक वर्षो के सुदीर्घ जीवन-काल
रिक्त किसी अन्य अश के प्रति अविश्वास प्रकट करने का कोई कारण नहं
होता। इस प्रकार अनुमान करने की प्रवृत्ति होती है कि इन वावाल
जन्म समवत उक्त स० १६४७ के आसपास अथवा एक अन्य मत के
स० १६३६ मे हुआ होगा। इन्होने स० १७१२ अथवा स० १७२० व
तिथि मे अपना शरीर-त्याग किया होगा। डॉ० विल्सन ने इनके जन्म का
जहाँगीर के राज्यकाल (स० १६६२-८४ सन् १६०२-५७ ई०) मे किस
होना अनुमान किया है,[1] किंतु इसके आधार का हमे पता नही है। सत वा
की मरण-तिथि के विषय मे कदाचित् मतभेद नही जान पडता, केवल इसवे
१७१२ को कभी-कभी १७२० कर दिया जाता है।

दीक्षा तथा भ्रमण

सत वावालाल की माता का नाम कृष्णा देवी था। इनके पिता
भोलानाथ प्रसिद्ध है। यह भी कहा जाता है कि केवल ८ वर्ष की ही
मे इन्होने कुलधर्मानुसार अध्ययन समाप्त करके धार्मिक जीवन पसद व
था। कहते है कि जव ये १० वर्ष के थे तो इन्हे उत्कट वैराग्य हो गया औ
सद्‌गुरु की खोज मे येतीर्थो मे निकल पडे। ऐसे ही समय लाहोर के समीप
मे वावा चेतन वा चैतन्य स्वामी से ऐरावती नदी के तट पर इनकी भेंट
इसका इनके ऊपर वहुत वडा प्रभाव पडा और समवत उनसे दीक्षि
ये उनके साथ कुछ दिनो तक लाहोर मे ठहर गए। परन्तु प्रसिद्ध है कि कु
वीत जाने पर ये अपने २२ प्रमुख शिष्यो के साथ पजाव के अतिरिक्त, क़ाबुल

---

१ एच० एच० विल्सन ए स्केच ऑफ दि रेलिजस सेक्टस ऑफ दि हिन्दूज
एशियाटिक, पेरिस, सन् १८८२, पृ० २९६।

पेशावर गांधार, देहली और सूरत की ओर भी भ्रमण करते फिरे और सब कहीं अपने गुरु द्वारा निर्दिष्ट आध्यात्मिक मार्ग का उपदेश देते रहे। इनके कहीं एक स्थान पर अधिक दिनों तक जम कर रहने अथवा पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। प्रो॰ कालिकारंजन कानूनगो ने संभवतः मार्गों व साखी के आधार पर बतलाया है कि इन्होंने कुछ समय तक सरहिंद वा बटाला के निकट किसी ध्यानपुर नामक स्थान में निवास किया था। वहाँ पर इन्होंने कोई एक आश्रम बनाया था जहाँ पर ये अपने उप॰ श दिया करते थे।[1] इनके अनुयायियों का विश्वास है कि उच्च कोटि के योगिराज होने के कारण इन्होंने काया सिद्ध कर ली थी जो ३ वर्षों तक बनी रही।

बाबालाल तथा दाराशिकोह

संत बाबालाल के जीवन की सबसे प्रमुख घटना इनका शाहजादा दाराशिकोह के निमंत्रण पर लाहौर जाकर उसके साथ आध्यात्मिक विषयों पर वार्तालाप करना समझी जाती है और इसे ऐतिहासिक महत्त्व भी प्रदान किया जा चुका है। इस मिलन का काल साधारणतः सं॰ १७२६ सन् १६६९ बतलाया जाता है जो ठीक नहीं जान पड़ता। इतिहास के अनुसार उक्त शाहजादे का उसके भाई औरंगजेब द्वारा सं॰ १७१६ सन् १६५९ में वध करा दिया जाना सिद्ध है। हम अभी अनुमान कर आये हैं कि स्वयं संत बाबालाल का देहांत भी संभवतः सं॰ १७१२ वा १७२ में ही हुआ होगा। शाहजादा दाराशिकोह सं॰ १६९७ सन् १६४ में कश्मीर गया था। कहते हैं कि उधर देश-भ्रमण करते समय उसने प्रत्येक धर्म के महात्माओं का ब्रह्मज्ञानियों को बुला कर उसने उनके दर्शन किये थे और कदाचित् उनसे उपदेश भी ग्रहण किये थे। प्रसिद्ध है कि उसी समय के अंत में उसने काशी से कई पंडितों को बुला कर उनकी सहायता से ५ उपनिषदों का फ़ारसी अनुवाद किया था जो २६वीं रमजान सन् १ ६७हि॰ सन् १६५६ ई॰ वा सं॰ १७१२ में पूरा हुआ था। इस बात की चर्चा उसने उसकी भूमिका में भी कर दी है।[2] इस अनुवाद का नाम 'सिर्र अकबर' (महान रहस्य) रखा गया था। इसके अतिरिक्त उसने एक सूफी धर्म की पुस्तक भी फ़ारसी में लिखी थी जो 'रिसाल-ए-हक़नुमा' नाम से प्रसिद्ध है। इसका रचना-काल हि॰ सन् १ ५६ सन् १६४५ ई॰ सं॰ १७ २ है। इससे पता चलता है कि सं॰ १६८७ से लेकर

---

१ डॉ॰ कालिका रंजन कानूनगो दाराशिकोह, हिंदी अनुवाद आगरा सन् १९५८ ई॰ पृ॰ १५९।

२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका काशी वर्ष ४७ अंक २ पृ॰ १८०-५।

स० १७१३ तक का समय उक्त भेंट के लिए अधिक उपयुक्त रहा होगा। विल्सन साहब के अनुसार इन दोनो के बीच सात सत्सग हुए थे। इन्हे दाराशिकोह के दो लिपिको अर्थात् यदुदास नामक क्षत्रिय तथा मीर मुशी रामचन्द्र ब्राह्मण अथवा रायचन्द्रभान ने लिपिबद्ध किया था। इस सबध मे यह भी कहा जाता है कि यह बातचीत शाहजहाँ बादशाह के शासन-काल के २१वें वर्ष अर्थात् स० १७०६ सन् १६४९ ई० मे जाफर खाँ के बाग मे हुई थी।[1] परन्तु अधिक सभव है कि स० १७०६ सन् १६४९ ई० मे दिल्ली मे ठहरते समय बाबालाल ने दाराशिकोह को सर्वप्रथम आकृष्ट किया होगा। इन दोनो का प्रत्यक्ष मिलन इसके ४ वर्ष पीछे लाहोर मे हुआ होगा, जब शाहजादा कदहार से हार कर उस ओर से लौटा होगा। स० १७१० सन् १६५३ मे वहाँ पर सत बाबालाल कोटल मेहरा मे निवास कर रहे होगे। जहाँ तक इन दोनो के सात वार्त्तालापो का प्रश्न है, इनमे से प्रथम जाफर खाँ के बाग मे हुआ, दूसरा बादशाही बाग के सराय अनवर महल मे हुआ, तीसरा घनबाई के बाग मे हुआ और वही पर छठा भी हुआ। चौथा शाहगज के निकट आसफ खाँ के महल मे हुआ, पाँचवाँ निकलानपुर के निकट गावान के शिकार-गाह मे हुआ और सातवाँ जो तीन दिनो तक चला किसी गुप्त स्थान पर हुआ।[2] इस गुप्त स्थान को ही कदाचित् रायचन्द्रभान का मकान बतलाया गया है। वहाँ किये गए वार्त्तालाप के समय के एकाध चित्र भी बना लिये गए है जो आज तक उपलब्ध है। इन दोनो के प्रश्नोत्तर 'असरारे मार्फत' नामक एक फारसी ग्रथ मे सगृहीत है जो स० १९६९ मे लाहोर से प्रकाशित हो चुका है।[3] इनका एक सग्रह 'नादिरुन्निकात' नाम से भी पाया जाता है जो वस्तुत रायचन्द्रभान द्वारा किया गया उसी का फारसी अनुवाद समझा जाता है।

आध्यात्मिक सिद्धात

सत बाबालाल की रचना के नाम से कतिपय फुटकर दोहे वा साखी आदि प्रचलित हैं, किंतु इनका कोई प्रामाणिक सग्रह नही मिलता। इस कारण इनके सिद्धातो का प्रसग आने पर हमे अधिकतर इनके उक्त वार्त्तालाप के ही ऊपर आश्रित रहना पडता है। इन्होने अपनी इस आध्यात्मिक बातचीत के समय वेदात-मत के साथ-साथ मौलाना रूम-जैसे कुछ सूफियो के वचनो को भी उद्धृत किया है जिससे इनके

---

१ हिन्दू रिलिजस सेक्ट्स, पृ० ३५०।

२ विक्रमाजीत हसरत दाराशिकूह, लाइफ ऐंड वर्क्स, विश्वभारती, पृ० २४१-२।

३ कल्याण, गोरखपुर, 'सत अक', पृ०, ५१३।

व्यापक ज्ञान का पता चलता है। संत बाबालाल विशुद्ध एकेश्वरवादी जान पड़ते हैं। इन्होंने राम वा हरि के रूप में सभी धर्मों के उपास्यदेव परमात्मा को स्वीकार किया है। इनका मत कबीर साहब तथा दादूदयाल-जैसे संतों की विचार-धारा से कोई पृथक मार्ग ग्रहण करता नहीं जान पड़ता यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि उस पर वेदांत-मत तथा सूफी-मत का प्रभाव कहीं अधिक स्पष्ट है। दाराशिकोह ने तो इनका 'मुंडिया' और कबीर-मार्गी होना ही बतलाया है। इनका कहना है कि परमात्मा एक अपूर्व आनंद सागर के समान है और प्रत्येक जीव उसकी एक बिंदु के रूप में वर्तमान है। उसके वियोग के अनुभव का एकमात्र कारण हमारी 'अहंता' है जिसके साधना द्वारा नष्ट हो जाते ही हमें एकता की अनुभूति आप-से-आप होने लगती है। दाराशिकोह के प्रश्न करने पर कि 'जीवात्मा तथा परमात्मा में क्या अंतर है?' इन्होंने बतलाया है कि कोई अंतर नहीं है क्योंकि जीवात्मा के सुख-दुख उसके बंधन के कारण हैं जो शरीर-धारण से संभव हुआ है। गंगा नदी का जल एक ही है चाहे वह नदी की घाटी से होकर बहे चाहे किसी पात्र में बंद रहे अंतर का प्रश्न केवल तब आता है जब हम देखते हैं कि शराब की एक बूँद भी पात्र वाले जल को दूषित कर देती है, जहाँ नदी में पड़ने पर उसका कहीं पता नहीं चल पाता। इस प्रकार परमात्मा सभी प्रभावों से दूर है जहाँ जीवात्मा इन्द्रियों के कार्यों तथा मोहादि के द्वारा प्रभावित हो जाया करता है। संत बाबालाल ने प्रकृति तथा सृष्टि के विषय में भी कहा है कि इन दोनों का संबंध बीज तथा वृक्ष अथवा समुद्र तथा तरंग का जैसा है। दोनों तत्त्वतः एक ही हैं किंतु प्रकृति से सृष्टि रूप में विकसित होने के लिए किसी कारण की भी अपेक्षा हुआ करती है जो उस दशा में आवश्यक नहीं है।

उपयुक्त साधना

संत बाबालाल की साधना के अंतर्गत शम दम चित्तशुद्धि दया परोपकार, सहज-भाव तथा सत्य-दृष्टि-जैसी बातें आती हैं। इनकी सहायता अथवा अभ्यास द्वारा अहंता का नाश बड़ी सरलता से साध लिया जा सकता है। इसी प्रकार, भक्ति तथा प्रेम की शक्ति द्वारा हम यदि चाहें तो भगवान् की प्राप्ति भी कर सकते हैं। सभी साधनाओं का लक्ष्य अपने जीवन का परमात्मा के प्रेम में आत्मसात कर देना है किंतु हम उस प्रकार की कोई उपयुक्त परिभाषा नहीं दे सकते। वैराग्य वा विरक्ति से इनका अभिप्राय भोजन-वस्त्रादि का त्याग कर देना वा अपने शरीर को किसी प्रकार कष्ट पहुँचाना कभी नहीं था। इनके अनुसार इन सभी की विस्मृति अथवा इनके मोह का त्याग ही वास्तविक वैराग्य होगा। ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति तथा परोपकार इनके मत के दो ऐसे अंग हैं जिनकी ओर इन्होंने विशेष ध्यान दिया है और दूसरों से भी दिलाया है। इन्होंने मूर्ति-पूजा अवतारवाद वा अन्य ऐसी

वातो के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की है और योग-साधना को विशेष महत्त्व दिया है। इनके अनुसार साधु का परम कर्तव्य श्रद्धा तथा वैराग्य के साथ अपना जीवन व्यतीत करना है। इन्होने यह भी कहा है, "जिसे ब्रह्म मे पूरी आस्था हो गई वह चाहे मौन धारण करे वा गीत गाये एक ही बात होगी। उसे बराबर उन्मनी की खुमारी लगी रहती है। शब्द तथा सुरत दोनो एक ही तार मे जुडे बने रहा करते हैं। आत्मोपलब्धि हो जाने पर न तो वह घर मे रहता है, न वन मे ही जाया करता है, "जो किसी प्रकार की आशा से रहित है और आत्मा को शून्य की स्थिति मे रखता है उसे न तो कोई भ्रम रहता है, न पुण्य-पाप।" अपने शरीर के भीतर श्वास है और श्वास के भीतर जीव का निवास है, जिसमे वासना है उस जीव को प्रियतम कैसे मिल सकता है ?"[1]

प्रचार-केन्द्र

सत बाबालाल के अनुयायी पश्चिमी पाकिस्तान की ओर अच्छी सख्या मे हैं। ये बडौदा के निकट भी पाये जाते हैं तथा वहाँ पर इनका एक मठ वर्तमान है जिसे 'बाबालाल का शैल' कहा जाता है। परन्तु इनका सर्वप्रमुख केन्द्र पजाब प्रात के अतर्गत गुरुदासपुर जिले का ध्यानपुर नामक स्थान है जो सरहिंद के निकट पडता है। वहाँ पर इनके मठ और मदिर हैं, जहाँ सत बाबालाल की समाधि पर प्रतिवर्ष वैशाख मास की १० तथा विजयादशमी के दिन मेले लगा करते हैं। बाबा-लाली अपने ललाट पर गोपीचदन धारण करते तथा राम को अपना इष्टदेव स्वीकार करते हैं। किंतु अवतारवाद को नही मानते और साख्य के विकासवाद का समर्थन करते हैं।[2]

३ प्राणनाथी वा प्रणामी-सम्प्रदाय

श्री देवचन्द्र वा देवचन्द्राचार्य

प्राणनाथी वा प्रणामी सप्रदाय के प्रमुख प्रवर्त्तक सत प्राणनाथ कहे जाते

---

१ "जाके अतर ब्रह्म प्रतीत, धरै मौन भावै गावै गीत।
निसदिन उनमन रहत खुमार, शब्दसुरत जुड एकोतार।
ना गृह रहे न वन को जाय, लालदयाल सुखआतम पाय॥"
"जिहकी आशा कछु नहीं, आतम राखै शून्य।
तिनको कछु नहीं भरमणा, लागै पाप न पुन्य॥"
"देहा भीतर श्वास है, श्वासे भीतर जीव।
जाके अतर वासना, किस विध पावै पीव॥"
—कल्याण, गोरखपुर, 'सत अक' पृ० ५१४ पर उद्धत।

२ दाराशिकूह : लाइफ ऐंड वर्क्स, पृ० २४०।

है। इसका मूल प्रवर्त्तन श्री देवचन्द्रजी वा देवचन्द्राचार्य द्वारा किया गया समझा जाता है जो इसके गुरु तथा पथ-प्रदर्शक रह चुके थे। श्री देवचन्द्रजी का जन्म मारवाड़ प्रदेश के 'उमरकोट' नामक गाँव में सं० १६३८ की आश्विन शुक्ल १४ को हुआ था। इनके पिता का नाम मत्तू मेहता था तथा इनकी माता कुँवर बाई के नाम से प्रसिद्ध थी।[१] मेहता के इस परिवार को कायस्थ-परिवार बतलाया गया है। कहा गया है कि मत्तू मेहता एक धनी व्यापारी भी थे। कुँवर बाई एक धर्मपरायण महिला थी। इस कारण उनका बहुत बड़ा प्रभाव बालक देवचन्द्र पर भी पड़ा। उसके बचपन से ही अपने हृदय में धार्मिक प्रवृत्ति जागृत होने लग गई। कहते हैं कि अपनी केवल ११ वर्ष की अवस्था में जब ये एक बार अपने पिता के साथ कच्छ गये हुए थे इनकी भेंट वहाँ के हरिदास गोसाईं से हो गई। इनसे ये बहुत प्रभावित हुए और इन्होंने उनकी शिष्यता तक स्वीकार कर ली। अपने पिता के साथ वहाँ से लौट आने पर फिर एक बार इन्होंने उनके दर्शन ओमनगर में किये। इस समय इनकी आध्यात्मिक पिपासा और भी बढ़ गई। ये लगभग तीन वर्षों तक अनेक धर्म-ग्रंथों का अध्ययन करते रहे और पीछे अपने गृह तक का इन्होंने त्याग कर दिया। ये कच्छ प्रदेश में जाकर वहाँ पर विभिन्न धर्मों के विद्वानों के साथ सत्संग करने लगे। मूर्तिपूजा तथा तपस्यादि की ओर से क्रमशः श्रद्धा में कमी आने लगी। उच्च कोटि के मौलवियों के साथ वार्त्तालाप करने पर भी इन्हें कोई समाधान नहीं हुआ। विभिन्न धर्म-ग्रंथों का तुलनात्मक अनुशीलन करने पर इनके विचारों में कुछ परिवर्तन अवश्य आया। किंतु जब ये एक बार फिर हरिदास जी के निकट पहुँचे तो इन्होंने उनसे उनके राधावल्लभी सम्प्रदाय की विधिवत् दीक्षा ग्रहण कर ली। तदनुसार इन्होंने वहाँ पर अपने सहधर्मियों के साथ भी बालकृष्ण की उपासना तथा सखी-भाव को भी स्वीकार कर लिया। इधर इनके माता पिता इन्हें ढूँढ़ते हुए वहाँ पहुँचे। उन्होंने इन्हें वहाँ से घर लाकर इनका विवाह भी कर दिया किंतु इनका मन यहाँ नहीं रम सका। ये फिर वहाँ वापस चले गये और 'श्रीमद्भागवत पुराण' का गंभीर अध्ययन करने लगे। इससे इनके मन में स्थिरता आयी। कहते हैं कि अपनी ४० वर्ष की अवस्था में इन्हें अंतिम रूप से बोध

---

१ "संवत् सोला सैं अड़तीसे आसो सुद चौदसजों।
जनम दिन श्री देवचंदजी आये प्रगटे मारवाड़ में
तामें गाँव उमर कोट मत्तू मेहता घर अवतार।
माताजी कुँवर बाई।" आदि
—हिंदी अनुशीलन, प्रयाग अक्तूबर-दिसंबर, १९५७ ई० पृ० १।

वातो के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की है और योग-साधना को विशेष महत्त्व दिया है। इनके अनुसार साधु का परम कर्त्तव्य श्रद्धा तथा वैराग्य के साथ अपना जीवन व्यतीत करना है। इन्होने यह भी कहा है, "जिसे ब्रह्म मे पूरी आस्था हो गई वह चाहे मौन धारण करे वा गीत गाये एक ही बात होगी। उसे बराबर उन्मनी की खुमारी लगी रहती है। शब्द तथा सुरत दोनो एक ही तार मे जुडे बने रहा करते है। आत्मोपलब्धि हो जाने पर न तो वह घर मे रहता है, न वन मे ही जाया करता है, "जो किसी प्रकार की आशा से रहित है और आत्मा को शून्य की स्थिति मे रखता है उसे न तो कोई भ्रम रहता है, न पुण्य-पाप।" अपने शरीर के भीतर श्वास है और श्वास के भीतर जीव का निवास है, जिसमे वासना है उस जीव को प्रियतम कैसे मिल सकता है ?"[1]

प्रचार-केन्द्र

सत बाबालाल के अनुयायी पश्चिमी पाकिस्तान की ओर अच्छी सख्या मे हैं। ये बडौदा के निकट भी पाये जाते हैं तथा वहाँ पर इनका एक मठ वर्तमान है जिसे 'बाबालाल का शैल' कहा जाता है। परन्तु इनका सर्वप्रमुख केन्द्र पजाब प्रात के अतर्गत गुरुदासपुर जिले का ध्यानपुर नामक स्थान है जो सरहिंद के निकट पडता है। वहाँ पर इनके मठ और मदिर हैं, जहाँ सत बाबालाल की समाधि पर प्रतिवर्ष वैशाख मास की १० तथा विजयादशमी के दिन मेले लगा करते है। बाबा-लाली अपने ललाट पर गोपीचदन धारण करते तथा राम को अपना इष्टदेव स्वीकार करते हैं। किंतु अवतारवाद को नही मानते और साख्य के विकासवाद का समर्थन करते है।[2]

३ प्राणनाथी वा प्रणामी-सम्प्रदाय

श्री देवचन्द्र वा देवचन्द्राचार्य

प्राणनाथी वा प्रणामी सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्त्तक सत प्राणनाथ कहे जाते

---

१ "जाके अतर ब्रह्म प्रतीत, धरै मौन भावै गावै गीत।
निसदिन उनमन रहत खुमार, शब्दसुरत जुड एकोतार।
ना गृह रहे न बन को जाय, लालदयाल सुखआतम पाय॥"
"जिहकी आशा कछु नहीं, आतम राखै शून्य।
तिनको कछु नहीं भरमणा, लागै पाप न पुन्य॥"
"देहा भीतर श्वास है, श्वासे भीतर जीव।
जाके अतर वासना, किस विध पावै पीव॥"
—कल्याण, गोरखपुर, 'सत अक' पृ० ५१४ पर उद्धत।

२ दाराशिकोह : लाइफ ऐंड वर्क्स, पृ० २४०।

हैं। इसका मूल प्रवर्तन श्री देवचन्द्रजी वा देवचन्द्राचार्य द्वारा किया गया समझा जाता है जो इनके गुरु तथा पथ-प्रदर्शक रह चुके थे। श्री देवचन्द्रजी का जन्म मारवाड़ प्रदेश के 'उमरकोट' नामक गाँव में सं० १६३८ की आश्विन शुक्ल १४ को हुआ था। इनके पिता का नाम मतू मेहता था तथा इनकी माता कुँवर बाई के नाम से प्रसिद्ध थी।[१] मेहता के इस परिवार को कायस्थ-परिवार बतलाया गया है। कहा गया है कि मतू मेहता एक धनी व्यापारी भी थे। कुँवर बाई एक धर्मपरायण महिला थी। इस कारण उनका बहुत बड़ा प्रभाव बालक देवचन्द्र पर भी पड़ा। उनमें बचपन से ही अपने हृदय में धार्मिक प्रवृत्ति जागृत होने लग गई। कहते हैं कि अपनी केवल ११ वर्ष की अवस्था में जब ये एक बार अपने पिता के साथ कच्छ गये हुए थे इनकी भेंट वहाँ के हरिदास गोसाईं से हो गई। इससे ये बहुत प्रभावित हुए और इन्होंने उनकी शिष्यता तक स्वीकार कर ली। अपने पिता के साथ वहाँ से लौट भाम पर फिर एक बार इन्होंने उनके दर्शन भोजनगर में किये। इस समय इनकी आध्यात्मिक पिपासा और भी बढ़ गई। ये लगभग तीन वर्षों तक अनेक धर्म-ग्रंथों का अध्ययन करते रहे और पीछे अपने गृह तक का इन्होंने त्याग कर दिया। ये कच्छ प्रदेश में जाकर वहाँ पर विभिन्न धर्मों के विद्वानों के साथ सत्संग करने लगे। मूर्तिपूजा तथा तपस्यादि की ओर से क्रमशः श्रद्धा में कमी आने लगी। उच्च कोटि के मौलवियों के साथ वार्त्तालाप करने पर भी इन्हें कोई समाधान नहीं हुआ। विभिन्न धर्म-ग्रंथों का तुलनात्मक अनुशीलन करने पर इनके विचारों में कुछ परिवर्तन अवश्य आया। किंतु जब ये एक बार फिर हरिदास जी के निकट पहुँचे तो इन्होंने उनसे उनके राधावल्लभी सम्प्रदाय की विधिवत् दीक्षा ग्रहण कर ली। तदनुसार इन्होंने वहाँ पर अपने सहधर्मियों के साथ श्री बालकृष्ण की उपासना तथा सखी-भाव को भी स्वीकार कर लिया। इधर इनके माता पिता इन्हें ढूँढ़ते हुए वहाँ पहुँचे। उन्होंने इन्हें वहाँ से घर लाकर इनका विवाह भी कर दिया किंतु इनका मन वहाँ नहीं रम सका। ये फिर वहाँ वापस चले गये और श्रीमद्भागवत पुराण का गंभीर अध्ययन करने लगे। इससे इनके मन में स्थिरता आयी। कहते हैं कि अपनी ४० वर्ष की अवस्था में इन्हें अन्तिम रूप से बोध

१ "संवत् सोला सें अड़तीसे आसो सुद चौदसवीं।
जनम दिन श्री देवचंदजी आये प्रगटे मारवाड़ में
तामें गाँव उमर कोट मतू मेहता घर अवतार।
माताजी कंवर बाई।" आदि
—हिंदी अनुशीलन प्रयाग अक्टूबर-दिसंबर १९५७ ई० पृ० १०।

हो गया। इन्होंने अपने 'निजानद-सम्प्रदाय' की सृष्टि की। इनके प्रथम शिष्य कोई गाँगजी भाई थे। प्राणनाथ इनसे पीछे दीक्षित हुए। इनकी मृत्यु भाद्रपद शुक्ल १४ बुधवार स० १७१२ को हुई।

प्राणनाथ : प्रारभिक जीवन

सत प्राणनाथ का जन्म काठियावाड प्रदेश के जामनगर नामक स्थान अथवा लालदास रचित 'बीतक' ग्रथ के अनुसार 'हल्लार देश की नौतनपुरी' मे स० १६७५ की भाद्रपद कृष्ण १४ रविवार के दिन चढते पहर मे हुआ था। इनके पिता का नाम केशव ठाकुर था और इनकी माता धनबाई थी। स्वय इनका बचपन वाला नाम 'मेहेराज' (मिहिर राज) रामठाकुर था।[1] इनकी प्रारभिक शिक्षा के सबध मे प्राय कुछ भी पता नही चलता। 'बीतक' मे कहा गया है कि जब ये केवल १२ वर्ष और कुछ महीनो के थे, स० १६८७ की अगहन शुक्ल ९ को नौतनपुरी मे इन्होंने देवचन्द्रजी के दर्शन किये। उन्होंने इन्हें 'तारतम्य मत्र' दे दिया। मेहेराज के तीन बडे भाई स्यामल, गोवर्धन और हरवश नाम के थे। इनका एक छोटा भाई ऊधव भी था। इनमे से गोबर्धन देवचन्द्रजी के परम भक्त थे। उन्ही के साथ मे ये पहले-पहल उनके दर्शनों के लिए गये हुए थे। कहते हैं कि ये देवचन्द्रजी द्वारा बहुत प्रभावित हो गए। इनके प्रति उनके भी आकृष्ट हो जाने के कारण दोनो मे गुरु-शिष्य का सबध स्थापित हो गया। इन्होंने उनके निकट बैठ कर उनके सिद्धातो को मनोयोगपूर्वक श्रवण किया। सभवत उन्ही के द्वारा वेदादि ग्रथ भी पढ लिये। अपने बडे भाई गोबर्धन की स० १७०० मे मृत्यु हो जाने पर इनका ब्रह्म-विद्या तथा साधनाओ मे अधिक रत हो जाना कहा गया है। यह भी बतलाया गया है कि इसके कारण इनका शरीर भी क्रमश क्षीण होने लग गया।

देश-भ्रमण तथा प्रचार-कार्य

कहते हैं कि ऐसे ही अवसर पर इनके गुरु ने अपने प्रथम शिष्य गाँगजी भाई के अनुज खेताभाई का कुशल-समाचार लाने के लिए इन्हे स० १७०३ मे 'बरारब' अर्थात् अरब देश भेज दिया जहाँ पर ये ४ वर्षो तक रह गए। वहाँ पर खेताभाई के मर जाने पर इन्होंने उनका माल-असबाब देवचन्द्रजी के पुत्र बिहारीजी को सौंप दिया और नौतनपुरी लौट आये। यहाँ आने पर ये धौलपुर के राज्य मे नौकरी

---

१ "सवत् सोले से पचहत्तरा, भादो वदीचौदास नाम।
पोहोर दिन वार रवी, प्रगटे धनी श्री धाम॥
हल्लार देस पुरीनौतम, उदर बाई धन॥
केस्मेठाकुर कहियत पिता माता बाई धन॥"—हिं० अ०, पृ० ११।

करने लगे। सं० १७१ से सं० १७१२ तक इन्होंने दीवानी का काम योग्यता से सँभाला। कहते हैं कि सं० १७१२ में अपने गुरु का देहांत हो जाने पर इन्होंने उनके पुत्र बिहारीजी को उनकी गद्दी पर बिठला दिया था। अपने पिता की मृत्यु हो जाने पर इनका कुछ दिनों तक जामनगर के प्रधान मंत्री के रूप में काम करना भी कहा गया है। यहाँ पर इन्हें कुछ लोगों द्वारा चुगली किये जाने पर कुछ काल के लिए बंदीगृह में[1] भी रहना पड़ा। वहाँ इन्होंने संभवत सं० १७१२ में अनेक वानियाँ भी रच डाली। सं० १७१६ में ये जूनागढ़ गये और वहाँ पर दो वर्ष तक रह कर लौट आये। सं० १७२ में ये 'श्याम फकीर' के साथ गुजरात भी गये। वहाँ अहमदाबाद से ये पोरबंदर, कच्छ सिंध के ठट्ठ आदि अनेक स्थानों में भ्रमण करते रहे। इन्होंने ठट्ठ में रहते समय किसी चिंतामन नामक कबीर-पंथी साधु को शास्त्रार्थ में पराजित करके उसे अपना शिष्य बनाया। इसी प्रकार इन्होंने फारस की खाड़ी में स्थित बंदर अब्बास राजस्थान मध्य तथा उत्तरी भारत की भी यात्राएँ कीं और सब कहीं अपने गुरु के उपदेशों का प्रचार किया। कहते हैं कि बिहारीजी रूढ़िवादी थे जिस कारण उनके साथ इनके विचारों का पूरा मेल नहीं बैठ सका। ये बराबर अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार ही देश-भ्रमण करते तथा बीच-बीच में अपने ग्रंथों की रचना करते रहे। इन्होंने अपनी सूरत वाली यात्रा के समय सं० १७२९ में किसी समय 'कलश-ग्रंथ' को पूरा किया। इन्हें भ्रमण करते समय ही किसी दिन प्रात काल एक मुल्ला की बाँग सुन कर 'कलमा' और 'तारतम्य मंत्र' में ऐक्य का आभास मिला। इन्होंने उससे प्रेरणा पाकर इस संबंध में बादशाह औरंगजेब के साथ पत्र-व्यवहार करने का संकल्प भी किया। इन्होंने लालदास के साथ 'रात दिन परिश्रम' करके उसे भेजने के लिए एक 'हिंदवी' का पत्र भी तैयार किया किंतु वह उस समय नहीं जा सका। इनका राजा जसवंत सिंह तथा राजसिंह के साथ पत्र-व्यवहार करना भी प्रसिद्ध है किंतु इसका कोई ठोस परिणाम नहीं निकल सका। कहा जाता है कि सं० १७३५ में इन्होंने हरद्वार के कुंभ मेले में विभिन्न सम्प्रदायों के पंडितों को शास्त्रार्थ में हरा दिया और वहीं 'निष्कलंक बुद्ध' की पदवी भी प्राप्त की।[2] इन्होंने अपनी अनूपशहर की यात्रा में 'सनंध' ग्रंथ की रचना की जिसमें 'श्रीमद्भागवत' के माध्यम से 'कुरान' की नवीन व्याख्या की गई। गुजराती में रचे गए 'कलश' तथा 'प्रकाश' नामक ग्रंथों का हिंदी में भाषांतर भी किया गया। इसी प्रकार देश-भ्रमण करते

---

१ इस कारावास को प्रणामी-सम्प्रदाय के अनुयायी 'प्रमोदा पुरी' नाम से अभिहित करते हैं। —लेखक

२ हिंदी अनुशीलन पृ० १५।

ही एक बार ये बुदेलखड भी पहुँचे। वहाँ के किसी जगल मे मऊ के निकट इनकी भेंट प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल से हो गई। इस घटना का समय, प्रणामी-सम्प्रदाय के ग्रथो मे स० १७४० दिया गया मिलता है, किन्तु जो महाराज ने पन्ना मे स० १७३२ रूप मे है।[1] महाराज छत्रसाल के लिए इन्होने पन्ना के समीप कही पर हीरे की किसी खान का भी पता दिया और इन्हे प्रभावित किया। स० १७४४ मे सत प्राणनाथ चित्रकूट पधारे और वहाँ पर इन्होने अपनी अतिम बानी रची। अत मे इनका देहात स० १७५१ की श्रावण कृष्ण ३ को रात की पिछली दो घडी रहते हो गया, जब इनकी आयु के ७५ वर्ष और लगभग ९ महीने हो चुके थे।

प्राणनाथ की रचनाएँ

सत प्राणनाथ द्वारा रचे गए छोटे-बडे ग्रथो की सख्या १४ बतलायी जाती है। इन सभी का एक विशाल सग्रह 'कुलजम स्वरूप' नाम से प्रसिद्ध है जो लगभग १८ हजार चौपाइयो के एक सहस्र पृष्ठो मे पूरा हुआ कहा जाता है। इसका एक अन्य नाम 'तारतम्य सागर' भी है। प्रणामी-सम्प्रदाय के अनुयायी इसे अपना 'आराध्य ग्रथ' मानते हैं। इसकी एक-न-एक हस्तलिखित प्रति प्रत्येक प्रणामी मदिर मे पूजा के लिए सुरक्षित भी पायी जाती है। इसके सम्यक् अध्ययन और अध्यापन के लिए महाराज छत्रसाल द्वारा निर्मित पन्ना के 'धामी मदिर' मे एक 'प्रणामी पाठशाला' की भी व्यवस्था की गई है। इसमे प्रवेश पाकर सम्प्रदाय के विद्यार्थी कई वर्षो तक इस ग्रथ का अनुशीलन करते हैं। 'कुलजम-स्वरूप' का अर्थ प्राणनाथजी की उन बानियो का पूर्ण सग्रह (कुलजम) समझा जाता है जिनमें उनका वास्तविक स्वरूप सुरक्षित है।[2] इसमे सगृहीत सभी ग्रथो की भाषा एक समान नही है, प्रत्युत उनमे से कुछ हिंदी, कुछ गुजराती, कुछ सिंधी तथा अन्य मे मिश्रित भाषा दीख पडती है। उनमे प्राय सब कही फारसी अथवा अरबी भाषा का भी प्रभाव लक्षित होता है। इसका एक सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

क्रमसख्या	पुस्तक नाम	आकार	भाषादि
१	रासग्रथ	१०१० चौपाई	गुजराती
२	(क) प्रकाश	११७६ "	गुजराती
	(ख) प्रकाश	११७६ "	हिंदी (खडी-ब्रज)

१ "सवत् सत्रह से इक्यावना, सावन बदी चौथ में।
रात पिछली घडी दोयमें, आया फिरस्ता धाम मे॥"—वहीं पर उद्धृत।

२ हिंदी साहित्य कोश, भाग २, प्रयाग, स० २०२०, पृ० ९१।

३	षट रितु	२३	गुजराती
४	(क) कलस	७६८	गुजराती
	(ख) कलस	७६८	हिंदी (खड़ी-ब्रज)
५	सनंध	१६०१ "	हिंदी (खड़ी-अरबी)
६	किरंतन	२१ ३ "	हिंदी (खड़ी-ब्रज)
७	खुलासा	१ ११	हिंदी (खड़ी-फ़ारसी)
८.	खिल्वत	१ ९४ "	हिंदी (खड़ी)
९.	परिकरमा	२४८४ "	हिंदी (खड़ी ब्रज)
१	सागर	११२८	हिंदी-फारसी
११	सिंगार	२२ ९	हिंदी (खड़ी)
१२	सिंधी भाषा की चौपाई	५९९ "	सिंधी और कुछ हिंदी अनुवाद
१३	मारफत	१ ३४	हिंदी (खड़ी) फ़ारसी
१४	(क) क़्यामतनामा (छोटा)	११७	हिंदी (खड़ी) फ़ारसी
१५	(ख) क़्यामतनामा (बड़ा)	११७ "	हिंदी (खड़ी) फ़ारसी

कहते हैं कि समय-समय पर संत प्राणनाथ के मुख से जो बानी निकलती गई उसे इनके शिष्य लिखते गए। अंत में इनका देहांत हो जाने के दो मास अनंतर अर्थात् सं० १७५१ में ही पन्ना में रह कर इनके एक शिष्य केशोदास ने सबका संकलन करके उन्हें 'वर्तमान' रूप प्रदान कर दिया। इसकी प्रतियों में 'रास' के साथ 'मंजीर' 'प्रकास' के साथ 'तंबूर' और 'कलस' के साथ 'तौरेत' शब्द भी लगे पाए जाते हैं। साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार इन तीनों ग्रंथों में क्रमशः ईसाइयों यहूदियों तथा दाऊद के अनुयायियों के धार्मिक सिद्धांत मिलते हैं।[1] इन रचनाओं के रचना-काल का पता लगाने पर विदित होता है कि 'रास' नामक ग्रंथ सर्वप्रथम सं० १७१२ में रचा गया था किंतु वह सं० १७३१ में पूरा हुआ। 'बेहद बानी' की रचना सं० १७२२ में हुई थी 'कलस' वा 'कलश' ग्रंथ सं० १७२९ में निर्मित हुआ था। 'सनंध' सं० १७३५ ६ की रचना समझ पड़ता है। क़्यामतनामा' का निर्माण सं० १७४४ में हुआ था। 'खुलासा' 'खिल्वत' 'मारफत' 'सागर' आदि ग्रंथ सं० १७४०-५१ में कभी रचे गए थे। इन सभी के विषयों का स्पष्ट तथा यथेष्ट विवरण उपलब्ध नहीं है।

---

१ 'सम्मेलन पत्रिका' प्रयाग पृ० ९।

ही एक बार ये बुंदेलखंड भी पहुँचे। वहाँ के किसी जगल मे मऊ के निकट इनकी भेंट प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल से हो गई। इस घटना का समय, प्रणामी-सम्प्रदाय के ग्रथो मे स० १७४० दिया गया मिलता है, किंतु जो महाराज ने पन्नो मे स० १७३२ रूप मे है।[1] महाराज छत्रसाल के लिए इन्होने पन्ना के समीप कही पर हीरे की किसी खान का भी पता दिया और इन्हे प्रभावित किया। स० १७४४ मे सत प्राणनाथ चित्रकूट पधारे और वहाँ पर इन्होने अपनी अतिम बानी रची। अत मे इनका देहात स० १७५१ की श्रावण कृष्ण ३ को रात की पिछली दो घडी रहते हो गया, जब इनकी आयु के ७५ वर्ष और लगभग ९ महीने हो चुके थे।

प्राणनाथ की रचनाएँ

सत प्राणनाथ द्वारा रचे गए छोटे-बडे ग्रथो की सख्या १४ बतलायी जाती है। इन सभी का एक विशाल सग्रह 'कुलजम स्वरूप' नाम से प्रसिद्ध है जो लगभग १८ हजार चौपाइयो के एक सहस्र पृष्ठो मे पूरा हुआ कहा जाता है। इसका एक अन्य नाम 'तारतम्य सागर' भी है। प्रणामी-सम्प्रदाय के अनुयायी इसे अपना 'आराध्य ग्रथ' मानते हैं। इसकी एक-न-एक हस्तलिखित प्रति प्रत्येक प्रणामी मदिर मे पूजा के लिए सुरक्षित भी पायी जाती है। इसके सम्यक् अध्ययन और अध्यापन के लिए महाराज छत्रसाल द्वारा निर्मित पन्ना के 'धामी मदिर' मे एक 'प्रणामी पाठशाला' की भी व्यवस्था की गई है। इसमे प्रवेश पाकर सम्प्रदाय के विद्यार्थी कई वर्षो तक इस ग्रथ का अनुशीलन करते हैं। 'कुलजम-स्वरूप' का अर्थ प्राणनाथजी की उन बानियो का पूर्ण सग्रह (कुलजम) समझा जाता है जिनमें उनका वास्तविक स्वरूप सुरक्षित है।[2] इसमे सगृहीत सभी ग्रथो की भाषा एक समान नही है, प्रत्युत उनमे से कुछ हिंदी, कुछ गुजराती, कुछ सिंधी तथा अन्य मे मिश्रित भाषा दीख पडती है। उनमे प्राय सब कही फारसी अथवा अरबी भाषा का भी प्रभाव लक्षित होता है। इसका एक सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है .

क्रमसख्या	पुस्तक नाम	आकार	भाषादि
१	रासग्रथ	१०१० चौपाई	गुजराती
२	(क) प्रकाश	११७६ "	गुजराती
	(ख) प्रकाश	११७६ "	हिंदी (खडी-ब्रज)

---

१ "सवत् सत्रह से इक्यावना, सावन वदी चौथ मे।
रात पिछली घडी दोयमे, आया फिरस्ता धाम मे॥"—वहीं पर उद्धृत।

२ हिंदी साहित्य कोश, भाग २, प्रयाग, स० २०२०, पृ० ९१।

सदैव साक्षात् होने अर्थात् अपनी अनुभूति के भीतर पाये जाने पर भी वस्तुतः शब्दातीत अर्थात् अनिर्वचनीय है।"[1] अतएव इनके अनुसार विशुद्ध प्रेम की वास्तविक अनुभूति ही पुरुषार्थ की परमावस्था है जिसकी उपलब्धि की साधना सबके लिए कर्तव्य है। यह प्रेम ही वस्तुतः परमात्म-स्वरूप भी है जिसे क्षर तथा अक्षर सभी पदार्थों से कहीं उच्चतर श्रीकृष्ण का पद प्रदान किया गया है। इन्होंने संभवतः इसी कारण उसे एक संज्ञा 'धाम' अर्थात् परमपद की भी दी है। 'परकरमा' अंतर्गत उसके परमसौंदर्य का वर्णन भी किया है। इसके ही अनुसार इसका प्रमुख केन्द्र 'धामी मंदिर' प्रसिद्ध है। इस प्रकार संत प्राणनाथ द्वारा निर्दिष्ट परमात्मतत्त्व के प्रेमानुभूति वा 'धाम' स्वरूप होने के कारण साम्प्रदायिक भेदभाव का प्रश्न आप-से-आप नहीं उठ पाता। सभी धर्मों का प्रधान उद्देश्य उस की दशा एकरस को उपलब्ध करना ही हो जाता है जहाँ सारा जगत् आत्मीय बन जाता है। इनका कहना था कि हिन्दू, मुसलमान ईसाई वा यहूदी धर्मों के प्राचीन प्रवर्तकों तथा प्रचारकों के सिद्धांत भी वस्तुतः ऐसे मत से भिन्न नहीं ठहराये जा सकते। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उन सभी को हम परमात्मा के प्रेमी तथा जगत् के प्रति प्रेमभाव वाले कह सकते हैं। 'जो कछ कतेब' अर्थात् इस्लाम, 'ईसाई धर्म तथा यहूदी धर्म के ग्रंथों में कहा गया है वही वेदों में भी है। इन सभी के अनुयायी एक ही साहेब के बंदे' हैं। इनकी बोली भिन्न-भिन्न हो गई है नामों में भिन्नता आ गई है और चाल भी भिन्न दीख पड़ती है। इस कारण सारा झगड़ा पड़ा है और सबके सामने एक उलझन सी आयी प्रतीत होती है। मैं उसे सुलझा कर समझा देना चाहता हूँ।"[2] इसके सिवाय इनका यह भी कथन है कि कुरान की परवरामन बातें जो उक्त धर्म ग्रंथ में दी गई हैं उनकी हम यदि चाहें तो एक वाक्यता भी सिद्ध कर सकते हैं। अतएव इन्होंने प्रमाणतः

---

१ इश्क सबदातीत साक्षात ।
कहूं सृष्टि एक अंग न ताको अखंड अतिरंग ॥
—ब्रह्मवाणी हस्तलिखित प्रति पृ० १ ।

२ जो कछु कह्या कतेबने । सोई कह्या बेद ।
दोऊ बंदे एक साहेब के । पर लड़त बिना पाये भेद ॥४२॥
बोली सबों जुदी परी । नामजुदे धरे सबन ॥
चलन जुदा कर दिया । तार्थे समझ न परी किन ॥४३॥
तार्थे भई बड़ी उरझन । सो सुरझाऊं दोय ॥
नाम निशान जाहेर कर । ज्यों समझे सब कोए ॥४४॥—खुलासा पृ० ११ ।

प्राणनाथ का मत

सत प्राणनाथ की रचनाओ के आधार पर इनके मत की पूरी व्याख्या करना तब तक समव नही, जब तक वे प्रकाशित नही होते। परन्तु, जहा तक उनमे उद्धृत किये गए अशो के एक साधारण-से अध्ययन द्वारा कहा जा सकता है, इसमें सदेह नही कि इनकी विचार-धारा का भी स्वरूप लगभग वही है जो हमें अन्य प्रमुख सतो के मत मे लक्षित होता है। इनके गुरु अथवा पथ-प्रदर्शक श्रीदेवचन्द्र निजानदाचार्य ने परमात्मतत्त्व की वास्तविक पहचान के उद्देश्य से ही देशाटन किया था। उन्होने अपने समय में प्रचलित मतो के सबध से अनुसधान किया था। अनेक ग्रथो के अनुशीलन और विविध साधनाओ के अभ्यास द्वारा लाभ उठा कर सबके फलस्वरूप अपने उस मत की प्रतिष्ठा की थी जो 'निजानद-सम्प्रदाय' कहलाया था। उस मत के अनुसार भगवत्प्राप्ति के प्रमुख साधन ज्ञान तथा भक्ति से भी कही बढ कर प्रेम को महत्त्व दिया गया था। कहा गया था कि प्रेम ही सब कुछ है तथा भगवान भी हमारे लिए प्रियतम के ही रूप में विद्यमान है। इस कारण ज्ञान के द्वारा उसे केवल समझ लेने अथवा भक्ति के अनुसार उसके प्रति सब-कुछ समर्पित कर देने मात्र से ही काम नही चल सकता। उस आनदघन की मूल शक्ति ही प्रेमस्वरूपिणी है, अतएव प्रेम की साधना का बल पाकर जीव परमात्मा की ओर आप-से-आप खिच कर तदाकार बन जाता है। उनके ऊपर 'श्रीमद्भागवत' मे प्रदर्शित व्रज-गोपिकाओ की रागानुगा भक्ति का भी बहुत बडा प्रभाव पडा था। इस कारण वे अन्य अनेक प्रचलित वैष्णव मतो के अनुयायियो की भाँति श्रीकृष्ण तथा राधा की विविध लीलाओ की ओर भी आकृष्ट हो गए थे। सत प्राणनाथ भी स्वभावत पहले केवल इसी मार्ग के अनुयायी थे। प्रसिद्ध है कि इनके 'प्रणामी-सम्प्रदाय' का यह कदाचित् पूर्व रूप ही अभी तक गुजरात, काठियावाड, सिंध तथा सूरत नगर की ओर पाया भी जाता है। परन्तु, जहाँ तक पता चलता है, विभिन्न धर्म-ग्रथो के तुलनात्मक अनुशीलन तथा उन पर व्यापक चिंतन के कारण इन्होने उसे और भी सार्वभौम रूप दे डाला। उसे उस कोटि तक ला दिया, जहाँ पर किसी भी धार्मिक भेदभाव को कभी प्रश्रय नही दिया जा सकता।

वही

सत प्राणनाथ ने सूफियों द्वारा स्वीकृत 'इश्क हकीकी' के वास्तविक रहस्य को भली भाँति समझ लिया था। ईसाइयो के ईश्वरीय प्रेम के साथ भी पूर्ण परिचय प्राप्त कर लिया था। इस कारण, उनके साथ विचार-विनिमय तथा निजी अनुभूति के अनुसार इन्होने अपना मत निर्धारित किया, "प्रेम

राष्ट्रीयता की प्रेरणा

संत प्राणनाथ की एक महत्‌ विशेषता जान पड़ती है कि इन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र तथा धार्मिक प्रथा में उल्लिखित विभिन्न परंपराओं के साथ ही उन राजनीतिक प्रसंगों की ओर भी अपना ध्यान कम नहीं दिया है जो उस समय के लिए आवश्यक थे। इन्होंने खड़ी बोली हिंदी को राष्ट्रभाषा रूप देने का कदाचित्‌ सर्वप्रथम प्रयास किया। अपने शिष्य महाराज छत्रसाल को उनके सामने आनेवाली कठिनाइयों को दूर करने में पूरी सहायता दी। इन्होंने उनकी आर्थिक समस्याओं के सुलझाने में सहयोग किया। उन्हें समय-समय पर उत्साहित करते रहने का भी यत्न किया। ये उनके समक्ष ऐसे आदर्शों का चित्रण करते रहे जिनसे उन्हें बराबर प्रेरणा मिलती रहे। इन्होंने उन्हें आशीर्वाद दिया था।[1] अपने समय की जनता में राष्ट्रीयता का भाव भरने के लिए भी कहा था।[2]

संत प्राणनाथ का उद्देश्य किसी एक धार्मिक वा साम्प्रदायिक वर्ग से उच्चतर मानव-समाज की प्रतिष्ठा का जान पड़ता है। इस कारण इनके उपदेशों के प्रति लोगों की आस्था का क्रमशः बढ़ते जाना उन दिनों स्वाभाविक था। इनसे प्रेरणा ग्रहण कर बहुत-से लोगों ने महाराज छत्रसाल की सेना में अपने को भरती किया। कहा जाता है कि उनके 'सैनिक अभियानों में उनके सैनिकों का साहस बढ़ाने के लिए' इन्होंने स्वयं भी कभी-कभी उनका साथ दिया जिससे उनके प्रति बुंदेलखंड वालों के हृदय में दृढ़ श्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए। इसके सिवाय इनका छत्रसाल को अपनी राजधानी पन्ना बना कर वहाँ अभिषिक्त होने का सुझाव देना तथा इस कार्य का संपादन कर देना भी कहा जाता है।[3] इससे

१ "छत्ता तेरे राज में धक धक धरती होय।
जित जित घोड़ा मुख करे तित तित फत्ते होय॥"
—नागरी प्रचारिणी पत्रिका भा ११ पृ ९८ पर उद्धृत।

२ 'राजा ने मलोरे राखे रायतनों। धर्म जातारे कोई दौड़ो॥
जागोने जोधारे उठ पड़े रही। नींद निगोड़ी रे छोड़ो॥
दूतन हेरे धर्म छत्रियों से। धन जान हिन्दुस्तान॥
तम न छोड़ो रे सत्यवादियो। जोर बढ्यो तुरकान॥
त्रैलोकीमें रे उत्तम खंड भरतको। तामें उत्तम हिन्दू धरम॥
ताके छत्रपतियों के सिर। आये रही इत सरम॥"
—कुलजम कीर्तन प्रकरण ५७—महाराजा छत्रसाल बुंदेला
पृ १६ पर उद्धृत।

३ वही पृ १७।

हृदय की शुद्धता तथा सदाचार की पवित्रता पर ही विशेष बल दिया और मनुष्य-मात्र की एकता का प्रचार किया।

क़यामतनामा

जहाँ तक विभिन्न धार्मिक ग्रथो में उपलब्ध परपरागत बातो की एक-वाक्यता का प्रश्न है, सत प्राणनाथ ने इसका भी एक उदाहरण कल्कि अवतार अथवा मेंहदी वा मसीहा-जगत् मे आविर्भूत होने की मान्यता के रूप में प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार इस बात में प्राय सभी प्रचलित धर्मों के अनुयायी एकमत हैं कि एसी घटना अवश्यभावी है। इन्होने इसके प्रमाण में, ऐसी भावना के आधार-भूत प्रसगो को विभिन्न धर्म-ग्रथो से उद्धृत करके उनमें पायी जानेवाली कतिपय शकाओ का निराकरण किया। इसके साथ यह भी निरूपण किया कि उक्त अवतार का स्वय इनके रूप में भी आ जाना समव होगा। इन्होने कदाचित् प्रधानत इसी उद्देश्य से अपने 'कयामतनामा' नामक रचना निर्मित की जिसमें 'क़ुरान', 'इजील' तथा तौरेत की परपरा के अनुसार कल्पित 'अतिम दिन' का वर्णन किया है तथा अपने कथन की प्रामाणिकता मे उनके अनेक अश उद्धृत भी किये हैं। उसमें प्रसगत ११ व्यतीत शताब्दियो की कथा का विवरण दिया गया है। वहाँ बतलाया गया है कि किस प्रकार सर्वप्रथम ईसा मसीह का आविर्भाव हुआ। फिर हज़रत मुहम्मद अवतीर्ण हुए और उनके पीछे इमाम आये। उसमें आदम के नैतिक पतन तथा शैतान की उस दृढ प्रतिज्ञा का भी उल्लेख है जिसके अनुसार उसने भी मानव-जाति के सर्वनाश का निश्चय किया था। फिर, अत में इस्लाम, हिन्दू तथा ईसाई धर्म-ग्रथो में की गई भविष्यवाणियो की ओर सकेत किया गया है। यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि ससार का अतिम उद्धारक हिन्दू-जाति के भीतर उत्पन्न हो सकता है। ऐसा पुरुष आते ही प्रचलित कर्मकाड तथा शरीअत की भिन्न-भिन्न प्रथाओ को हटा कर सत्य वा हकीकत का मार्ग प्रदर्शित कर देता है। सारी मानव-जाति को एक ही सूत्र मे ग्रथित करने के उद्देश्य से आकाश में फैले हुए बादलो को दूर करके परम प्रकाश-मय सूर्य को प्रकट कर देता है। सारी सृष्टि परमेश्वर वा ख़ुदा के नाम से मुख-रित हो उठती है। उसकी ओर उन्मुख होकर उसकी आज्ञाओ का पालन करना आरभ कर देती है। फिर तो सभी प्राणी एक समान परमेश्वर के शब्द अथवा अल्ला के कलाम के ही उपासक हो जाते हैं। 'कयामतनामा' के अतर्गत इस प्रकार के कथनो के प्रति विश्वास उत्पन्न कराने की बारबार चेष्टा की गई जान पडती है जिससे वैसे महापुरुष मे पूर्ण श्रद्धा-भाव जागृत हो सके।[1]

---

१ एफ० एस० ग्राउज मथुरा ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, सन् १८८३।

भी मंदिरों में पूज्य स्थान भी प्रदान किया जाता है। इस ग्रंथ के अनुसार वास्तव में श्रीकृष्ण भगवान 'रास' के अनंतर फिर बरारब (अरब) में अवतीर्ण हुए थे। वे ही अंत में क्रमशः श्री देवचन्द्रजी तथा संत प्राणनाथ के रूपों में भी प्रकट हुए जिससे उसमें लिखित कतिपय साम्प्रदायिक वृत्तांतों का भी पता चलता है। अन्य प्रकार की रचनाओं में मस्ताना का 'पंच प्रकाश' 'पंचमसिंह' के सवैये तथा इनके चाचा छत्रसाल की कुछ रचनाएं भी उपलब्ध हैं।

साम्प्रदायिक मान्यताएँ

संत प्राणनाथ के इस 'प्रनामी-सम्प्रदाय' के अन्य नामों में 'महाराज पंथ' वा मेहेराज पंथ' तथा 'खिजड़ा' वा 'चकला' भी सुने जाते हैं। इनके पन्ना वाले 'धामी मंदिर' के साथ संपर्क वाले अनुयायियों को कभी-कभी 'धामी' की संज्ञा दी जाती है। साधारणतः इसके सभी सदस्यों को 'सुंदर साथ' अथवा 'साथी भाई' वा 'भाई' मात्र कहने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। इनमें से बहुत-से आज कल अधिकतर वैष्णव सम्प्रदायों द्वारा प्रभावित हो गए जान पड़ते हैं और प्रायः श्रीकृष्ण के बालरूप का ध्यान किया करते हैं। मूर्ति-पूजा में इन्हें विश्वास नहीं किंतु ये तुलसी की माला धारण करते ललाट पर तिलक तथा कुंकुम लगाते और धर्म-ग्रंथ 'कुलजम स्वरूप' की पूजा करते तथा सिक्खों की भांति उसे गुरुग्रंथवत् महत्त्व देते भी देखे जाते हैं। इनके प्रमुख मंदिर पन्ना के अतिरिक्त काठमाडू, दार्जिलिंग गोहाटी सिलीगुड़ी वाराणसी प्रयाग कानपुर सतना सूरत जामनगर आदि से हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी आत्म-ज्ञान तथा योग-क्रिया में बहुत कुशल दीख पड़ते हैं। इनके यहाँ नैतिक आचरण तथा चरित्र-शुद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इनके समाज में मांस तथा मदिरा का सेवन पूर्णतः निषिद्ध है। ये जाति-व्यवस्था को भी स्वीकार नहीं करते। प्रसिद्ध है कि इनके यहाँ दीक्षा के अवसरों पर हिन्दू-मुस्लिम आदि का बिना भेदभाव के सह योग भी हुआ करता है। "पन्ना में धामियों के मुख्य मंदिर पर कलश के स्थान पर पंजा होने के कारण और इसलिए भी कि वहाँ के प्रणामियों की मृत्यु होने पर उन्हें समाधि दी जाती है इस सम्प्रदाय को इस्लाम की एक शाखा समझा जाता है।[1] इस प्रवाद के कारण सन् १८८ ई तथा सन् १९ ८ ई में इस सम्प्रदाय वालों को नेपाल-राज्य से निर्वासित कर देने की भी आज्ञा प्रसारित हुई थी।[2] परन्तु यह धारणा कदाचित् उचित नहीं कही जा सकती क्योंकि उक्त

---

१ महाराजा छत्रसाल बुंदेला पृ १११।
२ पन्ना गजेटियर, पृ १७-८।

सिद्ध है कि ये केवल एक धर्म-प्रवर्त्तक और प्रचारक ही नही थे, अपितु एक सच्चे समाज-सुधारक और राष्ट्रीय नेता भी कहे जा सकते थे।

साम्प्रदायिक साहित्य

सत प्राणनाथ की रचनाओ मे उपर्युक्त 'कुलजम स्वरूप' मे सगृहीत १४ ग्रथो के अतिरिक्त कुछ अन्य पुस्तको के भी नाम लिये जाते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९२४ से १९२६ की खोज रिपोर्टों मे इनकी 'प्रगट वानी', 'ब्रह्मबानी', 'बीस गिरोहो का बाब', 'बीस गिरोहो की हकीकत', 'प्रेम पहेली' तथा 'राजविनोद-'जैसी रचनाओ का पता चलता है। इनकी चर्चा इपीरियल गजेटियर ऑफ इडिया' मे भी की गई है। 'सभा' की स० १९९३ वाली रिपोर्ट में इनके एक अन्य ग्रथ 'विराट चरितामृत' का भी नाम भी आया है जो कदाचित् 'निजानद चरितामृत' से अभिन्न होगा। इसके सिवाय इनकी एक 'पदावली' भी प्रसिद्ध है। इसमें इनके अपने 'इन्द्रामती' नाम से भी की गई कविताओ का सग्रह पाया जाता है। किसी कृष्णदत्त शास्त्री द्वारा रचित 'निजानद चरितामृत' से पता चलता है कि 'इन्द्रावती' 'श्रीजी' और 'महामति' नाम सत प्राणनाथ के ही थे।[1] ये "परमात्मा को पति मान कर सखी-भाव से उपासना करने के कारण अपने उपदेशो मे प्राय स्त्रीलिंग का भी प्रयोग कर दिया करते थे जिसके सबध मे इन्हें 'परमधाम की इन्द्रावती सखी की वासना' भी कहा गया मिलता है।[2] सत प्राणनाथ की रचनाओ के अतिरिक्त इनके कई शिष्यो तथा अनुयायियो की भी अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं। इनमें से मुकुददास वा नौरग स्वामी की बानियो की सख्या लगभग १६,३०० कही गई है। यह भी बतलाया गया है कि उन्हे २७ ग्रथो में विभाजित किया गया मिलता है। इसी प्रकार इस सम्प्रदाय के महत्त्व-पूर्ण साहित्य में इसके 'बीतकों' का भी स्थान ऊँचा है। इनमें से लालदास के 'बीतक' की चर्चा इसके पहले ही की जा चुकी है। इससे उद्धृत की गई अनेक पक्तियो को प्रामाणिक आधार भी माना गया है। ऐसे बीतको की सख्या १७ की बतलायी जाती है। किंतु जो अभीतक उपलब्ध है उनमें से लालदास की रचना के अतिरिक्त १ ब्रजभूषण कृत बीतक २ हसराज स्वामी कृत बीतक ३ मुकुदस्वामी कृत बीतक और ४ स्वामी लल्लू महाराज-रचित 'बीतक' के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें से केवल प्रथम ब्रजभूषण कृष्ण 'वृत्तात मुक्ता-वली' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। लालदास के बीतक को तो सम्प्रदाय

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० ५६, अ० १, स० २००८, पृ० २१।
२ वही, पृ० १०७।

के मंदिरों में पूज्य स्थान भी प्रदान किया जाता है। इस ग्रंथ के अनुसार वास्तव में श्रीकृष्ण भगवान 'रास' के अनंतर फिर बराश्व (अरब) मे अवतीर्ण हुए थे। वे ही अंत में क्रमश श्री देवचन्द्रजी तथा संत प्राणनाथ के रूपों में भी प्रकट हुए जिससे उसमें किंचित कतिपय साम्प्रदायिक वृत्तांतों का भी पता चलता है। अन्य प्रकार की रचनाओं में मस्ताना का 'पंच प्रकाश' 'पंचमसिंह' के सवैये तथा इनके भाषा छत्रसाल की कुछ रचनाएँ भी उपलब्ध हैं।

साम्प्रदायिक मान्यताएँ

संत प्राणनाथ के इस 'प्रणामी-सम्प्रदाय' के अन्य नामों में 'महाराज पंथ' या 'मेहेराज पंथ' तथा 'निजड़ा' या 'चकला' भी सुने जाते हैं। इनके पन्ना वाले 'धामी-मंदिर' के साथ संपर्क वाले अनुयायियों को कभी-कभी 'धामी' की संज्ञा दी जाती है। साधारणत इसके सभी सदस्यों को 'सुंदर साथ' अथवा 'साथी भाई' या 'भाई' मात्र कहने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। इनमें से बहुत-से आज कल अधिकतर वैष्णव सम्प्रदायों द्वारा प्रभावित हो गए जान पड़ते हैं और प्राय श्रीकृष्ण के बालरूप का ध्यान किया करते हैं। मूर्ति-पूजा में इन्हें विश्वास नहीं किंतु ये तुलसी की माला धारण करते ललाट पर तिलक तथा कुकुम लगाते और धर्म-ग्रंथ 'कुलजम स्वरूप' की पूजा करते तथा सिक्खों की भाँति उसे गुरुवत् महत्त्व देते भी देखे जाते हैं। इनके प्रमुख मंदिर पन्ना के अतिरिक्त काठमाडू दार्जिलिंग गोहाटी सिलीगुड़ी वाराणसी प्रयाग कानपुर, सतना सूरत जामनगर आदि में हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी आत्म-ज्ञान तथा योग-विद्या में बहुत कुशल दीख पड़ते हैं। इनके यहाँ नैतिक आचरण तथा चरित्र-शुद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इनके समाज में मांस तथा मदिरा का सेवन पूर्णत निषिद्ध है। ये जाति-व्यवस्था को भी स्वीकार नहीं करते। प्रसिद्ध है कि इनके यहाँ दीक्षा के अवसरो पर हिन्दू-मुस्लिम आदि का बिना भेदभाव के सह भोज भी हुआ करता है। पन्ना में धामियो के मुख्य मंदिर पर कलश के स्थान पर पंजा होने के कारण और इसलिए भी कि वहाँ के प्रणामियों की मृत्यु होने पर उन्हें समाधि दी जाती है इस सम्प्रदाय को इस्लाम की एक शाखा समझा जाता है।[1] इस प्रवाद के कारण सन् १८८ ई तथा सन् १९ ८ ई में इस सम्प्रदाय वाला को नपाल-राज्य से निर्वासित कर देने की भी आज्ञा प्रसारित हुई थी।[2] परन्तु यह धारणा कदाचित् उचित नही कही जा सकती क्योकि उक्त

---

१ महाराजा छत्रसाल बुंदेला पृ १११।

२ पन्ना गजेटियर, पृ १७-८।

'पजा' केवल प्राणनाथजी के आशीर्वाद वाले हाथ का प्रतीक समझा जा सकता है। इसके सिवाय पन्ना मे केवल उन्ही को समाधि दी जाती है जिनका वहाँ पर देहात हुआ करता है। वहाँ से बाहर जानेवाले मदिरो पर कलश भी देखे जाते हैं तथा इधर मरनेवाले लोगो की अत्येष्टि-क्रिया भी शवदाह के अनुसार ही हुआ करती है।

प्रचार-केन्द्र तथा प्रचार-क्षेत्र

प्रणामी वा प्राणनाथ-सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र पन्ना नगर का 'धामी मदिर' है, जहाँ पर कार्त्तिक शुक्ल १५ को प्रतिवर्ष एक बडा मेला लगा करता है। वहाँ सम्प्रदाय के लोग बडी सख्या मे एकत्र हुआ करते है। सूरत के कच्छी लोगो मे भी इसके अनुयायी जाये जाते हैं। मध्यप्रदेश के सागर तथा दमोह जिले मे भी इनकी सख्या कम नही है। काठियावाड के जामनगर में इस सम्प्रदाय का विशेष प्रचार है। वहाँ की नौतनपुरी इसके प्रधान केन्द्रो में गिनी जाती है। लगभग डेढ सौ वर्ष पहले इसका प्रचार नेपाल में वहाँ के राजा राय बहादुरशाह के समय में हुआ था। वहाँ के प्रणामी वा प्राणनाथी प्रति वर्ष धर्म-ग्रथ के अध्ययन तथा उत्सवो में भाग लेने के लिए पन्ना नगर आया करते हैं। यहाँ पर प्रतिवर्ष नेपाल, असम, उडीसा, उत्तर उदेश गुजरात, बबई, सिंध आदि के प्रणामी भी इसी प्रकार आया करते हैं। ये सभी लोगो विजयादशमी के भी दिन प्रतिवर्ष पन्ना के बाहर खेजरा[1] के मदिर में पन्ना के महाराज का अभिनदन करते है। महाराज तलवार खोल कर मदिर की परिक्रमा करते हैं। तत्पश्चात् प्रणामी महत उन्हें पान का बीडा देकर पुन तलवार बाँध दिया करते हैं। यह प्रथा समवत उस समय से प्रचलित है जब स्वय प्राणनाथजी ने महाराज छत्रसाल की तलवार बाँधी थी।[2]

४ सत्तनामी-सम्प्रदाय

सत्तनाम

'सत्त' शब्द 'सत्य' का रूपातर है जिसका अर्थ वह नित्य तथा शाश्वत वस्तु है जिसे दूसरे शब्द में 'परमात्मा' भी कहा करते हैं। इसी प्रकार 'नामी' का भी तात्पर्य नाम द्वारा सूचित किये जानेवाले 'नामधारी' तथा अभिधेय वस्तु से है। 'सत्तनामी' शब्द से अभिप्राय, इसी कारण उस सत्यनाम से परिचित किये जानेवाले

---

१ 'खेजरा' जान पड़ता है, उस वृक्ष 'खिजडा' की ओर सकेत करता है जो नौतन-पुरी मे देवचन्द्र जी के समाधि स्थान पर लगा हुआ है।

२ पन्ना गज़ेटियर, पृ० ४६।

सत्य स्वरूप ईश्वर का ही हो सकता है। परन्तु यह शब्द संत-परंपरा की रूढ़ियों के अनुसार अपने साथ-साथ अनेक अन्य व्यापक भावों को भी व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए 'सत' शब्द से परमसत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति और इसी प्रकार 'नामी' शब्द के संयोग से नाम-स्मरण द्वारा उसे आजीवन अक्षुण्ण रूप से एकरस बनाए रखना भी लक्षित होता है। इस प्रकार के अनेक भावों से अनुप्राणित होकर ही संत-मत की विभिन्न शाखाओं ने 'सतनाम' शब्द को इतना महत्त्व प्रदान किया है। इसे उनके यहाँ आज भी प्रायः वही स्थान प्राप्त है, जो सर्वप्रथम कबीर साहब के समय में प्राप्त था। अनेक ऐसे पंथवाले न तो 'ॐ' अथवा कभी-कभी 'श्रीगणेशायनमः' की भाँति कार्यारम्भ के समय वा ग्रंथ-रचना के पहले मंगल-सूचक शब्दों तक के रूप में इसके प्रयोग किए हैं। बहुधा इसका प्रयोग उनके परस्पर के अभिवादन में भी हुआ करता है। कभी-कभी इसे नाम-स्मरण के अवसर पर राम का स्थान भी दिया करते हैं। फिर भी संत-परंपरा के इतिहास में उसके केवल एक ही सम्प्रदाय को इस नाम से अभिहित किए जाने का श्रेय प्राप्त है।

साध-सम्प्रदाय

सतनामी-सम्प्रदाय के मूल-प्रवर्त्तक का निश्चित पता अभी तक नहीं चला है न इसकी उत्पत्ति के समय वा कारणों पर ही यथेष्ट प्रकाश पड़ा है। डॉ० बर्थ्वाल के अनुसार इस सम्प्रदाय के संस्थापक दादू-पंथी जगजीवन दास जान पड़ते हैं।[1] किन्तु इसके लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिये हैं न इस संबंध को सिद्ध करने की उन्होंने कोई चेष्टा ही की है। कुछ अन्य लोग इसके प्रवर्तन का विधायक साध-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक वीरभान को मानते हैं, तो कोई उनके गुरु ऊधादास का नाम इस संबंध में लेते हैं। अन्य कुछ विद्वानों की धारणा है कि इसका सर्व प्रथम प्रचार जोगीदास के द्वारा हुआ था। परन्तु किसी ने भी अपने मत की पुष्टि में यथेष्ट प्रमाण नहीं दिये न सभी प्रकार की शंकाओं का निराकरण करते हुए वे किसी सर्वमान्य निर्णय पर पहुँच सके। अतएव अधिकांश विद्वानों का अभी तक यही निश्चय रहता आया है कि इस सम्प्रदाय का प्रारंभिक इतिहास वास्तव में अंधकारपूर्ण है। ऊधादास वीरभान तथा जोगीदास के उक्त नामोल्लेख से प्रतीत होता है कि इस सम्प्रदाय का कोई-न-कोई संबंध 'साध-सम्प्रदाय' से भी अवश्य होना चाहिए। बहुत लोगों ने इस बात से प्रभावित होकर साध-सम्प्रदाय तथा 'सतनामी सम्प्रदाय' को एक और अभिन्न तक मान लिया है। परन्तु जैसा पंडित

---

१ नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भा० १५, पृ० ७५।

साहब ने कहा है,[1] इस प्रकार की भ्रांति साधो द्वारा अपने विषय मे 'साध' तथा 'सत्तनामी' शब्द के व्यवहार के कारण उत्पन्न हुई जान पडती है। 'सत्तनामी' शब्द यहाँ पर वास्तव मे एक परिचयात्मक विशेषण-मात्र है और यह उस पथ को सूचित करनेवाली सज्ञा विशेष नही माना जा सकता। साध-सम्प्रदाय तथा सत्तनामी सम्प्रदाय मे आज तक कोई भी प्रत्यक्ष सबध नही पाया जा सका है। उक्त भ्रम सभवत केवल सत्तनामी शब्द के प्रयोग के ही कारण हो जाया करता है। इतना ही नही, एलिसन साहब के कथनानुसार आजकल के अनेक साध इस बात का घोर विरोध करते है कि उनके पूर्वजो का कोई भी सबध इस पथ से कभी रहा था। इस सम्प्रदाय की ओर एक प्रकार के घृणित भाव का प्रदर्शन कर इसके अनुयायियो को वे निम्न श्रणी का होना तक बतलाते हैं। अतएव उक्त महाशय का अनुमान है कि सभव है कुछ ग्रामीण सत्तनामी पीछे साध-सम्प्रदाय मे ले लिय गए हो और उन्होने अपना पूर्वनाम भी बनाय रखा हो। यह बात इस प्रकार सिद्ध होती हुई भी दीखती है कि अधिकतर साध-सम्प्रदाय के ग्रामीण अनुयायी ही अपन को साव सत्तनामी कहा भी करते हैं। सत्तनामी-सम्प्रदाय का नाम स० १७२९ वा स० १७३० वाले सत्तनामी विद्रोह के इतिहास से सबद्ध है। उसके पहले वह कभी नही सुन पडता। साध-सम्प्रदाय उस काल तक भली भाँति प्रचलित हो चुका था और उक्त घटना का कोई भी प्रभाव उस पर लक्षित हुआ नही सुना गया।"[2]

(१) नारनौल शाखा

जोगीदास

फिर भी एलिसन साहब का उक्त अनुमान अक्षरश सत्य सिद्ध होता हुआ नही दीखता। 'साध-सम्प्रदाय' के परिचय में हम देख चुके हैं कि सत्तनामी विद्रोह के समय स० १७२९ वा स० १७३० के लगभग विद्रोह वाले क्षेत्र में उक्त सम्प्रदाय बडे वेग के साथ जागृत हो रहा था। जोगीदास जिन्होने सभवत शाहजहाँ के पुत्रो वाले गृह-युद्ध मे दाराशिकोह की ओर से धोलपुर नरेश के साथ औरगजेब के विरुद्ध स० १७१५ में भाग लिया था। वे चोट खाने के अनतर पूर्ण स्वस्थ होकर भ्रमण कर रहे थे, अपने मूल सम्प्रदाय के पुन सगठन में तल्लीन थे। उन्होने स० १७२६ के फागुन मास में २७ दिन व्यतीत

---

१ डब्ल्यू० एल० एलिसन · दि साध्स, दि रिलिजस लाइफ ऑफ इंडिया सिरीज पृ० १४-५।

२ वही, पृ० १५।

हो चुकने पर अपना कार्य निश्चित रूप में और एक विशेष ढंग से करना आरंभ कर दिया था। जोगीदास विजित राजकुमार दाराशिकोह के पक्ष का समर्थन कर चुकने के कारण औरंगजेब की दृष्टि में एक पक्के विद्रोही थे। उनके अनुयायियों के हृदयों में अपने धार्मिक नेता के कुछ ही वर्ष पूर्व उक्त बादशाह के विरुद्ध युद्ध में आहत तक हो जाने की स्मृति का बार-बार उमड़ा करना भी असंभव नहीं था। उनके उपदेशों को श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेवाले व्यक्तियों पर उनका प्रभाव जितना ही अधिक पड़ता होगा उतना ही उनके हृदयों में दिल्ली के राजसिंहासन के विरुद्ध विद्रोह का भाव भी जागृत होता होगा। 'सतनामी-विद्रोह' में जोगीदास का किसी प्रकार भाग लेना यद्यपि पूर्णतः सिद्ध नहीं है न यही पता है कि उक्त काल तक वे जीवित भी थे वा नहीं। फिर भी यदि उक्त बातें किसी प्रकार प्रमाणित हो सकें तो यह भी निश्चित समझा जा सकता है कि उक्त विद्रोह के समय उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव उस क्षेत्र में अवश्य अवशेष होगा। ऐसी दशा में इतना और भी अनुमान कर लेना युक्ति-संगत समझा जा सकता है कि उनके अनुयायियों में से भी कुछ लोग उसमें अवश्य सम्मिलित रहे होंगे तथा आगे चल कर समान लक्ष्य रखनेवाले व्यक्तियों का वर्गीकरण एक सम्प्रदाय-विशेष में हो गया होगा।

सतनामी-विद्रोह

सतनामी-विद्रोह' में भाग लेनेवाले लोग अधिकतर ग्रामीण किसान थे। इन्हें उभाड़ कर दिल्ली के विरुद्ध खड़ा करनेवाले किसी बड़े नेता का पता नहीं चलता न उसके विषय में उपलब्ध विवरणों से यही जान पड़ता है कि उनका लक्ष्य अपनी शिकायतों को दूर करने के अतिरिक्त भी कुछ था वा नहीं। कहा जाता है कि उक्त विद्रोह पहले-पहल किसी सतनामी और एक ऐसे व्यक्ति के झगड़े से आरंभ हुआ जो खेतों की फसल की देखभाल करता था। वह व्यक्ति कदाचित् सरकार की ओर से नियुक्त था। इसलिए शिक्केदार ने उसकी सहायता में अपने सिपाही भेज जिन्हें सतनामियों ने मार कर खदेड़ दिया। इस घटना से उत्तेजित होकर नारनौल का फौजदार भी स्वयं अपनी फौज के साथ मौके पर आ गया। परन्तु सतनामियों ने उसके सिपाहियों को भी मार भगाया और वह स्वयं भी मारा गया। विद्रोहियों की संख्या उस समय तक लगभग ५ के हो चली थी। उन्होंने आगे बढ़कर नगर पर अपना अधिकार जमा लिया और भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपने आदमियों को नियुक्त कर टैक्स वसूल करना भी आरंभ कर दिया। सतनामियों ने इतना कर चुकने पर भी शांत होना उचित न समझा। वे उत्साहित होकर कई नगरों तथा जिलों के गांवों को लूटने लगे

साहब ने कहा है,[1] इस प्रकार की भ्रांति साधो द्वारा अपने विषय मे 'साध' तथा 'सत्त-नामी' शब्द के व्यवहार के कारण उत्पन्न हुई जान पडती है। 'सत्तनामी' शब्द यहाँ पर वास्तव मे एक परिचयात्मक विशेषण-मात्र है और यह उस पथ को सूचित करनेवाली सज्ञा विशेष नही माना जा सकता। साध-सम्प्रदाय तथा सत्तनामी सम्प्र-दाय मे आज तक कोई भी प्रत्यक्ष सबध नही पाया जा सका है। उक्त भ्रम सभवत केवल सत्तनामी शब्द के प्रयोग के ही कारण हो जाया करता है। इतना ही नही, एलिसन साहब के कथनानुसार आजकल के अनेक साध इस बात का घोर विरोध करते हैं कि उनके पूर्वजो का कोई भी सबध इस पथ से कभी रहा था। इस सम्प्रदाय की ओर एक प्रकार के घृणित भाव का प्रदर्शन कर इसके अनुयायियो को वे निम्न श्रणी का होना तक बतलाते हैं। अतएव उक्त महाशय का अनुमान है कि सभव है कुछ ग्रामीण सत्तनामी पीछे साध-सम्प्रदाय मे ले लिय गए हो और उन्होने अपना पूर्वनाम भी बनाय रखा हो। यह बात इस प्रकार सिद्ध होती हुई भी दीखती है कि अधिकतर साध-सम्प्रदाय के ग्रामीण अनुयायी ही अपन को साध सत्तनामी कहा भी करते हैं। सत्तनामी-सम्प्रदाय का नाम स० १७२९ वा स० १७३० वाले सत्तनामी विद्रोह के इतिहास से सवद्ध है। उसके पहले वह कभी नही सुन पडता। साव-सम्प्रदाय उस काल तक भली भाँति प्रचलित हो चुका था और उक्त घटना का कोई भी प्रभाव उस पर लक्षित हुआ नही सुना गया।"[2]

(१) नारनौल शाखा

जोगीदास

फिर भी एलिसन साहब का उक्त अनुमान अक्षरश सत्य सिद्ध होता हुआ नही दीखता। 'साध-सम्प्रदाय' के परिचय में हम देख चुके हैं कि सत्तनामी विद्रोह के समय स० १७२९ वा स० १७३० के लगभग विद्रोह वाले क्षेत्र में उक्त सम्प्रदाय बडे वेग के साथ जागृत हो रहा था। जोगीदास जिन्होने सभवत शाहजहाँ के पुत्रो वाले गृह-युद्ध मे दाराशिकोह की ओर से धोलपुर नरेश के साथ औरगजेब के विरुद्ध स० १७१५ में भाग लिया था। वे चोट खाने के अनतर पूर्ण स्वस्थ होकर भ्रमण कर रहे थे, अपने मूल सम्प्रदाय के पुन सगठन में तल्लीन थे। उन्होने स० १७२६ के फागुन मास में २७ दिन व्यतीत

---

१ डब्ल्यू० एल० एलिसन : दि साध्स, दि रिलिजस लाइफ ऑफ इंडिया सिरीज पृ० १४-५।

२ वही, पृ० १५।

के विरुद्ध युद्ध छेड़ देना और उसमें कुछ दिनों तक सफल भी हो जाना कुछ विशेष कारणों से ही संभव हो सकता है। इन्हीं बातों ने सत्तनामियों के गुण बनकर उन्हें आगे आनेवालों के लिए आदर्श बना दिया। सत्तनामी लोग उक्त विद्रोह के समय कदाचित् नारनौल से कुछ ही दूर तक इधर-उधर फैले हुए गाँवों में रहा करते थे। इनके सम्प्रदाय का क्षेत्र संभवतः उतना व्यापक न था जितना साध-सम्प्रदाय की दिल्ली शाखा का आजकल माना जाता है। इनकी बहुत-सी विशेषताएँ भी केवल स्थानीय तथा परंपरानुमोदित ही रहीं। फिर भी उनका प्रचार समान-स्थिति वाले लोगों में क्रमशः दूर-दूर तक होने लगा। समय पाकर उक्त नारनौल क्षेत्र का प्रभाव उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश के सिवा सिंधों तक पर भी फैल गया। बादशाह औरंगजेब ने सत्तनामियों को अपनी राजधानी के निकट समूल नष्ट कर देने के ही यत्न किये थे तथा उसे बहुत अंशों में सफलता भी प्राप्त हुई थी। यही कारण है कि इस सम्प्रदाय का पौधा फिर कभी उक्त क्षेत्र में पूर्ववत् न पनप सका। सत्तनामियों की यह शाखा 'नारनौल' शाखा कहला सकती है।

(२) कोटवा शाखा

जगजीवन साहब का प्रारंभिक जीवन

अनुमान किया जाता है कि उक्त सतनामी सम्प्रदाय का ही पुनः संगठन कुछ दिनों के अनंतर उत्तर प्रदेश में जगजीवन साहब के नेतृत्व में हुआ। जगजीवन साहब का जन्म बाराबंकी जिले के सरदहा नामक गाँव में सरयू नदी के किनारे कोटवा से दो कोस की दूरी पर एक क्षत्रिय कुल में हुआ था। इनके जन्म का समय कुक साहब ने सं० १७१९ सन् १६८२ माना है।[1] किंतु डॉ० बर्थ्वाल ने कदाचित् सम्प्रदाय की परंपरा के अनुसार इसे सं० १७२७ सन् १६७० ही ठहराया है।[2] जगजीवन साहब चंदेल ठाकुर थे और इनके पिता एक साधारण किसान थे जिनकी गायें तथा भैंसें ये अपने बाल्यपन में चराया करते थे। एक दिन जब ये अपने उक्त कार्य में लगे हुए थे इन्हें अचानक दो साधुओं के दर्शन हुए जिनमें से एक बूला साहब और दूसरे गोविंद साहब नाम के थे। साधुओं ने बालक जगजीवन से अपनी चिलम चढ़ाने के लिए कुछ आग माँगी और यह दौड़ता हुआ अपने घर चला गया। घर से वापस आते समय वह आग के

---

१ डब्ल्यू० कुक: ट्राइब्स ऍड कास्ट्स ऑफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऍड अवध भा० ४ पृ० २९९ टि० १।

२ डॉ० बर्थ्वाल: दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री पृ० २६४।

जिससे चारो ओर अराजकता फैल गयी ।[1] जनता में उन दिनो सतनामियो के विषय में अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रचलित होने लगी थी और लोग इनकी विजय को ईश्वरीय विधान मानने लगे थे । खफी खाँ के अनुसार मामूली तलवारें इन सत्तनामियो को काट नही सकती थी, न बाण वा बदूक की गोलियाँ ही इनका कुछ बिगाड पाती थी । इनका निशाना कभी न चूकता था और इनकी स्त्रियाँ तक काले घोडो पर चढ कर सग्राम करती थी । बादशाह औरगजेब ने देखा कि इनके विरुद्ध उसके सिपाही तथा सिपहसालार तक लडने में भय का अनुभव करते हैं । कभी-कभी वे कह उठते हैं कि सत्तनामियो की जादूगरी के सामने किसी एक की भी नही चल सकती । उसने तब अपने अगले फौजी झडो पर 'क़ुरान शरीफ' की आयतें लिखवा दी ताकि उन्हे इनके जादू के दूर हो जाने का विश्वास हो जाय । यह भी प्रतीत होने लगे कि खुदा के विपक्ष मे लडनेवालो का पराजित होना ही निश्चित है । स० १७२९ मे उपद्रव आरम हुआ था और स० १७४० तक बादशाह की जीत हो सकी । सहस्रा सत्तनामियो के मार डाले जाने पर ही उस क्षेत्र की स्थिति पूर्ववत् हो पाई ।

सत्तनामियो का स्वभाव

सत्तनामी विद्रोह इस प्रकार किसी किसान-विद्रोह का ही रूपातर था । किंतु विद्रोहियो के कदाचित् साम्प्रदायिक वेशधारी होने तथा सतनामोच्चारण करने के कारण उसे धर्मानुरागी जनता का उपद्रव कहा गया और ऐसे लोगो को तब से एक नाम-विशेष भी दे दिया गया । खफी खाँ ने इन लोगो के चरित्र-बल की प्रशसा भी की है । किंतु उसी समय के एक अन्य लेखक ईश्वरदास नागर ने इनमें कई प्रकार के दोष भी दिखलाये हैं । इनका कहना है कि सतनामी बडे गदे तथा दुष्ट स्वभाव के होते हैं । वे ऐसे पतित हैं कि उन्हें हिन्दू तथा मुसलमान में कोई भेद नही जान पडता । इस प्रकार का दोषारोपण एक हिन्दू तथा राज-भक्त लेखक की ओर से आवेश में भी किया जा सकता है । इसे प्रमाण रूप मे उद्धृत करना कदाचित् उतना उचित नही समझा जा सकता । सत्तनामी लोगो की सादी रहन-सहन, इनके साहस, सगठन की योग्यता तथा भेदभाव रहित जीवन-यापन करने की प्रणाली को सर्वथा स्तुत्य ही मानना चाहिए । साधारण स्थिति में रहनेवाले केवल कुछ ही लोगो का दिल्ली के सम्राट् तक

---

१ एच० ए० रोज · ए ग्लासरी ऑफ कास्ट्स ऐंड ट्राइब्स ऑफ दि पजाब, भा० ३, पृ० ३८८-९ ।

नामी-सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक के रूप में निश्चित पता नहीं लगता तब तक दोनों को एक ही मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

गार्हस्थ्य-जीवन

जगजीवन साहब के विषय में लिखा है कि इन्होंने गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत किया था। कुछ लोगों की ईर्ष्या के कारण इन्हें पीछे सरदह को छोड़ कर कोटवा में जाकर बसना पड़ा था जहाँ पर ये अंत तक रहे। कहा जाता है कि इनकी लड़की का ब्याह राजा गोंडा के लड़के के साथ ठहरा था। जब बारात आयी और उसकी न बिना मांस के भोजन करना स्वीकार नहीं किया तब जगजीवन साहब ने मांस की जगह बैंगन की तरकारी ऐसे ढंग से बनवा दी कि उसे सभी बारातियों ने मांस ही समझ लिया और बड़ी रुचि के साथ उसे भोजन किया। प्रसिद्ध है कि सत्तनामी-सम्प्रदाय के अनुयायी इसी कारण बैंगन को आज तक मांस के तुल्य समझा करते हैं और उसे खाने से घृणा भी करते हैं।[1] क्रुक साहब ने जगजीवन साहब के देहांत का समय सं० १८१८ सन् १७६१ माना है। उन्होंने कहा है कि ये सरदहा से ५ मील पर कोटवा में मरे थे। कोटवा गाँव में ही जगजीवन साहब की समाधि भी वर्तमान है।

रचनाएँ

जगजीवन साहब के नाम से 'शब्दसागर' 'ज्ञानप्रकाश' 'प्रथमग्रंथ' 'आगमपद्धति' 'महाप्रलय' 'प्रेमग्रंथ' तथा 'अघविनाश' नाम की ७ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। इनमें से केवल 'शब्दसागर' मात्र ही 'जगजीवन साहब की बानी' के नाम से दो भागों में बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित है। यह ग्रंथ जगजीवन साहब की विविध पद्य रचनाओं का एक संग्रह है जिससे उनके सरल हृदय तथा प्रगाढ़ ईश्वर भक्ति का बड़ा सुंदर परिचय मिलता है। इन्होंने इस ग्रंथ में परमात्मा को अधिकतर 'सत' का नाम दिया है। उसे निर्गुण अनादि कर्त्ता तथा परम कृपालु, अलौकिक व्यक्ति भी मान कर उसके प्रति अपने उद्गार प्रकट किये हैं। ये अपने को सभी प्रकार से और सभी बातों के लिए उसी एक पर निर्भर मान कर चलते हैं। कहते हैं कि जो कुछ भी हम करते हैं वह सब उसी के द्वारा होता है। इसी कारण ये मुक्तावस्था को भी उसी की कृपा वा उसी प्रेरणा पर अवलंबित समझते हैं और इस उद्देश्य से उससे बार-बार प्रार्थना करते रहते हैं। ये उसे अपनी ओर आकृष्ट करने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन

---

१ जगजीवन साहब की बानी बे० प्र० प्रयाग पहिला भाग जीवन चरित्र पृ० २।

साथ-साथ साधुओं के पीने के लिए कुछ दूध भी लेता आया। किंतु वह डरा रहा कि विना पूछे दूध उठा लाने के कारण उसके पिता कही रुष्ट न हो जायँ। दोना साधुओं ने प्रसन्न होकर उसके हाथ से दूध ले लिया और उसे वतलाया कि तुम्हें इसके कारण कभी पछताने का अवसर न मिलेगा। वालक जगजीवन ने जव घर जाकर किसी प्रकार के भय का काई कारण नही देखा, अपितु दूध के भाड़े को पूर्ववत् भरा हुआ ही पाया तव उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह फिर दौडता हुआ साधुओं के पास पहुँच कर उनसे चेला वना लेने के लिए आग्रह करने लगा। वूला साहव ने इस पर उस वालक को उसके आध्यात्मिक भावो के विकसित तथा उन्नत होने का आशीर्वाद दिया। उन्होंने अपने सत्सग के चिह्न-स्वरूप उसकी दाहिनी कलाई पर एक काला धागा अपने हुक्के से निकाल कर वाँध दिया। उसी प्रकार गोविंद साहव ने भी अपने हुक्के[1] का एक सफेद धागा उसी कलाई पर वाँधा। इन धागों को इस शाखा के सत्तनामी आज भी उसी प्रकार वाँधा करते है। पूर्ण महत तो उन्हें अपनी दोनो कलाइयो तथा दोनो पैरो में भी वाँधते हैं।[2]

गुरु

जगजीवन साहब के अनुयायियो का कहना है कि ये वास्तव में किसी विश्वेश्वर पुरी के शिष्य थे। उन्ही के सिद्धातो के आधार पर इन्होंने अपने के सत्तनामी-सम्प्रदाय की स्थापना की थी तथा उक्त पुरी नामक महात्मा काशी-निवासी थे। परन्तु इस विश्वेवर पुरी के विपय में और अधिक पता नही चलता। इसके विपरीत वूला साहव तथा गोविंद साहव का सवध वावरी साहिबा की परपरा के साथ वतलाया जाता है। उस पथ द्वारा प्रकाशित शिष्य-परपरा की सूची में भी जगजीवन साहव का नाम वूला साहव के शिष्य के रूप में दिया हुआ मिलता है। इसलिए कभी-कभी यह भी अनुमान होने लगता है कि सत्त-नामी-सम्प्रदाय के प्रचारक जगजीवन साहव तथा वावरी साहिबा के पथ वाले जगजीवन साहव समवत भिन्न-भिन्न व्यक्ति रहे होगे। परन्तु केवल उपलब्ध सामग्रियो के ही आधार पर अभी किसी अन्य जगजीवन साहव के विषय में निर्णय करना उचित नही जान पडता। जव तक किसी अन्य जगजीवन साहव का सत्त-

---

१ 'महात्माओ की वानी' के सपादक ने इस धागे को उनकी सेली का भाग कहा है। वे वूला साहव के अकेले ही मिलने का भी वर्णन करते हैं और कहते हैं कि उस समय वे दिल्ली से लौट रहे थे। दे० पृ० 'ग-उ'।

२ डब्ल्यू० क्रुक ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स, भा० ४, पृ० ३००।

नामी-सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक के रूप में निश्चित पता नहीं लगता तब तक दोनों को एक ही मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

गार्हस्थ्य-जीवन

जगजीवन साहब के विषय में लिखा है कि इन्होंने गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत किया था। कुछ लोगों की ईर्ष्या के कारण इन्हें पीछे सरदह का छोड़ कर कोटवा में जाकर बसना पड़ा था जहाँ पर ये अंत तक रहे। कहा जाता है कि इनकी लड़की का ब्याह राजा गोंडा के लड़के के साथ ठहरा था। जब बारात वाली और समधी ने बिना मांस के भोजन करना स्वीकार नहीं किया तब जगजीवन साहब ने मांस की जगह बैंगन की तरकारी ऐसे ढंग से बनवा दी कि उस सभी बारातियों ने मांस ही समझ लिया और बड़ी रुचि के साथ उसे भोजन किया। प्रसिद्ध है कि सतनामी-सम्प्रदाय के अनुयायी इसी कारण बैंगन का आज तक मांस के तुल्य समझा करते हैं और उसे खाने से घृणा भी करते हैं।[1] बक्क साहब ने जगजीवन साहब के देहांत का समय सं० १८१८ सन् १७६१ माना है। उन्होंने कहा है कि ये सरदहा से ५ मील पर कोटवा में मरे थे। कोटवा गाँव में ही जगजीवन साहब की समाधि भी वर्तमान है।

रचनाएँ

जगजीवन साहब के नाम से 'शब्दसागर' 'ज्ञानप्रकाश' 'प्रथमग्रंथ' 'आगमपद्धति' 'महाप्रलय' 'प्रेमग्रंथ' तथा 'अघविनाश' नाम की ७ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। इनमें से केवल 'शब्दसागर' मात्र ही 'जगजीवन साहब की बानी' के नाम से दो भागों में बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित है। यह ग्रंथ जगजीवन साहब की विविध पद्य-रचनाओं का एक संग्रह है जिससे उनके सरल हृदय तथा प्रगाढ़ ईश्वर-भक्ति का बड़ा सुंदर परिचय मिलता है। इन्होंने इस ग्रंथ में परमात्मा का सच्चिदानंद सत्त' का नाम दिया है। उसे निर्गुण अनादि कर्त्ता तथा परम कृपालु अलौकिक व्यक्ति भी मान कर उसके प्रति अपने उद्गार प्रकट किये हैं। ये अपने को सभी प्रकार से और सभी बातों के लिए उसी एक पर निर्भर मान कर चलते हैं। कहते हैं कि जो कुछ भी हम करते हैं, वह सब उसी के द्वारा होता है। इसी कारण ये मुक्तावस्था को भी उसी की कृपा वा अंत प्रेरणा पर अवलंबित समझते हैं और इस उद्देश्य से उससे बार-बार प्रार्थना करते रहते हैं। ये उसे अपनी ओर आकृष्ट करने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन

---

1 जगजीवन साहब की बानी बे० प्र० प्रयाग, पहिला भाग जीवन चरित्र पृ० २।

'सत्तनाम' के स्मरण को मानते हैं। इसकी अंतर्ध्वनि के आधार पर हमें गगन-मण्डल के दृश्य भी दीखने लगते हैं। ये उस 'तमासा' का भी वर्णन करते है कि मैंने जैसा स्वय देखा है, ठीक वैसा ही दिखला भी दूंगा, छिपाऊँगा नही।[1] ये साधको के लिए परामर्श देते है कि 'सत्तनाम' का भजन कर अपना भेद प्रकट करना उचित नही। प्रकट रूप मे सब कुछ कह देने से उसका सारा सुख जाता रहता है और सत-मत का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है।[2] ये सत्तनाम के रस का अमृत पीकर मन-ही-मन मगन रहने पर अधिक बल देते हैं। ये कहते हैं कि उस अनुभूति की विस्मृति हमारे दैनिक जीवन की अवस्था में भी नही होनी चाहिए,[3] अपितु जगत् में रहते हुए भी अपने को जगत् से न्यारा समझना चाहिए।[4] इन्होंने समाज के भीतर पारस्परिक व्यवहार के लिए नैतिक आदर्शों के अनुसार चलना ही श्रेयस्कर माना है। सत्य वचन, अहिंसा, परोपकार तथा सयत जीवन को इन्होंने सर्वश्रेष्ठ माना है और अधिकतर इन्ही बातो की ओर लक्ष्य करके बहुत-से उपदेश दिये हैं। महाप्रलय नामक अपनी पुस्तक में एक स्थान पर ये इस प्रकार कहते हैं, "विशुद्ध महापुरुष सबके बीच रहता हुआ भी सबसे पृथक् है, उसे किसी भी बात में आसक्ति नहीं। जो वह जान सकता है, जान

---

१ तीरथ व्रत को तजिदै आसा।
सत्तनाम को रटना करि कै, गगन मडल चढि देखु तमासा ॥१॥
ताहि मदिल का अत नहीं कछु, रवी विहून किरिनि परगासा।
तहा निरास बास करि रहिये, काहेक भरमत फिरत उदासा ॥२॥
देउ लखाय छिपावहु नाहीं, जस मैं देखउ अपने पासा। आदि
—जगजीवन साहब की बानी, पृ० ९९-१००।

२ सत्तनाम भजि गुप्तहि रहे, भेद न आपन परगट कहे ॥१॥
परगट कहे सुखित नहिं होई, सतमत ज्ञान जात सब खोई ॥२॥
—वही, भा० २, पृ० ११८।

३ सत्तनाम रस अमृत पिया, सो जग जनम पाय नहिं जिया ॥१॥
डोरी पीढी रहल है लाय, सोवत जागत बिसरि न जाय ॥२॥
कबहु मन कहु अनत न जाय, अतर भीतर रहै बनाय ॥३॥ आदि
—वही, पृ० ५३।

४ साधो, अतर सुमिरत रहिये।
सततनाम धुनि लाये रहिये, भेद न काहू कहिये ॥१॥
रहिये जगत जगत से न्यारे, दृढ ह्वै सूरति गहिये। आदि। वही, पृ० १०१।

लेता है। किसी जाँच-पड़ताल की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह न आता है न जाता है, न सीखता है, न सिखाता है, न रोता है, न आहें भरता है। वह स्वयं तर्क-वितर्क कर लेता है। उसे न सुख होता है, न दुःख ही हुआ करता है। वह न क्षोभ करता है, न क्षमा ही प्रदान करता है। उसके लिए कोई मूर्ख वा साधु भी नहीं। जगजीवन दास कहते हैं कि क्या कोई ऐसा है जो इस प्रकार दुर्व्यवस्थाओं से रहित हो मानव-समाज में रहता हुआ भी व्यर्थ की बखेड़ों में न पड़ता हो।"[1]

शिष्य तथा 'बारपाना'

जगजीवन साहब के कई शिष्य थे जिनमें से कम से कम दो का मुसलमान होना भी बतलाया जाता है। इनके प्रधान हिन्दू-शिष्यों में गोसाईंदास, दूलनदास, देवीदास, खेमदास, कोई एक उपाध्याय तथा एक चमार अधिक प्रसिद्ध हैं। दूलनदास तथा देवीदास के नाम लिखे गए जगजीवन साहब के कुछ पद्यमय पत्र भी मिलते हैं। इनमें से पाँच को 'बेलवेडियर प्रेस प्रयाग' द्वारा प्रकाशित इनकी 'बानी' के दूसरे भाग में स्थान दिया गया है। गोसाईंदास जगजीवन साहब के प्रथम शिष्य कहे गए हैं[2]। प्रसिद्ध है कि इनका जन्म एक सरयूपारीण ब्राह्मण कुल के ब्रह्मार्णव नामक व्यक्ति के घर सं. १७२७ में हुआ था। इनके पिता का देहांत बचपन में ही हो गया जिस कारण इनका भरण-पोषण अपने ही जिले बाराबंकी के किसी सरदहा नामक गाँव में हुआ। इनकी शिक्षा साधारण थी, किंतु जगजीवन साहब के सत्संग में आकर ये एक उच्च कोटि के महात्मा हो गए। भगवद्भजन के लिए इन्होंने सरदहा की अपेक्षा कमोली गाँव को अधिक उपयुक्त पाकर वहीं रहना पसंद किया और वहीं सं. १८३१ में इनका देहांत भी हो गया। इनकी रचनाएँ 'छन्दावली', 'दोहावली' और 'कहरा' नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्प्रदायियों के अनुसार दूलनदास[3] का जन्म सं. १७१७ में समसीमौं जिला लखनऊ के किसी सोमबंसी क्षत्रिय कुल में हुआ था और इनके पिता रामसिंह एक प्रतिष्ठित जमींदार थे। इन्होंने सरदहा में जगजीवन साहब से दीक्षा ग्रहण की थी और बहुत समय तक सत्संग करते हुए ये कोटवा में भी रहे थे। अपने जीवन के शेष भाग में ये रायबरेली जिले के अंतर्गत किसी

---

१ एच. एच. विल्सन : रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज, पृ. १५८ में उद्धृत।

२ दे. बोधेदास रचित 'संत परचई'।

३ 'दूलनदास' की जगह एक स्थल पर 'दास दुलारे' का भी प्रयोग हुआ है जिससे प्रकट होता है कि 'दूलन' शब्द दुलारा, लाड़ला वा प्रिय का बोधक होगा। —बानी, भाग ४, पृ. २।

'धर्म' नामक नये गाँव को बसा कर वहाँ अपना आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते रहे तथा कोई 'सदाव्रत' भी चलाते रहे। वही पर इनका देहात स० १८३५ की आश्विन कृष्ण पचमी को हो गया। कहा जाता है कि अपनी ९० वर्ष की अवस्था में इन्होने पुनर्विवाह किया था और इन्हें राम बकगदास नामक एक पुत्र भी हुआ था। इन्होने अपने अत समय तक अपनी जमीदारी का प्रबन्ध करना नही छोडा। इनकी रचनाओ में 'भ्रमविनाश', 'शब्दावली', 'दोहावली', 'मगलगीत' आदि कई एक प्रसिद्ध हैं। किंतु अभी तक इनकी बानियो का एक छोटा-सा ही सग्रह प्रकाशित है। देवीदास का जन्म स० १७३५ में लक्ष्मणग्राम, जिला बाराबकी में हुआ था। ये अमेठिया (गौड) वश के क्षत्रिय भवानी सिंह के पुत्र थे जो अपने यहाँ के एक सपन्न जमीदार भी कहे गए हैं। इनकी बाल्यावस्था मे ही इनके माता-पिता का देहात हो गया, जिस कारण इनके पालन-पोषण तथा शिक्षादि की व्यवस्था इनके किसी चाचा द्वारा की गई। ये केवल १८ वर्ष की ही अवस्था में जगजीवन साहब के सपर्क में आ गए। ये उनसे दीक्षित भी हो गए और तब से इनकी प्रसिद्धि बराबर होती गई। इनके देहात का समय स० १८७० बतलाया जाता है, जब ये सभवत १३५ वर्ष के रहे होगे। इनकी उपलब्ध रचनाओ में 'सुखसनाय', 'भरतध्यान', 'गुरुचरन', 'विनोद मगल', 'भ्रमर-गीत', 'ज्ञानसेवा', 'नारदज्ञान', 'भक्तिमगल', 'वैराग्यखान' आदि कई ग्रथो की गणना की जाती है। किंतु अभी तक इनमें से किसी के प्रकाशित होने का हमें पता नही है। इसी प्रकार जगजीवन साहब के चौथे प्रधान शिष्य खेमदास वा श्यामदास कहे गए हैं जिनका जन्म मधनापुर, जिला बाराबकी के किसी कान्य-कुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था। प्रसिद्ध है कि इन्होने पहले किसी ब्रह्मचारी से उपदेश ग्रहण करके १२ वर्षों तक घोर तपस्या की थी। तत्पश्चात् जगजीवन साहब से दीक्षा ग्रहण करके इन्होने अपने जीवन का एक बहुत बडा भाग हरि-सकरी गाँव मे रह कर व्यतीत किया। कदाचित् वही पर इन्होने स० १८३० के अत में अपना शरीर भी त्याग दिया। इनके जन्म-काल का पता नही है। इनकी उपलब्ध रचनाओ में 'काशी खड', 'तत्त्वसार', 'दोहावली' तथा 'शब्दावली' के नाम लिये जाते हैं। जगजीवन साहब के ये चार प्रधान शिष्य अर्थात् गोसाईं-दास, दूलनदास, देवीदास तथा खेमदास 'चारपावा' कहला कर प्रसिद्ध हैं। इन चारो की चार पृथक्-पृथक् गद्दियाँ स्थापित हैं तथा इनकी शिष्य-परपराएं भी प्रतिष्ठित हो चुकी हैं।

दूलनदास आदि की भक्ति-साधना

'चारपावा' के सतो की उपलब्ध रचनाओ द्वारा प्रकट होता है कि सत्तनामी

सम्प्रदाय पर पीछे सगुणोपासना का प्रभाव पड़ने लगा। इसमें संदेह नहीं कि स्वयं जगजीवन साहब की भक्ति विशुद्ध निर्गुण वाली कोटि की कही जा सकती है। परन्तु इनके शिष्यों द्वारा प्रतिपादित भक्ति का रूप ठीक वैसा ही नहीं रह गया और उस पर पौराणिक पद्धति का रंग चढ़ गया। जान पड़ता है कि इन लोगों का ध्यान पीछे देवी-देवताओं की ओर भी चला गया। इसका कारण कदाचित् इनका अयोध्या के साथ अधिकाधिक संपर्क में आना भी हो सकता है जो इनके यहाँ से अधिक दूरी पर नहीं थी। 'चारपावा' के एक प्रमुख सदस्य संत दूलनदास की रचनाओं में 'दशरथनंद' तथा श्री रघुबीर' के ध्यान की चर्चा की गई दीख पड़ती है। कहीं पर प्रसिद्ध 'रामदूत हनुमान' का स्मरण किया जाना भी स्पष्ट है जिससे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। फिर भी 'सत्तनाम' के प्रति दृढ़ आस्था तथा सुरति शब्दयोग के महत्त्व का वर्णन ही उनमें अधिक पाये जाते हैं। दूलनदास के 'साँई जगजीवन है सत्तनाम दुहाई'-जैसे प्रयोगों द्वारा अपने गुरु के प्रति किये गए प्रगाढ़ भक्ति-प्रदर्शन के अनेक उल्लेख भी मिलते हैं। दूलनदास के पदों में कहीं-कहीं सूफी फकीरों के प्रति श्रद्धा के भाव भी प्रकट किये गए हैं। उनमें सिद्धांतों की एकाध झलक फारसी मिश्रित भाषा में दीख पड़ती है।

दूलन साहब की शिष्य-परंपरा

संत दूलनदास के शिष्यों में सिद्धादास प्रसिद्ध हैं जो सुलतानपुर जिले के हरिगाँव-निवासी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। ये संस्कृत के एक अच्छे विद्वान् थे इन्हें निर्गुण-भक्ति की प्रेरणा रोग में पाये गए कष्टों से मुक्त होने पर मिली थी। ये जगजीवन साहब के कहने पर दूलनदास के शिष्य हुए थे। इनका देहांत किसी समय सं० १८८५ में हुआ था। इनकी अब तक प्राप्त रचनाओं में 'कवित्त' 'साखी' 'शब्दावली' तथा 'विरह सत्य' के नाम लिये जाते हैं। सिद्धादास के सर्वप्रसिद्ध शिष्य पहलवानदास थे जिनका जन्म-स्थान सुलतानपुर जिले का ही 'बस्तू पांडे का पुरवा' नामक गाँव था। किंतु ये रायबरेली जिले के मौलापुर गाँव में रहा करते थे। कहा जाता है कि ये जाति से सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १७७३ के लगभग किसी समय हुआ था। इनके पिता का नाम दुलई पांडे था जिनके विषय में और कुछ पता नहीं चलता। पहलवानदास पहले पल्टन में नौकरी करते थे तथा इनका शरीर बहुत हृष्टपुष्ट तथा बलशाली था। इनका विवाह प्रसिद्ध जायस के निकट किसी गाँव में हुआ था। परन्तु इन्होंने सिद्धादास से दीक्षा लेकर निरंतर बारह वर्षों तक उनकी सेवा की। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर उन्होंने इन्हें निर्गुणोपासना का भेद बतलाया जिसका

साधना द्वारा ये एक अच्छे महात्मा हो गए। ये पढ़े-लिखे कम थे, किंतु कविता करने का इन्हें अभ्यास हो गया था। इसके फलस्वरूप इन्होंने 'उपखान विवेक', 'विरहसार', 'मुक्तायन', 'अरिल्ल' आदि की रचना कर डाली। कहते हैं कि इनकी पलकें नीचे की ओर लटकी रहती थी। इनका देहात स० १९०० के लगभग किसी समय हुआ। उस समय इनका प्राय १२४ वर्षो का होना कहा जाता है तथा इनकी समाधि का भीखीपुर में ही होना बतलाया जाता है। इनका ग्रथ "उपखान विवेक' प्रकाशित हो चुका है। इससे पता चलता है कि इसमें १७९ चौपाइयाँ और २६ दोहे हैं। इसमें दिये गए उपदेशो के साथ-साथ उपयुक्त लोकोक्तियो का भी प्रयोग किया गया दीख पडता है जो हमें प्रसिद्ध जायसी कवि के ग्रथ 'मसलानामा' का भी स्मरण दिलाता है।

कोटवा-शाखा की वशावली

समर्थ विश्वेश्वर पुरीजी महाराज (गुरसरी)।
|
जगजीवन साहेब (कोटवा, जिला वारावकी)
|
(स० १७२७ १८१८)
|

दूलनदास	देवीदास	गोसाईंदास	खेमदास	नेवलदास
(समेसीगाँव, (जिला लखनऊ स० १७१७ १८३५)	(लक्ष्मणगाँव, जिला वारावकी १७३५ १८७०)	(कमोली, जिला वारावकी १७२७ १८३३)	(मधनापुर, जिला वारावकी, मृ० लगभग स० १८३०	(उदापुर, जिला वारावकी मृ० स० १८५०)

दूलनदास
|
सिद्धादास (हरिगाँव, जिला सुलतानपुर, मृ० स० १८४५)
|
पहलवानदास (भीखीपुर, जिला रायबरेली मृ० स० १९००)

दोनों शाखाओ की तुलना

इस प्रकार सत्तनामी-सम्प्रदाय की यह जगजीवन साहब वाली कोटवा शाखा उक्त नारनौल वाली शाखा से कुछ बातो से भिन्न जान पडती है। उस पहली शाखा मे सम्प्रदाय के प्राय सभी अनुयायी जाट किसान थे। उनके अधिक शिक्षित होने अथवा ग्रथ-रचना द्वारा प्रचार करने का कही पता नही

चलता। ये संभवतः साध-सम्प्रदाय के दिल्ली शाखा वाले अनुयायियों के ही भिन्न रूप थे। उनके अंतर्गत उच्च वर्ग वाले हिन्दू कदाचित् सम्मिलित भी नहीं थे। उनकी भी प्रथम प्रसिद्धि उपर्युक्त सतनामी विद्रोह के अवसर पर हुई थी और तब से उनके किसी संगठन वा मत प्रचार का पता न चला। इस कारण आज तक उनकी चर्चा अनेक विद्वान् उन्हें साधों में सम्मिलित करके ही किया करते हैं और उनके पृथक् अस्तित्व में विश्वास तक नहीं करते। परन्तु इस जगजीवन साहब वाली 'कोटवा शाखा' को एक विशेष व्यक्ति ने प्रवर्तित किया था। उसकी शिष्य-परंपरा में अनेक उच्च श्रेणी वाले लोग भाग लेते आए। इसके प्रायः सभी मुख्य प्रचारक पढ़े-लिखे थे और उन्होंने कई ग्रंथों की रचना तक की थी। ये गार्हस्थ्य-जीवन में रहते रहे किन्तु अपनी आध्यात्मिक साधना में भी सदा निरत रहने के कारण इन्होंने अपने मत का ऊँचा आदर्श ही अपने सामने रखा। इनके द्वारा अवध प्रांत के अंतर्गत संत-मत का विशेष प्रचार हुआ। सतनामी-सम्प्रदाय के इतिहास में भी इन्होंने सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। इस सम्प्रदाय की प्रथम शाखा वास्तव में साध-सम्प्रदाय का रूपांतर मात्र ही बन कर रह गई। कोई आज तक यह भी नहीं जान सका कि उसने इस दूसरी शाखा का कभी किसी प्रकार से पथ-प्रदर्शन भी किया था वा नहीं। यदि ऐसा हुआ भी तो यह उसका कहाँ तक ऋणी समझी जा सकती है।

(३) छत्तीसगढ़ी शाखा

घासीदास

सतनामी-सम्प्रदाय की एक तीसरी अर्थात् छत्तीसगढ़ी शाखा भी है जिसे बिलासपुर जिले (मध्यप्रदेश) के निवासी घासीदास ने चलाया था। कहते हैं कि घासीदास अपने को एक स्वतंत्र मत का प्रचारक माना करते थे किन्तु उन्हें उत्तरी भारत के किसी सतनामी से प्रेरणा अवश्य मिली होगी। घासीदास का पहला नाम घासीराम था और ये जाति के चमार थे। ये पहले एक निर्धन किसान थे। गिरौद नामक गाँव में जो पहले बिलासपुर जिले में था और अब रायपुर में पड़ता है किसी के यहाँ ये नौकरी करते थे। एक बार ये अपने भाई के साथ जगन्नाथपुरी का तीर्थ करने चले किन्तु कुछ दूर कदाचित् सारंगढ़ तक ही जाकर 'सतनाम' 'सतनाम' कहते-कहते वापस आ गए। तब से घासीदास गिरौद के निकटवर्ती सोनाखान जंगलों में एक विरक्त के रूप में रहने लगे और उनका सारा समय ध्यान करने में व्यतीत होने लगा। ये बहुधा गिरौद

साधना द्वारा ये एक अच्छे महात्मा हो गए। ये पढ़े-लिखे कम थे, किंतु कविता करने का इन्हें अभ्यास हो गया था। इसके फलस्वरूप इन्होंने 'उपखान विवेक', 'विरहसार', 'मुक्तायन', 'अरिल्ल' आदि की रचना कर डाली। कहते है कि इनकी पलकें नीचे की ओर लटकी रहती थी। इनका देहात स० १९०० के लगभग किसी समय हुआ। उस समय इनका प्राय १२४ वर्षों का होना कहा जाता है तथा इनकी समाधि का भीखीपुर में ही होना वतलाया जाता है। इनका ग्रथ 'उपखान विवेक' प्रकाशित हो चुका है। इससे पता चलता है कि इसमे १७९ चौपाइयाँ और २६ दोहे हैं। इसमे दिये गए उपदेशो के साथ-साथ उपयुक्त लोकोक्तियो का भी प्रयोग किया गया दीख पडता है जो हमें प्रसिद्ध जायसी कवि के ग्रथ 'मसलानामा' का भी स्मरण दिलाता है।

कोटवा-शाखा की वशावली

समर्थ विश्वेश्वर पुरीजी महाराज (गुरसरी)।
|
जगजीवन साहेब (कोटवा, जिला वारावकी)
|
(स० १७२७ १८१८)
|

दूलनदास	देवीदास	गोसाईंदास	खेमदास	नेवलदास
(समेसीगाँव, (जिला लखनऊ स० १७१७ १८३५)	(लक्ष्मणगाँव, जिला वारावकी १७३५ १८७०)	(कमोली, जिला वारावकी १७२७ १८३३)	(मधनापुर, जिला वारावकी, मृ० लगभग स० १८३०	(उदापुर, जिला वारावकी मृ० स० १८५०)

(दूलनदास)
|
सिद्धादास (हरिगाँव, जिला सुलतानपुर, मृ० स० १८४५)
|
पहलवानदास (भीखीपुर, जिला रायवरेली मृ० स० १९००)

दोनों शाखाओ की तुलना

इस प्रकार सत्तनामी-सम्प्रदाय की यह जगजीवन साहव वाली कोटवा शाखा उक्त नारनौल वाली शाखा से कुछ वातो से भिन्न जान पडती है। उस पहली शाखा मे सम्प्रदाय के प्राय सभी अनुयायी जाट किसान थे। उनके अधिक शिक्षित होने अथवा ग्रथ-रचना द्वारा प्रचार करने का कही पता नही

के बीच उत्तराधिकार के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ और सारी संपत्ति को दोनों ने आपस में बाँट लिया।
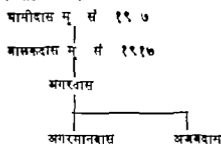
इस वंश के एकत्र होने का एक स्रोत यह था कि सतनामी अनुयायियों के प्रत्येक गाँव में गिरोद के प्रधान महंत का एक प्रतिनिधि रहा करता था जो भंडारी कहलाता था। इसका मुख्य काम गाँव वालों के सामाजिक अपराधों की सूचना-केन्द्र तक पहुँचाना था या वहाँ से उनके ऊपर जुर्माने लगाये जाते थे। इसके अतिरिक्त महंत को प्रत्येक चमार अनुयायी से कम-से-कम एक रुपया भेंट के रूप में भी मिला करता था। गिरोद में उस समय एक मेला भी लगा करता था जिसमें सतनामी एकत्र हुआ करते थे। महंत का चरणामृत लेकर उसे एक रुपये से कम पूजा ये नहीं चढ़ाते थे। परन्तु इन बातों में अब अनेक सुधार हो गए हैं।

शाखा का मूल प्रवर्त्तक

छत्तीसगढ़ी शाखा के सतनामी अधिकतर चमार जाति के हैं। इस कारण वे कभी-कभी अपने को प्रसिद्ध चमार संत रैदास के नाम पर रैदासी भी कहा करते हैं। परन्तु जहाँ तक ज्ञात हो सका है उनका वा उनके सम्प्रदाय का कोई भी प्रत्यक्ष संबंध उक्त महात्मा से कभी नहीं रहा है। रैदास कभी कदाचित् छत्तीसगढ़ की ओर गये भी न रहे हों। घासीदास ही ने सतनामी-सम्प्रदाय की इस शाखा की स्थापना सं० १८७७—१८८७ में किसी समय की थी। इसके लिए प्रेरणा उन्हें कदाचित् उस समय मिली थी जब वे कुछ दिनों के लिए उत्तरी भारत की ओर अपनी युवावस्था में आये थे। डॉ० ग्रियर्सन का अनुमान है कि घासीदास का अपनी युवावस्था में कुछ दिनों के लिए गुप्त हो जाना भी बतलाया जाता है। अतएव संभव है कि उसी समय वे उत्तरी भारत में आकर जगजीवन साहब के किसी अनुयायी द्वारा प्रभावित हुए होंगे।

---

१ आर० वी० रसेल : दि ट्राइब्स आदि, भा० १, १९१६ ई०, पृ० ३११।

से प्राय एक मील की दूरी पर एक चट्टानी पहाडी के ऊपर उगे हुए एक तेंदू वृक्ष के नीचे वैठ जाते और लोगो के साथ सत्सग करने लगते थे। इस वृक्ष का अस्तित्व आज भी एक स्थान पर वतलाया जाता है। वहाँ वहुत-से सत्तनामी मदिर वन चुके हैं। जहाँ तीर्थ-यात्रा के लिए सत्तनामी प्रति वर्ष आया करते हैं। घासीदास ने क्रमश महत्व की पदवी प्राप्त करली और इनके चमत्कारो की चर्चा दूर-दूर तक फैलने लगी। इनके सत्सग मे आनेवाले इनके चरणामृत को वाँस की नालियो में वद करके दूर-दूर तक ले जाते और परिवार के साथ उसे पान करते थे। अत मे वाहर निकल कर ये अपने सत्तनामी-मत का प्रचार करने लगे। इनका शरीर अत्यत गौर तथा सुदर था। इनका व्यक्तित्व वडा प्रभावशाली था। ये अशिक्षित थे, किन्तु स्वजातीय चमारो के प्रति इनके हृदय में वडी सद्भावना थी। उनकी उन्नति की ओर ये निरतर उद्योगशील रहे। ये उनमें वहुधा भ्रमण भी किया करते और अपन सद्व्यवहार तथा सहानुभूति द्वारा उन्हे सदा प्रभावित करते रहते। इस कारण कुछ ही दिनो में ये एक लोकप्रिय नेता वन गए। कहा जाता है कि एक वार जव ये अपने पुत्र द्वारा लायी गई मछली खाने जा रहे थे कि उसने इन्हे ऐसा करने से रोका और ये मान भी गए। परन्तु इनके दो पुत्रो तथा इनकी स्त्री ने नही माना और उनका देहात हो गया। इससे खिन्न होकर ये आत्महत्या करने के लिए एक वृक्ष पर चढ गए। सयोगवश पेड की शाखाएँ नीचे की ओर झुक गई और ये वच गए। उस वृक्ष के देवता ने इनके दो मृत पुत्रो के साथ प्रत्यक्ष होकर इन्हें आदेश दिया कि तुम जाकर सत्तनामी-मत का प्रचार करो।

उत्तराधिकारी

जो हो, घासीदास अपनी ८० वर्षों की आयु पूरा कर स० १९०७ में मर गए और अपने पुत्र वालकदास को अपना उत्तराधिकारी छोड गए। वालकदास कुछ उग्र स्वभाव के थे और उच्च वर्ग के हिन्दुओ का जी दुखाने के उद्देश्य से कभी-कभी यज्ञोपवीत धारण कर कई अवसरो पर उपस्थित होने लगे। इस कारण एक वार जब ये रायपुर की ओर जाते समय रात को अमावाँव मे ठहरे थे, राजपूतो के एक दल ने इन्हें स० १९१७ में मार डाला। वालकदास ने किसी चित्रकार की लडकी से अपना विवाह किया था। जव वे मार डाले गए, तव उनके पुत्र साहिवदास उनके उत्तराधिकारी वन गए। परन्तु वालकदास की उक्त स्त्री ने उनके भाई अगरदास के साथ अपना पुनर्विवाह कर लिया था। इस कारण अगरदास के ही साथ मे प्रवध का सारा भार आ गया। अगरदास के अनतर उक्त स्त्री से उत्पन्न अजवदास तथा उनकी पूर्व-पत्नी के पुत्र अगरमानदास

ज्यों-का-त्यों विशुद्ध सतनामी बन सकता है।[1]

सामाजिक नियम

सतनामियों के सामाजिक नियम अधिकतर साधारण चमारों से मिलते जुलते हैं। ये धोबियों, पसियारों वा मेहतरों को नहीं अपनाते। उनके विवाह का माघ से वैशाख तक संपन्न हो जाना आवश्यक है। सगाई श्रावण या पूस के महीने में नहीं हो सकती। ये अपने शव को मिट्टी खोद कर गाड़ते हैं, किंतु उसका मुँह नीचे की ओर ही होना चाहिए और नीचे तथा ऊपर कपड़े फैला देना चाहिए। ये केवल तीन दिनों तक शोक मनाते हैं और तीसरे दिन मूँछ छोड़कर सभी बाल सफा करा लेते हैं। छत्तीसगढ़ी कबीर-पंथियों की भाँति ही ये मद्यपान करनेवालों को 'शाक्त' नाम दिया करते हैं और उन्हें अपने से नीचा भी समझते हैं। किसी सतनामी को यदि कोई बड़ा-से-बड़ा आदमी भी पीट दे अथवा उसे कोई मेहतर वा बसियारा छू दे तो वह सम्प्रदाय से बहिष्कृत समझा जाता है। सतनामी कभी-कभी आपस में दधिकाँदो भी खेला करते हैं। दही को पैरों तले कुचलने में आनंद का अनुभव करते हैं। सतनामी-सम्प्रदाय की इस तीसरी शाखा वालों की बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनसे प्रतीत होता है कि ये विशेषकर चमार जाति की दशा सुधारने तथा उसे उन्नत करने के लिए ही समाविष्ट की गई है। इस प्रकार की कोई भी बात जगजीवनदास साहब वाली शाखा में लक्षित नहीं होती। जगजीवन साहब वाली शाखा में भी हिन्दू-समाज की निम्न श्रेणी वाले बहुत-से लोग सम्मिलित हैं। कहा जाता है कि इस प्रकार के लोग उसके भीतर उनकी शिष्य-परंपरा के किसी कोरी की प्रेरणा से सर्व प्रथम आये थे[2]। छत्तीसगढ़ी शाखा अधिकतर सामाजिक सुधारों की प्रधानता के कारण अपने अनुयायी चमारों की एक उप-जाति-सी बन गई है। नारनौल वाली शाखा की ही भाँति छत्तीसगढ़ी शाखा का भी कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है।

साध तथा सतनामी

सतनामी-सम्प्रदाय की तीनों शाखाओं की जो कुछ विशेषताएँ रही हैं वे समय पाकर विस्मृत होती जा रही हैं। ये लोग भी अब अन्य कई पंथों के अनुयायियों की भाँति साधारण हिन्दू-समाज में अधिकाधिक मग्न होते जा रहे हैं। इनमें बहुत-सी बातें साधारण वैष्णवों की भी प्रवेश कर गई हैं। फिर भी

१ आर० वी० रसेल तथा राय बहादुर हीरालाल : वि ट्राइब्स आदि भा० १ १९१६ ई० पृ० ३१२-३।

२ जा० ब्रिग्स : दि चमार्स : दि रिलिजस लाइफ ऑफ इंडिया सिरीज पृ० २२१।

सिद्धात

इन सत्तनामियो के अनुसार ईश्वर एक है और वह निर्गुण तथा निराकार है जिसकी न तो कोई मूर्ति हो सकती है, न जिसकी मूर्ति-पूजा का ही कोई विधान हो सकता है। देवताओ मे केवल एक सूर्य-मात्र है जिनकी पूजा की जा सकती है और जिनसे अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करना भी हमारा कर्त्तव्य है। गीरोद के प्रधान मदिर मे किसी मूर्ति की स्थापना नही की गई है, किंतु सम्प्रदाय का प्रधान महत वहाँ जाकर किसी कठिन समस्या का समाधान कराया करता है।

नैतिक नियम

घासीदास के सात मुख्य आदेश है जिनमें मद्य, मास, मसूर, लाल मिर्च, तवाकू, टमाटर तथा वैगन के खाने-पीने का निषेध भी सम्मिलित है। तरोई का खाना भी वे इस कारण वद कर गए थे कि उसकी सूरत भैस की सीग की भाँति टेढी हुआ करती है। सत्तनामियो के यहाँ गाय का हल में जोतना तो वर्जित है ही, दोपहर के अनतर हल चलाने को वे एक भीषण पाप समझते हैं। उन्हें यह भी स्वीकार नही कि उनके खाने का सामान हलवाही वाले खेत तक लाया जाय। दोपहर के अनतर हल न चलाने की प्रथा कुछ दिनो पहले से वस्तर निवासी गोडो में चली आती थी और सत्तनामियो ने कदाचित् उन्ही से इस वात में प्रेरणा प्राप्त की थी। सत्तनामियो में वर्ण-व्यवस्था का पालन भी निषिद्ध समझा गया था। घासीदास के वशजो के अतिरिक्त अन्य सभी एक ही जाति के माने गए थे। सम्प्रदाय के कठोर नियमो के अक्षरश पालन करनेवाले 'जह-रिया' कहलाते है। वे चारपाई पर कभी नही सोते, अपितु पृथ्वी पर ही लेट जाते हैं, मोटे कपडे पहना करते है और केवल दाल-चावल खाते हैं। इनके नियमो में तवाकू के व्यवहार का सर्वथा त्याग कर देना है, किंतु कुछ लोग अभी तक उसे अत्यत कठोर समझ कर उसका उचित रूप से पालन नही कर पाते। सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक घासीदास के समय मे ही तवाकू वाले प्रश्न पर सत्तनामियो के दो दल हो गए थे। तवाकू-सेवन का समर्थन करनेवाले अपने चोगी वा पत्ते की चिलम के कारण 'चुगिया' नाम से प्रसिद्ध हो चले थे। किंतु घासीदास ने उक्त नियम का मशोधन, कर दिया। उन्होने वतला दिया कि चुगिया सदा के लिए सम्प्रदाय वाह्य नही किये जा सकते। वे तवाकू-सेवन के कारण केवल निम्न श्रेणी में आ जाते हैं, जहाँ से ऊपर उठ कर सच्चा सत्तनामी वनने के लिए उन्हें गुरु के सामने एक नारियल फोड कर उसे कुछ भेंट दे देना चाहिए, साथ ही उस आदत को छोड भी देना चाहिए। ऐसा करने पर वह फिर

का विरक्त वेष धारण किया था ।[1] इसके सिवाय इनके अनुयायियों द्वारा कहा गया कहीं-कहीं यह भी सुनने में आता है । इनका अवतार सं० १६३२ सन् १५७५ ई० में परसराम तथा विरमा के घर हुआ था ।[2] परन्तु यदि सं० १७११ में इनका विरक्त होना निश्चित है तो इनका जन्म-संवत् १६३२ मानने पर इनकी अवस्था उस समय ८१ वर्ष की ठहरती है जो विचार करने पर अधिक प्रतीत होती है । प्रसिद्ध है कि इनका देहांत इनकी वृद्धावस्था में हुआ था और अपने जीवन के पूर्व भाग में इन्होंने अपने यहाँ के जमींदारों के यहाँ नौकरी भी की थी । परन्तु केवल इतनी ही जानकारी के आधार पर इस विषय में अंतिम निर्णय देना उचित नहीं जान पड़ता । संभव है, सं० १६३२ वाली भी बात कोरी जनश्रुति हो ।

आत्म-परिचय

इनकी उक्त रचना 'प्रेमप्रगास' में स्वयं इन्हीं का दिया हुआ कुछ व्यक्तिगत विवरण इस प्रकार मिलता है । उस समय 'माँझी गाँव जिला सारन प्रांत बिहार तथा उसके आसपास का भू-खंड 'मध्येम' अथवा मध्यदीप कहला कर प्रसिद्ध था । मध्यदीप के पूरब की ओर 'हरिहर क्षेत्र' और पश्चिम दिशा में 'दर्दर क्षेत्र' नामक पुण्यक्षेत्र थे । अपने निकटवर्ती ब्रह्मपुर के कारण यह (मध्यदीप) भी कभी-कभी 'ब्रह्मक्षेत्र' कहलाता था । माँझी गाँव एक समृद्धिशाली नगर था जहाँ पर नवाब जमींदारों के महल थे। चारों ओर वापी कूप तड़ाग उद्यान और पुष्प-वाटिकाएँ थीं। बीच-बीच में सुन्दर हाट लगते थे और जहाँ तहाँ देव-स्थानों का भी बाहुल्य था जहाँ निरंतर हरि चर्चा हुआ करती थी । इसी माँझी के निवासी श्रीवास्तव कायस्थों के एक वैष्णव-कुल में बाबा धरनीदास का जन्म हुआ था । इनके दादा टिकइतदास एक धार्मिक व्यक्ति थे और इनके पिता परसरामदास भी एक बड़े यशस्वी और प्रभावशाली पुरुष थे । कहा जाता है कि टिकइतदास (अथवा उस समय के टिकैतराम) मुसलमानी आक्रमणों से भयभीत होकर प्रयाग की ओर से इधर आये थे । यहाँ आने पर ही परसराम दास को अपनी स्त्री बिरमावती से बरती बनी रूपिराम छत्रपति और कुलमनि

---

१ 'संमत सत्रह सो चलि गयऊ । तेरह अधिक ताहि पर भैऊ ॥
   साहजहाँ छोड़ि दुनियाई । पसरी औरंगजेब दुहाई ॥
   सोच बिसारी आतमा जागी । धरनी धरेउ भेष बैरागी ॥

२ संवत सोरह सो चलि गयऊ । अधिक ताहि पर बत्तिस भयऊ ॥
   परसराम अरु बिरमा माई । ता घर देवी प्रगटे आई ॥

साधो और सत्तनामियो में एक महान् अतर इस बात का रहता आया है कि ये लोग अपने शरीर पर कुछ-न-कुछ चिह्न-विशेष भी धारण करते हैं। उदाहरण के लिए कोटवा शाखा के सत्तनामी बहुधा लाल रग के वस्त्र तथा टोपी पहना करते हैं और मिट्टी का टीका करते है। इनमे से निम्न श्रेणी के श्रद्धालु अनुयायी कभी-कभी 'गायत्री-क्रिया' नाम की एक विधि का भी अनुसरण करते है। इनमे प्रसिद्ध है कि वे मानव-मलमूत्रादि के एक प्रकार के घोल के पीने को भी सम्मिलित करते है जो सभवत अघोरियो के प्रभाव का फल है।[1] सत्तनामियो मे अधिकतर साधारण मजदूर तथा किसान ही पाये जाते है। इनमें निम्न श्रेणी के लोग कही अधिक सख्या में सम्मिलित हैं, किंतु साध-सम्प्रदाय के अनुयायियो ने अपना एक पृथक् समाज-सा बना रखा है। इसमें किसानो की अपेक्षा व्यवसायियो की अधिकता है जिसे हम वैश्य जाति की श्रेणी में रख सकते हैं। सत्तनामियो में इसी प्रकार सभवत कोटवा शाखा के कुछ अनुयायियो को छोड कर अशिक्षित व्यक्तियो की ही भरमार है, किंतु साधो में शिक्षित अथवा कम-से-कम अर्द्ध-शिक्षित लोगो की सख्या कम नही है। साध लोग अपनी रहन-सहन मे सत्तनामियो से अधिक कट्टर भी जान पडते हैं। किसी दूसरे समाज के व्यक्तियो से भरसक कोई सपर्क नही रखना चाहते, किंतु छत्तीसगढ वालो के अतिरिक्त अन्य सत्तनामियो में इस प्रकार के पार्थक्य की प्रवृत्ति नही दीख पडती।

५ धरनीश्वरी-सम्प्रदाय

बाबा धरनीदास का जीवन-काल

बाबा धरनीदास एक उच्च कोटि के महात्मा हो गए हैं और इनके अनुयायियो की सख्या भी कम नही है। किंतु अन्य कई पथो की भाँति इनकी शिष्य-परपरा मे कभी सगठन तथा मत-प्रचार की चेष्टा नही की गई, जिस कारण इनकी प्रसिद्धि अधिक न हो सकी। इनके जन्म वा मरण की तिथियो का ठीक-ठीक पता लगाना भी अभी तक कठिन है। इनके जीवन की घटनाओ के उपलब्ध विवरण आज तक अधिकतर अनुमान पर ही आश्रित जान पडते है। इनके विषय में लिखने वालो ने इनके जन्म का होना सवत् १७१३ सन् १६५६ ई० में बतलाया है, किंतु यह अशुद्ध समझ पडता है। इनकी रचना 'प्रेमप्रगास' की एक हस्तलिखित प्रति से पता चलता है कि उक्त स० १७१३ मे इन्होने 'वैरागी'

---

१ जोगेन्द्र भट्टाचार्य · हिन्दू कास्ट्स ऐंड सेक्ट्स, थैकर स्पिक ऐंड कपनी, कलकत्ता, १८९६, पृ० ४९१।

आत्म-तृप्ति के लिए ये सदा किसी पहुँचे हुए गुरु की खोज में रहने लगे थे। अपने प्रारंभिक जीवन में इन्होंने किसी चंद्रदास नामक गुरु से दीक्षा ग्रहण की थी और भेष बदलते समय इन्होंने किसी सेवानंद से भी मंत्र लिया था। फिर ये किसी ऐसे सद्गुरु की खोज में लगे जो इन्हें परमतत्त्व का पूर्ण परिचय करा देने में समर्थ हो। ऐसे ही अवसर पर इन्हें किसी से पता चला कि पातेपुर वर्तमान जिला मुजफ्फरपुर में कोई विनोदानंद जी रहते हैं। अतएव उनका शिष्य होने की अभिलाषा से ये वहाँ पहुँच गए और उनकी सिद्धि की परीक्षा लेने के विचार से उनकी चौकी के एक पाये में सर्प बन कर लिपट गए। स्वामी विनोदानंद उस समय नित्य की भाँति चौकी पर बैठ कर कथा कहने में संलग्न थे। कथा के समाप्त होते ही उन्होंने अपने चौके के रसोइये से कहला भेजा "आज एक अतिथि के लिए भी पारस लगाना। फिर अपने स्थान से उठते हुए बोले "आओ भाई चलो भोजन करें, चौकी में क्यों लिपटे हुए पड़े हो। धरनीदास यह सुनते ही प्रत्यक्ष हो गए और उनके चरणों पर गिरकर इन्होंने उनसे क्षमा-प्रार्थना की। कहते हैं कि इस घटना के अनंतर ये उनसे दीक्षित भी हो गए और कुछ काल तक उनके साथ रह कर इन्होंने उनके द्वारा अपने उक्त अभीष्ट की प्राप्ति की।

गुरु-परंपरा

उक्त प्रकार की कथा धरनीदास की किसी उपलब्ध रचना में नहीं मिलती। किंतु अपने गुरुदेव विनोदानंद का उल्लेख इन्होंने बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति के साथ किया है। उन्होंने बतलाया है कि उन्हीं की कृपा से "मैं माया मोह से जाग उठा और उनका हाथ सिर पर पड़ते ही सब कुछ मेरे प्रत्यक्ष अनुभव में आ गया। धरनीदास ने अपनी 'रत्नावली' में एक छप्पय में अपनी गुरु-परंपरा की भी चर्चा की है।[1] इससे स्पष्ट है कि इनकी गुरु प्रणाली के अंतर्गत रामानंद से लेकर क्रमशः सुर सुरानंद, क्षेमानंद, पूर्णानंद, चेतनानंद, बिहारीदास, रामदास और विनोदानंद के नाम आते हैं। इन्हीं विनोदानंद द्वारा इन्होंने अपने हृदय के प्रकाशित होने का भी उल्लेख किया है। इन्होंने अन्यत्र उक्त रामानंद की भी गुरु-परंपरा आदि

---

१ 'सतगुरु रामानंद चंद पूरन परगासो।
सुरसा सुरसुरानंद बहुलियानंद बकासो॥
लहृत सुमि पूर्णानंद चेतनानंद बतायो।
बीरद बिहारीदास रामानंद रहायो॥
श्रीमत विनोदानंद प्रभु सो बरस परस परताप भयो।
धरनीदास परभात पर सो गुरु परनाली गही लयो॥६॥

नामक पाँच पुत्र हुए थे जिनमें धरनी कदाचित् सबसे बडे थे। इन पाँचो में से धरनी को छोड कर शेष चार की वंश-परपरा धरनीश्वरी नाम से आज भी विख्यात है। धरनी का विवाह चकिया नामक गाँव में हुआ था और इनके दो पुत्र थे तथा चार पुत्रियाँ थीं। इनके दोनो पुत्रो का नि सतान की दशा में ही देहावसान हुआ था, किंतु कहा जाता है कि इनकी लडकियों में से किसी एक की सतानो का पता आज भी चलता है।

विरक्ति

इनकी उक्त रचना के आधार पर इतना और भी विदित होता है कि स० १७१३ क आषाढ मास में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा बुधवार के दिन इनक पिता परसरामदास का देहात हुआ। इस घटना ने इनके परिवार तथा माँझी गाँव तक को बहुत कुछ श्रीहत कर दिया। कहा जाता है कि उस समय धरनीदास स्थानीय नवाब जमीदारो के यहाँ दीवान के पद पर नियुक्त थ। पितृ-निधन के शोक से इनका हृदय सहसा क्षुब्ध हो उठा और ये अब अपने कार्य से सदा खिन्न तथा उदासीन रहने लगे। इनके पूर्व-सस्कार तथा धार्मिक परिवार-सबधी वातावरण ने भी इनकी विरक्ति के क्रमश दृढतर होने मे सहायता पहुँचायी और ये भगवच्चितन मे लीन रहने के अभ्यासी हो गए। इनकी मनोवृत्ति इस समय इतनी परिवर्तित हो गई थी कि एक दिन बैठे-बैठे जमीदारी के कागज देखते समय इन्होंने उन पर अचानक अपने हुक्के वा लोटे का पानी उडेल दिया। इससे सभी बही-खाते भीग कर सराबोर हो गए और इनके मालिक इन पर बिगडने लगे। परन्तु अपने अप्रसन्न मालिको के आग्रह करने पर इन्होंने कहा कि सुदूर पुरीधाम मे आरती के समय जगन्नाथजी के कपडो मे आग लग गई थी जिसे बुझाने के यत्न मे मैंने ऐसा किया था। पीछे जब दो आदमियो को भेज कर इस बात की जाँच करायी गई, तब पता चला कि वास्तव मे वहाँ ऐसी घटना घटी थी। धरनीदास की ही आकृति वाले किसी पुरुष ने उसे वहाँ पहुँच कर बुझाया भी था। इनके मालिक इस बात को सुन कर बहुत चकित और प्रभावित हुए। परन्तु धरनीदास ने उसी दिन से अपनी नौकरी का त्याग कर दिया और तब से ये विरक्त-वेश मे रहने लगे। प्रसिद्ध है कि इसी अवसर पर इन्होंने पहले पहल एक पक्ति भी कही थी।[1]

दीक्षा

परन्तु इनके हृदय में अभी तक अविचल शाति नही आ पायी थी और पूर्ण

---

१ 'अब मोहि रामनाम सुधि आई, लिखनी ना करौं रे भाई।'

की एक प्रति मौसी जाने पर सन् १९२७ ई० में मिली थी जो सन् १८८७[1] ई० की छपी थी। इसका प्रकाशन प्रथम संस्करण के रूप में नरसिंह सरण प्रेस छपरा से हुआ था। इसके अक्षर ठीक नहीं थे। बसु महोदय का कहना है कि उक्त संस्करण के अंतिम अंश में जो संभवतः पीछे की रचना है बाबा धरनीदास के विषय में यह लिखा[2] मिला और कुछ अन्य प्रशंसात्मक पद भी मिले। मौसी के किसी पुस्तकालय में उन्हें 'प्रेमपरगास' की भी एक हस्तलिखित प्रति मिली थी जो बाबा धरनीदास से आठवीं पीढ़ी के शिष्य रामदास के आदेशानुसार लिखी गई थी। बसु महोदय के वहाँ जाने के समय वहीं पर हरीनंदनदास वर्तमान थे। 'शब्दप्रकाश' 'प्रेमपरगास' तथा 'रत्नावली' की हस्तलिखित प्रतियाँ उनके देखने में भी आयी थी जिनमें से 'प्रेम प्रगास' का लिपिकाल 'ता० २१ माह माघ सन् १२८१ साल शुभ दिन बुध श्रीपी-पंचमी' दिया है। इसी प्रकार 'रत्नावली' के अंत में भी "समत १८९९ सर्वनाम माह फाल्गुन वदी पंचमी रोज मनीचर के तैयार भैल' लिखा मिलता है।

प्रेमप्रगास तथा रत्नावली

'प्रेम परगास' एक प्रेम-कहानी का आधार लेकर निर्मित ग्रंथ है जिसमें सूफियों की शैली के अनुसार जीवात्मा तथा परमात्मा का मिलन दरसाया है। बाबा धरनीदास ने मनमोहन तथा प्रानमती की प्रेम-कथा लिखी है। उनके विरह यात्रा-कष्ट आदि के विवरण तथा सौदागर और मैना का प्रसंग भी प्रायः उसी ढंग के दिये हैं जैसे मलिक मुहम्मद जायसी के ग्रंथ 'पदमावत' में दीख पड़ते हैं।[3] अपने ग्रंथ की रचना का समय इन्होंने 'पुग मुदि५ पुष्य नक्षत्र तथा गुरुवार' दिया है किंतु कोई संवत् नहीं बतलाया है। ग्रंथ-रचना का स्थान भी इन्होंने 'मेहसि' कहा है किंतु उसका कोई भौगोलिक परिचय नहीं दिया है। ग्रंथ में इन्होंने प्रसंग का कुछ आत्मकथा भी दे दी है। पुस्तक बड़ी रोचक शैली में लिखी गई है और इसके अनेक स्थल वास्तव में विस्तारपूर्ण हैं। 'रत्नावली' के अंतर्गत बाबा धरनीदास ने अपनी गुरु-परंपरा के संबंध में बहुत कुछ परिचय दिया है। उन्होंने बतलाया है कि हमारा पथ स्वामी रामानंद के परिवार में साधु विनोदानंद की

---

१ ए शार्ट नोट आन धरनीदास : ए हिंदी पोएट ऑफ दि सेवेन्टीन्थ सेंचुरी दि जर्नल ऑफ दि बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसायटी, भा० १४ १९२८ ई० पृ० २८५।

२ 'कविरा पुनि धरनी भयो शाहजहाँ के राज'।

३ "हरित्र पुरुष को भाव आत्मा औ परमात्मा।
बिछुरे होत मेराव धरनी प्रगट बरनी कहत' ॥

गुरु नारायण से लेकर राघवानद तक बतलायी है। एक और पद्य के द्वारा उनके शिष्य अनतानद, कबीर, सुरसुरानद, भवानद, रैदास, गलगलानद, नरहरि, सघना, सुखानद, पद्मानद, पीपा, सेना तथा घनादास के नाम गिनाये हैं। इस प्रकार इसमे सदेह नही रह जाता कि इनके उक्त रामानद का अभिप्राय प्रसिद्ध स्वामी रामानद से है। धरनीदास का कहना है कि विनोदानद ने प्रकट रूप मे तो मुझे माला पहनायी और माथे पर तिलक लगा दिया। किंतु वास्तव मे उन्होंने मेरे हृदय से माया को दूर कर मुझे तुरीया-भक्ति प्रदान कर दी। मैं उनके शब्दो को अपने श्रवणो से सुनते ही 'चिहुक उठा', मेरा लोकाचार का मार्ग छूट गया, माया-मोह के बधन टूट गए, मैं साधुओ की पक्ति मे मिल गया, प्रेम बढ जाने के कारण काया को 'उस परमतत्त्व' का परिचय प्राप्त हो गया और प्रभु के साथ निरतर प्रीति लग गई। अपने उक्त गुरु विनोदानद के देहात का समय धरनीदास ने 'रतनावली' मे स० १७३१ की श्रावण कृष्ण ९ और दिन बुधवार दिया है।

अतिम समय

धरनीदास अपने गुरु विनोदानद के यहाँ से लौटने पर अपने जन्म-स्थान के निकट ही कुटी बना कर रहने लगे। वही रह कर ये अपने भजनभाव मे लीन रहा करते थे और अपनी रचनाओ द्वारा उपस्थित जनता को उपदेश दिया करते थे। इनका गगा-स्नान सदा ब्रह्मपुर के पास होता रहा जो इस समय माँझी से पूरब की ओर लगभग छह मील की दूरी पर वर्तमान है। इनके भजन का स्थान आगे चल कर रामनगर के नाम से विख्यात हुआ और वहाँ पर निर्मित मदिर 'धरनेस्वर का द्वारा' कहा जाने लगा। उक्त स्थान पर रहते हुए कुछ काल व्यतीत कर लेने पर अपनी वृद्धावस्था मे बाबा धरनीदास किसी दिन अपने शिष्यो के साथ गगा तथा घाघरा के सगम पर पहुँचे और वहाँ जल पर चादर बिछा कर बैठ गए। कहते हैं कि कुछ समय तक इन्हे उपस्थित लोगो ने उसी प्रकार बैठे पूरब की ओर बहते जाते देखा, किंतु दूर चले जाने पर उन्हे एक ज्वाला-मात्र दिखलायी पडी और वह भी अत मे क्षितिज मे विलीन हो गई। फिर इन्हे किसी ने नही देखा और माँझी लौट कर इनके शिष्यो ने इनकी समाधि बना दी। वही इनके नाम एक तब से गद्दी चलती है और इनकी शिष्य-परपरा का कोई महत उस पर प्रतिष्ठित समझा जाता है।

रचनाएँ

बाबा धरनीदास की रचनाओ मे से 'प्रेम प्रगास', 'शब्दप्रकाश' तथा 'रतनावली' प्रसिद्ध हैं। इनकी बानियो का एक सग्रह 'धरनीदासजी की बानी' नाम से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हो चुका है जिसमे अधिकतर उक्त 'शब्दप्रकाश' की ही रचनाएँ मिलती हैं। शातिनिकेतन के बाबू अनाथनाथ बसु को 'शब्दप्रकाश'

ढंग से किये हैं। वास्तव में राम अथवा कृष्ण किसी के भी सगुण रूपों या लीला
से इन्हें काम नहीं है। ये उन्हें अपने 'करता राम' के प्रतीक मात्र ही समझते हैं
राम तथा कृष्ण के प्रसंग इनके विविध प्रकार के भक्ति-भावों के प्रदर्शन
प्रयुक्त किये गए साधनों के रूप में ही आये हैं। अपने भक्त-रूप का परिचय
इन्होंने दिया है।[1] इससे स्पष्ट है कि इसके द्वारा ये किसी मानसिक स्थिति की ओर
ही संकेत करते हैं और बाह्य पूजनादि को उतना महत्त्व देते हुए नहीं जान पड़ते

निर्गुण-पंथ

बाबा धरनीदास ने स्वामी रामानंद के सम्प्रदायानुसार तुलसी की माला त
तिलक की प्रशंसा की है और अपने 'रत्नावली' ग्रंथ में इन्होंने यहाँ तक कह डा
है[2] जिससे उक्त साम्प्रदायिक भेष के प्रति इनकी बड़ी श्रद्धा प्रकट होती है। फि
भी इन्होंने अन्यत्र इसे स्पष्ट कर दिया है।[3]

इस प्रकार इनका अंतिम ध्येय संत-मत का अनुसरण ही प्रतीत होता है

---

१ 'चित चितसरिया मैं पिहलों लिखाई।
हृदय कमल धइलों दियना लेसाई॥
प्रेम पलंग तँह धइलों बिछाई।
नखसिख सहज सिंगार बनाई॥
हृदय कमल बिच आसन मारी।
ले सरधा जल चरन पखारी॥
हितकै चंदन चरचि चढ़ायो।
प्रीति के चंवर पवन डोलायो॥
भाव को भोजन परसि जेवायो।
जो उबरा सो जूठन पायो॥
धरनि इतउत फिरहि न ओरे।
सनमुख रहहि दोऊ कर जोरे॥

२ 'तुलसी कंठ तिलक हरि बंदित धरनी धन्य सो देही।
रामानंद श्रीसार छाप कलि मुक्ति को मारग एही॥

३ 'धरहु धाति धसे बिन बचन मुख भला नहिं निस्तार और।
पोथहुन पण्डित सब ज्ञानी कहे है परम बचौर के ठौरे॥
जो लगि निरगुन पंथ न सूझे भ्रमत रहा महिमंडल दौरे।
तरत अनहद लगि मिट जाये चारो पन बनि ऐन निगौरे॥
—धरनीदासजी की बानी, बेलवेडियर प्रेस प्रयाग सन् १९११ ई० पृ० ३४

प्रणाली के अनुसार अग्रसर हुआ। इसका छापा ले लेनेवाले को किसी प्रकार के पाप नही लग सकते। इस ग्रथ मे इन्होने अनेक सतो तथा भक्तो के सक्षिप्त परिचय दिये है और नाथ-पथ के प्रमुख प्रवर्त्तको तथा प्रचारको का भी वर्णन किया है। ग्रथ मे वहुत-से पद है जिनमे लीलाएँ भी है।

शव्द प्रकाश

'शव्द प्रकाश' वावा धरनीदास के विचारो तथा सिद्धातो का परिचायक ग्रथ है। इसकी ४०१ साखियाँ प्रसगो वा भिन्न-भिन्न ४३ शीर्षको के अतर्गत सगृहीत हैं। इसकी भिन्न-भिन्न साखियो द्वारा प्राय सभी प्रकार की धार्मिक वातो पर प्रकाश डाला गया है। यह रचना उक्त तीनो मे सवसे अधिक प्रौढ जान पडती है। वावा धरनीदास परमतत्त्व को 'करता राम' के नाम से अभिहित करते है। अपने इष्टदेव 'वालगोपाल' वा 'धरनीश्वर' को उसी का प्रतीक मानते हुए-से जान पडते हैं। ये कहते हैं, "सारी सृष्टि का विस्तार उस करता की इच्छा के ही अनुसार हुआ है और वही फिर उसे सकेल भी लेगा। जिसे जहाँ विश्वास होता है उसे वही विश्राम मिलता है और अपने-अपने मतानुसार सभी अपने इष्टदेव निर्धारित करते हैं। किंतु यदि सच कहा जाय तो करता एक रहस्यमय तथा निराधार तत्त्व है जिसके भीतर हम सभी रहते हैं। वही हमारे भीतर भी सदा विराजमान है, केवल अपने मन की भ्राति दूर करने पर विवेक द्वारा उसे हम जान सकते हैं। उसका सकेत-मात्र भी मिल जाने पर हमारे हृदय मे उसके लिए उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। उस राम के प्रति उपजा हुआ प्रेम हमे घायल-सा वना देता है, उसकी टीस अपने हृदय से कभी दूर नही हो पाती और हमारे निकट से सारे नेम, आचार-विचार उठ भाग खडे होते हैं।" इनका कथना ध्यान देने योग्य है।[1]

साधना का रूप

वावा धरनीदास ने दापत्य-भाव के अनुसार अनेक रचनाएँ की हैं और प्रेमा-भक्ति के स्वरूप का भी वर्णन किया है। स्वामी रामानद की परपरा से सवध होने पर भी केवल इष्टदेव राम के प्रति प्रदर्शित सेव्य-सेवक भाव के ही उदाहरण इनके ग्रथों मे नहीं मिलते, अपितु श्रीकृष्ण भी इनके वैसे ही इष्टदेव जान पडते हैं। जहाँ कही भी उनका प्रसग आया है, वहाँ उनके वर्णन इन्होने अत्यत विशद् तथा सुदर

---

१ 'सूर मरै तौ एक दिन, सती जरै दिन एक।
धरनी भगतन्ह वारिए, जो जन्म निवाहे टेक ॥१८॥'
'साधु की सगति सेजरी, वाँसभर विस्वास।
निर्भै चरन पसारि कै, सोवे धरनीदास ॥२०॥'

महंत रामप्रसादी दास को उसने अपने दीक्षा-गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया। बाबा चैनराम आगे चल कर एक बड़े उच्च कोटि के महात्मा हुए। उनकी शिष्य-परंपरा उनका सं० १८८५ में देहांत हो जाने पर बलिया जिले में चल निकली। इनके शिष्य प्रशिष्यों में महाराज बाबा सुविष्ठ बाबा बाबा रघुपतिदास-जैसे कई महात्मा अपने शुद्ध सात्विक जीवन के लिए आज तक विख्यात हैं। उनमें से कुछ के नाम से मेले भी लगा करते हैं।
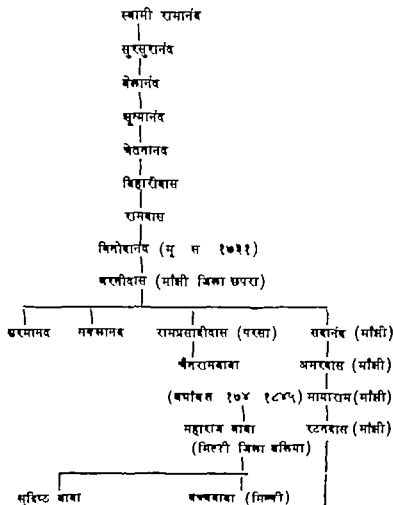
अपनी 'बोधलीला' नामक छोटी-सी रचना में इन्होने बतलाया है कि किस प्रकार इन्हें सतो की बातें सुन कर और उनके साथ सत्सग करने के अनतर जगत् के मिथ्यात्व का बोध हुआ। सभी अनस्थिर वस्तुओ के आधार-स्वरूप एक मात्र नित्य तथा निरजन तत्त्व के विषय में अनुमान होने लगा और जान पडा कि सब कुछ 'सागर एक अनेक हिलोरा' मात्र हैं। हमारा कल्याण उसे अनुभव कर जीवन्मुक्त की दशा में आ जाने पर ही सभव हो सकता है। इन्होने अपनी 'महराई' नाम की एक अन्य छोटी-सी भोजपुरी रचना में मुरली ध्वनि के रूपक द्वारा अनाहतनाद के श्रवण करने का चित्र भी बडे मार्मिक ढग से खीचा है। इनकी रचनाओ में कही-कही सूफियो के भी नाम आये हैं और उनके मत का कुछ प्रभाव भी लक्षित होता है।

माँझी की गद्दी

बाबा धरनीदास का देहात हो जाने के अनतर क्रमश अमरदास, मायादास, रतनदास, बालमुकुददास, रामदास, सीतारामदास, हरनदनदास तथा सत रामदास उनके शिष्य और प्रशिष्य हुए। माँझी की गद्दी उनके पथ का मुख्य केन्द्र समझी जाती है और 'धरनीश्वर के द्वारे' में उनके भजन के स्थान पर उनका खडाऊँ रखा मिलता है। पथ की कुल गद्दियाँ साढे बारह बतलायी जाती हैं जिनमें से विहार के अतर्गत माँझी के अतिरिक्त परसा, पचलक्खी तथा ब्रह्मपुर अधिक प्रसिद्ध हैं।

चैनराम बाबा

पथ के अनुयायियो की एक अच्छी सख्या उत्तर प्रदेश के बलिया जिले मे भी पायी जाती है और वहाँ वालो का मूल सबध परसा के मठ से जान पडता है। इनके सर्वप्रथम सत चैनराम बाबा थे जिनका जन्म-स्थान बलिया जिले के सहतवार कस्बे का निकटवर्त्ती बघाँव नामक गाँव था। बाबा चैनराम का जन्म स० १७४० में एक सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में हुआ था और उनके पिता का नाम बस रोपन चौबे था। वे अपने तीन भाइयो में सबसे छोटे थे, कुछ भी पढे नही थे और लडकपन में बहुधा खेतो की रखवाली तथा गौवो के चराने का काम किया करते थे। एक बार ग्रीष्म ऋतु के समय उनकी चरती हुई गायो के निकट से जाते हुए कोई प्यासे महात्मा दीख पडे, जिन्हें चैनराम ने गुड के साथ पानी पिला दिया। महात्मा को अपनी प्यास के बुझने पर बडी प्रसन्नता हुई और उन्होने अपने पैर के अँगूठे की धूलि उनके नेत्रो में लगा दी। बालक चैन का तब से कायापलट हो गया और वह उसी क्षण से विरक्त होकर किसी गुरु की खोज में दौड-धूप करने लगा। अत में बाबा धरनीदास की परसा गद्दी के

तीनों में ब्रह्मा सबसे बड़े थे जिनके पुत्र काश्यप या कश्यप हुए। कश्यप के पुत्र नलकूँवर ने उत्पन्न होकर संसार में राज्य किया। इसी नलकूँवर के वंश में आगे चल कर बाबराम ने जन्म लिया था। इनके यहाँ अंत में कर्म के फेर में पड़ कर भ्रम तथा मोह के कारण त्राहि त्राहि मचानेवाले काल्देस-निवासी लोगों के उद्धारार्थ शिवनारायण ने अवतार ग्रहण किया। इस प्रकार इस कथन द्वारा केवल इतना ही ज्ञात पड़ता है कि ये बाघराय की संतान रहे होंगे।

कुल परिवार का विवरण

इसी प्रकार अन्यत्र[1] यह भी पता चलता है कि संत शिवनारायण सतयुग में हरिश्चंद्र के रूप में अवतीर्ण हुए थे। त्रेतायुग में इन्होंने बलि के रूप में अवतार ग्रहण किया था तथा द्वापर-युग में ये ही युधिष्ठिर के रूप में भी थे जिनका साथ श्रीकृष्ण ने दिया था। फिर ब्रह्मा के वंश में कश्यप हुए। कश्यप के पुत्र 'इरना-कश' हुए तथा उनके पुत्र नल कूँवर हुए जिनके वंश में इनके पिता बाघराय का जन्म हुआ। इस बाघराम का जन्म संवत् १६८८ दिया गया मिलता है। यह भी बताया जाता है कि इनकी तीन पत्नियाँ क्रमशः गौरा, यमुना तथा सुंदरी नाम की थीं। इस ग्रंथ के अनुसार बाघराय की जन्म-भूमि कन्नौज देश में थी जहाँ पर किसी समय अकाल पड़ने पर वे अपने एक मित्र चंडीराम के यहाँ अपना परिवार आदि लेकर चले आए। वहाँ पर उनकी उक्त सुंदरी नाम की पत्नी के गर्भ से संत शिवनारायण का जन्म सं० १७७३ के कार्तिक मास की कृष्ण तीज को गुरुवार के दिन आधी रात के समय रोहिणी नक्षत्र में हुआ। वहाँ पर यह भी लिखा मिलता है कि इनके पिता बाघराम की तीन और भी संतानें थीं जिनमें से धमन और मदन पुत्र थे। सुमद्रा मती कन्या थी जो तीनों ही व्यक्ति संत शिवनारायण से बड़े थे। जब संत शिवनारायण की अवस्था केवल ७ वर्षों की ही थी तभी सं० १७८० में इनके हृदय में गुरु दुखहरन का ध्यान हो आया तथा इन्हें ज्ञान हो गया। ग्रंथ में इसी प्रकार इनके दोनों भाइयों तथा इनकी बहन के विवाहित हो जाने और फिर इनके विवाह के भी सम्मति के साथ होने की चर्चा की गई है। वहाँ पर यह भी बतलाया गया है कि उससे इन्हें जयमाल नाम का एक पुत्र हुआ तथा मनिता नाम की कोई कन्या भी उत्पन्न हुई।[2]

---

१ मूलग्रंथ बसमूल तथा बंशावली (रचयिता श्री रामनाथ जी)

२ 'बसत बुखारा शाह सुलताना। मोहम्मद पुत्र तेहिके जाना।
तो दिल्ली में करे बादशाही। अकबर बल सब गये पराई ॥१३५॥
—मूल ग्रंथ बासमूल तथा बंशावली, (रचयिता श्री रामनाथ जी)
संत समाज बालपुर सन् १९६३ ई० पृ० ४९।
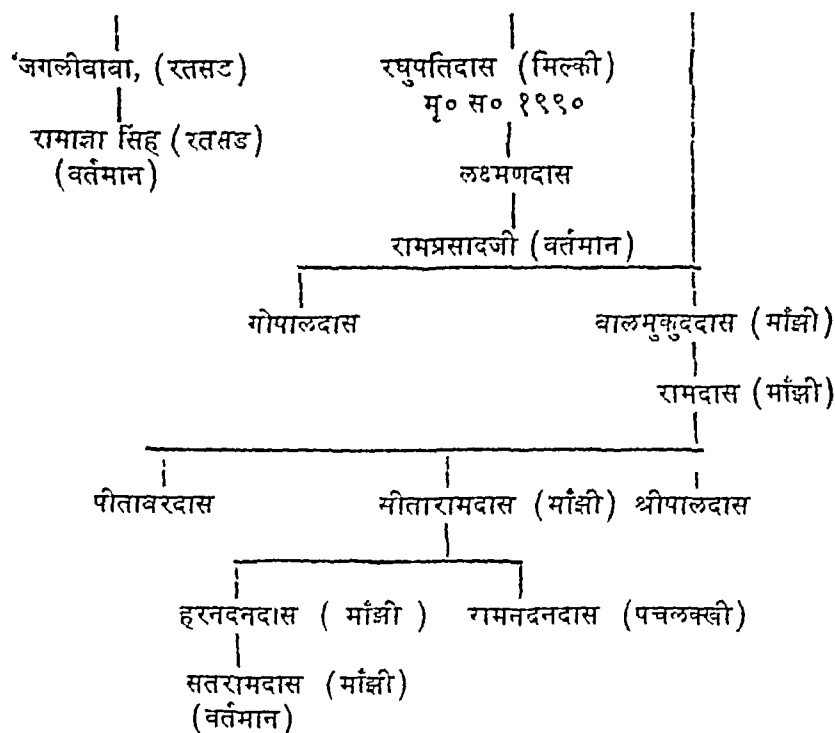
६ शिवनारायणी-सम्प्रदाय

पौराणिक परिचय

सत शिवनारायण की जीवन-सबवी घटनाओ के विवरण अभी तक बहुत कम उपलब्ध हैं। इनके विषय में चर्चा करते समय इनके अनुयायी इन्हें एक अलौकिक महापुरुष अथवा स्वय परमात्मा का ही रूप दे डालते हैं और अनेक प्रकार की काल्पनिक वातें कहने लगते हैं। शिवनारायणी-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मान्य ग्रथों में से 'सत विलास' तथा 'सतसागर' मे भी इनकी उत्पत्ति की एक पौराणिक रूपरेखा ही मिलती है। वह सभवत सत शिवनारायण के श्रद्धालु अनुयायियो के मस्तिष्क की उपज है। इसमें कदाचित् सर्वसाधारण विश्वास नही कर सकते। उक्त दोनो ग्रथो के अनुसार सर्वप्रथम शव्द से क्रमश निराकार तथा काल के रूप में सृष्टि का आविर्भाव हुआ। फिर काल के सोलह पुत्र हुए जिनके निरजन, कछक (कच्छप), आचीत (अचित), शहज (सहज), रगी, प्रेमी, सतोख (सतोष), शीलवत, शकुच (सकोच), शाची (साची), शमै (समय)-जैसे नाम दिये गए हे। उनकी ज्योति नाम की एक कन्या भी वतलायी गई है जिससे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश नामक तीन पुत्रो की उत्पत्ति हुई।

सदाशिव के लिए कहा गया मिलता है कि उनका देहांत इसके भी पहले सं० १८४१ में ही हो चुका था। इस 'मूल ग्रंथ बीजमूल' की रचना संत शिवनारायण तथा उनके शिष्य रामनाथ के बीच बातचीत के रूप में हुई है और इसमें कुछ उपदेश की बातें भी आ गई हैं।

समीक्षा

इनका इतिहास के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है कि मुहम्मद शाह का शासन-काल सं० १७७६ से सं० १८०५ तक रहा। इसी प्रकार अहमदशाह भी उसके अनंतर सं० १८०५ से लेकर सं० १८११ तक राज करता रहा। तदनुसार संत शिवनारायण का जीवन-काल सं० १७७३-१८४८ इन दोनों के ही शासन-काल तक न पड़ कर इसके आगे तक भी चला जाता है और उसकी अवधि ७५ वर्ष की सिद्ध होती है। इसके अनुसार उपर्युक्त 'गुरु अन्यास' तथा 'संत सुंदर' ग्रंथों के अंतर्गत बतलाये गये रचना-काल क्रमशः सं० १७९१ तथा सं० १८०० भी प्रमाणित हो जाते हैं। परन्तु क्षितिमोहन सेन का अनुमान था कि संत शिवनारायण का जन्म सं० १७६७ के लगभग हुआ होगा[1] जिसके अनुसार 'गुरु अन्यास' की रचना के समय इनकी अवस्था या तो २४ वर्ष की अथवा 'मूल ग्रंथ' के आधार पर केवल १८ वर्ष की ही ठहरती है। ये महम्मद शाह के निधन-काल अर्थात् सं० १८०५ तक भी केवल क्रमशः १८ अथवा १२ वर्ष के ही ठहराये जा सकते हैं। इस प्रकार मुहम्मद शाह के शासन-काल में ही इनका एक विख्यात महापुरुष कहला कर स्वयं उसके ऊपर भी पूर्ण प्रभाव डालने समान एक उल्लेखनीय बात कही जा सकती है। इसी प्रकार इनके द्वारा 'गुरु अन्यास ग्रंथ' का केवल २४ वा १८ वर्ष की अवस्था में ही रचा जाना भी इनकी विशिष्ट प्रतिभा का ही सूचक होगा। जहाँ तक 'मूलग्रंथ' के रचयिता द्वारा मुहम्मद शाह के किसी बलख बखारा के शाह का पुत्र होना कहा गया है यह भ्रांतिमूलक है। इसके सिवाय फैजुल्ला तथा साहब दाद नवाब अथवा जन बुलाकी और जयमल सिंह के सम्प्रदाय में आ जाने की बात भी सिद्ध नहीं होती।

ऐतिहासिक परिचय

'संत सुंदर' ग्रंथ में इनके विषय में कुछ अन्य ऐसी बातों के भी उल्लेख मिलते हैं। उसमें कहा गया है कि जब अहमद शाह आगरे में रहा करता था और सूबा इलाहाबाद गाजीपुर से आरम्भ होता था उस समय उसने गाजीपुर जिले के परगना जहूराबाद में फैजुल्ला को तैनात किया था। उसकी अमलदारी

---

[1] मिडीवल मिस्टिसिज्म पृ० १५५।

परिस्थिति तथा प्रमुख घटनाएँ

इस ग्रंथ मे कहा गया है कि उस समय बल्ख बुखारा के शाह सुलतान का पुत्र मुहम्मद यहाँ दिल्ली मे राज करता था। अकबर के कुल वाले सभी भाग गये, काशी मे राजा चन्द्रसेन थे और जहूराबाद परगना मे आसकरन 'टप्पा' पडता था। उन दिनो ढाकानगर अर्थात् सबबन ढाका नगर मे फैजुल्ला शासन करता था और मकसूदाबाद मे साहब दाद की अमलदारी थी। जब एकबार फिर अकाल पडा तो मोहम्मद शाह ने बापराय के यहाँ 'हरकारा' भेज कर उनसे तीन सालो का पोत (मालगुजारी) तलब किया। इससे इनके पिता गमगीन हो गए, किंतु ये स्वय उस दूत के साथ बादशाह के यहाँ दिल्ली गये और इन्होने उसे समझाना चाहा। परन्तु उसने रुष्ट होकर इन्हे जेल मे डाल दिया, जहा पर इनके चमत्कारो से प्रभावित होकर इन्हे छोड देना पडा तथा इनका शिष्यत्व ग्रहण करना तक पड गया। इनके पिता का देहात १०१ वर्ष की अवस्था पाकर स० १७८९ मे हुआ जब ये केवल १६ वर्ष के थे, किंतु अपने गुरु द्वारा निर्दिष्ट साधना मे लीन भी रहा करते थे। तदनुसार उक्त बादशाह के अतिरिक्त फिर क्रमश इनके रामनाथ (ग्रथ के रचयिता) लखन राम, सदाशिव, युवराज तथा लेखराज नामक चार और शिष्य हुए। इनके एक छठें शिष्य उस काल के अयोध्या के राजा जयमल सिंह का भी नाम लिया गया है जो अपने यज्ञ के समय इनके चमत्कारो द्वारा प्रभावित हुए थे। उस अनुष्ठान का स० १८१३ की चैत्र शुक्ल ७ को रविवार के दिन सपन्न होना बतलाया गया है। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि इनके शिष्य सदाशिव ने कलकत्ते के जज बुलाकी, ढाका के शाह फैजुल्ला तथा मकसूदाबाद के नवाब साहब दाद को अपने प्रभाव मे लाकर तथा उन्हें अपने चमत्कारो का प्रदर्शन करके भी अपना शिष्य बना लिया।[1] सत शिवनारायण ने अपने मत का प्रचार करने के उद्देश्य से कई स्थानो की यात्रा भी की थी। अपनी वृद्धावस्था मे ये गृहस्थाश्रम का त्याग करके अधिकतर उस ससना बहादुरपुर ग्राम के निकट जगल मे गुफा के भीतर निवास करने लगे थे, जहाँ पर इनकी बहन सुभद्रा व्याही गई थी। कहते हैं कि इन्होंने अपने शिष्य रामनाथ से यह बात किसी दिन पहले ही बतला दी थी कि तुम युवराज और लेखराज स० १८५४ मे अपना प्राण त्याग करोगे तथा लखनराम का देहात स० १८७० मे होगा। इसके सिवाय इन्होने उन्हे इस बात की भी सूचना दे दी थी कि मैं स्वय स० १८४८ के श्रावण मास की शुक्ल सप्तमी को सत-देश के लिए प्रयाण कर चुका रहूँगा। इनके शिष्य

---

१ मूलग्रथ बशमूल, जीवन चरित्र भाग, पृ० १८-२१।

सदाशिव के लिए कहा गया मिलता है कि उनका देहांत इसके भी पहले सं १८४१ में ही हो चुका था। इस 'मूल ग्रंथ वसमूल' की रचना संत शिवनारायण तथा उनके शिष्य रामनाथ के बीच बातचीत के रूप में हुई है और इसमें कुछ उपदेश की बातें भी आ गई हैं।

समीक्षा

इतना इतिहास के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है कि मुहम्मद शाह का शासन-काल सं १७७६ से सं १८ ५ तक रहा। इसी प्रकार अहमदशाह भी उसके अनंतर सं १८ ५ से लेकर सं १८११ तक राज करता रहा। तदनुसार संत शिवनारायण का जीवन-काल सं १७७३-१८४८ इन दोनों के ही शासन काल तक न पड कर इसके आगे तक भी चला जाता है और उसकी अवधि ७५ वर्ष की सिद्ध होती है। इसके अनुसार उपर्युक्त 'गुरु अन्यास' तथा 'संत सुंदर' ग्रंथों के अंतर्गत बतलाये गये रचना-काल क्रमशः सं १७९१ तथा सं १८ भी प्रमाणित हो जाते हैं। परन्तु क्षितिमोहन सेन का अनुमान था कि संत शिवनारायण का जन्म सं १७६७ के लगभग हुआ होगा[१] जिसके अनुसार 'गुरु अन्यास' की रचना के समय इनकी अवस्था या तो २४ वर्ष की अथवा 'मूल ग्रंथ' के आधार पर केवल १८ वर्ष की ही ठहरती है। ये मुहम्मद शाह के निधन-काल अर्थात् सं १८ ५ तक भी केवल क्रमशः ३८ अथवा ३२ वर्ष के ही ठहराय जा सकते हैं। इस प्रकार मुहम्मद शाह के शासन-काल में ही इनका एक विख्यात महापुरुष कहला कर स्वयं उसके ऊपर भी पूर्ण प्रभाव डालने अपना एक उल्लेखनीय बात नहीं या सकती है। इसी प्रकार इनके द्वारा 'गुरु अन्यास ग्रंथ' का केवल २४ या १८ वर्ष की अवस्था में ही रचा जाना भी इनकी विशिष्ट प्रतिभा का ही सूचक होगा। जहाँ तक 'मूलग्रंथ' के रचयिता द्वारा मुहम्मद शाह के किसी बलख बुखारा के शाह का पुत्र होना कहा गया है यह भ्रांतिमूलक है। इसके सिवाय फैजुल्ला तथा साहब दाद नवाब अथवा जन बुलाकी और जयमल सिंह के सम्प्रदाय में आ जाने की बात भी सिद्ध नहीं होती।

ऐतिहासिक परिचय

'संत सुंदर' ग्रंथ में इनके विषय में कुछ अन्य ऐसी बातों के भी उल्लेख मिलते हैं। उसमें कहा गया है कि जब मुहम्मद शाह आगरे में रहा करता था और सूबा इलाहाबाद गाजीपुर में आरम्भ होता था उस समय उसने गाजीपुर जिले के परगना जहूराबाद में फैजुल्ला को तैनात किया था। इसकी अमलदारी

१ मिडीवल मिस्टिसिज्म पृ १५५।

लिए तैयार नही जान पडते । इनके 'गुरु अन्यास' ग्रथ से पता चलता है कि में सवत् १८०० ११५५ फ० साल के अतर्गत उक्त ग्रथ की रचना हुई थी । उसी परगने के चदवार नामक गाँव में नरौनी क्षत्रिय वाघराय के घर शिवनारायण ने जन्म भी लिया था और इनके गुरु वा पथ-प्रदर्शक सत दुखहरन थे ।[1]

इसी प्रकार पथ के सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'गुरु अन्यास' के अनुसार भी पता चलता है कि उसकी रचना स० १७९१ सन् ११४५ फ० में अगहन सुदी १३ शुक्रवार को हुई थी । उस समय दिल्ली का बादशाह मुहम्मद शाह था, जिसका राज्य काशी तक था और वह आगरे में रहा करता था । उसी समय शिवनारायण वगदेश की ओर आये थे और अपने कठ में सरस्वती का वास होने के कारण इन्होने उक्त ग्रथ की कथा कही थी । इनके पूर्वजो की जन्म-भूमि कन्नौज देश मे थी और उन्हें कर्मवश वगदेश की ओर जाना पडा था । उस समय सूबा प्रयाग के नाम से था जिसके अतर्गत गाजीपुर सरकार पडती थी । उसमें जहूराबाद नामक परगना था, जिसमें आमकरन तप्पा शामिल था । उसी के चदवार नामक

---

१ 'जन्म लीन्ह चदवार मह, शिवनारायन आए ।'

. .. ..

'वुद नरवनी कहत सस, वाघराय का वार ।'

..

'सूवा इलाहावाद ।
अहमद शाह शाहि सव जाना, ढीलीपती तहवा सुलताना ।
तेही का होइ आगरा थाना, गाजीपुर से करत पयाना ।
तहा परगना ठाइस कीन्हा, फैजुलाह कह अमल दीन्हा ।
तेही अमल मह कथा वनाया, परगना जहूराबाद कहावा ।
तेही मे गाव चदवार कहावा, शीवनाराएन जनम तहा पावा ।
तहाके शीवनाराएन, कहत कहावत जाए ।
दुखहरन सत गुरु मिले, एही पथ मह आए ॥'

'सवत अठारह से सन इगारह, पचपन सन होए ।
तेही समयमो शीवनराएन, कहा सदेसा सोए ॥'

—शब्द 'सतसुदर' —'संतसमाज' कानपुर, सन् १९६१ ई०, पृ०५० यहाँ 'सूवा इलाहावाद' अश एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर दिया गया है । —लेखक ।

गाँव के नरौनी क्षत्रिय-कुल के बाघराय के घर शिवनारायण का जन्म हुआ था। इन्होंने गुरु की कृपा से 'गुरु अन्यास' ग्रंथ की रचना की। इनके गुरु का नाम दुखहरन था।* यह विवरण 'संतसुंदर' में दिये गए उक्त पते से कुछ मेल भी खाता है।
गुरु

चंदवार गाँव इस समय गाजीपुर जिले में न होकर बलिया जिले में पड़ता है। उसका परगना भी इस समय दूसरा हो गया है। यह आजकल सम्प्रदाय के अनुयायियों का प्रधान केन्द्र-सा भी बनता जा रहा है और इसके निकट उसके अन्य मठ भी है। कहा जाता है कि संत शिवनारायण को यहीं पर अपने बचपन में ही विरक्ति आ गी और कुछ बड़े होते ही ये किसी गुरु की खोज में निकल पड़े। अंत में इन्हें संत दुखहरन के दर्शन हुए और प्रसिद्ध है कि उनसे प्रभावित होकर इन्होंने उनकी शिष्यता स्वीकार कर ली। अपने गुरु के रूप में इन्होंने उनकी बड़ी प्रशंसा की है। ये उन्हें स्वयं परमात्मा से किसी प्रकार न्यून मानने के

---

* 'संवत सत्रह सौ इक्कावन होई। ग्यारह स सन पैतालीस होई'[1] ॥६॥
'अगहन मास पक्ष उजियारा। तिथि त्रयोदशी शुक्र के वारा ॥७॥'
तेहि दिन निरमल[2] कथा पुनीता। गुरु अन्यास कथा सब कीता ॥८॥
मोहम्मद शाह दिल्ली सुलताना। कासीराम आगरा थाना ॥९॥
ताहि समय में शिवनारायण, अंगदेस चलि आय।
कंठे बैठी सरस्वती, कथा अन्यास बनाय ॥३॥
जन्मभूमि है कन्नम देसा। जन्मकी से बन प्रवेशा ॥१० ॥
तीर्थ प्रयाग सूबा जो होई। जोहिके अमल गाजीपुर सोई ॥११॥
गाजीपुर सरकार कहावै। सूबा प्रयाग अमल तहाँ पावै ॥१२॥
जहूराबाद परगना आही। आसकरन तपा तेही माही ॥१३॥
से स्थान चंदवार कहावै। शिवनारायण जन्म तहाँ पावै ॥१४॥
जन्म पाय भई गुरु की माया। तब अन्यास अस कथा बनाया ॥१५॥
आसपास चंदवार महँ गाजीपुर सरकार।
कुल नरौनी बहुत सब, बाघराय के धार ॥४॥
दुखहरन नाम से गुरु कहावै। बड़े भाग्य से दर्शन पावै[3] ॥१६॥

१ अन्य पाठ 'सन् एकतालीस' (हस्तलिखित प्रति)।
२ अन्य पाठ 'निर्मयउ' (हस्तलिखित प्रति)।
३ गुरु अन्यास ज्ञानदीपक, श्री शिवनारायण कार्यालय, साहु की गली, [illegible], सन् १९३५ ई।

लिए तैयार नही जान पडते । इनके 'गुरु अन्यास' ग्रथ से पता चलता है कि में सवत् १८०० ११५५ फ० साल के अतर्गत उक्त ग्रथ की रचना हुई थी । उसी परगने के चदवार नामक गाँव में नरौनी क्षत्रिय वाघराय के घर शिवनारायण ने जन्म भी लिया था और इनके गुरु वा पथ-प्रदर्शक सत दुखहरन थे ।[1]

इसी प्रकार पथ के सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'गुरु अन्यास' के अनुसार भी पता चलता है कि उसकी रचना स० १७९१ सन् ११४५ फ० में अगहन सुदी १३ शुक्रवार को हुई थी । उस समय दिल्ली का वादशाह मुहम्मद शाह था, जिसका राज्य काशी तक था और वह आगरे में रहा करता था । उसी समय शिवनारायण बगदेश की ओर आये थे ओर अपने कठ में सरस्वती का वास होने के कारण इन्होने उक्त ग्रथ की कथा कही थी । इनके पूर्वजो की जन्म-भूमि कन्नौज देश मे थी और उन्हें कर्मवश बगदेश की ओर जाना पडा था । उस समय सूबा प्रयाग के नाम से था जिसके अतर्गत गाजीपुर सरकार पडती थी । उसमें जहूरावाद नामक परगना था, जिसमें आमकरन तप्पा शामिल था । उसी के चदवार नामक

---

१ 'जन्म लीन्ह चदवार मह, शिवनारायन आए ।'

'बुद नरवनी कहत सस, बाघराय का वार ।'

'सूवा इलाहावाद ।
अहमद शाह शाहि सब जाना, ढीलीपती तहवा सुलताना ।
तेही का होइ आगरा थाना, गाजीपुर से करत पयाना ।
तहा परगना वाइस कीन्हा, फैजुलाह कह अमल दीन्हा ।
तेही अमल मह कथा बनावा, परगना जहूराबाद कहावा ।
तेही मे गाव चदवार कहावा, शीवनाराएन जनम तहा पावा ।
तहाकै शीवनाराएन, कहत कहावत जाए ।
दुखहरन सत गुरु मिले, एही पथ मह आए ।।'

'सवत अठारह से सन इगारह, पचपन सन होए ।
तेही समयमो शीवनराएन, कहा सदेसा सोए ।।'
—शब्द 'सतसुवर' —'संतसमाज' कानपुर, सन् १९६१ ई०, पृ०५० यहाँ 'सूवा इलाहावाद' अश एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर दिया गया है । —लेखक ।

हस्तलिखित रूप में सुरक्षित है जिसके आदि तथा अंत के कुछ पन्ने नहीं हैं। किंतु लिपि देखने से विदित होता है कि इसका रचयिता कोई भक्त कवि था। इसमें दिये गए योग-साधना संबंधी विवरणों से उसका संत-मत से परिचित होना भी सिद्ध है।[1] उक्त ग्रंथ में यत्रतत्र भोजपुरी भाषा प्रयोग मिलते हैं और उसका हस्तलेख भी भोजपुरी भाषा-भाषी क्षेत्र में ही पाया गया है। इसी प्रकार कदाचित् ऐसे ही किसी दुखहरन के कुछ फुटकर पद भी उपलब्ध हैं जिनमें से "जन दुखहरन कर बिनती हसा पर फेरि बसावो बयारा" टेक से अंत होनेवाला सवैया इधर बहुत प्रचलित है। ये भी उस भक्त दुखहरन के ही हो सकते हैं। अतएव यदि 'पुहुपावती' के कवि दुखहरन उक्त 'भक्तमाल' तथा सवैयों के भी रचयिता सिद्ध किये जा सकें और उनका संबंध किसी प्रकार बलिया जिले के साथ प्रमाणित किया जा सके तो उनके संत शिवनारायण के गुरु होने में भी कोई संदेह नहीं रह जाता। हमें उनका कुछ-न-कुछ परिचय मिल भी जाता है। कवि दुखहरन के गुरु का मलूकदास होना कहा गया है और स्वयं उन्हें कायस्थ भी ठहराया गया है जहाँ संत शिवनारायण के गुरु दुखहरन को लोग इधर ब्राह्मण कहते हैं जिसका निर्णय करना सरल नहीं है।

रचनाएँ

संत शिवनारायण की रचनाओं के नाम तथा संख्या के विषय में बहुत कुछ मतभेद जान पड़ता है। विल्सन ने सर्वप्रथम इनके केवल ११ नाम गिनाये थे जिनमें से 'संत आचारी' की जगह पर उन्होंने भूल से 'संताचारी' लिख दिया था।[3] इसी प्रकार क्रुक ने ऐसी एक सूची तैयार करते समय उसमें 'बड़ास्तोत्र' 'बड़ा परवाना' 'पति परवाना' तथा 'बड़ो' वा 'बड़ीबानी'-जैसे नामों की भी चर्चा कर दी थी[4] जिनका अन्यत्र कहीं भी पता नहीं चलता। महर्षि शिवव्रतलाल के अनुसार ये ११ रचनाएँ इस प्रकार हैं: १ 'ग्रंथ' २ 'संतविलास' ३ 'भजन ग्रंथ' ४ 'संत सुंदर' ५ 'गुरुन्यास' ६ 'संत अचारी' ७ 'संत उपदेश' ८ 'शब्दावली' ९ 'संत परवान' १० 'संत

१ दुखहरन के लिए मारकंडे के प्रति मुनमुनि द्वारा दिये गए उपदेश तथा संत-मत की साधना-संबंधी विविध उल्लेख इस बात की पुष्टि करते हैं।—ले०

२ दे० 'सजत सुरवत रातिदिन लगन भिमार जब आइ।
बहुत विकल भइ चकुमिनी तनिको कछू न सोहाइ॥ आदि।

३ रिलिजस सैक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज पृ० ३५८-९।

४ 'कास्ट्स ऐंड ट्राइब्स' आदि भाग ९, पृ० ५७१।

एक बार ये किसी समय अपने गुरु का नाम हृदय में धारण करके देश-भ्रमण करते-करते किसी ऐसी सभा में जा पहुँचे, जहाँ 'शब्द' की चर्चा छिडी थी। वहाँ के सत्सग द्वारा इन्हें बडा लाभ हुआ और इनके भीतर ज्ञान का प्रकाश हो आया। सत लोगो का वहाँ पर कहना था कि गुरु का स्मरण निरतर करते रहना चाहिए। उसके ध्यान में लीन रहना चाहिए और कही अन्यत्र जाने की आवश्यकता नही है। गुरु की कृपा से ही भगवान् प्राप्त होते हैं और सभी सिद्धियाँ भी क्षण भर में मिल जाती हैं। गुरु के चरणो में चित्त से लगने तथा उसके सूर्यवत् प्रकाशमान शब्दो को अपनाने से अपना हृदय आप-से-आप आलोकित हो उठता है। गुरु के सिवाय अन्य कोई नही है। अतएव ये वहाँ पर गभीर चिंतन करने लगे और इसी बीच इन्हें ऐसा कोई सकेत भी मिला कि प्राणायाम द्वारा अपनी इन्द्रियो को वश में लाकर बारहवें स्थान की ओर सुरति को स्थिर कर देने पर ये सभी बातें सभव हो जाती हैं और मुक्ति का मार्ग खुल जाता है। तदनुसार इन्होने यथेष्ट यत्न किये और इन्हें ध्यान में उस दिव्य ज्योति के दर्शन हो गए। इसके प्रकाश में ऐसा अनुभव होने लग गया कि मेरे सिर पर उसने अपना हाथ रख दिया है और वह मुझे अपने आशीर्वाद भी दे रहा है।[1] इस कारण इनके अनुयायियों मे से बहुत लोगो की यह भी धारणा है कि वास्तव में, इन्होने किसी 'दुखहरन' नामक व्यक्ति को गुरु-रूप में स्वीकार नही किया था, प्रत्युत इनके भीतर किसी ऐसे अलौकिक प्रकाश का आप-से-आप भान हो गया था जिसे इन्होने दुखहरन कह दिया।

दुखहरन कौन थे ?

सत शिवनारायण के गुरु समझे जानेवाले किसी सत दुखहरन के विषय में अभी तक हमें कोई निश्चित पता भी नही चल सका है। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की खोजो के फलस्वरूप हमें किसी एक दुखहरन की एकाध रचनाओ का परिचय मिलता है जिनमें से एक 'पुहुपावती' का रचना-काल स० १७२६ दिया गया है और उसकी 'रिपोर्ट' से यह भी सूचित होता है कि इस प्रेमगाथा का रचयिता कायस्थ जाति का था तथा वह गाजीपुर के आसपास का रहनेवाला होगा। ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि 'मूल ग्रथ' के अनुसार स० १७१३ में उत्पन्न हुए शिवनारायण का उसके सपर्क में आ जाना तथा अपनी ७ वर्ष की ही अवस्था में उससे प्रभावित होकर उसका शिष्यत्व ग्रहण कर लेना तक असभव नही है। इसके सिवाय हमारे पास किसी दुखहरन कवि की एक 'भक्तमाल'

---

१. गुरु अन्यास, पृ० ४-१६।

जा सके। इस ग्रंथ के अंतर्गत १२ खंड पाये जाते हैं जिनके नाम क्रमशः 'आरंभ खंड' 'भोग खंड' 'साहु खंड' 'चोर खंड' 'गमन खंड' 'कामिनी खंड' 'यम खंड' 'भक्त खंड' 'दयावतार खंड' 'चारयुग खंड' 'चार मामका खंड' तथा 'चौदह भक्त खंड'-जैसे दिये गए दीख पड़ते हैं। इनमें कतिपय प्रारंभिक बातों के अतिरिक्त योग-साधना मनुष्य की चार अवस्थाएँ, उसके काम-क्रोधादि षट् शत्रु, चौदह यम आदि बातें विषय बन कर आयी हैं। वर्णन-शैली पौराणिक रचना परंपरा का अनुसरण करती है और कहीं-कहीं पर संत शिवनारायण को विशेष महत्त्व दिया गया भी प्रतीत होता है। इससे कभी-कभी ऐसा संदेह होने लगता है कि ग्रंथ के मूल रूप में कुछ फेर-फार भी न किया गया हो अथवा कहीं इसका अधिकांश या यह सारी रचना तक किसी अन्य व्यक्ति की कृति न सिद्ध हो जाय। इसमें पाये जानेवाले १६४ दोहे तथा १२ श्लोक तो कदाचित् प्रत्येक उपलब्ध प्रति में मिलते हैं किंतु चौपाइयों की संख्या १४ १ से लेकर २८५२ तक भी देखी जा सकती है। इस प्रकार संदेह करने वालों के लिए बहुत कुछ आधार का मिल जाना स्वाभाविक है। फिर भी यह ग्रंथ सम्प्रदाय के प्रधान उद्देश्य चरित्र-निर्माण की पूर्ति करता हुआ ही कथित होता है जिस कारण इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। कहते हैं कि शिवनारायण जी इसकी मूल-प्रति को अपने द्वितीय शिष्य लखनराम को दे गए थे[1] जिनके जन्म-स्थान बरसड़ी में वह सुरक्षित भी है।

'संत सुंदर' 'संत विलास' आदि

ग्रंथ 'गुरु अभ्यास' के अनंतर महत्त्व की दृष्टि से 'संत सुंदर' 'संत-विलास' तथा 'संतसागर' के नाम लिये जाते हैं जिनके विषय प्रायः एक-से ही हैं। 'संत सुंदर' ग्रंथ में 'सोरठा चालीसा' द्वारा उपदेश दिये गए हैं। 'संत विलास' में प्रधा मतः किसी एक इसी नाम की अलौकिक स्थिति का वर्णन किया गया है। 'संत सागर' में सतो के महत्त्व पर अधिक बल दिया गया जान पड़ता है। इन तीनों का अंतिम लक्ष्य 'मासदेश' के निवासियों की दुर्दशा का विवरण देकर उन्हें चेतावनी के रूप में कुछ कहा गया ही कहला सकता है। 'संत सुंदर' में दिया गया संत शिवनारायण का संक्षिप्त परिचय 'गुरु अभ्यास' वाले ऐसे ही प्रसंग की भाँति बहुत कुछ ऐतिहासिक है। परन्तु 'संत विलास' तथा 'संत सागर' में पाया जाने वाला वैसा ही विवरण हमें नितांत पौराणिक वा काल्पनिक तक जैसा लगता है। इस कारण इन दो रचनाओं के संत शिवनारायण रचित होने में संदेह भी किया

1 दे मूल ग्रंथ के अंत का 'जीवन चरित्र' अंश पृ २४।

महिमा' तथा ११ 'मतसागर' जो उपलब्ध पुस्तको के नामो से अधिक सुसंगत प्रतीत होती है।[1] परन्तु एकाध अन्य ऐसी सूचियो के अतर्गत इनकी सख्या कुछ और भी बढ़ा दी गई मिलती है। इनमे 'सवाल जवाव'; 'टीका', 'लाल ग्रथ'-जैसे नाम आ जाते है जो अनुमान से क्रमश 'रूपसरी', 'सत विचार' तथा 'लवग्रथ'-जैसे ग्रथो के लिए प्रयुक्त भी हो सकने हैं। इसके सिवाय जहाँ तक हमे पता है, सत शिवनारायण की वास्तविक रचनाओ की सख्या निर्णय करना अभी तक उनके अनुयायियो के लिए भी कठिन समझा जाता आया है। इस कारण सम्प्रदाय के मठो मे अभी तक उनका कोई प्रामाणिक सग्रह नही पाया जाता। कही-कही पर ये १२ मान कर सुरक्षित किये गए दीख पडते है तो अन्यत्र उनकी सख्या १४ अथवा १६ तक भी सिद्ध की जाती जान पडती है। परन्तु जब तक ऐसे सभी ग्रथ प्रकाशित नही हो जाते तथा इनका कोई तुलनात्मक अध्ययन करके तर्क-सगत परिणाम निकाल नही लिया जाता, इस विषय में अतिम निर्णय देना उचित नही प्रतीत होता और केवल साधारण अनुमान से ही काम लिया जा सकता है। ये रचनाएँ मूलत कैथी लिपि मे लिखी गई थी और इन्हे देवनागरी मे लाने का यत्न सभवत लगभग ५० वर्षों से आरभ हुआ है। इसके सिवाय इनमे से कई एक का अब कानपुर से प्रकाशन भी होता जा रहा है[2] जिससे इस प्रश्न पर विचार करना सुगम हो जा सकता है। अत-एव जिन ऐसे ग्रथो के सबध मे हम कुछ चर्चा करने जा रहे हैं, उनमे से कई एक वा अधिकाश के विषय मे अभी आपत्ति की जा सकती है।

गुरु अन्यास

सत शिवनारायण की रचना समझे जानेवाले ग्रथो मे अभी तक सबसे अधिक मान्य 'गुरु अन्यास' रहता आया है। इसे सम्प्रदाय के अनुयायी 'ज्ञान-दीपक', 'बीजक' अथवा 'गुरुग्रथ साहब'-जैसे नामो द्वारा भी अभिहित करते हैं। इसकी किसी-न-किसी एक हस्तलिखित प्रति का प्राय प्रत्येक शिवनारायणी समाज मे सुरक्षित रहना अभी तक एक व्यापक नियम-सा समझा जाता आया है। इसकी वहाँ पर श्रद्धा के साथ पूजा की जाती भी देखी गई है। अब तक इसके लगभग आधे दर्जन सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं जिनमे से एकाध सटीक और सचित्र तक हैं। इसके भीतर पायी जानेवाली पाठातर-सबधी समस्या भी कदाचित् इतनी साधारण नही है जिसे सरलता पूर्वक सुलझा दिया

---

१. सतमाल, पृ० २६५-६।

२ सत सदेश-कार्यालय, गाँधीनगर, कानपुर।

'कालदेश' कहा गया है जहाँ के सभी मनुष्य मोह के फेर में पड़कर नाना प्रकार के कष्ट झेल रहे हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि इससे उनका उद्धार किस प्रकार होगा। अपनी स्थिति सुधारने के लिए लोगों ने निर्गुण तथा सगुण नाम के दो भिन्न-भिन्न मार्ग निश्चित किये हैं किंतु इनमें से किसी के द्वारा निर्वाह नहीं हो सकता। इसके लिए 'सत-मत' का ही अनुसरण परमावश्यक है। इसी को अपनाने से सारे दुखों से रहित होकर हम उक्त प्रदेश की स्थिति को उपलब्ध कर सकते हैं। उस प्रदेश में पहुँच जाने पर विदित होगा कि हमारा वास्तविक निवास-स्थान वही है। हम केवल कर्मवश 'कालदेश' के जंजाल में पड़ गए थे। उस प्रदेश में सभी संत समान भाव से आनंद का उपभोग करते हैं और सबकी स्थिति प्रायः एक ही रहती है। वहाँ पर सबसे अधिक उच्च श्रेणी का पुरुष केवल 'सतपति' है जिसके समक्ष अन्य संत उसकी प्रेमिकाओं के रूप में दीख पड़ते हैं। इसके निकट रहना वे सभी अपना महोभाग्य समझा करते हैं।

वास्तविक रहस्य

परन्तु उक्त अलौकिक प्रदेश में पहुँचने के लिए यहाँ किसी का आश्रय ग्रहण करना नहीं पड़ता। 'संत सुवर ग्रंथ' में यह स्पष्ट कह दिया गया है।[१] इससे प्रकट होता है कि संत शिवनारायण अथवा कोई गुरु भी यदि हमें उक्त प्रदेश तक पहुँचना चाहता है, तो वह केवल पथ प्रदर्शन मात्र ही करके छोड़ देता है। मार्ग में स्वयं अपने बल पर ही भरोसा करके आगे बढ़ना पड़ता है। यह बल हमें तब मिलता है जब हम अपने आपको पहले तौलते वा अपनी परीक्षा करते हैं। इस प्रकार अपने भीतर की कमियों का पता लगा कर उन्हें पूर्ण करने की चेष्टा करते हैं। यहाँ पर संत शिवनारायण ने प्रत्येक मनुष्य के मन के भीतर चालीस प्रकार की त्रुटियों का होना माना है।[२] तदनुसार उनके निराकरण का संकेत भी किया है। 'संत विलास' तथा 'संत सागर' में आये हुए 'सोरठा चालीसा' 'संत आखरी' में दिये गए 'शब्द चालीसा' तथा 'हुकुमनामा' के चालीस हुक्मों में यही बातें दिखलायी गई हैं। 'संत सुवर' की पंक्ति से भी

---

१ 'निराकार आकार नहीं किन अवतार की राह।
शिवनारायन देत कहि आपुही आप निबाह॥
—शब्द ग्रंथ संत सुवर, पृ १२।

२ 'मौज अलौकिक पुरु, आखर चालीस सिर सौं।
तबही भौ मन पुर, शिवनारायन अस कहै॥
—वही पृ ६।

जा सकता है। 'सत आखरी' ग्रथ का मुख्य विषय 'सुरत शब्द योग' जान पडता है जिसकी ओर इसके आरभ मे ही कुछ सकेत कर दिया गया है। इसके अनतर उक्त योग जनित अनुभव की चर्चा बहुत कुछ सत विलास वाले प्रदेश की स्थिति के रूप मे ही की गई है और उसकी उपलब्धि के लिए उपदेश भी दिये गए हैं। इसी प्रकार ग्रथ 'रूपसरी' नामक छोटी-सी रचना मे कतिपय गूढार्थवाची पद्य पाये जाते हैं। इसमे एक विशद् रूपक भी आ गया है जिसका रहस्य पूर्ण-रूप से स्पष्ट नही हो पाता और कुछ विचित्र-सा भी लगता है। फिर भी 'काल-देश' की दयनीय दशा की ओर ध्यान दिला कर 'सतदेश' के लिए तैयार करना ही इस ग्रथ का भी प्रधान लक्ष्य जान पडता है। इसी प्रकार 'लौ परवाना' अथवा "हुक्मनामा' के अतर्गत कतिपय दोहो, चौपाइयो तथा 'सुखद शब्द' कही जाने-वाली सूत्रवत् रचनाओ द्वारा थोडे शब्दो मे विभिन्न उपदेश दिये गए हैं जो अपने अनुयायियो को सजग और सचेत बनाये रखने के लिए हैं। 'सत महिमा' मे सतो की महिमा बतलायी गई है। 'सत उपदेश' मे प्रसगवश सत-मत का सक्षिप्त परि-चय आ जाता है। 'सत विचार' नामक गद्य ग्रथ के अतर्गत भी सत शिवनारायण के उपदेशो का एक लघु सग्रह ही पाया जाता है। 'मूलग्रथ' का महत्त्व इसके सत शिवनारायण तथा इनके कुछ शिष्यो तक का न्यूनाधिक परिचय प्रस्तुत करने मे ठहराया जा सकता है। इसके रचयिता रामनाथ कहे गए हैं। 'सत बोजन' के लिए भी कहा जा सकता है कि इस गद्य ग्रथ मे सम्प्रदाय के अनुयायियो की रहनी का एक आदर्श ही रखा गया प्रतीत होता है। इसके सिवाय 'शब्दा-वली' के अतर्गत साढे छह सौ से भी अधिक शब्द सगृहीत हैं जो सभी सत शिवनारायण के ही नही हैं। इनमे से समवत ५०० ही इनके होंगे और शेष मे से अधिकाश इनके शिष्य रामनाथ साहेब, सदाशिव साहेब, लखन राम साहेब, जोवराज साहेब, लेखराज साहेब आदि कुछ अन्य ऐसे लोगो के भी हैं जिनके सबध मे पूरा पता नही चलता।

प्रधान उद्देश्य

उपलब्ध ग्रथो के देखने से जान पडता है कि शिवनारायणी-सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य अपने प्रत्येक अनुयायी को 'सत विलास' वा 'सत देश' नामक लोक तक पहुँचा देना है। इस 'सत विलास' का वर्णन पथ के कई ग्रथो मे किया गया है। इससे प्रकट होता है कि वह दरियादास (विहारवाले) के 'छपलोक' वा 'अमयलोक' की भाँति एक आदर्श प्रदेश है जो सबसे ऊपर है। वह सतो का अपना निवास-स्थान है, जहाँ रह कर तथा इसके सुखो से अवगत होकर ही सत शिवनारायण अन्य लोगो को वहाँ जाने का उपदेश देते हैं। इसके विपरीत ससार

मन नहीं बहक सकता है जिसमें चालीस सेर की भाँति चालीसों सद्गुण आ जायें और वह शांत हो जाय। मन की पूर्ति द्वारा मन की स्थिरता तथा मन की पूर्ण शुद्धि भी अभिप्रेत है जो आत्मज्ञान की उपलब्धि तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी आवश्यक है। पूर्णतः विशुद्ध तथा अविकृत मन ही वास्तव में शुद्ध आचरण का भी आधार हुआ करता है। यही इस पंथ का अंतिम लक्ष्य जान पड़ता है।

दीक्षा

परमात्मा को इस पंथ में एक निराकार तथा सर्वगुणातीत माना गया है। संत शिवनारायण पृथ्वी पर उसके प्रतीक रूप समझे गए हैं। उनके प्रति एकांत-निष्ठा अपनी चित्तशुद्धि तथा सात्विक जीवन प्रत्येक अनुयायी के लिए मुख्य ध्येय होना चाहिए। सभी धर्म वा जाति के लोग इसमें सम्मिलित होने के अधिकारी हैं। इस पंथ में प्रवेश पाने के लिए उन्हें किसी प्रकार की विधि वा परंपरा का पालन करना भी आवश्यक नहीं है। इसके लिए किसी पुरोहित की मध्यस्थता नहीं चाहिए, न विशेष सामग्री ही अपेक्षित है। जब कोई इस पंथ में आना चाहता है तब सर्वप्रथम उसे इसकी विविध कठिनाइयों की सूचना दे दी जाती है और कुछ दिनों तक उसकी जाँच भी कर ली जाती है। फिर वह 'दीक्षक' अर्थात् पूज्य ग्रंथ के लिए कुछ भेंट लाता है और अपने चुने हुए संत के समक्ष अर्पित करना चाहता है। तब वह संत ग्रंथ की आरती करता है और आगंतुक को अपना चरणामृत देने के अनंतर दीक्षा के रूप में कुछ उपदेश देता है। इसके पश्चात् पाठ होता है और प्रसाद का वितरण कर विधि समाप्त कर दी जाती है। ऐसे प्रत्येक शिष्य को दीक्षित होने पर अपने पास एक प्रति 'परवाना' की रखनी पड़ती है जो गुरु की ओर से उसे अवश्य दी जाती है। उसमें दिए गए उपदेशों के अनुसार चलना पड़ता है।[1] इस पंथ के अनुसार सर्वश्रेष्ठ नैतिक गुण सत्य अहिंसा दया क्षमा मादक वस्तु त्याग तथा एकपत्नी-व्रत हैं। इसमें रहनेवालों के लिए किसी प्रकार का भी भेष-विशेष अपेक्षित नहीं। इनके भजनों में भी ईश्वर के गुणगान वा भक्ति को उतना स्थान नहीं मिला है, जितना संत शिवनारायण के प्रति श्रद्धा तथा व्यक्तिगत सदाचरण को।

प्रमुख प्रचार-कार्य तथा अंतिम दिन

अनुमान किया जाता है कि संत शिवनारायण अपने गुरु द्वारा उपदेश

---

१ डी॰ डब्ल्यू॰ ब्रिग्स : दि चमार्स, दि रिलिजस लाइफ इंडिया सिरीज पृ॰ २११-२।

यही ध्वनि किलती है। ऐसा हो जाने पर ही स्थिति-विशेष सभव होती है।[1] और इस कारण उक्त 'सत विलास' वा 'सत देश' का निवास वास्तव में किसी भौगोलिक प्रदेश का प्रवास न होकर अपने मन को उक्त चालीस प्रकार के विकारो से उन्मुक्त कर निर्मल, निश्चल तथा पूर्ण वना देना मात्र ही कहा जा सकता है। उक्त 'सत सुदर' ग्रथ में आगे चल कर कह दिया गया है, "जिस प्रकार उक्त साधना व्यक्तिगत होती है, उसी प्रकार उक्त देश की स्थिति का वास्तविक स्वरूप भी व्यक्तिगत ही है"।[2] 'सत देश' का दूसरा नाम 'सत विलास' भी कदाचित् इसी ओर सकेत करता है। 'सत आखरी' ग्रथ में इसी कारण सर्वत्र आत्म-निर्भरता तथा निर्भयता पर विशेष ध्यान दिया गया है और पथ को 'निराधार पथ' भी कहा गया है।

चालीस का महत्त्व

शिवनारायणी-सम्प्रदाय की उपलब्ध रचनाओ में चालीस को महत्त्व प्रदान करना उल्लेखनीय बात है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'सत सुदर', सत विलास' तथा 'सत सागर' मे से प्रत्येक में एक न एक 'सोरठा चालीसा' है। इनके विषयो में भी वडी समानता है। इसी प्रकार 'सत आखरी' मे एक 'शब्द चालीसा' आया है। इसके द्वारा 'कालदेश' को हेय तथा 'सतदेश' को स्वीकार करने योग्य ठहराया गया है और दोनो की स्थितियो की तुलना भी की गई है। 'हुकुमनामा' मे इसी के अनुसार ४० आदेश दिये गए हैं और प्रत्येक द्वारा किसी-न-किसी नैतिक सद्‌गुण को अपनाने के लिए सतो से कहा गया है। इनमें से एक के अतर्गत चालीस मत्रियो की भी चर्चा की गई है जिनका विशेष परिचय 'सत विचार' ग्रथ में मिलता है। 'सत विचार' ग्रथ मे प्रत्येक सत के प्रति आदेश है कि वह अपने नैतिक व्यवहार में सदा चालीस मत्रियो की अनुमति लेकर काम किया करे। जो ऐसा करते हैं, वे ही पूर्ण सत है और उन्ही का राज्य अथवा उन्ही की मानसिक स्थिति सदा 'सलसत' अर्थात् शात रहा करती है। उक्त ग्रथो में 'मन' का अर्थ श्लेप द्वारा 'चालीससेर का मन' माना गया है। अतएव पूर्ण

---

१ 'मन पुरन पुरन भएव, भएव पुरनो वास।
सीवनरायन पूरनो, सभए पुरनो पास॥'
—शब्द ग्रथ सत सुदर, पृ० ७।

२. 'सीवनरायन गाव यह, अपना अपना ठाव।
अपना अपना सत होइ, अपना अपना नाव॥'
—वही, पृ ४९।

स्थान ससना बहादुरपुर जिला बलिया में रहना बतलाया जाता है जहाँ पर पहले कदाचित् इनकी कोई गुफा भी रह चुकी थी।

मठ अनुयायी और प्रचार क्षेत्रादि

शिवनारायणी-सम्प्रदाय के प्रधान मठ संख्या में चार कहे गए हैं और ये उसके 'चार धाम' कहला कर भी प्रसिद्ध हैं। इनके नाम प्रायः चंदवार, बरसड़ी ससना बहादुरपुर और परसिया बतलाये जाते हैं। इनमें से चौथे को किसी किसी ने गाजीपुर भी माना है। इन चारों में से प्रथम चंदवार संत शिवनारायण जी के जन्म-स्थान के रूप में प्रसिद्ध है। तीसरे को इनका समाधि-स्थान ठहराया जाता है और जैसा इसके पहले भी कह आये हैं यहीं पर इनकी बहन सुमद्रामती ब्याही थी तथा यहीं इन्होंने साधना भी की थी। इसी प्रकार द्वितीय तथा चतुर्थ स्थान भी क्रमशः संत शिवनारायण के द्वितीय शिष्य लखनराम और प्रथम शिष्य रामनाथ के जन्म-स्थान होने के कारण पुण्य-स्थान माने गये हैं। किन्तु गाजीपुर के लिए इस प्रकार की कोई विशेषता नहीं बतलायी जाती। सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध मठों में बलिया जिले के रतसंड बिहुआँ-जैसे कई स्थानों के नाम लिये जाते हैं। इनके प्रमुख शिष्यों में से रामनाथ सिंह के लिए कहा जाता है कि वे इनसे अवस्था में बड़े थे। यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने ही इनके जन्म समय इनकी 'नाल' काटी थी। रामनाथ की समाधि उनके जन्म-स्थान परसिया में है, जहाँ पर उनके वंशज भी अभी तक वर्तमान हैं। इसी प्रकार इनके द्वितीय शिष्य लखनराम के लिए कहा जाता है कि वे पहले 'माई' वा 'बिरनु' पंथ में दीक्षित रहे। उनके गुरु कोई 'जती' थे जिनकी ही प्रेरणा पाकर उन्होंने पीछे संत शिवनारायण से भी दीक्षा ग्रहण की और इन्होंने उन्हें अपना 'गुरु अन्यास' ग्रंथ रखने को दिया। लखन राम स्वयं भी एक योग्य पुरुष थे। इन्होंने कुछ रचनाएँ की हैं जिनमें से 'विजय ग्रंथ' प्रकाशित भी हो चुका है। 'मूलग्रंथ' के अनुसार इनका देहांत सं० १८०७ में हुआ जब कि रामनाथ सिंह इसके पहले सं० १८५४ में ही मर चुके थे। लखन राम को संत शिवनारायण का सर्वश्रेष्ठ शिष्य भी कहा गया मिलता है। इनकी समाधि बरसड़ी में है जहाँ इनके वंशजों का मठ भी है। संत शिवनारायण के दो अन्य प्रमुख शिष्यों के रूप में सदाशिव (मृ सं० १८४१) तथा लेखराज (मृ सं० १८५४) के नाम लिये जाते हैं। प्रसिद्ध है कि इनमें से प्रथम जाति से 'जती' थे और द्वितीय 'भाट' थे। संत शिवनारायण के किसी

---

१ दि जर्नल ऑफ दि ऐशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल जून १९१८ ई० पृ० ११६।

ग्रहण कर चुकने के अनतर देश-भ्रमण के लिए निकले तथा उसी समय से इनका आना-जाना आगरा, दिल्ली-जैसे प्रसिद्ध स्थानो मे भी होने लगा। कहते हैं कि ऐसे ही समय इनकी पहुँच क्रमश फौज के सिपाहियो तक भी हो गई और ये उन्हे कुछ-न-कुछ प्रभावित करने लगे। फलत इनका परिचय वहाँ के कर्मचारियो तथा धीरे-धीरे स्वय बादशाह से भी हो गया जिससे इन्हे अपने प्रचार-कार्य मे बडी सहायता मिली। कहा तो यहाँ तक जाता है, "मुहम्मदशाह को अपने उपदेशो द्वारा प्रभावित करके इन्होने उसकी शाही मुहर का भी उपयोग किया। प्रसिद्ध है कि सम्प्रदाय के प्रधान मठ मे एक ऐसी प्राचीन मुहर सुरक्षित है जिसके द्वारा इनके अनुयायियो के परवाने मुद्रित किये जाते हैं। परन्तु उसके चिह्न यथेष्ट रूप मे स्पष्ट नही जिससे निश्चित रूप मे पता लग सके कि वह उक्त शाही मुहर ही है वा नही। क्षितिमोहन सेन का कहना है कि सत शिवनारायण प्रसिद्ध शाहजादा दाराशिकोह (स० १६७२-१७१६) के विचारो द्वारा भी प्रभावित थे। उसके कुछ अनुयायियो के साथ इनका सत्सग हुआ था तथा वली (स० १७२५-१८०१), आबरू और नजीर नामक उर्दू कवियो के हृदयो मे इनके प्रति बडी श्रद्धा थी जिस बात को वे प्रामाणिक आधारो पर आश्रित भी कहते है।[२] परन्तु ऐसे किसी प्रमाण की ओर उन्होने कोई सकेत नही किया है। सत शिवनारायण की उपलब्ध रचनाओ पर हमें सूफी-मत का केवल साधारण प्रभाव ही लक्षित होता है। सत शिवनारायण 'गुरु अन्यास' की रचना करने के पूर्व कदाचित् कही दिल्ली की ओर भ्रमण कर रहे थे, जहाँ से स० १७९१ के लगभग मे 'बगदेश' अर्थात् पूर्वी प्रातो की ओर 'चलि आय' वा लौट आये तथा अपनी आतरिक प्रेरणा द्वारा प्रभावित होकर इन्होने उसे निर्मित किया। ये स० १८११ अर्थात् 'सत सुदर' ग्रथ की रचना के समय तक प्रत्यक्षत जीवित थे। इनकी मृत्यु स० १८४८ की श्रावण शुक्ल ७ को हो गई।[३] महर्षि शिवव्रतलाल ने इनकी समाधि का बडसरी, जिला गाजीपुर मे होना बतलाया है जो ठीक नही है। इनकी वास्तविक समाधि का सम्प्रदाय के प्रमुख

---

१ 'मोहम्मदशाह को शब्द सुनाये। मोहर लेकर पथ चलाये।
—दि जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड, जनवरी-जून, १९१८ ई०, पृ० ११६ पर उद्धृत।

२ मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इडिया, पृ० १५५-६।

३ दे० 'सात उजियार सावन को भयँऊ। धाम अपने तब गुरुजी गयेऊ।
—लखनराम।

स्थान ससना बहादुरपुर, जिला बलिया में रहना बतलाया जाता है जहाँ पर पहले कदाचित् इनकी कोई गुफा भी रह चुकी थी।

मठ अनुयायी और प्रचार क्षेत्रादि

शिवनारायणी-सम्प्रदाय के प्रधान मठ संख्या में चार कहे गए हैं और ये उसके 'चार धाम' कहला कर भी प्रसिद्ध हैं। इनके नाम प्रायः चंदवार, बरसड़ी ससना बहादुरपुर और परसिया बतलाये जाते हैं। इनमें से चौथे का किसी किसी में गाजीपुर भी माना है। इन चारों में से प्रथम चंदवार संत शिवनारायण जी के जन्म-स्थान के रूप में प्रसिद्ध है। तीसरे को इनका समाधि-स्थान ठहराया जाता है और जैसा इसके पहले भी कह आये हैं, यहाँ पर इनकी बहन सुभद्रा व्याही थी तथा यहीं इन्होंने साधना भी की थी। इसी प्रकार द्वितीय तथा चतुर्थ स्थान भी क्रमशः संत शिवनारायण के द्वितीय शिष्य ललनराम और प्रथम शिष्य रामनाथ के जन्म-स्थान होने के कारण पुण्य-स्थान माने गये हैं। किंतु गाजीपुर के लिए इस प्रकार की कोई विशेषता नहीं बतलायी जाती। सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध मठों में बलिया जिले के रसड़ा, सिहुवाँ-जैसे कई स्थानों के नाम लिये जाते हैं। इनके प्रमुख शिष्यों में से रामनाथ सिंह के लिए कहा जाता है कि वे इनसे अवस्था में बड़े थे। यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने ही इनके जन्म समय इनकी 'नाल' काटी थी। रामनाथ की समाधि उनके जन्म-स्थान परसिया में है, जहाँ पर उनके वंशज भी अभी तक वर्तमान हैं। इसी प्रकार इनके द्वितीय शिष्य ललनराम के लिए कहा जाता है कि वे पहले 'माई' वा 'बिस्नु' पंथ में दीक्षित रहे। उनके गुरु कोई 'जती' थे जिनकी ही प्रेरणा पाकर उन्होंने पीछे संत शिवनारायण से भी दीक्षा ग्रहण की और इन्होंने उन्हें अपना 'गुरु अन्यास' ग्रंथ रखने को दिया। ललन राम स्वयं भी एक योग्य पुरुष थे। इन्होंने कुछ रचनाएँ की हैं जिनमें से 'विजय ग्रंथ' प्रकाशित भी हो चुका है। 'मूलग्रंथ' के अनुसार इनका देहांत सं० १८७ में हुआ जब कि रामनाथ सिंह इसके पहले सं० १८५४ में ही मर चुके थे। ललन राम को संत शिवनारायण का सर्वश्रेष्ठ शिष्य भी कहा गया मिलता है। इनकी समाधि बरसड़ी में है जहाँ इनके वंशजों का मठ भी है। संत शिवनारायण के दो अन्य प्रमुख शिष्यों के रूप में सदाशिव (मृ० सं० १८४१) तथा मेल राम (मृ० सं० १८५४) के नाम लिये जाते हैं। प्रसिद्ध है कि इनमें से प्रथम जाति से 'जती' थे और द्वितीय 'भाट' थे। संत शिवनारायण के किसी

---

१ दि जर्नल ऑफ दि ऐतिहासिक सोसाइटी ऑफ बनारस जून १९१८ ई० पृ० ११९।

खटिक शिष्य वा प्रशिष्य बिहारी राम द्वारा कानपुर के मठ का स्थापित होना कहा जाता है। कहते हैं कि बंबई नगरके 'कोहार वाडी' नामक स्थान के आसपास इनके एक अन्य अनुयायी ने भी किसी ऐसे ही मदिर को स्थापित किया था। सम्प्रदाय के अनेक अनुयायी कलकत्ता रगून, कराची, लाहोर, पेशावर और काबुल जैसे सुदूर नगरो तक मे वर्तमान सुने जाते है। पता चलता है कि इसी प्रकार उनमे से कई एक मारिशस, ट्रिनिडाड आदि मे लेकर अमेरिका-जैसे विदेशो तक मे बस कर वहाँ के नागरिक बन चुके है। अतएव इनकी सख्या कम नही कही जा सकती।

रीति-रिवाज, पर्व और सगठन

शिवनारायणी-सम्प्रदाय के अनुयायियो मे हिन्दू तथा मुसलमान के अतिरिक्त ईसाई भी सम्मिलित जान पडते है। इनके यहाँ जाति, वर्ण, आश्रम अथवा वैसे किसी धर्म-विशेष के अनुसार वर्गीकरण किया गया नहीं माना जाता। इनके शवो को बहुधा गाते-बजाते ले जाया जाता है। उन्हे मृत व्यक्तियो के पूर्व कथनानुसार जमीन मे गाडा, आग मे जलाया अथवा किसी नदी मे बहा दिया जाता है। जीवन-काल मे सभी प्राय एक ही प्रकार से 'भगत' वा 'सत' कहे जाते हैं। सभी के इष्टदेव एक मात्र सत शिवनारायण माने जाते है जो 'सतपति' कहलाते हैं। इस सम्प्रदाय के अतर्गत पहले प्राय उच्च वर्गों के ही लोग पाये जाते थे। किंतु अब अधिकतर वे लोग अधिक सख्या मे आ गए दीख पडते हैं जिन्हे जाति से चमार, दुसाध अथवा अन्य ऐसी किसी श्रेणी का सदस्य और अछूत तक समझा जाता है। कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा अन्य उच्च समझी जानेवाली जातियो के लोगो की सख्या इनमे पचमाश से भी कम हो सकती है। फिर भी इस सम्प्रदाय मे स्त्रियो को भी लगभग वे ही अधिकार प्राप्त है जो पुरुषो के हैं। वे कदाचित् मठाधीश तक भी बन जाती हैं। इनके सब प्रसिद्ध पर्वो वा त्यौहारो मे एक अगहन सुदी १३ का दिन समझा जाता है, जब 'गुरु अन्यास' ग्रथ की रचना हुई थी। इसके सिवाय सावन सुदी ७ (शिवनारायण का देहात-दिवस) कार्तिक सुदी ३ (उनका जन्म-दिवस) तथा माघ सुदी ५ (उनका दीक्षा-दिवस) इन तीनो को भी उसी प्रकार महत्त्व दिया जाता है और उस समय कुछ विशेष उत्सवादि किये जाते हैं। जहाँ कही इस सम्प्रदाय के अनुयायियो की सख्या पर्याप्त जान पडती है ये लोग अपना कोई-न-कोई सगठन कर लेना पसद करते हैं। ये लोग वहाँ अपनी एक 'टोली' अथवा बेडा समाज बना लेते हैं जिसके सभी सदस्य 'सत सिपाही' नाम से अभिहित होते है। उनमे से ७ का चुनाव करके वैसे मुखियो का एक 'मन्त्रिमडल' तैयार कर लिया जाता है।

इन कुटियों या मठियों को क्रमशः (१) महंथ (२) वजीर, (३) कौठिमी (४) सचाची (५) लिपनीमम (६) भंडारी तथा (७) छड़ी बरदार कहते हैं। तदुपरांत ये सातों नियमानुसार कुछ द्रव्य जमा करते हैं तथा फिर 'मवली कवाह' के लिए भी ९५ रुपये एकत्र किये जाते हैं। इसमें से ८ रुपये 'धाम' को 'पाती मोहर' के लिए भेज दिये जाते हैं। शेष अन्य कामों में व्यय किये जाते हैं। इसी प्रकार ऐसी ऐसी टोलियों के आधार पर किसी बृहत् समाज (विवेक समाज) की रचना की जाती है जो इनके तथा 'धाम' के बीच काम करती है। इसके द्वारा इनके पारस्परिक झगड़े भी निपटाये जा सकते हैं। 'धाम' को केन्द्र माना जाता है।

वंशावली

- संतपति दुखहरन
  - सतपति शिवनारायण (सं १७७५-१८४८)
    - कंचनराम (मृ सं १८७) बरसठी
      - कामजीत सिंह (बरसठी)
        - गंगाविष्णु सिंह
          - कुंजबिहारी सिंह
            - वृन्दावन सिंह
              - रघुनाथ सिंह
                - रामरतन सिंह
                  - प्राग सिंह (वर्तमान)
      - हीराभाई (सिहुवाँ)
        - खेवाकराम (कोईरी)
          - कमुदराराम (बाह्मणी)
            - नगुवराम (सिहुवाँ)
            - मुरलीधरराम (रतसंड)
      - गुरुदयाल (चदवार)
    - सदाशिव (मृ सं १८४१)
    - विश्वनाथ सिंह, ससना
      - जीत सिंह
        - धनी सिंह
          - गिरिवर सिंह
            - सुरजित सिंह
              - सतसेवक सिंह
                - साधुशरण सिंह (वर्तमान)
    - भैरवराज (मृ सं १८५४)
    - रामनाथ (मृ सं १८५४) परसिया
      - गेंदाराम (मनियर)
      - शंभू सिंह (परसिया)
    - बोधराज (मृ सं० १८५४

खटिक शिष्य वा प्रशिष्य विहारी राम द्वारा कानपुर के मठ का स्थापित होना कहा जाता है। कहते हैं कि बबई नगरके 'कोहार वाडी' नामक स्थान के आसपास इनके एक अन्य अनुयायी ने भी किसी ऐसे ही मदिर को स्थापित किया था। सम्प्रदाय के अनेक अनुयायी कलकत्ता रगून, कराची, लाहोर, पेशावर और क़ाबुल जैसे सुदूर नगरो तक मे वर्तमान सुने जाते है। पता चलता है कि इसी प्रकार उनमे से कई एक मारिशस, ट्रिनिडाड आदि से लेकर अमेरिका-जैसे विदेशो तक मे बस कर वहाँ के नागरिक बन चुके है। अतएव इनकी सख्या कम नही कही जा सकती।

रीति-रिवाज, पर्व और सगठन

शिवनारायणी-सम्प्रदाय के अनुयायियो मे हिन्दू तथा मुसलमान के अतिरिक्त ईसाई भी सम्मिलित जान पडते हैं। इनके यहाँ जाति, वर्ण, आश्रम अथवा वैसे किसी धर्म-विशेष के अनुसार वर्गीकरण किया गया नही माना जाता। इनके शवो को बहुधा गाते-बजाते ले जाया जाता है। उन्हे मृत व्यक्तियो के पूर्व कथनानुसार जमीन मे गाडा, आग मे जलाया अथवा किसी नदी मे बहा दिया जाता है। जीवन-काल मे सभी प्राय एक ही प्रकार से 'भगत' वा 'सत' कहे जाते हैं। सभी के इष्टदेव एक मात्र सत शिवनारायण माने जाते है जो 'सतपति' कहलाते हैं। इस सम्प्रदाय के अतर्गत पहले प्राय उच्च वर्गों के ही लोग पाये जाते थे। किंतु अब अधिकतर वे लोग अधिक सख्या मे आ गए दीख पडते हैं जिन्हे जाति से चमार, दुसाध अथवा अन्य ऐसी किसी श्रेणी का सदस्य और अछूत तक समझा जाता है। कहते है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा अन्य उच्च समझी जानेवाली जातियो के लोगो की सख्या इनमे पचमाश से भी कम हो सकती है। फिर भी इस सम्प्रदाय मे स्त्रियो को भी लगभग वे ही अधिकार प्राप्त हैं जो पुरुषो के हैं। वे कदाचित् मठाधीश तक भी बन जाती है। इनके सब प्रसिद्ध पर्वो वा त्यौहारो मे एक अगहन सुदी १३ का दिन समझा जाता है, जब 'गुरु अन्यास' ग्रथ की रचना हुई थी। इसके सिवाय सावन सुदी ७ (शिवनारायण का देहात-दिवस) कार्त्तिक सुदी ३ (उनका जन्म-दिवस) तथा माघ सुदी ५ (उनका दीक्षा-दिवस) इन तीनो को भी उसी प्रकार महत्त्व दिया जाता है और उस समय कुछ विशेष उत्सवादि किये जाते हैं। जहाँ कही इस सम्प्रदाय के अनुयायियो की सख्या पर्याप्त जान पडती है ये लोग अपना कोई-न-कोई सगठन कर लेना पसद करते हैं। ये लोग वहाँ अपनी एक 'टोली' अथवा बेडा समाज बना लेते हैं जिसके सभी सदस्य 'सत सिपाही' नाम से अभिहित होते हैं। उनमे से ७ का चुनाव करके वैसे मुखियो का एक 'मन्त्रिमडल' तैयार कर लिया जाता है।

पता चला है कि दरियादास के पूर्वज उज्जैन वंशी क्षत्रिय थे और मालवा से आकर बिहार प्रांत में बस गए थे। शाहाबाद जिले के महंत चतुरीदास ने उक्त पूर्व-पुरुषों के एक वंश-वृक्ष[1] का भी पता लगाया है जो इस प्रकार है।

रणजीत नारायण सिंह
- सूरजचंद्र सिंह
  - सुमेर सिंह
    - पृथुदेव सिंह (उपनाम 'पीरनशाह')
      - दरिया
      - बस्ती
      - दल
      - फक्कड़
      - उजियार
      - बुद्धिमती (पुत्री)
- शिवमंगल सिंह
- कृष्णदेवकुमार सिंह

प्रसिद्ध है कि उक्त रणजीत सिंह अथवा उनके कोई पूर्वज या वंश वाले सर्वप्रथम उज्जैन से आकर जगदीशपुर, जिला शाहाबाद में बसे थे। उनके योग्य होने के कारण उनके वंशजों का शासन भी इस प्रदेश में होता आया। महाराजा डुमराँव जिला शाहाबाद भी उस घराने के ही कहे जाते रहे हैं। सुधाकर द्विवेदी के कथनानुसार दरियासवास के पिता को अपने भाई के प्राण बचाने के लिए बादशाह औरंगजेब की प्रिय बेगम की दर्जिन की लड़की के साथ विवश होकर विवाह करना पड़ा था। इस प्रकार वह उनकी द्वितीय पत्नी के रूप में उनके साथ रही। कदाचित् इसी कारण वे पृथुदास से 'पीरनशाह' बन गए। पीरन शाह तब से अपने किसी मित्र प्रबोध नारायन सिंह के कहने से अपनी सास के घर धरकंधा में जा बसे जो डुमराँव जिला शाहाबाद से लगभग १४ मील की दूरी पर वर्तमान है। वह इस समय दरिया-पंथियों का एक मुख्य स्थान समझा जाता है। दरियादास ने 'मूर्ति उखाड़' में अपने को पीरन दर्जी का पुत्र कहा है।[2]

जीवन-काल

दरियादास की प्रसिद्ध रचना 'ज्ञानदीपक' की मुद्रित प्रति की पुष्पिका में ११ पद्य उद्धृत हैं जो दलदास की रचना समझे जाते हैं। इनका समय

---

१ दि जर्नल ऑफ दि बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी भा० २४ १९३८ ई० पृ० २१।

२ दे० संत कवि दरिया : एक अनुशीलन पटना पृ० ८।

६ दरियादासी-सम्प्रदाय

दो दरिया साहब

दरिया नामक दो सत एक दूसरे के समकालीन हो गए हैं जिनमें से एक का निवास-स्थान विहार प्रात था और दूसरे का मारवाड। ये दोनो ही सत पहले जाति से मुसलमान रह चुके थे। विहारवाले दरिया साहब दर्जी परिवार के थे और मारवाड वाले धुनिया। दोनो के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने आगे चल कर सत-मत को स्वीकार किया और एक सच्चे सत की भाँति जीवन-यापन कर अत में शरीर त्याग किया। इनमें से विहारवाले दरिया साहब ने कदाचित् मारवाडी दरिया साहब से कही अधिक रचनाएँ प्रस्तुत की और वे कवीर साहब के अवतार भी कहलाये। परन्तु मारवाडी दरिया साहब की वानियाँ वहुत कम सख्या में उपलव्ध हैं। जनश्रुति है कि उनके आविर्भाव की सूचना सत दादूदयाल ने लगभग एक सौ वर्ष पहले ही दे रखी थी। उन्होंने कह दिया था कि ये अनत जीवो को इस ससार से तारने वाले होगे। इन दोनो सतो के अनुयायी मिलते हैं, किंतु उनकी अधिक सख्या उनके अपने-अपने प्रवर्त्तक के प्रात मे ही पायी जाती है। बिहार वाले दरिया साहब के अनुगामियो के मठादि मार-वाड वाले से कदाचित् कही अधिक है। उनकी साधना तथा रहन-सहन में भी कुछ विशेषता लक्षित होती है। विहार वाले दरिया साहब मारवाड वाले से कुछ वर्ष पहले उत्पन्न हुए थे और उनकी मृत्यु के कुछ काल अनतर इनका देहावसान भी हुआ था। विहार वाले दरिया साहब का अनुभव कदाचित् कुछ अधिक व्यापक रहा और उनके मत पर सूफी-सम्प्रदाय, सत्तनामी-सम्प्रदाय तथा कबीर-पथ का भी न्यूनाधिक प्रभाव दीख पडता है। किंतु मारवाड वाले दरिया साहब अपनी गहरी अनुभूति में सदा मग्न रहे। प्रसिद्ध है कि 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' की 'रैण शाखा' का प्रथम प्रवर्त्तन इन्ही के द्वारा हुआ। इसके सिवाय बिहार वाले दरिया साहब ने अपने को कई जगह 'दरिया दास' नाम से भी अभिहित किया है,[१] जहाँ मारवाड वाले दरिया साहब को दरियावजी भी कहा गया है।

दरियादास का वश-परिचय

बिहार वाले दरिया साहब वा 'दरियादास' के सबध में इधर वहुत कुछ खोज भी हो चुकी है। फ्रासिस वुकैनन, सुधाकर द्विवेदी, वालेश्वर प्रसाद, डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री तथा कतिपय योग्य दरिया-पथियो ने भी इनके विषय में वहुत-सी बातें निश्चित करने के अनेक यत्न किये हैं। परिणाम-स्वरूप

---

१ दे० दरियासागर, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० ४८।

भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने स्त्री-प्रसंग कभी नहीं किया और उक्त टेकदास इस प्रकार इनके औरस-पुत्र न होकर धर्म-पुत्र मात्र थे। बुकैनन साहब ने लिखा है "जिस समय सं० १८६६-६७ सन् १८०९-१० ई० में वे शाहाबाद जिले में भ्रमण कर रहे थे उस समय धरकंधे की गद्दी पर टेकदास विद्यमान थे और वे गुणीदास के उत्तराधिकारी बन कर बैठे हुए थे। बुकैनन साहब का यह भी कहना है कि अनुश्रुति के अनुसार कासिम अली ने दरियादास को धरकंधे में १०१ बीघे जमीन दी थी। अनुमान किया जा सकता है कि यह कासिम अली कदाचित् प्रसिद्ध मीरकासिम रहा होगा जो सन् १७६० से १७६३ ई० तक सूबा बंगाल (जिसमें बिहार भी शामिल था) का गवर्नर था। सन् १७६० ई० से १७६३ ई० तक वह पटना रहा था जहाँ से अपना मुख्य केन्द्र सासाराम को बना कर उसने भोजपुर, जिला शाहाबाद के विद्रोही जमींदारों का दमन किया था।[1] दरियादास अपने जीवन भर धरकंधे में ही रहे केवल कुछ दिनों के लिए इन्होंने काशी, मगहर, बाईसी जिला गाजीपुर, हरदी तथा लहठान जिला शाहाबाद जा-जाकर उपदेश दिये थे। इनके प्रधान शिष्यों की संख्या ३६ थी जिनमें रमदास सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए।

उपलब्ध रचनाएँ

दरियादास वा दरिया साहब के अधिक शिक्षित होने का कुछ पता नहीं चलता। इनके केवल हिंदी तथा फारसी के साधारण ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि इन्हें पद्य-रचना का भी अभ्यास अवश्य रहा होगा। इन्होंने कई छोटे-बड़े ग्रंथों का निर्माण किया था। इनकी एक पुस्तक 'ग्यान सरोदै' (स्वरोदय ज्ञान) में कहा गया मिलता है 'ग्रंथ अष्टदस कहा बखानी। तब सरोद कहु किछु अनुमानी।' इससे स्पष्ट है कि इन्होंने उसे लेकर कम-से-कम १९ रचनाएँ प्रस्तुत की होंगी। डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने खोज करके ऐसी रचनाओं की संख्या २० निश्चित की है तथा उनका संक्षिप्त परिचय भी दिया है।[2] उनके अनुसार इन २० में से सबसे बड़ा ग्रंथ 'दरिया सागर' वा 'बीजक' तथा सब से छोटा 'गणेश गोष्ठी' जान पड़ते हैं। इनमें से प्रथम के अंतर्गत ५९५८ और उसी प्रकार द्वितीय में केवल २९४ पंक्तियों का पाया जाना बतलाया गया है। 'दरिया सागर' वा 'बीजक' ग्रंथ में दरिया साहब द्वारा रचित ऐसे पदों का संग्रह किया गया है जो विभिन्न रागों अथवा छंदों के अनुसार निर्मित हैं तथा इनके विषय भी साधारण 'शब्दावलियों' के जैसे हैं। इसी प्रकार इनकी

---

१ दि जर्नल ऑफ दि बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पृ० २११।

२ संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, पटना, सं० २०११, पृ० १९-७९।

३० अगहन शुक्रवार स० १७२७ बतलाया गया है ।[1] उनके देखने से पता चलता है कि दरियादास का जन्म कार्त्तिक सुदी १५ स० १६९१ को हुआ था और उन्होंने स० १८३७ की भाद्रपद ४ को अपना शरीर-त्याग किया था। उससे यह भी जान पडता है कि इन्होने अपनी मृत्यु के पहले ही स० १८३६ में गुणीदास को महत बना दिया था। दरिया दास की पत्नी का नाम राममती था और उनके पुत्र टेकदास थे। फक्कड तथा वस्ती उनके भाई थे और केवलदास, खड्गदास, मुरलीदास तथा दलदास उनके प्रिय शिष्य थे। 'ज्ञानदीपक' के प्रकाशक ने एक पद्य को दरिया दास की जन्म-तिथि का आधार माना है।[2] बेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'दरिया सागर' के अत में दरिया दास की मृत्यु के सबध मे भी दो दोहे दिये हैं।[3] अतएव दरियदास की अवस्था उनकी मृत्यु-तिथि तक १४६ वर्ष की ठहरती है। परन्तु उक्त 'दरिया सागर' के सपादक के अनुसार दरिया-पथियो में प्रसिद्ध है कि वह इस धरती पर १०६ बरस तक रहे। इस प्रकार उन्होने इनका जन्म-काल स० १७३१ में माना है।[4] १४६ वर्षों की अवस्था साधारण प्रकार से बहुत अधिक जान पती है। किंतु इस विषय में अतिम निर्णय कुछ और प्रमाणो के आधार पर ही किया जा सकता है।

प्रारभिक जीवन

कहते हैं कि दरियादास को दरिया वा दरियाशाह नाम स्वय भगवान् ने ही दर्शन देकर दिया था, जब ये केवल एक महीने के अपनी माँ की गोद में बालक थे। इनका विवाह नव वर्ष की अवस्था में इनके कुल-नियमानुसार हो गया था। इसी प्रकार पद्रहवें वर्ष में इन्हें विराग उत्पन्न हो गया। बीसवें वर्ष में इनमें भक्ति का पूर्ण विकास हो आया और तीस वर्ष की अवस्था मे इन्होने तख्त पर बैठ कर लोगो को उपदेश देना आरभ कर दिया। इनके विषय मे यह

१ दि जर्नल आफ दि बिहार ऐंण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग २४, १९३८ ई०, पृ० २११।

२ 'सवत सोलह सौ इक्कानबे, कातिक पूरन जान।
मातु गर्भते प्रगट भए, रहे दो घरी आन ॥'

३ 'भादो बदी चौथि बार सुक, गवन कियो छपलोक।
जो जन सब्द विवेकिया, मेटेउ सकल सब सोक ॥
सबत अठारह सै सैंतीस, भादो चौथि अधार।
सवा जाम जब रैनि गो, दरिया गौन विचार ॥'
——दरियासागर, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० ७०।

४. वही, जीवन चरित्र, पृ० २।

से परिचित कराना भी कहला सकता है। तदनुसार दरिया साहब ने यहाँ पर गोस्वामी जी वाली राम-कथा को मूलतः अपनाते हुए भी उसमें कुछ विशेषताओं का समावेश कर दिया है। इन्होंने 'सीता' को मुख्य 'माया' ठहरा कर उनका जनक के घर आकर प्रकट होने की चर्चा पहले ही कर दी है।[1] फिर ये अन्यत्र भी कहते हैं कि जिस प्रकार 'वह स्वयं सत्पुरुष की 'कुमारी कन्या' है जिसका प्रपंच सब किसी को विदित है। इसी प्रकार वह राम भी उस निरंजन से भिन्न नहीं है जो त्रिगुणात्मिका सृष्टि में प्रवाहित हो रहा है।"[2] इनके अनुसार इस प्रकार के 'माया चरित्र' का कोई पहचान नहीं पाता और पंडित लोग तक इसे पढ़ भूल कर बैठते हैं।[3] गोस्वामी जी ने जिस प्रकार अपने 'मानस' ग्रंथ में पग-पग पर अपने इष्टदेव राम के परमात्मतत्त्व के साथ एक तथा अभिन्न होने का स्मरण दिलाया है, लगभग उसी प्रकार इन्होंने भी यत्र-तत्र ऐसे प्रसंग ला दिये हैं जिनसे इनके मत का समर्थन होता चले।

स्वर-विज्ञान

दरियादास के 'ज्ञान-स्वरोदय' ग्रंथ में एक ऐसे विषय की चर्चा है जिसका शुद्ध संत-मत के साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं जान पड़ता। हमारे शरीर की जीवितावस्था में हमारी नाक के छिद्रों या नथनों द्वारा एक प्रकार की वायु सदा चला करती है जिसे भीतर प्रवेश करने से 'श्वास' और बाहर निकलने 'प्रश्वास' कहा करते हैं। इसी श्वास-प्रश्वास की गति का एक दूसरा नाम 'स्वर' भी है। यह स्वर निरंतर एक ही मार्ग से गतिशील नहीं होता प्रत्युत कभी केवल बायें कभी केवल दायें अथवा कभी-कभी दोनों मार्गों से ही प्रवेश करता या निकलता रहता है। इस गति-परिवर्तन की क्रिया को उक्त स्वर का 'उदय' होना कहा जाता है। 'स्वर-विज्ञान' या 'स्वरोदय' ज्ञान शब्द इस प्रकार उस विद्या के लिए प्रयुक्त होने लगा है जिसके द्वारा हमें अपने उक्त स्वर की गति-विधि का ज्ञान हो और साथ ही उसके भिन्न-भिन्न परिणामों का भी पता चल सके। अनुभवी महापुरुषों के अनुसार स्वर की गति साधारणतः

---

१ "माया जनक गिह आइया परगट भई तिमिलोक'। —द०ग्रं० पृ १२७।

२ "सतपुरुष की कन्या कुमारी इन्ह परपंच विदित संसारी।
सोई राम निरंजन अहई यह जग जानि त्रिगुन में बहई ॥
—वही पृ ११५।

३ "आदि भवानी कन्या अहई, सोई सीता सती यह कहई।
माया चरित्र चिन्है नाहिं कोई, पंडित पढ़ि के जाने बिगोई ॥
—वही पृ १५।

'सहसरानी' नामक एक अन्य रचना मे भी इनकी १०५३ साखियो को सगृहीत कर दिया गया है। किंतु इनकी 'ज्ञानदीपक' नामक पुस्तक के अतर्गत इनके विविध जन्मो का परिचय पौराणिक शैली मे दिया गया दीख पडता है। इनके 'दरिया सागर' मे भी जो समवत इनकी प्रथम रचना है। इन्होने अपने 'सुकृत' वाले अवतार की वाल्यावस्था आदि का वर्णन किया है। फिर इनकी 'ज्ञानमूल' नामक रचना भी प्राय इसी प्रकार की है जिसमे सत्पुरुष का स्वर्ग से जवूद्वीप आकर दरिया को अपना युवराज (शाहज़ादा) बनाना तथा 'सुकृत' के प्रचारो के हेतु उन्हें रक्षा प्रदान करना दिखलाया गया है। 'ब्रह्मविवेक' तथा 'अग्रज्ञान' के अतर्गत क्रमश कतिपय लोको तथा त्रिगुणादि जनित दुखो की वातें वतलायी गई है। इसी प्रकार प्रेममूल' 'भक्तिहेतु', 'विवेक सागर', 'निर्भय ज्ञान', 'ब्रह्म-चैतन्य' और 'यज्ञ समाधि' मे क्रमश प्रेम, भक्ति तथा योग-जैसी साधनाओ की चर्चा की गई है। 'गणेश गोष्ठी' और 'मूर्ति उखाड' में इनके किसी गणेश पडित के साथ किये गए शास्त्रार्थों का परिचय दिया गया मिलता है। 'काल-चरित्र' मे इनके काल के साथ सघर्ष चलने की चर्चा और 'अमर सार' के अतर्गत इनके द्वारा की गई अन्य मतो की आलोचना पायी जाती है।

'ग्यान रतन' का विषय

दरिया साहव की शेष दो रचनाओ के रूप मे डॉ० शास्त्री ने 'ज्ञान रतन' तथा 'ज्ञान स्वरोदय' के नाम लिये हैं। इन्हे उपर्युक्त 'दरिया सागर', 'भक्ति-हेतु', 'ब्रह्म विवेक' और 'ज्ञान मूल' के साथ प्रकाशित भी कराया है। 'ज्ञान रतन' वा 'ग्यान रतन' का एक मुख्य विषय प्रसिद्ध राम-कथा है जिसे लेकर तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' की रचना की है। परन्तु इसे देखने से पता चलता है कि इसके निर्माण का उद्देश्य ठीक वही नही है जो गोस्वामी जी का अथवा वालमीकि ऋषि का भी रहा होगा। इनका स्पष्ट कहना है, "मैंने राम-कथा के प्रसग मे ज्ञान की चर्चा की है और यह वतलाया है कि किस प्रकार भक्ति, विवेक, ज्ञान तथा 'विराग' के द्वारा मोह का भग हो जाता है। आत्म-दर्शन अथवा स्वानुभूति-जन्य ज्ञान का उदय होकर परमार्थ की प्राप्ति होती है।"[1] जो वास्तव में एक लोकप्रिय साधन की सहायता द्वारा निर्गुणवाद

१ "वालमीक मुनि तुलसी भाखा। राम चरित्र जगत रुचि राखा ॥
कहेउ ग्यान निजु कथा प्रसगा। भक्ति विवेक मोह होय भगा ॥
आदि अत पूछा सिख आई। छुछुम कथा निजु ग्यान सुनाई ॥
भक्ति विवेक औ ग्यान विरागा। आतम दरस ग्यान तव जागा ॥"
—दरिया, ग्रथावली, द्वितीय ग्रथ, पटना स० २०१८ पृ० २००।

सूर्योदय से आरभ होकर ढाई घटिका वा १ घटे तक एक समान रहा करती है और उसी प्रकार आगे भी प्रत्येक घटा क्रमश बदलती जाती है। यह प्रारभ कभी दायें कभी वायें वा कभी दोनो नथनो से भी हो सकता है और वह एक घटे की अवधि तक रह कर साधारण रीति पर बदलता जायगा। एक मार्ग से चलते समय भी उक्त स्वर एक वार प्रवेश करने और निकलने की गति के अनुसार प्रति मिनट प्राय १५ वार दौड लगाया करता है। इस प्रकार एक रात-दिन की अवधि अर्थात् २४ घटे में इस क्रिया की सख्या २१६०० तक पहुँच जाती है। अपनी इस प्रत्येक दौड मे भी स्वर हमारे नथने के वाहर सदा एक ही दूरी तक जाकर नही लौटा करता। उदाहरण के लिए गाना गाते समय यह दूरी प्राय १६ अगुल तक जाती है। उसी प्रकार चलते समय २४ अगुल, सोते समय ३० अगुल तथा मैथुन-काल में ३६ अगुल के परिणाम तक पहुँच जाती है। परन्तु हमारी रुग्णावस्था मे वा शरीर के अन्य प्रकार से पूर्ण स्वस्थ न रहने पर इस प्रकार के निश्चित परिणामो में परिवर्तन भी हो सकता है। इसके सिवाय हमारे स्वर के साथ पच तत्त्वो अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश नामक पच महाभूतो का भी घनिष्ट सवध है। अतएव यदि नथने के ठीक मध्य मार्ग से स्वर चल रहा हो, तो वह पृथ्वी तत्त्व द्वारा प्रभावित होगा। इसी प्रकार यदि नीचे की ओर, ऊपर की ओर तिरछे-कोने, ढग से तथा भँवर की भाँति घूम-घुमा कर चलता हो तो क्रमश जल-तत्त्व, अग्नि-तत्त्व, वायु-तत्त्व और आकाश-तत्त्व के अधिक प्रभाव में होगा। इस नियम के अनुसार उक्त स्वर के रूप-रग, आकार-प्रकार, परिमाण तथा गध तक में अतर पड सकता है। इसी प्रकार की गतिविधि के आधार पर यदि हम चाहें तो अपने स्वास्थ्य, रोग, भविष्य आदि के विषय में भी कुछ-न-कुछ परिणाम निकाल सकते हैं। स्वर-विद्या का अध्ययन अनुभवी लोगो ने वडी सूक्ष्मता के साथ किया है। वहुत-से लोगो को इसके प्रति पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास भी है।[1]

ज्ञान स्वरोदय

दरिया दास ने जान पडता है, इस विषय को लेकर 'दरियानामा' नाम की एक पुस्तक पहले फारसी भाषा में लिखी थी।[2] परन्तु उक्त 'दरियानामा' का

---

१ स्वरोदय दोहावली, इलाहावाद, सन् १९४७, आमुख पृ० ४-५।

२ दरियानामा पारसी, पहिले कहा किताव।
सो गुन कहा सरोद मे, गहिर ज्ञान गरकाव ॥३९४॥'
—दि जर्नल ऑफ दि विहार ऐंड ओडीसा, भाग २७, १९४१ ई०, पृ० ७२-७३।

विष्णु, राम कृष्ण आदि उसी ज्योति के प्रतीक मात्र हैं। वे उस पुरुष पुराण के अवतार नहीं कहे जा सकते।[1] दरिया दास का दावा है कि मैं स्वच्छंदलोक वा अमयलोक से आया हूँ और उस सत्पुरुष का परवाना लेकर यहाँ अवतीर्ण हुआ हूँ। जब तीनों युगों अर्थात् सतयुग त्रेता तथा द्वापर का अंत हो गया और कलियुग आ पहुँचा तब सत्पुरुष ने सुकृती को बुला कर कहा कि सारे प्राणी अब यमराज के भय से व्याकुल होने लगे हैं। उनके उद्धार के लिए तुम्हारा जगत् में जाना अत्यंत आवश्यक है। फलतः इसी आदेश के अनुसार पहले कबीर साहब ने यहाँ पर जन्म लिया था और फिर दरिया दास को भी उस योजना को पूर्ण करने के लिए आना पड़ा। इन्होंने अपने 'अमरलोक' में रह चुकने तथा वहाँ के प्रत्येक रहस्य से परिचित होने[2] की बात भी बतलायी है। अपने विषय में इस ढंग से कहा है जैसे वे कबीर साहब से वस्तुतः भिन्न नहीं हैं।

कबीर-पंथ का प्रभाव

धर्मदास ने इनके पहले कहा था 'साहब कबीर प्रभु मिले विदेही झीना दरस दिखाइया' और 'अजर अमर गुरु पाये कबीरा'[3] कह कर उन्हें उन्होंने अपना गुरु तथा पथ-प्रदर्शक स्वीकार किया था। उसी प्रकार इनके समसामयिक गरीबदास (सं० १७७४-१८३५) ने भी 'दास गरीब कबीर सतगुरु मिले सुरत और निरत का तार जोड़ा'[4] द्वारा अपना उनके साथ मिलना तथा उनसे दीक्षा लेना प्रकट किया है। दादू दयाल-जैसे कुछ अन्य संतों ने भी कबीर साहब के प्रति अपनी श्रद्धा खुले शब्दों में प्रदर्शित की है और स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि हमारा भी मूलमंत्र वही है जो उनका है। परन्तु दरिया दास ने अपनी रच नाओं में यहाँ तक संकेत कर दिया है कि इनमें तथा कबीर साहब में वस्तुतः कोई अंतर ही नहीं है। अपने सतगुरु की जगह इन्होंने इसी कारण स्वयं 'साहब' अथवा 'सत्पुरुष' को स्थान दिया है। इन्होंने अपने 'ज्ञानस्वरोदय' ग्रंथ में[5] 'सो साहब जो सतगुर मेरा' अथवा 'साहब सतगुर भयउ हमारा' जैसे वाक्यों के प्रयोग किये हैं। एक स्थल पर 'मैं फरजंद पुरुष सत केरा' कह कर ये अपने

---

१ दरिया सागर, पृ० २२।

२ 'सार पताल सोर असमाना ताहि पुरुष के करी बखाना।' वही पृ० ६।

३ धर्मदासजी की शब्दावली बे० प्रे० प्रयाग पृ० ४६ तथा ६०।

४ गरीबदासजी की बानी बे० प्रे० प्रयाग पृ० ११७।

५ दि जर्नल ऑफ दि बिहार एंड ओड़ीसा भा० २७ १९४१ ई० पृ० ७४६।

श्यकता होती है जो अपने शिष्य को चौदह मत्रो का भेद वतला देता है और इस प्रकार उसे आगे वढने योग्य वना देता है। दरियादास ने इन चौदह मत्रो के कोई स्पष्ट विवरण नही दिये है, अपितु 'सार' शव्द की अनुभूति प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम 'कया परचै' अथवा काया-परिचय की ओर सकेत किया है। उन्होने वतलाया है कि किस प्रकार हमारे शरीर के भीतर छह चक्र, दस द्वार, ईडा-पिगलादि नाडियाँ तथा सार पवन वर्तमान हैं। अजपा जाप की सहायता से सुरति तथा निरति का सयोग सुलभ हो सकता है। इनके अनुसार अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए प्रत्येक सावक को चाहिए कि अपने शरीर को उसी प्रकार तपा ले जिस प्रकार सोना आग मे तपाया जाता है। उक्त चौदह मत्र केवल भेद-विस्तार मात्र हैं, हस का उद्धार तो केवल एक शव्द से ही हो जाता है।[1] जो भी सत उस 'सत्त' शव्द को जान पाते है, वे अभयलोक मे प्रवेश पा जाते हैं।[2]

सत्तपुरुष

व्रह्म की प्राप्ति के लिए उसे जीव के ही भीतर खोजना परमावश्यक है।[3] आत्मदेव निरजन वाहर-भीतर सर्वत्र एक ही प्रकार से व्याप्त है। अतएव व्रह्म को यदि उपलव्ध करना है, तो दरियादास ने वतलाया है कि 'सत्तपुरुप' का निवास-स्थान सत्तलोक मे है। 'काया कवीर' इस ससार मे वरावर आता-जाता रहता है।[4] उस 'सत्तपुरुप' का इन्होने कोई विस्तृत परिचय नही दिया है, अपि एक स्थल पर केवल सकेत कर दिया है।[5]

कवीर मे अभिन्नता

इससे जान पडता है कि वह कवीर साहव के परमतत्त्व वा 'राम' से भिन्न न होगा। ये उमे 'निरगुन सरगुन ते भीना' एक 'अछै वृच्छ' के रूप मे देखते हैं और उसका वर्णन सृष्टिकर्त्ता के रूप मे भी करते हैं।[6] ये वतलाते हैं कि उसने तीनो लोको की ज्योति का निर्माण 'ॐकार जोति' के द्वारा किया है। व्रह्मा,

---

१ "चौदह मत्र भेद विस्तारा। एक शव्द से हस उवारा॥
कामिनि कनक कद जम जाला। चौदह चीन्हि करम का काला॥'
—दरियासागर, वे० प्रे० प्रयाग, पृ० ६।

२ 'सत्त शव्द जिन्ह के वल जाना। अभयलोक सो सत समाना।"
—वही, पृ० १३।

३ 'खोजो जीव व्रह्म मिली जाई। —वही, पृ० २३।

४ वही, पृ० ८।

५ 'ताहि खोजु जो खोजहि कवीरा। वइठि निरतर समय गभीरा॥'
—वही, पृ० ४८।

६ वही, पृ० २२।

लिए कोई मंदिर वा मस्जिद आवश्यक नहीं है। 'संत नाम' का जप तथा दरिया साहब की बानियों का पाठ अधिक महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। जप और भजन के लिए दो विशिष्ट आसनों का प्रयोग किये जाते हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् 'कोर्निश' की दशा में उत्तर की ओर मुँह करके खड़ा होकर कुछ झुकना और इसके साथ ही बायें हाथ को छाती पर रखना तथा दाहिने से पृथ्वी हृदय और कपाल को पाँच बार छूना पड़ता है। इसी प्रकार द्वितीय अर्थात् 'सिजदा' या सिजदा के अनुसार घुटने टेक कर माथे से पृथ्वी को छूते हैं। इस दैनिक पूजा के अतिरिक्त गृहस्थ दरिया-पंथियों को वर्ष में एक बार इसके लिए बड़ा आयोजन भी करना पड़ता है। इसकी विधि कबीर-पंथियों की चौका-विधि से बहुत कुछ मिलती-जुलती जान पड़ती है। इसमें केवल फूल नहीं रहा करते। इसके सिवाय संपन्न दरिया-पंथियों द्वारा कभी-कभी 'भंडारा' किये जाने की व्यवस्था भी दीख पड़ती है। इसके लिए मठाधिकारी तथा साधु-समाज को आमंत्रित किया जाता है और उन्हें भोजन-वस्त्र दिये जाते हैं। कोई चेला अपने गुरु वा किसी महान साधु का दर्शन करते समय अपने साथ एक कटोरे में गुड़ और पैसा तथा एक गिलास जल भर कर उन्हें अर्पित करता है। अपने बायें हाथ को छाती पर रख कर 'साहब संत नाम' कहते हुए वह कोर्निश किया करता है।

धरकंधे की वंशावली

दरिया साहब
|
गुना साहब
|
मोरा साहब
|
चित्तर साहब
|
छत्रपति साहब
|
उम्मर साहब
|
अम्बीर साहब
|
रामदास साहब
|
गोकुलदास साहब
|
बालदास साहब

को ईसा मसीह की भाँति ईश्वर-पुत्र भी मानते है ।[1] शब्द के विलोडन द्वारा विवेक उपलब्ध करने को इन्होंने अन्यत्र 'परखना' भी कहा है ।[2] इनके 'दरिया सागर' की वर्णन-शैली तथा उसमे प्रयुक्त कई पारिभाषिक शब्दो मे हमें कबीर साहब के सिद्धातो के विकसित वा परिवर्तित रूप मिलते हैं। वास्तव में इनकी अन्य रचनाओ को देखने मे भी स्पष्ट हो जाता है कि इन पर कबीर साहब से अधिक कबीर-पथ का ही प्रभाव था ।

प्रचार तथा उपासनादि

दरियादासी-सम्प्रदाय का प्रचार अधिकतर उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलो तथा बिहार प्रात मे बतलाया जाता है । इसकी प्रमुख चार गद्दियो में से धरकधे के अतिरिक्त, तेलपा (सारन) मिर्जापुर (सारन) तथा मनुआँ (मुजफ्फरपुर) मे होना कहा जाता है, किंतु इसके सभी मठो की सख्या ११२ तक दी गई दीख पडती है ।[3] इसके अनुयायियो मे साधु तथा गृहस्थ दोनो प्रकार के लोग पाये जाते हैं। इनके विशेष चिह्न क्रमश माथ मुडा कर नगे सिर रहना और टोपी पहनना है। बुकैनन साहब के अनुसार इसमे सभी श्रेणी और जाति के व्यक्ति, चाहे वे हिन्दू हो वा मुसलमान साधु बन सकते हैं। वे किसी के भी यहाँ भोजन कर सकते हैं, यदि उसने इनके पथ को स्वीकार कर लिया हो । ये प्राय तबाकू पिया करते हैं और इसके लिए वे 'रत्ननलित' नामक एक विशिष्ट प्रकार के हुक्के का उपयोग करते हैं। यह हुक्का और एक लोटा इनके साथ सदा रहा करते है। उन्हे इनके 'देश' के विशिष्ट चिह्नो के रूप मे स्वीकार किया जाता है। मरने पर ये साधु गाडे जाते हैं, किंतु गृहस्थ दरिया-पथी का अत्येष्टि-सस्कार उसके कुल क्रमागत नियमो का अनुसरण करता है ।[4] सम्प्रदाय के प्रत्येक अनुयायी का यह कर्तव्य समझा जाता है कि वह पाँच बार पूजा करे जिसके

---

१ 'जोतिहि जोति भुलै ससारा, ये नहिं होइ हहि हस उबारा ।
सबद बिलोय जो करै विवेका, तेवही हस परै कछु लेखा ॥'
—दरिया सागर, बे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ३८ ।

२ 'परखहु सत शब्द यह बानी । करै विवेक सो निर्मल ज्ञानी ॥
बिनु परखे नहिं मूल भेंटाई । पारखि जन सो शब्द समाई ॥
एकहि तत्त बिचारहु भाई । पानी-पय ज्यों हस बिलगाई ॥
सम्रित जल पय भीतर रहई । बिवरन बरन सो इमि कर लहई ॥'
—वही, पृ० ४१ ।

३ सत कवि दरिया एक अनुशीलन, पृ० १८७-१९३ ।

४ शाहाबाद रिपोर्ट, पृ० २२१-३ ।

लिए कोई मंदिर वा मस्जिद आवश्यक नहीं है। 'सत नाम' का जप तथा दरिया साहब की बानियों का पाठ अधिक महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। जप और भजन के लिए दो विशिष्ट आसनों का प्रयोग किये जाते हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् 'कोर्निस' की दशा में उत्तर की ओर मुँह करके खड़ा होकर कुछ झुकना और इसके साथ ही बायें हाथ को छाती पर रखना तथा दाहिने से पृथ्वी हृदय और कपाल को पाँच बार छूना पड़ता है। इसी प्रकार द्वितीय अर्थात् 'सिर्दा' वा सिजदा के अनुसार घुटने टेक कर माथे से पृथ्वी को छूते हैं। इस दैनिक पूजा के अतिरिक्त गृहस्थ दरिया-पंथियों को वर्ष में एक बार इसके लिए बड़ा आयोजन भी करना पड़ता है। इसकी विधि कबीर-पंथियों की चौका-विधि से बहुत कुछ मिलती-जुलती जान पड़ती है। इसमें केवल पूस नहीं रहा करते। इसके सिवाय संपन्न दरिया-पंथियों द्वारा कभी-कभी 'भंडारा' किये जाने की व्यवस्था भी दीख पड़ती है। इसके लिए मठाधिकारी तथा साधु-समाज को आमंत्रित किया जाता है और उन्हें भोजन-वस्त्र दिये जाते हैं। कोई चेला अपने गुरु वा किसी महान साधु का दर्शन करते समय अपने साथ एक कटोरे में गुड़ और पैसा तथा एक गिलास जल भर कर उन्हें अर्पित करता है। अपने बायें हाथ को छाती पर रख कर 'साहब सत नाम' कहते हुए वह कोर्निस किया करता है।

धरकंधे की वंशावली

दरिया साहब
|
मुना साहब
|
मोरा साहब
|
चित्तर साहब
|
छत्रपति साहब
|
उम्मर साहब
|
अक्बीर साहब
|
रामदास साहब
|
मोकन्दास साहब
|
ज्ञानदास साहब

उपर्युक्त महथो के अतिरिक्त मोरा साहब के पीछे कुछ समय के लिए टेका साहब रहे। इसी प्रकार गोकुलदास साहब के पीछे भी क्रमश चतुरी साहब तथा जानकी दास रहे। किंतु उन्हे विधिवत् आसीन महथ नही बतलाया जाता।

७ रामस्नेही-सम्प्रदाय

साधारण परिचय

'रामस्नेह' शब्द का अर्थ राम के प्रति स्नेह वा प्रेम का होता है। इस कारण 'रामस्नेही' से अभिप्राय राम मे स्नेह करनेवाले किसी भी ऐसे भक्त का हो सकता है जो परमात्मा के प्रति प्रेमाभक्ति का उपासक हो। परन्तु यह शब्द 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' मे रूढिगत-सा हो गया है। यह प्रधानत उन लोगो को ही सूचित करता है जो एक धार्मिक वर्ग-विशेष के सदस्य हैं। ऐसे समुदाय वालो के आज कल तीन पथ प्रचलित हैं और इन तीनो का प्रचार क्षेत्र राजस्थान प्रात समझा जाता है। इन तीनो के मुख्य केन्द्र पृथक्-पृथक् हैं। जहाँ तक उपलब्ध हुई सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है, इन तीनो के किसी एक ही मूल प्रवर्तक का होना तथा उक्त नाम से किसी सम्प्रदाय-विशेष का सर्वप्रथम प्रवर्त्तन करना अभी तक सिद्ध नही किया जा सका है। इन तीनो के मुख्य प्रवर्तक परपरानुसार क्रमश दरियाव जी, हरिरामदास जी तथा रामचरणदास जी बतलाये जाते हैं। इसी प्रकार इनके मुख्य केन्द्रो का भी क्रमश 'रैण', 'सिंहथल-खेडापा' तथा 'शाहपुरा' होना कहा जाता है। इन तीनो के किसी पारस्परिक सबध का कोई प्रत्यक्ष चिह्न नही मिलता, न इनकी किसी ऐसी परपरा का ही पता चलता है जिससे ये तीनो एक माने जायँ। हो सकता है कि अपने मौलिक सिद्धातो, कतिपय साधनाओ तथा एकाध बाह्य लक्षणो के भी अनुसार इन्हे एक समान ठहराने का यत्न किया जाय, किंतु इस प्रकार का साम्य तो साधारणत 'सत-परपरा' के अन्य अनेक सम्प्रदायो मे भी पाया जा सकता है। अतएव, जब तक हमे कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही होता, तब तक हमारा केवल इतना स्वीकार करना युक्ति-सगत समझा जा सकता है कि इन तीनो का प्रवर्त्तन सभवत पृथक्-पृथक् हुआ होगा। किंतु किसी-न-किसी कारण इनका नामकरण किसी समय एक-सा हो गया होगा। उस दिन से इन्हे इस प्रकार अभिहित करने की एक परपरा ही चल पड़ी होगी। ऐसा एक अन्य उदाहरण हमे 'सत्तनामी-सम्प्रदाय' के इतिहास मे भी मिलता है जिसकी चर्चा इसके पहले ही की जा चुकी है। वहाँ पर उसकी शाखाओ के अनुयायियो द्वारा कदाचित् 'सत्तनाम' शब्द के विशेष प्रयोग के कारण वैसा नामकरण हो गया था। इसी प्रकार हम यहाँ के लिए भी कह सकते हैं यह इनके अनुयायियो के

कदाचित् स्वभाव-साम्य से हो गया होगा । फलतः हम इन तीनों को यहाँ पर क्रमशः 'रैणशाखा' 'सिंहथल-खेड़ापा शाखा' तथा 'शाहपुरा शाखा' के नामों से अभिहित कर सकते हैं ।

(१) रैणशाखा

प्रवर्त्तक का परिचय

रामस्नेही-सम्प्रदाय की 'रैणशाखा' के मूल प्रवर्त्तक दरियाव जी कहे जाते हैं। इनके नाम के दो भिन्न-भिन्न रूप 'दरिया साहब' तथा 'दरिया साहब' भी प्रसिद्ध हैं। इस दूसरे रूप के बिहार वाले दरिया साहब के नाम-जैसा होने के कारण इन्हें प्राय 'मारवाड़ वाले दरिया साहब' कहने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। कहते हैं कि इन दरियाव जी अथवा दरिया साहब का मूल नाम 'दरियाव जी' ही था। किंतु साधु वृत्ति धारण कर लेने पर इन्हें 'दरिया साहब' कहा जाने लगा। इनका जन्म सं १७३३ की भादों शुक्ल ८ के दिन मारवाड़ प्रदेश के जैतारन नामक गाँव में हुआ था। इन्होंने अपने विषय में एक स्थल पर ऐसा कहा है जिससे इनकी जाति का 'धुनिया' होना प्रतीत होता है।[1] परन्तु कुछ लोग इस बात से असहमत भी जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए कहा जाता है 'अपने आचार्य की जाति का ठीक-ठीक पता बतलाने में 'दरियाव पंथी' अब असमर्थ हैं पर वे मुसलमान नहीं थे यह कहने में सभी का मत एक है।'[2] इस संबंध में यह भी अनुमान किया जाता है कि दरियाव जी को मुसलमान लिखने की 'गल्ती' सबसे पहले जोधपुर राज्य की सेन्सस रिपोर्ट (सन् १८९१ ई) तैयार करने वालों ने की जिसे ठीक मान कर पीछे औरों ने भी ऐसा लिखना आरंभ कर दिया जो उचित नहीं जान पड़ता। दरियाव जी की 'वर्ड्स पीजन की एक हावली' के रैण में रखी हुई होने तथा उसको देखने के लिए उनके अनुयायियों के वहाँ प्रति वर्ष आनेवाली प्रसिद्धि को भी निराधार बतलाया गया है। कहा गया है कि वहाँ पर वे लोग चैत्र शुक्ल १५ के दिन दरियाव जी के चित्र का दर्शन करने आया

---

१ "जो धुनिया तो भी मैं राम तुम्हारा ।
अधम कमीन जाति मति हीना तुमतो हो सिरताज हमारा"।।
—दरियासाहब (मारवाड़ वाले) की बानी बे प्रे प्रयाग १९२२ ई
पृ ४७ ।

२ मोती लाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य सम्मेलन प्रयाग सं २ ५ पृ २३३ तथा राजस्थान का पिंगल साहित्य उदयपुर, १९५२ ई पृ ९७ ।

उपर्युक्त महथो के अतिरिक्त मोरा साहब के पीछे कुछ समय के लिए टेका साहब रहे। इसी प्रकार गोकुलदास साहब के पीछे भी क्रमश चतुरी साहब तथा जानकी दास रहे। किंतु उन्हे विधिवत् आसीन महथ नही बतलाया जाता।

७ रामस्नेही-सम्प्रदाय

साधारण परिचय

'रामस्नेह' शब्द का अर्थ राम के प्रति स्नेह वा प्रेम का होता है। इस कारण 'रामस्नेही' से अभिप्राय राम से स्नेह करनेवाले किसी भी ऐसे भक्त का हो सकता है जो परमात्मा के प्रति प्रेमाभक्ति का उपासक हो। परन्तु यह शब्द 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' मे रूढिगत-सा हो गया है। यह प्रधानत उन लोगो को ही सूचित करता हैं जो एक धार्मिक वर्ग-विशेष के सदस्य हैं। ऐसे समुदाय वालो के आज कल तीन पथ प्रचलित हैं और इन तीनो का प्रचार क्षेत्र राजस्थान प्रात समझा जाता है। इन तीनो के मुख्य केन्द्र पृथक्-पृथक् है। जहाँ तक उपलब्ध हुई सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है, इन तीनो के किसी एक ही मूल प्रवर्तक का होना तथा उक्त नाम से किसी सम्प्रदाय-विशेष का सर्वप्रथम प्रवर्त्तन करना अभी तक सिद्ध नही किया जा सका है। इन तीनो के मुख्य प्रवर्तक परपरानुसार क्रमश दरियाव जी, हरिरामदास जी तथा रामचरणदास जी बतलाये जाते हैं। इसी प्रकार इनके मुख्य केन्द्रो का भी क्रमश 'रैण', 'सिहथल-खेडापा' तथा 'शाहपुरा' होना कहा जाता है। इन तीनो के किसी पारस्परिक सबध का कोई प्रत्यक्ष चिह्न नही मिलता, न इनकी किसी ऐसी परपरा का ही पता चलता है जिससे ये तीनो एक माने जायँ। हो सकता है कि अपने मौलिक सिद्धातो, कतिपय साधनाओ तथा एकाध बाह्य लक्षणो के भी अनुसार इन्हें एक समान ठहराने का यत्न किया जाय, किंतु इस प्रकार का साम्य तो साधारणत 'सत-परपरा' के अन्य अनेक सम्प्रदायो मे भी पाया जा सकता है। अतएव, जब तक हमे कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही होता, तब तक हमारा केवल इतना स्वीकार करना युक्ति-सगत समझा जा सकता है कि इन तीनो का प्रवर्त्तन सभवत पृथक्-पृथक् हुआ होगा। किंतु किसी-न-किसी कारण इनका नामकरण किसी समय एक-सा हो गया होगा। उस दिन से इन्हें इस प्रकार अभिहित करने की एक परपरा ही चल पडी होगी। ऐसा एक अन्य उदाहरण हमे 'सत्तनामी-सम्प्रदाय' के इतिहास मे भी मिलता है जिसकी चर्चा इसके पहले ही की जा चुकी है। वहाँ पर उसकी शाखाओ के अनुयायियो द्वारा कदाचित् 'सत्तनाम' शब्द के विशेष प्रयोग के कारण वैसा नामकरण हो गया था। इसी प्रकार हम यहाँ के लिए भी कह सकते हैं यह इनके अनुयायियों के

कदाचित् स्वभाव-साम्य से हो गया होगा। फलतः हम इन तीनों को यहाँ पर क्रमशः 'रैणशाखा' 'सिंहथल-खेड़ापा शाखा' तथा 'शाहपुरा शाखा' के नामों से अभिहित कर सकते हैं।

(१) रैणशाखा

प्रवर्त्तक का परिचय

रामस्नेही-सम्प्रदाय की 'रैणशाखा' के मूल प्रवर्त्तक दरियाव जी कहे जाते हैं। इनके नाम के दो भिन्न-भिन्न रूप 'दरिया साजी' तथा 'दरिया साहब' भी प्रसिद्ध हैं। इस तीसरे रूप के बिहार वाले दरिया साहब के नाम जैसा होने के कारण इन्हें प्रायः 'मारवाड़ वाले दरिया साहब' कहने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। कहते हैं कि इन दरियाव जी अथवा दरिया साहब का मूल नाम 'दरियाव जी' ही था। किंतु साधु वृत्ति धारण कर लेने पर इन्हें 'दरिया साजी' कहा जाने लगा। इनका जन्म सं० १७३३ की भादो शुक्ल ८ के दिन मारवाड़ प्रदेश के जैतारण नामक गाँव में हुआ था। इन्होंने अपने विषय में एक स्थल पर ऐसा कहा है जिससे इनकी जाति का 'धुनिया' होना प्रतीत होता है।[1] परन्तु कुछ लोग इस बात से असहमत भी जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए कहा जाता है अपने आचार्य की जाति का ठीक-ठीक पता बतलाने में 'दरियाव पंथी' अब असमर्थ हैं पर वे मुसलमान नहीं थे यह कहने में सभी का मत एक है।[2] इस संबंध में यह भी अनुमान किया जाता है कि दरियाव जी को मुसलमान लिखने की 'गल्ती' सबसे पहले जोधपुर राज्य की सेन्सस रिपोर्ट (सन् १८९१ ई०) तैयार करने वालों ने की जिसे ठीक मान कर पीछे औरों ने भी ऐसा लिखना आरंभ कर दिया जो उचित नहीं जान पड़ता। दरियाव जी की 'रुई पींजने की एक झाबकी' के रैण में रखी हुई होने तथा उसको देखने के लिए उनके अनुयायियों के वहाँ प्रति वर्ष आनेवाली प्रसिद्धि को भी निराधार बतलाया गया है। कहा गया है कि वहाँ पर वे लोग चैत्र शुक्ल १५ के दिन दरियाव जी के चित्र का दर्शन करने आया

---

१ "जो धुनिया तो भी मैं राम तुम्हारा।
अधम कमीन जाति मति हीना तुम तो हौ सिरताज हमारा"॥
—दरियासाहब (मारवाड़ वाले) की बानी बे० प्रे० प्रयाग १९२२ ई० पृ० ४७।

२ मोती लाल मेनारिया 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' सम्मेलन प्रयाग सं० २००६, पृ० २११ तथा 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' उदयपुर, १९५२ ई० पृ० २७।

करते है। इसके सिवाय ऐसे मत की पुष्टि मे एक पद्य भी[1] उद्धृत किया जाता है जिसमे इनके पिता का नाम 'मानजी' और माता का 'गीगा' दिये गए हैं जो दोनो हिन्दू-से लगते हैं। किन्तु इस पद्य मे आये हुए, "त्रिविध मेटण ताप आप लियो अवतारी" अर्थात् "आपने ससार के तीनो तापो को मिटाने के उद्देश्य से अवतार धारण किया" की कथन-शैली से ऐसा प्रकट होता है, जैसे यह पक्ति स्वय दरियाव जी की रचना न होगी, प्रत्युत किसी अन्य पुष्ट प्रमाण के अभाव मे यहाँ पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रकार उनके किसी श्रद्धालु अनुयायी ने कह दिया होगा। कबीर-पथ, रैदासी-सम्प्रदाय, दादू-पथ आदि के अनुयायियो द्वारा अपने-अपने पथ-प्रवर्त्तको को क्रमश जोलाहा, चमार तथा धुनिया न स्वीकार करके उन्हे हिन्दू अथवा ब्राह्मण सिद्ध करने की चेष्टा करना भी इसी प्रवृत्ति का द्योतक समझा जाता है। फिर भी यह असभव नही कि दरियाव जी की 'धुनिया' जाति वस्तुत मुसलमान धर्म का अनुसरण करनेवाली न रही हो, प्रत्युत उसका ऐसा नामकरण केवल उसके रुई धुनने का धधा स्वीकार करने के ही कारण हो गया हो तथा इनके माता-पिता के नाम भी ये ही रह चुके हो।

सक्षिप्त जीवन-वृत्त

प्रसिद्ध है कि जब दरियाव जी केवल ७ वर्ष के ही थे तब इनके पिता का देहात हो गया। इसके उपरात ये परगना मेडता के रैण गाँव मे अपने नाना के यहाँ रह कर भरण-पोषण पाने लगे। इनके इस नाना का नाम 'कमीच' बतलाया जाता है। दरियाव जी के प्रारभिक जीवन का विशेष परिचय नही मिलता। केवल इतना ही कहा जाता है कि इन्होने स० १७६९ मे किसी समय बीकानेर के 'खियाणसर' गाँव के किसी पेमदास वा प्रेमजी द्वारा दीक्षा ग्रहण की थी। इनकी एक पक्ति द्वारा प्रकट होता है कि इनके इस गुरु का नाम सभवत 'प्रेमदयाल' रहा होगा[2] अथवा, यह भी सभव है कि उक्त प्रेमजी को ही इन्होने 'प्रेमदयाल' नाम से अभिहित किया हो। इनका कहना है कि इनके उस गुरु ने इनके कानो मे कुछ शब्द कह कर इनके मस्तक पर अपना हाथ रख दिया। इनके 'भरम बीज' इस प्रकार भुन गए कि वे फिर कभी उगन न पाये[3] जिससे इनके द्वारा उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट

१ "पिता मानजी गीगा महतारी।
त्रिविध मेटण ताप आप लियो अवतारी॥"—दरियावजी की वाणी, पद्य १७।
—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २०७ पर उद्धृत।

२ 'सतगुर दाता मुक्ति का, दरिया प्रेमदयाल'—दरिया साहिब की वाणी, वे० प्रे० प्रयाग, सा० ४, पृ० १।

३ 'स्रवना शब्द सुनाय के, मस्तक दीना हाथ'—वही, सा० ३, पृ० १ तथा सा० २६, पृ० ३।

करना भी सूचित होता है। जान पड़ता है कि दरियाव जी सदा अपने स्थान रैण में ही रहते रहे। इन्होंने कदाचित् भ्रमण कम किया। इनके देहांत का सं० १८१५ की अगहन सुक्ल १५ को वहीं रह कर ८२ वर्ष से कुछ अधिक आयु पाकर होना कहा जाता है। कहते हैं कि इनके जीवन-काल में मारवाड़ प्रदेश के शासक महाराज बखत सिंह थे और उन्हें कोई रोग हो गया था जो असाध्य था। महाराजा इसके कारण बहुत चिंतित रहा करते थे। दरियाव जी की ख्याति सुन कर उन्होंने अपने नीरोग हो जाने के लिए इनकी प्रार्थना की थी। प्रसिद्ध है कि इन्होंने अपने शिष्य सुखरामदास को उनके यहाँ भेज दिया जिनका उपदेश ग्रहण कर वे बहुत शीघ्र स्वस्थ हो गए। इन सुखरामदास का जाति से सिकलीगर या लोहार होना भी बतलाया जाता है। कहा जाता है कि ये भी उक्त रैण नगर के ही निवासी थे। प्रसिद्ध है कि स्वास्थ्य-लाभ कर चुकने पर महाराज बखत सिंह ने इनकी शिष्यता भी स्वीकार कर ली।

रचनाएँ तथा विचार-धारा

संत दरियाव जी के किसी प्रकार शिक्षित होने का पता नहीं चलता किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओं से विदित होता है कि ये एक अनुभवी तथा योग्य पुरुष रहे होंगे। इन्होंने अपने चिंतन और सत्संग-वृत्ति के द्वारा गंभीर ज्ञान उपलब्ध कर लिया होगा। इनकी रचनाओं का एक विशाल संग्रह 'बाणी' नाम से प्रसिद्ध है जिसमें इनके प्रायः १ पदों का संगृहीत होना कहा जाता है। परन्तु वैसी किसी 'बाणी' के प्रकाशित होने का हमें पता नहीं है प्रत्युत इनकी कतिपय रचनाओं का एक छोटा-सा संग्रह 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी' के नाम से प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित होकर मिलता है जिसमें इनके कुछ पद और साखियाँ संगृहीत हैं। इनके गुरु प्रेमजी के विषय में प्रसिद्ध है वे दादू-पंथी थे[1] और स्वयं इनके लिए भी कहा जाता है कि ये संत दादूदयाल के अवतार थे। इस दूसरे कथन के संबंध में प्रायः एक दोहा भी उद्धृत किया जाता है[2] और उसे संत दादू दयाल की भविष्यवाणी भी बतलाया जाता है। परन्तु इसके लिए अभी तक यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं न स्वयं दरियाव जी की किसी रचना द्वारा ही इसकी पुष्टि होती है। इनकी भी अनेक बातें अन्य संतों की ही जैसी जान पड़ती हैं। इस कारण इन्हें सहसा संत दादू दयाल द्वारा प्रभावित करने की प्रवृत्ति

---

१ जी० एस० घुरे : इंडियन साधुज बंबई १९५३ ई० पृ० २२९।

२ "देह पड़ंता दादू कहै सौ बरसा इक संत।
रैण नगर में परगट तारै जीव अनंत ॥"—बानी जीवनचरित्र पृ० २।

करते हैं। इनके सिवाय ऐसे मत की पुष्टि मे एक पद्य भी[1] उद्धृत किया जाता है जिसमे इनके पिता का नाम 'मानजी' और माता का 'गीगा' दिये गए है जो दोनो हिन्दू-से लगते हैं। किंतु इस पद्य मे आये हुए, "त्रिविध मेटण ताप आप लियो अवतारी" अर्थात् "आपने ससार के तीनो तापो को मिटाने के उद्देश्य से अवतार धारण किया" की कथन-शैली से ऐसा प्रकट होता है, जैसे यह पक्ति स्वय दरियाव जी की रचना न होगी, प्रत्युत किसी अन्य पुष्ट प्रमाण के अभाव मे यहाँ पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रकार उनके किसी श्रद्धालु अनुयायी ने कह दिया होगा। कबीर-पथ, रैदासी-सम्प्रदाय, दादू-पथ आदि के अनुयायियो द्वारा अपने-अपने पथ-प्रवर्त्तको को क्रमश जोलाहा, चमार तथा धुनिया न स्वीकार करके उन्हे हिन्दू अथवा ब्राह्मण सिद्ध करने की चेष्टा करना भी इसी प्रवृत्ति का द्योतक समझा जाता है। फिर भी यह असभव नही कि दरियाव जी की 'धुनिया' जाति वस्तुत मुसलमान धर्म का अनुसरण करनेवाली न रही हो, प्रत्युत उसका ऐसा नामकरण केवल उसके रुई धुनने का धधा स्वीकार करने के ही कारण हो गया हो तथा इनके माता-पिता के नाम भी ये ही रह चुके हो।

सक्षिप्त जीवन-वृत्त

प्रसिद्ध है कि जब दरियाव जी केवल ७ वर्ष के ही थे तब इनके पिता का देहात हो गया। इसके उपरात ये परगना मेडता के रैण गाँव मे अपने नाना के यहाँ रह कर भरण-पोषण पाने लगे। इनके इस नाना का नाम 'कमीच' बतलाया जाता है। दरियाव जी के प्रारभिक जीवन का विशेष परिचय नही मिलता। केवल इतना ही कहा जाता है कि इन्होने स० १७६९ मे किसी समय बीकानेर के 'खियाणसर' गाँव के किसी पेमदास वा प्रेमजी द्वारा दीक्षा ग्रहण की थी। इनकी एक पक्ति द्वारा प्रकट होता है कि इनके इस गुरु का नाम सभवत 'प्रेमदयाल' रहा होगा[2] अथवा, यह भी सभव है कि उक्त प्रेमजी को ही इन्होने 'प्रेमदयाल' नाम से अभिहित किया हो। इनका कहना है कि इनके उस गुरु ने इनके कानो मे कुछ शब्द कह कर इनके मस्तक पर अपना हाथ रख दिया। इनके 'भरम बीज' इस प्रकार भुन गए कि वे फिर कभी उगन न पाये[3] जिससे इनके द्वारा उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट

---

१ "पिता मानजी गीगा महतारी।
त्रिविध मेटण ताप आप लियो अवतारी॥"—दरियावजी की वाणी, पद्य १७।
—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २०७ पर उद्धृत।

२ 'सतगुर दाता मुक्ति का, दरिया प्रेमदयाल'—दरिया साहिब की वाणी, वे० प्रे० प्रयाग, सा० ४, पृ० १।

३ 'स्रवना शब्द सुनाय के, मस्तक दीना हाथ'—वही, सा० ३, पृ० १ तथा सा० २६, पृ० ३।

नही होती । इन्होने एक स्थल पर परमात्मा का परिचय दिया है ।[1] हमे ऐसा भी लगता है कि इन्होने कबीर साहब की अनेक साखियो का मानो रूपातर-मात्र सा कर दिया है । इससे स्पष्ट है कि इन्होने किसी का अनुसरण साम्प्रदायिक भाव से नही किया होगा। ये कहते हैं कि मेरे गुरु ने यह बतला दिया था, "यदि तुम निज धाम को प्राप्त करना चाहते हो तो साँस-उसाँसो अथवा अनवरत ध्यान मे लगे रहो। उससे कभी विरत न हो ।"[2] इनके भी अनुसार, "नाम स्मरण ही सभी ग्रथो का निष्कर्ष है और सभी मतो का सार है ।"[3] "इस नाम स्मरण का नामी राम एक, अनादि, अगम तथा अगोचर है । वही दरिया साहब तथा सब किसी का भी मालिक है तथा दृश्यमान माया उसमे ही लक्षित होती है। जिस प्रकार किसी पेड को सीचते समय माली केवल उसकी जड मे ही पानी डाल कर उसे उसकी डाल-पात, फल तथा फूल तक पहुँचा देता है, जिस प्रकार किसी राजा के निमत्रित करने पर उसकी सेना भी सहज ही चली आया करती है, जिस प्रकार गरुड का एक पख घर मे डाल देने पर एक भी सर्प वहाँ रहने नही पाता, उसी प्रकार एक ही राम के स्मरण द्वारा सभी कार्य सपन्न हो जाया करते है ।"[4] परन्तु यह स्मरण साधारण 'जप' नही है, क्योकि इन्होने 'नाद परचे का अग' के अतर्गत हमें बतलाया है कि उक्त साधना का रस सर्वप्रथम जीभ मे उत्पन्न होकर क्रमश हृदय मे उतरता है। वहाँ से फिर यह उसी प्रकार नाभि कमल मे प्रवेश कर जाता है। नाभि-कमल से भी उतर कर यह और नीचे मेरुदड की जड तक जा लगता है, जहाँ से इसका क्रमश फिर ऊपर की ओर चढना आरभ होता है। यह त्रिकुटी तक पहुँच जाया करता है, जहाँ पर साधक को केवल सुख-ही-सुख का अनुभव होने लगता है। परन्तु त्रिकुटी सधि तक भी निराकार तथा साकार का भेद बना ही रह जाता है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहकार भी वहाँ पहुँच कर हमे फिर पतन की ओर ले जा सकते हैं ।

पूरनब्रह्म तथा कायापलट

'पूरन ब्रह्म' इन मन, बुद्धि, चित्त तथा अहकार के लिए अगम्य वस्तु है। यह

१ "सोई कथ कबीर का दादू का महराज ।
सब सतन का बालमा, दरिया का सिरताज ।।"

२ उदाहरण के लिए उक्त बानी मे सा० ८, पृ०, २ ९ तथा २४ पृ० ३, २३, पृ० ८, ३४, पृ० ९, ६, पृ० १२, २३, पृ० १४, ९, पृ० १६; २१ तथा २६ पृ० २१, आदि देखी जा सकती हैं ।

३ वही, सा० १३ पृ० २ । ५ वही, सा० २९, पृ० ९ ।

४ वही, रागभैरो (आदि अनादी मेरा साई, आदि), पृ० ४४ ।

उक्त त्रिकुटी से परे पहुँचने पर ही अनुभव में आ सकता है। मन मेरु तक जाकर लौट आता है और ॐकार की भी गति केवल त्रिकुटी तक ही है। निराकार ररंकार को इन सबसे परे की वात समझनी चाहिए। ॐ कार का प्रवेश यदि गगन तक है तो ररंकार का उसके ऊपर महाशून्य में मानना चाहिए। यह ररंकार ही वास्तव में वह परब्रह्म है जिसका पैसा सुरत के रूप में वर्तमान है। इन रहस्यमयी बातों का विशेष परिचय इन्होंने 'ब्रह्म परचे का अंग' नामक शीर्षक के अंतर्गत दिया है।[1] इसी बात को 'नाद परिचय' के साथ सम्मिलित करके इन्होंने अपना खेती के एक रूपक द्वारा भी प्रकट किया है। इन्होंने कहा है, 'यदि अपनी रसना का हल हो मन पवन के बैल हों विरह की भूमि हो और सद्‌गुरु की बतलायी बुद्धि के साथ उसमें रामनाम का बीज-वपन किया जाय तो वह हृदय के भीतर लहलहाती हुई लता के समान लहलहा उठता है। भ्रमों की निराई हो जाने तथा प्रेम-नीर के बरस जाने पर नाभि-स्थल में वह कुछ दीर्घ तथा शक्ति-संपन्न भी दीखने लगता है। मेरुदंड की नली से होकर उसका सिरा आकाश छू लेता है। इस पौधे का नाज अंत में अपने घर का कोना-कोना भरपूर कर देता है और काल में भी निश्चिंत होकर साधक उसका उपभोग करने लगता है।'[2] इस प्रकार दरिया साहब की स्वानुभूति अत्यंत गहरी जान पड़ती है। साधना की सच्ची वा पूर्ण सिद्धि इन्होंने किसी साधक के प्रत्येक अंग के नितांत आमूल परिवर्तित हो जाने में ही मानी है[3] जो अन्य संतों का भी ध्येय जान पड़ता है। इसके लिए अपने घर का त्याग कर देना आवश्यक नहीं प्रत्युत गृह में ही साधु बना रहना उचित होगा। साधक चाहे गृह में हो वा भेषधारी हो उसका कपट रहित और निःशंक बना रहना तथा बाहर और भीतर में किसी प्रकार का अंतर न आने देना परमावश्यक है।[4] दरिया साहब की एक यह विशेषता है कि इन्होंने अनेक संतों की भाँति स्त्री जाति की निंदा नहीं की है।[5]

---

१ 'ब्रह्म परचे का अंग'—बानी' पृ १९-२४।

२ 'साधो ऐसी खेती करई जासे काल अकाल न मरई ॥टेक॥
रसना का हल बैल मन पवना विरह भोम तहाँ बाई।
राम नाम का बीजा बोया मेरे सतगुर कला सिखाई ॥१॥—पृ ५१-७।

३ "पारस परसा जानिये जो पलटै अंग अंग।
अंग अंग पलटै नहीं तो है झूठा संग'—बानी सा ४ पृ ११।

४ वही सा १ पृ २८।

५ 'नारी जननी जगत की पालपोस दे पोष।
मूरख राम बिसार कर, ताहि लगावे दोष ॥
—वही सा ११ पृ ४१।

प्रचार-क्षेत्र तथा रामद्वारा

सत दरियाव जी वा दरिया साहब के अनुयायी रामस्नेहियो की सख्या अधिक नही जान पडती। ये लोग मारवाड से अन्यत्र बहुत कम निवास करते कहे जाते हैं। इनका सर्वप्रमुख 'रामद्वारा' भी इस शाखा के प्रधान केन्द्र 'रैण' मे ही स्थित है। वहाँ की गद्दी के महतो की वशावली अथवा इसके अन्य केन्द्रो का भी कोई विवरण हमे उपलब्ध नही है, न हमे अभी तक इस शाखा के सत दरियाव जी से भिन्न किसी दूसरे व्यक्ति की हमे कोई रचना ही प्राप्त हो सकी है।

(३) सिंहथल-खेडापा शाखा

मूल प्रवर्त्तक हरिरामदास

सिंहथल-खेडापा शाखा के मूल प्रवर्त्तक हरिरामदास जी कहे जाते हैं। इनका जन्म बीकानेर राज्य के 'सिंहथल' नामक गाँव के एक ब्राह्मण भाग्यचद जोशी के घर हुआ था, किंतु इनकी जन्म-तिथि का हमे कोई पता नही चलता। इनका अपने बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि होना तथा अल्पावस्था मे ही वेदात और गणित-जैसे विषयो मे पारगत हो जाना भी कहा गया है। प्रसिद्ध है कि इन्हे 'सवत् सत्रह सो के सई के मे'[1] (अर्थात् सभवत सवत् १८००[2] की) आषाढ कृष्ण १३ के दिन दुलचासर के जैमल जी के यहाँ ले जाकर उनसे दीक्षित कराया गया। ये तब से उनके यहाँ प्रतिदिन सायकाल के समय जाकर दूसरे दिन प्रात काल अपने यहाँ ७ कोस की दूरी पर बराबर छह महीनो तक लौट आते रहे और इनके इस नियम-पालन मे कभी कोई व्यवधान नही आने पाया। वहाँ पर ये उनसे नित्य सत्सग किया करते थे तथा योगाभ्यास की साधना मे भी परामर्श लेते थे। इसमे इन्होने अत मे पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली। जैमल जी का देहात हो जाने पर ये पीछे अधिकतर सिंहथल मे रहने लगे। यही स० १८३५ की चैत्र शुक्ल ७ शुक्रवार को इनका भी चोला छूटा तथा तब से आगे के लिए यह स्थान इनके अनुयायियो के लिए एक प्रमुख केन्द्र भी बन गया। इनके दीक्षा-गुरु जैमल जी के लिए कहा जाता है कि वे प्रसिद्ध स्वामी रामानद जी की ११वी पद्धति वाले कोडमदेसर (बीकानेर) निवासी श्री चरणदास के शिष्य थे। उन्होने उनसे अपनी दीक्षा स० १७६० मे किसी समय ग्रहण की थी तथा उनका देहात स० १८१० मे हुआ था। तदनुसार उनके निवास-स्थान रोडा दुलचासर मे उनकी दो गद्दियाँ अभी तक चली आ रही है और उनके गद्दीधरो को रामानदी वैरागियो मे 'महत' भी कहा जाता है। सिंहथल

१ श्री रामस्नेह धर्म प्रकाश, बीकानेर, सन् १९३१ ई०, परिचय, पृ० ५।
२ राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २०५।

की गद्दी वाले उन दोनों स्थलों को अपना 'गुरु-स्थान' स्वीकार करते हैं। हरिराम दासजी के कई शिष्य हुए जिनमें से बिहारीदास रामदास नारायणदास लक्ष्मणदास अमीराम आदूराम दर्यावदास आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् बिहारीदास और उनके शिष्य-प्रशिष्य क्रमशः सिंहथल की गद्दी पर अभी तक रहते चले आए हैं।[1]

रामदासजी का परिचय

हरिरामदास जी के अन्य शिष्यों में से रामदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए। वास्तव में इन्हीं ने खेड़ापा शाखा की स्थापना की। इनका जन्म जोधपुर राज्य के बीकोकोर नामक गाँव के मेघवाल नामक जाति के किसी शार्दूल जी के घर हुआ था। इनका जन्म-समय सं० १७८३ की फाल्गुन कृष्ण १३ का दिन कहा जाता है। इन्होंने बड़े हो जाने पर थोड़ी-सी विद्या प्राप्त की फिर विरक्त होकर ये किसी गुरु की खोज में निकले। इन्होंने क्रमशः १२ व्यक्तियों से दीक्षा ली। किन्तु फिर भी इन्हें शांति नहीं मिली और ये अंत में जब इसी प्रकार बीकानेर पहुँचे तो वहाँ पर इन्हें किसी से हरिरामदास जी का एक रेखता सुनने में आया जिससे आकृष्ट होकर ये सिंहथल पहुँच गए। उनकी शरण में आकर इन्होंने उनसे विधिवत् 'राममंत्र' की दीक्षा ली। यह घटना सं० १८०९ की बैशाख शुक्ल ११ को है जब से इन्होंने रामस्नेह धर्म के नियम धारण कर लिये। इनका नाम भी 'रामदास' प्रसिद्ध हो चला। तब से फिर ये कुछ दिनों तक अपनी साधनाओं का अभ्यास करते तथा अपने गुरु के यहाँ उसकी परीक्षा देते रहे। प्रसिद्ध है कि इसी बीच इन्हें किसी दिन कबीर साहब भी मिले जिनका इनके ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। ये फिर अनेक स्थानों पर भ्रमण करने लगे और वहाँ कुछ समय तक निवास भी कर लेते थे। किन्तु इनका संबंध पहले जैसा सिंहथल से ही रहा। सं० १८२२ में जब ये खेड़ापा गये तब से इनका चित्त वहाँ पर विशेष रूप से रम गया और वहाँ इन्होंने लोगों को दीक्षित करना भी आरंभ कर दिया। इसके अनंतर अपने गुरु से आज्ञा लेकर इन्होंने सं० १८३४ की फाल्गुन कृष्ण ४ को वहाँ अपनी गद्दी भी स्थापित कर ली। इनका देहांत सं० १८५५ की आषाढ़ कृष्ण ७ मंगलवार के दिन वहीं ७२ वर्ष की अवस्था में हुआ और इनके उत्तराधिकारी इनके शिष्य दयालदास हुए। रामदास के कुल ५२ शिष्य कहे जाते हैं, किन्तु खेड़ापा की गद्दी पर दयालुदास के ही शिष्य-प्रशिष्य बैठते चले आ रहे हैं। इनका संबंध हरिरामदास जी की मूल गद्दी सिंहथल के साथ अभी तक संभवतः पूर्ववत् ही बना रहता चला आया है। खेड़ापा

---

1. श्री रामस्नेह धर्मप्रकाश पृ० १-९।

की गद्दी द्वारा रामस्नेही-सम्प्रदाय का विशेष प्रचार हुआ कहा जाता है और इसके अनुयायियों की सख्या भी अधिक बतलायी जाती है। रामदास जी एक बहुत योग्य पुरुष थे। इन्होंने अपने प्रवचनों तथा रचनाओं द्वारा लोगों को अधिक प्रभावित किया। इनके उत्तराधिकारी शिष्य दयालुदास का जन्म स० १८१६ मे हुआ तथा इनकी मृत्यु स० १८८५ मे हुई। ये रामदास जी के पुत्र भी कहे जाते हैं।

सम्प्रदाय का साहित्य

रामस्नेही-सम्प्रदाय की इस सिंहथल-खेडापा वाली शाखा द्वारा अपने प्रमुख आचार्यों की प्राय सारी रचनाएँ सुरक्षित कर ली गई है। उनकी वाणियो मे से कई एक का अपने यहाँ विधिवत् पाठ भी हुआ करता है। पता चलता है कि जैमलजी की वाणियो के उदाहरण स्वरूप ६ पद राग काफी के तथा १२ राग गूजरी के सगृहीत है। इसी प्रकार हरिरामदास जी की रचनाओं मे से 'ब्रह्मस्तुति', 'नामपरचा', 'पदनतीसी' और 'प्रश्नोत्तरी'-जैसे लघु ग्रथो तथा रेखता, साखी और पद-सबधी पृथक्-पृथक् रचना सग्रहो का प्रकाशन हो गया भी दीख पडता है। इनके लघु ग्रथो मे से 'घघर नीसाणी' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी भूमिका रूप मे लिखी गई एक साखी[1] से पता चलता है कि इन्हे "सवत् सत्रह से वर्ष सई" की आषाढ कृष्ण १३ को सद्गुरु की पहचान हुई। इसके आगे दिये गए 'निसानी छद' के ३० अथवा वस्तुत २९ पद्यो मे योग-साधना का बहुत विशद् वर्णन किया गया मिलता है। इसके द्वारा इनकी गहरी अनुभूति का भी पता चलता है। रामदास जी की 'अनुभव वाणी' इनकी रचनाओ से कही अधिक विस्तृत जान पडती है। इसके अतगत इनके 'ग्रथ गुरु महिमा', 'भक्तमाल', 'ब्रह्म जिज्ञासा' और 'ग्रथ चेतावनी'-जैसे कतिपय लघु ग्रथो के अतिरिक्त इनकी 'प्रसग' कही जानेवाली छोटी-छोटी रचनाओ तथा इनकी ८४ अगो वाली साखियो और 'हरिजस' नामक पदो के एक सग्रह की भी चर्चा की जा सकती है। इनकी समस्त वानियो का एक सग्रह प्रकाशित है।[2] इसी प्रकार दयालुदास जी की रचनाओ मे उनके लघुग्रथो, वानियो, साखियो, पदो के अतिरिक्त उनके प्रसिद्ध ग्रथ 'करुणा सागर' तथा 'प्रगट-

---

१ "दरिया सवत् सत्रह से, वर्ष सई को जान।
तिथि तेरस आषाढ़ वदि। सतगुरु पडी पिछान॥"—घघर नीसाणी, सा० १।

२ यह सग्रह श्री सदाद्य रामस्नेही साहित्य शोध-प्रतिष्ठान प्रधान पीठ खेडापा, जोधपुर की ओर से प्रकाशित हुआ है। वहाँ से इसी प्रकार सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों की भी वानियो के प्रकाशन की आशा की जाती है। —ले०

बोध' की भी गणना की जाती है। इन दोनों में से प्रथम के अंतर्गत प्रसिद्ध भक्तों की संक्षिप्त गाथाएँ दी गई हैं। स्वयं दयालदास के जीवन वृत्तों का एक परिचय हमें इनके उत्तराधिकारी शिष्य पूर्णदास की रचना 'जन्मलीला' में मिलता है। इस प्रकार इनके गुरु रामदास का भी एक लगभग वैसा ही विवरण अर्जुनदास की पुस्तक 'परचीसार' में उपलब्ध है। पूर्णदास की हमें कुछ अन्य रचनाएँ भी मिलती हैं जिस प्रकार अर्जुनदास के 'पूर्वजन्म'-जैसे एकाध लघु ग्रंथ दीख पड़ते हैं। सिंहथल के प्रमुख आचार्यों में से बिहारीदास जी की 'बारहखरा' नाम की छोटी रचना देखने में आती है। किन्तु नारायणदास की 'अनुभव वाणी' में कतिपय साखियों आदि के अतिरिक्त एक लघु ग्रंथ 'प्राणपरचा' भी पाया जाता है जिसमें साधना-संबंधी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार हरिदेव दास की रचनाओं में से भी 'ब्रह्मस्तुति' 'गुरुस्तुति' 'प्रश्नोत्तर' तथा 'हरिजस' नामक पद संग्रह आदि भी मिले हैं।

मत तथा साधना

रामस्नेही-सम्प्रदाय की इस 'सिंहथल-खेड़ापा शाखा' के सिद्धान्त लगभग ठीक वे ही जान पड़ते हैं जो संत-मत के अंतर्गत अन्यत्र पाये जाते हैं। इसका एक संक्षिप्त परिचय इसकी रैण वाली शाखा की चर्चा करते समय दिया जा चुका है। इसकी प्रमुख साधना का एक प्रामाणिक वर्णन हमें हरिरामदास जी के 'निशानी' ग्रंथ में उपलब्ध है। इसकी अंतिम पंक्तियों में इन्होंने बतलाया है "पूर्वजन्म के लेख से मुझे आदि गुरु मिल गए जिनसे मुझे अनादि तत्त्व का भेद प्राप्त हुआ। जिस प्रकार का मुझे उस समय अनुभव हुआ वह मुझ से कहा नहीं जाता। वह अवर्ण्य है और मुझे संकोच भी हो रहा है। इतना अवश्य है कि यदि यहाँ कहीं गई विधि के अनुसार काम किया जाय और 'कमाई' की जाय तो सफलता अवश्य मिलेगी। 'सुमिरन' में श्वासोच्छ्वास की गति हृदय के भीतर मंद पड़ जाती है और अपना मन ध्यान में स्थिर हो जाता है। नाभि-स्थान में अनेक प्रकार के 'नाद' होने लग जाते हैं। रामनाम का स्मरण आपसे आप आरंभ हो जाया करता है। रग-रग में एक आश्चर्यजनक क्रिया होने लगती है जिसके फलस्वरूप 'सोऽहं' और 'सोऽहं' का अजपाजाप चलता है। इसके साथ ही परब्रह्म के दर्शन अथवा उसके स्पर्श का आनंद मिलने लगता है। रोम-रोम से 'राम' शब्द के भी उत्तरार्द्ध मकार के बंद हो जाने पर केवल ररकार की ध्वनि होने लग जाती है। ऐसी दशा में मन पवन तथा पंचेन्द्रिय सभी एक साथ स्थिर होकर अमृत-पान करने लगते हैं। आत्मा तथा परमात्मा में अभेद भाव आ जाने पर शून्य में शून्य विलीन हो जाता है और बिना पंख के भी उड़ना आ जाता है। ऐसे अनुभव की बातें परम गुप्त हैं

की गद्दी द्वारा रामस्नेही-सम्प्रदाय का विशेष प्रचार हुआ कहा जाता है और इसके अनुयायियो की सख्या भी अधिक वतलायी जाती है। रामदास जी एक वहुत योग्य पुरुष थे। इन्होंने अपने प्रवचनो तथा रचनाओ द्वारा लोगो को अधिक प्रभावित किया। इनके उत्तराधिकारी शिष्य दयालुदास का जन्म स० १८१६ मे हुआ तथा इनकी मृत्यु स० १८८५ मे हुई। ये रामदास जी के पुत्र भी कहे जाते हैं।

सम्प्रदाय का साहित्य

रामस्नेही-सम्प्रदाय की इस सिंहथल-खेडापा वाली शाखा द्वारा अपने प्रमुख आचार्यों की प्राय सारी रचनाएँ सुरक्षित कर ली गई हैं। उनकी वाणियो मे से कई एक का अपने यहाँ विधिवत् पाठ भी हुआ करता है। पता चलता है कि जैमलजी की वाणियो के उदाहरण स्वरूप ६ पद राग काफी के तथा १२ राग गूजरी के सगृहीत है। इसी प्रकार हरिराम दास जी की रचनाओ मे से 'ब्रह्मस्तुति', 'नामपरचा', 'पदवतीसी' और 'प्रश्नोत्तरी'-जैसे लघु ग्रथो तथा रेखता, साखी और पद-सबधी पृथक्-पृथक् रचना सग्रहो का प्रकाशन हो गया भी दीख पडता हैं। इनके लघु ग्रथो मे से 'घघर नीसाणी' सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी भूमिका रूप मे लिखी गई एक साखी[1] से पता चलता है कि इन्हे "सवत् सत्रह से वर्ष सई" की आषाढ कृष्ण १३ को सद्‌गुरु की पहचान हुई १ इसके आगे दिये गए 'निसानी छद' के ३० अथवा वस्तुत २९ पद्यो मे योग-साधना का वहुत विशद् वर्णन किया गया मिलता हैं। इसके द्वारा इनकी गहरी अनुभूति का भी पता चलता है। रामदास जी की 'अनुभव वाणी' इनकी रचनाओ से कही अधिक विस्तृत जान पडती है। इसके अतर्गत इनके 'ग्रथ गुरु महिमा', 'भक्तमाल', 'व्रह्म जिज्ञासा' और 'ग्रथ चेतावनी'-जैसे कतिपय लघु ग्रथो के अतिरिक्त इनकी 'प्रसग' कही जानेवाली छोटी-छोटी रचनाओ तथा इनकी ८४ अगो वाली साखियो और 'हरिजस' नामक पदो के एक सग्रह की भी चर्चा की जा सकती है। इनकी समस्त वानियो का एक सग्रह प्रकाशित है।[2] इसी प्रकार दयालुदास जी की रचनाओ मे उनके लघुग्रथो, वानियो, साखियो, पदो के अतिरिक्त उनके प्रसिद्ध ग्रथ 'करुणा सागर' तथा 'प्रगट-

---

१ "दरिया सवत् सत्रह से, वर्ष सई को जान।
तिथि तेरस आषाढ़ वदि। सतगुरु पडी पिछान॥"—घघर नीसाणी, सा० १।

२ यह सग्रह श्री मदाद्य रामस्नेही साहित्य शोध-प्रतिष्ठान प्रधान पीठ खेडापा, जोधपुर की ओर से प्रकाशित हुआ है। वहाँ से इसी प्रकार सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों की भी वानियों के प्रकाशन की आशा की जाती है। —ले०

होता है कि इनके गुरु हरिरामदास जी गर्ग वंश के थे तथा उनकी माता का नाम 'चांपी' था।[1] संत कबीर साहब को इन्होंने एक स्थल पर सभी संतों में चक्रवर्ती जैसा श्रेष्ठ बतलाया है।[2] इन्होंने अपनी उसी रचना 'भक्तमाल' के अंतर्गत 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' की शाहपुरा वाली शाखा के आदि आचार्य संतदास (मृ सं १८ ९) का नाम भी लिया है। उन्हें हरि के द्वारा गूदड़ वेश में दर्शन दिये जाने और अपने नाम की साधना करके उनके 'मुक्ति-पंथ के पर्दा खोलने' का संकेत करने की चर्चा की है।[3] इन्होंने वहीं पर उनके शिष्य कृपाराम (मृ० सं १८३२) के दांतड़ा-निवासी होने तथा चारों ओर भक्ति का प्रचार करने का भी उल्लेख किया है।[4] इसी प्रकार उसके आगे की दो-तीन पंक्तियों द्वारा यह भी प्रकट होता है कि इन्होंने उक्त सम्प्रदाय की रैण शाखा के प्रवर्तक संत दरियाव जी का वर्णन किया है। उसके अनंतर उनके शिष्य सुखरामदास की चर्चा भी की है जो इनके अनुसार 'मेघवंश' के थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में अपना उपनाम 'रामा' अथवा 'रमियादास' दिया है। इस प्रकार हरिरामदास जी ने अपना 'हरिमा' वा 'हरियादास' दिया है। इन संत रामदास जी की 'अनुभव वाणी' के लिए कहा गया है कि उसके चार भेद हैं १ 'दास' २ 'उदास' ३ 'सांमवी' और ४ 'सूरज'।

शाखा का क्रम तथा प्रगति

रामस्नेही-सम्प्रदाय की 'सिंहथल शाखा' तथा 'खेड़ापा शाखा' में वस्तुतः कोई भी अंतर नहीं लक्षित होता और वे दोनों एक से ही हैं। हरिरामदास जी के शिष्य बिहारीदास के अनंतर वहाँ सिंहथल में इनके शिष्य हरदेवदास तथा फिर क्रमशः प्रशिष्य मोतीदास रघुनाथदास और चेतनदास आदि के अनुसार गद्दी चली जिस पर सन् १९११ ई मे रामप्रताप जी का वर्तमान रहना कहा जाता है। वहाँ खेड़ापा मे उन (हरिरामदास जी) के ही शिष्य रामदास जी के पीछे इनके शिष्य और पुत्र दयालुदास तथा फिर क्रमशः पूर्णदास अर्जुनदास हरलालदास और लालदास

---

१ "मिश्र नामकी नाव चलाई चारव वंश भगति अति भाई। —
चांपी माता चित कर पीया, उनकी आप अगम सुख लीया॥१२ ॥
सतगुर है हरिरामजी, (चांपी) माता सहज समाय" ॥१२५॥
—वही पृ २ ४।

२ "सब संतों में चकवै हुवा कहाविलास कबहुं नहिं जुवा।"
—वही ग्रंथ भगतमाल पृ १९८।

३ वही पद ९९१ १ पृ २ २।

४ वही पद १ १। ५. वही पद १ ५।

जिन्हे मैंने यहां पर कतिपय छंदो द्वारा प्रकट कर देने की चेष्टा की है । इसे विरले ही समझ पाते हैं ।"[१] रामदास जी की साखी के 'सिवरण मेध्या अग' वाले अश द्वारा पता चलता है, "आठ वर्ष तथा चार महीनो तक इस प्रकार की क्रिया उनकी त्रिकुटी तक होती रही और तदनतर शून्य का मार्ग खुल सका "[२] जिसमे उनके व्यक्तिगत अनुभव का भी हमे कुछ सकेत मिलता है । "तब अनहद नाद गगन मडल मे गूंजता प्रतीत होने लगा । रोम-रोम द्वारा 'सांई' का साक्षात्कार हुआ और वह स्वाद भी मिल गया"[३] जिसकी अभिलाषा थी । इसका अनुभव करने के लिए वे दूसरे साधको को भी परामर्श देते है । अतएव इनका कहना है "ररो और 'ममो' ये दोनो क्रमश अपने पिता तथा माता हैं । इन्ही की 'वदगी' (साधना) से जीव को सहज ही 'शिव' की प्राप्ति होती है ।"[४] इन दोनो महात्माओ तथा विशेषकर रामदास जी ने अपनी 'विरह', 'परचा', 'पतिव्रता' 'सूरातन' तथा 'ब्रह्म समाधि' शीर्षक साखियो के अतर्गत भी अपनी इस प्रकार की अनुभूति का वर्णन किया है जो बहुत सुदर और स्पष्ट भी है ।

अन्य सतो के उल्लेख

सत रामदास जी ने अपनी रचनाओ मे अपने दीक्षा-गुरु हरिरामदास जी का नाम वडी श्रद्धा के साथ लिया है । इन्होने उनके देहात के समय तक का भी स० १८३५ के चैत्र मास की शुक्ल ७ होना ठीक-ठीक उल्लेख किया है।[५] इन्होने उन्हे स्वय हरि का अवतार कहा है, सत कबीर साहब की 'अत कला वाला' होना ठहराया है तथा उन्हे सत नामदेव की दृष्टि दी है। प्रह्लाद की जैसी प्रतिज्ञा, सनकादि की जैसी चाल, शुकदेव का जैसा ज्ञान, गोरख की जैसी रहस्यानुभूति तथा दादू का जैसा 'दीदार' वाला भी माना है ।[६] इनकी कतिपय पक्तियो से ऐसा भी प्रकट

१ श्री रामस्नेह धर्मप्रकाश, पृ० ८२-१२७ ।

२ "आठ वरस और मास चत्त, पछम त्रगुटी घाट ।
रामदास ताके पछै, खुली सुन्न की वाट ॥८॥"
—सिवरण मेध्या को अग ।

३ "गिगन मडल मे रामदास, अनहद घुरिया नाव ।
रूम रूम साई मिल्या, सिवरण पाया स्वाद ॥३२॥ —वही ।

४ "ररो पिता माता ममो, है दोनू का जीव ।
रामदास कर वंदगी, सहज मिलावै पीव ॥९३॥"—फुटकर वाणी ।
—श्रीरामदास जी महाराज की वाणी, खेडापा ।

५ वही, फुट कर साखी, पृ० १८० ।

६ वही, ग्रथ गुरु महिमा, पृ० १८४ ।

बिहारीदास (सिंहथल) | नारायणदास | लछमणदास | रामदास (मृ सं १८५५) (खेड़ापा) | अमीराम | आदूराम | दर्शदास

बिहारीदास (सिंहथल)
- हरदेवदास
- मोतीरामदास
- रघुनाथदास
- चेतनदास
- रामप्रताप (वर्तमान सं १९८७)

रामदास (मृ सं १८५५) (खेड़ापा)
- दयालुदास (मृ सं १८८५)
- पूर्णदास (मृ सं अज्ञात)
- अर्जुनदास (मृ सं १९५)
- हरलालदास (मृ सं अज्ञात)
- क्षमादास (मृ सं १९८२)
- केवलराम (वर्तमान सं १९८७)

(४) शाहपुरा शाखा

रामचरण जी संक्षिप्त परिचय

रामस्नेही-सम्प्रदाय की शाहपुरा शाखा के प्रवर्तक संत रामचरण जी का एक नाम केवल संतराम भी प्रसिद्ध है। इनका जन्म जयपुर राज्य के अंतर्गत ढूँढाड़ प्रदेश के सूरसेन अथवा सोडो नामक गाँव में जो इनका ननिहाल था सं १७७६ की माघ शुक्ल चतुर्दशी को शनिवार के दिन वैश्य वर्ण के एक विजयवर्गीय कुल में हुआ था।[1] इनके पिता का नाम बखतराम जी था और इनकी माता देउजी नाम से प्रसिद्ध थी। ये लोग मालपुरा के निकट बनवाड़ा नामक गाँव के निवासी थे। संत रामचरण जी का मूल नाम 'रामकिशन' था। प्रसिद्ध है कि ये एक अद्भुत सुंदर शिशु के रूप में उत्पन्न हुए थे। इनकी प्रारंभिक जीवनी हमें उपलब्ध नहीं है, न यही पता चलता है कि इनकी शिक्षादि का प्रबंध कैसा रहा। केवल इतना कहा जाता है कि इनकी कार्य-कुशलता की प्रशंसा सुन कर इन्हें इनकी युवावस्था में ही जयपुर नरेश ने मंत्रित्व का भार सौंप दिया जिसे इन्होंने भली भाँति निभाया।

---

१ "समत सतरा सौ हुतो और छहुंतर जान।
चतुरदसी तिथि माहा सुद वार सनीश्चर मान ॥ —स्वामी जानदास रचित 'रामचरण जी की परची' से 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' में उद्धृत पृ ४।
"ढूंढाड़ देश सोडो नगर नानाजी के द्वारे।"—वही।
"जन्म वैश्य घर धारियो" (अणभै वाणी)—वही पर उद्धृत।

के अनुसार गद्दी चलती रही। उक्त समय उस पर केवलराम का आसी न रहना बतलाया गया है। इन दोनो के समानातर चलते रहने पर भी इनमे किसी पारस्परिक विरोध का होना नही पाया जाता। केवल इतना कहा जाता है कि सिंहथल वाली 'पाठ वाणी' की पुस्तको का क्रम जहाँ स्वामी रामानद, जैमलदास, हरिरामदास, नारायणदास, हरदेवदास, रामदास और दयालुदास के अनुसार चलता है, वहाँ खेडापा मे उसका क्रम हरिराम दास के अनतर रामदास, दयालुदास, पूरणदास (पूर्णदास) तथा अर्जुनदास के अनुसार हो जाता है। इधर के अन्य नाम नही पाये जाते।[1] नारायणदास हरिरामदास के ही शिष्य थे। इन्होने अपने गुरु-भाई विहारीदास का देहात हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी १० वर्षीय बालक हरदेवदास के अभिभावक-स्वरूप बने रहने का काम किया। किंतु अपनी किसी नवीन गद्दी की स्थापना नही की। खेडापा वाली शाखा का विशेष प्रचार जोधपुर-बीकानेर मे है। इसके अनुयायियो की रहन-सहन पहले गृहस्थवत् दीख पडती थी। परन्तु दयालुदास के पुत्र तथा शिष्य पूर्णदास ने उनके 'विरक्त', 'विदेही', 'परमहस', 'घरबारी' और 'प्रवृत्ति'-जैसे ५ भेद कर दिए। खेडापा वाले अपना 'रामद्वारा' खेडापा को ही बतलाते हैं, किंतु वे सिंहथल को भी 'गुरुद्वारा' के रूप मे स्वीकार करते हैं।[2] इन दोनो स्थलो पर होली के दूसरे दिन एक बडे मेले का आयोजन किया जाता है। वहाँ साधुओ द्वारा अपनी 'पच वाणी' का पाठ चलता है जिसमे क्रमश कबीर साहब, दादूदयाल, हरिदास निरजनी, रामदास और दयालुदास की बानियो का सग्रह किया गया है। इसका सपादन सभवत प्रसिद्ध दादू-पथियो और निरजनियो की पच वाणियो की ही भाँति हुआ है।

सिंहथल खेडापा शाखा की वशावली

श्रीचरणदास
|
जैमलदास (मृ० स० १८१०)
(रोडा दुलचासर)
|
हरिरामदास (मृ० स० १८३५)
(सिंहथल)
|

---

१. श्री रामस्नेह धर्म प्रकाश, पृ० १५९।
२. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २०५।

इन्होंने इसे अपने प्रचार का प्रमुख केन्द्र बना लिया। इन्होंने यहीं रहते समय सं० १८५५ की वैसाख कृष्ण ५ गुरुवार के दिन अपना शरीर त्याग किया।

शिष्य-परंपरा तथा साहित्य

कहते हैं कि शाहपुरा में रहते समय संत रामचरण को किसी राज-कर्मचारी ने किसी व्यक्ति को नियुक्त कर मरवा डालना चाहा था। परन्तु जब इन्होंने उस हत्यारे के सामने अपनी गर्दन झुका कर प्रहार करने को कहा और इसके साथ ही यह बतला दिया "बिना ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध किसी के प्राण नहीं लिये जा सकते। यदि तू इस प्रकार कर सकता है तो यत्न भी कर ले" तो उसे यह बात लग गई और उसने इनके पैरों पर गिर कर इनसे क्षमा-प्रार्थना की। इनका स्वभाव अत्यंत सरल था और इनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण इनके अनुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। कहते हैं कि इनके दीक्षित शिष्यों की संख्या २२५ थी किंतु इनमें से इनके १२ शिष्य प्रमुख थे। इनके नाम इस प्रकार हैं १ बल्लभरामजी २ रामसेवकजी ३ रामप्रतापजी ४ चेतनदास जी ५ कान्हड़दासजी ६ द्वारकादासजी ७ भगवानदासजी ८. रामजनजी ९ देवादासजी १ मुरलीरामजी ११ तुलसीदासजी और १२ नवलरामजी। इनमें से आठवें अर्थात् रामजन जी (सं० १७९६ १८६७) इनके उत्तराधिकारी बने। इस गद्दी के तीसरे महंत का नाम दूल्हाराम जी था जो अपने समय में बहुत प्रसिद्ध हुए और जो वहाँ पर सं० १८८१ तक वर्तमान रहे। इनके १ शब्द तथा प्रायः ४ साखियाँ उपलब्ध हैं जिनके वर्ण्य-विषयों में विभिन्न धर्मों के महापुरुषों की प्रशंसा भी आ जाती है। इनके भी उत्तराधिकारी चत्रदासजी वा चतुरदास हुए जो केवल १२ वर्ष की ही अल्पावस्था में दीक्षित हुए थे और जो सं० १८८७ तक जीवित रहे। इसी प्रकार उनके अनंतर क्रमशः नारायणदास (मृ० सं० १९ ५) हरिदास (मृ० सं० १९२१) हिम्मतराम (मृ० सं० १९७०) दिलशुद्ध राम सं० (१९५१) धर्मदास (मृ० स० १९५४) दयाराम (मृ० सं० १९६२) जगरामदास (मृ० १९६७) तथा निर्भयराम जी एक के पीछे दूसरे उस पर आसीन होते चले आए हैं। संत रामचरणजी की रचनाओं का सर्वप्रथम संग्रह इनके 'गृहस्थी शिष्य' किसी नवलराम जी ने किया था और उनकी संख्या ८ की थी। परन्तु इसके पीछे संत रामजन द्वारा संगृहीत होते समय व २८१९७ तक पहुँच गई। अंत में अब वे ३६ १९७ कही जाती हैं। इनका एक संस्करण 'स्वामीजी श्री रामचरणजी महाराज की अनभै वाणी' के नाम से १७ फरवरी सन् १९२५ ई० प्रकाशित भी हो चुका है। इनमें से कुछ के नाम गुरु महिमा नामप्रताप ग्रन्थप्रताप

परन्तु जब ये केवल २४ वर्ष की अवस्था के थे इनके पिता का देहात हो गया और ये अपने घर आ गए। इन्हे यहाँ पर किसी दिन रात के अतिम पहर मे एक स्वप्न हुआ जिसमे इन्होने देखा कि कोई नदी उमडती जा रही है, उसमे मैं स्नान करने घुस रहा हूँ, मेरे पैर उखड जाते है। मैं उसकी धारा मे वह निकलता हूँ और मेरी "बचाओ, बचाओ," की पुकार सुन कर कोई साधु आता है और मुझे वह जल के बाहर ला देता है।" जाग उठने पर इसका इन पर इतना गहरा प्रभाव पडा कि ये उक्त महापुरुष की खोज मे उसी दिन सवेरे चल निकले और सर्वत्र भ्रमण करने लगे। इस यत्न मे इनकी भेंट मेवाड प्रात के दाँतडा नामक गाँव के निवासी कृपाराम के साथ एक दिन हो गई जिन्हे इन्होने देखते ही पहचान लिया। उनका साक्षात् होते ही ये उनके चरणो पर गिर पडे और उनके शरणापन्न भी हो गए। तदनुसार स० १८०८ की भाद्रपद शुक्ल ७ शुक्रवार को स्वामी कृपाराम जी ने इन्हे दीक्षित करके इन्हे रामनाम का तारक मत्र दे दिया तथा इनका नाम भी 'रामचरण' रख दिया। स्वामी कृपाराम सतदासजी के शिष्य थे जो स्वामी रामानद पीढी के शिष्य अनतानद के शिष्य, कृष्णदास पयहारी के भी शिष्य, अग्रदासकी पाँचवी मे थे जिन्होने किसी समय अपने 'गूदड पथ' का प्रवर्त्तन किया था। सतदासजी का देहात स० १८०६ के फाल्गुन मास की शुक्ल ७ शुक्रवार के दिन हुआ था। स्वामी कृपारामजी भी स० १८३२ की भाद्रपद शुक्ल ६ सोमवार तक जीवित रहे। रामचरण जी ने भी आरम में गूदड पथ का ही अनुसरण किया और "गले में गूदडी, हाथ में हाँडी, गुजारे मात्र की भिक्षा और अखड ध्यान में लीन रह कर "इन्होने तब से सात वर्ष पर्यंत जीवन व्यतीत किया।[1] इसका प्रभाव साधारण जनता पर भी पडा। परन्तु एक दिन अपने गुरु स्वामी कृपाराम के यहाँ गलते वाले मेले के अवसर पर स० १८१५ मे इनका जी उचट गया। इन्होने गूदड-वेश का त्याग करके फिर भ्रमण आरम कर दिया और स० १८१७ में भीलवाडा जाकर वहाँ पर १० वर्षों तक साधना की। अत में इस स्थान का त्याग करके ये कुछ दिनों तक वहाँ बानियो की भी रचना करने के अनतर स० १८२६ में शाहपुरा चले आये।[2] कहते हैं कि यहाँ आने के लिए इनसे वहाँ के राजा ने भी आग्रह किया, जिस कारण

---

१ "गल कथा हाँडी हसत, त्रिख्या तन गुदराज।
ऐसी धारा धारिये, धरयौ अखडित ध्यान॥"—पृ० ११ मे उद्धृत।

२ "रामचरण म्हाराज', अठारसै छाईसमे
भगति वधारणकाज', साहिपुरो पावन करन"—वही, पृ० २८।

इन्होंने इस अपने प्रचार का प्रमुख केन्द्र बना लिया। इन्होने यहीं रहते समय सं १८५५ की वैशाख कृष्ण ५ गुरुवार के दिन अपना शरीर त्याग किया।

शिष्य-परंपरा तथा साहित्य

कहते हैं कि शाहपुरा में रहते समय संत रामचरण को किसी राज-कर्मचारी ने किसी व्यक्ति को नियुक्त कर मरवा डालना चाहा था। परन्तु जब इन्होने उस हत्यारे के सामने अपनी गर्दन झुका कर प्रहार करने को कहा और इसके साथ ही यह बतला दिया "देख ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध किसी के प्राण नहीं लिये जा सकते। यदि तू इस प्रकार कर सकता है तो यत्न भी कर ले" तो उसे यह बात लग गई और उसने इनके पैरों पर गिर कर इनसे क्षमा-प्रार्थना की। इनका स्वभाव अत्यंत सरल था और इनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण इनके अनुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। कहते है कि इनके दीक्षित शिष्यों की संख्या २२५ थी किंतु इनमें से इनके १२ शिष्य प्रमुख थे। इनके नाम इस प्रकार है १ बल्लभरामजी २ रामसेवकजी ३ रामप्रतापजी ४ चेतनदास जी ५ कान्हड़दासजी ६ द्वारकादासजी ७ भगवानदासजी ८ रामजनजी ९ देवादासजी १ मुरलीरामजी ११ तुलसीदासजी और १२ नवलरामजी। इनमें से आठवें अर्थात् रामजन जी (सं १७९५ १८६७) इनके उत्तराधिकारी बने। इस गद्दी के तीसरे महंत का नाम दूल्हाराम जी था जो अपने समय में बहुत प्रसिद्ध हुए और जो यहाँ पर सं १८८१ तक वर्तमान रहे। इनके १ शब्द तथा प्राय ४ साखियाँ उपलब्ध हैं जिनके वर्ण्य-विषयों मे विभिन्न धर्मों के महापुरुषो की प्रशंसा भी आ जाती है। इनके भी उत्तराधिकारी चत्रदासजी या चतुरदास हुए जो केवल १२ वर्ष की ही अल्पावस्था में दीक्षित हुए थे और जो सं १८८७ तक जीवित रहे। इसी प्रकार उनके अनंतर क्रमश नारायणदास (मृ सं १९ ५) हरिदास (मृ सं १९२१) हिम्मतराम (मृ सं १९४७) दिलशुद्ध राम सं (१९५१) धर्मदास (मृ स १९५४) दयाराम (मृ सं १९६२) जगरामदास (मृ १९६७) तथा निर्भयराम जी एक के पीछे दूसरे उस पर आसीन होते चले आए है।

संत रामचरणजी की रचनाओ का सर्वप्रथम संग्रह इनके 'गृहस्थी शिष्य' किसी नवलराम जी ने किया था और उनकी संख्या ८ की थी। परन्तु इसके पीछे संत रामजन द्वारा संगृहीत होते समय वे २८३९७ तक पहुँच गई। अंत में अब वे ३६ ३९७ कही जाती हैं। इनका एक संस्करण 'स्वामीजी श्री रामचरणजी महाराज की अणभै वाणी' के नाम से १७ फरवरी सन् १९२५ ई प्रकाशित भी हो चुका है। इनमें से कुछ के नाम गुरु महिमा नामप्रताप शब्दप्रकाश

अणमैविलास, सुखविलास, अमृत उपदेश, जिज्ञासवोध, विश्वासवोध, विश्राम वोध, समतानिवास, रामरसायन वोध, चितामणि, मनखडन, गुरु-शिष्य गोष्टि, ठिग पारख्या, जिद पारख्या, पडित सवाद, लच्छ-अलच्छ जोग, वेजुक्ति तिर-स्कार, काफर वोव, शव्द तथा दृष्टातसागर है। कदाचित् पूरे ग्रथ को 'रामरसाम्वुधि' भी कहा जाता है। इनके दादा-गुरु सतदास की रचनाओ की भी सख्या १४४३ कही जाती है जिनमें 'ब्रह्मध्यान' तथा 'भ्रमतोड' ग्रथ विशेष प्रसिद्ध है। इनकी अपनी रचनाओ में साखी, चद्रायण, सवैया, झूलना, कवित्त, कुडल्यो, रेखता और 'गावा का पद'-जैसी छद-परपरा का प्रयोग दीखता है। वहाँ इनके दादा-गुरु की रचनाएँ भी अविकतर साखियो तथा रेखताओ के रूपो में उपलव्व हैं। इनके शिष्य रामजनजी की रचनाएँ सख्या में ८२३६ (अथवा १८०००) तक वतलायी जाती हैं। उनके शिष्य दूल्हाराम की वानियो में १०००० शव्दो तथा ४००० साखियो की गणना की जाती है। चत्रदास की भी रचनाओ की सख्या १००० शव्दो तक प्रसिद्ध है उपर्युंत सग्रह ग्रथ एक वहुत विशालकाय पुस्तक है जिसमें सतदास रामजन, जगराम आदि की भी रचनाएँ आ जाती हैं। इम प्रकार की रचनाओ में सभवत रामजनजी की 'रामपद्धति' जगरामजी का ग्रथ ब्रह्म-समाधि लीन जोग' गोपालजी का 'प्रह्लाद चरित' हरिरामदासजी की 'वानियाँ' देवदास जी की 'वाणी' सख्या ३२५७ तथा मुक्तरामजी की 'वाणी' सख्या ३३११ भी सम्मिलित कर ली गई है। इनके सिवाय सत द्वारकादास की भी एक वाणी वतलायी जाती है जिसमें ५२ रेखते सगृहीत हैं।

मत और विचारधारा

सत रामचरण जी ने स० १८२५ में अथवा स० १८२६ मे शाहपुरा आ जाने के अनतर अपनी शाखा की स्थापना की थी। इन्हें अपने वचपन से ही देवी-देवताओ की वाह्य पूजा कभी पसद नही थी। इस कारण इन्हें प्राय तग भी किया जाता था। पीछे दीक्षित हो जाने पर तथा सत्सग करने और चितन में कुछ दिनो तक अपना समय व्यतीत कर लेने के उपरात इनके उक्त सस्कार आदि भी दृढ होते चले गए। अत में इसका परिणाम इनके नवीन मत में दृष्टिगोचर हुआ। कहते हैं कि इनके ऊपर 'रामावत वा 'रामानदी-सम्प्रदाय' का प्रभाव कम नही था, किंतु पीछे उसमें वहुत कुछ परिवर्तन हुआ। इनके मतानुसार परमात्मा निराकार है और वह सर्वशक्तिमान् तथा सृष्टि की स्थिति और प्रलय का विधायक भी है। उसका वास्तविक भेद किसी को भी ज्ञात नही, केवल जगत् को उसका 'प्रतीक' मात्र ठहरा सकते हैं।[1] यह भी अनुमान कर सकते

१. "निस्प्रेही निर्वैरता निराकार निरधार।

है कि जीवात्मा उसी का अंश-रूप है।[1] यदि उसकी इच्छा न हो तो यह कुछ भी कर सकने में असमर्थ है। अतएव वह राम जो भी करता है उसमें हम सभी को प्रसन्न रहना चाहिए, कोई चिंता नहीं करनी चाहिए। यदि कोई पंडित वा जानकार कोई कार्य नियम विरुद्ध कर दे तो उसके पाप से उसका छुटकारा नहीं होता किंतु अज्ञानी अपने को प्रायश्चित द्वारा बचा भी सकता है। संत रामचरणजी ने जगत् को 'धौल कोट' तथा 'मरीची नीर' की संज्ञा दी है। उन्होंने कहा है कि यह उसी प्रकार अथिर वा विनश्वर है जिस प्रकार क्रमशः शीत-काल में सूर्योदय के पहले क्षितिज पर कंगूरे-जैसे बने हुए धूम दील पड़ते हैं। जिस प्रकार ग्रीष्म-काल में दोपहर के समय मृग-मरीचिका देखने में आ जाती है। किंतु ये उक्त दोनों ही केवल क्षण स्थायी ही सिद्ध होते हैं। इस कारण ऐसे भ्रम जागृत करने वाली मायात्मिका सृष्टि के फेर में न पड़ कर हमें चाहिए कि निर्भय बन कर सदा राम को भजें और स्थिर सुख उपलब्ध करें।[2] तदनुसार इस मत के अनुयायी निर्गुण राम का नाम-स्मरण किया करते हैं। उसी को अपनी मुक्ति का एक-मात्र साधन मानते हैं। ये इसकी युक्ति जानने के लिए सद्गुरु की शरण में जाते हैं और उसे स्वयं भगवान् का ही प्रतिनिधि स्वीकार करते हैं। संत रामचरणजी के अनुसार 'राममयी गुरु जानिये गुरु महं जानू राम। गुरु मूर्ति को ध्यान उर, रसना उचरै राम"। इसी कारण यहाँ पर गुरु को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है कि उसकी अनुपस्थिति में उसके नख बाल अथवा वस्त्रादि को भी दण्डवत् करते हैं। प्रसिद्ध है कि इस मत के अनुयायियों की स्त्रियाँ ऐसे सद्गुरु को अपने पति से भी बढ़ कर पूज्य समझा करती हैं।

साधना

संत रामचरणजी ने निर्गुणराम की उपासना-पद्धति का स्वरूप अपने ग्रंथ

सकल सृष्टि में रमि रह्यौ ताको सुमिरन सार।
ताको सुमिरन सार 'राम' सो ताहि भजीजै"। आदि।
—श्री रामस्नेही-सम्प्रदाय पृ० ९२ पर उद्धृत।

1 'जीव ब्रह्मका अंश है ज्यूं रवि का प्रतिबिम होय।
बद परदा दूरा भया ब्रह्म जीव नहिं दोय॥—वही पृ० ९४।

2 'धौलकोट की ओट पौढ पाला तणी।
ज्यूं मृग तृष्णानीर, सीर दरिया घणी।
ऐसें यो संसार अथिर है वीर रे।
परिहाँ रामचरण भजिराम निर्भय सुखसीर रे॥" पृ० ९८।

'शव्द प्रकाश' में इस प्रकार प्रदर्शित किया है, "रामनाम तारक मत्र है जिसे सद्‌गुरु की कृपा से प्राप्त करके श्रद्धापूर्वक नित्यश स्मरण करना चाहिए। इसे श्रवण करते ही इसके प्रति प्रेम-भाव बढने लगना चाहिए तथा रसना द्वारा इसका अभ्यास आरभ हो जाना चाहिए। पद्मासन में बैठ कर मन को स्थिर करके अपने श्वास-प्रश्वास मे इसकी धारा को प्रवाहित कर देना चाहिए। इस प्रकार अपने भीतर उस नाम के नामी राम के प्रति विरह के भाव जागृत करना चाहिए। नाम-स्मरण के निरतर चलते-चलते एक प्रकार की मिठास का अनुभव होने लगता है और अपना विश्वास निरतर दृढतर होता चला जाता है। फिर तो उक्त शव्द अपने कठ में अटक वा उलझ-सा जाता है। अपनी दशा पूरे विरही की भाँति हो जाया करती है जो न तो किसी अन्य वात में रुचि रखता है, न शरीरादि को ही कुछ समझता है। अत में वही शव्द क्रमश उतर कर हृदय में आ लगता है। उसे परमात्मा की अलौकिक ज्योति द्वारा आलोकित करता हुआ नाभि-स्थान मे विश्राम लेता है। नाभि-कमल में एक प्रकार ध्वनि भी गूँजने लग जाती है।"[1] "नाभि-कमल में शव्द गुजार के उठते ही उससे सवद्ध सभी नाडियाँ झकृत हो उठती हैं तथा रोम-रोम तक से भी वही ध्वनि प्रकट होने लगती है। ररकार ऊपर की ओर सुषुम्ना की ग्रथियो का भेदन करता हुआ सहस्रार तक पहुँच जाता है। हम इस प्रकार, त्रिकुटी सगम मे स्नान कर चौथे पद को प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ पर उस शून्य शिखर पर निरजन की ज्योति के दर्शन होते हैं। अनाहत शव्द अपने विविध रागो में सुन पडने लगता है। सुषुम्ना के अमृत-स्राव का आस्वादन होने लगता है जिस सुख के अनुभव का शव्दो द्वारा वर्णन कर पाना असभव है। यह सभी कुछ केवल रामनाम के निरतर स्मरण का ही प्रभाव है। इस प्रकार जो कोई की साधना करेगा वही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है।"[2] इन्होंने इसी

---

१ कल्याण, साधनाक गोरखपुर पृ० ७१५-६ पर उद्धृत।

२ नाभि कमल मे शव्द गुजारै। नौसे नारी मगल उचारै.॥
रोम रोम झुणकार झुणक्कै। जैसे अतर तांत ठुणक्कै॥
माया अच्छर यहा विलाया। ररकार इक गगन सिधाया॥
पच्छिम दिसा मेरू की घाटी। वीसो गाठ घोर से फाटी॥
त्रिकुटी सगम किया सनाना। जाम चढया चौथे अस्थाना॥
जहा निरजन तख्त विराजै। ज्योति प्रकाश अनतर विराजै॥
अनहद नाद गिणत नहिं आवै। भाति भाति को नाद उठावै॥

कारण प्रेम-साधना को भी अपने यहाँ एक प्रमुख साधना माना है। इनका कहना है कि प्रेम की ही सहायता से हमें सभी सुख संभव हो सकते हैं। इनके यहाँ इसका आदर्श रूप कदाचित् 'राधाभाव' अथवा 'गोपीभाव' तक की कोटि का समझा जाता है। इस प्रकार यह मधुरोपासना भी कहला सकता है। वास्तव में प्रेम को इस प्रकार का महत्त्व प्रदान करने के ही कारण इनके पंथ 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' की सार्थकता भी है।

वेशभूषादि

इस मत के अनुयायी प्रतिदिन प्रातःकाल मध्याह्न तथा सायंकाल में राम-नाम-स्मरण का अभ्यास नियमपूर्वक किया करते हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि वे ऐसी प्रार्थना को पाँच-पाँच बार तक करने लगते हैं। वे अपने गले में माला और ललाट पर चंदन वा किसी पदार्थ का तिलक धारण करते हैं। इनके साधु पहले 'हिरमच' में रंगे वस्त्र पहना करते थे किंतु अब अधिकतर भगवा पहनते हैं। काठ के कमण्डलु से जल पीते हैं और मिट्टी के बर्तनों में भोजन करते हैं। इन्हें जीव-हत्या से इतनी परहेज है कि दीपक जला कर उसे इस प्रकार ढक दिया करते हैं ताकि कोई कीड़ा न मर जाय और चलते समय बड़ी सावधानी से पृथ्वी पर पैर रखा करते हैं। आधे आषाढ़ से आधे कार्तिक मास के समय तक वे अत्यंत आवश्यक कार्य पड़ने पर ही घर से बाहर निकलते हैं। क्योंकि उन दिनों प्रायः पृथ्वी पर इधर-उधर रेंगते फिरनेवाले कीड़ों के कुचल जाने की आशंका रहा करती है। ये रात को न खाते हैं, न पानी ही पीते हैं। साधु वा बैरागी बनते ही ये लोग शिखा के अतिरिक्त अपने सिर के बाल कटा लिया करते हैं। बैरागियों में से कुछ लोग 'बरीही' वा 'मौनी' (संभवतः 'विदेही' वा अवधूत') कहलाते हैं और नंगे रहा करते हैं। वाक्-संयम के कारण बहुत दिनों तक प्रायः कुछ भी नहीं बोला करते। परन्तु गृहस्थों के लिए इस प्रकार के

जबै सुषुम्ना और फुंहारा। सून्य सिखर का यह बिवहारा ॥

दरिया सुख को अंत न आवै। छीलर बाल काल लपटावै ॥
सुखसागर मिल सुखपद पाया। सो सब्दों में कह समझाया ॥

राम रट्या का यह परकासा। मिला ब्रह्मपद जब भया नासा ॥
राम चरण कोई राम रटेगा। सो जन यही धाम लहेगा ॥
—मनोहरदासकृत रामस्नेही धर्मदर्पण पृ १९-३।

'शव्द प्रकाश' में इस प्रकार प्रदर्शित किया है, "रामनाम तारक मत्र है जिसे सद्गुरु की कृपा से प्राप्त करके श्रद्धापूर्वक नित्यश स्मरण करना चाहिए। इसे श्रवण करते ही इसके प्रति प्रेम-भाव वढने लगना चाहिए तथा रसना द्वारा इसका अभ्यास आरभ हो जाना चाहिए। पद्मासन में वैठ कर मन को स्थिर करके अपने श्वास-प्रश्वास मे इसकी धारा को प्रवाहित कर देना चाहिए। इस प्रकार अपने भीतर उस नाम के नामी राम के प्रति विरह के भाव जागृत करना चाहिए। नाम-स्मरण के निरतर चलते-चलते एक प्रकार की मिठास का अनुभव होने लगता है और अपना विश्वास निरतर दृढतर होता चला जाता है। फिर तो उक्त शव्द अपने कठ में अटक वा उलझ-सा जाता है। अपनी दशा पूरे विरही की भाँति हो जाया करती है जो न तो किसी अन्य वात में रुचि रखता है, न शरीरादि को ही कुछ समझता है। अत में वही शव्द क्रमश उतर कर हृदय में आ लगता है। उसे परमात्मा की अलौकिक ज्योति द्वारा आलोकित करता हुआ नाभि-स्थान मे विश्राम लेता है। नाभि-कमल में एक प्रकार ध्वनि भी गूंजने लग जाती है।"[1] "नाभि-कमल में शव्द गुजार के उठते ही उससे सवद्ध सभी नाडियाँ झकृत हो उठती हैं तथा रोम-रोम तक से भी वही ध्वनि प्रकट होने लगती है। ररकार ऊपर की ओर सुषुम्ना की ग्रथियो का भेदन करता हुआ सहस्रार तक पहुँच जाता है। हम इस प्रकार, त्रिकुटी सगम मे स्नान कर चौथे पद को प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ पर उस शून्य शिखर पर निरजन की ज्योति के दर्शन होते है। अनाहत शव्द अपने विविध रागो में सुन पडने लगता है। सुषुम्ना के अमृत-स्राव का आस्वादन होने लगता है जिस सुख के अनुभव का शव्दो द्वारा वर्णन कर पाना असभव है। यह सभी कुछ केवल रामनाम के निरतर स्मरण का ही प्रभाव है। इस प्रकार जो कोई की साधना करेगा वही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है।"[2] इन्होंने इसी

---

१. कल्याण, साधनांक गोरखपुर पृ० ७१५-६ पर उद्धृत।

२ नाभि कमल मे शव्द गुजारै। नौसे नारी मगल उचारै॥
रोम रोम झुणकार झुणक्कै। जैसे अतर तात ठुणक्कै॥
माया अच्छर यहा विलाया। ररकार इक गगन सिधाया॥
पच्छिम दिसा मेरू की घाटी। वीसो गाठ घोर से फाटी॥
त्रिकुटी सगम किया सनाना। जाम चढ्या चौथे अस्थाना॥
जहा निरजन तख्त विराजै। ज्योति प्रकाश अनतर विराजै॥
अनहद नाद गिणत नहिं आवै। भाति भाति को नाद उठावै॥

कारण प्रेम-साधना को भी अपने यहाँ एक प्रमुख साधना माना है। इनका कहना है कि प्रेम की ही सहायता से हमें सभी सुख संभव हो सकते हैं। इनके यहाँ इसका आदर्श रूप कदाचित् 'राधाभाव' अथवा 'गोपीभाव' तक की कोटि का समझा जाता है। इस प्रकार यह मधुरोपासना भी कहला सकता है। वास्तव में प्रेम को इस प्रकार का महत्त्व प्रदान करने के ही कारण इनके पंथ 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' की सार्थकता भी है।

वेशभूषादि

इस मत के अनुयायी प्रतिदिन प्रातःकाल मध्याह्न तथा सायंकाल में राम-नाम-स्मरण का अभ्यास नियमपूर्वक किया करते हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि वे ऐसी प्रार्थना को पाँच-पाँच बार तक करने लगते हैं। ये अपने गले में माला और ललाट पर चंदन वा किसी पदार्थ का तिलक धारण करते हैं। इनके साधु पहले 'हिरमच' में रंगे वस्त्र पहना करते थे किंतु अब अधिकतर भगवा पहनते हैं। काठ के कमंडलु से जल पीते हैं और मिट्टी के बर्तनों में भोजन करते हैं। इन्हें जीव-हत्या से इतनी परहेज है कि दीपक जला कर उसे इस प्रकार ढक दिया करते हैं ताकि कोई कीड़ा न मर जाय और चलते समय बड़ी सावधानी से पृथ्वी पर पैर रखा करते हैं। आधे आषाढ़ से आधे कार्तिक मास के समय तक ये अत्यंत आवश्यक कार्य पड़ने पर ही घर से बाहर निकलते हैं। क्योंकि उन दिनों प्रायः पृथ्वी पर इधर-उधर रेंगते फिरनेवाले कीड़ों के कुचल जाने की आशंका रहा करती है। ये रात को न खाते हैं, न पानी ही पीते हैं। साधु वा वैरागी बनते ही ये लोग शिखा के अतिरिक्त अपने सिर के बाल कटा लिया करते हैं। वैरागियों में से कुछ लोग 'बरोही' वा 'मौनी' (संभवतः 'बिदेही' वा अवधूत') कहलाते हैं और नंगे रहा करते हैं। वाक्-संयम के कारण बहुत दिनों तक प्रायः कुछ भी नहीं बोला करते। परन्तु गृहस्थों के लिए इस प्रकार के

जबै सुषुम्ना नीर बुहारा। सून्य सिखर का पहु बिस्तारा॥

दरिया सुख को अंत न आवै। छीलर बाज काज मनभावै॥
सुखसागर मिल सुखपद पाया। सो सब्दों में कहु समझाया॥

राम रम्या का यह परकासा। मिला ब्रह्मपद भव भया नासा॥
राम चरण कोई राम रहेगा। सो जन एही नाम लहैगा॥
—मनोहरदासकृत रामस्नेही धर्मदर्पण पृ० १९-२।

नियम लागू नही हुआ करते। वे ऐसे 'विदेही' वा 'मौनी' नही बन पाते। इस पथ में किसी भी जाति के लोग दीक्षित हो सकते हैं, किंतु इन्हें पहले महथ के यहाँ अपनी परीक्षा देनी पडती है। कम-से-कम ४० दिनो तक इन्हे वैरागी शिक्षा भी दिया करते है। पच के सगठन के लिए १२ व्यक्तियो का एक समुदाय आरभ से ही चला आता है जिनमें से किसी के मरने पर स्थान पूर्ति भी होती रहती है। मुख्य महथ के मरने पर १३वें दिन उसका उत्तराधिकारी शाहपुरा में एकत्र की गई वैरागियो तथा गृहस्थो की सभा द्वारा योग्यता के अनुसार चुना जाता है। इसके उपलक्ष मे वहाँ के 'राममरी' नामक मदिर में एक सहभोज भी हुआ करता है। महथ सदा शाहपुरा मे ही रहा करता है और केवल विशेप आवश्यकता पडने पर ही वह कभी एकाध महीनो के लिए बाहर जा पाता है। अन्य अधिकारियो में से कोई एक व्यक्ति 'कोतवाल' होता है जो अन्नादि को सुरक्षित रखता है और महथ की आज्ञा के अनुसार प्रतिदिन 'सिधात' भी देता है। एक दूसरा व्यक्ति इसी प्रकार 'कपडेदार' कहलाता है जो सभी के कपडो का प्रबध किया करता है। एक तीसरा साधुओ की रहन-सहन का निरीक्षण करता है और चौथे तथा पाँचवें उन्हें पढाने-लिखाने का कार्य करते हैं। छठें और सातवें शेष अन्य प्रकार के प्रबध करते हैं। इनमें से केवल वृद्ध व्यक्तियो को ही शिक्षादि का भार सौंपा जाता है और शेष पाँच की पचायत बनती है।[1] सत रामचरणजी ने अपनी रचनाओ के अतर्गत अनेक स्थलो पर कुछ सकेत किये हैं जिनके अनुसार उनके अनुयायी इन १६ नियमो को विशेष महत्त्व देते हैं १ एकमात्र राम का इष्ट, २ बहुदेवोपासना से विमुखता, ३ नगे पैर, ४ गुरु दर्शन, ५ दयालुता, ६ विषय-त्याग, ७ विषवचन-त्याग, ८ हँसी-तमाशा त्याग, ९ सदा एक हरिमात्र पर विश्वास, १० जूआ, चोरी, आदि का त्याग, ११ मादक द्रव्यो का निषेध, १२ मासादि भक्षण का त्याग, १३ पानी छान कर पीना, १४ देख कर पैर रखना, १५ अपात्री रहा करना, तथा १६ सयम, शील, सत्य, सतोषादि की साधना।[2] इन पर जैन-प्रभाव लक्ष्य करने योग्य है।

---

१. प्रो० बी० बी० राय · सम्प्रदाय, मिशन प्रेस, लुधियाना सन् १९०६ई०, पृ० ९३-१०३।

२ "इष्ट राम रमतीत आनकू पूठ दई है।
पग नगे गुरु दर्श दया की मूठ गही है।
विषय त्याग विष वचन हासि खिलवत नहि जाणै।
जूवा चोरी परलुब्धि झूठ कपटा नहि राखै।

उत्सवादि तथा प्रचार-क्षेत्र

इस मत के अनुयायी साधारणतः दीवाली और होली-जैसे उत्सवों को न मना कर प्रति फागुन मास के अंतिम सप्ताह में शाहपुरा के अंतर्गत एक 'फूल डोल' का उत्सव मनाया करते हैं। इसके लिए राजस्थान के अनेक रजवाड़ों की ओर से भेंट भी भेजी जाती है। संभवतः फागुन सुदी ११ से लेकर आगे ४ दिनों तक यह सम्प्रदाय की अन्य शाखाओं द्वारा भी मनाया जाता आया है। इसके उपलक्ष में भक्त प्रह्लाद की कथा के संबंध में विशेष रूप से कथा-पाठ तथा भावना का आयोजन भी होता आया है। शाहपुरा वाली शाखा के अनुयायियों में यह उत्सव इन दिनों केवल २५ दिनों तक ही रहा करता है। इसकी अवधि फागुन सुदी ११ से चैत्रवदी ५ तक रहती है। इसमें भी केवल चैत्र वदी१ से ५ तक वाले उत्सव को ही आजकल 'फूलडोल' की संज्ञा दी जाती है। कहते हैं कि इस अवसर पर विशेष अपराध किये हुए पंथ के अनुयायियों के विषय में साधुओं की पंचायत द्वारा निर्णय भी हुआ करता है और किसी के दंडनीय सिद्ध होने पर उसकी शिखा काट कर उसकी माला छीन ली जाती है। वह पंथ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। इसके वैरागियों को आदेश है कि खाने पीने सोने बोलने आदि सभी कार्यों में वे समय का ध्यान रखें शास्त्राध्ययन करें, निःस्वार्थ भाव के साथ परोपकार करें तथा दूसरों के प्रति सद्व्यवहार भी प्रदर्शित करें। नाच-तमाशे न देखना सवारी जूते आइने आभूषणादि-जैसे भोग्य पदार्थों का उपभोग न करना तथा दवा का न बनाना तक इनके यहाँ आदिष्ट है। शाहपुरा शाखा के अनुयायी अधिकतर सूरत बड़ौदा गुजरात बंबई, अहमदाबाद बालम्बर, काशी तथा राजस्थान की जोधपुर-जैसी कई पुरानी रियासतों में पाये जाते हैं। इनके मठों का सब कहीं 'रामद्वारा' की संज्ञा दी जाती है। इनमें से प्रमुख रामद्वारे १ भीलवाड़ा रामद्वारा २ मूंडवा रामद्वारा ३ लाडनूं रामद्वारा ४ उदयपुर का बखरा रामद्वारा ५ पोकरण रामद्वारा ६ बीकानेर रामद्वारा आदि बतलाए जाते हैं। इन रामद्वारों के सर्वप्रसिद्ध संस्थापकों में जीवनदासजी नारायणदासजी विदेही तथा भगवानदासजी के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय बतलाए गए हैं। यद्यपि इन सबों ने अपने मत का प्रचार अधिकतर 'मध्यांचल

भांग तमाखू अमल अन्न मद पान न खावै।
पानी छाणी छाणिकै निरतवीव करणी करै।
वे रामसनेही जाणिये जो करतब अवणी करै॥"
—अणभै वाणी पृ० १२२।

प्रदेश मे किया । इनमें से तीसरे ने बहुत-सी वानियो की रचना भी की । भगवानदासजी का जन्म स० १८०१ में हुआ था और ये पीपाड के निवासी थे । इनकी वाणियो की सख्या ४००० तक की वतलायी जाती है जिनमें लगभग सभी प्रकार के प्रमुख छद तथा काव्य-रूप-जैसे साखी, चौपाई, अरिल्ल, कवित्त, कुडलियाँ, रेखता, पद आदि सम्मिलित हैं । इनका पथ के अनुयायियो में विशेष प्रचार भी पाया जाता है । इसी प्रकार इनके अतिरिक्त लोकप्रिय गीतो के निर्माता एक सग्रामदासजी भी कहे जाते हैं जिनकी कुडलियाँ 'कहै दास सग्राम' शव्दो द्वारा पहचान में आ जाती हैं ।

९ अघोर-सरभंग-सम्प्रदाय

अघोर तथा सरभंग-सम्प्रदाय

'अघोर' शब्द का अर्थ साधारणतः 'जो घोर वा भयानक न हो' अर्थात् 'सौम्य' वा 'प्रियदर्शन' होता है। किंतु कभी-कभी इसका प्रयोग 'अत्यंत घोर' के अर्थ में भी किया जाता है। उस दशा में यह उससे विपरीत अर्थ का सूचक बन जाता है। इसी प्रकार संभवतः पहले समय यह शब्द एक ही साथ शिव के सौम्य तथा रौद्र दोनों ही रूपों का प्रकट कर सकता है। 'अघोर' शब्द से ही मिलता-जुलता एक अन्य शब्द 'औघड़' भी है। इसे कुछ लोग 'अक्खड़' वा 'विकट' अर्थ के वाचक 'अवघट' शब्द का एक बिगड़ा हुआ रूप मानते हैं। इस 'औघड़' को तथा 'अघोर' से बने 'अघोरी' शब्द को प्रायः एक दूसरे का पर्याय भी समझा जाता है। ये दोनों साधारणतः किसी ऐसे व्यक्ति को सूचित करते हैं जो किन्हीं घिनौनी वस्तुओं का व्यवहार करता हो अथवा जो वैसे किसी मत का प्रचार करनेवाले पंथ-विशेष का अनुयायी होने के कारण तदनुकूल वेश धारण करता हो। इस प्रसंग में हमारे सामने श्मशान का भस्म लपेटनेवाले शिव जी वा हाथ में खप्पर धारण करनेवाली काली की मूर्ति आ जाती है। मद्य का घट लेकर समुद्र से उत्पन्न होनेवाले बलराम अथवा सोमरस आदि को व्यवहार में लानेवाले वामाचारियों के रूप भी सामने आ सकते हैं। तदनुसार 'अघोरपंथ' वा 'औघड़ पंथ' का नाम आते ही हम किसी ऐसे सम्प्रदाय की कल्पना करने लग सकते हैं जिसका संबंध या तो शैव शाक्त वा तांत्रिक सम्प्रदायों की किसी शाखा-विशेष के साथ होगा। इसी प्रकार 'सरभंग' शब्द को भी कभी 'सरवंग' कभी 'शरभंग' और कभी-कभी 'सर्वांग' शब्द का एक अपभ्रंश रूप समझा जाता है। तदनुसार इसका अर्थ क्रमशः 'स्वर को तोड़नेवाला'[1]

---

१ 'स्वर के रव पर को चढ़ै रखै सकल सो राम।
सर भंगी ताको जानिये स्वर को करै विराम ॥'—संतमत का सरभंग सम्प्रदाय—धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पटना, सन् १९५७ ई० पृ० ५४।

प्रदेश मे किया। इनमें से तीसरे ने वहुत-सी वानियो की रचना भी की। भगवानदासजी का जन्म स० १८०१ में हुआ था और ये पीपाड के निवासी थे। इनकी वाणियो की सख्या ४००० तक की वतलायी जाती है जिनमें लगभग सभी प्रकार के प्रमुख छद तथा काव्य-रूप-जैसे साखी, चौपाई, अरिल्ल, कवित्त, कुडलियाँ, रेखता, पद आदि सम्मिलित हैं। इनका पथ के अनुयायियो में विशेप प्रचार भी पाया जाता है। इसी प्रकार इनके अतिरिक्त लोकप्रिय गीतो के निर्माता एक सग्रामदासजी भी कहे जाते हैं जिनकी कुडलियाँ 'कहै दास सग्राम' शव्दो द्वारा पहचान में आ जाती हैं।

शाहपुरा शाखा की वशावली

शरीर से यह भला है।[1] परन्तु जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स के कथनानुसार[2] हेनरी बालफोर ने अघोर-मत के विषय में कुछ सामग्री एकत्र कर उसे 'लाइफ हिस्ट्री ऑफ ऐन अघोरी फकीर' नाम से प्रकाशित किया है। उन्होंने बतलाया है कि अघोर-पंथ वस्तुतः गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित गोरख-पंथ की एक शाखा है जिसके सर्वप्रथम प्रवर्तक कोई मोतीनाथ थे। उन्होंने उस शाखा की तीन उप-शाखाओं की चर्चा भी की है। उनके नाम क्रमशः 'औघड़' 'सर्भंगी' और 'घुरे' दिये हैं। 'कल्लूसिंह फ़कीर' (संभवतः उक्त कालूराम) को उन्होंने 'औघड़' उप-शाखा का अनुयायी माना है। कहा है कि ये अन्य अघोरियों की भाँति अपना चमत्कार-प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। 'अघोर-पंथ' के अनुयायियों का साधारणतः मुर्दे का मांस खाना तथा उसकी खोपड़ी में मदिरा आदि का पान करना वा अन्य ऐसी घिनौनी वस्तुओं का व्यवहार करना भी देखा जाता है। ब्रिग्स ने इसी कारण उनके कापालिक वा कालामुख शैव-सम्प्रदाय वालों से प्रायः अभिन्न होने का भी अनुमान किया है।[3] इसी प्रकार दत्तात्रेय को भी उन्होंने अघोरी ही लिखा है।[4] परन्तु 'औघड़' नाम उन गोरख-पंथियों को भी दिया जाता है जो कनफटा योगी हो जाने के अंतिम संस्कार तक पहुँचे हुए नहीं रहा करते। कभी-कभी इन दोनों प्रकार के नाथ-पंथियों को भिन्न-भिन्न मानते हुए पहले वर्ग वालों को पार्श्वनाथ का और दूसरों को मत्स्येन्द्रनाथ का अनुयायी कहने की परिपाटी चली आती है। उधर अघोर-पंथ के साथ दत्तात्रेय मुनि का भी कोई प्रत्यक्ष संबंध सिद्ध नहीं होता। पुराणों के अनुसार केवल इतना ही पता चलता है कि ये विष्णु के अंशावतार थे। दाहिने हाथ में मदिरा लेकर तथा वाम भाग में किसी सर्वांग सुंदरी के साथ समुद्र से बाहर निकले थे। इसके सिवाय उनके नाम पर इस समय तक प्रचलित 'दत्तात्रेय-पंथ' में भी अघोर-पंथ की उपर्युक्त बातों को उतनी प्रधानता दी जाती हुई नहीं देखी जाती न उसके पर्यायवाची 'अवधूत-पंथ' के 'अवधूत' शब्द की परिभाषा[5] में ही उनका कोई समावेश समझा जा सकता

---

१ पोथी विवेक सार बाबा किनाराम। —स० बाबा गुलाबचंद आनंद-सेनपुरा चेतगंज बनारस सन् १९४९ ई० 'भूमिका' पृ० १।

२ जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स : गोरखनाथ ऐंड दि कनफटा योगीज़। लंदन १९३८ : पृ० ७२ टिप्पणी।

३ वही पृ० २२४।

४ वही, पृ० ७५।

५ सर्वान् प्रकृति विकारानवधुनोतीत्यवधूत : गोरक्षसिद्धांत संग्रह, पृ० १।

'पाँचो इन्द्रियों' (शर-पचवाण) को वश में रखने वाला,[1] तथा 'अपने सर्वांग' पर शासन करनेवाला वा 'ममी कुछ जिसका अगरूप[2] हो' अथवा 'समदर्शी[3] किया जाता है। इस विचार से हम उसे किसी सावक वा सिद्ध का वाचक मानेंगे। परन्तु यहाँ पर न तो 'अवोर पथ' उक्त शैव, शाक्त वा दत्तात्रेय सम्प्रदायो में से किसी एक के साथ सीवा सपर्क रखनेवाला कहा जा सकता है, न 'सरमग-सम्प्रदाय' को ही हम किसी योग-सावको का वर्ग मान कर उसका ठीक परिचय दे सकते हैं। वास्तव में इन दोनो की अपनी कुछ विशेपताए है जिनके कारण इन्हें कोई पृथक् स्थान प्रदान करना भी कदाचित् अनुचित न होगा। जहाँ तक इन दोनो के आपस में एक समान होने का प्रश्न है, इनके अनुयायियो के विषय में कुछ लोग इस प्रकार भी कहते है, "इस मत के लोग पजाव मे 'सरमग' मद्रास में 'ब्रह्मनिष्ठ', वगाल में 'अघोरी' तथा उत्तरप्रदेश और विहार मे 'औघड' कहलाते हैं।"[4]

प्रारंभिक परिचय

परन्तु आजतक इस प्रकार की कोई ऐतिहासिक सामग्री उपलव्व नही जिसके आधार पर हम किसी ऐसे एक ही सयुक्त सम्प्रदाय के विषय में यथेष्ट विवरण उपस्थित कर सकें तथा जिससे उसके उदय और विकास का निरूपण किया जाय। 'अघोर-पथ' तथा 'सरमग-सम्प्रदाय' इन दोनो में से अमी तक पहला दूसरे से प्राचीन-तर समझा जाता आया है। वावा गुलावचद 'आनद' ने 'अघोर-पथ' को 'अवधूत-मत' का पर्यायवाची मानते हुए कहा है, "अघोर वा अवधूत-मत कोई नवीन मत नही है। शिवजी महाराज के पाँच मुखो में से एक मुख अघोर का मी है। यह 'लिग-पुराण' से सिद्ध है। उपनिषद्, रुद्री और शिव गायत्री से मी इस भेष का महत्त्व प्रकट है। 'अघोरान्नापरो मत्र' यह हमारा कहा हुआ नही है। यह आदि काल से चला आता है। कुछ महाराज किनाराम जी ही ने इसको नही चलाया है। यह सचमुच शिवजी का चलाया हुआ है। जगद्गुरु दत्तात्रेय भगवान ने भी इसका प्रचार किया और वाद में श्री कालूराम जी और किनाराम जी के

---

१. 'सर साधे सरभग कहावे।' सतमत का सरभग-सम्प्रदाय पृ० ११४।

२. 'धरती जो सरभंग है, सबमें रहे समाय।
सब रस उपजत खपत है, मोती चरन मनाय॥'
—वही, पृ० ११५।

३. वही, पृ० १६८ तथा १७२।

४. वही, पृ० ११६।

शरीर से यह बना है।" परन्तु डॉ॰ डब्ल्यू॰ ब्रिग्स के कथनानुसार[2] हेनरी बालफोर ने अघोर-मत के विषय में कुछ सामग्री एकत्र कर उसे 'लाइफ हिस्ट्री ऑफ ऐन अघोरी फकीर' नाम से प्रकाशित किया है। उन्होंने बतलाया है कि अघोर-पंथ वस्तुतः गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित गोरख-पंथ की एक शाखा है जिसके सर्वप्रथम प्रवर्तक कोई मोतीनाथ थे। उन्होंने उस शाखा की तीन उप-शाखाओं की चर्चा भी की है। उनके नाम क्रमशः 'औघड़' 'सरभंगी' और 'घुरे' दिये हैं। 'कल्लूसिंह फ़कीर' (संभवतः उक्त कालूराम) को उन्होंने 'औघड़' उप-शाखा का अनुयायी माना है। कहा है कि ये अन्य अघोरियों की भाँति अपना चमत्कार-प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। 'अघोर-पंथ' के अनुयायियों का साधारणतः मुर्दे का मांस खाना तथा उसकी खोपड़ी में मदिरा आदि का पान करना वा अन्य ऐसी घिनौनी वस्तुओं का व्यवहार करना भी देखा जाता है। ब्रिग्स ने इसी कारण उनके कापालिक वा कालामुख शैव-सम्प्रदाय वालों से प्रायः अभिन्न होने का भी अनुमान किया है।[3] इसी प्रकार दत्तात्रेय को भी उन्होंने अघोरी ही लिखा है।[4] परन्तु 'औघड़' नाम उन गोरख-पंथियों को भी दिया जाता है जो कनफटा योगी हो जाने के अंतिम संस्कार तक पहुँचे हुए नहीं रहा करते। कभी-कभी इन दोनों प्रकार के नाथ-पंथियों को भिन्न-भिन्न मानते हुए पहले वर्ग वालों को जालंधरी नाथ का और दूसरों को मत्स्येन्द्रनाथ का अनुयायी कहने की परिपाटी चली आती है। उधर अघोर-पंथ के साथ दत्तात्रेय मुनि का भी कोई प्रत्यक्ष संबंध सिद्ध नहीं होता। पुराणों के अनुसार केवल इतना ही पता चलता है कि ये विष्णु के अंशावतार थे। दाहिने हाथ में मदिरा लेकर तथा वाम भाग में किसी सर्वांग सुंदरी के साथ समुद्र से बाहर निकले थे। इसके सिवाय उनके नाम पर इस समय तक प्रचलित 'दत्तात्रेय-पंथ' में भी अघोर-पंथ की उपर्युक्त बातों को उतनी प्रधानता दी जाती हुई नहीं देखी जाती न उसके पर्यायवाची 'अवधूत-पंथ' के 'अवधूत' शब्द की परिभाषा[5] में ही उनका कोई समावेश समझा जा सकता

---

१ पोथी विवेक सार : बाबा किनाराम। —सं॰ बाबा गुलाबचंद 'आनंद'–सेनपुरा चेतगंज बनारस सन् १९४९ ई॰ 'भूमिका' पृ॰ १।

२ जी॰ डब्ल्यू॰ ब्रिग्स : गोरखनाथ ऐंड दि कनफटा योगीज। लंदन १९३८ : पृ॰ ७२ टिप्पणी।

३ वही पृ॰ २२४।

४ वही पृ॰ ७५।

५ सर्वान् प्रकृति विकारानवधुनोतीत्यवधूतः : गोरक्षसिद्धांत संग्रह, पृ॰ १।

है। अतएव दत्तात्रेय मुनि के साथ बाबा कालूराम के अघोर-पथ का सबध सभवत उसकी विशेषता का ही द्योतक माना जा सकता है। बाबा किनाराम का इसे 'अवधूत-मत' का नाम देना भी कदाचित् इसी बात की पुष्टि करता है। अभी तक इस सबध मे यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नही है। इस कारण हो सकता है कि कभी अनुसधान करने पर दोनो 'अवधूत' मतो के बीच कोई ऐतिहासिक सबध भी निश्चित किया जा सके। यदि ऐसा होगा उस दशा मे अघोर-पथ दक्षिण के दत्त-पथ वा दत्तोपासना का यह एक उत्तरी अपवाद रूप भी कहा जा सकेगा।

वही

डब्ल्यू० क्रुक ने अघोर-पथ का 'एक विवरणात्मक परिचय' देते समय जो इसका एक सक्षिप्त इतिहास दिया है उससे पता चलता है कि ह्वेनसाग ने अघोरियो की चर्चा की है। सस्कृत-साहित्य में उल्लिखित कापालिको के कतिपय वर्णनो की अनेक बातें भी इसके अनुयायियो के व्यवहारो से मिलती-जुलती दीख पडती है। उनका यह भी कहना है कि पुराने समय में अघोर-पथियो के मठ वा केन्द्र आबू पर्वत, गिरनार, बोधगया, बनारस तथा हिंगलाज मे थे। किंतु इन दिनो इसके किसी मठ का आबू पर्वत पर होना नही समझा जाता। आजकल इसके अनुयायी बिहार, पश्चिमी बगाल, अजमेर, मेरवाडा, उत्तरप्रदेश और पजाब में पाये जाते हैं जो साधारणत यह किनाराम द्वारा प्रवर्तित कहा जाता है। इसी पथ की एक शाखा का नाम उन्होंने 'सर्वंगी' भी दिया है, किंतु इतना और भी कहा है कि इस दूसरी के अनुयायी उतना घृणित आचार-व्यवहार नही प्रदर्शित करते। ये लोग मास-भक्षण-जैसे कृत्यो का केवल विशेष अवसरो पर ही किया जाना उचित समझते हैं।[1] इधर भिनक-परपरा के आदापुर मठ वाले रघुनदनदास ने सरभग-सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय में कहा है, "नेपाल की तराई के जगलो में 'नुनथर नामका एक पहाड है जो इसका मूल स्थान कहा जाता सकता है। क्योकि वही पर 'आद्या' ने बागमती नदी में तुलसी-दल बहाया जिसमें से सरभग वाला अश वैरागी वाले अश से पृथक् होकर बहने लग गया। भिनक बाबा का तुलसी-दल उत्तराभिमुख हुआ बहा वैरागी बाबा का दक्षिणाभिमुख हो गया। दोनो पृथक्-पृथक् हो गए"[2] जिससे यह भी धारणा हो सकती है कि सरभग-सम्प्रदाय का पूर्व सबध कदाचित् वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ रहा होगा। डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने किसी औघड बाबा रघुनाथदास के आधार पर यह भी लिखा है

१ सतमत का सरभग सम्प्रदाय, पृ० १८७-९० पर उद्धृत।
२ वही, पृ० १४१।

कि सरभंगों की बड़ी गद्दी पंजाब में है। औघड़-मत गुरु मत्स्येन्द्रनाथ तथा दत्तात्रेय महाराज के बीच की एक कड़ी है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अघोर-पंथ' तथा 'सरभंग-सम्प्रदाय' इन दोनों के किसी एक ही मूलस्रोत का होना अभी तक हमारे लिए केवल अनुमान या अनुश्रुतियों पर ही आश्रित है। इसके लिए कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित कर पाना अभी तक संभव नहीं है, न इससे अधिक हम इस संबंध में किसी निश्चय के साथ बतला ही सकते हैं कि इन दोनों के मूलतः एक और अभिन्न होने का परिणाम इनकी कतिपय समान बातों के ही आधार पर निकाला जाता आया है। इसके लिए कभी-कभी एकाध उक्तियों का भी सहारा लिया गया है।

(१) अघोर-पंथ वा अघोर-सम्प्रदाय

बाबा किनाराम प्रारंभिक जीवन

अघोर-पंथ के मूल प्रवर्त्तक चाहे कालूराम अथवा उनके मोतीनाथ नाथ-पंथी ही क्यों न रहे हों इसमें संदेह नहीं कि इसके सर्वप्रमुख प्रचारक बाबा किनाराम अघोरी ही समझे जाते हैं। बाबा किनाराम का जन्म वर्तमान वाराणसी जिले की चंदौली नामक तहसील के रामगढ़ नामक गाँव के एक रघुवंशी क्षत्रिय-कुल में किसी अकबर नामक व्यक्ति के घर सं० १६८४ के लगभग होना बतलाया जाता है।[2] किन्तु इस संबंध में यह भी प्रसिद्ध है कि इनका देहांत सं० १९१ सन् १८४४ ई० के अंतर्गत किसी समय १ ४ वर्ष की अवस्था में हुआ था। इससे इनका जन्म-काल सं० १७९७ सन् १७४ ई० ठहरता है। इस प्रकार इन दोनों में ११३ वर्षों का अंतर आ जाता है। बाबा किनाराम का १ ४ वर्षों तक जीवित रह कर शरीर-त्याग करना कुछ असंभव नहीं जान पड़ता। इसलिए, यदि इस बात को ठीक मान कर और यह अनुमान करके भी कि उक्त दशा में सं० १६८४ संभवतः सन् १६८४ ई० की जगह पर कहा जाता हो इसी प्रकार, कदाचित् भूल से सन् १८४४ ई० भी सं० १८४४ के स्थान पर मान लिया गया हो हम ऐसे अंतर का एक समाधान भी कर सकते हैं। तब इस प्रकार कह सकते हैं कि इनका जन्म सन् १६८४ के लगभग (अथवा सं० १७४१ के आसपास) हुआ था और इनका देहांत सं० १८४४ (अथवा सन् १७८७ ई०) में हुआ[3] था जिससे दोनों की संगति बैठ जाती जान पड़ती है।

---

१ संतमत का सरभंग-सम्प्रदाय पृ० ११७।

२ दैनिक 'आज' वाराणसी २६ नवंबर सन् १९५१ ई०।

३ यह समय सं० १८३६ भी कहा गया मिलता है दे० त्रिपथगा लखनऊ पृ० ६४।

यदि बाबा किनाराम का मृत्यु-काल स० १८४४ मान लिया जाय तो उनकी छठी पीढी मे आनेवाले बाबा जयनारायण का मृत्यु-काल स० १९८० उससे १३६ वर्ष पीछे पडता है। इस प्रकार उनके उत्तराधिकारी गद्दीधारियो मे से प्रत्येक का समय परते के अनुसार २७ वर्ष से कुछ ही अधिक ठहरता है। जो किसी अधिक विश्वसनीय प्रमाण के अभाव मे स्वीकार कर लिया जा सकता है। किनाराम अपने बचपन से ही अत्यत श्रद्धालु तथा एकातप्रेमी थे। कहते है कि लोग इन्हे प्राय रामनाम का स्मरण करते हुए भी पाते थे। ये अपने तीन भाइयो गयद, जमन और कीना में सबसे बडे थे और वैराग्य की ओर बढती जानेवाली इनकी प्रवृत्ति को रोकने के लिए इनका विवाह केवल १२ वर्ष की अवस्था में ही कर दिया गया तथा गौना मात्र ही स्थगित रखा गया। परन्तु तीसरे वर्ष गौने का दिन आ जाने पर तथा उसके लिए तैयारी होने पर इन्होने अपनी माता से हठपूर्वक दूधभात माँग कर खाया। सयोगवश उसी समय इनकी पत्नी के देहात हो जाने का भी समाचार मिला। फलत गार्हस्थ्य-जीवन के प्रति अनिच्छा पहले से ही रहने के कारण ये एक दिन किसी से बिना कहे-सुने अपने घर से चुपचाप निकल पडे। ये वहाँ से सर्वप्रथम किसी अच्छे गुरु की खोज में वर्तमान बलिया जिले के 'कारो' नामक गाँव के प्रसिद्ध सयोगी वैष्णव महात्मा बाबा शिवारामके यहाँ पहुँचे। गगातट पर उनसे दीक्षित होकर ये उनकी सेवा-सुश्रूषा में निरत रहने लगे। परन्तु कहा जाता है कि वहाँ पर भी ये अपने गुरु के पुर्नविवाह का प्रसग आ जाने पर खिन्न हो गए तथा उनसे आज्ञा लेकर अन्यत्र चले गए।

देश-भ्रमण तथा अवधूत-मत

किनाराम के घर वालो को इनकी विरक्ति पसद नही थी जिस कारण उन्होने इनसे आग्रह किया कि ये विवाह कर लें। उनका यह प्रस्ताव इन्हें इतना अनुचित जान पडा कि इन्होने उनका त्याग कर के देश-भ्रमण स्वीकार कर लिया। तदनुसार ये चारो धामो के अतिरिक्त, अन्य प्रधान तीर्थों की यात्रा भी करके एक बार घर लौट आये। अबकी बार इन्होने अपने निवास-स्थान से हट कर कुटी बनायी और जनता के कल्याणार्थ वहाँ 'रामसागर' का निर्माण किया। किंतु इनके भजनानुराग तथा समाज-सेवा के कारण लोग इनसे इतना आकृष्ट हुए कि वहाँ पर भीड लगने लगी। ईससे अपने को दूर रखने के उद्देश्य से इन्होने एक और भी यात्रा मे निकलना ठीक समझा। वहाँ से चलते समय इन्होने मार्ग मे किसी नैगडीह (नायकडीह) नामक गाँव की एक बुढिया के इकलौते पुत्र को (जिसे इन्होने किसी जमीदार के बधन से मुक्त किया था),

शरीर से यह बसा है।"[१] परन्तु डी० डब्ल्यू० ब्रिग्स के कथनानुसार[२] हेनरी बालफोर ने अघोर-मत के विषय में कुछ सामग्री एकत्र कर उसे 'लाइफ हिस्ट्री ऑफ ऐन अघोरी फ़क़ीर' नाम से प्रकाशित किया है। उन्होंने बतलाया है कि अघोर-पंथ वस्तुतः गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित गोरख-पंथ की एक शाखा है जिसके सर्वप्रथम प्रवर्तक कोई मोतीनाथ थे। उन्होंने उस शाखा की तीन उप-शाखाओं की चर्चा भी की है। उनके नाम क्रमशः 'औघड़' 'सरभंगी' और 'घुरे' दिये हैं। 'कल्लूसिंह फ़क़ीर' (संभवतः उक्त कालूराम) को उन्होंने 'औघड़' उप-शाखा का अनुयायी माना है। कहा है कि ये अन्य अघोरियों की भाँति अपना चमत्कार-प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। अघोर-पंथ' के अनुयायियों का साधारणतः मुर्दे का मांस खाना तथा उसकी खोपड़ी में मदिरा आदि का पान करना वा अन्य ऐसी घिनौनी वस्तुओं का व्यवहार करना भी देखा जाता है। ब्रिग्स ने इसी कारण उनके कापालिक वा कालामुख शैव-सम्प्रदाय वालों से प्रायः अभिन्न होने का भी अनुमान किया है।[३] इसी प्रकार दत्तात्रेय को भी उन्होंने अघोरी ही लिखा है।[४] परन्तु 'औघड़' नाम उन गोरख-पंथियों को भी दिया जाता है जो कनफटा योगी हो जाने के अंतिम संस्कार तक पहुँचे हुए नहीं रहा करते। कभी-कभी इन दोनों प्रकार के नाथ-पंथियों को भिन्न-भिन्न मानते हुए पहले वर्ग वालों को जालंधरी-नाथ का और दूसरों को मत्स्येन्द्रनाथ का अनुयायी कहने की परिपाटी चली आती है। उधर अघोर-पंथ के साथ दत्तात्रेय मुनि का भी कोई प्रत्यक्ष संबंध सिद्ध नहीं होता। पुराणों के अनुसार केवल इतना ही पता चलता है कि ये विष्णु के अंशावतार थे। दाहिने हाथ में मदिरा लेकर तथा वाम भाग में किसी सर्वांग सुंदरी के साथ समुद्र से बाहर निकले थे। इसके सिवाय उनके नाम पर इस समय तक प्रचलित 'दत्तात्रेय-पंथ' में भी अघोर-पंथ की उपर्युक्त बातों को उतनी प्रधानता दी जाती हुई नहीं देखी जाती न उसके पर्यायवाची 'अवधूत-पंथ' के 'अवधूत' शब्द की परिभाषा[५] में ही उनका कोई समावेश समझा जा सकता

---

१ पोथी विवेक सार : बाबा किनाराम। —सं० बाबा गुलाबचंद 'आनंद'-शिवपुरा कैलगंज बनारस सन् १९४९ ई० 'भूमिका' पृ० १।

२ जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स : गोरखनाथ ऐंड दि कनफटा योगीज़। कोलंबस १९३८ पृ० ७२, टिप्पणी।

३ वही पृ० २२४।

४ वही पृ० ७५।

५. सर्वान् प्रकृति विकारानवधुनोत्यवधूत : गोरक्षसिद्धांत संग्रह, पृ० १६।

है। अतएव दत्तात्रेय मुनि के साथ बाबा कीनाराम के अघोर-पंथ का संबंध सम्भवतः इसकी विशेषता का ही द्योतक माना जा सकता है। बाबा किनाराम का इसे 'अवधूत-मत' का नाम देना भी कदाचित् इसी बात की पुष्टि करता है। अभी तक इस विषय में यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं है। इस कारण हो सकता है कि कभी अनुसंधान करने पर दोनों 'अवधूत' मतों के बीच कोई ऐतिहासिक संबंध भी निश्चित किया जा सके। यदि ऐसा होगा उस दशा में अघोर-पंथ दक्षिण के दत्त-पंथ या दत्तोपासना का यह एक उत्तरी अपवाद रूप भी कहा जा सकेगा।

वही

डब्ल्यू० क्रुक ने अघोर-पंथ का 'एक विवरणात्मक परिचय' देते समय जो इसका एक संक्षिप्त इतिहास दिया है उससे पता चलता है कि ह्वेनसांग ने अघोरियों की चर्चा की है। संस्कृत-साहित्य में उल्लिखित कापालिकों के कतिपय वर्णनों की अनेक बातें भी इनके अनुयायियों के व्यवहारों से मिलती-जुलती दीख पड़ती है। उनका यह भी कहना है कि पुराने समय में अघोर-पंथियों के मठ वा केन्द्र आबू पर्वत, गिरनार, बोधगया, बनारस तथा हिंगलाज में थे। किंतु इन दिनों इसके किसी मठ का आबू पर्वत पर होना नहीं समझा जाता। आजकल इसके अनुयायी बिहार, पश्चिमी बंगाल, अजमेर, मेरवाड़ा, उत्तरप्रदेश और पंजाब में पाये जाते हैं जो साधारणतः यह किनाराम द्वारा प्रवर्तित कहा जाता है। इसी पंथ की एक शाखा का नाम उन्होंने 'सर्वंगी' भी दिया है, किंतु इतना और भी कहा है कि इस दूसरी के अनुयायी उतना घृणित आचार-व्यवहार नहीं प्रदर्शित करते। ये लोग मांस-भक्षण-जैसे कृत्यों का केवल विशेष अवसरों पर ही किया जाना उचित समझते हैं।[1] इधर भिनक-परंपरा के आदापुर मठ वाले रघुनंदनदास ने सरभंग-सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय में कहा है, "नेपाल की तराई के जंगलों में 'तुनयर नामका एक पहाड़ है जो इसका मूल स्थान कहा जाता सकता है। क्योंकि वहीं पर 'आद्या' ने वागमती नदी में तुलसी-दल बहाया जिससे से सरभंग वाला अंश वैरागी वाले अंश से पृथक् होकर बहने लग गया। भिनक बाबा का तुलसी-दल उत्तराभिमुख हुआ वहां वैरागी बाबा का दक्षिणाभिमुख हो गया। दोनों पृथक्-पृथक् हो गए"[2] जिससे यह भी धारणा हो सकती है कि सरभंग-सम्प्रदाय का पूर्व संबंध कदाचित् वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ रहा होगा। डा० नरेन्द्र ब्रह्मचारी ने किसी औघड़ बाबा रघुनाथदास के आधार पर यह भी लिखा है

१ संतमत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ० १८७-९० पर उद्धृत।

२ वही, पृ० १४१।

कि सरभंगों की बड़ी गद्दी पंजाब में है। औघड़-मत गुरु गोरखनाथ तथा दत्ता त्रेय महाराज के बीच की एक कड़ी है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अघोर-पंथ' तथा 'सरभंग-सम्प्रदाय' इन दोनों के किसी एक ही मूलस्रोत का होना अभी तक हमारे लिए केवल अनुमान वा अनुभूतियों पर ही आश्रित है। इसके लिए कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित कर पाना अभी तक संभव नहीं है, न इससे अधिक हम इस संबंध में किसी निश्चय के साथ बतला ही सकते हैं कि इन दोनों के मूलतः एक और अभिन्न होने का परिणाम इनकी कतिपय समान बातों के ही आधार पर निकाला जाता आया है। इसके लिए कभी-कभी एकाध उक्तियों का भी सहारा लिया गया है।

(१) अघोर-पंथ वा अघोर-सम्प्रदाय

बाबा किनाराम प्रारंभिक जीवन

अघोर-पंथ के मूल प्रवर्तक चाहे कालूराम अथवा उक्त मोतीनाथ नाथ-पंथी ही क्यों न रहे हों इसमें संदेह नहीं कि इसके सर्वप्रमुख प्रचारक बाबा किनाराम अघोरी ही समझे जाते हैं। बाबा किनाराम का जन्म वर्तमान वाराणसी जिले की चंदौली नामक तहसील के रामगढ़ नामक गाँव के एक रघुवंशी क्षत्रिय-कुल में किसी अकबर नामक व्यक्ति के घर सं० १६८४ के लगभग होना बतलाया जाता है।[2] किंतु इस संबंध में यह भी प्रसिद्ध है कि इनका देहांत सं० १९२१ सन् १८४४ ई० के अंतर्गत किसी समय १४ वर्ष की अवस्था में हुआ था। इससे इनका जन्म-काल सं० १७९७ सन् १७४० ई० ठहरता है। इस प्रकार इन दोनों में ११३ वर्षों का अंतर आ जाता है। बाबा किनाराम का १४ वर्षों तक जीवित रह कर शरीर-त्याग करना कुछ असंभव नहीं जान पड़ता। इसलिए, यदि इस बात को ठीक मान कर और यह अनुमान करके भी कि उक्त दशा में सं० १६८४ संभवतः सन् १६८४ ई० की जगह पर कहा जाता हो इसी प्रकार, कदाचित् भूल से सन् १८४४ ई० भी सं० १८४४ के स्थान पर मान लिया गया हो हम ऐसे अंतर का एक समाधान भी कर सकते हैं। तब इस प्रकार कह सकते हैं कि इनका जन्म सन् १६८४ के लगभग (अथवा सं० १७४१ के आसपास) हुआ था और इनका देहांत सं० १८४४ (अथवा सन् १७८७ ई०) में हुआ[3] था जिससे दोनों की संगति बैठ जाती जान पड़ती है।

---

१ ततमत्त का सरभंग-सम्प्रदाय पृ० १३७।

२ दैनिक 'आज' वाराणसी २६ नवंबर सन् १९५१ ई०।

३ यह समय सं० १८३६ भी कहा गया मिलता है, दे० त्रिपथगा लखनऊ पृ० ६४।

है। अतएव दत्तात्रेय मुनि के साथ वावा कालूराम के अघोर-पथ का सवध सभवत उसकी विशेषता का ही द्योतक माना जा सकता है। वावा किनाराम का इसे 'अवधूत-मत' का नाम देना भी कदाचित् इसी वात की पुष्टि करता है। अभी तक इस सवध मे यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नही है। इस कारण हो सकता है कि कभी अनुसधान करने पर दोनो 'अवधूत' मतो के वीच कोई ऐतिहासिक सबध भी निश्चित किया जा सके। यदि ऐसा होगा उस दशा मे अघोर-पथ दक्षिण के दत्त-पथ वा दत्तोपासना का यह एक उत्तरी अपवाद रूप भी कहा जा सकेगा।

वही

डब्ल्यू० क्रुक ने अघोर-पथ का 'एक विवरणात्मक परिचय' देते समय जो इसका एक सक्षिप्त इतिहास दिया है उससे पता चलता है कि ह्वेनसाग ने अघोरियो की चर्चा की है। सस्कृत-साहित्य में उल्लिखित कापालिको के कतिपय वर्णनो की अनेक वातें भी इसके अनुयायियो के व्यवहारो से मिलती-जुलती दीख पडती है। उनका यह भी कहना है कि पुराने समय में अघोर-पथियो के मठ वा केन्द्र आवू पर्वत, गिरनार, बोधगया, बनारस तथा हिंगलाज मे थे। किंतु इन दिनो इसके किसी मठ का आवू पर्वत पर होना नही समझा जाता। आजकल इसके अनुयायी विहार, पश्चिमी बगाल, अजमेर, मेरवाडा, उत्तरप्रदेश और पजाव में पाये जाते हैं जो साधारणत यह किनाराम द्वारा प्रवर्तित कहा जाता है। इसी पथ की एक शाखा का नाम उन्होंने 'सर्वंगी' भी दिया है, किंतु इतना और भी कहा है कि इस दूसरी के अनुयायी उतना घृणित आचार-व्यवहार नही प्रदर्शित करते। ये लोग मास-भक्षण-जैसे कृत्यो का केवल विशेष अवसरो पर ही किया जाना उचित समझते है।[1] इधर भिनक-परपरा के आदापुर मठ वाले रघुनदनदास ने सरभग-सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय में कहा है, "नेपाल की तराई के जगलो में 'तुनथर नामका एक पहाड है जो इसका मूल स्थान कहा जाता सकता है। क्योकि वही पर 'आद्या' ने वागमती नदी में तुलसी-दल वहाया जिसमें से सरभग वाला अश वैरागी वाले अश से पृथक् होकर वहने लग गया। भिनक वावा का तुलसी-दल उत्तराभिमुख हुआ वहा वैरागी वावा का दक्षिणाभिमुख हो गया। दोनो पृथक्-पृथक् हो गए"[2] जिससे यह भी धारणा हो सकती है कि सरभग-सम्प्रदाय का पूर्व सवध कदाचित् वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ रहा होगा। डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने किसी औघड वावा रघुनाथदास के आधार पर यह भी लिखा है

१ सतमत का सरभग सम्प्रदाय, पृ० १८७-९० पर उद्धृत।
२ वही, पृ० १४१।

कि सरभंगों की बड़ी गद्दी पंजाब में है। औघड़-मत गुरु गोरखनाथ तथा दत्ता त्रेय महाराज के बीच की एक कड़ी है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अघोर-पंथ' तथा 'सरभंग-सम्प्रदाय' इन दोनों के किसी एक ही मूलस्रोत का होना अभी तक हमारे लिए केवल अनुमान वा अनुभूतियों पर ही आश्रित है। इसके लिए कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित कर पाना अभी तक संभव नहीं है, न इससे अधिक हम इस संबंध में किसी निश्चय के साथ बतला ही सकते हैं कि इन दोनों के मूलतः एक और अभिन्न होने का परिणाम इनकी कतिपय समानताओं के ही आधार पर निकाला जाता आया है। इसके लिए कभी-कभी एकाध उक्तियों का भी सहारा लिया गया है।

(१) अघोर-पंथ वा अघोर-सम्प्रदाय

बाबा किनाराम प्रारंभिक जीवन

अघोर-पंथ के मूल प्रवर्तक चाहे कालूराम अथवा उक्त मोतीनाथ नाथ-पंथी ही क्यों न रहे हों इसमें संदेह नहीं कि इसके सर्वप्रमुख प्रचारक बाबा किनाराम अघोरी ही समझे जाते हैं। बाबा किनाराम का जन्म वर्तमान वाराणसी जिले की चंदौली नामक तहसील के रामगढ़ नामक गाँव के एक रघुवंशी क्षत्रिय-कुल में किसी अकबर नामक व्यक्ति के घर सं १६८४ के लगभग होना बतलाया जाता है।[2] किंतु इस संबंध में यह भी प्रसिद्ध है कि इनका देहांत सं १९ १ सन् १८४४ ई के अंतर्गत किसी समय १ ४ वर्ष की अवस्था में हुआ था। इससे इनका जन्म-काल सं १७९७ सन् १७४ ई ठहरता है। इस प्रकार इन दोनों में ११३ वर्षों का अंतर आ जाता है। बाबा किनाराम का १ ४ वर्षों तक जीवित रह कर शरीर-त्याग करना कुछ असंभव नहीं जान पड़ता। इसलिए, यदि इस बात को ठीक मान कर और यह अनुमान करके भी कि उक्त दशा में सं १६८४ संभवतः सन् १६८४ ई की जगह पर कहा जाता हो इसी प्रकार, कदाचित् भूल से सन् १८४४ ई भी सं १८४४ के स्थान पर मान लिया गया हो हम ऐसे अंतर का एक समाधान भी कर सकते हैं। तब इस प्रकार कह सकते हैं कि इनका जन्म सन् १६८४ के लगभग (अथवा सं १७४१ के आसपास) हुआ था और इनका देहांत सं १८४४ (अथवा सन् १७८७ ई) में हुआ[3] था जिससे दोनों की संगति बैठ जाती जान पड़ती है।

---

१ संतमत का सरभंग-सम्प्रदाय पृ ११७।

२ दैनिक 'आज' वाराणसी २६ नवंबर सन् १९५३ ई ।

३ यह समय सं १८३१ भी कहा गया मिलता है दे मिथपथ्या? ..., पृ ६४।

यदि बाबा किनाराम का मृत्यु-काल स० १८४४ मान लिया जाय तो उनकी छठीं पीढी मे आनेवाले बाबा जयनारायण का मृत्यु-काल स० १९८० उससे १३६ वर्ष पीछे पडता है। इस प्रकार उनके उत्तराधिकारी गद्दीधारियो मे से प्रत्येक का समय परते के अनुसार २७ वर्ष से कुछ ही अधिक ठहरता है। जो किसी अधिक विश्वसनीय प्रमाण के अभाव मे स्वीकार कर लिया जा सकता है। किनाराम अपने बचपन से ही अत्यत श्रद्धालु तथा एकातप्रेमी थे। कहते हैं कि लोग इन्हें प्राय रामनाम का स्मरण करते हुए भी पाते थे। ये अपने तीन भाइयो गयद, जसत और कीना में सबसे बडे थे और वैराग्य की ओर बढती जानेवाली इनकी प्रवृत्ति को रोकने के लिए इनका विवाह केवल १२ वर्ष की अवस्था में ही कर दिया गया तथा गौना मात्र ही स्थगित रखा गया। परन्तु तीसरे वर्ष गौने का दिन आ जाने पर तथा उसके लिए तैयारी होने पर इन्होने अपनी माता से हठपूर्वक दूधभात माँग कर खाया। सयोगवश उसी समय इनकी पत्नी के देहात हो जाने का भी समाचार मिला। फलत गार्हस्थ्य-जीवन के प्रति अनिच्छा पहले से ही रहने के कारण ये एक दिन किसी से बिना कहे-सुने अपने घर से चुपचाप निकल पडे। ये वहाँ से सर्वप्रथम किसी अच्छे गुरु की खोज में वर्तमान बलिया जिले के 'कारो' नामक गाँव के प्रसिद्ध सयोगी वैष्णव महात्मा बाबा शिवारामके यहाँ पहुँचे। गगातट पर उनसे दीक्षित होकर ये उनकी सेवा-सुश्रूषा में निरत रहने लगे। परन्तु कहा जाता है कि वहाँ पर भी ये अपने गुरु के पुनर्विवाह का प्रसग आ जाने पर खिन्न हो गए तथा उनसे आज्ञा लेकर अन्यत्र चले गए।

देश-भ्रमण तथा अवधूत-मत

किनाराम के घर वालो को इनकी विरक्ति पसद नही थी जिस कारण उन्होने इनसे आग्रह किया कि ये विवाह कर लें। उनका यह प्रस्ताव इन्हें इतना अनुचित जान पडा कि इन्होने उनका त्याग कर के देश-भ्रमण स्वीकार कर लिया। तदनुसार ये चारो धामो के अतिरिक्त, अन्य प्रधान तीर्थों की यात्रा भी करके एक बार घर लौट आये। अबकी बार इन्होने अपने निवास-स्थान से हट कर कुटी बनायी और जनता के कल्याणार्थ वहाँ 'रामसागर' का निर्माण किया। किंतु इनके भजनानुराग तथा समाज-सेवा के कारण लोग इनसे इतना आकृष्ट हुए कि वहाँ पर भीड लगने लगी। इससे अपने को दूर रखने के उद्देश्य से इन्होने एक और भी यात्रा मे निकलना ठीक समझा। वहाँ से चलते समय इन्होने मार्ग मे किसी नैगडीह (नायकडीह) नामक गाँव की एक बुढिया के इकलौते पुत्र को (जिसे इन्होने किसी जमीदार के बधन से मुक्त किया था),

अपने साथ ले लिया और अनेक स्थानों का भ्रमण करते हुए ये जूनागढ़ पहुँच गए। कहते हैं कि वहाँ के नवाब के कर्मचारियों द्वारा बंदी बनाये गए अपने शिष्य को छुड़ाने के यत्न में इन्हें स्वयं भी कारागार के बंधन में पड़ना पड़ा। ये वहाँ से तभी मुक्त किये जा सके जब इन्होंने नवाब को अपने कुछ चमत्कारों द्वारा प्रभावित किया। बाबा किनाराम के उक्त शिष्य का नाम बिजाराम था और वह जाति का कलवार था। प्रसिद्ध है कि पीछे वही इनका उत्तराधिकारी भी हुआ। अपनी इस लंबी यात्रा में ही किसी समय इन्होंने गिरनार के ऊपर किन्हीं ऐसे महात्मा के दर्शन किये जिन्होंने इनकी कायापलट कर दी। इन्होंने अपने 'विवेकसार' नामक छोटे-से ग्रंथ में कहा है 'मुझे पुरी द्वारका गोमती तथा गंगासागर के क्षेत्रों में दत्तात्रेय मुनि से भेंट हुई जिन्होंने मेरे सिर पर अपना हाथ रखा। मेरे हृदय के भीतर ज्ञान विज्ञान तथा दृढ़ भक्ति के भाव जागृत कर दिये।'[१] ये दत्तात्रेय मुनि कदाचित् वे ही पौराणिक पुरुष हैं जो अत्रिमुनि के पुत्र तथा अवधूत वेषधारी कहे जाते हैं। इस कारण इन दोनों की ऐसी भेंट को किसी ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार करना युक्ति-संगत नहीं समझा जा सकता। फिर भी ऐसा लगता है कि इन्होंने अपने उक्त ग्रंथ में सर्वत्र उन्हीं को अपना परमगुरु तथा पथ-प्रदर्शक स्वीकार किया है। अपने 'अवधूत-मत' से अभिन्न ठहराया है, यद्यपि उसके महाराष्ट्र प्रांत में प्रचलित 'दत्त-सम्प्रदाय' के साथ भी किसी संबंध का होना अभीतक सिद्ध नहीं है। एक मराठी लेखक ने उस 'दत्तात्रेय प्रधान-सम्प्रदाय'-जैसा एक नाम अवश्य दिया है किंतु इस बात को प्रमाणित नहीं किया है।[२] अतएव इस संबंध में अभी केवल इतना ही कहा जा सकता है कि बाबा किनाराम अपनी इस यात्रा में उससे प्रभावित हुए होंगे।

कालूराम से दीक्षा और अघोर-पंथ

परन्तु बाबा किनाराम के जीवन पर कदाचित् इससे भी अधिक प्रभाव कालूराम 'अघोरी' का पड़ा जिनके दर्शन इन्हें काशी में केदारघाट के निकट हुए। उनसे प्रभावित होकर इन्होंने उनसे संभवतः सं० १८१४ में दीक्षा

---

१ 'पुरी द्वारिका गोमती गंगासागर तीर।
दत्तात्रय मोहि तहं मिले हरन महा भवपीर॥
अति दयाल मम सीस पर कर धरयो मुनिराय।
ज्ञान विज्ञान भक्ति दृढ़ दीन्हीं हृदय जगाय॥—विवेकसार पृ० २।

२ रामचन्द्र चिन्तामन ढेरे : श्री नरसिंह सरस्वती चरित्र आणि परंपरा दत्त सम्प्रदाया चा इतिहास—मुंबई शके १८८ पृ० ७१।

भी ग्रहण कर ली। कहा जाता है कि इन कालूराम ने ही बाबा किनाराम को गिरनार पर्वत के ऊपर तथा अन्य कई तीर्थ-स्थानो मे दत्तात्रेय के रूप मे पहले दर्शन दिये थे। परन्तु यह स्वीकार कर लेने पर कालूराम तथा दत्तात्रेय की अभिन्नता की समस्या भी आ खडी हो सकती है जिसका कोई समाधान नही। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बाबा किनाराम ने कालूराम के साथ अपनी इस भेट को स्वय भी बहुत महत्त्व दिया होता, क्योकि इनके द्वारा रचे गए एक दोहे मे कहा गया है, "कीना-कीना तो आज सभी कहते है, किंतु कोई कालू का नाम नही लेता, यद्यपि तथ्य यह है कि कीना तथा कालू दोनो एक और अभिन्न हो गए हैं। अब राम जो भी करे कोई चिंता नही है।"[1] बाबा कालूराम द्वारा दीक्षित हो जाने पर बाबा किनाराम सदा 'क्रमिकुड' (थाना भेलूपुरा, काशी) पर ही रहने लगे और कभी-कभी रामगढ भी गये। अपने गुरु का देहात हो जाने पर ये वही उनके उत्तराधिकारी के रूप मे उनकी गद्दी पर बैठे जिस घटना का स० १८२६ मे होना कहा जाता है। इनकी मृत्यु के अनतर फिर वहाँ इनके शिष्य बाबा बिजाराम बैठे तथा उनके आगे की परपरा चली। 'क्रमिकुड' की 'रामशाला' ही वस्तुत इस अघोर-पथ का प्रधान मठ है जहाँ पर कालूराम, किनाराम तथा अन्य महतो की समाधियाँ वर्तमान है। इसकी एक शाखा काशी के ही सेनपुरा मुहल्ले मे चल रही है जिसके बाबा गुलाब चन्द्र 'आनद' की अभी कुछ दिनो पूर्व मृत्यु हुई है। बाबा किनाराम के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर काशी-नरेश राजा बलवत सिंह ने रामगढ के पूजा-व्यय के निमित्त ९६ गाँवो मे से प्रत्येक से एक रुपये की वार्षिक आय निश्चित कर दी थी जो उधर बराबर मिलती आई। रामगढ और क्रमिकुड के अतिरिक्त अघोर-पथ के दो अन्य प्रसिद्ध मठो मे से एक जौनपुर जिले का गोमती तटवर्त्ती हरिहरपुर का है और दूसरा गाजीपुर जिले के देवल का है जो चौसा के निकट है। बाबा किनाराम ने अपने प्रथम गुरु बाबा शिवाराम की वैष्णवी मर्यादा निभाने के उद्देश्य से भी चार मठो की स्थापना की थी जिनका अभीतक मारूफपुर, नयीडीह, परानपुर और महुवर नामक चार स्थानो पर वैष्णव-मत का प्रचार करते आना प्रसिद्ध है। किंतु इनके अघोर-पथ में अनेक मुसलमानो तक का सम्मिलित होना कहा जाता है। कहते हैं कि उसका प्रचार गुजरात, नेपाल तथा समरकद-जैसे सुदूर स्थानो तक प्राय अपने विशिष्ट रूप मे ही पाया जाता है।

---

१ "कीना कीना सब कहैं, कालू कहै न कोय।
कीना कालू एक भये, राम करे सो होय॥"
—गीतावली, बाबा किनाराम, पृ० ५।

साहित्य और मत

बाबा किनाराम की जो रचनाएँ उपलब्ध हैं उनमें 'विवेकसार' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त 'गीतावली' तथा 'रामगीता' नामक दो अन्य ऐसे छोटे-छोटे संग्रह-ग्रंथ भी हैं जिनमें अघोर-पंथ का कुछ आभास मिल सकता है। इनके 'रामरसाल', 'रामचपेटा' तथा 'राममंगल' नामक तीन छोटे-छोटे ग्रंथों से इनके वैष्णव-मत का परिचय मिलता है। इनके द्वारा पद्य में किया गया 'योग वाशिष्ठ' ग्रंथ का अनुवाद भी प्रसिद्ध है। इनके ग्रंथ 'विवेकसार' के देखने से पता चलता है कि इसकी रचना सं० १८१२ में उज्जैन नगर के निकट प्रवाहित होने वाली शिप्रा नदी के तट पर किसी मंगलवार के दिन और अभिजित नक्षत्र में हुई थी। इसमें 'साधु प्रसाद का फलस्वरूप अपना अनुभव' दिया गया है।[1] इसमें स्वानुभूति पर विशेष बल दिया गया है और बाबा किनाराम ने स्वयं भी कहा है 'जस कछु मोकहु लखि परयो' वही बतलाया है। इसमें अष्ट अंगों का वर्णन किया गया है जिन्हें क्रमशः 'ज्ञान अंग', 'वैराग्य अंग', 'विज्ञान-अंग', 'निरालंब अंग', 'धर्म अंग', 'अजपा अंग', 'शून्य अंग' तथा 'रक्षा अंग'-जैसे पृथक्-पृथक् आठ नाम भी दिये गए हैं। इनमें से प्रथम तीन के अंतर्गत इनके मतानुसार सृष्टि का रहस्य बतलाया गया है। काया-परिचय वा पिंड तथा ब्रह्मांड की समानता दरसायी गई है। अनाहत तथा निरंजन आदि के स्थान निर्दिष्ट किये गए हैं। इसी प्रकार इसके अगले तीन अंगों में प्रमुख साधना निरालंब की स्थिति आत्म-विचार से शांति की उपलब्धि, अजपा जाप और सहज-समाधि की चर्चा की गई है। इसके शेष दो अंगों के अंतर्गत क्रमशः सारे विश्व के आत्ममय होने तथा आत्म-स्थिति के रक्षार्थ दया, विवेक, विचार तथा सत्संग के द्वारा जीवन-यापन की चार विधियाँ बतलायी गई हैं। बाबा किनाराम ने 'अनुभव' की परिभाषा देते हुए कहा है "अनुभव वही है जो सदा विचार वा भावना में परिणत हो गया जान पड़े और जिसके अनुसार 'सत्यशब्द' को ग्रहण करके संसार के पार जाया जा सके।"[2] इनके द्वारा प्रयुक्त 'योग युक्ति', 'सुरति', 'निरबान', 'अनाहद बानी'

---

१ सत अष्टादस बरष गत, दस दुइ उपर मिलाय।
विवेकसार विरच्यो तबै, समुझी बहु जन राय॥
महि सुत बासर लग्न तिथि, अभिजित मंगल मूल।
साधु प्रसाद को प्रगट फल, यह अनुभव है माहि।
—विवेकसार पृ० ११४।

२ गीतावली पृ० १२।

भी ग्रहण कर ली। कहा जाता है कि इन कालूराम ने ही बावा किनाराम को गिरनार पर्वत के ऊपर तथा अन्य कई तीर्थ-स्थानो मे दत्तात्रेय के रूप मे पहले दर्शन दिये थे। परन्तु यह स्वीकार कर लेने पर कालूराम तथा दत्तात्रेय की अभिन्नता की समस्या भी आ खडी हो सकती है जिसका कोई समाधान नही। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बावा किनाराम ने कालूराम के साथ अपनी इस भेंट को स्वय भी बहुत महत्त्व दिया होता, क्योंकि इनके द्वारा रचे गए एक दोहे मे कहा गया है, "कीना-कीना तो आज सभी कहते हैं, किंतु कोई कालू का नाम नही लेता, यद्यपि तथ्य यह है कि कीना तथा कालू दोनो एक और अभिन्न हो गए है। अब राम जो भी करे कोई चिंता नही है।"[1] बावा कालूराम द्वारा दीक्षित हो जाने पर बावा किनाराम सदा 'कृमिकुड' (थाना भेलूपुरा, काशी) पर ही रहने लगे और कभी-कभी रामगढ भी गये। अपने गुरु का देहात हो जाने पर ये वही उनके उत्तराधिकारी के रूप मे उनकी गद्दी पर बैठे जिस घटना का स० १८२६ मे होना कहा जाता है। इनकी मृत्यु के अनतर फिर वहाँ इनके शिष्य बावा विजाराम बैठे तथा उनके आगे की परपरा चली। 'कृमिकुड' की 'रामशाला' ही वस्तुत इस अघोर-पथ का प्रधान मठ है जहाँ पर कालूराम, किनाराम तथा अन्य महतो की समाधियाँ वर्तमान है। इसकी एक शाखा काशी के ही सेनपुरा मुहल्ले मे चल रही है जिसके बावा गुलाब चन्द्र 'आनद' की अभी कुछ दिनो पूर्व मृत्यु हुई है। बावा किनाराम के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर काशी-नरेश राजा बलवत सिंह ने रामगढ के पूजा-व्यय के निमित्त ९६ गाँवो मे से प्रत्येक से एक रुपये की वार्षिक आय निश्चित कर दी थी जो उधर बराबर मिलती आई। रामगढ और कृमिकुड के अतिरिक्त अघोर-पथ के दो अन्य प्रसिद्ध मठो मे से एक जौनपुर जिले का गोमती तटवर्त्ती हरिहरपुर का है और दूसरा गाजीपुर जिले के देवल का है जो चौसा के निकट है। बावा किनाराम ने अपने प्रथम गुरु बावा शिवाराम की वैष्णवी मर्यादा निभाने के उद्देश्य से भी चार मठो की स्थापना की थी जिनका अभीतक मारूफपुर, नयीडीह, परानपुर और महुवर नामक चार स्थानो पर वैष्णव-मत का प्रचार करते आना प्रसिद्ध है। किंतु इनके अघोर-पथ मे अनेक मुसलमानो तक का सम्मिलित होना कहा जाता है। कहते हैं कि उसका प्रचार गुजरात, नेपाल तथा समरकद-जैसे सुदूर स्थानो तक प्राय अपने विशिष्ट रूप मे ही पाया जाता है।

---

१. "कीना कीना सब कहैं, कालू कहै न कोय।
कीना कालू एक भये, राम करे सो होय॥"
—गीतावली, बावा किनाराम, पृ० ५।

(२) सरभंग-सम्प्रदाय

सामान्य परिचय

सरभंग-सम्प्रदाय की स्थापना सर्वप्रथम किस समय हुई, इसका कोई पता नहीं चलता न हमें अभीतक इस बात का ही कोई प्रमाण मिल सका है कि इसका प्रवर्तन सर्वप्रथम अमुक व्यक्ति ने अमुक स्थान पर किया था। जनश्रुति के अनुसार, इसके प्रमुख प्रवर्तकों में बाबा भीखम राम बाबा भिनक राम सदानंद बाबा हरलाल बाबा छतर बाबा आदि के नाम लिये जाते हैं। इनके अतिरिक्त कर्त्ताराम धवलराम मँगल और मुबारक-जैसे लोगों की चर्चा भी की जाती है। इनमें से कुछ की तो स्पष्ट परंपराओं तथा विभिन्न मठों तक का कोई न-कोई परिचय मिल जाता है किन्तु शेष के विषय में सभी मौन हैं। सरभंग सम्प्रदाय के अनुयायी सबसे अधिक वर्तमान चंपारन जिले में पाये जाते हैं जो बिहार-प्रांत के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित है। किन्तु उसके सारन मुजफ्फरपुर तथा पटना जिलों में भी इनकी संख्या कम नहीं कही जा सकती। कहा तो यहाँ तक जाता है कि ये लोग असम प्रांत पश्चिमी बंगाल तथा उत्तरप्रदेश के भी कतिपय स्थानों पर मिलते हैं। किन्तु इनके बिहार प्रांत से बाहर संभवतः नेपाल राज्य तक में भी पाये जाने का पता किसी स्पष्ट विवरण के साथ दिया गया नहीं मिलता। इसके सिवाय इस वर्ग वाली विभिन्न परम्पराओं के जो मठ वर्तमान हैं वहाँ से कोई ऐसी सामग्री हमें उपलब्ध नहीं होती जिसके आधार पर उक्त प्रमुख प्रवर्तकों का कोई विस्तृत परिचय दिया जा सके अथवा उनके जीवन-काल आदि का भी अनुमान किया जा सके। उनकी अथवा उनके शिष्यों-प्रशिष्यों की उपलब्ध रचनाओं से भी इन बातों पर कोई वैसा प्रकाश नहीं पड़ता। अतएव यथेष्ट सामग्री के अभाव में हम अभीतक उन सभी के किसी मूल पारस्परिक संबंध के विषय में भी कुछ कहने में असमर्थ हैं। इसी कारण हमें इस सम्प्रदाय का वर्णन करते समय इसकी कतिपय विशिष्ट परंपराओं का उल्लेख मात्र करना ही संभव होगा। इस संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि अघोर-पंथ के जो कुछ मठ चंपारन तथा सारन जिलों में मिलते हैं वे भी इससे प्रभावित हैं।

भीखमराम बाबा की परंपरा

सरभंग-सम्प्रदाय की वर्तमान प्रमुख परंपराओं में बाबा भीखम राम की परंपरा कदाचित् कालक्रमानुसार दूसरे ऐसे वर्गों से कुछ-न-कुछ अधिक प्राचीन कही जा सकती है। इसके कभी-न-कभी अघोर-पंथ के साथ प्रत्यक्ष संबंध रहने के विषय में भी अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि इसके लिए इससे अधिक अभीतक नहीं कहा जा सकता। कहते हैं कि भीखम राम चंपारन जिले

'सत्तसुकृत'-जैसे शब्दो द्वारा भी स्पष्ट है कि इनके मत को सत-मत से अधिक भिन्न नही ठहराया जा सकता। हमे ऐसा लगता है कि वावा किनाराम का अपना आध्यात्मिक अनुभव, क्रमश 'वैष्णव-मत' तथा 'अवधूत-मत' का सार ग्रहण करता हुआ अत मे (जनश्रुति के अनुमार उनके ६५ वें वर्ष मे) 'अघोर-पथ' की विशिष्ट विचार-धारा द्वारा पुष्टि प्राप्त कर चुका था और वह इन मभी के समन्वय पर आश्रित रहा। अपने-अपने ढग की क्रमश वैष्णवो की भक्तिपरक तथा अवधूतो की योगपरक सगुणोपासनाओ ने यहाँ आकर अपनी साम्प्रदायिक विशेषताओ का त्याग कर दिया। इन दोनो की मूल सरिताओ ने अत मे अघोर मत के स्रोत के साथ प्रवाहित होना स्वीकार कर लिया। वावा किनाराम के अनुयायियो पर इधर सगुणोपासना का रग अधिकाधिक चढता आया है जो उनकी रचनाओ से भी प्रकट है। अघोर-पथ की 'वशावली' निम्न प्रकार की है

भिनकराम बाबा का संक्षिप्त परिचय

भिनक राम बाबाका परिचय प्रायः दो प्रकार के भिन्न-भिन्न रूपों मे दिया गया मिलता है। एक मत के अनुसार इनका जन्म चंपारन जिले के 'सहोरवा मोनबरवा' गाँव मे हुआ था जो राजपुर से अधिक दूरी पर स्थित नहीं है। इनकी जाति ठठवा की थी। जनश्रुति के अनुसार इनका आविर्भाव-काल आज से दो सौ वर्षों से भी कम रहा होगा। इनके विषय में कहा जाता है कि ये प्रसिद्ध संत कबीर साहब (मृ स १५ ५) के ४८४ शिष्यों मे से किसी एक की परंपरा से संबद्ध रहे और इनकी शिष्य-मंडली के कुछ लोगों ने नेपाल की तराई मे भी अपने मत का प्रचार किया था। भिनकराम बाबा की परंपरा वाले बाबापुरी रघुनंदनदास का कथन है कि सरभंग-मत की उत्पत्ति भी वहीं पर मुनगर पहाड़ के निकट कहीं पर हुई थी। जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है इनका तुलसी-दल बागमती नदी की धारा मे वैरागियों के तुलसी-दल से पृथक होकर उत्तर की ओर बह चला था। इनके एक शिष्य मनसा बाबा के लिए भी कहा गया है कि वे सिमरौनगढ़ (नेपाल-तराई) में तत्कालिन माई के स्थान

के माधोपुर नामक गाँव के रहनेवाले थे और इनका पूर्वनाम भीखा मिश्र था। इनके पूर्वज वहाँ पर सरयूपार से आकर वस गए थे। उन्होने वहाँ के जगलो को काट कर आवाद किया था। भीखा के प्रारभिक जीवन का अधिक पता नही है। प्रसिद्ध है कि अपनी तीस वर्ष की अवस्था तक ये केवल 'कोडनी' करके जीवन-यापन करते रहे। प्रीतम पाडेय नाम के किसी वैष्णव साधु के सपर्क मे आने पर इन मे विरक्ति जगी और ये उनके अनन्य भक्त भी हो गए। उनका देहात हो जाने पर इन्होने पुरी आदि कई तीर्थों की यात्रा की और इसी अवधि मे ये किसी प्रकार सरभग-मत के द्वारा प्रभावित हुए। अत मे माधोपुर लौटते समय तक ये अत्यत वृद्ध हो चुके थे और वहुत सयत जीवन व्यतीत करते थे। इन्होने किसी माघ सुदि तृतीया को जीवित समाधि ली। इनके कई शिष्यो मे से टेकमन राम विशेष प्रसिद्ध हुए जिन्होने इनके मत का अधिक प्रचार किया। भीखम-राम वावा और इनके गुरु प्रीतम वावा इन दोनो की समाधियाँ माधोपुर मे वर्त-मान है और इनका लिखा हुआ कोई 'वीजक-ग्रथ' भी प्रसिद्ध है। इनके शिष्य टेकमनराम जाति के लोहार थे और चपारन जिले के ही 'झखरा' नामक गाँव के रहनेवाले थे। माधोपुर के मदिर का कोई किवाडा वनाते समय ये पहले-पहल भीखमराम के सपर्क मे आये और उनसे 'करवा' लेकर दीक्षित हो गए। अपने गुरु की भाँति इनके भी चमत्कारो की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं और ये एक योग्य पुरुष भी समझे जाते हैं। इनका देहात किसी माघ सुदी पचमी को हुआ था जिस दिन इनकी झखरा वाली समाधि पर मेला लगता है। टेकमनराम के लिए कहा जाता है कि इन्होने ही सरभग-मत के अनुयायियो मे सर्वप्रथम 'घरवारी' वने रहने की प्रथा चलायी। इनके पहले सभी 'निरवानी' रहा करते थे। टेकमनराम की परपरा वस्तुत माधोपुर वाली से पृथक् न होने पर भी विशिष्ट समझी जाती है। 'फाडी' परपरा भी कहलाती है। मेले के अवसर पर झखरा मठ मे गाँजा, भाँग आदि के चढाये जाने तथा नाच-रग होने और घटा वजाने की जैसी प्रथाएँ भी दीख पडती हैं। टेकमनराम के शिष्यो से रामटहल राम, दर्शन राम आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमे एकाध स्त्रियो का भी नाम लिया जाता है। इनकी रचनाएँ फुटकर रूपो मे हैं और ये कुछ सग्रहो मे प्रकाशित भी पायी जाती है।

परपरा की वशावली

केसोराम

|

प्रीतम वावा (समवत किनारामी वैष्णव)

|

उनकी परंपरा और साहित्य

भिनकराम बाबा की परंपरा को 'विरक्तों' की कोटि में रखा जाता आया है क्योंकि इसके अनुयायी प्रायः विरक्त देखे जाते हैं। इसमें औरस पुत्रों का शिष्य क्रम नहीं चला करता प्रत्युत कठिन परीक्षा के अनंतर इसमें कोई भी ले लिये जा सकते हैं। इसके अनुयायी अधिकतर भिक्षा-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हैं और उनमें स्त्रियों को कोई स्थान नहीं दिया जाता। इनकी परंपरा की एक विशेषता इस बात में देखी जाती है कि इनकी वा इनके *शिष्यों प्रशिष्यों की प्रेरणा* पाकर एकाध स्वतंत्र पर पराओं का प्रचार बढ़ा तथा इसके मूल सूत्रों को ग्रहण करके कतिपय इसी की शाखाओं ने अपना नवीन रूप धारण कर लिया। उदाहरण के लिए समवतः इसी के द्वारा अनुप्राणित होकर 'साधु-परंपरा' चल निकली और लक्ष्मी सखी के 'सखी-सम्प्रदाय' की एक पृथक् उप-शाखा प्रचलित हुई। इसी प्रकार टेकर बाबा की परंपरा का भी सूत्रपात हुआ जो बेलवंटिया और पंडितपुर आदि में है। लक्ष्मी वा लछिमी सखी भिनकराम बाबा के शिष्य निरपख राम के शिष्य कहे जाते हैं यद्यपि यह भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने स्वयं अपने गुरु के रूप में उनके एक अन्य शिष्य ग्यानी बाबा (कवलसिया) को स्वीकार किया था। लछिमी सखी का जन्म सारन जिले के अमनौर नामक गाँव में सं १८९८ में हुआ था और ये जाति के कायस्थ थे। ये अपनी छोटी अवस्था से ही साधु-सत्संग के प्रेमी थे। ऐसी ही धुन में ये एकबार कुछ औघड़ों की जमात में अपने यहाँ से चल निकले। फिर लौट-कर भी ये सदा साधना तथा भजन भाव में ही निरत रहते रहे। अंत में सं १९७१ में इनका देहांत हो गया। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे और इन्होंने बहुत-सी फुटकर रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं जो आज तक इनके नाम से (१) अमर सीढ़ी (२) अमर विलास (३) अमर फरास

साफ कोना मानिक बिथरा बरवलो है सजनिया मोरी
हीरालाल बरे बिन रात।
भूत बूत बापू डोला का पराइले हे सजनिया मोरी
जहाँ सतगुरु लिहले निवास।
सोने कुल कुले राम कैउबासी मबरिआ है सजनिया मोरी
बीतिया बरैला हो अपार।
श्री भिनकराम प्रभु चाहसि निरगुनिया है सजनिया मोरी
गगन महल में बरैला मसाल।
—श्री नथमा चौबे बैगरी निवासी के एक संग्रह से उद्धृत।

पर रहा करते थे ।[1] इसी प्रकार एक दूसरे मत के अनुसार इनका परिचय इस रूप मे भी दिया गया मिलता है। कहते हैं भिनकरामजी का जन्म वास्तव मे सारन जिले वाले मसरख स्टेशन से लगभग सात मील पश्चिम की ओर बसे हुए माघर (माधवपुरी) नामक गाँव मे आज से ढाई सौ वर्ष पहले हुआ था तथा ये एकसरिया 'मूँझार' थे। इनके भाई-भतीजे के वश वाले अभी आज तक भी उसके आसपास निवास करते हुए कहे जाते हैं। प्रसिद्ध है कि उसी क्षेत्र मे उस समय कोई 'पुरदर राम' नामक सत थे जो किसी विशेष मत का प्रचार करते थे। उनके शिष्य कोई दुनियाराम थे जिनके नाम पर 'साथर' मे एक सुदर मदिर बना हुआ है, जहाँ कई योजनो से आकर लोग 'रोट चढाया'करते हैं। ये ही दुनियाराम भिनकराम के गुरु थे। कहते हैं कि स्वय भिनकराम के १४३ चेले रहे और कोई ऑलिवर (Oliver) नामक अँगरेज भी इन्हे बडी श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। इनके स्थान पर घने वृक्षो की छाया थी और सात कुएँ भी थे जिनमे से पाँच भर दिये जा चुके हैं। वहाँ पर इनका खोदवाया हुआ एक पोखरा है। एक पत्थर की चौकी भी है तथा एक बडा-सा शख है जो दुनियाराम के मदिर मे रखा हुआ है। प्रसिद्ध है कि 'माघर' की मठिया पर इन्होने अपने शिष्य 'राधाकिसुन' को बिठा दिया और स्वय चपारन की ओर चले आए। इधर कुछ दिनो तक झखरा और बनकट मे रह कर इन्होने फिर आदापुर मे कोई मठ बना लिया, जहाँ पर ये अत मे समाधिस्थ हो गए। इनके कुछ प्रमुख शिष्यो मे दिमागराम, गनपतराम, आदि के नाम लिये जाते हैं।[2] इसके सिवाय इनके एक पद से इनके जीवन-वृत्त पर कुछ और भी प्रकाश पडता है। पता चलता है, "राजपुर से चल कर इन्होने एक बार 'नराइनी' नदी पार की और ये फिर 'केवानी' के 'छोटी सिंघ' के किसी बगले मे निवास करने लगे।" उस बगले का वर्णन इन्होने इस प्रकार किया है जिससे वह 'प्रतीक'-सा प्रतीत होने लगता है। इसीलिए हमे ऐसा लगता है कि वह कही काल्पनिक मात्र ही न हो।[3]

---

१ डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री . सतमत का सरभग-सम्प्रदाय (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५९ ई०), पृ० १४०-१ ।

२ 'भोजपुरी', आरा, सितबर सन् १९५५ ई०, पृ० ५०-१ ।

३ 'राजपुर से चलली नराइनी उतरली हे सजनिया मोरी,
केवानी में छोटी सिंघ का बगला मे कइलो मुकाम ।
सत सुकृत के बगला छववलो हे सजनिया मोरी,
सील सतोष के ठोकलो केवार ।

(४) अमर कहानी, और (५) हटाका नामक पांच सग्रहो मे प्रकाशित पायी जाती हैं। इनके कई शिष्यो मे से सर्वाधिक प्रसिद्ध कामता सखी (जन्म स० १९४२) है जो छपरा के 'सखीमठ' नामक इनके प्रधान केन्द्र मे आज भी वर्तमान हैं। भिनकराम बाबा की रचनाएँ हमे अभीतक अच्छी सख्या मे नही मिल सकी हैं। किंतु जो मिली हैं वे फुटकर भजनो वा पदो के ही रूप मे पायी जाती है और वे उच्चकोटि की भी है। इनकी कुछ पक्तियो के नमूने द्रष्टव्य हैं।[1] इनसे पता चलता है कि ये अपनी आध्यात्मिक अनुभूति का वर्णन कैसी भाषा मे तथा किस प्रकार किया करते थे।

परपरा की वशावली

---
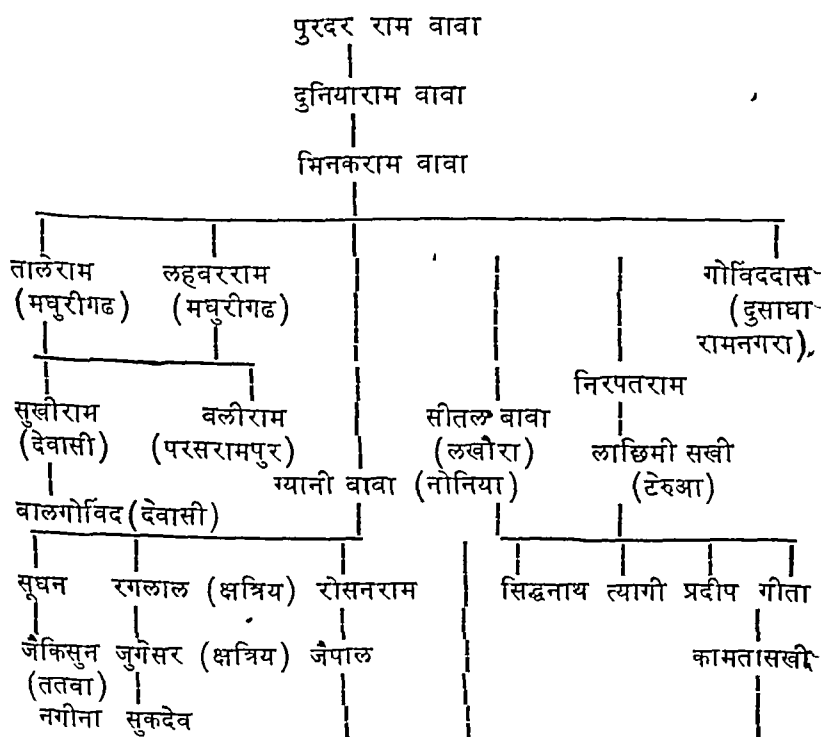
१ आली, प्रेम उमगि जल बरसे।
गरजत गगन कपु घर दर दर, कल न परत मोहे डर से।
बोलत कोकिल मोर चकित धन, अजब रूप छवि परसे।
कदम छाह ब्रज ग्वाल बाल सग, देखि भिनक जिय तरसे॥

पटने मे आज भी सुरक्षित है। इन्होंने अंत मे जीवित-समाधि ली थी जिसका स्थान 'चनाइनवान' मे आज भी दिखलाया जाता है। उसके निकट ही इनकी दो बहनो की समाधियाँ भी बनी हुई है जिन्हे इनका शिष्या रहना प्रसिद्ध है। इनकी समाधि पर एक सुदर मदिर भी बना दिया गया हैं। सदानद बाबा के शिष्यो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध परपत बाबा हुए जो मँगुराहा के रहने वाले थे। कहते हैं कि इनके बडे भाई ज्ञानपत मिश्र अपना परिवार छोड कर औघड फकीर हो गए थे जिससे इनके यहाँ साधु-वृत्ति के प्रति निष्ठा रहने का पता चलता है। इनके जीवन-वृत्त का भी कोई विवरण उपलब्ध नही, न इनके द्वारा रचित पुस्तकें ही अभी तक प्रकाशित हो सकी हैं। सदानद बाबा की ही परपरा से सबद्ध बालखडी बाबा की की भी परपरा कही जाती है, जिसके कई मठ पाये गए जाते हैं। बालखडी बाबा की उक्त परपरा मे 'घरबारी' लोगो का भी समावेश रहा करता है और मठो मे रहनेवाली 'माई राम' उनका प्रबंध किया करती हैं। बालखडी बाबा की बहुत-सी रचनाएँ फुटकर रूपो मे सगृहीत मिलती है और वे अच्छी भोजपुरी मे हैं।

परपरा की वशावली
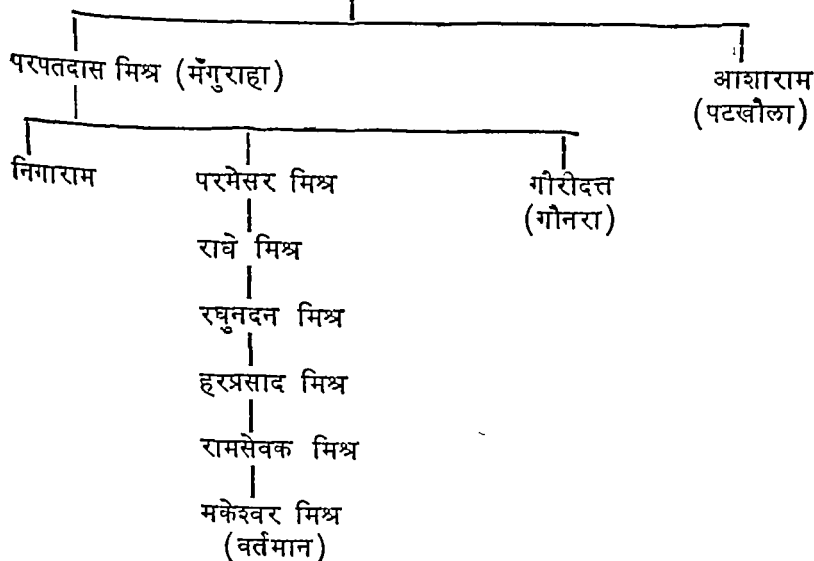
अन्य परंपराएँ

इसी प्रकार सरभंग-सम्प्रदाय की विभिन्न परंपराओं मे हरलाल बाबा तथा करताराम बाबा की दो अन्य परंपराओं के भी नाम लिये जाते है। हरलाल बाबा का जन्म हरिहरपुर (गोपालगज) नामक ग्राम मे संभवत सं १८ १ मे हुआ था। इन्हे अधिक शिक्षा नही मिली थी किंतु इन्होंने स्वाध्याय के बल पर ही अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। कहते है कि स १८३६ म इन्होने चितामन-पुर मठ के सूरतराम का शिष्यत्व ग्रहण किया। सं १८५ म गंडकी नदी के तट पर बबहरवा ग्राम मे अपना एक मठ भी स्थापित कर दिया। इनकी समाधि का सं १८९६ म किसी समय होना बतलाया जाता है। इनके शिष्य बालखंडी का जन्म स १८४१ में महाराजगंज पिपरा (गोविदगंज) के किसी संपन्न वैश्य-कुल मे हुआ था और उनका पूर्व-नाम कदाचित् रामप्रेम साहु था। ये भी अधिक शिक्षित नही थे। इनके 'बालखंडी' नाम के संबंध म कहा जाता है कि इसे इनके गुरु ने इनका बाल विवाह हो जाने के कारण दे दिया था। इन दोनो गुरु-शिष्यों की अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रसिद्ध है। इनकी कुछ फुटकर बानियाँ भी पायी जाती है। सरभग-सम्प्रदाय की एक अन्य ऐसी परपरा के संस्थापक करताराम बतलाये जाते है। इनके लिए कहा गया है कि इनका जन्म वर्तमान बलिया जिला (उत्तरप्रदेश) के किसी 'बहरी' नामक गाँव मे हुआ था। इनके पिता का नाम वीरसिंह था जिनका देहांत इनकी शैशवावस्था म ही हो गया। इनका पालन-पोषण इनकी माता कलेश्वरी ने किया और दुर्भिक्ष पड़ने के कारण इन्हें अपने सगे भाई भवकराम के साथ अपने स्थान को छोड़ कर मुजफ्फरपुर जिले के कोटी नामक गाँव में जाना पड़ा और ये तीनो वही पर बस गए। करताराम फिर वहाँ से गडकी नदी के किनारे वर्तमान डेकहा (सत्तरघाट) चले गये और वहाँ पर कोई झोपड़ी बना कर निवास करने लगे। इनका जीविकोपार्जन मूँज को बट कर रस्सी बनाने तथा उसे वहाँ के हाटो मे बेचने के आधार पर चलता था। ये निरंतर राम राम की धुन मे मस्त रहा करते थे। ये किसी दूसरे का अन्न ग्रहण करना पाप समझते थे और कभी-कभी बानियों की रचना भी किया करते थे।[1] इनकी तथा इनके अनुज भवकराम और इनकी परपरा के मुखासराम सनहीराम-जैसे लोगो की कुछ सुंदर बानियाँ अभी तक सुरक्षित है। इनके पदो के किसी एक संग्रह का कुछ वर्ष पहले छप कर प्रकाशित होना भी कहा जाता है। किंतु वह इस समय उपलब्ध

---

१ श्री रमेशचंद्र झा चंपारन की साहित्य-साधना सुगौली चंपारन, स २ ११ पृ १८।

पटने मे आज भी सुरक्षित है। इन्होने अत मे जीवित-समाधि ली थी जिसका स्थान 'चनाइनवान' मे आज भी दिखलाया जाता है। उसके निकट ही इनकी दो वहनो की समाधियाँ भी वनी हुई है जिन्हे इनका शिष्या रहना प्रसिद्ध है। इनकी समाधि पर एक सुदर मदिर भी वना दिया गया हैं। सदानद वावा के शिष्यो मे सवसे अधिक प्रसिद्ध परपत वावा हुए जो मँगुराहा के रहने वाले थे। कहते हैं कि इनके वडे भाई ज्ञानपत मिश्र अपना परिवार छोड कर औघड फकीर हो गए थे जिससे इनके यहाँ साधु-वृत्ति के प्रति निष्ठा रहने का पता चलता है। इनके जीवन-वृत्त का भी कोई विवरण उपलब्ध नही, न इनके द्वारा रचित पुस्तकें ही अभी तक प्रकाशित हो सकी है। सदानद वावा की ही परपरा से सवद्ध वालखडी वावा की की भी परपरा कही जाती है, जिसके कई मठ पाये गए जाते हैं। वालखडी वावा की उक्त परपरा मे 'घरवारी' लोगो का भी समावेश रहा करता है और मठो मे रहनेवाली 'माई राम' उनका प्रवघ किया करती हैं। वालखडी वावा की वहुत-सी रचनाएँ फुटकर रूपो मे सगृहीत मिलती है और वे अच्छी भोजपुरी मे है।

परपरा की वशावली

सछिमो सबी में भी कबीर साहब का नाम कहीं 'ससम कबीर' कहीं 'हुस कबीर' और कहीं पर 'सतगुरु साहेब कबीर' के रूप में बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है।[1] इसके सिवाय इस सम्प्रदाय वालों की कुछ पंक्तियां द्वारा यह भी हमें पता चलता है कि इसे हम अघोर-मत' से अभिन्न भी कह सकते हैं। उदाहरण के लिए भीखम राम बाबा के शिष्य प्राणपुरुष राम के एक भजन से जान पड़ता है कि उन्होंने इस मत की व्यापकता का वर्णन करते हुए इसे सर्वत उत्कृष्ट पद प्रदान किया है और इसे 'बैराग' (समवत साधारण बैरागियों के मठ) से भिन्न कहा है।[2] इसी प्रकार उनके गुरु भाई प्रसिद्ध टेकमनराम के भी एक भजन के नीचे आए हुए दोहे में कहा गया है, 'नाम की महिमा वही जानता है जो अघोर-योग' की साधना करता है और जो इस प्रकार जीते जी 'फल' (संभवत परमध्येय मोक्ष) प्राप्त कर लेता है।[3] इन्हीं टेकमनराम ने एक स्थल पर यह भी कहा है कि किस प्रकार इन्होंने अपने पूर्ववर्ती करताराम ममरूराम भवलराम सनहीराम भआछराम तथा मनसाराम नामक 'निरबानी' संतो के मत को समझ कर तदनुसार 'भगरा' में अपनी परंपरा स्थापित की।[4] अतएव ऐसे कथनों के आधार पर यह मान लेना कदाचित् अनुचित न होगा कि न केवल अघोर-मत तथा सरभंग-मत में प्रत्युत कबीर साहब के अनन्तर प्रचलित संत-मत तथा सरभंग मत में भी कोई मौलिक अंतर नहीं है।

सिद्धांत तथा साधना

भिनकराम बाबा ने परमतत्त्व को 'अलख' कहा है। उसे अपने प्रियतम

---

१ 'मिलि पाइके खसम कबीर' 'अमर सीढी' मूलमा पद १८ पृ ६, 'मानस ताल बिचे हुंस कबीरा' वही पद ८२ पृ २५ और 'सतगुरु साहेब कबीर' 'हुलाका' २४ पृ १।

२ "धरती अकास बल पवन भपिनिया पांचो अघोर बसि भाई।
 चांद सुरज दूनो अघोर के बालक, कहु बैराग कहांवा भाई ।।टेक।।
 अघोर मतीके बने पिंजरा जामें प्राणपुरुष के दिना बैठाई ।।कहु ।।
 तीन लोक अघोर के बालक तहां चमइनिया तैल लगाई ।।कहु ।।
 भीखमराम प्रभु दया सतगुरु के प्राण पुरुष काहे बिलखाई ।।कहु ।।
 अघोर मत सती कोउ पावे कहु बैराग कहांवा भाई ।।२८।।"
 —भजन रत्नमाला पृ १६।

३ 'नामके महिमा जानै साधो योग अघोर।
 काया मध्ये फल पावहीं सत बचन सुनु मोर"—वही भजन ४८, पृ २४।

४ वही भजन १२ पृ २९ ३।

नही है। इन दो परपगओ के अतिरिक्त सरभग-सम्प्रदाय की अन्य अनेक परपराएँ भी हो सकती है और उनकी कई शाखाओ का होना भी सभव है। परन्तु उनका हमे इतना सक्षिप्त परिचय भी इस समय नही मिलता, न इन सभी की रचनाएँ मिल पा रही हैं। इसके सिवाय ऐसी परपराओ की जो वशावलियाँ अभी तक उपलब्ध हैं उनका सर्वथा प्रामाणिक होना सदेह से परे नही कहा जा सकता। वास्तव मे सरभग-सम्प्रदाय के विषय मे आज तक जो कुछ भी कार्य हो सका है उसे अधूरा ही ठहराया जा सकता है।

साहित्य और मत

सरभग-सम्प्रदाय का पूरा साहित्य अभी तक उपलब्ध नही है, न जो आज तक मिल सका है वह कुल प्रकाशित ही हो पाया है। इसके सिवाय उसका एक बहुत बडा अश अभी तक इसके अनुयायियो मे मौखिक रूप से भी मिल सकता है। इसलिए इसके सिद्धात तथा भावना आदि के विषय मे किया गया कथन अधूरा भी कहला सकता है। फिर भी जो कुछ सामग्री अभी मिल पाती है उसके आधार पर इसके मत की एक रूपरेखा अवश्य प्रस्तुत की जा सकती है। जहाँ तक पता है, आजतक भिनकराम, भीखमराम, टेकमनराम, डीहूराम, प्राणपुरुख, रामटहल, ईनरराम, मनसाराम, छतरराम, लछिमीसखी, कामतासखी, सीतलराम, तालेराम, योगेश्वर, दरसनदास, रामसरूप, सनाथराम, सबलराम, प्रीतमराम, रामनेवाज, भगतीदास, रघुवीरदास, सूरतराम, मिसिरीदास, हरलाल, केसोदास, बालखडी आदि कई सरभगियो की कुछ-न-कुछ रचनाएँ मिली हैं। ये अधिकतर फुटकर पदो के रूप मे है और उनमे से बहुत-सी 'भजन रत्नमाला'-जैसे एकाध सग्रहो मे एकत्र की जा चुकी हैं। परन्तु योगेश्वराचार्य आदि की कतिपय रचनाएँ ऐसी है जिनके 'स्वरूपप्रकाश'-जैसे सग्रह पृथक् रूप मे भी किये जा चुके हैं, यद्यपि ऐसे ग्रथो की सख्या अभी तक बहुत कम है। इनके सबध में इनके प्रकाशित होने पर ही विचार किया जा सकता है। इस प्रकार अद्यावधि प्रकाशित अथवा हस्तलिखित रूप मे प्राप्त साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि सरभग-सम्प्रदाय की विचार-धारा बहुत कुछ सत कबीर साहब के मत का अनुगमन करती है। भिनकराम बाबा ने तो अपने एक पद मे स्पष्ट कहा है, "सुषुम्ना के झील मे कमल पुष्पित है जहाँ पर परमात्मा (रामरघुवीर) का निवास है। सद्गुरु कबीर साहब 'जिद' की दया से, हम भिनकराम स्वामी ने भी वहाँ पर ज्ञान का एक 'जजीरा' प्राप्त कर लिया।"[1] इसी प्रकार

---

१ सुखमन दह मे कमल फुलइले तहा बसे राम रघुबीरा।
साहेब कबीर दया जिंद सतगुरु,
सिरी भिनकराम स्वामी पावेले ग्यान के जजीरा ॥—अप्रकाशित सग्रह से।

ओर सर्वसाधारण ध्यान दिया करते हैं। सरभंगी संतों को इसीलिए किसी प्रकार के बाहरी शिष्टाचारों से भी कोई काम नहीं रहा करता न जाति-पाँति छुआ छूत के वैसे सामाजिक नियमों का ही पालन करना पड़ता है जिसे साधारणतः अपना परम कर्तव्य समझा जाता है।

साधारण व्यवहार

इस प्रकार की अनुभूति का परिणाम स्वभावतः अपने भीतर आनंदातिरेक रहने के कारण वाह्य आचरण में भी प्रकट हो सकता है। तदनुसार भिनकराम-जैसे लोग इस प्रकार गा उठते हैं "मेरी सखी मुझ तो 'हरि'की मदिरा ने प्रभावित कर दिया। यह तन की मट्ठी में मन के महुआ से बनी और ब्रह्माग्नि की आंच पर तैयार की गई। इसके लिए मैंने सभी का त्याग कर दिया और संतों से मिल कर इसकी दूकान कर ली। ज्योंही इसका प्रेम-प्याला अपने होठों से लगाता हूँ सारे भ्रम आप-से-आप दूर हो जाते हैं।"[1] इस कारण इस प्रकार के अनुभवों में डूबे मस्त व्यक्तियों के विषय में बहुत-से लोग अनेक प्रकार की चर्चा भी किया करते हैं। इनके 'औघड़ों' की भाँति कभी-कभी आचरण करने लगने तथा अपनी धुन में ही मस्त रहा करने के कारण इनकी प्रायः निंदा भी कर दी जाती है। इनमें जो 'निरबानी' वा त्यागी हुआ करते हैं वे साधारणतः अपने पास केवल मिट्टी का 'करवा' और छोटा-सा 'कराहा' लिये रहते हैं। इनके द्वारा वे पानी पीते और भोजन करते हैं और या तो गेरुवा एकरंगा वा खाकी वस्त्र धारण करते हैं। एक साधारण सी लंगोटी और ढीला-ढाला कुर्त्ता पहना करते हैं और प्रायः कोई एकतारा वा खंजरी लेकर उसे बजाया भी करते हैं। भक्ष्याभक्ष्य से इन्हें कोई घृणा नहीं रहा करती किंतु यह आवश्यक नहीं कि ये उसका सेवन करना अपना कर्तव्य समझते हों। ये सदाचार का पालन करना उचित मानते हैं उदार विचारों के हुआ करते हैं और एक दूसरे को 'राम' 'राम' वा 'बंदगी' करके उसके प्रति सद्भावना प्रकट करते हैं। सरभंगों के यहाँ अपने गुरुओं की समाधि-पूजा करने का विधान है और ये इसके लिए उनकी प्रिय वस्तुएँ समर्पित किया करते हैं। इनके मत को 'अघोर

---

१ "हरि मदिरा मोरे लागल सजनी।
मन कर महुआ तन कर मट्ठी ब्रह्म अगिनि में बारके सजनी॥
सब संतन मिलि लावले दोकनिया मात पिता कुल त्यागल, सजनी॥
प्रेम पियाला जब मुख लावे पियत पियत भ्रम भागल, सजनी॥
सुतल तिरी भिनक राम स्वामी जागि प्रीतम संग लागल सजनी"
—एक हस्तलिखित संग्रह से।

का रूप देकर भी उसमे मिलना 'कठिन' ठहराया है। टेकमन राम, प्राणपुरुष राम तथा अन्य कई सरभगी सतो ने उसे 'निर्गुन' और 'निरधार' की जैसी सज्ञा भी दी है। बाबा भीखमराम ने उसकी नित्य स्थिति को 'अमरपुर' का नाम देकर वहाँ तक हमारे लिए पहुँचने का आग्रह किया है। रूढ़िमा सखी ने तो बार-बार हमे उद्बोधित किया है कि हम शीघ्र-से-शीघ्र वहाँ जाकर अपने उस प्रियतम के गले लग जायँ। इनके द्वारा किया गया 'अमरपुर' का वर्णन और वहाँ के परम सुखद वातावरण मे पडे हुए झूले पर अपनी अन्य 'सखियो' के साथ प्रियतम मे तादात्म्य भाव मे झूलने का जो चित्रण उन्होने अपनी अनेक पक्तियो मे किया है वह अत्यत सजीव और मनोहर है।[1] उन्होने जिज्ञासा, उत्सुकता, आतुरता और एकातनिष्ठा के भाव एक ही साथ जागृत करने के लिए बडे सुदर प्रतीको का भी सहारा लिया है। परन्तु इन सतो के यहाँ इस प्रकार के वर्णनो के होते हुए भी सगुण ब्रह्म की अपेक्षा निर्गुण की ही अधिक प्रतिष्ठा है। क्योकि जैसा योगेश्वराचार्य ने कहा है "निर्गुणवादी सत निर्गुण तथा सगुण इन दोनो के प्रति आस्था प्रकट करते हुए भी अपने ध्यान का लक्ष्य वस्तुत निर्गुण को ही बनाते है।"[2] इसके सिवाय इन लोगो की यह भी स्पष्ट धारणा है कि उसे प्राप्त करने के लिए हमे कही अन्यत्र जाने की आवश्यकता नही है। उसका 'शून्यलोक' हमारे घट के ही भीतर है जहाँ से निरतर 'सहजधुनि' उपजा करती है और जिसके लिए समाधि मे लीन होना आवश्यक है। यही पर 'शून्यशिखर' से उस अमृत का स्राव हुआ करता है जिसे साधक 'हस' बन कर पान करता हुआ तृप्त होता रहता है।[3] वहाँ पर हमे किसी ऐसी अपूर्व सुदरता का अनुभव हुआ करता है जिसमे करोडो कामदेवो की शोभा निहित है।[4] सत साधक वहाँ पर अपने सद्गुरु की सहायता से पहुँचता है और उसका आनद लेता हुआ अपने को कृतकृत्य मानता है। अतएव इसके लिए न तो कही तीर्थ-व्रत करने की आवश्यकता है, न उन विविध पटरागो के ही फेर मे पडना है जिनकी

---

१ झूलना बारामासा, अमर सीढ़ी, भजन १, ९, १८, ५१, ७१, आदि।

२ "गाइ निर्गुण सगुण मिलते,
ध्यान निर्गुण मे रहा"—स्वरूप प्रकाश, पृ० ४।

३ 'सुन सिखर से अमृत टपके, हसा पिये अघाई',
—रामटहल राम, भजन रत्नमाला, ३९ पृ० २०।

४ "कोटि काम तहवा छवि छाई, महिमा अगम निगम जो गाई।
काया नगर सोधे जो भवना, जाते मन पछी हो पवना।"
—रामसरूपदास, वही, पृ० ३।

मत' से अभिन्न मान लेने के कारण प्राय इन्हे लोग साधारण अघोरियो की कोटि मे रखने लगते हैं। परन्तु यह उचित नही प्रतीत होता, क्योकि इनके आचरण मे उनकी जैनी आ गई अनेक बातें केवल प्रासगिक रूप मे ही दीख पडती है। इनके तथा किनारामी लोगो के भी 'घरबारी' समाज मे हमे साधारण वैष्णवो का जैसा धार्मिक जीवन ही मिला करता है जो किसी प्रकार हेय नही है।

१०. रविभाण-सम्प्रदाय

प्रारभिक परिचय

'रविभाण' शब्द के दोनो अश 'रवि' तथा 'भाण' क्रमश रविराम साहेब और भाण साहेब के नामो की ओर सकेत करते हैं। इनमे से प्रथम द्वितीय के शिष्य थे और इन दोनो महापुरुषो ने अपने उपदेश गुजरात और सौराष्ट्र प्रदेशो मे दिये थे। रविराम साहेब की एक रचना 'बारामासी' के अतर्गत इस प्रकार का उल्लेख मिलता है, "उत्तराखड की ओर से सर्वप्रथम नीलकठ दास नामक एक निर्गुणी महात्मा 'उतरे थे' जो गगन की धुनी मे आसन लगाते थे, निर्मल नाम के उपासक थे तथा जो निरतर 'उन्मुनी' की दशा मे आनदित रहा करते थे। उन्होने रघुनाथदास को अपना शिष्य बनाया जो 'एकादश फदो के निवारण मे' पटु सिद्ध हुए। इन रघुनाथदास जी के शिष्य फिर जादव दास हुए जो एक प्रसिद्ध महायोगी थे, ब्रह्मरध्र मे लीन रहा करते थे और विशुद्ध रामभक्त भी थे। फिर जादवदास के शिष्य पष्टमदास हुए जो सदा हरि के विरह मे मग्न रहते थे और एकनिष्ठ भजनानदी थे। इसी प्रकार अत मे इनके शिष्य भाण साहेब हुए जो पूर्ण ब्रह्म रूप थे तथा साक्षात् शिवस्वरूप थे। ये वाराही शहर के थे और इन्होने लोहर वश मे जगत् के कल्याणार्थ अवतार धारण किया था। ये पूर्णत मायारहित इन्द्रियजीत बने रह कर सत्तनाम की उपासना करते थे। इन्होने स० १८०९ मे दक्षिण देश की ओर पधार कर इस दास को दर्शन दिये और माघ मास की शुक्ल एकादशी के दिन जब इनके प्रभाव मे आकर मेरे भीतर ब्रह्मप्रकाश हो उठा। मैं लवण रविदास उनके समुद्र मे गल कर एकरूप बन गया।"[1] इसके सिवाय इनके शिष्य मोरार साहेब के शिष्य दलुराम जी द्वारा लिखित 'परपरा' के अतर्गत इतना और भी पता चलता है कि इस सम्प्रदाय का सबध वस्तुत प्रसिद्ध रामानुजाचार्य तथा उनके भी पहले मूलत स्वय भगवान् नारायण के साथ जुडा हुआ है। वहाँ पर कहा गया है कि रामानुजाचार्य की शिष्य-परपरा मे आनेवाले स्वामी रामानद के शिष्य कबीर हुए जिनके पीछे कई शिष्य प्रशिष्यो के अनतर कोई धीरदास हुए जिनसे

---

१ रविभाण सम्प्रदाय नी वाणी, मछाराम मोती, पूना, स० १९८९, पृ० १९४।

'चिंतामणि' नामक तीन वाणियाँ दो 'बारामासियाँ' 'गुरु महिमा' 'सिद्धांत ककहरो' तथा ये कुछ पद भी उल्लेखनीय है जिन्हें इन्होंने प्रीतमदास नरभेराम गोविंददास तथा मागर भगत के नाम लिखे है। इनके प्रमुख शिष्यों में से मोरार साहेब तथा लाल साहेब विशेष उल्लेख के योग्य हैं और इनकी बहुत-सी रचनाएँ भी हमें मिलती हैं। मोरार साहेब मारवाड़ प्रदेश के 'थराधना' स्थान के राजपूत थे। उन्होंने रवि साहेब की वाणी द्वारा प्रभावित हो जामनगर में आकर उनसे दीक्षा ली। इसके अनंतर उन्होंने खंभालिया की गद्दी पर बने रह कर संवत् १९ ५ में जीवित समाधि ले ली। इनकी रचनाओं में भी रवि साहब की भांति 'गुरु महिमा' 'चिंतामणि' तथा 'बारामासी' अधिक लोकप्रिय हैं और इन तीनों में से तीसरी दोनों से बड़ी है। मोरार साहेब के शिष्यों म चरणस्वामी वा चरणदास (मृ सं १९९९) बालाजी (मृ सं १९४२) होथी साहब (मुसलमान) वलजी साहेब तथा जीवा भगत के नाम अधिक प्रसिद्ध है। इन सभी की कुछ-न-कुछ रचनाएँ भी उपलब्ध है। रविराम साहेब के दूसरे प्रमुख शिष्य लाल साहेब के विषय में कुछ पता नहीं चलता किंतु इनकी कतिपय वाणियाँ अवश्य मिलती हैं। इसी प्रकार माण साहेब के पुत्र तथा द्वितीय प्रमुख शिष्य खीमदास के विषय में भी हमें यथेष्ट ज्ञान नहीं है। केवल इतना प्रसिद्ध है कि बाराही में रहते समय इनके दो पुत्र गंगाराम तथा मलकदास उत्पन्न हुए, फिर बाराही से ये थेरली चले गये। वहाँ से संवत् १८३७ मे वागड़देश के 'रापर' नामक गाँव में आकर इन्होंने अपनी गद्दी चलायी। वहाँ पर कुछ दिनों तक रहते हुए इन्होंने अंत में संवत् १८५७ में किसी समय जीवित समाधि भी ले ली। इन्हें कभी-कभी प्रसिद्ध दरियापीर का अवतार समझा जाता है। परन्तु इनकी रचनाएँ अधिक सख्या में नहीं मिलती। जो मिलती हैं वे भी या तो मात्र कुछ पदों के रूप में है अथवा प्रश्नोत्तरी-शैली में रची गई समझी जाती है। इनके एक शिष्य त्रिकम साहेब (मृ स १९५८) ने पीछे मोरार साहेब से भी दीक्षा ली थी। ये 'मरोडा' नामक अस्पृश्य जाति के थे। इन्होंने रापर मे आकर खीमसाहब से दीक्षा लेने के अनंतर अपनी गद्दी 'चित्रोड़' म स्थापित कर ली थी। इनके ११ पद और कुछ साखियाँ उपलब्ध है। श्री रावल के अनुसार त्रिकम साहेब के शिष्य भीम साहेब के शिष्य कोई जीवणदास हुए थे जो मध्य सौराष्ट्र देश के थे। ये जाति के चमार थे और सखीभाव के उपासक थे। इसीलिए इन्होंने अपना एक उपनाम 'दासी जीवण' रख लिया था। इनकी रचनाएँ सौराष्ट्र की ओर अधिक प्रचलित है और अपने मधुरोपासनापरक भाव की सुंदर अभिव्यक्ति के कारण ये कभी-कभी उधर प्रसिद्ध मीराँबाई

१ खीमदास (इनके पुत्र) तथा २ रविराम साहेब हुए। इन दोनो ने मिल कर उनके समाधि-स्थल पर एक देवालय का निर्माण कराया। इसके अनतर वहा पर फिर अन्य मदिर भी निर्मित हुए। भाण साहेब के सबध मे चर्चा करते समय श्री अनतराय रावल ने भी लिखा है कि ये 'कनखिलोड' के लोहाण थे। इन्होने माया का त्याग करके अपने 'भाण-फौज' के ४० शिष्यो सहित गुजरात-सौराष्ट्र में भ्रमण करते हुए उपदेश दिये थे।[१] कहते है कि इस भ्रमण काल में इन्हें अनेक प्रकार के कष्टो का भी सामना करना पडा था। परन्तु इनकी उपलब्ध रचनाओ की सख्या अधिक नही जान पडती। हमें इस समय इनकी 'वाणी' के अतर्गत केवल १४ पद, ३ साखियाँ तथा एक 'शकर हस्तामलसवाद' उपलब्ध होते है। 'भाण-फौज' नामकी एक रचना को भी इन्ही के नाम सगृहीत किया गया मिलता है। किंतु यह वास्तव मे किसी कृष्णदास की प्रतीत होती है।

भाण साहब के शिष्यो-प्रशिष्यो का व्यक्तिगत परिचय वस्तुत हमें उतना भी उपलब्ध नही जितना स्वय उनके विषय में ऊपर कहा गया है। किंतु इनमें से कुछ की रचनाएँ उनसे कही अधिक सख्या में पायी जाती हैं। रविराम साहेब के सबध में केवल इतना पता चलता है कि इनका जन्म सवत् १७८३ की माघ सुदी पूर्णिमा गुरुवार को गुजर देश के अतर्गत उसके कान्हम नामक प्रदेश के आमोद गाँव में हुआ था। ये पहले एक निगुण व्यापारी मात्र थे। सवत् १८०९ की माघ सुदी ११ को 'ववार पाडा' गाँव में इन्होने भाण साहेब से दीक्षा ग्रहण की थी। सवत् १८६० मे किसी समय शेरखी से थभालिया की ओर यात्रा करते समय इन्होने बीच ही बीकानेर में शरीर त्याग किया। रविराम साहेब का नाम 'रवि साहेब' तथा 'रविदास' के रूपो में भी प्रसिद्ध है। इनकी उपलब्ध रचनाओ की सख्या भी बहुत बडी है। इनका सबसे बडा उपलब्ध ग्रथ इनके दोहो का सग्रह अथवा 'साखी-सग्रह' है जो ७७ विविध अगो में विभाजित है। इनके पढने पर पता चलता है कि उनका विषय कुछ दृष्टियो से कई अन्य सतो की रचनाओ की अपेक्षा कही अधिक व्यापक होगा। इनके अन्य बडे ग्रथो में इनके 'मन सयम' का नाम ले सकते हैं जिसमें गयद तथा सर्वानद के सवाद के व्याज मे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। उसे कदाचित् इसी कारण बारबार 'ब्रह्मप्रकाश की टीका' कहा गया भी मिलता है। इनकी अन्य रचनाओ मे

---

१ **श्री अनतराय रावल : गुजराती साहित्य (मध्यकालीन) मेकमिलन कपनी लिमिटेड, मुबई, सन् १९५४ ई०, पृ० २११।**

जाता है। इस बात को भीखा साहब[1] गंगाराम[2] श्यामदास[3] आदि भी दोहराते हैं। अतएव इसके आधार पर यह अनुमान कर लेना अनुचित न होगा कि कबीर का ही मत इस सम्प्रदाय के अनुयायियों को भी मान्य है। तदनुसार भीखा साहब ने परमतत्त्व को सर्वत्र व्यापक होकर भी परोक्ष बना रहनेवाला बतलाया है।[4] इसी प्रकार संत रविदास साहब ने उसे 'बाहेर भीतर भीतर बाहर' सब कहीं वर्तमान रहनेवाले 'रमता राम' की संज्ञा दी है।[5] इनका कहना है कि 'राम ही राम' एक तत्त्व है जो तरु-स्वरूप है और अन्य कुछ उसके फूल तथा फल रूप हैं।[6] किंतु एक अखंड तथा अद्वैत रूप भी है और अकथनीय है। अन्यत्र ये इस प्रकार का भी कथन करते हैं 'मैं उस निर्गुण तथा सगुण दोनों ही रूपों में अपने हृदय के भीतर धारण करता हूँ। सद्गुरु के कथनानुसार उसका स्मरण किया करता हूँ तथा उसे 'राम' का नाम देता हूँ।'[8] इनके सद्गुरु भाव स्वयं आदि निरंजनदेव हैं।[10] 'गुरु तथा गोविंद को ये भिन्न नहीं मानते।[11] परन्तु इसके साथ ही ये इस राम को कहीं-कहीं महाराज दशरथ के पुत्र राम से अभिन्न ठहराते हुए भी दीख पड़ते हैं।[12]

इससे स्पष्ट है कि इनकी इस प्रकार की उक्ति कबीर साहब के मत से विपरीत जाती हुई भी जान पड़ती है। इन्होंने इसी प्रकार अपने कई पदों द्वारा श्रीकृष्णावतार की विविध लीलाओं का भी वर्णन किया है जिससे इनका अवतार वाद के प्रति अनुकूल भाव प्रकट होता है। फिर भी जहाँ तक इस सम्प्रदाय में

---

१ बानी पृ० २११। २ वही पृ० १६१। ३ वही पृ० १९५।
४ वही पृ० १४२ व १४६। ५ वही पृ० ८१।
६ 'रामही राम तरु तत्त्व एक फलही फूल केता अनेक।—वही पृ० ९।
७ वही पृ० ७२।
८ निरगुण सीरगुणरे बपर्म तो हृदये धर्युं।
सतगुर सकोरे, रामनु सुमरण कर्युं॥—वही पृ० ४७।
९ 'बानी' (भाग बीजो) पृ० ५७।
१० 'रवीदास सतगुर राम है और राम कोइ नाम'।१२
वही पृ० २२२।
११ 'राम एक अविनाश छेद दशरथ तन धर्या।
—रविभाण सम्प्रदायनी बानी। (भाग बीजो) पृ० १६४।
तथा 'अयोध्यापती रघुकुलतिलक रवीदास सोहू राम।
१२ वही पृ० २७०।

तक की कोटि मे गिने जाते हैं।[1] दासी जीवण के शिष्य प्रेम साहब हुए जिनके विसराम साहब हुए और फिर उनके भी शिष्य नथुराम हुए। परन्तु ऐसे किसी जीवणदास की कोई रचना हमें उपलब्ध नहीं हो सकी है। भीम साहब के पुत्र तथा शिष्य गंगाराम (मृ० सं० १९३१) की कतिपय रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं। इसी प्रकार मोरार साहब के शिष्य वालाजी तथा उनके भी शिष्य छोटालाल की भी मिलती हैं जिन्होंने अपने को एक स्थल पर 'छोटा दरजी' के रूप में भी प्रकट किया है। वालाजी का जीवन-काल इन्होंने ८२ वर्ष का दिया है। रविभाण-सम्प्रदाय के इन संतों की अधिकांश बानियाँ हिंदी में ही उपलब्ध हैं, किंतु उनमें सोरठी, गुजराती तथा राजस्थानी के पश्चिमी रूप का न्यूनाधिक सम्मिश्रण भी पाया जाता है। उसे विशुद्ध हिंदी ठहराना उतना उचित नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय इसके कई संतों की अपनी रचनाएँ गुजराती अथवा सोरठी में भी मिलती हैं और इन सभी की लिपि गुजराती की है।

सम्प्रदाय का मत

रविभाण-सम्प्रदाय के सर्वप्रमुख अग्रणी भाणसाहेब ने नामा भगत तथा कबीर नाम भगवान् के प्रिय भक्तो मे लिये हैं। किंतु रविसाहेब ने न केवल कबीर को कलियुग में संत-रूप धारण करके अवतरित होनेवाला स्वयं 'रमताराम' बतलाया है, अपितु इन्होंने उतना और भी कहा है।[2] इन्होंने इसी बात को इस रूप में भी प्रकट किया है, "मैं जब कभी एकांत चिंतन करने लगता हूँ तो अपने हृदय में सदा रामानंद तथा कबीर-जैसे संतो से परामर्श कर लेता हूँ।"[3] इन्होंने कहीं-कहीं अपने गुरु भाण साहेब का भी कबीर का समकक्ष होना स्वीकार किया है। दोनो को 'सद्गुरु' का पद प्रदान करते हुए उन्हें न केवल 'एक रूप', प्रत्युत 'अलेख' तक कह

---

१. सोरठी संतवाणी संपादक झवेरचंद मेघाणी, अहमदाबाद, १९४७ ई०, पृ० ४८।

२ रवीदास सो राहा ढुंढले, जीस राहा गये कबीर।
—रविभाण सम्प्रदायनी वाणी, भाग बीजो, सा० २३, पृ० २३४।
रवीदास उहा पहोचीया, ज्यां रामानंद कबीर।
—वही, सा० ११, पृ० २४६।
बुझत रवी कबीर के, बुझत कोउक संत।
रामनंद पे बुझीया, जबही मिल्या एकंत' ॥३॥
—वही, पृ० २५४।

३ 'रवीभाण कबीर जी, एक रूप अलेख', वही, पृ० २५३।

स्पष्ट शब्दों में "भाणदास सब काम कर, समरे राम कबीर"-जैसी उक्ति प्रकट करना[1] भी इसी बात का समर्थन करता है कि यह सम्प्रदाय संभवतः उस 'राम-कबीर-पंथ' से भिन्न न होगा। इसकी चर्चा कबीर-पंथी ग्रंथ 'अनुराग सागर' में "राम कबीर पंथ कर नाऊँ" कह कर की गई है[2] अथवा जिसे कबीर शिष्य कहे जानेवाले पद्मनाभ का पंथ ही ज्ञानीजी द्वारा प्रचलित किया गया भी बतलाया जाता है। एक गुजराती लेखक ने तो यहाँ तक कहा है कि भाण साहब रामकबीरी कंठी बाँध कर सौराष्ट्र में आये तथा उन्होंने वहाँ पर सर्वप्रथम कबीर-पंथ का प्रचार किया।[3] परन्तु इसके लिए हमारे पास अभी तक यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। जैसा हम अभी ऊपर कह आये हैं इसे हम अभी अधिक-से-अधिक उससे बहुत मिलता-जुलता मात्र ही कह सकते हैं। इसी प्रकार रवि साहेब की एक संज्ञा के 'रविदास' होने और तदनुसार इस सम्प्रदाय के नाम के 'रवि' शब्द से आरंभ होने के भी कारण इसका संबंध प्रसिद्ध संत रविदास वा रैदास जी के साथ जोड़ने की भी प्रवृत्ति दीख पड़ती है। परन्तु, जैसा इसकी गुरु-परंपरा द्वारा सिद्ध है उसमें इन संत रविदास के नाम का कहीं पता नहीं चलता[4] प्रत्युत उसे वहाँ पर स्वयं रविराम साहेब[5] तथा उनके एक प्रशिष्य चरणस्वामी[6] द्वारा 'रोहीदास' के रूप में प्रयुक्त भी देखा जाता है। इससे इसकी पुष्टि होती है कि इस सम्प्रदाय का उनसे भी कोई लगाव नहीं है। अतएव हो सकता है कि इसका आरंभ सर्वप्रथम स्वतंत्र रूप से ही हुआ हो। तदनंतर इसका साम्य अन्य पंथों वा सम्प्रदायों की अनेक बातों के साथ पाकर इसके अनुयायियों ने इसका संबंध उनके साथ जोड़ने का यत्न किया हो। इसके सिवाय ऐसा जान पड़ता है कि इसके अनुयायियों पर पीछे कुछ बाहरी प्रभाव भी पड़े होंगे जिनसे वैसी समानता को प्रश्रय मिला होगा। जहाँ तक इसमें सम्प्रदायिक साहित्य का प्रश्न है यह मुख्यतः कबीर-साहित्य का अनुसरण करता प्रतीत होता है। भाण साहेब की

---

१ गुजराती साहित्य १७७।
२ कबीर साहब का अनुराग सागर, बेलवेडियर प्रेस प्रयाग १९२७ई पृ ९१।
३ जयमल्ल परमार आपणी लोक संस्कृति अहमदाबाद १९५७ई पृ ११७।
४ वाणी परंपरा पृ २८५-८।
५ 'नामदेव कबीरजी, पीपा अरु रोहीदास— वाणी भाण बीजो, पृ २५२।
६ 'निपट देख रोहीदास जहाँ प्रभु आपे आये।
भक्त वत्सल भगवान पारस दीये देखाये ॥—वाणी पृ १२५।

विहित साधना का प्रश्न है, वह अधिकतर हठ-मत का ही अनुसरण करती प्रतीत होती है। भाण साहेब 'आपो आपमें अगट भाण'[1] को महत्त्व देते हैं तथा 'जोती में जोती मीलाया,'[2] का परिणाम घोषित करते हैं। इसी प्रकार रविराम साहेब भी 'भ्रमर गुफामा बीराजे हंस'[3] का वर्णन करते हैं तथा मोरार साहेब 'सुरत सोहागण की शुद्ध स्वरूप में स्थिति' की ओर संकेत करते हैं। इन दोनों में से प्रथम संत तो 'रूप की पुतली गई जल्ला, चमत्कार हीरने नारा' तक बतला कर आत्मलीनता का परिचय देते हैं। ऐसी दशा में जिस 'भक्ति-पदारथ' के 'गुरु प्रताप भानु की संगति' के कारण पाने का उल्लेख भाण साहेब करते हुए दीख पडते हैं[4] उसका रूप उस 'प्रेमाभक्ति' का ही हो सकता है। इसकी ओर संकेत करते हुए रवि साहेब ने भी कहा है इस सम्प्रदाय के किसी संत द्वारा ऐसी प्रेमाभक्ति का कोई विस्तृत परिचय दिया गया कहीं नहीं दीख पडता। किंतु इनके द्वारा किये गए स्वानुभूति विषयक वर्णनों तथा विभिन्न प्रासंगिक उल्लेखों के आधार पर वह कबीर साहब द्वारा प्रतिपादित 'नारदी भक्ति' से अधिक भिन्न रूप धारण करती नहीं प्रतीत होती। केवल इतना कह सकते हैं कि इस पर सगुण भक्ति का भी बहुत कुछ प्रभाव पडा है।[6]

मूल स्रोत और साहित्य

रविभाण-सम्प्रदाय के अनुयायी अधिकतर गुजरात, सौराष्ट्र तथा पश्चिमी राजस्थान के अंतर्गत पाये जाते हैं। उनके विषय में कभी-कभी इस प्रकार अनुमान करते सुना जाता है[7] कि वे वस्तुतः कबीर-पंथी होंगे। मोरार साहब के शिष्य दलु राम साहेब का अपनी गुरु-परंपरा के प्रथम पुरुष नीलकंठ दास का संबंध ऊपर की ओर जोडते समय उसे कम-से-कम कबीर साहब तक पहुँचा कर वहाँ 'रामकबीर' शब्द का प्रयोग करना[8] तथा इसी प्रकार लालदास साहब का

---

१ वाणी, पृ० ३४०। २ वही, पृ० ३४१।

३ वही, पृ० १३। ४ वही, पृ० २६३। ५ वही, पृ० ३४१।

६ 'जपतप तीरथी जोग जज्ञ व्रत, सुपने हरि न राचे।
प्रेम भक्ति पुरुषोत्तम रीझे, रविदास नेह साचे॥
वही, पृ० २०५।

७ श्री अनंत राय रावल ने तो इस सम्प्रदाय के संतों के नामों के आगे 'साहेब' शब्द जुड जाने मात्र से ही उन्हें कबीर-पंथी मान लिया है। उनका कहना—"आ सर्व संतो ना नामने अंते 'साहेब' शब्द लगाडाय छे जे बतावे छे के ए कबीर-पंथी हता।"—गुजराती साहित्य, पृ० २१०।

८ वाणी, पृ० २८६।

आत्मदास   रघुबरदास
(मृ सं १ ८७)
विश्रामदास (मृ सं १९९)

११ चरणदासी-सम्प्रदाय

आत्म-परिचय

संत चरणदास की जीवनी से संबद्ध कतिपय विवरणों के उल्लेख स्वयं इनकी तथा इनकी शिष्या सहजोबाई की रचनाओं में ही आ गए हैं। इनके शिष्यों में से रामरूप (गुरु भक्तानंद) शिवदयाल मौज (सरस माधुरी-सार) आदि ने इनका विस्तृत परिचय भी दिया है। अतएव उनके विषय में हमें किसी प्रकार का अनुमान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ज्ञानस्वरोदय' के अंत में एक छप्पय द्वारा इन्होंने स्पष्ट कहा है, "मेरा जन्म डेहरे में हुआ था और मेरा पूर्वनाम रणजीत रहा। मेरे पिता मुरली थे और मेरी जाति ढूसर की थी। मैं बाल्यावस्था में ही दिल्ली आ गया जहाँ घूमते समय शुकदेवजी के दर्शन हो गए और उन्होंने मेरा नाम चरणदास रख दिया"[1]। इसी प्रकार अपने एक दूसरे ग्रंथ 'भक्ति सागर' में ये इतना और भी कहते हैं, "सं १७८१ की चैत्र पूर्णिमा को सोमवार के दिन मैंने यह विचार किया कि कुछ ग्रंथों की रचना करनी चाहिए। यह निश्चय करके मैंने उसी दिन कुछ बानियाँ बना डालीं। फिर मैंने वैसी ही ५ बानियाँ लिखीं और गुरु के नाम की गंगा में उन्हें प्रवाहित किया। इसके पीछे मैंने ५ अन्य पद लिखे जिन्हें हरिनाम की अग्नि में जलाया। अंत में अपने गुरु की आज्ञा से जो तीसरी ५ रचनाएँ कीं उन्हें अपने साधुओं को दिया"[2]। इनकी शिष्या सहजोबाई ने भी अपनी रचना 'सहज प्रकाश' में इनके जन्म-काल का वर्णन किया है। इससे विदित होता है, 'इनका जन्म मेवात के अंतर्गत डेहरा नामक स्थान में सं १७६ की भाद्रपद शुक्ल तृतीया को मंगलवार के दिन सात घड़ी दिन चढ़ने पर हुआ था। इनके पिता मुरलीधर ढूसर या धूसर जाति के थे और इनकी माता का नाम कुंजो था। इनके गुरु शुकदेव थे जिन्होंने इनका नाम चरणदास

---

१ श्री भक्तिसागर ग्रंथ ज्ञानस्वरोदय नवल किशोर प्रेस, लखनऊ १९३१ ई पृ १५६।

२ वहीं पृ ५४।

चेतावनी परक रचनाएँ, रविसाहेब के साधक मनोवृत्ति पर आधारित पद तथा गुरुभक्ति-विषयक साखियाँ, मोरार साहेब की उपदेशात्मक पंक्तियाँ तथा भीम साहेब और त्रिकम साहेब के आत्मानुभूति परक भजन और जीवणदास की सखीभावपूर्ण रचनाएँ इस साहित्य के अंतर्गत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यों तो हम चरणस्वामी, लालदास और होथी साहब की बानियों को भी किसी प्रकार कम महत्त्व नहीं दे सकते, न इनके द्वारा इसकी श्रीवृद्धि का कम होना ही स्वीकार करते हैं।

साम्प्रदायिक वंशावली

नीलकंठदास (दुवरेज)
|
रघुनाथदास (दुवरेज)
|
जादवदास (दुवरेज)
|
षष्टमदास (दुवरेज) (सं० १६६८–१७८६)
|
लब्धरामदास (दुवरेज) | भाण साहेब (सं० १७५४-१८११) शापर ग्राम

भाण साहेब →
रविरामसाहेब (सं० १७८३-१८६०), (थमालिया) | खीमसाहेब (मृ० सं० १८५७) (शापर)

रविरामसाहेब →
लाल साहेब | मोरार साहेब (मृ० सं० १९०२) (थमालिया) | गंगाराम साहेब (मृ० सं० १९३१) (शापर) | त्रिकम साहेब (मृ० सं० १९५८)

मोरार साहेब →
दलुराम साहेब | होथीजी | जीवाभगत | बालाजीसाहेब (मृ० सं० १९४२) | चरणस्वामी (मृ० सं० १९३९) (थमालिया)

त्रिकम साहेब →
सुंदरदास | भीम साहेब

छोटाराम | (जैरामदास मृ० सं० १९५५) | मोहनदास मृ० सं० १९४६) | (जीवणदास

जैरामदास → रणछोडदास (मृ० सं० १९६४)

मोहनदास → अमरदास (मृ० सं० १९८७)

में ही किसी की प्रेरणा से योगाभ्यास की क्रियाएँ भी आरंभ कर दी थी। इनकी साधना व समय-समय पर निरंतर चौदह वर्षों तक करते रह गए। अंत में स्वरोदय के ज्ञान में ये अद्वितीय तक समझे जाने लग।[1] 'गुरुभक्ति प्रकाश' में इस प्रकार की बातें विस्तृत रूप में दी गई मिलती हैं।

संत चरणदास को उनकी आयु के उन्नीसवें वर्ष में दीक्षा मिली थी। कुक साहब ने लिखा है 'उन्नीस वर्ष की अवस्था में मुजफ्फरनगर के पास शूकरताल में बाबा सुखदेवदास द्वारा ये दीक्षित हुए थे। सुखदेवदास एक प्रसिद्ध साधु थे। उन्होंने इनका नाम भी रणजीत से बदल कर चरणदास रख दिया।'[2] परन्तु संत चरणदास की कुछ रचनाओं द्वारा प्रतीत होता है कि उक्त सुखदेव दास वास्तव में व्यासपुत्र श्री शुकदेव मुनि ही थे जिन्होंने राजा परीक्षित को 'श्रीमद्भागवत' की कथा सुनायी थी।[3] श्री शुकदेव मुनि का संत चरणदास के समय में आ उपस्थित होना केवल श्रद्धा या कल्पना के आधार पर ही माना जा सकता है। यह भी कदाचित् वैसी ही घटना है जो अलौकिक समझी जा सकती है, जैसी मीराँबाई तथा रैदास जी के संबंध म तथा गरीबदास अथवा धर्मदास और कबीर साहब के संबंध में सुनी जाती है। उक्त सुखदेवदास का एक दूसरा नाम सुखानंद भी मिलता है और कुछ लोगों ने उन्हें शूकरताल गाँव का निवासी भी माना है। शूकरताल को भी इसी प्रकार एक लेखक ने 'शुकतार' कहा है और उसकी स्थिति फिरोजपुर के सन्निकट बतलायी है किंतु इससे अधिक उसके विषय में नहीं दिया है। कहा जाता है कि अपने गुरु द्वारा दीक्षित हो जाने के अनंतर संत चरणदास ने प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों का पर्यटन आरंभ कर दिया और बहुत दिनों तक ब्रजमण्डल में निवास भी किया। ब्रजमण्डल में इन्हें 'श्रीमद्भागवत' ने अपनी ओर बहुत आकृष्ट किया और विशेषकर उसके एकादशवें स्कंध को उसी समय से इन्होंने अपना आदर्श ग्रंथ मान लिया। श्रीकृष्ण के प्रति इनकी दृढ़ भक्ति तथा इनकी भागवती मनोवृत्ति के कारण ही इनके अनुयायी इन्हें 'श्यामचरणदासाचार्य' भी कहा करते हैं।

अंतिम दिन

'गुरुभक्ति प्रकाश' में संत चरणदास की उन छह यात्राओं का विस्तृत विवरण

---

१ 'मुरक्कए अलवर', पृ० ८१ हिंदुस्तानी १९३९, पृ० ११३-४ पर उद्धृत।

२ कुक : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध भाग २ पृ० २१।

३ भक्तिसागर नवलकिशोर प्रेस लखनऊ पृ० ७९, १२३, ४९३, ५१८ आदि।

रखा था और इन्हें 'श्रीमद्भागवत' तथा ज्ञानयोग की शिक्षा दी थी[1]"। इस कारण चरणदास नाम के दो एक अन्य भक्तो के रहते हुए भी हमें इनके परिचय में कोई सदेह नही रह जाता। परन्तु मिश्र-बधुओ ने सत चरणदास को पहले पडितपुर का निवासी ब्राह्मण समझा था और पीछे जाकर यह धारणा अशुद्ध मानी गई। उनके भ्रम का कारग कदाचित् यह था कि मेवात के ढूसर अपने को आज भी 'वधूसर' भार्गव ब्राह्मण कहते हैं। उनका अनुमान है कि 'ढूसर' शब्द सभवत वधूसर का ही रूपातर है। फिर भी प्रसिद्ध है कि अकवर के सर्वप्रथम विरोधी हेमू को भी ढूसर कहा जाता था और कुछ इतिहासकारो ने उसे बक्काल भी लिखा है जो निश्चित रूप से बनिया जाति का बोधक है।

प्रारभिक जीवन

सत चरणदास के अनुयायियो द्वारा लिखित कुछ अन्य रचनाओ-जैसे रामरूप-कृत 'गुरु भक्ति प्रकाश' तथा सरसमाधुरी-रचित 'श्यामचरणदासाचार्य चरितामृत आदि से इतना और भी पता चलता है, "इनसे आठ पीढी पहले इनके पूर्वजो में कोई शोभन राय हुए थे जो श्रीकृष्ण के परम भक्त थे। उनके अनतर इनके पिता मुरलीधर का भी आध्यात्मिक जीवन कम सराहनीय न था। प्रसिद्ध है कि एक बार जब वे घर छोड कर किसी जगल में भजन करने गये थे, तब वही से वे कही गुप्त हो गए। घर वालो के बहुत खोज करने पर भी उनके केवल कुछ कपडे मात्र एक जगह रखे हुए मिल सके और कुछ पता न चला। श्रद्धालु व्यक्तियो में चर्चा होने लगी कि वे सदेह बैकुठ चले गए"[2]। इस घटना के अनतर इनके पितामह प्रयागदास इन्हें दिल्ली लाये और अपने यहाँ इनका पालन-पोषण कर उन्होने इन्हें सरकारी नौकरी के उपयुक्त बनाना चाहा। उस समय इनकी अवस्था केवल ५—७ वर्षों की थी और इनकी माता भी इनके सग में थी। पथ वालो में प्रसिद्ध है कि शुकदेवजी ने इन्हें अपने दर्शन डेहरा गाँव के पास रहनेवाली नदी के तट पर ही पहले-पहल दे दिये थे और इन्हें अपनी गोद में भी उठा लिया था। उस अल्प वय से ही इनका मन आध्यात्मिक बातो की ओर आकृष्ट होने लग गया था। इसी कारण इनके पितामह की उक्त योजना सफल न हो सकी। किसी-किसी का यह भी कहना है कि इन्होने अपने प्रारभिक जीवन

---

१ सहजो बाई की बानी, सहजप्रकाश, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग १९३० ई०, पृ० ५६-७ तथा १-२ गुरुभक्तिप्रकाश मे यह वर्णन और भी विस्तृत है।

२ 'कदाचित् उन्हे किसी बाघ ने मार डाला'। मिडोवल मिस्टिसिज्म, १९३० ई०, पृ० १४५।

में ही किसी की प्रेरणा से योगाभ्यास की क्रियाएँ भी आरंभ कर दी थी। इसको साधना में समय-समय पर निरंतर चौदह वर्षों तक करते रह गए। अंत में स्वरोदय के ज्ञान में ये अद्वितीय तक समझे जाने लगे।[1] 'गुरुभक्ति प्रकाश' में इस प्रकार की बातें विस्तृत रूप में दी गई मिलती हैं।

संत चरणदास को उनकी आयु के उन्नीसवें वर्ष में दीक्षा मिली थी। कक साहब ने लिखा है, 'उन्नीस वर्ष की अवस्था में मुजफ्फरनगर के पास शुकरताल में बाबा सुखदेवदास द्वारा ये दीक्षित हुए थे। सुखदेवदास एक प्रसिद्ध साधु थे। उन्होंने इनका नाम भी रणजीत से बदल कर चरणदास रख दिया।'[2] परन्तु संत चरणदास की कुछ रचनाओं द्वारा प्रतीत होता है कि उक्त सुखदेव दास वास्तव में व्यासपुत्र श्री शुकदेव मुनि ही थे जिन्होंने राजा परीक्षित को 'श्रीमद्‌भागवत' की कथा सुनायी थी।[3] श्री शुकदेव मुनि का संत चरणदास के समय में आ उपस्थित होना केवल श्रद्धा वा कल्पना के आधार पर ही माना जा सकता है। यह भी कदाचित् वैसी ही घटना है जो अलौकिक समझी जा सकती है, जैसी मीराँबाई तथा रैदास जी के संबंध में तथा गरीबदास अथवा धर्मदास और कबीर साहब के संबंध में सुनी जाती है। उक्त सुखदेवदास का एक दूसरा नाम सुखानंद भी मिलता है और कुछ लोगों ने उन्हें शुकरताल गाँव का निवासी भी माना है। शुकरताल को भी इसी प्रकार एन ऐटकिन्‌सन ने 'सुकतार' कहा है और उसकी स्थिति फिरोजपुर के सन्निकट बतलायी है किंतु इससे अधिक उसके विषय में नहीं दिया है। कहा जाता है कि अपने गुरु द्वारा दीक्षित हो जाने के अनंतर संत चरणदास ने प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों का पर्यटन आरंभ कर दिया और बहुत दिनों तक ब्रजमण्डल में निवास भी किया। ब्रजमण्डल ने इन्हें 'श्रीमद्‌भागवत्' ने अपनी ओर बहुत आकृष्ट किया और विशेषकर उसके एकादशवें स्कंध को उसी समय से इन्होंने अपना आदर्श ग्रंथ मान लिया। श्रीकृष्ण के प्रति इनकी दृढ़ भक्ति तथा इनकी मानवती मनोवृत्ति के कारण ही इनके अनुयायी इन्हें 'श्यामचरणदासाचार्य' भी कहा करते हैं।

अंतिम दिन

'गुरुभक्ति प्रकाश' में संत चरणदास की उन दिनों यात्राओं का विस्तृत विवरण

---

1 'मुरक्कए असरार, पृ० ८१, हिंदुस्तानी १९३९, पृ० ११३-४ पर उद्धृत।

2 कक : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध भाग २ पृ० २१।

3 भक्तिसागर, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ पृ० ७९, १२१ ४९१ ५१८ आदि।

दिया गया मिलता है जिन्हें इन्होंने समय-समय पर की थी। किंतु उन सभी की ठीक-ठीक तिथियों अथवा संवतों तक का भी पता नहीं चलता। इतना कहा जाता है कि देश-भ्रमण से विरत होने पर ये दिल्ली नगर में रहने लगे। उस समय इनका ३०वाँ वर्ष था और ये अपना आध्यात्मिक मार्ग भी निर्धारित कर चुके थे। अतएव इन्होंने प्राय तभी से अपने मत का प्रचार भी आरंभ कर दिया। यह भी कहा जाता है कि संभवत सं० १७९५ में किसी समय इन्होंने सम्प्रदाय की स्थापना भी कर डाली।[1] जहाँ पर ये उन दिनों रहा करते थे, वहाँ आजकल श्री जी का एक मंदिर वर्तमान है। दिल्ली में ही इनका वह स्थान भी बतलाया जाता है, जहाँ इन्होंने १४ वर्षों तक योगाभ्यास किया था और उसे इनका 'समाधि-स्थान' कहा जाता है। इन्होंने अपने मत के प्रचार में अपने शेष जीवन के लगभग ५० वर्ष व्यतीत किये। अंत में अगहन सुदी ३ वा ४ सं० १८३९ को इनका वहीं रहते हुए देहांत हो गया। दिल्ली में इनके मृत्यु-स्थान पर एक समाधि बनी हुई है। इनके जन्म-स्थान डेहरा में भी इनकी एक छतरी बनी हुई है, जहाँ पर इनकी माला, वस्त्र तथा टोपी सुरक्षित हैं। उसी के निकट बने हुए मंदिर में इनके चरण-चिह्न भी बने हुए है, जहाँ प्रति वर्ष बसंत पंचमी के दिन एक मेला लगा करता है और सम्प्रदाय के अनुयायी अच्छी संख्या में उपस्थित होते हैं।

शिष्य-परंपरा तथा साहित्य

संत चरणदास के मुख्य शिष्यों की संख्या ५२ बतलायी जाती है। इसी के अनुसार 'चरणदासी-सम्प्रदाय' की ५२ शाखाएँ भी प्रसिद्ध हैं। किंतु रूपमाधुरी शरण की रचना 'गुरु महिमा' के आधार पर इनके ३१ अन्य शिष्यों की चर्चा भी की जाती है। इनकी मृत्यु के अनंतर इनकी दिल्ली वाली गद्दी के प्रधान महंत मुक्तानंद बने और यही शाखा सर्वप्रधान बन गई। इनके अन्य शिष्यों में रामरूप ने अपने गुरु की जीवन-लीला का वर्णन अपने ग्रंथ 'गुरुभक्ति प्रकाश' (रचना-काल सं० १८२६) में किया है। उनके शिष्य रामसनेह भी एक योग्य और सफल साधक बतलाये गए हैं। संत चरणदास की जीवनी लिखनेवाले एक अन्य शिष्य जोगजीत का भी नाम लिया जाता है। परन्तु इनके शिष्यों में सबसे विख्यात इनकी दो शिष्याएँ हुईं जिनमें से एक का नाम सहजोबाई था

---

१ मुनिकांति सागर जी ने इस सम्प्रदाय के उद्भव का लगभग वि० सं० १८३६ में होना बतलाया है। दे० भारतीय साहित्य, आगरा, जनवरी सन् १९५६ ई०, पृ० ८५।

और दूसरी दयाबाई के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों ही गुरु-बहनों का जन्म स्थान उपयुक्त डेहरा गाँव बतलाया जाता है। कहा जाता है कि ये दोनों अपने गुरु की सजातीया थीं तथा उनके साथ रहती भी थी। इन दोनों में से सहजोबाई का जीवन-काल सं १७४ १८२० कहा गया है किंतु इनके जन्म या मरण की तिथियाँ अज्ञात हैं। केवल इतना पता चलता है ये किसी हरिप्रसाद की पुत्री थी। अपने जीवन भर ये अविवाहिता और ब्रह्मचारिणी बनी रह गई। सं १८ की फागुन सुदी ८ बुधवार के दिन इन्होंने अपनी रचना 'सहज प्रकाश' को समाप्त किया। दयाबाई के लिए भी कहा जाता है कि इन्होंने सं १७५ से लेकर सं० १७७५ तक सत्संग किया था। इसके अनंतर एकांत सेवन करने लगी थी। इनकी मृत्यु कदाचित् सं १८३ में हुई[1] जिसके पहले स १८१८ की चैत सुदी ७ को ये अपना ग्रंथ 'दयाबोध' लिख चुकी थी। इन रचनाओं के अतिरिक्त सहजोबाई की दो अन्य रचनाएँ क्रमशः 'शब्द' तथा 'सोलह तत्त्व निर्णय' के नामों से प्रसिद्ध है। दयाबाई की भी एक रचना 'विनय मालिका' बतलायी जाती है। संत चरनदास की ही शिष्य-परंपरा के शिवव्रतलाल (सरस माधुरी शरण) ने सं १९७२ में 'श्यामचरणदासाचार्य चरितामृत' की रचना की है। इधर की खोजो में इनके कतिपय अन्य शिष्यों प्रशिष्यों तथा उनकी रचनाओं का भी पता चला है। संभवत: भक्कर के निवासी विप्र नागरीदास की रचना 'श्रीमद्भागवत' का छंदोबद्ध हिंदी-अनुवाद गुरु जोगजीत महाराज की 'पट्टन्यमक्त गुरु चेले की गोष्ट' जो प्रश्नोत्तर के रूप में है। इनकी १७ फुटकर बानियाँ तथा इनके शिष्य भक्तीराम की रचनाएँ 'भक्तिसार' (सं १८ ८) 'विचार चरित्र' (स १८१) 'ज्ञानलीला' (सं १८११) भगत महातम (सं १८४) 'वैदबोध' (स १८५) ग्यान समूह' तथा 'शब्द' नाम से उपलब्ध है। इसी प्रकार इनके एक अन्य शिष्य हीरादास की भी अनेक फुटकर रचनाएँ मिलती है। इसके सिवाय भक्तीराम के शिष्य चैतराम का 'चरण चरित्र' और उनकी शिष्या बाई खुसाला की रचना 'नरसी जी को मायरो' 'बुधिविलास' तथा बन बेगम का 'सुदामा चरित्र' भी उल्लेखनीय है जो वास्तव में स्वयं जोगजीत की ही शिष्या बतलायी गई हैं।[2] चरनदासियो में प्रसिद्ध है कि संत चरनदास का समकालीन मुहम्मदशाह भी इनका परम भक्त हो गया था। इन्होंने उसे नादिरशाह की प्रसिद्ध चढ़ाई की सूचना उस घटना से छह महीने

---

१ संतबानी पृ २११।

२ सम्मेलन पत्रिका त्रैमासिक प्रयाग भा ४१ सं ४ पृ ११३।

दिया गया मिलता है जिन्हें इन्होने समय-समय पर की थी। किंतु उन सभी की ठीक-ठीक तिथियों अथवा मवतो तक का भी पता नही चलता। इतना कहा जाता है कि देश-भ्रमण मे विरत होने पर ये दिल्ली नगर मे रहने लगे। उस समय इनका ३०वाँ वर्ष था और ये अपना आध्यात्मिक मार्ग भी निर्धारित कर चुके थे। अतएव इन्होंने प्राय तभी से अपने मत का प्रचार भी आरभ कर दिया। यह भी कहा जाता है कि सभवत स० १७९५ मे किसी समय इन्होने सम्प्रदाय की स्थापना भी कर डाली।[1] जहाँ पर ये उन दिनो रहा करते थे, वहाँ आजकल श्री जी का एक मदिर वर्तमान है। दिल्ली में ही इनका वह स्थान भी वतलाया जाता है, जहाँ इन्होने १४ वर्षों तक योगाभ्यास किया था और उसे इनका 'समाधि-स्थान' कहा जाता है। इन्होंने अपने मत के प्रचार मे अपने शेष जीवन के लगभग ५० वर्ष व्यतीत किये। अत में अगहन सुदी ३ वा ४ स० १८३९ को इनका वही रहते हुए देहात हो गया। दिल्ली मे इनके मृत्यु-स्थान पर एक समाधि वनी हुई है। इनके जन्म-स्थान डेहरा में भी इनकी एक छतरी वनी हुई है, जहाँ पर इनकी माला, वस्त्र तथा टोपी सुरक्षित है। उसी के निकट वने हुए मदिर मे इनके चरण-चिह्न भी वने हुए है, जहाँ प्रति वर्ष वसत पचमी के दिन एक मेला लगा करता है और सम्प्रदाय के अनुयायी अच्छी सख्या मे उपस्थित होते है।

शिष्य-परपरा तथा साहित्य

सत चरणदास के मुख्य शिष्यो की सख्या ५२ वतलायी जाती है। इसी के अनुसार 'चरणदासी-सम्प्रदाय' की ५२ शाखाएं भी प्रसिद्ध हैं। किंतु रूपमाधुरी शरण की रचना 'गुरु महिमा' के आधार पर इनके ३१ अन्य शिष्यो की चर्चा भी की जाती है। इनकी मृत्यु के अनतर इनकी दिल्ली वाली गद्दी के प्रधान महत मुक्तानद वने और यही शाखा सर्वप्रधान वन गई। इनके अन्य शिष्यो मे रामरूप ने अपने गुरु की जीवन-लीला का वर्णन अपने ग्रथ 'गुरुभक्ति प्रकाश' (रचना-काल स० १८२६) मे किया है। उनके शिष्य रामसनेह भी एक योग्य और सफल साधक वतलाये गए हैं। सत चरणदास की जीवनी लिखनेवाले एक अन्य शिष्य जोगजीत का भी नाम लिया जाता है। परन्तु इनके शिष्यो मे सवसे विख्यात इनकी दो शिष्याएँ हुई जिनमे से एक का नाम सहजोवाई था

१ मुनिकाति सागर जी ने इस सम्प्रदाय के उद्भव का लगभग वि० स० १८३६ में होना बतलाया है। दे० भारतीय साहित्य, आगरा, जनवरी सन् १९५६ ई०, पृ० ८५।

(१०) 'ब्रह्मज्ञान सागर' जिसमें त्रिगुण की व्याख्या तथा जीव मायादि का वर्णन ब्रह्म-ज्ञान के अनुसार किया गया है

(११) 'सब्द' जो अपने संग्रह का सबसे बड़ा ग्रंथ है ब्रह्म ज्ञान योग भक्ति आदि विषयों से संबद्ध है, और

(१२) 'भक्तिसागर' जिसका रचना-काल चैत सुदी १५ सोमवार सं १७८१ दिया है। परन्तु यह काल वास्तव में संत चरणदास के ग्रंथ-प्रणयन का प्रथम दिवस जान पड़ता है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

संत चरणदासकृत समझी जानेवाली अन्य रचनाओं में 'जागरणमाहात्म्य' 'दानलीला' 'मटकी लीला' 'कालीनाथलीला' 'श्रीधर ब्राह्मणलीला' तथा 'माखनचोरी लीला' 'श्रीमद्भागवत्' से संबद्ध हैं। 'कुरुक्षेत्र लीला' में कृष्ण का नंदादि के साथ पुनर्मिलन दिखलाया है। 'नासकेत लीला' 'नासिकेतपुराण' के आधार पर निर्मित रचना है और 'कवित्त' में विविध विषयों का समावेश है।

उनके विषय

संत चरणदास की रचनाओं की ऊपर दी हुई सूची से स्पष्ट जान पड़ता है कि उनके विषय तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। इनमें से एक का संबंध योग-साधना से दूसरे का भक्ति से तथा तीसरे का ब्रह्म ज्ञान से है। उन्होंने इन तीनों ही प्रधान विषयों को प्रायः समान भाव के साथ अपनाया है और उसी प्रकार उक्त ग्रंथों में इनकी चर्चा भी की है। फिर भी कुछ लेखकों ने चरणदासी-सम्प्रदाय के संबंध में लिखते हुए इसे नाथ का ही पंथ माना है। उदाहरण के लिए रामदास गौड़ ने अपने 'हिंदुत्व' नामक ग्रंथ में इसे योगमत के ही अंतर्गत रखा है। उन्होंने कहा है "नाथ-सम्प्रदाय जैसे शैव समझा जाता है वैसे ही चरणदासी-पंथ वैष्णव समझा जाता है। परन्तु इनका मुख्य साधन हठयोग-सवलित राजयोग है। उपासना में ये राधाकृष्ण की भक्ति करते हैं, परन्तु योग की मुख्यता होने से हम इसे योगमत का ही एक पंथ मानते हैं।"[1] इसी प्रकार प्रोफेसर विल्सन-जैसे कुछ विद्वानों की धारणा ऐसी जान पड़ती है "वास्तव में यह एक वैष्णव-पंथ है जो गोकुलस्थ गोस्वामियों के प्रभुत्व को हटाने के लिए पहले-पहल चलाया गया था और इस बात के अवशेष चिह्न आज भी लक्षित होते हैं।"[2] परन्तु चरणदासी-सम्प्रदाय को केवल योग-मत का अनुयायी अथवा किसी किसी शुद्ध वैष्णव-मत का ही प्रचारक मात्र मान लेना तबतक उचित नहीं कहा जा सकता जबतक इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिये

१ रामदास गौड़ हिंदुत्व ज्ञानमंडल कार्यालय, काशी पृ ७ ७।

२ विल्सन रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिंदूज पृ १७५।

पहले ही दे दी थी जिससे प्रसन्न होकर उसने इन्हे सहस्रो गाँव भेट किये थे । इसके साथ ही इतना और भी वतलाया जाता है कि नादिरशाह के कर्मचारियो ने इन्हें पकड कर वदी भी वना लिया था। परन्तु इन वातो की तथा इनके वदीगृह से अपने चमत्कार द्वारा निकल आने आदि घटनाओ के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलव्ध नही है ।

रचनाएँ

स्वय सत चरणदास की रचनाओ की सख्या कम-से-कम २१ वतलायी गई हैं और उनके सग्रह प्रकाशित भी हो चुके है । इनके १५ ग्रथो का एक सग्रह ववई के 'श्री वेंकटेश्वर प्रेस' ने अपने यहाँ से निकाला है । इसी प्रकार लखनऊ के 'नवलकिशोर प्रेस' ने भी इनके २१ ग्रथो का एक सग्रह प्रकाशित किया है । इनमें से निम्नलिखित १२ ग्रथो के सत चरणदासकृत होने मे सदेह नही जान पडता और इन्हें प्राय सभी ने प्रामाणिक भी माना है

(१) 'व्रजचरित्र' वा व्रजचरित वर्णन जिसमें 'वाराहसहिता' के आधार पर श्रीकृष्ण तथा व्रजमडल-सवधी दिव्य तथा अलौकिक वातो का साकेतिक वर्णन किया गया है,

(२) 'अमरलोक अखड धाम वर्णन' जिसमें दिव्य गोलोकधाम तथा दिव्य प्रेम सवधी अलौकिक वातो का वर्णन है। इसके अतर्गत किये गए वर्णन प्राय उसी ढग के है, जैसे सत शिवनारायण के 'सतदेश' आदि ग्रथो मे पाये जाते हैं ,

(३) 'धर्मजहाज वर्णन' जिसमे कर्मवाद की व्याख्या के साथ-साथ करनी का महत्त्व भी वतलाया गया है ,

(४) 'अष्टाग योग वर्णन' जिसमें गुरु-शिष्य-सवाद के रूप में योग के विविध अगो का मुद्रादि के साथ वर्णन किया गया है,

(५) 'योगसदेह सागर' एक छोटा-सा ग्रथ है जिसमें पिंड, नाडी आदि जैसी वातो के विषय में प्रश्नावली प्रस्तुत की गई है ,

(६) 'ज्ञानस्वरोदय' जिसमें योग-क्रिया के श्वास-विभाग-विषयक तत्त्व तथा माहात्म्य का वर्णन है और कुछ आत्म-परिचय भी अत मे दिया गया है,

(७) 'पचोपनिषत्' जिसमें 'हसनाथोपनिषत्', सर्वोपनिषत्', 'तत्त्व-योगोपनिषत्', 'योगशिखोपनिषत्' तथा 'तेजोविंदोपनिषत्' के पद्यमय अनुवाद हैं,

(८) 'भक्तिपदार्थ-वर्णन' जिसमें गुरु, मन, मायादि के प्रसगो के साथ-साथ हरिभक्ति तथा सत्सग का माहात्म्य वतलाया है और पाखड की निंदा की गई है,

(९) 'मनविकृतकरण गुटकासार' जिसमें 'श्रीमद्भागवत' (११ वें स्कध) के आधार पर दत्तात्रेय की वैराग्यपरक कथा दी गई है,

एकरस बनी रहती है तो उसे ज्ञान-समाधि का नाम देते हैं। इन तीनों की अंतिम स्थिति प्रायः एक-सी है। इनमें जो भेद लक्षित होता है, वह उस ओर अग्रसर होते समय की प्रक्रियाओं की विभिन्नताएँ हैं।

भक्ति-योग

संत चरणदास ने भक्ति-योग के संबंध में जिन मथुरा, वृन्दावन तथा गोवर्धन के वर्णन किये हैं वे सभी किसी 'अलौकिक धाम' की वस्तुएँ हैं। ये कहते हैं कि वह मथुरामंडल हमारी चर्म चक्षुओं से दीख पड़ने योग्य नहीं वह तो बिना दिव्य दृष्टि के वह किसी को दिखलायी नहीं पड़ सकता।[1] अमरलोक के परिचय से प्रतीत होता है कि ये उसे कोई भौतिक रूप देना नहीं चाहते।[2] वह संतों की एक अनिर्वचनीय स्थिति है जिसे उन्होंने बहुधा अन्य नामों से भी अभिहित किया है। उसके भौतिक रूप का जो कुछ वर्णन सरकारी वृन्दों की भाँति किया गया मिलता है, वह निरा काल्पनिक है। उसका महत्त्व सर्वसाधारण की स्थूल बुद्धि को आकृष्ट करने में ही हो सकता है।

सदाचरण

संत चरणदास ने अपनी रचनाओं द्वारा निष्काम प्रेमाभक्ति का प्रतिपादन किया है और सामाजिक व्यवहार में सदा सच्चरित्रता का समर्थन किया है। नैतिक शुद्धता के साथ जीवन-यापन करने का उपदेश इन्होंने सर्वत्र दिया है। इसीलिए इनके पंथ को चरित्र प्रधान भी कह सकते हैं। इन्होंने जिन बातों को त्याग देने के लिए विशेष आग्रह किया है वे असत्य-भाषण अपमान्य-वचन कठोर वचन वितंडावाद चोरी परस्त्री-गमन हिंसा परहानि-चिंतन वैर तथा विषयों के प्रति अधिक आसक्ति है। इन्होंने जिन बातों को अपनाने का परामर्श दिया है वे अपने परिवार के प्रति कर्तव्य समाज-सेवा सत्संग सद्गुरुभक्ति तथा परमात्मा

१ 'मथुरामंडल परगट नाहीं। परगट है सो मथुरा नाहीं ॥
मथुरामंडल यही कहावै। दिव्य दृष्टि बिन दृष्टि न आवै ॥
'दिव्य वृन्दावन दिव्य कालिन्दी। देखै सो चीन्हे मन इन्दी।
तथा 'वृन्दावन सोइ देखिहै जिन देखो हरिरूप।
दुर्लभ देखन को भयो महाभूप सो भूप ॥
२ 'अमरलोक तिहु लोक सों न्यारो। मथुरामंडल अंश विचारो ॥
अमरलोक निज है निज धामा। तासु अंश वृन्दावन नामा ॥
तथा 'महा अगोचर गुप्त सो गुप्ता। जहाँ विराजत हैं सर्वज्ञता ॥
अमरलोक निज लोक कहावै। चौथा पद निर्वाण बतावै ॥
अमरपुरी बेगमपुर ठाऊं। जहाँ बुद्धि तो सम्पति नाऊं ॥

जाते। सत चरणदास का मत वास्तव में उक्त तीनो बातो का समन्वय है और उसके सच्चे अनुयायी भी इसे कदाचित् इसी रूप में मानते हैं। सत चरणदास ने गो स्वय भी एक स्थल पर स्पष्ट शब्दो में कह दिया है, "अपने गुरु शुकदेवजी से मिलने के अनतर उनके उपदेश द्वारा मैंने योग-युक्ति की साधना की, हरिभक्ति को अपनाया और तब ब्रह्म-ज्ञान का दृढतापूर्वक अनुभव करने लगा। मैंने आत्म-तत्त्व पर विचार किया और अत में मेरा मन अजपाजाप की अबाध गति से चलनेवाली क्रिया में विलीन हो गया।"[1] इन्होने अपने मन को 'शुकदेवानुमोदित भागवत' मत भी कहा है। परन्तु इस सबध में यह भी कहा जाता है, "दार्शनिक तया पूजोपासना के विविध आडबरो पर दृष्टि केन्द्रित करने से ज्ञात होता है कि भले ही अशत यह परपरा कबीर का अनुसरण करती हो, किंतु वस्तुत यह निंबार्क सम्प्रदाय के अधिक निकट है।"[2]

योग-साधना

योग-युक्ति की साधना बतलाते समय इन्होने सर्वप्रथम उसके प्रति कौतूहल जागृत करने के लिए कतिपय प्रश्न उठाये हैं, जिससे सर्वसाधारण का ध्यान उक्त विषय की ओर आकृष्ट हो और उसमें रुचि की वृद्धि भी हो। तदनतर इन्होने पिंड के अतर्गत निर्मित विविध नाडियो तथा अन्य रहस्यमयी बातो की चर्चा की है। उनके महत्त्व के क्रमश पालन द्वारा उन्हे व्यवस्थित कर उन्हें व्यवस्थित रखने का परामर्श दिया है। इन्होने फिर हठयोग के प्रसिद्ध षट्कर्म अर्थात् नेती, धोती, बस्ती, गजकर्म, न्योली तथा त्राटक का परिचय दिया है। साथ ही उस अष्टागयोग का भी वर्णन किया है, जो क्रमश यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के साथ सबद्ध है। उसके अतिम अग अर्थात् समाधि के भी इन्होने तीन रूप माने हैं और उन्हें भक्ति-समाधि, योग-समाधि तथा ज्ञान-समाधि के नाम दिये है। इनका कहना है कि जब ध्याता ध्यान में लीन हो जाता है, ध्यान का ध्येय में लय हो जाता है और सुरति बुद्धि से परे रहती है, उस दशा में भक्ति-योग की दशा आती है। जब षट्चक्र का भेदन हो जाने पर शरीर चेतना-शून्य हो जाता है और सुरति नाद में लीन हो क्रिया-शून्य बन जाती है, तब योग-समाधि लगती है। जब ज्ञान, ज्ञाता तथा ज्ञेय की त्रिपुटी नष्ट हो जाती है और आत्मानुभूति की दशा

---

१ 'योगयुक्ति, हरिभक्ति करि, ब्रह्मज्ञान दृढ करि गह्यो।
आतम तत्व विचारि कै, अजपा मे सनि मन रह्यो॥'
—भक्तिसागर-ज्ञानस्वरोदय, १९३१ ई०, पृ० १५६।

२ श्रीमुनि कातिसागर, सम्मेलन पत्रिका, भा० ४१ स० ४, पृ० १-३।

इन्होंने अपने ग्रंथ 'सहजप्रकाश' की रचना का कारण बतलाया[1] है। सहजोबाई के गुरु-भाई रामरूप स्वामी ने तो अपना नाम ही 'गुरुभक्तानंद' रख लिया था। उनकी रचना 'मुक्तिमार्ग' का एक अन्य नाम 'गुरुभक्तिप्रकाश' भी है। रामरूप स्वामी जाति के गौड़ ब्राह्मण थे और उनकी माता का देहांत उनके जन्म से तीन महीने के भीतर ही हो गया था। उनके पिता महाराम ने उनके पालन-पोषण का भार नहीं उठाया। एक स्त्री की देखरेख में उनका बालपन बीता। अंत में सं० १८११ सन् १७५४ ई० में उन्होंने संत चरणदास से दीक्षा ग्रहण की और इनके परमप्रिय शिष्य हो गए।

प्रचार-क्षेत्र

चरणदासी-सम्प्रदाय का अधिक प्रचार दिल्ली प्रांत उत्तरप्रदेश पूर्वी पंजाब तथा राजस्थान में पाया जाता है। चरणदास के प्रसिद्ध ५२ शिष्यों के ५२ मठों का भौगोलिक परिचय प्राप्त नहीं है। अनेक स्थानों पर इस पंथ के अनुयायी वैष्णवों में हिलमिल-से गए हैं। पंथ के मूल प्रवर्त्तक की समन्वयात्मिका बुद्धि उनका समतानुमोदित आदर्श तथा सदाचरण की योजना के प्रभाव अब उनके अनुयायियों में कम लक्षित होते हैं। वाणिज्य-व्यापार द्वारा उपार्जित ऐश्वर्य के कारण ये लोग कहीं-कहीं बाह्याडंबर के प्रेमी भी बन गए हैं। संत चरणदास ने अपनी रचनाओं में अपरिग्रह के महत्त्व पर बड़ा जोर दिया था। उन्होंने कहा था कि सच्चे भक्त के मार्ग में धनराशि के संचय जैसा अन्य रोड़ा नहीं हो सकता। परन्तु ये बातें इस समय केवल ग्रंथों में ही पायी जाती हैं इनके अनुरूप आचरण के उदाहरण प्रायः नहीं के बराबर मिलते हैं।

१२ गरीब-पंथ

संक्षिप्त परिचय

पूर्वी पंजाब विशेषकर उसका दक्षिणी भाग और दिल्ली का प्रांत संत-परंपरा के अनेक पंथों तथा सम्प्रदायों के पुनीत क्षेत्र रहते आए हैं। लाल-पंथ साध-सम्प्रदाय नारायणी-सम्प्रदाय चरणदासी-सम्प्रदाय बावरी-पंथ तथा गरीब-पंथ इसी भूभाग के अन्तर्गत या आसपास स्थापित होकर प्रचलित हुए थे। दिल्ली अलवर, नारनौल बिजसर तथा रोहतक इनके प्रायः मौ प्रधान केन्द्र माने जाते हैं। इनमें से उक्त अंतिम का गरीब-पंथ के प्रवर्त्तक संत गरीबदास रोहतक जिले की

---

१ 'मन मरगुन में करन' बाढ़यी अधिक हुलास।
होते होते ह्वै गई पोथी सहजप्रकास'॥
—सहजप्रकाश बेलवेडियर प्रेस प्रयाग, सन् १९३१ ई० पृ० ४५।

के प्रति दृढ अनुराग है। इनका कहना है कि सारा विश्व ब्रह्ममय है, अतएव किसी भी एक पदार्थ को पूज्य समझना और अन्य के प्रति उपेक्षा की दृष्टि डालना उचित नही। साधना के सर्वोच्च अग चित्त-शुद्धि तथा सद्व्यवहार हैं और प्रेम तथा श्रद्धा उनके आधार-स्वरूप हैं। इन प्रेम तथा श्रद्धा को भी कथनी न मान कर इन्हें सच्ची करनी में परिणत कर देना सबसे अधिक आवश्यक है। किसी सद्भावना के परखने की कसौटी उसके अनुकूल व्यवहार ही हो सकता है, अन्य प्रकार से उसकी सत्यता का परिचय पाना अत्यत कठिन है। इनके पथ मे सद्ग्रथो से लेकर सगृहीत किये हुए नियमो की तालिकाएँ भी प्रचलित हैं। इनके अनुसार चलना प्रत्येक अनुयायी का कर्त्तव्य समझा जाता है। ऐसे नियमो मे गिनाये जानेवाले ४२ कर्त्तव्य सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। सत चरणदास ने कर्मवाद को भी अधिक महत्त्व दिया है। उन्होने कहा है कि कर्म के प्रभाव से हम अपने को कभी स्वतत्र नही कर सकते। इनके सम्प्रदाय में भिक्षा-वृत्ति गर्हित है।

अनुयायी

चरणदासी-सम्प्रदाय के अनुयायी विरक्त तथा ससारी दोनो ही प्रकार के होते हैं। विरक्त बहुधा पीत वस्त्र पहनते हैं, गोपीचदन का एक लबा तिलक ललाट पर धारण करते है। तुलसी की माला और सुमिरनी भी अपने पास रखा करते है। इनकी टोपी छोटी तथा नुकीली होती है जिस पर पीला साफा भी ये बाँध लिया करते है। धनी-अमीर चरणदासी गृहस्थो के यहाँ जाकर उनसे सेवा-सत्कार कराया करते हैं। इस पथ के अनेक मठ यत्र-तत्र मिलते हैं जिनका व्यय-भार चलाने के लिए मुगल-बादशाहो के समय से उन्हें कुछ-न-कुछ भूमि मिली है। पथ के अनुयायी 'श्रीमद्भागवत' को बडी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। उनका अनुराग श्रीकृष्ण तथा उनकी लीलाओ के प्रति उनकी कथाओ और कीर्त्तनो द्वारा प्रकट किया जाता है। सत चरणदास की रचनाओ मे श्रीकृष्ण की विविध लीलाओ के वर्णन भी पाये जाते हैं जो अधिकतर सगुणोपासक भक्तो के ही ढग के हैं। इस पथ वालो की अपने गुरु के प्रति दृढ भक्ति और उनका देव-तुल्य सम्मान तथा पूजन भी एक विशेषता है। सत चरणदास ने जो असीम श्रद्धा अपने गुरु शुकदेव के प्रति दरसायी है, उससे कही अधिक स्वय उनके प्रति उनके भिन्न-भिन्न शिष्यो की भी देखने में आती है। सहजो बाई ने अपने गुरु को हरि से भी बडा माना है और "राम तजू पै गुरु न विसारू। गुरु के सम हरि को न निहारू।"[1] जैसी अनेक पक्तियो द्वारा अपने भाव प्रकट किये हैं।

---

1 सहजप्रकाश, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९३० ई०, पृ० ३।

लग २४० थी। इनमें से केवल १७० इनकी तथा शेष कबीर साहब की रचनाएँ थीं। इनके पदों तथा साखियों में से कुछ का एक संग्रह बेलवेडियर प्रेस प्रयाग द्वारा 'गरीबदासजी की बानी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। परन्तु इनकी सारी ऐसी रचनाओं का एक अन्य बृहत् संग्रह 'ग्रंथ साहिब' के नाम से भी निकल चुका है जिसके प्रथम 'विभाग' में इनकी १८ से भी अधिक साखियों का ५८ विभिन्न अंगों में विभाजित करके उन्हें प्रकाश किया गया है। इसी प्रकार दूसरे 'विभाग' में इनकी विभिन्न रचनाएँ तथा इनके पद भी संगृहीत हैं। सबसे अंत में कबीर साहब की भी कुछ रचनाएँ दे दी गई हैं। इनके पदों की संख्या भी कम नहीं है और वे सभी विभिन्न रागों में विभाजित पाये जाते हैं। इनकी शेष रचनाओं में से कुछ तो रमैणी बैंत रेखते झूलने अरिल्ल आदि के रूपों में हैं। अन्य को 'आदि पुराण' 'गणेश पुराण' अर्जनामा 'ब्रह्मवेदी' 'मानलिम्पर' 'माया का अंग'-जैसे नाम दिये गए हैं। उनके अंतर्गत प्रायः विशिष्ट विषयों की चर्चा भी की गई मिलती है[1]। इस बृहत् संग्रह ग्रंथ के संपादक अजरानंद गरीब-पंथी 'रमताराम' के अनुसार इसमें संगृहीत रचनाओं को पहले किसी दादू-पंथी महात्मा ने लिखा था और "यह ग्रंथ बत्तीस अक्षर के हिसाब से ४ है।"[2] परन्तु यह भी प्रसिद्ध है कि अपनी रचनाओं के जिस संग्रह को स्वयं गरीबदासजी स्वयं छोड़ गए थे उसका नाम 'हिरंबर बोध' था। जो वास्तव में 'ग्रंथ साहिब' के उत्तरार्ध में विषय क्रम से पृ० १०४ पर ४ वाँ है। इसके सिवाय एक लेखक ने यह भी लिखा है कि इनके वचनों और लिखित बानियों के तीन संग्रह प्रसिद्ध हैं जिनके नाम 'अनहद' 'रत्नसागर' तथा 'सबरत्न माला' हैं[3] किंतु उसने इनका कोई परिचय नहीं दिया है।

मत

'बेलवेडियर प्रेस' वाली 'गरीबदासजी की बानी' सोलह अंगों में विभाजित साखियों तथा सब-रागों में दिखलाये गए पदों का संग्रह है। इनके अतिरिक्त उसमें सवैया रेखता झूलना अरिल्ल बैंत रमैनी तथा आरती के साथ-साथ 'ब्रह्मवेदी' नाम की एक अन्य रचना भी सम्मिलित है। कबीर साहब के प्रति

---

१ ग्रंथ साहिब अर्थात् सद्गुरु श्री गरीबदास जी महाराज की बानी राजकोट, काठियावाड़ सन् १९२४ ई० पृ० १ ६७३।

२ ग्रंथ साहिब प्रस्तावना।

३ ईविल्स तायुज पृ० २३४।

तहसील झज्जर के छुडानी नामक गाँव में सं० १७७४ की वैशाख सुदी १५ को उत्पन्न हुए थे। इनके पिता बलिरामजी जाति के जाट थे। कबीर साहब के मत के वे अनुयायी थे। उनका जमींदारी का व्यवसाय था। इनकी जीवनी के विवरण बहुत कम उपलब्ध है। प्रसिद्ध है कि इनके बचपन का नाम 'गरीबा' था। अपनी १२ वर्ष की वय में जब ये भैंसे चरा रहे थे, इन्हें कबीर साहब[1] के दर्शन हुए जिन्होंने इनसे किसी विशिष्ट भैंस का दूध माँगा। गरीबदास के यह कहने पर कि वह भैंस गाभिन तक भी नहीं हुई, उन्होंने उसे बरबस दुहवा कर दूध पी लिया जिसका बहुत प्रभाव इन पर पड़ा और ये उनके शिष्य हो गए। एक अन्य मत के अनुसार गरीबदास को कबीर साहब का साक्षात् स्वप्न में हुआ था और इन्होंने उन्हें अपना गुरु मान लिया था। कारण जो भी रहा हो, इसमें संदेह नहीं कि कबीर साहब को ही गरीबदास पथ-प्रदर्शक मानते थे। इनके प्राय सभी सिद्धांत भी उन्हीं के मत से प्रभावित जान पड़ते हैं।

गार्हस्थ्य-जीवन

गरीबदास ने आमरण गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत किया था। इन्होंने साधु का भेष कभी धारण नहीं किया। इनके चार लड़के तथा दो लड़कियों की चर्चा भी की जाती है। ये अपनी आयु भर छुडानी में ही रह कर सत्संग करते रहे। अंत में भादों सुदी २ सं० १८३५ को इनका देहांत भी वहीं रह कर हो गया। इनका देहांत हो जाने पर इनके गुरुमुख चेले सलोनजी गद्दी पर बैठे। परन्तु आजकल इस पंथ की गद्दी वंश-परंपरा के अनुसार चलती है और सभी मत गृहस्थाश्रम वाले ही हुआ करते हैं। गरीबदास ने अपने समय में एक मेला लगाया था जो आज भी छुडानी गाँव में उसी प्रकार लगता है। पंथ के सभी अनुयायी उस अवसर पर एकत्र होकर इनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के यत्न करते हैं। गरीबदास के पहनने का जामा, उनकी बँधी हुई पगड़ी, धोती, जूता, लोटा, कटोरी और पलँग अभी तक छुडानी में उनकी समाधि के निकट सुरक्षित हैं जिनके लोग दर्शन किया करते हैं।

रचनाएँ

कहा जाता है कि संत गरीबदास पढ़े-लिखे कुछ भी नहीं थे, न इन्हें पद्य-रचना का कोई विशेष अभ्यास ही था। परन्तु ये अपने अंतिम समय तक अपनी रचनाओं का एक संग्रह छोड़ गए थे जिसमें संगृहीत पद्यों की संख्या लग-

---

१ महर्षि शिवव्रतलाल ने इसे 'कबीर-पंथी साधु' मान लिया है और कहा है कि असली साधु कबीर के ही रूप होते हैं। ——संतमाल, पृ० २५५।

करें।[1] इसकी साधना द्वारा सुरत अपने उचित स्थान में लग कर स्थिर हो जाती है, 'सुरत निरत मन पवन पर सोहं' आप-से आप होने लगता है।[2] सुरत के इस प्रकार लगा देने को ही गरीब दास ने नाम लेना[3] वा सुमिरन[4] भी कहा है। उन्होंने बतलाया है कि ऐसी स्थिति आ जाने पर इन्द्रियों के गुण प्रभावित नहीं करते तथा सारा प्रपंच स्वयं नष्ट होकर 'एकै मन एकै दिसा साईं के दरबार'[5] की दशा आ जाती है। यही अवस्था 'मैं' की भी कही जाती है। परन्तु इन सब के लिए अपने हृदय मे पूर्ण प्रतीति का होना भी अनिवार्य है, क्योंकि वास्तव मे स्वयं 'साहब' वा परमात्मा भी 'परतीति' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।[6] इस अंतिम साखी मे कदाचित् उस भक्त पांडे की कथा का प्रसग है जो अपनी भैंस का ध्यान करते-करते एक बार उसके सीग मे इस प्रकार फँस गये थे कि अपने गुरु के बुलाने पर भी नहीं आते थे। उनकी ऐसी लगन देख कर ही उनके गुरु ने फिर उनके ध्यान को परमात्मा की ओर प्रेरित किया था। कहते है कि गरीबदास की छठी पीढ़ी वाले दयालदास ने सम्प्रदाय को सगठित करके इसमे अनेक परिवर्तन किये। उन्होंने इसमे ब्रह्मचर्य तथा संन्यास का समावेश किया। केन्द्रों के नाम 'आश्रम' रख दिये और मंदिरों को 'गुरुद्वारा' का नाम दे दिये। उन्होंने कुआरों के महन्त के लिए भी अविवाहित ही रहने का नियम कर दिया।[7]

स्वभाव तथा शिष्यादि

सत गरीबदासजी का स्वभाव बड़ा ही सीधा-सादा था। इनकी क्षमा के संबंध मे एक कथा भी प्रसिद्ध चली आती है। कहा जाता है कि रोहतक जिले के ही आसो नामक गाँव के किसी साहूकार का इकलौता लड़का संतोषदास इनका

---

१ चार पदारथ महल मैं सुरत निरत मन पौन।
सिव्द्वार सूझिहै जबै बरस चौदह भौन ॥६॥
—गरीबदासजी की बानी बेलवेडियर प्रेस प्रयाग पृ १४।
चार पदारथ एक कर, सुरत निरत मन पौन।
असल फकीरी जोग यहु गगन मंडल को गौन ॥२१॥
—वही पृ ५५। २ वही, पृ २७।
३ वही, पृ २६ ४ वही, पृ २९। ५ वही, पृ ५६।
६ साहब साहब क्या करै साहब है परतीत।
भैंस सींग साहब भया पांडे गावैं गीत ॥२६॥
—वही पृ २२।
७. इंडियन साधुज पृ २१४।

गरीबदास की अनन्य भक्ति सर्वत्र दीख पड़ती है। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कबीर साहब को अपना गुरु स्वीकार किया है।[1] इन्हे अन्यत्र यह भी कहते पाते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि कबीर साहब के आदर्श द्वारा वे अनुप्राणित मात्र हुए थे।[2] उन्होंने अपने सत्तगुरु के विषय में कहा भी है।[3]

गरीबदास ने परमात्मा को सत्तपुरुष नाम दिया है और उसका परिचय उसे निराकार, निर्विशेष, निर्लेप, निर्गुन, अकल, अनूप तथा आदि, अंत और मध्य से रहित कह कर किया है। परन्तु वह इनके अनुसार तो भी वास्तव मे, इनसे भिन्न है।[4] इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड में जो कुछ भी है वह उससे भिन्न नहीं, भिन्नता का अनुभव केवल भ्रांति के कारण हुआ करता है। ये कहते हैं[5] इस सीत कोट के ही भीतर हमारी काया का विचित्र बँगला[6] बना हुआ है जिसका वर्णन गरीबदास ने, 'जो पिंड मे है, सो ब्रह्मांड मे है' सिद्धांत के अनुसार किया है। तदनुसार उसी के भीतर वह 'पारब्रह्म महबूब' भी वर्तमान है जिसे पहचान कर स्वानुभूति का आनंद उपलब्ध करना हम सभी का कर्त्तव्य है।

साधना

उक्त स्वानुभूति के लिए 'सुरत तथा निरत का परचा' हो जाना अत्यंत आवश्यक है। इसके विषय मे चर्चा करते हुए गरीब दास कहते हैं कि वह भी तभी संभव है जब हम सुरत, निरत, मन तथा पवन इन चारों का एकीकरण वा समीकरण कर दें और उसके बल के आधार पर 'गगन-मंडल' तक पहुँच कर उसके दर्शन प्राप्त

---

१ 'दास गरीब कबीर का चेरा। सत्तलोक अमरापुर डेरा' ॥१०॥
—गरीबदासजी की बानी, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० १४८।

२ 'दास गरीब कहैं संतो, सब्द गुरु चित चेला रे' ॥५॥
—वही, पृ० १५२।

३ 'ऐसा सतगुरु हम मिला, तेज पुंज के अंग ॥
झिलमिल नूर जहूर है, रूपरेख नहिं रंग ॥२३॥'
—वही, पृ० १२।

४ 'सब्द अतीत अगाध है, निरगुन सरगुन नाहिं ॥६॥'
—वही, पृ० २०।

५ 'मर्म की बुरज सब सीत के कोट है, अजब ख्याली रचा ख्याल है रे।
दासगरीब वह अमर निज ब्रह्म है, एक ही फूल, फल, डाल है रे ॥७॥'
—वही, पृ० १२३।

६ वही, पृ० १६०-८।

धामपुर'-जैसे किसी नगर का होना समझते जान पड़ते हैं[1] किंतु इस बात का कोई समर्थन नहीं पाया जाता। साधारणतः अनुमान किया जाता है कि वह स्थान दिल्ली के निकट कहीं उत्तर प्रदेश में ही होगा। कहते हैं कि संत पानपदास के पूर्वजों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। इनके जन्म के कुछ ही दिनों पीछे दुर्भिक्ष द्वारा प्रभावित होने के कारण इनके माता-पिता को इन्हें किसी जंगल में पेड़ के नीचे सुला कर अनाथ की दशा में छोड़ जाना पड़ा था। वे भूख के मारे स्वयं कष्ट में रहने के कारण कंद मूल संग्रह करने के यत्न में कुछ दूर निकल गये और उन्होंने अपने इस बालक की सुध तक नहीं ली। प्रसिद्ध है कि इसी बीच वहाँ पर कोई 'तिरपाम'[2] जाति का व्यक्ति आ पहुँचा जिसने वात्सल्यभाव से प्रेरित होकर इन्हें अपनी गोद में उठा लिया और अपने पास कोई संतान न रहने के कारण वहीं इस बालक का लालन-पालन भी करने लग गया। संयोगवश इनका अपने घर आने के दिन से अपने परिवार की उन्नति के शुभ लक्षण पाकर उसने क्रमशः इनके पढ़ाने का भी प्रबंध किया। इसके फलस्वरूप इन्होंने कुछ दिनों में संस्कृत तथा फारसी का भी थोड़ा-बहुत अभ्यास कर लिया। परन्तु पढ़ाई-लिखाई के साथ ही इनकी रुचि शिल्प-कला की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त हुई जिससे इन्होंने अपने प्रारंभिक जीवन में राजगीर का काम भी सीख लिया।

गुरु से भेंट और कार्यक्रम

अपना शिक्षा-काल बीत जाने पर इन्होंने राजगीर का काम आरंभ कर दिया और इस ओर इनकी अच्छी ख्याति भी हो चली। परन्तु, संयोग की बात कि एक दिन किसी कबीर-पंथी ने इनसे प्रसंगवश महात्मा मंगनीराम की चर्चा छेड़ दी जो अलवर राज्य के अंतर्गत किसी 'तिजारा' नामक गाँव में रहा करते थे और एक उच्च कोटि के साधक थे। वे वहाँ किसी 'मूराब' नामी मकबूबे के घर एक कोठरी में रहते थे और सदा परमात्मा के ध्यान में लीन रहा करते थे। उनकी वेष भूषा बहुत कुछ गिरे पागलों की जैसी थी जिस कारण उनके निकट जा पाने का कोई साहस भी नहीं करता था। तदनुसार पानप से भट

---

१ हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय पृ ३४१।

२ महर्षि शिवव्रतलाल वर्मन ने अपनी 'संतमाल' (पृ १८९) में 'तिरपाम' की जगह 'मीमार' (राज) जाति की चर्चा की है। उन्होंने लिखा है कि इन्हें पालने वाले व्यक्ति ने इसी कारण इन्हें १४-१५ वर्ष की अवस्था से ही राजगीरी का काम भी सिखला दिया था। —लेखक।

शिष्य बन गया जिस बात को सुन कर उसके पिता को वडा क्रोध हो आया। इस कारण उसने गरीवदासजी से पूछा, "क्योजी, मेरे बेटे को तो तू ने साघु बना लिया, अव उसकी घरवाली तेरी बहन का हाल क्या होगा ?" इसके उत्तर में इन्होंने उससे कहा, यदि उसे मेरी वहन समझते हो तो वह मेरी वहन ही होकर रहेगी।" इसके अनतर सतोषदासजी की पत्नी को यह समाचार सुन कर ऐसा विराग जगा कि वह भी इनकी चेलिन वन गई और इनकी सेवा मे रहने लग गई। सत गरीबदासजी सतचरणदास के समकालीन थे और कहा जाता है कि ये अपनी दिल्ली यात्रा में कभी उनके यहाँ ठहरे भी थे। इनके नाम से प्रचलित पथ का वास्तविक सगठन इनकी छठी पीढी वाले दयालुदास द्वारा किया गया था। इन्होंने उसके अनर्गत कई परिवर्त्तन किये तथा 'मदिर' कहे जानेवाले स्थानो को 'गुरुद्वारा' का नाम दिया और केन्द्रो को 'आश्रम' कहा। इनके समय से सम्प्रदाय में क्रमश वैराग्य-भाव का प्रवेश भी होने लग गया। महतो के लिए ब्रह्मचर्य को महत्त्व दिया जाने लगा। इस पथ के लगभग १२५ केन्द्र है जो विशेषकर पजाव तथा उत्तरप्रदेश में फैले हुए हैं।[१] परन्तु इसका प्रधान केन्द्र 'छुडानी', जिला रोहतक में ही है। वहाँ पर इनके वश वाले कदाचित् अभी तक भी किसी-न-किसी रूप मे रहते चले आये हैं। इस पथ की अनेक वातो के कवीर-पथ से भी मिलते आने के कारण इसे कुछ लोग भ्रमवश उसकी एक शाखा मात्र भी मान लिया करते हैं। किंतु इसके इतिहास पर विचार करने से यह ठीक नही जान पडता। यह सम्प्रदाय उससे सर्वथा स्वतत्र माना जा सकता है, यद्यपि इसे दरिया पथ आदि के समान उससे विशेष प्रभावित भी कह सकते हैं।

१२ पानप-पथ

प्रारभिक जीवन

सत पानपदास के जन्म का विख्यात राजा वीरवल के वश में होना प्रसिद्ध है। इस कारण ये जाति के अनुसार ब्रह्मभट्ट भी कहे गए हैं। इनका जन्म स० १७७६ के अतर्गत किसी समय होना वतलाया जाता है, यद्यपि एक मत से वह १७७५ भी हो सकता है।[२] इनके जन्म-स्थान का अभी तक ठीक-ठीक पता नही चल पाया है। डॉ० वडथ्वाल इसे विजनौर के जिले मे 'नगीना-

---

१ इडियन साघुज, पृ० २३४।

२ पानपदास जी की वानी की, स० १९४२ मे की गई किसी प्रतिलिपि के प्रारभिक विवरण मे इनका स० १७७५ मे प्रकट होना लिखा है। —हिंदी अनुशीलन, प्रयाग अक्टूबर-दिसवर १९५७ ई०, पृ० २४।

उस मकान को भी इन्हें दे दिया जिस कारण उस स्थान का महत्त्व बढ़ गया और ये तब से यहीं ठहर कर लोगों को उपदेश भी देने लग गए। यह स्थान धामपुर के रोहियान नामक मुहल्ले में इस समय भी 'पानपदास जी महाराज का स्थान' अथवा 'महल' के नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही अभी तक पानप-पंथ के अनुयायियों का प्रधान केन्द्र समझा जाता है और यहीं पर इस सम्प्रदाय की मुख्य गद्दी भी वर्तमान है।

अंतिम दिन तथा शिष्य

कहते हैं कि धामपुर को अपने कार्यक्षेत्र का प्रमुख केन्द्र मान कर ये वहाँ से कभी-कभी अन्य स्थानों के लिए भी चले जाते थे। तदनुसार इन्होंने क्रमशः बावरी मेरठ सरधना तथा दिल्ली जैसे-कई नगरों की यात्रा करके वहाँ पर अपने मत का प्रचार किया। इन्हें अपनी निंदा अथवा स्तुति की कोई वैसी परवाह न थी और ये सदा अपनी धुन में ही लगे रहे। कहा जाता है कि एक बार इन्होंने किसी ऐसी स्त्री को अपने 'महल' में स्थान दे दिया जो अपने पति का देहांत हो जाने के कारण रो रही थी। असहाय की अवस्था में उसका भविष्य बड़ा अंधकारमय जान पड़ता था। इन्होंने उस पर दया करके उसकी छोटी बच्ची को अपनी गोद में उठा लिया और अपने यहाँ लाकर उन दोनों की सहायता के लिए किसी 'बुद्धन' नामक स्त्री को नियुक्त कर दिया। इस पर चारों ओर प्रवाद फैला कि इन्होंने 'गृहस्थी' आरंभ कर दी है और इनके यहाँ आना-जाना तक भी कुछ लोगों ने बंद कर दिया। परन्तु, वास्तविक तथ्य का ज्ञान हो जाने पर फिर इनके प्रति सभी की श्रद्धा पूर्ववत् बन गई और इनकी प्रसिद्धि और भी बढ़ गई। कहते हैं कि इनके भक्तों में एक जिला बिजनौर के नजीबाबाद का नवाब भी था जिसने उस नगर को इनके सत्संग के ही लिये बसाया था। पानपदास ने अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग धामपुर में ही व्यतीत किया और अपने अंतिम समय में इनके वृद्ध गुरु महात्मा मँगनीराम भी यहीं आकर ठहरे तथा उन्होंने अपना शरीर भी त्याग किया। इस घटना के अनंतर फिर सं० १८१ की फाल्गुन कृष्ण ७ को स्वयं इनका भी देहांत वहीं पर हो गया। यहीं पर इनकी समाधि भी निर्मित हुई, जहाँ प्रति वर्ष इनके मृत्यु-दिवस पर एकत्र होकर इनके अनुयायी इनका 'भंडारा' किया करते हैं तथा इनकी बानियों का पाठ भी हुआ करता है। यहाँ पर इनके अतिरिक्त महात्मा मँगनीराम तथा इनके प्रिय शिष्य काशीनाथ तथा अन्य कई शिष्यों-प्रशिष्यों की भी समाधियाँ बनी हुई हैं। वहाँ पर एक बड़े अहाते के भीतर अनेक व्यक्ति अपनी भेंट पूजा चढ़ाते और मनौतियाँ भी मनाया करते हैं। प्रसिद्ध है कि इनके शरीर-त्याग के अवसर पर

होने पर उन्होने इन्हे भी वहुत डाँट-फटकार वतलायी जिसका प्रभाव इनके ऊपर किसी प्रकार प्रतिकूल नही पडा, प्रत्युत ये उनकी ओर आकृष्ट भी हो गए। महात्मा मँगनी राम ने उस समय तक किसी को दीक्षित नही किया था, किंतु इनके आग्रह पर उन्होने इन्हें दीक्षा भी दे दी। तत्पश्चात् उन्होने पाँच अन्य व्यक्तियो को भी दीक्षित किया जिनके नाम विहारीदास, अचलदास, ख्यालीदास, गगादास और हरिदास प्रसिद्ध है। पानपदास उनसे दीक्षित होकर कुछ दिनो तक एकात में साधना करते रहे। किंतु ये फिर अपने पूर्व व्यवसाय में ही लग गए और इनका दैनिक कार्यक्रम फिर एक वार उसी प्रकार चलने लगा जिस प्रकार पहले चला करता था। कहते है कि एक समय अपने उस कार्य की खोज में इन्हें विजनौर जिले के धामपुर नामक नगर में जाना पड गया, जहाँ पर किसी वैश्य का मकान वन रहा था। इन्होने वही पर कारीगरो में मिल कर काम करना आरम्भ किया। किंतु अभी तक उस मकान की चिनाई पूरी भी नहीं हो पायी थी कि किसी साधु ने इन्हें अपनी आध्यात्मिक साधना का स्मरण दिला दिया और ये उस कार्य को छोड कर पुन अपने गुरु के यहाँ आ गए।

दिल्ली-यात्रा तथा धामपुर-निवास

महात्मा मँगनी रामके यहाँ पहुँच कर इन्होने फिर उनके साथ कुछ दिनो तक सत्सग किया। अत में उनकी आज्ञा पाकर ये वहाँ से दिल्ली चले गए तथा वहाँ रह कर इन्होने सर्वप्रथम अपने उपदेश सर्वसाधारण मे देना आरम्भ किया। कहते हैं कि उस समय वहाँ पर किसी सत्सग-मदिर का निर्माण भी किया गया जिसका इस समय भी वहाँ के वहादुरगढ रोड पर महावीर गली मे विद्यमान रहना वतलाया जाता है। प्रसिद्ध है कि वहाँ के 'तेली वाडे' मे इनके पथ की कोई गद्दी भी पीछे स्थापित हो गई जो कदाचित् आज तक भी चल रही है। परन्तु, वहाँ का कार्यक्षेत्र तैयार कर लेने पर ये फिर अपने पूर्व परिचित स्थान धामपुर चले आये, जहाँ पर चिनाई का काम अभी पूर्ववत् चल रहा था। ये वहाँ आकर उसमे फिर एक वार प्रवृत हो गए और ये उसे पहले से भी अधिक परिश्रम के साथ पूरा करने लगे। परन्तु इनके साथी श्रमिको को इनकी वैसी लगन पसद नही पडी और उन्होने द्वेष-भाव से प्रेरित होकर इनके कामो मे छिद्रान्वेषण आरम्भ किया। उस वनाये जानेवाले मकान के मालिक को सुझा दिया कि पानप ने उसकी किसी दीवार को कुछ टेढी कर दी थी। इस पर मकान के मालिक ने उस दीवार की जाँच की और उसे सचमुच टेढी मानकर इन्हे अपने काम से हटा देने की धमकी दी। परन्तु, प्रसिद्ध है कि इन्होने उक्त दीवार को केवल छूकर ही सीधी कर दी जिससे प्रभावित होकर मकान मालिक ने इनसे क्षमा माँगी।

गोष्ठी ६ कालामृत ७ तत्त्व उपदेश ८ दृष्ट ९ समझनातो १० सोहिला ११ प्रेमरतन और १२ इश्क मर्क की चर्चा की है।[1] इनमें से १ २ ३ ४ ५ ७ १० ११ तथा १२ तो प्रायः ठीक उक्त प्रथम सूची से मिल जाते जान पड़ते हैं। शेष नामों में से 'कालामृत' 'कायासोध' का 'दृष्ट' 'भ्रष्ट को अंग' का तथा 'समझनातो' 'समझमात्रा' का विकृत रूप प्रकट करता प्रतीत होता है। इनमें 'भक्तबोध' का नाम आता नहीं जान पड़ता। इनमें से किसी भी रचना के स्वयं पानपदास जी कृत होने वा न होने अथवा उसके पाठ की प्रामाणिकता पर कदाचित् अभी तक भी विचार नहीं हो पाया है, न आज तक इनके किसी अनुयायी द्वारा प्रस्तुत की गई किसी कृति का ही पता चल सका है।

मत और साधना

पानप-पंथ के अनुयायियों के संबंध में कहा गया है कि वे 'अपना मूल संबंध (निकास) 'हरिव्यासी शाखा' के प्रवर्तक निंबार्क-सम्प्रदायी श्री हरि व्यास-देवाचार्य जी के शिष्य श्री स्वभूदेवाचार्य जी से बतलाते हैं।" परन्तु न तो इसके लिए कोई निश्चित आधार निर्दिष्ट किया गया है न ऐसे किसी संबंध का कोई ऐतिहासिक विवरण ही दिया गया है। इस कारण इस मत की कोई समीक्षा कर पाना कठिन है। इसीलिए इस विषय में कोई अंतिम निर्णय भी हम नहीं दे सकते। जहाँ तक 'बानीग्रंथ' के उपलब्ध अंशों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है यह पंथ भी अधिकतर कबीर साहब तथा अन्य वैसे संतों के सिद्धांतों और साधनाओं को ही आदर्शवत् स्वीकार करता जान पड़ता है। इस मत के अंतर्गत पायी जानेवाली सामान्य बातों के अतिरिक्त स्वयं संत पानपदास की एकाध पंक्तियों से भी प्रकट होता है कि इन्होंने अपने को 'नानक दास' तथा 'कबीर का चेरा' तक भी घोषित किया था। उन दोनों को और अपने को एक ही साथ 'सकल सृष्टि का एक शरीरा' बतलाते हुए भी इस प्रकार की समानता की ओर संकेत किया था।[2] इन्होंने इसी प्रकार एक स्थल पर यह भी कहा है 'मैंने 'भेष' की खोज करते समय स्वयं 'सत' को अकेला पा लिया था। उन्होंने मुझे दीन जान कर दीक्षा दे दी थी।"[3] अतएव ऐसी किसी प्रत्यक्ष भेंट के संबंध

---

१ संतमाल संतसमागम जिल्द १ लाहौर, १९२१ ई० पृ० १९१।

२ "नानकदासा और कबीरा पानपदास तिन्हीं का चेरा।
नानक पानपदास कबीरा, सकल सृष्टि का एक शरीरा ॥"४२॥
—पानपबोध पृ० १५८।

३ "दीन जानि मोहि दीक्षा दीन्ही सतगुरु मैं चेला।
खोज फिरे हैं भेष की मैं देखा सत अकेला ॥४१॥ —वही।

इनके शिष्यो मे से चार अर्थात् मनमादास, काशीदास, चूहडराम तथा वुद्धिदास वहाँ उपस्थित थे। इन चारो मे से अपने गुरु के उत्तराधिकारी मनमाराम स्वीकार किये गए और उनके साथ जो गद्दीवारियो की परपरा चली वह आज भी विद्यमान है। इनके शिष्यो मे से चूहडदास के लिए कहा जाता है कि उन्होने पजाब मे जाकर मत का प्रचार किया और उनके भक्तो मे महाराज रणजीत सिंह भी थे।[1]

रचनाएँ

सत पानपदास की रचनाओ के सग्रह का 'वानीग्रथ' के नाम से घामपुर वाले मठ मे सुरक्षित रहना वतलाया जाता है। यह भी कहा जाता है कि उसकी एक प्रतिलिपि दिल्ली के सत्सग भवन मे भी वर्तमान है तथा वहाँ पर इनका एक चित्र भी रखा हुआ है। पूरा 'वानी ग्रथ' कदाचित् अभी तक भी प्रकाशित नही हो पाया है, यद्यपि उसका अधिकाश 'अथ ग्रथ सुषम वेद' के नाम से मुद्रित होकर 'तेलीवाडा देहली' मे निकल चुका है। उसका एक 'सक्षिप्त' रूप भी 'पानपवोध' के नाम से उपलव्ध है। घामपुर मठ मे इस ग्रथ की सर्वप्रमुख प्रति से पाठ किया जाता है और इसकी वहाँ पर अन्य कई प्रतियाँ भी सुरक्षित कही जाती है। श्री वेद प्रकाश गर्ग के अनुसार इस महान ग्रथ की वानियों वा सव्दियो का विभाजन ५१ अगो मे हुआ है। उनके अतिरिक्त सभवत कुछ 'पद' है जिन्हे उन्होने 'अरल', 'अरल फारसी की' तथा 'शव्दी फारसी की साखी'-जैसे नामो द्वारा अभिहित किया है। उसमे सगृहीत फुटकर ग्रथो के नाम क्रमश १ 'नामस्तोत्र ग्रथ' २ 'गगनडोरी ग्रथ' ३ 'नामलीला ग्रथ', ४ ज्ञान सुखमनी ग्रथ' ५ 'काया सोघ ग्रथ', ६ 'तत्त्व उपदेश ग्रथ' ७ 'भक्तवोव ग्रथ' ८ 'समझमात्रा ग्रथ' ९ 'सोहला ग्रथ', १० 'प्रेमरतनी ग्रथ', ११ 'भ्रष्ट को अग ग्रथ' तथा १२ 'इश्कगर्क ग्रथ' दिये गए है। इसके अनतर कडके, झूलने जैसे स्फुट छदो के भी नाम गिनाये गए हैं। इसके सिवाय 'शव्द फारसी' के तथा 'शव्द'-जैसे दो शीर्षको के अनुसार विभिन्न राग-रागिनियो का भी विवरण दिया गया है। अत मे कवीर साहव, नानक साहव-जैसे १४ विभिन्न सतो की सगृहीत वानियो का उल्लेख किया गया है।[2] इस प्रकार इस सक्षिप्त परिचय के आवार पर कहा जा सकता है कि उक्त 'वानीग्रथ' का कलेवर साधारण नहीं होगा। महर्षि शिवव्रत लाल ने सत पानपदास की रचनाओ मे इनकी १ साखियो (५०० दोहे), २ नामस्तोत्र, ३ ज्ञान सुखमनी, ४ नामलीला, ५ गगन-

१ पानपबोध, मुजफ्फरनगर, स० २०१८—जीवन चरित्र, पृ० 'ट'।

२ हिंदी अनुशीलन, प्रयाग, अक्तूबर-दिसबर, १९५७ई०, पृ० ५८-६०।

मुख से 'राम' का उच्चारण किये भी भीतर भक्ति की साधना चलने लगेगी क्योंकि उस भीतरी ध्वनि मे अपना मन स्थिर हो जायगा तथा मुक्ति का रहस्य भी मिल जायगा।[1] इसी प्रकार 'अपने भीतर शील रहनेवाले तथा बाहर से सब किसी की जैसी चाल चलते रहनेवाले" को ही पानपदास ने 'संत' की संज्ञा दी है। उन्होंने कहा है 'ऐसे महापुरुष के दर्शन मे भी चित्त आनंदित हो जाया करता है। वास्तव मे ऐसा ही आदर्श कबीर साहब का भी है जिनके विषय में इन्होने इस प्रकार भी कहा है 'कबीर का ही 'शब्द' वा उपदेश ठीक है जिसे ग्रहण करनेवाला भव-सागर के पार पहुँच जाता है और बिना उस 'अक्षर' की खोज किये लोग चिल्ला चिल्ला कर मर जाते हैं।"
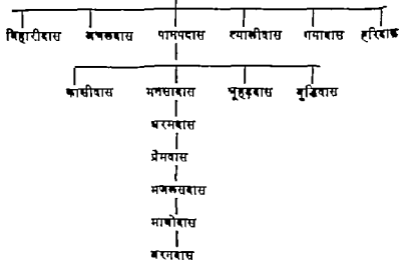
पाँचों तार लगे हैं तापर बाजे अजब सुरंगी।
कहे पानप कोई और सुनेगा सुने साधु को संगी ॥५॥—पृ० ८८।

१ "भक्ति सोई अंतर भजै मुखसूं कहै न राम।
कहै पानप सुमरे सुरतसूं ताके सरै काम ॥६॥
"भक्ति नहीं कुछ गावना भजना भक्ति न होय।
अंतर गुन मन थिर रहै पानप साँची भक्ति सोई ॥१॥—पृ० १२१।

मे जो भी कहा जाय, इसमे सदेह नही कि इनकी वानिया तत्त्वत उन्ही वातो का अनुगमन करती है जो प्रधानत कवीरादि सतो की रचनाओ मे पायी जाती है। सत पानपदास ने अपने एक पद के अतर्गत बहुत स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि केवल परमतत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व का ही अस्तित्व है और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है।[1]

वही

सत पानपदास के अनुसार "वह तत्त्व 'अलख' अथवा इन्द्रियातीत है, किंतु उसका प्रवेश प्रत्येक 'घट' के भीतर है। यदि सुरति के साधन द्वारा उसे प्रत्यक्ष करना चाहे, तो वह अगमदेश मे पहुँच जाने पर अरूप होकर भी दीखने लग जाता है।"[2] वास्तव मे 'सत' लोग उसे अपने मन के भीतर ही लख लिया करते हैं। इस कारण वह उनके लिए 'अलख' भी कहलाने योग्य नही है चाहे दूसरो के लिए उसे ऐसा क्यो न कह दिया जाय।"[3] यदि सच कहे तो, "सब कोई ही साहूकार कहे जा सकते है, क्योकि सब किसी की गाँठ मे वह 'लाल' बँधा हुआ है। हम अपनी गाँठ कर कभी देखा नही करते। इसीलिए 'कगाल' बन कर सब कही मारे-मारे फिरा करते है।"[4] अतएव इनका कहना है, "तुम इधर उधर टाल-मटोल करते हुए समय क्यो नष्ट कर रहे हो अपने भीतर वाले बिना तार के तबूरे को बजाओ, मन की खूंटी खीचो जिस पर पाँच तार लगे हुए है। ऐसा करते ही वह विचित्र सारगी बजने लगेगी। तुम वह अनहद नाद का मधुर स्वर सुनने लग जाओगे जिसे विरले लोग सुन पाते है।"[5] उस दशा मे "बिना

---

१ "यो मैं जाना एक तूही जी, यो मैं जाना एक तूही।
तूही राम तूही रहमाना, दूजा कोई और नहीं ॥टेक॥
'मैं' कुछ नाही 'तू' कुछ नाहीं, जो कुछ है सो है ही जी।
जगत लिपट रह्यो दुविधा सेती, बह्यो जात है योही जी ॥१॥
—वही, पृ० ३।

२ "अलख अरूप रूप बिन देखे, घट घट मे प्रवेस।
कहे पानप दासे सुरति सू, जो चढ़े अगम के देस ॥"१२॥ पृ० १०९।

३ "अलख अलख सब कोइ कहे, लखन सके कोइ ताहि।
सत अलख कैसे कहे, जिन लख लीनो मन माहि ॥१३"॥—वही

४ "सबही साहूकार है, सबको गाठी लाल।
गाठ खोल देखे नहीं, तासों फिरे कगाल" ॥१॥ —पृ० १४६।

५ "टाला टूली क्या करे, तू तार से तार मिलाव।
मन की खूटी खैंच के, अनहद नाद बजाव ॥४॥

१९ वीं शताब्दी में वर्तमान रहे होंगे। कहते हैं कि मोहनशाह के शिष्यों में फ़ौरमशाह, अहमकशाह, सचनाशाह तथा विजनशाह ये चार अधिक प्रसिद्ध हुए। इनमें से प्रथम अर्थात् फौरमशाह मोहनशाह के 'मिरगीबंद' अथवा लिपिक का काम करते थे और उनकी बानियाँ लिख लिया करते थे। ये कदाचित् कुछ ठाट-बाट के साथ भी रहा करते थे जिस कारण इन्हें 'बाँका' कहा गया है।[1] इनकी गद्दी 'अमौरा' जिला फैजाबाद में है। इसी प्रकार सचनाशाह के लिए कहा गया है कि इनका निवास-स्थान उक्त मिल्कीपुर से ४-५ मील की दूरी पर स्थित किसी 'मीठगाँव' नामक ग्राम में था। विजनशाह भी उससे केवल १ मील दूर वाले 'दमौली गाँव' के निवासी थे। शेष चौथे शिष्य अहमकशाह के लिए कहा जाता है कि ये प्रसिद्ध नगर लखनऊ के रहनेवाले थे। इनके प्रमुख शिष्य तथा उत्तराधिकारी का भी नाम शाहबालाशाह[2] के रूप में लिया जाता है। कहते हैं कि इन दोनों की समाधियाँ मिल्कीपुर वर्तमान हैं। परन्तु शाहबालाशाह के उत्तराधिकारी महामार्गवशाह के लिए प्रसिद्ध है कि ये 'बनउर' जिला सुल्तानपुर में रहा करते थे। ये एक योग्य 'कवीश्वर' भी बतलाये जाते हैं। कहा जाता है कि इनका देहांत सं० १९८७ सन् १९३१ ई० में किसी समय हुआ था। संभवतः महामार्गवशाह के ही समय से 'बनउर' स्थान को सम्प्रदाय के प्रधान केन्द्र का गौरव प्रदान किया जाने लगा। वहाँ पर आज तक भी उनके प्रमुख शिष्य बबरनशाह के उत्तराधिकारी बनरूपशाह उनके स्थान पर वर्तमान हैं। बबरनशाह पहले सुलतानपुर के किले के निकट रहा करते थे किंतु बनउर में रहते समय इन्होंने समाधि ली। बनउर में इन दोनों की ही समाधियाँ बनी हुई हैं और वहाँ पर बबरनशाह की मृत्यु तिथि माघ सुदी ७ को प्रतिवर्ष कोई मेला भी लगता है। इसके सिवाय बबरनशाह की प्रेरणा पाकर महाआमवशाह से 'माला' प्राप्त करने वाले सद्गुरुशरण जी का स्थान इस समय 'चिकविका' प्रतापगढ़ में बना हुआ है। वहाँ पर वे अपनी साधना में निरत रह कर उपदेश दिया करते हैं। इनका जन्म-स्थान जिला सुल्तानपुर के मोहोना नामक स्थान के निकट बसे हुए 'पुरा मेघा सिंह' गाँव में बतलाया जाता है। सं० १९९२ ८ जुलाई सन् १९३५ ई० से ये प्रतापगढ़

---

१ "सचना घर अहमक कै साका।
विजन बहादुर, फौरम बाँका॥
इस प्रकार की उक्तियाँ सम्प्रदाय के अनुयायियों में प्रसिद्ध हैं।

२ इनके तथा सचनाशाह के लिए भी कहा जाता है कि ये दोनों स्त्री रूप थे।
—लेखक
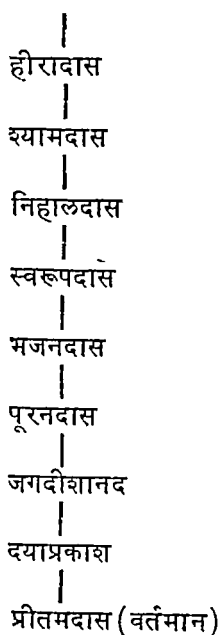
१४. साँई-पथ वा साँईदाता-सम्प्रदाय

मोहनशाह और उनके शिष्य-प्रशिष्य

'साँई-पथ' अथवा 'साँईदाता-सम्प्रदाय' के अनुयायियो मे 'साँई' शब्द का प्रयोग मूलत उस परमतत्त्व वा परमात्मा के लिए होता है जो परात्पर होता हुआ भी अखिल विश्व का परमस्वामी तथा प्रियतम रूप है। तदनुसार उनके यहाँ इसे प्राय उस सद्गुरु के लिए भी प्रयुक्त कर दिया जाता है जिसने उसकी उपलब्धि कर ली है। इसी कारण वहाँ इसे स्वय परमात्म रूप मे स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। इस पथ के मूलप्रवर्त्तक मोहनशाह माने जाते हैं जिनके जीवन-काल अथवा जीवन-वृत्त के विषय मे हमे यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नही है। इनके लिए केवल इतना प्रसिद्ध है कि इनका जन्म वर्तमान फैजाबाद जिले (उत्तर-प्रदेश) के मिल्कीपुर थाने के पास बसे हुए किसी 'मझनाई' नामक गाँव मे हुआ था। इन्होने पर्यटन करते समय सभवत बुदेलखड की ओर तक भी यात्रा की थी। इनके किसी गुरु का भी हमे अभी तक पता नही चला है, न यही विदित हो सका है कि इनका देहात कब हुआ था। इनकी उपलब्ध रचनाओ के आधार पर केवल इस प्रकार कह सकते हैं कि इनकी विचार-धारा सत कबीर साहब के मत से बहुत प्रभावित जान पडती है। इनकी शिष्य-परपरा के अनुसार गणना करने पर यह अनुमान होता है कि ये विक्रम की

अन्य रचनाओं के विषय में कहा जा सकता है उनमें से कम-से-कम अधिकांश अवश्य उन्हीं के द्वारा निर्मित होंगी।

मोहनसाह की विचार-धारा

संत मोहनसाह ने अपने मत का परिचय देते समय कहा है "वहाँ पर न तो ओहंग (संभवतः ॐ) है न 'सोहम्' का ही कोई स्थान है। वह 'नाम' किसी अक्षर का है तथा सर्वथा अनुपम भी है। वहाँ पर न ब्रह्मा है, न विष्णु है न शिव है न कोई सृष्टि है न पानी है न पवन है न सूर्य है न चन्द्रमा है और न कोई तीर्थ-स्थान है। वहाँ पर वेद पुराण कुरान देवताओं अथवा आचार-कर्म की भी गम नहीं है और न कोई मंत्र-तंत्र पाठ-पूजा या भेष ही है। वहाँ पर किसी प्रकार की प्रतिमा की कोई आवश्यकता नहीं है तथा वह 'धाम' 'असीधाम' के भी परे है। वहाँ पर 'अलख टकसार' मात्र की ही सत्ता है जिसे केवल ऐसा हरिजन ही लख सकता है जो सति (सत्स्वरूप परमतत्त्व) की शरण में चला गया हो।[1] परन्तु फिर भी वह 'अगम निसान' हम से कहीं दूर नहीं है प्रत्युत अपने भीतर ही अनुभव में आ सकता है। जिस किसी को उसकी अनुभूति हो जायेगी उसके लिए सरयू पुष्कर घाट सर्ग द्वार, चित्रकूट, मथुरा विश्राम-घाट अथवा चारों धाम तक अपने पास ही जान पड़ेंगे और वह गुरु-मत को प्राप्त करके परमपद में लीन रहेगा[2]। इसके लिए इन्होंने साधक को 'निःकर्मी भक्ति' अथवा बाह्योपचार-विहीन सहज-साधना को अपनाने का परामर्श दिया है। इसे जीते जी उपलब्ध करने का आश्वासन देकर उसके 'बिरानी' बन जाने का भी चित्रण कर दिया है।[3] इनके शब्दों में हमें इनकी भक्ति का

---

१ "औधू ऐसो मता हमारा ।।टेक ।।
ना हुआ अहंग न हुँआ सोहंग नाम निरक्षर न्यारा ।
ना हुआ ब्रह्मा बिसनु महेसा नाही सृष्टि पसारा ।
पानी पवन रवि ससि हुँआ नाही नाही तिरथ जलधारा ।
बेद पुरान कुरान न देवा नाहीं करम अचारा ।
मंत्र जंत्र पाठ नहि पूजा नाहिन भेष पसारा ।
कलिस जोत पाथर नहि देवा, नाही बरन बिचारा ।
असीधामके पार धाम है, तहाँ अलख टकसारा ।
मोहनसाह लखे कोई हरिजन जो सति सरन सिधारा ।।१३।।"
—अप्रकाशित प्रति ।

२ वही शब्द २४ । ३ वही शब्द २२ ।

मे रहने लगे है और इनकी अवस्था इस समय ७०-७५ वर्ष की होगी । मोहनशाह के विषय मे यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होने अपनी बुदेलखड वाली यात्रा के समय वहाँ के किसी 'समद' नामक मुस्लिम फकीर को अत्यत प्रभावित किया था। वह इनका शिष्य भी हो गया था, किंतु इस सबध मे अधिक ज्ञात नही है ।

मोहनशाह की रचनाएँ

मोहनशाह की प्रसिद्धि इनके 'मोहन साँई' नाम से अधिक दीख पडती है । इनके द्वारा प्रवर्त्तित पथ के अनुयायियो मे से भी जिन्हे 'पहुँचा हुआ सत' समझा जाता है उनके नामो के आगे प्राय 'साँई' शब्द जोड दिया जाता है। तदनुसार ऐसे लोगो को 'साँई बाबा' कहे जाते हुए भी देखा जाता है। मोहन साँई नामक किसी व्यक्ति द्वारा 'तुलसी चौरा' (अयोध्या) के सबध मे निर्मित एक रचना पायी जाती है जो प्रकाशित भी हो चुकी है।[1] लाला सीताराम ने उसे प्रकाशित करते समय उसके रचयिता का 'एक मुसल्मान फकीर' होना माना था, किंतु चन्द्रबली पाडेय ने उसे 'साँई-मत के प्रवर्त्तक मोहन साँई' की कृति समझ ली है। उन्होने अनुमान किया है कि यह सभवत स० १८१२ के पहले रची गई होगी ।[2] इस सबध मे हमे किसी अन्य आधार का पता नही चलता, किंतु यह देखते हुए कि इसके रचयिता ने अपने को स्पष्ट शब्दो में 'मोहन साँई' कहा है,[3] जहाँ सत मोहनशाह की उपलब्ध बानियो मे हमे उनका अपने को प्राय. सर्वत्र अपने मूल नाम से ही अभिहित करना दीख पडता है। इन दोनो को एक तथा 'अभिन्न' स्वीकार कर लेना युक्ति-सगत नही प्रतीत होता। हमे तो इसकी रचना-शैली भी उन 'शब्दो' की जैसी नही जान पडती जो सत मोहनशाह के नाम से पाये जाते हैं। सत मोहनशाह वा इन मोहन साँई की रचनाओ का सबसे प्रसिद्ध सग्रह हमे 'अरस बेगम सार' के रूप मे मिलता है,जो अप्रकाशित है। इसमे विभिन्न विषयो पर रचे गए २३६ पद सगृहीत हैं। उन्हे 'शब्द भजन', 'शब्द मगल', 'शब्द नेछू', 'शब्द छप्का'-जैसे शीर्षको मे दिया गया है । इस सगृह की उपलब्ध प्रति मे सगृहीत रचनाओ के निर्माता मोहनशाह को प्रारभिक तथा अतिम अशो मे 'सतगुर' कहा गया प्रतीत होता है । इससे अनुमान किया जा सकता है कि इसका सग्रह-कार्य स्वय उन्ही ने नही किया होगा । परन्तु जहाँ तक इसकी बानी

---

१ माधुरी, मासिक पत्रिका, लखनऊ, वर्ष १४ खड २ स० ३, पृ० ३६४-५।

२ चन्द्रबली पाडेय तुलसी की जीवन-भूमि, काशी, स० २०११, पृ० १४१-२।

३ "तुम्हारा गुन गावे साई मोहन । बनेगा जब तक अजल का कोरा"॥९॥
—माधुरी पृ० ३६५ ।

है जिन्हें हम 'स्वामी' तथा 'गृहस्थ'-जैसे पृथक्-पृथक् नाम दे सकते हैं। इनमें से गृहस्थ वर्ग वाले अपने गले में एक तुलसी की कंठी बाँधा करते हैं और प्रायः अपनी दाढ़ी भी बढ़ाये रहते हैं। परन्तु इनमें से 'त्यागी' कहे जानेवालों के लिए कदाचित् यह आवश्यक है कि वे चार बातें स्वीकार करें और इस प्रकार निद्वंद्व बने रहें। उन्हें चाहिए कि (१) 'कफनी' (कंथा) और (२) 'कंठी' धारण करें तथा अपने साथ (३) 'हंडी' (मिट्टी की हंडिया) और (४) 'खाट' भी रखा करें।[1] इनके प्रमुख महंतों की ओर से तो प्रायः इस प्रकार भी कहा जाता हुआ सुनते हैं कि 'गुदड़ी' (कफनी या कंथा) को मुझे 'मुर्दे की चादर के रूप में प्रदान की गई है, वह मुर्दा ही मेरा 'यार' है और मैं मुर्दे का 'साथी' हूँ।[2] पंथ के अनुयायी की अपनी कंठी में तुलसी की मनियों के साथ उनके 'सुमेर' की जगह कोई एक 'तकमा' अथवा शीशम की लकड़ी के बने छोटे चौपहल तमगे का एक टुकड़ा भी गूँथ दिया गया रहता है जिसके चारों पहलों अथवा पाश्वों पर क्रमशः 'स' 'ति' 'साँ' और 'ईं' अक्षर खोदे मिलते हैं। ये चारों मिल कर एक साथ उस 'सति साँईं' शब्द को पूरा करते हैं जो उसके लिए सदा स्मरणीय मंत्र है। ऐसे लोग एक दूसरे के साथ भेंट होने पर बराबर 'सत्त साँईं चरन बंदगीबारंबार' का उच्चारण भी किया करते हैं। 'स्वामी' की कंठियों में कभी-कभी एक 'तकमे की जगह दो भी गुथे पाये जाते हैं। ये लोग अपनी 'खाट' को प्रायः केवल एक फुट ऊँची और मूलकी की बुनी रूप में रखते हैं। भोजन-पानादि के लिए केवल मिट्टी का पात्र प्रयोग करते हैं और अपनी दाढ़ी लम्बी रहने पर भी सिर के बाल मुंडा लिया करते हैं। इनकी गुदड़ी कभी बदली नहीं जाती प्रत्युत इनकी समाधि में ही रख दी जाती है। इनके शव को पूरब की ओर सिरहाना तथा पश्चिम की ओर पैर करके गाड़ दिया जाता है। पंथ का वार्षिक मेला प्रति कार्तिक तथा चैत्री ७ को मोहन-दास के ही समय से लगता आता है और उसे 'हुलविहार' कहा जाता है।

प्रचार-क्षेत्र तथा विशेषता

साँईं-पंथ या साँईंदाता-सम्प्रदाय के अनुयायी अधिकतर उत्तरप्रदेश के ही जिलों में पाये जाते हैं। इनके सुल्तानपुर जिले वाले केन्द्रों में से प्रधान केन्द्र 'बलउर के अतिरिक्त दो 'भेंवड़ी' तथा 'बरौली' में भी वर्तमान हैं। इसी प्रकार इसके प्रताप-

---

१ "मोहन की जहाँ चार सही कफनी, कंठी, हंडी, खाट।
 जासे ऊँचे बेखटक उड़ावैं साईंसाही ठाट॥"

२ "मुर्शिद ने गुदड़ी बख्शी, मुर्दों की चादरी।
 मुर्दा मेरा यार है मैं मुर्दों का साथी॥

दापत्य-भाव वाला रूप भी स्पष्ट दीख पडता है और इनकी ऐसी रचनाएँ बहुत ही ललित तथा मार्मिक भी जान पडती है। कही-कही पर ऐसी रचनाओ के अतर्गत इन्होने किसी साधक 'सखी' का अपनी 'सुरति की डोर' को प्रेम से पकड कर बिना हाथ के स्पर्श किये सिर पर गागर के बिना छलकती हुई ले जाने का चित्र खीचा है।[1] कही पर अपने प्रियतम से अपने विरही रूप के प्रति तरस पैदा करके अपनी ओर 'ताकने' का अनुरोध किया है,[2] तो कही-कही उसकी मुसकराती हुई मुख-मुद्रा के साथ अपने ऊपर दृष्टि डालने का भी वर्णन किया है।[3] वास्तव मे इनके ऐसे शब्दो मे हमे एक अनुपम आनद तथा मस्ती के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते है जो केवल इनकी परमसिद्धि के ही परिचायक हो सकते हैं। इनका कहना है, "बैकुंठ वा बहिश्त को भाड मे झोक कर यह मुक्ति तक से दूर भाग रहा है। माशूक के गले मे बाँहे डाले हुए आज 'मोहन' मनमानी मौज उडा रहा है" जिससे इनके वैसे भाव का स्पष्ट पता चल जाता है।[4] सत मोहन साँई के अतिरिक्त महाथानदशाह की भी कतिपय फुटकर रचनाएँ मिलती है, जिनमे सत-मत-सबधी विषयो का वर्णन पाया जाता है।

प्रमुख साधना और वेशभूषादि

सत मोहन साँई ने अपने एकाध पदो के अतर्गत अपने पूर्ववर्त्ती सतो और भक्तो के भी नाम लिये है। उनकी भक्ति की प्रशसा करते हुए उन्हे दूसरो द्वारा आदर्शवत् स्वीकार करने का उपदेश दिया है। इनके अनुयायियो मे सत साधको के यहाँ प्रचलित 'सुरति शब्द योग' वाली प्रसिद्ध साधना को विशेष महत्त्व दिया जाता है। ध्यान करते समय इनके यहाँ अपने सद्गुरु की ओर दृष्टि केन्द्रित करने की पद्धति भी स्वीकृत है। इनके अनुसार सच्चा 'हरिजन' वह है जो 'नाम' को सदा अपने मन मे रखता हुआ आचरण करता है तथा जो निरतर सद्गुरु के चरणो की शरण मे रहा करता है। ऐसा करने के कारण उसके तीनो ही ताप (दैहिक, दैविक और भौतिक) आप-से-आप नष्ट हो जाते हैं और वह मुक्त-स्वरूप हो जाता है।[5] साँई-पथ के अनुयायियो मे अधिकतर दो प्रकार के लोग पाये जाते

---

१. अप्रकाशित प्रति, शब्द २०। २ वही, शब्द ३०।

३ वही, शब्द १८०।

४ "बेहस्त बैकुठ भार मे झोका, मुक्ति देखि दुरि आता है।
मोहन माशूक गल्ले में लाये, मनमानी मौज उडाता है।"—वही, शब्द २३१।

५ 'सो हरिजन नाम रहनि मन धरै।
निसदिन सरना सतगुर चरना तीनो ताप हरै।'

का हमें अभी तक ठीक पता नहीं लग पाया है। कहा जाता है कि ये सेवढ़ा नरेश पृथ्वीसिंह के दीवान तथा पन्ना नरेश महाराजा छत्रसाल के गुरु थे। पृथ्वीसिंह दतिया के महाराज दलपत राय (राज्य-काल सं० १७४०-१७६४) के पाँच कुंवरों में से दूसरे थे और उन्हें सेवढ़ा वा स्योंढा की जागीर मिली थी। इस कारण यदि अक्षर अनन्य उनके दीवान रहे हों उस दशा में इनका समय कहीं १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निश्चित किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल का जीवन-काल सं० १७०६ से सं० १७८८ तक बतलाया जाता है जिसके अनुसार भी यदि ये उनके गुरु रह चुके हों उस दशा में इनके समय का उक्त रूप में ठहराया जाना असंगत नहीं प्रतीत होगा। परन्तु इनका पृथ्वीसिंह के यहाँ दीवान के रूप में किसी निश्चित काल के बीच काम करना अथवा महाराज छत्रसाल को कभी दीक्षित करना आदि इतिहास के आधार पर सिद्ध नहीं है। प्रसिद्ध है कि ये किसी समय सेवढ़ा में रहा करते थे। वहाँ पर इन्होंने 'जगदंबा' की भक्ति के आवेश में उनके चरणों पर अपना सिर तक उतार कर चढ़ा देने की चेष्टा की थी और ऐसी किसी घटना के ही अनंतर इन्होंने साहित्य-साधना आरंभ की थी। इनकी कुछ उपलब्ध रचनाओं के आधार पर इनके किसी समय (अथवा कदाचित् अपने प्रारंभिक जीवन-काल में) शक्ति का उपासक होने का अनुमान किया जा सकता है। इस दशा में यह संभव है कि ये उन दिनों पृथ्वीसिंह के संपर्क में भी आ गए होंगे। इसी प्रकार अक्षर अनन्य का महाराज छत्रसाल द्वारा अपने यहाँ आने के लिए निमंत्रित किया जाना इनका उनके ऐसे निमंत्रण को अस्वीकार कर देना तथा कुछ समय तक इन दोनों के बीच पत्र-व्यवहार का चलना-जैसी बातें ऐतिहासिक-सी मान ली जाती हैं। अतएव हो सकता है कि अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर लेने पर इनके प्रति उन्होंने अपनी श्रद्धा का भाव प्रकट करना आरंभ किया हो। परन्तु केवल ऐसी ही बातों के आधार पर अक्षर अनन्य के जीवन-काल की निश्चित अवधि का भी निर्धारित करना संभव नहीं है।

रचनाएँ

अक्षर अनन्य के जन्म-स्थान अथवा इनके माता-पिता के संबंध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। लाला सीताराम ने इनको जाति से कायस्थ हुआ बतलाया है। वहीं पर यह भी कहा है, "बुंदेलखंड में कायस्थों और क्षत्रियों का पद बराबर है।"[1] इन्होंने किस प्रकार शिक्षा प्राप्त की थी तथा इनके कोई दीक्षा गुरु भी थे वा नहीं इसका कोई पता नहीं चलता। परन्तु इनकी उपलब्ध रचनाओं

---

१ प्रेमदीपिका भूमिका हिंदुस्तानी एकेडेमी प्रयाग १९३५ ई० पृ० ११।

गढ वाले केन्द्रो मे 'चिलविला' के अतिरिक्त 'लाल गज', 'अथारा', 'मानिकपुर किला', 'किठौर वाजार', भोजपुर किला, आदि के भी नाम लिये जाते है। इनमे से अतिम स्थान घुईसर (घुमृणेश) नाथ महादेव के निकट है। उत्तरप्रदेश के अन्य जिलो मे से इलाहावाद, लखनऊ, फैजावाद, हरदोई, वारावकी, उन्नाव और सहारनपुर के लिए भी कहा जाता है कि वहाँ पर इसके अनुयायियी मिलते हैं। बुदेलखड तथा विहार के भागलपुर जिले मे भी इनका रहना अनुमान किया जाता है। इस पथ की विशिष्ट वातें प्राय दूसरो के सामने प्रकट नही की जाती, न इसके ग्रथ किसी को पढने के लिए दिये जाते है। इस कारण इसके सवध मे हमे यथेष्ट विवरण उपलव्ध नही हो पाता। फिरभी हमे ऐसा लगता है कि इसके अनुयायियो की वेशभूषा तथा वाह्याचरण पर कुछ-न-कुछ मुस्लिम फकीरो का भी प्रभाव अवश्य पडा होगा। ऐसी वातो मे हम इस की गणना विहार के दरिया साहव द्वारा प्रवर्त्तित 'दरिया-पथ'-जैसे धार्मिक वर्गों के साथ भी कर सकते हैं।

१५ फुटकर सत
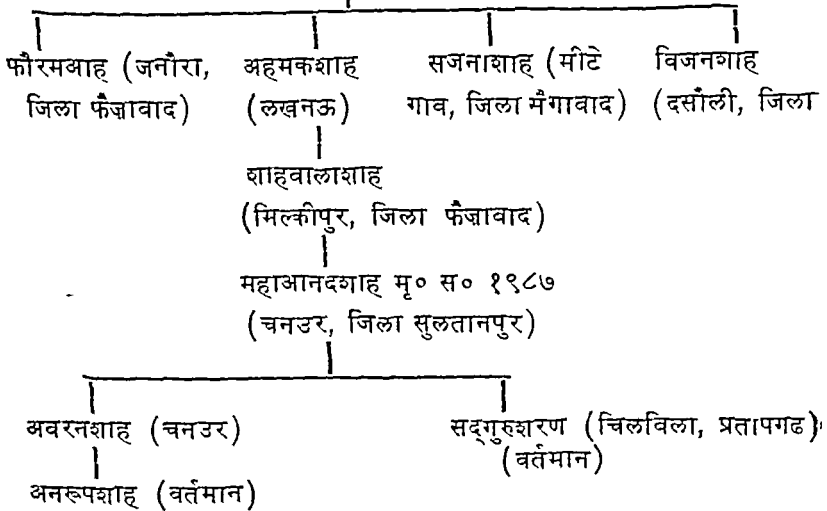
(१) अक्षर अनन्य

जीवन-काल

अक्षर अनन्य के जन्म तथा मरण की तिथियो अथवा उनके जीवन-काल तक

वस्तु नहीं यद्यपि उसकी एकता में हमें प्राय: अनेकता का भास भी हो जाया करता है। अक्षर अनन्य की ऐसी उक्तियाँ हमें कबीर साहब के कथन का स्मरण दिलाती है। हमें ऐसा लगता है कि इनकी मनोवृत्ति भी कदाचित् उसी प्रकार बन गई होगी जिस प्रकार अन्य संतों के विषय में कहा जाता है। इन्होंने इस प्रकार का ब्रह्म ज्ञान अथवा स्वानुभूति प्राप्त करने के लिए एक ऐसी साधना का भी उल्लेख किया है जिसके सात सोपान है। इनमें प्रथम को इन्होंने गुरूपदेश में विश्वास का नाम दिया है द्वितीय की स्थिति में दोषों से बचते हुए संयत रहने की आवश्यकता बतलाती है। इसके फलस्वरूप तृतीय की दशा में मन की चंचलता दूर हो जाती है तथा चतुर्थ मे श्रद्धा और प्रमपरक भक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार क्रमश: सप्तम सोपान तक पहुँचते-पहुँचते हमे उस अनुपम अनुभूति का लाभ हो जाता है जिसे 'ब्रह्मज्ञान' कहते है।[1] इन्होंने कहीं-कहीं पर साधक को किसी पतिव्रता स्त्री के रूप मे भी चित्रित करके उसके परमतत्त्व के साथ मिलन का वर्णन किया है।

अक्षर अनन्य की किसी शिष्य-परंपरा का पता नहीं चलता न इनके द्वारा प्रवर्तित किसी पंथ का ही उल्लेख पाया जाता है।

(२) दीन दरवेश

प्रारंभिक जीवन तथा स्वभाव

संत दीनदरवेश उन लोगों में थे जो परिस्थिति के आ पड़ने पर अपने जीवन मे कायापलट कर दिया करते है। कहते है कि ये पाटन अथवा पालनपुर राज्य के किसी गाँव के रहनेवाले एक साधारण लोहार थे। इनका जन्म-स्थान उदयनगर डिविजन के रेलवे स्टेशन बोमली का निकटवर्ती कोई गुढ़की नामका गाँव बतलाया जाता है जहाँ पर ये सं १८१ के लगभग उत्पन्न हुए थे। कहते हैं कि ये क्रमश: *'ईस्ट इंडिया कंपनी'* की सेना मे मिस्त्री का काम करने लग गए थे। वहीं पर इन्हें किसी समय गोला लग गया और एक बाँह कट जाने के कारण ये वहाँ से निकाल दिये गए। तब से ये साधु-फकीरों के साथ सत्संग करने की ओर उन्मुख हो गए।[2] तदनुसार इन्होंने अपना घरबार भी छोड़ दिया और दूर-दूर तक भ्रमण करते समय इन्होंने अनेक महात्माओं के दर्शन तथा उपदेशों का लाभ उठाया। ये बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे किन्तु इन्हें फारसी तथा हिंदी का साधारण ज्ञान था। ये कुछ कविता भी कर लिया करते

---

१ प्रेमदीपिका पृ ५५।

२ व्रजरत्न दास खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास काशी सं १९९६, पृ १६१ २।

के देखने से पता चलता है कि ये एक उच्च कोटि के महात्मा तथा योग्य कवि भी रहे होगे। इनके द्वारा रचे गए ग्रथो की सख्या मिश्रबधुओ ने १८ बतलायी थी और उन्होने उनके नाम भी दिये थे।[१] परन्तु श्री अबा प्रसाद श्रीवास्तव का कथन है कि "इन्होने लगभग ३५ ग्रथो की रचना की थी",[२] यद्यपि उन्होने इन सभी के नामो का भी उल्लेख नही किया है। इन रचनाओ के अभी तक ज्ञात हो चुके नामो के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इन सभी के विषय ठीक एक ही नही होगे, प्रत्युत इनमे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम तथा योग-साधना-जैसी बातो का पृथक्-पृथक् वा एक साथ समावेश किया गया होगा। इनके ग्रथ 'उत्तम-चरित्र' वा 'दुर्गापाठ भाषा' तथा 'महिम्न समुद्र'-जैसे एकाध तो इनके द्वारा किये गए अनुवाद-कार्य को ही सूचित करते है। फिर भी इनके द्वारा किये गए पद्यमय पत्र-व्यवहार तथा 'चिट्ठे' और स्वतत्र ग्रथो से प्रकट होता हैं कि इनका अनुभव बहुत गभीर था। ऐसा लगता है कि इन्होने न केवल शास्त्राध्ययन तथा सत्सग किये होगे, अपितु कुछ काल तक साधना भी अवश्य की होगी। इसके सिवाय इनकी रचनाओ के अनेक स्थलो पर हमे इनके काव्य-कौशल तथा भाषाधिकार का भी पता चले बिना नही रहता।

विचार-धारा

अक्षर अनन्य को हम ज्ञानाश्रयी शाखा के हिंदी कवियो मे एक ऊँचा स्थान प्रदान कर सकते हैं। इनकी रचनाओ के अतर्गत पायी जानेवाली विचार-धारा के अनुसार हमे इन्हे सतो की कोटि मे रखने मे भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए। इन्होने परमतत्त्व अथवा परमात्मा का परिचय देते हुए एक स्थल पर कहा है, "वह न तो निर्गुण कहा जा सकता है, न उसे सगुण ही ठहरा सकते हैं, प्रत्युत उसके लिए ऐसा कह सकते हैं कि यह इन दोनो मे ही कही छिपा हुआ है।"[३] इसी प्रकार इन्होने अन्यत्र यह भी कहा है, "उसे जिस किसी रूप मे भी देखा जाय वह सभी दृष्टियो के अनुरूप सिद्ध किया जा सकता है।"[४] यही एकमात्र तत्त्व है, सर्वत्र व्यापक और अखड है जिस दृष्टि से हम उसे आकाश का जैसा तक भी कह सकते हैं। इस सबध मे इनका यहाँ तक भी कहना है कि वह तत्त्व स्वय पूर्ण है चाहे उसे हम 'ब्रह्म' कहे अथवा 'माया' कह दें।[५] उसके सिवाय अन्य कोई भी

१ प्रेमदीपिका, पृ० १३।

२ उनके एक पत्र से—लेखक।

३ 'नहि निरगुण नहि सरगुण जानी, निरगुण सरगुन माझ लुपानी।'
—साहित्य सदेश, अगस्त १९४९, पृ० ५३।

४ 'जैसे ही को तैसे आप जैसे ही के तैसे हैं'।—वही

५ एकही तत्त्व स्वय परिपूरण, ताही सो ब्रह्म कहौ भल माया।—वही, पृ० ५६।

मिल ही पा रहा है। इनकी कुछ रचनाएँ प्रायः अन्य संतो या भक्तों की कृतियों के संग्रहों मे मिल जाया करती हैं। उनका कोई बृहत् संग्रह अभी तक हस्तलिखित रूप में भी नहीं मिला है। एक छोटा-सा संग्रह श्री अनवर आलमखान ने सं २ ८ में अहमदाबाद के 'सस्तु साहित्य वर्धक कार्यालय' द्वारा गुजराती अक्षरों में छपवाया है। इनकी रचनाओं मे 'भजन भड़ाका' 'तत्त्वसार' 'भ्रम तोड़' 'ध्यान परख' और 'तापनी सार' के नाम दिये गए मिलते हैं।[1] संत दीनदरवेश के लिए कहा जाता है कि ये अंत में वृद्ध होकर मरे थे। इनका अंतिम जीवन-काल काशी में व्यतीत हुआ था। परन्तु यह भी कहा जाता है कि मृत्यु के पहले ये कोटा चले गए थे। वहाँ चंबल नदी मे स्नान करते समय ये सं १८९ में डूब कर मर गए।[2] इस प्रकार इनका समय अठारहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं तक जाना जान पड़ता है। इनके कुल या परिवार के लोगों का अवशिष्ट चिह्न हमें अभी तक किसी भी रूप मे नहीं मिल सका है, न कहीं इनके द्वारा चलाये गए किसी पंथ-विशेष का ही कोई पता चलता है केवल इतना प्रसिद्ध है कि कुछ लोग अपने को 'दीनदरवेशी' मात्र कह दिया करते हैं। इनकी किसी समाधि की भी हमें कोई सूचना नहीं है।

इनका उपदेश

संत दीनदरवेश की रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उनके भी वर्ण्य-विषय प्रायः वे ही हैं जो अन्य संतो की कृतियों में पाये जाते हैं। उन्हें सरल स्वच्छंद जीवन विश्व-प्रेम ईश्वर भक्ति परोपकार तथा विडंबनाओं का विरोध आदि कह सकते हैं। इन्होंने हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मों के अनुयायियों के पारस्परिक विद्वेष और झगड़ों की व्यर्थता पर भी कहा है और बतलाया है कि वास्तव में ये दोनों एक समान ठहराये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए इनकी एक कुंडलिया है।[3] इन्होंने इसी शैली में सर्वसाधारण को जीवन की क्षणभंगुरता के प्रति सचेत किया

1 लोक पत्रिका, साहित्य संस्थान उदयपुर अप्रैल १९६३ ई पृ ११८।

2 डॉ मोतीलाल मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य पृ २११।

3 हिन्दू कहें तो हम बड़े मुसलमान कहे हम्म
एक मूंग दो फाड़ हैं, कुण जादा कुण कम्म।
कुण जादा कुण कम्म कभी करना नहि कजिया
एक भगत हो राम दूजो रहिमन से रजिया
कहे दीन दरवेश, दोय सरिता मिल सिंधू।
सबका साहेब एक एक ही मुस्लिम हिन्दू ॥६॥
—अनवर आलेखान सांई दीन दरवेश अहमदाबाद सं २ ८ पृ १५।

थे। प्रसिद्ध है कि इनकी जिज्ञासाओ की पूर्त्ति अत मे किसी अतीत बालनाथ के सपर्क मे आने पर हुई जिन्हे इन्होने अपना गुरु स्वीकार कर लिया। इन बाबा बाल-नाथ के लिए कहा जाता है कि ये किसी 'बडहर' नामक स्थान के निवासी थे और सभवत नाथ-पथी विरक्त साधु भी थे। इनके विषय मे कुछ लोगो का यह भी कहना है कि इनका नाम वास्तव मे 'बालगुरु' था। अन्य लोगो की धारणा रही है कि ये कोई गिरनार पर साधना करनेवाले काठियावाडी रहे होगे। स्वय दीनदरवेश के लिए भी इसी प्रकार बतलाया गया है कि वे उदयपुर से १४ मील उत्तर स्थित एकलिगजी के मदिर वाले 'कैलाशपुरी' नामक गाँव के रहनेवाले थे।[1] इनका कुछ-न-कुछ सबध गुजरात से भी रहा। अपनी दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व ये अनेक हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मों के अनुयायियो के बीच रह चुके थे और ये उनके प्रमुख तीर्थों मे भी जा चुके थे। इस कारण इनके ऊपर क्रमश सूफी-सम्प्रदाय तथा वेदात के अतिरिक्त कई अन्य मतो का भी पूरा रग चढ चुका था। फिर भी अपने गुरु के आदेशानुसार इन्होने आत्म-चिंतन को ही विशेष महत्त्व प्रदान किया तथा अपने विचारो का रूप भी निर्धारित किया। इनकी जीवन-पद्धति कुछ विचित्र बन गई थी। साधु होते हुए भी ये अपनी वेश-भूषा मे पूरे रईस जान पडते थे। प्रसिद्ध है कि ये प्राय ठाट-बाट के साथ रहते थे, बढिया खाते पीते थे तथा ये बहुधा घोडे पर ही चढ कर कही बाहर निकला करते थे।

अतिम जीवन तथा रचनाएँ

सत दीनदरवेश के जीवन की घटनाओ का कही विस्तृत रूप मे दिया गया कोई विवरण उपलब्ध नही है। इनका किसी प्रसिद्ध स्थान मे रह कर प्रत्येक पूर्णिमा को सरस्वती नदी मे भक्ति-भावना के साथ स्नान करना बतलाया जाता है। इसके सिवाय यह भी कहा जाता है कि इनके दैनिक जीवन का क्रम अपने अनुभव के अनुसार कुछ-न-कुछ पद्य-रचना कर लेने तथा सर्वसाधारण के बीच अपने मत का उपदेश देने के ही रूप मे चला करता था। कहते हैं कि अपने हृदय के शुद्ध उद्-गारो को इस प्रकार व्यक्त करते-करते इन्होने सवा लाख कुडलियो की रचना कर डाली। डॉ० बडथ्वाल के अनुसार इनकी रचनाओ का कोई एक सग्रह प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पडित गौरीशकर हीराचद ओझा के पास रहा, किंतु उसमे सगृहीत पद्यो की सख्या इसके शताश भी नही कही जा सकती थी,[2] न वह आज हमे कही

---

१ मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य, उदयपुर, १९५२ई०, पृ० २१२-३।

२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० १५, स० १९९१, पृ० २३।

दिये। उस समय तक इनका शरीर प्राय और सूख चुका था। इनके बाल भी बहुत बढ़ चुके थे। इन्हें मीर साहब ने अपना शिष्य बनाकर अद्वैत सिद्धांतों के उपदेश दिये और इनका नाम बुल्लाशाह रख दिया।[1]

संक्षिप्त परिचय

एक अन्य मत के अनुसार इनका जन्म कुस्तुन्तुनिया में सं १७६ सन् १७ ६ में हुआ था और ये जाति के सैयद मुसलमान थे। अपनी किशोरावस्था में ही इन्हें आध्यात्मिक जिज्ञासाओं ने देश भ्रमण के लिए प्रवृत्त किया और स्वदेश में किसी अच्छे फकीर का पता न पाकर ये पैदल पंजाब की ओर चले आये। वहाँ पर इनकी भेंट इनायतशाह सूफी से हो गई और कई हिन्दू-साधकों के भी संपर्क में आकर इन्होंने सत्संग किये तथा ये अंत में कसूर में आकर बस गए।[2] परन्तु एक तीसरे मत वाले कुछ खोज के पश्चात् इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि बुल्लेशाह वास्तव में कहीं बाहर से नहीं आये थे। इनका जन्म भारत में ही लाहौर जिले के अंतर्गत और कसूर के निकट पंडोक नामक गाँव में मुहम्मद दरवेश के घर हुआ था। इनका जन्म-संवत् भी १७३७ मानना चाहिए। बड़े होने पर ये किसी साधु दार्शनिक के सत्संग में आये। अंत में इन्होंने प्रसिद्ध सूफी फकीर इनायतशाह को अपना पीर स्वीकार कर लिया। ये आमरण एक सच्चे ब्रह्मचारी की दशा में रहते रहे और इन्होंने एक विशुद्ध जीवन व्यतीत किया था। अपनी बहन के साथ ये कादरी शत्तारी-सम्प्रदाय के अनुयायी समझे जाते रहे और इनकी साधना का प्रधान स्थान उपर्युक्त कसूर नाम का गाँव रहा। 'कुरान शरीफ' तथा परंपरागत विधानों की खरी आलोचना करने के कारण इन पर मौलवी लोगों की दृष्टि सदा क्रूर बनी रही और इन्हें कई बार कष्ट पहुँचाने के यत्न भी किये गए। अपने विचार स्वातंत्र्य के कारण ये अपने पीर इनायतशाह के भी प्रियपात्र नहीं बने रह सके और कुछ दिनों तक ये स्त्रियों की जैसी वेशभूषा धारण करके गायक-मंडली में मिले रहे। इनका देहांत सं १८१ में कसूर गाँव में ही हुआ था जहाँ पर इनकी समाधि आज तक वर्तमान है और जो तीर्थ-स्थान की भाँति माना जाता है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह कसूर-निवासी प्रेमसिंह द्वारा प्रकाशित हो चुका है जिसमें इनके 'काफ़ियाँ' 'बारहमाह' 'सीहर्फी' 'अठवारा' 'बारामासा' आदि एकत्र किये गए हैं।[3] इनकी रचना 'सीहर्फी' का एक संस्करण 'विक्टोरिया प्रेस' प्रयाग से

---

१ कल्याण गोरखपुर 'संत-अंक' पृ ७९३-४। परन्तु मियाँ मीर की मृत्यु सं १६९२ में हुई थी—लेखक।

२ क्षितिमोहन सेन मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया लंदन पृ १५६।

३ डॉ मोहनसिंह हिस्ट्री ऑफ दि पंजाबी लिटरेचर लाहौर, पृ ९४।

है, कर्मवाद का महत्त्व दिखलाया है और कहा है कि जो कुछ भी होता है वह करतार के किये से होता है। उसकी प्रेरणा के बिना एक साधारण पत्ता तक भी नहीं हिलता। इन्होंने इस बात को कई दृष्टांतों के द्वारा भी समर्थित किया है।[1] इस पद्य में आये हुए नामों वालों में से अकबर, बीरबल तथा गंग तो प्रसिद्ध हैं ही फतेहसिंह के लिए भी कहा जाता है कि ये बडौदा के गायकवाड थे। इनका देहांत किसी समय सं० १८४७ में हुआ था।[2]

(३) संत बुल्लेशाह

बुल्लेशाह तथा मियाँ मीर

संत बुल्लेशाह वा बुल्लाशाह के मूल निवास-स्थान के विषय में कुछ मतभेद जान पडता है। एक मत के अनुसार ये पहले बलख शहर के बादशाह थे। एक दिन इनके मन में विषय-भोगों की ओर से कुछ ग्लानि हो गई और इन्होंने अपने वज़ीरों से किसी पहुँचे हुए फकीर से मिलने के लिए उसका पता पूछा। वज़ीरों ने इस पर प्रसिद्ध मियाँ मीर नामक सूफी फकीर का नाम बतला दिया जिसके अनुसार इन्होंने अपने लडके को अपनी गद्दी पर बिठा दिया और कुछ लोगों के साथ लाहोर की ओर प्रस्थान कर दिया। मियाँ मीर उस समय एक जंगल में कुटी बना कर रहा करते थे, जहाँ किसी को बिना उनकी आज्ञा के प्रवेश करना वर्जित था। अतएव इन्होंने वहाँ पहले अपना संवाद पहुँचाया और कहला दिया कि बलख के बादशाह आपसे मिलने आये हैं। मियाँ मीर ने पूछा कि वे किस दशा में हैं, जिसके उत्तर में उनके आदमियों ने कहला दिया कि सौ-पचास दरबारी, घोडे आदि के साथ अपनी बादशाही ठाट में हैं। मीर साहब ने इस पर कह दिया कि तब उन्हें मेरे दर्शन नहीं हो सकते। बादशाह ने यह सुन कर अपने सारे सामान वहीं लुटा दिये और दरबारियों को भी विदा कर के अकेले केवल एक चादर लिये उनके दर्शनों के लिए उपस्थित हुए। मीर साहब ने तब इन्हें वहाँ से १२ कोस पर किसी अन्य फकीर के पास बारह वर्षों तक रह कर तप करने का आदेश भिजवाया और वहाँ से लौटने पर इन्हें अपने दर्शन

---

१ बदा बाजी झूठ है, मत साची कर मान,
कहां बीरबल गंग है, कहां अकब्बर खान।
कहा अकब्बर खान, भलेकी रहे भलाई,
फतेसिंह महराज, देख उठि चल गये भाई।
कहे दीन दरवेश, सुनवे गाफिल गदा
मत कर साची मान, झूठ है बाजी बदा ॥४॥
—साँई दीन दरवेश, पृ० ४।

२ वही, (परिचय) पृ० ८।

इसी प्रकार वे सर्वात्मभाव की भावना से प्रेरित हो अन्यत्र कहते हैं, "तनिक समझ तो लो कि कौन तुम्हारे सामने गुप्त-रूप से वर्तमान है। केवल उपाधियों के ही कारण नाम तथा रूप के भेद दीख पड़ते हैं। सद्गुरु द्वारा भ्रम दूर कर दिये जाने पर केवल आत्म-स्वरूप ही एक मात्र रह जाता है। तुम शास्त्रादि का अध्ययन करते हो तथा व्यर्थ उल्टा-सीधा अर्थ लगाते हो और लड़ते हो। यदि द्वैत की भावना को दूर करके देखो तो हिन्दू तथा मुसलमान में कोई अंतर ही नहीं है सभी एक समान साधु जान पड़ते हैं और सबके भीतर वही एक व्याप्त समझ पड़ता है। मैं न तो मुल्ला हूँ न काजी हूँ और न अपने को कभी सुन्नी अथवा हाजी ही मानने को तैयार हूँ। अब तो उसके साथ आत्मीयता की बाजी मार ली है और अनाहत शब्द बजाता हुआ आनंद में विभोर हूँ।"[1]

(४) संत मीता साहब

संक्षिप्त परिचय

संत मीता साहब का जन्म उत्तरप्रदेश के वर्तमान जिला फतेहपुर के जहाना-बाद नामक नगर में किसी बरसन नामक दूसर वैश्य के घर सं० १७४७ में हुआ था। उस स्थान पर इनके पूर्वज उसी जिले के किसी 'कोराई' नामक ग्राम से आकर बसे थे। इनके दीक्षा-गुरु बेनीरामजी साहब थे जो जाति के कायस्थ थे और बरई छतरमा जिला कानपुर के निवासी थे। संत मीता साहब ने अपने जन्म स्थान, गुरु प्राप्ति तथा पद रचना आरंभ करने के समय आदि कतिपय बातों का

उलटी लाय बहिश्त करवाना कीते पहुँचे महल बेचम्म चकाई लेंडा।
बुल्लाशाह जत हाल मस्तान फिरदे हाथी मतड़े तोड़ जंजीर भेड़ा ॥१९॥
—बुल्लाशाह की सीहर्फी श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई पृ० ९।

१ 'टुक बूझ कवन छप आया है।
कहिं नुक्ते में जो फेर पड़ा तब ऐन गैन का नाम धरा।
जब मुरशिद नुक्ता दूर किया तब ऐनो ऐन कहाया है॥
तुसीं इलम किताबां पढ़दे हो केहे उलटे माने करदे हो।
बेमूजब एवें लड़दे हो, केहा उलटा वेद पढ़ाया है।
दुई दूर करो, कोई शोर नहीं हिन्दू तुरक कोई होर नहीं।
सब साधु लखो कोई चोर नहीं घट घट में आप समाया है॥
ना मैं मुल्ला ना मैं काजी, ना मैं सुन्नी ना मैं हाजी।
बुल्लेशाह नाल लाई बाजी, अनहद सबद बजाया है॥
—भजन-संग्रह, चौथा भाग, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० ११७-८।

भी निकल चुका है। इन्होने अपने सिद्धात को वडी शुद्ध तथा सरल पजावी हिंदी द्वारा स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया है।

मत

सत वुल्लेशाह का कादरी शत्तारी-सम्प्रदाय के साथ सवध था। अतएव साधारण सूफियो की भाँति ये वेदात के सिद्धातो द्वारा भी वहुत प्रभावित थे। इनके विचार वहुत मार्जित थे। उन पर कवीर साहव के सिद्धातो की छाप भी स्पष्ट लक्षित होती है। इनका कहना है, "यदि हृदय के भीतर सच्चे नमाज़ की भावना न हो, तो मसज़िदो मे जाकर वहाँ अपना समय नष्ट करना उचित नही कहा जा सकता। मदिर, ठाकुर-द्वारा वा मसज़िद सभी चोरो और डाकुओ के अड्डो के समान हैं। उनमे प्रेमरूपी परमात्मा का निवास-स्थान कभी नही हो सकता। मैं तो जो कुछ भी अपने सीधे-सादे यत्नो द्वारा आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त कर पाता हूँ। वह इन स्थानो के आचार्यो के सपर्क मे आ जाने पर भ्रमात्मक वन जाता है। मक्के जाने से तव तक उद्धार नही हो सकता, जव तक हम अपने हृदय से अहता का त्याग भी न कर दें, न इसी प्रकार गगा मे सैकडो डुवकियाँ लगाने से ही कुछ सभव है। मैंने तो अल्ला का अपने भीतर ही अनुभव करके सदा के लिए विशुद्ध आनद तथा शाति को उपलब्ध किया है। नित्य का सासारिक मरण ही मेरा नित्य का आध्यात्मिक जीवन है और मैं प्रत्येक क्षण अग्रसर होता हुआ चला जा रहा हूँ। हे वुल्ला, ईश्वर के प्रेम मे सदा मस्त वने रहो। तुम्हे इसके लिए सैकडो-हजारो विरोधो का सामना करना पडेगा, किंतु इनकी परवाह न करो। जव कभी तुझसे कोई कहे कि तू काफिर है, तो तू यही कह कि हाँ, तू सत्य कहता है।"[1]

उपदेश

सत वुल्लेशाह की रचनाएँ अधिकतर मस्ती से भरी हुई जान पडती हैं। उनसे समझ पडता है कि उनका प्रत्येक शब्द निजी अनुभव द्वारा ओतप्रोत है। ये कहते है, "वह मेरा प्रियतम परमात्मा नितात निरुपाधि तथा नित्य आनद-स्वरूप है और जिसने उसे एक वार भी देख लिया, वह चकित हो गया। उसके प्रति लाखो स्वर्ग न्योछावर कर दिये तथा प्रपचो से अलग हो उस दशा को प्राप्त कर लिया, जो चिंताओ से रहित है। वुल्लाशाह उसी स्थिति मे आ जजीर तोड कर स्वतत्र वन कर हाथी की भाँति मस्त हो फिर रहा है।"[2]

---

१ क्षितिमोहन सेन मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इडिया, पृ० १५६-७।

२ ऐन-ऐन ही आप है विना नुक़ते, सदा चैन महवूव दिलवार मेरा ॥
इक्क वार महवूवनू जिनी डिठा, ओह वेखणेहार है सम्भकेरा ॥

है। बख्तसिंह के स्थान पर रामदीन सिंह आसीन हुए जिनके उत्तराधिकारी पहलवान सिंह हुए। इनके अनंतर इनके पुत्र इन्द्रजीत सिंह उक्त आसन पर बैठे जिनका देहांत सं० १९७१ में हुआ। इन तीनों की भी समाधियाँ दोस्तीनगर में ही निर्मित हैं। यहाँ पर प्रति वर्ष फाल्गुन सुदी पंचमी को दो दिनों तक 'संगति' बाला की बैठक हुआ करती है जिसमें भीखा साहब के उपदेशों का पाठ होता है। भीखा साहब के प्रभाव में इनके जीवन-काल से ही कम-से-कम रायबरेली कानपुर, फतेहपुर लखनऊ तथा उन्नाव-जैसे जिलों के अनेक व्यक्ति आने लगे थे। इनके शिष्य बख्त सिंह द्वारा संभवतः कुछ और दूर तक इनके उपदेशों का प्रचार हुआ। इनके अनुयायियों द्वारा किये गए किसी संगठन-विशेष का पता नहीं चलता न इनके नाम पर कोई पंथ ही प्रचलित है।

रचनाएँ तथा विचार-धारा

कहते हैं कि संत भीखा साहब के आठ ग्रंथ स्वयं इनके हाथ के लिखे हुए दोस्तीनगर में सुरक्षित हैं और वे कैथी-लिपि में हैं। इनकी कतिपय अन्य रचनाओं का भी रायबरेली कानपुर फतेहपुर तथा उन्नाव जिले के कुछ अनुयायियों के यहाँ लिपिबद्ध कर लिये गए रूप में पाया जाना कहा जाता है। अभी तक प्रायः कुछ भी प्रकाशित नहीं हो सका है। इनकी उपलब्ध पंक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनकी कबीर साहब के प्रति बड़ी आस्था थी और वे उनके मत से प्रभावित भी थे। इन्होंने स्पष्ट कहा है 'जो कुछ काशी का 'जोलाहा' (कबीर) कह गया था केवल वही टकसारी (प्रामाणिक) है। वह पहुँचा हुआ था और मैं भी उसी की साखी देता हूँ।'[१] इनकी रचनाओं के अंतर्गत पदों तथा साखियों की संख्या अधिक जान पड़ती है। दोनों प्रकार की रचनाओं का विषय प्रायः एक समान है। इन्होंने जीव को ब्रह्म का ही देह माना है और कहा है कि इस विचार से किसी एक व्यक्ति का दूसरे से कोई वास्तविक अंतर नहीं है। किसी ब्राह्मण का कोई कुल-विशेष नहीं क्योंकि यदि उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो गई तो वह स्वयं 'अविनाशी' की ही जाति का हो गया। इसी प्रकार हिन्दू तथा मुसलमान इन दोनों में से भी जो कोई 'दरबार' (ब्रह्मपद) तक पहुँच गए वे एक समान हैं इसमें संदेह नहीं है। इनका 'पापियों के प्रति बार-बार कहना है कि मेरी बात मानो और यह निश्चय जान लो कि बिना सचाई के हरि को नहीं पा सकते हो।'[२] जब तक परमात्मा के प्रति भक्ति

१ "जो कासी कहि गया जोलाहा सो तो है टकसारी।
भीखा ताकी साखि देत है वह पहुँचा दरबारी॥"

२ "बार बार भीखा कहै सुनु पापी मोरी बात।
सांचु बिना हरि ना मिलै हौ सांचैन के साथ॥"

उल्लेख स्वय अपने ग्रथो मे ही कर दिया है।[1] वहाँ मे यह भी पता चलता है कि इनके गुरु वेनीराम जी ने 'मलूकदास' को उपदेश दिया था।[2] परन्तु इस घटना का उल्लेख करते समय इन्होने इसका सवत् १७४६ दिया है जो प्रसिद्ध सत मलूक दास के जीवन-काल अर्थात् स० १६३१-१७३९ के साथ मेल नही खाता। अनुमान किया जा सकता कि ये कोई दूसरे ही मलूकदास रहे होगे। अपने दीक्षा-ग्रहण का समय इन्होने स० १७८० दिया है, जब इनकी अवस्था ३२ वर्ष की थी। इनके प्रारम्भिक जीवन की घटनाओ का कोई पता नही चलता। इतना प्रसिद्ध है कि स० १७९४ के लगभग ये अपना निवास-स्थान छोड कर उन्नाव जिले के रनवीर-पुर गाँव मे आ गए थे। इस गाँव को आज कल रनजीतपुरवा अथवा केवल 'पुरवा' मात्र भी कहते हैं। यही पर स० १८२५ की ज्येष्ठ शुक्ल पचमी के दिन इन्होने शरीर-त्याग किया। यही पर किसी ईदगाह के निकट इनकी समाधि का वर्तमान होना भी वतलाया जाता है। कहा जाता है कि वहाँ पर प्रति वर्ष ज्येष्ठ शुक्ल पचमी तथा कार्त्तिक शुक्ल पूर्णिमा को इनके अनुयायी वा 'सगती' भिन्न-भिन्न स्थानो से आकर दो दिन सत्सग किया करते हैं। इनकी रचनाओ का पाठ भी करते है जो वहाँ पर हस्तलिखित रूप मे सुरक्षित है।

शिष्य-परपरा और मत-प्रचार

कहते हैं, "भीता साहव ने दो सौ चौदह व्यक्तियो का व्योरा लिखा है जिन्हे उन्होने स्वय उपदेश दिया था।" परन्तु इनके प्रमुख शिष्य केवल सात ही प्रसिद्ध हैं। उनके नाम (१) इन्दोवाई अग्रवालिन (२) वावू वैरीसाल सिंह तत्कालीन डोडिया खेडा-नरेश, वैसवाडा (३) प्रजापति जी तिवारी, नर्वल (कानपुर), (४) सहजोबाई खुतानी, फतुहावाद (फतेहपुर), (५) पन्नोवाई (केशरी सिंह की पुत्री) पुरवा (उन्नाव), (६) नान्हूलोव सैदापुर (उन्नाव) तथा (७) वदनसिंह जी चौहान, दोस्तीनगर (उन्नाव)। इनमे से भी सवसे प्रसिद्ध वदन सिंह जी ही हुए जिन्हे स्वय भीता साहव ने सर्वसाधारण मे मत-प्रचार का आदेश दिया था। ये एक योग्य पुरुष हो गए हैं औ इनके ही कारण भीता साहव के उपदेशो का वहुत कुछ प्रचार भी हो पाया है। इनका देहात फाल्गुन सुदी पचमी के दिन स० १८६१ मे दोस्तीनगर मे रहते समय हुआ था। वही पर इनकी समाधि भी वर्तमान

---

१ "पद्दु वोले सवत् १७९०। सतगुरु मिले सवत् १७८०। तव उमिर रहै वरस ३२ की। वतन कोराई। जलमु फतुहावाद।"—'आज' का विशेषाक, पृ० १२।

२ पद्दु विवेक वेनीराम साहव। सवत् १७४६ मा मलूकदास का समझावा। वानी अगम हमार है। तुम सुनो मलूका ज्ञान हो। सुई अग्र एक घाटु है। तन जन विरला ठहराय हो।"—वही।

का भी कोई परिचय नहीं मिलता न इनके समय का ही कुछ पता चलता है। परन्तु, यदि इन्हें हम उन 'सामी साहब' से अभिन्न मानें जिनके नाम से सिंधी भाषा में प्रसिद्ध 'सामीअ सलोक' उपलब्ध है तो इनके विषय में कुछ कहा जा सकता है। इन सामी साहब का पूरा नाम स्वामी भेंवराज बतलाया जाता है जिनके शिष्य भाई चैनराइ लड़ थे। इन चैनराइ का जन्म सं १८ में सिंध प्रदेश के शिकार पुर नगर में हुआ था तथा सं १९ ७ में इन्होंने १ ७ वर्ष की अवस्था में अपना शरीर छोड़ा था।[1] इस प्रकार साम साहब तथा सामी साहब को एक ही व्यक्ति मान लेने पर कहा जा सकता है कि उनका जीवन-काल १८वी से १९वी विक्रमी शताब्दी तक रहा होगा। उसी के आधार पर हम संत रोमक को भी उसकी १९वी शताब्दी का ही पुरुष ठहरा सकते हैं। संत रोयल के अपने शिष्यों में 'साह' तथा 'तोला' के नाम लिये जाते हैं। कहते हैं कि साह के एक शिष्य गुलाम अली नामक थे। परन्तु इन शिष्यो की भी अपने गुरु की ही भाँति केवल कतिपय रचनाएँ ही उपलब्ध है और इनका भी अन्य परिचय नहीं मिलता। इनकी बाणियो का बीकानेर जोधपुर, जैसलमेर, शेखावाटी-जैसे राज्यो के क्षेत्रों में विशेष प्रचार है। ये वहाँ पर गायी भी जाती हैं। संत रोयल के किसी अनुयायी का इनके जन्म-स्थान कबसी में अभी तक भी पाया जाना कहा जाता है, किंतु किसी वैसे पंथ का पता नही है।

मत तथा विचार-धारा

संत रोयल की उपलब्ध फुटकर बाणियो के आधार पर कहा जा सकता है कि इनका मत कबीर साहब द्वारा बहुत प्रभावित है। अपने आराध्य पुरुष के विषय में इनका कहना है "उसका न तो कोई रूप है न वह किसी के अनुरूप ही है। उसे न हम सरूप कह सकते हैं न उसे किसी प्रकार कुरूप ही बतला सकते हैं। वह सभी कुछ होता हुआ भी व्यक्ति रूप में नहीं है। इस कारण इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हमारा मत मित्र 'है' और 'नहीं' इन दोनों के बीच की वस्तु है। मैं उस देव का पूजन करता हूँ जो सर्वत्र व्यापक है और जो मेरे मन से एक पल के लिए भी पृथक नहीं रहा करता।"[2] इसी प्रकार इन्होने अपनी साधना

---

१ राष्ट्रभारती मासिक, नवबर, १९६ ई पृ ७४१।

२ "रूप नहीं रूपूं अनुरूप नहीं है नहीं है सरूप कुरूप नहीं है।
कोई भी है, नहीं है कोई, नहीं है मध्य मित्र हमारा॥ —साहित्य पृ ७२।
"मैं पूजूं उस देवने व्यापक सबरे माय।
एक पलक न्यारो नहीं सो मेरे मन मांय॥"—वही।

का भाव जागृत न हो सके, तब तक सभी की दशा 'शूद्र' की रहा करती है। इसलिए ब्रह्म-ज्ञान का महत्त्व है जो सतगुरु की शरण मे आ जाने पर ही अपने अनुभव मे आ सकता है। कवीर, पीपा, नामदेव, रैदास ये सभी सतगुरु की कोटि मे आनेवाले सत हैं जिन पर 'महाप्रलय' का भी कोई प्रभाव नही पडता है। इनकी स्थिति इन्द्रिय निग्रह के अनतर चचल मन को वश मे करने पर ही प्राप्त होती है। इनके यहाँ लोक वडाई का त्याग करके 'दीन' वने रहने को ही विशेष महत्त्व दिया गया है। क्योकि द्वार के भीतर प्रवेश करते समय जो 'निहुर' (झुक)कर चलता है वही सफल हो पाता है। खडे-खडे आगे वढनेवाले वाहर ही रह जाते हैं। ऐसे उदाहरणो मे रैदास, धन्ना तथा सवना प्रसिद्ध हैं।"[1]

(५) सत रोयल वा रोहल

सक्षिप्त परिचय

सत रोयल का जन्म 'रौडी' (सिंध) के पास 'कडली' नामक गाँव मे हुआ था और ये जाति के मुसलमान थे। इनके जीवन-काल का कोई निश्चित पता नहीं चलता। इस सवध मे हमे केवल अनुमान से ही काम लेना पडता है। कहा जाता है कि इनका प्रारभिक जीवन राहगीरो को लूटने और उनसे प्राप्त द्रव्यादि से भरण-पोपण करने मे ही वीता था। एक वार सयोगवश इनकी भेंट 'साम फकीर' से हो गई जिससे इनका कायापलट हो गया और इन्होने सदुपदेश ग्रहण कर लिया।[2] इनका कहना है कि साम साहव गुरु ने मुझे 'सैन' वतलायी अर्थात् ऐसा सकेत कर दिया जिसके द्वारा मुझे अपने आप का वोध हो गया।[3] हमे इस 'साम फकीर'

---

१ "दीन हो तजु लोक वडाई, येहि सरिहै कछु नाहीं।
जौ लगि मान गुमान रे वौर, तौलगि हरि ना पाई॥
पातसाह वहु उमरा सैयद, राजा रक वहुताई।
निहुर चले से द्वारे पैठे, ठाढे कहा समाई॥
कौन कुलीन धना, रैदासा, जाहि लीन्ह अपनाई।
वाजपेई जमु द्वारे लूटे, साधना दीन वचाई॥
भली भई जगु हासी करई, मीता काजे आई।
देखि वडाई जियरा कपै, वाढै मोरि छुटाई॥"—'आज' के 'विशेयाक' मे श्री कैप्टेन शूरवीर सिंह द्वारा उद्धृत उक्त सभी पक्तियाँ हैं। —लेखक।

२ "साम फकीर से किया मेला, छोड दिया सव दूर झमेला।"
—साहित्य (त्रैमासिक) पटना, अक्तूवर, १९५९ ई०, पृ० ६९ पर उद्धृत।

३ "साम साहव गुरु सैन वताई, निज स्वरूप दरसाया"—वही, पृ० ६९।

के संबंध मे भी कहा है, "मैने चन्द्र (इडा) तथा सूर्य (पिंगला) नामक नाडियो को एक मे कर दिया और सुषुम्ना मे 'तारी' (समाधि) लगा ली। इस प्रकार साधना कर लेने पर मुझे अपने 'निज स्वरूप' का निश्चय हो गया[1] और "बिना चद्र तथा सूर्य ग्रहो के प्रकाश के भी मुझे ज्योति का सहज प्रकाश मिल गया तथा बिना बाजे के भी मुझे तूर की जैसी ध्वनि सुन पडने लगी।" ये उस दशा को प्राप्त कर लेते है जहाँ का 'देस' प्रत्यक्ष देश से न्यारा (नितात भिन्न है और जिसका कथन कर भी लिया जाय, किंतु जिसमे रह पाना अत्यत कठिन है।"[2] उन्होने ज्ञान का सच्चा रूप ठहराते हुए भी कहा है, "बिना रहनी के ज्ञान-कथन व्यर्थ है, क्योकि बिना रहनी के ज्ञान कैसा ?"[3] अतएव सत रोयल केवल उन्ही व्यक्तियो को उपदेश भी देना चाहते है, जो वास्तव मे सजग और सचेत हैं। इनका कहना है, "फूटे बर्तन मे मैं अमृत क्यो नष्ट कर दूँ ? यदि कोई जगा रहे तो उससे कुछ कहा भी जा सकता है तथा उसके प्रति अपने भाव प्रकट किये जा सकते है, भोंदू से क्या कहा जाय ?"[4]

---

१ "चद सूरज एक घर लीना, असल सरोदे आया।
सुखमण रे घर ताली लागी, जद निज निस्चय पाया।।" साहित्य, पृ० ७१।

२ "कैणी सहज कठण है रैणी, इणमें कोई पार लग जावै।"—वही पृ० ७४।

३ "ज्ञान कथै नर रैणी न रैता, बिन रैणी कैसा ज्ञाना।"—वही, पृ० ७३।

४ फूटे वासण क्या इमरत गमाउ"
तथा जाग्रत मिलै त बात सुणाऊ, अपने दिल का ख्यात बताऊ।
भोंदू मिलै जानै कैसे बताऊ।।—वही, पृ० ७२-३।

साहब के संबंध में 'मूलपंथी' नामक एक ग्रंथ इटालियन भाषा में लिखा था जो Mines of The East अर्थात् प्राच्य-विद्यानिधि ग्रंथमाला के तृतीय भाग में प्रकाशित हुआ था। वह किसी कबीरपंथी ग्रंथ का अनुवाद मात्र कहलाता था किंतु उसमें उस मत के सृष्टि-संबंधी विचारों का परिचय उपहास की मनोवृत्ति के साथ दिया गया जान पड़ता था। वह वास्तव में किसी अन्य बृहद् ग्रंथ का केवल एक अंग मात्र था जो कबीर साहब के धार्मिक विचारों तथा उनकी सुधार संबंधी योजना का परिचय देने के उद्देश्य से लिखा गया था।[1] फिर तो विल्सन साहब, गार्सां-द-तासी-जैसे अन्य विदेशी विद्वानों का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और भिन्न-भिन्न संतों उनके मत प्रचार-पद्धति तथा वाणियों के संबंध में परिचय देने तथा उन पर आलोचनात्मक निबंध लिखने की एक परिपाटी ही चल पड़ी। उक्त पाश्चात्य विद्वानों ने यह कार्य सर्वप्रथम कदाचित् शुद्ध जानकारी के लिए ही आरंभ किया था। कभी-कभी वे ऐसे अवसरों का उपयोग अपनी निजी संस्कृति को अधिक उत्कृष्ट सिद्ध करने में भी कर लिया करते थे। किंतु उनके नवीन दृष्टिकोण तथा सुझावों की ओर सर्वसाधारण का भी ध्यान क्रमशः आकृष्ट हो चला और सभी बातों को एक बार फिर से देखते समय उन्हें नया तथा सुबोध रूप देने के यत्न आरंभ हो गए।

संतों की प्रवृत्ति

कबीर साहब तथा उनके अनुकरण में भिन्न-भिन्न पंथों तथा सम्प्रदायों के स्थापित करनेवाले संतों का प्रधान उद्देश्य प्रचलित प्रपंचों और विडंबनाओं को दूर कर उनकी आड़ में न दीख पड़नेवाले वास्तविक धर्म के रहस्य का उद्घाटन करना था। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण भी अपनी परिस्थिति की पूरी परख तथा विवेचना पर ही आश्रित रहता आया था। इस कारण उन्हें सुधारक-मात्र कहने की परिपाटी अभी तक चली आई है। परन्तु समय पाकर उनके अनुयायियों की प्रवृत्ति क्रमशः साम्प्रदायिक भावनाओं से प्रभावित होने लगी और उसमें संकीर्णता के दोष भी लक्षित होने लगे। संत दादू दयाल के शिष्य प्रसिद्ध सुंदरदास (मृ॰ सं॰ १७४६)

---

1 H. H. W lson की पुस्तक Religi us Sects of the Hindu (p p 77-8) पाद टिप्पणी में मूलग्रंथ का नाम इस प्रकार दिया गया है — Ill libro primario de Curate (Specino di reforma della gentilita al hiama Satnami Kabir q est libro a fra la carta di propoganda) विल्सन ने किसी जनरल हेरियट की एक रचना M moire Sur les Kabirpanthi अर्थात् 'कबीर पंथियों का विवरण' की चर्चा भी की है। उसका उपयोग भी किया है।

सप्तम अध्याय

आधुनिक युग (सं० १८५० से अब तक)

ने अपने ग्रथ 'सुदर-विलास' मे कदाचित् इसी वात की ओर सकेत किया था, जव कि उन्होने योगी, जैनी, सूफी, सन्यासी-जैसे वर्गों की आलोचना करते समय उनके साथ-साथ कवीर तथा हरिदास को गुरु माननेवाले क्रमश कवीर-पथियो और निरजनियो की चर्चा भी कर दी थी।[1] फिर भी अपने-अपने वर्गो को प्राचीन वाह्य आधारो पर अवलवित कर उन्हे श्रेष्ठ सिद्ध करने की अभिलाषा ने आगे के पथ-प्रचारको को और भी पथ-भ्रष्ट कर दिया। उनकी साधनाओ के अतर्गत पौराणिक तथा तात्रिक पद्धतियो का प्रवेश होने लगा और उनकी प्रवृत्ति फिर एक वार उसी ओर उन्मुख हो चली जिधर से उसे मोडने के लिए पहले वाले सतो ने अपने उपदेशो द्वारा अथक श्रम किया था। इस प्रकार विक्रम की उन्नीसवी शताव्दी के पूर्वार्ध तक सतो की परपरा के अतर्गत नवीन तथा प्राचीन ग्रथो मे भी मौलिक सिद्धातो से कही अधिक वाह्य विधानो का ही प्राधान्य हो गया और यह वात स्वभावत अवाछनीय थी।

बुद्धिवादी व्याख्या

आधुनिक युग के प्रथम प्रसिद्ध सत तुलसी साहव को ये वातें पसद न आयी। उन्होने इनकी कटु आलोचना आरभ कर दी। अपनी 'घट रामायन' मे उन्होने कवीर-पथ मे प्रचलित चौका-विधि, नारियल फोडना, परवाना देना-जैसी वातो का वास्तविक रहस्य वतलाया।[2]

इसी प्रकार, उन्होने नानक-पथ के सवध मे भी कहते हुए 'वाहगुरु', 'कडा पर-साद' तथा 'नानक-गोरखगोष्ठी'-जैसी वातो के मूल मे वर्तमान अभिप्रायो के प्रकट करने का यत्न किया और 'निरकार', 'पौडी' आदि शव्दो का वास्तविक अर्थ भी वतलाया। वे पथो की सख्या मे होती जानेवाली वृद्धि से भी प्रसन्न न थे, न स्वय कोई नवीन पथ चलाने के लिए ही उत्सुक थे।[3] पथो के निर्माण की वे कोई आवश्यकता नही समझते थे। सच्चे सत को ही अपना गुरु तक स्वीकार करने को प्रस्तुत रहा करते थे। उनकी आलोचना मात्र ध्वसात्मक न थी, प्रत्युत वे प्रचलित पथो की प्रत्येक वाह्य विधि को वुद्धिवाद के

---

१ सुदर ग्रथावली, पुरोहित हरिनारायण द्वारा सपादित, भा० २, पृ० ३८५।

२ 'झूठा पथ जगत सव लूटा।
कहा कवीर सो मारग छूटा॥'
—घट रामायन, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, भा० १, पृ० १९३।

३ 'तुलसी तासे पथ न कीन्हा।
भेष जगत भया पथ अधीना॥'
—वही, भा० २, पृ० ३५७।

साहब के संबंध में 'मूलपंथी' नामक एक ग्रंथ इटालियन भाषा में लिखा था जो Mines of The East अर्थात् प्राच्य-विद्यानिधि ग्रंथमाला के तृतीय भाग में प्रकाशित हुआ था। वह किसी कबीर-पंथी ग्रंथ का अनुवाद मात्र कहलाता था किन्तु उसमें उस मत के सृष्टि-संबंधी विचारों का परिचय उपहास की मनोवृत्ति के साथ दिया गया जान पड़ता था। वह वास्तव में किसी अन्य बृहद् ग्रंथ का केवल एक अंश मात्र था जो कबीर साहब के धार्मिक विचारों तथा उनकी सुधार संबंधी भावना का परिचय देने के उद्देश्य से लिखा गया था।[1] फिर तो विल्सन साहब, गार्साँ-द-तासी-जैसे अन्य विदेशी विद्वानों का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और भिन्न-भिन्न संतों, उनके मत, प्रचार-पद्धति तथा कृतियों के संबंध में परिचय देने तथा उन पर आलोचनात्मक निबंध लिखने की एक परिपाटी ही चल पड़ी। उक्त पाश्चात्य विद्वानों ने यह कार्य सर्वप्रथम कदाचित् कुछ जानकारी के लिए ही आरंभ किया था। कभी-कभी वे ऐसे अवसरों का उपयोग अपनी निजी संस्कृति को अधिक उत्कृष्ट सिद्ध करने में भी कर लिया करते थे। किंतु उनके नवीन दृष्टिकोण तथा सुझावों की ओर सर्वसाधारण का भी ध्यान क्रमशः आकृष्ट हो चला और सभी बातों को एक बार फिर से देखते समय उन्हें नया तथा सुथरा रूप देने के यत्न आरंभ हो गए।

पंथों की प्रवृत्ति

कबीर साहब तथा उनके अनुकरण में भिन्न-भिन्न पंथों तथा सम्प्रदायों के स्थापित करनेवाले संतों का प्रधान उद्देश्य प्रचलित प्रथाओं और विडंबनाओं को दूर कर उनकी आड़ में न दीख पड़नेवाले वास्तविक धर्म के रहस्य का उद्घाटन करना था। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण भी अपनी परिस्थिति की पूरी परख तथा विवेचना पर ही आश्रित रहता आया था। इस कारण उन्हें सुधारक-मात्र कहने की परिपाटी अभी तक चली आई है। परन्तु समय पाकर उनके अनुयायियों की प्रवृत्ति क्रमशः साम्प्रदायिक भावनाओं से प्रभावित होने लगी और उसमें संकीर्णता के दोष भी लक्षित होने लगे। संत दादू दयाल के शिष्य प्रसिद्ध सुन्दरदास (मृ. सं. १७४६)

---

१ H. H. Wilson की पुस्तक Religious Sects of the Hindus (pp 77-8) पाद-टिप्पणी में मूलग्रंथ का नाम इस प्रकार दिया गया है :— Il libro primario dei Cairete (Specuno di reforma della gentilita si chiama Satnami Kabir questo libro a fra la carta di propoganda) विल्सन ने किसी पादरी हैरिसन की एक रचना Memoire Sur les Kabirpanthi अर्थात् 'कबीर-पंथियों का विवरण' की चर्चा भी की है। सम्भवतः उसका उपयोग भी किया है।

१ सामान्य परिचय

नवीन विवेचन-पद्धति

विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी के लगभग प्रथम चरण से ही भारत मे अँगरेजी की सत्ता जमने लगी थी। उनका शासन कई प्रातो मे आरभ होने लगा था और उनके सपर्क मे क्रमश आते रहने के कारण भारतीय मनोवृत्ति पर उनकी सस्कृति का कुछ-न-कुछ रग भी चढने लगा था। युरोपीय विद्वानो ने इसके अनतर हमारे प्राचीन साहित्य का अध्ययन तथा अनुशीलन आरभ कर दिया और प्रत्येक वात का मूल्याकन एक नवीन दृष्टिकोण से होने लगा। भारतीय धर्म, भारतीय सस्कृति, भारतीय दर्शन, भारतीय साहित्य, भारतीय कला तथा भारतीय जीवन के साधारण-से-साधारण पार्श्वों पर भी अव एक तटस्थ कला तथा भारतीय जीवन के साधारण-से-साधारण पार्श्वों पर भी अव एक तटस्थ व्यक्ति वन कर विचार किया जाने लगा। इस प्रकार प्रत्येक के गुण-दोष की परीक्षा का भी अवसर मिला। जिस किसी वात पर पुनर्विचार आरभ होता उसके मूल स्वरूप, उसके क्रमिक विकास और उसकी वर्तमान स्थिति के विषय मे सागोपाग अध्ययन करने की चेष्टा की जाती तथा उसके प्रत्येक रूप से परिचय प्राप्त किया जाता। अत मे उसके भविष्य के सवध मे भी कुछ दूर तक अनुमान कर लिया जाता। इसी प्रकार उसके गुण-दोषो पर ध्यान देते समय वहुधा उसकी तुलना अन्य समकक्ष वातो के साथ की जाती। कभी-कभी उसे विदेशी प्रसगो के प्रकाश मे भी लाकर परखने का यत्न किया जाता। यह कार्य पहले-पहल युरोपीय विद्वानो ने ही आरभ किया, किंतु उनकी विवेचन-पद्धति का अनुसरण कर फिर भारतीय विद्वान् भी इस ओर प्रवृत्त हुए।

धार्मिक साहित्य आदि का अध्ययन

भारतीय धार्मिक साहित्य तथा साम्प्रदायिक विकास का अध्ययन पहले-पहल ईसाई पादरियो ने आरभ किया। पता चलता है कि लगभग उसी समय डेनमार्क देश के जीलैंड निवासी विशप मुटर साहव (Mousignor Munter) ने कवीर

सहारे एक नवीन ढंग से समझा भर देना चाहते थे। उनके अनंतर आनेवाले 'राधा स्वामी सत्संग' के अनुयायी इस बात में एक प्रकार से उनसे भी आगे बढ़ गए। उन्होंने अपनी प्रायः प्रत्येक धारणा के संबंध में कोई-न-कोई वैज्ञानिक व्याख्या भी देना आरंभ कर दिया। इस प्रकार उनके सम्प्रदाय के मूल सिद्धांत विज्ञान द्वारा भी प्रमाणित समझे जाने लगे।

साम्प्रदायिक भाष्य आदि

संतों में इस प्रकार की समीक्षात्मक प्रवृत्ति के जागते ही उनके यहाँ अपने प्रमुख मान्य ग्रंथों का गंभीर अध्ययन आरंभ हो गया। उसके आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के भाष्यों तथा टीकाओं की रचना का सूत्रपात भी हुआ। तदनुसार कबीर पंथी रामरहस्यदास ने इस युग के ही आरंभ में 'बीजक' के वास्तविक रहस्य को स्पष्ट करने के लिए अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पंचग्रंथी' का निर्माण किया। अपने पाण्डित्यपूर्ण सिद्धांत-विवेचन द्वारा आगे आनेवाले टीकाकारों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत कर दिया। पूरन साहब की 'त्रिज्या' नाम की बीजक-टीका तथा भिन्न-भिन्न विचारों के आधार पर निर्मित अन्य अनेक टीकाओं के लिए भी उक्त व्याख्या काम चल कर पथ प्रदर्शक सिद्ध हुई। नानक-पंथ दादू-पंथ आदि अन्य कुछ सम्प्रदायों के कतिपय प्रधान ग्रंथों के संपादित संस्करण भी तब से प्रायः उसी आदर्श को सामने रख कर प्रकाशित होते आये हैं। 'नामसस्सार' 'पंचिकासार' 'घट रामायनसार'-जैसी कतिपय पुस्तकों का भी निर्माण किया गया है जो वैसे ग्रंथों का पीछे सम्बंध में ठीक तात्पर्य बतलाते और उनका स्पष्टीकरण करते कहे जा सकते हैं।

सुधार की प्रवृत्ति

इसी प्रकार एक अन्य प्रवृत्ति भी जो इस युग के आरंभ से ही लक्षित होने लगी। वह साधारण समाज में दीर्घ पड़नवाली कुरीतियों के सुधारने की थी। पाश्चात्य देश के लोगों के संपर्क में आ जाने के कारण यहाँ के निवासियों का उनके द्वारा प्रभावित हो जाना स्वाभाविक था। तदनुसार भारतीयों ने अपने समाज की भी वर्तमान स्थिति को एक नवीन ढंग से देखना आरंभ किया और दूसरे समाजों की तुलना में उसके गुण-दोषों पर विचार करते हुए उसमें आवश्यक परिवर्तन लाने का उद्योग करने लगे। राजा राममोहन राय (सं० १८१५–१८९) तथा स्वामी दयानंद (सं० १८८१–१ ४) जैसे सुधारकों ने इसी युग में प्राचीन परंपरा के अंधानुसरण के विरुद्ध अपने अपने आंदोलन और धार्मिक हिन्दू-समाज को अपने-अपने मतानुसार ि ि ग सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित बना डालने के यत्न किए। इन बातों के कारण भारत वासियों के मस्तिष्क का परिवर्तन भी एक नवीन प्रणाली का सूत्रपात हुआ जिसका प्रभाव संत-परंपरा के अनुयायियों पर भी बिना पड़े नहीं रह सका।

ने अपने ग्रथ 'सुदर-विलास' मे कदाचित् इसी वात की ओर सकेत किया था, जब कि उन्होने योगी, जैनी, सूफी, सन्यासी-जैसे वर्गों की आलोचना करते समय उनके साथ-साथ कवीर तथा हरिदास को गुरु माननेवाले क्रमश कवीर-पथियो और निरजनियो की चर्चा भी कर दी थी।[1] फिर भी अपने-अपने वर्गों को प्राचीन वाह्य आधारो पर अवलवित कर उन्हें श्रेष्ठ सिद्ध करने की अभिलाषा ने आगे के पथ-प्रचारको को और भी पथ-भ्रष्ट कर दिया। उनकी साधनाओ के अतर्गत पौराणिक तथा तान्त्रिक पद्धतियो का प्रवेश होने लगा और उनकी प्रवृत्ति फिर एक वार उसी ओर उन्मुख हो चली जिधर से उसे मोडने के लिए पहले वाले सतो ने अपने उपदेशो द्वारा अथक श्रम किया था। इस प्रकार विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध तक सतो की परपरा के अतर्गत नवीन तथा प्राचीन ग्रथो मे भी मौलिक सिद्धातो से कही अधिक वाह्य विधानो का ही प्राधान्य हो गया और यह वात स्वभावत अवाछनीय थी।

वुद्धिवादी व्याख्या

आधुनिक युग के प्रथम प्रसिद्ध सत तुलसी साहव को ये वातें पसद न आयी। उन्होने इनकी कटु आलोचना आरभ कर दी। अपनी 'घट रामायन' मे उन्होने कवीर-पथ मे प्रचलित चौका-विधि, नारियल फोडना, परवाना देना-जैसी वातो का वास्तविक रहस्य वतलाया।[2]

इसी प्रकार, उन्होने नानक-पथ के सवध मे भी कहते हुए 'वाहगुरु', 'कडा परसाद' तथा 'नानक-गोरखगोष्ठी'-जैसी वातो के मूल मे वर्तमान अभिप्रायो के प्रकट करने का यत्न किया और 'निरकार', 'पौडी' आदि शब्दो का वास्तविक अर्थ भी वतलाया। वे पथो की सख्या मे होती जानेवाली वृद्धि से भी प्रसन्न न थे, न स्वय कोई नवीन पथ चलाने के लिए ही उत्सुक थे।[3] पथो के निर्माण की वे कोई आवश्यकता नही समझते थे। सच्चे सत को ही अपना गुरु तक स्वीकार करने को प्रस्तुत रहा करते थे। उनकी आलोचना मात्र ध्वसात्मक न थी, प्रत्युत वे प्रचलित पथो की प्रत्येक वाह्य विधि को वुद्धिवाद के

---

१ सुदर ग्रथावली, पुरोहित हरिनारायण द्वारा सपादित, भा० २, पृ० ३८५।

२ 'झूठा पथ जगत सब लूटा।
कहा कवीर सो मारग छूटा॥'
—घट रामायन, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, भा० १, पृ० १९३।

३ 'तुलसी तासे पथ न कीन्हा।
भेष जगत भया पथ अधीना॥'
—वही, भा० २, पृ० ३५७।

मिलेगा । दूसरों को हम उसी प्रकार देखते हैं जैसे शीशे में अपना प्रतिबिंब देख रहे हैं । माता-पिता स्त्री-पुरुष सभी कुछ तुम्ही हो और तुम्ही मरने या मारनेवाले भी हो। बुद्बुद् फेन तथा तरंग सभी कुछ पानी ही पानी है। पाप-पुण्य भी कुछ नहीं है। इस कारण इस क्षणिक जीवन में जो भी मिले उसका उपभोग करो। स्वयं आनंदित रह कर दूसरों को भी आनंद का दान करते रहो । किसी को द्रव्य दो किसी को मधुर शब्द दो किसी के साथ ऐसी भलाई कर दो कि वह सदा तुम्हारी जय मनाता रहे । कर्ण दधीचि तथा हरिश्चंद्र ने भी ऐसा ही किया था । मृत मनुष्यों पर निर्भर न हो न स्वर्ग में विश्वास करो । शरीर का भरण-पोषण हो जाने पर गर्व तथा संत में कोई अंतर नहीं रह जाता । इसके अनुसार सत्य की घोषणा करने में भय नहीं है । राजा और प्रजा में कोई अंतर नहीं है केवल गुणों से ही समाज का पोषण होता है। यदि कोई ऐसे सत्य का उपदेश करता है तो वह लाखों की भूलों का उन्मूलन कर देता है। ऐसा उपदेशक दयाराम के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है । इन विचारों का पोषक अब कोई पृथक सम्प्रदाय नहीं दीख पड़ता ।

अलखबारी तथा अलखिया

इसी प्रकार भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में और विशेषकर पंजाब के मवाना जिले की ओर एक ऐसा ही पंथ अलखबारियों का प्रचलित है जो अपने को किसी लालबेग का अनुयायी कहा करते हैं । संभवतः इसी वर्ग के अनुयायियों को बीकानेर (पश्चिमी राजस्थान) की ओर अलखिया तथा उनके पंथ को 'अलखिया-सम्प्रदाय' भी कहा गया है तथा उसके प्रवर्तक का नाम लालगिरि के रूप में लिया जाता है । अलखबारी लोग अधिकतर डेढ या चमार जाति के होते हैं और लालबेग को वे शिव का अवतार मानते हैं जो कदाचित् उनके 'अलख' से अभिन्न है । वे मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते प्रत्युत किसी अगोचर तत्त्व का ही ध्यान करते पाये जाते हैं। उनके अनुसार इस दृश्यमान संसार के अतिरिक्त कोई परलोक-जैसा स्थान नहीं है। उनके लिए यहीं पर सभी कुछ है और यहीं अहिंसा परोपकार आदि के साथ सात्विक जीवन-यापन करना सब किसी का उद्देश्य होना चाहिए । स्वर्ग या नरक की ओर ध्यान न देकर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करके कोई यहीं पर परमानंद वा मोक्ष-प्राप्त कर सकता है । अलखबारियों के सादे आडंबर-हीन जीवन में ऊँच-नीच का सामाजिक भेद भाव नहीं रहा करता न किसी पूजा का ही कोई विस्तृत विधान पाया जाता है । अलखिया लोगों के लिए भी प्रायः ये ही बातें बतलायी जाती हैं और यह भी कहा जाता है कि वे साधु तथा गृहस्थ दोनों ही कोटि के होते हैं जो क्रमशः भमवा

नागी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सत डेढराज ने कदाचित् ऐसे ही वातावरण से प्रभावित होकर पुरुषो तथा स्त्रियो के समानाधिकार पर इतना ध्यान दिया । सामाजिक कुरीतियो को हटाने की चेष्टा करते समय उन्होने स्त्रियो के पद को उच्च बनाने की पूरी व्यवस्था दी और आध्यात्मिक साधना मे उन्हे विना किसी भी अडचन साथ पूरा भाग लेने का सुअवसर प्रदान किया ।

इस युग के अतर्गत विचार-स्वातत्र्य की भी प्रधानता विशेष रूप से लक्षित होती है, जिस कारण बुद्धिवाद के प्रभाव मे आकर अनेक व्यक्ति प्राचीन चार्वाक-मत जैसे सिद्धातो के पोषक प्रतीत होते है। उनके कथनो मे धर्म-जैसी वस्तु का कोई अश नही दीख पडता । ऐसी बातो के समर्थक एक शून्यवादी सम्प्रदाय की चर्चा विल्सन साहब के ग्रथ 'रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज' मे की गई मिलती है ।[1]

विचार-स्वातत्र्य

इस वर्ग के प्रचार मे अधिक भाग लेनेवाले एक व्यक्ति हाथरस के राजा ठाकुर दयाराम थे । इनके दरबारी बख्तावर ने 'व्योमसार' तथा 'शूनिसार' नामक दो ग्रथो की रचना की थी । प्रसिद्ध मार्क्विस ऑफ हेस्टिंग्स ने इन दयाराम के दुर्ग को विध्वस करके उस पर सन् १८१७ ई० में अधिकार प्राप्त किया था । इनकी मृत्यु का समय ग्राउज साहब ने अपनी पुस्तक 'मथुरा' मे स० १८९८ सन् १८४१ दिया है ।[2] शून्यवादी-सम्प्रदाय की विचार-धारा आधुनिक वातावरण में ही प्रवाहित हुई थी । उसके ऊपर बुद्धिवाद, सदेहवाद आदि का पूर्ण प्रभाव पडना स्वाभाविक था । किंतु अपने साम्प्रदायिक रूप में इसे यथेष्ट सहयोग नही मिल सका । यह सम्प्रदाय समवत सम्राट् अकबर के 'दीन इलाही' की भाँति केवल कुछ दरबारियो तथा निकटवर्त्ती व्यक्तियो तक ही सीमित रह गया ।

मत का साराश

इस मत के अनुसार सारी सृष्टि 'पोल' अर्थात् शून्य वा आकाश से हुई है और वह पोल अनादि, अनन तथा एकरस है । ब्रह्मादि से लेकर कीडे-मकोडे तक उसी से बने हुए हैं । इस प्रकार हिन्दू तथा मुसलमान भी एक ही वृक्ष के पत्ते हैं, उनमें कोई भेद नही । वे नासमझी के कारण आपस में लडते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना ही ध्यान करना चाहिए और उसका परिणाम किसी पर प्रकट करना आवश्यक नही। वह पूजा है, वही पूज्य है, कही भी कोई भेद-भाव नही । अपने में ही देखो, दूसरे को न देखो, दूसरा भी तुम्हारे ही भीतर

१ डा० एच० एच० विल्सन रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज पृ० ३६०-३ ।
२ एफ० एच० ग्राउस मथुरा, पृ० २३० ।

के आदर्शों में मिलता है जिसे उन्होंने प्राचीन तथा नवीन तथा इसके साथ ही पाश्चात्य तथा पौरस्त्य कही जानेवाली दोनों प्रकार की विचार-पद्धतियों के पूर्ण सहयोग से निर्धारित किया है। उसे एक ऐसा अनुपम रूप दे डाला है जो न केवल हमारी अनेक जिज्ञासाओं के समाधान में सहायक होता है अपितु जिसे हम कई बातों में वस्तुतः क्रांतिकारी भी कह सकते हैं। श्री अरविन्द ने ऐसा करते समय मानव-जीवन की पूर्णता तथा विकास इन दोनों को ही एक साथ अपने सामने रखा है। इसकी कई बातों का बहुत कुछ मेल संतों की उक्त आदर्श पद्धति से भी खाता जान पड़ता है जिसकी ओर उन्होंने केवल एक मार्मिक संकेत मात्र करके ही छोड़ दिया था।

पूर्ण मानव-जीवन

कबीर साहब ने मनुष्य की पूर्णता की ओर विशेष ध्यान दिया था। गुरु नानक ने उसकी आंतरिक शक्तियों के पूर्ण विकास के निमित्त साधनाओं का आयोजन भी किया था। दादू दयाल ने अपनी आदर्श साधना का नाम ही कदाचित् इसी कारण 'पूर्णांग साधना' रख छोड़ा था। किंतु पंथ-निर्माण की प्रबल प्रवृत्ति न उनके पीछे आनेवाले संतों को ध्यान इस ओर नहीं होने दी। वे अनावश्यक प्रपंचों में ही अधिक लगते चले गए। उनकी संस्थाएँ केवल धार्मिक सुधार की एकांगी योजनाओं को लेकर चल पड़ीं और उनका मुख्य ध्येय विस्मृत-सा होने लगा। नानक-पंथ वा सिक्ख-धर्म के प्रधान प्रचारकों ने इस ओर कुछ अधिक तत्परता अवश्य दिखलायी किन्तु परिस्थिति ने उनके कार्य को एक प्रकार के साम्प्रदायिक रंग में रँग डाला। अंत में उसके अनुयायी एक जाति-विशेष के रूप में परिणत हो गए। साध-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भी इसी प्रकार अपने को कोरा धार्मिक समाज मात्र न मान कर अपनी उन्नति के अन्य पार्श्वों पर भी ध्यान देना चाहा था। किंतु जिस प्रकार अत्याचार के विरुद्ध लोहा लेनेवाले सिक्खों तथा सतनामियों की पृथक्-पृथक् जातियाँ बन गई, उसी प्रकार साधों की गणना उनकी जीविका के कारण व्यवसायी समाज के अंतर्गत होने लगी। इन दोनों की असफलता का प्रधान कारण यह था कि इन्होंने अपने-अपने अनुयायियों के व्यक्तिगत विकास की उपेक्षा कर अपनी उन्नति की आशा अपने केवल सामुदायिक रूपों में ही केन्द्रित कर रखी थी।

व्यक्तित्व का विकास

संतों की परंपरा के पूर्वकालीन प्रचारकों की धारणा इस प्रकार की नहीं थी। उनका दृष्टिकोण भी इसी कारण इससे नितांत भिन्न था। वे व्यक्ति के पूर्ण विकास को सामाजिक उन्नति तथा अभिवृद्धि अथवा विश्व-कल्याण के लिए

तथा सादे वस्त्र धारण करते है । ये परस्पर मिलने पर एक दूसरे का अभिवादन 'अलखमौला' कह कर किया करते है जो वस्तुत 'अलक्ष्य ब्रह्म' का वाचक समझा जा सकता है । लालगिरि की उपलब्ध रचनाओ द्वारा हमे पता चलता है कि वे अलख के अतिरिक्त 'निरजन', 'साहिव', 'पुरुष', 'हरि' आदि जैसे शब्दो का प्रयोग करते थे और उसे शून्य, अरूप, निर्लेप तथा अकथ मानते थे । उसका उन्होने घट-घट मे व्याप्त, किंतु सद्गुरु के माध्यम द्वारा प्राप्त होनेवाला वतलाया है । इसके लिए नाम-स्मरण तथा सत्सग का महत्त्व भी वतलाया है । इनकी 'वानी' मे हमे अधिकार ऐसे शब्द ही मिलते है जिन्हे सतो ने भी अपने काम मे लाया है और इनका मत भी वहुत कुछ सत-मत से ही मिलता-जुलता है । इनके द्वारा की गई सामाजिक ढोगो की आलोचना भी लगभग उन्ही के शब्दो मे पायी जाती है[१] । लालगिरि का आविर्भाव-काल सभवत विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी का ही समय रहा होगा, किंतु उनके जीवन-वृत्त अथवा पथ का यथेष्ट विवरण नही मिलता ।

स्वतन्त्र धार्मिक विचार

उक्त प्रकार के सिद्धात अधिकतर नयी रोशनी के आलोक मे सोचने वाले अनेक अन्य व्यक्तियो के मस्तिष्क मे भी जागृत होने लगे थे । किंतु वे साधारणत केवल एक ही समान रूप ग्रहण नही कर पाते थे । जो लोग भारतीय साधना तथा सिद्धातो के परिणाम-स्वरूप अपने ऊपर पडे हुए सस्कारो द्वारा भली भाँति प्रभावित थे और जिन्हे पाश्चात्य चितन-पद्धति का कोई विशिष्ट अभ्यास भी नही था उनका जीवनादर्श अपनी प्राचीन सस्कृति से ही प्रेरणा ग्रहण करता रहा । जैसे, वगाल के परमहस रामकृष्ण तथा सुदूर दक्षिण के रमण महर्षि ने क्रमश एक साधक वा दार्शनिक का ही जीवन पसद किया । कुछ नये ढग से विचार करने वाले वगाल के स्वामी विवेकानद तथा पजाब के स्वामी रामतीर्थ ने भी वेदात दर्शन की व्याख्या इस प्रकार की जिससे प्राचीन तथा नवीन के समन्वय का स्पष्ट मार्ग निकल आया । इनमे से किसी भी महापुरुष की कार्य-पद्धति कोरे तर्क पर आश्रित न रह कर सारी वातो पर ध्यान रखते हुए ही अग्रसर होना चाहती थी । इसी प्रकार सत मेहर वावा ने भी हमारे सामने एक ऐसे ईरानी सस्कृति से अनुप्राणित तथा प्रेम-भाव पर आधारित जीवन का रूप रखा जो नव जीवन के भी मेल मे आ जाता था । इस वात का एक और भी उत्कृष्ट उदाहरण हमे श्री अरविंद द्वारा निरूपित उस 'दिव्य जीवन' (Life Divine)

---

१ शोध-पत्रिका, साहित्य सस्थान, उदयपुर, अप्रेल, १९६३ ई०, पृ० ८३-९१ ।

जा रहे हैं और दोनों के समन्वय से उनके भीतर एक अपूर्व उत्साह तथा बल का संचार भी हो आया है। चमड़े के जूते-जैसी वस्तुओं के बनाने का तथाकथित 'ओछा' कार्य भी सत्संग के सहयोग से अब एक ऊँचा स्थान ग्रहण करने लगा है। इस प्रसंग से प्रसिद्ध चमार संत रैदासजी का स्मरण दिला कर उनके पूर्वकालीन समसामयिक तथा उत्तरकालीन क्रमशः नामदेव छीपी कबीर जुलाहे तथा दादू धुनिया-जैसे संतों के शुद्ध और सात्त्विक जीवन भी और भी हमारा ध्यान आकृष्ट करता जा रहा है। ग्राम-सम्प्रदाय के अनुगामियों द्वारा अपनाये गए उद्योग-धंधों पर भी यदि हम चाहें तो उनके साथ धार्मिक जीवन की दृष्टि से इसी भावना के साथ विचार कर सकते हैं। संतों ने किसी प्रकार के भी उद्योग-धंधों को यदि वह उचित ढंग से किया जाय तो कभी अनुचित नहीं ठहराया है न उसकी कभी निंदा ही की है। उद्योग-धंधों की पदवी वास्तव में उनमें लगनेवाले व्यक्तियों की मनोवृत्ति तथा आचरण के अनुसार ऊँची या नीची हुआ करती है। वे स्वयं निरपेक्ष कार्य ही होते हैं।

महात्मा गाँधी का कार्य

इस युग के प्रसिद्ध 'साबरमती-संत' या 'सेगाव-संत' महात्मा गाँधी ने वा स्वामी रामतीर्थ ने भी किसी पंथ वा सम्प्रदाय की स्थापना का यत्न नहीं किया। गाँधीजी अपने वक्तव्यों तथा उनसे भी अधिक अपने व्यवहारों द्वारा अपने जीवन भर सदा सत्य के प्रयोगों में लगे रहे। उनका भी मुख्य कर्त्तव्य प्रायः वही था जो कबीर साहब तथा गुरु नानकदेव-जैसे संतों का था। वे भी मानव-जीवन के ऊपर पूर्ण तथा व्यापक रूप से विचार करते थे। उनका यही कहना था कि मानव-समाज की उन्नति उसके अंगीभूत व्यक्तियों के पूर्ण विकास तथा सदाचरण पर ही निर्भर है। उन्होंने अपने कामों द्वारा न केवल आदर्श और व्यवहार में सामंजस्य लाने की चेष्टा की प्रत्युत वे मानव-जीवन के प्रत्येक अंग को धार्मिक स्वरूप प्रदान करने में सदा निरत रहे। तदनुसार उन्होंने राजनीति-जैसे कूट-पूर्ण क्षेत्र में भी अपने सत्य के प्रयोग किये। अपने जीवन की साधारण-से साधारण घटनाओं में भी अपने आदर्श का कार्यान्वित करने की चेष्टा की। वे जिस प्रकार बड़े-पदगामी राजनीतिज्ञों के साथ शुद्ध तथा सरल बर्ताव करना जानते थे उसी प्रकार निम्नातिनिम्न स्तर वाले व्यक्ति के प्रति भी सौहार्द तथा प्रेम का भाव प्रदर्शित किया करते थे। दैनिक जीवन की उपयोगी वस्तुओं के लिए परमुखापेक्षी होना भी कभी उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

नवीन प्रवृत्ति

महात्मा गाँधी के अनंतर उनके शिष्यों वा अनुयायियों में से संत विनोबा भावे

भी अत्यत आवश्यक समझते थे। उनका कहना था कि किसी भी आदर्श को समाज के समक्ष रखने के पहले उसके स्वरूप तथा वास्तविक मूल्य का व्यक्तिगत परिचय पा लेना, उसके आधार पर प्रचलित किये जानेवाले नियमो के प्रभाव को स्वय अनुभव कर लेना और उसे भले प्रकार से परख लेना चाहिए। उसे इस प्रकार व्यवहारोपयोगी सिद्ध कर लेने पर ही उसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था का निर्णय करना न्याय-सगत हुआ करता है। मानव-जाति स्वभावत एक समान है। उसके क्रमिक विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसके अतर्गत पाये जानेवाले सत्य, प्रेम, अहिंसा, परोपकार, पवित्राचरण तथा सयत जीवन की ओर उन्मुख रहनेवाली प्रवृत्तियो ने ही उसे आज तक जीवित तथा सुरक्षित रखा है। उसके भीतर लक्षित होनेवाली पाशविक वृत्तियाँ उसे सदा उसके नाश की ओर प्रेरित करती आयी हैं। उन पर विजय पाकर ही वह अपने को सँभाल सकी हैं। इस प्रकार सपूर्ण मानव-जीवन को एक इकाई मानते हुए उसके आदर्श स्वरूप की उपलब्धि के लिए अधिक-से-अधिक व्यापक दृष्टिकोण के साथ अग्रसर होना और यत्न करते समय सदा अपने को तदनुकूल बनाते जाना ही सबसे अधिक स्वाभाविक कहा जा सकता है। आदर्श मानव-जीवन के प्रति यदि व्यापक दृष्टिकोण बन गया और व्यक्ति अपने को तदनुसार ढालने की ओर प्रवृत्त हो गया, तो वह अपने नैतिक आचरण को शुद्ध रखता हुआ कोई भी कार्य विश्व-कल्याण के लिए ही करता है। उसके कार्य का क्षेत्र चाहे व्यावसायिक हो, चाहे राजनीतिक अथवा जिस किसी भी रूप का हो, उसकी चेष्टाओ द्वारा समाज का अकल्याण कभी सभव नही है, न उक्त मनोवृत्तिवाले व्यक्ति का कोई वर्ग-विशेष ही उसे लाभ की अपेक्षा कभी हानि पहुँचा सकता है।

व्यावसायिक योजना

आधुनिक युग के अतर्गत सतो के एक वर्ग ने प्राय. उक्त नियम के ही अनुसार सामूहिक व्यवसाय की एक योजना प्रस्तुत की और अपने प्रधान केन्द्र आगरा नगर के निकट भिन्न-भिन्न उपयोगी वस्तुओ को वैज्ञानिक ढग से तैयार करना आरभ कर दिया। 'राधास्वामी-सत्सग' की दयालबाग-शाखा के तत्कालीन सद्गुरु सर आनदस्वरूप ने उक्त योजना को सफल बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया और उसे अपनी व्यक्तिगत देखरेख मे चलाया। फलत उक्त सत्सग का कोरा धार्मिक केन्द्र क्रमश उसके व्यावसायिक केन्द्र मे परिणत हो गया। इस प्रकार वह भारतीय उद्योग-धधो का एक प्रमुख कार्य-क्षेत्र भी बन गया। कहते हैं कि सत्सगियो द्वारा किये गए उक्त नवीन प्रयास के कारण उनकी धार्मिक वा आध्यात्मिक भावना को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँची। उनके दोनो ही कार्य एक समान उन्नति करते

रहे।[१] उन्होंने इनकी पत्नी का नाम लक्ष्मीबाई बतलाया है और कहा है कि वे पूरी पतिव्रता थीं तथा अपने पति की सेवा-सुश्रूषा में सदा लगी रहती थीं। एक दिन उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर इन्होंने वर माँगने को कहा जिस पर अपनी सास के संकेतानुसार उन्होंने अपने लिए एक पुत्र की याचना कर दी और उन्हें दस महीने पीछे अपने अभीष्ट की प्राप्ति हो गई। साहिबजी का उक्त संपादक ने पितृ-भक्त होना भी बतलाया है। किंतु यह भी कहा है कि इन्होंने अपने पिता की हार्दिक इच्छा के विरुद्ध भी राजगद्दी पर बैठना स्वीकार नहीं किया। प्रसिद्ध है कि पहले इन्होंने उन्हें वैराग्य तथा भक्ति की चर्चा करके प्रभावित कर देना चाहा। किंतु जब वे इस पर भी इनके लिए तैयारी करते रह गए, तब राजगद्दी की निश्चित तिथि के एक दिन पूर्व हवा खाने के बहाने से किसी तुर्की घोड़े पर सवार होकर निकल पड़े और घोर आँधी में सभी से अलग हो गए।

बाजीराव द्वितीय तथा तुलसी साहब

कहते हैं कि इनके पिता ने इनकी बड़ी खोज करायी किंतु इनके न मिल सकने पर अपने छोटे कुँवर बाजीराव को गद्दी पर बिठा दिया। यह बाजीराव अनुमानतः बाजीराव द्वितीय था जो सं० १८५२ में पेशवा हुए थे और सं० १८७५ तक उस गद्दी पर आसीन रहे थे। परन्तु इतिहास-ग्रंथों में इनके बड़े भाई का नाम अमृतराव बतलाया जाता है जो वास्तव में उनके पिता रघुनाथराव या 'राघोबा' के दत्तक पुत्र थे। इतिहास में अमृतराव का श्यामराव नाम कहीं भी नहीं पाया जाता। उनके एक पुत्र का पता अवश्य मिलता है, जो विनायक राव के नाम से प्रसिद्ध था। बाजीराव द्वितीय जब सं० १८७५ में अपनी गद्दी से उतार कर बिठूर जिला कानपुर भेज गए थे। उसके ४२ वर्ष पीछे उनसे इनकी भेंट होने की घटना का उल्लेख किया जाता है। प्रसिद्ध है और कदाचित् किसी 'सुरत विलास' नामक ग्रंथ में भी लिखा है[२] कि एक दिन जब साहिब जी हाथरस में गंगा-तट पर विचरण कर रहे थे कि इन्होंने एक ब्राह्मण और एक शूद्र में झगड़ा होते देखा। ब्राह्मण गंगा में स्नान कर संध्या करने बैठा था कि शूद्र के शरीर का छींटा उनके ऊपर पड़ गया। वह क्रोधावेश में आकर उसे मारने-पीटने और गाली देने लगा। साहिबजी के पूछने पर जब ब्राह्मण ने कहा कि शूद्र ने मुझे अपवित्र कर दिया है और मेरे पास अब दूसरी धोती भी नहीं

---

१ शब्दावली भाग १ पृ० १।

२ वही पृ० १। परन्तु इस समय इस ग्रंथ का कहीं पता नहीं चलता।

उनके आदर्शों को अपने ढग से व्यावहारिक रूप देने में यत्नशील हैं और उन्हें कुछ अशो तक सफलता भी मिलती जान पडती है। इतना स्पष्ट है कि अपने व्यक्त किये हुए विचारो तथा अपनी चेष्टाओ द्वारा उन्होने सत-मत के वास्तविक लक्ष्य की ओर सकेत कर दिया है। जो वातें पहले उपदेशो के आडवर मे छिप जाया करती थी और कोरे धार्मिक वातावरण के कारण जिनके विकास की गति साम्प्रदायिक भावनाओ के वाहुल्य द्वारा अवरुद्ध हो जाया करती थी, वे अब कुछ अधिक प्रकाश में आ चुकी हैं। उनके ऊपर किये गए प्रयोगो के कारण उनके महत्त्व के प्रति लोगो का ध्यान एक वार फिर आकृष्ट होने लगा है। वे अव निरे आदर्श के अस्पष्ट रूप का त्याग करती हुई व्यावहारिक क्षेत्र में भी क्रमश प्रविष्ट होती जा रही है। उन्हें अव सचमुच अपनायी जाने योग्य कहने में वहुत लोगो को सकोच भी नही हो रहा है। अतएव, सभव है कि अत्यत ऊँची तथा दूर की समझी जानेवाली ये वातें इस नयी प्रवृत्ति के कारण अपने निकट की वन कर किसी समय क्रमश व्यावहारिक रूप भी ग्रहण करने लग जायँ।

२ साहिव-पथ

प्रारभिक परिचय

साहिव-पथ के प्रवर्तक तुलसी साहव थे जिनका एक दूसरा नाम 'साहिवजी' भी था। इनके जीवन-काल की घटनाओ के विषय मे अभी तक वहुत कुछ मत-भेद है। इनके जन्म तथा मरण की तिथियो का भी अभी तक ठीक-ठीक पता नही लग सका है। वावा नदन साहव द्वारा रचित 'वावा देवी साहेव का जीवन चरित', (मुरादावाद) से जान पडता है कि ये सुदूर दक्षिण देश से आये थे। इनके ग्रथ 'रत्नसागर' के वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग वाले सस्करण के सपादक ने इन्हें वहुत अच्छे ब्राह्मण-कुल का वशज वतलाया है। उन्होने लिखा है कि इनको अपने वचपन में ही ऐसा तीव्र वैराग्य हो गया था कि ये अपना घर-वार छोड अलीगढ जिले के नगर हाथरस में आ वस गए। इनके जन्म-स्थान का उन्होने कोई पता नही दिया है और मरण के लिए भी इतना ही कहा है कि ये लगभग साठ वरस की अवस्था में स० १९०५ में हाथरस में ही मरे थे। परन्तु उक्त प्रेस में छपी इनकी 'शब्दावली' भाग-१ के सपादक ने इनके विषय में इतना और भी लिखा है कि ये "जाति के दक्षिणी ब्राह्मण राज्य पूना के युवराज यानी वडे वेटे थे, जिनका नाम इनके पिता ने श्यामराव रखा था। वारह वरस की उमर में इनकी मरजी के खिलाफ पिता ने इनका विवाह कर दिया, पर वह जवान होने पर भी ब्रह्मचर्य में पक्के वने रहे और अपनी स्त्री से अलग

होने से कभी-कभी यह भी धारणा हो सकती है कि इनके गुरु कदाचित् कोई 'पचाने' जैसे नामधारी व्यक्ति रहे होंगे ।

पूर्व-जन्म का वृत्तांत

साहिबजी के जीवन की सभी घटनाओं के उल्लेख नहीं मिलते । इनकी रचनाओं से इतना जान पड़ता है कि इन्हें अभ्यास तथा सत्संग से बड़ा प्रेम था । इनकी 'घटरामायण' में इनके पूर्व-जन्म का प्रसंग भी मिलता है ।[1] इससे पता चलता है कि उस समय ये प्रसिद्ध तुलसीदास के रूप में आये थे । उसमें कहा गया है कि यमुना-तीरवर्ती राजापुर में इन्होंने जन्म लिया तथा उस गाँव की स्थिति भी बुंदेलखंड के अंतर्गत चित्रकूट से दस कोस की दूरी पर बतलायी गयी है । इनकी जन्म-तिथि सं० १५२९ की भादों सुदी एकादशी मंगलवार कही गई है । वहीं पर इस बात की ओर भी संकेत है कि यद्यपि इनका मन अपनी पत्नी में लगता था किंतु उस समय भी सत्संग ही इन्हें अधिक पसंद था ।[2] तदनुसार सं० १६१४ की श्रावण शुक्ल नवमी को आधी रात के समय इन्हें अपने भीतर आश्चर्यजनक परिवर्तन का बोध हुआ और इन्होंने अपनी काया में ही सारे ब्रह्मांड का रहस्य जान लिया । ये तीनों लोकों से न्यारे स्थान 'सतलोक' में पहुँच गए और इन्हें 'अनाम' तक का अनुभव होने लगा । फिर तो ये उच्च कोटि के संत के रूप में प्रसिद्ध हो चले । इनके दर्शनों के लिए दूर-दूर तक के स्त्री-पुरुष एकत्र होने लगे जिनमें एक व्यक्ति काशी का रहनेवाला हिरदे अहीर भी था । हिरदे साहबजी का इतना बड़ा प्रियपात्र हो गया कि उसके काशी चले जाने पर एक बार उसके स्नेह के कारण ये स्वयं भी वहीं चले गए और सं० १६१५ के चैत मास में मंगल के दिन वहीं पर जा ठहरे । काशी में रहते समय सं० १६१६ की कार्तिक बदी ५ को इनके यहाँ चक्रराम नामक एक नानक-पंथी आया । उसने इनसे सत्संग किया । वहीं सं० १६१८ की माघ सुदी एकादशी को मंगल के दिन इन्होंने 'घटरामायण' की रचना आरंभ कर दी और उसे कुछ दिनों में समाप्त किया । 'घटरामायण' में व्यक्त किये गए इनके विचारों के कारण काशी में खलबली मच गई । लोग इसके विरुद्ध विपक्ष खड़े हो गए, जिस कारण इन्हें इस ग्रंथ को कुछ काल के लिए गुप्त रख देना पड़ा । तदनंतर सं० १६३१ में इन्होंने एक दूसरी 'रामायण' (वस्तुतः 'रामचरित-मानस') की रचना की ।

---

१ घटरामायण भा० २, पृ० ४१४-१८ ।

२ 'एक चिपी चित रही हमारे । मिलै कोई संत फिरौं तेहि लारे ।

रही जिसे नहाने के अनतर फिर पहन कर अपनी पूजा समाप्त करूँ, तव इन्होने उसे समझाया कि हिन्दू शास्त्रानुसार जब एक ही विष्णु के चरणो से गगा तथा शूद्र दोनो ही निकले हैं, तव एक को पवित्र और दूसरे को अपवित्र क्यो मानते हो। ब्राह्मण यह सुन कर बहुत लज्जित हुआ और झगडे का अत हो गया। परन्तु उक्त अवसर पर एकत्र भीड में उपस्थित वाजीराव द्वितीय के किसी पडित ने साहिवजी को पहचान लिया और उसने जाकर अपने राजा को इसकी सूचना दे दी। वाजीराव यह सुन कर उनसे मिलने पहुँच गए और इन्हें वडे आदर-भाव के साथ अपने यहाँ ले गए। किंतु ये वहाँ से फिर चुपचाप चल दिये और अपना जीवन पूर्ववत् व्यतीत करने लगे।

गुरु

कहते हैं कि तुलसी साहव ने किसी को अपना गुरु धारण नही किया था। ये सदा सत्सग में ही रह कर सत-मत के रहस्यो से पूर्णत परिचित हो गए थे और इन्होने अपनी साधना अपने आप कर ली थी।[1] इससे प्रतीत होता है कि ये अपने भीतर स्थित स्वय भगवान् के सकेतो से ही अनुप्राणित हुए थे। इन्हें किसी मनुष्य के पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता नही पडी थी। 'कज-गुरु' वा 'पद्मगुरु' शव्द शरीरस्थ कमल में विद्यमान सतगुरु का द्योतक है, जिसे इन्होने 'मूलसत' नाम भी दिया है।[2] उसे 'सतलोक-निवासी' भी वतलाया है। इनका कहना है कि पहले मैं इधर-उधर गुरु की खोज में भटकता-फिरता रहा और निरतर इसी चिंता मे रहा कि किसी का साथ पकड लूँ। इन्होने इस प्रकार अनेक सतो के सत्सग किये और उनके साथ रह कर अपने को लाभान्वित करने की चेष्टा में पूरा समय लगाया। फिर भी किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा इन्हे कोई दीक्षा नही मिली। कुछ लोगो का कहना है कि ये पहले 'आवा-पथ' में दीक्षित हो चुके थे और पीछे किसी कारणवश उसका त्याग कर ये सत-मत में आये।[3] परन्तु 'आवा-पथ' के साथ इनके किसी सवध का सकेत इनकी रचाओ में नही पाया जाता, न इनके विषय में लिखनेवालो ने इस प्रसग का कोई विवरण ही दिया है। 'गुरु' शव्द के साथ-साथ 'कज' वा 'पद्म' का भी प्राय सर्वत्र प्रयोग

---

१ 'कज गुरु ने राह बताई। देह गुरु से कछु नहिं पाई॥'
—घटरामायन, भाग २, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० ४१६।

२ 'सखि मूलसत दयाल सतगुरु, पिउ निहाली मोहि करी'।
—वही, भाग १, पृ० ५।

३ क्षितिमोहन सेन मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इडिया, पृ० १६०।

न यह पूर्व-जन्म का वृत्तांत सभी दृष्टियों से विचार करने पर एक पौराणिक वक्तव्य से अधिक महत्त्व रखता हुआ ही जान पड़ता है। इसीलिए किसी-किसी की यह भी धारणा है कि 'घटरामायन' का यह अंश इनके किसी शिष्य की रचना है[1]। इस कारण उक्त उल्लेखों को हम क्षेपक भी कह सकते हैं।[2]

जीवन-चर्चा

संत तुलसी साहब वा साहिबजी के जीवन की अधिकांश घटनाओं का ठीक विदित न होने से इनके व्यक्तित्व का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इनके विषय में कहा गया है कि ये "अक्सर हाथरस के बाहर एक कंबल ओढ़े और हाथ में डंडा लिये दूर-दूर देहातों में चले जाया करते थे। इन्होंने जोगिया नाम के गाँव में जो हाथरस से एक मील पर है अपना सत्संग जारी किया और बहुतों को सत्य-मार्ग में लगाया था। इनकी हालत अक्सर गहरे खिंचाव की रहा करती थी। ऐसे आवेश की दशा में धारा की तरह ऊँचे घाट की बानी उनके मुख से निकलती जो कोई निकटवर्ती सेवक उस समय पास रहा उसने जो सुना-समझा लिख लिया नहीं तो वह बानी हाथ से निकल गई। इस प्रकार के अनेक शब्द उनकी 'शब्दावली' में हैं।"[3] ऐसी दशा में इनके विविध संवादों या सत्संग-संबंधी उल्लेखों के विषय में भी संदेह करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। परन्तु यह बात कुछ अवश्य खटकती है कि इतनी ऊँची पहुँच के किसी संत ने अपने को प्रसिद्ध सगुण भक्त तुलसीदास का अवतार होना सिद्ध किया होगा अथवा केवल बाह्य शब्द-साम्य के सहारे 'रामचरितमानस' की कथा को 'घटरामायन' के सिद्धांतानुसार समझाने की चेष्टा की होगी।

स्वभाव

इनके स्वभाव के संबंध में एक कथा प्रचलित है कि एक बार इनके किसी धनवान भक्त ने इनका बड़ा आदर-सत्कार किया और बड़े प्रेम के साथ इनके सामने भोजन के सामान रख दिये। किंतु ज्यों ही ये भोजन आरंभ करने जा रहे थे कि उसने इनसे अपने पुत्रहीन होने का दुखड़ा कह सुनाया और इनसे अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए प्रार्थना भी कर दी। इस पर साहिबजी बोल

---

१ नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भा० १५, पृ० १२।
२ इस संबंध में दे० बेलवेडियर प्रेस : भावार्थ सहित घटरामायन सन् १९११ ई० भूमिका भी। पृ० १-२२।
३ घटरामायन भाग १ (जीवनचरित्र) बे० प्रे० प्रयाग पृ० ३ ४।

अन में स० १६८० की श्रावण शुक्ल ७ को वरना नदी के तीर पर मर गए।

समीक्षा

उक्त पूर्व-जन्मकथा के उल्लेखो से जान पडता है कि उन्हे करनेवाला अपने को प्रसिद्ध तुलसीदास का एक अवतार मानता है। अपने विचारो के साथ सामजस्य स्थापित करने की चेष्टा मे कई बातो को सँभाल कर लिखता है, ताकि कोई सदेह न उत्पन्न हो सके। उसने 'रामचरितमानस' की कथा के 'घटरामायन' मे घटाने का भी यत्न किया है।[1] इसके सिवाय एक दूसरे[2] स्थल पर साहिबजी ने फूलदास के प्रति उपदेश देते हुए उसे बतलाया है कि किस प्रकार रावण ब्रह्म है, जिसकी लका त्रिकुटी मे स्थित है। इन्द्रजीत इन्द्रियो का जीतनेवाला इन्द्रियजीत साधक है। दस इन्द्रियो मे रत रहनेवाला दशरथ है। उक्त रावण ब्रह्म तक 'दौरी' वा दौड कर जा बसने-वाले मन को 'मदोदरी' कहते है। यम को स्थिर करके सुरति के निश्चल कर देने को 'मथ्रा' अर्थात् मथरा नाम दिया गया है। इस प्रकार केवल शब्द-साम्य के निर्बल आधार पर बिना कोई सुसगति बैठाये राम-रावण की प्रसिद्ध कथा का वास्तविक तात्पर्य समझाया है।[3] इससे कभी-कभी उक्त सारी बातें भ्रमात्मक जान पडने लगती है। ऊपर दिये हुए पूर्वजन्म-सबधी वृत्त के प्रामाणिक होने में सदेह भी होने लगता है। इस वृत्त मे दी गई सभी तिथियाँ गणना करने पर शुद्ध नही ठहरती,[4]

१ 'घट मे रावन राम जो लेखा। भरत सत्रगुन दसरथ पेखा॥
सीता लखन कौसल्या माहीं। मथरा कैकई सकल रहाहीं॥
इन्द्रजीत मदोदरी भाई। रावन कुभकरन घट माहीं॥
सारा जगत पिड ब्रह्माडा। पाच तत्त्व रचना कर अडा॥

•

घट रामायन अगम पसारा। पिड ब्रह्माड लिखा विधि सारा॥
नाम अनेक अनेकन कहिया। सो सब घट भीतर बरसइया॥
घट रामायन संत कोइ चीन्हा। समझे सत होई लौलीना॥१॥'
—घटरामायन, भा० २, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ४११-३।

२ वही, पृ० २१५।

३ 'मैं अति हीन दीन दारुन मति, घट रामायन बनाई।
रावन राम की जुद्धि लडाई, सो नहि कीन्ह बनाई॥'
वही, पृ० २१४।

४ डॉ० माताप्रसाद गुप्त · तुलसीदास, हिंदी परिषद, १९४२ ई०, पृ० ५८।

तथा 'रत्नसागर' नाम की तीन पुस्तकें उपलब्ध हैं जो सभी बेलवेडियर प्रेस प्रयाग की ओर से प्रकाशित हो चुकी हैं। 'शब्दावली' भाग २ के अंत में एक 'पद्मसागर' नाम का छोटा-सा ग्रंथ भी छपा मिलता है। 'घटरामायण'[1] एक बड़ा ग्रंथ है जिसमें पिंड तथा ब्रह्मांड के रहस्यों का विवरण देने के अनंतर वैराग्य, योग, भक्ति तथा ज्ञान का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् उन विविध सत्संगों का भी उल्लेख है जो तुलसी साहब के काशी में रहते समय उनके और भिन्न भिन्न धर्म वालों के बीच हुए थे। इन सत्संग करनेवालों में से तकी मिर्जा मुसलमान थे। कर्मचंद पल्टीदास धर्मी दरिया अथवा सैनी नाम की रचना जैसा थे। रैनू स्वामी तथा रामा पंडित थे, माधो गिरि संन्यासी थे, हिरदे अहीर उसका पुत्र गुमानी था, प्रियलाल गुसाईं साधारण हिन्दुओं के प्रतिनिधि थे। फूलदास तथा सुदामा गुसाईं कबीर-पंथी थे और पलकराम नानक-पंथी थे। इनमें से प्रायः सभी ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार प्रश्न कर इनसे उत्तर पाये। इनके संवादों में प्रदर्शित तर्क-वितर्क की शैली गंभीर नहीं है। कहीं-कहीं पर गूढ़ प्रश्नों तक को लेकर एक प्रकार का विनोद प्रदर्शन किया गया जान पड़ता है। संत महीदास के अनुसार इसमें तुलसी साहब की निश्चित अछूती वाणी ग्यारह भाग है, अधिकांश क्षेपक भी है।[2] पुस्तक के अंत में संत तुलसी साहब के पूर्व-जन्म का वृत्तांत भी दिया गया है और संत-मत के संक्षिप्त परिचय के साथ यह समाप्त की गयी है। 'रत्नसागर' ग्रंथ में सृष्टि रचना का रहस्य कर्मवाद तथा सत्संग प्रधान विषय होकर आये हैं। एकाध उपाख्यानों द्वारा कुछ बातों को स्पष्ट करने की चेष्टा भी की गई है। इसी प्रकार 'शब्दावली' नामक रचना साहिबजी की विविध बानियों का संग्रह-मात्र है जिसमें भिन्न भिन्न विषयों के अनेक अंशों तथा रागों के उदाहरण पाये जाते हैं। 'शब्दावली' के अंत में जुड़ी हुई 'पद्मसागर' नामक छोटी-सी रचना में अमरपुर तथा उस तक पहुँचने के मार्ग का केवल अधूरा वर्णन दीख पड़ता है।

पिंड-रहस्य

इस प्रकार संत तुलसी साहब की उपलब्ध रचनाओं के प्रधान विषय या तो उनके सिद्धांतों से संबद्ध हैं या आलोचनात्मक हैं। अपने सिद्धांतों का निरूपण करते समय उन्होंने सर्वप्रथम पिंड तथा ब्रह्मांड के भेद का वर्णन

---

१ इसकी मूल प्रति को लेकर बाबा देवी साहब ने सं० १९५३ सन् १८९६ में नवल किशोर प्रेस लखनऊ में छपवाया था जो अब अप्राप्य है।—लेखक।

२ भावार्थ सहित घट रामायण, भूमिका पृ० ११।

उठे, "यदि तुम्हे पुत्र की अभिलाषा हो, तो अपने सगुण परमात्मा से उसकी भीख माँगो। मेरी यदि चले, तो मै अपने भक्तो के उत्पन्न बच्चो को भी उठा लूं और उन्हें इस प्रकार निर्वंश कर दूं"। ये इसी प्रकार कहते सुनते-अपना सोटा उठाकर चल भी दिये।[1] इन्ही की क्षमाशीलता के सबध मे एक दूसरी कथा इस प्रकार प्रसिद्ध है, "एक समय जब ये हाथरस के एक मार्ग से बाजार होकर जा रहे थे कि इनके मूर्तिपूजा-खडन आदि से चिढे हुए लोगो के बालको ने इनके पीछे तालियाँ बजाना और इन पर ककड-पत्थर फेंकना आरभ कर दिया। एकाध ककड इनके अति निकट भी आ गिरे। इनके शिष्य गिरधारी लाल को अत्यत क्रोध आ गया तथा उनकी आँखे लाल लाल हो आईं। परन्तु इन्होने उन्हें क्रोध करने से मना किया और कहा कि दुनियादारो के लिए यह स्वाभाविक है। तुम्हे ऐसा करना उचित नही। लोगो ने तो साधुओ की खाल तक खिचवा ली है।"[2]

मृत्यु-काल

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'शब्दावली' भाग-१ के सपादक ने उसके आरभ में दिये गए 'जीवन-चरित्र' में बतलाया है कि सत तुलसी साहब का देहात स० १८९९ वा स० १९०० की जेठ सुदी २ को अनुमानत ८० वर्ष की अवस्था मे हुआ था। इस प्रकार उन्होने इनके जन्म का सवत् लगभग १८२० ठहराया है जो उसी प्रेस द्वारा प्रकाशित 'रत्नसागर' ग्रथ के आरभ मे दिये हुए इनके जीवन-काल स० १८४८-१९०५ से मेल नही खाता। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इनका जन्म-समय स० १८१७ सन् १७६० ई० तथा मृत्यु-समय स० १८९९ सन् १८४२ ई० माना है,[3] जो उक्त पहले कथन के बहुत कुछ अनुकूल पडता है। वह इनकी शिष्य-परपरा के कालक्रमानुसार भी अधिक अतर नही प्रकट करता। उसके लिए यद्यपि कोई प्रमाण नही दिये गए हैं, फिर भी इसे तब तक मान लेना कदाचित् अनुचित् न होगा। अन्य कुछ लोगो के अनुसार यह समय स० १८२०-१९०० सन् १७६३-१८४३ भी हो सकता है।

रचनाएँ

सत तुलसीसाहब की रचनाओ के रूप में इस समय 'घटरामायन', 'शब्दावली'

---

१ रत्नसागर, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, जीवन-चरित्र, पृ० २।

२. जीवनचरित्र स्वामीजी महाराज, पृ० ९७-९८।

३ क्षितिमोहन सेन . मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इडिया, पृ० १६०-१।

इस मत का कोई अंत नहीं है किंतु उसी के अनुसरण द्वारा प्राप्त घर में सभी संत निरंतर निवास किया करते हैं।[1] ये कहते हैं कि सतसंग तथा सतगुरु ने मुझे सत-पथ की ओर उन्मुख कर दिया। मैंने उससे परिचित हो जाने के कारण किसी भिन्न मत के प्रचार की आवश्यकता नहीं समझी न नया पंथ चलाया। इन्होंने कबीर साहब, नानकदेव, दादूदयाल, दरियासाहब, रैदास तथा मीराँ तथा नाभा का भी आदर्श संत के रूप में वर्णन किया है। किंतु इसके साथ ही इन्होंने अपने आलोचनात्मक उपदेशों के द्वारा उनके विविध अनुयायियों को पथ भ्रष्ट भी सिद्ध करने की चेष्टा की है।[2] इन्होंने इसी कारण कबीर-पंथ की प्रसिद्ध 'चौकाविधि' तथा 'बयालिसवंश'-जैसी पद्धतियों वा परंपराओं के अपने तर्क के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये हैं। नानक-पंथ अथवा सिक्ख-धर्म के 'वाह गुरु' 'कड़ा' 'प्रसाद' तथा 'पंथ'-जैसे शब्दों से भी भिन्न भिन्न तात्पर्य निकालने का यत्न किया है। इनकी युक्तियाँ कभी-कभी काल्पनिक होती हुई भी अधिकतर बुद्धि-संगत तथा समीचीन हैं। कोरी श्रद्धा के आवेश में अंधानुसरण करनेवालों के लिए चेतावनी का काम करती हैं।

मन तथा अगमपुर

संत तुलसी साहब ने 'मन' शब्द का अर्थ इन्द्रिय द्वारा तौल वाला मन बतलाया है। उसे संत शिवनारायण की भाँति ४० सेर का भी कहा है।[3] किंतु बंस बयालिस वाले कबीर-पंथी कथन की सार्थकता सिद्ध करने के यत्न में इन्होंने उसमें कुछ और भी जोड़ दिया है। इनका कहना है कि मन का वास निरंतर चालीस प्रकार के स्थलों पर होता रहता है किंतु सुरत की स्थिति में पहुँच कर उसका इकतालीसवाँ रूप हो जाता है। उसी प्रकार, जब सुरत तथा शब्द का संयोग बन कर दृढ़ हो जाता है, तब उसके बयालीसवें रूप का अनुमान कर लेना भी अनुचित नहीं। मन के विषय में इन्होंने अपने ग्रंथों में कई जगह लिखा है। इन्होंने एक स्थल पर इसे निरंजन नाम से भी अभिहित किया है।[4] उसके

---

१ घटरामायण भा० १ पृ० १९।

२ 'जो कछु पंथ कबीर चलावा। पंथ भेद कोइ मरम न पावा॥
पंथ कबीर सोई है भाई। गये कबीर जेहि मारग जाई॥
झूठा पंथ जगत सब लूटा। कहा कबीर सो मारग छूटा॥
—वही, पृ० १९१ तथा १९२।

३ वही, पृ० १५ तथा १३।

४ वही, पृ० १७७।

किया है और उसका आधार वा प्रमाण भी वनलाया है ।[1] दरिया साहव (मारवाड) तथा कुछ अन्य रामस्नेही-सम्प्रदाय वालो के समान स्वय सभी वातो के द्रष्टा तथा अनुभवी होने के कारण इन्होने पिंड की भीतरी स्थिति का व्योरा वहुत विस्तार के साथ दिया है। तदनुसार इन्होने इसके भीतर वाले ३६ प्रकार के नीर वा जलतत्त्व, २५ प्रकार के पवन वा वायुतत्त्व, १६ प्रकार के गगन वा आकाशतत्त्व, छह भँवर गुफा, छह त्रिकुटी, ३२ नाल, १६ द्वार, ७२ कोठा, ८४ सिद्ध, २५ प्रकृति, ५ इन्द्रिय, २२ सुन्न आदि के विवरण तथा कभी-कभी नाम भी देकर अनेक कमल, चक्र आदि तथा काग-भुशुंडी का भी पता वतलाया है ।[2] इन्होने घट के ही भीतर चार गुरुओ के स्थान भी निर्दिष्ट किये हैं जो क्रमश सहसदल कमल, द्वैदल कमल, चौदल कमल तथा सतलोक कहे गए हैं । इन सवके परे उस परमगुरु का पद ठहराया है जो सभी सतो का आधार-स्वरूप होने पर भी घट के वाहर नही है ।[3] इन्होने सुन्न के छह अन्य भेद भी वतला कर उनमें से प्रथम को 'नि नामी' का अगमपुर कहा है। द्वितीय को 'सत्तनाम' का सुखधाम वतलाया है, तृतीय को एक शव्द की खिरकी नाम दिया है और छहो के निवासियो को क्रमश पिय, सत्त पुरुष, पुरुष, परमातम, हस (आतम) तथा निराकार कहा है। इनमें से अतिम तीन को दूसरे शव्दो में क्रमश पारब्रह्म, पूरनब्रह्म तथा निरजन भी कहा गया है । इन्होने उक्त ढग से भेद का वर्णन करके चार प्रकार की साधनाएँ भी वतलायी हैं, जिनमे चार वैराग्य, चार योग, दो ज्ञान तथा नवधा भक्ति के विविध अगो से सवद्ध हैं। इनकी सहायता से साधक अपने अभीष्ट की उपलव्धि कर सकता है।

सत-मत

सत तुलसी साहव ने अपने मत को 'सत-मत' नाम दिया है। इन्होने कहा है कि उसके वास्तविक रहस्य को ब्रह्मा, विराट आदि तक नही जानते ।[4]

---

१. 'सुति वुद सिंधु मिलाय, आप अधर चढ़ि चाखिया ।
निरखा आदि अत मधि माहीं । सोइ सोइ तुलसी भाखि सुनाहीं ।।
पिंड माहि ब्रह्माड समाना । तुलसी देखा अगम ठिकाना ।।
पिंड माहि ब्रह्माड बखाना । ताकी तुलसी करी वखाना ।।'
—घटरामायन, भा० १, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० १ तथा १०-११ ।

२ वही, पृ० १३-८० ।

३ शव्दावली, भा० १, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ११८ ।

४ घटरामायन, भा० १, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० १४३ ।

इस मत का कोई ग्रंथ नहीं है, किंतु उसी के अनुसरण द्वारा प्राप्त पद में सभी संत निरंतर निवास किया करते हैं।[1] वे कहते हैं कि सत्संग तथा सद्गुरु ने मुझे संत-पथ की ओर उन्मुख कर दिया। मैंने उनसे परिचित हो जाने के कारण किसी भिन्न मत के प्रचार की आवश्यकता नहीं समझी, न नया पंथ चलाया। इन्होंने कबीर साहब, नानकदेव, दादूदयाल, दरियासाहब, रैदास तथा मीराँ तथा नाभा का भी आदर्श संत के रूप में वर्णन किया है। किंतु इसके साथ ही इन्होंने अपने आलोचनात्मक उपदेशों के द्वारा उनके विविध अनुयायियों को पथ-भ्रष्ट भी सिद्ध करने की चेष्टा की है।[2] इन्होंने इसी कारण कबीर-पंथ की प्रसिद्ध 'चौकाविधि' तथा 'बयालिसवंश'-जैसी पद्धतियों या परंपराओं के अपने तर्क के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये हैं। नानक-पंथ अथवा सिक्ख-धर्म के 'वाहु गुरु' 'कड़ा' 'प्रसाद' तथा 'पंथ'-जैसे शब्दों से भी भिन्न-भिन्न तात्पर्य निकालने का यत्न किया है। इनकी युक्तियाँ कभी-कभी काल्पनिक होती हुई भी अधिकतर बुद्धि-संगत तथा समीचीन हैं। कोरी श्रद्धा के आवेश में अंधानुसरण करनेवालों के लिए चेतावनी का काम करती हैं।

मन तथा अगमपुर

संत तुलसी साहब ने 'मन' शब्द का अर्थ श्लेष द्वारा तौल वाला मन बतलाया है। उसे संत शिवनारायण की भाँति ४ सेर का भी कहा है।[3] किंतु वंश बयालिस वाले कबीर-पंथी कथन की सार्थकता सिद्ध करने के यत्न में इन्होंने उसमें कुछ और भी जोड़ दिया है। इनका कहना है कि मन का वास निरंतर चालीस प्रकार के स्थलों पर होता रहता है, किंतु सुरत की स्थिति में पहुँच कर उसका इकतालीसवाँ रूप हो जाता है। उसी प्रकार, जब सुरत तथा शब्द का संयोग बन कर दृढ़ हो जाता है, तब उसके बयालीसवें रूप का अनुमान कर लेना भी अनुचित नहीं। मन के विषय में इन्होंने अपने ग्रंथों में कई जगह लिखा है। इन्होंने एक स्थल पर इसे निरंजन नाम से भी अभिहित किया है।[4] उसके

---

१ घटरामायण, भा० १, पृ० १९।

२ 'जो कुछ पंथ कबीर चलाया। पंथ भेद कोइ मरम न पाया ॥ ७
पंथ कबीर सोई है भाई। जासे कबीर जोहि मारग जाई ॥ ८
झूठा पंथ जगत सब झूठा। कहा कबीर सो मारग छूटा ॥ ९
—वही, पृ० १९१ तथा १९३।

३ वही, पृ० १९५ तथा २०३।

४ वही, पृ० १७७।

आगे जाकर वतलाया है कि मन का नाग होते ही निरजन का भी नाश हो जाता है और वह ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है। फिर ब्रह्म भी उसी भाँति शब्द मे जाकर लीन होता है, शब्द शून्य मे चला जाता है और शून्य अत में महागून्य के अतर्गत घुल-मिल जाता है। वहाँ से उत्पत्ति तथा प्रलय हुआ करते हैं। उसके आगे की वातें किसी को ज्ञात नही हो पाती। महागून्य को ही इन्होने 'सत्तलोक' नाम भी दिया है। इन्होने कहा है कि वह तीनो लोको से परे है और उसमें केवल सत ही जा पाते हैं।[1] इसी पद वा स्थिति को साहिवजी ने अगमपुर धाम का[2] नाम दिया है। यह वस्तुत वही है जिसे दरियादास ने 'छपलोक' तथा गिवरानायण ने 'सतदेश' कहा था। इस इन्द्रियातीत तथा अनिर्वचनीय दशा का आध्यात्मिक अनुभव साहिवजी नित्यश किया करते थे।[3]

महत्त्व तथा अनुयायी

तुलसी साहव ने भिन्न-भिन्न पथो वा सम्प्रदायोके रूप में चल निकलनेवाले तथा समय के साथ वाहरी सिद्धातो द्वारा प्रभावित होते जानेवाले विविध नाम-धारी सत-मत की मौलिक एकता पर वहुत ध्यान दिलाया। उसके प्रधान प्रवर्त्तको के मूल उद्देश्यो को भी समझाया। परन्तु दूसरी ओर पिंड के भीतर की वातो के अनेक अनावश्यक भेद-उपभेद रच कर उसमें जटिलता भी इन्होने ला दी। अपने को तुलसीदास का अवतार वतला कर कोरी कल्पना को और भी प्रश्रय दे दिया। इससे न तो इन्हें हम एक उच्चकोटि का निष्पक्ष समालोचक तथा सुधारक ही कह सकते हैं, न निरा पुराण-पथी ही मान सकते

---

१ 'मन का नाम निरजन होई। आतमब्रह्म कहै सव कोई ।।
मन को नास सुनौ पुनि भाई। मन नसि गया निरजन भाई ।।
नास निरजन ब्रह्म समाना। ब्रह्म जो नसा शब्द मे जाना ।।
सब्द नास जो सुन्न समाना। सुन्न नास महासुन मे जाना ।।
यह से उतपति परलय होई। आगे भेद न जानै कोई ।।
सत्तलोक महासुन्न कहाई। तीनि लोक सव सुन्न मे जाई ।।
तीनि लोक करता नहिं जावै। वा पद को कोई सत समावै ।।'
—घटरामायन, भाग १, पृ० १८०।

२ पद्मसागर, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० १।

३ 'तुलसी निरखि नैन दिन राती, पल पल पहरी आठ।
यहि विध सैल करे निसवासर, रोज तीन सै साठ ।।'
—शब्दावली, भाग १, बे० प्रे०, प्रयाग, पृ० १२५।

है। फिर भी संत-परंपरा के इतिहास में इनके व्यक्तित्व का बहुत बड़ा महत्त्व है। सब कुछ हुए भी ये अपने निराले ढंग के कारण उसमें एक विशेष स्थान के अधिकारी समझ पड़ते हैं। इनके द्वारा प्रचलित किया गया पंथ साहिब-पंथ के नाम से प्रसिद्ध हो चला है। उसके सहस्रों अनुयायी भारत के विभिन्न नगरों में पाये जाते हैं। 'घटरामायन' में[1] इनके १३ शिष्यों के नाम बतलाये गए हैं। वे पहले कई धर्मों वा सम्प्रदायों के अनुयायी रह चुके थे और उन्हें उपदेश देकर इन्होंने अपना शिष्य बनाया था। ये वही गिरधे अहीर, पलकराम आदि हैं जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इनके सिवाय इनके शिष्यों में एक रामकिसुन गड़ेरिया का भी नाम आता है। परन्तु इनके सबसे प्रसिद्ध शिष्य सूरस्वामी कहे जाते हैं जिन्हें जनश्रुति के अनुसार इन्होंने आँख की ज्योति भी प्रदान की थी। कहते हैं कि इनका देहांत हो जानेपर इनके स्थान पर गिरिधारी दास नामक एक शिष्य कुछ दिनों तक सत्संग कराते रहे। किन्तु उनके पीछे कदाचित् यह परंपरा नियमानुसार नहीं चल सकी।
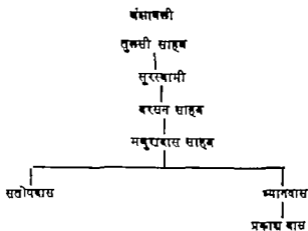
संत तुलसी साहब की समाधि हाथरस में उस स्थान पर आज भी वर्तमान है जहाँ बैठ कर ये नित्य उपदेश दिया करते थे। यह साहिब-पंथियों का प्रधान तीर्थ-स्थान समझा जाता है। इसे तुलसी साहब का मंदिर (किला दरवाजा) कहते हैं। यहाँ पर प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ल २ को तुलसी साहब का भंडारा होता है।

---

१ ग्रन्थावली भाग १ बे० प्रे० प्रयाग, पृ० १२२ ।

आगे जाकर वतलाया है कि मन का नाश होते ही निरजन का भी नाश हो जाता है और वह ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है। फिर ब्रह्म भी उसी भाँति शब्द मे जाकर लीन होता है, शब्द शून्य में चला जाता है और शून्य अत मे महाशून्य के अतर्गत घुल-मिल जाता है। वहाँ से उत्पत्ति तथा प्रलय हुआ करते है। उसके आगे की बातें किसी को ज्ञात नही हो पाती। महाशून्य को ही इन्होने 'सत्तलोक' नाम भी दिया है। इन्होने कहा है कि वह तीनो लोको से परे है और उसमें केवल सत ही जा पाते है।[1] इसी पद वा स्थिति को साहिबजी ने अगमपुर धाम का[2] नाम दिया है। यह वस्तुत वही है जिसे दरियादास ने 'छपलोक' तथा शिवरानायण ने 'सतदेश' कहा था। इस इन्द्रियातीत तथा अनिर्वचनीय दशा का आध्यात्मिक अनुभव साहिबजी नित्यश किया करते थे।[3]

महत्त्व तथा अनुयायी

तुलसी साहब ने भिन्न-भिन्न पथो वा सम्प्रदायोके रूप में चल निकलनेवाले तथा समय के साथ बाहरी सिद्धातो द्वारा प्रभावित होते जानेवाले विविध नामधारी सत-मत की मौलिक एकता पर बहुत ध्यान दिलाया। उसके प्रधान प्रवर्त्तको के मूल उद्देश्यो को भी समझाया। परन्तु दूसरी ओर पिंड के भीतर की बातो के अनेक अनावश्यक भेद-उपभेद रच कर उसमें जटिलता भी इन्होने ला दी। अपने को तुलसीदास का अवतार बतला कर कोरी कल्पना को और भी प्रश्रय दे दिया। इससे न तो इन्हें हम एक उच्चकोटि का निष्पक्ष समालोचक तथा सुधारक ही कह सकते हैं, न निरा पुराण-पथी ही मान सकते

---

१ 'मन का नाम निरजन होई। आतमब्रह्म कहै सब कोई॥
मन को नास सुनौ पुनि भाई। मन नसि गया निरजन भाई॥
नास निरजन ब्रह्म समाना। ब्रह्म जो नसा शब्द मे जाना॥
सब्द नास जो सुन्न समाना। सुन्न नास महासुन मे जाना॥
यह से उतपति परलय होई। आगे भेद न जानै कोई॥
सत्तलोक महासुन्न कहाई। तीनि लोक सब सुन्न मे जाई॥
तीनि लोक करता नहिं जावै। वा पद को कोई सत समावै॥'
—घटरामायन, भाग १, पृ० १८०।

२ पद्मसागर, बे० प्रे०, प्रयाग, पृ० १।

३ 'तुलसी निरखि नैन दिन राती, पल पल पहरो आठ।
यहि विध सैल करे निसवासर, रोज तीन सै साठ॥'
—शब्दावली, भाग १, बे० प्रे०, प्रयाग, पृ० १२५।